

खीरदाज जैन प्रन्थसाळा : हिन्दी विभाग-३०

श्रीमत् आचार्य शुभचन्द्रविरचित

# ज्ञानार्णव

प्रन्थसाला सम्पादक

स्व. डॉ. हीरालाल जैन श्रीमान् पं. कैलाशचन्द्रजी

स्व. डॉ. ए. एन. उपाध्ये सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी

अनुवादक

श्रीमान् पं. वालचन्द्रजी शास्त्री

प्रकाशक

त्रैन संस्कृति संरक्षक संघ

सोलापूर

धोर संवत् २५०३ ]

सन् १९७७

[ मूल्य क्लेबीस रुपये

## प्रधान सम्पादकीय

जैन सिद्धान्तके अनुसार जीव कर्मसे बङ्ग होकर अनादिकाल से इस संवारमें परिभ्रमण करता रहता है। जब वह अपने स्वरूपको पहचान उसकी अद्वा करके उसीमें लीन होता है तो संसारके बन्धनसे मुक्त होता है। मुक्तिके उपाय हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जीव, अजीव, आत्म, बन्ध, संबंध, निर्जन, मोक्ष इन सात तत्त्वों का यथार्थ अद्वान सम्यग्दर्शन है। जीव और अजीवके घरस्थरमें मेलका भाग संसार है। संसारके प्रधान कारण आस्त्र और बन्ध हैं। और संसारके विरामरूप मोक्षके प्रधान कारण संबंध और निर्जन हैं। संबंध और निर्जनका प्रधान कारण सम्यक्चारित्र है और उसमें तप भी मिलत है। तपके दो भेद हैं—बाह्य और अभ्यन्तर। उनमें से भी प्रत्येकके छह भेद हैं। अभ्यन्तर तपके ही छह भेदोंमें से एक भेद ध्यान है। ध्यानके चार भेद हैं—आर्त, रीढ़, धर्म और शुक्ल। इनमें से प्रथम दो संसारके कारण हैं और अन्तिम दो मोक्षके कारण हैं। इससे स्पष्ट है कि ध्यान शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है। किन्तु जब हम ध्यानकी चर्चा करते हैं तो हमारा लक्ष्य शुभ ध्यान ही होता है, अशुभ ध्यान नहीं होता। किन्तु ध्यानका शुभस्व और अशुभस्व ध्याता और ध्येयतर मिलते हैं। यदि ध्याता विषय और कथायसे ग्रस्त है और उन्हींके विषयमें मिमग्न है तो वह ध्यान अशुभ ध्यान है। आर्त और रीढ़ ऐसे ही अशुभ ध्यान हैं। इन ध्यानोंके लिए किसी प्रकारके विषय या योगाध्यासकी आवश्यकता नहीं होती। आहार, भव, मैथुन और परिग्रहरूपी संज्ञा प्रत्येक संसारी प्राणीमें सामान्य है। अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार सभी प्राणी इनकी चिन्ताओंमें फँसे रहते हैं। उनका जीवन इन्हींकी चिन्तामें बीतता है अतः इनकी चिन्तासे निवृत्त होनेपर ही शुभध्यानमें प्रवृत्ति हो सकती है। इसीसे ( ज्ञाना. २६९ ) कहा है—यदि तू कामभोगोंसे विरक्त होकर तथा तीरोंमें स्पृहा छोड़कर निर्भयत्व भावको प्राप्त कर सका है तो तू ध्यानका अधिकारी है। उसीकी तैयारीके लिए ज्ञानार्थके प्रारम्भमें आरह अनुप्रेक्षाओंका कठन किया है। तथा विविध उपदेश दिये हैं।

### ध्यानका स्वरूप

तत्त्वार्थसूत्रके नवम अध्यायके अस्तुमें ध्यानका वर्णन है और उससे पूर्वमें जो संबंध और निर्जनके प्रसंगसे गुण, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रका वर्णन है वह सब एक उत्तमसे धर्म और शुक्लध्यानके योग्य ध्याता बनानेकी ही प्रलेपण है। उस सब तीयारीके बिना इन शुभ ध्यानोंका ध्याता होना सम्भव नहीं है। पालेजल योगदर्शनके प्रारम्भमें भी हम ऐसा ही पाते हैं। उसके बिना चित्तवृत्तिका निरोध सम्भव नहीं है और चित्तवृत्तिके निरोधको ही योग कहा है।

किन्तु उ. सू. ( ११२७ ) में ध्याताके लिए केवल उत्तम संहनन पद ही दिया है। जिसका अस्तित्वस्थन आदि सुदृढ़ और अभेद्य होता है उससे उसम संहनन कहते हैं। दिग्म्बर ध्यालयकारोंके अनुसार छह संहननोंमें से आदिके तीन संहनन ध्यानके लिए उत्तम हैं किन्तु मोक्षप्राप्तिके लिए केवल प्रथम संहनन ही उपयोगी है। किन्तु द्वेताम्बर ध्यालयकारोंके अनुसार आदिके खार संहनन उसम हैं।

यही यह प्रश्न हो सकता है कि यह कठन सामान्य ध्याताका है। यह अशुभ ध्यानके ध्यातामें कैसे संगत ही सकता है? इसका उत्तर है कि जैन सिद्धान्तके अनुसार उत्तम नरकमें वही मनुष्य मरकर जन्म लेता है जो प्रथम उत्तम संहननका धारी होता है। अर्थात् जिस संहननसे मोक्षकी प्राप्ति होती है उसी संहननसे सप्तम नरकमें उत्पत्ति होती है। अतः जैसे उत्कृष्ट शुभ ध्यानके लिए उत्तम संहनन आवश्यक है उसी प्रकार उत्कृष्ट अशुभ ध्यानके लिए भी उत्तम संहनन आवश्यक है।

उसी सूत्रमें ध्यानका लक्षण 'एकाग्रविद्वानिरोध' किया है। यह लक्षण योगदर्शनके चित्तवृत्तिनिरोधसे भिन्न है और उस भिन्नताका कारण है जैन मान्यता। जैन मान्यताके अनुसार विल अर्थात् मनकी वृत्तियाँ

आत्माकी ही वृत्तियाँ हैं, क्योंकि भावमन-ज्ञानरूप हैं, और ज्ञान आत्माका गुण है। जीनदर्शनमें गुणकी सत्ता गुणोंसे भिन्न नहीं है। दोनोंका तात्पर्य है। अतः आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञान आत्मरूप है। किन्तु भावमन ज्ञानरूप होकर भी ईष्ट-इच्छिय लेनेसे अनिन्द्रिय कहा जाता है। सार अवस्थामें अलगज्ञानी जीवके गुण-धोष विचार स्मरण आदि व्यापारोंमें वह सहायक होता है। जैसे इन्द्रियी रूप, रस, स्पर्श आदिका ज्ञान कर्त्तनेमें सहायक होती है। गुण-धोषका विचारक और स्मरण आदिका कर्त्ता तो आत्मा ही है। अतः जिन्हें चित्तकी वृत्तियाँ कहा जाता है वे सब मूलमें आत्माकी ही वृत्तियाँ हैं। रामो-नृथी आत्मा ही मनके द्वारा उन व्यापारोंमें प्रवृत्त होता है। अतः जबतक राग-द्वेषपर नियन्त्रण नहीं होता तबतक चित्तकी चंचलतापर नियन्त्रण नहीं हो सकता। और जबतक चित्तकी चंचलतापर नियन्त्रण नहीं होता। तबतक ध्यान द्वारा आत्मदर्शन सम्भव नहीं है। कहा भी है—

रागद्वेषादिकश्लोलैरलोकं यत्प्रभोचलम् । स पश्वत्यात्मनस्त्वर्वं तत्त्वं नेतरो जनः ॥२५॥—समायितत्व ।

‘चित्तका मनस्यापी जल रागद्वेष आदि लहरोंसे चंचल नहीं होता, वह आत्माके यथार्थ रूपरूपको देखता है, अन्य जन उस आत्मतत्त्वका दर्शन नहीं कर सकते।’

इससे ज्ञानाय योगदिव्यता ही जाप चिन्ता<sup>१</sup> है। उत्तराय जबलम्बन एक अर्थ में होकर अनेक अर्थ होते हैं। अनेक अर्थोंसे हटाकर एकमें ही उसके नियमनको ‘एकाग्रचिन्तानिरोध’ कहते हैं। किन्तु ‘एकाग्र’में अन्य शब्दका प्रयोग अर्थपरक नहीं है। यदि अर्थपरक हो सो पृथक्त्वद्वितक नामक शुद्धलक्षणमें जो अर्थसंक्रान्ति होती है उसमें विरोध जाता है। वहाँ एक अर्थमें निरोध नहीं रहता। किन्तु अपका अर्थ मुख लेनेसे अनेक मुखताकी निवृत्ति हो जाती है। एकमुख होते हुए भी अर्थसंक्रम होनेपर भी ध्यान होता है किन्तु अनेक मुखतामें अपश्वता रहती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि केवल चिन्तानिरोधको ही ध्यान क्यों नहीं कहा। निरोधका अर्थ अभाव भी होता है और ऐसी अवस्थामें ध्यान केवल चित्ताका अभाव अर्थात् किसी प्रकारकी कोई चिन्ता न होना मात्र रह जाता है।

किन्तु तत्त्वार्थसूक्तके व्याख्या यन्य सर्वार्थसिद्धि और लक्ष्मीसारी तत्त्वार्थशास्त्रिककी उन व्याख्याकी आलोचना अपराजित सूरिने अपनी विजयोदया टीकामें की है। वह लिखते हैं—

कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि नाना अयोक्ता जबलम्बन लेनेसे चिन्ता परिस्पन्दनशील होती है। उसको एक अर्थमें नियमित करना चिन्तानिरोध है। उससे पूछना चाहिये कि जब चिन्ताके आश्रय नाना अर्थ है तो वह एक अर्थमें ही नियमित किसे हो सकती है। यदि वह एक ही अर्थमें प्रवृत्त होती है और नाना अर्थकी अबलम्बनशील परिस्पन्दनशीली नहीं है तो उसका निरोध कहना असंगत है। अतः यहाँ ऐसा व्याख्यान करना चाहिए—चिन्ता शब्दसे चंतम्यको कहा है। वह चंतम्य भिन्न-भिन्न अर्थोंको जड़नेपर जलपर्यावरणसे बर्तन करनेसे परिस्पन्दलूप होता है उसका निरोध अर्थात् एक ही विषयमें प्रवृत्ति चिन्ता-निरोध है।

इसी एकाग्रचिन्तानिरोधका एक अन्य व्याख्यान तत्त्वानुशासन नामक व्यानशास्त्रमें भिन्नता है। उसमें कहा है—‘अंगति’ अर्थात् जो जानता है वह अग्र है। इस नियमिके अनुसार अप्रका अर्थ होता है आत्मा। तद्वोमें अवगत्य होनेसे भी ‘अग्र’ शब्दसे आत्माका स्मरण किया गया है। ‘एक’ का अर्थ होता है केवल अथवा तथोदित अर्थात् शुद्ध। और अन्तःकरणकी व्यक्तिको चिन्ता कहते हैं उसका शीष अर्थात् नियन्त्रण। अर्थात् शुद्ध आत्मामें चित्तवृत्तिका नियन्त्रण ध्यान है। और यदि निरोधका अर्थ अभाव करते हैं तो आत्मामें चिन्ताका अभाव ध्यान है और वह स्वसंवेदन रूप शुत्तज्ञान है जो रागद्वेषसे रहित होनेसे उद्घासीन अथार्व अतिनिवचल होता है। [ तत्त्वानु. ६२-६६ छलो. ]

१. ‘चलचित्तमेव चिन्ता’—त. मा. सिद्ध. दी. ३४२७      २. भग. जारा., गा. १६९५।

### ध्यान और ज्ञान

वहीं ध्यान और ज्ञानका भेद भी द्रष्टव्य है। जैन दर्शनमें आत्मामें अनन्तगुण माले यहे हैं। किन्तु उनमें अपना और परका बोध करानेवाला एक ज्ञानगुण ही है अतः जैन अध्यात्ममें कहा है—

‘आत्मा ज्ञाने स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्।’—समयसार कल्प

आत्मा ज्ञान है। ज्ञानके सम्बन्धसे ज्ञान नहीं है किन्तु स्वयं ज्ञान है। वह ज्ञाननेके सिवाय अन्य कुछ नहीं करता। करना उसका काम नहीं है मात्र ज्ञानना ही उसका काम है। जबतक उसमें कर्तृत्वबुद्धि रहती है तबतक उसकी संसारसे मुक्ति नहीं होती। उसकी कर्तृत्वबुद्धि ही उसकी आकुलताका मूल कारण है। उसमें योग देते हैं उसके मन-वचन-काय। मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति हो, जिसे जैनधर्ममें योग घट्देह कहा है, क्रोध भान माया और लोभ नामक कथायसे अनुरक्त होकर उसके संसार बन्धनको अमन्त्र बनाती है। यद्युपरि उसमें ज्ञानमूलक चारित्रकी धारा प्रवाहित होती है तो कथायोंके साथ उनके योगका भी निरोध होता है। वस्तुतः उभी वह ध्याता बनता है। उसमें प्रवाहित ज्ञानकी धारा ध्यानावस्थामें निश्चल हो जाती है। इसलिए उसे ज्ञाने न कहकर ध्यान कहते हैं।

### ज्ञानार्थि

सम्प्रवत्या इसीसे आधार्य कुभव्यद्वने अपने इस ध्यानशास्त्रका नाम ज्ञानार्थि रखा है और अन्तिम गुणिकार्यमें अपर नाम योगप्रवीपाधिकार दिया है। ध्यानके लिए योगशब्दका उच्चन जैनपरम्परामें नहीं रहा है। यों तो प्रकरणवश ध्यानका वर्णन आभासिक साहित्यमें तथा उत्तरकालीन साहित्यमें मिलता है किन्तु ध्यान पर स्वतंत्र ग्रन्थ कम ही मिलते हैं। अकलेकदेवने अपने तत्त्वार्थवाचिक ( ११२७ ) में ध्यानका वर्णन करते हुए अन्तमें एक ध्यानप्राभूत नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है किन्तु वह उपलब्ध नहीं है। हरिभद्रसूरिने एक ध्यानशास्त्रपर टीका रची है। और उस टीकाके साथ वहु ध्यानशास्त्रकी ओर, सं. २४६७ में ज्ञानगरसे मुद्रित हुआ है। उसपर उसे जिनसद्गणिकामाध्यमण रचित छापा है। किन्तु पं. दलसुखजी मालवणिधा-जैसे विद्वान् उसे उनका नहीं मानते। उसे हम ध्यानपर रचा गया प्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ कह सकते हैं। इसमें १०५ गाथाएँ हैं। दूसरी गाथामें स्थिर अध्ययनसामनकी ध्यान और चंचल चित्तकी भावना अनुग्रेशा तथा चिन्ता घट्देह कहा है। हरिभद्रसूरिकी टीकासे यह सो स्पष्ट है कि यह उससे पूर्वका है। इसकी लगभग पचास गाथाएँ घट्लण्डगमकी घबड़ा टीका ( पृ. १३, पृ. ६४-८७ ) में उद्दृत हैं। इसमें भी चारों ध्यानोंका कथन है।

हरिभद्रसूरिने योगपर कुछ यन्त्र रखे हैं। किन्तु दिग्म्बर परम्परामें तत्त्वानुशासनके पश्चात् ध्यानपर उपलब्ध ग्रन्थ एक ज्ञानार्थि ही है। ज्ञानार्थिके पश्चात् भारकरनन्विने एक ध्यानस्त्रव रचा है जिसमें १०० श्लोक हैं। अतः ज्ञानार्थिक अपने विषयका एक विस्तृत ग्रन्थ है। इसमें ध्यानके अंगभूत ऐसे विषयोंकी भी चर्चा है जिसका वर्णन उससे पूर्वके जैन साहित्यमें नहीं है।

जैन परम्परामें ध्यानके आर्त, रीष, धर्म, शुक्ल ये चार भेद ही प्राचीनकालसे मान्य रहे हैं। किन्तु दिग्म्बर परम्परामें योगसार ( १८ ) में ही सर्वप्रथम पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानोंका उल्लेख मात्र मिलता है। परमात्मप्रकाश ( पृ. ६ ) और बृहद्ब्रह्मसंप्रहकी टीका ( गा. ४८ ) में टीकाकार ब्रह्मदेवने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें इन चारोंका स्वरूप कहा है। वि. सं. १०८६ में रचे गये ज्ञान सारमें धर्मध्यानके भेदोंमें पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ भेद गिनाकर तीनोंका वर्णन किया है।

किन्तु सर्वप्रथम ज्ञानार्थिमें ही इन ध्यानोंका वर्णन विस्तारसे मिलता है। श्वेताम्बर परम्पराके

१. ज्ञानमेवापरिप्रस्तानिनिरावदवभास्त्रानें ध्यानसिति। —सर्वार्थ, तत्त्वार्थवाचिक ११२७।

२. ज्ञानपूर्व तिष्यवार्त अरुहृ कुमिन्धणाप्रय विद्वाणः । विष्वरवं च एवत्यं कुल्यसाम्यम् ॥१६॥

जाहिरतमें तो इन चारों ध्यानोंके नामों उक्ता भी उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी आचार्य हेमचन्द्रसे अपने योगशास्त्रमें ज्ञानार्थवकी शैलीमें ही उनका विस्तारसे कथन किया है। प्रायः विद्वानोंका यही मत रहा है कि हेमचन्द्राचार्यने शुभचन्द्राचार्यके ज्ञानार्थवका ही अनुसरण किया है। किन्तु इधर दो लेख दृष्टिमोचर हुए जिनमें शुभचन्द्रके ज्ञानार्थवको हेमचन्द्रके योगशास्त्रका रूपान्तर कहा गया है।

इसमें तो सन्देह नहीं कि दोनोंमें इसनी एकत्रिता है कि दोनोंमेंसे बोई एक दूसरेका रूपान्तर अवश्य है। किन्तु कोन किसका रूपान्तर है यही विचारणीय है। आचार्य हेमचन्द्रका समय तो निश्चित है। उनका स्वर्गकास वि. सं. १२२९ में हुआ था। असः यह निश्चित है कि उनका योगशास्त्र उससे पूर्व रचा गया था। किन्तु आचार्य शुभचन्द्रका समय अशात है। पं. आशाष्वरने भगवती आराधनाकी अपनी टीकामें ज्ञानार्थसे कुछ एलोक उद्धृत किये हैं। और इस मूलाराधनाका उल्लेख आशाष्वरने जिनयज्ञकल्पकी अपनी प्रशस्तिमें किया है और उसी प्रशस्तिमें उसका रचनाकाल विक्रम संवत् १२८५ दिया है। इससे स्पष्ट है कि जिस मूलाराधना दर्पणमें ज्ञानार्थसे एलोक उद्धृत किये गये हैं वह वि. सं. १२८५ से पूर्वमें रचा गया था और ऐसी स्थितिमें ज्ञानार्थ उससे भी पहले। वा जा चुका था। जिसी अस्तित्वे ज्ञानार्थ तभी उद्धरण देता है जब वह प्रशस्ति होकर ज्ञानियोंमें अपना स्वाम बना लेता है और उसमें कुछ समय लगता ही है। तब पाठ्यकी प्रतिके अस्तित्वे दिये गये उसके लेखनकाल संवत् १२८४ को ही उसका रचनाकाल किये जाना जा सकता है। १२८४ से पूर्व तो आशाष्वरका मूलाराधनादर्पण ही रचा गया था जिसमें ज्ञानार्थसे एलोक उद्धृत है।

पाठ्यकी प्रतिकी लेखक प्रशस्ति भी जिसी रूपसे ध्यान देने योग्य है। उसके पहले अन्तिम पृष्ठिका वाक्य इस प्रकार है—‘इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे पण्डिताचार्यश्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते।’ तथा प्रशस्तिके अन्तिम दो एलोक इस प्रकार है—

तथा कर्मकाण्डस्याद्य ध्यानाध्यवनशालिमे । तपःवृत्तनिधानाय तत्त्वज्ञाय महारमने ॥

रागादिरिपूमरुक्षाय शुभचन्द्राय योगिने । लिखाण्य पुस्तकं दसमिदं ज्ञानार्थवाभिधम् ॥

आगे अन्तिम वाक्य इस प्रकार है—संवत् १२८४ वर्षे वैशाख सुदी १० शुक्रे गोमङ्गले दिग्मवरराज-कुलसहस्रकीर्ति ( तं ) स्यार्थं पं. केशरीसुतबीसलेन लिखितमिति ।

उक्त असका कारण यह है कि ज्ञानार्थके रचयिताका तथा जिसे लिखाकर पुस्तक भेट की गयी उनका नाम समान है। यदि नाम समान न होता तो ग्रन्थके लिखिताकी ही उसका रचनाकाल मान लेनेकी गलती न की जाती। किन्तु नाम समान होनेपर भी दोनोंकी उपाधियोंमें भिन्नता है। इसके सिवाय यह भी विचारणीय है कि यदि जिस शुभचन्द्रने ज्ञानार्थ रचा उम्हें ही उसकी प्रति भेट की गयी तो क्या जिस शुभचन्द्र योगीकी प्रशंसामें दो एलोक रचे गये उसमें इतनी बड़ी बात छोड़ दी जाती कि जिन्होंने इस ग्रन्थको रचा उन्हें ही यह पुस्तक दी गयी। रचयिताको ही उसकी पुस्तक लिखाकर दी जाये और इतनी विस्तृत प्रशस्तिमें इसनी मौलिक बात छूट जाये या छोड़ दी जाये यह तो अत्यन्त ही आश्चर्यजनक है।

फिर अन्तिम वाक्यमें कहा है कि संवत् १२८४ वर्षमें ईसाख सुदी १० शुक्रवारको गोमङ्गलमें दिग्मवर राजकुल सहस्रकीर्तिके लिए केशरीसुत दीसकने लिखा।

विचारणीय यह है कि यह वि. सं. १२८४ लेखनकाल तो उस प्रतिका है जो बीमलने सहस्रकीर्तिके लिए दी थी। और वह प्रति वही है जिसपर उसका लेखनकाल लिखा है। क्या वही प्रति जाहिरीने लिखाकर शुभचन्द्र योगीको दी थी। तब यह अन्तिम लेखकप्रशस्ति किस प्रतिकी है? हमें लगता है कि जिस प्रतिसे यह प्रति की गयी है उसमें उक्त प्रशस्ति रही है। और उसीकी प्रतिलिपि पाठ्यकी प्रतिमें है। यह प्रति वह प्रति नहीं है जिसे जाहिरीने लिखाकर शुभचन्द्र योगीको भेट किया था। वह प्रति इससे भी ग्राहीन रही है।

इसीसे इस प्रतिके परिवर्णन में डॉ. उपाध्येने लिखा है कि 'प्रतिके देखनेसे लगता है कि काफी प्राचीन प्रतिके आधारपर इसका संशोधन किया गया है, यदि यह माना ही जाता है कि जाहिणीने शान्तार्थवक्ती प्रति लिखाकर उसके रचयिताको भेट की थी तो यह नहीं कहा जा सकता कि इ० १२२७ ( वि. स. ३२८४ ) में इस प्रतिके होनेसे पूर्व किसी पीड़ियाँ बीत चुकी थीं।'

यात् प्राचीनकार और जाहिणीके हाथ लिखाकर जिसे प्रति दी गयी उसके नामकी साम्यता वथा पाठण की प्रतिके अन्तमें लिखी गये उसके लेखनकालकी ही जाहिणीके हाथ भेट की गयी प्रतिका लेखनकाल समझ लेनेकी भूलोंके कारण ही शान्तार्थवक्ता रचनाकाल संक्त १२८४ मान लेनेकी भूल की गयी है अतः उसके आधारपर यह किसी भी तरह नहीं माना जा सकता कि शान्तार्थवक्ता हेमचन्द्रके योगशास्त्रका रूपान्तर है।

इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य हेमचन्द्र बहुश्रुत विद्वान् होनेके साथ प्रतिभाके बनी थे। शास्त्रोंकी कोई ऐसी वास्ता नहीं है जिसे उन्होंने अपनी कुतिष्ठ अलंकृत न किया हो। साहित्य, काव्य, पुराण, दर्शन, व्याकरण, कीरण, संस्कृत, प्राकृत सभी तो उनसे अनुप्राप्ति है। और इसीसे वे कलिकाल सर्वज्ञ कहे जाते हैं।

किन्तु आलोचकोंकी दृष्टिमें हेमचन्द्र संग्रहकके रूपमें विदेष महात्म रखते हैं। उनका काव्यानुशासन काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाल, व्याख्यालोक आदिका गृहणी है। उनके व्याकरणमें पूर्व व्याकरणोंसे प्रभूत साधनी ली गयी है। देशीनामलालामें घनपालरचित् पाइवलचित् नाममालाका बहुका उपयोग किया गया है। विष्णुविलाकापुरावचरितके अस्तर्गत अहंसहस्रनाम जिनसेनके महापुराणके अस्तर्गत रचित जिमसहस्रनामकी ही शब्दशः अनुकृति है। ऐसी विवितमें उनका योगशास्त्र उनकी इस संग्रहकवृत्तिसे अछूता ही, यह सम्भव प्रतीत नहीं होता।

उसकी रचना औलुक्य कुमारपालकी अत्यर्थ अस्तर्यनावश की गयी है। हमें ऐसा लगता है कि उनकी अत्यर्थ अस्तर्यनासे प्रेरित होकर आचार्य हेमचन्द्रने ज्ञानार्थवक्तो दपजीव्य बनाकर योगशास्त्र रचा है।

ज्ञानार्थवक्तमें तो गन्धकारने जो पद्य अन्य ग्रन्थोंसे लिये हैं उनका 'उन्हें व' करके निर्देश किया है। उनमें तत्त्वार्थ सूत्र, महापुराण, तत्त्वानुशासन, युद्धार्थसिद्ध्युपाय और सोमदेव उपासकाव्यम् ( यशस्तित्तम् ) के पद्य भी हैं। अन्य अनेक श्लोकोंका स्थान लोजा नहीं जा सका है। उनमें कुछ जैसेर प्रत्य भी प्रतीत होते हैं जो योगविषयक हैं। हेमचन्द्रके योगशास्त्रका उत्तरार्थ ही यथार्थमें योगसे गम्भीर है। पूर्वविद्वान् पृष्ठ संख्या ३४० है किन्तु उत्तरार्थ की ५५ पृष्ठ मात्र है। उनमें भी पञ्चवी प्रकाश बढ़ा है और उसमें २५ पृष्ठोंमें प्राणायामका वर्णन है। दोष तीस पृष्ठोंमें उपानका वर्णन है। उसमें उद्धृत पद्य अत्यन्त ही विरल है। तीन पद्य हमें मिले और तीनों ही ज्ञानार्थवक्तमें उद्धृत हैं। ज्ञानार्थवक्तमें उद्धृत वो श्लोक ऐसे मिले जिन्हें परिवर्तित करके मूलमें मिला लिया गया है। उनमें एक प्रसिद्ध श्लोक इस प्रकार है—

सूक्ष्मं जिनेन्द्रवचनं हेतुभिर्यज्ञ हम्यते । आसासिद्धं च सद् ग्राहां नान्यथावादिनो जिनाः ॥

यह श्लोक दिग्घ्वर परम्परा में बहुत प्रसिद्ध है। उसमें जिनेन्द्रवचनके स्थानमें 'जिनोवितं तत्त्वं' पाठ है। इसका अन्तिम अरण आज्ञाविचय धर्मध्यानके प्रसंगमें सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवाचिक दोनोंमें है। ज्ञानार्थवक्तमें भी आज्ञाविचयके प्रसंगमें ही यह उद्धृत है। हेमचन्द्राचार्यने भी इसे उसी प्रसंगमें इस प्रकार परिवर्तित किया है—

सर्वज्ञवचनं सूक्ष्मं हम्यते यज्ञ हेतुभिः । तत्त्वाज्ञानप्रमाणे न मृषाभाषिणो जिनाः ॥—१०१९

ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें श्लोक श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित नहीं है इसीसे परिवर्तित करना पड़ा है। क्योंकि ज्ञानार्थवक्तमें तो दिग्घ्वर गम्भीरके भी अनेक उद्धरण हैं जिन्हें उनमेंसे कोई भी योगशास्त्रमें उद्धृत नहीं है, परिवर्तित हो सकता है। अस्तु।

उनके उपर्योगे के प्रकाशमें यह स्पष्ट है कि ज्ञानार्थी योगशास्त्रका लक्षणसंबंध नहीं है किन्तु योगशास्त्र ही ज्ञानार्थीका रूपान्तर है।

योगशास्त्र ( मुख्यराती ) के उपोद्घातमें वीर गोपालदासजी पटेलने लिखा था—‘वीरों ग्रन्थोंका विषय-निष्ठपण देखते हुए ही लगता है कि हेमचन्द्राचार्यका योगशास्त्र बहुत व्यवस्थित तथा संक्षिप्त है जबकि ज्ञानार्थी शास्त्र ग्रन्थ की अपेक्षा उपदेशग्रन्थ अधिक है। और इस कारण उसका निष्ठपण जरा शिथिल है। अर्थात् ज्ञानार्थीकी ही अधिक व्यवस्थित और संक्षिप्त कारणे योगशास्त्र रचा गया होगा, ऐसा जान पड़ता है।’

हमें वीर पटेलका उल्लंघन ही व्यार्थ प्रतीत होता है। अभिलग्निके आवकाशारका जितना स्पष्ट प्रभाव हेमचन्द्रके योगशास्त्रपर है उतना ज्ञानार्थीपर नहीं है। अभिलग्निने वि. स. १०५० में सुभाषित रत्न-सन्दीह और १०७३ में पंचसंग्रह रचा है। इसी कालमें आवकाशार रचा गया है। अतः ज्ञानार्थी भी उसीके आवकाश रचा गया हीना चाहिए। इस तरह ज्ञानार्थीके योगशास्त्र व्यवस्थ ही पूर्वमें रचा गया है। अस्तु।

स्व. डॉ. आ. ने. उपाध्ये ने बड़े अमर्ते साथ इस ग्रन्थका सम्पादन किया था। उनके द्वारा लिखित हृस्तलिखित प्रतियोंके परिचय तथा ज्ञानार्थीके भूल पाठको सुरक्षित और सुव्यवस्थित करनेकी विक्षिप्ते उसका स्पष्ट आभास मिलता है। किन्तु खेद है कि कहु इसके प्रकाशनसे एक वर्ष पूर्व ही स्वर्गवासी हो गये। कहु यदि जीवित रहते तो इसकी प्रस्तावना और सम्पादनके रूपमें ज्ञानार्थी और दीक्षित्यर्थकर इनके विद्वान् पूर्ण मिश्रस्व पक्षनेका लाभ विज्ञ पाठकों को प्राप्त होता।

डॉ. उपाध्ये ग्रन्थ-सम्पादन कलाके आचार्य थे। उनका विद्यारथ प्रगाढ़ था, उनकी दृष्टि बड़ी पौरी, सूक्ष्म और निष्पक्ष थी। अग्रने सम्पादित ही नहीं, किन्तु सम्पादनमें प्रकाशित होनेवाले प्रत्येक ग्रन्थके प्रति वह जितना अम करते थे उतना अम करनेवाले भाज विरल हैं। अपने मिश्र स्व. डॉ. हीरालाल जीके साथ एकरस होकर जिस तिष्ठाके साथ उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिवेदी ग्रन्थमाला और जीवराज ग्रन्थमालाके द्वारा जैन साहित्यके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थरत्नोंको सम्पादित करके प्रकाशित किया है, उनकी वह निष्ठा अविद्यमरणीय है।

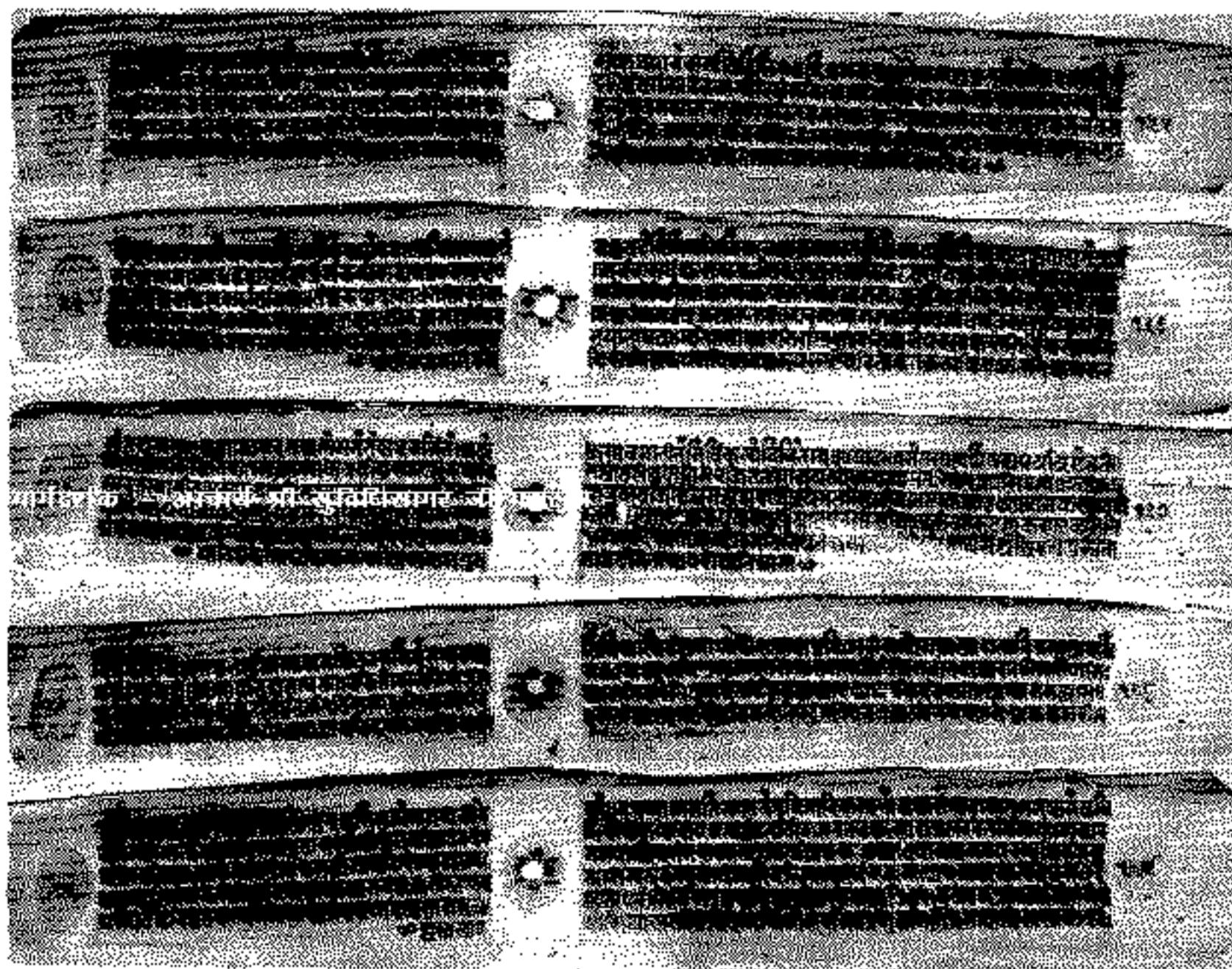
इस ग्रन्थके सम्पादनादिमें उन्हें जिनका सहयोग मिला, उन सबको व्यार्थ रोकिसे धन्यवाद तो दे सक्यं ही दे सकते थे। मुझे तो उन सबका ज्ञान भी नहीं है। किर भी मैं उस स्वर्गीय आत्माकी ओरसे उन सबका आभार मानता हूँ। जिन भण्डारोंसे या व्यक्तियोंसे ज्ञानार्थीकी हृस्तलिखित प्रतियों प्राप्त हुई, जिनके आधारसे यह बहुमूल्य संस्करण प्रकाशित हो सका, उन सबका आभार मैं सादर स्वीकार करते हुए धन्यवाद देता हूँ। मुनिवर पुण्यविजयजी महाराजकी उदारतासे पाठन भण्डारकी सर्वाधिक प्राचीन प्रतिके कोटु प्राप्त हुए थे। खेद है कि मुनिजी भी स्वर्गवासी हो गये हैं। उनके प्रति मैं विशेष रूपसे धन्यवाद हूँ।

इस ग्रन्थका अनुवाद तथा प्रस्तावनादि लेखनका कार्य प. बालचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीने किया है। अन्य किस-किसने इसमें क्या-क्या योगदान दिया है महु तो डॉ. उपाध्ये ही जानते थे। मैं उन सभीके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

जैन संस्कृति संस्कृक संघके समाप्ति सेठ लालचन्द्र हीराचन्द्र और मन्दी सेठ बालचन्द्र देवचन्द्र याहुकी कार्य लत्परताके कारण ही इस ग्रन्थमालाका कार्य सुचाह रूपसे जालू है। उनके आग्रहवश तथा आचार्य समन्तभद्रजी महाराजके आदेशवश मुझे अपनी इस वृद्धावस्थमें सम्पादन कार्य स्वीकार करना पड़ा है अतः मैं आचार्य महाराजको नमन करते हुए सकू दोनों महानुभावोंके प्रति भी आभारी हूँ। भारतीय ज्ञानपीठके सहयोगसे उसके प्रेसमें इस ग्रन्थका मुद्रण कार्य हो सका है अतः ज्ञानपीठके व्यवस्थापकों तथा प्रेस-कर्मचारियोंका भी आभारी हूँ।

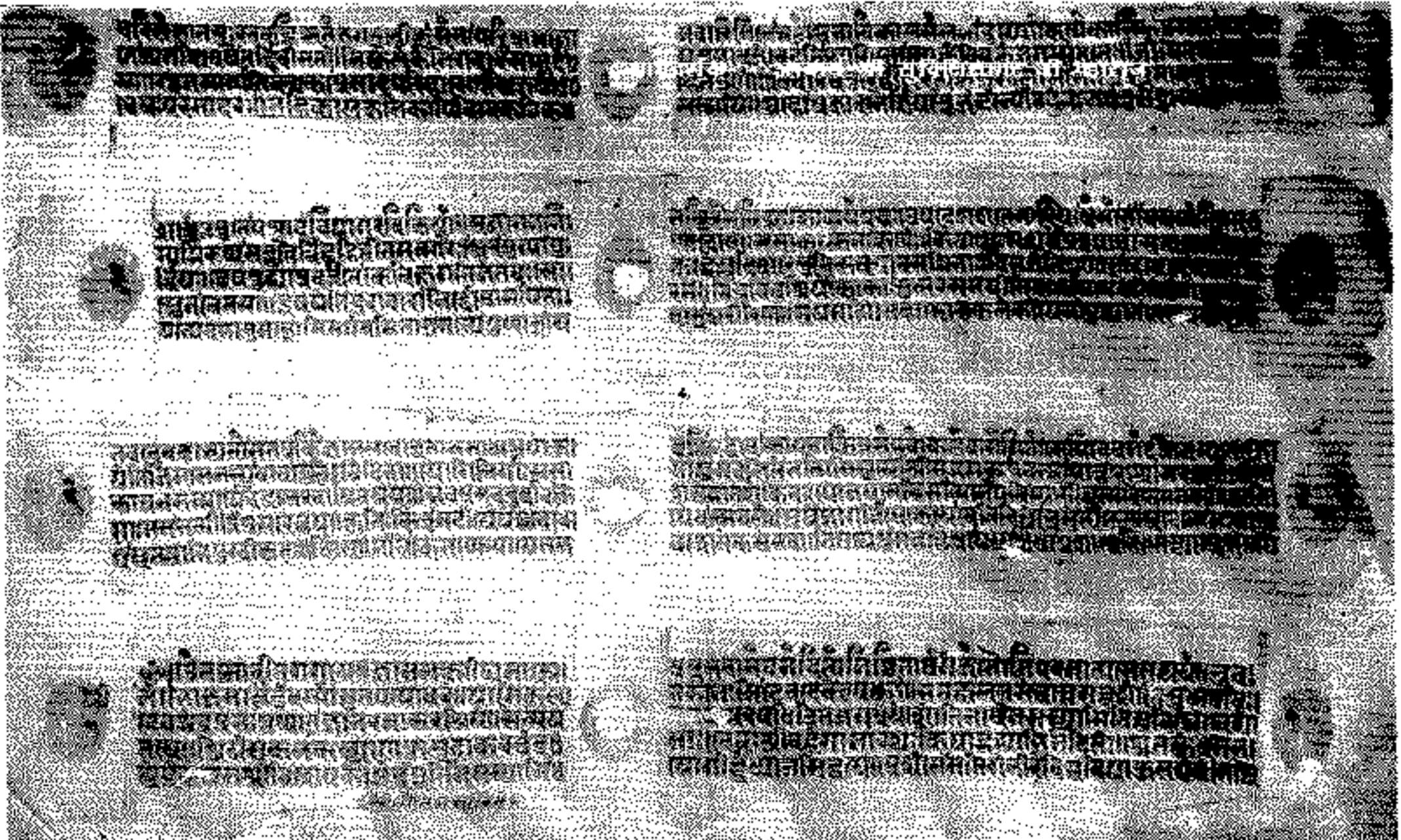
स्थानार्थी  
वाराणसी  
द्वैपालकी-१९७३

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

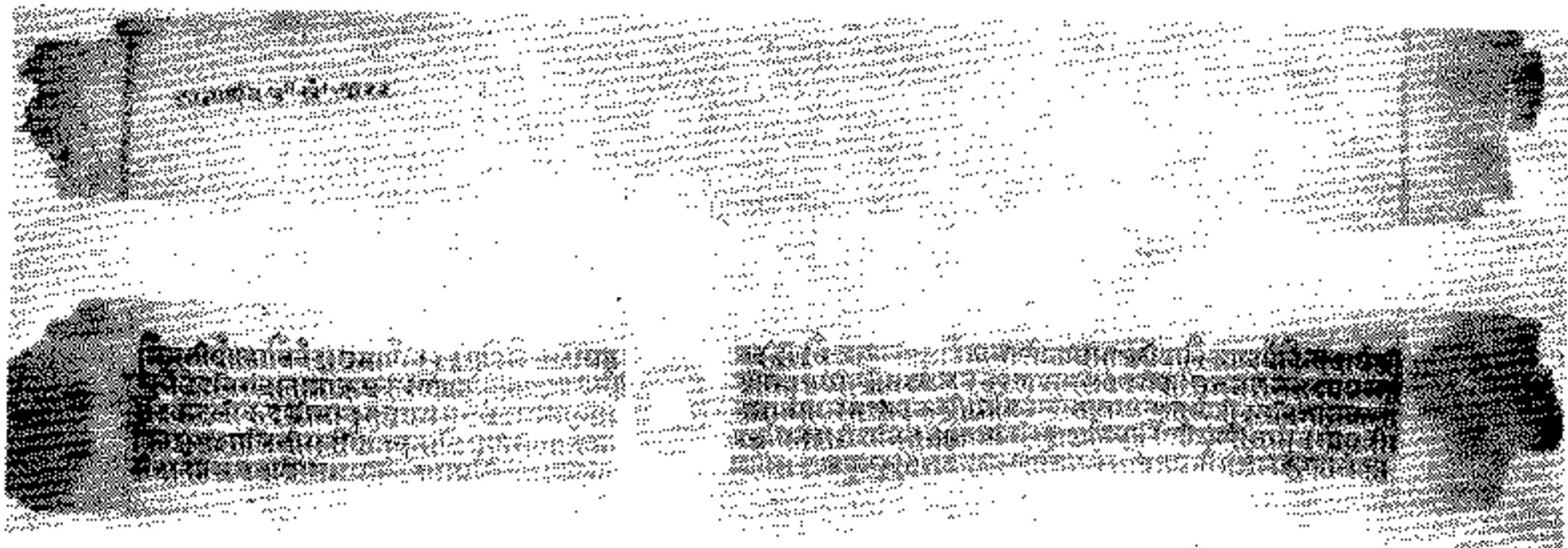


Photostat copy of MS. Q.  
See : Verse No. 1470 onwards in Printed Book.

Photostat copy of MS. J with Commentary,  
See : Verse No. 901 onwards in Printed Book,



जानर्जकी किसी प्रतिके प्रारम्भक पत्रोंका फोटो



शास्त्रवची एक प्राचीन ग्रन्थिके अन्तिम पत्रका फोटो

## प्रस्तावना

### १. ज्ञानार्थक

जैसी कि ग्रन्थकारके हारा स्वयं सूचना की गयी है, प्रस्तुत ग्रन्थका नाम ज्ञानार्थक है। यह नाम उसका सर्वार्थिक होता है। हारा इह है कि उसमें अनेक विषयोंका वर्णन किया गया है। अतएव ग्रन्थके अध्ययनसे अध्येताको उन सब विषयोंका ज्ञान प्राप्त होनेवाला है। इस हेतुमे परि उसे 'ज्ञानार्थक—ज्ञानका समुद्र' कहा गया है तो यह संगत ही है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकारके हारा इसे ध्यानशास्त्र भी कहा गया है<sup>१</sup>। सो यह भी ठीक है, क्योंकि इसमें प्रमुखतासे ध्यानका वर्णन किया गया है। अन्य किसीने ही विषयोंका जो इसमें वर्णन किया गया है वह उस ध्यानके प्रसंगसे ही किया गया है। इसके प्रत्येक प्रकारणकी अन्तिम पुष्टिकार्यमें इसका उल्लेख 'योगप्रदीपाधिकार'के रूपमें किया गया है। योग और ध्यान ये समानार्थक शब्द हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ यतः ध्यानके दिक्षिणीमें दीपकका काम करता है, अतः 'योगप्रदीपाधिकार' कहनेसे भी उसकी सार्वकला प्रकट होती है।

### २. आचार्य शुभचन्द्र और उनका समय

प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिता आचार्य शुभचन्द्रने इस महत्वपूर्ण ग्रन्थको रचकर अपना कहीं कोई परिचय नहीं दिया। यह उनकी निरभिमानताका दोषका है। इस अभिप्रायको उन्होंने स्वयं घ्यत भी कर दिया है<sup>२</sup>, जिसे केवल शिष्टता न समझकर उनकी आन्तरिक भावना ही समझना चाहिए। ग्रन्थके परिशीलनसे यह तो जांत ही जाता है कि सिद्धान्तके भर्मज आचार्य शुभचन्द्र बहुश्रुत विद्वान् एवं प्रतिभासमूल्य कवि भी रहे हैं। ग्रन्थकी भाषा सरस, सरल व सुव्योग है। कविता यसुर व आकर्षक है। ग्रन्थमें जो अनेक विषयोंके साथ इतर सम्प्रदायोंकी भी चर्चा व समीक्षा की गयी है उसीसे उनकी बहुश्रुतताका पता लग जाता है। उनके समयमें जो भी धोर्मविषयक साहित्य प्रचलित रहा है उसका उन्होंने गम्भीरतापूर्ण अध्ययन किया है तथा अपनी इस कृतिमें उन्होंने उसका समूचित उपयोग भी किया है। इसका उदाहरण प्राणायाम और पिण्डस्थ-पदस्थ आदि ध्यानोंका विस्तृत वर्णन है।

ग्रन्थकारके समयका विचार करनेके लिए यह देखना होगा कि उन्होंने इस ग्रन्थकी रचनामें पूर्ववर्ती किन ग्रन्थोंका आधार लिया है। प्रस्तुत ग्रन्थकी रचनामें उन्होंने आचार्य पूज्यपाद ( वि. 5-6वीं शताब्दी ) विरचित समाधिसन्त्र व इष्टोपदेश, भट्टाकर्लकदेव ( 8वीं शती ) विरचित तत्त्वार्थवातिक, आचार्य जिनसेन ( 9वीं शती ) विरचित आदिपुराण ( 21वीं पर्व ), अमृतचन्द्र सूरि ( 10वीं शती ) विरचित पुरुषार्थ-सिद्ध्युग्राम, रामसेनाचार्य ( 10वीं शती ) विरचित तत्त्वानुशासन, सीमदेव सूरि ( 11वीं शती ) विरचित

१. देखिए छलोक 11 और 2230।

२. देखिए छलोक 2229।

३. न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया।

कृति: फिल्म सर्वीय स्वबोधायैय केवलम् ॥ १-१९ ।

उपसकाध्ययन तथा आ. अमितगति प्रथम ( 10-11वीं शती ) विरचित योगसारप्राभूत आदि ध्यानीका आश्रय लिया है। इनके अतिरिक्त अमितगति-आवकाचारके कर्ता आ. अमितगति ( द्वितीय ) भी यदि आ. शुभचन्द्रके पूर्ववर्ती या सम्प्रकालीन हो सकते हैं तो सम्भव है उनके आवकाचारका भी उन्होंने प्रस्तुत धन्यकी रचनामें उपयोग किया हो।<sup>१</sup> इसका कारण यह है कि प्रस्तुत ज्ञानार्णवमें जिन पिण्डस्थ-पद्मस्थ आदि ध्यानीका कुछ विस्तृत वर्णन किया गया है उनका विशेष वर्णन अमितगति-आवकाचारके 15वें परिच्छेदमें उपलब्ध होता है। पर वर्णनशैली दोनोंको कुछ भिन्न प्रतीत होती है।

उपर्युक्त प्रन्थीमें से कुछके पश्च भी प्रस्तुत ज्ञानपूर्णकमें 'लक्ष' च' आदिके निर्देश पूर्वक अथवा बिना किसी प्रकारकी संबन्धके भी पाये जाते हैं। यथा—

कटस्य कर्तव्यिभिः संबन्धः स्याद् व्योदयोः ।

ध्यानं ध्येयं सदाहमीव संक्षिप्तः कीद्रशस्तदा ॥

यह पश्च इण्डोपेश ( २५ ) का है, जिसे जाहारीवर्षमें १५१० संख्याके अन्तर्गत उद्घाट किया गया है।

इसी अकार पुस्तकार्य सिद्धधर्मपाठ्यका 116 वीं पथ ज्ञानार्थिमें 825 संख्याके अन्तर्गत, तत्त्वार्थकातिक पृ. 14 पर तथा उपासकाइयन ( 23 ) में उद्धृत 'हर्त जार्न क्रियशून्य' आदि पद्म 315 संख्याके अन्तर्गत, उपासकाइयनके 21, 22 व 241 ये तीन पद्म क्रमसे 313, 314 व 395 संख्याके अन्तर्गत उद्धृत पाये जाते हैं।

बादिपुराणके 21 वें पृष्ठके 102, 131, 170 व 177 ये पद्म शान्तिर्गत में ज्वरोंके स्थीर अथवा कुछ शब्द-भेदके साथ क्रमसे 1328, 1616, 2162 और 2163 संख्याके अन्तर्गत पाये जाते हैं। इनमें अन्तिम दोके पूर्वमें 'उक्तं च' का निर्देश किया गया है।

तस्वानुशासनके इलोक 218 को ज्ञानार्थिमें 'तथान्वैरप्युक्तम्' कहकर 1072 संघ्याके अन्तर्गत सदृश्यता की गया है। तस्वानुशासनके ऐसे भी कुछ इलोक ज्ञानार्थिमें पाये जाते हैं जिनमें किसीका पूर्वार्थ समान है तो किसीका उत्तरार्थ समान है, किसीके 1-2 चरणोंमें समानता पायी जाती है।

इस विवेचन से इसना तो निश्चित ही जाता है कि आ. शुभचन्द्र अमृतचन्द्र सूरि और शीघ्रदेव सूरिके बाद हुए हैं, विक्रमकी 11श्री शताब्दीके पूर्व उनके होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इसके किसने समय बाद वे हुए हैं, यह जाननेके लिए यह देखना होगा कि उनके इस प्रथका प्रभाव अन्य कितनोंके कापर रहा है।

स्वामिकालिकेयानुप्रेक्षा के अन्तर्गत गा. 487 की भट्टारक शुभचन्द्र ( 16वीं शती ) विरचित टीकामें 'तथा ज्ञानार्थवे' कहकर ज्ञानार्थवके क्रमसे 2201, 2195, 2196, 2197 और 2202 इन इलोकोंको उद्घृत किया है ।<sup>३</sup>

भद्रारक शुभचन्द्रके पूर्ववर्तीं में, आशाधर ( १८वीं शती ) ने भगवती आराधनाकी मा, १८८७ की

- इसका सफलीकरण आगे पृथक्-पृथक् रूपसे किया जायेगा ।
  - यहाँ यह एक विशेषता देखनेमें आयी है कि प्रद्वान संस्करणमें पाठण प्रतिके अनुसार इलोक 2195 का उत्तरार्थ इस प्रकार प्रहृण किया गया है—प्रकृतयस्तदा । अस्मिन् सूक्ष्मक्रिये व्यापे देवदेवस्य दुर्जनः ॥ पर इसके रामचन्द्र जैन शास्त्रमालाके प्रकाशित ( हि. 1927 ) संस्करणके अनुसार उसका उत्तरार्थ इस प्रकार रहा है—प्रकृतयो दुर्जनः । उपाख्ये देवदेवस्य मुक्तिथं प्रतिबन्धकः ॥ यही पाठ पाठण प्रतिको छोड़कर अन्य सभी प्रतियोगिमें रहा है । भट्टारक शुभचन्द्रके सामने भी यही पाठ रहा है और सदनुसार उसी रूपमें उन्होंने उसे उद्धृत कर दिया है ।

टीकामें 'उक्तं च ज्ञानार्थे विस्तरेण' ऐसी स्थृति सूचना करते हुए ज्ञानार्थिके कमसे 2186, 2187, 2189, 2190, 2191, 2193 और 2194 इन श्लोकोंको उद्धृत किया है।

पं. आशाधरके पूर्ववर्ती पश्चाप्तम् भलयादिदेव ( १३वीं शती ) ने नियमसार गा. ३९ की टीकामें 'हथा श्रोक्तं' कहकर निष्ठन पद्मको उद्धृत किया है जो ज्ञानार्थिमें 2144 संख्याके अन्तर्गत है—

निष्क्रियं करणातोत्तं ध्यान-धारणविजितम् ।

अन्तर्भुक्तं च यज्ञित्वं तत्त्वद्वलभिति पठते ॥

नियमसारकी टीकामें 'वारण' के स्थानमें 'ध्येय' और 'इति पठ्यते' के स्थानमें 'योगिनो विदुः' इतना पाठमेव है। पर यह श्लोक स्वयं ज्ञानार्थिकारके द्वारा रचा गया नहीं दिखता। इसका कारण यह है कि उसके पूर्वमें ज्ञानार्थिकी अन्य प्रतियोगिमें यद्यपि 'उक्तं च' ऐसी सूचना नहीं उपलब्ध होती है, पर उसकी प्राचीनतम् पाठण प्रतिमें 'उक्तं च' ऐसा निर्देश उसके पूर्वमें किया गया है। इससे यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि उक्त श्लोक ज्ञानार्थिसे ही नियमसारकी उक्त टीकामें उद्धृत किया गया है। सरलव है वह ज्ञानार्थिसे पूर्व अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थमें भी रहा हो।

आचार्य प्रभाचन्द्र ( ११-१२वीं शती ) ने रत्नकरणद्वय आदिकाव्यारके श्लोक ५-२४ की टीकामें 'क्षेत्रं वास्तु घनं' आदि एक श्लोकको उद्धृत किया है। वह श्लोक 'वास्तु खेत्रं' जैवे कुछ साधारण शब्द मेंके साथ ज्ञानार्थिमें ४२२ संख्याके अन्तर्गत पाया जाता है।

इन प्रमाणोंसे आ. शुभचन्द्र सोमदेव सूरि और आ. प्रभाचन्द्रके मध्यवर्ती सिद्ध होते हैं।

इसके अतिरिक्त जिस पाठण प्रतिके आधारसे प्रस्तुत ग्रन्थका सम्पादन हुआ है वह विक्रम संवत् १२८४ में लिखी गयी है। इसकी प्रशस्ति, जो ग्रन्थके अन्तमें दे दी गयी है, उसमें इसके पूर्व यह सूचना की गयी है कि आर्यिका जाहिणीने अपने कर्मशार्यार्थ ज्ञानार्थि नामक पुस्तकको लिखाकर उपानाश्वयपत्रमें निरत योगी शुभचन्द्रके लिए दी। इसके पश्चात् वही यह निर्देश किया गया है कि सहस्रकीतिके लिए इसे कैशस्त्रियुत बीसलने संवत् १२८४ में लिखा।<sup>१</sup> इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रतिके लिखाकर आर्यिका जाहिणीने योगी शुभचन्द्रके लिए दी वह सहस्रकीति देनेके लिए संवत् १२८४ में लिखी गयी प्रस्तुत प्रतिके भी पूर्वकी होता चाहिए।

कुछ भी हो, इतना सो निश्चित है कि ग्रन्थकी कुछ प्रतियों सं. 1204 के पूर्व भी लिखी जा चुकी थीं व ग्रन्थ पठन-पाठनमें आने लगा था। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि भगवती आराधनाकी जिस मूलाराधना टीका में पं. आशाधरके द्वारा ज्ञानार्थके पूर्वोक्त श्लोक उद्धृत किये गये हैं वह वि. सं. १२८५ के पूर्व लिखी जा चुकी थी। इसका प्रमाण यह है कि पं. आशाधरने जिन्यज्ञकल्प ( प्रतिष्ठासारोद्धार ) की प्रशस्तिमें उसके रचे आनेकी सूचना स्वयं की है। यह जिन्यज्ञ कल्प वि. सं. 1285 में लिखकर समाप्त किया गया है। पं. आशाधरकी मूलाराधनाके रचने और ज्ञानार्थके परिशीलनमें भी समय लग सकता है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि ज्ञानार्थ उससे कमसे ४०-५० वर्ष पूर्व या उससे भी अधिक समय पूर्व लिखा जाना चाहिए। इस परिणियतिमें आ. शुभचन्द्रके समयकी सम्भावना सोमदेव सूरि विरचित उपासकाश्वयमके रचनाकाल वि. सं. १०१६ के बाद और वि. सं. १२३५ के पूर्व की जा सकती है।

इस कालको कुछ और संकुचित करनेके लिए हम हेमचन्द्र सूरि विरचित योगजास्त्रको लेते हैं। उसका हमने जो तुलनात्मक रूपसे ज्ञानार्थके साथ अध्ययन किया है उससे हम इस निष्क्रियपर पहुँचे हैं कि

१. यह श्लोक पाठण प्रतिमें नहीं रहा है।

२. देखिए पृ. ७०१।

हेमचन्द्र सूरिके सामने ज्ञानार्थी रहा है और उन्होंने उसमें विस्तारसे प्रश्नपूछ विषयको कुशलताके साथ अधिकृत रूपमें संथोगीकरण करके अपने योगशास्त्रमें स्थान दिया है। इसकी चर्चा हम आगे विस्तारसे नहीं बता सकते। उसे वहाँ इतना कहकर ही छोड़ देते हैं। सम्भव है उसे पढ़कर कुछ पाठक हमारे इस मतसे सहमत हो सकें। इस प्रकारसे यदि आ. शुभचन्द्र हेमचन्द्र सूरिके पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं तो उनका सद्भाव ११-१२ वीं शताब्दीके मध्य मानना युक्तिसंगत ठहरेगा। हेमचन्द्र सूरिका समय सुनिश्चित है। उनका जन्म विक्रम सं. ११४५ में और स्वर्गबास वि. सं. १२२९ में हुआ है।<sup>१</sup>

### ३. ग्रन्थका स्वरूप

प्रस्तुत संस्करणमें समस्त ग्रन्थ ३९ प्रकरणोंमें विभक्त है। इसके पूर्व चायचन्द्र जैन शास्त्रगालासे प्रकाशित ( १९२३ ) संस्करणके अनुसार वह ४२ प्रकरणोंमें विभक्त रहा है। इन प्रकरणोंका विभाग स्वयं ग्रन्थकारके द्वारा किया गया नहीं दिखता। वह सम्भवतः टीकाकारके द्वारा किया गया है। प्रकरणोंके जैसे नाम हैं तदनुसार वहाँ क्रमबद्ध विषयका विवेचन देखनेमें नहीं आता, बीच-बीचमें क्रमविहीन अन्यान्य विषयोंकी भी चर्चा की गयी है व पुनरावृत्ति सी उसमें अधिक हुई है। उदाहरणस्वरूप २५वें प्रकरणको लेते हैं। उसका नाम 'ध्यानविश्वास्थान' है। यहाँ सर्वप्रथम धर्मधाराके निष्ठाणके लिए प्रेरणा करते हुए उसके भेद-प्रभेदोंके साथ फल पर्याप्त वर्णन करनेकी सूचना की गयी है ( 1267-68 )। अग्रे मैत्री आदि चार भावनाओंकी प्रशंसा करते हुए उनके स्वरूपको विश्वासा का गया है व पुनः उसकी प्रशंसा की गयी है ( 1270-85 )। फिर यह कहा गया है कि श्रेष्ठ मुनिजन ध्यानकी सिद्धिके लिए कुछ स्थानोंको प्रशंसन और कुछको निन्दा बताते हैं ( 1287 )। तत्पश्चात् कुछ ऐसे स्थानोंका निर्देश किया गया है जो ध्यानमें बाधक हो सकते हैं ( 1289-1301 )। यह वर्णनक्रम प्रकरणके अनुष्ठान नहीं रहा। प्रकरणके अनुसार यदि यहाँ प्रथम ही ध्यानके अद्योग्य स्थानोंका निर्देश कर दिया गया होता तो वह जिजामुके लिए ऋषिक सरल और सुविध ही सकता था। अद्योग्य प्रकरणका नाम केवल 'ध्यानस्थान' ही रहा होता और जैसी कि इलीक 1287 में सूचना की गयी है, तदनुसार यदि यहाँ ध्यानके योग्य और अद्योग्य दोनों ही प्रकारके स्थानोंका निष्ठाण कर दिया गया होता तो वह प्रकरणके अनुरूप व अधिक सुविधाजनक रहा होता।

आगे का २६वाँ प्रकरण 'प्राणायाम' है। पर यहाँ भी प्रारम्भके ४० इलीकोंमें क्रमविहीन ध्यानके योग्य स्थान और आसनोंका निर्देश करते हुए योग्य स्थान व आसनपर ध्यानाल्पत्र हुए ध्याताकी प्रशंसा की गयी है और तत्पश्चात् प्राणायामकी प्रह्लाणा की गयी है।

आगे २७वाँ प्रकरण 'प्रत्याहार' है। यहाँ प्रत्याहारके स्वरूपकी विवलते हुए समाधिसिद्धिके लिए उसे प्रशंसनीय बताया गया है ( 1456-59 )। उसकी प्रशंसा करनेके साथ यहाँ पूर्वोक्त प्राणायामको अस्त्रास्थकर, कष्टप्रद व मुक्तिकी प्राप्तिमें बाधक कहा गया है ( 1459-65 )। प्राणायामसे होनेवाली इस अस्वस्थताका निर्देश यदि पूर्वोक्त प्राणायामके ही प्रकरणमें कर दिया गया होता तो उससे अध्येताको एक ही साथ उसकी हेयोगादेयताका परिज्ञान ही सकता था। पर ऐसा न करके वहाँ तो उसे सिद्धान्तके प्रारंगत मुनियोंके द्वारा ध्यानकी सिद्धिके लिए प्रशंसनीय व मनकी स्थिरताका वसाधारण कारण भी कहा गया है ( 1342-43 )। आगे इसी प्रकरणमें इन्द्रियोंके निरोधपूर्वक साम्यभावका आलम्बन लेकर मनके ललाटदेशमें हिंदू करनेकी प्रेरणा करते हुए कुछ शरोरगत ध्यानस्थानोंका निर्देश किया गया है, जहाँ चित्तकी विश्वास्त होना चाहिए। यह एक धारणाका रूप है ( 1467-69 )।

१. कुमारपालप्रबन्ध ( उ. जिनमण्डन गणि ) पृ. ११४।

इस परिचयितिको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अन्थमें विवेचनीय विषयोंका विवेचन निर्दिष्ट प्रकरणोंके अनुसार नहीं हुआ है। यही चर्चित विषय जहाँ-जहाँ विखरा हुआ है। इसीसे मेरी यह कल्पना है कि निर्दिष्ट प्रकरणोंका विभाजन स्वयं गम्भकारके द्वारा नहीं किया गया है। उन्हें तो जहाँ जब जो भी वर्णनीय प्रतीत हुआ उसीका से वर्णन करते चले गये हैं। अन्यका कुछ भाग मुभायित जैसा रहा है, इससे पुनरुत्थानी भी अविक हुई है।

#### ४. संस्कृत टीका और टोकाकार

प्रस्तुत संस्करणके साथ जो संस्कृत टीका प्रकाशित है वह पं. नवविलासके द्वारा रची गयी है। टीका बहुत संक्षिप्त व साक्षारण है। अध्येता उसके आधारसे गम्भके अधिप्रायके समझनेमें कठिनाई ही अनुभव करेगा। विविध इलोककी टीका करते हुए टीकाकारने खण्डान्वयका अनुसरण कर 'कर्यभूतम्' आदि कुछ प्रलाप्यके पदोंके निर्विशेषपूर्वक प्राप्यः वलोकणत उन्हीं पदोंकी पुनरावृत्ति कर दी है, किसी भी इलोकका भाव प्राप्यः उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। यथा—

जयन्ति जिनसेनस्य वाच्चस्वेविद्यवन्दिताः ।

योगिभिर्याः समासाद्य लक्षितं नात्मनिदेवे ॥

इस (१-१६) इलोककी टीका इस प्रकार की गयी है—‘जिनसेनस्य वाचः जयन्ति । कर्यभूताः वाचः ? वैविद्यवन्दिताः—ज्याणां विद्या समाहारः त्रैविदी, तस्या भावः त्रैविद्यम्, तेन वन्दिताः । लक्षण-साहित्य-उक्तविद्यभिर्यन्दिता मनोवाक्यायनमस्कृता वा । योगिभिर्याः वाचः समासाद्य प्राप्य आत्मनिदेवे आत्मानुभवे न स्फुलितं न अपस्थितम् ।

इससे एक उदाहरण लीजिए—

अलङ्घ्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्मूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।

सालाम्बाद्य भिरालम्बं तत्त्ववित्तस्वमञ्जसा ॥१६२०

टीका—तत्त्वविदञ्जसा सुखेन तत्त्वं विचिन्तयेत् । योर्य सुभमम् । इति सूक्ष्मार्थः ।

टीकाकारकी दृष्टिमें ‘अलङ्घ्या’ मात्र दुरविद्य रहा, इसीलिए उसका अर्थ ‘सुखेन’ कर दिया। विषयको ‘सुभमम्’ कहकर छोड़ दिया। इस प्रकारसे वस्तुतः इलोकका अधिप्राय कुछ भी स्पष्ट नहीं हुआ है। टीकाकारकी यही पद्धति प्राप्यः सर्वत्र रही है।

आगराके निवासी पं. नवविलास दि. जैन विद्वान् थे। वे जाग्रूस्त्रामिच्छित, लाटीसंहिता, अस्यासम-कांड-मार्त्तिष्ठ और पंचाध्यायीके कर्ता पं. राजभल्लके समकालीन रहे हैं। प्रस्तुत ज्ञानार्थिकी टीका उन्होंने साहू टोडरके उद्येष्ठ पुत्र ऋषिदासकी प्रार्थनापर की है। इसकी सूचना टीकाके प्रारम्भमें स्वयं पं. नवविलासने कर दी है। इसके अतिरिक्त गम्भगत प्रस्त्रेक प्रकरणके अन्तमें उपलब्ध टीकाके अन्तिम पुण्यिका वाक्योंसे भी यही सूचना प्राप्त होती है।

द्वितीय प्रकरण (दादश भावताः) के प्रारम्भमें टीकाको शुरू करते हुए जो तीन इलोक कहे गये हैं (देखिए पृ. २३) उनमें यह निर्वेश किया गया है कि सद्बर्म-धौरेय पार्व (साहू पासा) पूर्वक हुए। उसके लक्षण वंशमें सूर्यके समान उसम धर्मका परिपालक टोडर हुआ। उसी वंशमें जीवाजीव पदार्थोंके स्वरूपवा जाता नामसे साहू ऋषिदास (टोडरका पुत्र) हुआ। उसकी प्रेरणासे नवविलासने ज्ञानार्थिकी प्रसिद्ध प्रकट विवृति की। आवकाचार कुप समुद्रको दृष्टिगत करनेके लिए चम्द्रमण्डल समात वह टोडरका पुत्र ऋषिदास विरजीवी

हो। उसके उपरेका क्रहण कर भनमें भक्तिभावसे प्रेरित होता हुआ मैं शालकोंके प्रबोधके लिए ज्ञानार्थकी प्रदीपिकाको करता हूँ।

साहु टोडरके पितामहका नाम रुपचन्द्र और पिताका नाम पासा था।<sup>१</sup> पत्नीका नाम कौसुभी था।<sup>२</sup>

साहु टोडरके तीन पुत्र हुए—ऋषिदास, शोहनदास और रुपर्माणद।<sup>३</sup> साहु टोडर जातिसे अग्रवाल गर्भगोत्रीय थे। बादशाह अकबरके एक विवासपात्र उच्च अधिकारी कुण्डार्मंगल चौधरीके बे थन्ही थे। श्री पं. परमानन्दजी शास्त्रीने सम समयमें होनेवाले टोडर नामक दो व्यक्तियोंको पृथक्-पृथक् सिद्ध किया है—एक राजा टोडर और दूसरे साहु टोडर।<sup>४</sup>

कवि राजमल्लने साहु टोडरकी प्रशंसा करते हुए उन्हें सुधी, उदार, कुलदीपक, धर्मतत्पर, देव-शास्त्र-गुरुके बत्सुल, विनयी और दानी आदि अनेक विशेषणोंसे विशिष्ट किया है।<sup>५</sup> पिता के समान ऋषिदास भी गुणज, धर्मतिमा और उदारहृदय थे। उनकी प्रेरणा और पं. जिनदासके सहयोगसे पं. नवविलासके द्वारा प्रस्तुत टोका रची गयी है। उसका रचनाकाल विक्रमकी १७वीं शताब्दी समकाना चाहिए। क्योंकि साहु टोडरके निकटवर्ती प्रशंसक कवि राजमल्लके द्वारा कि, सं. १६३२ में जम्बूस्त्रामिचरित और कि, सं. १६४१ में लाटी संहिता रची गयी है।

#### ५. अन्य टीकाएँ

१. उत्तरव्याप्रकाशिनी—प्रस्तुत ज्ञानार्थके अन्तर्गत ओ त्रित्यं प्रकरण ( १९वा ) है उसमें प्रचुर अन्य समासबाले गद्य भागके द्वारा शिव, वैततेय ( एकड़ ) और काम हन तीन तत्त्वोंकी प्रलक्षण की गयी है। केवल इतने गद्य भागके ऊपर श्रुतसागर सूरिके द्वारा संस्कृतमें एक टीका लिखी गयी है। इस टीकाके आधारसे इन तत्त्वोंका कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है। इस टीकाके अन्तमें जो एक श्लोक ( पृ. ३६८ ) उपलब्ध है उसमें ज्ञात होता है कि प्रकृत टीका ( भाष्य ) आवार्य सिहनन्दीकी प्रावैनापर विद्यानन्दी गुरुके प्रसादसे श्रुतसागर सूरिके द्वारा की गयी है।

१. उप्राप्तोत्कविंशतिं वरमतिगोत्रे च गर्भोदामिः

तत्पुकः पुनरद्भुतीदयगुणवार्त्तिकनूडामिः

श्रीपासांवरसाधु साधु चदितः सर्वे समं साधुमिः ।

रेखा यस्य विराजते चुरि तदारम्भे महोजस्तिवर्ता

धर्मधीसुखदानभानवशासा जीनेऽय धर्मे रहः ॥—जम्बूस्त्रामिचरित १, ६४-६५

तस्य भार्या यथा नामना कौसुभी शोभनामना ।

साध्वी पतिव्रता चेव भर्तुक्तिवानुगामिनी ॥—जम्बू. च. १-७३

२. कालजासंवभवातिवरः (?) अ नगरे कोलेति नामना वरात् ।

श्रीसाधुमंदनालघया तदनुजो भ्राता स आसु सुधी-

स्तत्पुत्रो जिनयंशार्मिनिरहः श्रीस्त्रवदाहृयः ॥

३. जम्बू. च. १, ७५-७७ ।

४. महावीर जयन्ती हमारिका अप्रैल १९६३, पृ. १०७-११ पर 'साहु और राजा टोडरमल' शीर्षक—लेख ।

५. जम्बू. च. १, ६६-७२ ।

**श्रुतसामर सूरि—बहुधुत विद्वान् श्रुतसामर द्युनि विकल्पी ।** जी शारदीये गुरु हैं।<sup>१</sup> ऐसे इन्हें विषयोंके प्रति अविद्या थे। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंपर उनका पूरा अधिकार था। उनके द्वारा वटप्रामूर्ति, लक्ष्मीर्थसूत्र, जिनसहजनाम और यशस्तिलकचम्पू (अपूर्ण) आदि ग्रन्थोंपर टीका की गयी है। इन टीकाओंकी अन्तिम पुष्टिकाओंया प्रशास्तियोंमें उन्होंने अपनेको बड़े अभियान के साथ लक्ष्य, व्याकरण, चम्प, अलंकार और साहित्य आदि धाराओंमें तीक्ष्णपुष्टि (त. सू. प्र. अङ्गायकी अन्तिम पुष्टिका), कलिकाल-गीतमस्वामी और उभय-भाषाकविचक्रवर्ती (द. प्रा. को अन्तिम पुष्टिका) आदि विशेषणोंसे विशेषित किया है। मोक्षप्राप्तुकी टीकाके अन्तमें तो उन्होंने स्वरचित एक इलोकके द्वारा यह भी व्यक्त किया है कि जो बुद्धिमान् उमास्वामी, समन्तभद्र, कुबद्धकुन्द, भट्टाकलंक, प्रभावचम्प, विद्वाननन्द और पूज्यपादके देखनेकी मनमें अभिलाषा रखता है वह वैविद्य धीमानोंके द्वारा नमस्कृत श्रुतसामरको देख ले।<sup>२</sup>

इन टीकाओंमें उन्होंने कुछ अप्रसिद्ध और विचित्र पढ़तिथे निष्पत्ति शब्दोंका भी सम्बन्धतः बुद्धि-पुरस्तर उपयोग किया है। यथा—अधिष्ठित (त. वृत्ति ७-२१), पितृबीज (बो. प्रा. ५५), अण्डायिक, पोतायिक, जरायिक, रसायिक (त. वृ. २-१४) व अपान<sup>३</sup> (त. वृ. ५०-१९) आदि।

२. हिन्दी पद्यमय टीका—जैसी कि श्री डा. कस्तुरचन्द्रजी कासलीवालके द्वारा सुचना की गयी है प्रस्तुत ज्ञानार्थवपर एक हिन्दी पद्यमय टीका संवत् १७२८ में लिखितिथे मणिके द्वारा लिखी गयी है। उनको एक प्रति अजमेदके भट्टारकीय शास्त्रभण्डारमें और एक प्रति जयपुरके गोद्वारेके मन्दिरमें संगृहीत है।<sup>४</sup>

३. हिन्दी वचनिका—एक टीका पं. जयचन्द्रजी छावड़ाके द्वारा हिन्दी (दूड़ारी) में लिखी गयी है। इस टीकाकी लिखकर उन्होंने माघ मुही पंचमी भूगुवार संवत् १८०८ में समाप्त किया है।

४. हिन्दी वचनिकाका रूपान्तर—हूँड़ारी भाषामय उपर्युक्त वचनिकाका खड़ी बोली में रूपान्तर श्री पं. पम्नालालजी बाकलीवालने किया, जो मूल ग्रन्थके साथ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला द्वारा प्रकाशित हो चुका है तथा अधिक प्रचारमें आनेसे सम्भवतः उसके २-३ संस्करण भी निकल चुके हैं।

#### ६. विषय-परिचय

समस्त ग्रन्थ जिन ३९ प्रकारणोंमें विभक्त हैं उनमें क्रमसे विषयका विवेचन इस प्रकार हुआ है—

१. यीठिका—यही सर्वप्रथम मंगलके रूपमें कृतकृत्य परमात्माको नमस्कार करते हुए आगे क्रमसे आदिनाथ, चम्द्रप्रभ, शास्त्रिनाथ और वर्धमान जितेन्द्रका स्मरण किया गया है। इस प्रकारसे जो यही क्रमसे पहले, बाढ़वें, सोलहवें और चौबीसवें इन चार त्रीयकरों की रूतुति की गयी है उससे ग्रन्थकारका आशय यीकोसों त्रीयकरोंकी स्तुतिका रहा है। आगे व्यानकी सिद्धिके लिए योगीन्द्र इन्द्रभूति ( गौतम गणधर ) को नमस्कार करते हुए प्रस्तुत ज्ञानार्थवके काहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है। पञ्चात् समन्तभद्रादि कवीन्द्रोंकी भारतीके

१. जैन जाहित्य और इतिहास पृ. ४०६-४२ पर 'श्रुतसामर सूरि' शीर्षक, स्व. श्री पं. नाथूरामजी प्रेसीफा निबन्ध।

२. श्रीशत्वामिसमन्तभद्रमण्डल श्रीकुम्भकुम्भात्मय

यो धीमानकलश्चमद्गमयि च धीमत्यभेद्युप्रभुम् ।

विद्वानन्दमपीक्षितुं कुम्भमनाः श्रीपूज्यपादं गुरुं

वीक्षेत श्रुतसामरं खविनयात् वैविद्यधीमन्तुतम् ॥

३. अपब्रन्दित लघुण जीवति विकृत्या वा जीवति येन जीवः स अपानः ।

४. जैन मन्देश—शोधोक १८, २६ भार्व १९६३, पृ. २६६ ।

महत्त्वको प्रकट करते हुए क्रमसे देवगन्दी ( पूज्यपाद ), जिनसेन और महाकलीकी दाणीका कीर्तन किया गया है । सत्यशात् ग्रन्थरचनाके उद्देशको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि मैं संसारतापके सम्बन्ध अपनेको थोड़ीन्द्रोके द्वारा सेवित पार्थमें—योगके अनुष्ठानमें—नियोजित करता हूँ । ग्रन्थकी यह रचना म तो कवित्यके अभिभावकथा की जा रही है और म उससे मुझे स्थानिलाभकी भी कोई इच्छा है । इस प्रकारसे ग्रन्थरचनाकी भूमिकाको व्याख्याते हुए ग्रन्थकार द्वारा समीक्षीन व असमीक्षीन शास्त्ररचनाके गुणावगुणका भी विचार किया गया है ( १-४९ ) ।

३. द्वादश भाववा—भोद-गहलकी सोपान-पंक्तिके समान अनित्यत्वादिरूप बारह भाववार्ण असेक ग्रन्थोंमें चर्चित हैं । इनके निरन्तर चिन्तनसे प्राणी सचेतन रुदी-युवादि और अचेतन घनसम्पत्ति आदि की विश्लेषा और मध्वरत्नाकी जानकर उनसे राग-द्वेष न करता हुआ समतामात्रकी प्राप्त होता है, जो दर्शनविजुद्धि-का प्रमुख कारण है । इस प्रकारसे सम्यक्षर्ता, सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्रके अभिमुख होकर वह मुमुक्षु भव्य व्यानपर आरूढ़ होता है ( ५०-२४६ ) ।

४. ग्रन्थलक्षण—यहाँ व्यापके स्वरूप व उसके साधनकी प्रक्रियाकी प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि सनुष्य पर्याय काकसालीय व्यायसे दुष्ट्राय है । यह यदि संयोगसे प्राप्त ही भयी है तो उसके आधयसे पृष्ठवार्थकी सिद्ध कर लेना चाहिए । यही उस मनुष्य पर्यायकी प्राप्तिका फल है । पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके भेदसे चार प्रकारका है । इनमें प्रथम तीन विनश्वर व संसारपरिभ्रमणके कारण होनेसे हैरान है । यहाँ इन तीन पुरुषार्थोंमें अर्थपुरुषार्थको भी जो संसारपरिभ्रमणका कारण व इसीसे हैरान कहा गया है वह वेष्पूत्रा व गुरुपाद्मित आदिरूप गृहस्थधर्मको लक्ष्यमें रखकर ही कहा गया है । कारण यह कि इस प्रकारका धर्म स्वर्णादि अस्युदयका ही साधक है, न कि निराकुल सुखमय भोक्षका । निराकुल सुखका साधक सो आत्माका स्वभावभूत रत्नश्यस्वरूप धर्म ही सम्भव है । इसे लक्ष्यमें रखकर जबतक उस रत्नश्यस्वरूप स्वाभाविक धर्मकी प्राप्ति सम्प्रव नहीं है तबतक नरकादि दुर्यतिसे बचनेके लिए उस गृहस्थधर्मका परिपालन करना भी हितकर है । इस वस्तुस्थितिको समझ लेना चाहिए । आगे इसी प्रकरणमें स्वर्य ग्रन्थकारने इसी अभिप्रायको व्यक्त करते हुए जीवके आशयको पुण्याशय, अशुभाशय और शुद्धोपयोगके भेदसे तीन प्रकारका व्यतीया है तथा यह निर्देश किया है कि उनमें पुण्याशयके वशीभूत होकर शुद्ध लेश्याका आलम्बन लेता हुआ जो भव्य जीव वस्तुस्वरूपका विन्दन करता है उसके प्रशस्त ध्यान होता है । इसके बिपरीत पापाशयके वशीभूत होकर विन्दन करनेवालेके असदृश्यान ( दुर्योग ) होता है । रामादिके श्रीण हो जानेके कारण अस्तरात्माके प्रसन्न होनेपर जो बातमस्वरूपकी प्राप्ति होती है उसे शुद्धोपयोग या शुद्ध आशय कहा गया है ।

१. कावार्य पूज्यपादने भी निम्न इकों द्वारा इसी अभिप्रायको ज्ञान किया है—

अपुष्यमथतैः पुण्ये असैर्विनिस्तयोर्व्ययः ।

अशुलानीव भोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्वयेत् ॥

अत्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठिः ।

स्वजेत् लान्यपि संप्राण्या परमं पदमात्मनः ॥—समाधिलंब-८३-८४

वर्त व्रतैः पदं देवं नावर्तीवेतनारकम् ।

छाया तपस्त्वयोर्भेदः प्रतिपालयतीर्महान् ॥—इष्टोपदेश-३

लगभग यही अभिप्राय आत्मानुशासनमें भी इस प्रकारसे प्रकट किया गया है—

अशुभात् शुभामायातः शुद्धः स्यादपमागमात् ।

रवेरप्राप्तं लघ्यस्य तमसो न लग्नुद्यमः ॥ १२२

शुभ ध्यानका फल जहाँ स्वर्गमें वेद या इत्यके वैष्णवकी प्राप्ति हैं वही दुर्घटनिका फल भगवादि दुर्घटिकी प्राप्ति है। तीसरे शुद्धोपयोगकी प्राप्तिका फल ज्ञानराज्य ( कैवल्य ) की प्राप्ति है।

इस प्रकारसे यही कहा गया है कि तत्त्वके ज्ञाता आत्महितैर्यी पूर्वोक्त चार पुरुषाद्वयोंमें प्रथम तीव्र को छोड़कर अन्तिम जो मोक्ष पुरुषार्थ है उसके सिद्ध करनेमें प्रयत्नशौल रहा करते हैं। अनन्त ज्ञान-दर्शनादिये सम्पन्न वह मोक्ष उस ज्ञानतिक एवं निर्बोध सुखका कारण है, जो समस्त कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होता है। वह कर्मक्षय सम्पन्नज्ञानके बिना सम्भव नहीं है, तथा सम्पन्नज्ञानकी सिद्धि ध्यानके बिना सम्भव नहीं है। इसीलिए मुक्तिके इच्छुक अव्य जीवोंको उस ध्यानका आश्रय लेना चाहिए तथा उसमें स्थिरता प्राप्त कर लेने पर योह और यित्यमुक्तिको ही देना चाहिए ( 247-83 ) ।

४. ध्यानगुण-दोष—यही प्रथमतः उस ध्यानके लक्षणके कहुलेकी प्रतिज्ञा की गयी है जो पूर्व, प्रकीर्णक और अंग थुलमें विस्तारसे प्रस्तुत है। पद्मात् ध्याता, ध्यान, ध्येय और फल इन चारमें ध्याताके स्वरूपका विचार करते हुए यह कहा गया है कि जो मुमुक्षु जन्म-मरणस्वरूप संसारसे विरक्त होकर स्थिरता-पूर्वक इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर सकत है वह ध्याता प्रशंसाके योग्य है। इस ध्यानकी सिद्धि जिस प्रकार ग्रन्थादेसे अभिभूत संयमहीन गृहस्थोंके सम्भव नहीं है उसी प्रकार वह मिथ्यादृष्टि साधुओंके भी सम्भव नहीं है। प्रसंगवश यही नित्यत्व, अनित्यत्व एवं विज्ञानाद्वय आदि कुछ एकान्तवादीोंकी समीक्षा करते हुए यह कहा गया है कि सम्पन्नदर्शन, सम्पन्नज्ञान और सम्पन्नकृत्त्वादित्रये से समस्त रूपमें मुक्तिके साधक मानते हैं। उनमें-से कितने ही मिथ्यादृष्टि किसी एकको और अन्य कितने ही उनमें-से किन्हीं दोको ही मुक्तिका साधक मानते हैं। कुछ ऐसे भी मिथ्यादृष्टि हैं जो उन तीनोंमें-से किसीको भी मुक्तिका साधन नहीं मानते हैं। इस प्रकारसे यहीं सात ( ३ + ३ + १ ) मिथ्यादृष्टियोंका निर्देश किया गया है। ध्यानशास्त्रमें केषल उक्त मिथ्यादृष्टियोंका ही निषेष नहीं किया गया, बल्कि जिनाज्ञानके प्रतिकूल प्रवृत्ति करनेवाले अस्तिरचित्त मुनियोंका भी निषेष किया गया है। इस प्रकारसे यहीं ध्यानके योग्य-अयोग्य आचरणका विवेचन करते हुए यहीं उक्त कहा गया है कि जो साधुवेषको जीविकाका साधन बनाते हैं उन्हें लज्जा आनी चाहिए। उनका यह कृत्य आजीविकाके लिए मात्राको बेश्या बनाने वीसा है। मनुष्य पर्याय व लोकपूज्य मुनि-वर्मीको पाकर बुद्धिमान् आत्महितैषियोंकी हेयाहेयका विचार करना चाहिए ( 284-353 ) ।

५. ओमीशर्वात्मा—यहीं संघीयोगी योगीकी प्रशंसा करते हुए यह कहा गया है कि कामभोगोंसे विरक्त होकर शरीरसे भी जो निःस्पृह हो चुका है और इसीलिए जिसका चित्त इतना स्थिर हो चुका है कि जो प्राण जानेपर भी स्वीकृत संयमको नहीं छोड़ता है, वस्तुतः वही ध्याता प्रशंसाके योग्य है। ऐसे ध्याताकी यहीं ध्यान-घनेश्वर कहा गया है। इसपादि प्रकारसे यहीं योगीकी प्रशंसा करते हुए यह भी कहा गया है कि पदिक आचारसे उपलब्धित मुनिज्ञन ही ध्यानसिद्धिके पात्र कहे गये हैं ( 354-82 ) ।

६. दर्शन चिशुद्धि—यहीं सम्पन्नदर्शनिकी महिमाको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि मुक्ति-लक्ष्यीकी प्राप्ति सम्पन्नदर्शन, ज्ञान और व्यापरिके आश्रयसे ही होती है। उनमें कस्तव्यचिका नाम सम्पन्नदर्शन, कृत्यके प्रथमायनका नाम सम्पन्नज्ञान और पापक्रियाकी निवृत्तिका नाम सम्पन्नकृत्त्वादित्रय है। इस प्रकार संक्षेपमें रत्नत्रयके स्वरूपको प्रकट करते हुए आगे जीवादि पदार्थोंके शद्गालरूप उस सम्पन्नदर्शनिका लक्षण पुरुः निर्दिष्ट किया गया है। तत्पद्मात् उसके दो व तीन भेदोंका निर्देश करते हुए सुराग और वीतराग सम्पन्नदर्शनिकी भी सूचना की गयी है। आगे उसके पचीस दोषोंका निर्देश करते हुए क्रमसे जीव-अजीवादि पदार्थोंकी प्रलयण की गयी है ( 383-448 ) ।

७. ज्ञानोपयोग—यहीं ज्ञानके स्वरूपको दिखलाते हुए यह कहा गया है कि जिसमें तीनों काल

सम्बन्धी अनन्त गुण-पर्यायोंसे संयुक्त पदार्थ स्फुरायमान कहते हैं उसे ही यथार्थ ज्ञान माना गया है। इस प्रकार स्वामादिक ज्ञानके लक्षणको बतलाकर आगे उसे मतिज्ञानादिके भेदसे पाँच प्रकारका निर्दिष्ट किया गया है। इन पाँच ज्ञानोंमें भी मतिज्ञानके अवश्यकादि व वह आदिके आश्रयसे तीन सौ छत्तीस भेद दिखलाये गये हैं। इसी प्रकार अवधि और अनाधिय ज्ञानोंके भी दो-दो भेदोंका निर्देश करके केवल ज्ञानके स्वरूपको प्रकट करते हुए उस ज्ञानके माहात्म्यको व्यक्त किया गया है ( 449-71 ) ।

८. अहिंसाधर्म—यहाँ सर्व साधारणके परिहारस्वरूप चारित्रका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि अष्टभादि जिन्द्रोंने उसे सामायिकादिके भेदसे सविस्तर पाँच प्रकारका कहा है। उसे सन्मति ( वर्धमान ) जिनेन्द्रने पाँच महावर्तों, पाँच समितियों और तीन गुणियोंस्वरूप कहा है। आगे हिंसादि पापोंसे निवृत्तिको व्रतका लक्षण बतलाते हुए अम्य सत्यादि महावर्तोंके कारणभूत अहिंसा महावर्तका विस्तारसे वर्णन किया गया है, जिसमें हिंसाको दुर्गतिका कारण और अहिंसाको श्रेयस्कर बतलाया है ( 472-530 ) ।

९. सत्यवत्—यहाँ असत्य वचनको अहिंसकर और सत्य वचनकी द्वितीय वतलासे हुए विविध रूपमें सत्यकी स्तुति और असत्यकी निन्दा की गयी है। जो वचन प्राणियोंका हित करनेवाला हो उसे असत्य होते हुए भी सत्य माना गया है तथा जो सत्य होते हुए भी पापोत्पादक है उसे असत्य माना गया है। असत्य आपणका परिणाम मूकता ( गैंगापन ), बुद्धिकी हीनता, मूर्खता, बहिरापन और युखरीगता है ( 531-72 ) ।

१०. चौर्यविहार—गुणोंके भूषणस्वरूप अचौर्यवत्तके दिनों मुनि मोक्षमार्गमें स्थित नहीं हो सकता, ऐसा निर्देश करते हुए यहाँ चौर्यकर्मोंको अनेक प्रकारसे अनर्थकर सिद्ध किया गया है व अन्तमें यह कहा गया है कि जिस वर्मरूप कृषकी जड़ विषयकिमुखता है, शाकाद्य अनेक प्रकारका संयम है, एते यम-स्त्रियम हैं, पुरुष कषायोंका उपयोग है, फल ज्ञानकी लीलाद्य है, और आश्रय लेनेवाले पक्षी विवृत्यन है; उस वर्मकृषको चौर्यविहारद्य दक्षीभूत हृषि दीर्घकांडप धरत अभिनके द्वारा भस्मसात् कर डालता है ( 573-92 ) ।

११. कामप्रकोप—जिस ब्रह्मचर्यवत्तका आश्रय लेकर योगीजन परम कहा परमात्माको प्राप्त किया करते हैं उस यहुन ब्रह्मद्रवके सविस्तर कहनेकी प्रतिज्ञा करते हुए ग्रन्थकारने उसे दुर्बल प्राणियोंके लिए दुर्बर बतलाया है। ब्रह्मचर्यका विवातक मैथुनकर्म आपाततः रमणीय दिखता हुआ भी परिणाममें नीरस है। यहाँ भैषुपके शरीरतंस्कार आदि इस भेदोंका निर्देश करते हुए उन्हें छोड़ देनेकी प्रेरणा की गयी है। काम-वासनाको निन्दा करते हुए यहाँ भी निर्देश किया गया है कि सर्पके द्वारा डैंसे गये प्राणीके जहाँ सात ही वेग होते हैं वहाँ कामरूप सर्पसे कबलित प्राणीके वे भयानक इस वेग होते हैं। इन दस वेगोंका यहाँ नामोलेख भी किया गया है। आगे यहाँ उक कहा गया है कि कामार्त मनुष्यं पुत्रवधु, सास, पुत्री, बाय, गुरुकर्ती, साक्षी और तिर्यक्षनी तकके सेवनकी इच्छा किया करता है। इसीलिए योगीजन कामके परिपाकसे भयभीत होकर संयमका सहारा किया करते हैं ( 593-640 ) ।

१२. चीरस्वरूप—यहाँ स्त्रीके स्वरूपपर विचार करते हुए यह कहा गया है कि कामोन्मत्ता स्त्रियों जो अनर्थ किया करती है उसका शक्तीश भी नहीं कहा जा सकता। स्त्रियोंके वचनमें स्वभावतः अमृत, पर द्वदशमें हालाहल दिष्ट हुआ करता है। पता नहीं किसमें इन स्त्रियोंको रखा है। इस प्रकारसे यहाँ स्त्री जातिकी निन्दा करते हुए उसे सर्पिणी व पिशाची-जैसा भयानक कहा गया है। आगे चलकर यहाँ यह भी कहा गया

१. जहाँ भी स्त्रियोंकी निन्दा की गयी है वह प्रायः पुरुष ग्रन्थकारोंके द्वारा की गयी है। ये ग्रन्थकार प्रायः साधुसंघके अस्तितापक रहे हैं। इससे अपने साधुर्षष्ठिको स्त्रीकृत संयममें स्थिर रखनेका उनका परम कर्तव्य था। इसी सद्भावनासे प्रेरित होकर उन्होंने संघर्ष साधुओंको ब्रह्मचर्यं महाव्रतमें स्थिर रखनेके लिए स्त्रियोंके सत्-असत् दोषोंको दिखलाकर उनकी ओरसे एक मात्र विमुख रखनेका प्रयत्न किया है।

है कि संसारसे विरक्त हुए संयमी जनोंने यद्यपि स्थियोंको ब्रूणास्पद बतलाया है तथापि उन्हें सर्वशः पापिष्ठ नहीं समझना चाहिए। लोकमें कुछ ऐसी भी स्थियाँ हैं जो शील और संयमसे विभूषित तथा श्रुत और सत्यसे सम्पन्न होकर अपने कुलको बहीस करनेवाली हैं। इतना ही नहीं वे अपने सतीस्व, महत्त्व, विनय और विवेकसे भूमध्यलक्षणोंको भूषित करती हैं ( 641-99 ) ।

१३. मैथुन—कामाग्निसे पीड़ित जो पुरुष उसका प्रतीकार मैथुनसे करना आहुता है उसका यह प्रतीकार धीसे अग्निको शान्त करनेजीसा है। जिस प्रकार कोडी मनुष्य खुजलाकर उसकी पीड़ितोंको दूर करना आहुता है, पर वह उससे शान्त न होकर उत्तरोत्तर बढ़ियोंको ही प्राप्त होती है; उसी प्रकार वह कामकी पीड़ित उस मैथुन क्रियासे स्थायी रूपमें शान्त न होकर उत्तरोत्तर बढ़ती ही है। मैथुनसे मनुष्यको मूल्छी, परिश्रम और क्षयरोगादिका सामना करना पड़ता है। इसके असिरिक वह प्राणिर्हिताका भी कारण है। इस प्रकारसे यही मैथुन कर्मको अतिशय घृणित क कष्टकर कहा गया है ( 700-25 ) ।

१४. संसर्ग—स्त्रीका संसर्ग किस प्रकारसे मनुष्यको संयमसे च्युत कर देता है, इसका विषार करते हुए यही वह कहा गया है कि जितेन्द्रिय व तपस्वी सामूही स्त्रीके सम्बन्धमें आकर विप्रवर्धित संयमको ज्ञान-भरमें नष्ट कर देता है। प्रथमतः स्त्रीकी ओर दृष्टिपात होता है, परचात् उसके प्रति मनमें व्यामोह होता है, किर परस्परमें वातालापकी इच्छा होती है, अनन्तर दोनोंमें प्रेमानुबन्धका प्रादुर्भाव होता है, तत्पश्चात् परस्परमें विश्वास उत्पन्न किया जाता है, और अन्तमें मनके भिल जानेपर दोनों निर्लंब होकर असदाचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इससे जो मुमुक्षु संयममें स्थिर रहना आहुता है वह उस समस्त अनर्थके मूल कारणभूत उस और दृष्टिपातको ही नहीं करता है। इस प्रकारसे यही स्त्री-संसर्गके दोषोंको दिखलाकर न केवल उस स्त्री-संसर्गसे ही दूर रहनेका उपदेश दिया गया है, बल्कि स्त्रीके संसर्गमें रहनेवाले निष्ठ बुराचारी जनोंसे भी दूर रहनेकी प्रेरणा की गयी है ( 726-70 ) ।

१५. बृद्धसेवा—यहीं दोनों लोकोंकी विशुद्धि, परिणामोंकी निर्मलता और विद्या एवं विनयकी वृद्धिके लिए बृद्धसेवाको आवश्यक बतलाया गया है। बृद्धसे यहीं जो केवल आयुसे बृद्ध है उसका अस्त्रिय नहीं रहा, किन्तु जो तप, घृत, धैर्य, ध्यान, विवेक, यम और संयमसे वृद्धिगत है उसकी विवाहा रही है। जिनका सदाचार कभी कलंकित नहीं होता वे आयुसे हीन होते हुए भी बृद्ध भाने गये हैं। इसके विपरीत आयुसे बृद्ध होकर भी जो हीन आचरण करता है उसे बृद्ध नहीं भाना गया। ऐसे बृद्ध जनोंके समानमें रहनेसे उनके आवश्य जीवन व सद्गुरदेशसे प्रेरणा पाकर भार्गवी भी जब सम्मानमें लग सकता है तब सरलहृदय आरम्भितंषीका तो कहमा ही क्या है? इस प्रकारसे यहीं बृद्धसेवा—सत्सामग्रम—से प्राप्त होनेवाले अनेक गुणोंकी प्रकट किया गया है ( 771-818 ) ।

१६. परिग्रहदोषविचार—जिस प्रकार कुशल कारीगरके हारा उत्तम सामग्रीके हारा निभित भी मुदूढ़ भीका अत्यधिक भारके रखनेसे नदी या समुद्रमें डूब जाती है उसी प्रकार परिग्रहके भारसे-धन-धार्म्यादि विषयक ममता की अधिकतासे—संयमी पुरुष भी संसार-समुद्रमें डूब जाता है। परिग्रह बाह्य व अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है। बाह्य परिग्रहमें चेतन माता-पिता, पत्नी, पुत्र, मित्र, दाता-दासी व हाथी-धोड़ा आदि तथा अनेकमें सोना-चौदी, महल एवं आग-बगीचा आदि आते हैं। अभ्यन्तर परिग्रह भिन्नपात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य-रति आदि छह नोकपाय और क्रोधादि चार कषायके भेदसे चौरह प्रकार का है। परिग्रहका लक्षण मूल्छी—'यह मेरा है। और मैं इसका स्वामी हूँ' इस प्रकारका भमेदंभाव है। परिग्रह वस्तुतः यही है। इस अभ्यन्तर परिग्रहपर विजय प्राप्त करनेके लिए ही बाह्य परिग्रहके परिस्तागको अनिवार्य बतलाया गया है। कारण यह कि जो बाह्य परिग्रहको नहीं छोड़ सकता है वह वस्तुतः अभ्यन्तर परिग्रहका

स्यागी नहीं हो सकता । ज्ञानकी धुराको वही धारण कर सकता है जो मन व इन्द्रियोंको स्वाधीन करके समस्त परिप्रहरे मिर्जुक हो चुका है । इस प्रकारका साधु निर्बन्ध इनमें अथवा जनसंकीर्ण नगर आदिमें कहींपर भी निर्भयतापूर्वक रह सकता है । इस प्रकारसे यहीं परिप्रहरकी सदोषताका विचार किया गया है ( 819-63 ) ।

१७. आशापिशाची—जबतक शरीर और मन आदिके विषयमें आशा बनी रहती है तबतक परिप्रहरताम भ्रातृत सम्भव नहीं है । इसीलिए यहीं बाह्य और अध्यन्तर दोनों प्रकारके परिप्रहरके परिस्थितिगत सम्भावनाको सिद्ध करनेके लिए अनेक दोषोंकी खानिस्वरूप उस आशाके छोड़नेकी प्रेरणा की गयी है ( 864-84 ) ।

१८. अक्षविषयनिरोध—पूर्वनिर्विष छठे प्रकरण में सम्प्रदादात्म और सातवें प्रकरणमें सम्प्रज्ञानका निरूपण करके आठवें प्रकरणसे सम्यक्चारित्रके कथनका उपकाम किया गया है । उसमें क्रमसे अहिंसा आदिका निरूपण करते हुए प्रस्तुत प्रकरणके प्रारम्भमें महाव्रतके निरुक्त वर्थको प्रकट किया गया है । वहीं यह कहा गया है कि उक्त अहिंसादि महाव्रतोंका परिपालन चौकि भ्रातृपूरुषोंके द्वारा किया जाता है, महान् ऋषिके—मीशालय भरम पुरुषार्थके—द्वे सावक हैं, तथा स्त्री महाम् हैं; इसीलिए उन्हें महाव्रत कहा जाता है । अगे इन महाव्रतोंकी विषुद्धिके लिए उनकी पञ्चास भावनाओंके विस्तारकी प्रेरणा करते हुए वौच समितियों और तीन गुप्तियोंके स्वरूपको दिखाया गया है । इन आठको संयमी जनोंकी जन्मदात्री भाताएँ—आठ प्रदत्तनमात्राकार्य—कहा गया है । जिस प्रकार भाता बालकका सब प्रकारसे संरक्षण किया करती है उसी प्रकारसे उक्त आठ प्रदत्तनमात्राएँ संयमी साधु जनोंका दोषोंसे संरक्षण किया करती है ( 906 ) । इस प्रकारसे वौच सम्भावनों, वौच समितियों और तीन गुप्तियोंस्वरूप तेरह प्रकारके सम्यक्चारित्रका निरूपण करते हुए रत्नऋषस्वरूप आरम्भके प्रभावको प्रकट किया गया है ।

आगे यहीं क्रोधादि कषायों और इन्द्रियोंके वशीभूत होनेसे उत्पन्न होनेवाले दोषों तथा उपर विजय प्राप्त कर लेनेसे प्रकट होनेवाले गुणोंको दिखलाते हुए अनेक प्रकारसे उक्त कषायों और इन्द्रियोंकी वशमें उत्तमेका व्याख्यान किया गया है ( 885-1050 ) ।

१९. वित्तव—कितने ही धोगी शिव, गरुड़ और काम इन तीन वस्त्रोंके विन्तनको हस्तिलक कलका दाता मानते हैं । उनको लक्ष्य करके यहीं यह कहा गया है कि ये आत्मासे भिन्न नहीं हैं, अनन्त ज्ञानादिस्वरूप जो आत्मा है वहीं शिव ( परमात्मा ), गरुड़ और काम है । अतएव उस रूपमें उसीका इधान करना योग्य है जो अभीष्ट प्रयोगका साधक है । यहीं परमात्मा, पूर्णिमादि चतुष्पृथक्यस्वरूप गरुड़ और काम इन तीन वस्त्रोंका निरूपण दुर्लभ गद्य-भागमें किया गया है ( 1051-70 ) ।

२०. अनोद्यामारप्रतिपादन—भ्रह्म वर्तजलि आदि कितने ही योगियोंने योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ज्ञान और समाधि इन आठको सदा अथ कितने ही ऋषियोंने उत्त आठमेंसे यम और नियमको छोड़कर शेष छहको ही योगका वर्ण माना है । कहींपर उत्साह, निष्ठव्य, धैर्य, सत्तोष, सत्स्वदर्शन और जनप्रदत्याग इस छहसे योगकी सिद्धि निर्दिष्ट की गयी है । मनकी स्थिरताके कारणभूत इन सबकी सूचना करते हुए यहीं मनकी पुष्टिपर विशेष जोर दिया गया है । यह मनकी शुद्धि ज्ञानकी विषुद्धिको तो करती ही है, साथ ही वह मुमुक्षुको अनादि कर्मवस्थनसे भी छुड़ाती है । जिसके आश्रमसे भ्रमुकु जीव मनस्तत्त्व ( आत्मस्वरूप ) में स्थिर हो जाता है उसे ही यथार्थमें ज्ञान, विज्ञान और व्येय तत्त्व कहा जा सकता है । मनकी स्थिरताके विनाश, भ्रुत और कायकलेश आदि मुख्यण्डनके समान निरर्थक रहते हैं । इस प्रकार यहीं उस मनकी शुद्धिका विवेचन अनेक प्रकारसे किया गया है ( 1071-1106 ) ।

२१. रामादिनिकारण—पूर्व प्रकरणमें व्यापकी सिद्धिके लिए मनकी स्थिरताको अनिवार्य बतलाया जा चुका है। पर वह मनकी स्थिरताके सम्बन्ध नहीं है जबतक कि अन्तःकरणसे राग आदि नहीं हट जाते। योगी चित्तको आत्मस्वरूपमें स्थित करना चाहता है, पर निमित्त पाकर रागादिके प्रकट होनेपर मनकी आत्मस्थिति रह नहीं पाती। वे रागादि मनको कभी मूढ़, कभी उन्मत्त, कभी भयभीत, कभी संक्षिप्त और कभी शंकित किया करते हैं। इसलिए वस्तु-स्वरूपका विचारकर इन्द्रियविषयोंमें हठ-अनिष्टकी कल्पनाको छोड़ देना चाहिए। राग और द्वेष दोनों अविनाभावी हैं—यदि एक और राग होता है तो दूसरी और द्वेषका होना अनिवार्य है। राग और द्वेष ये दोनों मोह (मूढ़ता या अज्ञानता) के दो रूप हैं। इस प्रकार यहीं राग, द्वेष एवं मोहकी विश्वपताको प्रकट करते हुए उनके छोड़नेकी प्रेरणा की गयी है (1107-46)।

२२. साम्यवैभव—कर्मवास्तके कारणभूत उन्न राग-देवके नष्ट करनेका उपाय समताभाव है। हठ-अनिष्ट प्रतीत होनेवाले पदार्थोंमें जब समताभाव प्राप्तमूल हो जाता है तब योगीको इस चराचर विषयमें न तो कुछ हेतु रहता है और न कुछ उपादेय भी रहता है। इस प्रकार साम्यभावको प्राप्त हुआ योगी दूसरोंके द्वारा की जानेवाली सुन्ति और निन्दामें तृष्ण-विषयादसे रहित समझदृश्य रहता है। ऐसी स्थिर स्थितिके निमित्त ही जाहेद नहीं तरीकाहीसे दिनहित होता है और न हुष्ट अन्योंके द्वारा किये जानेवाले अयानक उपदेशोंसे भी व्याकुल होता है, वह उन्हें कर्मनिर्जरका कारण आत्मक शास्त्रके साथ सहज ही करता है (1147-79)।

२३. आर्तध्यान—साम्यभाव और व्यानमें परस्पर आविनाभाव सम्बन्ध है—यैसे साम्यभावके बिना व्यान सम्बन्ध नहीं है वैसे ही व्यानके बिना साम्यभाव भी सम्बन्ध नहीं है। कुछ ज्ञानी जनोंने व्यानका प्रणयन लौकिक कार्यों—जैसे वशीकरण, मारण और उच्चाटन आदि—के लिए किया है। उसको नरकादि दुर्गतिका कारण बतलाते हुए चिम्पाके निरोचनस्वरूप व्यानके दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। इसमें प्रशस्त व्यान जहाँ मुक्तिका कारण है वही अप्रशस्त व्यान संसार-परिभ्रमणका कारण है। इनमें जैसे आर्त और रौद्रके भैदसे अप्रशस्त व्यान दो प्रकारका हैं वैसे ही घर्म और शुक्लके भैदसे प्रशस्त व्यान भी दो प्रकारका हैं। प्रकृतमें यही अप्रशस्त व्यानके प्रथम भेदभूत आर्तध्यानका निरूपण करते हुए कहा गया है कि अनिष्ट वदार्थोंके संयोग, हठ पदार्थोंके वियोग, रोगनित वैदना और आगामी भोगाकाङ्क्षारूप निदानके आधयक्षे जो संक्लिशतापूर्ण चिन्तन होता है वह आर्तध्यान कहलाता है। आगे इन चार आर्तध्यानोंका विस्तारसे विवेचन करते हुए यह निर्देश किया गया है कि वह आर्तध्यान प्रथत्संयत (छठे गुणस्थान) तक होता है। विशेष इतना है कि निदान नामक चौथा आर्तध्यान प्रमत्संयतके नहीं होता, उससे पूर्वके पांच गुणस्थानोंमें ही वह सम्बन्ध है (1180-1222)।

२४. आस-रीढ़—सूसरा अप्रशस्त व्यान रीढ़ है। वह कुर अभिप्रायसे होता है। उसके यही ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और संरक्षणानन्द। आगे इन चारोंका यहीं पृथक्-पृथक् विस्तारसे वर्णन किया गया है (1223-66)।

२५. व्याभविक्षयस्थान—यहीं शान-वैराग्यसे सम्बन्ध व्यापकी प्रशंसा करते हुए प्रथमसः मैत्री, करण, मुदिता और उपेक्षा (मध्यस्थता) इन चार भावमार्थोंके स्वरूपको दिखलाकर उनके चिन्तनकी प्रेरणा की गयी है। तत्प्रात् जहाँ म्लेच्छ व अधम जनोंका निकास हो, जो तुष्ट राजा के द्वारा शासित हो, तथा पाख्यिन्द्र-समूह, मिद्यादृष्टि, कौलिक, कापाकिक, भूत-नीताल, जुवारी, मद्यपायी, विट, विल्पी, कारु, उन्मत्त, उपद्रवी एवं दुराचारिणी स्थियोंसे व्याप्त हो ऐसे स्थानका यही व्यानमें आधक होनेके कारण निषेध किया गया है (1267-1301)।

२६. प्राणायाम—पूर्वमें ध्यानके अयोग्य उपर्युक्त स्थानोंकी बहलाकर यही यह निर्देश किया गया है कि ध्यानकी सिद्धि सिद्धक्षेत्र, महातीर्थ, पुराणदुर्घटोंसे अधिक्षित और तीर्थकरोंके कल्पाणकोंसे सम्बद्ध योग्यमें हुआ करती है। इनके अतिरिक्त वृक्षकोटर, जीर्ण उद्यान, लम्बान, गुफा, सिद्धकूट, जिनालय और कौलाहल एवं उपरेक्षसे रखित जनशून्य गृह आदिको भी ध्यानके योग्य स्थान कहा गया है। इसके साथ यही भी निर्देश कर दिया गया है कि जहाँपर रागादि दोषोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना न हो ऐसा स्थान सदा ही, विशेषकर ध्यानके समयमें, योग्य माना गया है ( १३०१-९ ) ।

ध्यानके योग्य आसनके प्रसंगमें यह कहा गया है कि काष्ठफलक, शिला, भूमि अथवा देतीले स्थानमें पर्यंक, अर्धपर्यंक, वज्रासन, चीरासन, सुखासन, कमलासन अथवा कायोत्सवसे स्थित होकर ध्यान करना चाहिए। साथ ही निष्कर्षके रूपमें यही कहा दिया है कि स्थान चाहे निर्जन ही अथवा अनोन्म संकीर्ण ही, हिंषित भी चाहे सुखद हो अथवा दुखप्रद हो, जिस किसी भी अवस्थामें चिल स्थिर रहता है उसी अवस्थामें स्थित होकर ध्यान करना उचित है। दिवाओंमें यहीं पूर्व और उत्तर दिशाका विधान किया गया है ( १३१०-२५ ) ।

धर्मध्यानके स्वामीका निर्देश करती हुए यहीं यह कहा गया है कि उसके स्वामी मुख्य रूपसे अप्रमत्त-संयत और गौण रूपसे प्रमत्तसंयत हैं। मतान्तरसे उसके स्वामी सम्यद्वृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक आर गुणस्थानबहुती बहलाये गये हैं ( १३२६-२९ ) ।

आगे लेखाविशुद्धिके अनुसार ध्यान और ध्यानके तीन-तीन भेदोंका निर्देश करते हुए ध्यानकी कुछ प्रक्रिया भी बहलायी गयी है ( १३३०-४१ ) ।

इस प्रकार धर्मध्यानका कुछ निरूपण करनेके पश्चात् प्राणायामका उपक्रम करते हुए यहीं प्रथमतः यह निर्देश किया गया है कि अपने सिद्धान्तका अले प्रकारसे निर्णय कर लेनेवाले सुनियोनि ध्यानकी सिद्धिके निमित्त अनकी स्थिरताके लिए प्राणायामकी प्रशंसा की है। इसीलिए बुद्धिमान् भव्य अनोंको उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, ज्योंकि उसके विचार मनके ऊपर विषय प्राप्त करना शक्य नहीं है। पूर्वाधार्योंने उसे लक्षणके भेदसे तीन प्रकारका माना है—पूरक, कुम्भक और रेतक। आगे संक्षेपमें इन तीनोंके लक्षणोंका निर्देश करते हुए प्राणायामसे होनेवाले लाभको प्रकट किया गया है। तत्पश्चात् नासिकालिङ्गोंमें रहनेवाले पार्थिव आदि आर मण्डलों, उसमें संचार करनेवाली पुरम्बद्र आदि चार वायुओं, उसके फलों, वाम-दक्षिण नाड़ियों, स्वरसंचारके आधारसे प्रश्नोंके उत्तरों, शीक्षन-मरण, जय-पराजय, क्षर्ष, वान्यनिष्ठिति, क्षीकरण, गर्भमें स्थित पुत्र-सुत्री आदिके जन्म, सित-पीताविविश्वासोंके डारा संचार करनेवाली वायुका परिप्रश्न, नाड़ी-शुद्धि, नाड़ीमें पथनके बहनेका काल और वेष ( परके मुत्र अथवा जीवित शरीरमें प्रवेश ); इत्यादिका विचार किया गया है। अन्तमें वेष—अनेक प्रकारके तुष्णी, कपूर आदि द्रव्यों तथा अमर, पतंगों, पक्षियों एवं मणुष्य व घोड़ा आदिके शरीरमें प्रवेश—का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि इस परपुरप्रवेशका फल कीदूके मात्र है। आगे कहा गया है कि वायुके संचारमें अनुर योगी कामवासना, भयामक विष, भनोजय, रोगक्षय और शरीरकी स्थिरताको करता है; इसमें सन्देह नहीं है। जिसेमित्रिय मुनिका प्राणायामसे संकड़ों भवोंका संचित पाप दो घटिकाओं ( मृहूर्त मात्र ) में बिलीन हो जाता है ( १३४२-१४५५ ) ।

२७. प्रत्याहार—यहीं प्रत्याहारके स्वरूपको प्रकट करते हुए कहा गया है कि इन्द्रियोंके साथ मनको इन्द्रियविषयोंकी ओरसे खींचकर उसे इच्छानुसार अहीं धारण किया जाता है उसका नाम प्रत्याहार है। आगे समाधिकी सिद्धिके लिए प्रत्याहारकी प्रशंसा करते हुए प्राणायामकी अनकी अस्वरूपता का कारण व मुक्तिका बाधक कहा गया है। शूक्रमें प्राणायामसे सम्बन्ध अतिरिक्त फलके न कहे जानेसे चन्द्रकारने पहुंच उसके लिए

अपने अतिरिक्त श्रमको न करनेकी सूचना की है। अन्तमें यहाँ चित्तके आत्मवनभूत दस व्यानस्थानोंका निर्देश करते हुए यह सूचना की है कि इन स्थानोंमें विश्रामको प्राप्त लक्ष्य ( व्येय ) को विस्तृत करनेवाले मुनिके आत्मसंदेवनज्ञनित बहुत-से ध्यानके प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ( 1456-69 ) ।

२८. सबीर्य ध्यान—यहाँ अनादि कालसे कर्मवन्धनमें बहु आत्माकी कथा अवश्य रही है तथा स्वभावतः वह कैरा है, इसका विचार करते हुए यह निश्चय कराया गया है कि ज्ञानकी दृष्टिके में और परमात्मा दोनों समान हैं। विशेष इतना कि अनन्त ज्ञानादि गुणोंका समृद्धाव परमात्मामें प्रकट हो चुका है, पर मूलमें वह शक्तिरूपमें ही विद्यमान है। आज भूले अपने सामर्थ्यको जानकर उस कर्मवन्धनसे सुक्ष्म होनेके लिए धर्मध्यानका और विशेष शक्तिके होनेपर शुक्लध्यात्मका आश्रय लेना है, इस प्रकारकी यहाँ प्रतिज्ञा की गयी है। उस ध्यानमें चिन्तनीय चेतन-अचेतन—जीवजीवादि पदार्थ और परमात्माका स्वरूप है। इस प्रशंगमें यहाँ परमात्माके स्वरूपका विचार करते हुए यह कहा गया है कि योगी जब निरन्तर उस परमात्माका स्मरण करता है तब वह स्वयं तन्मय हो जाता है। इसे ही यहाँ सबीर्य ध्यान कहा गया है ( 1470-1512 ) ।

२९. शुद्धोदयोग विचार—जो अपने आत्मस्वरूपको नहीं जानता है वह पूर्वोक्त परम पुरुष या परमात्माको नहीं जान सकता है। इसलिए यहाँ प्रथमतः आत्मस्वरूपके जाम लेनेकी प्रेरणा करते हुए जीवके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इसमें जो शरीर आदिके भिन्न आत्माको न जानता हुआ उस शरीर आदिको ही आत्मा उमड़ता है उसे बहिरात्मा कहा जाता है। जिसे पुद्गलय जड़ शरीरसे भिन्न चेतन आत्मामें ही आत्माका निश्चय ही चुका है वह अन्तरात्मा कहलाता है। जो कर्मभूल व शरीरसे रहित होकर निर्मल हो चुका है तथा समस्त संकल्पनविकल्पोंसे निर्मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त कर चुका है उसे परमात्मा कहा जाता है। इस प्रकारसे यहाँ जीवके उपर्युक्त तीन भेदों व उनके पूरक-पूरक स्वरूपको दिखलाकर वह कहा गया है कि बहिरात्मा जीव पिता-पुत्र व चन्द्र-सम्पत्ति आदिको अपना भासता हुआ निरन्तर उनमें सुधर रहता है व कर्मवन्धनसे बढ़ होता है, जिससे उसके अन्य-मरणकी परम्परा चलती ही रहती है। इसीसे यहाँ आत्महितीयी जीवको पूर्वोक्त बहिरात्मपतेरी छोड़कर अन्तरात्मा हो जानेका विकिष्ट प्रकारसे उपदेश दिया गया है, जिससे कि परमात्माका ध्यान करके स्वयं परमात्मा बन सके। अन्तमें यहाँ उस परमात्मारूप ध्येयको धर्म और शुक्ल इन दोनों ही ध्यानोंका साधारण ध्येय बतलाते हुए दोनोंमें विशुद्धि और स्वामीके भेदसे भेदका निर्देश किया गया है ( 1513-1616 ) ।

३०. आज्ञाविचार—यहाँ चित्तको आत्मस्वरूपमें स्थिर करनेके लिए धर्मध्यानके आज्ञाविचार, अपायविचार, विपाकविचार और संस्थानविचार इस चार भेदोंका निर्देश करते हुए प्रथम आज्ञाविचार ध्यानकी प्ररूपणा की गयी है। उसके स्वरूपको बतलाते हुए यह कहा गया है कि जिस ध्यानमें सर्वज्ञकी आज्ञाके अनुसार आगमसिद्ध वस्तुस्वरूपका विचार किया जाता है वह आज्ञाविचार बहलाता है। अनन्त गुणों और पर्यायोंसे संयुक्त चेतन-अचेतनरूप वस्तुका लक्षण उत्पाद, व्यय और श्रोत्व है। उसका निर्णय प्रमाण, नय और निषेद्धके आशंकसे किया जाना चाहिए। प्रसंशनश यहाँ श्रुतज्ञानके माहात्म्यको दिखलाते हुए उसके चिन्तनकी प्रेरणा की गयी है। अन्तमें फिरसे उस आज्ञाविचार धर्मध्यानकी स्वरूपको दिखलाते हुए कहा गया है कि सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रमाण करके जिसमें पदार्थका यथार्थ रूपमें विस्तृत किया जाता है उसे श्रीगीर्वानि आज्ञाविचार धर्मध्यान कहा है ( 1617-39 ) ।

३१. अपायविचार—अपायका अर्थ विनाश है, जिस ध्यानमें कर्मोंके किनाश और उक्तके उपायका विचार किया जाता है वह अपायविचार धर्मध्यान कहलाता है। इस ध्यानमें अनादि कालसे सम्बद्ध कर्मके विनाशके लिए साधु विचार करता है कि मैं कौन हूँ, मेरे कर्मोंका आख्यव किस कारणसे होता है, वर्ष उनका

किसे होता है, किस प्रकार से वे निर्जीर्ण होते हैं, मुक्ति क्या है। उसी मुमिलकी प्राप्ति जीवका स्वरूप कैसा है; इस्यादि। वह यह भी विचार करता है कि यदि मैंने अपनेको जान लिया तो तीसों लोकोंको ही जान लिया। मैं बस्तुतः सर्वज्ञ व सर्वविद्यी होकर कर्मकालिमादि रहित हूँ। अन्तमें यह प्रेरणा की गयी है कि इस प्रकार अनेक उपायों द्वारा आत्मसिद्धिके लिए कर्मोंके आपायका निष्ठाय करना चाहिए ( 1640-57 ) ।

**६३. विषाक्षिक्य**—पूर्वबद्ध कर्म उदयमें आकार जो अपना पाल देता है, इसका नाम विषाक है। वह कर्म द्रष्ट्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारके अनुसार प्राणियोंको जो अनेक प्रकारके फलको विद्या करता है उसको यही पूर्वक-पूर्वक् उदाहरणीं द्वारा स्पष्ट किया था है। मूल कर्मप्रकृतियों ज्ञानावशणादि रूप आठ उदाहरणके उत्तर भी यही संखेमें उनके हवालाका भी विवरण करता गया है। जिस प्रकार आम ज्ञानियोंको द्वारा पूर्वबद्ध कर्मोंको उनकी विवित पूर्ण होतेके पूर्व ही उदयको प्राप्त कराकर निर्जीर्ण करता ज्ञा सकता है। इस प्रकारसे विषुड्ध आत्मपरिणामिके द्वारा उत्तरोत्तर असंख्यात्मगुणी कर्मनिर्जरके होनेपर जब चतुर्थ—द्युष्मित्राकियानिवर्ती—धूमलघ्यानके द्वारा समस्त कर्म आत्मासे पूर्यक् हो जाते हैं तब शरीरसे रहित हो जानेपर पुरुषके आकारमें अवस्थित अमूर्तिक आत्मा सिद्धिपद ( मुक्ति ) को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यही कर्मशब्दके बाहे होकर ज्ञानी किस प्रकारसे कष्टको सहता है तथा मुमुक्षु योगी ध्यान और तपश्चरणके द्वारा किस प्रकारसे उन कर्मोंको नष्ट करके शाश्वतिक एवं निराकुल सुखको प्राप्त करता है, इस प्रकारके चिन्तनकी यही प्रेरणा की गयी है ( 1658-88 ) ।

**६४. संख्यालग्नित्य**—संख्यालग्न भार्या आत्मार है। निरधार अनन्ताभ्युत्त आकाशके बीचमें खेतन-अपेक्षन द्रव्योंसे आपस लोक अवस्थित है। वह अप्य, अध्य और ऊर्ध्वकी अपेक्षा तीन भागोंमें विभक्त होकर क्रमसे अनोदधि, उन और उनु इन तीन बायुओं ( कात्यलयों ) से वेष्टित है। अशोलोकका आकार वेतके आसन-जीसा, भृत्यलोकका आसन-जीसा और ऊर्ध्वलोकका आकार मृदंग-जीसा है। अशोलोकमें नारकी, भृत्यलोकमें भनुध्य व तिर्थीच तथा ऊर्ध्वलोकमें देवोंका निवास है। इस प्रकार यही लोकके विभागोंसे आकार और वही रहनेवाले प्राणियों—विशेषकर नारकियों व देवों—के सुख-नुख एवं बायु आदिका विस्तारसे वर्णन किया गया है। अन्तमें जीसा कि पूर्व प्रकरण ( 1686 ) में निर्देश किया जा चुका है, यही भी वह कहा गया है ( 1875 ) कि इस प्रकारके चिन्तनसे जिनके समस्त कर्म नष्ट हो गये हैं उनका जो अपने शरीरके मध्यभूत प्रकाशमान अतिशय निर्मल पुरुषाकार—सिद्धोंके आत्मप्रदेशोंका पूर्व धरीर-जीसा अमूर्तिक आकार—प्रकट हो जाता है उसका स्मरण करना चाहिए। इस प्रकार यही प्रलयित लोकके आकारका चिन्तन करनेवाला योगी निधमसे केवलज्ञानरूप राज्यको पा लेता है ( 1689-1876 ) ।

**६५. पिण्डस्थापदान**—यही पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपवर्जित ( रूपातीत ) इन ध्यानके बारे भेदोंका निर्देश करते हुए उसमें प्रथम पिण्डस्थ ध्यानका निष्ठापन किया गया है। उसमें पाण्डिती, आमेयी, श्वसना ( भास्ती ), वारणी और तस्वरूपवती इन बीरवर्जित पाँच धारणाओंकी ज्ञातव्य बतलाते हुए प्रथम पाण्डिती धारणाके प्रसंगमें यह कहा गया है कि योगी यज्ञलोकके समान शीर-समूद्र, उसमें अम्बूद्धीप प्रमाण हजार पत्तोंवाले कमल, उसमें मेव पर्वत रूप कणिका, उसके ऊपर सिंहासन और उसके ऊपर विराजमान राग-हेतु विरहित आत्माका स्मरण करता है।

आमेयी धारणामें वह नाभिभास्तुलमें सोलह पत्तोंवाले कमल, उस सोलह पत्तोंपर कम्बे अवस्थित अकारादि सोलह स्वरों, कणिकापर महामन्त्र ( हूँ ), उसकी रेकसे निकलती हुई धूमशिखा, अग्निकणों एवं ज्वालावलीका चिन्तन करता है। इस ज्वालासमूहके द्वारा वह हृदयस्थ उस बाढ़ पत्तोंकाले अथोमुख कमलको

असम होता हुआ देखता है किसके आठ सत्तोंपर ज्ञानाब्दरणादि आठ कर्म स्थित हैं। पश्चात् वह शरीरके बाहर उस त्रिकोण अग्निप्रणलकका स्मरण करता है जो शरीर और उस क्षेत्रको जलाकर वाह्यके शेष न रहनेसे स्वर्य शम्ल हो गया है।

मारुती धारणामें योगी आकाशमें संचार करनेवाली भव्यानक उस प्रबल वायुका विचार करता है जिसने पृथिवीतलमें प्रविष्ट होकर भस्मीमूल उस ज्ञानादि क्षेत्रकी अस्तित्वे उत्ता दिया है।

वास्त्री धारणामें योगी आकाशमें इन्द्रधनुष और विजलीसे युक्त उस वैष्णवटलको देखता है जिसने बड़ी-बड़ी लूंदोंमें वर्षा करते हुए पूर्णक उस धूलिको दो ढाला है।

अन्तिम तत्त्वरूपकर्ती धारणामें योगी सात घातुओंसे रहित निर्मल सर्वज्ञ सदृश उस आत्माका स्मरण करता है जो दिव्य अतिशयोंसे मुक्तिभित्र और कर्णाणक-महिमासे संयुक्त होकर सिंहासनपर विद्वानमान है। अन्तमें पूर्वके समान ( 1875 ) यहाँ भी कहा गया है कि इस प्रकारसे व्यानमें कर्मसे निर्मुक्त पुरुषाकार उस परमात्माका स्मरण करना चाहिए ( 1877-1909 )।

३५. पदस्थध्यान—यही पदस्थध्यानके स्वरूपको दिखलाते हुए वह कहा गया है कि योगी ज्ञन पवित्र पदोंका आलम्बन लेकर जो विन्दन किया करते हैं वह पदस्थध्यान कहलाता है। इस पदस्थध्यानके प्रसंगमें यहाँ वर्णयातुका ( स्वर इ वर्यजन वर्ण ), भगवराज ( हं ), अनाहत देव, प्रणव ( ॐ ), गुरु पंचनभस्कार मन्त्र, सप्ताशर मन्त्र, सोलह अक्षरयुक्त महाविद्या, छह वर्णयुक्त विद्या, चार वर्णयुक्त मन्त्र, दो वर्णयुक्त मन्त्र, अ वर्ण, पांच वर्णमय विद्या, भंगल-दत्तम-शारण पदस्मूह, तेरह अक्षरोंवाली विद्या, पांच वर्णमय मन्त्र, आठ वर्णयुक्त मन्त्र, मायावर्ण, महाविद्या, सप्ताशर मन्त्र, प्रणव-शून्य-अनाहतलक्षण; छत्यादि धृति-से मन्त्रों व विद्याओंको विन्दनीय बतलाते हुए उन सबका पृथक्-पृथक् फल भी प्रकट किया गया है। यहाँ सिद्धवक्तके सम्बन्धमें वह विशेष निर्देश किया गया है कि संजयन्त आदि मुनियोंके द्वारा विद्यानुवादसे उद्घृत उस सिद्ध-वक्तका स्मरण करना चाहिए जो भूक्ति ( भोग ) और भूक्तिका स्थान है—उनका कारण है। इस प्रकारसे यहाँ विविध मन्त्रों व विद्याओंका निर्देश करते हुए शुत-समुद्रसे समुद्रमूल अस्य भी मन्त्रोंके व्यानको प्रेरणा की गयी है ( 1910-2032 )।

३६. रूपस्थध्यान—यही ब्रह्मन्त अवस्थाको प्राप्त होकर समस्त अतिशयों व प्रातिशयों आदिसे विभूषित सर्वज्ञ वीतराग जिमका अनेक सार्थक नामोंके द्वारा निर्देश करते हुए उनका स्मरण करनेकी प्रेरणा की गयी है ( 2033-79 )।

३७. रूपातीतध्यान—यही प्रारम्भमें वह निर्देश किया गया है कि जो वीतरागका स्मरण करता है वह वीतराग होकर मुक्तिको प्राप्त कर लेता है तथा इसके विकरीत जो रणी सरागका स्मरण करता है वह क्रूर कर्मीका आश्रय लेकर संसारमें परिघ्रन करता है। यद्यपि मुनिवनोंने विद्यानुवादसे असंख्यात कर्मोंको—भारण, उच्चाटन व वशीकरण आदि विद्याओंको—प्रकट किया है, पर वे केवल कुतूहलके लिए ही प्रकट किये गये हैं, क्योंकि वे कुमारमें जै जानेवाले दुष्कर्ता हैं। इस प्रकारके दुष्यन्तोंको यहाँ आत्म-धारक बसलाकर उनका निर्वेष किया गया है और ऐसे घोषके चिन्तनकी प्रेरणा की गयी है जो जीव और कर्मके सम्बन्धकी नष्ट करनेवाला हो। पूर्वोक्त रूपस्थध्यानमें चित्तके द्विर हो जानेपर फिर योगी रूपस्थध्यानमें तत्त्वर होता है। जिस व्यानमें विद्यानन्दस्वरूप, निर्मल, अमूल व अविनाशी आत्माका स्मरण किया जाता है वह रूपातीतध्यान कहलाता है। विषुद्ध और अविषुद्ध—मुक्त और संसारी—इन दोयों आत्माओंमें स्वाभाविक ज्ञानादि गुणोंकी अवेक्षा समानता है। विशेषता केवल इसी है कि विषुद्ध आत्माके वे गुण प्रकट हो सके हैं, पर अविषुद्ध आत्मामें वे अविषुद्धस्वरूपमें हो विद्यमान हैं—प्रकट नहीं है, उन्हें प्रकट करना है।

इस वस्तुस्वरूपको जिस योगीने समझ किया है वह उस सिद्धस्वरूप परमात्मा के चिन्तनमें लत्पर होता है । मुक्त हो जानेपर जीव जिस स्वरूप व आकारमें स्थित रहता है उसे वही एक-दो उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है ( 2080-2111 ) ।

३८. धर्मध्यानफल—वही मुनिको मनोभिरोधकी प्रेरणा करते हुए यह कहा गया है कि हीम बल-बाले मुमुक्षु जब यथापि विस्तको स्थित करता चाहते हैं, पर उनका वह चित्त विषयेष्ठि व्याकुल होकर स्थित नहीं हो जाता । इसीलिए हीम बलयुक्त प्राणी शुक्लध्यानके अधिकारी नहीं माने गये । उसके स्वामी प्रथम संहननके धारक वे श्लिष्ठ जीव हुआ करते हैं जो शरीरके छेदे-भेदे व जलाये जानेपर भी परम्परकी मृतिके समान अड़िग रहते हैं ।

धर्मध्यानमें उद्यत सम्यग्वृष्टि आदि गुणस्थानवर्ती संयतोंमें जो धारक है उसके उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित क्रमसे कर्मोंका कथ द्वृता है तथा जो उपशमक है उसके उसी क्रमसे उन कर्मोंका उपशम होता है । इस धर्मध्यानकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त, भाव ज्ञायोगशमिक और लेश्या शुचल ही होती है । विषयलूप्त्याका अभाव, नीरोगता, दशालूता, शरीरकी सुगमता, मल-मूत्रकी हीनता, कान्ति, प्रसन्नता और उसम स्वर; ये उक्त ध्यानके चिह्न—अनुसापक हेतु हैं । उस ध्यानका ध्याता अस्त्रमें शरीरको छोड़कर ग्रीवेयकों, अनुत्तर विमानों अथवा सर्वार्थसिद्धिमें देव पर्यायको प्राप्त करता है । वहसे चयुत होकर वह उत्तम ममुष्य भवमें जन्म लेता है व वही अपनी यज्ञितके अनुसार धर्म और शुक्लध्यानका आश्रय लेकर परम पदको प्राप्त कर लेता है ( 2112-39 ) ।

३९. शुक्लध्यानफल—पूर्वोक्त धर्मध्यानका उपर्योग करते हुए वही यह कहा गया है कि जो भक्त जीव अतीन्द्रिय सुखको चाहते हैं वे अपने विस्तको स्थित करके विवेकपूर्वक धर्मध्यानस्वरूप सम्पूर्णमें अद्वाहन करते हुए मुक्तिसुखका अनुभव करें । आगे कहा गया है कि धीर योगी आस्यन्तिकी शुद्धिको प्राप्त करके उस धर्मध्यानका अतिक्रमण करता हुआ शुक्लध्यानको प्राप्तम करता है । शुक्लध्यानके स्वरूपका निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो चित्त क्रियासे रहित, इन्द्रियोंसे बातील और ध्यान-धारणासे विहीन होकर अन्तर्मुख ही जाता है—समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित होकर आस्मस्वरूपमें लीन ही जाता है—उसे शुक्लध्यान जानना चाहिए । प्रथम संहननसे संयुक्त योगी चारों प्रकारके शुक्लध्यानके योग्य होता है । वह ध्याव निर्मलता तथा कषायोंके कथ अथवा उपशम हो जानेके कारण चूंकि वैद्यर्य मणिके समान अतिशय निर्मल व स्थिर होता है; इसीलिए उसे शुक्लध्यान कहा गया है । आगे लक्षणनिर्देशके साथ शुक्लध्यानके स्वामियों व मेदोंको दिखलाते हुए यह कहा गया है कि द्वितीय एवं तीव्रवित्तके शुक्लध्यानके फ्रभावसे आहंस्य अवस्थाके प्राप्त हो जानेपर जब केवलोंकी आयु अन्तर्मुहूर्तमात्र शीष रह जाती है तब वे तृतीय शुक्ल-ध्यानके द्याता होते हैं । जो छह मासकी आयुके शीष रह जानेपर केवलों हुए हैं उनके लिए समुद्रवातका नियम नहीं है—कोई करते हैं और कोई नहीं भी करते हैं । वह समुद्रवात किया लब की जाती है जब कि उनके शीष कर्मोंकी स्थिति आयुसे अधिक होती है । इस प्रक्रियासे लोकपूरण समुद्रधातमें उनके चारों अवाती कर्मोंकी स्थिति समान ही जाती है । तत्पदचातु वे योगीका निरोध करते हुए जब सूक्ष्म काययोगमें स्थित होते हैं तब वे पूर्वोक्त सूक्ष्मक्रिय नामक तृतीय शुक्लध्यानके योग्य होते हैं । इस ध्यानमें उनकी वहसर कर्मप्रकृतियाँ विलीन हो जाती हैं । उसी समय अयोग केवलीके समुचितक्रिय नामका बीधा शुक्लध्यान प्रकट होता है । उसमें उनकी शीष तेरह कर्मप्रकृतियाँ भी अप्तिम समयमें विनष्ट हो जाती हैं । उन अयोग केवली पौष्टि हस्य वक्षरोंके उच्चवारणकाल तक हित रहकर सत्पदचातु ध्यावादिक लब्धिगतिसे यमन करते हुए लोकशिक्षरपर जा विराजते हैं । तब वे वही निर्बाध शाश्वतिक सुखके उपमोक्ष को जाती हैं ।

अन्तमें अन्यकार कहते हैं कि इस प्रकारसे मैंने कुछ उत्तम वर्षोंके द्वारा संक्षेपमें ध्यानके फलको कहा है। पूर्ण रूपसे यदि कोई उसके कथनमें समर्थ है तो वे बीर प्रभु ही हैं। मैंने जितामसे कुछ सारस्वतमें उद्धृत करके अपने दुश्मित्रवक्तके अनुसार इस ध्यानशास्त्रकी रचना की है। जो चित्तमें ज्ञानार्थिके माहात्म्यका देखन करता है वह दुस्तर भवार्थिको पार हो जाता है ( 2140-2230 ) ।

## ७२. कर्मप्रकृतियोंका कथ ?

प्रकृतमें इलोक 2195 के द्वारा जो यह कहा गया है कि सूक्ष्मक्रिय ध्यानमें देवदेव ( समोग केवली ) के ७२ कर्मप्रकृतियों विलीन हो जाती है वह पूर्व आमग्रन्थोंसे—जैसे सवर्णिसिद्धि, तत्त्वार्थवासिक, षट्खण्डागमकी घबला टीका और आदिपुराण आदिसे—मेल नहीं खाता । कारण यह कि इन सभी ग्रन्थोंमें ७२ कर्मप्रकृतियोंका अध्ययन फेवलीके द्वितीय समयमें निर्दिष्ट किया गया है । सूक्ष्मक्रियोगस्थ समोगकेवलीके सूक्ष्मक्रिय ध्यानमें उनके कर्मप्रकृतियोंका कथ होता है, ऐसा अन्यत्र किसी ग्रन्थमें देखनेमें नहीं आया ।

प्रस्तुत संकरण पाठण (P) प्रतिको आदर्श मानकर उसके आवारणसे लेयार किया गया है। तदनुसार प्रकृत इलोकका पाठ इस प्रकार रहा है— × × × प्रकृतयस्तदा । अस्मिन् सूक्ष्मक्रिये ध्याने देवदेवस्थ कुञ्जेवाः ॥ इस प्रतिको छोड़कर क्षेष सभी ग्रन्थोंमें उसके स्थानपर यह पाठ रहा है— × × × प्रकृतयो ब्रुतम् । उपान्थ्ये देवदेवस्थ मुक्तिश्चीप्रतिबन्धकाः ॥ इस पाठके अनुसार भी पूर्वोक्त विरोध तद्वस्थ रहता है ।

यह अवधय है कि इस पाठके अनुसार यदि वह इलोक (2195) इलोक 2196 के बाद रहा होता तो उसमें निर्दिष्ट अयोगकेवलीका प्रसंग पाकर उसका अभिप्राय यह ही सकता था कि अयोगकेवलीके उपान्थ्य (द्वितीय) समयमें उहत्तर कर्मप्रकृतियोंविलयको प्राप्त होती है । इस अवस्थानमें भी आगेके इलोक 2196 में उपयुक्त 'तस्मिन्नेव क्षणे' अर्थात् 'तृतीय शुक्लध्यानके ही समयमें' यह विवारणीय ही बना रहता है ।

यह समस्या सम्भवतः पूर्व, आशाधरके सामने भी रही है । यही कारण है ओ उन्होंने भगवती आराधनाके अन्तर्गत गा. १८८७ की टीकामें 'उक्तं च ज्ञानार्थके विस्तरेण' कहकर क्रमसे 2186-87, 2189-91 और 2193-94 इन सात इलोकोंको उद्धृत किया है, पर आगेके विवादापन्न उन्हें २१९६वें इलोकसे छोड़ दिया है । स्मरण रहे कि पूर्व, आशाधरने कर्मध्यानके प्रसंगमें 'स पूर्वं संक्षेपेण धर्मात्मानसेद्विर्णयो विस्तरस्तकार्थोऽप्यर्थं यथा' यह कहते हुए गा. १७०८ की टीकामें आदिपुराणके अन्तर्गत २१वें पर्वके १३४-१४ इलोकोंको पश्चात्क्रमसे उद्धृत किया है । इसके पूर्व आर्त और रौद्रध्यानके प्रसंगको भी उन्होंने आदिपुराणसे उद्धृत किया है ।

ग. शुभचन्द्रने भी कातिकेयानुप्रेक्षा पा. ४८७ की टीकामें उपर्युक्त प्रसंगसे सम्बद्ध ज्ञानार्थके २२०१, २१९५-९७ और २२०२ इन पाँच इलोकोंको उद्धृत किया है, पर वे ज्ञानार्थवमें निर्दिष्ट क्रमके अनुसार उनके द्वारा वहाँ उद्धृत नहीं किये गये । उन्होंने वहाँ किस क्रमको अपनाया है उसे शायद पूर्वोक्त आगम-

१. देखिए सवर्णिसिद्धि १००-२; त. वा. १०, २, ३; घबला पृ. ६, पृ. ४१७; आ. पृ. २१, १९४-१८; कातिकेयानुप्रेक्षा टीका ४८७, पृ. ३८६ (विशेष इतना है कि घबलामें इन ७२ प्रकृतियोंके साथ सुख्य-भृतिशायीध्याननुपूर्वीको लेकर ७३ प्रकृतियोंका कथ शीलेशी (अयोगकेवली) कालके द्वितीय समयमें और उस सनुष्यगतिप्रायोध्याननुपूर्वकि विना १२ प्रकृतियोंका कथ उन्हें शीलेशीकालके अन्तिम समयमें निर्दिष्ट किया गया है) ।

२. बीषमें जिनाज्ञाकी विशेषताको दिखलानेवाले केवल २१, १३६-१३ इन ४ इलोकोंकी छोड़ा गया है ।

परम्पराके विरोधके द्वालनेकी दृष्टिसे अपनाया है। यह भी समझ है कि उनके सामने ज्ञानार्थको शायद ऐसी ही कोई प्रति रखी हो जिसमें उसी क्रमसे वे श्लोक अवश्यित हों। श्लोक 2195 को उद्धृत करते समय उनके सामने पाठण प्रतिनीसा पाठ नहीं रहा, अलिंग अथव प्रतिनीका ही पाठ रहा है।

### ३. ज्ञानार्थकी अन्य ग्रन्थोंसे तुलना

१. ज्ञानार्थ व समाधितन्त्र—आचार्य पूज्यपाद विरचित समाधितन्त्र एक अच्छात्मप्रथान् ग्रन्थ है। इसमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन जीवभेदोंका निर्देश करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि बहिरात्मा जीव वाहु इन्द्रियोंके आधयसे शरीरको ही वात्मा समझता है व उन दोनोंसे भेद नहीं करता। अब उक्त शरीरमें आत्मबुद्धि बनी रहती है तबतक जीवके साथ शरीरका सम्बन्ध भी बना रहता है—उसकी परम्परा चलती रहती है। मुक्तिकी प्राप्ति शरीर व आत्मामें भेदविकाससे होती है। उस भेदविकाससे जीव अन्तरात्मा होकर स्वयं परमात्मा बन जाता है। तथ उस अवस्थामें उपास्य और उपासकका भी भेद नहीं रहता।

प्रस्तुत ज्ञानार्थमें जो 'शूद्रोपदेशविचार' नामक २९वाँ प्रकरण है उसमें उपर्युक्त समाधितन्त्रगत अभिप्रायको आत्मसात् किया गया है। दोनों ग्रन्थोंका एक छाए अच्छयन करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानार्थकारने यथाक्रमसे समाधितन्त्रका पश्चानुवाद ही किया है। उदाहरणके रूपमें दोनों ग्रन्थोंके इन श्लोकोंको देखिए—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मकीस्ततः ।  
स्यष्टकैनां प्रविष्टेवत्तुर्द्विरव्यासतेन्द्रियः ॥  
मत्सप्त्युत्तेन्द्रियद्वारैः परितो विषयेऽवहम् ।  
तान् प्रपश्याहृश्चिति यो भावः स स्वाद् जीवे भवस्थितेः ॥—समाधितन्त्र १५-१६  
सनातात्मेति यो भावः स स्वाद् जीवे भवस्थितेः ।  
अहिर्वितात्मविष्टोपस्तर्यक्त्वात्मविषेत्तदा ॥  
अक्षद्वारैर्भिलित्वा मन्त्रिमन्त्रो गोचरेऽवहम् ।  
तानात्मात्माहमित्येतम् हि सम्यग्वेदिष्वम् ॥—ज्ञानार्थ 1534-35

यह क्रम आगे बढ़ावर चलता रहा है।

शूद्रोपदेश—उक्त आ, पूज्यपाद विरचित शूद्रोपदेशका २५वाँ श्लोक प्रस्तुत ज्ञानार्थमें 'उक्तं च' के साथ उद्धृत किया गया है। उसकी संख्या यही 1510 है।

२. ज्ञानार्थ व तत्त्वार्थवार्तिक—भट्टाकलकदेव विरचित तत्त्वार्थवार्तिकके पृ. १४ पर 'हत्स शानं किया-शून्यं' आदि एक श्लोक उद्धृत किया गया है। यह श्लोक प्रस्तुत ज्ञानार्थमें भी 315 संख्याके अन्तर्गत 'उक्तं च' के साथ उद्धृत किया गया है। प्रकृत श्लोक किस ग्रन्थका है, जात नहीं होता। समझ है ज्ञानार्थकारने उसे तत्त्वार्थवार्तिकपरसे ही यही उद्धृत किया हो।

ज्ञानार्थमें घर्भव्यानके स्वामीका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि उसका स्वामी यथायोग्य मुख्य रूपसे अप्रमत्ता और उपचारसे प्रमत्त होता है। सम्पूर्ण लक्षणवाला उसका उद्याता वही अप्रमत्त होता है जो उसमें संख्यानसे सहित, वज्रकाय—वज्रार्थमनाराच आदि तीन प्रशास्त संहननवाला, जितेन्द्रिय, स्थिर, पूर्वशुलक ज्ञाता और यथासम्भव मिथ्यात्व आदि रूप आसनका निरीक्षक हो। आगे कहा गया है कि कुछ आचार्योंके द्वारा यथायोग्य हेतुसे उस घर्भव्यानके सम्बद्धिसे अप्रमत्त पर्यन्त बार स्वामी माने गये हैं ( 1326-29 )। यही श्लोकमें उपर्युक्त 'कीरितत्' पदसे सम्बन्धतः तत्त्वार्थवार्तिककारका ही अभिप्राय रहा है। यद्यपि

सबरिंसिद्धिके रचयिता आ. पूज्यपादके द्वारा भी उक्त घट्यव्यापानके बारे में चार स्वामी निर्दिष्ट किये गये हैं<sup>१</sup>, पर सत्यार्थवादिकमें जो इस विषयमें दर्शका-समाधान किया गया है<sup>२</sup> उसमें ज्ञानार्थवकारके द्वारा जो उक्त प्रकारसे संकेत किया गया है वह दर्शका-र्थवकारकी लोक ही किया गया दिखता है।

३. ज्ञानार्थव व आदिपुराण—आदिपुराणके २१वें पर्वमें ध्यानका काफी विस्तारसे वर्णन किया गया है। ज्ञानार्थवके कर्ता आ. हुमचन्द्रके समक्ष यह आदिपुराणका ध्यानप्रकारण रहा है व उन्होंने उसको प्रस्तुत ज्ञानार्थवकी रचनामें कुछ आधार भी बनाया है। आदिपुराणमें आ. जिनसेनके द्वारा व्यापक स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद, स्वामी, काल, लेश्या, भाव और फल आदि जिन विषयोंकी चर्चा की गयी है वे प्रायः सभी विषय ज्ञानार्थवमें भी चर्चित हैं। विशेष इतना है कि आदिपुराणमें जहाँ उस ध्यानकी प्ररूपण क्रमबद्ध व अवश्यित रूपमें की गयी है वही प्रस्तुत ज्ञानार्थवमें उसके निरूपणका अवश्यित क्रम नहीं रहा है, बीच-बीचमें अन्यान्य विषयोंकी चर्चाएँ क्रमबद्ध हुआ हैं व विषय विक्षर गया है। एनहकि भी वहाँ अधिक हुई है।

प्रस्तुत ज्ञानार्थवमें शब्द व वर्द्धकी अपेक्षा तो आदिपुराणसे समाचार है ही यहाँ आदिपुराणके कुछ इलोक भी 'उक्तं च' के साथ व विना संकेतके भी ग्रहण कर लिये गये हैं। यथा—

पृथक्त्वं विद्वि नामात्मं वितर्कः श्रुतमुच्यते ।

अर्थ-वद्वान्-योगानां वीचारः संकल्पो मतः ॥

वियोगः पूर्वाधिद् प्रस्ताव् ध्यायेनाम्भुनीश्वरः ।

सवितर्कं सवीचारमतः स्याच्छुक्लमादिमम् ॥

ये दो इलोक आदिपुराणके हैं ( २१-१७२ व २१-१७४ ), जो ज्ञानार्थवमें विना विसी संकेतके साधारण शब्दभेदके साथ आत्मरात् किये गये हैं। उनकी संख्या यहाँ क्रमसे २१५५ व २१६६ है।

आदिपुराणके इलोक २१, १७६-१७७ व १८२ को यहाँ 'उक्तं च' के साथ चढ़ायते किया गया है। उनकी संख्या यहाँ क्रमसे २१६२, २१६३ और २१६४ है।

ज्ञानार्थवमें आखनके प्रसंगमें यह कहा गया है कि कालदीपसे प्राणियोंके वीर्यकी विकलता होनेके कारण कुछ आचार्योंने कायोत्सर्ग और पर्यक्त इन दो आसनोंको ही प्रशस्त बतलाया है ( १३१३ )। यहाँ 'कुछ आचार्यों' से उनका संकेत जिनसेनाचार्यकी ओर रहा है, क्योंकि उन्होंने ही इन दो आसनोंको प्रशस्त बतलाया है। यथा—

विसंस्थुलासनस्थय ध्रुवं नात्रस्य निर्यहः ।

तज्जिप्तद्वाम्बनःपीडा तत्त्वं विमनसकाता ॥

वैमनस्ये च कि ध्यायेत् तस्मादिङ् सुखासनम् ।

कायोत्सर्गश्च पर्वक्लृस्ततीज्यद् विषयासनम् ॥—आ. पु. २१, ७०-७१ ।

आदिपुराणके कुछ ऐसे भी इलोक यहाँ उपलब्ध होते हैं जिनमें कुछ ही शब्द परिवर्तित हैं। यथा—

वज्रकाया भूतापरवा सविस्थान्त दशिताः ।

श्रूयन्ते ध्यानयोगेन संप्राप्ताः पदभव्ययम् ॥—आ. पु. २१-७२ ।

१. सदविरतन्वेशविरत-प्रमस्तप्रमत्तसंयतानां भवति । स. सि. ९-३६ ।

२. त. वा. ९, ३६, १३-१५ ।

३. ज्ञानार्थवके कलनि आ. जिनसेनको महत्व देते हुए उनके वैविद्यवन्दित वचनोंकी योग्यियोंके आत्मजित्त्वमें स्थिरताका कारण बतलाया है ( देखिए इलोक १-१६ ) ।

वेदाकाया महासत्त्वा निष्क्रम्या सुस्थिरासनः ।

सर्वविश्वासद्वलं इत्यत्वा गताः प्राप्तयोगिनः शिष्यम् ॥—शास्त्रा, 1314 ।

इस समानताके अतिरिक्त आदिपुराणकी अपेक्षा ज्ञानार्थकमें यह विषेषता देखी जाती है कि आदिपुराणकारने जहाँ विव, वशव और काम इन तीन तत्त्वोंकी उपेक्षा की है वहाँ ज्ञानार्थकमें उनका गत्यरूपमें ( अमुमेवायं संप्रति गर्वविश्वासयामः । तत्त्वाऽप्यु ३५२-६८ ) विवेचन करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि उक्त तीनों तत्त्व अणिमा-महिमा वादि गुणरत्नोंके समुद्रस्वरूप बातमासे भिन्न नहीं हैं, किन्तु अपने स्वाभाविक अनन्त ज्ञान-सुखादिसे सम्बन्ध आएंगा ही स्वयं परमात्मा ( शिव ), वहड़ और काम है ( 1059-60 ) ।

इसी प्रकार ज्ञानार्थकमें प्राणायाम व उसके प्रसंगमें आयुके संबाद आदिसे सूचित जीवन-परण, लाभ-अलाभ, जय-पराजय एवं पुत्र-पुत्रीके अन्य जातिकी चर्चा काफी विस्तारसे की गयी है । पर आदिपुराणकारने जैसे महत्व नहीं दिया है । इस प्रसंगको उठाते हुए वहाँ अपनी स्वतन्त्र दृष्टिसे शोष, समाधि, सृति, प्राणायाम, धारणा, व्यायाम और अनुव्याम इनके स्वरूपको प्रकट किया गया है ( २१, २१७-२० ) । इसके पूर्व वहाँ लोकप्रसिद्ध प्राणायामको इत्यामें व्याधक बतलाते हुए यह कहा गया है कि अतिशय तीव्र प्राणायाममें व्याधताको प्राप्त हुआ इत्याताका भन व्याकुल हो उठता है, जिसके कारण समाधिके भंग हो जानेसे इत्यामें सम्भावना नहीं रहती<sup>१</sup> । ही, यह अवश्य है कि समाधिकी सिद्धिके लिए मन्त्र उच्छ्वास व निषेधादिका निषेध नहीं है ( २१, ६५-६६ ) ।

ज्ञानार्थकमें संस्थानविचय वर्मध्यात्मकी प्रलूपणके पश्चात् पिठ्ठस्थ ( 1877-1909 ), पद्धस्थ ( 1910-2032 ), रूपस्थ ( 2033-79 ) और रूपातीत ( 2080-2111 ) इन चार इत्यामोंका निरूपण किया गया है । पर आदिपुराणमें इन इत्यामोंका कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया । इन चारोंके नाम मात्रका निर्देश योगीन्द्रु विरचित योगसारमें अवश्य किया गया है<sup>२</sup> ।

१. ज्ञानार्थक व तत्त्वानुशासन—जा. रामसेन विरचित तत्त्वानुशासनमें हेय और उपादेय इन दो तत्त्वोंको स्पष्ट करते हुए प्रमुखतासे इत्यात्मका वर्णन किया गया है । इसीसे उसकी प्रसिद्धि इत्यानशास्त्रके रूपमें भी रही है । आर्त, रीढ़, धर्म और शुक्लके भेदसे इत्यात्मका है । इनमेंसे दुष्ट्यनिस्वरूप आर्त व रीढ़को तत्त्वानुशासनमें हेय बतलाते हुए धर्म और शुक्ल इन दो समीचीन इत्यामोंको मुसुक्षुओंके लिए उपादेय कहा गया है ( ३४ ) । साथ ही वहाँ यह भी निर्देश कर दिया गया है कि इस कालमें शुक्लित्यानके शोषण सामग्री—वज्रघर्षभनाराचसंहनन व पूर्वश्रुत आदि—के सम्भव न होनेसे वर्तमान जीव उसके इत्यामें असमर्थ है । इसीसे उन्हें लक्ष्य करके यहाँ वर्मध्यात्मका निरूपण किया जाता है ( ३५-३६ ) । यह कहते हुए वहाँ इन आठ योगांगोंके आध्ययसे विशेष रूपमें वर्मध्यात्मका ही वर्णन किया गया है—इत्यात्मा, इत्यात्म, फल, व्येष, स्वामी, देश, काल और विषि ( ३७ ) । यहाँ न आर्त-रीढ़ इन दुष्ट्यनिर्मोंका वर्णन किया गया है और न शुक्लित्यामका भी । यहाँ ऐहिक फलवाले आर्त और रीढ़को परित्याज्य तथा धर्म और शुक्लको आराधनाके शोषण बतलाते हुए शुक्लित्यामके स्वरूप मात्रका निर्देश किया गया है ( २२०-२२ ) ।

१. यह अभिप्राय अन्ततः ज्ञानार्थकमें भी प्रकट कर दिया गया है ( 1459-66 ) ।

२. जी पिठ्ठस्थ पयत्थु लुह रूपत्थु वि जिषउत्तु ॥९७

परमात्मप्रकाशकी प्रस्तावना ( प. ६७ ) में स्व. डॉ. उपाध्येयजीने योगीन्द्रुका समय छठी शताब्दी निर्धारित किया है ।

प्रस्तुत ज्ञानार्थिकी रचनाके समय अन्यकारके समझ यह तत्त्वानुशासन रहा है व उन्होंने उसकी रचनामें इसका पथायोग भी किया है। विषयविवेचन आदिकी विषया इन दोनों प्रच्छोंमें कहीं कितनी समाजता रही है, इसका कुछ विचार यहीं किया जाता है—

१. तत्त्वानुशासनमें ध्यातके स्वरूपका विचार करते हुए यह कहा गया है कि तत्त्वार्थ ( तत्त्वार्थवातिक ) में अप्रभाव, प्रसरा, सम्परदृष्टि और देशर्सयत ये चार धर्मध्यानके स्वामी भाने गये हैं। धर्मध्यान मुख्य और उपचारके भेदसे दो प्रकारका है। इनमें अप्रभावोंके बहु मुख्य होता है और इतरों—श्रीष लीन—के बहु औपचारिक होता है ( ४३-४७ ) ।

ज्ञानार्थिमें भी ध्याता और ध्यानके योग्य स्थानका विचार करते हुए उस प्रसंगमें यह कहा गया है कि धर्मध्यानके स्वामी मृस्य व उपचारके भेदसे अनुसार और प्रभाव ये दो भाने गये हैं। आगे यहीं किन्होंने आचार्योंके मतानुसार उस धर्मध्यानके स्वामी सम्परदृष्टि आदि उपर्युक्त चार गुणस्थानवर्ती भी बतलाये गये हैं ( 1326 व 1329 ) । इस प्रकार तत्त्वानुशासनमें जहाँ एष्ट रूपमें 'तत्त्वार्थ' का उल्लेख किया गया है वही प्रस्तुत ज्ञानार्थिमें उसका संकेत 'कैश्चित्' पदके द्वारा अस्पष्ट रूपसे किया गया है ।

२. इसी प्रसंगमें तत्त्वानुशासनमें द्रव्य-क्लेशादि रूप सामग्रीके अनुसार ध्याता और उसके ध्यानके लीन-लीन भेदोंका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि आगममें विकल धूतसे भी भजवी स्थिरताके होनेपर उस धर्मध्यानका ध्याता सुना गया है ।

ज्ञानार्थिमें भी यहीं कहा गया है कि सूक्त ( आगम ) में श्रेणिके नीचे विकल धूतसे भी प्रबुद्धास्मा धर्मध्यानका स्वामी सुना गया है। दोनों प्रच्छोंके कुछ एलोकोंका शब्दसाम्य भी दर्शनीय है—यथा तत्त्वानु-४८, ५० संवा ज्ञाना, 1330, 1328 ।

३. तत्त्वानुशासनमें प्रकारान्तरसे द्रव्य ध्येयका निर्देश करते हुए पिण्डस्थ ध्येयका उल्लेख किया गया है व उसके स्वरूपको दिखलाते हुए यह कहा गया है कि यतः ध्याता के पिण्ड ( वेह ) में स्थित ही ध्येयका ध्यान किया जाता है, अतः कुछ आचार्य उसे पिण्डस्थ ध्येय कहते हैं ( १३४ ) ।

ज्ञानार्थिमें ध्यानके पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपालीत इन चार भेदोंका निर्देश करते हुए पिण्डस्थ ध्यानमें पार्थिवी, आग्नेयी, दूसरा ( मारुती ), बाह्यी और तत्त्वरूपवदती इन पाँच धारणाओंको ज्ञातव्य कहा गया है। इनमेंसे दूसरी आग्नेयी धारणामें ध्याता नाभिमण्डलमें सोलह पत्तोंवाले ऐसे कमलका स्मरण करता है, जिसके प्रत्येक पत्रपर क्रमसे ज्ञानावरणादि आठ कर्म अवस्थित हैं। वह पूर्वोक्त महामन्त्रकी रेफसे निकलती हुई जनालाभोंसे व्याप उस अरिनका स्मरण करता है जिसमें दूसरे हृदयस्थ कमलको भस्त्रसात् कर दिया है। इस प्रकारसे जो इसमें ध्येयका चिन्तन किया जाता है वह ध्याता के शरीरसे ही सम्बद्ध है ( 1886-95 ) । इस प्रकार तत्त्वानु-शासनमें पिण्डस्थ ध्येयके विषयमें जो मतान्तरका निर्देश किया गया है उससे यह संकेत मिलता है कि तत्त्वानुशासनकारके समक्ष इन पिण्डस्थ आदि ध्यानोंका कहीं कुछ उल्लेख अवश्य रहा है। और यह सम्भव है कि आ. शुभमन्त्रने ऐसे उल्लेखोंका आश्रय लेकर अपने इस ज्ञानार्थिमें उन्हें कुछ विशेष विकलित किया हो ।

तत्त्वानुशासनमें ही आगे जलकर ज्ञानार्थिमें निर्दिष्ट पार्थिवी आदि पाँच धारणाओंमें पिण्डसिद्धि

१. त. वा. ९, ३६, १३-१५ ।

२. सामग्रीके अनुसार आदिपुराणमें भी ध्यानकी विशेषता प्रकट की गयी है ( २१-१०३ ) ।

और निर्मलीकरणके लिए मारुती, तैजसी और आप्या ( बारुणी ) इन तीन धारणाओंका निर्देश करते हुए कुछ स्वरूप भी प्रकट किया गया है ( १८३-८७ ) । आगे पुनः वही कहा गया है कि पास्त्रनाथके ध्यानसे पाइवनाथ हुआ भग्नी—भग्नशशस्त्रका ज्ञाता योगी—शरीरकी सकलीकरण क्रियाको करता हुआ भग्नमुद्रा, भग्नमन्त्र एवं भग्नमण्डलका आधार लेता है<sup>१</sup> तथा तैजसी आदि ( मारुती व आप्या ) धारणाओंको धारण करता है । इस प्रकारसे वह शीघ्र ही उद्घ ग्रहोंके निप्रह आविको करता है ( २०१-२ ) ।

इस परिचयतिमें ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानार्थिकारने सम्भवतः तत्त्वानुशासनमें उपर्युक्त धारणाओं-मा संकेत पाकर अपने ज्ञानार्थिमें उन्हें कुछ स्पष्ट क विस्तृत किया है ।

४. तत्त्वानुशासनमें यह निर्देश किया गया है कि जो ध्याता गुरुके उपदेशसे निरत्तर ध्यानका अभ्यास करता है वह धारणाके बलसे ध्यान-प्रत्ययोंको देखता है ( ८७ ) । आगे पुनः इस प्रसंगमें वह कहा गया है कि समाधिका आधार लेनेवाला ध्याता जैसे-जैसे समाधिमें स्थितिको प्राप्त करता जावेगा जैसे-जैसे उसके समाधि-प्रत्यय प्रकट होते जायेंगे ( १७९ ) ।

ज्ञानार्थिमें इन ध्यान-प्रत्ययोंका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि नेत्रयुग्म व कर्णयुग्म आदि कुछ नियत स्थानोंमें भूमिके विश्वास्त होनेपर लक्ष्यको विस्तृत करनेवाले भूमिके स्वात्मसंबेदन-से बहुत-से ध्यान प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ( १६८-६९ ) ।

इस प्रकार वहीं जो भूमिकी स्थिरता अथवा स्वात्मस्थितिसे उत्पन्न होनेवाले ध्यान-प्रत्ययोंका निर्देश किया गया है वह निश्चित ही तत्त्वानुशासनके उपर्युक्त कथमसे प्रभावित विस्तृता है ।

५. तत्त्वानुशासनमें कहा गया है कि यह जो अन्यसे विभक्त आत्माका अवलोकन है वह अर्थ और शुक्ल इन दोनों ही ध्यानोंका समान ध्येय है, उन दोनोंमें जो कुछ भेद है वह विशुद्धि और स्वामीके भेदसे है—ध्येयकी अपेक्षा कोई भेद नहीं है ( १८० ) ।

ज्ञानार्थिमें भी लगभग इसी अभिप्रायको प्रकट करते हुए कहा गया है कि विशुद्ध आत्मदर्शनरूप इस प्रकारका ध्येय अर्थ और शुक्ल इन दोनोंमें साधारण है । सूत्रमें जो इन दोनों ध्यानोंमें भेद कहा गया है वह विशुद्धि और स्वामीके भेदसे कहा गया है<sup>२</sup> ( १६१६ ) ।

६. तत्त्वानुशासनमें कहा गया है कि आत्मज्ञ आत्मा जिस भावसे जिस रूपमें आत्माका ध्यान करता है वह उसी स्वरूपताकी प्राप्त हो जाता है । जैसे—स्फटिक मणिके सामने काला अथवा लाल आदि जैसा भी पदार्थ आता है वह उस रूपमें परिणत हो जाता है ।

ज्ञानार्थिमें भी उक्त अभिप्रायको ध्यक्त करते हुए उसकी एष्ट्रिमें ‘उक्तं च’ कहकर जिस इलोक ( २०७६ ) को उद्घृत किया है वह कुछ शब्दभेदके साथ तत्त्वानुशासन और आ. अमितयति प्रथम विरचित थोगसारमें इस प्रकार उपलब्ध होता है—

येन भावेन यदूर्धपे ध्यायथयात्मानमात्मवित् ।

तेन तन्मयतां धाति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥—तत्त्वानु. १९१

१. मन्त्र, मण्डल और मुद्रा इनका निर्देश ज्ञानार्थिमें इलोक 1933 और 2001 द्वारा किया गया है ।

२. यह इलोक आदिपुराण ( २१-२३१ ), तत्त्वानुशासन ( १८० ) और ज्ञानार्थि ( १६१६ ) में कुछ शब्द-वरिवर्तनके साथ समान रूपसे उपलब्ध होता है । ज्ञानार्थिमें ‘विशुद्धिः स्वामिभेदेन’ पाठ P प्राप्तिके आधारसे लिया गया है, जबकि अन्य प्राप्तियोंमें ‘विशुद्धि-स्वामिभेदेन’ ही पाठ है ।

यैन येनैव भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।  
तन्मयस्तत्र सत्रापि किंतर्को मणिर्यथा ॥—देवगतारशास्त्र ३-३३

ये इलोक भी परमात्मप्रकाशमत् निम्न दोहाँके लाभाभुकाद्यैसे हैं—

जेण सर्वांि ज्ञाइयइ अप्या एहु अणेतु ।  
तेण सर्वांि परिणवह जह फलिहउ भणिष्टु ॥ २-१७३

७. तत्त्वानुशासनमें भावध्येयके प्रसंगमें यह कहा गया है कि जब ध्यानके बलसे अपने वरीरको दूष्य करके अपेयस्वरूपमें प्रविष्ट होनेसे स्वर्यं उस रूप हो जाता है तब वही उस प्रकारके व्यासके संवेदनसे रहित होता हुआ परमात्मा (शिव), गरुड़ और कामस्वरूप हो जाता है (१३५-३६) ।

ज्ञानार्थिमें लगभग इसी अभिप्रायको व्यक्त करते हुए यह कहा गया है कि विषुद्ध ध्यानसे कर्मको नष्ट कर देनेवाला यह आत्मा स्वयं परमात्मा है । ध्यानसे गुणोंका समुदाय प्रकट होता है तथा अनादि कर्मसमुदाय अवस्तु होता है । तब उसे शिव, गरुड़ और काम कहा जाता है । यह कहते हुए आगे कहा 'उक्तं च' कहकर एक इलोकको उद्घृत किया गया है, जिसमें उपर्युक्त अभिप्रायको पृष्ठ करते हुए कहा गया है कि आत्मान्तिक स्वभावभूत अनन्त शान व मुख्ये युक्त आत्मा परमात्मा, गरुड़ और काम है । आत्माकी नहिमा अविस्त्र है (1057-60) ।

८. पूर्वोक्त दो इलोकोंके अनन्तर तत्त्वानुशासनमें कहा गया है कि यह जो समरसीभाव है— व्येयरूपता है—उसे ध्याता और व्येयका एकीकरण कहा गया है ।

ज्ञानार्थिमें इसे यों कहा गया है कि जिस समरसता ( तामयता ) में आत्मा अभेद रूपसे परमात्मामें लीन होता है उसे आत्मा और परमात्माका एकीकरण माना गया है ।

वीरों ग्रन्थोंके बीच इलोक ये हैं—

सोऽर्थं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम् ।

एतदेव समाधिः स्याल्लोकद्वयपलप्रदः ॥—तत्त्वानु. १३७

सोऽर्थं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम् ॥

अपृथक्स्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥—ज्ञाना. 1508

९. तत्त्वानुशासनमें इलोक २१८ के द्वारा ध्यानके वे चार प्रमुख हेतु निर्दिष्ट किये गये हैं—गुरुपदेश, अद्वान, सदा अभ्यास और शिवर मन ।

यह इलोक ज्ञानार्थिमें 'उथान्त्यैरयुक्तम्' इस संकेतके साथ पाया जाता है ( 2072 ) । पर वह उसकी दो प्रतियोगी ( M. और N. ) ही मिलता है, थोष प्रतियोगी नहीं मिलता ।

१०. तत्त्वानुशासनका "शुचिगुणयोगाभ्युक्तः" इत्यादिलोक ( २२२ ) ज्ञानार्थिमें 'उक्तं च'के निर्देशपूर्वक 'निष्क्रियं करणातीत' इत्यादि इलोकके साथ उपलब्ध होता है ( 2145 ) ।

५. ज्ञानार्थिव व पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—अमृतचन्द्र सूरि विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें निम्न इलोकके द्वारा अन्यन्तर परिग्रहके १४ भेद गिनाये गये हैं—

मिथ्यात्म-वेद-रामात्मर्यव हास्यादयश्च वड्दोषाः ।

वस्त्वारश्च कथायाइस्तुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥ ११६॥

यह इलोक ज्ञानार्थिमें 'उक्तं च' कहकर ४२५ संख्याके अन्तर्गत उद्घृत किया गया है ।

६. ज्ञानार्थिः व उपासकाध्ययनः—उपासकाध्ययन सोमदेव सूरि विरचित यज्ञस्तिलक चमूका एक अंधा है। इसमें आवकके आवारका विस्तारसे निरूपण किया गया है। प्रसंगवष यहाँ अनेक मत्त-मत्तामुखीको समीक्षा भी की गयी है। इस प्रसंगमें वहाँ ये दो इलोक कहे गये हैं—

ज्ञानहीने क्रिया पूर्सि परं भारभते फलम् ।

तरोश्छायेव कि लभ्या फलश्चोर्नहृदौष्टिभिः ॥२१॥

ज्ञाने पञ्जौ क्रिया चाम्हे निःश्रद्धे तार्थकृद्दृढ्यम् ।

सतो ज्ञान-क्रिया-अद्वात्रयं तत्पदकारणम् ॥२२॥

ये दोनों इलोक प्रस्तुत ज्ञानार्थिमें 'उक्तं च' इस निर्देशके साथ क्रमसे 313 व 314 संख्याके अन्तर्गत उद्घृत किये गये हैं। यहाँ जो उनमें थोड़ा-सा पाठमें दिखता है वह पाठण प्रतिके आधारसे है, अन्य प्रतियोंके आधारसे वह भी नहीं है।

इसी उपासकाध्ययनमें आगे सम्यग्दर्शनके पवीस दोनोंका निर्देश करते हुए यह कहा गया है—

मूरुक्यं मद्राश्चाद्यौ सथानायतनानि षट् ।

अष्टौ शाङ्कादयश्चेति द्युदोषाः पञ्चविंशतिः ॥२४८॥

यह इलोक ज्ञानार्थिमें 'उक्तं च' कहकर 375 संख्याके अन्तर्गत उद्घृत किया गया है।

उपासकाध्ययन ( ७१९ ) में मनको स्थिर करनेके लिए शरीरगत इन व्यानस्थानोंका निर्देश किया गया है—नाभि, चित्त, नासिकाका अप्रभाव, नेत्र, मस्तक और शिर।

ज्ञानार्थिमें प्रथमतः ( 1467 ) मिश्वल मनको ललाटदेश ( मस्तक ) में लीन करनेकी प्रेरणा की गयी है। तत्पश्चात् 'अथवा' कहते हुए आगे जिन अन्य व्यानस्थानोंका निर्देश किया गया है ( 1468 ) उनमें पूर्वोक्त उपासकाध्ययनमें निर्दिष्ट वे सभी स्थान गम्भित हैं। उनके अतिरिक्त यहाँ श्ववणयुगल, मुख और भ्रुकुटीयुगल ये व्यानस्थान अधिक कहे गये हैं। उपासकाध्ययनमें निर्दिष्ट 'चित्त' से हृदयका प्रदृष्ट समझना चाहिए।

७. ज्ञानार्थिः व योगसारप्राभूत—जैसा कि पूर्वमें निर्देश किया जा चुका है, आ. अभित्तगति प्रथम विरचित योगसारप्राभूतका 'येन धेनैव मायेन' इत्यादि इलोक ( १-५१ ) ज्ञानार्थिमें 'उक्तं च'के साथ 2076 संख्याके अन्तर्गत उद्घृत किया गया है। यद्यपि यह इलोक तत्त्वानुशासनमें ( १३१ ) भी पाया जाता है, पर ज्ञानार्थिमें वह जिस स्वरूपमें उद्घृत है वह उसका स्वरूप योगसारप्राभूतसे अधिक सम्बद्ध है, क्योंकि योगसारप्राभूतकी तुलनामें दोनोंके तृतीय चरणमें ही भेद हुआ है, जबकि तत्त्वानुशासनकी तुलनामें एक तृतीय चरण ही समान है, शेष तीन चरणोंमें भिन्नता है।

८. ज्ञानार्थिः व अमितगति-आवकाचार—आचार्य अमितगति द्वितीय द्वारा विरचित उपासकाचार १५ परिच्छेदोंमें विभक्त है। इसके अन्तिम पन्द्रहवें परिच्छेदमें ध्यानका निरूपण किया गया है। यहाँ सर्व-प्रथम सिद्धिके इच्छुक मध्य जीवोंसे साधक, साधना, साध्य और फल इन चारके जान लेनेकी प्रेरणा की गयी है। इनमें साधक संसारी जीव, साधन ध्यान, साध्य मोक्ष और फल अविनवधर सुख कहा गया है ( १५, ७-८ )। आगे ध्यानके प्रसंगमें उसके भेद-प्रभेदों व स्वामियोंके दिव्यलाले हुए ( १५, ९-१८ ) उसकी अभिलाषा करनेवाले जीवके लिए ध्याता, ध्येय, विश्व और फल इनके जान लेनेकी प्रेरणा की गयी है ( १५-२३ ) व सदनुसार ही क्रमसे उनका विवेचन भी किया गया है।

इस प्रकार उनका विवेचन करते हुए ध्यानके आलम्बनभूत ध्येयके प्रसंगमें उसे पदस्थ, पिण्डस्थ,

रूपस्थ और अरुण ( रूपालीत ) के मेदसे चार प्रकारका कहा गया है ( १५-३० ) तथा इसी क्रमसे उनकी यही प्रारूपण सी की गयी है ।

प्रस्तुत ज्ञानार्थके साथ तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेवर दोनोंमें यदि कुछ समानता दिखती है तो वह इतनी ही है कि उपर्युक्त जिन पदस्थ-पिण्डस्थ आदि व्यानोंका वर्णन तत्त्वार्थसूत्र, मूलचार, भगवती-आराधना, व्यानशतक और आदिपुराण-जैसे बन्ध ग्रन्थोंमें नहीं किया गया है उनका वर्णन इन दोनों ग्रन्थोंमें विस्तारसे किया गया है । पर इनके विषयमें दोनों ग्रन्थकारोंकी विवेचनपूर्वि कुछ भिन्न रही है यथा—

१. ज्ञानार्थमें जहाँ इन ज्ञारों व्यानोंका उल्लेख पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपालीत इस क्रमसे किया गया है ( १८७७ ) वही अमितगति-आवकाचारमें उनका उल्लेख पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और अरुणके क्रमसे किया गया है ( १५-३० ) ।

२. ज्ञानार्थमें पिण्डस्थव्यानके प्रसंगमें पार्श्वी, आग्नेयी, श्वसना ( माल्ती ), वारुणी और तत्त्व-रूपवती इन पाँच धारणाओंका विचार किया गया है ( १८७८-१६०८ ) । पर अ. आवकाचारमें उन धारणाओंमें से कहीं किसी भी धारणाका उल्लेख नहीं किया गया है ।

अमितगति-आवकाचारमें पिण्डस्थव्यानके प्रसंगमें पार्श्वी आग्नेयी, श्वसना ( माल्ती ), वारुणी और तत्त्व-रूपवती इन पाँच धारणाओंका विचार किया गया है ( १८७८-१६०८ ) । पर अ. आवकाचारमें उन धारणाओंमें से कहीं किसी भी धारणाका उल्लेख नहीं किया गया है ।

ज्ञानार्थमें इस पिण्डस्थव्यानके प्रसंगमें वर्णित पूर्वोक्त पार्श्वीकी आदि धारणाओंमें से अमितगति-तत्त्व-रूपवती धारणामें सात धारुओंसे रहित, सिहासनपर आरुह और दिव्य अतिशयों एवं कल्याणमहिमासे युक्त सर्वशक्ति आरम्भके जिन्तनकी प्रेरणा की गयी है ( १९०४-८ ) ।

३. पदस्थव्यानके प्रसंगमें ज्ञानार्थमें यह कहा गया है कि योगी जन पवित्र पदोंके आश्रयसे जिस व्यानको किया करते हैं वह पदस्थव्यान कहलाता है ( १९१० ) ।

अ. आवकाचारमें सी इस प्रसंगमें यह कहा गया है कि जो योगी पदस्थका व्यान करना चाहता है उसे जो पंच नमस्कार आदि पद हैं उनका व्यान करना चाहिए ( १५-३१ ) ।

इस योगी-सी समानताके होनेपर भी उनके पदस्थव्यानके प्रसंगमें दोनों ग्रन्थोंमें व्यैस्तवरूपसे जो अनेक प्रकारके मन्त्राक्षरों, वर्णों व वाक्योंका विवेचन किया गया है वह वर्ती-अपनी जैलीमें कुछ भिन्न रूपसे किया गया है ( ज्ञाना. १९११-२०२०; अ. आ. १५, ३२-४८ ) ।

अन्तमें अ. आवकाचारमें इस पदस्थव्यानकी सार्थकताको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि नाभ-पदोंके द्वारा जो परमेष्ठी अभिधेय है वे पदस्थ किये जाते हैं, क्योंकि अर्थ पदमें व्यवस्थित होता है ( १५-४९ ) ।

४. ज्ञानार्थमें रूपस्थव्यानके प्रसंगमें आर्हत्य महिमासे युक्त होकर अनेक विशेषताओंसे विशिष्ट आच जिनेन्द्र, सन्मति, सुगत, महावीर और वर्षभान आदि अनेक सार्थक नामोंसे उपलक्षित जिनेन्द्रके समरणकी प्रेरणा की गयी है । इसमें कुछ क्रम न रहनेके साथ पुनरुक्ति भी अधिक हुई है ( २०३३-७९ ) ।

१. बृहद्ब्रह्मसंग्रह दीक्षामें उद्धृत इस इलोकमें उनका क्रम अमितगति-आवकाचारके समान रहा है—

पदस्थं भन्नवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मविस्तनम् ।

रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरजनम् ॥—बृ. अ. सं. ४८,

ब. श्रावकाचारमें इस प्रसंगमें एक ही इलोकके द्वारा यह कह दिया है कि प्रतिमामें परमेष्ठीके स्वरूप-को आरोपित कर जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थध्यान माना जाता है ( १५-१४ ) ।

इसके विषयमें दोनों ग्रन्थकारोंका दुष्टिकोण भिन्न ही रहा है ।

५. ज्ञानार्थमें रूपातीत ध्यानके प्रसंगमें यह कहा गया है कि ध्याता जब रूपमें स्थिरपित्त होकर अन्तिसे रहित हो जाता है तब वह अमूर्त, अज और अव्यक्तके ध्यानको प्राप्तम् करता है । जिस ध्यानमें चिदानन्दस्वरूप, शुद्ध, अमूर्त और ज्ञानमय शरीरसे सहित आत्माका आत्माके द्वारा विन्तन किया जाता है उसका नाम रूपातीत ध्यान है ( 2094-95 ) ।

ब. श्रावकाचारमें भी यह कहा गया है कि ध्याता स्फटिक परिमित विन्तनके समान जो समस्त कर्मकालिमासे रहित ज्ञानस्वरूप अरूप ( रूपातीत ) सिद्धस्वरूपका ध्यान करता है वह उसके नीरूप व निष्पाप सिद्धस्वरूपकी प्राप्तिका द्वारा होता है ( २५, १५-१६ ) ।

इस प्रकार रूपातीत अथवा अरूप ध्यानके विषयमें उपर्युक्त दोनों ग्रन्थोंके कथनमें प्रायः समानता है । पर अभिगति-श्रावकाचारमें जहाँ इतने मात्रमें बावद्यक कथन कर दिया गया है वहाँ ज्ञानार्थमें उसके प्रसंगमें अप्राप्तिक चर्चा बहुत की गयी है ( 2080-2111 ) ।

अ. श्रावकाचारमें इन ध्यानोंकी क्रमिक अवस्थापर ध्यान रखा गया है । जैसे—सर्वप्रथम वहाँ पदस्थ-ध्यानमें परमेष्ठियोंके वाचक वर्ण-पदोंके द्वारा अर्थसुपर्युक्त उनमें स्थित परमेष्ठीके ध्यानपर जोर दिया गया है । पदचातुर पिण्डस्थध्यानमें पिण्डस्थ—परमोदारिक शरीरमें स्थित—अरहन्तके विन्तनका ध्यान किया गया है । रूपस्थध्यानमें प्रतिमामें आरोपित परमेष्ठीके ध्यानकी प्रेरणा की गयी है । सर्वान्तरमें अरूपध्यानमें नीरूप सिद्धस्वरूपके ध्यानको महत्व दिया गया है । ऐसी कुछ क्रमिक अवस्था ज्ञानार्थमें नहीं रही ।

अभिगति-श्रावकाचारमें सम्बद्धरूप, ज्ञान और चारित्र इन तीनमेंसे एक, दो अथवा तीनोंको ही न माननेवाले सात मिथ्यादृष्टियोंका निर्देश इस इलोकके द्वारा किया गया है—

एकैकं न क्योऽहं द्वे द्वे रोचन्ते न परे अयः ।

एकस्वीरीति जायम्ते सप्ताप्येते कुदर्शनाः ॥२-२६॥

लगभग इसी अभिप्रायका बोधक यह इलोक प्रस्तुत ज्ञानार्थमें भी अवस्थित है—

एकैकं च विभिन्नैषु द्वे द्वे चेष्टे तथा परैः ।

अयं न रूपये अयस्य सप्तैते दुर्दृशः स्मृताः ॥३-१२॥

सम्भव है ज्ञानार्थकारने उक्त अभिप्रायको अभिगति-श्रावकाचारगत उपर्युक्त इलोकसे ग्रहण किया हो ।

६. ज्ञानार्थ च ज्ञानसार—पञ्चसिंह भुजि विरचित ज्ञानसार ( वि. सं. १०८६ ) मा. दि. जैन ग्रन्थ-माला द्वारा लक्ष्मानुशासनादि संग्रहमें प्रकाशित हो चुका है । वह काफी अशुद्ध छपा है । इससे कुछ गाथाओंके अभिप्रायको अवगत करना भी कठिन हो रहा है । इह प्राचुर गाथामय इस ग्रन्थमें ज्ञानके महत्वको प्रकट करते हुए संक्षेपमें ध्यानकी प्रलेपण की गयी है । उसमें आर्त, रोद, धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानभेदोंका निर्देश करते हुए उन्हें क्रमसे तिर्यक, सरक, व देवगति तथा शिवगति ( भुक्ति ) का कारण कहा गया है । यहाँ ताम्बूल, कुसुम, लेपन, भूषण व प्रिय पूत्र आदिके विन्तनको आर्त और ब्रह्मन आदिके विन्तनको रोक-ध्यान कहा गया है । सूत्र, अर्द्ध, यागणा और महाब्रह्मोंके विन्तनको धर्मध्यानका लक्षण तथा संकल्प-विकल्पके अभावको शुक्लध्यानका लक्षण निर्दिष्ट किया गया है । इनमें आर्त और रोद इन से दूध्यनिंदोंको छोड़कर धर्म और शुक्लध्यानके विन्तनकी प्रेरणा की गयी है ( १०-१४ ) ।

आगे यहीं पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थके भेदसे तीन प्रकारके अरहम्तके ज्यालकी प्रेरणा करते हुए अपने नाभिकमलमें स्थित सूर्यसमान तेजस्वी अरहम्तके रूपके ध्यानको पिण्डस्थध्यान कहा गया है । इस पुनः दुहराते हुए यह कहा गया है कि अपने कुर (?) के मध्यमें, मस्तकमें, हृदयमें और कण्ठदेशमें सूर्यके समान तेजस्वी जिवरूपका जो ध्यान किया जाता है उसे पिण्डस्थध्यान जानना चाहिए ( १९-२० ) ।

पदस्थध्यानके प्रसंगमें यह कहा गया है कि सातवें वर्ण ( य-वर्ण ) के दूसरे वर्ण ( र ) से आकान्त व शून्य जिसके ऊपर है ऐसे सुसंस्तुत ( या र से संयुक्त ) आठवें वर्ण ( स-वर्ण ) के चौथे वर्ण ( ह ) को, अर्थात् 'ह' या 'हूँ' को तत्त्व समझो । योगियोंके द्वारा उपदिष्ट एक, पांच, सात और चौतीस ध्वनि वर्णोंके ध्यानको पदस्थध्यान कहा गया है । इस प्रकारसे यहीं पदस्थध्यानके प्रसंगमें कुछ मन्त्राश्रयों व पदोंके ध्यानकी प्रेरणा की गयी है ( २१-२७ ) ।

यहीं पथपि नामनिर्देशके साथ रूपस्थध्यानके स्वरूपकी नहीं दिखलाया गया है, फिर भी यहीं जो यह कहा गया है कि धातिया कमोंको निर्मूल करके उत्तम असिशयों व प्रातिहार्योंसे संयुक्त होते हुए समव-संरणमें विराजमान अरहम्तका ध्यान करना चाहिए, यह रूपस्थध्यानका ही लक्षण है ( २८ ) ।

आगे बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन जीवभेदों व उनके स्वरूपको प्रकट करते हुए परमात्माके प्रसंगमें जो शून्य ( निरालम्ब ) ध्यानकी चर्चा की गयी है उसे रूपातीत ध्यानका ही निरूपण समझना चाहिए ( २९-४८ ) ।

पश्चात् यहीं नाड़ीचक्कमें रुद्धनेवाले पूरिकी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पांच तत्त्वोंका निर्देश करते हुए उनके प्रबाह, प्रमाण और वर्ण आदिका निरूपण किया गया है ( ५३-५५ ) ।

इस प्रकारसे यहीं जिन विषयोंकी चर्चा की गयी है, वर्णन शैलीके कुछ भिन्न होनेपर भी ये सब विषय ज्ञानार्थीमें चर्चित हैं । दोनोंमें अर्थात् कुछ समानता भी है । यथा—

१. ज्ञानसारमें पिण्डस्थध्यानके प्रसंगमें अपने नाभिकमलमें स्थित सूर्य समान तेजस्वी अरहम्तके रूपके ध्यानकी प्रेरणा करते हुए उसे पिण्डस्थध्यान कहा गया है ( १९-२० ) ।

ज्ञानार्थीमें इस प्रसंगमें निर्दिष्ट पाठ्यबो आदि पांच घारणाओंमें से आग्नेयी और तत्त्वरूपवक्त्री घारणाओंमें यह विषय अंशतः समाविष्ट है ।

२. ज्ञानसारमें पदस्थध्यानके प्रसंगमें यह कहा गया है कि सातवें वर्ण ( य-वर्ण ) के दूसरे वर्ण ( र ) से आकान्त तथा शून्य जिसके ऊपर है ऐसे सुसंस्तुत ( अवश्य र से संयुक्त ) आठवें वर्ण ( स-वर्ण ) के चौथे अक्षर ( ह ) को, अर्थात् 'ह' या 'हूँ' को तत्त्व ज्ञानना चाहिए ( २१ ) ।

ज्ञानार्थीमें इलोक ( 1919 ) के द्वारा यह निर्देश किया गया है कि अपर और नीचे रेकसे संरुद्ध, बिन्दुसे चिह्नित एवं अनाहृतसे सहित संपर—'स' से आगे के अक्षर ( ह )—को तत्त्व ज्ञानना चाहिए, इस ( हूँ ) मन्त्रराज कहा जाता है । आगे एक इलोक ( 1934 ) को उद्धृत करते हुए उसके द्वारा यह कहा गया है कि जिसके आदिमें अकार, अन्तमें हकार और मध्यमें रेक हैं तथा जो बिन्दुसे चिह्नित है वही परम तत्त्व है, उसे जो ज्ञानना है उसे तत्त्ववित् समझना चाहिए ।

इस प्रकार 'ह' या 'अह' मन्त्रके विषयमें दोनों ग्रन्थोंमें कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है । विशेष रूपरूप उनका मन्त्रशास्त्रसे ज्ञातव्य है ।

३. ज्ञानसारमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन जीवभेदोंके स्वरूपको प्रकट करते हुए परमात्माके प्रसंगमें उसके ध्यानकी प्रेरणा की गयी है । यहीं यह कहा गया है कि सालम्ब ध्यानकी वर्थार्थ रूपमें जातकर उसे छोड़ देना चाहिए और तत्पश्चात् निरालम्ब ध्यानका अभ्यास करना चाहिए ( ३७ ) ।

ज्ञानार्थीके अन्तर्गत शुद्धोपयोग प्रकरण ( १९ ) में इन जीवभेदोंकी वर्चों विस्तारसे की गयी है ।

आगे वही ज्ञानाविषय धर्मध्यावके प्रसंगमें ( 1620 ) यह कहा गया है कि उत्त्वज मूमुक्षुको लक्ष्यके सम्बन्धसे अलक्ष्य, स्कूलसे सूक्ष्म और सालम्बसे निरालम्ब उत्त्वका विचार करना चाहिए । इस प्रकार यही ज्ञानसारके समान निरालम्ब व्यानपर और दिया गया है ।

५. ज्ञानसारमें आगे यह कहा गया है कि जिस प्रकार पुष्ट क्रमसे पद्मलो-दूसरी आदि सीक्षियोंवर उक्ता हुआ अपने असीष्ट उच्च रूपानको पा लेता है उसी प्रकार पोणी स्कूलसे शून्य—निरालम्ब रूपातीत व्यान—को पा लेता है । इस शून्य व्यानमें निरत होकर वह समस्त शूलियोंके व्यापार और नित्तके प्रसारसे रहित होता हुआ परस्ताम—परम पद—को प्राप्त कर लेता है । राग, द्वेष एवं योहसे रहित होकर उत्त्व-स्वरूपसे परिष्ठ पुर ज्ञानको ही जिमशासनमें शून्य व्यान कहा गया है । यह शून्य व्याप अतीन्द्रिय, मन्त्र-सन्ध्यसे विहीन एवं व्येष-वारणसे विमुक्त केवलज उत्त्वरूप है जो आकाशके समान निर्देश व सर्वव्यापक है । इस प्रकारसे यही शून्य व्यानका अच्छा विवेचन किया गया है<sup>१</sup> ( ३८-४९ ) ।

ज्ञानार्थिकी अपेक्षा यह शून्य व्यान रूपातीतसे भिन्न नहीं है, जिसका विवेचन ज्ञानार्थिमें रूपातीतके सामग्रे किया गया है<sup>२</sup> ( २०७५-२११ ) । इसके पूर्व इलोक १९४२-४३ में भी यह कहा गया है कि जो शीर्षी क्रमसे लक्ष्योंकी ओरसे मनको हटाकर उसे अलक्ष्यमें निवारण करता है उसके अतीन्द्रिय व अविनश्वर अनुष्ठानिति स्फुरायमान होती है । इस अवस्थामें मुनिका समीहित सिद्ध हो जाता है ।

५. ज्ञानसारमें गा. ४८ के द्वारा यह निर्देश किया गया है कि यह जो परमात्मसत्त्व है उसे ही यद्यु और काम तत्त्व कहा गया है, उसे व्यानविशेष गुणप्रसादसे जानना चाहिए ।

ज्ञानार्थिमें इलोक १०५९ द्वारा यही अभिप्राय प्रकट किया गया है । ज्ञानसारकी वह गाया इस प्रकार है—

जं परमप्ययतञ्च तमेव विस-[ द्विष- ] कामतत्त्वमिह भणिये ।

ज्ञानविशेषणं पुणो णायञ्च गुरुपसाएण ॥४८

६. आगे जाकर ज्ञानसारमें नाडीचक्रमें—वाम व दक्षिण नाडियोंमें—रहनेवाले पृथिवी आदि पौर्व उत्त्वोंका निर्देश करते हुए उनके प्रवाह, प्रमाण और वर्ण आदिका निरूपण किया गया है । साथ ही उनके द्वारा शूचित शूभाग्य फलका भी निर्देश किया गया है ( ५३-५९ ) ।

उनका वर्णन ज्ञानार्थिमें विशदतापूर्वक किया गया है ( १३६०-७२ ) । आगे उनके द्वारा शूचित शूभाग्य फलका भी विस्तारसे वही विचार किया गया है । विशेषता यह है कि ज्ञानसारमें यही आकाशके साथ पार्थिव आदि पौर्व भण्डलोंका निर्देश किया गया है ( ५३ ) वही ज्ञानार्थिमें उन आकाशके विना चार ही भण्डलोंका विवेचन किया गया है ( १३६०-६३ ) ।

इस प्रकार इन स्तोनों ग्रन्थोंमें विषयविशेषकी पद्धतिके कुछ भिन्न होनेपर भी अर्थात् जो समानता दृष्टिगोचर होती है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण ज्ञानार्थिकारके समक्ष यह ज्ञानसार रहा है तथा उसका उपयोग भी उन्होंने अपनी इस कृतिमें किया है ।

१. लगभग शून्य व्यानविषयक इसी प्रकारका विवेचन देवसेनाचार्य विरचित आरावनासारमें भी उपलब्ध होता है । तुलनाके लिए उसकी ७१-७८ गायाएँ देखी आ सकती हैं ।

भृषि पर्वजलि विरचित ओमसूक्ष्म में जो समाधिका लक्षण किया गया है वह भी लगभग इसी अभिप्रायकी प्रकट करता है । यथा : लदेवार्थमात्रनिर्भासं इवरूपशून्यमिव समाधिः ।—यो. शू. ३-३

२. ज्ञानार्थिमें सबीर्य व्यानके प्रसंगमें इलोक १४०-१७ के द्वारा भी इसी अभिप्रायकी प्रकट किया गया है ।

१०८ शान्तिर्णव व योगशास्त्र—आचार्य हेमचन्द्र विरचित योगशास्त्रमें भी शान्तिर्णवके समान अनेक विषयोंकी चर्चा की गयी है। उथा उसका भी प्रमुख वर्णनीय विषय योग ही रहा है। इसीसे उसका योगशास्त्र यह नाम भी सार्थक है। वह १२ प्रकाशोंमें विभक्त है। इन दोनों ग्रन्थोंमें इतनी अधिक समानता दृष्टिगोचर होती है कि जिसे देखते हुए यह निःसम्बेह कहा जा सकता है कि एक ग्रन्थको सामने रखकर दूसरे ग्रन्थकी रचना की गयी है। दोनोंकी यह समानता न केवल विषय-विवेचनकी दृष्टिसे ही उपलब्ध होती है, अलिंग अनेक इलोक भी ऐसे हैं जो दोनोंमें विविकल रूपसे पाये जाते हैं। कुछ इलोकोंमें यदि पाद-परिवर्तन हुआ है तो कुछमें उन्हीं शब्दोंका स्थान-परिवर्तन मात्र हुआ है। अभिप्रायकी समानता लो यथाक्रमसे दोनों इलोकोंमें रहती है। यहाँ इस सबको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया जायेगा। दोनों ग्रन्थोंमें विषयकी समानता इस प्रकार रहती है—

विषय	शान्तिर्णव	योगशास्त्र
बारह भावनाएँ	५०-२४६	४,५५-११०
रसवय	३८३-९२७	१-१५८ से ३-१५८
क्रीधादि ४ कषायें	९२८-१०१२	४,६-२३
हन्त्रियवय	१०१३-५०	४,२४-३४
मनोनिशेष	१०७-११०६	४,६४-४४
राध-इषजय	११०७-४६	४,४५-५०
साम्यभाव	११४७-७९	४,५०-५४
दीनी आदि ४ भावनाएँ	१२७०-८५	४,११७-२२
ध्यानस्थान	१२८६-१३०९	४-१२३
ध्यानासन	१३१०-३५	४,१२४-३६
ग्राणपितम	१३४२-१४४३	५,१-२६३
परकाथप्रवेश ( वेष )	१४४४-५२	५,२६४-७३
प्रत्याहार	१४५६-५८	६-६
प्राणायामकी अहितकरता	१४५९-६६	६, २-५
आश्रणा	१४६७-६९	६,७-८
बहिरात्मा आदि जीवभेद	१५१७-२४	१२,७-१२
आज्ञाविचारादि चार मेद	१६२१-१८७६	१०,७-२४
पिण्डस्थृत्यान	१८७७-१९०९	७,८-२८
पदस्थृत्यान	१९१०-२०२७	८,१-७८
रूपस्थृत्यान	२०३३-७९	९,१-१४
रूपातीतस्थृत्यान	२०९४-२१११	१०,१-४
शुक्लस्थृत्यान	२१४२-२२०२	११,१-६१
ये इलोक समान रूपसे दोनों ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं—		
इलोकाश	शान्तिर्णव	योगशास्त्र
१. समाकुञ्ज्य यदा	१३५३	५-७
२. यत् कोण्ठादत्तियत्त्वेन	१३५४	५-६

श्लोकांशः	ज्ञानार्थिः	योगशास्त्रम्
३. पट्टातान्यधिकाभ्याहुः	1442	५-२६२
४. इत्यजसं स्मरन् योगी	1506	१०-२
५. अभ्यशरणीभूय	1507	१०-३
६. सो ऽयं समरसीभावः	1508	१०-४
७. अलधर्य लक्ष्यसंबन्धात्	1620	१०-५
८. उद्गुकमनिमणि-	1891	७-१६
९. कृत्वा पापसङ्क्राणि	1960	८-३७
१०. अष्टरात्रे व्यतिक्रान्ते	2014	८-६९
११. दीपरामो अवेद् योगी	2029	८-७९
१२. येन येन हि भावेन	2076	९-१४

इनमें १ व २ नं. के श्लोक प्रस्तुत ज्ञानार्थिकी केवल S और R इन दो प्रतियोगीं 'उनके श्लोक-द्वयम्' इस संकेतके साथ पाये जाते हैं, अस्य किन्हीं प्रतियोगीं वे उपलब्ध नहीं हैं।

श्लोक नं. ६ ज्ञानार्थिकी P प्रतियोगीं नहीं पाया जाता। इस श्लोकका पूर्वार्थ जैसाका तैसा तत्त्वानुशासनमें भी १३७ संख्याके अन्तर्गत पाया जाता है।

श्लोक नं. ११ के पूर्व कुछ प्रतियोगीं 'उनके च' निर्देश पाया जाता है, कुछ प्रतियोगीं वह उपलब्ध नहीं हैं।

श्लोक नं. १२ ज्ञानार्थिकी P M प्रतियोगीं 'उनके च' निर्देशके साथ पाया जाता है। यह आ. अभितगति प्रथम विरचित योगशारप्राभृतमें ९-५१ संख्याके अन्तर्गत उपलब्ध होता है।

साधारण परिवर्तन—उन दोनों मन्त्रोंमें बहुत-से श्लोक ऐसे हैं, जिनमें साधारण-सा शब्द-परिवर्तन हुआ है। जैसे—

उदये बामा शस्ता सितपक्षे दक्षिणा पुनः कुण्डे ।

श्रीणि श्रीणि दिनानि तु शशि-सूर्योदयः इलाघ्यः ॥ ज्ञाना, 1383

बामा शस्तोदये पक्षे सिते कुण्डे तु दक्षिणा ।

श्रीणि श्रीणि दिनानीन्दु-सूर्योदयः शुभः ॥ यो, शा, ५-६५

यहाँ दोनों श्लोकोंमें छन्दका परिवर्तन होनेपर भी अधिकांश वे ही शब्द व्यवहृत हुए हैं। मात्र 'शशि'के रूपानमें 'इरु' और 'इलाघ्य'के स्थानमें 'शुभ' शब्द परिवर्तित हुए हैं।

दूसरा एक उदाहरण लीजिए—

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।

चतुर्द्वी व्यानभास्नाते भव्यराजीवभास्करैः ॥ ज्ञाना, 1877

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।

चतुर्द्वी व्येयभास्नाते व्यानस्यालम्बनं शुष्ठैः ॥ यो, शा, ७-८

यहाँ 'व्यान' के स्थानमें 'व्येय' और 'भव्यराजीवभास्करैः'के स्थानमें 'व्यानस्यालम्बनं शुष्ठैः' इतना मात्र पाठ परिवर्तित हुआ है।

श्लोक 1889 योगशास्त्रमें श्लोक ७-१४ के उत्तरार्थ और १५ के पूर्वार्थ रूपमें अवस्थित है। इस पूर्वार्थमें योग-सा शब्द-परिवर्तन हुआ है।

इलोक 1904 योगशास्त्रमें यत्कुचित् शब्दपरिवर्तनके साथ इलोक ७-२३ के रूपमें अवस्थित है :

इसी प्रकार अस्य भी कितने ही इलोक दोनों प्रन्थोंमें थोड़े-से परिवर्तनके साथ पाये जाते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि दोनों प्रन्थोंमें कितनी अधिक समानता है। विदेशा यह है कि ज्ञानार्थिमें जहाँ विवेचन विस्तृत होकर क्रमविहीन व कुछ अप्रासंगिक चर्चासे गमित रहा है वहाँ योगशास्त्रका विवेचन संक्षिप्त होकर क्रमबद्ध व अप्रासंगिक चर्चासे रहता है। जैसे—

१. ज्ञानार्थिमें प्रमुख वर्णनीय व्यानसे सम्बन्ध जोड़ते हुए यह कहा गया है कि मोक्ष कमोके क्षयसे होता है, वह कमोका क्षय सम्बन्धानसे सम्भव है, तथा उस सम्बन्धानका बीज व्यान है।

इसी अभिप्रायको योगशास्त्रमें इस प्रकारसे प्रकट किया गया है—मोक्ष कमोके क्षयसे ही होता है, वह कमोका क्षय आत्मज्ञानसे सम्भव है, और वह आत्मज्ञान व्यानके आधयसे सिद्ध होता है। दोनों प्रन्थमें वह एलोक इस प्रकार है—

भीक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यज्ञानजः स्मृतः ।

ध्यानबीजं मतं तद्वित तस्मात्तद्वितमात्मनः ॥ ज्ञाना. 259

मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत् ।

ध्यानसाध्यं मतं तद्वित तद्वित्यानं द्वितमात्मनः ॥ यो. शा. ४-११३

इन दोनों इलोकोंका प्रथम चरण समाप्त है। द्वितीय चरणमें ज्ञानार्थिकररने जहाँ उस मोक्षका प्रादुर्भाव सामान्य सम्बन्धानसे प्रकट किया है वहाँ योगशास्त्रके कर्तने उससे कुछ आगे बढ़कर उसका प्रादुर्भाव आत्मज्ञानसे प्रकट किया है। यह परिवर्तन सम्भवतः योगशास्त्रके कर्ता द्वारा बुद्धिपुराणर द्वारा दृष्टि किया गया है। ज्ञानार्थिकार योगशास्त्रमत 'आत्मज्ञानतः' के स्थानमें 'सम्यज्ञानजः' पाठ परिवर्तित करें, यह जैचता नहीं है। पूर्व कृतिकी अपेक्षा उत्तरकालीन कृतिमें संशोधन अधिक हो सकता है।

२. ज्ञानार्थिमें इलोक 1380 के द्वारा वाम नाड़ीसे प्रवेश करनेवाली वर्णण और महेन्द्र ( पुरम्बर ) वायुको सिद्धिकर तथा सूर्यमार्गसे ( दक्षिण नाड़ीसे ) निकलनेवाली अग्नि व पवन वायुको विनाशका कारण कहा गया है। आगे इसी प्रसंगमें इलोक 1382 के द्वारा वाम नाड़ीमें विचरण करनेवाली अग्नि व पवन वायुको तथा दक्षिण नाड़ीमें विचरण करनेवाली वर्णण और इन्द्र इन दोनों वायुओंको भी मध्यम कहा गया है। इन दोनों इलोकोंके बीचमें उपर्युक्त इलोक 1381 में यह कहा गया है कि मण्डलोंमें वायुओंके प्रवेश और निःसरणके कालको जानकर योगी समस्त वस्तुओं-विषयक सब प्रकारकी चेताका उपदेश करता है। इस प्रकारसे इन दोनों इलोकोंके बीचमें स्थित वह इलोक ( 1381 ) प्रसंगके अनुरूप नहीं रहा।

इस प्रसंगका निकाल योगशास्त्रमें जिस रूपसे किया गया है वह भी व्यान देने थोग्य है। वहाँ दो इलोकों ( ५,५३-६० ) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि चन्द्रमार्ग ( वामा नाड़ी ) से प्रवेश करनेवाली इम्ब्र ( महेन्द्र ) और वर्णण वायु तब सिद्धियोंकी देनेवाली तथा सूर्यमार्ग ( दक्षिण नाड़ी ) से निःसरण या प्रवेश करनेवाली दो दोनों वायु मध्यम हैं। दक्षिणसे निकलनेवाली अग्नि और पवन वायु विनाशका कारण तथा दो ही दोनों वायु वाममार्गसे प्रवेश व निःसरण करती ही मध्यम मानी गयी हैं।

योगशास्त्रकी इस सरल व सुव्योग प्रक्रियाको देखते हुए यदि यह सम्भावना की जाती है कि हेमवस्त्र सूर्यने ज्ञानार्थिके उक्त प्रसंगको देखकर अपने बुद्धिकौशलसे उसे कुछ व्यवस्थित रूप दिया है तो यह अनुचित न होगा।

३. ज्ञानार्थिके इलोक 1394 में यह सूचना की गयी है कि यदि कोई दूत आकर युद्धमें निरत दो विरोधियोंका नाम लेकर उसके मध्यमें किसकी विजय होगी, यह पूछता है तो उसके ज्ञानकार यदि प्रश्न

पूर्ण स्वरमें पूछा गया है तो पूर्व व्यक्तिकी विजयको कहते हैं, और यदि इन्हे स्वरमें प्रश्न किया गया है तो दूसरे व्यक्तिकी विजयका निर्देश करते हैं।

योगशास्त्रमें भी इस प्रसंगको लिया गया है तथा वहाँ इसको ज्ञानार्थवकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट भी किया है। यथा—

पूर्णे पूर्वस्य जयो रित्ते त्वितरस्य कथ्यते तज्ज्ञः ।  
उभयोर्युद्धनिमित्ते द्वृतेनाशसिते प्रश्ने ॥ ज्ञानार्थव  
दो वै यदि द्वयोर्युद्धे इटि पूर्वस्यविप्रदः ।  
जयः पूर्वस्य पूर्णे स्याद् रित्ते स्यादितरस्य तु ॥ यो. शा. २-२२५ ।

उक्त दोनों श्लोकोंको देखकर यह भलीभांति समझा जा सकता है कि योगशास्त्रमें उस श्लोकमें जितने सरल और सुबोध पदोंके द्वारा उक्त प्रश्न और उत्तरकी सूचना की गयी है उतने अद्वितीय बोध करनेवाले शब्दोंका उपयोग ज्ञानार्थवमें नहीं किया गया।

इसके अतिरिक्त योगशास्त्रमें उक्त श्लोकके अनन्तर रित्त और पूर्णके लक्षणको इस प्रकार व्यक्त कर दिया गया है—

यत् त्यजेत् संन्चरन् वायुस्तद् रित्तमितीयते ।  
संकमेद् यत् तु स्थाने तत् पूर्णं कथितं तुष्टिः ॥ यो. शा. ५, २२६ ।

ज्ञानार्थवमें भी यद्यपि प्रकृत रित्त और पूर्णके लक्षणका निर्देश किया गया है परं पहाँ, जहाँ उसको आवश्यकता थी, उसका कुछ भी निर्देश न करके आगे श्लोक 1424 में उनके लक्षणको प्रकट किया गया है, जहाँ उसका प्रसंग भी नहीं है। इस श्लोकमें भी पूर्वार्थका उत्तराध्ये सम्बन्ध बैठाता कष्टप्रद है ( देखिए पु. ४७८, इकोक ११४ ) ।

इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि हेमचन्द्र सूरिके समझ ज्ञानार्थवके ऐसे कुछ दुर्लभ प्रसंग रहे हैं जिन्हें उन्होंने अपने योगशास्त्रमें सरल ब सुबोध बनाया है।

४. ज्ञानार्थवमें श्लोक 1452 के द्वारा यह निर्देश किया गया है कि इस परपुरप्रवेशका कल कीतुक मात्र है। वह कठोर परिश्रमके द्वारा समयानुसार महापुरुषोंके भी किसी प्रकारसे सिद्ध होता है और कदाचित् नहीं भी सिद्ध होता है।

इसी अभिप्रायको व्यक्त करते हुए योगशास्त्रमें यह कहा गया है कि वह परपुरप्रवेश आहर्व्य मात्रका करनेवाला है। वह परिश्रमके द्वारा दीर्घकालमें कदाचित् ही सिद्ध होता है व कदाचित् नहीं भी सिद्ध होता है। ये दोनों श्लोक में हैं—

कौतुकमात्रफलोऽयं पुरप्रवेशो महाप्रयासेन ।  
सिद्ध्यति न वा कर्यचिन्महतामपि कालयोगेत् ॥ ज्ञाना.  
इह चार्यं परपुरप्रवेशस्वत्रमात्रकृत् ।  
सिद्ध्येन्व वा प्रयासेन कालेन महताऽपि हि ॥ यो. शा. ६-१

इन दोनों श्लोकोंमें अधिकांश शब्दोंके समान होनेपर भी योड़ा-सा जो परिवर्तन हुआ है उससे अभिप्रायमें भी कुछ भिन्नता हो गयी है। परिवर्तन जो हुआ है वह 'महतामपि' के स्थानमें 'महताऽपि' पाठक हुआ है। तदनुसार ज्ञानार्थवमें जहाँ उसका अर्थ 'महापुरुषोंके भी' ऐसा होता है वहाँ योगशास्त्रमें उसका अर्थ 'दीर्घ कालके द्वारा भी' ऐसा होता है। इस प्रकार इस पाठमेदमें ज्ञानार्थवकी अपेक्षा योगशास्त्रका

पाठ अधिक संगत दिखता है। इसके अतिरिक्त ज्ञानार्थमें 'महताम्' के साथ जो 'विषि' शब्द जुड़ा हुआ है वह भी कुछ उपयोगी नहीं दिखता, जबकि कालके विशेषणभूल 'महता' के साथ वह उपयोगी अधिक है। इससे मेरी यह निरिचत आरणा बन गयी है कि हेमचन्द्र सूरिने ज्ञानार्थमें 'महतामपि' के स्थानमें बुद्धिपुरस्सर 'महताऽपि' पाठको परिवर्तित किया है।

५. ज्ञानार्थमें एलोक 2022-23 के द्वारा अ सि आ उ सा इन मन्त्राकारोंके स्मरणकी प्रेरणा की गयी है। पर वही इनमें इस प्रकार क्रमव्यत्यय हो गया है—अ सि सा आ और उ। योगशास्त्रमें उनका क्रमव्यवस्थित रहा है (८-७६-७७)। ज्ञानार्थमें जहाँ 'साकारं मुखपञ्चुजे' पाठ है वही योगशास्त्रमें उसके स्थानमें 'आकारं वदनपञ्चुजे' पाठ है (८-७६)। यदि क्रमकी अपेक्षा रखी जाती है तो यही पाठ संगत दिखता है। आगे ज्ञानार्थमें जहाँ 'आकारं कण्ठकञ्चस्थं' पाठ है, वही योगशास्त्र (८-७७) में 'साकारं कण्ठपञ्चुजे' पाठ है। आगे ज्ञानार्थमें एलोक 2024 का पूर्वार्थ इस प्रकार है—सर्वकल्याणवीजावि वीजान्वयन्वान्वयि स्मरेत्। योगशास्त्रमें एलोक ८-७७ का उत्तरार्थ उसीके समान इस प्रकार है—सर्वकल्याणकारीणि वीजान्वयन्वान्वयि स्मरेत्।

यहाँ ये कुछ ही उदाहरण दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी किसने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर इतने मात्रसे वह कल्पनामें आ जाता है कि आचार्य हेमचन्द्रके समने ज्ञानार्थ रहा है व उन्होंने उसका यारिशीलन करके उसमें विवेचित विषयोंके वर्णनमें जहाँ जैसा व जितना आवश्यक समझा परिवर्तन व संशोधन किया है तथा अपने योगशास्त्रमें उन्हें स्थान दिया है।

ज्ञानार्थमें एलोक 2020 के द्वारा जिन संज्ञान्वत आदि मुनियोंका उल्लेख किया गया है तथा योगशास्त्रमें भी एलोक ८-७४ द्वारा जिन वज्रस्वामी आदिका उल्लेख किया गया है उनका यदि कुछ ऐतिहासिक सौकृत उपलब्ध हो सकता है तो सम्भव है उसके आधारसे इस विषयमें कुछ विशेष प्रकाश पड़ सके।

यह भी निरिचत है कि इन दोनों ग्रन्थकारोंके समक्ष योगविषयक इतर साहित्य मी प्रचुर मात्रामें रहा है व उसका उपयोग भी उन्होंने अपने-अपने ग्रन्थकी रचनामें किया है। इसका संकेत भी दोनों ग्रन्थोंसे मिल जाता है।<sup>१</sup>

#### १. ज्ञानार्थ—

- (१) अथ कैश्चिद्यम-नियमासनम् ॥ (पृ. ३७३)
- (२) सुनिर्णीतस्वसिद्धान्तं प्राणायामः प्रशस्यते । मुनिभिः × × × ॥ (134१)
- (३) विधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः ॥ (134१)
- (४) × × × प्राज्ञः प्रणीतः प्रवक्ताम् ॥ (134९)
- (५) × × × तदेवाहुराचार्यः ॥ (142०)
- (६) × × × सूरिभिः समुद्दिष्टम् ॥ (142३)
- (७) × × × केचित् प्रवदन्ति सूरयोऽस्यर्थम् ॥ (142६)
- (८) × × × विद्म इति केचित् ॥ (142८)
- (९) × × × पुरमितरेणेति केऽन्नाहुः ॥ (143८)
- (१०) योद्धाप्रभितः कैश्चिन्निर्णीतो वायुसंक्रमः ॥ (144१)
- (११) मुनिभिः संज्ञयन्ताधैर्विषयादात् समुद्धृतम् ॥ (2020)

हेमचन्द्र सूरिने प्रकृत योगशास्त्रकी रचना में जिस प्रकार ज्ञानार्णवका अनुसरण किया है उसी प्रकार कुछ वर्षमें उन्होंने इतर ग्रन्थोंका भी अनुसरण किया है। जैसे—ध्यानशतक ( ८वीं शती ), आदिपुराण ( ९वीं शती ), तत्त्वालुकासन ( १०वीं शती ), योगसारप्राभृत ( १०-११वीं शती ) और अमितगति-आवकाचार ( ११वीं शती ) आदि ।

१. ध्यानशतक—योगशास्त्रमें उदाहरण जो स्थान किया गया है वह ध्यानशतकके अनुसार किया गया है। इसी प्रकार आसन व शुक्लघ्यानके निष्ठपणमें भी ध्यानशतकका आवश्यक लिया गया है। ( इसके लिए ध्यानशतककी प्रस्तावनामें पु. ६९-७२ पर 'ध्यानशतक व योगशास्त्र' शीर्षक देखिये ) ।

२. आदिपुराण—आदिपुराणके २१वें पर्वमें जो ध्यानका वर्णन किया गया है उसका परिशीलन योगशास्त्रकारने किया है। उदाहरणस्वरूप योगशास्त्रमें जो धर्मध्यानके प्रसंगमें धायोपशामिकादि भाव व क्रमक्रियुद्ध पीत, पश्च और शुक्ल लेश्याओंका निर्देश किया गया है ( १०-१६ ) उसका आधार आदिपुराण रहा है। कहीं एलोक २१-१५६ में धर्मध्यानको अतिशय विशुद्ध तौरें लेश्याओंसे बुद्धिमत् बतलाया गया है। आगे एलोक २१-१५७ में उसे धायोपशामिक भावको आत्मसात् कर बुद्धिगत कहा गया है।

३. तत्त्वालुकासन—इसके एलोक १३७ का "सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्" यह पूर्वी योगशास्त्रके १०वें प्रकाशमें ४ संख्याके अन्तर्गत आत्मसात् किया गया है।

४. योगसार-प्राभृत—इसके नौवें अधिकारका ५-२वीं एलोक योगशास्त्रके नौवें प्रकाशमें १४ संख्याके अन्तर्गत आत्मसात् किया गया है। यहाँ 'येन वेनैव' के स्थानमें 'थेन येन हि' तथा 'तस्मयस्तत्र तत्रापि'के स्थानमें 'तेन तस्मयतां याति' जो पाठभेद है वह ज्ञानार्णवके अन्तर्गत उस एलोक ( 2076 ) के पाठसे सर्वथा मिलता है। यह एलोक ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च' के साथ उद्धृत किया गया है। सम्भव है योगशास्त्रकारने उसे सीधा योगसारप्राभृतसे न लेकर ज्ञानार्णवसे ही लिया हो। इसका कारण दोनोंमें सर्वथा पाठकी समानता है।

५. अमितगति-आवकाचार—ज्ञानार्णव और योगशास्त्रके समान इस अमितगति-आवकाचारमें भी पद्मस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और अरुप ( रूपतीत ) ध्यानोंका वर्णन विस्तारसे किया गया है ( १५, ३०-५६ ) । सम्भवतः इसका परिशीलन भी योगशास्त्रकारने किया है। इसके अतिरिक्त अमितगति-आवकाचारमें निम्न एलोक द्वारा ध्यानके इच्छुकसे ध्याता, ध्येय, विधि और कलके जान लेनेकी प्रेरणा पी गयी है—

ध्यानं विधिस्तता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं विधिः कलम् ।

विधेयानि प्रसिद्धशक्तिं सामग्रीती विना न हि ॥ १५-२३ ॥

यह एलोक कुछ घोड़े-से परिवर्तनके साथ योगशास्त्रमें इस प्रकारसे आत्मसात् किया गया है—

ध्यानं विधिस्तता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं तथा कलम् ।

सिद्धशक्तिं न हि सामग्री विना कार्याणि कहिचित् ॥ १७-१ ॥

#### योगशास्त्र—

(१) प्राणस्यामस्ततः कैविदाग्नितो ज्ञानसिद्धमे । (५-१)

(२) × × × समवा कीर्यंते परैः ॥ (५-५)

(३) × × × इति कैविदिग्नितो ॥ (५-२४७)

(४) ज्ञानवद्विः समाव्यातं वद्वस्वाम्यादिभिः स्फुटम् ।

विशावादात् समुद्धृत्य × × × ॥ (८७४)

यही यह समरणीय है कि उपर्युक्त सब ही प्रच्छोंके रचयिता हेमचन्द्र सूरिके पूर्ववर्ती हैं। हेमचन्द्र सूरिका समय १२७१ बड़ी शताब्दी है। उनका जन्म कांतिकी पूर्णिमा संवत् ११४५ को और स्वर्गवास संवत् १२२९ में हुआ है।<sup>१</sup>

११. ज्ञानार्थ और योगसूत्र—महेष यत्कलि विशिष्ट योगसूत्र योगविषयक एक महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है। वह प्रायः सांख्य सिद्धान्तके आधारसे रचा गया है। वह समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य इन चार पादोंमें विभक्त है। सूत्र संख्या सब १९५ ( ५१ + ५५ + ५५ + ३४ = १९५ ) है। प्रत्येक पादके अन्तमें व्यास विरचित भाष्यमें जो पुष्पिकावाक्य पढ़े जाते हैं उनसे भी यही जात होता है कि वह सांख्य सिद्धान्तकी प्रमुखतासे रक्खा गया है।<sup>२</sup> उसके प्रथम पादमें चित्तवृत्तिनिरोधको योगका स्वरूप बतलाकर उसके उपायको दिखलाते हुए प्रभाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन वृत्तियोंको विलष्ट व अविलष्ट दोनों स्वरूप बतलाया है। आगे संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात समाधिके साथ हृश्वरके भी स्वरूपको प्रकट किया गया है।

दूसरे पादमें कियायोगका निर्देश करते हुए है, हेयहेतु, हान और हानोपाय इन चारके स्वरूपको प्रकट किया गया है। इसीसे भाष्यकारने उसे चतुर्व्यूह रूप शास्त्र कहा है।<sup>३</sup> साथ ही यही यम-नियमादि आठ योगार्थोंका निर्देश करते हुए उनमें-से वहीं प्रथम पाँच योगार्थोंका विचार किया गया है। प्रथम यम योगार्थके प्रसंगमें अहिंसा आदि पाँच महावतोंके स्वरूपकी तथा दूसरे नियम योगार्थके प्रसंगमें शीघ्र व सम्बोध आदिके स्वरूपको दिखलाते हुए उनके पृष्ठक्-पृष्ठक् फलको भी प्रकट किया गया है।

तीसरे पादमें व्याणा, ध्यान और समाधि इन शेष लीन योगार्थोंके स्वरूपको दिखलाते हुए उन कीनकी समुदायको संयम कहा गया है। आगे अन्य प्रांसंगिक घट्टी करते हुए योगके आश्रयसे होनेवाली विभूतियोंकी दिखलाया गया है।

चौथे पादमें उपर्युक्त विभूतियोंकी जन्म, व्याधि, मन्त्र, तप और समाधि इन यथासम्भव पौच निमित्तोंसे उत्पन्न होनेवाली बतलाकर आगे शंका-समाधानपूर्वक कुछ अन्य प्रांसंगिक चर्चा करते हुए सरकार्यवादके साथ परिणामवादको प्रतिष्ठित और विज्ञानाद्वैतका निराकरण किया गया है। विशेष इतना है कि परिणामवादको प्रतिष्ठित करते हुए मी पुरुषको अपरिणामी—चित्तस्वरूपसे कूटस्थनित्य—स्वीकार किया गया है। अन्तमें कैवल्यके स्वरूपको प्रकट करते हुए ग्रन्थोंको समाप्त किया गया है।

#### ज्ञानार्थपर उसका प्रभाव

१. यम—प्रस्तुत ज्ञानार्थकी रचना योगसूत्रप्रलिपि यम-नियमादि आठ योगार्थोंको लक्ष्यमें रखकर की गयी है।<sup>४</sup> सर्वप्रथम वहीं व्यानकी साधनभूत बारह भावनाओं द्वं मोक्षके मार्गभूत रत्नपथका निष्पाण करते हुए सम्यक्चारित्रके प्रसंगमें जो अहिंसादि पाँच महावतोंकी विस्तारसे प्रलिप्ता की गयी है, यह

१. कुमारपाल प्रबन्ध ( उ. जिनमण्डन गणि ) पृ. ११४।

२. इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे श्रीमद्व्यासभाष्ये प्रथमः समाधिपादः।

३. यथा चिकित्साधास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुराशोष्यां भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव।

संश्लिष्ट—संसारहेतुमोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखवहूलः संसारी हेयः, प्रवान-पुरुषयोः

संघोगो हेयहेतुः, संयोगस्थात्यन्तिकीनिवृत्तिहर्त्तानिम् हानोपायः सम्यदर्शनम्। यो. सू. भाष्य २-३५।

( लगभग यही अभिप्राय उत्तरानुवासनमें इतोक ३-५ के द्वारा प्रकट किया गया है। )

४. ज्ञानार्थमें योगसूत्रनिर्दिष्ट इन आठ योगार्थोंकी पृ. ३७३ पर सूचना मी की गयी है।

योगसूत्रके अनुसार योगका प्रथम अंग यम है। योगसूत्रकारको जो यमका लक्षण अभीष्ट रहा है<sup>३</sup> वह जैन कार्यम् फल्योमें काफी प्रसिद्ध है।<sup>४</sup>

२. नियम—यह योगका दूसरा अंग है। योगसूत्रमें शीघ्र, सम्भोग, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इनको नियम कहा गया है।<sup>५</sup> ज्ञानार्थिमें परिग्रह व आशाको हृदय बल्लाते क्रोधादि कषायोंके छोड़ने और राग-द्वेष-मोह व इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करने इत्यातिका जो स्थान-स्थानपर उपदेश दिया गया है वह सब नियमका ही रूप है। यमका विधान जहाँ सार्वकालिक और सार्वदेशिक है वहाँ नियमका विधान सर्वादित देश-कालसे सम्बद्ध है।<sup>६</sup> जैन धिन्दात्मके अनुसार अणुवर्ती व भोगीपर्भोग परिमाणका विधान इस नियमके ही अस्तर्गत है।

३. आसन—यह तीसरा योगांग है। योगसूत्रमें निश्चल व सुखावह आसनको योगका अंग घासा गया है।<sup>७</sup> इसके स्पष्टीकरणमें भाष्यकारने पदासन, भद्रासन, स्वस्तिक व पर्यंक आदि कुछ विशेष आसनोंके नामोंका निर्देश भी कर दिया है।

ज्ञानार्थिमें ऐसे ही कुछ आसनोंका विधान किया गया है। वहाँ यह विशेष रूपसे कहा गया है कि जहाँ रागादिक दोष हीनताको प्राप्त होते हैं ऐसे ही स्थानमें ध्याताको ध्यानमें स्थित होना चाहिए तथा जिस-जिस आसनसे स्थित होनेपर मन निश्चल होता है उस-उस आसनसे स्थित होकर ध्यान करना योग्य है।<sup>८</sup> सार्वजनिकारका भी यही अभिप्राय रहा दिखता है कि ध्यानमें जिस आसनसे व जहाँ भी मनको स्थिरता हो सकती है वही आसन व स्थान उपयुक्त है, स्थिर सुख युक्त ही आसन हो, यह कोई नियम नहीं है।<sup>९</sup>

४. प्राणादान—योगसूत्रमें वार्तावते दिव्यरूपों द्विनिष्ठे पर जो ध्यास और प्रश्वासकी गतिका रैचन, स्तम्भन और पूरण क्रियाके द्वारा निरोध किया जाता है उसे प्राणायाम कहा गया है।<sup>१०</sup>

१. अहिंसा-सत्यास्त्रेय-अहृत्यपरिग्रहा यमाः । जाति-देश-काल-समयानवज्ञाना सार्वभीमा महाशतम् ।

यो. सू. २, ३०-३१ ।

२. नियमः परिभितकाले यावज्जीवं यमो भिक्षते ॥ रस्मक. ८-९; यावज्जीवं यमो झेयः सावधिनियमः स्मृतः ॥ उपासका. ७६१; अहिंसा-सूनूतारत्येय-अहृत्याकिञ्चननता यमाः । दिक्कालाद्यनवज्ञानाः सार्वभीमा महाशतम् ॥ द्वात्रि.- ( यशो. ) २१-२; हिसाविरदी सञ्चयं अदत्तपरिवज्जर्णं च वर्त्म च । संगविमुत्ती य तद्वा महत्त्वया पंच पर्णसा ॥ सूला. १-४; एम्पो हिसादिस्यः × × × सर्वतो विरतिर्महाव्रतम् । व. भा. ७-२; पञ्चवार्ता पादानां हिसादीनां यनोवन्नःकार्यः । कृत-कारितानुमोदेस्त्यागस्तु महाव्रतं महत्त्वम् ॥ रस्म क. ७२ ॥

३. शौच-योग्य-तपःस्वाध्याधेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । यो. सू. २-३२ ।

४. रस्मक. ८७; उपासका. ७६१ ।

५. स्थिरसुखमासनम् । यो. सू. २-४६; सांख्य. ३-३४; तत्त्वा—पदासनं मष्टासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्वर्यं पर्याङ्कं क्रीञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनमुद्गुनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं व्यासुखं चेत्येवमाशीनि । यो. सू. भा. २-४६ ।

६. ज्ञाना. 1309-14 ।

७. स्थिरसुखमासनमिति न नियमः । सा. व. ६-२४; न स्थाननियमश्चित्प्रसादात् । ६-३१ ।

८. तस्मिन् सति ध्यास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । यो. सू. २-४९ ।

ज्ञानार्थिमें इस प्राणायामकी प्रसंगा करते हुए उसके पूरक, कुम्भक और रेतक इन सीन भेदोंके निर्देशपूर्वक उनका पृथक्-पृथक् स्वरूप भी दिखलाया गया है। आगे वहीं पायिव आदि चार मण्डलों व वायुके संचारसे सूचित शुभा-शुभादिकी काफी विस्तारसे चर्चा की गयी है।<sup>१</sup>

५. प्रत्याहार—योगसूत्रमें प्रत्याहारके प्रसंगमें उसके स्वरूपका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि उपने विषयमें चित्तके संप्रयोगका अभाव हो जानेपर—उसका निरोध हो जानेसे—इन्द्रियों भी जो उस चित्तका अनुसरण कर विषयोंकी ओरसे विमुख हो जाती हैं, इसका नाम प्रत्याहार है। इस प्रकार वे इन्द्रियों पूर्ण रूपसे स्वाधीन हो जाती हैं।<sup>२</sup>

योगसूत्रके समान ज्ञानार्थिमें भी प्रत्याहारके लक्षणमें यही कहा गया है कि योगी इन्द्रियोंके साथ मनको इन्द्रियविषयोंकी ओरसे हटाकर उसे इच्छानुसार वहीं धारण करता है उसे प्रत्याहार कहा जाता है। इस प्रकार मनके स्वाधीन कर लेनेपर योगी कछुवेके समान इन्द्रियोंको संकुचित करके समताभावको प्राप्त होता हुआ ध्यानमें स्थिर हो जाता है।<sup>३</sup>

६. धारणा—योगसूत्रमें धारणाके स्वरूपको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि चित्तको जो नाभि-मण्डल, हृदय-कमल, चिर और नासिकाके अथभाग आदि देशोंमें बैधा जाता है; इसका नाम धारणा है।<sup>४</sup>

ज्ञानार्थिमें धारणाका वर्णनसे निर्देश न करके यह जो कहा गया है कि जिसेमिथ योगी विषयोंकी ओरसे इन्द्रियोंको, तथा उन इन्द्रियोंकी ओरसे निराकुल मनको पृथक् करके उसे मिश्चलतापूर्वक ललाट देशमें धारण करता है, यह धारणाका ही स्वरूप है। आगे वहीं नेत्रयुगल, कण्ठयुगल, नासिकाका अथभाग, ललाट, मुख, नासि, चिर, हृदय, तालु और भूकुटियुगल; इन वरीरगत ध्यानस्थानोंका निर्देश भी कर दिया गया है जहाँ चित्तको धारण किया जाता है।<sup>५</sup>

७. ध्यान—योगसूत्रमें ध्यानके लक्षणमें यह कहा गया है कि ध्यानमें वहीं चित्तको धारण किया गया है उस देशमें ध्येयका आलम्बन लेनेवाले प्रत्ययका अन्य प्रत्ययोंसे अपराध्युष रहने से हुए जो सदृश प्रबाह चलता है उसका नाम ध्यान है।<sup>६</sup> इसका अभिप्राय यह है कि ध्यानमें पूर्वोक्त नाभिचक्रादि देशोंमें से जिसमें चित्तको स्थिर किया गया है वहींपर एकाग्रतासे चिन्तन करते हुए स्थिर रहना व अन्य विषयोंका आलम्बन म लेना, यह ध्यानका लक्षण है।

ज्ञानार्थिमें जो एकाग्रचिन्तानिरोधको ध्यान कहा गया है उसका भी यही अभिप्राय है कि प्रत्ययान्तरके संसर्गसे रहित होकर एक ही वस्तुका जो स्थिरतापूर्वक चिन्तन किया जाता है उसका नाम ध्यान है।<sup>७</sup>

१. ज्ञाना, 1342-1455।

२. एवं विषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाण्या प्रत्याहारः। यो. सू. २-५४।

३. ज्ञानार्थ 1456-57।

४. देशबन्धशिस्तस्य धारणा। यो. सू. ३-१। (नाभिचक्रे हृदयपूण्डरीके मूर्तिः ज्योतिषि नासिकावे विहृष्ण इत्येवमादिषु वेण्येषु वाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण वृत्त धृति धारणा—ध्यास भावः)

५. ज्ञाना, 1458 व 1467-69।

६. तथा प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। यो. सू. ३-१।

७. ज्ञाना, 1194-95।

६. समाधि—योगसूत्रमें समाधिके स्वरूपको विवरित हुए कहा गया है कि अपर्युक्त ध्यान ही ध्येय अर्थके आकारके प्रतिभासरूप होकर जब स्वरूपसे शून्यके समान हो जाता है—ज्यान-ध्येय अथवा ज्ञान-ज्ञेयके विकल्पसे रहित ही जाता है—तब उसे समाधि कहा जाता है<sup>१</sup>।

ज्ञानार्थवके अनुसार इस समाधिका स्वरूप शुक्लध्यानमें निहित है। योगसूत्रमें समाधिके दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सदीज समाधि और निर्वौज समाधि। दूसरे शब्दोंमें इन्हें सालम्बन ध्यान और निरालम्बन ध्यान कहा जा सकता है। जिस प्रकार स्वच्छ सफटिक मणिके सामने कला-नीला आदि जैसा भी पदार्थ आता है उसके आधार सह स्वच्छ स्पॉटिक मणि की उसके उपराखसे उपरक, होकर तद्रूप परिणत हो जाता है, इसी प्रकार योगीका निर्मल जित भी ग्राह्य (स्थूल व सूक्ष्म ध्येय), ग्रहण (इन्द्रिय) और गृहीता (पूरुष) इनमें-से जिसका आलम्बन लेता है तद्रूपताको ग्रास हो जाता है। इसका उल्लेख योगसूत्रमें समाप्ति घटाए किया गया है।<sup>२</sup> वह समाप्ति सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचारके भेदसे घार प्रकारकी है। इसमें स्थूल अर्थ (महाभूत व इन्द्रियों) को विषय करनेवाली सवितर्क समाप्ति जहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञानविकल्पोंसे संकीर्ण रहती है वही निर्वितर्क समाप्ति उक्त विकल्पोंसे रहित होती हुई स्वरूपसे शून्यके समान अर्थके प्रतिभासरूप है।<sup>३</sup> सविचार समाप्तिका स्वरूप सवितर्क समाप्तिके समान और निर्विचार समाप्तिका स्वरूप निर्वितर्क समाप्तिके समान है। विशेष इतना है कि सवितर्क और निर्वितर्क समाप्तियों जहाँ स्थूल (महाभूत और इन्द्रियों) को विषय करती हैं वहाँ सविचार और निर्विचार समाप्तियों सूक्ष्म (उन्मात्रा और अभ्युक्तरण) को विषय करती है।<sup>४</sup> इन चारों समाप्तियोंको सदीज या संप्रज्ञात समाधि कहा गया है।<sup>५</sup> इस संप्रज्ञातका निरोध हो जानेपर समस्त चित्तवृत्तियोंके हट जानेसे निर्वौज या असंप्रज्ञात समाधिका प्रांडुभवि होता है, जिसमें पुरुष स्वरूपनिष्ठ हो जाता है। इसीसे उसे शुद्ध, केवली व मुक्त कहा जाता है।<sup>६</sup>

प्राचीन जैन धाराम परम्पराके अनुसार ज्ञानार्थवमें जिस शुक्लध्यानका निरूपण किया गया है वह योगसूत्रप्रस्तित पूर्वोक्त समाधिकी प्रक्रियासे बहुत कुछ समानता रखता है। जैसे—ज्ञानार्थवमें शुक्लध्यानके ये घार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सवितर्क-सविचार-सूक्ष्मवत्व, सवितर्क-अविचार-अपूर्थकृत्व, सूक्ष्मक्रिया, प्रतिपाती और समुचित्तनक्रिय। इनमें प्रथम शुक्लध्यान शब्द, अर्थ और ज्ञान विकल्पोंसे संकीर्ण पूर्वोक्त सवितर्क समाप्ति जैसा तथा द्वितीय शुक्लध्यान उक्त विकल्पोंसे रहित निर्वितर्क समाप्ति जैसा है। ज्ञानार्थवमें इन विकल्पोंका मिदेश अर्थसंकरण, अंगजन (शब्द) संकरण और योगसंकरण इन पारिभाषिक शब्दोंके द्वारा किया गया है। योगसूत्रके अनुसार जिस प्रकार स्थूलको विषय करनेवाली प्रथम सवितर्क समाप्तिमें शब्द, अर्थ और ज्ञान विकल्प बने रहते हैं उसी प्रकार प्रथम शुक्लध्यानमें भी उक्त विकल्प बने रहते हैं। इसीसे

१. तदेवार्थनिभसि स्वरूपशून्यमिव समाधिः। यो. सू. ३-२।

२. कीणकृतेरभिजातस्येव मणेऽहोत्-ग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्वतदज्ञनता समाप्तिः। यो. सू. १-४१।

३. तत् शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णो सवितर्की समाप्तिः। स्मृतिपरिषुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिभसि निर्वितर्की। यो. सू. १, ४२-४३।

४. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याह्याता। यो. सू. १-४४।

५. ता एव सदीजः समाधिः। यो. सू. १-४६ ( ता एवोक्तलक्षणा समाप्तयः, सह वीजेनाऽऽलम्बनेन कर्तव इति सदीजः संप्रज्ञातः समाधिरित्युच्यते, सर्वासां सालम्बनस्थात् —भोज-वृत्ति )।

६. तस्यामि निरोधे सर्वनिरोधान्तर्वौजः समाधिः। यो. सू. १-५१। ( × × × तस्मिन् ( चित्ते ) निर्वौजे पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः युद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यते इति—व्यासभाष्य )।

उसे प्रथम समाप्तिके समान सवितर्क कहा गया है। तथा उक्त योगसूत्रके अनुसार जिस प्रकार वे विकल्प द्वितीय समाप्तिमें नहीं रहते, इसीसे उसे अविचार कहा गया है उसी प्रकार द्वितीय शुक्लठायानमें भी चौंकि वे विकल्प नहीं रहते, इसीसे उसे भी अविचार कहा गया है।

उक्त निविचार समाप्तिमें निर्मलताके प्रादुर्भूत होनेपर योगसूत्रके अनुसार अध्यात्मप्रसाद होता है—चित्त क्लेश-वासनाओंसे रहित हो जाता है।<sup>१</sup> इस अध्यात्मप्रसादके प्रादुर्भूत हो जानेपर अहंभरा प्रज्ञा—यथार्थतासे परिपूर्ण ज्ञान—प्रकट हो जाता है।<sup>२</sup> इस अहंभरा प्रज्ञाका विषय श्रुतप्रज्ञा और अनुमान इत्याहे चित्त श्रीम है।<sup>३</sup> इसका कारण यह है कि उक्त दोनों प्रज्ञाएँ सामान्यको विषय करती हैं—इन्द्रियाधित होनेसे उनका क्षेत्र व काल सीधित है, इससे वे सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंकी विशेषताओंको नहीं जान सकते हैं। परन्तु वह अहंभरा प्रज्ञा इन्द्रियातीत होनेके कारण उक्त मुक्तमादि पदार्थोंके भी ग्रहणमें समर्थ है।<sup>४</sup> उसके प्रादुर्भूत हो जानेपर पूर्वकी समस्त वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं। इस क्रमसे पूर्णकृत सवितर्क आदि वार समाप्तिस्वरूप संप्रवात योगका निरोध हो जानेपर चौंकि सभी चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जाता है इसीसे उस समय निर्वैज्ञानिक समाधि—निरालम्ब ध्यान—प्रादुर्भूत होता है।<sup>५</sup>

ज्ञानार्थव आदि अनेक जैन ग्रन्थोंमें जो सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और समुचित्तनक्रियानिवृत्ती इन दो शुक्ल-व्याख्यानोंकी प्रलृपणा की गयी है वह उपर्युक्त योगसूत्रप्रलृपित प्रक्रियासे बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। ये हीनों ध्यान, भोग और अज्ञान (अल्पज्ञता) के पूर्णतया दिनष्ट हो जानेपर केवलीके हुआ करते हैं। ये केवली उक्त सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थमत सभी विशेषताओंको जानते हैं, जिनका निर्देश योगसूत्र व उसके भाष्य आदिमें किया गया है १-४९। इस केवलज्ञानके प्रकट हो जानेपर भोग और अज्ञानज्ञनित समस्त वासनाएँ विलीन हो जाती हैं। इससे उसे जैसे योगसूत्र (१-५१) के भाष्यमें शुद्ध, केवली व मुक्त कहा गया है वैसे ही ज्ञानार्थव आदि अनेक जैन ग्रन्थोंमें भी उसे शुद्ध, केवली व मुक्त कहा गया है ( 2171-75 व 2198-2201 ) ।

आर भावनाएँ—योगसूत्रमें चित्तप्रसादकी कारणभूत मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार भावनाओंका परिक्रमके रूपमें निर्देश किया गया है ( १-३३ ) ।

ध्यानकी सिद्धिके लिए इन चार भावनाओंका निर्देश ज्ञानार्थमें भी इन्हीं शब्दोंके हारा किया गया है; तथा यथाक्रमसे उनका स्वरूप भी प्रकट कर किया गया है ( 1270-85 ) ।

अहिंसामाहारव्यय—योगसूत्रमें अहिंसामहारव्ययके प्रश्नमें यह कहा गया है कि अहिंसाका विन्दन

१. निविचारवैशारदोऽध्यात्मप्रसादः । यो. सू. १-४७ । ( यदा निविचारस्य समाधेवैसारद्यं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषयः क्रमान्तुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः—भाष्य ) ।
२. अहंभरा तत्र प्रज्ञा । यो. सू. १-४८ । ( अन्वर्था च मा, सत्यमेव विभक्ति न च तत्र विष्वासज्ञानग्रन्थोऽन्यस्तीति—भाष्य ) ।
३. अतानुमानप्रज्ञाम्यामन्यविषया, विशेषार्थत्वात् । यो. सू. १-४९ ।
४. × × × इर्य पुनर्निविचारवैशारदासपुद्भवा प्रज्ञा ताभ्यां विलक्षणा, विशेषविषयत्वात् । अस्यो हि प्रज्ञामां सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टानामपि विशेषः स्फुटेनैव रूपेण भासते । यो. सू. भोजवृत्ति १-४९ । ( आ, समन्तभद्रने उक्त मुक्तमादि पदार्थोंमें प्रत्यक्षविषयताको सिद्ध करते हुए सर्वेजकी सिद्धि की है—आसमी. ५ । )
५. सर्वापि निरोधे सर्वेनिरोधाभिर्बीजः समाधिः । यो. सू. १-५१ ।

करनेवाले योगीके समीपमें स्वभावतः परस्पर विरोध रखनेवाले सर्व व व्योले जैसे प्राणी भी जन्मजात वैरभावको छोड़कर साधन्नाथ स्थित रहते हैं ।<sup>१</sup>

ज्ञानार्थकमें अहिंसाके प्रतीक साम्यभावकी महिंसाको प्रकट करते हुए कहा गया है कि मुनिके समीप साम्यभावके प्रभावसे स्वभावतः क्रूर भी प्राणी जात्वभावसे स्थित रहते हैं। कीणमोह योगीके समक्ष मृदी सिंहके बच्चेको पुत्रके समान स्पर्श करती है। इसी प्रकार शाय क्षाद्यके बच्चेको, बिल्ली हंसके बच्चेको और मोर सर्पको प्रेमके बजौरभूत होकर स्पर्श करती है ।<sup>२</sup>

योगजन्यविभूतियाँ—योगसूत्रके तीसरे पादमें विषयभेदके अनुसार धारणा, ध्यान और समाधिस्थिति संघर्षसे आविर्भूत होनेवाली अनेक प्रकारकी विभूतियोंको विस्तृताया गया है। जैसे—धर्म, लक्षण और अवस्थारूप तीन परिणामविषयक संघर्षसे—तद्विषयक, धारणा, ध्यान और समाधिसे—योगीको बतौत व अनाथतका ज्ञान होता है ।<sup>३</sup>

जैनदर्शनके अनुसार पूर्वोक्त धर्म, लक्षण और अवस्थारूप परिणाम उत्पाद, व्यय और श्रौत्य स्वरूप हैं। यथा—सिद्धीरूप धर्मका पिण्डरूप धर्मको छोड़कर घटरूप धर्मको स्वीकार करना, यह उसका धर्मपरिणाम है। उसी घटका अनागत अध्यात्मको छोड़कर वर्तमान अध्यात्मको स्वीकार करना, यह उसका लक्षणपरिणाम है। उसी घटका समान धर्मोंमें अन्धर्या स्वरूपसे अवस्थित रहना, यह उसका अवस्थापरिणाम है। ये तीनों परिणाम जिस प्रकार जैनदर्शनके अनुसार चेतन-अचेतन सभी पदार्थोंमें स्वीकार किये गये हैं उसी प्रकार वे योगदर्शनमें भी चित, भूत और इन्द्रिय आदि सभी पदार्थोंमें स्वीकार किये गये हैं।

जैन दर्शनके अनुसार पृथक्त्ववितरक और पृक्त्ववितरक नामक दो शुक्लध्यानोंका विषय उक्त उत्पादादि अवस्थाएँ हैं<sup>४</sup>। उनके ध्यानसे ध्याताके विशिष्ट ज्ञान सुमन्बव है ।

इसके अतिरिक्त ज्ञानार्थकमें जो यह कहा गया है कि नेत्रयुगल और कण्ठयुगल आदि ज्ञानीरगत निष्पत्ति ध्यानस्थानोंमें चित्तके स्थित करनेपर वहूत-से ध्यानप्रस्थय उत्पन्न होते हैं, वह योगसूत्रनिर्दिष्ट अतीर्ळ-अनागत ज्ञान (३-१६), भूतहतज्ञान—पशु-पक्षी आदि प्राणियोंके विविध शब्दविषयक ज्ञान (३-१७), पूर्वजातिज्ञान—जातिस्मरण (३-१८) और परचित्तज्ञान—ममःपर्ययज्ञान (३-१९) दत्यादि विभूतियों ( ऋद्धियों ) का व्योधक है ।

१. अहिंसाप्रतिष्ठायो तत्संनिधो वैरत्यागः । यो. सू. २-३५ । ( तद्याहिंसा भावयतः संनिधो सहजविरोधिनामप्यहिन्नकुलादीनो वैरत्यागो निर्मत्सरतयाऽवस्थाने भवति, हिन्ना अपि हिन्नत्वे परित्यज्मतीर्थ्यः—भोजवृत्ति । )

२. ज्ञाना. ॥६६-७२ ।

३. परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् । यो. सू. ३-१६ ।

४. उप्पाय-द्विद्व-भंगादपञ्जयाणं जसेगवत्सुमि ।

नानानयाणुसरणं पुष्करवसुथानुसारेण ॥

सवियारम्भ-वंजण-जोगतरबो तथं पहमसुवक्त्वं ।

होइ पुहूतवितकं सवियारम्भरागभावस्त्वा ॥

जं पुण सुगिष्पकंपं निकायसरणप्यद्विमिव चित्तं ।

उप्पाय-द्विद्व-भंगादपाणमेगमि पञ्जाए ॥

सवियारम्भ-वंजण-जोगतरबो तथं विद्यसुक्तं ।

पुञ्चवयसुयावलंबणमेगसवित्तकमवियारं ॥ व्यानशतक ७७-८० ॥

### योग व जैन दर्शनोंमें विभूतिविषयक समानता

१. योगसूत्र (३-४) में धारणा, ध्यान और समाधिको समूदित रूपमें संयम कहा गया है। अभीष्ठ विषयमें किये गये इस संयमसे योगीको उद्दतुरूप विभूति प्राप्त होती है। जैसे—हृदयमें जो अधोभूख छोटा कमल है<sup>१</sup> उसके अभ्यन्तरमें अन्तःकरणरूप स्थवका स्थान है। इसके विषयमें किये गये उक्त संयमसे योगीको अपने व परके चित्तका ज्ञान प्राप्तुर्भूत होता है (३-३४)।

जैन दर्शनमें इस स्व-परचितके ज्ञानको मनःपर्यज्ञान कहा गया है, वह संपर्कके ही होता है, असंयमीके नहीं होता।<sup>२</sup>

२. पुरुषसंयमसे—सत्त्व-पुरुषभेदविज्ञानविषयक संयमसे—योगीके प्रातिभ, आदृण, वेदना, आदर्श, स्वाद और वाती ये ज्ञान उत्पन्न होते हैं (३-३६)। यहीं प्रातिभसे सूक्ष्म-विप्रकृष्टादिविषयक ज्ञान, आवश्यके द्वितीय शब्दज्ञान, वेदनासे द्वितीय स्पर्शज्ञान, आदर्शसे द्वितीय रूपज्ञान, स्वादसे द्वितीय स्वादविषयक ज्ञान और वातीसे द्वितीय गम्भज्ञान अभिप्रति रहा है।

जैन दर्शनके अनुसार तिलोथपणलिंगे या. ४, ९८४-९७ द्वारा जिन संभिन्नत्रोत्तर्व, दूरस्वादित्व, दूरस्पर्शत्व, दूरव्याणत्व, दूरत्रिवर्णत्व और दूरदृष्टित्व अद्वियोंको प्रकट किया गया है वे उन योगसूत्र प्रखण्डित प्रालिङ आदि अद्वियों जैसी ही हैं। तत्त्वार्थवातिक ( ३, ३६, ३ ) में भी बुद्धि अद्विके १८ भेदोंमें इनका निर्देश किया गया है।

३. योगसूत्र ( ३-२४ ) में कहा गया है कि अभीष्ट बलके विषयमें संयम करनेवाला योगी उसी प्रकारके बलको प्राप्त करता है। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए उसके व्याप्ति विरचित भाष्यमें यह कहा गया है कि योगी यदि हाथीके बलके विषयमें संयम करता है तो वह हाथी जैसा बलवान् होता है, यदि वह गद्दूके बलके विषयमें संयम करता है तो गद्दू जैसा बलवान् होता है, तथा यदि वह वायुबलके विषयमें संयम करता है तो वायुबलसे युक्त होता है।

जैन दर्शनके अन्तर्गत तत्त्वात्मकात्मनमें स्फटिक मणिका उदाहरण देते हुए वह कहा गया है कि आरम्भ योगी जिस भावसे जिस रूपका ध्यान करता है वह तत्त्वमय हो जाता है ( १९०-११ )। इसे आगे कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि गद्दूके ध्यान द्वारा योगी स्वयं गद्दू होकर झण-भरमें विष्कौटि दूर कर देता है, अग्र कामके ध्यानसे कामरूप परिणत होकर विश्वको बद्धमें करता है, अग्निके ध्यानसे वह अग्निहोकर रोगीको ज्वालायनसे ध्यान करता हुआ उसके शीतञ्जवरकी तष्ट करता है<sup>३</sup>। सुषाके ध्यानसे वह सुषामय होकर अमृतकी वर्षा करता है, तथा क्षीरसमुद्रके ध्यानसे क्षीरसमुद्रस्वरूप होकर लोकको प्लावित करता है। इस प्रकारसे योगी ध्यानके द्वारा तत्त्वमय होकर प्राणियोंके शान्तिका व पीछिक कर्मको करता है ( २०५-८ )।

४. योगसूत्र ( ३-३९ ) में उदान वायुके व्यक्तके फलको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि उदान

१. ज्ञानार्थवार्ता पिण्डित्य ध्यानके प्रसंगमें ( १८९०-९१ ) हृदयस्थ आठ पत्तोंवाले अधोभूख कमलका उल्लेख किया गया है।

२. स. सि. १-२५; त. वा. १, २५, २; घव. पृ. १३, पृ. २१३।

३. शुभाशुभ तीजसलविषयका स्वरूप भी लगभग इसी प्रकारका सम्बन्धना चाहिए, जैसे द्वीपायन मुनिके :

वायुके जयसे योगी जल, कीचड़ और कट्टकसे संगत नहीं होता; किन्तु अतिवाय लघु हो जनेके कारण वह महाददी आदि, विशाल कीचड़ और तीक्ष्ण कॉटोंके ऊपरसे गमन करनेमें समर्थ होता है।<sup>१</sup>

हेमचन्द्र सूरि विरचित योगशास्त्रमें भी लगभग इसी अभिप्रायकी इस प्रकारसे व्यक्त किया गया है— उदानके जीत लेनेपर योगी जल और कीचड़ आदिके द्वारा निवायि रूपसे उत्क्रमण करता है—उनके ऊपरसे अवाध गतिसे अल-फिर सकता है। दोनोंमें कुछ शब्दसाम्य भी सुनिटिगोचर होता है। यथा—

उदानजयायजल-पङ्क-कण्टकादिव्यसञ्च उत्क्राम्लिङ्च । यो. सू. ३-३९ ।

उत्क्राम्लिङ्चर्हर्ति-पङ्काधैश्वरवायोदाननिर्जये । यो. शा. ५-२४ ( प. ) ।

यहाँ यह विशेषता भी है कि पोगसूत्र ( ३, ३९-४० ) में जहाँ केवल उदान और समान इन दो ही वायुओंके जयका फल प्रकट किया गया है वही योगशास्त्र ( ५, २२-२४ ) में पौर्वो ही वायुओंके जयके फलका निर्देश किया गया है।

५. योगसूत्र ( ३-४१ ) के अनुसार श्रोत्र और आकाशके सम्बन्धविषयक संयमसे दिव्य ओष्ठ प्रवृत्त होता है। इसे स्पष्ट करते हुए इस सूत्रकी भोवयेव विरचित वृत्तिमें कहा गया है कि उन संयमसे योगीके जो दिव्य ओष्ठ प्रवृत्त होता है उससे वह एक साथ सूक्ष्म, अविद्युत और विप्रकृष्ट शब्दोंके गहणमें समर्थ हो जाता है।

तत्त्वार्थवातिक ( ३, ३६, ३, प. २०२ ) में विशिष्ट तपके बलसे योग्र इन्द्रियमें इस प्रकारका विशेष परिणयन बतलाया गया है कि जिसके प्रभावसे साधु बारह योग्य लक्ष्य और नौ योग्य चौड़े शेषमें स्थित हाथी-चोड़े एवं मनुष्य आदिके अक्षर-अनक्षरस्वरूप समस्त शब्दोंको एक कालमें गहण कर सकता है।

६. योगसूत्र ( ३-४२ ) के अनुसार शरीर और आकाशविषयक संयमसे तथा लघु दूल ( रुई ) में तत्त्वप्रसाद्याल्प समाप्तिसे योगी आकाशमें गमन कर सकता है। इस सिद्धिके प्रभावसे वह पौर्वोंको घरते-उठाते हुए जलके ऊपरसे चलता है, मकड़ीके तन्तुओंके आश्रयसे गमन करता है, तथा सूर्यकी किरणोंके सहारे आकाशमें दिनर सकता है।

तिळोप्पण्णति ( ४, १०३३-४९ ) और तत्त्वार्थवातिक ( ३, ३६, ३, प. २०२ ) आदि अनेक जैन ग्रन्थोंमें क्रियाविषयक ऋद्धिके चारणत्व और आकाशगमित्य ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इनमें चारण ऋद्धिके भी जो अनेक प्रकार दिशलाये गये हैं उनमें जलचारण, मर्कटतम्तुचारण और उद्योतिश्चारण भी हैं। इन ऋद्धियोंके धारक योगी पृथिव्यीके समान जलके ऊपरसे गमन कर सकते हैं, मकड़ीके तन्तुओंके आश्रयसे विचरण कर सकते हैं तथा सूर्यकी किरणोंका आलम्बन लेकर विहार कर सकते हैं।

आकाशगमित्यके प्रभावसे पौर्वोंके उठने-घरनेके बिना पदासन अथवा कायोत्सर्गसे लिखत रहकर आकाशमें गमन कर सकते हैं।

७. योगसूत्र ( ३-४५ ) में भूतजयके प्रभावसे अणिमा आदिके प्रादुर्भावके साथ कायसम्पत् और तद्वर्णनिमित्तात्—शरीरधमोंकी अप्रतिहतता—के आविभविकी सूचना की गयी है। इस सूत्रकी भोजदेव विरचित वृत्तिमें अणिमा, महिमा, लविमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और विशित्व इन आठका निर्वेश करते हुए उनका पृथक्-पृथक् स्वरूप भी प्रकट किया गया है। भाष्यकारने भी एक गरिमाको छोड़कर शेष सातका उल्लेख किया है।

जैन दर्शनके अन्तर्गत पूर्वोंके तिळोप्पण्णति ( ४, १०२४-१० ) और तत्त्वार्थवातिक ( ३, ३६, ३,

पृ. २०२-३ ) आदिमें इन दोनों ऋद्धियोंका निर्देश उसी क्रमसे किया गया है तथा स्वरूप भी प्रत्येकका वैसा ही कहा गया है ।

योगसूत्रमें अणिभा आदिके साथ जिस तद्वर्णनभिधातका निर्देश किया गया है, पूर्वोक्त तिलोयपणति ( ४-१०३१ ) और सत्त्वार्थवातिक ( ३, ३६, ३ ) में उसके समानार्थक अप्रतीवातका निर्देश किया गया है । अभिप्राय दीर्घीका सर्वथा समान है ।

इसी योगसूत्रमें जिस कायसम्पत्का निर्देश किया गया है उसका स्थानिकरण करते हुए अगले सूत्र ( ३-४६ ) में उससे रूप-लावण्य, बल और वज्रसंहनमत्वको घटण किया गया है ।

तिलोयपणति ( ४-१०३२ ) और सत्त्वार्थ वातिक ( ३, ३६, ३ ) में रूपालवण्यके समानार्थक काम-रूपित्व ऋद्धिका निर्देश किया गया है । इन्हीं दोनों प्रत्येकमें जो बल-ऋद्धिका निरूपण किया गया है उसके अन्तर्गत कायबलमें बल और वज्र संहनमत्वका भी समावेश होता है ।

८. योगसूत्र ( ३-४९ ) में युत्त्र और पुरुषकी अभ्यतारुयाति ( भैश्विज्ञान ) भाव स्वरूपसे स्थित योगीके प्रादुर्भूत सर्व भावोंके अविज्ञातृत्व और सर्वज्ञातृत्वका निर्देश किया गया है । इस सूत्रके अध्ययनमें फलितार्थको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि यह विषोका नाम की सिद्धि है जिसे याकर योगी सर्वज्ञ शीणकलेशबन्धन व वशी होकर विहार करता है ।

जैन दर्शन के अनुसार शरीर और आत्माके भैश्विज्ञानपूर्वक व्यानमें निरत हुआ योगी उसरोत्तर कर्मबन्धनसे रहित होता हुआ एकत्रितर्का नामक शुक्लध्यानको, जिसे संप्रज्ञात समाधि कहा जा सकता है, प्राप करता है व उसके प्रभावसे बीतराग एवं सर्वज्ञ होकर विहार करता है ।

९. इस दीसरे विभूतिपादको समाप्त करते हुए अन्तिम योगसूत्र ( ३-५५ ) में यह कहा गया है कि सत्त्व और पुरुषकी शुद्धिकी समानताके ही जानेपर कैवल्यका प्रादुर्भाव होता है—योक्ता ही जाता है । सर्व-कर्तृत्वविद्यवक अभिप्रायके हठ जानेपर सत्त्वका जो स्वकारण ( प्रकृति ) में अनुप्रवेश होता है, यह उस-उस सत्त्वकी शुद्धि है तथा पूर्वमें जो उपचरित योग वा उसका अभाव हो जाना, यह पुरुषकी शुद्धि है । इस शुद्धिसाम्यमें भोक्ता होता है ।

जैन सिद्धान्तके अनुसार विचार करनेपर तेरहवें गुणस्थानमें योगीका निरोध करते हुए केवलीके सूक्ष्म काययोगमें स्थित होनेपर सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान होता है । उसके परिणामस्वरूप सूक्ष्म काययोगका भी निरोध हो जानेपर अशुद्धिके कारणभूत योगालावका जो सर्वथा अभाव ही जाता है, यही पुरुष वा आत्मा-की शुद्धि है । इस प्रकारसे अयोग अवस्थामें शौलेशीसाव—शौलेश ( मेरु ) के समान स्थिरता—को प्राप्त होकर योगी अनुकीर्ण ( ७२ या ७३ ) और उदीर्ण ( १३ या १२ ) कर्म प्रकृतियोंका क्षय करता हुआ मुक्तिकी प्राप्त कर लेता है ।

**निष्ठार्थ**—इस प्रकार जैन और योग दोनों ही दर्शनोंमें ऋद्धि-सिद्धिरित्यक पर्याप्त समानता पायी जाती है । साथ ही दोनों दर्शनोंने इन सिद्धियोंको आत्माके अरमोकर्षका कारण नहीं माना, व्यवहार अवस्थामें ही उन्हें उपादेय माना गया है । योगसूत्रमें यह कहा भी गया है—

ते समाधावृपसर्गी व्युत्थाने सिद्धयः । यो. सू. ३-३७ ।

अथवा पूर्वोक्त प्रातिम आदि विभूतियाँ व्युत्थानवस्थामें—व्यवहारदशामें—भले ही सिद्धिस्वरूप हीं, पर अन्ततः शुद्ध-विषादादिकी कारण होनेसे उन्हें समाधिमें उपसर्गस्वरूप—विघ्न करनेवाली—ही बतलाया गया है ।

१. इत्येषा विषोका नाम सिद्धिर्या प्राप्य योगी सर्वज्ञ शीणकलेश-बन्धनो वशी विहरति । यो. सू. भाष्य ३-४९ ।

इतना ही नहीं, हसी योगमूलमें विद्युत् धम, लियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ योगांगोंमें पूर्व पाँचकी अपेक्षा अन्तिम तीनको अन्तर्गत कहा गया है,<sup>१</sup> क्योंकि संप्रज्ञात् समाधिमें साक्षात् उपकारक ये तीन ही हैं, पूर्व पाँच हो परम्परासे ही उसके उपकारक हैं। आगे चलकर इन अन्तिम तीनको भी शून्य भावना रूप<sup>२</sup> निर्वैज्ञानिक (निरालम्ब ध्यान) की अपेक्षा बहिरंग कह दिया गया है,<sup>३</sup> क्योंकि ये उस निर्वैज्ञानिक समाधिके साक्षात् उपकारक न होकर परम्परासे ही उपकारक हैं।

जैन दर्शनके अनुसार भी ये ऋद्धियों आत्मके चरमोत्कर्षमें ज्ञानक हैं। इन विद्या-मन्त्रोंकी प्रत्ययां दसवें विद्यानुवाद पूर्वमें विस्तारसे की गयी है। उसके प्रसंगमें तिलोपपण्णति (४, ९९८-१०००) में यह कहा गया है कि विद्यानुवादके पढ़ते समय उसमें प्रखण्डित रोहिणी आदि महाविद्याओंके पाँच सौ तथा अंगुष्ठप्रसेनादि क्षुद्र विद्याओंके सात सौ देवता आकर जब आङ्ग भागिते हैं तब संघममें प्रतिष्ठित अभिन्नदक्षपूर्वी महर्षि उनकी इच्छा नहीं किया करते। इसीसे वे उत्तरोत्तर ज्ञान-ध्यानमें उत्कर्षको प्राप्त होते हुए सर्वज्ञ केवली हो जाते हैं तथा अन्तमें मुक्तिको भी प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो उनकी इच्छा किया करते हैं वे अधिष्ठित मिथ्यादृष्टि होती हैं।

स्वत्वार्थीषिगम भाष्यमें भी प्रसंगप्राप्त इन ऋद्धियोंका वर्णन करते हुए अन्तमें (१०-७, प. ३११) यही कहा गया है कि योगी ध्यानके बलसे अनाग्रास हो ग्राप्त हुई इन ऋद्धियोंके विषयमें तृष्णा व आसक्तिसे रहित होता है, इसीसे वह मोहकी पूर्णतया नष्ट करके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका भी क्षम कर देता है। तब वह संसारबन्धनके बीजको दग्ध करता हुआ केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शुद्ध, सुद्ध एवं कृतकृत्य होकर निर्णयसुखको प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकारसे जैन और योग इन दोनों ही दर्शनोंने अपनी-अपनी तत्त्वज्ञानस्याके अनुसार कुछ विशेषताओं अपनाते हुए भी मुमुक्षुके लिए सांसारिक सुखकी ओरसे विमुक्त कर प्रशास्त मुक्तिके शार्णको प्रस्तुत किया है।

१२. हरिभद्रमूरिकी योगदृष्टि—जैन परम्परासे हरिभद्रसूरि विविध विषयोंके प्रतिभासाली विद्यान् हुए हैं। उनका योगविषयक भी गहन अव्ययन था। वर्तमानमें उनके द्वारा रचे गये योगविषयक चार प्रथम उपलब्ध हैं—योगविन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविशिका और योड़णक प्रकरण।

१. योगविन्दुमें उन्होंने अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षयको योग कहा है। योगका कार्य है मोक्षसे योजित करनेवाला व्यापार। इन पाँचोंका स्वरूप उन्होंने पृथक्-पृथक् कहा है।

२. द्वासरे योगदृष्टिसमुच्चयमें योगका विचार करते हुए योगविन्दुसे भिन्न ही प्रक्रियाको अपनाया है। यहीं योगके इच्छायोग, ग्राहकयोग और सामर्थ्ययोग इन तीन भेदोंका निर्देश किया है। तथा सर्वसंन्यासरूप सामर्थ्ययोगको ही प्रधान योग कहा है। आगे उन्होंने भिन्ना, तारा, बला, दीप्ता, स्तिरा, कान्ता, प्रभा और परा इन आठ योगदृष्टियोंका नामनिर्देश करके उनकी उपभा क्रमसे तृष्णानिकण, गोमय अग्निकण, काष्ठ अग्निकण, दीपप्रभा, रत्नप्रभा, सूर्यप्रभा और चन्द्रप्रभासे दी है। इनमेंसे प्रथम चार दृष्टियों सम्पर्द्धनकी प्राप्तिके अभिमुख उस मिष्ठादृष्टिके होती हैं जिसका संसार पुद्मलपरावर्त मात्र (?) शेष रह गया है। ये चार दृष्टियों सम्यग्दृष्टिके ही होती हैं। इत्यादि कथन किया है।

१. अथमन्तरार्जुन पूर्वमयः। यो. सू. ३-७।

२. ज्ञानसार (३७-४४) और आ. देवसेन विरचित आराधनासार (७४-८३) में निरालम्ब शून्यध्यानकी विशेष भृहिभा प्रकट की गयी है।

३. तद्विविहरञ्ज निर्वैज्ञानिक। यो. सू. ३८।

३. योगविशिकामें स्थान, अर्थ, अर्थ, आलम्बन और निरालम्बन धर्मव्यापारके योग कहा है। इसमें से स्थान और उर्जको कर्मयोग उद्या शेष तीनको शानयोग कहा है। स्थानसे अभिग्राय आसनविशेष पचासन आदिसे है। ऊंसे उस शब्दको लिया है जिसका उच्चारण बनुष्टानमें किया जाता है। उस शब्दसे जो कहा जाता है वह अर्थ है। बाह्य प्रतिमा आदिके आश्रयसे होनेवाला व्यान आलम्बन है और उससे रहित व्यान अर्थात् निविकल्प समाधि निरालम्ब है। व्यान आलम्बनके दो प्रकार हैं—रूपी और अरूपी। अरहन्त व उनकी प्रतिमा रूपी आलम्बन है। सिद्धपरमात्माके केवलजातादिरूप गुणोंकी परिणतिरूप आलम्बन अरूपी है। सूक्ष्म होनेसे इसे निरालम्ब कहा गया है।

४. योगशक्ति प्रकरणके तेरहवें प्रकरणमें योगविशिकाके समान ही योगके सालम्बन और निरालम्बन की भेद किये हैं।

ज्ञानार्थक और योगशास्त्रके अनुसार ये सालम्बन और निरालम्बन योग रूपस्थ और रूपातीत व्यान-स्वरूप हैं उनसे भिन्न नहीं हैं। यह आश्वर्यकी बात है कि हरिभद्रसूरिके इस योगविधयक दृष्टिकोणका ज्ञानार्थक और योगशास्त्रपर कोई प्रभाव दृष्टि गोचर नहीं होता। जबकि इन दोनों ग्रन्थोंमें एकस्तर अतिशय-सामय रहा है। इनका ही तहीं, मनुष्य "तत्त्वति दिश्चित् योगसुन्तका प्रभाव तो दोनों ग्रन्थोंपर स्पष्ट दीखता है।

बीए सेवा मन्दिर

२१ वरियार्ड

दिल्ली

६०५-५६६

—बालचन्द्र शास्त्री

## विषय-सूची

प्रकरण	श्लोकोंका प्राप्ति	विषय	पृष्ठांक	
१.	१-४९	पीठिका	१-२२	
	३-६		परमात्मा, क्रष्णदेव, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, श्रीवर्षभान और हनुमथूतिकी बन्दना	४-८
	७-९		सर्वज्ञशासनकी प्रशंसा	८-९
	१०-११		संसारकी असारता और गम्यप्रयोजन	१०
	१२-१३		ग्रन्थकारका विनय	११
	१४-१७		समन्वयभाद्रादिकोंके वाङ्मयकी प्रशंसा	११-१२
	१८-२०		१०८ उपदेश शारण	१२-१३
	२१-२४		शास्त्रज्ञानकी उपयोगिता	१३-१४
	२५-२०		असत् शास्त्रोंकी निन्दा	१४-१६
	३१-३५		ग्रन्थका गुणदोषविवेचन करना	१६-१७
	३६-४४		आत्मशुद्धिका मार्ग	१८-२०
	४५-४९		मोक्षका स्वरूप और दुर्लभ सरजन्ममें मोक्षग्रासिके लिए प्रयत्नका उपदेश	२१-२२
२.	१-१९३	द्वादश भावना	२३-४९	
	१-४		संसारकी नश्वरता और भावशुद्धिका आधय लेनेका उपदेश	२३-२४
	५-७		द्वादश भावनाओंकी श्रेष्ठता	२५
	८-४७		इन्द्रियगुल, सर्वव्य, शरीर, पदार्थ आदिकी अनित्यता	२६-३७
	४८-६६		मृत्युका प्रभाव और जीवकी असहायता	३८-४४
	६७-७१		जीवोंका संसारमें अमरण	४५-४६
	७२-८३		जीवोंका उत्कृष्ट तथा निकृष्ट योनिये जन्म और सुख- दुःखोंकी अशाद्वत्तता	४६-४९
	८४-९३		जीवका अकेलापन	४९-५३
	९४-११		आत्माकी शरीरादिसे भिन्नता	५३-५६
	१००-१०५		पिता-पुत्र आदि सम्बन्धोंकी अनित्यता	५६-५७
	१०६-११८		शरीरकी अपवित्रता और अनित्यता	५७-६२
	११९-१२३		आत्मवका स्वरूप और शुभ आत्मव	६२-६३
१२४-१२७	बशुभ आत्मव	६३-६५		

राशन	दृष्टिकोण	चित्रण	पुस्तक
	१२८-१३०	संघर और उसके भेद	१५-१६
	१३१-१३९	संवरका स्वरूप और फल	६६-६८
	१४०-१४८	निर्जरा—स्वरूप, भेद तथा फल	६९-७१
	१४९-१७०	धर्म और उसकी श्रेष्ठता	७२-७८
	१७१-१७७	लोकका स्वरूप	७८-८०
	१७८-१९०	रत्नऋथस्वरूप भोक्तकी दुर्लभता	८०-८३
	१९१-१९३	द्वादश मावनाओंका महत्व	८४-८५
३.	१-३५*१	ध्यानलक्षण	८६-९६
	३-५	नरजन्मकी दुर्लभता और चार पुष्ट्यार्थ	८६-८७
	६-१४	मोक्षका स्वरूप और मोक्षप्राप्तिका कारण	८७-८९
	१५-२५	ध्यानकी सामग्री और फल	९०-९२
	२६-३५*१	ध्यानके तीन भेद और फल	९३-९६
४.	१-६०	ध्यानमुण्डोष	९७-१२२
	३-५	ध्यानके भेद	१३-१५
	६-८	ध्यानके गुण	१९-१००
	९-१७	परमे रहनेसे ध्यानसिद्धि नहीं	१०१-१०३
	१८-२१	मिथ्यादृष्टिसे भी ध्यानसिद्धि नहीं	१०४-१०६
	२१*१-२७	मिथ्यादर्शनोंके भेद	१०६-१०९
	२७*१-६०	ध्यानके दोष	११०-१२२
५.	१-२८*१	योगिप्रशंसा	१२३-१३३
	१-१९	योगियोंका स्वरूप—मनकी स्थिरता, तप, विःसंगता, पवित्र आचरण आदि योगियोंके गुण हैं	१२३-१२७
	२०-२८*१	योगियोंकी प्रशंसा	१२८-१३३
६.	१-५८	दर्शनविद्युद्धि	१३४-१५८
	१-४*१	सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यसे ही भोग	१३४-१३५
	५-६*४	सम्यग्दर्शनिका स्वरूप और भेद	१३५-१३७
	७-७*१	सम्यग्दर्शनिके दोष	१३७-१३८
	८	जीव, अजीव आदि सात तत्त्व	१३९
	९-२४	जीवतस्वका वर्णन	१३९-१४४
	२५-४४	पौत्र द्रष्ट और उनका स्वरूप—(अजीव तत्त्व)	१४६-१५३
	४५-४८*१	बन्धतस्वका वर्णन	१५४-१५५
	४९-५८	सम्यग्दर्शनिकी प्रशंसा	१५५-१५८

प्रकरण	इतिहासिक	विषय	पृष्ठांक
७.	१-२३	ज्ञानोपयोग	१५९-१६८
	१-३	सम्यक्ज्ञानका लक्षण और उसके भेद	१५९
	४-७	मति, शुत, अवधि और मनवर्यद ज्ञानके भेद	१६०-१६३
	८-२३	केवलज्ञानका स्वरूप और घोषणा	१६३-१६८
८.	१-५७	अहिंसाव्रत	१६९-१८७
	१-४	सम्यक्ज्ञानित्रका लक्षण और उसके भेद	१६९-१७०
	५	व्रतका स्वरूप	१७१
	६-८	अहिंसा महाव्रतका स्वरूप और फल	१७१-१७२
	९-२८	हिंसाके भेद और परिणाम	१७२-१७९
	२९-३२, ४०-४२	अहिंसाकी प्रशंसा	१७९-१८०, १८१
	३३-३५, ४३-४५	हिंसाका भयानक स्वरूप	१८०-१८२, १८३
	४६-५७	अहिंसाका फल	१८४-१८७
९.	१-४२	सत्यव्रत	१८८-२०१
	१-६	सत्यका स्वरूप और उसकी प्रशंसा	१८८-१८९
	७-१३	असत्यकी निन्दा	१८९-१९१
	१४-४२	सत्य और सत्यवादियोंका माहात्म्य तथा असत्य और असत्यवादियोंके दोष	१९१-२०१
१०.	१-२०	चीर्घपरिहार	२०२-२०७
	१-२	बच्चीर्घव्रत	२०२
	३-२०	चीर्घकी निन्दा और चोरी न करनेका उपदेश	२०२-२०७
११.	१-४८	कामप्रकोप	२०९-२२२
	१-५	बहुचर्यव्रतकी प्रशंसा	२०९-२१०
	६-१२	दस प्रकारका भैयुन और उसका परिणाम	२१०-२१३
	१३-४८	कामका भयावह स्वरूप	२१२-२२२
१२.	१-५९	स्त्रीस्वरूप	२२३-२३९
	१-५५	स्त्रियोंका भयानक स्वरूप और उससे दूर रहनेका उपदेश	२२३-२३७
	५६-५९	शीलवती स्त्रियोंकी प्रशंसा	२३८-२३९

प्रकरण	इतिहासिक	दिव्यवाच	पृष्ठांक
१३.	१-२४	मीथुन	२४०-२४७
	१-२४	स्त्रीसंगका सीभत्त रूप और चसका निषेध	२४०-२४७
१४.	१-४४	संसर्ग	२४८-२५०
		स्त्रीसंगके परिणाम और स्त्रीसंगसे विरक्त होनेका उपदेश	२४८-२५०
१५.	१-४७	बृद्धसेवा	२६१-२७६
	१-२	बृद्धसेवाका कारण	२६१-२६२
	४-१०	बृद्धोंका लक्षण	२६२-२६४
	११-४७	बृद्धसेवाकी प्रशंसा	२६४-२७६
१६.	१-४१	परिग्रहदोषविचार	२७७-२९०
	१-५*१	परिग्रह और उसके भेद	२७७-२७८
	५-३८*२	परिग्रहसंगके परिणाम	२७९-२८८
	३९-४१	संग्रहयागका उपदेश	२८८-२९०
१७.	१-२१	आशापिशाची	२९१-२९६
	१-२१	आशाके परिणाम और निःस्पृहताका महत्व	२९१-२९६
१८.	१-१५२	लक्ष्यविषयनिरोध	२९७-३४७
	१-१*१	महाप्रतका लक्षण	२९७
	२-४	पचीस भावनाएं, पाँच समितियाँ और तीन मुप्तियाँ	२९८
	५-१४	ईर्या, भाषा, एवणा, आदान और व्युत्सर्ग समिति	२९८-३०२
	१५-१८	मन, वाक् और कथगमुप्ति	३०२-३०३
	१९	समितिमुप्तियोंका फल	३०३
	२०-२६	रहनश्रयकी प्रशंसा	३०४-३०५
	२७-३७	आत्माका स्वरूप और उसके दर्शनका उपदेश	३०५-३०९
	३८-१०८	क्रोध, मान, माया और लोभका परिणाम	३१०-३१४०
	१०९-११४	कोषादि कथायोंके तिरसका उपदेश	३१४-३१६
	११५-१२६	इन्द्रियनिधनहकी आवश्यकता	३१६-३१९
	१२७-१५०	इन्द्रियमुखकी निषदा	३१९-३४७
	१५१-१५२	इन्द्रियअवयका फल	३४७

प्रकरण	हलोक	विषय	पृष्ठांक
१९.	१-१९	त्रितत्व	३४९-३७९
	१-८	आत्माका स्वरूप और आत्मज्ञानका साधन	३४९-३५८
	९-१५	आत्माके विविध रूप	३५९
	१-८	शिव, पुरुषी, अण, बह्लि, वायु, वि और कामतत्व	३५२-३६८
	१०-१२	आत्माका सामर्थ्य	३६९
	१३-१९	आत्माकी कलंकमयता	३७०-३७९
२०.	१-३४	मनोव्यापारप्रतिपादन	३७३-३८३
	१-८	योगके अंग और योगसिद्धिका साधन	३७३-३७६
	९-३४	मनोरोध और उसका फल	३७६-३८६
२१.	१-३८	रागादिनिवारण	३८५-३९६
	१	मनको आत्मस्वरूपमें लौन करना	३८५
	२-१६	रागादिकोंका प्रभाव	३८५-३८९
	१७-२०	बीतरागका महत्व	३८९-३९०
	२१-३८	राग, हेष और भोहके परिणाम	३९१-३९६
२२.	१-३३	साम्यवैभव	३९७-४०८
	१-३३	साम्यकी आवश्यकता और साम्यफल	३९७-४०८
२३.	१-४१	आत्मध्यान	४०९-४२२
	१-४	समताका कारण ध्यान	४०९-४१०
	५-८	सद्बृद्ध्यानका फल	४१०-४११
	९-१३	असद्बृद्ध्यानका परिणाम	४११-४१२
	१४-२०	ध्यानके भेद—सद्बृद्ध्यान और कुण्डली	४१२-४१५
	२१-४१	आत्मध्यानके भेद, स्वरूप और परिणाम	४१५-४२२
२४.	१-४२	आत्मरोद्ध	४२३-४३६
	१-५	रीढ़ध्यानके भेद और स्वरूप	४२३
	४-३३	हिसारीद्ध, मृषारीद्ध, भीर्यरीद्ध, विषयसंरक्षणरीद्ध	४२४-४२३
	३४-४२	रीढ़ध्यानका परिणाम	४३३-४३६
२५.	१-३५	ध्यानविरुद्धस्थान	४३७-४४५
	१-२	धर्मध्यानकी प्रक्रिया	४३७
	३-४	ध्यानाके मुण	४३७-४३८

प्रकरण	इलोकाक	विषय	पृष्ठा
	५-१४	चार भावनाएँ—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा	४३८-४४०
	१५-१९	भावनाओंका फल	४४०-४४१
	२०-२२	ध्यानके लिए स्थानका महत्व	४४२
	२३-३५	विषिद्ध स्थान	४४२-४४५
२६.	१-१४१*१	प्राणायाम	४४७-४८६
	१-९	ध्यानके लिए धोग्य स्थान	४४७-४४९
	१०-१२	ध्यानके लिए उचित आसन	४४९-४५०
	१३-२२	ध्यानाभ्योगी क्षेष्ठता और पोग्यता	४५०-४५२
	२३	ध्यानके लिए धोग्य दिशा	४५३
	२४-२९	ध्यानाके लक्षण	४५३-४५४
	३०-४०	आसनबद्ध	४५४-४५७
	४१-१४१*१	प्राणायामका स्वरूप, सामर्थ्य और फल	४५७-४८६
२७.	१-१४	प्रत्याहार	४८८-४९२
	१-५	प्रत्याहारका स्वरूप	४८८-४८९
	६-११	प्राणायाम प्रत्याहारसे कनिष्ठ	४८९-४९०
	१२-१४	प्रत्याहारका स्वरूप	४९१-४९२
२८.	१-३८	सदीय ध्यान	४९३-५०५
	१-१६	ध्यानाभिमुख युनिके विचार	४९३-४९७
	१७-१८	धीर्यका स्वरूप	४९८
	१९-३३	आत्माका स्वरूप	४९९-५०३
	३४-३८	ध्यानका स्वरूप और फल	५०३-५०५
२९.	१-१०४	शुद्धोपयोग विचार	५०६-५३५
	१-४	परमात्माके लिए आत्मज्ञानकी आवश्यकता	५०६-५०७
	५-८	आत्माके सीन प्रकार	५०७-५०८
	९-२३	आत्मभिन्न पदार्थोंमें आत्मवृद्धि	५०८-५१२
	२४-३६	परमात्माका स्वरूप	५१२-५१६
	३७-४७	इन्द्रियोंका कारण	५१६-५१९
	४८-५४	आत्मज्ञानका फल	५१९-५२१
	५५-१३	अशानी और आत्मज्ञानियोंमें तुलना	५२३-५३२
	१४-१०४	परमात्मज्ञानका फल	५३२-५३५

प्रकरण	प्रतीकांक	विषय	प्रह्लाद
३०.	१-२२	आज्ञाविचय	५३६-५४८
	१-२	योगीके वित्तविचलनका कारण	५३६
	३-५	धर्मव्याप्ति आवश्यकता और धर्मव्याप्ति के भेद	५३६-५३७
	६-९	आज्ञाविचयका स्वरूप	५३७-५३८
	१०-२२	श्रुतज्ञानका स्वरूप और श्रुतज्ञ	५३९-५४२
३१.	१-१७	अपायविचय	५४३-५४८
	१-१९	अपायविचय व्याप्ति का स्वरूप	५४३-५४८
३२.	१-२०	विषाकविचय	५४९-५५८
	१-२०	विषाकविचय व्याप्ति का स्वरूप	५४९-५५८
३३.	१-१७१	संस्थानविचय	५५९-६०४
	१-९	लोकका स्वरूप	५५९-५६१
	१०-२७	नरकका स्वरूप	५६१-५६५
	२८-५७*१	तारकियोंके मनमें आनेवाले विचार	५६५-५७३
	५८-७८	नरककी भौषणता	५७४-५७८
	७९-८४*१	मध्यलोकका स्वरूप	५७८-५८०
	८५-८७	ज्योतिषी देवोंके विचार और देवोंदोंके कल्प	५८०-५८१
	८८-१७७	देवलोकके सुख	५८१-६०३
	१७८-१७९	संस्थानविचय-व्याप्ति	६०३-६०४
३४.	१-३३	पिण्डस्थध्यान	६०५-६१३
	१	ध्यानके चार भेद	६०५
	२-३	पाँच भारणाएँ	६०५
	४-९	पाँचवीं भारणा	६०५-६०६
	१०-१९	आमेयी भारणा	६०७-६०९
	२०-२३	मारुती भारणा	६०९-६१०
	२४-२७	बाहुणी भारणा	६१०-६११
	२८-३०	तत्त्वरूपवती भारणा	६११-६१२
	३१-३३	व्याप्ति का फल	६१२-६१३

प्र	कानूनीय	विषय	पृष्ठा
३५.	शुलोकीक	विषय	पृष्ठा
	१-११७	पदस्थ व्याज	६१४-६४९
	१-६४२	पदस्थ व्याजका लक्षण और फल	६१४-६१६
	७०-२५	मन्त्रराजका स्वरूप और व्याजका उपदेश	६१६-६२१
	२६-३२	मन्त्रराजके व्याजका फल	६२१-६२२
	३३-४०	ओंकारकी महत्ता और व्याजका फल	६२३-६२४
	४१-४९	महामन्त्रकी आराधना और फल	६२५-६२६
	५०-५१	बोड्डशाक्तर विद्या और व्याजफल	६२७
	५२	बड़दार विद्या और फल	६२७
	५३-११७	चतुरस्तरादि विद्या और व्याजफल	६२७-६४५
३६.	१-४६	सूपस्थव्याज	६४६-६५७
	१-३१	सर्वज्ञका स्वरूप	६४६-६५३
	३२-४६	सर्वज्ञके व्याजका फल	६५३-६५७
३७.	१-३१	सूपातीत	६५८-६६६
	१-१०	रागी मनुष्यके व्याजका प्रकार	६५८-६६०
	११-१४	सत् और असत् व्याजके परिणाम	६६१-६६२
	१५-३१	सूपातीत व्याजका स्वरूप और फल	६६३-६६६
३८.	१-२५	धर्मव्याजफल	६६८-६७५
	१-३	मनोरोधका उपदेश	६६८
	४-१२	शुब्लव्याज और उसके अधिकारी	६६९-६७१
	१३-२५	धर्मव्याजका फल	६७१-६७५
३९.	१-८१*१	शुब्लव्याजफल	६७६-७००
	१-२	धर्मव्याजलक्षण	६७६
	३-४	शुब्लव्याजके अधिकारी	६७७
	४*१-३६	शुब्ल व्याजका लक्षण, मैद और फल	६७७-६८७
	३७	तृतीय व्याजका अधिकारी	६८८
	३७*१-४०	समुद्रव्याजविषि	६८८-६८९
	४१-५८	शुब्लव्याजका ग्रन्थाव	६८९-६९३
	५९-७९	आत्मिक सुखकी विशेषता	६९४-६९९
	८०-८१-*१	ग्रन्थप्रशस्ति	६९९-७००

श्री  
सुभद्राचार्य-विरचितः  
**ज्ञानार्द्धः**

नमः श्रीवीतरागाय

[ पीठिका ]

स्वस्ति श्रीनिलयं सुधामपि सुधासारं महः सावंगं  
 शश्वद्वाहकशक्तियुक्तिमभितः सज्जातवेदः स्थितम् ।  
 सक्षीर्यत्सीर्वंमयं महोमणिमयं तत्त्वं नभोमण्डले  
 नित्यज्ञानमनादिसिद्धमखिलं बोधस्वरूपं परम् ॥ १ ॥  
 प्रणम्य भारतीषादपद्मद्वन्द्वं महोदयम् ।  
 यज्ञाड्यैकतमः स्तोमभानुविम्बायितं सदा ॥ २ ॥  
 आचार्याः शुभचन्द्रास्ते क्वच चाल्पमतिकोऽप्यहम् ।  
 भानोः परं किमु स्थातुं खद्योतैः शक्यते न हि ॥ ३ ॥  
 परित्यज्यात्यसिद्धान्तं दिग्म्बरमताशयात् ।  
 ज्ञानार्णवस्य शास्त्रस्य कुर्वे वृत्तिं समाप्ततः ॥ ४ ॥  
 बुधैरनुप्रहीकृत्यः सापराधो गुणोत्तमैः ।  
 यतः शास्त्रैकदृश्वानः कृपापरीणकुद्यः ॥ ५ ॥  
 शश्वतस्याहिजलालदीनपुरुतः प्राप्तप्रतिष्ठोदयः  
 श्रीमन्मङ्गलवंशशारदशिविश्वोपकारोद्यतः ।  
 नाम्ना कृष्ण इति प्रसिद्धिरभवत् सत्त्वात्रधर्मोन्नते-  
 स्तम्भन्त्रीश्वरटोडरो गुणयुतः सर्वाधिकारोद्यतः ॥ ६ ॥  
 श्रीमत्तोडरसाहपुत्रनिषुणः सदामधिन्तामणिः  
 श्रीमङ्ग्लीकृष्णदासधर्मनिषुणः प्राप्तोन्नतिः स्वधिया ।  
 तेनाहं समवादि वादनिषुणो न्यायाद्यलीलाह्वयः  
 श्रोतुं वृत्तिमतः परं सुविषयां ज्ञानार्णवस्य स्फुटम् ॥ ७ ॥  
 इह हि चिकीषितान्तरायापायनिमित्तं शास्त्रसमाप्तये च स्वेष्टदेवतान्मस्कारलक्षणं मङ्गलं  
 दर्शयति । तत्र मनोवाक्कायसाधारणस्थैव नमस्कारस्य परमात्मनो योग्यत्वात् ।

१ ) 'ज्ञानलक्ष्मीधनारलेषप्रभवानन्दनन्दितम् ।  
निष्ठितार्थमजं नौमि परमात्मानमन्ययम् ॥ १ ॥

१ ) ज्ञानलक्ष्मी—अहं परमात्मानं नौमीति संबन्धः । परमद्वचासौ आत्मा च परमात्मा, तं परमात्मानं परमेष्ठिनं नमस्करोमि । किंविशिष्टम् । ज्ञानलक्ष्मीधनारलेषप्रभवानन्दनन्दितम् । ज्ञानं केवलज्ञानम् । दीपज्ञानातां परमात्मन्यसंभवात् । उपलक्षणात् केवलदर्शनमपि । तस्य लक्षणः चिदानन्दरूपा, तस्या यो घनाश्लेषो निविडालिङ्गनं, तस्मात्प्रभवो य आनन्दः लेन नन्दितं मुदितम् । पुनः किंविशिष्टे परमात्मानम् । निष्ठितार्थं निष्प्रभवोजनम् । पुनः कीदृशं परमात्मानम् । अर्ज स्वयंभुवे, नष्टकमैवोजवात् जन्मरहितम् । पुनः कीदृशम् । अव्ययं वाशरहितं, नित्यस्वरूपत्वात् । इति इलोकार्थः ॥ १ ॥ । अत्र शास्त्रादी विषयप्रयोजनसंबन्धाधिकारिभेदात् संबन्धतुष्ट्यं वक्तव्यम् । अत्र विषयः, परमात्मस्वरूपपरिज्ञानम् । प्रयोजनम्, अष्टकसंक्षयात् केवलज्ञानोत्पत्तिः, धात्यधातिविशेषण-द्वयं योज्यं, मोक्षप्राप्तिर्बा । संबन्धस्तु ध्यानध्यायकरूपो वाच्यवाचकरूपो वा । सम्यगदर्शनपूर्वक-ध्यानज्याता अधिकारी । अथ सकलजगद्ववक्त्वारप्रवर्तकप्रथमधर्मादिकर्तृत्वेन प्रथमतीर्थकरमादिनाथं नमस्करोमि ।

[ हिन्दी अनुवाद ]

मैं ( शुभचन्द्र ) उस परमात्माको नमस्कार करता हूँ जो कि ज्ञानरूप लक्ष्मीके छढ आलिंगनसे उत्पन्न होनेवाले सुखसे आनन्दको प्राप्त है, जिसने अपने अभीष्ट प्रयोजनको सिद्ध कर लिया है, तथा जो अज अर्थात् जन्मसे रहित होता हुआ अव्यय भी है—मरणसे भी रहित हो चुका है । विशेषार्थ—यहाँ 'परमश्वासौ आत्मा परमात्मा' इस प्रकार कर्मधारय समाप्त करनेपर 'परमात्मा'का अर्थ उत्कृष्ट आत्मा होता है । अथवा 'मा' का अर्थ लक्ष्मी होता है, अत एव 'परा मा यस्य असौ परमः, परमश्वासौ आत्मा परमात्मा' इस निहिति के अनुसार जो अनन्तचतुष्ट्यस्वरूप लक्ष्मीसे सहित है वह परमात्मा कहा जाता है । वह सकल परमात्मा और विकल परमात्माके भेदसे दो प्रकारका है । इनमें जो ज्ञानादरणादि चार धातिवा कर्मोंसे रहित होता हुआ अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप अनन्तचतुष्ट्य-से संयुक्त हो चुका है वह सकल परमात्मा कहलाता है । उसे अरिहन्त, जिन, केवली और आप्त आदि शब्दोंसे कहा जाता है । तथा जो आठों कर्मोंसे मुक्त होकर सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अव्यावाध सुख, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व और अगुरुलघुत्व इन आठ गुणोंसे विभूषित हो चुका है उस शरीररहित सिद्ध परमात्माको विकल परमात्मा कहते हैं । यहाँ जो उस परमात्माका ज्ञानलक्ष्मीसे आलिंगितरूप प्रथम विशेषण दिया गया है, उससे यह अभिप्राय प्रगट किया है । उक्त परमात्मा रागद्वेषसे रहित हो जानेके कारण छीरूपको धारण करनेवाली लक्ष्मीसे आलिंगित नहीं है । किन्तु समस्त विश्वके जाननेमें समर्थ ऐसे ज्ञान ( सर्वज्ञता ) रूप लक्ष्मीसे आलिंगित है । और इसीलिए वह अविनश्वर निरावाध सुखसे सदा प्रमुदित रहनेवाला है । दूसरा विशेषण है निष्ठितार्थ, जिसका अर्थ होता है

१. P औं नमो वीतरामाय, N श्रीज्ञानितनाथाय नमः, जिनेन्द्रियाण्यै नमः, L औं नमः सिद्धेभ्यः, S औं नमः सिद्धाः, T औं नमः सिद्धेभ्यः । श्रीपरमात्मने वभः ।

२ ) भुवनाम्भोजमार्तण्डं धर्ममृतपयोधरम् ।  
योगिकल्पतर्ह नौमि देवदेवं वृषध्वजम् ॥ २

२ ) भुवनाम्भोज—अहं वृषध्वजं नौमि । वृषं पुर्णं, उत वृषो वृषभः, स तडा ध्वजः चिह्नं यस्य स तम् । किंविशिष्टम् । भुवनाम्भोजमार्तण्डं, भुवनं जगत् तदेव प्रकाशनसाधम्यति, अभोजं कमलं तत्र मार्तण्डं इव मार्तण्डः तम् । पुनः कीदृशम् । धर्मो यतिमृहिभेदाद्विविधः । स एव जन्मजरामरणापहारकत्वादभृतं, तेन पयोधरवत् पयोधरस्तम् । पुनः कीदृशं वृषध्वजम् । योगिकल्पतर्हम् । योगाः स्वस्वविषयेभ्यो निवृत्ता भनोवाक्यायरूपाः से विद्यन्ते येषां ते योगिनस्तेषामभिमतसंपादने कल्पतर्हित्वं कल्पतर्हस्तम् । पुनः कीदृशम् । देवदेवम् । देवा भवनपत्यादयः, तैर्दीव्यत इति देवदेवः तम् । इति द्वितीयश्लोकार्थः ॥२॥ श्रीयुगादिदेवानन्तरं श्रोविशतितीर्थकराणां भावनमस्कारं विधाय, विशेषतस्तस्मद्ये चन्द्रप्रभशान्तिवर्धमानानां भावनमस्कारं पूर्वं तदगुणस्तुतिरूपद्रव्यनमस्कारं विवक्षुः तत्र यथोदेशं निर्देशन्यादेन यथापूर्वं चन्द्रप्रभं नमस्करोति ।

कृतकृत्य । इससे यह भाव प्रगाट किया है कि उक्त परमात्मा राम-द्वेषसे रहित होकर चूंकि अपने अभीष्ट अन्तिम प्रयोजनको सिद्ध कर चुका है अत एव वह कृतार्थ हो जानेसे राम-द्वेषकी हेतुभूत सूचिका कर्ता नहीं है । तीसरे 'अज' विशेषणसे यह सूचित किया है कि मुख या सिद्ध हो चुकनेके बाद जीवका संसारमें पुनरागमन नहीं होता । अन्तिम उसका विशेषण 'अदृश्य' है । उसका अभिप्राय यह है कि, वह परमात्माकी मुखि दीपकके बुझ जानेके समान शून्य या अभावस्वरूप नहीं है, किन्तु उक्त मुख अवस्थामें जीव अपने ज्ञानादि गुणोंसे अभिन्न होकर अनन्त कालतक उसी स्वरूपमें अवस्थित रहता है ॥ १ ॥

वृष (बैल) के चिह्नको धारण करनेवाला जो देवोंका देव प्राप्तम जिनेन्द्र समस्त लोकरूप कमलको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान है, धर्मरूप अमृतकी वर्षी करनेके लिए मेघके समान है, तथा योगी जनोंके मनोरथको पूर्ण करनेके लिए कल्पवृक्षके समान है, उसे मैं नमस्कार करता हूँ । विशेषार्थ—इस इलोकके द्वारा वृषध्वज—बैलके चिह्नके धारक अथवा धर्मरूप ध्वजाके धारक—प्रथम जिनेन्द्रको नमस्कार किया गया है । जिस प्रकार सूर्य उदयको प्राप्त होकर समस्त कमलोंको प्रफुल्लित कर देता है उसी प्रकार उन प्रथम जिनेन्द्रने तीर्थकरत्वरूप अभ्युदयको प्राप्त होकर संसारके समस्त प्राणियोंको प्रफुल्लित किया था—उन्हें यथार्थ सुखके स्वरूप और उसकी प्राप्तिके उपायको बताकर आनन्दित किया था । इस भरत क्षेत्रमें जब सुषमदुष्ममा कालके समाप्त होनेमें पल्यका आठवाँ भाग (३) हो रह गया था तबसे यहाँ इस प्रकारके कल्पवृक्षोंकी फलदानशक्ति क्रमशः उत्तरोत्तर क्षीण होने लगी थी । अन्तमें वे प्रजाजनोंको यथेच्छ भोजनादिके देनेमें सर्वथा असमर्थ हो गये थे । तब भूख आदिकी बाधासे व्याकुलताको प्राप्त हुए प्रजाजन नाभिराजकी शरणमें आये । उन्होंने उन्हें भगवान् ऋषभदेवके सभीपमें जानेका संकेत किया । तदनुसार वे भगवान् ऋषभदेवकी शरणमें पहुँचे । उन सबने उनसे प्रार्थना की कि भगवन् ! जिन कल्पवृक्षोंके द्वारा हमारी आजीविका सम्पन्न होती थी वे सब नष्ट हो चुके हैं, अतएव आप हमें आजीविकाके

३ ) भवज्वलनैसंप्रान्तसर्वशान्तिसुधार्णवः ।

देवरचन्द्रप्रभः पुष्यात् ज्ञानरत्नाकरश्चियम् ॥३॥

३ ) भवज्वलन—चन्द्रप्रभो देवः ज्ञानरत्नाकरश्चियं पुष्यात् , पुष्टि नयेत् । चन्द्रप्रभा यस्य स चन्द्रप्रभः, इति नामनात्मव्यः । ज्ञानमेव रत्नाकरः, तस्य श्रियमित्यर्थः । कोदृशः चन्द्रप्रभः । भव एव तुःश्चापाकरत्वात् चतुर्लग्नोऽपि तः, तेव संभान्तु ते सहवा पाणिनः, तेषां शान्तौ सुधार्णव इव सुधार्णवः, इति सूत्रार्थः ॥३॥ तदसन्तरं शान्तिनार्थं प्रणयति ।

उपाय बतलाकर हम सबके कष्टको दूर करें। इसपर ऋषभदेवने विचार किया कि इस समय भोगभूमिकी अवस्था उष्ट हो चुकी है, अतएव अब पूर्व और अपर विदेहोंमें जिस प्रकार असि-मधी आदि छह कर्मोंकी स्थिति है उसी प्रकार उसकी प्रवृत्ति यहाँ भी करनी चाहिए। तदनुसार उन्होंने प्रजाजनको उन छह कर्मोंके स्वरूपको विस्तारपूर्वक समझाकर उनको आनन्दित किया था। उधर भगवान्‌के चिन्तन मात्रसे इन्द्रने आकर देश, नगर एवं प्राम आदिकी रचना कर दी थी। यह अभिप्राय उक्त 'भुवनास्मोजमार्तण्ड' रूप प्रथम विशेषणमें विहित है। तपश्चात् जब उन्हीं ऋषभ जिनेन्द्रने जिनदीक्षाको स्वीकार कर तपश्चरणके द्वारा केवलक्षात्मको प्राप्त कर लिया था तब उन्होंने धर्मरूप अमृतकी वर्षा करके विश्वका कल्याण किया था। इसीलिए वे योगीजनोंके लिए कल्पत्रुटि प्रमाणित हुए। अभी तक भोगभूमिकी प्रवृत्ति रहनेसे योगका मार्ग बन्द हो रहा था—उसे कोई भी नहीं जानता था। तब सर्वप्रथम उन आदि जिनेन्द्रने उक्त योगमार्गको अपनाकर—दिग्म्बर धर्मको स्वीकार कर—उसे आदर्श रूपमें स्वर्यं ही प्रचलित किया था। इस प्रकारसे वह अन्य सुमुक्त योगीजनोंके लिए सुगम बन गया था। वह भाव उक्त इलोकके अभ्यर्थीत अन्तिम दो विशेषणोंका समझना चाहिए ॥३॥

जो चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र संसाररूप अग्निके मध्यमें भयण करते हुए जीवोंके लिए ज्ञानिरूप सुधा (अमृत) के समुद्र समान हैं वे ज्ञानरूप समुद्रकी छहमीको पुष्ट करें। विशेषार्थ—आठवें जिनेन्द्रका नाम चन्द्रप्रभ है। चन्द्रप्रभका अर्थ होता है चन्द्रमाके समान प्रभावाला। तदनुसार वे भगवान् जब चन्द्रमाके समान हैं तब जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्रको वृद्धिगत करता है उसी प्रकार वे भगवान् वेरे ज्ञानरूप समुद्रको वृद्धिगत कर ऐसी प्रार्थना यहाँ प्रन्थकार श्री शुभचन्द्रार्थार्थके द्वारा की गयी है। साथ ही यहाँ जिस 'ज्ञान-रत्नाकर' शब्दका प्रयोग किया है वह रचनेके लिए अभीष्ट प्रकृत ग्रन्थ ज्ञानार्थवका पर्यायशब्द है। अतएव उससे वह भी अनित छोता है कि वे भगवान् हमारे इस अभीष्ट प्रन्थ ज्ञानार्थवको पुष्ट करें—उसकी सुन्दर व परिपुष्ट रचनामें मुझे सहायता प्रदान करें। इसके अतिरिक्त चन्द्रका दूसरा नाम सुधासूति—अमृतको उत्पन्न करनेवाला—भी है। अतएव जिस प्रकार चन्द्रमा अमृतकी वर्षा करके सन्तप्त प्राणियोंको ज्ञानित प्रदान किया करता है उसी प्रकार उस चन्द्रकी समानताको धारण करनेवाले वे जिनेन्द्र भी संसार-तापसे सन्तप्त प्राणियोंको ज्ञानित प्रदान करते हैं—उन्हें मोक्षमार्गका उपर्देश देकर शाश्वतिक सुखको देते हैं ॥३॥

- ४ ) सत्संयमपदादूरविवितजगत्येष्ट् ।  
 शान्तिनाथं नमस्यामि विश्वविघ्नौषेशान्तये ॥४
- ५ ) श्रियं सकलकल्याणकुमुदाकरचन्द्रमाः ।  
 देवः श्रीवर्धमानारुणः क्रियाद्ग्रुणाभिनन्दिताम् ॥५

४ ) सत्संयम—अहं शान्तिनाथं नमस्यामि । किमर्थम् । विश्वे जगति ये विज्ञास्तेषामोघः समूहः, तस्य शान्तये । कोदृशं शान्तिनाथम् । सत्संयमः इन्द्रियाणि स्वविषयविवृतिरूपः, स एव पथःपरः तेन पवित्रितं पवित्रोकृतं जगत्वयं येन स तम् ॥४॥ तदनन्तरं वर्तमानतीर्थाविपतित्वेन श्रीवर्धमानं नौति ।

५ ) श्रियं सकल—देवः श्रीवर्धमानारुणः श्रियं क्रियात् । श्रिया वर्धत इति श्रीवर्धमानः । एतच्छास्त्रपाठवतां श्रियं लक्ष्मीं कुर्यात् । कथंभूतो वर्धमानः । सकलकल्याणकुमुदाकरचन्द्रमाः । सकलरानि समस्तानि कल्याणानि श्रेयांसि, सान्येव कुमुदानि निशि विकासीनि श्वेतकमलानि,

मैं सब प्रकारके विघ्नोंमें समूहको शान्त करनेकी अभिलाषासे समीक्षीन संयम रूप जलके प्रवाहसे तीनों लोकोंके प्राणियोंको पवित्र करनेवाले शान्तिनाथ तीर्थकरके लिए नमस्कार करता हूँ । विशेषार्थ—यद्यपि सब ही तीर्थकर समानरूपमें अनन्तचतुष्पथसे संशुक्त होते हुए प्राणिमात्रके लिए शान्तिको प्रदान करनेवाले हैं, फिर भी लदूमस्थ जन तन्त्रार्थ अद्वानकी किंचित् दुर्बलतासे शान्तिनाथ तीर्थकरको शान्तिका कर्ता मानते हैं । तदनुसार यहाँ प्रन्थकर्ती श्री शुभचन्द्राचार्य अभीष्ट प्रन्थ आनार्णवकी रचनाको प्रारम्भ करते हुए भगवान् शान्तिनाथ जिनेन्द्रसे यह प्रार्थना करते हैं कि वे इसमें उपस्थित होनेवाली सब प्रकारकी विज्ञ-वाधाओंको खट्ट करें । सो है भी यह ठीक, क्योंकि जो समस्त दोषोंको उपशान्त करके स्वयं शान्तिलाभ कर चुका है वही अन्य प्राणियोंको शान्ति प्रदान कर सकता है, न कि दूसरा अशान्त व्यक्ति । जैसा कि स्वामी समन्तभद्राचार्यने भी कहा है—‘सदोषशान्त्या विहितात्मपशान्तिः शान्तेविवाता शरणं गतानाम् । भूयाद् भवत्तेशभयोपशान्त्ये शान्तिजितो मे भगवान् शरणः ॥’ ( स्वयंभूतोत्र १० ) । इसके अतिरिक्त यहाँ यह एक विशेषता भी प्रगट की गयी है कि जो जब साधारण विषयभोगीकी सामग्रीको पाकर उससे उत्पन्न होनेवाले सूणिक सुखमें मग्न होते हुए उसे नहीं छोड़ना चाहते हैं उनके लिए भगवान् शान्ति जिनेन्द्रके आदर्शको दिखलाते हुए यह बतलाया है कि जो शान्तिनाथ भगवान् तीर्थकर होनेके साथ चक्रवर्तीकी भी असाधारण विभूतिके स्वामी थे उन्होंने जब शाश्वतिक निर्विध सुखके सामने उस सब वैभवको लृणके समान तुच्छ समझकर छोड़ दिया और समीक्षीन संयमको धारण किया था तब भला साधारण-सी विभूतिको पाकर अन्य जनोंको उसमें इतना व्यापोह क्यों होना चाहिए ? उन्हें भी उसको छोड़कर आत्मकल्याणके लिए उस समीक्षीन संयमको प्रहृण करना ही चाहिए ॥५॥

जो वर्धमान जिनेन्द्र समस्त कल्याणरूप कुमुदसमूहको—चन्द्रविकासी सफेद कमलों-को—विकसित करनेके लिए चन्द्रमाके समान हैं वे अनितम जिनेन्द्र भड़ग जीवोंसे प्रशंसित

- ६ ) श्रुतस्कन्थनमेवन्द्र संयमश्रीविशेषकम् ।  
 इन्द्रभूतिं नमस्यामि योगीन्द्रं ध्यानसिद्धये ॥६  
 ७ ) प्रशान्तमतिगम्भीरं विश्वविद्याकुलगृहम् ।  
 भव्यैक्षुरणं जीयाच्छ्रीमतसर्वज्ञशासनम् ॥७

तेषामाकरः समूहः, तत्प्रकाशने चन्द्रमा इव चन्द्रमाः । किविशिष्टां श्रियम् । भद्राभिनन्दिताम् । भव्यैः अभि सामस्त्येन नन्दिताम् अनुमोदितां वाङ्छिताम् इत्यर्थः ॥५॥ तदनन्तरं श्रीवर्धमानप्रथम-गणधरं नमस्यति ।

६ ) श्रुतस्कन्थ—अहम् इन्द्रभूति चरमतीर्थकृत्प्रथमगणधरं नमस्यामि । कथंभूतम् इन्द्र-भूतिम् । श्रुतस्कन्थं द्वादशाङ्गं तदेव विस्तृतत्वादनन्ताम् तत्वाम् आकाशं तदुद्दीप्तने चन्द्र इव चन्द्रस्तम् । संयमश्रीः चारित्रलक्ष्मीः सस्या विशेषकमिव तिलकमिव स तस्म । कस्यै इन्द्रभूति नमस्यामि । योगीन्द्रध्यानसिद्धये । योगीन्द्रा मनोवाक्यायसाधका भूतयः । तेषां ध्यानं शुभशुब्लादिभेदभिन्नं, पिण्डस्थपदस्थादि वा तस्य सिद्धिनिष्ठतिस्तस्यै इति भावार्थः ॥६॥ अथ प्रथमगणधरादिभिस्तच्छासनमङ्गीक्रियत इत्यतो जिनशासनं वर्णयति ।

७ ) प्रशान्तमति—श्रीमतसर्वज्ञशासनं जीयात् । सर्वं जानातीति सर्वज्ञः । श्रीः केवलज्ञानविराजमानातिशयरूपा, सा विद्यते यस्यासी श्रीमान्, स चासौ सर्वज्ञश्च । तस्य शासनमाज्ञा जीयात् । कथंभूतं सर्वज्ञशासनम् । प्रशान्तं, सर्वजीवानां शान्तिनिमित्तम् । पुनः कथंभूतं तच्छासनम् । अतिगम्भीरं, पूर्वापराविशेषियम्भीरार्थतया अतिगम्भीरम् । पुनः कथंभूतं तच्छासनम् ।

लक्ष्मीको करें । विशेषार्थ—अभिग्राय यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमा कुमुदसमूहको प्रफुल्लित करता है उसी प्रकार चूंकि वे वर्धमान जिनेन्द्र भव्य जीवोंको कल्याणका मार्ग (मोक्षमार्ग) दिखलाकर उन्हें प्रफुल्लित करनेवाले हैं, अतएव वे उनकी अभीष्ट लक्ष्मी (मोक्षलक्ष्मी) को करें ॥५॥

जो इन्द्रभूति (गौतम) गणधर द्वादशांग श्रुतरूप आकाशमें चन्द्रके समान प्रकाशमान हैं तथा संयमरूप लक्ष्मीके तिलक जैसे हैं—उसे विशेषता प्रदान करनेवाले हैं—उन योगियों-के इन्द्रस्थरूप गणधरको मैं ध्यानकी सिद्धिके लिए नमस्कार करता हूँ । विशेषार्थ—यह ज्ञानार्णव अन्थ एक ध्यानप्रधान अन्थ है । इन्द्रभूति गणधर चूंकि द्वादशांग श्रुतके रचयिता तथा स्वर्य ध्यानके साधक थे, अतएव अन्थकार इस ध्यानअन्थकी रचनाके प्रारम्भमें समस्त श्रुतके पारगामी तथा योग (ध्यान) के साधक ऐसे योगियोंमें अग्रगण्य उन इन्द्रभूति गणधर-को उस ध्यानकी सिद्धिके निमित्त नमस्कार करते हैं ॥६॥

जो सर्वज्ञका शासन—अनेकान्तात्मक मत—अतिशय शान्त, अधिक गम्भीर, समस्त विद्याओंका कुलगृह, भव्य जीवोंके लिए शरणभूत और लक्ष्मीसे सम्पन्न है, वह जायवन्त रहे । विशेषार्थ—यहाँ अन्थकारने वीतराग सर्वज्ञके द्वारा प्ररूपित जैन शासनके चिरकाल तक जीवित रहनेकी मात्रना ध्यक्त की है । कारण इसका यह है कि वह सर्वज्ञ और वीतराग-के द्वारा प्ररूपित होनेसे यथार्थताको प्राप्त होता हुआ भव्य जीवोंको शान्ति प्रदान करनेवाला

१. P इन्द्रभूतिः न गौतमस्वामिनः । २. N ज्ञानसिद्धये । ३. M N कुलं गृहं ।

८) प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च ।

७) सम्यक्तत्त्वोपदेशाय सत्ता शुक्तिः प्रवर्तते ॥८॥ ८) अनुसूतम्

९) तच्छ्रुतं तच्च विज्ञानं तद्विज्ञानं तत्परं तपः ।

अयमात्मा यदासाद्य स्वस्वरूपे लघुं ब्रजेत् ॥९॥

विश्वविद्याकुलगृहम् । विश्वे जगति विद्याः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपादकानि शास्त्राणि, तेषां कुल-  
मृहमिव कुलगृहम् । पुनः किंविशिष्टम् । भव्या मोक्षगमनयोग्याः, तेषाम् एकम् अद्वितीयं शरणं  
व्राणमित्यर्थः ॥७॥ अथ जिनशासनबद्न्येषां वचःप्रमाणं दर्शयति ।

८) प्रबोधाय—सूक्तिः सम्यग्वचः सत्ता सत्युरुद्धाराणां प्रबोधाय प्रकर्षज्ञानाय प्रवर्तते ।  
विशेषणात् चकारः पुनरथं सर्वत्र योज्यः । चकारात् विवेकाय सदसद्विचाराय । च पुनः । हिताय  
हितोपदेशाय । च पुनः । प्रशमाय क्रोधाद्यभावाय । च पुनः । सम्यक्तत्त्वानि जीवाजीवादोनि, तेषाम्-  
पदेशाय । प्रवर्तते इति क्रियाध्याहारः सर्वत्र योज्यः । इति तात्पर्यर्थः ॥८॥ अथ सर्वतत्त्वानामात्मनः  
प्राप्तान्यस्यापनाय तस्य व्यानं कथयति ।

९) तच्छ्रुतं तच्च—अनन्तभावपरिच्छेदकशुद्धलोधरूपे अयम् आत्मा यत् स्वमासाद्य लघुं  
साम्यं ब्रजेत् । तदा तदेव श्रुतं द्वादशाङ्गार्थपरिज्ञानम् । च पुनः । तदेव विज्ञानं सकलपदार्थ-  
साधारण जनोंके लिए दुरवगाह, व्याकरण-न्यायादि रूप समस्त विज्ञाओंका साधक तथा  
अनन्तचतुष्टयस्वरूप लक्ष्मीकी प्राप्तिका कारण है । इसीलिए वही भव्य जीवोंका दुखसे  
उद्धार करा सकता है, न कि असर्वज्ञ एवं राग-द्रेष विशिष्ट अन्यके द्वारा प्ररूपित अन्य कोई  
शासन ॥९॥

सत्पुरुषोंकी सुन्दर वाणी पदार्थोंके विशिष्ट ज्ञान, विवेक, हित, कषायोंकी शामित तथा  
सुभीचीन सत्त्वोपदेशके लिए होती है । विशेषार्थ—पूर्व इलोकके द्वारा जो सर्वज्ञशासनके  
जयवन्त होनेकी भावना व्यक्त की गयी है । उसके कारणको व्यक्त करते हुए यहाँ यह घटलाया  
है कि सत्पुरुषोंकी वाणीमें यह विशेषता होती है कि उसका मनन करनेसे जीवोंको पदार्थोंका  
ज्ञान प्राप्त होता है । वह पदार्थका ज्ञान भी कोरा ज्ञान न रहकर विवेकको—आत्म-परके  
भेद विज्ञानको—उत्पन्न करता है । कारण कि असेक विषयोंमें पारंगत हो करके भी यदि  
विवेकज्ञान नहीं हुआ तो वह ज्ञान व्यर्थ ही होता है । विवेकके होनेपर हितमें प्रवृत्ति करना  
आवश्यक है, अन्यथा वह विवेक भी कुछ कार्यकारी नहीं होता । वह सन्तोंकी वाणी विवेक-  
को उत्पन्न करके प्राप्तीको आत्महितमें प्रवृत्त करती है । इस प्रकारसे जो जीव आत्महितमें  
प्रवृत्त होता है उसकी कषायें उपज्ञानत हो जाती हैं और तब वह यथार्थ वस्तुस्वरूपके उपदेश  
का अधिकारी होता है । प्रकृत इलोकसे यह भी भाव प्रगट होता है कि प्रसुत ज्ञानार्थव ग्रन्थ  
परम्परासे प्राप्त उस सर्वज्ञकी ही वाणी है, अतएव इससे भी उक्त पौर्णो व्रयोजन—प्रबोध,  
विवेक, हित, प्रशम और सम्यक् सत्त्वोपदेश—सिद्ध होनेवाले हैं ॥१॥

जिसको प्राप्त करके यह जीव आत्मस्वरूपमें लीन होता है उसे ही यथार्थ श्रुत, उसे  
ही विज्ञान, उसे ही व्यान और उसे ही उत्कृष्ट तप समझना चाहिए । विशेषार्थ—अस्त्रिप्राय  
यह है कि श्रुत, विज्ञान, व्यान और तप इन सबका प्रयोजन आत्मस्वरूपमें लीन होना ही

१० ) दुरन्तेदुरिताकान्तं निःसारमतिवशकम् ।

जन्म विज्ञाय कः स्वार्थं शुश्रस्यङ्गी सचेतनः ॥१०॥

११ ) अविद्याप्रसरोदभूतग्रहनिग्रहकोविदम् ।

ज्ञानार्णवमिमं<sup>१</sup> वक्ष्ये सतामानन्दमन्दिरम् ॥११॥

परिज्ञानम् । तदेव ध्यानं पिण्डस्वरूपदस्थादिरूपम् । तदेव परम् उत्कृष्टं मासद्विमासक्षमणादि तपः इति भावार्थः ॥१०॥ एतदात्मस्वरूपपरिज्ञानं विना जीवो योहं यातीत्यतः तदेव दर्शयति ।

१० ) दुरन्त—सचेतनो अङ्गी प्राणी कः स्वार्थं पुत्रकलशद्रव्यादिप्रयोजने विज्ञाय मुहूर्ति । अपि तु न को इपि । जन्म चतुर्गतिसंसारे उत्पत्ति विज्ञाय विशेषण ज्ञात्वा । कथंभूतं जन्म । दुरन्तानि दुष्टान्तकानि यानि दुरितानि पापानि, तैराकान्तं व्याप्तम् । पूनः कथंभूतं जन्म । निःसारं निर्गतः सारः परमार्थो यस्मात् तत्त्विःसारम् । पूनः कथंभूतं जन्म । अतिवशकम् । सम्यग्दशीनादिवसैवन्धकमित्यर्थः ॥१०॥ अथ प्रकृतशास्त्रप्रारम्भः क्रियते ।

११ ) अविद्याप्रसरोदभूत—अहं शुभचन्द्राचार्य इमे ज्ञानार्णवशास्त्रे वक्ष्ये कथयामि । कथंभूतं ज्ञानार्णवशास्त्रम् । सतामानन्दमन्दिरम् । सतां सत्पुरुषाणाम् आनन्दमन्दिरं गृहम् । पूनः कीदृशम् । अविद्याप्रसरोदभूतः उत्पत्तिः प्राहः कदाग्रहः, तस्य निग्रहे नाशे कोविदं पिण्डितम् ॥११॥ स्वगर्वपरिहारं करोति ग्रन्थकर्ता ।

है । इनमें प्रबृत्त हो करके भी जो जीव आत्मस्वरूपमें लीन नहीं होता है उसके लिए वे सब ग्रन्थ ही उत्तरते हैं ॥१॥

जन्मस्वरूप यह संसार बहुत कष्टसे नष्ट होनेवाला, पापसे व्याप्त, साररहित और असिद्धयोगोक्ता देनेवाला है । इसके स्वरूपको जानकर भला ऐसा कौन सचेतन प्राणी है जो आत्मप्रयोजनमें मोहको प्राप्त होता है ? अभिप्राय यह है कि जो इस संसारके स्वभावको जान करके भी आत्महितमें प्रबृत्त नहीं होता है उसे जड़ जैसा ही समझना चाहिए ॥१०॥

मैं ज्ञानके समुद्रस्वरूप उस ज्ञानार्णव ग्रन्थको कहूँगा जो कि अविद्याके विस्तारसे उत्पन्न हुए दुराग्रहके नष्ट करनेमें दक्ष एवं सत्पुरुषोंके आनन्दका स्थान है । विशेषार्थ—यहाँ ग्रन्थकार ज्ञानार्णव ग्रन्थके रचनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसकी उपादेयताको प्रगट करते हैं । वे कहते हैं कि जिस ग्रन्थको मैं रचना चाहता हूँ वह दर्शन मोहनीयके उत्त्वजनित मिथ्यादर्शन के अविनाभावी मिथ्याज्ञानके वशीभूत हुए प्राणियोंके एकान्त पक्षको नष्ट करनेवाला है । यह मिथ्यात्म गृहीत और अगृहीतके भेदसे दो प्रकारका है । इनमें जीवके उपदेशादिके विना जो अनादि कालसे अस्वरुद्धान होता है उसका नाम अगृहीत मिथ्यात्म है । यह जीवके जब तक रहता है तब तक वह दुराग्रहके वशीभूत होकर आत्महितके साधनभूत उत्तम ध्यानादि-में प्रबृत्त नहीं होता है । दूसरोंके मिथ्या उपदेशको पाकर जो जीवके तत्त्वका विपरीत श्रद्धान होता है उसे गृहीत मिथ्यात्म कहा जाता है । इसके वशीभूत हुआ प्राणी दुराग्रही बनता है ।

१२ ) अपि तीर्येत् वाहुभ्यामपारो मकरालयः ।

न पुनः शक्यते इति भद्रिवैयोगिरञ्जकम् ॥१२

१३ ) महामतिभिन्निःशेषसिद्धान्तपथेषारंगैः ।

क्रियते यत्र दिग्मोहस्तत्र को इन्यः प्रसर्यति ॥१३ अन्यच्च—

१४ ) समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्ततां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्ष्मशयः ।

ब्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलब्धोदता जनाः॥१४

१२ ) अपि तीर्येत्—महिवैयोगिरञ्जकं बक्तुं कथयितुं स शक्यते । पुनः पादपूरणे । वाहुभ्यां मकरालयः समुद्रः तीर्येत् । अपि पक्षान्तरे । कथंभूतो मकरालयः । अपारः पाररहितः, इति वलोकार्थः ॥१२॥ आत्मव्यतिरिक्तपण्डितानां महत्त्वं दर्शयति ।

१३ ) महामतिभिः—तत्र शास्त्रकथनेऽस्मादृशः कथं प्रवर्तते । न कथमपीति भावः । यत्र ज्ञानार्थे महामतिभिः पण्डिते: सिद्धान्तपारंगतैः दृढ़मोह इत्यं भवति वा न वा इति क्रियते । इति वलोकार्थः ॥१३॥ अथ सकलशास्त्रज्ञसमन्तभद्रादिकानां शुण्ण स्तौति ।

१४ ) समन्तभद्रादिव—यत्र शास्त्रार्थपरिज्ञाने समन्तभद्रादिकवीन्द्रसूक्ष्मणाम् अमलसुभाषितकिरणाः स्फुरन्ति, तत्र जना भद्रिभा खद्योतवद् हास्यतां कि न ब्रजन्ति । अपि तु ब्रजन्त्येव । कथंभूता जनाः । ज्ञानलब्धोदताः ज्ञानलब्धादहंकारिणः । इति शूक्रार्थः ॥१४॥ तदनन्तरं देवनन्दिनं नमस्यति ।

वह कथंचित् सत्-असत्, लित्य-अनित्य, भेद-अभेद एवं शुद्ध-अशुद्ध आदि अनेक धर्मात्मक वस्तुको उस रूप न मानकर सर्वथा एकान्तरूप हो ग्रहण करता है । इससे जो उसके आर्त व रौद्र ध्यान होता है उसके कारण उसे धर्म व शुक्ल रूप समीक्षीन ध्यानकी प्राप्ति नहीं हो सकती है । इसीलिए यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि यह ज्ञानार्थव अन्थ उनके उपर्युक्त दुराग्रहको नष्ट करके उन्हें समीक्षीन ध्यानमें प्रवृत्त करेगा । इस प्रकारसे यह अन्थ उनके संसार तापको नष्ट करके उन्हें यथार्थ सुखकी प्राप्तिका साधन होगा ॥१४॥

कदाचित् दोनों भुजाओंसे तैरकर अपार समुद्रको पार किया जा सकता है, परन्तु मुहु जैसे मन्दबुद्धि जस योगीजनको अनुरंजित करनेवाले इस ज्ञानार्थव अन्थको नहीं कह सकते हैं ॥१४॥

जिस ज्ञानार्थवकी रचनामें अविश्य बुद्धिमान् व परमागमके पथके पार पहुँचे हुए बहुधुत विद्वान् भी दिशाग्रमकी प्राप्त होते हैं वहाँ अन्य अल्पज्ञ कौन चल सकता है ? नहीं चल सकता है ॥१४॥

जहाँ स्वामी समन्तभद्र आदि बड़े-बड़े कवियोंरूप सूर्योंकी निर्देश सूक्त ( सुभाषित ) रूप किरणे प्रकाशमान हैं वहाँ थोड़े-से ज्ञानपर गर्वको प्राप्त हुए दूसरे जन क्या उग्रनूके समान हैंसीके भाजन नहीं बनेंगे ? अवश्य बनेंगे ॥१४॥

१५ ) अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाकिचत्संभवम् ।

कलङ्कमञ्जिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥१५॥

१६ ) जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः ।

योगिभिर्थां समासाद्य सखलितं नात्मनिश्चये ॥१६॥

१७ ) श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।

अनेकान्तमरुमार्गे चन्द्रलेखायितं यथा ॥१७॥

१८ ) भवप्रभवदुर्विरक्लेशसंवातशङ्कितः ।

योज्याम्यहमात्मानं पथि योगीन्द्रसेविते ॥१८॥

१५ ) अपाकुर्वन्ति—देवनन्दी नामाचार्यो नमस्यते । यद्वाचः कलङ्कमञ्जिनां प्राणिनाम् अपाकुर्वन्ति तिरस्कुर्वन्ति । कथंभूतं कलङ्कम् । कायवाकिचत्तेभ्यो जातम् ॥१५॥ तदनन्तरं जिनसेनं नमस्ति ।

१६ ) जयन्ति—जिनसेनस्य वाचः जयन्ति । कथंभूता वाचः । त्रैविद्यवन्दिताः, त्रयाणां विदां समाहारः त्रैविदी, तस्या भावः त्रैविश्च तेन वन्दिताः । लक्षणसाहित्यतर्कवेदिभिर्वन्दिता मनोबाक्कायैर्नैमस्कृता वा । योगिभिर्थां वाचः समासाद्य प्राण्य आत्मनिश्चये आत्मानुभवे न सखलितं न व्यपस्थितम् ॥१६॥ तदनन्तरमकलङ्काचार्यं नमस्करोति ।

१७ ) श्रीमद्भट्टाकलङ्क—श्रीमान् यो भट्टाकलङ्कः अकलङ्काचार्यः तस्य पुण्या पवित्रा सा सरस्वती वाणी पातु रक्षतु । व इति गम्यम् । यथा सरस्वत्या अनेकान्तः स्याद्वादः एव मरुतां देवानां मार्गे व्योम, तत्र चन्द्रलेखायितं, चन्द्रलेखा इवाचरितमित्यर्थः ॥१७॥ अथात्मानं पूर्वध्यानपथि स्थापयति ।

१८ ) भवप्रभव—अहमात्मानं पथि वक्ष्यमाणे मोक्षमार्गे योज्यामि । कथंभूते पथि । योगीन्द्रसेविते । कथंभूतोऽहम् । भवः संसारः, तस्नात् प्रभव उत्तमः दुर्विरक्लेशसंवातः तेन शङ्कितः । इति इलोकार्थः ॥१८॥ अथ कृतशास्त्रस्य परीपकारत्वं दर्शयति ।

जिन देवनन्दी ( पूज्यपाद ) आचार्यके वचन प्राणिशोके शरीर, वचन और मनके निभिसे उत्पन्न हुए कलंकको नष्ट करते हैं उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१५॥

जिन जिनसेन स्वामीके वचनोंकी वन्दना तीन विद्याओं—सिद्धान्त, न्याय और व्याकरणके ज्ञाता भी करते हैं तथा जिनका आश्रय पाकर योगीजिन आत्मस्वरूपसे चित्तलिंग नहीं होते हैं वे जिनसेन स्वामीके वचन जयवंत होते हैं ॥१६॥

जो श्रीमान् भट्टाक अकलंकदेवकी पवित्र वाणी अनेकान्तरूप आकाशमें चन्द्रकी रेखाके संशान शोभायमान होती है वह हमें पवित्र करें ॥१७॥

जन्म-मरणरूप संसारमें परिभ्रमण करते हुए जो दुर्निवार कष्ट हुआ है उसके आ पहुँचेसे भयभीत होकर मैं अपने आपको महान् शृणिशोके द्वारा आराधित पथमें—मोक्ष अथवा ध्यानके मार्गमें संयोजित करता हूँ ॥१८॥

१. L S V B C R योगिभिर्थां । २. M N संतापशङ्कितः । B J संकातशङ्कितः । T संपातपीडितः । X संपातपीडितः । L S V C R संतापपीडितः ।

१९) न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया ।

कुतिः किं तु भद्रीयेर्थ स्वबोधीयैव केवलम् ॥१६॥

२०) अयं जागति मोक्षाय वेत्ति विद्यां अर्थं स्यजेत् ।

आदते शमसाम्राज्यं स्वतत्त्वाभिमुखीकृतः ॥२० कि च—<sup>१</sup>

२१) न हि केनाप्युपायेन जन्मजातद्वासंभवा ।

विषयेषु महातृष्णा पश्य पुंसां प्रशास्यति ॥२१

२२) तस्याः प्रशान्तये पूज्यैः प्रतीकारः प्रदर्शितः ।

जगडजन्तूपकाराय तस्मिन्द्वयवधीरणा ॥२२

१९) न कवित्वाभिमानेन—इथं भद्रीये कृतिः शास्त्रं केवलं किं तु स्वबोधायैव स्वज्ञानायैव भवति । कवित्वाभिमानेन कृतिर्वर्तते । क्रियाध्याहारः पदद्वये योज्यः । पुनः कीर्तिप्रसरेच्छयापि न, इति सात्पर्यार्थः ॥१६॥ अथात्मस्वरूपाभिमुखी भुक्तस्तदेव दर्शयति ।

२०) अयं जागति—अथमात्मा स्वतत्त्वाभिमुखीकृतः संमुखीकृतः मोक्षाय जागति । पुनस्तादृशाः सद् विद्यां ज्ञानं वेत्ति । पुनः स्वतत्त्वाभिमुखीकृतः अर्थं मिद्याज्ञानं ल्पजेत् । पुनस्तादृशाः सन् शमसाम्राज्यं उपशम्यग्नीराज्यम् आदते यूल्काति ॥२०॥ अयं तृष्णाया दुःसाध्यत्वमाह । कि च ।

२१) न हि—कविचित् कर्मन वक्ति । भो त्वं पश्य । पुंसां महातृष्णा विषयेषु केनाप्युपायेन न प्रशास्यति । कर्थभूता महातृष्णा । जन्मजातद्वासंभवा । जन्मजो योऽसी आत्मः तस्मात् संभवा उत्पन्ना ॥२१॥ यस्याः पूर्ववार्योक्तं प्रतीकारमाह ।

२२) तस्याः प्रशान्तये—तस्याः तृष्णाया प्रशान्तये उपशम्याय पूज्यैरकलद्वाचार्थः सर्वज्ञैर्वा प्रतीकारः प्रकर्षेण दर्शितः । किमर्थम् । जगडजन्तूपकाराय । जगडजन्तूपकाराय । तस्मिन् प्रतीकारे

में जो यह ज्ञानार्थवक्ति रचना कर रहा हैं वह न तो कवित्वशक्तिके अभिमानवश कर रहा हैं और न कीर्तिके विस्तारकी इच्छासे भी कर रहा हैं, किन्तु केवल अपने आत्मबोधके लिए ही कर रहा हैं ॥१६॥

इसका कारण यह है कि आत्मस्वरूपके अभिमुख किया गया यह जीव मोक्षके लिए जागता रहता है—उसकी ओर निरन्तर ध्यान रहता है, वह अमको छोड़कर विद्याको जानता है—विषरीत अभिनिवेशकी छोड़कर सम्यग्ज्ञानको प्राप्त कर लेता है, तथा शान्तिरूप साम्राज्यको महण करता है ॥२०॥

इसके अतिरिक्त, देखो ! जीवोंकी संसाररूप संतापसे जो इन्द्रियविषयोंमें महती तृष्णा—अतिशय आसक्ति उत्पन्न होती है वह अन्य किसी भी उपायसे शान्त नहीं हो सकती है ॥२१॥

उक्त तृष्णाको शान्त करनेके लिए संसारी जीवोंके उपकारार्थं पूज्य पुरुषोनि—जिनेन्द्र एवं रणधरादिने—प्रतीकार चतुर्दशा है उसके विषयमें इस जीवकी अनादरबुद्धि रहती है ॥२२॥

23 ) अनुद्विग्नैसतथाप्यस्य स्वरूपं बन्धमोक्षयोः ।  
कीर्त्यते येन निर्बेदपदबीमधिरोहति ॥२३

24 ) निरूप्य च से को उप्युच्चैरुपदेशो इस्य दीयते ।  
येनादत्ते परा शुद्धि तथा त्यजति दुर्मतिम् ॥२४

25 ) अहो सति जगत्पूज्ये लोकद्रुयविशुद्धिदे ।  
ज्ञानशास्त्रे सुधीः कः स्वमसच्छास्त्रैविडम्बयेत् ॥२५

अस्य अन्तोरवधीरणा अवगणना वर्तते इति भावार्थः ॥२२॥ अथात्मनो बन्धमोक्षयोः स्वरूपं निरूपयति ।

23 ) अनुद्विग्नैसतथा—तथापि अनुद्विग्नैः स्वस्थचिसैराचार्यैः बन्धमोक्षयोः स्वरूपं कीर्त्यते कथ्यते । येन स्वरूपेण आत्मा निर्बेदपदबीं वैराग्यपदबीमधिरोहतीत्यर्थः ॥२३॥ अथात्मनः स्वरूपनिरूपणाय उत्तमोपदेशो जायते तमेवाह ।

24 ) निरूप्य च स—च पुनः । उत्त्वरूपं निरूप्यास्यात्मनः से को उप्युपदेशः उच्चैर्यथा स्यात्तथा दीयते । येनोपदेशीत परा प्रकृष्टा शुद्धिमादत्ते गृह्णाति । तथा दुर्मति मिथ्यामति त्यजति, दूरीकरोति इति भावार्थः ॥२४॥ अथ ज्ञानशास्त्रकथमद्वारा असच्छास्त्रविडम्बनो [ नाम ] पदिशति ।

25 ) अहो सति—अहो आश्चर्ये । कः सुधीः पण्डितः ज्ञानशास्त्रे सति विद्यमाने स्वमात्मान-मसच्छास्त्रैविडम्बयेत् । कर्थभूते ज्ञानशास्त्रे । जगत्पूज्ये, जगता पूज्ये मान्ये । पुनः कर्थभूते । लोकद्रुयविशुद्धिदे । लोकद्रुयस्य इहलोकपरलोकस्य विशुद्धि ददातीति लोकद्रुयविशुद्धिदे इति भावार्थः ॥२५॥) अथासच्छास्त्रप्ररूपकानामपायं दर्शयति ।

तब भी वे उद्विग्न ( खिन्न ) न होकर उसे बन्ध और मोक्षके स्वरूपको बतलाते ही हैं, जिसके कि आश्रयसे वह वैराग्यरूप पदबीपर आरूढ होता है—संसार, शरीर एवं भोगोंसे विरक्त होता है ॥२३॥

यह देखकर उसके लिए चह कोई उत्तम उपदेश दिया जाता है कि जिसके द्वारा वह उत्कृष्ट शुद्धिको प्रहण करता है और दुर्द्विको छोड़ देता है ॥२४॥

आश्चर्य है कि यिहके द्वारा पूजने योग्य व दोनों लोकोंमें विशुद्धिको देनेवाले ऐसे ज्ञानशास्त्र ( समीचीन शास्त्र ) के होनेपर कौन-सा ऐसा बुद्धिमान है जो अपने आपको असमीचीन ( मिथ्या ) शास्त्रोंके द्वारा प्रतारित करेगा ? अर्थात् यथार्थं शास्त्रके होनेपर भी जो मिथ्या शास्त्रोंको पढ़कर आत्मवैचना करता है उसे मूर्ख ही समझना चाहिए ॥२५॥

१. P अस्य = जगतः । २. L F X निरूप्य स च, S T V C R निरूप्य मूर्ख । ३. B J यथा इते ।  
४. T दुर्मतिः । ५. N असच्छास्त्रे विडः ।

२६ ) असच्छास्त्रप्रणेतारः प्रज्ञालबुमदोदृताः ।

सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे कवयः स्वान्यवञ्चकाः ॥२६

२७ ) नगरद्विषुदैपूर्दैः कीर्तिमात्रानुरक्षितैः ।

कुशास्त्रच्छना लोको वराको व्याकुलीकृतः ॥२७

२८ ) अधीतैर्वा श्रुतैऽतिः कुशास्त्रैः किं प्रयोजनम् ।

यैमनः क्षिप्यते चित्रं दुरन्ते मोहसागरे ॥२८

२९ ) नाणं कण्ठमृतं सूते कार्यशून्यं सत्तामणि ।

कुशास्त्रं तनुते पश्चादविद्यागरविक्रियम् ॥२९

२६ ) असच्छास्त्रप्रणेतारः—च पुनः । केचित् कवयः भूपृष्ठे भूमष्टिले स्वान्यवञ्चकाः स्वस्य अन्यस्य च वञ्चकाः सन्ति । कथंभूताः कवयः । असच्छास्त्रप्रणेतारः असम्यक्शास्त्रकथकाः । पुनः कथंभूताः । प्रज्ञालबुमदोदृताः, बुद्धिलबाभिमानिन् इत्थर्थः ॥२६॥ अथासच्छास्त्रप्रालयकैर्लोको वञ्चन्यते तदेव दर्शयति ।

२७ ) स्वतत्त्वविमुखैः—मृदेमूर्खेलोको वराको व्याकुलीकृतः । केन । कुशास्त्रस्य छन्नना कुत्सितप्रन्थकपटेन । कथंभूतमूढः । स्वतत्त्वविमुखैरात्मतस्वपराङ्मुखैः । पुनः कथंभूतैः । कोत्तिमात्रानुरक्षितैरित्यर्थः ॥२७॥ अथ कुशास्त्रपठनात् संसारे परिभ्रमणि तदेव दर्शयति ।

२८ ) अधीतैर्वा श्रुतैः—कुशास्त्रैः कुत्सितशास्त्रैरघीतैः पठितैर्वा । अथवा श्रुतैः श्रवणं गतैः ज्ञातैरवगतैरेवंभूतैः शास्त्रैः किं प्रयोजनम् । यैः कुशास्त्रैः क्षित्रं शीघ्रं मनः क्षिप्यते इस्मिन् भोहसागरे मोहनीयसमुद्रे । कथंभूते । दुरन्ते दुखप्रापके । इति तात्पर्यर्थः ॥२८॥ अथ कुशास्त्रं क्षणैकं सुखदायि सत्पुरुषाणां कर्णयोरमृतमिव तदेवाह ।

२९ ) नाणं कण्ठमृतं—कार्यशून्यं कार्यरहितं कुशास्त्रं सत्ता सत्पुरुषाणां नाणं क्षणमात्रं कर्णयोरमृतं सूते जनयति । तदेव कुशास्त्रं पश्चादविद्या अज्ञानं, तदेव भूच्छकत्वात् मर्तविष्ण, सत्प्य

इस पृथिवीतलपर ऐसे कितने ही कवि हैं जो थोड़े-से ज्ञानको पाकर अभिमानमें चूर होते हुए मिथ्या शास्त्रोंकी रचना करते हैं । ऐसा करके वे दूसरोंको ही घोखा नहीं देते, उल्क अपने आपको भी घोखा देते हैं—इस प्रकारसे वे स्वयं भी संसारमें परिभ्रमण करते हुए दुःख सहते हैं तथा दूसरोंके भी उस संसारपरिभ्रमणके कारण होते हैं ॥२६॥

जो कवि आत्मतस्वसे विमुख होकर केवल कोर्तिमें अनुराग रखनेसे मिथ्या शास्त्रोंकी रचना करते हैं और उनके छलसे वेचारे भोले-भाले प्राणियोंको व्याकुल करते हैं उन्हें मूर्ख समझना चाहिए ॥२७॥

जिन शास्त्रोंके पढ़ने अथवा जाननेसे मन शीघ्र ही दुर्किनाश मोहरूप समुद्रमें फेंका जाता है उन कुशास्त्रोंसे भला क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? अभिप्राय यह है कि जिन शास्त्रोंके पढ़ने-मुननेसे मनमें मोह उत्पन्न होता है उन्हें कुशास्त्र यजमानना चाहिए । उनसे जीवका कुछ भी आत्महित होनेवाला नहीं है ॥२८॥

मिथ्या शास्त्र प्रथमतः आत्मप्रथोजनसे रहित सत्पुरुषोंके भी कानोंमें क्षणभरके लिए असृतको उत्पन्न करता है, परन्तु वही पीछे अज्ञानतारूप विषके विकारको उत्पन्न करता है ।

३० ) अज्ञानजनितरिचत्रं न विद्यमः को इयर्यं प्रहः ।

उपदेशशनेनपि यः पुंसा नापेसर्वति ॥३०

३१ ) सम्यग्निरूप्य सद्वृत्तैविद्विभवीतमत्सरैः ।

देवतानि शब्दानि अत्र मूर्या गुणा दोषाः समाधाय मनः ल्लणम् ॥३१ कि च—

३२ ) स्वसिद्धुर्थर्थं प्रवृत्तानां सत्तमप्यर्थं दुधिष्ठः ।

देवबुद्ध्या प्रवर्तन्ते केचिज्जगति जन्तवः ॥३२

विक्रिया विकारः यस्मिन् तत् अविद्यागरविक्रियम् इति भावार्थः ॥२९॥ अथाज्ञानोत्पत्तकदाग्रहः कथमपि न नश्यति तदेवाह ।

३० ) अज्ञानजनितः—चित्रमाश्चर्यम् । वयं न विद्यः न जानीमहे । अयं को इपि अज्ञानजनितः कदाग्रहो इस्ति । यः कदाग्रहः उपदेशशनेनपि पुंसा नापेसर्वति नापेगच्छति इति तात्पर्यर्थः ॥३०॥ अथात्र पण्डितैर्गुणदोषा विचार्या तदेवाह ।

३१ ) सम्यङ् निरूप्य—अत्र ग्रन्थे गुणा दोषा मूर्या विचार्या । कि कृत्वा । क्षणं शतमात्रं मनः समाधाय समाधी विद्याय । कथंभूतैविद्विद्विः । वीक्षा गतो मत्सरो येभ्यः से तथा तैः । पुनः कोदृशोः । सद्वृत्तैः सदाचारैः । कि कृत्वा । सम्यङ् निरूप्य कथयित्वा इति भावार्थः ॥३१॥ अथ स्वहितास स्तसत्पुरुषाणां दुर्बुद्धेद्वेषप्रवृत्तिमाह । कि च ।

३२ ) स्वसिद्धुर्थर्थं—केऽवज्जन्तवा जीवा जगति संसारे देवबुद्ध्या क्रोधमत्या प्रवर्तन्ते । केषाम् । सतां सत्पुरुषाणाम् । अत्र स्वसिद्धुर्थर्थं स्वप्रयोजनाय प्रवृत्तानामपि । कोदृशाः जन्तवः । दुधिष्ठः दुष्टमतिकाः । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ वस्तुगुणदोषविचारकानाह ।

तात्पर्य यह कि मिथ्या शास्त्र यद्यपि कभी-कभी सुनते समय शतमात्रके लिए सञ्जनोंके भी मनको मुम्ख करता है, परन्तु परिणाममें वह विषके समान सन्तापजनक ही होता है ॥२९॥

आइचर्य है कि अज्ञानसे उत्पन्न हुआ यह ऐसा कोई प्रह ( खिशाच ) है जिसे हम नहीं जानते हैं और जो सैकड़ों उपदेशोंके द्वारा भी पुरुषोंका पिण्ड नहीं छोड़ता है । तात्पर्य यह कि मिथ्या शास्त्रोंको एह-सुनकर जो मिथ्यात्वरूप खिशाच प्रगट होता है उससे पीड़ित होकर प्राणी सैकड़ों सदुपदेशोंको भो पाकर आत्महितमें नहीं लग पाता ॥३१॥

भास्तसर्यभावसे रहित जो सदाचारी विद्वान् हैं उन्हें भले प्रकार देखकर शतमात्रके लिए मनके समाधानपूर्वक इस शास्त्रमें गुण और दोषोंको खोजना चाहिए । अभिप्राय यह है कि यह जो शास्त्र रखा जा रहा है उसके विषयमें विद्वान् गुण और दोषोंको खोजते हुए मात्सर्यभावका परित्याग अवश्य करें, अन्यथा गुण और दोषोंकी यथार्थ प्रतीति होना सम्भव नहीं है ॥३१॥

दूसरे, संसारमें कुछ ऐसे भी दुर्बुद्धिजन हैं जो आत्मसिद्धिके लिए प्रवृत्त हुए सत्पुरुषों-के प्रति भी यहीं देवबुद्धिसे प्रवृत्त होते हैं । तात्पर्य यह कि संसारमें कुछ ऐसे दुष्ट भी हैं जो स्वभावसे सञ्जनोंके प्रति देवबुद्धि रखकर उनकी निरर्थक निम्ना किया करते हैं ॥३२॥

३३ ) साक्षाद्वस्तुविचारेषु निकषप्राप्यसंनिभाः ।

विमजन्ति गुणान् दोषान् धन्याः स्वस्थेन चेतसा ॥३३

३४ ) दूषयन्ति दुराचारा निर्दोषामपि भारतीम् ।

विधुविम्बश्रियं कोकाः सुधारसमयीमिव ॥३४

३५ ) प्रसादयति शोतांशुः पीडयत्येव भालुमान् ।

निसर्जनितां मन्ये गुणदोषाः शरीरिणाम् ॥३५

33 ) साक्षाद्वस्तु—वन्याः पुष्ट्याः स्वस्थेन चेतसा गुणान् दोषान् विमजन्ति विभागीकुर्वन्ति । कथंभूता धन्याः । साक्षाद्वस्तुविचारेषु निकषप्राप्यसंनिभाः, कषपद्वसदृशा इत्यर्थः ॥३३॥ अथ शुद्ध-वार्गदूषकाणां दुराचारत्वमाह ।

३४ ) दूषयन्ति दुराचारा—केवल दुराचारा दुष्टाचारा निर्दोषामपि भारतीं सरस्वतीं दूषयन्ति । हव उत्प्रेक्षते । कोकाः चक्रवाकाः सुधारसमयीम् अमृतमयीं विधुविम्बश्रियं चन्द्रमण्डल-कलां दूषयन्ति । अप्रयोजकत्वात् दोषं ददातोति तात्यर्थार्थः ॥३४॥ अथ गुणदोषाणां स्वभाव-जल्यत्वमाह ।

३५ ) प्रसादयति शोतांशुः—अहम् एवं मन्ये । शरीरिणां गुणदोषा निसर्जनिता स्वभावे-मौत्पन्ना भवन्ति । तत्र दृष्टात्ममाह । यथा शोतांशुः चन्द्रः जगत् प्रसादवत् करोति । अंशुमान् सूर्यो जगत् पीडयति, तापयतीत्यर्थः ॥३५॥ अथात्मशुद्धिमाह ।

साक्षान् वस्तुस्वरूपके विचारमें शाणोपल ( सुवर्णपरीक्षणका पाठाण-क्लौटी ) की समाजताको धारण करनेवाले कुछ ऐसे प्रश्नसमीय जन भी हैं जो शान्त मनसे गुण और दोषोंका विभाग किया करते हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शाणोपलपर सुवर्णके जसनेसे वह उसके खरे और खोटेपनको विभा किसी प्रकारके पक्षपातके प्रगट कर देता है उसी प्रकार सज्जन पुरुष भी राग और हेषबुद्धिको छोड़कर यथार्थमें गुण और दोषोंको प्रगट किया करते हैं ॥३६॥

जिस प्रकार चक्रवाक पक्षी अमृतस्वरूप चन्द्रविम्बकी लक्ष्मीको दूषित करते हैं—चन्द्रोदयके होनेपर चक्रवाकसे वियुक्त हो जानेके कारण चन्द्रविम्बको दोष देते हैं—उसी प्रकार हुष्ट जन निर्दोष भी वाणीको सदोष बतलाया करते हैं ॥३६॥

चन्द्रमा प्राणियोंको आङ्गादित ( प्रमुदित ) किया करता है और सूर्य उन्हें सन्ताप ही किया करता है । इससे मैं ऐसा समझता हूँ कि प्राणियोंके गुण और दोष स्वभावसे उत्पन्न हुआ करते हैं । विशेषार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा स्वभावसे अपनी चौंदिनीके हारा जनोंको आनन्दित किया करता है उसी प्रकार सूर्य स्वभावसे अपनी तीक्ष्ण किरणोंके हारा उन्हें सन्ताप दिया करता है । इससे पता चलता है कि सज्जनमें गुणवृह्णकी भावना और

१. T विधुमिव । २. S T V C X R Verses 34-35 interchanged । ३. All others, except P, पीडयत्येव्युमान् जगत् । ४. P M N जनितान् । ५. X Y गुणा दोषाः ।

- ३६ ) अयमात्मा महामोहकलङ्की येन शुद्ध्यति ।  
तदेव स्वहितं धाम तच्च ज्योतिः परं मतम् ॥३६
- ३७ ) विलोक्य भुवनं भीमयमभोगीन्द्रशङ्कितम् ।  
अविद्याद्वज्ञुच्छिद्य धन्या ध्याने लयं गताः ॥३७
- ३८ ) जन्मजानन्तदुवर्तमहाव्यसनपीडितम् ।  
जन्तुजातमिदं वीक्ष्य योगिनः प्रशमं गताः ॥३८

३६ ) अयमात्मा—अयं महामोहकलङ्की आत्मा येन केवचित् शुद्ध्यति । तदेवात्मनः स्वहितम् । तदेव धाम तेजः । च पुनः, तदेव ज्योतिः । तदेव परं प्रकृष्टं मतमभिमतं भवतीति तात्पर्यर्थः ॥३६॥ अथ ध्यानमाहात्म्यमाह ।

३७ ) विलोक्य भुवनं—ते धन्याः, ये ध्याने लयं गताः, ध्यानमया जाताः । किं कृत्वा । अविद्या पित्त्याजानं, तस्य द्रजं समूहं उत्सृज्य स्यक्त्वा । पुनः किं कृत्वा । भुवनं अगत्, भीमयमभोगीन्द्रशङ्कितं दौद्रमृत्युनागेन्द्रशङ्कितं विलोक्येति तात्पर्यर्थः ॥३७॥ अथ दुःखार्णवस्वरूपं शात्वा बुधैविरतमित्याह ।

३८ ) जन्मजानन्त—इदं जन्तुजाते प्राणिसमूहं वीक्ष्य विलोक्य प्रशममुपशमं गताः प्राप्ताः । कथंभूतं जन्तुजातम् । जन्मजानन्तदुवर्तमहाव्यसनपीडितम् । जन्मजानि अनन्तानि दुवर्तानि महाव्यसनानि तैः पीडितमित्यर्थः ॥३८॥ अथ जगति योगिप्रभावमाह ।

दुर्जनमें दोषमहणकी भावना स्वभावसे ही हुआ करती है । जैसे आचार्य श्रीरमन्दीने भी कहा है—‘भुणानगृह्णन् सुजन्तो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदन्तं दुर्जनः । चिरन्तनाभ्यासनिवन्धनेरिता मुण्डु दोषेषु च जायते मतिः ॥’ चन्द्रप्रभ० १-७ ॥३५॥

जिस तेजके द्वारा महान् मोहसे मलिन यह आत्मा शुद्धिको प्राप्त होता है वही तेज वस्तुतः अपना हित करनेवाला है और उसे ही परं ज्योति ( अनन्त ज्ञान स्वरूप उत्कृष्ट प्रकाश ) माना जाता है ॥३६॥

जो महापुरुष विश्वको भयानक यम ( मृत्यु ) रूप सर्पसे भयभीत देखकर अविद्यासमूहका—मिथ्यादर्शीन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका—परित्याग करते हुए ध्यानमें लीन हुए हैं वे धन्य हैं—अतिशय प्रशंसाके पात्र हैं ॥३७॥

योगी जन इस प्राणिसमूहको जन्मसमयसे ही उत्पन्न हुए तथा निवारणके लिए अशक्य ऐसे महा व्यसनसे—अतिशय विपत्ति या पापसे—पीडित देखकर शान्तिको प्राप्त हुए हैं—राग-द्वेषको छोड़कर आत्मस्वरूपमें मरन हुए हैं ॥३८॥

१. F J सत्त्वज्योतिः । २. All others except P त्रिमृत्यु । ३. S T F V B C X R जन्मजातङ्कु ।

४. Others except P M N L interchange ३८-३९ ।

- ३९ ) हृषीकराक्षसाकान्तं स्मरशार्दूलचवितम् ।  
दुःखार्णवगतं जन्मं विवेचय विरतं बुधैः ॥३९
- ४० ) भवभ्रमणविभ्रान्ते मोहनिद्रास्तचेतने ।  
एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहनिशम् ॥४०
- ४१ ) रजस्तमोभिरुद्धृतं कषायविषमूर्छितम् ।  
विलोक्य सत्त्वसंतानं सन्तः शान्तिसुपाश्रिताः ॥४१

३९ ) हृषीकराक्षस—बुधैः पण्डितैः दुःखार्णवगतं दुखसमुद्रप्राप्तं जन्म विवेचय विवेकीकृत्य विरतम् । कथंभूतं जन्म । हृषीकराक्षसाकान्तम् । हृषीकाणि इन्द्रियाणि, तान्येव राक्षसाः, तैराकान्तम् । स्मरशार्दूलचवितं कन्दपर्सिहभक्षितमित्यर्थः ॥३९॥ अथ योगिनां प्रशमहेतुमाह ।

४० ) भवभ्रमण—अस्मिन् जगति अहनिशम् अहोरात्रम् एक एव योगी जागति । कथंभूते जगति । भवभ्रमणविभ्रान्ते संसारपर्यटनभ्रान्ते । पुनः कथंभूते । मोहनिद्रास्तचेतने मोहस्वापगतं चेतने इति तात्पर्यर्थः ॥४०॥ अथेवभूतं सत्त्वसंधारं दृष्ट्वा सन्तो विरक्तास्तदेवाह ।

४१ ) रजस्तमोभि—सन्तः सत्युरुषाः सत्त्वसंतानं प्राणिसमूहं विलोक्य शान्तिं क्रोधाद्यभावम् । उपाश्रिताः प्राप्ताः । कथंभूतं सत्त्वसंतानम् । रजस्तमोभिरुद्धृतं रजोगुणतमोगुणीरत्यापितैः उत्थापितम् । पुनः कथंभूतं सत्त्वसंतानम् । कषायविषमूर्छितमिति सुगमम् ॥४१॥ अथ मुनीनां कृत्यमाह ।

ज्ञानी जन संसारको इन्द्रियरूप राक्षसोंसे व्याप्त, कामरूप मिहके द्वारा चबाचा गया और दुखरूप समुद्रमें भग्न हुआ देखकर उसको ओरसे चिमुख हुए हैं । अभिप्राय यह है कि संसारमें परिभ्रमण करते हुए अज्ञानी जीव इन्द्रियविषयोंमें आसक्त होकर निरन्तर दुख भोगते हैं । उनकी इस दयनीय अवस्थाका विचार कर जिन्हें विवेक बुद्धि उत्पन्न हुई है वे ज्ञानी जीव उन इन्द्रियविषयोंसे विरक्त हुए हैं ॥३९॥

यह लोक जन्म-मरणस्वरूप संसारमें परिभ्रमण करते हुए प्राणियोंको भ्रान्ति उत्पन्न करके मोहरूप नीदके द्वारा उनकी विचारशक्तिको तष्टु करनेवाला है । इसीलिए इसके भीतर स्थित योगीजन दिन-रात जागते रहते हैं—मोहरूप निद्राको छोड़कर आत्मस्वरूपके विषयमें सदा ही प्रबुद्ध रहते हैं ॥४०॥

साधु जन प्राणिसमूहको ज्ञानावरणादिरूप कर्मधूलिसे तथा अज्ञानरूप अन्धकारसे अथवा रजोगुण और तमोगुणसे उत्कट एवं कषायरूप विषसे मूर्छिव देखकर शान्तिको प्राप्त हुए हैं—कषायसे रहित हुए हैं ॥४१॥

४२ ) मुक्तिश्रीवक्त्रशीतांशुं द्रष्टुमुत्कण्ठिताशयैः । ४२

मुनिमिर्मध्यते साचाद्विज्ञानमकरालयः ॥४२

४३ ) उपर्युपरिसंक्रान्ते दुःखवहितं जगत् ।

वीक्ष्य सन्तः परिप्राप्ता ज्ञानवारिनिधेस्तटम् ॥४३

४४ ) अनादिकालसंलग्ना दुस्त्यजाँ कर्मकालिकाँ ।

सद्यः प्रक्षीयते येन विद्येयं तद्वि धीमताम् ॥४४

४२ ) मुक्तिश्रीवक्त्र—मुनिभिः ज्ञानवद्धिः साक्षात्प्रकारेण विज्ञानमकरालयः विशिष्ट-ज्ञानसमुद्रो भव्यते । पुनः कथंभूतैः । मुक्तिश्रीवक्त्रशीतांशुमिव श्रीमुखचन्द्रं द्रष्टुम् उत्कण्ठिताशयै उत्कमानसैरित्यर्थः ॥४२॥ अथ सतो ज्ञानप्राप्तिहेतुमाह ।

४३ ) उपर्युपरिसंक्रान्त—सन्तः सत्पुरुषा एवंभूतं जगत् वीक्ष्य ज्ञानवारिनिधेस्तटं परिप्राप्ताः । कथंभूतं जगत् । उपर्युपरि संक्रान्तः यः दुःखमेव वहितः, तेन क्षतम् अर्थात् दग्धभित्यर्थः ॥४३॥ अथ कर्मणाँ दुस्त्यजत्वमाह ।

४४ ) अनादिकाल—हि यस्मात् करणात् । धीमता तद्विद्येयं कलंव्यम् । यत्तदोन्नित्याभिसंवन्धात् । येन कर्मकालिका सद्यः प्रक्षीयते । कथंभूता । अनादिकालः संसर्गो यस्यां सा तथा । पुनः कथंभूता । दुस्त्यजा इति भावार्थः ॥४४॥ अथ भोक्षस्वरूपमाह ।

जिन मुनियोंका मन मुक्तिरूप लक्ष्मीके मुखरूप चन्द्रको देखनेके लिए उत्कण्ठित हो रहा है वे प्रत्यक्षमें विज्ञानरूप समुद्रको मथा करते हैं । विशेषार्थ—विष्णुपुराण आदि पुराण-ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है कि दुर्वासा ऋषिके शापसे जब स्वर्गकी लक्ष्मी नष्ट हो गयी और देव द्वामधोंसे पराजित हो गये थे तब विष्णु भगवान्के उपदेशानुसार देवोंने समुद्रका मन्थन किया था । उसमेंसे तब चन्द्र और लक्ष्मी आदि प्रगट हुए थे । इसी कथानकपर हष्टि रखते हुए यहाँ यह कहा गया है कि मुनिजन लक्ष्मीके समान मुक्तिको प्राप्त करनेके लिए समुद्रके समान गम्भीर ज्ञानका मथन किया करते हैं—निरन्तर भूतका परिशीलन किया करते हैं ॥४२॥

यह संसार उत्तरोत्तर आक्रमणको प्राप्त दुखरूप अग्निसे सन्तप्त हो रहा है । उसकी इस अवस्थाको देखकर साधु जन ज्ञानरूप समुद्रके किनारेको प्राप्त हुए हैं । अग्निप्राय यह है कि जिस प्रकार अग्निके तापसे पीड़ित प्राणी शीतल जलाशयका आश्रय लेते हैं उसी प्रकार अंसारके दुखसे सन्तप्त साधुजन ज्ञानरूप जलाशयका आश्रय लेते हैं—श्रुतका परिशीलन करके तबनुसार आचरण करते हुए उस दुखसे छुटकारा पा लेते हैं ॥४३॥

जो कर्मरूपी कालिमा जीवके साथ असादि कालसे सम्बद्ध होकर वदे कष्टसे छूटनेषाली है वह जिस अनुष्ठानसे शीघ्र नष्ट की जा सकती है, बुद्धिमान् जनोंको उसीका अनुष्ठान करना चाहिए ॥४४॥

१. M L S F V J R मुक्तिश्री । २. L S F V C X Y R संभूत । ३. B J संसर्गद्वास्त्यजा ।  
४. P सलग्नाँ दुस्त्यजाँ कालिकाँ ।

४५ ) निष्कलङ्कं निरावाधं सामन्दं स्वस्वभावजम् ।

वदन्ति योगिनो मोक्षं विषयं जन्मसंततेः ॥४५

४६ ) जीवितव्ये सुनिःसारे नृजन्मन्यतिदुर्लभे ।

प्रमादपरिहारेण विज्ञेयं स्वहितं नृणाम् ॥४६ ॥

४७ ) विचारचतुर्वीरेत्यच्चसुखलालसैः ।

अत्र प्रमादमुत्सृज्य विधेयः परमादरः ॥४७

४८ ) न हि कालकलैकापि विवेकविकलाशयैः ।

अहो प्रशाधनैर्नेथो नृजन्मन्यतिदुर्लभे ॥४८

४५ ) निष्कलङ्कं निरावाधं—योगिनः एवंभूतं सोक्षं वदन्ति । कथंभूतम् । निष्कलङ्कं कलङ्करहितम् । पुनः कथंभूतम् । निरावाधं, वाधारहितम् । पुनः कथंभूतम् । सामन्दं सहितम् । पुनः किविशिष्टम् । स्वस्वभावजम् आत्मसंतत्यसंभवम् । पुनः कथंभूतम् । जन्मसंततेः जन्मपरम्परायाः विषयं विपरीतम् इति सूक्ष्मार्थः ॥४५॥ अथ मनुष्यजन्मनोऽतिदुर्लभत्वमाह ।

४६ ) जीवितव्ये—जन्मनि मनुष्यभवे अतिदुर्लभे प्रमादपरिहारेण नृणां स्वहितं विज्ञेयम् । क्व सति । जीवितव्ये सुनिःसारे सति इति सात्पर्यर्थः ॥४६॥ तत्र विचारचतुराणां कर्तव्यमाह ।

४७ ) विचारचतुर्वीरे—अत्र नृजन्मनि दक्षैः परमादरो विधेयः । कि कृत्वा । प्रमादम् उत्सृज्य त्यक्त्वा । कथंभूतैर्दक्षैः । विचारचतुर्वीरे । पुनः कथंभूतैः । अतिक्रान्तेन्द्रियसुखलम्पटैरित्यर्थः ॥४७॥ अथ प्रशाधनानां कर्तव्यमाह ।

४८ ) न हि काल—अहो इत्याइचर्ये । अतिदुर्लभे नृजन्मनि प्रशाधनैः एकापि कालकला न हि ज्ञेया । कथंभूतैः । विवेकेन विकलः आशयः येषां ते । तेरित्यर्थः ॥४८॥ अथ संसारस्यानित्यतामाह ।

जन्मपरम्पराका विरोधी मोक्ष है और वह कर्म-कालिमासे रहित, निर्बाध, आनन्दसे परिपूर्ण एवं आत्माके स्वभावसे ही उत्पन्न होनेवाला है, इस प्रकार योगी जन उसका स्वरूप बतलाते हैं ॥४८॥

संसारी प्राणियोंके जीवनमें कुछ भी सार नहीं है । अत एव मनुष्योंका यह कर्तव्य है कि जब उन्हें अतिशय दुर्लभ मनुष्य पर्याय प्राप्त हो गयी है तो वे प्रमादको छोड़कर आत्महितको जानें और उसमें प्रवृत्त हों ॥४९॥ ॥

ओ अपने हिताहितके विचारमें कुशल, साहसी और अतीन्द्रिय सुखके अभिलाषी हैं उन्हें प्रमादको छोड़कर इस मोक्षके विषयमें अतिशय आदर करना चाहिये ॥४९॥

जो जन बुद्धिरूप धनसे सम्पन्न हैं उन्हें अतिशय दुर्लभ मनुष्यभवको पाकर विवेकसे रहित होते हुए कामकी एक कला ( समयका अतिशय सूक्ष्म भाग = तीस काष्ठा ) को भी नहीं विताना चाहिये ॥४९॥

४९ ) भूर्णं दुःखज्वालानिचयनिचितं जन्मग्रहनं  
यदक्षाधीनं स्यात् सुखमिह तदन्ते ऽतिविरसम् ।  
अनित्यः कागरदेहं कृणलिङ्गलं गीचित्तिदं  
विमृश्यैवं स्वार्थं क इह सुकृती मुहूर्ति जनः ॥४९॥

इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते  
प्रथमः सर्गः ॥१॥

४९ ) भूर्णं दुःखज्वाला—इह जगति कः सुकृती जनः एवं विमृश्य विचार्य स्वार्थं मुहूर्ति । अपि तु न कोऽपि । एवं किम् । जन्मग्रहनं भूशम् अत्यर्थं दुःखज्वालानां निचयेन निचितं युक्तम् । इह भवे यत्सुखम् अक्षाधीनं स्यात् तत्सुखम् अन्ते प्राप्नते ऽतिविरसम् । कामार्था अनित्या भवन्ति । इदं जीवितं क्षणमार्थं चञ्चलं भवतीत्यर्थः ॥४९॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्थवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डित-न्यविलासेन  
साहपासो-तत्पुत्र-साह-टोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहकृष्णिदासस्वश्रवणार्थ  
पण्डित-जिनदासोद्यमेन कारापितः प्रथमः सर्गः ॥१॥

संसार रूप वन अतिशय दुखरूप अग्निकी ज्वालाओंके समूहसे व्याप है, यहाँ जो इन्द्रियोंके अधीन सुख है—विषयभोगोंसे उत्पन्न होनेवाला अस्थिर सुख है—बहु अन्तमें अतिशय नीरस अर्थात् परिणाममें दुखदायक है, काम और अर्थ ये दोनों पुरुषार्थं अस्थिर हैं तथा यह प्राणीका जीवन विज्ञानके समान चञ्चल है, ऐसा विचार करके बहु कौन-सा पुण्यशाली ( या विद्वान् ) पुरुष है जो अपने प्रयोजनकी सिद्धिमें मूढ़ताको प्राप्त होगा ? कोई भी नहीं है—विदेकी जीव संसारके स्वरूपका विचार कर आत्महितमें लगता ही है ॥४९॥

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारमें  
प्रथम प्रकरण समाप्त हुआ ॥१॥

१. T कि च । २. ] यदक्षाधीनं । ३. F अनन्या कामार्थः । ४. [ अणहित = विद्युत् ] । ५. S T V विमृश्योच्चैः । ६. C om. । ७. S T F V C श्रीज्ञानार्थवे । ८. S F चन्द्राचार्यविरचिते । ९. B विरचिते पण्डितजिनदासोद्यमेनकारापितप्रथमः ।

## [ द्वादश मावनाः ]

५० ) संगैः किं न विषाद्यते वपुरिदं किं छिद्यते नामयै-

मृत्युः किं न विजूम्भते प्रतिदिनं द्रुह्यन्ति किं नापदः ।

शवधारः किं न भयानकाः स्वपनवद्यभोगा न किं वज्चका  
येन स्वार्थमपास्य किंतरपुरप्रस्त्रे भवे ते स्पृहा ॥१॥

यो पूर्वं समभावि पाश्वर्पुर्वज्वरः सद्गमीर्धीरेयकः, तस्योदारान्वयैकप्रगुणदिनमणिष्ठोडरः  
सावृष्टभर्ता । जीवाजीवस्वरूपप्रवरविषयः साहृ ऋषिदासनामना, जक्रो ज्ञानार्थवस्य प्रगटविवृतिर्भविलासैः प्रसिद्धः ॥१॥ श्रावकाचारपाठोभिक्षच्छ्रमाङ्गलसनिभः । जोयाच्छ्रीऋषिदासस्तु साहितोडरनन्दनः ॥२॥ तस्योपदेशमादाय ज्ञानार्णवप्रदीपिकाम् । कुर्वे वालप्रबोधाय भक्तिभावितमानसः ॥३॥ अथ संसारवाङ्छामपाकरोति ।

५० ) संगैः किं न—हे श्रावकजन, येन कारणेन स्वार्थमपास्य द्वीक्षत्वं, किंतरपुरप्रस्त्रे,  
गन्धवैनगरसदृशे, भवे संसारे, ते तव, स्पृहा वाङ्छावत्तते । यतः कारणात् संगैः पुत्रादिसंसर्वैः किं  
न विषाद्यते विषाद् हव आचरते । अपि तु विषाद्यते एव । इदं वपुरामयैः रोगैः किं न छिद्यते अपि  
तु छिद्यते एव । मृत्युः किं न विजूम्भते । अपि तु विजूम्भते । प्रतिदिनम् आपदः किं न द्रुह्यन्ति  
द्वोहं कुर्वन्ति । काकोक्तिः सर्वं श्रोज्या । शवधारः किं न भयानकाः । अपि तु भयानका एव ।  
भोगाः किं न वज्चकाः स्वपनवद् । अपि तु वज्चका इति तात्पर्यर्थः ॥४॥ अथ वर्मपिदेशमाह ।

हे भव्य जीव ! क्या परिग्रह तुझे खिल नहीं करते हैं, क्या यह सेरा शरीर रोगोंके  
द्वारा छिन्न-भिन्न नहीं किया जाता है, क्या मृत्यु तुझसे इन्द्रियी नहीं करती है, क्या आपत्तियाँ  
तुझे प्रतिदिन नहीं ठगती हैं, क्या नरक तुझे भयभीत नहीं करते हैं, और क्या विषयभोग  
तुझे स्वप्नके समान ठगनेवाले नहीं हैं, जिससे कि तेरी इच्छा आत्मप्रयोजनको छोड़कर  
किंतरपुरके समान सुहावने दिखनेवाले इस संसारमें स्थित रहनेकी है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय  
यह है कि संसार एक मायामय नगरके समान है । उसमें पुत्र-स्त्री-भिन्न आदि रूप सचित्त  
तथा धन-धान्यादिरूप अचित्त परिग्रह प्राणीको सदा व्याकुल किया करते हैं, शरीर सदा  
रोगोंसे घिरा रहता है, मृत्यु अपना प्राप्त बनानेके लिए विरन्तर उत्तुक रहती है, आपत्तियाँ  
सदा पीड़ित किया करती हैं, तथा ये नश्वर विषयभोग दूसरे ही लुभावने दिखते हैं । फिर  
ऐसी अवस्थामें हे भव्य ! तू धर्मसे चिमुख होकर परलोकमें प्राप्त होनेवाले नरकादि दुर्गतिके  
कुखसे क्यों नहीं भयभीत होता है ? प्राणीको नरकादिके दुःखोंका समरण करते हुए नश्वर  
इन्द्रियविषयोंसे विरक्त होकर अपनेको आत्महितके साधनभूत मर्यादादिमें प्रवृत्त करना  
चाहिये ॥५॥

- ५१ ) नासादयसि कल्याणं न स्वेतत्त्वं समीक्षये ।  
न वेत्सि जन्मवैचित्र्यं आत्मूत्तैर्विद्भितः ॥२
- ५२ ) असद्विद्याविनोदेन मात्मानं मूढ वज्रय ।  
कुह कुत्यं न कि लेसि विश्वत्त्वं विनश्वय ॥३
- ५३ ) समत्वं भज भूतेषु निर्ममत्वं विचिन्तय ।  
अपाकृत्यं मनःशल्यं भावशुद्धिं समाशय ॥४

५१ ) नासादयसि—आत्मत्वं भवान् कल्याणं नासादयसि । न स्वेतत्त्वं स्वचैतत्त्वं समीक्षये । अन्मवैचित्र्यं न वेत्सि । कथंभूतः । भूतः प्राणिभिरुपलक्षणात् विडभितः ॥२॥ अथ संसारविनश्वरता दर्शयति ।

५२ ) असद्विद्या—हे मूढ, मूर्ख, विश्ववृत्तं संसारचरितं, विनश्वरं भव्यत्, कि न वेत्सि । कुल्यं स्वहितं कुरु । पुनः मूढस्य कर्तुः संबोधनं कुरुते । मूढ, न आत्मानं वज्रय । केन । असद्विद्या-विनोदेन, असदज्ञानस्वरूपेणेत्यर्थः ॥३॥ अथ भावशुद्धिमाह ।

५३ ) समत्वं भज—हे सुजन, भूतेषु प्राणिषु समत्वं भज । निर्ममत्वं निर्मयित्वं विचिन्तय । भावशुद्धिं समाशय । कि कृत्वा । मनःशल्यम् अपाकृत्यं दुरीकृत्येति तात्पर्यर्थः ॥४॥ अथ भावशुद्धयर्थं सिद्धान्तोक्त्वादशभावनाः दर्शयति ।

हे भाई ! तू भूतोंसे प्रतारित किये गये ( प्रहाविष्ट ) के समान न अपने हितको प्राप्त करता है, न चलुत्वरूपको देखता है, और न संसारकी विचित्रताका भी अनुभव करता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पिशाचादिसे पीड़ित पुरुष अपने हित-अहितको नहीं जान पाता है उसी प्रकार इन्द्रियविषयोंमें आसक्त हुआ जीव भी अपने हित-अहितको नहीं जान पाता है ॥२॥

हे मूर्ख ! तू मिथ्याज्ञानमें अनुरक्त होकर अपने आपको मत ठग, किन्तु जिससे आत्महित होता है ऐसे योग्य कार्यको कर । कथा तू संसारकी सब बातोंको—इन्द्रियोंको सुग्रह करनेवाले विषयभोगादिकोंको—नश्वर नहीं जानता है ? अर्थात् तुझे यह समझ लेना चाहिए कि संसारके सब ही पदार्थ नष्ट होनेवाले हैं, स्थिर वहाँ कुछ भी नहीं है ॥३॥

हे भव्य ! तू सब ही प्राणियोंको समान समझ—एकसे राग और दूसरे द्वेष मत कर तथा यह विचार कर कि संसारमें न तो मेरा कोई है, और न मैं भी उसका कोई हूँ । ऐसा विचार करते हुए तू अपने मनसे शल्यको—पापवासनाको निकाल दे और भावोंकी विशुद्धिका सहारा ले ले ॥४॥

५४) चिनु चिसे भृशं भव्य भावना भावशुद्धये ।

याः सिद्धान्तमहातन्त्रे देवदेवैः प्रतिष्ठिताः ॥५

५५) ताश्च संवेगवैराग्ययमप्रशमसिद्धये ।

आलानिता मनःस्तम्भे मुनिभिर्मोक्षमिच्छुभिः ॥६

५६) अनित्याद्याः प्रशस्यन्ते द्वादशैता मुमुक्षुभिः ।

या मुक्तिसौधसोपामराजयो अत्यन्तबन्धुराः ॥७ तथाथा

५४) चिनु चिसे—हे भव्य, भावशुद्धये प्रस्तावाद् द्वादश भावनाः भृशम् अत्यर्थम् । चिसे चिनु दृढीकुरु । याः भावनाः सिद्धान्ते महातन्त्रे सिद्धान्ते महाशास्त्रे देवदेवैः तीर्थकरैः प्रतिष्ठिताः स्वापिताः ॥५॥ ताः यदर्थं तोर्थकरेदर्विताः तदर्थयति ।

५५) ताश्च संवेग—च पुनः । ता द्वादश भावना मुनिभिः ज्ञानिभिः मनःस्तम्भे आलानिता बन्धिताः । 'आलानं गजबन्धनम्' इति शे [को] षः । कस्यै । संवेगवैराग्ययमप्रशमसिद्धये, संवेगः संसारे विरक्तता । वैराग्यम् इन्द्रियविषयेषु अप्रवृत्तिः । यथाः व्रतानि । प्रशमः कोषाद्यः भावः । तेषां सिद्धये । कथंभूतैर्मुनिभिः । \*मोक्षुमिच्छुभिः मुक्तिशाङ्कैरित्यर्थः ॥६॥ ता नामग्राहं दर्शयति ।

५६) अनित्याद्याः—एता द्वादशभावना अनित्याद्या मुमुक्षुभिर्मुक्तिकामैः प्रशस्यन्ते । या भावना मुक्तिसौधसोपामराजयः अत्यन्तबन्धुरा मनोहरा भवन्ति ॥७॥ तथाथा—प्रथमतः संसारानित्यसौधसौधयति ।

हे भव्य ! तू उक्त भावोंकी विशुद्धिके लिए हृदयके भीतर उन भावनाओंको संचित कर जिनकी प्रतिष्ठा जिनेन्द्रोंके द्वारा सिद्धान्तस्त्र एवमागममें की गयी है । तात्पर्य यह कि आत्मपरिणामोंको विशुद्ध रखनेके लिए निरन्तर जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट वारह भावनाओंका विचार करना चाहिए ॥५॥

कर्मवन्धनसे छुटकारा पानेकी इच्छा रखनेवाले मुनिजनेनि भवेण ( धर्मानुराग ), वैराग्य, संथम और कषायोंकी आन्तिके सिद्ध करनेके लिए उक्त वारह भावनाओंको अपने मनस्त्र खम्भेमें बौद्ध दिया है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार महावत उपद्रवसे रक्षा करनेके लिए बलवान् हाथोंको आलानस्तम्भ ( हाथीके बौद्धनेका खम्भा ) से बौद्धके रखता है उसी प्रकार मुनिजन विषयादिकोंसे मनका संरक्षण करने और धर्मानुरागको बुद्धिशत करनेके लिए उन भावनाओंको मनमें बौद्धकर रखते हैं—मनसे सदा उनका निन्तन किया करते हैं ॥६॥

जो अतिशय मनोहर अनित्यादिक वारह भावनाएँ मोक्षरूप प्रासादकी सोषादपर्वति ( पायरियों ) के समान हैं उनकी मोक्षाभिलाषी मुनिजन निरन्तर प्रशस्ता किया करते हैं ॥७॥

१. All others except P मोक्षुमिच्छुभिः । २. N S T V C J R omit तथाथा, B omits the verse but has com.

- ५७ ) हृषीकार्थसमुत्पन्ने प्रतिक्षणविनश्वरे ।  
सुखे कृत्वा रति मूढ विनष्टं सुवनवयम् ॥८
- ५८ ) भवाद्विषप्रभवाः सर्वे संबन्धाः विषदास्पदम् ।  
संभवन्ति मनुष्याणां तथान्ते सुषु नीरसाः ॥९
- ५९ ) वपुविद्धि रुजाक्रान्तं जराक्रान्तं च यौवनम् ।  
ऐश्वर्यं च विनाशात्<sup>१३</sup> मरणात् च जीवितम् ॥१०
- ६० ) ये दृष्टिपथमायाताः पदार्थाः पुण्यमूर्तयः ।  
पूर्वाङ्गे न च मध्याह्ने ये प्रयात्खीह देहिनम् ॥११

५७ ) हृषीकार्थसमुत्पन्ने—हे मूढ मूर्ख, भुवनवयं जगत्वयं, विनष्ट, नाशं गतम् । कि कृत्वा । सुखे इन्द्रियजे रतिम् आसवित्तं कृत्वा । कर्थभूते सुखे । हृषीकार्थसमुत्पन्ने इन्द्रियविषयसमुत्पन्ने । पुनः कर्थभूते सुखे । प्रतिक्षणविनश्वरे नाशवीले इति तात्पर्यार्थः ॥८॥

५८ ) भवाद्विषप्रभवाः—सर्वे संबन्धाः भवाद्विषप्रभवाः भवसमद्वाता विषदास्पदमापदां गृहं मनुष्याणां संभवन्ति । तथा अन्ते प्रान्ते संबन्धाः सुषु नीरसा भवन्ति इति इलोकार्थः ॥९॥ पुनस्तदेव हि ।

५९ ) वपुविद्धि—हे भव्य, वपुः शरीरं रुजाक्रान्तं रोगव्याप्तं भवति । च पुनः । यौवनं जराक्रान्तं वृद्धावस्थाव्याप्तम् । च पुनः । ऐश्वर्यं राज्यादि \*विनाशान्तं स्यात् । च पुनः । जीवितं \*मरणान्तं भवति इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ पदार्थनां स्वरूपमाह ।

६० ) ये दृष्टिपथ—ये पदार्थाः, पुण्यमूर्तयः पुण्यस्वरूपाः, देहिनां दृष्टिपथमायाता भवन्ति । पूर्वाङ्गे प्रथमदिनार्थे । च पुनः । ते पदार्थाः इह संसारे मध्याह्ने तथा दृष्टिपथं तायान्ति इति सूत्रार्थः ॥११॥ पुनस्तदेवाह ।

१. अनित्यभावना—हे मूढ ! इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न सुख शण-शणमें नष्ट होनेवाला है । उसमें अनुराग करके तीनों लोक नष्ट हो चुके हैं । तात्पर्य यह कि तीनों लोकोंमें जिसमें भी उन विषयोंसे अनुराग किया है उसे अनेक प्रकारका दुख सहना पड़ा है ॥८॥

संसार रूप समुद्रके भीतर उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंके सब ही सम्बन्ध विषयके स्थान ( दुखदायक ) और अन्तमें अतिशय नीरस ( आनन्दसे रहित ) हैं ॥९॥

हे भव्य जीव ! तू शरीरको रोगोंसे चिरा हुआ, यौवनको बुढ़ापेसे चिरा हुआ, धन-सम्पत्तिको विनाशजान्य पीड़ाका देनेवाला और जीवनको मरणजन्य व्यथाका अनुभव करनेवाला समझ ॥१०॥

पवित्र आकाशको धारण करनेवाले जो पदार्थ यहाँ प्राणियोंके द्वारा पूर्वाङ्ग ( प्रातःकाल ) में देखे जाते हैं वे मध्याह्न ( दोपहर ) में नहीं देखे जाते किन्तु नष्ट हो जाते हैं ॥११॥

- ६१) यज्जन्मनि सुखं मूढ यच्च दुःखं पुरस्थितम् ।  
तयोर्दुःखमनन्तं स्यातुलार्या कल्पमानयोः ॥१२॥
- ६२) भोगा भुजङ्गं भोगामाः सद्यः प्राणापहारिणः ।  
सेव्यमानाः प्रजायन्ते संसारे त्रिदशैरपि ॥१३॥
- ६३) वस्तुजातमिदं मूढ प्रतिक्षणविनश्वरम् ।  
जानश्चपि न जानासि ग्रहः कोऽयमनौषधः ॥१४॥
- ६४) क्षणिकत्वं वदन्त्यार्या घटीघातेन भूभूताम् ।  
क्रियतामात्मनः श्रेयो गतेयं नाममिष्यति ॥१५॥

६१) यज्जन्मनि—हे मूढ मूर्ख, अन्मनि यत् सुखम् । च पुनः । यद्दुःखं पुरस्थितम् । तयोः दुःखपुखयोः कल्पमानयोः तुलार्या दुःखमनन्तं स्यात् इति सूचार्थः ॥१२॥ अथ भोगानां कल्पमाह ।

६२) भोगा भुजङ्गं—त्रिदशैर्देवैरपि सेव्यमाना भोगाः सद्यः प्राणापहारिणः प्रजायन्ते । च । संसारे । कर्थभूता भोगाः । भुजङ्गभोगामाः नागशरीरसदृशा इत्यर्थः ॥१३॥ अथ सकलपदार्थस्य विनश्वरतामाह ।

६३) वस्तुजातमिदं—हे मूढ मूर्ख, इदं वस्तुजातं पदार्थसमूहः प्रतिक्षणविनश्वरं जानश्चपि न वेत्सि न जानासि । अयमनौषधग्रहः कोऽस्ति इति सूचार्थः ॥१४॥ पुनस्तदेवाह ।

६४) क्षणिकत्वं—भूभूताम् आर्या क्षणिकत्वं वदन्ति । केन । घटीघातेन घटिकायतशब्देन ।

हे मूर्ख ! संसारमें जो सुख और जो दुख सामने अवस्थित हैं उन दोनोंको यदि तराजूके ऊपर तीलनेकी कल्पना की जाय तो उनमें सुखकी अपेक्षा दुख अनन्तगुणा प्रतीत होगा ॥१२॥

संसारमें देवोंके द्वारा भी सेवन किये जानेवाले विषयभोग सर्पके शरीर ( विष ) के समान शक्ति ही प्राणोंका अपहरण करनेवाले हैं—इस लोकमें रोगादिके दुखको तथा परलोकमें दुर्गतिके दुखको देनेवाले हैं ॥१३॥

हे मूर्ख ! यह सब ही वस्तुओंका समूह क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाला है, इस बातको तु जानता-देखता हुआ भी बास्तवमें नहीं जानता है—उसका दृढ़तापूर्वक निःस्वय नहीं करता है । यह सेवा वह कोई ग्रह ( पिशाच या शनि आदि ग्रह ) है जिसकी कोई औषध नहीं है । तात्पर्य यह कि मनुष्य विषयोंकी अस्थिरताको देखता हुआ भी जो उनकी ओरसे विरक्त न होकर उन्हींमें आसक्त रहता है यह ऐसा अविवेक है कि जिसका सदुपदेशादिके द्वारा नष्ट करना अशक्य है ॥१४॥

मुनिजन राजाओंके घटीयमन्त्र ( समयका सूचक ) के अभिन्नात ( ठोकर ) से चेतन-

६५ ) यद्यपूर्वं शरीरं स्याद्यदि त्रात्यन्तशाश्वतम् ।

युज्यते हि तदा कर्तुमस्यार्थे कमे निनिदत्तम् ॥१६॥

६६ ) अवश्यं यदि॑ यास्यन्ति पुत्रस्त्रीघनवान्धवाः ।

शरीराणि तदेतेषां कुते किं खिद्यते वृथा ॥१७॥

६७ ) नायाता नैव॑ यास्यन्ति केनापि सह योषितः ।

तथाध्यद्वाः कुते॒ तासां प्रविशन्ति रसातलम् ॥१८॥

अत आत्मनः थेयः क्रियताम् । इर्थं घटी गता नामभिव्यति इति तात्पर्यर्थः ॥१५॥ अथ शरीरस्य-  
शाश्वतत्वमाह ।

६५ ) यद्यपूर्वं शरीरं—यदि शरीरमपूर्वं भग्नोहरं स्यात् भवेत् । वा अथवा । यदि शरीरम्  
अत्यन्तशाश्वतं स्यात् । हि तस्मात् कारणात् । अस्य शरीरस्यार्थे निनिशतं कुत्सितं कर्म कर्तुं  
युज्यते । अन्यथा नेति भावः ॥१६॥ अथ पुत्रकलनादीनामभित्यतामाह ।

६६ ) अवश्यं यदि—हे भव्य, तस्मात् कारणात् एतेषां कुते किं वृथा खिद्यसे\* । यदि पुत्र-  
स्त्रीघनवान्धवा अवश्यं यास्यन्ति, शरीराणि यास्यन्ति अवश्यम् । तस्मात् खेदः कार्यः इति  
मूलार्थः ॥१७॥ अथ स्त्रीणां चञ्चलत्वम् आह ।

६७ ) नायाता नैव—तथा अजाः मूर्खाः तासां योषितां कुते कारणाय रसातलं पृथ्वीतलं  
प्रविशन्ति । यथा ता योषितः केनापि सह नायाता नैव यास्यन्तीत्यर्थः ॥१८॥ अथ जीवानां  
नानागतिमाह ।

अचेतन पदार्थोंकी क्षणनश्वरता ( अनित्यता ) को बतलाते हैं—जैसे चढ़ी समयपर ठोकर  
द्वारा घड़ी-घंटा आदिकी सूचना करती है, वैसे ही वह समयानुसार वस्तुओंके विनाशकी भी  
सूचना करती है । इसलिए विवेकी जीवको अपना हित करना चाहिए, क्योंकि, जीव हुआ  
काल फिरसे आनेवाला नहीं है ॥१५॥

यदि कदाचिन् अपूर्वं और अविश्य अविनाशी शरीर सम्भव हो तो उसके लिए  
नित्य कार्य करना योग्य भी हो सकता है । अभिप्राय यह है कि प्राणीको जो शरीर प्राप्त है  
वह बार बार प्राप्त हुआ है, उसमें तबीजता कुछ भी नहीं है । इसके अतिरिक्त वह पूर्वके  
समान ही नष्ट होनेवाला भी है । ऐसी अवस्थामें उसके निमित्त विवेकी जीवको नित्य कार्य  
करना योग्य नहीं है ॥१६॥

हे भव्य ! पुत्र, स्त्री, धन और वन्धुजन तथा शरीर भी; ये सब ही जब नियमसे नष्ट  
होनेवाले हैं तब तू इसके लिए व्यर्थ में क्यों खिल जाता है—उनके वियोगमें शोक करना  
निरर्थक है ॥१७॥

स्त्रियाँ ज सो किसीकि भी साथ आयी हैं और न जानेवाली भी हैं । फिर सो अजानी  
जन उनके लिए पातालमें प्रविष्ट होते हैं—उनको प्राप्तिके लिए योग्य-अयोग्यका विभारत-

१. S T V C R यानि ये यदि । २. M N F B खिद्यसे वृथा । ३. N म य यास्यन्ति । ४. P अजाः =  
अजानिनः । ५. P कुते = निमित्त । ६. B रसातले ।

६८ ) ये जाता रिष्वः पूर्वं जन्मन्यस्मिन् विधेवशात् ।

त एव तव वर्तन्ते बान्धवा बद्धसौहदाः ॥१९॥

६९ ) रिपुत्वेन समाप्नाः प्राकृतनास्ते ऽत्र जन्मनि ।

बान्धवाः क्रोधरुद्धाक्षा हृश्यन्ते हन्तुमुद्यताः ॥२०॥

७० ) अङ्गनादिमहापाशैरतिगाहं नियन्त्रिताः ।

पतन्त्यन्धमहाकूपे भवाख्ये भविनो ऽध्वगाः ॥२१॥

६८ ) ये जाता रिष्वः—ये जीवाः पूर्वजन्मनि रिष्वः जाताः ते एव विधेवशात् अस्मिन् जन्मनि तव रे जीव, बान्धवा वर्तन्ते । कर्यभूता बान्धवाः । बद्धसौहदाः प्राप्तप्रीतयः सन्तोत्यर्थः ॥१९॥ अथ तेषामेव विपर्यासिमाह ।

६९ ) रिपुत्वेन समाप्नाः—ये प्राकृता बान्धवास्ते ऽत्र जन्मनि रिपुत्वेन समाप्नाः जाताः, क्रोधरुद्धाक्षाः क्रोधरक्तनेत्राः हन्तु मारयितुं उद्यताः सावधानाः दृश्यन्ते इति श्लोकार्थः ॥२०॥ अथाङ्गनासंसर्गे फलमाह ।

७० ) अङ्गनादि—भविनो भव्याः त एवाऽध्वगाः पन्थिनो भवाख्ये अन्धकूपे पतन्ति । कर्यभूता भविनः । अङ्गनादिमहापाशैरनियन्त्रिता बद्धाः इति श्लोकार्थः ॥२१॥ अथ बान्धवानां हितत्वे विपरीतत्वमाह ।

करते हुए वे महान् परिश्रम करते हैं और उसके परिणामस्वरूप अन्तमें जाकर नरकमें अविष्ट होते हैं ॥१८॥

जो जन पूर्व जन्ममें शत्रुताको प्राप्त थे वे ही दैववश इस जन्ममें मित्रभावसे वैधकर अन्धुभावको प्राप्त होते हैं । अभिप्राय यह है कि इस मंसारमें शत्रुभाव और मित्रभाव सर्वथा नियत नहीं है जिसे किसी समय शत्रु माना जाता था वही अन्य समयमें गाढ़ मित्र भी समझा जाता है । कहा भी है—‘अनादी सति संसारे कस्य केन न बन्धुता । सर्वशा शत्रुभावश्च सर्वमेतदिक्षितपना ॥’ ॥१९॥

पूर्व जन्मके वे बन्धु इस जन्ममें शत्रुभावसे प्राप्त होकर क्रोधसे नेत्रोंको वेञ्चित करते हुए मारनेमें उद्यत देखे जाते हैं ॥२०॥

स्त्री आदि रूप विशाल फौसोंमें हड्डतासे जकड़े हुए ये संसारी प्राणीरूप यात्री संसाररूप विस्तृत अन्धकूपमें पड़ते हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई यात्री ( रास्तामीर ) विशाल फौसमें हड्डतापूर्वक बौधा जाकर गाढ़ अन्धकारसे परिपूर्ण गहरे कुण्डमें गिराया जाता है उसी प्रकार संसारी प्राणी उन फौसोंके समान स्त्री व पुत्र आदिरूप अन्धनोंमें हड्डतासे वैधकर—उनके विषयमें अतिशय असुरक्त होकर—संचित पापके कारण अन्धकूपके समान भयानक नारक विलमें जा पड़ते हैं—नारकी उत्तम होते हैं ॥२१॥

१. All others except P M B सौहदाः । २. All others except P M N पतन्त्यर्थ ।

३. P अध्वगाः = मार्गस्थाः ।

७१ ) पातयन्ति भवावते ये त्वा ते नैव बान्धवाः ।

बन्धुतां ते करिष्यन्ति हितमुद्दिश्य योगिनः ॥२२

७२ ) शशीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः ।

मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ॥२३

७३ ) यास्यन्ति निर्देषा नूरं ये दत्त्वा दाहमुच्चतम् ।

हृदि पुंसां कर्थं ते स्युस्तवं प्रोत्यै परिग्रहाः ॥२४

७४ ) अविद्यारागदुर्बारप्रसरान्वीकुतात्मनाम् ।

शब्दादौ देहिनां नूरं सोढव्याः सुचिरं व्यथाः ॥२५

७१ ) पातयन्ति भवावते—रे जीव, येन कारणेन भवावते संसारचक्रे पातयन्ति त्वा, तेनैव कारणेन से बान्धवाः न । महाविपरीतमेतत् । ते योगिनो बन्धुतां करिष्यन्ति । कि कुत्वा । हितमुद्दिश्य । तव योगिनो बान्धवाः परमार्थत इति तात्यर्थार्थः ॥२२॥ अथ जीवानां स्वरूपमाह ।

७२ ) शशीरं शीर्यते—हे भव्य, शरीरिणां वृत्तं चरितं त्वं पश्य । कि तत् । शशीरं शीर्यते हानि याति । नाशा वाङ्मा । आयुः गलति हानि याति । न पापधीः गलति । मोहः स्फुरति नात्मार्थः स्फुरतीनि भावः ॥२३॥ अथ परिग्रहस्य स्वरूपमाह ।

७३ ) यास्यन्ति निर्देषाः—ते परिग्रहाः पृथ्रादिविषयाः तव प्रोत्यै कर्थं स्युः । अपि तु नैव । ये परिग्रहा नूरं निश्चितं पुंसा हृदि उच्चतं दाहं दत्त्वा यास्यन्ति निर्देषाः सन्तः । ते कर्थं सुखाय स्युरिति भावः ॥२४॥ अथ ज्ञानात्मनां स्वरूपमाह ।

७४ ) अविद्याराग—नूरं निर्दिष्टं, देहिनां प्राणिनां, शब्दादैः नरकादैः व्यथाः सुचिरं

हे भव्य ! जो तुझे संसाररूप आवर्त ( जलका जलाकार परिभ्रमण ) में गिराते हैं वे बास्तवमें तेरे बान्धव ( हितैषी ) नहीं हैं । किन्तु तेरे सच्चे बान्धव वे शोभीजन हैं जो तेरे हितके विचारसे ही तुझसे बन्धुता ( मित्रता ) करनेवाले हैं ॥२५॥

भला इन संसारी प्राणियोंकी अवस्थाको तो देखो कि उनका शशीर तो शीण होता है, किन्तु आशा—उनकी विषयलालसा—शीण नहीं होती; उनकी आयु तो धीरे-धीरे घटती जाती है, किन्तु पापबुद्धि ( पापाचरण ) नहीं घटती; तथा उनका मोह तो विकसित होता है, किन्तु आत्माका हित विकसित नहीं होता ॥२६॥

जो परिग्रह प्राणियोंके हृदयमें निर्देषतापूर्वक अतिशय दाहको देकर—महा कष्ट पहुँचाकर नियमसे नष्ट हो जानेवाले हैं वे हे भव्य ! तेरे लिए प्रीतिके कारण कैसे हो रहे हैं ? अर्थात् उन दुखशायक एवं नियमसे ही नष्ट होनेवाले स्त्री-पुत्रादि तथा धन-धान्यादि रूप बाह्य वस्तुओंसे अनुराग करना निरर्थक है ॥२५॥

मिथ्या ज्ञान एवं रागके दुनिवार विस्तारसे जिन जीवोंकी आत्मा ( अन्तःकरण ) अन्धी की आ चुकी है, उन्हें नियमसे चिर काल तक नरकमें रहकर भयोनक दुख सहना

१. S T V C R यद् दत्त्वा । २. S V C R दाहमुजितम् । ३. All others except P M B सोढव्याम् व्यथा ।

- ७५ ) वह्नि॑ विशति॒ शीतार्थ॑ जीवितार्थ॑ पिबेद्विषम्॑ ।  
 विषयेष्वपि॑ यः॒ सौख्यमन्वेष्यति॒ मुख्यधीः॑ ॥२६ ॥
- ७६ ) कृते॑ येषां॒ त्वया॑ कर्म॑ कृतं॑ शब्रादिसाशकम्॑ ।  
 त्वामेव॑ यान्ति॑ ते॑ पापा॑ वज्चयित्वा॑ यथायथम्॑ ॥२७ ॥
- ७७ ) अनेन॑ नृशरीरेण॑ यज्ञोकद्यशुद्धिदम्॑ ।  
 विविच्य॑ तदनुष्ठेयं॑ हेयं॑ कर्म॑ ततो॑ इन्यथा॑ ॥२८ ॥

चिरकाले॑ सोहव्याः॑ । कथंभूतानां॑ देहिनाम्॑ । अविद्यारागदुर्बारप्रसरात्थोक्तात्मनाम्॑, अज्ञान-  
 रागदुर्बारप्रसरात्थोक्तात्मनामिति॑ भावः॑ ॥२५॥ अथ॑ विषयाणां॑ फलमाह ।

७५ ) वह्नि॑ विशति—यो॑ मुख्यधीः॑ विषयेष्वपि॑ सौख्यमन्वेष्यति॑ स॑ शीतार्थ॑ वह्नि॑ विशति॑ ।  
 जीवितार्थ॑ विषय॑ पिबेत्॑ इत्यर्थः॑ ॥२६॥ यत्कर्म॑ कुर्ते॑ तत्कलं॑ तस्येवोपगच्छति॑ तदाह ।

७६ ) कृते॑ येषां—कृते॑ येषां॒ त्वया॑ कर्म॑ कृतं॑, शब्रादिसाशकके॑ नरकदायके॑ कर्म॑ कृतं॑ त्वया॑,  
 यथायथर्थ॑ यथाप्रकारम्॑ । ते॑ पापाः॑ पापफलानि॑ वज्चयित्वा॑ त्वामेव॑ यान्ति॑ । नान्यं॑ भोक्तारमित्यर्थः॑ ॥२७॥ अथ॑ शरीरोपदेशमाह ।

७७ ) अनेन॑ नृशरीरेण—अनेन॑ नृशरीरेण॑ सञ्जुष्यदहन॑ तत्कर्म॑ अनुष्ठेयं॑, यत्कर्म॑ लोकद्यय-  
 शुद्धिदम्॑ इहपरत्रशुद्धिदम्॑ । किं॑ कृत्वा॑ । विवेच्य॑ विवेकं॑ कृत्वा॑ । ततो॑ विवेकपूर्व॑ कर्मणः॑ सकाशात्॑  
 इहपरत्रविरुद्धं॑ कर्म॑ हेयमित्यर्थः॑ ॥२८॥ अथ॑ नरभवे॑ उप्यात्मनो॑ हिते॑ फलमाह ।

पढ़ेगा॑ । अभिप्राय॑ यह॑ है कि जो॑ प्राणो॑ अज्ञानताके॑ कारण॑ अस्थिर॑ जात्या॑ विषयोंमें॑ आसक्त  
 रहकर॑ विवेकशुद्धिको॑ खो॑ बैठते॑ हैं॑ वे॑ नरकमें॑ उत्पन्न॑ होकर॑ थोर॑ दुखको॑ सहते॑ हैं॑ ॥२५॥

जो॑ मूढबुद्धि॑ प्राणी॑ विषयोंमें॑ भी॑ सुखको॑ खोजता॑ है—उन्हें॑ सुखप्रद॑ समझता॑ है—वह॑  
 सानो॑ शीतलताको॑ प्राप्त करनेकी॑ इच्छासे॑ अभिनके॑ भीतर॑ प्रविष्ट॑ होता॑ है, अथवा॑ जीनेकी॑  
 अभिलाषासे॑ विषको॑ पीता॑ है। तात्पर्य॑ यह॑ कि॑ जैसे॑ अभिनके॑ भीतर॑ प्रविष्ट॑ होनेवाले॑ शीतलताकी॑  
 प्राप्ति॑ असम्भव॑ है, अथवा॑ विषका॑ पान करनेपर॑ जीवित॑ रहना॑ असम्भव॑ है॑ वैसे॑ ही॑ विषयों-  
 का॑ सेवन करनेपर॑ यथार्थ॑ सुखकी॑ प्राप्ति॑ भी॑ असम्भव॑ ही॑ है॑ ॥२८॥

जिन वन्धुजनोंके॑ लिए॑ तूने॑ नरकादि॑ दुर्गतिके॑ कारणभूत॑ कर्मको॑ मन्दित किया॑ है॑ वे॑  
 तुम्हें॑ ही॑ धोखा॑ देकर॑ यथायोग्य—अपने॑-अपने॑ समयके॑ अनुसार॑ चले॑ जानेवाले॑ हैं॑, उनमें॑  
 सदा॑ इहनेवाला॑ कोई॑ भी॑ नही॑ है॑ ॥२९॥

इस भन्नाय॑ शरीरको॑ पाकर॑ जो॑ कार्य॑ दोनो॑ लोकोंमें॑ शुद्धिको॑ देनेवाला॑ हो॑ उसे॑ ही॑  
 विचारपूर्वक॑ करना॑ चाहिये॑ और॑ उससे॑ विपरीत॑ दोनो॑ लोकोंमें॑ कष्टदायक—कार्यको॑ छोड़ना॑  
 चाहिये॑ ॥२८॥

१. P वह्निविशति, J चैसति । २. B विष पिबेत् । ३. M N मूख्यधीः । ४. All others except  
 P विवेच्य ।

७८ ) वर्धयन्ति स्वधाताय से नूनं विषपादपम् ।

नरत्वे इपि न कुर्वन्ति ये विविच्योत्तमनो हितम् ॥२९॥

( ७९ ) यद्गदेशान्तरादेत्य वसन्ति विहगा नगे ।

तथा जन्मान्तरान्मुहूँ प्राणिनः कुलपादपे ॥३०॥

८० ) प्रातस्तरुमतिक्रम्य यथैते यान्ति पविणः ।

स्वकर्मवशगाः शशवत्तथैते क्वापि देहिनः ॥३१॥

( ८१ ) गीयते यत्र सामन्दं पूर्वाङ्गे ललितं गृहे ।

तस्मिन्नेव हि मध्याह्ने सदुःखमिहै रुदते ॥३२॥

७८ ) वर्धयन्ति—नूनं निश्चितं ते पुरुषाः, विषपादपं विषवृक्षं वर्धयन्ति । किमर्वम् । स्वधाताय । ये पुरुषा विवेच्य\* विवेकं कृत्वा नरत्वे इपि आत्मनो हितं न कुर्वन्ति इति भावः ॥२९ । अथ संसारे प्राणिनामनियतोत्पादमाह ।

७९ ) यद्गदेशान्तराद्—यथा विहगाः पविणः, नगे वृक्षे, देशान्तरादेत्य प्राप्य वसन्ति तथा मूढाः\* प्राणिनः कुलपादपे जन्मान्तराद् प्राप्य वसन्तोति भावार्थः ॥३०॥ एतदेवाह ।

८० ) प्रातस्तरुमति—यथा एते पविणः पविणः प्रातः प्रभाते तर्ह परित्यज्य\* यान्ति । यथेच्छमिति भावः । तथा एते देहिनः शशवत् तिरन्तरे क्वापि मत्यादौ स्वकर्मवशगा यान्ति इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ सुखदुःखयोः समानतामाह ।

८१ ) गीयते यत्र —यत्र पूर्वाङ्गे ललितगृहे\* मनोहरणहे सामन्दं गीयते । इह संसारे । हि

जो प्राणी मनुष्य पर्यायको पा करके भी विवेकपूर्वक अपना हित सहीं करते हैं वे निश्चित ही अपने घातके लिए विषवृक्षको बढ़ाते हैं । अभिप्राय यह है कि आत्माका हित करनेवाले जो संयम एवं तप आदि हैं वे चूंकि इस दुर्लभ मनुष्य पर्यायमें ही सिद्ध किये जा सकते हैं, अतएव जो जन उप मनुष्य पर्यायको पा करके उक्त प्रकारसे आत्महितको नहीं करते हैं वे अपना अतिशय अद्वित करते हैं ॥३२॥

जिस प्रकार अनेक पक्षी भिन्न-भिन्न देशसे आकर रात्रिमें किसी एक वृक्षके ऊपर निवास करते हैं उसी प्रकार है मूर्ख ! अन्य-अन्य भवसे आकर ये संसारी प्राणी भी किसी एक कुटुम्बरूप वृक्षपर निवास करते हैं ॥३०॥

ये ही पक्षी जिस प्रकार प्रातःकालमें उस वृक्षको छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं उसी प्रकार अपने-अपने कर्मके अनुसार ये प्राणी भी निरन्तर कहीं पर भिन्न-भिन्न गतियोंमें चले जाते हैं । यही भाव पूज्यपाद स्वामीने भी निम्न अच्छोमें प्रकट किया है—‘दिग्देशीभ्यः खगा एत्य संवसन्ति नगे नगे । स्व-स्वकार्यवशाद्यान्ति देषो दिक्षु प्रगे ग्रगे ॥’ इष्टोपदेश ९ ॥३१॥

( यहाँ प्रातःकालमें जिस घरके भीतर मनोहर गीत गाया जाता है, दोपहरके समय उसी घरमें दुखके साथ रुदन भी किया जाता है ॥३२॥ )

१. All others except P विवेच्य । २. M N विशन्ति विहगाः । ३. H J मूढाः प्राणिनः ।

४. All others except P तर्ह परित्यज्य । ५. Y सदुःखमिव ।

८२ ) यस्य राज्याभिषेकश्रीः प्रत्यूषे ऽत्र विलोक्यते ।

तस्मिन्नेव चिताधूपश्च दृश्यते ॥३३॥

८३ ) अत्र जन्मनि निर्वृतं यैः शरीरं तवाणुभिः ।

प्राक्तनान्यत्र तैरेव खण्डितानि सहस्रशः ॥३४॥

८४ ) शरीरत्वं न ये प्राप्ता आहारत्वं न ये उणवः ।

अमत्स्ते चिरं आत्मं ते सन्ति जगद्गृहे ॥३५॥

निश्चितम् । तस्मिन्नेव ललितगृहे मध्याह्ने सदुःखं यथा स्यात् तथा रुद्यते इति भावः ॥३२॥ अथे-  
कस्मिन्नेवाहनि सुखदुःखमाह ।

८२ ) यस्य राज्याभिषेक—अत्र जगति यस्य मनुष्यस्य प्रत्यूषे प्रभाते राज्याभिषेकश्रीवि-  
लोक्यते तस्मिन्नेवाहनि तस्यैव पूरुषस्य । च पुनः । चिताधूमो दृश्यते इति सूक्ष्मार्थः ॥३३॥  
एतदेवाह ।

८३ ) अत्र जन्मस्ति—रे जीव, तव शरीरं यैरणुभिरत्र जन्मनि निर्वृतं तैरेवाणुभिरत्र जगति  
प्राक्तनानि शरीराणि सहस्रशः खण्डितानि स्वर्णसीत्यर्थः ॥३४॥ अथाणुभा बाहुल्यमाह ।

८४ ) शरीरत्वं न—ये उणवः परमाणवः शरीरत्वं न प्राप्ताः । च पुनः । ये उणवः आहारत्वं  
न प्राप्ताः । आत्मः, ते तव चिरं अमतः परमाणवो जगद्गृहे न सन्ति । सर्वे आप्याणवः शरीरत्वेन  
भृत्का इति तात्पर्यार्थः ॥३५॥ अथ सर्वस्येद्वर्यस्य क्षणविनश्वरतामाह ।

इस संसारमें प्रातःकालके समय जिसके राज्याभिषेककी शोभा देखी जाती है उसी  
दिनमें उसकी चिताका धुआँ भी देखा जाता है ॥३३॥

इस संसारमें जिन परमाणुओंके द्वारा तेरा यह शरीर रचा गया है उन्हीं परमाणुओंके  
द्वारा पूर्वमें तेरे शरीरके हजारों डुकड़े भी किये गये हैं । विशेषार्थ—यहाँ संसारमें परिवर्तित  
होनेवाली स्थितियोंका दिम्दर्शन करते हुए यह बतलाया है कि जिन पुद्गल स्कन्धोंके  
द्वारा कभी प्राणीके शरीरकी उत्पत्ति होती है उन्हीं स्कन्धोंके द्वारा कभी उसके शरीरके खण्ड-  
खण्ड भी किये जाते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि जो पुद्गल स्कन्ध कभी शरीरस्य  
परिणत होते हैं वे ही पुद्गल स्कन्ध कभी विष या शस्त्रादिके रूपमें परिणत होकर प्राणीके  
शरीरके विनाशके भी कारण होते हैं ॥३४॥

हे भाई ! तू इस संसार रूप घरमें चिर कालसे—अनादि कालसे—परिभ्रमण कर  
रहा है । यहाँ वे परमाणु शेष नहीं हैं जो कि अनेकों बार तेरे शरीररूप और भोजनरूप न  
परिणत हुए हैं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस शरीर और भोजन आदिके विषयमें  
प्राणीको अनुराग होता है उन्हें वह अनेकों बार प्राप्त कर चुका है । फिर उनके विषयमें  
प्राणीको इतना मोह क्यों होता है, यह विचारणीय है । कारण यह कि यदि उसे किसी  
अपूर्व नयी वस्तुमें अनुराग होता है तब तो वह उचित कहा जा सकता है । परन्तु जिन्हें  
वह बार-बार भोग चुका है उन्हींको वह फिर भी उचितके समान प्राप्त करके भोगना  
चाहता है, यह खेदकी बात है ॥३५॥

१. L S F V C R आत्मर्थ ते सन्ति तद्गृहे ।

८५ ) सुरोरगनरैश्वर्यं शक्रकामुकसंनिभम् ।

सदाः प्रध्वंसमाधाति इश्यमानमपि स्वयम् ॥३६

८६ ) यान्त्येव न निवर्तन्ते सरितां यद्गृह्मयः ।

तथा शरीरिणां पूर्वीं गता नायान्ति भूतयः ॥३७

८७ ) क्वचित् सरित्तरङ्गाली गतायि विनिवर्तते ।

न रूपबललावण्यं सौन्दर्यं तुं गतं नृणाम् ॥३८

८८ ) गलत्येवायुरत्यर्थं<sup>१, २</sup> हस्तन्यस्ताम्बुवत्क्षणे ।

न लिनीदलसंकान्ते प्रालेयमिव यौवनम् ॥३९

८५ ) सुरोरग—दुश्यमानमपि सुरोरगनरैश्वर्यं सदाः शोष्यमस्तं समाधाति । कर्थभूतं तदैश्वर्यम् । शक्रकामुकसंनिभम् । इन्द्रधनुः सदुशान्तिं भास्यादेः ॥३६॥ अथ विभूतीनामनित्यत्वं दर्शयति ।

८६ ) यान्त्येव न—यद्गृह्म सरिताम् ऋमयः कल्लोला यान्त्येव गच्छत्येव न निवर्तन्ते न पश्चाद्मलन्ति । तथा शरीरिणां पूर्वीं विभूतयः गता नायान्ति । पूर्वींवाजितपुण्यहोमत्वात् नागच्छन्तीति भावः ॥३७॥ एतदेवाह ।

८७ ) क्वचित् सरित्तरङ्गाली—क्वचित् सरित्तरङ्गाली गतायि विनिवर्तते नदीकल्लोलाली कर्थचित् पश्चादगलति । नृणां शरीरिणां यदगतं<sup>३</sup> शरीरगतं रूपबललावण्यसौन्दर्यं न विनिवर्तते इति भावः ॥३८॥ अथ आयुःप्रमुखाणामनित्यतामाह ।

८८ ) गलत्येवायुः—अगम् उपलक्षणात् प्रतिक्षणम् आयुर्गलति । अव्यप्रम्<sup>४</sup> अश्रान्तम् । हस्तन्यस्ताम्बुवत् करस्थितजलवत् । हृव उत्त्रेशते । यौवनं न लिनीदलसंकान्तं प्रालेयमिव हिममिवेति भावः ॥३९॥ संयोगानां क्षणक्षयित्वमाह ।

देव, नागकुमार और मनुष्यों का ऐश्वर्यं इन्द्रधनुपके समान देखते देखते स्वयं ही शीघ्र नष्ट हो जानेवाला है । तात्पर्यं यह कि इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्तीका भी वैभव जब देखते देखते छाण भरमें नष्ट हो जाता है, तब अन्य साधारण जनकी तुच्छ विभूति का तो कहना ही क्या है—वह तो नष्ट होनेवालो है ही ॥३६॥

जिस प्रकार नदियों की लहरें जाती ही हैं, परन्तु वे लौटकर नहीं आती हैं उसी प्रकार प्राणियों की गयी हुई पूर्वींकी विभूतियाँ भी वापिस नहीं आती हैं ॥३७॥

कहीं परं गयी हुई नदीकी लहरोंका समूह कदाचिन् भले ही वापिस आ जावे; परन्तु मनुष्योंका गया हुआ रूप, बल, लावण्य और सुन्दरता फिरसे वापिस नहीं आती है ॥३८॥

जिस प्रकार हाथ की अंजुलीमें रखा हुआ पानी क्षणमरमें नष्ट हो जाता है उसी प्रकार प्राणियों की आयु भी क्षण-क्षणमें अतिशय क्षीण होती जाती है, तथा जिस प्रकार कमलिनीके पत्र पर पड़ी हुई मोती जैसी सुन्दर ओसकी बैंद शीघ्र ही विखर जाती है उसी प्रकार प्राणियोंका यौवन भी शीघ्र विखर जानेवाला है ॥३९॥

१. M शरीरिणां सत्री । २. BJV सौन्दर्यं यद् गतं । ३. All others except P "वायुरत्यर्थं ।

८९ ) मनोङ्गविषयैः सार्वं संयोगाः स्वप्नसंनिभाः ।

क्षणादेव क्षयं यान्ति वज्ञनोद्घतेवुद्धयः ॥४०

९० ) घनमालानुकारीणि कुडाणि च दलाणि च ।  
राज्यालंकारवित्तानि कीर्तितानि महर्षिभिः ॥४१

९१ ) फेनपुञ्जे उथवा रम्भास्तम्भे सारः प्रतीयते ।  
न शरीरे<sup>१</sup> मनुष्याणां दुर्बुद्धे विद्धि वस्तुतः ॥४२

९२ ) यातायातानि कुर्वन्ति ग्रहचन्द्रार्कतारकाः<sup>२</sup> ।  
श्रृतवश शरीराणि न हि स्वप्ने इपि देहिनाम् ॥४३

८९ ) अनीतिविषयैः—संयोगाः इष्टविषयाः क्षणादेव क्षयं यान्ति । स्वप्नसंनिभाः सदृशाः, मनोङ्गविषयैः सार्वम् । कर्थभूताः संयोगाः । वज्ञनोद्घतेवुद्धयः इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ सर्वेषां चञ्चलत्वमाह ।

९० ) घनमालानुकारीणि—घनमालानुकारीणि चञ्चलत्वात् मेघमालासदृशाणि । च पुनः । बलानि कटकानि । राज्यालंकारवित्तानि कीर्तितानि । घनमालानुकारीणि इति दृष्टान्तः सर्वंत्र योज्यः इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ शरीरस्यासारतामाह ।

९१ ) फेनपुञ्जेउथवा—हे दुर्बुद्धे, त्वं विद्धि जानीहि । मनुष्याणां शरीरे वस्तुतः परमार्थतः सारो न प्रतीयते अथवेति दृष्टान्ते । फेनपुञ्जे स्तम्भे आरम्भाः उपलक्षणात् गृहारम्भा न सन्तीति भवतः ॥४२॥ अथ सर्वेषां पदार्थनामनित्यत्वमाह ।

९२ ) यातायातानि—स्वप्ने इपि ग्रहचन्द्रार्कतारका यातायातानि गमनागमनानि कुर्वन्ति । च पुनः । श्रृतबो वसन्ताद्वा गमनागमनानि कुर्वन्ति । एवं सर्वंत्र योज्यम् । देहिनां प्राणिनां स्वप्ने इपि शरीराणि यातायातानि न कुर्वन्ति । अपि तु कुर्वन्तीत्यर्थः ॥४३॥ अथ पुद्मलानां वैचित्र्यमाह ।

प्राणियोंके मनोहर विषयोंके साथ जो संयोग होते हैं वे स्वप्नमें देखे गये राज्य आदिके समान ठगनेमें दक्ष होते हुए क्षणभरमें ही जाशको प्राप्त होनेवाले हैं ॥४०॥

कुछ, बल, राज्य, आभूषण और धन इन सत्त्वकी स्थिति महामुनियोंके द्वारा मेघवंकि के समान—देखते ही देखते नष्ट हो जानेवाली—निर्दिष्ट की गयी है ॥४१॥

( हे दुर्मते (मूर्ख) ! कदाचित् फेनके समूहमें अथवा केलाके स्तम्भमें भले ही कुछ सार प्रतीत हो सके, परन्तु मनुष्योंके शरीरमें कुछ भी सार नहीं है; ऐसा तू निश्चित समझ ॥४२॥ )

शनि आदि ग्रह, चन्द्र, सूर्य, तारे और वसन्त आदि ऋतुएँ जाती हैं और फिरसे आती भी हैं; परन्तु प्राणियोंके शरीर जा करके फिरसे स्वप्नमें भी वापिस नहीं आते हैं ॥४३॥

१३ ) ये जाताः सातरूपेण पुद्गलाः प्राङ्मनःप्रियाः ।

पश्य पुंसां समापन्ना दुःखरूपेण ते इधुना ॥४४

१४ ) मोहाङ्गनमिवाक्षाणामिन्द्रजालोपर्म जगत् ।

मुहूर्त्यस्मिन्नर्थं लोको न विद्यः केन हेतुना ॥४५

१३ ) ये जाताः—ये पुद्गलाः प्राक् पूर्वं सुखरूपेण<sup>१</sup> जाताः । कथंभूताः पुद्गलाः । मनःप्रियाः मनोऽभीष्टाः । हे भव्य, त्वं पश्य । पुंसा पुरुषाणाम् । अधुना ते पुद्गलाः दुःखरूपेण जाता दृश्यन्ते इति तात्पर्यर्थः ॥४४॥ । अथ जगतो अनित्यत्वमाह ।

१४ ) सोहाङ्गनमिव—इति वर्षं न विद्यः न जानीमहे । कथंभूतं जगत् अस्मिन् जगति अयं लोकः केन हेतुना मुहूर्ति मोहं याति इति । कि जगत् । इन्द्रजालोपर्म वर्तते । अक्षाणाम् इन्द्रियाणां मोहाङ्गनमिव मोहनीयकज्जलदत् प्रतिभातीत्यर्थः ॥४५॥ । अथ पदार्थानां विनश्वरत्वमाह ।

देखो ! जीवोंके मनकी विद्य लगनेवाले जो पुद्गल पहिले सुखरूपसे परिणत ये वे ही इस समय दुःखरूपसे परिणत हो रहे हैं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि कोई भी पदार्थ न तो सर्वथा इष्ट है और न सर्वथा अनिष्ट भी है, किन्तु प्राणी उसे अपनी कल्पनाके अनुसार कभी इष्ट और कभी अनिष्ट मानता है । उदाहरणके रूपमें एक मनुष्य अपनी इच्छानुसार बहुत-सा धन खर्च करके मुन्द्र भवनको बनवाता है और जब वह बनकर पूरा हो जाता है तब वह उसे अतिशय प्रिय दिखता है । परन्तु तत्पश्चान् यदि कोई निभिज्ज्ञ आदि उसे अनिष्टकर बतला देता है और दुर्भाग्यसे उसमें किसी इष्ट जनकी सृत्यु हो जाती है तब तो वही भवन इसे विद्यके समान प्रतीत होने लगता है । इसी प्रकार मनुष्ट संमाधणके साथ अपनी सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाली पत्नी मनुष्यको अतिशय प्रायांती लगती है । परन्तु यदि पीछे उसका कुछ दुराचरण प्रकट होता है या तदिष्यक आशंका भी होती है तो किर वही बल्लभा संपिणीसे भी भयानक प्रतीत होने लगती है । जो दुर्घ आदि स्वस्थ अवस्थामें अतिशय रुचिकर प्रतीत होते हैं वे ही जबर आदिकी अवस्थामें कहुए दिखने लगते हैं । वे ही वस्त्र भिन्न-भिन्न अनुओंके अनुसार मनुष्यको कभी इष्ट प्रतीत होते हैं तो कभी अनिष्ट भी । इससे निश्चित है कि इस परिवर्तनशील संसारमें किसी भी पदार्थकी अवस्था नियत नहीं है । अत एव अभीष्ट विषयोंको स्थिर मानकर उनके विषयमें अनुराग तथा अनिष्ट समझी जानेवाली बस्तुओंसे द्वेष व उनके निराकरणका चिन्तन आदि सब निरर्थक है । सुखका कारण तो बास्तवमें रातवेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोंका ब्रह्म ही है । इसलिए सुखाभिलाषी प्राणीको उन्हींका संचय करना चोग्य है ॥४४॥

यह विश्व नेत्रोंमें मोहको उत्पन्न करनेवाले—पदार्थके स्वरूपको विपरीत दिखलानेवाले—अंजनके समान अथवा इन्द्रजाल—बाजीगरके कपटपूर्ण खेल—के समान हैं । किर हम यह नहीं जानते कि यह प्राणी किस कारणसे उसके विषयमें मुख्य होता है—अनुराग करता है ॥४५॥

१५) ये ये त्रिजगतीमध्ये पदार्थस्तेतनेतराः ।

ते ते मुनिभिरुद्दिष्टाः प्रतिक्षणविनश्वराः ॥४६॥

१६) गगननगरकल्पं संगमं वल्लभानां

जलदपटलतुल्यं यौवनं वा घनं वा ।

स्वंजनसुतशरीरादीनि विद्युच्चलानि

क्षणिकमिति॑ समस्तं विद्धि संसारदृशम् ॥४७॥

[ इति ] अनित्यता [ १ ]

१७) न स कोऽप्यस्ति दुर्बुद्धे शरीरे भुवनत्रये ।

यस्य कण्ठे कृतान्तस्य न पाशः प्रसरिष्यति ॥४८॥

१५) ये ये त्रिजगती—त्रिजगतीमध्ये स्वर्गमृत्युपाताले ये ये पदार्थाः । चेतनाश्च इतरावच चेतनेतराः प्रतिक्षणविनश्वराः मुनिभिरुद्दिष्टाः कथिता इति भावः ॥४६॥ अथ वल्लभानां चञ्चलत्वमाह । मालिनी छन्दः ।

१६) गगननगरकल्पं—वल्लभानां रामाणां संगमं गगननगरकल्पं गन्धर्वनगरसदृशम् । वा अथवा । यौवनं जलदपटलतुल्यं मेघमालासंनिभम् । वा इति पक्षान्तरे । घर्नं मेघमालासंनिभं मेघमालासदृशमित्यर्थः । स्वजनसुतशरीरादीनि विद्युच्चलानि सीदामिनीचञ्चलानि । हे विद्धन्, संसारदृशं संसारचरितम् इति अमूला प्रकारेण क्षणिकं विद्धि जानोहि, इति तात्पर्यर्थः ॥४७॥ इति प्रथमभावना समाप्ता । अथ द्वितीयभावनामाह ।

१७) न स कोऽप्यस्ति—हे दुर्बुद्धे, स को अयि भुवनत्रये शरीरी नास्ति यस्य शरीरिणः कण्ठे कृतान्तस्य यमस्य पाशः न प्रसरिष्यति, इति भावः ॥४८॥ अथ जीवस्य न कोऽपि वाणमित्याह ।

यहाँ तीनों ही लोकोंके भीतर जो जो चेतन और अचेतन पदार्थ हैं वे वे सब क्षण-क्षण-में नष्ट होनेवाले हैं, ऐसा मुनिओंने विर्द्धि किया है ॥४८॥

अतिशय प्रिय दिखनेवाली स्त्रियोंका संयोग आकाशनगरके समान है—जिस प्रकार आकाशमें नगरकी रचना सम्भव नहीं है उसी प्रकार स्त्रियोंका सदा संयोग भी सम्भव नहीं है, अथवा जिस प्रकार देवके द्वारा आकाशमें रचा गया नगर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सुन्दर स्त्रियोंका संयोग भी शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है । यौवन और धन-सम्पत्ति मेघपटलके समान नश्वर हैं । कुदुम्बीजन, पुत्र और शरीर आदि विजलीके समान चंचल (अस्थिर) हैं । हे भव्य ! इस संसारमें जो कुछ भी उत्था हुआ है उस सबको ही तू क्षणिक—क्षणभर रहकर नष्ट हो जानेवाला—समझ ॥४८॥

२. अशरणभावना—हे अक्षरानी प्राणी ! तीनों लोकोंमें ऐसा कोई भी शरीरधारी जीव

१. S ये ये च जगती, V C R ये चात्र जगती । २. All others except P N B Y सुजनसुत ।

३. F V C क्षणिकमिति । ४. M N 'स्य पाशो न ।

१४८ ) समापतति दुर्वारे यमकण्ठीरवक्रमे ।

त्रायते इयं न हि प्राणी सोद्योगैस्त्रिदशैरपि ॥४९

१४९ ) सुरासुरनराहीन्द्रनायकैरपि दुर्धरा ।

जीवलोकं क्षणार्थेन बधनाति यमवागुरा ॥५०

१५० ) जगत्त्रयजयी वीर एक एवान्तकः स्फुटम् ।

इच्छामात्रेण यस्यैते पतन्ति त्रिदशेश्वराः ॥५१

१५१ ) शोचन्ति स्वजनं मूर्खाः स्वकर्मफलभोगिनम् ।

नात्मानं बुद्धिविच्छिन्नाद्यमदंष्ट्रान्तरस्थितम् ॥५२

१४८ ) समापतति—हि निश्चितम् । प्राणी त्रिदशैरपि यत्र\* त्रायते । कथंभूतैस्त्रिदशैः । सोद्योगैः सोद्यमैः । कदा । यमकण्ठीरवक्रमे यमसिद्धपदे यदा पतति । कथंभूते यमकण्ठीरवक्रमे । दुर्वारे दुःशक्ये, इति सूत्रार्थः ॥४९॥ अथ जीवलोकस्य मृत्युवशतामाह ।

१४९ ) सुरासुरनरा—यमवागुरा यमवन्धनं जीवलोकं क्षणार्थेन बधनाति । कथंभूताः । सुरासुरनराहीन्द्रनायकैः देवासुरमनुष्यनागेन्द्रनायकैरपि दुर्धराः दुःसहाः इति सूत्रार्थः ॥५०॥ अथ कृतान्तस्याभिपत्यमाह ।

१५० ) जगत्त्रयजयी—एक एवान्तको वीरो वर्तते । कथंभूतो इन्तकः । जगत्त्रयजयी । सकः । क्षणे\* मरणसमये यस्य इच्छामात्रेण त्रिदशेश्वराः पतन्ति मरणं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥५१॥ अथात्मानं विहायाभ्यजनं शोचन्ति मूर्खस्तदेवाह ।

१५१ ) शोचन्ति स्वजनं—मूर्खाः स्वजनं शोचन्ति । कथंभूतं स्वजनम् । कर्मफलभोगिनं निजशुभाशुभकर्मफलभोक्तारम् । ते आत्मानं न शोचन्ति । कस्मात् । बुद्धिविच्छिन्नान्तनहीं हैं, जिसके गलेमें यमकी फौस न कैलनेवाली हो—सब ही प्राणी मृत्युके ग्रास बननेवाले हैं, स्थिर रहनेवाला यहाँ कोई भी नहीं है ॥५१॥

दुनिवार मृत्युरूप सिंहके पैरके पड़नेपर इस प्राणीको अन्यको तो बात क्या, किन्तु अतिशय प्रयत्नशील देव भी नहीं बचा सकते हैं ॥५२॥

जिस यमराजकी वागुराको—मृगोंको फौसानेवाले ल्याघके जालको—इन्द्र, असुरेन्द्र, अक्षर्ती और धरणेन्द्र ( वा शेषनाम ) भी नहीं रोक सकते हैं वह प्राणिसमूहको आदे ही क्षणमें बाँध लेती है ॥५०॥

जिसकी इच्छामात्रसे ये कल्पवासी इन्द्र भी चयुत हो जाते हैं—मरणको प्राप्त होते हैं—वह तीनों लोकोंको जीतनेवाला यमराज ही एक अद्वितीय सुभट है, वह स्थृत है—जग जाहिर है ॥५१॥

जिसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है वे मूर्ख अपने कर्मके फलको भोगनेवाले—अपने आयु-

१. S R त्रायते तु न । २. S T V B C J X R एवान्तकः क्षणे । ३. S T V C R शोचन्ति स्वजनं ।

४. All others except P M B X Y विच्छिन्ना यम ।

102 ) अस्मिन् संसारकान्तरे यमभोगीन्द्रसेविते । ॥५२॥

पुराणपुरुषाः पूर्वमनन्ताः प्रलयं गताः ॥५३॥

103 ) प्रतीकारशतेनापि त्रिदशैर्न निवार्यते । ॥५३॥

यत्रायमन्तकः पापी मृकीटैस्तत्र का कथा ॥५४॥

104 ) गर्भदारभ्य नीयन्ते प्रतिक्षणपञ्चण्डितैः ।

प्रयाणैः प्राणिनो मूढ कर्मणा गम्भन्दिरदृ ॥५५॥

नाशात् । कथंभूतमात्मानम् । यमदंडान्तरस्थितं मृत्युमुखान्तरगतमित्यर्थः ॥५२॥ अथ शैकाल्ये इषि  
मृत्योर्विशितव्यं पुराणपुरुषाणामाह ।

102 ) अस्मिन् संसार—अस्मिन् संसारकान्तरे पुराणपुरुषाः पूर्वम् अनन्ताः प्रलयं गता  
नाशं प्राप्ताः । कथंभूते संसारकान्तरे । यमभोगीन्द्रसेविते इति मूत्रार्थः ॥५३॥ अथान्तकस्या-  
निवार्यत्वमाह ।

103 ) प्रतीकारशतेनापि—यत्र लोके अयम् अन्तकः पापी त्रिदशैर्देवैः प्रतिकार- [ शतेन ]  
उपायशतेनापि न निवार्यते । तत्र निवारणे मृकीटैः नरपतञ्ज्ञैः का कथा । न कापि इत्यर्थः ॥५४॥  
अथ कर्मवशात् स्ववस्थासु प्राणिनः त्रियस्ते तदेवाह ।

104 ) गर्भदारभ्य—हे मूढ मूर्ख, प्राणिनः कर्मणा स्वकृतकर्मणा गर्भदारभ्य प्रतिक्षणं  
यममन्दिरं नीयन्ते अस्थण्डितैः प्रवाणैरित्यर्थः ॥५५॥

कर्मके झीण हो जानेपर मरणको प्राप्त हुए—कुदुम्बी जनका तो शोक करते हैं, किन्तु स्वर्य  
अपने आपको यमकी दाढ़ीके धीचमें स्थित—मरणोन्मुख—नहीं देखते हैं ॥५२॥

यमरूप सर्पराजसे सेवित इस संसाररूप वगके भोतर पहिले अनन्त पुराण पुरुष—  
पुराणोंमें वर्णित तीर्थकर एवं जकवर्ती आदि—मृत्युको प्राप्त हो चुके हैं, अर्थात् उमकी भी  
रक्षा नहीं हो सकी है ॥५३॥

इस पापी यमराजको जहाँ सैकड़ों प्रकारसे प्रतीकारका प्रथलं करके देव भी नहीं  
दोक सके हैं वहाँ श्वाद मनुष्यखर कीड़ोंकी तो बात ही क्या है ? वे तो उसका निवारण किसी  
प्रकारसे भी नहीं कर सकते हैं ॥५४॥

हे मूर्ख ! कर्मके द्वारा ये प्राणी गर्भसे लेकर प्रति समयमें स्थिर प्रयाणों ( पढ़ाव—  
धीचमें ठहरनेके स्थान ) के द्वारा यमालयको ले जाये जाते हैं । अभिप्राय यह है कि अपने  
अपने कर्मके अनुसार कोई प्राणी गर्भवस्थामें ही, कोई जन्म होनेपर और कोई दीशव आदि  
( कुमार, युवा व ब्रह्मत्व ) अवस्थामें नियमसे मरणको प्राप्त होते हैं ॥५५॥

105 ) यदि हठः श्रुतो वास्ति यमाज्ञावञ्चको बली ।

समाराध्य भज स्वास्थ्यं नैवेचेतिक षुथा अमः ॥५६॥

106 ) परस्येव न जानाति विपत्तिं स्वस्य मूढधीः ।

वने सत्त्वसमाकीर्णे दह्यमाने तरुस्थवत् ॥५७॥

107 ) यथा बालं तथा वृद्धं यथादर्थं दुर्विर्धं तथा ।

यथा हरौ चक्रा भीरुं साम्येन ग्रसते अन्तकः ॥५८॥

105 ) यदि वृष्टः—हे भव्य, त्वं स्वास्थ्यं भज । तं वक्ष्यमाणम् आराध्य । तमिति कम् । कश्चित् यमाज्ञावञ्चकः पुरुषः यदि वृष्टः अथवा श्रुतो अस्ति वा । कर्थभूतः कः । बली बलवान् । एवं चेत् को इपि एतादृशो बली नास्ति तर्हि कि वृथा अमः क्रियते ॥५६॥ अथ मुख्यानां स्वकर्म-फलमाह ।

106 ) परस्येव न—कश्चित् मूढधीः मूर्खः, इव यथा, परस्य विपत्ति मरणादिकों जानाति तथा स्वस्थ न जानाति । तत्र दृष्टान्तमाह । यथा वने दह्यमाने तरुस्थजीववत् न जानाति । कर्थभूते वने । सत्त्वसमाकीर्णे । को इर्थः । तरुस्थजीवः वने दह्यमानान् अनेकान् सत्त्वान् परयन् आत्मानं दह्यमानं न पश्यति इति तात्पर्यार्थः ॥५७॥ अथान्तकसंहारविशेषमाह ।

107 ) यथा बालं—अन्तकोऽर्थं यमः सर्वान् जीवान् साम्येन ग्रसते । तत्कथम् । यथा बालं ग्रसते तथा वृद्धं ग्रसते । यथा आदर्थं वनिनं ग्रसते तथा दरिद्रं ग्रसते, यथा शूरं ग्रसते तथा भीरुं भयानकमिति भावः ॥५८॥ अथ मरणे प्राप्ते सर्वमौषधादिकस्य विफलत्वमाह ।

हे मूर्ख ! यदि तूने अमकी आज्ञाको ठुकरानेवाले—कभी भी न मरनेवाले—किसी भी बलवान्को देखा हो या सुना हो तो उसकी आराध्यता करके स्वास्थ्यकी सेवा कर—शरीरको स्वस्थ रखनेके लिए उसका पोषण भले ही कर परन्तु वैसे किसी बलवान्को यदि कहीं पर न देखा है और न सुना है तो फिर तेरा उस शरीरको स्थिर रखनेके लिये परिश्रम करना व्यर्थ है—उचित नहीं है ॥५९॥

जिस प्रकार अनेक पशु-पक्षियोंसे व्याप्र इनमें आगके लग जानेपर बुझपर स्थित मनुष्य अन्य प्राणियोंको तो जलता हुआ देखता है, परन्तु यह नहीं सोचता कि इस बुझके जलनेपर मैं भी उसीमें भस्म हो जानेवाला हूँ; इसी प्रकार अज्ञानी जीव दूसरेकी विपत्तिको तो जानता है, परन्तु उसीके समान मुझे भी वह विपत्ति प्राप्त होनेवाली है, इसका विचार नहीं करता है ॥५९॥

यम ( मृत्यु ) जैसे बालकको ग्रसता है, वैसे ही वह वृद्धको भी ग्रसता है, जैसे धनवान् मनुष्यको ग्रसता है, वैसे ही निर्धनको भी ग्रसता है, तथा जैसे वीर शुभदको ग्रसता है वैसे ही कायरको भी ग्रसता है । इस प्रकार वह जिना किसी प्रकारके भेदभावके सभी प्राणियोंको समानरूपसे ग्रसता है—उसके आक्रमणसे कोई भी प्राणी नहीं बच सकता है ॥५८॥

- 108 ) गजाश्वनरसैन्यानि मन्त्रौषधवलानि च ।  
व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि विषेषे देहिनां यमे ॥५९॥
- 109 ) विक्रमैकरसस्तावजनः सर्वोऽपि वल्गति ।  
न शृणोत्यदयं<sup>१</sup> यावत् कुतान्तहरिगच्छितम् ॥६०॥
- 110 ) अकृतामीष्टकल्याणमसिद्धारब्धवाञ्छितम् ।  
ग्रामेवागत्य निस्त्रिशो हन्ति लोकं यमः क्षणे ॥६१॥
- 111 ) भूभङ्गारमभीतं<sup>२</sup> सखलति जगदिदं ब्रह्मलोकवसानं  
सदस्तुव्यन्ति शैलाघण्यागुरुमराक्रान्तधात्रीवशेन ।

108 ) गजाश्वनरसैन्यानि—देहिनां प्राणिनां यमे विषेषे प्रतिकूले सर्वाणि गजाश्वरथ\*-सैन्यानि व्यर्थीभवन्ति । च पुनः । मन्त्रौषधवलानि व्यर्थीभवन्ति इत्यर्थः ॥५९॥ अथ सस्ये-वाधिक्यमाह ।

109 ) विक्रमैकरस—सर्वोऽपि जनोऽभिमानी यावत् अदयं निर्दयं कुतान्तहरिगच्छित्यमसिद्धारब्दं न शृणोति इति सूत्रार्थः ॥६०॥ अथ यमस्याविक्यमाह ।

110 ) अकृतामीष्ट—क्षणे मरणसमये यमः लोकं हन्ति । कर्थभूतः । निस्त्रिशो निर्दयः । कर्थभूतम् । अकृताभीष्टकल्याणम् अप्राप्ताभिमतथेयसम् । पुनः कर्थभूतम् । असिद्धारब्धवाञ्छित्यमिति भावः ॥६१॥ अथ महावीराणामपि कालकृताणायमाह । स्वग्वरा ।

111 ) भूभङ्गारमभीतं—ते ऽपि प्रवीराः सर्वे कतिष्यदिवसैः कालराजेन मृत्युनायकेन तीता वातिशेषं प्राप्ताः कथावशेषं जाताः । येषां प्रवीराणां चरणगृहभराकान्तधात्रीवशेन पदगरिष्ठ-

उस यमके प्राणियोंके विरुद्ध होनेपर हाथी, घोड़ा, मनुष्य और सेना तथा मन्त्र य औषधकी भी सब शक्तियाँ निरर्थक होती हैं—उसके सामने इनमेंसे किसीका भी प्रभाव नहीं बढ़ता है ॥५६॥

जब तक यमरूप सिद्धकी निर्दय ( भयानक ) गर्जना नहीं सुनी जाती तब तक सब ही प्राणी अपने पराक्रममें चूर होते हुए प्रवर्तमान देखे जाते हैं—मृत्युका आक्रमण होनेपर सभीका पराक्रम नष्ट हो जाता है ॥६०॥

जिस प्राणीने अपने अभीष्ट द्वितीयोंको नहीं किया है तथा जिसकी आरम्भ किये हुए कार्यके पूर्ण करनेकी इच्छा भी सिद्ध नहीं हो सकी है—जो प्रारम्भ किये हुए कार्यको अभी पूरा भी नहीं कर सका है, ऐसे प्राणी को वह यम पहिले ही आकर छणभरमें मार डालता है ॥६१॥

जिन सुसहोली भ्रुकुटियोंके भंगभरत्रसे ही केवल ओरित होनेपर की—ब्रह्मलोकभर्यस्त्र यह सब जगत् पर जाता है तथा जिनके पैरोंके भारी वोशसे दबी हुई पृथिवीके बड़ा बड़े-बड़े

१. All others except P गजाश्वरथ । २. P अदयं = निष्ठूरं । ३. M प्रामेवागतनिस्त्रिशो ।

४. L F वर्णात् । ५. B J "रम्भभीह ।

येषां ते ऽपि प्रवीताः कतिपयदिवसैः कालराजेन सर्वे  
नीता वार्तावशेषं तदथि हतधियां जीविते उपुद्धताशा ॥६२

112 ) रुद्राशागजदेवदैत्यखचरग्राहप्रहव्यन्तरा  
दिक्पालाः प्रतिशत्रवो हरिवल्लभ्यालेन्द्रचक्रेश्वराः ।  
ये चान्ये मरुदर्यमादिवलिनः संभूय सर्वे स्वयं  
नारब्धं यमकिंकरैः क्षणमयि आतुं अमा देहिनम् ॥६३

भरव्यासपृथ्वीवदीन इदं जगत् सवलितं चकितम् । कथंभूतं जगत् । भूभज्ञारम्भभीतं भूकटाङ्ग-  
भीतम् । पुनः रथंभूतं जगत् । हरिग्रीकवानां च वाचस्पत्यमार्यादीन्द्रियाः । शैलाः पर्वताः सदाः शीघ्रं  
अुट्ठन्ति पतन्तीस्यथैः । तेनैव चरणगुणभराकान्तव्याश्रीवदीन । एतादृशसामश्येषिता यदि भूताः ।  
अपि इत्याश्वर्यैः । तत्समात् कारणाद् हतधियां गतवृद्धीनां जीविते ऽपि आशा उद्धता बलवत्तरा  
इत्यथैः ॥६२॥ अथ सर्वेषां देवानां मृत्युवश्यतामाह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

113 ) रुद्राशागजदेव—यदा यमकिंकरेरारब्धं मरणं तदा देहिनः\* प्राणिनः आतुं क्षणमयि  
एते सर्वे स्वयं संभूय न अमा: समर्थाः भवेयुः । के ते । रुद्रो महादेवः, आशागजा दिग्ग्रामः, देवा  
भुवनपत्यादयः, दैत्यः प्रसिद्धाः, अथर्वा विद्याधरा:, ग्राहा: अभिमानिनः, ग्रहाः सूर्यदियः, व्यन्तरा:  
देवविशेषाः, तेषां समाहारः । ते चातुं क्षणमयि न समर्थां इत्यध्याहारः सर्वत्र योज्याः । दिक्पालाः  
तथैव न समर्थाः । प्रतिशत्रवः प्रतिवासुदेवाः, हरिः कृष्णः, बलः बलभद्रः, व्यालेन्द्रो धरणीन्द्रः, चन्द्रः\*  
प्रसिद्ध एव, ईश्वरः सेषां समाहारः । ते ऽपि न क्षणमयि आतुं समर्थाः । च पुनः । ये ऽन्ये मरुत्  
देवविशेषाः, अर्यमा सूर्यः, स आदिः वेषां ते बलिनो बलवन्त इत्यथैः ॥६३॥ अथ जीवं मृत्युमुख-  
प्राप्तं न कोऽपि रक्षतीति दर्शयति । शार्दूलविक्रीडितम् ।

पहाड़ सी शीघ्र टूट जाते हैं उन सब अलिशय शूर-वीर सुभटोंकी भी उस मृत्युरूप राजाके  
प्रभावसे कुछ ही दिनोंमें केवल वार्ता मात्र शेष रह जाती है—वे भी शीघ्र उस मृत्युके आस  
पास जाते हैं । फिर भी दुर्लुद्धि प्राणियों की इस जीवनके विषयमें उत्कट इच्छा करनी ही  
रहती है ॥६३॥

सहायेव, दिग्गज, देव, दैत्य, विद्याधर, ग्राह ( हिसक जलजन्म ), प्रह ( शनि आदि )  
व्यन्तर, दिक्पाल, प्रतिनारायण, नारायण, बलदेव, धरणीन्द्र और चक्रवर्ती तथा अन्य भी  
आयु एवं सूर्य आदि बलवान् ; ये सब स्वयं गिल करके भी चमके दूतोंके द्वारा ग्रहण करने-  
के लिए ग्रारम्भ किये गये ( मरणोन्मुख ) प्राणीकी क्षणमय भी रक्षा करनेके लिए समर्थ  
नहीं हैं ॥६३॥

१. L S T F V C J X Y हरिवला व्यालेन्द्र ।      २. M J Y अन्द्रेश्वरा ।      ३. T X देहिना,  
B देहिनः ।

113 ) आरब्धा मृगबालिकेव विष्णिने संहारदन्तिद्विषा  
पुंसां जीवकला निरेति पवनव्याजेन भीता सती ।  
त्रातुं न क्षमसे यदि क्रमपदग्रासां वराकीमिमा  
न त्वं निर्वृण लज्जसे अ जनने भोगेषु रन्तुं सदा ॥६४॥

114 ) पाताले ब्रह्मलोके सुरपतिभूवने सागरान्तवनान्ते  
दिक्चक्रे शैलभृङ्गे दहनवनहिमध्वान्तवज्ञासिदुर्गे ।  
भूगर्भे संनिष्ठण्णे<sup>१</sup> समदकरिष्टासंकटे वा वलीयान्  
कालो अयं क्रूरकर्मा कवलयति बलाजीवितं देहभाजाम् ॥६५॥

113 ) आरब्धा मृग—पुंसां पुरुषाणां जीवकला, संहारदन्तिद्विषा वृत्युसिहेत, आरब्धा व्यापा, निरेति नितरा गच्छति । केन । पवनव्याजेन भीता सती श्वासोच्छ्वासकपटेन शङ्कुता । रे निर्वृण निलंजज ! अ जनने एतज्जन्मति इमां जीवकलां वराकीं यमक्रमपदग्रासां यदि त्रातुं रक्षितुं न क्षमसे तदा भोगेषु रन्तुं न लज्जसे । का इव । मृगबालिकेव । यथा मृगबालिका विष्णिने वने पवनव्याजेन भीता सती निरेति नितरा गच्छत्येव ॥६४॥ अथ कालस्य सर्वव्यापकत्वमाहु । स्वरधरा छन्दः ।

114 ) पाताले ब्रह्मलोके—अयं कालो देहभाजो जीवितं बलात्कवलयति । कर्थभूतः कालः । क्रूरकर्मा । पुनः कर्थभूतः कालः । वलीयान् । कर्थभूतं जीवितम् । भूगर्भे संनिष्ठिष्टे<sup>२</sup> पृथ्वीमध्ये स्थितम् । संनिष्ठिष्टमिति विशेषणं सर्वत्र धोज्यम् । पाताले, ब्रह्मलोके, सुरपतिभूवने<sup>३</sup> स्वर्गे, पुनः

जिस प्रकार आतक सिंहके द्वारा वनमें मारनेके लिए प्रारम्भ की गयी अल्पवयस्क हिरण्णी भयभीत होती हुई निकल कर भागना चाहती है, परन्तु उस सिंहके पैरों तले दबी हुई उस बेचारी की कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है; इसी प्रकार संसारमें धातक शूत्युके द्वारा प्रहण करनेके लिए प्रारम्भ की गयी प्राणियोंकी जीवकला—आयुका अंश ( निषेक )—भयभीत होकर बायु ( इवास ) के भिष्टसे निकल रही है, परन्तु हे मिर्दिय ! जब तू अनुक्रमसे अन्तको प्राप्त होनेवाली उस बेचारी जीवकलाकी—आयुके अन्तिम निषेककी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है, तब तुझे इस संसारमें भोगोंमें रमते हुए लज्जा नहीं आती । अभिप्राय यह है कि प्राणीकी आयु निरन्तर क्षीण हो रही है । वह कब समाप्त हो जावेगी, इसे जब वह नहीं जानता है तब उसकी परवाह न करके उसका निरन्तर भोगोंमें निरत रहना लज्जाजनक है ॥६४॥

पाताल लोकमें, ब्रह्मलोकमें, इन्द्रलोक ( स्वर्ग ) में, समुद्रके अन्तमें, वनके अन्तमें, विशामण्डलमें, पर्वतके शिखरपर तथा अग्नि, वन, वर्ष, अन्धकार, वर्षामय प्रदेश, तलवार आदि शास्त्रोंसे रक्षित प्रदेश व दुर्ग ( किला ) के भीतर, पृथिवीके भीतर और मदोन्मत्त

१. S T F V C J X R रन्तुं सदा । २. All others except P M N F सुरपतिभूवने । ३. All others except P आगरान्ते, वनान्ते । ४. M N हृमे ध्वान्त । ५. All others except P भूगर्भे संनिष्ठिष्ट ।

115 ) अस्मिन्नन्तकभोगिवक्त्रविवरे संहारदंष्ट्राङ्गिते  
 संसुन्त दुखत्यर्थं इमरमारव्यापारमूर्खीकृतम् ।  
 प्रत्येकं गिलतो इस्य निर्दयधियः केनाप्युपायेन वै  
 नास्माजिःसरणं तवार्य कथमप्यत्यक्षबोधं विना ॥६६  
 [ इति ] अशरणम् । [ २ ]

116 ) चतुर्गतिमहावर्ते दुःखवाडवदीपिते ।  
 अग्रमन्ति भविनो अजस्य वराका जन्मसामरे ॥६७

सामरात्मे\* समुद्रान्ते, वनान्ते, दिवसमूहे, शैलशृङ्गे पर्वतमस्तके । कथंभूते । दहनवनहिमध्वान्तं-  
 वज्जासिदुर्गे । दहनो वह्निः, वर्षं च तस्य ते । हिमं जाङ्गं, श्वान्तं अन्धकारः, वज्जस् इन्द्रायुधम्  
 एतेदुर्गे । पुनः समदकरिष्ठासंकटे । वा शब्दः सर्वेषां योज्यः, इति सूत्रार्थः ॥६५॥ अथ एवं  
 कालस्वरूपं कथयित्वा आर्यं प्रतिबोधयति । शादूलविकीडितम् ।

115 ) अस्मिन्नन्तक—हे आर्य, अस्य तव अस्मात् प्रत्येकं गिलतः भक्षयता । निर्दयधियः  
 दयारहितबुद्धेः वै निश्चितं कथमपि महता कष्टेनापि केनापि उपायेन निःसरणं निर्गमो न भवति ।  
 अस्मिन् अन्तकभोगिवक्त्रविवरे यमसागमुखविवरे भुवनत्रयं संयुक्तम् । कथंभूतेऽहिमन् । संहारदंष्ट्रा-  
 ङ्गिते । कथंभूतं भुवनत्रयम् । स्परमरव्यापारमूर्खीकृतम् । कन्दर्पविषव्यापारमूर्छितम् । अत्यक्ष-  
 बोधम् अतीन्द्रियज्ञानं विना इति सूत्रार्थः ॥६६॥ इति द्वितीया अशरणभावना समाप्ता । अथ सूत्रोयां  
 संसारभावनामाह ।

116 ) चतुर्गतिमहा—जन्मसामरे भविनो जीवाः अजस्य निरन्तरं वराकाः निःशरणाः  
 हाथियोंके समूहसे गहन प्रदेशमें भी रखे जानेपर यह दुराचारी अतिशय शल्यान् काल  
 शल्यपूर्वक प्राणियोंके जीवनको अपना ग्रास बनाता ही है । अभिप्राय यह है कि सिद्ध क्षेत्रको  
 छोड़कर लोकमें दूसरा कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँपर जाकर मृत्यु प्राणी को अस्ति न  
 करती हो ॥६५॥

तीनों लोकोंके प्राणी काम ( विषयानुराग ) रूप विषके व्यवहारसे मोहको प्राप्त  
 होकर चातक ( विषेली ) दाढ़ीसे संयुक्त इस यमरूप सर्पके मुखरूप लेदेके भीतर गाइ निद्रामें  
 सो रहे हैं । उनमेंसे प्रत्येकको वह यम निर्दयतापूर्वक अपना ग्रास बना रहा है । हे आर्य !  
 उसके मुखसे कोई भी प्राणी किसी भी प्रकारसे तब तक नहीं सिकल सकता है, जब तक कि  
 वह अतीन्द्रिय ज्ञानको नहीं प्राप्त कर लेता । अभिप्राय यह है कि जो भव्य जीव केवलज्ञान-  
 को सम्पादित करके मुक्तिको प्राप्त कर लेते हैं वे ही उस मृत्युसे छुटकारा पा जाते हैं, शेष  
 सब ही प्राणी समयानुसार उस मृत्यु को प्राप्त होते ही हैं ॥६६॥

३. संसार भावना—जीव जिस तरह संसारमें निरन्तर परिष्करण कर रहे हैं वह  
 संसार समुद्रके समान है । कारण यह कि जिस प्रकार समुद्रमें जलके गोलाकार परिष्करण-

117) उत्पद्धन्ते विषयन्ते स्वकर्मनिगडैर्वृताः ।

स्थिरेतरशरीरेषु संचरन्तः शरीरिणः ॥६८

118) कदाचिद्देवगत्यायुनामिकर्मोदियादिह ।

प्रभवन्त्यज्ञिनः स्वर्गे पुण्यप्राप्तारसंभूताः ॥६९

119) कल्पेषु चै विमानेषु निकायेष्वितरेषु वा ।

निविशन्ति सुखे दिव्यमासाद्य विदिवश्रियम् ॥७०

भ्रमन्ति । कथंभूते जन्मसागरे । चतुर्गतिमहावतैः । पुनः कथंभूते । दुखवाडदीपिते । पदद्वर्धं सुगमम् ॥६७॥ अथ चतुर्गतिभ्रमणे कर्मणि हेतुत्वमाह ।

117) उत्पद्धन्ते—शरीरिणो जीवाः स्थिरेतरशरीरेषु स्थिरास्थिरेषु संचरन्तः सन्तः उत्पद्धन्ते विषयन्ते । पुनः कथंभूताः शरीरिणः । स्वकर्मनिगडैर्वृताः इति सूक्ष्मार्थः ॥६८॥ अथ चतुर्गतिषु देवगत्योत्पादमाह ।

118) कदाचिद्देव—इह संसारे कदाचित् अज्ञिनः स्वर्गे प्रभवन्ति । कथंभूता अज्ञिनः । पुण्यप्राप्तारसंभूताः । कस्मात् । देवगत्यायुनामिकर्मोदियात् । देवगतिः देवायुनामिकर्मोदियादित्यर्थः ॥६९॥ देवगतावपि विशेषमाह ।

119) कल्पेषु च—चकारात्तेऽज्ञिनः कल्पेषु षोडशेषु । चकारात्तत्रस्येषु विमानेषु । च पुनः । इतरेषु भवनपत्यादिनिकायेषु दिव्ये देवसंबन्धि सुखं निविशन्ति, धातुनाभनेकार्थत्वात् भूञ्जते । किं कुत्वा । विदिवश्रिये देवशोभा लक्ष्मी वा आसाद्य प्राप्येत्यर्थः ॥७०॥ अथ तेषामेव च्यवन्तमाह ।

स्वरूप घडे-घडे आवर्त उठा करते हैं उसी प्रकार इस संसारमें भी चारों गतियोंके परिभ्रमण-स्वरूप आवर्त अवस्थित हैं तथा समुद्र जहाँ बड़वानलसे सन्तप्त रहता है वहाँ वह संसार दुखोंकी ज्वालाओंसे सदा सन्तप्त रहता है । तात्पर्य यह कि जन्म और मरणकी परम्पराका नाम ही संसार है । यह अज्ञानी ग्राणी अपने अविवेकसे उस संसारके भीतर निरन्तर अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता रहता है ॥६७॥

अपने कर्मरूप साँकिलोंसे जकड़े हुए ग्राणी स्थिर ( स्थावर ) और अस्थिर ( स्थावरसे विपरीत त्रस ) शरीरोंमें परिभ्रमण करते हुए निरन्तर जन्म लेते हैं और फिर मरणको प्राप्त होते हैं ॥६८॥

ग्राणी पूर्वोपार्जित प्रचुर पुण्यके बोझसे परिपूर्ण होते हुए कभी देवगति और आयु नामक कर्मके उदयसे यहाँ स्वर्गमें उत्पन्न हुआ करते हैं ॥६९॥

द्वितीय देवोंकी लक्ष्मीको पाकर वे कल्पोंमें—सोलह स्वर्गोंमें, ग्रवेयक आदि कल्पातीत विमानोंमें अथवा अन्य निकायोंमें—भवनयासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें—प्रविष्ट होते हैं ॥७०॥

१. X कल्पेष्वपि । २. M N निकायेषु । ३. All others except P M N <sup>१</sup>विक्तरेषु च । ४. M N Y विवशश्रियम् ।

120 ) प्रच्यवन्ते ततः सद्यः प्रविशन्ति रसात्मलम् ।

अमन्त्यनिलवद्विशं पतन्ति नरकोदरे ॥७१॥

121 ) विडम्बयत्यसौ हन्त संसारः समयान्तरे ।

अधमोत्तमपर्यायिनियोज्य प्राणिनां गणम् ॥७२॥

122 ) स्वर्गी भवति साकल्दं शा स्वर्गभवितोहति ।

श्रोत्रियः सारमेयः स्यात् कुमिर्वा॑ शृपचोऽपि॒ वा ॥७३॥

123 ) स्यात्प्राणेतानि चुल्लाति त्यजत्यन्यानि संततम् ।

यथा रङ्गे अ शैलूषस्तथार्य यन्त्रवाहकः ॥७४॥

120 ) प्रथपवन्ते ततः—ततः स्वर्गात् सद्यः शीघ्रं प्रच्यवन्ते रसात्मलं प्रविशन्ति । विश्वं जगत् अनिलवत् अमन्ति । नरकोदरे पतन्ति । नरकप्रायोग्यकर्मवन्धं कुत्वा नरकध्ये गच्छत्तोत्यर्थः ॥७१॥ अथ संसारस्य नानापर्यायमाह ।

121 ) विडम्बयत्यसौ—हन्त इति खेदे । असौ संसारः प्राणिनां गणं विडम्बयति । समयान्तरे आयुर्बन्धकाले अधमोत्तमपर्यायैः जघन्योत्समदेहैनियोज्य इत्यर्थः ॥७२॥ अथ जोशाना गतिविषयासमाह ।

122 ) स्वर्गी भवति—स्वर्गी देवः साकल्दं पतति अधोगत्यादी । इवा कुक्कुरः स्वर्गभवितोहति । श्रोत्रियो ब्राह्मणोत्तमः सारमेयः इवा भवति । वा अथवा कुमिकीटविशेषो भवति । वा पक्षान्तरे इक्षपवः चाण्डालः स्यात् । अत्र जाते प्राधान्यं सास्ति कितु कर्मणः इति सूत्रार्थः ॥७३॥ असौ जीवस्य नटवशानावेशकारित्वमाह ।

123 ) रूपाष्ट्येकानि—अत्र रङ्गे रङ्गभूमिकायां यथा शैलूषो नटः एकानि रूपाणि

बहौसे शीघ्र ही च्युत होकर वे पातालतलमें प्रविष्ट होते हैं—कभी कोई एकेन्द्रियोंमें भी जाकर उत्पन्न होते हैं । इस प्रकारसे वायुके समान छोड़करें परिच्छमण करते हुए वे नरकोंके बीचमें जा पड़ते हैं ॥७४॥

खेद है कि वह संसार समयान्तरमें ही प्राणियोंके समूहको निकृष्ट और उत्कृष्ट पर्यायोंसे संयुक्त करके प्रवारित किया करता है ॥७२॥

कभी स्वर्गवासी देव तो विलाप करता हुआ जीवे गिरता है—निकृष्ट शोनिमें उत्पन्न होता है—और हीन गिना जाने वाला कुत्ता स्वर्गपर चढ़ जाता है—देव हो जाता है । इसी प्रकार श्रोत्रिय—वैदाध्यादी ब्राह्मण कभी कुत्ता, छुट्र कीड़ा अथवा चाण्डाल भी हो जाता है ॥७३॥

जिस प्रकार रंगभूमिमें नट निरन्तर अनेक रूपोंको प्रहृण करता है और अनेक

१. N कुमिः स्यात् । २. P अवपचः = चाण्डालः । ३. P शैलूषः = नटः ।

124) सुतीत्रासातसंतप्ता मिथ्यात्वातङ्कशङ्किताः ।

पञ्चधा परिवर्तन्ते प्राणिनो जन्मदुर्गमे ॥७५॥

125) द्रव्यक्षेत्रतथाकालभवभावविकल्पतः ।

संसारो दुःखसंकीर्णः पञ्चघेति प्रपञ्चितः ॥७६॥

126) सर्वैः सर्वैः इपि संबन्धाः संप्राप्ता देहधारिभिः ।

अनादिकालसंभ्रान्तैस्त्रसस्थावरयोनिषु ॥७७॥

गृह्णाति । संतर्त निरन्तरम् । अन्यानि त्यजति । यथा तेन प्रकारेण अयं यज्ञवाहको जीवः एकानि रूपाणि गृह्णाति । अन्यानि त्यजति इति भावः ॥७४॥ अथ जीवानां पञ्चधात्वमाह ।

124) सुतीत्रासातसंतप्ता—जन्मदुर्गमे जन्माटव्या प्राणिनः पञ्चधा पञ्चप्रकारत्वेन परिवर्तन्ते । कर्थभूताः प्राणिनः । सुतीत्रासातसंतप्ताः । पुनः कर्थभूताः प्राणिनः । मिथ्यात्वातङ्कशङ्किताः पिथ्यात्वभयभान्ताः इति सूत्रार्थः ॥७५॥ पञ्चधात्वमेवाह ।

125) द्रव्यक्षेत्रतथा—संसारः इति पञ्चवा प्रपञ्चितः विस्तारितः । कर्थभूतः । दुःखसंकीर्णः । इतीति कस्मात् । द्रव्यक्षेत्रतथाकालभवभावविकल्पतः । तत्र द्रव्यं द्वचणुकादि, क्षेत्रलोकाकाशपर्यामा वा, कालः उत्सर्पिष्यादिलक्षणः, सूर्यगमगमादिव्यदृग्यो वा, भवो मनुष्यादिरूपः, भावः औदयिकादिरूपः, एते पञ्चप्रकाराः इति सूत्रार्थः ॥७६॥ अथ जीवानां त्रसस्थावरेषु परिभ्रमणमाह ।

126) सर्वैः सर्वैः इपि—सर्वैः देहधारिभिः प्राणिभिः सर्वैः इपि संबन्धाः संप्राप्ताः । केषु । त्रसाः द्विन्द्रियादयः स्थावरा एकेन्द्रियाः । तेषां योनिषु । अनादिकालसंभ्रान्तैः इति सूत्रार्थः ॥७७॥ अथ जीवानां सर्वंतिपर्याप्तमण्माह ।

रूपोंको छोड़ता है उसी प्रकार यह शरीररूप यन्त्रको धारण करनेवाला प्राणी भी वहाँ संसारमें अनेक अवस्थाओं को प्रहण करता है और अनेकोंको छोड़ता है ॥७४॥

अतिशय तीव्र दुःखसे सन्तापको प्राप्त हुए और मिथ्यात्वरूप रोगसे भयभीत प्राणी संसाररूप गहन वनमें पाँच प्रकारसे परिवर्तन करते हैं ॥७५॥

अनेक दुःखोंसे व्याप्त वह संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे पाँच प्रकार विस्तारपूर्वक कहा गया है ॥७६॥

अनादि कालसे त्रय और स्थावर योनियोंमें परिभ्रमण करनेवाले सब प्राणियोंमें सब ही सम्बन्धोंको—पिता-पुत्र और पति-पत्नी आदि अवस्थाओंको—प्राप्त किया है । अभिप्राय यह है कि अनादि कालसे संसारमें परिभ्रमण करता हुआ वह प्राणी जिसका कभी पिता होता है उसीका पुत्र भी हो जाता है । इस प्रकार परिभ्रमण करते हुए ऐसा कोई भी सम्बन्ध शेष नहीं रहा है, जिसे इस प्राणीने अनेक बार न प्राप्त किया हो ॥७७॥

१. S V C R °तङ्कतकिताः । २. M N द्रव्यात् शेत्रात् तथा कालात् । ३. द्रव्यं क्षेत्रं तथा, S T C Y द्रव्यक्षेत्रे तथा, P adds this verse on the margin in a different hand.

- 127 ) देवलोके नूलोके च तिरश्चि नरके ऽपि च ।  
न सा योनिर्न तद्रूपं न सै देशो न तत्कुलम् ॥७८
- 128 ) न तद्दुखं सुखं किञ्चित्पर्यायः स विद्यते ।  
यत्रैते प्राणिनः शश्वतायातीर्न खण्डिताः ॥७९
- 129 ) न के बन्धुत्वमायाता न के जातास्तव द्विषः ।  
दुरन्तागाधसंसारपङ्कमनस्य निर्दयम् ॥८०
- 130 ) भूपः कुमिर्भवत्यत्र कुमिश्वामरनायकः ।  
शरीरी परिवर्तेत कर्मणा वञ्चितो वलात् ॥८१

127-128 ) देवलोके—यथा एते प्राणिनः जाश्वत् निरन्तरं यातायातैः गताभूतैः न खण्डिताः । स पर्यायो न विद्यते । देवलोके । च पुनः नूलोके । च पश्चान्तरे । तिरश्चि लोके तिर्यग्लोके । सा योनिः न । सद्रूपं न । स देशः न । तत्कुलं न । तद्दुखं न । सुखमपि किञ्चिन्न इति श्लोकद्वयार्थः ॥७८-७९॥ पुनस्तदेवाह ।

129 ) न के बन्धुत्वे—जो वह, तब न के बन्धुत्वमायाता । के न द्विषी जाताः । कर्यभूतस्य तत्र । निर्दयं यथा स्यात् तथा दुरन्तागाधसंसारपङ्कमजिज्ञस्येति सूक्ष्मार्थः ॥८०॥ अथ कर्मिवशान्नानापयायिमाह ।

130 ) भूपः कुमिर्भवत्यत्र—शरीरी वलात् वञ्चितः परिवर्तेत । अथ संसारे । भूपः कुमिर्भवति । च पुनः । कुमि अमरनायको भवतीति तात्पर्यार्थः ॥८१॥ अथ कुटुम्बस्यानियतत्वमाह ।

देवलोकमें, मनुष्यलोकमें, तिर्यग्लोकमें और नरकमें भी ( जारी ही गतियोंमें ) वह कोई योनि नहीं है, वह कोई रूप नहीं है, वह कोई देश नहीं है, वह कोई कुल नहीं है, वह कोई दुःख नहीं है, वह कोई सुख नहीं है, और वह कोई पर्याय नहीं है, जहाँपर कि ये प्राणी निरन्तर यातायातोंसे—गति और आगतिसे—खण्डित न किये गये हों ॥७८-७९॥

हे भव्य ! दुःखके साथ नष्ट होनेवाले इस अथाह संसाररूप कीचड़के भीतर फँसे हुए तेरे साथ कौन हो बन्धुभावको नहीं प्राप्त हुए हैं और कौन निर्दयतापूर्वक शत्रुभावको नहीं प्राप्त हुए हैं—जो प्राणी कभी शत्रु रहे हैं वे ही कभी घनिष्ठ मित्र भी रहे हैं ॥८०॥

इस संसारमें कभी राजा तो मरकर छुट्र कीड़ा ( लट ) हो जाता है और कभी छुट्र कीड़ा भी देवोंका इन्द्र हो जाता है । इस प्रकार यह प्राणी कर्मके द्वारा बलपूर्वक ठगा जाकर अनेक योनियोंमें परिव्रस्त किया करता है ॥८१॥

१३१) माता पुत्री स्वसा भाया॒ सैव संपद्यते ऽङ्गिनाम् ।

पिता पुत्रः पुनः सोऽपि लभते पैतृकं पदम् ॥८२

१३२) शब्दे॑ शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहृतैः-

स्तैरथे॑ कटुकर्मपावकशिखासंभारभस्मीकृतैः ।

मानुष्ये॑ ऽप्यतुलग्रयासवशार्गेदेवेषु रागोद्भृतैः

संसारे ऽत्र दुरन्तदुर्गतिमये बस्त्रम्यते प्राणिभिः ॥८३

[इति] संसारः । [३]

१३३) महाव्यसनशंकीर्णे दुःखज्वलनदीपिते ।

एकाक्येव अमल्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले ॥८४

१३१) माता पुत्रो—अङ्गजा॑ पुत्रो । शोषं सुगमम् ॥८२॥ अथ चतुर्मुतिदुःखस्वरूपमाह ।  
शा० विक्रीदितम् ।

१३२) इव शब्दे॑ शूलकुठार—प्राणिभिः अत्र संसारे बस्त्रम्यते अलिशयेन भ्रम्यते । कर्थभूते॑ संसारे । दुरन्तदुर्गतिमये दुःप्राप्यदुर्गतिस्वरूपे । कर्थभूतैः॑ प्राणिभिः । इव शब्दे॑ नरके॑ । शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहृतैः॑ । यन्त्रे॑ तैलनिक्वानकाण्डं, दहनो वह्निः॑, क्षारं लवणादि, धुरो औपि अयोध्यादिः॑ शस्त्रविशेषः॑ । तिर्यक्षु॑ तिर्यगतिषु॑ । कर्थभूतैः॑ प्राणिभिः । श्रमदुःखपावकशिखासंभारभस्मीकृतैः॑ । अमदुःखारिज्ज्वालासमूहभस्मीकृतैः॑ । मानुष्ये॑ ऽपि अतुलग्रयासवशार्गैः॑ । देवेषु रागोद्भृतैः॑ ॥८३॥ इति संसारभावना तृतीया ॥ अथ एकस्वभावनामाह ।

१३३) महाव्यसन—आत्मा एकाक्येव अमल्यति । वय । दुर्गे भवमरुस्थले संसारमरुदेशो ।

प्राणियोंकी माता मरकर कभी पुत्री हो जाती है, कभी बहिन हो जाती है, और वही कभी स्त्री भी हो जाता है । इसी प्रकार पिता मरकर पुत्र हो जाता है और फिर वही पुनः पिताके पदको प्राप्त कर लेता है ॥८२॥

संसारी प्राणी नरकगतिमें शूल ( शूली या त्रिशूल ), कुठार ( फरसा ), यन्त्र ( तिल आदिके पेरनेके शन्त्र ), अग्नि, क्षार ( पिंडलनेवाले पदार्थ या खारे पदार्थ ) और छुरा, दृत्यादिके संयोगसे छिन्न-मिन्न होकर कष्ट पाते हैं; तिर्यक्ष अवस्थामें कड़प ( कष्टपद ) कर्मरूप अग्निकी ज्वालाओंके समूहसे भस्म किये जाते हैं—पाप कर्मके वशीभूत होकर बोझा ढोने एवं शीत-उष्ण व ताङ्ने आदिके प्रचुर दुःखोंको सहते हैं; मनुष्य पर्यायमें अथक परिश्रम करते हुए दुर्घटी रहते हैं; तथा देवगतिमें रागसे उद्धृत रहनेके कारण कष्ट भोगते हैं । इस प्रकारसे वे इस दुर्बिनाश चतुर्मुतिस्वरूप संसारमें बार-बार परिश्रमण करते रहते हैं ॥८३॥ संसार भावना समाप्त हुई ।

४. एकत्वभावना—भयानक विपक्षियोंसे व्याप्त और दुःखरूप अग्निसे सन्तप्त इस

१. L S T F V B C J X संपदतेऽङ्गजा । २. S T B J Y गोविकं । ३. L तिर्यक्षे, All others except P तिर्यक्षु श्रमदुःखपावक । ४. M शिखासंचार, N शिलासंचार ।

134 ) स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्ते<sup>१</sup> फलं भोक्तुं शुभाशुभम् ।

शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा<sup>२</sup> ॥८५

135 ) संकल्पानन्तरोत्पन्नं दिव्यं स्वर्गसुखामृतम् ।

निविशत्ययमेवैकैः स्वर्गश्रीरञ्जिताशयः ॥८६

136 ) संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणे ऽथवा<sup>३</sup> ।

सुखदुःखविधौ<sup>४</sup> चास्य न सखान्योऽस्ति देहिनः<sup>५</sup> ॥८७

कथंभूते । महाव्यासनसंकोर्णे प्रहाकषसंकोर्णे । पुनः कथंभूते । दुःखदुःखलन्दीपिते दुःखाभ्यन्प्रदीपिते इति श्लोकार्थः ॥८४॥ अथ जीवस्य कर्मफलमाह ।

134 ) स्वयं स्वकर्म—एको जीवः सर्वत्र सर्वगतिषु सर्वथा शरीरान्तरमादत्ते गृज्जाति । कि कर्तुम् । स्वयं निर्वृत्तं बद्धं शुभाशुभं कर्म भोक्तुमित्यर्थः ॥८५॥ स्वर्गसुखमाह ।

135 ) संकल्पाभस्तरी—अयम् एकाकीः जीवः दिव्यं देवसंबन्धिं स्वर्गसुखामृतं निविशति । 'उपसर्गेण धात्रवर्थो बलादन्यत्र नीयते,' इति न्यायात् भुड्कते । कथंभूतं स्वर्गसुखामृतम् । संकल्पानन्तरोत्पन्नं मनसा जातम् । कथंभूतः अयम् । स्वर्गश्रीरञ्जिताशयः । सुगमम् । इति श्लोकार्थः ॥८६॥ अथ प्राणिनां सुखदुःखयोर्भौक्तव्ये न कोऽपि सखा एतदेवाह ।

136 ) संयोगे विप्रयोगे—देहिनः प्राणिनः अस्य सुखदुःखविधौ अन्यः सखा नास्ति । कथ । संयोगे हृष्टमिलने । विप्रयोगे तदप्राप्तौ । संभवे जन्मनि । मरणे । अथवेति पक्षान्तरे । स्वकर्मफलं स्वयमेव भुड्कते इति भावार्थः ॥८७॥ अथ स्वकर्मभोक्तव्ये त के ऽपि तत्फलं विभजन्तीत्याह ।

दुर्गम संसाररूप भूत्यल ( रेगिस्तान ) में यह जीव अकेला ही परिच्छमण किया करता है ॥८४॥

यह जीव स्वयं किये हुए कर्मका जो शुभ और अशुभ फल निर्मित हुआ है उसको भोगनेके लिए सब शोनियोंमें सब प्रकारसे अकेला रहकर—असहाय होकर—अन्य अन्य शरीरको प्रहृण किया करता है । अभिप्राय यह है कि प्राणी अपने और कौदुम्बिक जन आदिके निमित्तसे जो भी भला-बुरा कार्य करता है उससे संचित हुए पुण्य व पापके फलको एक वही भोगता है—इसमें उसका अन्य कोई भी सहायक नहीं होता है ॥८५॥

प्राणी पूर्वोपाज्ञित पुण्यके उदयसे स्वर्गकी लक्ष्मीसे मनमें अनुरंजित होकर संकल्पके पश्चात् उत्पन्न हुए दिव्य स्वर्गीय सुखरूप अमृतको अकेला ही भोगता है ॥८६॥

संयोग और वियोगमें, जन्म और मरणमें तथा सुख और दुःखके विधानमें इस जीवका दूसरा कोई भी मित्र नहीं है—सहभागी नहीं होता है ॥८७॥

१. P निर्वृत्तं = निर्मितिं । २. N सर्वत्र सर्वथा । ३. S T V B J X R °त्ययमेकाकी; F C °त्ययमेको च । ४. M N मरणे ऽपि च, X मरणे ऽपि च, B मरणे तथा । ५. S T V C J Y विश्वी वास्य, L दुःखादिके वास्य । ६. X देहिनाम् ।

- 137 ) वित्तपुत्रकलन्नादिकृते कर्म करोत्ययम् ।  
यत्तस्य फलमेकाकी शुद्धके शब्दादिभूमिषु ॥८८
- 138 ) सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम् ।  
न तुं सोहुं स्वकर्मोत्था<sup>१</sup> निर्दया व्यसनावलीम् ॥८९
- 139 ) [“एकत्वं कि न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहादिताः ।  
यज्जन्ममृत्युसंपाते<sup>२</sup> प्रत्यक्षमनुभूयते ॥८९\*१]
- 140 ) अज्ञातस्वस्वरूपो इयं लुप्तवोधादिलोचनः ।  
अभ्यत्यविरतं जीव एकाकी विधिविभितः ॥९०

137 ) वित्तपुत्रकलन्नादि—अर्थं जीवः “मित्रकलपुत्रादिकृते कारणाय कर्म शुभाशुभं करोति । यत्कलं तस्य कर्मणः एकाकी “स्वयमेव शब्दादिषु नरकेषु शुद्धकृते इति इलोकार्थः ॥८८॥। अथ पुत्रादयः अनेक पापोपाजितं द्रव्यं भोक्तुं सहाया भवन्तीत्याह ।

138 ) सहाया अत्थ—अस्य जीवस्य सहाया: परिजनाः केवलं वित्तानि भोक्तुं जायन्ते । सहाया इति अन्नायि योज्यन्ते । सहाया: स्वकर्मोत्था व्यसनावलीं कष्टश्रेणीं निर्दयाः सोहुं न तुं जायन्ते इति सूत्रार्थः ॥८९॥। अथ जीवानामेकत्वमाह ।

139 ) एकत्वं कि न—जडा मूर्खा एकत्वं परमार्थितः एकस्वरूपत्वं कि न पश्यन्ति । कर्थभूता जडाः । जन्मग्रहादिताः पीडिताः । यत् एकत्वं जन्ममृत्युसंपाते जन्ममरणागमे प्रत्यक्षमनुभूयते ॥८९\*१॥। एतदेवाह ।

140 ) अज्ञातस्वस्वरूपो इयं—अर्थं जीवः अविरतं निरन्तरं एकाकी भ्रमति । कर्थभूतः

यह प्राणी धन, पुत्र और स्त्री आदिके निमित्तसे जो कर्म करता है उसके दुःख-सुख रूप फलको वह अकेला ही नरकादि पृथिवियोंमें भोगता है ॥८८॥।

स्त्री और पुत्र आदि जो भी इस प्राणीके सहायक होते हैं वे केवल उसके हारा उपार्जित धनके भोगनेमें ही सहायक होते हैं । परन्तु उस धनके संचयमें उसने जिस कर्मको उपार्जित किया है उससे उत्पन्न हुए क्रूर दुःखोंके समूहके भोगनेमें उनमेंसे कोई भी सहायक नहीं होता है ॥८९॥।

जो एकता जन्म और मृत्युके संयोगमें प्रगट देखी जाती है उस एकताको संसाररूप मिशाचसे पीड़ित ये अज्ञानी प्राणी क्यों नहीं देखते हैं ? अभिप्राय यह है कि जो जीव अकेला ही उत्पन्न होता है वही भरता भी अकेला ही है । इस प्रकार जन्म-भरणके बीचमें स्वर्य एकताका अनुभव करते हुए भी प्राणी अज्ञानतावश उस एकान्तका अनुभव नहीं करते, यह खेदकी शात है ॥८९\*१॥।

ज्ञानादिरूप नेत्रसे रहित होनेके कारण अपने निज स्वरूपसे अनभिज्ञ यह प्राणी

१. All others except P M L मिश्रपुत्र । २. All others except P शब्दादिषु स्वयम् । ३. न ते सोहुं । ४. P T V C X Y स्वकर्मोत्थं । ५. P M N om. । ६. B J मृत्युसंपाते ।

141 ) यदैक्यं मनुते मोहाद्यमर्थेः स्थिरेतरैः ।

तदा स्वं स्वेन बधनाति तद्रिपक्षः<sup>१</sup> शिवीभवेत् ॥११

142 ) एकाकित्वं प्रपञ्चो ऽस्मि यदाहं वीतविभ्रमः ।

तदैव जन्मसंबन्धः स्वयमेव विशीर्यते ॥१२

143 ) एकः स्वर्गी भवति विवृधः<sup>२</sup> स्त्रीमुखाम्भोजभूङ्गः

एकः शाश्र्वं<sup>३</sup> पिबति कल्लं<sup>४</sup> छिद्रमानः कृपाणैः ।

अथम् । अज्ञातस्वस्वरूपः अज्ञातस्वचैतन्यः । पुनः कर्थंभूतः । लुप्तबोधादिलोचनः । पुनः कर्थंभूतः । विविवक्षितः कर्मविज्ञतः ॥१३॥

141 ) यदैक्यं मनुते—यदा अयं जीवः मोहात् अज्ञानात् अर्थैक्यं मनुते । कर्थंभूतः । स्थिरेतरैः स्थिरेतरैः । तदा जीवः स्वप्रात्मानं स्वेन प्रस्तावात्कर्मणा बधनाति । अर्थव्याखावाद्रिपक्षः शिवो मुक्तो भवति । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ एकाकित्वे जन्म भवतीत्याह ।

142 ) एकाकित्वं—यदा अहम् एकाकित्वं प्रपञ्चोऽस्मि प्राप्तोऽस्मि । कर्थंभूतोऽहम् । वीतविभ्रमः गताज्ञानः । तदैव जन्मसंबन्धः स्वयमेव विशीर्यते हानि याति इति संबन्धः ॥१५॥ अथ जीवानां वैचित्र्यमाह ।

143 ) एकः स्वर्गीभवति—एको जीवः स्वर्गीभवति विवृधः । कर्थंभूतः । स्त्रीमुखाम्भोजभूङ्गः स्त्रीमुखाम्भोजभूङ्गः । एको जीवः स्वतः उबहिर्विभवति । कलिलं मांसं कृपाणैः छिद्रकर्मसे ठगा जाकर अकेला ही इस संसारमें निरन्तर परिभ्रमण करता है ॥१६॥

यह जीव मोहके बश होकर जबतक स्थिर और अस्थिर ( विनश्वर ) पदार्थोंके साथ अपनी एकता मानता है—ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ इस प्रकार की समस्त बुद्धि रखकर उनको आत्मासे भिन्न नहीं समझता है—तबतक वह अपने आपको उनसे स्वयं वैधता है—उनके अधीन रहकर व्याकुल होता है । और इससे विपरीत प्राणी—जो स्थिर और अस्थिर सब ही आश पदार्थोंको आत्मासे भिन्न समझकर उनमें अनुरक्त नहीं होता है—बन्धनसे मुक्त होकर शाइक्षिक सुखका भोक्ता हो जाता है ॥१७॥

जब मैं विपरीत बुद्धिको छोड़कर—बाह्य पर पदार्थोंमें आत्मबुद्धि न करके—एकाकीपनको ( अद्वैतभावको ) प्राप्त हो जाता हूँ उसी समय मेरे संसारका सम्बन्ध स्वयं ही नष्ट हो जाता है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि प्राणी जबतक शरीरादि वाहा पदार्थोंको अपना मानकर उनमें युग्म रहता है तबतक वह कर्मबन्धनमें बद्ध होकर संसारमें परिभ्रमण करता है, और इसके विपरीत जब वह शरीरादिको आत्मासे भिन्न मानकर उनकी ओरसे विरक्त होता हुआ आत्मस्वरूपमें मग्न होता है तब वह नष्टीन कर्मबन्धसे रहित होकर पूर्वसंचित कर्मकी निर्जरा करता हुआ मुक्त हो जाता है ॥१८॥

एक विद्वान् ( विवेकी ) स्वर्गवासी देव होकर देवाभावोंके मुखरूप कमलका अमर बन जाता है—उसके साथ द्वितीय भोगोंको भोगता है, इसके विपरीत एक प्राणी तलवारोंसे

१. All others except P M N B X तद्रिपक्षः । २. M N शिवो भवेत् । ३. P M शीमुखाः ।

४. Y भूङ्गश्चेकः । ५. B J स्वार्थं पिबति । ६. All others except P कलिलं ।

एकः क्रोधाश्चनलकलितः कर्म बच्चात्यविद्वान्  
एकः सर्वाविरणविगमे ज्ञानराज्यं सुनक्षि ॥१३॥

[इति] एकत्वम् । [४]

144) अयमात्मा स्वभावेन शरीरादेविलक्षणः ।

चिदानन्दमयः शुद्धो वन्धं प्रत्येकवानपि ॥१४॥

मानः । एको इविद्वान् कर्म बच्चाति । क्रोधाश्चनलकलितः कोपाग्निसहितः । एको जीवः ज्ञानसाम्राज्यं भुनक्षि । वत्र सति । सर्वाविरणविगमे नाशे सति इति सूत्रार्थः ॥१३॥ इसि एकत्वभावना समाप्ता । अथान्यत्वभावनामाह ।

144) अयमात्मा स्वभावेन—अयम् आत्मा जीवः स्वभावेन शरीरादेविलक्षणः अस्ति । पुनः कर्थंभूतः । चिदानन्दमयः, विश्वरूपः, शुद्धः कर्ममलरहितः । वन्धं प्रत्येकवान् व्यवहारनयात् कर्मवन्धं प्रत्येकवान्\* एकीभूत इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथानान्यात्मकर्मणोः संबन्धमाह ।

छेदा जाकर नरकके कीचड़को पीता है—नरकमें नारकी होकर ( महान् ) दुःखको भोगता है, एक अज्ञानी प्राणी क्रोधरूप अग्निसे सम्प्रभुत होकर कर्मको बँधता है, तथा इसके विपरीत एक जीव समस्त आवरणसे ( ज्ञानाविरणादि आठों कर्मोंसे ) रहित होकर ज्ञानरूप राज्यका उपभोग करता है—मुक्त होकर अनन्त ज्ञानादिसे संयुक्त हो जाता है । तात्पर्य यह कि यह जीव जैसा आचरण करता है तदनुसार वह अकेला ही या तो कर्मवन्धनमें बँधकर नरकादि गतियोंमें परिभ्रमण करता या किर उक्त कर्मवन्धनसे रहित होकर निराकुल सुखको भोगता है ॥१३॥ एकत्व भावना समाप्त हुई ॥

४. अन्यत्वभावना—यह आत्मा स्वभावसे शरीरादिसे भिन्न है, क्योंकि वह चेतन, आनन्दस्वरूप, शुद्ध और वन्धके प्रति एक होकर भी वस्तुतः एक नहीं है ॥ विशेषार्थ—यह आत्मा शरीरादिसे भिन्न है । क्योंकि, दोनोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न है—आत्मा यदि चेतनस्वरूप होकर ज्ञानानन्दमय है तो शरीर ज्ञान, दर्शन व सुखसे रहित होकर जह है तथा आत्मा जहाँ शुद्ध है वहाँ वह शरीर अस्यन्त अशुद्ध है । यद्यपि वह अनादिकालसे कर्म-पुद्गलोंके साथ एक क्षेत्रावरणाहरूप ( सम्बद्ध ) होनेके कारण शरीरसे भिन्न नहीं दिखता है, परन्तु वस्तुतः वह मिले हुए दूध और पानीके समान उस शरीरसे भिन्न ही है । इस प्रकार जब वह इस शरीरसे भी भिन्न है तब प्रत्यक्षमें भिन्न दिखनेवाले पुत्र, स्त्री, धन-सम्पत्ति एवं भवन आदिसे तो अभिन्न हो ही कैसे सकता है ? कहा भी है—“यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्थं सर्यास्ति कि पुत्र-कल्प-मित्रैः । पृथक्तुते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥” अर्थात् जब आत्मा की एकता शरीरके साथ भी नहीं है—उससे भी वह भिन्न है—तब क्या पुत्र, स्त्री और मित्र आदिके साथ उसकी एकता हो सकती है ? नहीं हो सकती । ठीक है—शरीरके ऊपरके चमड़ेको अलग कर देनेपर भला रोमोंकि छिद्र शरीरमें कहाँसे रह सकते हैं ? नहीं रह सकते ॥ द्वार्चिंशतिका २०. अभिप्राय यह कि जिस प्रकार रोमछिद्रोंका सम्बन्ध चमड़ेके साथ

145 ) अचिच्छिद्रपयोरैक्यं बन्धं प्रति न वस्तुतः ।

अनादिशानयोः इलेषः स्वर्णकालिकयोरिव ॥१५५

146 ) इह मूर्तममूर्तेन चलेनात्यन्तनिश्चलम् ।

शरीरमुखते भीहाच्युतमेनास्तेतनम् ॥१५६

145 ) अचिच्छिद्रपयोरैक्यं—बन्धं प्रति न वस्तुतः परमार्थतः निश्चयनयात् अचिच्छिद्रपयोरैक्यं बन्धं प्रति ऐक्यं न भवति । च पुनः । अपयोज्जनाज्ञानयोः इलेषः संबन्धः अनादिः । कयोरिव । स्वर्ण-कालिकयोरिव । स्वर्णकालिकयोरैक्याभावात् । उपचारात् अनादिः इलेषो वर्तते इति सूत्रार्थः ॥१५५॥ अथ मूर्तममूर्तेन बन्धमाह ।

146 ) इह मूर्तममूर्तेन—इह संसारे मूर्तशरीरम् अमूर्तेन जीवेन मोहात् अज्ञानात् मुहूर्ते<sup>३</sup>

होनेसे वे उस चमड़ेके साथ ही पृथक् हो जाते हैं उसी प्रकार स्त्री, पुन्न-मित्र एवं धन-सम्पत्ति आदिका सम्बन्ध शरीरके ही साथ है, जो कि आत्माके साथ—आत्माका निश्चयसे न कोई ब्राह्मण आदि वर्ण है, न जाति है, और न विला-गुनादि सम्बन्ध भी । ड्यवहारमें वह शरीरके साथ जिस वर्ण, जाति एवं वंश आदिमें उत्पन्न होता है उसी वर्ण आदिका भरण पर्यन्त ही माना जाता है । इस प्रकारसे वह निश्चित है कि वह आत्मा शरीर आदिसे सर्वथा भिन्न है । अतएव शरीर आदिको अपना मानकर उन्हीमें अनुरक्त रहना और आत्महित न करना, अद्वानता है ॥१५६॥

अचित्स्वरूप शरीर और चित्स्वरूप आत्मा इन दोनोंमें जो अभेद देखा जाता है, वह बन्धकी अपेक्षा ही देखा जाता है, वस्तुतः स्वभावसे वे दोनों पृथक्-पृथक् हैं । और उन दोनोंका जो वह सम्बन्ध है वह सुवर्ण और उसकी कालिमाके सम्बन्धके समान अनादि है । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सुवर्णका उसकी कालिमाके साथ अनादिसे सम्बन्ध रहा है उसी प्रकार आत्माका सम्बन्ध भी कर्मके साथ अनादि कालसे चला जाता है—वह अनादि कालसे कर्मबद्ध होकर पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा ( सविपाक ) और नवीन कर्मका बन्ध प्रति समय करता रहा है । इतना अवश्य है कि जिस प्रकार वह सुवर्ण और कालिमाका सम्बन्ध अनादि होकर भी अग्निके संयोगसे नष्ट होता हुआ भी देखा जाता है—अग्निके नियमित तापके द्वारा वह सुवर्ण उस कालिमासे पृथक् होकर अपने शुद्ध स्वरूपमें आ जाता है—उसी प्रकार जीव और कर्मका भी वह अनादि सम्बन्ध नष्ट किया जा सकता है । यदि कोई जीव मुनिधर्मको धारण करके शुपि एवं समितियों आदिके द्वारा नवीन कर्मोंका निरोध ( संवर ) और तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्मकी निर्जरा ( अविपाक ) करता है तो वह उस कर्मबन्धसे सर्वथा रहित होकर मुक्त हो जाता है । यही जीवका निज स्वरूप है जो इसके पूर्व कर्मसम्बद्ध रहनेके कारण प्रगट नहीं था ॥१५६॥

यह चेतन आत्मा, जो कि स्वभावसे अमूर्त व चल है—ऊर्ध्वं गमन स्वभाववाला है, मोहके वशीभूत होकर इस अचेतन मूर्त और निश्चल—चेतन आत्माकी प्रेरणाके बिना एक

१. P ] जीवेनात्यन्त । २. M N शरीर मुखते, T शरीरी मुखते ।

१४७) अणुप्रचयनिष्पन्नं शरीरमिदमङ्गिनाम् ।

उपयोगात्मको उत्थाः शरीरैः ज्ञानविग्रहः ॥१७॥

१४८) <sup>३</sup>अन्यत्वं<sup>३</sup> कि न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहादिताः ।

यज्जन्ममृत्युसंपाते सर्वतो ऽपि प्रतीयते ॥१८॥

१४९) मूर्त्तिंचेतनैश्चित्रैः स्वतन्त्रैः परमाणुभिः ।

यद्युपिंहितं तेन कः संबन्धस्तदात्मनः ॥१९॥

मोहं प्राप्यते । कथंभूतं शरीरम् । अत्यन्तनिष्पलम् । कथंभूतेन जीवेन । चेतनेन । कथंभूतं शरीरम् । अस्तचेतनं नष्टचेतनमिति भावः ॥१६॥। अथ जीवशरीरयोः स्वरूपमाह ।

१४७) अणुप्रचय—इदमङ्गिनां शरीरम् अणुप्रचयनिष्पन्नं परमाणुसमूहजातम् । जीवस्तु उपयोगात्मको उत्तोन्द्रियः शरीर<sup>१</sup> ज्ञानविग्रहो ज्ञाननाशः इत्यर्थः ॥१७॥। अथान्यत्वमाह ।

१४८) अन्यत्वं कि न—जन्मग्रहेणादिताः पीडिताः जन्ममृत्युसंपाते समागमते । शेषं सुगमम् । इति इलोकार्थः ॥१८॥। अथ पर एवात्मनः संबन्धमाह ।

१४९) मूर्त्तिंचेतनैः—यद्युः शरीरं परमाणुभिः विहितं निष्पन्नम् । कथंभूतैः परमाणुभिः । मूर्त्तैः पुद्गलरूपैः विचेतनैः अचेतनैः चित्रैः नामाप्रकारैः स्वतन्त्रैः पृथकस्वरूपैः । तेन वपुषा आत्मनः कः संबन्धः । अपि तु न को उपीति भावः ॥१९॥। अथ बन्धोर्जीविस्यान्यत्वमाह ।

देशसे दूसरे देशको न प्राप्त हो सकनेवाले—शरीरको इस प्रकारसे धारण करता है जिस प्रकार कि कोई मनुष्य—रामचन्द्र आदि ( ब्रह्मद्र )—मोहके द्वारा मृत शरीरको धारण करता है ॥१६॥।

यह प्राणियोंका शरीर पुद्गल परमाणुओंके समूहसे उत्पन्न हुआ है । परन्तु उस शरीरको धारण करनेवाला जीव उपयोग ( ज्ञान-दर्शन ) स्वरूप, इन्द्रियोंका अविषय—चक्र आदिके द्वारा न देखा जानेवाला—और ज्ञानरूप शरीरसे सहित है ॥१७॥।

जीव और शरीरका जो यह भेद जन्म और मृत्युके समयमें सभीके अनुभवमें आता है उसे संसाररूप पिण्डाचसे पीड़ित अज्ञानी प्राणी क्यों नहीं जानते हैं ? ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि प्राणी जब गर्भाशयमें आकर जन्म प्रह्लण करता है तब वह उस शरीरको साथमें नहीं लाता है—वह तो माता के द्वारा उपयुक्त आहार आदिके द्वारा वहीपर उत्पन्न होकर शुद्धिको प्राप्त होता है—तथा जब वह मरणको प्राप्त होता है तब भी वह शरीर यहीपर पहा रहता है और जीव उसके भीतरसे जिकलहर गत्यन्तरको चला जाता है । इस प्रकारसे यद्यपि सब ही प्राणी शरीर और जीवके इस भेदको प्रत्यक्षमें देखते हैं, फिर भी जो वे उन दोनोंकी भिन्नतापर विश्वास नहीं करते हैं, यह उनके अज्ञानका परिणाम है ॥१८॥।

जो शरीर मूर्त्ति और अचेतन अनेक प्रकारके स्वतन्त्र परमाणुओंके द्वारा रखा गया है, उसके साथ भला उस चेतन और अमूर्त आत्माका क्या सम्बन्ध है ? कुछ भी नहीं—स्वभाव-भेदके कारण वे दोनों कभी भी एक नहीं हो सकते हैं ॥१९॥।

१. B J शरीरं ज्ञात । २. C om. । ३. S अन्यत्वे कि, F अन्यत् कि कि । ४. All others except P सर्वेणापि प्रतीयते ।

150 ) अन्यत्वमेव देहेन स्यादभुषं यत्र देहिनः ।

तत्रैक्यं बन्धुभिः सार्थं बहिरङ्गैः कुतस्तनय् ॥१००

151 ) ये ये संबन्धमायान्ति पदार्थात्मेतराः ।

ते ते सर्वे ऽपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद्विलक्षणाः ॥१०१

152 ) पुत्रमित्रकल्पाणि वस्तुनि च धनानि च ।

सर्वथान्यस्वभावानि भावय त्वं निरन्तरम् ॥१०२

153 ) अन्यः कश्चिद्वेत्पुत्रः पितान्यः कोऽपि जायते ।

अन्येन केनचित्सार्थं कल्पेणानुरज्यते ॥१०३

150 ) अन्यत्वमेव देहेन—यत्र संसारे देहिनो जीवस्य भूशमित्यर्थः । देहेन अन्यत्वमेव । तत्र बन्धुभिः बहिरङ्गैः बाह्यभूतैः सार्थं कथमैक्यं भवेत् । न कथमपीत्यर्थः ॥१००॥ अथ सर्वेषां पदार्थानां संबन्धमाह ।

151 ) ये ये संबन्ध—ये ये चेतनेतराः पदार्थाः संबन्धमायान्ति ते ते सर्वे ऽपि पदार्थाः सर्वत्र स्वस्वरूपात् स्वचेतन्यात् विलक्षणा भिन्ना इत्यर्थः ॥१०१॥ अथ परिजनस्यान्यस्वभावत्वमाह ।

152 ) पुत्रमित्रकल्पाणि—वस्तुनि संबन्धाः प्रतिकर्षणं नवयत्स्वभावानि भावय प्रतिकर्षणमिति भावः ॥१०२॥ एतदेवाह ।

153 ) अन्यः कश्चित्—प्रथः कश्चित् पुत्रो भवेत् । अन्यः कोऽपि पिता जायते । अन्येन केनचित् कल्पेण सार्थं मनुरज्यते प्रीतो भवति इति तात्पर्यर्थः ॥१०३॥ अथ त्रैलोक्यवतिपदार्थानां भिन्नत्वमाह ।

इस प्रकार प्राणीकी जहाँ शरीरके साथ ही अतिशय भिन्नता है वहाँ भला आहरी बन्धुजनोंके साथ तो उसकी एकता कहाँसे हो सकती है ? नहीं हो सकती ॥१००॥

जो जो चेतन और अचेतन पदार्थ सम्बन्धको ग्राह होते हैं वे वे सब ही सर्वत्र अपने-अपने स्वरूपसे विलक्षण होते हैं—पृथक्-पृथक् स्वभाववाले होते हैं ॥१०१॥

हे भव्य ! पुत्र, मित्र, स्त्री तथा अन्य वस्तुयैः व धन ये सब ही सर्वथा भिन्न स्वभाववाले हैं; ऐसा तू निरन्तर चिचार कर ॥१०२॥

इस संसारमें अन्य कोई पुत्र होता है, अन्य कोई पिता होता है, तथा अन्य किसी स्त्रीके साथ अनुराग होता है । अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न प्राणियोंके मध्यमें जो पिता, पुत्र एवं स्त्री आदिका सम्बन्ध होता है वह नियत नहीं है—जो इस जन्ममें पिता-पुत्र आदि हैं वे जन्मान्तरमें भी उसी प्रकारसे पिता-पुत्र आदिके सम्बन्धको ग्राह हों, यह प्रायः असम्भव ही है ॥१०३॥

१. All others except P कुतो भवेत् । २. S T V C Y R संबन्धमायान्तः । ३. V Y 151

and 152 interchanged । ४. X धनान्यर्थः । ५. All others except P भावय त्वं प्रतिकर्षणः ।

६. L S T V C R °पानुवृश्यते ।

154 ) स्वस्वरूपमतिकम्य पृथक् वृथग्वयवस्थिताः ।

सर्वे ऽपि सर्वथा मूढ भावास्त्वैलोक्यवतिनः ॥१०४

155 ) मिथ्यात्वप्रतिबद्धुर्नयपथआन्तेन बाह्यानलं

भावान् स्वान् प्रतिपद्य जन्मगहने खिञ्च त्वया प्राक् चिरम् ।

संप्रस्थस्तसमस्तविभ्रमभरैश्चिद् परेकं परं

स्वस्थं सर्वं प्रविगाय सिद्धिवनितावक्त्रं समालोक्य ॥१०५

[इति] अन्यत्वम् [९]

154 ) स्वस्वरूपमतिकम्य—हे मूढ मूर्ख, सर्वथा सर्वे ऽपि शैलोक्यवतिनो भावाः पदार्थः पृथक् पृथक् व्यवस्थिताः भिन्नभिन्नस्वरूपेण स्थिताः । \*तत्त्वरूपमतिकम्य इति भावः । एकः पदार्थः अपरस्य स्वरूपमतिकम्य इति त्वार्थः ॥१०४॥ अथ चिद्रूपस्य मुक्तिकारणत्वमाह । शान्तिक्रीडितम् ।

155 ) मिथ्यात्वप्रतिबद्धु—त्वया प्राक् पूर्वं चिरं चिरकाले बाह्यानलं बाह्यानिन प्रति खिञ्च यथा स्यात् तथा । कथंभूतेन । मिथ्यात्वप्रतिबद्धुर्नयपथभ्रमभरैतिमार्गभ्रमेन । कि कृत्वा । भावान् स्वान् प्रतिपद्य अज्ञीकृत्य । वव । जन्मगहने । एकं परं प्रकृष्टं सर्वं स्वस्थं प्रतिगाह्य व्याप्य । संप्रति अथूना सिद्धिवनितावक्त्रं समालोक्य । कथंभूते स्वम् । चिद्रूपं ज्ञानस्वरूपम् । पुनः अस्तसमस्तविभ्रमभरैः\* द्वूरीकृतसर्वभ्रमान्तः सन् ॥१०५॥ इति अन्यत्वभावना ॥ अथाशुचिभावनामाह ।

हे मूढ ! तीनों लोकोंके भीतर जितने भी पदार्थ हैं वे सब ही अपने-अपने स्वरूपको छोड़कर सर्वथा भिन्न-भिन्न स्वरूपसे अवस्थित होते हैं—विभिन्न अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं । अभिप्राय यह है कि संसारके भीतर कोई भी चेतन और अचेतन पदार्थ निरन्तर एक स्वरूपसे नहीं रहते हैं—जो आज घनिष्ठ मित्र है वही भविष्यमें कटूर शत्रु भी हो जाता है तथा जो सचिक्कण गरिष्ठ भोजन स्वस्थ अवस्थामें शरीरका पोषक होता है वही रूपावस्थामें उसका घातक भी बन जाता है ॥१०४॥

हे मूर्ख ! तूने मिथ्यात्वसे सम्बद्ध एकान्त मार्गमें परिष्वेषण करते हुए वायु पदार्थोंको चूंकि अपना माना है इसीलिए तू संसाररूप वनमें चिरकालसे भटकते हुए अतिशय खेदखिन्न हुआ है । इस समय तू उस समस्त विपरीतताके भावको छोड़कर अपनी आत्माके भीतर स्थित जो अद्वितीय चैतन्यस्वरूप है उसको अपना समझकर उसीमें मग्न हो, जिससे कि मुक्तिरूप ललनाके मुखको देख सके—मुक्तिको प्राप्त कर सके । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जीवके जब तक मिथ्यात्वका उदय रहता है तब तक वह वस्तुस्वरूपका निश्चय न होनेसे जो व्याप्ति पदार्थ कभी अपने नहीं हो सकते हैं उन्हें वह अपना मानता है और उन्हीमें अनुरक्त रहता है । उस समय तक उसे यह विवेक नहीं होता कि इस अङ्ग व मूर्तिमान् शरीर-

\*. M N L S F V C R तत्त्वरूप, T X वित्तस्वरूप, B ] तत्त्वरूप । २. N पृथग्वस्थिताः ।  
३. S V C R विभ्रमभव, B ] विभ्रममन । ४. M N स्वस्थस्वर्वं प्रतिगृहा, B ] स्वस्थं संप्रतिगाय ।

१५६ ) निसर्गमलिनै निन्द्यमनेकाशुचिसंभूतम् ।

शुक्रादिवीजसंभूतं धृणास्थदमिदं वपुः ॥१०६

१५७ ) असृग्मांसवसापूर्णं शीर्णक्षीकसपञ्चरम् ।

शिरानदं च दुर्गन्धं क्व शरीरं प्रशस्यते ॥१०७

१५८ ) प्रस्तवन्धवभिद्वारैः पूतिगन्धाश्चिन्तरम् ।

क्षणक्षयिं पराधीनं शशब्दकलेवरम् ॥१०८

१५६ ) निसर्गमलिन—इदं वपुः धृणास्थदं वर्तते । कथंभूतं । निसर्गमलिन स्वभाव-मलीमसम् । निन्द्यं निन्दनीयम् । अनेकाशुचिसंभूतं शुक्रादिवीजसंभूलमित्यर्थः ॥१०६॥ शरीराशु-चित्वमाह ।

१५७ ) असृग्मांसवसापूर्ण—क्व शरीरं प्रशस्यते । कथंभूतं शरीरम् । असृग्मांसवसाकोर्णं रुधिरमांस-वसाव्यासम् । शीर्ण हानि गच्छत् । कीकशपञ्जरम् वस्थिसमूहम् । मिरानदं नसाव्याप्तं । च पुनः । दुर्गन्धमित्यर्थः ॥१०७॥ अथ शरीरस्य क्षणक्षयित्वमाह ।

१५८ ) प्रस्तवन्धवभिः—नरकलेवरं शशब्दन्तरं क्षणक्षयि वर्तते । कथंभूतं वपुः । नवभिः द्वारैः प्रस्तवत् अरत् पूतिगन्धान् निरन्तरं वर्तते ॥१०८॥ अथ शरीरस्याशुचित्वमाह ।

से चेतन—ज्ञाता द्रष्टा—और अमूर्तिक ( वर्णादिसे रहित ) आत्मा भिन्न है । इसीलिए वह चारों गतियोंमें परिघ्रन्त करता हुआ निरन्तर कष्ट सहा करता है । और जब उसका वह मिश्यात्वा नष्ट हो जाता है तब वह बहिरात्मस्वरूपको छोड़कर अन्तरात्मा हो जाता है । उस समय उसके अन्तःकरणमें जो विवेक उद्दित होता है उससे वह शरीर आदिको घर मानकर उसकी ओरसे विरक्त होता हुआ अपने निज स्वरूपमें ही भग्न होता है । उससे उसके नवीन कर्मका बन्ध न होकर पूर्ववद्ध कर्मकी निजरा ही होती है । इस प्रकारसे अन्तमें वह समस्त कर्म-मलसे रहित होकर अविचल अनन्त सुखको पा लेता है ॥१०५॥ अन्यत्र भावना समाप्त हुई ॥

इ. अशुचिभावना—इस भावनाके चिन्तनमें प्राणी विचार करता है कि यह शरीर स्वभावसे भलिन—मक्ष-भूत्रादि धृणित द्रव्योंसे परिपूर्ण, निन्दनीय, अनेक अपवित्र ( रस-रुधिर आदि ) वस्तुओंसे परिपूर्ण तथा रज व वीर्य आदिरूप बीजसे उत्पन्न हुआ है । इसीलिए वह धृणाका स्थान है—वह अनुरागके योग्य नहीं है ॥१०६॥

जो शरीर रुधिर, भास और चर्वीसे व्याप्त है; जीर्ण हानियोंका ढाँचा है, नसोंसे बैंधा हुआ है, तथा निरन्तर दुर्गन्धको फैलाता है, उस शरीरकी प्रशंसा कहाँपर की जा सकती है । वहीं की जा सकती है ॥१०७॥

यह मनुष्यका शरीर नौ द्वारोंसे—१ जननेन्द्रिय २ गुदा ३-४ दो कान ५-६ दो अँखें

१. N T V C R निसर्गमलिन, S गलिन, B भलिनः । २. All others except P वसाकीर्ण शीर्णक्षीकसः । ३. F V C कः शरीरं प्रशंसति, V क्व शरीरं प्रपश्यति । ४. M N F V C पूतिगन्धं, L पूतिगच्छि । ५. S F V C J R क्षणक्षयं ।

159 ) कुमिजालशताकीर्णे रोगप्रचयपीडिते ।

जराजर्जरिते काये कीदृशी महतां रतिः ॥१०९

160 ) यद्यदस्तु शरीरे ऽत्र साधुबुद्ध्या विचार्यते ।

तत्त्ववै धृणां दत्ते दुर्गन्धमेध्यमन्दिरे ॥११०

161 ) [ ^लोहं च वारिणा स्नाति पुनः पुनः शतैरपि ।

भर्तु वार्षोदि वद्धरि एतुत्ताशुचितां भजेत् ॥११०\*१ ]

159 ) कुमिजालशताकीर्णे—महतां काये शरीरे कीदृशी रतिः । कथंभूते । कुमिजालशता-कीर्णे कीटसमूहशताकीर्णे । पुनः कथंभूते काये । रोगप्रचयपीडिते । पुनः कथंभूते । जराजर्जरिते इति सूत्रार्थः ॥१०९॥ एतदेवाह ।

160 ) यद्यदस्तु शरीरे ऽत्र—अत्र शरीरे यद्यस्तु साधुबुद्ध्या विचार्यते तत्त्वं सर्वं वस्तु धृणा-लज्जां दत्ते । कथंभूतं शरीरम् । दुर्गन्धमेध्यमन्दिरम्<sup>१</sup> इति सूत्रार्थः ॥११०॥ [ शरीरस्य मलिनता दर्शयति ।

161 ) लोहं च—यद्यपि प्रतिपङ्कः शतवारभपि जलेन क्षालितः तथापि न स शुध्यति अपि तु तत् वारि जलं मलिनता प्राप्नोति । तथैव स्नानाद्यवसरे शरीरस्य संबन्धेन जलमशुचि भवति, न शरीरं शुध्यति । स्नानेन न शरीरशुद्धिरिति भावार्थः ॥११०\*१॥] अथ शरीरस्य सर्वथाशोध्यत्वमाह ।

७८ दो नासिकाके छिद्र और ९ मुखसे—निरन्तर दुर्गन्धयुक्त मलोंको बहानेवाला, आणमें विनाश स्वभाववाला ( नश्वर ) और प्राचीन है—भोजन व पानी आदिके अधीन है ॥१०८॥

सैकड़ों श्वर कीड़ोंके समूहोंसे व्याप्र, प्रचुर रोगोंसे पीड़ित और जराके द्वारा जीर्ण-शीर्ण किये जानेवाले उस शरीरमें महापुरुषोंको किस प्रकारसे प्रीति हो सकती है ? नहीं हो सकती—नीच व अविदेकी जान ही उसके विषयमें असुराग किया करते हैं, न कि विवेकी जान ॥१०९॥

दुर्गन्ध एवं अपवित्र मल-मूत्रादिके स्थानस्वरूप—पुरीपालयके समान—इस शरीरमें जो-जो वस्तुएँ हैं उनके विषयमें यदि विदेक शुद्धिसे विचार किया जाय तो वे सब ही धृणा-को उत्पन्न करनेवाली हैं ॥११०॥

मिट्ठी जलसे शतवार धोनेपर भी स्वयं निर्मल बननेके बजाय जलको मलिन बनाती है । उसी प्रकार ( स्नानादिके समय ) शरीरके सम्बन्धसे पानी ही अशुचि बनता है, न शरीर निर्मल बन जाता है । तात्पर्य, शरीर स्वयमेव इतना अशुचि है कि उसकी जलादिसे शुद्धि नहीं हो सकती है ॥११०\*१॥

१. धृणां खते । २. B मन्दिरम् । ३. Found only in X ।

१६२ ) यदीदं शोध्यते दैवान्तरीरं सागराम्बुभिः ।  
दूषयत्यपि तान्येवं शोध्यमानमपि क्षणे ॥१११)

१६३ ) कलेवरमिदं न स्याद्यदि चर्मविगुणितम् ।  
मक्षिकाकृमिकाकेभ्यः स्यात्वातुं कस्तदा प्रभुः ॥११२

१६४ ) सर्वदैव रुजाक्रान्तं सर्वदैवाशुचेगृहम् ।  
सर्वदैव पतत्रात्यं देहिनां देहपञ्जरम् ॥११३

१६५ ) तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभिः ।  
विरज्य जन्मनः स्वार्थं यैः शरीरं कदर्थितम् ॥११४

१६२ ) यदीदं शोध्यते—यदीदं शरीरं दैवात् सागराम्बुभिः समुद्रजलैः शोध्यते शुद्धं कियते अपि तदा क्षणे प्रस्तावे शोध्यमानम् अपि तान्येव समुद्रजलानि दूषयति कलुषोकरोति इति सूत्रार्थः ॥१११॥ शरीरस्य कुत्सितस्थमाह ।

१६३ ) कलेवरमिदं—इदं शरीरं चर्मविगुणितं यदि न स्यात् चर्मविनष्टं यदि न स्यात् तदा मक्षिकाकृमिकाकेभ्यः स्यात् त्रातुं कः प्रभुः समर्थः । अपि तु न को अपीति भावः ॥११२॥ एतदस्येव स्वरूपमाह ।

१६४ ) सर्वदैव रुजाक्रान्तं—देहिनां प्राणिनां देहपञ्जरं सर्वदैव सर्वस्मिन् काले रुजाक्रान्तं रोगैव्याप्तिम् । पुनः कर्वैभूतम् । सर्वदैव सर्वकाले अशुचेमलस्य गृहम् । सर्वदा सर्वस्मिन् समये “पतन-प्रायं पातुकमिति श्लोकार्थः ॥११३॥ अथेतच्छरीरात् सारं गृहीतस्य । एतदेवाह ।

१६५ ) तैरेव फलमेतस्य—तैरेव एतस्य जन्मनः फलं गृहीतम् । कैः । पुण्यकर्मभिः पुण्यो-

(यदि इस शरीरको दैववश समुद्रके जलसे भी शुद्ध किया जाय तो वह शुद्ध करते समय ही अण्मरमे उस जलको भी मलिन कर देनेवाला है) अभिप्राय यह है कि इस शरीरको स्नानादिके द्वारा शुद्ध करनेका कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय, किन्तु वह उनसे शुद्ध होनेवाला नहीं है—इसके विपरीत वह अपने संपर्कसे उन जल, चन्द्रनादिके लेपन एवं सुगन्धित पुष्पादिको ही मलिन कर देनेवाला है ॥१११॥

यह शरीर यदि चमड़ेसे आच्छादित न होता तो मक्खी, लट और कौओंसे भला उसकी रक्षा कीन कर सकता था ? अभिप्राय यह है कि वह शरीर भीतर रुधिर, मास, चर्वी एवं भल-मूत्रादि वृणित वस्तुओंसे भरा हुआ है । परन्तु ऊपर चमड़ेसे आच्छादित होनेके कारण वे वृणित वस्तुएँ हाइगोचर नहीं होतीं । यदि वे सब बाध्यमें हाइगोचर होतीं तो फिर उसकी मक्खियों आदिसे रक्षा करना भी सम्भव नहीं था ॥११२॥

सदा ही रोगोंसे विरा रहनेवाला उस शरीरका ढाँचा सदा ही अपवित्र वस्तुओंसे परिपूर्ण होता हुआ निरन्तर विनाशके समुद्र रहता है ॥११३॥

जिन पुण्यशाली प्राणियोंनि संसारसे विरक्त होकर अपने प्रयोजनको सिद्ध करनेके

१६६) शरीरमेतदादाय त्वया दुःखं विषहते ।

जन्मन्यस्मिन्द्रेतस्तद्वि निःशेषानर्थमन्दिरम् ॥११५

१६७) भवोद्भवानि दुःखानि यानि यान्यत्र देहिभिः ।

सहन्ते तानि तान्युच्चैर्विषुरादाय केवलम् ॥११६

१६८) कर्पूरकुञ्जमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि ।

भव्यान्यपि संसगान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ॥११७

पार्जनैः । कि कृत्वा । विरज्य विरक्तोभूय । कैः । यैः पुरुषैः स्वार्थे आत्महिताय शरीरं कदर्थितम् ।  
तपःसंयमादिषु प्रवतितमिति भावः ॥११४॥ अथ तच्छ्रीरस्य दुःखकारणत्वमाह ।

१६६) शरीरमेतदादाय—हे जीव, त्वया अस्मिन् जन्मनि एतच्छ्रीरम् आदाय गृहीत्वा  
दुःखम् आधिव्याधिरूपं विषहते विशेषेण सहते । अतः कारणात् हि निदित्तं तच्छ्रीरं निःशेषा-  
नर्थमन्दिरं सर्वानर्थगृहित्यर्थः ॥११५॥ अथानन्तभवत्तरीरं दुःखकारणमित्याह ।

१६७) भवोद्भवानि दुःखानि—“इह संसारे देहिभिः प्राणिभिः यानि यानि दुःखानि भवो-  
द्भवानि संसारज्ञानानि सहन्ते । उच्चैर्विषाणां लालू केवलं विषुरादाय मृद्दीत्वा तानि तानि सहन्ते  
इति भावः ॥११६॥ अथाशुचित्वमाह । आर्यो ।

१६८) कर्पूरकुञ्जमागुरु—सृणा कलेवरं शरीरं भव्यान्यपि वस्तूनि संसगति संबन्धात् मलि-  
नयति मलं प्रापयति । तानि वस्तूनि कानि । कर्पूरकुञ्जमागुरुमृगमदहरिचन्दनानि । कर्पूरः प्रसिद्धः ।  
कुञ्जम् काशमीरकेशरम् । अमरुः कृष्णाग्रहः मृगमदः । कस्तूरिकाविशेषः । हरिचन्दनं महाचन्दनं  
तानि तथा इति सूत्रार्थः ॥११७॥ अथ भावनापुष्पसंहरति । मालिनी छन्दः ।

लिए—निराकुल मोक्षसुखको प्राप्त करनेके लिए—उस शरीरको संयम और तपके द्वारा कृश  
किया है उन्हींने वास्तवमें इस मनुष्यशरीरके फलको प्राप्त किया है ॥११४॥

हे प्राणी ! तू इस शरीरको ग्रहण करके ही इस संसारमें दुःखको सह रहा है । अवश्व  
उसे ही तू समस्त अनर्थोंका घर समझ ॥११५॥

प्राणी संसारमें परिभ्रमण करते हुए उससे उत्पन्न जिन-जिन दुःखोंको यहाँ सहते हैं  
उन महाम् दुःखोंको वे केवल उस शरीरको ग्रहण करनेके कारण ही सहा करते हैं ॥११६॥

बहु मनुष्योंका शरीर अपनी संगतिसे कपूर, केसर, अगुरु, करतूरी और हरिचन्दन  
आदि उत्तम वस्तुओंको भी मलिन किया करता है । अभिप्राय यह है कि जब वह शरीर  
इतना धृष्टित है कि अपने संयोगसे कपूर आदि उत्तम वस्तुओंको भी मलिन कर देता है तब  
विवेकी जीवोंको उसमें अनुरक्त न होकर उससे सिद्ध करने योग्य अपने प्रयोजनको सिद्ध  
कर लेना चाहिए ॥११७॥

169 ) अजिनपठलगृहं पञ्चरं कीकसानां  
कुथितकुणियेगन्धैः पूरितं मूढं गाढम् ।  
यमवदननिषष्टं रोगभोगीन्द्रगेहं  
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छ्रीरम् ॥११८

[इति] अशुचित्वम् । [६]

170 ) मनस्तसुवचःकर्म योग इत्यभिधीयते ।  
स एवास्त्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदैः ॥११९

171 ) वार्धेरन्तः समादत्ते यानपात्रं यथा जलम् ।  
छिद्रैजीवस्तथा कर्म योगरन्धैः शुभाशुभैः ॥१२०

169 ) अजिनपठल—इह संसारे हे मूढ़, मूर्ख, मनुजानां शरीर कथं प्रीतये स्यात् । कथंभूतं शरीरम् । अजिनपठलमूढम् । चर्मसमूहाच्छारितम् । पुनः कीदूरां शरीरम् । कीकसानामस्यविदोषाणां पक्षजरम् । पुनः कीदूरां शरीरम् । कुथितकुणिपं मांसविशेषः तेन पूरितं भूतम् । पुनः कीदूराम् । यमवदननिषष्टं मृत्युमुखस्यतम् । पुनः कीदूराम् । रोगभोगीन्द्रगेहं रोगमहोराम-गृहभिति सूत्रार्थः ॥११८॥ इति अशुचिभावना समाप्ता ॥ अथास्त्रवमाह ।

170 ) मनस्तसुवचः—सस्वज्ञानविशारदैरिति स एवास्त्रव उक्तः । सः कः । यो मनस्तसुवचः कर्मयोग इत्यभिधीयते इति इलोकार्थः ॥११९॥ अथ तस्यैव विशेषमाह ।

171 ) वार्धेरन्तः समादत्ते—यथेति दृष्टान्तोपत्त्यासे । यानपात्रं छिद्रैः विवरैः जलं वार्धेरन्तः समुद्रमध्ये आदत्ते गृह्णाति तथा जीवः शुभाशुभैः योगरन्धैः कर्म आदत्ते इति सूत्रार्थः ॥१२०॥ अथास्त्रवस्यैव शुभाशुभत्वमाह ।

जो यह मनुज्योंका शरीर चमडेके समूहसे ढका हुआ, हड्डियोंका ढाँचा, सड़े-गले मृत शरीर ( मुर्दा ) के समान दुर्गन्धसे अतिशय परिपूर्ण, यमके मुखमें बैठा हुआ—नाशोन्मुख—और रोगलूप भयानक सर्पोंका स्थान है वह यहाँ मनुज्योंको प्रीतिका कारण कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता—वह सर्वथा ही अनुरागके योग्य नहीं है ॥११८॥ अशुचिभावना समाप्त हुई ॥

७. आस्त्रवभावना—मन, शरीर और वचनकी कियाको योग कहा जाता है । इस योगको ही तस्वज्ञानसे परिपूर्ण आचार्य उमास्त्रामी ( तस्वा. ६-१ ) आदिने आस्त्र कहा है ॥११९॥

जिस प्रकार नाथ या जहाज लेदोंके द्वारा जलको भीतर प्रहृण किया करती हैं उसी प्रकार जीव शुभ और अशुभ योगरूप लेदोंके द्वारा कर्मको प्रहृण किया करता है ॥१२०॥

172 ) यमप्रशमनिर्वेदतस्त्वचिन्तावलम्बितम् ।

मैत्र्यादिभावनारुदं मनः सूते शुभास्त्रवम् ॥१२१

173 ) कषायदहनोदीप्तं विषयैव्यकुलीकृतम् ।

संचिनोति मनः कर्म जन्मसंबन्धसूचकम् ॥१२२

174 ) विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम् ।

शुभास्त्रवाय विजेयं वचः सत्यप्रतिष्ठितम् ॥१२३

175 ) अपवादास्पदीभूतस्त्रन्मागोपिदेशकम् ।

पापास्त्रवाय विजेयमसत्यं परुषं वचः ॥१२४

172 ) यमप्रशमनिर्वेद—मनः शुभास्त्रवं सूतं जग्यति । कथंभूतं मनः । यमप्रशमनिर्वेद-तस्त्वचिन्तावलम्बितम् । श्रुतज्ञानित्वैराग्यतस्त्वचिन्तास्थापितम् । पुनः कीदृशं मनः । मैत्र्यादिभावनारुदमिति सुगमम् । इति श्लोकार्थः ॥१२१॥ अथ अशुभास्त्रवमाह ।

173 ) कषायदहनोदीप्तं—मनः कर्म संचिनोति वज्ञाति । कीदृशं कर्म । जन्मसंबन्धसूचकमिति सुगमम् । कीदृशं मनः । कषायदहनोदीप्तं कषायाम्बित्वलितम् । पुनः कीदृशं मनः । विषयैः इन्द्रियव्यापारैः व्याकुलीकृतमिति श्लोकार्थः ॥१२२॥ पुनर्विषयसुस्त्रवमाह ।

174 ) विश्वव्यापारनिर्मुक्तं—सत्यप्रतिष्ठितं वचः शुभास्त्रवाय विजेयम् । कथंभूतं वचः । विश्वव्यापारनिर्मुक्तमिति सुगमम् । पुनः कीदृशं वचः । श्रुतज्ञानावलम्बितं श्रुतज्ञानस्थापितमिति श्लोकार्थः ॥१२३॥ अथ वाग्विषयपापास्त्रवमाह ।

175 ) अपवादास्पदीभूत—असत्यं वचः पापास्त्रवाय विजेयम् । कथंभूतं वचः । परुषं कठोरम् । असन्मागोपिदेशकमिति सुगमम् । पुनः कीदृशम् । अपवादास्पदीभूतं हीनधर्मप्ररूपकमिति भावः ॥१२४॥ अथ कायविषयकशुभास्त्रवमाह ।

संयम; कषायोंका उपशमन; संसार, शरीर एवं भोगोंसे विरक्ति; और तस्त्वका चिन्तन; इन सबके आश्रित होकर मैत्री व प्रमोद आदि भावनाओंमें संलग्न हुआ मन शुभ आस्त्रवको उत्पन्न करता है—पुण्य कर्मके आगमनका कारण होता है ॥१२१॥

इसके विपरीत कषायरूप अपिनसे सन्तप्त होकर विषयोंके द्वारा व्याकुल किया गया मन संसारके संबन्धसूचक—संसारपरिभ्रमणके कारणभूत—पापकर्मों संचित किया करता है ॥१२२॥

जो वचन सत्यका आश्रय लेकर समस्त व्यापारसे रहित होता हुआ श्रुतज्ञानका आलम्बन ले लेता है—आगमके पठन-याठनमें निरत होता है—उसे पुण्यकर्मके आगमका कारण समझना चाहिए ॥१२३॥

जिन्दाके स्थानभूत (निन्दा), कुमार्गका उपदेश करनेवाले, असत्य और कठोर (सुननेमें कड़ ) वचनको पापकर्मके आगमनका कारण समझना चाहिए ॥१२४॥

१७६ ) सुगुप्तेन स्वकायेन कायोत्सर्गेण वानिशम् ।

संचिनोति शुभं कर्म काययोगेन संयमी ॥१२५

१७७ ) सततारम्भयोगैश्च व्यापारैजन्तुधातकैः ।

शरीरं पापकर्माणि संयोजयति देहिनाम् ॥१२६

१७६ ) सुगुप्तेन स्वकायेन—संयमी संयमवान् काययोगेन शुभं कर्म संचिनोति अनिवार्यं निरन्तरम् । केन । स्वकायेन शरीरेण गुप्तेन । पुमः कथंभूतेन । वा अथवा । कायोत्सर्गेण काये उत्सर्गे भोहत्याग इति सूत्रार्थः ॥१२५॥ अथ त्रयाणां योगानामास्त्रवत्वमाह ।

१७७ ) सततारम्भयोगैश्च—देहिनां शरीरिणां शरीरं पापकर्माणि संयोजयति । कैः । व्यापारैः । च पुनः । सततारम्भयोगैः निरन्तरारम्भसंबन्धैः । च पुनः । कथंभूतैः । जन्तुधातकैः ॥१२६॥ अथ दुरितानां हेतुमाह । शिखरिणी ।

संयमीं जीवि भलीभौति संरक्षित—दुष्ट प्रवर्तनसे दोके गये—अपने शरीरके हारा अथवा ध्यानमें स्थिर किये गये काययोगके द्वारा निरन्तर पुण्य कर्मको संचित किया करता है ॥१२५॥

प्राणियोंका शरीर निरन्तर आरम्भसे सम्बद्ध और प्राणियोंका संहार करनेवाले व्यापारोंके द्वारा—अपनी दुष्ट प्रवृत्तियोंसे—पापकर्मोंका संयोग करता है ॥ विशेषार्थ—मन, वचन और शरीरकी प्रवृत्तियोंसे जो आत्म-प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है उसे योग कहते हैं । जूँकि यह योग कर्मके आगमनका कारण होता है अत पव उसे ही आग्राव कहा जाता है । वह योग मन, वचन और कायके भेदसे तीन प्रकारका है । इनमें प्रत्येक भी शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है । संसार, शरीर और भोगोंकी ओरसे विरक्त होकर तत्त्वका विचार करना तथा प्राणीमात्रमें मित्रताजभिलाषा रखना, सम्यग्दर्ढनादि गुणोंको धारण करनेवाले गुणवान् जीवोंको देखकर हृदयमें विशेष अनुराग होना, दुःखी जीवोंको देखकर मनमें करुणाभावका उद्दित होना और अपने विषरीत आचरण करनेवाले प्राणियोंके दुर्व्यवहारसे क्षुद्रघ न होकर उनके प्रसि मध्यस्थभाव रखना; इस प्रकार इन भावनाओंका सदा चिन्तन करना, यह शुभ मनोयोग कहलाता है । इसके विषरीत काययोंके वजीभूत होकर निरन्तर विषयोंकि लिये ध्याकुल रहना एवं दूसरोंके अहितका चिन्तन करना, इसका नाम अशुभ मनोयोग है । सदा सत्यसंभाषण करना, अन्य प्राणियोंको हितकारक उपदेश करना और परमागमका पठन-पाठन करना; हस्ताद्वि शुभ वचनयोग कहलाता है । इसके विषरीत दूसरोंकी जिन्दा करना, पापमें प्रवृत्त करनेवाले मिथ्या उपदेशको करना, तथा अन्य प्राणियोंको कष्ट पहुँचानेवाले वचनोंका वडचारण करना; इसका नाम अशुभ वचनयोग है । शरीरकी दुष्ट प्रवृत्तियोंको रोककर उसे जिनपूजन, शास्त्रलेखन एवं ध्यान आदिमें जो प्रवृत्त किया जाता है उसे शुभ काययोग तथा इसके विषरीत जो उसे प्राणियोंकी हिंसा एवं निरन्तर बहुत आरम्भ आदिमें प्रवृत्त किया जाता है उसे अशुभ काययोग समझना चाहिए । इनमेंसे शुभ मन, वचन और काययोगके द्वारा सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोंका तथा अशुभ मन,

178 ) कथायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्च विषयाः  
प्रमादाः मिथ्यात्वं वचनभनसी काय इति च ।  
दुरन्ते दुष्यनि विरतिविरहश्चेति नियतं  
सवन्त्येते पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदम् ॥१२७

[इति] आस्वः । [७]

179 ) सर्वास्त्रवनिरोधो यः संवरः स प्रकीर्तिः ।  
द्रव्याश्रवविभेदेन स द्विधा भिन्नते पुनः ॥१२८

180 ) यः कर्मपुद्गलादानविच्छेदः स्पातपस्त्रिनः ।  
स द्रव्यसंवरः प्रोक्तो ध्याननिर्धूतकलमणैः ॥१२९

178 ) कथायाः क्रोधाद्याः—एते पुंसां पुरुषाणां दुरितपटलम् इति अमुना प्रकारेण श्रयन्ते\* । नियतं निदिवतम् । एते के । कथायाः क्रोधाद्याः पञ्च विषयाः । स्मरसहचराः कन्दपं-सहायाः पञ्चदशा प्रमादाः । मिथ्यात्वं वचनभनसी काय इति च । च पुनः । दुरन्तैः दुष्यनिैः विरतिः विरहश्चेति । कथंभूतं दुरितपटलम् । जन्मभयदमिति सुगमम् ॥१२७॥ इत्यास्वः ॥ अथ संवरमाह ।

179 ) सर्वास्त्रवनिरोधो यः—संवरः प्रकीर्तिः सर्वास्त्रवनिरोधो यो वर्तते । संवरः द्रव्यभावविभेदेन द्विधा भिन्नते । पुनः पादपूरणे । इति श्लोकार्थः ॥१२८॥ अथ द्रव्यसंवरमाह ।

180 ) यः कर्मपुद्गलादान—स द्रव्यसंवरः प्रोक्तः । कैः । ध्याननिर्धूतकलमणैः ध्यानदर्श-

वचन एवं काययोगके द्वारा असातावेदनीय आदि पापप्रकृतियोंका आगमन होता है । इस प्रकारके आस्वके विषयमें जो बारन्वार विचार किया जाता है इसका नाम आस्त्रवभावना है । वह आस्व यामान्यतः दो प्रकारका है—द्रव्याश्रव और भावाश्रव । उपर्युक्त शुभ-अशुभ योगोंके द्वारा जो पौद्गलिक ह्लानावरणादि द्रव्यकर्मोंका आगम होता है, उसे द्रव्याश्रव कहा जाता है । तथा जोवके जिन परिणामोंके द्वारा उक्त पौद्गलिक कर्मोंका आगमन हुआ करता है उसका नाम भावाश्रव है । आगे इसी भावाश्रवका विवेचन किया जाता है ॥१२९॥

क्रोधादिक कथायें, कामके मित्रस्वरूप पाँचों इन्द्रियोंके पाँच विषय, पञ्चद्रह प्रमाद, मिथ्यात्व; मन, वचन व कायरूप तीन योग; दुर्लिंगार दो दुष्यनिैं ( आर्त व रीढ़ ) और व्रतका अभाव ( अविरति ); इनके द्वारा प्राणियोंके नियमसे संसारमें भयको उत्पन्न करनेवाले कर्मसमूहका आगमन हुआ करता है ॥१२७॥ आस्ववभावना समाप्त हुई ॥

८. संवरभावना—उपर्युक्त आस्वदोंका जो निरोध हो जाता है उसे संवर कहा गया है । वह द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है ॥१२८॥

उपस्त्री मुलिके जो नचीन कर्म-पुद्गलोंके प्रहणका अभाव हो जाता है, इसे ध्यानके १. ] ध्यन्त्येते ।

१८१ ) या संसारनिमित्तस्य क्रियाया विरतिः स्फुटम् ।

स भावसंबरस्तज्जीविज्ञेयः परमागमात् ॥१३०

१८२ ) असंयममयैर्बणैः संवृतात्मो न भिद्यते ।

यमी यथा सुसंनद्दो वीरः समरसंकटे ॥१३१

१८३ ) जायते यस्यः यः साध्यः स तेनैव निरुद्यते ।

अप्रमत्तैः समुद्युक्तैः संवरार्थं महाषिभिः ॥१३२

१८४ ) क्षमा क्रोधस्य भानस्य मार्दवं लाज्जवं पुनः ।

मायायाः संगसंन्यासो लोभस्यैते द्विषः क्रमात् ॥१३३

पाणैः । स कः । तपस्विनः तपोयुक्तस्य यः कर्मपुदगलादानविच्छेदः स्यात् कर्मपुदगलग्रहणनाशः स्यात् ॥१३४॥ अथ भावसंबरमाह ।

१८१ ) या संसारनिमित्तस्य—तज्जीभावसंबरणः स भावसंबरो विज्ञयः । कर्मपुदगलग्रहणनाशः स्यात् । संसारनिमित्तस्य क्रियायाः कर्मणः स्फुटं प्रगटं या विरतिः इति सूत्रार्थः ॥१३०॥ एतदेवाह ।

१८२ ) असंयममयैः—यमी व्रती यथा प्रतीकारेण सुसंनद्दः अशुभयोगत्रययुक्तः असंयममयैः वाणैः न भिद्यते न भेदे प्राप्नोति । कथंभूतो यमी । संवृतात्मा । यथा वीरः सुभटः सुसंनद्दः कवच-परिवृतः समरसंकटे संग्राममध्ये वाणैः न भिद्यते इति सूत्रार्थः ॥१३१॥ अथ संवरमाह ।

१८३ ) जायते यस्य—यस्य पुरुषस्य यः साध्यो जायते स तेनैव निरुद्यते महाषिभिः । किमर्थम् । संवरार्थम् । कथंभूतैर्महाषिभिः । अप्रमत्तैः प्रमादरहितैः । पुनः कीदृशैः । समुद्युक्तैः सावधानैः इत्यर्थः ॥१३२॥ अथ लोभस्य वैरानाह ।

१८४ ) क्षमा क्रोधस्य भानस्य—लोभस्य एते द्विषः वैरिणः क्रमात् जायन्ते । एते के । क्षमा द्वारा उस कर्म-कालिमाको धो डालनेवाले गणधरादिकोंने द्रव्यसंबर बतलाया है ॥१३३॥

जिस मिथ्यात्वादिरूप क्रियाके द्वारा संसारके कारणभूत कर्मका ग्रहण होता है उस क्रियासे विरत होनेका नाम भावसंबर है, यह उस संबरके जानकारीको परमागमसे जानना चाहिए ॥१३३॥

जिस प्रकार अपनेको कवचसे वेप्तित करके अस्त्र-शस्त्रादिसे सुसज्जित वीर योद्धा युद्धमें वाणोंके द्वारा नहीं भेदा जाता है—घायल नहीं किया जाता है—उसी प्रकार संबरसे युक्त होकर शुभि एवं समिति आदिसे सुसज्जित संयमी पुरुष इस संसारमें असंयमरूप वाणोंसे नहीं भेदा जाता है—वह असंयमके निमित्तसे आनेवाले कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है ॥१३४॥

जो जिसका साध्य है वह प्रमादसे रहित होकर संबरके लिए उद्यम करनेवाले महामुनियोंके द्वारा उससे रोका जाता है ॥१३५॥

क्षमा, मार्दव, आर्जव और संगसंन्यास-ममत्वका परित्याग; ये क्रमसे क्रोध, भान,

185) रागद्वेषी समत्वेन निर्ममत्वेन वानिशम् ।

मिथ्यात्वं दृष्टियोगेन निराकुर्बन्ति योगिनः ॥१३४

186) अविद्याप्रसरोद्भूतं तमस्तत्त्वावरोधकम् ।

ज्ञानदूषिणुलिपीदं ईरेत्वैस्त्वात्तद्यथेतः ॥१३५

187) असंयमगरोदगारं सत्संयमसुधाम्बुभिः ।

निराकरोति निःशङ्कः<sup>३</sup> संयमी संवरोद्यतः ॥१३६

188) द्वारपालीव यस्योच्चैविचारचतुरा मतिः ।

हृदि स्फुरति तस्याघस्तिः स्वच्छे ऽपि दुर्घटा ॥१३७

शक्ती सत्यां सहनं क्रोधस्य । तु पुनः । मानस्य मार्दवम् । पुनः मायाया आर्जवम् । लोभस्य संग-  
न्यासः संत्यागः । इति सूत्रार्थः ॥१३३॥ अथ योगिनां मिथ्यात्वाभावमाह ।

185) रागद्वेषी समत्वेन—योगिनो मिथ्यात्वं निराकुर्बन्ति दूरीकुर्बन्ति । रागद्वेषी समत्वेन  
समत्या निराकुर्बन्ति । वा अथवा । अनिशं निरन्तरं निर्ममत्वेन प्रमत्वरहितेन योगिनः इति सर्वत्र  
योज्यम् ॥१३४॥ अथ योगिनां तमोनिराकरणमाह ।

186) अविद्या—आत्मदर्शिनः तमः अज्ञानं स्फोटयन्ति । कैः । वाढः ज्ञानसूयशुभिः ।  
कथंभूतं तमः । अविद्याप्रसरोदभूतम् अज्ञानसमूहोत्थम् । पुनः कथंभूतम् । तत्त्वावरोधकं तत्त्वप्रति-  
रोधकमिति भावः ॥१३५॥ अथ संवरलक्षणमाह ।

187) असंयमगरोदगारं—संयमी असंयमगरोदगारं असंयमविषोदगारं निराकरोति । कैः ।  
\*सत्संयमशुद्धाम्बुभिः सत्संयमनिर्मलजलैः । कथंभूतः । निःशङ्कः<sup>३</sup> । पुनः कीदृशः । संवरोद्यतः इति  
सूत्रार्थः ॥१३६॥ अथ विचारचतुरा जन्माभावमाह ।

188) द्वारपालीव—यस्य उच्चैर्थां स्यात् हृदि स्फुरति मतिः । कथंभूता मतिः ।

भावा और लोभके शब्द हैं—उनके रोधक हैं ॥१३३॥

योगी जन निरन्तर राग और द्वेषको समावाव व निर्ममत्व ( भमताका परित्याग )  
से तथा मिथ्यात्वको सम्यग्दर्शनके योगसे नष्ट किया करते हैं ॥१३४॥

आत्मस्वरूपका अवलोकन करनेवाले योगी अज्ञानताके विस्तारसे उत्पन्न होकर वस्तु-  
स्वरूपको आच्छादित करनेवाले अन्धकारको—मिथ्याक्षात्को—सम्यग्ज्ञानरूप सूर्यकी  
किरणोंके द्वारा अतिशय नष्ट किया करते हैं ॥१३५॥

संवरमें उथत साधु असंयमरूप विषके विस्तारका समीक्षीय संयमरूप अभूतजलके  
द्वारा निर्भयतापूर्वक निराकरण करते हैं ॥१३६॥

हिताहितके विचारमें अतिशय दक्ष बुद्धि जिसके अन्तःकरणके भीतर द्वार-रक्षिकाके  
समान प्रकाशमान है उसके पापकी उत्पत्ति स्वरूपमें भी सम्भव नहीं है । अभिप्राय यह है

१. B N स्फोटयस्त्वात्मः । २. J शुद्धाम्बुधिः । T सुधाम्बुधिः । ३. M N T J निःशङ्कः ।

१८९ ) विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः ।  
यदाथत्ते तदेव स्यान्मुनेः परमसंवरः ॥१३८॥

( १९० ) सकलसमितिमूलः संयमोदामकाण्डः  
प्रशमविपुलशाखो धर्मपुष्पावकीर्णः ।  
अविकलफलबन्धैर्बन्धुरो भावनाभि-  
र्जयति जितविष्णः संवरोदारवृक्षः ॥१३९ ॥

[ इति ] संवरः । [ ५ ]

विचारचतुरा । का इव । द्वारपालीब द्वारपालिकेव । अथेति पक्षान्तरे । तत्य सूतिः जन्म स्वप्ने ऽपि  
दुर्घटा ॥१३७॥ अथ संवरलक्षणमाह ।

१८९ ) विहाय कल्पना—यदा स्वरूपे निश्चलं मनः वत्ते । कि कृत्वा । कल्पनाजालं  
विहाय । मुनेः ज्ञानिनः । तदेव\* परमसंवरः ॥१३८॥ अथ संवरस्य वृक्षदृष्टान्तेन द्रढयति ।  
भालिनी छत्वः ।

१९० ) सकलसमितिमूलः—संवरोदामवृक्षो\* जयति । जितविष्णः नश्चान्तरायाः । पुनः कर्थ-  
भूतः । सकलसमितिमूलः । सुगमम् । पुनः कर्थभूतः । संयमोदामकाण्डः संयमोल्कटस्कन्धः । सुगमम् ।  
पुनः कीदूशः । प्रशमविपुलशाखः । सुगमम् । पुनः कीदूशः । धर्मपुष्पावकीर्णः यतिगृहिधर्मप्रसून-  
व्याप्तः । पुनः कीदूशः । अविकलफलबन्धैर्बन्धुरः संपूर्णफलबन्धैर्मनोहरः । काभिर्जयति । भावनाभिः ।  
इति सूत्रार्थः ॥१३९॥ अथ निर्जरामाह ।

कि जिस प्रकार द्वारपर स्थित पहरेदार किसी ऐसे-वैसे जनको भवनके भीतर नहीं प्रविष्ट  
होने देता है उसी प्रकार साधुकी विवेक बुद्धि नवीन कर्मको प्रविष्ट नहीं होने देती है—उसके  
आख्यको रोकती है ॥ विशेषार्थ—आख्यके निरोधका नाम संवर है । जैसा कि पीछे इलोक  
१२८ में निर्दिष्ट किया गया है; कोशादि कषाय, इन्द्रियविषय ( राग-द्वेष ) और मिथ्यात्व  
आदिके द्वारा चौंकि कर्मोंका आघमन होता है अतएव ये सब आख्यक माने जाते हैं । साधु-  
जन उक्त क्रोशादि कषायों, राग-द्वेष और मिथ्यात्व आदिको उनके विपक्षभूत शुमा, मार्दव,  
आज्ञाव, परिग्रह-परित्याग, निर्ममता और सम्यग्दर्ढन आदिके द्वारा नष्ट करके उनके निमिस-  
से आनेवाले नवीन कर्मोंको रोक देते हैं । इसीलिए वे संवरके स्वामी हो जाते हैं ॥१३८॥

जिस समय मुनिका भन समस्त कल्पनाओंकि समूहको छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थिर  
हो जाता है उसी समय मुनिके उल्कुष संवर होता है ॥१३८॥

समस्त समितियोरुप जड़ोंसे स्थिर, संयमरूप प्रचण्ड स्कन्धसे सहित, कषायोंकी  
शान्तिरूप बहुत-सी शाखाओंसे सुशोभित, उत्तम क्षमादि वर्मोरुप पुष्पोंसे व्याप्त और परि-  
पूर्ण फलोंके सम्बन्धके समान अनित्यादि भावनाओंसे भनोहर ऐसा यह संवररूप विशाल  
वृक्ष कर्म-शत्रुपर विजय प्राप्त करता हुआ जयवंत रहे ॥१३९॥ संवरभावना समाप्त हुई ॥

१. M तदेव स्थात् । २. All others except P F C संवरोदामवृक्षः ।

- 191) यया कर्मणि शीर्यन्ते बीजभूतरनि जन्मनः ।  
प्रणीता यमिभिः<sup>१</sup> सेयं निर्जरा जीर्णवन्धनैः ॥१४०॥
- 192) सकामाकामभेदेन विकल्पद्रव्यमश्चलुते ।  
निर्जरा कर्मजानेकनिगडच्छेदकारणम् ॥१४१॥
- 193) पाकः स्वयमुपायाच्च स्यात्फलानां तरोर्यथा ।  
तथात्र कर्मणां ज्ञेयः स्वयं सोपायलक्षणः ॥१४२॥

191) यया कर्मणि—यमिभिः साधुभिः सेयं निर्जरा प्रणीता । कर्थभूतैर्यमिभिः । जीर्णवन्धनैः । सा का । यया निर्जरया जन्मनो बीजभूतरनि कर्मणि शीर्यन्ते नाश्यन्ते इति सूत्रार्थः ॥१४०॥ अथ निर्जराद्वैष्विद्यमाह ।

192) सकामाकामभेदेन—शरीरिणां सा निर्जरा द्विधा<sup>२</sup> स्यात् । केत । सकामाकामभेदेन । एका सकामा संसारे परिभ्रमतः मुख्यदेशादिना । एकाकामा धर्म विना संसारे भ्रमतः । यमिना व्रतिनां पूर्वा निर्जरा सकामा । ततः तस्मात् सर्वदेहिनामन्या अकामा ॥१४१॥ कर्मणां विषाकमाह ।

193) पाकः स्वयमुपायाच्च—उपायसहितः । इति सूत्रार्थः ॥१४२॥ अथ जीवशुद्धिमाह ।

२. निर्जराभावना—जिसके द्वारा संसारके बीजभूत कर्म नष्ट किये जाते हैं, उसे कर्मवन्धसे रहित हुए मुनियोंने निर्जरा कहा है ॥१४०॥

वह निर्जरा सकाम और अकामके भेदसे दो भेदोंमें विभक्त है। उनमें कर्मजा निर्जरा अनेक बल्धनों के नाशका कारण है ॥ विशेषार्थ—पूर्वद्वृ कर्मोंके करमणः आत्मासे पृथक् होनेका नाम निर्जरा है । वह दो प्रकार की है—सकामनिर्जरा और अकामनिर्जरा । इनमें जो कर्म अभी उदयको प्राप्त नहीं है उसको तपके प्रभावसे उदयावलीमें प्रविष्ट कराके इच्छापूर्वक उनके फलको भोगना, वह सकामनिर्जरा कही जाती है । वह तपस्थित्योंके हुआ करती है । स्थितिके पूर्ण होनेपर कर्म जो अपना फल देकर निर्जीर्ण होते हैं, इसका नाम अकामनिर्जरा है । वह सब ही प्राप्तियोंके हुआ करती है । इसमें चूँकि अनिच्छापूर्वक कर्मका फल भोगा जाता है इसीलिए इसे अकामनिर्जरा कहा गया है । उनमें सकामनिर्जराको अविषाक्षनिर्जरा व कर्मजानिर्जरा तथा अकामनिर्जराको सविषाक्षनिर्जरा व अकर्मजा निर्जरा भी कहा जाता है ॥१४१॥

जिस प्रकार वहाँ चूशके फलोंका परिपाक स्वयं भी होता है और उपायसे—कर्म तोड़कर उन्हें पालमें देलेसे—भी होता है उसी प्रकार कर्मोंका परिपाक भी स्वयं और उपायस्वरूप—तपकी शक्तिसे होनेवाला—भी समझना चाहिए ॥१४२॥

१. M. N यतिभिः सेयं । २. All others except P भेदेन द्विधा सा स्याच्छरीरिणाम् । निर्जरा यमिना पूर्वा ततो उत्था सर्वदेहिनाम् ॥

- 194 ) विशुध्यति हुताशेन सदोषमपि काङ्क्षनम् ।  
यद्वस्तथैव जीवोऽयं तप्यमानस्तपोऽग्निना ॥१४३
- 195 ) चमत्कारकरं धीरेवाद्यमाध्यात्मिकं तपः । इति अन्तर्गतं  
तप्यते जन्मसंतानशङ्कितैरायैसूरिभिः ॥१४४
- 196 ) तत्र बाह्यं तपः प्रोक्षमुपवासादिवडिवधम् ।  
प्रायश्चित्तादिभिर्भेदैराध्यात्मं च [ १५ ] तदिष्वधम् ॥१४५
- 197 ) [ 'उपवासादिभिर्भेदैः कायकलेशाङ्गपूजितम् ।  
प्रायश्चित्तादिभिर्भेदैराध्यात्मं ध्यानलक्षणम् ॥१४५\*१ ]

194 ) विशुध्यति हुताशेन—यथा सदोषमपि काङ्क्षनं स्वर्णमपि हुताशेनाग्निना विशु-  
ध्यति तथैवायं जीवः सपोऽग्निना तप्यमानो विशुध्यति विशुद्धो भवति इति सूचार्थः ॥१४३॥  
अथ तपःस्वरूपमाह ।

195 ) चमत्कारकरं धीरैः—आयंसूरिभिः आध्यात्मिकं बाह्यं तपः तप्यते । चमत्कारकरम्  
आश्चर्यकारकम् । कथंभूतैरायैसूरिभिः । धीरैः । पुनः कथंभूतैः । जन्मसंतानशङ्कितैः भवपरम्परा-  
शङ्कितैरित्यर्थः ॥१४४॥ अथ बाह्यतयोविवेषमाह ।

196 ) तत्र बाह्यं तपः—तत्र तपोऽधिकारे उपवासादि षडिवधं षट्प्रकारं बाह्यं तपः  
प्रोक्षम् । च पुनः । षडिवधं षट्प्रकारं प्रायश्चित्तादिभिः भेदैः [ अन्तर् ] अङ्गं प्रोक्षम् ॥१४५॥  
[ तत्र द्विविधं तपो दर्शयेति ।

197 ) उपवासादिभिर्भेदैः—बाह्यं तपः उपवासादिकायकलेशान्तं षड्भेदं उत्तमं च मतम् ।  
तथैव प्रायश्चित्तादिभेदैः अभ्यन्तरं षडिवधं तपः प्रोक्षम् । तत्र ध्यानं चरमं परमं च मतम्  
॥१४५\*१॥ ] अथ तपसः कर्मक्षणत्वमाह ।

जिस प्रकार अग्निके संयोगसे दोषयुक्त—कीट व कालिमासे सहित—भी सुखर्ण शुद्ध  
( निर्विष ) हो जाता है उसी प्रकार वह संसारी जीव भी तपरूप अग्निसे सन्तप्त होकर शुद्ध  
हो जाता है—कर्म-मलसे रहित होता हुआ मुक्त हो जाता है ॥१४३॥

श्रेष्ठ सुनिजन संसारकी परम्परासे भयभीत होकर साहसपूर्वक आश्र्यजनक बाह्य एवं  
अभ्यन्तर तपको तथा करते हैं ॥१४४॥

उनमें उपवास ( अनशन ) आदिके भेदसे बाह्य तप छह प्रकारका तथा प्रायश्चित्त  
आदिके भेदसे अभ्यन्तर तप भी छह प्रकारका कहा गया है ॥१४५॥

तप दो प्रकारका है । शाह्वा और आन्तरिक । उपवास, अबमीदार्य, वृत्तिपरिसंख्यान,  
रसपरित्याग, विषिक्तशश्यासन और कायकलेश इस तरह छह प्रकारका उत्तम शाह्वा तप है  
और प्रायश्चित्त, विनय, वैयाष्ट्रत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इस तरह छह प्रकारका  
आन्तरिक तप है ॥१४५\*१॥

१. N जन्मसंताप । २. All others except P भेदैरन्तरहीन च षडिवधम् । ३. Found only in F ।

198 ) निर्वेदपदवीं प्राप्य तपस्यति थथा यथा ।

यमी क्षपते कर्मणि दुर्जयानि तथा तथा ॥१४६॥

199 ) ध्यानानलसमालीढ़प्रयादिसुद्धयम् ।

सथः प्रक्षीयते कर्म शुच्यत्यज्ञी सुवर्णवत् ॥१४७॥

200 ) तपस्तावद्वार्यं चरति सुकृती पुण्यचरित-

स्ततव्वात्माधीनं नियतविषयं ध्यानपरमम् ।

क्षपत्यन्तर्लीनं चिरतर्चितं कर्मपटलं

ततो ज्ञानाम्भोधि विशति परमानन्दनिलयम् ॥१४८॥

[ हति ] निर्जरा । [९]

198 ) निर्वेदपदवीं प्राप्य—यमी द्रष्टी यथा तपस्यति । कि कृत्वा । निर्वेदपदवीं वैराग्यपदवीं प्राप्य । तथा तथा कर्मणि क्षिपति\* । कर्थभूतानि कर्मणि । दुर्जयानि इति सूत्रार्थः ॥१४६॥ अथ जीवः कर्मक्षयात् शुद्ध्यति ।

199 ) ध्यानानलसमालोढ़—अज्ञी प्राणो शुद्ध्यति स्वर्णवत् । यदा सथः शीघ्रं कर्म प्रक्षीयते । कर्थभूतम् । ध्यानानलसमालीढ़ ध्यानादिभवम् अनादिभवम् अनादिकालजातपिति भावः ॥१४७॥ अथ निर्जरा मुपसंहरति । शिखरिणी ।

200 ) तपस्तावद्वाहाणं—सुकृती तावद्वाहाणं तपश्चरति । कर्थभूतः । पुण्यचरितः । तत्त्वात्माधीनं कर्मपटलं क्षिपति\* कोदृशं ध्यानपरमम् । नियतविषयं नियता विषया यस्मिन् तत्तथा । कर्थभूतं कर्मपटलम् । अन्तर्लीनं मध्येव्याप्तम् । तत्स्तदनन्तरं ध्यानपरमं ज्ञानाम्भोनिधि विशति । कर्थभूतं ज्ञानाम्भोनिधिम् । परमानन्दनिलयं प्रकृष्टानन्दगृहमित्यर्थः ॥१४८॥ इति निर्जरा समाप्ता । अथ वर्मस्वरूपं निष्पत्यति ।

संयमका धारक साधु वैराग्यके मार्गको प्राप्त होकर जैसे-जैसे तपश्चरण करता है वैसे-वैसे उसके दुःखसे जीतने योग्य कठोर कर्म श्रीण होते जाते हैं ॥१४६॥

अनादि कालसे संचित कर्म ध्यानरूप अग्निके संयोगसे शीघ्र ही श्रीण हो जाता है । इससे ग्राणी सुवर्णके समान निर्भल हो जाता है ॥१४७॥

पुण्यशाली सदाचारी विद्वान् प्रथमतः शाश्वतपका अनुष्ठान करता है और तत्पश्चात् अभ्यन्तर तपका अनुष्ठान करता हुआ आत्माधीन—वाश्व वस्तुओं की अपेक्षासे रहित—एवं नियमित विषयवाले उत्कृष्ट ध्यानका आचरण करता है । इस प्रकारसे बहुत कालसे संचित होकर आत्माके भीतर स्थित कर्मसमूहको नष्ट कर देता है और तब उत्कृष्ट आनन्दके स्थानभूत ज्ञानरूप समुद्रके भीतर प्रविष्ट होता है—अनन्तज्ञानादिस्वरूप मुक्तिको प्राप्त कर देता है ॥१४८॥ निर्जराभावना समाप्त हुई ॥

१. F X क्षिपति । २. F V C X दुर्जयाणि । ३. B उतः स्वासमाधीनं । ४. M N Y ध्यानपरं ।  
५. L F B J X क्षिपत्यन्तः । ६. M N चिरपरिणतं कर्म ।

- 201 ) पवित्रीक्रियते येन येनैव ग्रियते जगत् ।  
नमस्तरमै दयाद्रथि धर्मकल्पाङ्गपाय वै ॥१४९॥
- 202 ) दशलस्मयुतः सो ऽयं जिनैर्धर्मः प्रकीर्तिः ।  
यस्यांशमपि संसेव्य विन्दन्ते यमिनः शिवम् ॥१५०॥
- 203 ) न सम्यग्गदितुं शक्यं यत्स्वरूपं कुदृष्टिभिः ।  
हिंसाक्षपोषकैः शास्त्रैरतस्तैस्तैश्चित्प्रयत्नाः ॥१५१॥
- 204 ) चिन्तामणिनिधिदिव्यः स्वधेनुः कल्पयादपाऽ ।  
धर्मस्यैते श्रिया सार्थं मन्ये भूत्याश्चिरंतनाः ॥१५२॥

201 ) पवित्रीक्रियते येन—तस्मै धर्मकल्पाङ्गपाय धर्मकल्पवृक्षाय नमः । कर्थभूताय धर्मकल्पवृक्षाय । दयाद्रथि । येन पवित्रीक्रियते येन एवं जगत् ग्रियते इति सूत्रार्थः ॥१४९॥ धर्मस्य स्वरूपमाह ।

202 ) दशलस्मयुतः—सो ऽयं धर्मो दशलस्मयुतः क्षान्त्यादिदशप्रकारयुक्तो जिनैः प्रकीर्तिः । यस्य धर्मस्य अंशमपि संसेव्य सेवित्वा यमिनः शिवं विदन्ति\* इति सूत्रार्थः ॥१५०॥ अथ कुदृष्टीनां धर्मभावं दर्शयति ।

203 ) न सम्यग्गदितं—कुदृष्टिभिः गिर्धात्विभिः यत्स्वरूपं धर्मस्वरूपं सम्यग्गदितुं कथयितुं न शक्यम् । अतस्तैः कुदृष्टिभिः लद्धधर्मस्वरूपं निगद्यते कथयते । कैः । शास्त्रैः । कर्थभूतैः । हिंसाक्षपोषकैः । इति सूत्रार्थः ॥१५१॥ अथ धर्मस्याधिक्यमाह ।

204 ) चिन्तामणिनिधिः—अहम् एवं मन्ये । धर्मस्यैते चिरन्तनाः भूत्याः वर्तन्ते श्रिया सार्थम् । एते के । चिन्तामणिः रत्नम् । निधिः निधानम् । दिव्यः प्रधानः । स्वधेनुः कल्पयादपाः कल्पवृक्षाः इति सूत्रार्थः ॥१५२॥ अथ धर्मस्य फलमाह ।

१०. धर्मभावना—जो विश्वको पवित्र करता है व उसे धारण करता है उस द्वासे आद्रे (सिचित) धर्मरूप कल्पवृक्षके लिए नमस्कार हो ॥१४९॥

जिस धर्मके अंशभावका भी आराधन करके संयमी जन मोक्षको (अथवा आत्मकल्पयणको) जानते हैं उस धर्मको जिस भगवान् ने उत्तम आमादिव्य द्वस लक्षणोंसे संयुक्त बतलाया है ॥१५०॥

उस धर्मके स्वरूपको चूँकि मिश्याहष्टि जन उन हिंसा एवं इन्द्रियोंके पोषक शास्त्रोंके द्वारा नहीं कह सकते हैं, इसीलिये यहाँ उसका स्वरूप कहा जाता है ॥१५१॥

चिन्तामणि, दिव्य निधि, कामधेनु और कल्पवृक्ष ये सब लक्ष्मीके साथ उस धर्मके चिरकालीन सेवक (इास) हैं; ऐसा मैं समझता हूँ ॥१५२॥

१. M N S V C ] Y येनैवोदिव्यते । २. P नमस्तुम्य । ३. P M N L T ] विदन्ति, B वदन्ति ।  
४. B तैऽच निगद्यते । ५. N \*मणिनिधि । ६. M कल्पयादपः ।

205) धर्मो नरोरगाधीशनाकनायकवाङ्गिष्ठताम् ।

अपि लोकत्रयीपूज्यां श्रियं दत्ते शरीरिणाम् ॥१५३

206) धर्मो व्यसनसंपाते पाति विश्वं चराचरम् ।

सुखामृतपयःपूर्णः प्रीणयत्यखिलं तथा॑ ॥१५४

207) पर्जन्यपवनाकेन्दुधराम्बुधिपुरंदराः ।

अमी विश्वोपकारेषु वर्तन्ते धर्मरक्षिताः ॥१५५

208) मन्ये इसौ लोकपालानां व्याजेनाव्याहृतक्रमः ।

जीवलोकोपकारार्थं धर्म एव विजूम्भितः ॥१५६

205) धर्मो नरोरगाधीश—शरीरिणो श्रियं दत्ते । कः । धर्मः । कथंभूतां श्रियम् ।  
लोकत्रयीपूज्याम् । अपि पुनः कीदृशीम् । नरोरगनाकनायकवाङ्गिष्ठतां मनुष्यमामेद्वाभिमतामित्यर्थः ॥१५३॥ अथ धर्ममाहात्म्यमाह ।

206) धर्मो व्यसनसंपाते—धर्मः चराचरं विश्वं पाति । कस्मिम् । व्यसनपाते कस्तामने ।  
धर्मः अखिलं जगत् प्रीणयति । कैः । सुखामृतपयःपूर्णरित्यर्थः ॥१५४॥ अथ पर्जन्यवाचा धर्मरक्षिताः [ तिषाम् ] उपकारकारित्वमाह ।

207) पर्जन्यपवनाकेन्दु—अमी प्रत्यक्षीभूताः पर्जन्यपवनाकेन्दुधराम्बुधिपुरंदराः मेघवायु-  
सूर्येन्दुधितिसमुद्रेन्द्राः विश्वोपकारेषु वर्तन्ते । कथंभूताः । धर्मरक्षिता इति भावः ॥१५५॥ अथ  
धर्मोपकारमाह ।

208) मन्ये इसौ—अहम् एवं मन्ये । असौ धर्मः लोकपालानां व्याजेन जीवलोकोपकारार्थं  
विजूम्भितः प्रसृतः । कथंभूतः । अभ्याहृतक्रमः सर्वव्यापीत्यर्थः ॥१५६॥ अथ धर्मस्वरूपमाह ।

धर्म प्राणियोंको तीनों लोकोंसे पूजनीय वस लक्ष्मीको प्रदान करता है जिसकी कि  
चक्रवर्ती, धरणेन्द्र और इन्द्र अभिलाषा करते हैं । नात्यथ यह कि चक्रवर्ती आदिकी वह  
विभूति प्राणियोंको धर्मके प्रभावसे ही प्राप्त होती है ॥१५३॥

धर्म आपत्तिके समयमें उस और स्थावर जीवोंसे परिपूर्ण समस्त विश्वकी रक्षा करता  
है तथा सब ही लोकको वह सुखरूप अमृतजलके प्रवाहसे सम्पुष्ट करता है ॥१५४॥

मेघ, वायु, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, समुद्र और इन्द्र; ये सब धर्मसे रक्षित होकर ही  
लोकके सब प्रकारके उपकारमें प्रवृत्त होते हैं । अभिग्राय यह है कि धर्मके होते हुए मेघ एवं  
वायु आदि सब ही जगत्का उपकार किया करते हैं । परन्तु उस धर्मके बिना वे भी जातक  
हो जाते हैं ॥१५५॥

प्रन्यकार उत्प्रेक्षा स्वरूपसे कहते हैं कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जीवलोकका—  
लोकके समस्त प्राणियोंका—उपकार करनेके लिए लोकपालोंके छलसे स्वतन्त्रतापूर्वक सर्वत्र  
विचरण करनेवाला वह धर्म ही व्याप ( या विकसित ) दो रद्दा है ॥१५६॥

- 209 ) न तत्त्विजगतीमध्ये भुक्तिमुक्त्योनिवन्धनम् ।  
प्राप्यते धर्मसामर्थ्यात्रि यद्यमितमानसैः ॥१५७
- 210 ) नमन्ति पादराजीवराजिका नतमौलयः ।  
धर्मेकशरणीभूतचेतसां त्रिदशेश्वराः ॥१५८
- 211 ) धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः ।  
अनाथवत्सलः सो ऽयं सं ब्राता कारणं विना ॥१५९
- 212 ) [ धैर्ये नरकपाताले निमज्जजगता त्रयम् ।  
योजयत्यपि धर्मो ऽयं सौख्यमत्यक्षमङ्गिनाम् ॥१५९\*१ ]

209 ) न तत्त्विजगतीमध्ये—तत् त्रिजगतीमध्ये भुक्तिमुक्त्योनिवन्धनं कारणं नास्ति । यदि अमितमानसैः सकुलचिसैः धर्मसामर्थ्यात् न प्राप्यते इति इलोकार्थः ॥१५७॥ अथ धर्मकृष्णो देवेन्द्रपूज्यत्वमाह ।

210 ) नमन्ति पादराजीव—त्रिदशेश्वरा इन्द्राः धर्मेकशरणीभूतचेतसां पादराजीवराजिका पदकमलरेखां नमन्ति । कथंभूताः त्रिदशेश्वराः । नतमौलयः नतमुकुटाः इति सूक्ष्मार्थः ॥१५८॥ अथ धर्मस्थैव सर्वस्वमाह ।

211 ) धर्मो गुरुश्च—सो ऽयं धर्मः गुरुः हितोपदेष्टा । च पुनः । मित्रं सुहृत् । च पुनः । धर्मः स्वामी बान्धवः । स धर्मः कीदृशः । अनाथवत्सलः । स कारणं विना ब्राता पालकः इति सूक्ष्मार्थः ॥१५९॥ अथावः पतञ्जगता धर्म एव ब्रातेत्याह ।

212 ) धैर्ये नरकपाताले—नरकपाताले निमज्जजत् जगता त्रयम् अर्थं धर्मः धैर्ये उदिध्रयते [ उद्धरति ] । अपि पक्षान्तरे । अङ्गिनाम् अत्यक्षम् अतोन्द्रियसौख्यं योजयति इति सूक्ष्मार्थः ॥१५९\*१॥ अथ धर्मस्थैव माहात्म्यमाह ।

तीनों लोकोंके मध्यमें भुक्ति—विषयभोगजनित इन्द्रियसुख—और मुक्तिकी—अती-निद्रिय अव्याकाश सुखकी—कारणमूल वह कोई वस्तु नहीं है जिसे कि अपने मनको नियन्त्रित करनेवाले साधुजन उस धर्मके प्रभावसे न प्राप्त कर सकते हों । तात्पर्य यह कि स्वर्गादिकां सुख और सौकाका सुख भी प्राणियोंको उस धर्मके प्रभावसे ही प्राप्त होता है ॥१५७॥

जिन भव्य जीवोंका मन एकमात्र उस धर्मकी शरणको प्राप्त हुआ है—जो धर्मोंको ही रक्षक मानकर एकमात्र उसीका आराधन किया करते हैं—उनके चरण कमलोंमें इन्द्र भी आकर अपने मुकुटको नमाते हुए नमस्कार किया करते हैं ॥१५८॥

यह धर्म ही सुख और मित्र है; वही धर्म स्वामी और बन्धु ( हितैकी ) भी है । असहाय प्राणियोंसे प्रेम करनेवाला वह यह धर्म विना किसी भी प्रकारके स्वार्थके रक्षा करनेवाला है ॥१५९॥

यह धर्म अधोलोकमें स्थित नरकस्य पातालमें छुबते हुए तीनों लोकके प्राणियोंका

213) नरकान्धमहाकूपे पततां प्राणिनां स्वयम् ।

धर्म एव स्वसामर्थ्याद्वेषे हस्तावलम्बनम् ॥१६०

214) महातिशयसंपूर्णं कल्याणोदाममन्दिरम् ।

धर्मो ददाति निविघ्नं श्रीमत्सर्वज्ञवैभवम् ॥१६१

215) याति सार्थं ततः पाति करोति नियतं हितम् ।

जन्मपङ्कात् समुद्भूत्य स्थापयत्यमले पथि ॥१६२

216) न धर्मसदृशः कश्चित् सर्वाभ्युदयसाधकः ।

आनन्दकुञ्जकन्दश्च हितः पूज्यः शिवप्रदः ॥१६३

213) नरकान्धमहाकूपे—धर्म एव प्राणिनां स्वयं हस्तावलम्बनं दत्ते । कस्मात् स्व-सामर्थ्यात् । कथंभूतानां प्राणिनाम् । नरकान्धमहाकूपे पतताम् इति सूचार्थः ॥१६०॥ अथ धर्मस्य तीर्थंकरत्वमाह ।

214) महातिशयसंपूर्णं—धर्मो निविघ्नं यथा स्यात् तथा श्रीमत्सर्वज्ञशासनं ददाति । कीदृशो श्रीमत्सर्वज्ञवैभवं शासनम् । महातिशयसंपूर्णम् । सुगमम् । पुनः कीदृशम् । कल्याणोदाम-मन्दिरम् । सुगममित्यर्थः ॥१६१॥ अथ धर्मस्य सार्थित्वमाह ।

215) याति सार्थं ततः—स धर्मः सार्थं याति । परलोकादौ । तथा<sup>१</sup> पाति रक्षति दुर्गतिश्यः । नियतं हितं न देति । जन्मपङ्कात् समुद्भूत्य नियत्यमले एवि मार्गं स्थापयति । इति इलोकार्थः ॥१६२॥ अथ धर्मस्य सर्वमङ्गलानां कारणत्वमाह ।

216) न धर्मसदृशः कश्चित्—धर्मसदृशः नास्ति कश्चित् । कथंभूतो धर्मः । सर्वाभ्युदयसाधकः सर्वमङ्गलकारणम् । पुनः कथंभूतो धर्मः । आनन्दकुञ्जकन्दः आनन्दवृक्षस्य कन्दः । च पुलः । हितः पूज्यः शिवप्रदः । विशेषणत्रयं सुगममिति सूचार्थः ॥१६३॥ अथ धर्मस्य फलमाह ।

उद्धार करके उन्हें अतीमित्रिय सुखसे संयुक्त करता है । तात्पर्य यह कि वह धर्म प्राणियोंके दुखको दूर करके उन्हें शाश्वतिक मुक्तिसुखको प्राप्त करा देता है ॥१६३॥

नरकरूप महान् अनधकूपके भीतर स्वयं गिरते हुए प्राणियोंको धर्म ही अपने सामर्थ्यसे हाथका सहारा देता है—प्राणियोंको नरकके दुःख दुःखोंसे वह धर्म ही बचाता है ॥१६०॥

धर्म अन्तरेश व बहिरंग लक्ष्मीसे मंयुक्त उस सर्वज्ञ ( तीर्थकर ) की विभूतिको देता है जो चौतीस महान् अतिशयोंसे परिपूर्ण, गर्भादि पौच्छ कल्याणकोंका प्रखर स्थान और सब प्रकारकी विवर-वाचाओंसे रहित होती है ॥१६१॥

उक्त धर्म प्राणीके साथ परलोकमें जाकर उसकी दुखसे रक्षा करता है, उसका सदा भला करता है, और उसे संसाररूप कीचड़से निकाल कर निर्भल मोक्षमार्गमें स्थापित करता है ॥१६२॥

धर्मके समान दूसरा कोई सब प्रकारके—स्वर्ग-मोक्षके—अभ्युदयको लिद्ध करने-वाला, आनन्दरूप बुद्धकी जड़, हितका कर्ता, पूज्य और मोक्षको देनेवाला नहीं है ॥१६३॥

217 ) व्यालानलगरैव्याग्रद्विष्टशार्दूलराक्षसाः ।

नृपादयोऽपि द्रुद्यन्ति न धर्माधिष्ठितात्मनाम् ॥१६४

218 ) निःशेषं धर्मसामर्थ्यं न सम्यग्वक्तुभीश्वरः ।

स्फुरद्वक्त्रसहस्रेण सुजग्नेशोऽपि भूतले ॥१६५

219 ) धर्मं धर्मं प्रजल्पन्ति तत्त्वशून्याः कुदृष्टयः ।

वस्तुतत्त्वं न बुध्यन्ते तत्परीक्षाक्षमा यतः ॥१६६

220 ) तितिक्षा मार्दवं शौचमार्जवं सत्यसंयमी ।

ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागाकिञ्चन्यं धर्मं उच्यते ॥१६७

217 ) व्यालानलगर—धर्माधिष्ठितात्मने<sup>१</sup> पुरुषाय नृपादयो न द्रुद्यन्ति द्वौहूं कुर्वन्ति इति भावः । अपिशब्दात् व्यालानलगरव्याग्रद्विष्टशार्दूलराक्षसाः नाशमलगरव्याग्रद्विष्ठितसिहराक्षसाः न द्रुद्यन्ति इति सूत्रार्थः ॥१६४॥ अथ धर्मस्वरूपं को ३४ वर्णयितुं न समर्थो अवतोत्याह ।

218 ) निःशेषधर्मसामर्थ्यं—भुजङ्गेशोऽपि शेषवनामोऽपि निःशेषधर्मसामर्थ्यं सम्यग् वक्तुं भूतले नेश्वरः । केस । स्फुरद्वक्त्रसहस्रेण इत्यर्थः ॥१६५॥ अथ कुदृष्टेभी वस्तुतस्त्वाज्ञानमाह ।

219 ) धर्मं धर्मं—कुदृष्टयः इति जल्पन्ति । इति इति किम् । धर्मः धर्मः इति<sup>२</sup> जल्पन्ति । कथंभूताः कुदृष्टयः । तत्त्वशून्याः परमार्थरहताः वस्तुतत्त्वं न बुध्यन्ते । यतः कारणात् तत्परीक्षाक्षमाः धर्मपरीक्षामर्था इति सूत्रार्थः ॥१६६॥ अथ धर्मं उच्यते ।

220 ) तितिक्षा आर्जवं—स धर्मः उच्यते । स इति कः । तितिक्षा क्षमा । आर्जवं मायाभावः । शौचम् । मार्दवं मानाभावः । सत्यसंयमी ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागः । सर्वं सुगमम् । आकिञ्चन्यं लोभाभावः इति सूत्रार्थः ॥१६७॥ अथ धर्मलक्षणमाह ।

जिसकी आत्मा धर्मसे अधिष्ठित है उस धर्मात्माके साथ सर्व, अग्नि, विष, व्याघ्र, हाथी, सिंह और राक्षस तथा राजा आदि भी द्वेष नहीं करते हैं । तात्पर्य यह कि धर्मात्मा प्राणीका सर्व आदि भी कुछ अहित नहीं कर सकते हैं ॥१६४॥

इस भूमण्डलपर उस धर्मके प्रभावका समीक्षीयतया पूरा वर्णन करनेके लिए धरणेन्द्र भी हजार सुखोंके द्वारा समर्थ नहीं है ॥१६५॥

तत्त्वज्ञानसे रहित मिथ्याहृष्टि जीव 'धर्म-धर्म' यह तो कहते हैं, परन्तु यथार्थमें वे वस्तु तत्त्वको—वस्तुके स्वभावभूत उस धर्मको—जानते नहीं हैं । इसका कारण यह है कि वे उक्त धर्मको परीक्षा करनेमें असमर्थ हैं ॥१६६॥

अमा, मृदुता, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, लप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्यको धर्म कहा जाता है ॥१६७॥

१. S T जलनरव्याग्र, P V C J R नलोरगव्याग्र । २. N द्विषज्ञाहूल । ३. All others except P धिष्ठितात्मने । ४. M N T J B X भुजङ्गेशो । ५. All others except P M N धर्मधर्मेति जल्पन्ति । ६. B J Y आर्जव शौच मार्दवं सत्य । ७. B J त्यागे आकिञ्चन्य ।

२२१) यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्वाक्चित्कर्मभिः कार्यम् ।

स्वप्ने ऽपि नात्रेत्तदिति धर्मात्माद्विमं लिङ्गम् ॥१६८

२२२) धर्मः शर्म भुजञ्जपुञ्जवपुरीसारं विवातुं क्षमो

धर्मः प्राप्तिमर्त्यलोकविपुलप्रीतिस्तदाशंसिनाम् ।

धर्मः स्वर्णगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्यास्पदं

धर्मः किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनम् ॥१६९

२२३) यदि नरकनिपातस्त्वक्तुमत्यन्तमिष्ट-

स्त्रिदशपतिभृद्दिः<sup>३</sup> प्राप्तुमेकान्ततो वा ।

२२४) यद्यत्स्वस्यानिष्टं—धर्मस्य इति अग्रिमं लिङ्गं लक्षणम् । इति किम् । यद्यत्स्वस्यानिष्टमयोग्यम् । तत्तद्वाक्चित्कर्मभिः मनोवाक्कायकर्मभिः स्वप्ने ऽपि न कार्यम् । केषाम् अपरेषाम् इति सूत्रार्थः ॥१६८॥ अथ भव्यस्य धर्मोपदेशमाह । का० वि० ।

२२५) धर्मः शर्मभुजञ्ज—मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनं धर्मः किं न करोति । कीदृशो धर्मः । भुजञ्जपुञ्जवः धरणेन्द्रः । तत्पुरी सारं प्रवानं शर्मं सुखं विवातुं कर्तुं क्षमः समर्थो भवतीति भावः । धर्मः तदाशंसिनां धर्मवाञ्छकानां प्राप्तिमर्त्यलोकविपुलप्रीतिः वर्तते दत्तमनुष्यलोकविस्तीर्णप्रेमा वर्तते । धर्मः आस्पदं स्थानम् । कस्य । स्वर्णगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्य इति सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१६९॥ अथ धर्मफलमाह । मालिनी ।

२२६) यदि नरकनिपातः—भो लोकाः, नामेति कोमलामन्त्रणे । यसेत्सर्वं प्राप्तुमिच्छसि तदा धर्मं विवेत । एतत् किम् । यदि नरकनिपातः त्यक्तुमत्यन्तमिष्टः । वा अथवा एकान्ततः

जो-जो कार्य अपने लिए अनिष्ट प्रतीत होता है उस-उस कार्यको दूसरोंके प्रति अच्छन, मन और क्रिया ( शरीरकी प्रवृत्ति ) के हारा स्वानन्दमें भी नहीं करना चाहिए । यह धर्मका प्रथम चिह्न है ॥१६८॥

जो धर्म धरणेन्द्रकी पुरीके सारभूत सुखके करनेमें समर्थ है, जो प्राणी धर्मकी प्रशंसा करते हैं—उसका आचरण करते हैं—उनको जो मनुष्यलोककी प्रचुर प्रीतिको प्राप्त करता है, तथा जो धर्म स्वर्णपुरीके निरन्तर सुखके स्वादकी उत्पत्तिका स्थान है; वह, क्या प्राणीको मुक्तिरूप रमणीका संभोग करनेके बोग्य नहीं करता है ? अवश्य करता है । अभिप्राय यह है कि प्राणीको उस धर्मके प्रभावसे अधोलोकमें धरणेन्द्रकी विभूति, मध्यलोकमें चक्रवर्तीकी विभूति और ऊर्ध्वलोकमें इन्द्रकी विभूति प्राप्त होती है । इस प्रकारसे धर्मत्वा जीव संसार-के उत्कृष्ट सुखको भोगकर अन्तमें वह सर्वोत्कृष्ट मुक्तिसुखको भी प्राप्त कर लेता है ॥१६८॥

हे भव्य ! यदि तुझे नरकमें पड़नेका परित्याग अभीष्ट है—तू नरकमें नहीं पड़ना चाहता है, अथवा यदि तू सर्वथा इन्द्रकी महती चट्ठिको प्राप्त करना चाहता है, अथवा

१. V C Y R नो परेषामिति । २. M सुखस्वादो<sup>१</sup> । ३. M N F V C महद्दिः ।

यदि चरमपुर्मर्थः प्रार्थनीयस्तदानीं  
किमपरमभिषेयं नाम धर्मं विधत् ॥१७०

[ इति ] धर्मः । [ १० ]

२२४ ) यत्र भावा विलोक्यन्ते ज्ञानिभिषेतनेतराः ।

जीवादयः स लोकः स्यात्ततो ऽलोको नमः स्मृतः ॥१७१

२२५ ) वेष्टितः पवनैः 'प्रान्तर्महावैर्गैर्महावलैः ।

त्रिभिस्त्रिभुवनाकीणो लोकस्तालतरुस्थितिः ॥१७२

२२६ ) निष्पादितः स केनापि नैव नैवोद्यृतस्तथा ।

न भन्नः किन्त्वनाधारो गगने स स्वयं स्थितः ॥१७३

श्रिदशपतिमहर्दिं प्राप्तुं वाङ्मुखिः । तदानीं यदि चरमपदार्थः मुक्तिपदार्थः प्रार्थनीयः । तदा अपर् किमभिषेयं कर्तव्यमिति सूत्रार्थः ॥१७०॥ अथ लोकस्वरूपमाह ।

२२४ ) यत्र भावा विलोक्यस्ते—यत्र यस्मिन् लोके जीवादयः भावाः पदार्थाः ज्ञानिभिः सीर्थकरादिभिः विलोक्यन्ते । कथंभूताः पदार्थाः । चेतनेतराः जीवाजीवरूपाः । स लोकः स्यात् । ततो ऽलोकः नमः स्मृतम्\* । इति सूत्रार्थः ॥१७१॥ अथ तस्यैव स्वरूपमाह ।

२२५ ) वेष्टितः पवनैः—लोकः तालतरुवत् स्थितिः यस्य तालतरुस्थितिः । कथंभूतो लोकः । त्रिभिस्त्रिभिर्महावलये: समाकीणो व्याप्तिः । कथंभूतैवेष्टितः समन्तात् व्याप्तिः इति सूत्रार्थः ॥१७२॥ अथ लोकस्वरूपमाह ।

२२६ ) निष्पादितः—स लोकः केनापि नैव निष्पादितः नोत्पादितः । नैव वृतः केनापि यदि तु हे अन्तिम पुरुषार्थ ( मोक्ष ) अभीष्ट है; तो फिर और क्या कहा जाय, तू उस धर्मका ही आचरण कर ॥१७०॥ धर्मभावना समाप्त हुई ॥

११. लोकभावना—जहाँपर ज्ञानियोंके द्वारा चेतन और अचेतन जीवादि—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल पदार्थ देखे जाते हैं वह लोकाकाश तथा उसके आगे—उक्त छह द्रव्योंसे दून्य—अलोकाकाश माना गया है ॥१७१॥

अन्तमें अतिशय वेगशाली प्रबल तीन वायुओंसे—धनवात्, घनोद्विषात् और तनुवात् इन तीन वातवलयोंसे—वेष्टित एवं अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोकरूप तीन लोकोंसे न्याय वह लोक तालतरुके समान अवस्थावाला है । अमिप्राय यह है कि वह लोक उक्त तीन वातवलयोंसे सर्वत्र इस प्रकारसे वेष्टित है जिस प्रकार कि दृश्य त्वचा ( बाकला ) से सर्वत्र वेष्टित होता है ॥१७२॥

वह लोक न किसीके द्वारा—ऋग्याके द्वारा—उत्पन्न किया गया है, न किसीके द्वारा—

१. P X विष्टतः, M N विष्टत्व, F V C Y विष्टते । २. P M L T ततो लोकनमः, N लोको नमः स्मृतं, F V C लोकं नमः स्मृतं, B ततो लीका नमः विष्टाः । ३. Y विष्टतः पवनैः । ४. L पवनेस्तीस्तीमहा, S T F C J X Y प्रान्ते महा, V प्रान्तीर्महा, B प्रान्तो महा । ५. B ] तपस्थितः ।

- 227 ) अनादिनिधनः सो ऽयं स्वयं सिद्धो इत्यनश्चरः ।  
 अनीश्चरो ऽपि जीवादिपदार्थैः संभूतो भूशम् ॥१७४॥
- 228 ) अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्ञान्नरीनिमः ।  
 मृदज्ञसृदृशथाग्रे स्यादित्यं स त्रयात्मकः ॥१७५॥
- 229 ) यत्रैते जन्तवः सर्वे नानागतिषु संस्थिताः ।  
 उत्पद्यन्ते विषयन्ते कर्मपाशवशंगताः ॥१७६॥
- 230 ) पवनवलयमध्ये संभूतो इत्यन्तगाढ़ं  
 स्थितिजननविनाशालिङ्गतैरस्तुजातेः ।

न धूतः । पाठान्तरव्याख्यानम् । न भग्नः खण्डशो जातः । किन्तु अनाधारः आधाररहितः स लोकः  
 गगने स्वयं स्थितः ॥१७३॥ पुनरस्तत्स्वरूपमाह ।

227 ) अनादिनिधनः—सो ऽयं लोकः जीवादिपदार्थैः भूशम् अत्यर्थं संभूतः । कीदृशो  
 लोकः । अनादिनिधनः अनाद्यनन्तः । पुनः कीदृशः लोकः । स्वयंसिद्धः केनापि नोत्पादितः । अपि  
 पक्षान्तरे । अनश्वरः अविनाशी । अपिशब्दात् अनोश्वरः ईश्वररहितः लोकः इति सूत्रार्थः ॥१७४॥  
 अथ लोकसंस्थानमाह ।

228 ) अधो वेत्रासनाकारः—इत्यम् अमृता प्रकारेण स लोकः त्रयात्मकः आकार-  
 त्रययुक्तः । कथंभूतः लोकः । अबः अवस्तात् वेत्रासनाकारः, भाट्थकारः (?) मध्ये शल्लरीसदृशः,  
 अग्रे उपरि मृदज्ञसृदृशः मृदज्ञाकारः इति सूत्रार्थः ॥१७५॥ पुनरस्तत्स्वरूपमाह ।

229 ) यत्रैते जन्तवः—यत्र लोकसंस्थिता जन्तवः नानागतिषु उत्पद्यन्ते विषयन्ते  
 श्रियन्ते । कथंभूताः । कर्मपाशवशंगताः इति सुवभम् । इति सूत्रार्थः ॥१७६॥ पुनरस्तत्स्वरूपमाह ।  
 भालिनीच्छन्दः ।

230 ) पवनवलयमध्ये—एष लोकः स्मर्यतां भोः । लोकः कीदृशः । पवनवलयमध्ये  
 अत्यन्तगाढ़ं स्थितिजननविनाशालिङ्गतैः स्थित्युत्पादविनाशैः विनाशयुक्तैः वस्तुजातेः संभूतः इह

शिष्टुके द्वारा—रक्षित है, और न किसीके द्वारा—शिवके द्वारा—बष्ट भी किया जाता है ।  
 किन्तु वह आकाशके मध्यमें आधारसे रहित होकर स्वयं स्थित है ॥१७३॥

आदि व अन्तसे रक्षित वह यह लोक स्वयंसिद्ध और अविनश्चर है । वह यद्यपि  
 सृष्टिके निर्माता ईश्वरसे रहित है, फिर भी जीवादि द्रव्योंसे अतिशय भरा हुआ है ॥१७४॥

उक्त लोक नीचे वैतके आसनके समान, मध्यमें ज्ञात्तर के समान और ऊर  
 मृदंगके सहश है; इस प्रकारसे वह तीन आकृतियोरूप है ॥१७५॥

इस लोकके भोतर अनेक ( नरकादि ) शोनियोंमें स्थित प्राणी कर्मरूप फँसके वज्रीभूत  
 होकर उत्पन्न होते और मरते हैं ॥१७६॥

यह लोक वायुमण्डलोंके मध्यमें अविशय हडतासे पुष्ट; धौव्य, उत्पाद व विनाशसे  
 लक्षित वस्तुसमूहोंसे परिपूर्ण; अनादिसिद्ध—सृष्टिकर्ताके विना अवादि कालसे चला आया;

स्वयमिह परिपूर्णो ज्ञादिसिद्धः पुराणः  
कृतिविलयविहीनः स्मर्यतामेष लोकः ॥१७७

[ इति ] लोकः । [ ११ ]

- 231 ) दुरन्तदुरितारातिपीडितस्य प्रतिक्षणम् ।  
कवे स्वाभृकपाताले तलाजजीवस्य निर्गमः ॥१७८
- 232 ) तस्माद्यदि विनिष्कान्तः स्थावरेषु प्रजायते ।  
त्रसत्वमथवाऽन्नोति<sup>३</sup> प्राणी केनापि कर्मणा ॥१७९
- 233 ) यत्पर्याप्तस्तथा संज्ञी पञ्चाङ्गो ज्ययवान्वितः ।  
तिर्यक्ष्वपि भवत्यज्ञी तत्र स्वल्पाशुभक्षयात् ॥१८०

जगति पूर्णः । पुनः कीदृशः । अनादिसिद्धः पुराणः । पुनः कोदृशः । कृतिविलयविहीनः उत्पत्तिनाश-  
रहितः इति सूत्रार्थः ॥१७७॥ संसारे जीवस्य गतागतिमाहृ ।

231 ) दुरन्तदुरिताराति—जीवस्य नरकपातालतात् निर्गमः कवे । न कवापि इत्यर्थः ।  
कथंभूतस्य जीवस्य । प्रतिक्षणं दुरन्तदुरितारातिपीडितस्य दुष्टान्तपापवैरिपीडितस्य ॥१७८॥ अथ  
जीवस्य परिभ्रमणमाहृ ।

232 ) तस्माद्यदि विनिष्कान्तः—यदि तस्मात् संसारात् विनिष्कान्तो निर्गतः स्थावरेषु  
प्रजायते । अथवा त्रसत्वं प्राप्नोति प्राणी जीवः केनापि कर्मणा इति इलोकार्थः ॥१७९॥ अथ  
तिर्यगत्वे उत्पादमाहृ ।

233 ) यत्पर्याप्तस्तथा—अज्ञी प्राणी तत्पर्यात् कारणात् तिर्यगत्वे ऽपि<sup>४</sup> न भवति ।  
कर्मणात् । स्वल्पाशुभक्षयात् स्तोकपापकर्मक्षयात् । कीदृशः अज्ञी । तथा पर्याप्तसंज्ञी । यत् यस्मात्  
कारणात् । पुनः कीदृशः । पञ्चेन्द्रियः अवयवान्वितः ॥१८०॥ अथ जीवस्य नरेषु उत्पादमाहृ ।

पुराणा और रचना व विळाशसे रहित है । इस प्रकारसे इस लोकभावनामें उस लोकके  
स्वरूपका समरण करना चाहिए ॥१७७॥ लोकभावना समाप्त हुई ॥

१३. ओधिदुर्लभभावना—प्रतिसमय दुर्विनाश पापरूप शब्दसे पीडित इस जीवका  
नरकरूप पातालताल ( अथवा नरक व निर्गोदस्थान ) से निकलना कहाँ सम्भव है—वहाँसे  
निकलना अतिशय कठिन है ॥१७८॥

वहाँसे—निर्गोदस्थानसे—यदि प्राणी किसी प्रकारसे निकलता भी है तो स्थावर  
जीवोंमें जन्म लेता है, अथवा किसी शुभकर्मके उदयसे अस ( द्वीन्द्रियादि ) पर्याप्तको प्राप्त  
करता है ॥१७९॥

यदि प्राणी तिर्यक्षोंमें भी उत्पन्न होकर संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त और शरीरके सब  
अवयवोंसे परिपूर्ण होता है, तो यह थोड़ेसे पापके क्षयसे नहीं होता—किन्तु प्रबल पापके  
क्षयसे ही ऐसा होता है ॥१८०॥

१. S V C R कुच्छान्वरक । २. B पातालाजजीवस्यारातिनिर्गमः । ३. F V C Y त्रसत्वमय्यवाऽन्नोति ।  
४. P तिर्यगत्वे भवेत् । ५. M ततः स्वल्पाशुभः क्षयात्, N ततः स्वल्पो ज्ञाभक्षयात् ।

२३४) नरत्वं यद्युणोपेतं देशजात्यादिलक्षितम् ।

प्राणिनः प्राप्नुवन्त्यश्च तन्मन्ये कर्मलाघवात् ॥१८१॥

२३५) आयुः सर्वाक्षसामग्री बुद्धिः साध्वी प्रशान्तता ।

३यत्स्यात्तकाकृतालीयं मनुष्यत्वे अपि देहिनाम् ॥१८२॥

२३६) ततो निर्विषयं चेतो यमप्रशमवासितम् ।

यदि स्यात् पुण्ययोगेन न पुनस्तत्त्वनिश्चयः ॥१८३॥

२३४) नरत्वं यद्युणोपेतं—तदहं मन्ये । प्राणिनः अन्न संसारे नरत्वं प्राप्नुवन्ति । कथंभूतं नरत्वम् । यद्युणोपेतं नरगुणोपेतम् । पुनः कीदृशम् । देशजात्यादिलक्षितम् आर्यदेशो आर्यंजासिः तदादिलक्षितम् । कस्मात् । कर्मलाघवात् ॥१८१॥ अथातकितहेतुः अत्रैव जीवस्य आयुष्कादिसामग्रो-प्राप्तिः इत्याह ।

२३५) आयुः सर्वाक्षसामग्री—यद् यस्मात् कारणात् देहिनां प्राणिनां मनुष्यत्वे अपि भनुष्यप्राप्ती अपि एतसामग्रीप्राप्तिः । का सामग्री । आयुः सत्यायुषि । सर्वाक्षसामग्री पट्ट-पञ्चेन्द्रियत्वम् । तथा साध्वी बुद्धिः प्रधानप्रतिः । तथा प्रशान्तता क्रोधाद्यभावः । तत्सर्वं काकृतालीयं काकृतालीयन्यायवत् अतर्कितोपस्थितम् इत्यर्थः ॥१८२॥ अथात्र चेतःस्वरूपमाह ।

२३६) ततो निर्विषयं चेतः—ततः तदनन्तरं यदि चेतः यमप्रशमवासितं त्रहस्तान्तियुक्तं पुण्ययोगेन निर्विषयं स्यात् । पुनः तथापि तत्र तत्त्वनिश्चयो नास्ति इति श्लोकार्थः ॥१८३॥ सत्त्वपि बुभायुष्कादिषु संसारपरिभ्रमणमाह ।

यदि यहीं प्राणीको उत्तम देश व आत्म आदिके साथ गुणयुक्त मनुष्य पर्याय प्राप्त हो जाती है तो वह कर्मको लघुतासे—पापके भारके कम होनेपर ही प्राप्त होती है, ऐसा मैं भावना हूँ ॥१८१॥

मनुष्य पर्यायको पाकर भी जो उन्हीं आयु सब इन्द्रियोंकी परिपूर्णता, उत्तम बुद्धि और कषायोंकी उपशमन्ति होती है, वह काकृतालीय न्यायसे ही प्राप्त होती है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई कीआ ताल वृक्षके नीचेसे उड़ता हुआ जा रहा हो और उसी समय अकस्मात् उसका फल टूटकर नीचे गिरे व कीआ उसे चौचम्बे पकड़ ले, यह सुयोग कदाचित् ही प्राप्त होता है; उसी प्रकार मनुष्य पर्यायके प्राप्त हो जानेपर भी उन्हीं आयु आदिरूप उल्ल सब सामग्रीकी प्राप्तिका सुयोग भी प्राणीको कदाचित् ही होता है । फिर उस सबके प्राप्त हो जानेपर भी यदि प्राणी आत्महितमें नहीं प्रवृत्त होता है, तो वह उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिए ॥१८३॥

पूर्वोक्त सामग्रीके साथ यदि प्राणीका मन पुण्यके उदयसे विषयबाड़ीसे रहित होकर संयम एवं कषायोंके उपशमसे संयुक्त भी होता है, तो उसे तत्त्वका—आत्मस्वरूपका—निश्चय नहीं होता है ॥१८३॥

१. M नरत्वे । २. B जात्यादिलक्षणं । ३. F V C यदि तत्त्वका । X यदि स्यात् काक ।

२३७ ) अत्यन्तदुर्लभेषु दैवास्त्रव्येष्वपि कवचित् ।

प्रमादात् प्रच्यवन्ते ज्ञ केचित् कामार्थलालसाः ॥१८४

२३८ ) मार्गमासाद्य केचित्त्वं सम्यग् रत्नत्रयात्मकम् ।

त्यजन्ति गुरुभिर्थात्वविषव्यामूढेतसः ॥१८५

२३९ ) स्वयं नष्टो जनः कश्चित् करिचन्नैश्च नाशितः ।

कश्चित् प्रलयाव्यते मार्गच्छण्डपाण्डशासनैः ॥१८६

२४० ) त्यक्त्वा विवेकमाणिक्यं सर्वभिमतसिद्धिदम् ।

अविचारितरम्येषु पक्षेष्वज्ञः<sup>१</sup> प्रवर्तते ॥१८७

२३७ ) अत्यन्तदुर्लभेषु—अत्र जगति केचित् कामार्थलालसाः कामार्थलभट्टाः प्रमादात् प्रच्यवन्ते । दैवात् कमंणः एषु स्वचित् शुभायुधकादिषु लब्धेषु प्राप्तेषु । कीदृशेषु अत्यन्तदुर्लभेषु इति सूत्रार्थः ॥१८४॥ अथ प्राप्तमणि रत्नत्रयं केचित्त्वयजन्ति तदेव दर्शयति ।

२३८ ) मार्गमासाद्य—च पुनः । केचित् जीवाः सम्यक् रत्नत्रयात्मकं सम्यग्ज्ञानदर्शन-चारित्रात्मकं मार्गम् आसाद्य त्यजन्ति । कोदृशाः जीवाः । गुरुभिर्थात्वविषव्यामूढेतसः गरिष्ठ-मिथ्यात्वगरविमोहितमनसः इति सूत्रार्थः ॥१८५॥ अथ पाखण्डानां स्वरूपमाह ।

२३९ ) स्वयं नष्टो जनः—चण्डपाण्डशासनैः रुद्रपाण्डवचनैः मार्गति मोक्षमग्निति प्रच्याव्यते तस्मात् भ्रष्टीक्रियते । कश्चित् जनः स्वयं नष्टः<sup>२</sup> तु पुनः । नष्टः कश्चित् नाशितः इति सूत्रार्थः ॥१८६॥ अथ मूर्खचिरणमाह ।

२४० ) त्यक्त्वा विवेकमाणिक्यं—अज्ञो भूर्खः पक्षेषु स्वमतेषु प्रवर्तते । कथंभूतेषु पक्षेषु । अविचारितरम्येषु इति सुगमम् । किं कृत्वा । विवेकमाणिक्यं त्यक्त्वा । कीदृशं विवेकमाणिक्यम् । सर्वभिमतसिद्धिदं सर्ववाचिष्ठतदायकमिति सूत्रार्थः ॥१८७॥ अन्यशासनसेवनफलमाह ।

सौभाग्यसे किन्हींकि इन अतिशय दुर्लभ साधनोंके प्राप्त हो जानेपर भी उनमें किसने ही प्रमादके वशीभूत होकर काम ( विषयभोग ) और धनकी अभिलाषासे यहाँ कल्याणके मार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१८४॥

किसने ही प्राणी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन रत्नोत्तररूप मोक्ष-कार्यको पा करके भी तीव्र मिथ्यात्वरूप विषसे मूळित होते हुए उसे छोड़ भी देसे हैं ॥१८५॥

कोई मनुष्य स्वयं ही कल्याणके मार्गसे भ्रष्ट होता है तो कोई स्वयं भ्रष्ट हुय अन्य मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा भ्रष्ट कराया जाता है, तथा कोई तीव्र पाखण्डियोंके द्वारा प्रबलित किये गये मतोंके आश्रित होकर भ्रष्ट होता है ॥१८६॥

अह्नानी प्राणी समस्त अभूत वस्तुओंको सिद्ध करनेवाले विवेकरूप भणिको छोड़कर विचारके चिना ही रमणीय प्रतीत होनेवाले पक्षों ( मतों ) में प्रवृत्त हो जाता है ॥१८७॥

१. F V C B ] नष्टेषु । २. S V C XY प्रच्याव्यते । ३. F V C पक्षेष्वक्यः ।

241 ) अविचारितरम्याणि शासनान्यसतो जनैः ।

अधमान्यपि सेव्यन्ते जिह्वोपस्थादिदण्डतैः ॥१८८

242 ) सुप्रापं न पुनः पुंसा बोधिरत्नं भवाण्वे ।

हस्ताद् अष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे ॥१८९

243 ) सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्या-

गुरुगनरसुरेन्द्रैः प्रार्थितं चाधिपत्यम् ।

कुलबलसुभगत्वोदामरामादि चान्यत्

किमुतं तदिदमेकं दुर्लभं बोधिरत्नम् ॥१९०

[ हयि ] बोधि [ १८ ]

241 ) अविचारितरम्याणि—जनैः, असताम् अधमानि शासनान्ति सेव्यन्ते । कीदृशानि । अविचारितरम्याणि अविचारमनोहराणि । पुनः कीदृशैः । जिह्वोपस्थादिदण्डतैः, जिह्वा च उपस्थि च जिह्वोपस्थी, तदादि तैदण्डितैः ॥१८८॥ अथ योधैः दुष्प्राप्यत्वमाह ।

242 ) सुप्रापं न पुनः—बोधिरत्नत्रयं पुंसा सुप्रापं न भवाण्वे\* । हस्ताद् अष्टं यथा रत्नं महासंसारसमुद्रे । यथा दुष्टान्ते । महार्णवे समुद्रे हस्ताद् अष्टं महामूल्यं रत्नमिव इति सूत्रार्थः ॥१८९॥ अथ बोधिमुपसंहरति । मालिनी छन्दः ।

243 ) सुलभमिह समस्तं—इह जगत्यां समस्तं वस्तुजातं सुलभं सुप्रापम् । च पुनः । उरग\*सुरनरेन्द्रैः प्रार्थितं याचितम् आधिपत्यम् ऐश्वर्यं सुलभम् । च पुनः । अन्यत् कुलबलसुभगत्वोदामरामादि । तत्र सुभगत्वं सोभाग्यम् । उदामरामाः मदोन्मत्ताः स्विष्यः । तदादि सर्वं सुलभम् ।

जो लोग जिह्वा एवं उपस्थ आदि इन्द्रियोंसे दण्डित हैं—जीभ व जननेन्द्रियके बशी-भूत होकर विषयोंकी अभिलाषा करते हैं—वे बिना विचार किये ही रमणीय प्रतीत होनेवाले दुष्ट मिथ्यादृष्टियोंके निकट मतोंका सेवन करते हैं ॥१८८॥

जिस प्रकार द्वाधसे भ्रष्ट होकर महासमुद्रके भीतर गया हुआ असिंशय मूल्यवान् रत्न पुनः सरलतासे प्राप्त नहीं हो सकता है उसी प्रकार इस संसाररूप समुद्रमें सौभाग्यसे प्राप्त हुआ अमूल्य बोधिरत्न—सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप सोक्षमार्ग—नहीं हो जानेपर पुनः सरलतासे नहीं प्राप्त हो सकता है ॥१८९॥

यहाँ संसारमें सब ही वस्तुओंका समूह सुलभ है । अन्यकी तो ज्ञात ही क्या है; किन्तु यहाँ घरणेन्द्र, चक्रवर्ती और इन्द्रको अभीष्ट आधिपत्य—उनकी विभूति—तथा उत्तम कुल, विशिष्ट सामर्थ्य और स्वतन्त्र स्त्री आदि भी सुलभतासे प्राप्त हो जाती हैं । यदि यहाँ कोई दुर्लभ है तो वह एकबोधि-रत्न—रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग—ही दुर्लभ है, इस प्रकारसे

१. X बोधरत्नं । २. M अष्टं महारत्नं महामूल्यं व्याण्वे । ३. All others except P °मुरगसुर-नरेन्द्रैः । ४. X बोधरत्नं ।

२४४ ) दीव्यज्ञाभिरथं ज्ञानी भावनाभिनिरन्तरम् ।  
इहैवाप्नोत्यनातङ्कुं सुखमत्यक्षमक्षयम् ॥१९१

२४५ ) विद्याति कषायाभिनविगलति रागो विलीयते ज्ञानतम् ।  
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ॥१९२

२४६ ) एता द्वादश भावनाः खलु सखे सख्योऽप्यवग्राह्य-  
स्तस्याः संगमलालसैर्घटयितुं मैत्र्यं प्रयुक्ता बुधैः ।

किमुल अथवा तदिदं बोधिरत्नम् एकं दुर्लभं दुष्यापम् इति सूत्रार्थः ॥१९०॥ अथ भावना-  
मुपसंहरति ।

२४४ ) दीव्यज्ञाभिरथं—अयं ज्ञानी इहैव संसारे भावनाभिः निरन्तरं अनातङ्कुं निर्भयं  
सुखमाप्नोति । कीदृशाभिः भावनाभिः । दीव्यज्ञाभिः\* धर्मकीडाज्ञाभिः ( ? ) । कीदृशं सुखम् ।  
अथेषाम् अतीन्द्रियम् । पुनः कीदृशम् । अक्षयम् अविनाशि इति सूत्रार्थः ॥१९१॥ भावना-  
कार्यमाह ।

२४५ ) विद्याति कषायाभिनः—पुंसां भावनाभ्यासात् हृदये बोधदीप उन्मिषति उद्द्योत-  
यति । कषायाभिनः विद्याति उपशाख्यति । रागो विगलति । तथा ज्ञानतमन्धकारो विलीयते  
विनश्यति इति सूत्रार्थः ॥१९२॥ अथ भावनामुपसंहरति । शाद्वूलविक्रीडितच्छन्दः ।

२४६ ) एता द्वादश भावना—खलु निश्चयेन सखे, एताः द्वादश भावनाः अप्यवर्गाश्चियः तस्याः  
सख्यः संजायन्ते । पुनः कीदृशाः । संगमलालसैः बुधैः मैत्री \* घटयितुं प्रयुक्ताः । एतासु भावनासु

इस भावनामें उस बोधिकी दुर्लभताका बार-बार विचार करना चाहिए ॥१९०॥ बोधि-दुर्लभ-  
भावना समाप्त हुई ॥

इन भावनाओंके साथ निरन्तर कीड़ा करनेवाला—उनका बार-बार चिन्तन करने-  
वाला—यह ज्ञानी जीव यहाँपर ही निराकुल व अविनश्वर अतीन्द्रिय सुखको प्राप्त कर लेता  
है ॥१९१॥

इन भावनाओंके अभ्याससे जीवोंकी कषायरूप अविन ज्ञानं हो जाती है, राग नष्ट  
हो जाता है, अज्ञानरूप अन्धकार विलीन हो जाता है, तथा हृदयमें ज्ञानरूप दीपक विक-  
सित होता है ॥१९२॥

हे मिथ्र ! ये बारह भावनाएँ निःचयसे मुक्तिरूप लक्ष्मीकी सहचरी हैं—उसका संयोग  
करनेवाली हैं । इसलिए उसके संयोगके इन्द्रिय विद्वानोंको उक्त भावनाओंके साथ मिश्रता-  
का व्यवहार करना चाहिए—उनका अनुरागपूर्वक पुनः पुनः चिन्तन करना चाहिए । इन-

१. T दिव्यं ज्ञाभिः । २. N बोधदीपो । ३. B सर्वोपवर्ग । ४. All others except P सैत्री ।

एतासु प्रगुणीकृतासु नियतं मुक्त्यज्ज्ञना जायते  
सानन्दा प्रणयप्रसन्नहृदया योगीश्वरणां मुदे ॥१९३  
॥ इति शानार्थं योगप्रदायाधिकारे द्वादशभावनाप्रकरणम् ॥२॥

प्रगुणीकृतासु वशीकृतासु योगीश्वरणां मुदे हर्षयि । मुक्त्यज्ज्ञना सानन्दा जायते । कर्त्तभूता मुक्त्य-  
ज्ज्ञना । प्रणयप्रसन्नहृदया स्नेहप्रसन्नचित्ता इति सूत्रार्थः ॥१९३॥

इति शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्थव्यूलसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनविलासेन  
साहपासा तत्पुत्र साह टोडर तत्पुत्र साह रिविदासेन स्वश्रवणार्थं पण्डित-  
जिमदासोऽमेन कारपितेन द्वादशभावना-प्रकरणद्वितीयः ॥२॥

पायाच्छ्वेजिनशासने सुविधिने जैने: समारोपितो नानाजीवदधाप्रभूतविपुलप्रस्थूलमूलो  
दृढः । शाखाद्वादशभावनो गृहयतिः स्वाचारसुस्कन्धकः स्वर्गश्रीकुमुपः सुनिर्वृतिफलः सद्गमकल-  
द्रुमः ॥१॥ बभूव पूर्वे किल पाश्वराजः श्रीतोडरसत्त्वकुलकञ्जभानुः । तद्वंशपूर्वान्निलतीत्रभानुः  
जीयात्सदा श्रीकृष्णिदाससाहः ॥२॥ इति आशीर्वादः । अथ संसारे नरत्वस्य दुष्प्राप्यत्वमाह ।

भावनाओंके अनुकूल कर लेनेपर योगीन्द्रोंको आनन्दसे परिपूर्ण वह मुक्तिरूप स्त्री प्राप्त होती  
है जो प्रसन्न हृदयसे प्रेम करती हुई उसके हृषका कारण होती है ॥१९३॥

इस ग्रन्थार आचार्य श्रीशुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्थमें योगप्रदीपाधिकारमें  
द्वादश भावना-रूप दूसरा प्रकरण समाप्त हुआ ॥२॥

## [ ध्यानलक्षणम् ]

247 ) अस्मिन्दनादिसंसारे दुरन्ते सारवजिते ।

नरत्वमेव दुःप्राप्यै गुणोपेत शरीरिभिः ॥१॥

248 ) काकतालीयकन्यायेनोपलब्धं यदि त्वया ।

तच्चहि सफलं कार्यं कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ॥२॥

249 ) नूजन्मनः फलं कैश्चित् पुरुषार्थः प्रकीर्तितः ।

धर्मादिकप्रभेदैश्च स पुनः स्वाच्छतुर्विधः ॥३॥

247 ) अस्मिन् अनादिसंसारे—अस्मिन् अनादिसंसारे दुरन्ते सारवजिते नरत्वमेव दुःप्राप्यै । केषाम् । शरीरिणाम्\* । कर्यभूतम् । गुणोपेत सुकुलजम्मादिगुणसहितम् । कीदृशे संसारे । सारवजिते । पुनः कीदृशे । दुरन्ते इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ तस्यैव सफलमाह ।

248 ) काकतालीयकन्यायेन—रे जीव, यदि त्वया काकतालीयकन्यायेन अतकिर्तमेव उपलब्धं प्राप्तं नरत्वं तहि तप्त्रत्वं सफलं कार्यम् । आत्मनि आत्मनिश्चयं कृत्वा इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ नूजन्मनः फलमाह ।

249 ) नूजन्मनः फलं—कैश्चित् पण्डितैः नूजन्मनः फलं पुरुषार्थः प्रकीर्तितः । पुनः स पुरुषार्थैः चतुर्विधः स्यात् । धर्मादिकप्रभेदैश्च धर्मार्थकाममोक्षभेदैन इति इलोकार्थः ॥३॥ अथ पुरुषार्थस्य चतुर्विधत्वमाह ।

दुःखसे नह छोनेवाले इस निष्कृष्ट अनादि संसारमें प्राणियोंको संघर्षम एवं तप आदि अनेक गुणोंको प्राप्त करानेवाली मनुष्य पर्याय ही दुर्लभ है ॥१॥

हे भव्य ! यदि वह काकतालीय न्यायसे तुझे प्राप्त हो गयी है, तो तू आत्मामें आत्मा का निश्चय करके—शरीरादि चाल पदार्थोंसे उसकी भिन्नताका निश्चय करके—उसे सफल कर ले ॥२॥

किन्हीं भहिर्धियोंने उस मनुष्य पर्यायका फल पुरुषार्थ बतलाया है । वह पुरुषार्थ धर्मादिके भेदसे चार प्रकारका है ॥३॥

१. All others except P M N दुःप्राप्यै । २. B शरीरिणै । ३. All others except P प्रभेदैन ।

२५० ) धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षचेति महर्षिभिः ।

पुरुषार्थो ज्यग्निदिश्चतुर्भेदः पुरातनैः ॥४॥ कि च-

२५१ ) त्रिवर्गं तत्र सापार्थं जन्मजातद्वृष्टितम् ।

ज्ञात्वा तत्त्वविदः साक्षात्तन्ते मोक्षसाधने ॥५

२५२ ) द्रव्यभावोद्भवत्कृत्स्वबन्धं विद्ध्वं सलक्षणः ।

जन्मनः प्रतिपक्षो यः स मोक्षः परिकीर्तिः ॥६

२५० ) धर्मश्चार्थश्च कामश्च—प्राचीनैर्महर्षिभिः धर्मः, अर्थः, कामः, मोक्षश्च एवं चत्वारः पुरुषार्थस्य भेदा निर्दिष्टाः ॥४॥ कि च ।

२५१ ) त्रिवर्गं तत्र—तत्र चतुर्थं पुरुषार्थेण त्रिवर्गं धर्मर्थकामलक्षणं सापार्थं सकृष्टं ज्ञात्वा । तत्त्वस्मात् कारणात् साक्षात्मोक्षसाधने यतन्ते । यत्र पराभवन्तीत्यर्थः । कीदृशस्त्र त्रिवर्गं । जन्मजातद्वृष्टितम् । सुगमयिति इलोकार्थः ॥५॥ अथ मोक्षस्वरूपमाह ।

२५२ ) निःशेषकर्म—यः जन्मनः प्रतिपक्षः प्रतिकूलः स मोक्षः परिकीर्तिः । कीदृशः । निःशेषकर्मसंबन्धं परिविद्ध्वं सलक्षणः । सुगमयिति गाथार्थः ॥६॥ अथ मोक्षस्वरूपमाह ।

यह पुरुषार्थ प्राचीन युनिवोके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इस प्रकारसे चार प्रकारका बदलाया गया है ॥४॥

उनमें प्रथम तीन पुरुषार्थोंको—धर्म, अर्थ और कामको—अनर्थकारक ( या धात्रक ) और संसारजनित सम्भापसे दूषित जानकर तत्त्व ( वस्तुस्वरूप ) के जानकार साक्षात् मोक्षरूप अन्तिम पुरुषार्थके सिद्ध करनेका ही प्रयत्न किया करते हैं ॥५॥

द्रव्य और भावरूपसे उत्पन्न होनेवाले समस्त कर्मबन्धका जो विनाश है, यह उस मोक्षका स्वरूप है और वह संसारका शत्रुस्वरूप कहा गया है ॥ विशेषार्थ—मोक्ष शब्दका अर्थ है बन्धनसे छुटना, तदनुसार ओविके जो अनादिकालसे कर्मोंका बन्ध हो रहा है उससे छुटकारा पा लेनेका नाम ही मोक्ष है । वह कर्मबन्ध द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है । इनमें आत्माके साथ जो ज्ञानावशणादि पुद्गलकर्मोंका सम्बन्ध होता है उसे द्रव्यबन्ध कहते हैं । इस द्रव्यबन्धके कारणभूत जो राग-द्वेषादि परिणामोंका उस आत्मासे सम्बन्ध होता है, इसका नाम भावबन्ध है । इन दोनों बन्धोंकी परम्परा अनादि है—जिस प्रकार वीजसे वृक्ष और फिर उस वृक्षसे पुनः वीज, इस प्रकार वीज और वृक्षकी परम्परा अनादि है; उसी प्रकार भावबन्धसे द्रव्यबन्ध और फिर उस द्रव्यबन्धसे पुनः भावबन्ध, इस प्रकार इन दोनों कर्मबन्धोंकी भी परम्परा अनादि है । किर भी जिस प्रकार विषयित वीज और वृक्षमेंसे किसी एकके नष्ट हो जानेपर उनकी वह परम्परा समाप्त हो जाती है उसी प्रकार भावबन्धस्वरूप रागादि परिणामोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर वह अनादि बन्धपरम्परा भी समाप्त हो जाती है । इस प्रकार उस द्रव्यपरम्पराके नष्ट हो जानेपर जन्म-मरणकी परम्परास्वरूप संसारका विनाश हो जानेपर प्राणीको शाश्वतकी मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥६॥

१. Only P M X कि च । २. All others except P निःशेषकर्मसंबन्धपरिविद्ध्वंस ।

२५३ ) दृग्वीर्यादिगुणोपेतं जन्मकलेशैकैविच्युतम् ।

चिदानन्दमयं साक्षान्मोक्षमात्यन्तिकं विदुः ॥७

२५४ ) अत्यक्षं दिव्यातीतं निरौपम्यं स्वरूपज्ञानः ।

अविच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिपूर्णते ॥८

२५५ ) निर्मलो निष्कलः शान्तो निष्क्रियो<sup>१</sup> अत्यन्तनिर्वृतः ।

कृतार्थः साधुबोधात्मा यत्रात्मा तत्पदं शिवम् ॥९

२५६ ) तस्यानन्तप्रभावस्य कृते त्यक्ताखिलभ्रमाः<sup>२</sup> ।

तपश्चरन्त्यभी धीरा वन्धविद्वंसकारणम् ॥१०

२५३ ) दृग्वीर्यादि—आत्यन्तिकं मोक्षं साक्षात् चिदानन्दमयं विदुः । कर्त्तभूतम् । दृग्वी-  
यादिगुणोपेतम् । पुनः कीदृशस् । जन्मकलेशैः \*परिच्युतम् इति सूत्रार्थः ॥७॥ पुनस्तस्वरूपमाह ।

२५४ ) अत्यक्षं विषयातीतं—स मोक्षः परिपूर्णते । यत्र एतादुशं मुखं वर्तते । कीदृशं  
सुखम् । अत्यक्षम् अतीनिद्रियम् । पुनः कीदृशस् । विषयातीतम् । निरौपम्यम् उपमारहितम् ।  
स्वरूपभावज्ञम् । पुनः कीदृशम् । अविच्छिन्नं निरन्तरमिति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ शिवपदमाह ।

२५५ ) निर्मलो निष्कलः—यत्रात्मा कृतार्थो वर्तते । कीदृशः आत्मा । निर्मलः, निष्कलः,  
शान्तः । \*निष्प्रश्नात्यन्तनिर्वृतः । निष्प्रश्नम् अत्यन्तं निर्वृतं सुखं यत्र सः । पुनः कीदृशः । साधु-  
बोधात्मा । साधुप्रधानो बोधः शानं तदात्मा तत्पदं शिवम् उच्यते ॥९॥ तपश्चरूपम् आह ।

२५६ ) तस्यानन्तप्रभावस्य—अमो धीराः तपश्चरन्ति । किमर्थम् । तस्य मोक्षस्य कुले  
कारणाय । कीदृशस्य तस्य । अनन्तप्रभावस्य । कीदृशाः । त्यक्ताखिलभ्रमाः । कीदृशं तपः ।  
बन्धविद्वंसकारणं कर्मबन्धनाशहेतुम् ॥१०॥ अथ सम्परज्ञानादिकस्य मोक्षकारणत्वमाह ।

वह मोक्ष साक्षात् दर्शन व अनन्तवीर्यादि गुणोंसे सहित, जन्मके कलेशसे सर्वथा  
रहित तथा चित्स्वरूप आनन्दसे परिपूर्ण है । यह जीवकी त्वाभाविकी अन्तिम अवस्था  
है, ऐसा जानना चाहिए । पूर्व इलोकमें जो उस मोक्षका स्वरूप निर्दिष्ट किया है वह अभाव-  
स्वरूपसे तथा इस इलोकमें उसीका स्वरूप भावस्वरूपसे निर्दिष्ट किया है ॥७॥

जहाँपर अतीनिद्रिय, विषयोंकी अपेक्षासे रहित, अनुपम, स्वभावसे उत्पन्न हुआ ( पर-  
निरपेक्ष ) और सब प्रकारकी आवाओंसे रहित सुख उपलब्ध होता है उसे मोक्ष कहा जाता  
है ॥८॥

जिस पदको प्राप्त होकर आत्मा कर्ममलसे रहित, शरीरसे रहित, शान्त, परिस्वन्द-  
स्वरूप कियासे रहित, अतिशय सुखी, कुत्कृत्य और उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप हो जाता है उस  
पदका नाम मोक्ष है ॥९॥

उस अनन्त प्रभाववाले मोक्षको प्राप्त करनेके लिए ये धीर पुरुष समस्त ऋणिको  
छोड़कर बन्धविद्वंसके कारणभूत तपका आचरण करते हैं ॥१०॥

१. All others except P जन्मकलेशैः परिच्युतम् । २. L परिकृष्टते । ३. All others except P  
निष्प्रश्नो अत्यन्त । ४. S F C V R त्यक्ताखिलभ्रमान् ।

- २५७ ) सम्यग्ज्ञानादिकं प्राहुर्जिना मुक्तेनिवन्धनम् ।  
तेनैव साध्यते सिद्धिर्यस्मात्तदर्थिभिः स्फुटम् ॥११॥
- २५८ ) भवक्लेशविनाशाय \*पिव॑ ज्ञानसुधारसम् ।  
कुरु जन्मान्विषमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम् ॥१२॥
- २५९ ) मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानजः स्मृतः ।  
\*ध्यानवीजं भतं तद्वित तस्मात्तदित्तमात्मनः ॥१३॥
- २६० ) अपास्य कल्पनाजालं मुनिभिर्मोक्षभिर्मिछुभिः॑ ।  
प्रशमैकपरैर्नित्यं ध्यानमेवावलम्बितम् ॥१४॥ तथा च-

२५७ ) सम्यग्ज्ञानादिकं—जिना। सम्यग्ज्ञानादिकं मुक्तेनिवन्धने कारणमाहुः। यस्मात् कारणात् स्फुटं मुक्त्यथिभिः तेनैव सम्यग्ज्ञानादिना सिद्धिः साध्यते इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ ध्यानमाह ।

२५८ ) भवक्लेशविनाशाय—ज्ञानसुधारसं गिरः । त्रिमर्थम् । गवक्लेशविनाशाय । जन्मात्तदिष्टमत्येतुं भवसमूद्रं तरीतुं ध्यानपोतावलम्बनं कुरु इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ पुनर्मोक्षमाह ।

२५९ ) मोक्षं कर्मक्षयादेव—स मोक्षः कर्मक्षयादेव सम्यग्ज्ञानजः स्मृतः । हि यस्मात् कारणात् । तत्सम्यग्ज्ञानं ध्यानसार्थं॑ भतम् । तस्मात् आत्मनः तद् हितम् इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ ध्यानकार्यमाह ।

२६० ) अपास्य कल्पना—मुनिभिः प्रशमैकपरैः नित्यं ध्यानमेव अवलम्बितम् । कीदृशोः मुनिभिः । \*मोक्तुमिछुभिः । किं कृत्वा । कल्पनाजालमपास्य द्विरोक्त्य इति सूत्रार्थः ॥१४॥ तथा च ।

जिन भगवान् उस मोक्षकी प्राप्तिमें सम्यग्ज्ञान आदिको कारण बताते हैं । इसका कारण यह है कि मोक्षके अभिलाषी योगीजन स्पष्टतया उक्त सम्यग्ज्ञान आदिके द्वारा ही उस मोक्षको सिद्ध करते हैं ॥११॥

हे भव्य ! तू इस संसारके क्लेशको नष्ट करनेके लिए ज्ञानरूप असूतरसका पान कर तथा उक्त संसाररूप समुद्रको लौंघनेके लिए ध्यानरूप जहाजका आश्रय ले ॥१२॥

मोक्ष कर्मके आश्रयसे ही आविर्भूत होता है और वह कर्मका आश्रय सम्यग्ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला माना गया है । उस सम्यग्ज्ञानका बीज ध्यान है । इसलिए आत्माका हित करनेवाला वह ध्यान ही है ॥१३॥

मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंमें समस्त कल्पनाओंके समूहको छोड़कर एकमात्र प्रशममें—कथायोपशमनमें—तत्पर होते हुए निरन्तर उस ध्यानका ही आश्रय लिया है ॥१४॥

१. N सिद्धिः स्फुटं यस्मात्तदर्थिभिः, J यस्मात्मुक्तार्थिभिः, Y यस्मात्तर्वार्थिभिः । २. M पिबे दान, N पिवेत् ज्ञात । ३. Y जन्मान्विषमध्ये त्वं । ४. L ज्ञानपोता । ५. Others except P M N B Y R ज्ञानतः स्मृतः । ६. All others except P ध्यानसार्थ । ७. All others except P मोक्तुमिछुभिः । ८. P M B X तथा च ॥

२६१ ) त्यजाविद्या<sup>१</sup> भज स्वार्थ<sup>२</sup> मुश्च सज्जान् स्थिरीभव ।

यतस्ते ध्यानसामग्री सविकल्पा निगदते ॥१५॥

२६२ ) उत्तिर्षुर्महापङ्काजजन्मसंज्ञादुरुत्तरात् ।

यदि कि न तदा धत्से<sup>३</sup> धियं<sup>४</sup> ध्याने निरन्तरम् ॥१६॥

२६३ ) चित्ते तत्र विवेकश्रीर्थवङ्का स्थिरीभवेत् ।

कीर्त्यते ते तदा ध्यानलक्षणं स्वान्तशुद्धिदम् ॥१७॥

२६४ ) इयं मोहमहानिद्रा जगत्त्रयविसर्पिणी ।

यदि क्षीणा तदा क्षिरं पिव ध्यानसुधारसम् ॥१८॥

२६१ ) त्यजाविद्या—रे जीव, अविद्यामज्जातं त्यज । स्वार्थं परलोकहितं भज । संगन्तु पुत्रादिविषयान् मुच्च त्यज । स्थिरीभव । मनस्त्रिचलत्वमपास्य स्थिरो भव । यतः कारणात् ते तत्र ध्यानसामग्री सविकल्पा विकल्पसहिता निगदते । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ ध्याने धैर्यतामाह ।

२६२ ) उत्तिर्षुर्महापङ्कात्—रे जीव, यदि महापङ्कात् उत्तिर्षुर्महापङ्कात् । जन्म-संज्ञान् दुस्तरात् दुस्तोयात् । तदा ध्याने निरन्तरं धैर्यं यत्ते इति सूत्रार्थः ॥१६॥ शुद्धध्यान-लक्षणमाह ।

२६३ ) चित्ते तत्र—हे जीव, तत्र चित्ते विवेकश्रीः यदि स्थिरीभवेत् । कीदृशी विवेकश्रीः । अवङ्का । तदा ध्यानलक्षणं ते तत्र स्वान्तशुद्धिदं मनश्चुद्धिदं कीर्त्यते ॥१७॥ अथ ध्यानलक्षणमाह ।

२६४ ) इयं मोहमहानिद्रा—यदि इयं मोहमहानिद्रा यदि क्षीणा । कीदृशी । जगत्त्रयविसर्पिणी । तदा क्षिरं शोध्ये ध्यानसुधारसं पिव इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ ध्यानस्वरूपमाह ।

इसोलिए हे जीव ! तू अज्ञानमावको छोड़कर अपने प्रयोजन ( मोक्ष ) का आराधन कर और उसके लिए तू समस्त परिप्रहोंको छोड़कर स्थिर हो जा । तेरे लिए भेदपूर्वक उस ध्यानकी सामग्री कही जाती है ॥१५॥

यदि तू दुरुत्तर—दुखसे पार हो सकनेवाले—इस संसार नामक महा कीचड़से पार होनेकी इच्छा करता है तो निरन्तर अपनी शुद्धिको ध्यानमें क्यों नहीं लगाता है ? अभिप्राय यह है कि जो प्राणी गहरे कीचड़के समान भवानक इस संसारसे अपना उद्धार करना चाहते हैं उन्हें अपनी शुद्धिको निर्भल ध्यानमें लगाना चाहिए ॥१६॥

यदि तेरे अन्तःकरणमें विवेकरूप लक्ष्मी निर्भय दोकर स्थिरतासे रह सकती है तो तेरे लिए अन्तःकरणकी शुद्धिको प्रदान करनेवाले उस ध्यातके स्वरूपका कथन किया जाता है ॥१७॥

हे प्राणी ! यदि तेरी तीनों लोकोंको ध्यान करनेवाली मोहमहानिद्रा नष्ट हो चुकी है तो तू शीघ्र ही उस ध्यानरूप अमृतरसका पान कर । तात्पर्य यह कि जब तक प्राणीकी

१. P अविद्या ध्यज, M S T R मोह त्यज । २. M L S T F V C X Y R स्वरूप्यं । ३. F V C संर्वं । ४. M N तथा वेत्सि । ५. M N L S T B J वैयं, P V C X Y व्ययं । ६. F उत्तरा ।

२६५) बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसङ्गमूच्छी क्षयं गता ।

यदि तत्त्वोपदेशेन ध्याने चेतस्तदार्थ्य ॥१९॥

२६६) प्रमादविषमग्राहदन्तयन्त्राद्यदि च्युतः ।

त्वं तदा जन्म संषातधातकं ध्यानमाश्रय ॥२०॥

२६७) इमे अनन्तभ्रमासारप्रसरैकपरायणाः ।

यदि रागादयः क्षीणास्तदा ध्यातुं विचेष्यताम् ॥२१॥

२६५) बाह्यान्तर्भूतमिःशेष—तदा ध्याने चेतो अर्थ्य । तत्त्वोपदेशेन यदि बाह्यान्तर्भूत-  
निःशेषसंगमूच्छी क्षयं गता बाह्यान्तरञ्जीभूतसर्वसंगमूच्छी इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ ध्यान-  
विधनानाह ।

२६६) प्रमादविषमग्राह—रे जीव, यदि त्वं प्रमादविषमग्राहदन्तयन्त्रात् संपुटात् च्युतः  
तदा ध्यानमाश्रय ध्यानं कुरु । कीदृशं ध्यानं । \*क्लेशसंषातधातकम् । सुगमसु । इति सूत्रार्थः ॥२०॥  
अथ रागादीनामभावः ध्यानस्य कारणं भवतीत्याह ।

२६७) इमे अनन्तभ्रमासार—रे जीव, यदि इमे रागादयः क्षीणाः । कीदृशा रागादयः ।  
अनन्तभ्रमासारप्रसरैकपरायणाः अनन्तपरिञ्चमसारसमूहैकपरा इत्यर्थः । तदा ध्यातुं ध्यानं करुं  
विचेष्यताम् इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथात्मध्यानप्राधान्यमाह ।

बाह्य पर फराथोंकी ओरसे समस्त बुद्धि नहीं हटती है तब तक उसके निर्मल ध्यानकी समझ-  
यना नहीं है । इसलिए ध्यानके अभिलाषी प्राणीको उस समस्त बुद्धिका परित्याग अवश्य  
करना चाहिए ॥१८॥

यदि तत्त्वके उपदेशसे तेरी बाह्य और अन्तरंगरूप समस्त ही परिग्रहसे मूच्छी—  
समस्तबुद्धि—हट गई है तो तू अपने मनको ध्यानमें लगा ॥१९॥

यदि तू प्रमादरूप भयानक ग्राह ( हित्र जलजन्तु ) के दाँतोंके यन्त्रसे छुटकारा या  
चुका है तो तू अन्यपरम्पराको नष्ट करनेवाले उस ध्यानका आश्रय ले ॥ विशेषार्थ—उत्तम  
कार्योंके विषयमें—सदाचार प्रवृत्तिमें—जो अनादरभाव या मनकी एकाग्रताके अभावरूप  
असावधानता होती है उसका नाम प्रमाद है । जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनी असावधानी-  
से किसी जलाशयमें जाकर मगर आदिके मुखमें जा पहुँचता है और उसकी भयानक तीक्ष्ण  
दाढ़ोंके मध्यसे कठिनतापूर्वक ही छूट सकता है उसी प्रकार ४ विकाश, ४ कथाय, ५ इन्द्रिय,  
निद्रा और प्रणय; इन १५ भेदरूप उस प्रमादके वशीभूत हुए प्राणीका भी उससे छुटकारा  
पाना कठिन है । और जब तक वह उस प्रमादके वशीभूत है तब तक उसकी ध्यानमें प्रवृत्ति  
नहीं हो सकती है । इसलिए उस ध्यानकी सिद्धिके लिए विदेकी जीवको प्रयत्नपूर्वक उस  
प्रमादका परित्याग करना चाहिए ॥२०॥

यदि अनन्त संसारमें परिभ्रमण ( या अनन्त आन्ति ) स्वरूप महाबृहिके विस्तारमें

१. Others except P B J विषयग्राह । २. F V C यज्ञात्परिञ्चातः । ३. All others except P  
पलेशसंषात । ४. B विचेष्यतम् ।

- 268 ) यदि संवेगनिर्वेदविवेकैर्थासितं मनः ।  
तदा धीर स्थिरीभूय स्वस्मिन् स्वात्मं निरूपय ॥२२
- 269 ) विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।  
निर्भमत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥२३
- 270 ) निर्विष्णो इसि॑ भवोद्भूतादृदुरन्तरज्जन्मसंक्रमात् ।  
यदि धीर तदा ध्यानेधुरा॒ वैर्येण धारय ॥२४
- 271 ) पुनात्याकणितं चेतो दत्ते॒ शिवमनुष्ठितम् ।  
ध्यानतन्त्रैमिदं धीर धन्ययोगीन्द्रगोचरम् ॥२५

268 ) यदि संवेगनिर्वेद—हे धीर, तदा स्वस्मिन् स्वात्मं स्वचितं निरूपय स्थापय । कि कृत्वा । स्थिरीभूय । यदि संवेगनिर्वेदविवेकैः वासितं मनः स्थातदा इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ ध्यानलक्षणमाह ।

269 ) विरज्य कामभोगेषु—रे जीव, यदि निर्भमत्वं प्राप्तः तदा ध्यातासि नान्यथा । कि कृत्वा । कामभोगेषु विरज्य । पुनः कि कृत्वा । वपुषि स्पृहां विमुच्य इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ ध्यानशास्त्रमाद् ।

270 ) निर्विष्णो इसि—हे भ्रातः\*, जन्मसंक्रमात् यदि\* निर्विष्णो इसि श्रान्तो इसि । कीदृशाऽजन्मसंक्रमात् । दुरन्तरात् । हे धीर, परां प्रकृष्टां ध्यानधुरा॒ वैर्येण धारय इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ ध्यानस्वरूपमाह ।

271 ) पुनात्याकणितं चेतो—इदं ध्यानतन्त्र ध्यानशास्त्रं, हे धीर, आकणितं चेतः पुनाति ।

अतिशय प्रबोध—अनन्त संसारमें परिभ्रमण करानेवाले—वे रागद्वेषादि तेरे क्षीण हो चुके हैं तो तू ध्यातके लिए प्रयत्नशील हो ॥२१॥

हे धीर ! यदि तेरा मन संवेग ( धर्मानुराग ), निर्वेद ( विषयविरक्ति ) और विवेकसे संस्कृत हो चुका है तो तू अपनी आत्मामें आत्माका अवलोकन कर—आत्मध्यानमें लीन हो ॥२२॥

यदि तू कामभोगोंसे विरक्त होकर शरीरके विषयमें निःस्पृह होता हुआ निर्भमताको प्राप्त हो चुका है तो ध्याता—ध्यानका अधिकारी—हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥२३॥

हे धीर ! यदि तू संसारमें उत्पन्न दुर्विनाश जन्मपरम्परासे विरक्त हो चुका है तो साहसपूर्वक ध्यानके छोड़को धारण कर । अभिश्राय यह कि संसारमें परिभ्रमण करते हुए जीवको जो जन्म-मरणका कष्ट सहना पड़ता है, वह एकमात्र ध्यानसे ही छूट सकता है । अत एव उक्त दुःखसे छुटकारा पानेके लिए प्राणीको उस ध्यानका आश्रय लेना चाहिए ॥२४॥

प्रशस्त योगीजनका विषयमूल—महर्षियोंकि द्वारा आचरित—यह ध्यानका सिद्धान्त

१. MSTXYR इस यदा भ्रातुर्मूर्ति॑, N L F V B C J X Y यदि भ्रातः । २. All others except P तदा धीर परां ध्यानं॑ । ३. M N ध्यानतन्त्रमिदं ।

- २७२ ) विस्तरेणैव दुष्यन्ति के इप्यहो विस्तरप्रियाः ।  
संक्षेपसूचयः केचित् विचित्राश्चित्तवृत्तयः ॥२६॥
- २७३ ) संक्षेपसूच्यमिः सूत्रात्तचिरुप्यात्मनिश्चयात् ।  
त्रिधैवाभिमतं कैश्चिच्छतो जीवाशयस्त्रिधा ॥२७॥ त्रिधा तावत्—
- २७४ ) तत्र पुण्याशयः पूर्वस्तद्विपक्षो अशुभाशयः ।  
शुद्धोपयोगसंज्ञो यः स तृतीयः प्रकीर्तिः ॥२८॥

अनुष्टुप्तं सत् शिवं कल्याणं दत्ते । कीदूशं ध्यानतन्त्रम् । योगोन्द्रगोचरमिति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ  
चेतोवृत्तेः वैचित्र्यमाह ।

२७२ ) विस्तरेणैव तुष्यन्ति—अहो इति संबोधने । के इपि विस्तरप्रियाः विस्तरेणैव तुष्यन्ति ।  
त पुनः । अन्ये संक्षेपसूचयः । चित्तवृत्तयः विचित्राः इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ ध्यानत्रैविध्यमाह ।

२७३ ) संक्षेपसूच्यमिः—कैश्चित् संक्षेपसूच्यमिः तद ध्यानं त्रिधैव अभिमतं विप्रकारकथितम् ।  
सूत्रात् सिद्धान्तात् निरूप्य । कीदूशात् सूत्रात् । आत्मनिश्चययो यस्मिन् स तथा ।  
यतः कारणात् जीवाशयः त्रिधा विप्रकारः इति सूत्रार्थः ॥२७॥ त्रिधा तावत् त्रैविध्यमाह ।

२७४ ) तत्र पुण्याशयः—तत्र पूर्व<sup>१</sup>\* पुण्याशयः । तद्विपक्षः तद्विपरीतः अशुभाशयः । यः  
शुद्धोपयोगसंज्ञः शुद्धोपयोगलक्षणः । आशयः चित्ताभिप्रायः स तृतीयः इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ  
पुण्याशयमाह ।

( या ध्यानरूप विषयनाशक औषधि ) सुनने मात्रसे चित्तको पवित्र करता है तथा उसका  
आचरण करनेपर वह भोक्त्रको प्रदान करता है ॥२५॥

विस्तारमें अनुराग रखनेवाले कितने ही श्रोता विस्तारसे—विस्तृत विवेचनसे-ही  
सन्तुष्ट होते हैं । इसके विपरीत कितने ही श्रोता संक्षेपमें अनुराग रखनेवाले होते हैं । इस  
प्रकार श्रोताओं की मनोवृत्ति विविध प्रकार की हुआ करती है ॥२६॥

संक्षेपमें रुचि रखनेवाले कितने ही विद्वानोंने आत्मस्वरूपका निश्चय करानेवाले  
सूत्रसे—अर्थगम्भीर संक्षिप्त आशमवाक्यसे—देखकर उस ध्यानको तीन ( प्रशस्त, अप्रशस्त  
और शुद्ध ध्यान ) प्रकारका ही माना है । कारण कि जीवका आशय ( अभिप्राय, उपयोग )  
भी तीन प्रकारका ही है ॥२७॥

वह तीन प्रकारका आशय हस प्रकार है—उनमें प्रथम पुण्याशय ( शुभोपयोग ) और  
इसके विपरीत दूसरा अशुभ उपयोग है । शुद्ध उपयोग नामबाला जो आशय है वह तीसरा  
उपयोग कहा गया है ॥२८॥

१. All others except P संक्षेपसूचयश्चात्म्ये । २. M जीवाशयः, N जीवाशयः । ३. P M L X Y  
त्रिधा तावत् । ४. B पूर्व तद् ।

२७५ ) पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात् ।  
चिन्तनाद्वस्तुतस्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते ॥२९

२७६ ) पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तुविभ्रमात् ।  
कथार्यजन्यते ऽजस्रमसद्यानं शरीरिणाम् ॥३०

२७७ ) क्षीणे रागादिसंताने प्रसन्ने आत्मरात्मनि ।  
यः स्वरूपोपलम्भः स्थात् स शुद्धाख्यः प्रकीर्तिः ॥३१

२७८ ) शुभध्यानफलोद्भूतां श्रियं त्रिदिवसंभवाम् ।  
निविशन्ति नरा नाके क्रमाद्यान्ति परं पदम् ॥३२

२७५ ) पुण्याशयवशाज्जातं—ध्यानं प्रशस्तं तदुच्चयते । तत्किम् । यत् पुण्याशयवशाज्जातम् । कस्मात् । शुद्धलेश्यावलम्बनात् शुभादिलेश्यात्रयावलम्बनात् । वस्तुतस्वस्य चिन्तनात् इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथासदध्यानमाह ।

२७६ ) पापाशयवशात्—शरीरिणाम् असदध्यानं तद् उच्यते यद् अजस्रं निरन्तरं कथायाज्जायते\* । कस्मात् । वस्तुविभ्रमात् । पुनः कस्माज्जायते । पापाशयवशात् । मोहात् मिथ्यात्वात् जायते इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ शुद्धाशयमाह ।

२७७ ) क्षीणे रागादिसंताने—यः स्वरूपोपलम्भः स्थात् । क्व । आत्मनि । कीदूषे । प्रसन्ने । क्व साति । रागादिसंताने क्षीणे इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ शुभध्यानमाह ।

२७८ ) शुभध्यान—नराः नाके श्रियं निविशन्ति भूद्यजते । कर्थभूतां श्रियम् । त्रिदिवसंभवां देवसबन्धनीम् । पुनः कीदूषीम् । शुभध्यानफलोद्भूताम् । क्रमात् अनुक्रमात् परं पदं मोक्षं यान्ति इति सूत्रार्थः ॥३२॥ [ दुष्ट्यनिस्य फलमाह ।

उनमें शुभ उपयोगके बश शुद्ध लेश्याके आश्रयसे जो वस्तुस्वरूपका चिन्तन किया जाता है उससे उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त ध्यान कहा जाता है ॥२९॥

अशुभ उपयोगके बश आणियोंके मूढता, मिथ्यात्व, वस्तुस्वरूपकी विपरीतता और कथायोंके निमित्तसे निरन्तर अप्रशस्त ध्यान हुआ करता है । अभिप्राय यह है कि अशुभ उपयोगके बशीमूस प्राणीके मोहादिके निमित्तसे जो आते व रौद्र स्वरूप चिन्तन होता है उसका नाम अप्रशस्त ध्यान है ॥३०॥

राग-द्वेषादिकी परम्पराके नष्ट हो जानेसे अन्तरात्माके प्रसन्न होनेपर—स्व-पर विदेकके प्रगट हो जानेपर—जो आत्मस्वरूपकी उपलब्धि होती है उसे शुद्ध ध्यान कहा जाता है ॥३१॥

मनुष्य ( प्राणी ) देवलोकमें जाकर शुभ ध्यानके फल ( पुण्य ) से उत्पन्न हुई स्वर्गीय लक्ष्मीको भोगते हैं और फिर कमसे उक्त पद ( मोक्ष ) की प्राप्ति होते हैं ॥३२॥

१. M N वशाज्जन्तो । २. All others except P कथायाज्जायते । ३. F V C स्वरूपोपलविधि ।  
४. M S V B C R त्रिदिवसंभवाम् ।

279 ) दुध्यानाजजन्मजानन्तदुःखसंबन्धवर्धितम् ।

जायते देहिनां शशवस्त्रिसम्बिसं फलम् ॥३३

280 ) [दुध्यानाददुर्गतेवीर्जं जायते कर्म देहिनाय ।

क्षीयते यज्ञ कालेन महतापि कथंचन ॥३३\*१]

281 ) निःशेषक्लेशनिर्मुकं स्वभावजमनश्वरम् ।

फलं शुद्धोपयोगस्य ज्ञानराज्यं शरीरिणाम् ॥३४

282 ) इति संक्षेपतो ध्यानलक्षणं समुदाहृतम् ।

बन्धमोक्षफलोपेतं संक्षेपस्त्रिचिरञ्जकम् ॥३५

279 ) दुध्यानात्—अशुभध्यानेन प्राणिनो जन्म लभन्ते । ते च तस्मिन् जन्मान्त्रं अनन्त-  
दुःखेन परिवर्धितं स्वभावेन नीरसं च फलं भूयोभूयः अनुभवन्ति ॥३३॥ दुध्यानिं कर्मणः कारणमाह ।

280 ) दुध्यानाददुर्गतेवीर्जं—देहिनो कर्मवीर्जं जायते । कस्याः । दुर्गतेः । कस्यात् । दुध्या-  
नात् । यत्कर्म महतापि कालेन न कथंचन क्षीयते इति सूत्रार्थः ॥३३\*१॥ अथ शुद्धोपयोगलक्षणमाह ।

281 ) निःशेषक्लेशनिर्मुकं—शुद्धोपयोगस्य फलं ज्ञानराज्यं शरीरिणाम् । कोदृशं फलम् ।  
निःशेषक्लेशनिर्मुकम् । पुनः कोदृशम् । स्वभावजम् । पुनः कोदृशम् । अनश्वरम् अविनाशि इति  
सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ ध्यानसुपर्संहरति ।

282 ) इति संक्षेपतो—इति अमुना प्रकारेण संक्षेपतो ध्यानलक्षणं समुदाहृतम् उक्तम् ।  
कोदृशम् । बन्धमोक्षफलोपेतम् । पुनः कोदृशम् । संक्षेपस्त्रिचिरञ्जकमिति सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ जगतो दुर्नियशताक्रान्तस्वमाह । शिखरिणो ।

अशुभ ध्यानसे प्राणी न केवल जन्म लेते हैं अपितु उस समय उन्हें बार-बार बहुत  
दुःख सुगतना पड़ता है । जिसका फल स्वभावतः नीरस रहता है ॥३३॥

दुध्यानसे—अप्रशस्त अशुभ ध्यानसे—प्राणियोंके नरकादि दुर्गतिका कारणभूत वह  
पाप कर्म उत्पन्न होता है जो दीर्घकालमें भी किसी प्रकारसे नष्ट नहीं होता है ॥३३\*१॥

शुद्धोपयोगके फलस्वरूप प्राणियोंको वह ज्ञानका साम्राज्य ( अनन्त चतुष्पद्य ) प्राप्त  
होता है जो समस्त क्लेशोंसे रहित, स्वभावसे उत्पन्न और विनाशसे रहित ( अविनश्वर )  
होता है । सात्पर्य यह है कि प्रशस्त ध्यानका फल स्वर्गलक्ष्मी, अप्रशस्त ध्यानका फल नरकादि  
दुर्गति और शुद्ध ध्यानका फल मोक्षकी प्राप्ति है ॥३४॥

इस प्रकार संक्षेपमें रुचि रखनेवाले श्रोताजनोंको असुरजित करनेवाले उस ध्यानका  
संक्षेपमें लक्षण कहा गया है । उसका फल बन्ध और मोक्ष है । अभिप्राय यह कि अशुभ  
ध्यानका फल पापबन्ध, शुभ ध्यानका फल पुण्यबन्ध और शुद्ध ध्यानका फल मोक्ष है ॥३५॥

१. Only in P । २. All others except P read । ३. V B C R यज्ञ कर्त्तेन । ४. T लक्षण  
अमुदाहृतम् ।

283 ) [ 'अविद्याविक्रान्तैश्च पलचरितैर्दुर्नयशतै-  
र्जगल्लुमालोकं कृतमतिघनध्वान्तनिचितम् ।  
त्वयोच्छेष्याशेषं परमततमोवातभतुलं  
प्रणीतं॑ भव्यानां शिवपदभयानंननिलयम् ॥३५\*१ ॥  
इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्र-  
विरचिते संक्षेपध्यानलक्षणम् ॥३॥

283 ) अविद्याविक्रान्तैः—दुर्नयशतैः जगत् लुमालोकं नष्टज्ञानं कृतम् । कीदृशैः । अविद्या-  
विक्रान्तैः अज्ञानव्याप्तैः । पुनः कीदृशैः । चपलचरितैः चञ्चलचरितैः । पुनः कीदृशैः । अतिघन-  
ध्वान्तनिचितैः निबिडान्वकारयुक्तैः । ऐ जीव, त्वया अशेषं परमततमोवातम् अतुलम् आच्छिद्ध  
चेदयित्वा । अथ॒ आनन्तर्य॑ । भव्यानां शिवपदं प्रणेयम्॑ । कीदृशं शिवपदम् । आनन्दनिलयम्  
इति सूत्रार्थः ॥३५\*१॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवयोगप्रदीपाधिकारे साहपासा तत्पुत्र साहटोडर  
तत्पुत्र पदकप्लदिवाकर साहृरिषिदासश्वर्णार्थं पण्डितनयविलासकृतायां पण्डित जिनदासो-  
द्यमनवृत्तिः ध्यानलक्षणाधिकारः समाप्तः ।

साहृष्टीपाइवैभाभा प्रगटविभवो उभूच विल्यातकीर्तिः । तत्पुत्रो उध्यात्मवेत्ता परमचरित-  
ष्टोडरः शुद्धबुद्धिः । सदानोदारचितः सुकृतकमलो ध्यानसंभानवेताः । काशण्यश्रीविलासो जयति  
सुतरा भूतले ऋषिदासः ॥१॥ इति आशीर्वदिः । अथ स्तुविर्धं [ ध्यानम् ] । सत्यथा ।

जो अज्ञानतासे आकान्त होकर चंचल चरित्रवाले—मनमाना आचरण करनेवाले—  
और सैकड़ों अनीतियोंसे सहित हैं ऐसे मिथ्याहृष्टियोंने लोकको ग्रकाशसे—यथार्थं ज्ञानसे—  
रहित करके अतिशय घने अन्धकारसे—विपरीत ज्ञानसे—ध्यान कर दिया है । तुझे उस  
समस्त असाधारण अन्य भूतरूप अन्धकारके समूहको नष्ट करके भूत्योंके लिए आनन्दके  
स्थान स्वरूप मोक्षपदसे अनुराग करना चाहिए ॥३५\*१॥

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णवमें योगप्रदीपाधिकारमें  
संक्षेप ध्यान लक्षणरूप तीसरा प्रकरण समाप्त हुआ ॥३॥

१. P omits; In Y २८२ and २८३ are interchanged । २. M N S T V B C J Y प्रणेय ।  
३. M N पदमिहानन्द, T B J पदमधानन्द, Y पदमहानन्द । ४. F संक्षेपतो व्यानलक्षणं तृतीयः सर्वः,  
B "जिनदासोद्यमनवृत्तिध्यानलक्षणाधिकारः समाप्तः ।

## IV

## [ ध्यानगुणदोषाः ]

284 ) अथ चतुर्विधम् । तद्यथा॑—

यच्चतुर्धा॑ मतं तज्ज्ञैः क्षीणमोहैर्मनीश्वरैः ।  
पूर्वप्रकीर्णकाङ्गेषु ध्यानलक्ष्म सविस्तरम् ॥१

285 ) शतांशमपि तस्याद्य॑ न कश्चिद्वक्तुमीश्वरः ।  
तदेतेत्सुप्रसिद्धार्थ॑ दिङ्मात्रमिह वर्ण्यते ॥२

284 ) यच्चतुर्धा॑ मतं—मुनोश्वरैर्यद्यानं चतुर्धा॑ मतं कथितम् । कोदृशैः मनीश्वरैः ।  
तज्ज्ञैः ध्यानज्ञैः । पुनः कोदृशैः । क्षीणमोहैः । क्षय मतम् । पूर्वप्रकीर्णकाङ्गेषु ध्यानलक्ष्म [ध्यान] लक्षणं सविस्तरम् इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ तस्य ध्यानस्य अज्ञानतामाह ।

285 ) शतांशमपि—तस्य ध्यानस्य शतांशमपि वक्तुम् अद्य कश्चित् नेश्वरः न समर्थः ।  
तत्ततः इह शास्त्रे दिङ्मात्रं वर्ण्यते । किमर्थम् । सुप्रसिद्धवर्थमिति\* सूत्रार्थः ॥२॥ अथ ध्यानस्य सविकल्पकलामाह ।

अथवा यह चार प्रकारका हैं जो इस प्रकार है—ध्यानके रहस्यको जाननेवाले बीतराग खोरीन्द्रोंको जो चार प्रकारका ध्यान अभीष्ट है उसका स्वरूप चौदह पूर्वों, प्रकीर्णक ग्रन्थों ( सामायिक व दशवैकालिक आदि ) और आचारादि अंगोंमें विस्तारके साथ प्रस्तुपित है ॥१॥

उक्त पूर्वादिकोंमें जो विस्तारसे उसका कथन किया गया है उसके सौबों भागका भी वर्णन करनेके लिए ध्यान कोई समर्थ नहीं है । अतिशय प्रसिद्ध प्रयोजन ( मोक्ष ) को सिद्ध करनेवाले उसी इस ध्यानका यहाँ अत्यन्त संक्षेपमें वर्णन किया जाता है ॥२॥

१. P M L अथ चतुर्विधम् । २. P M L X तद्यथा । ३. B J तच्चतुर्धा॑ । ४. M N तस्यार्थ । ५. B J तदेत । ६. All others except P सुप्रसिद्धवर्थ ।

286 ) अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणदोषैः प्रपञ्चितम् ।

हेयोपादेयभावेन सविकल्पं<sup>१</sup> निगद्यते ॥३

287 ) ध्याता ध्यानमितस्तदङ्गमखिलं दृग्बोधवृत्तान्वितं

ध्येयं तदगुणदोषलाञ्छनयुतं<sup>२</sup> नामानि कालः फलम् ।

एतत्यक्षमहार्णवात् समुदितं यस्माक् प्रणीतं बुधैः-

स्तत्सम्यक् परिभावयन्तु निषुणा अत्रोच्यमानं<sup>३</sup> क्रमात् ॥४

286 ) अन्वयव्यतिरेकाभ्यां—तदध्यानं सविकल्पं निगद्यते । हेयोपादेयभावेन त्याज्य-  
प्राहुभावेन गुणदोषैः प्रपञ्चितं विस्तारितम् । काभ्याम् । अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् । सति तदभावे-  
अन्वयः । असति तदभावे व्यतिरेकः । तत्रानुमानमाह । इदं ध्यानं मोक्षसाधकम् । गुणवृत्तात् ।  
रत्नत्रयवत् । व्यतिरेकानुमानमाह । एतद् ध्यानं न मोक्षकारणम् । दीषवृत्तवात् । यत्र मोक्षकारणं  
न तद्बोधवत् प्रति न (?) इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां सविकल्पता इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ ध्यानहारमाह ।  
साठ विठ ।

287 ) ध्याता—पूर्वं ध्याता ध्यानकर्ता । ततो ध्यानम् । कोदृशम् । तदङ्गं ध्याना-  
ङ्गम् अखिलं समस्तम् । कोदृशम् अङ्गम् । दृग्बोधवृत्तान्वितं दृष्टिज्ञानचरित्रान्वितम् । पुनः  
ध्येयं वस्तु तदगुणदोषलक्षणयुतम्<sup>४</sup> । सुगमम् । नामानि । ध्यानस्य कालः । फलं ध्यानफलम् ।

अन्वय और व्यतिरेकके साथ गुण व दोषोंसे विस्तृत तथा हेय व उपादेय स्वरूपसे  
भेदको प्राप्त हुए उक्त ध्यानका यहाँ वर्णन किया जाता है ॥ विशेषार्थ—विवक्षित किसी एकके  
सद्भावमें ही जो अन्यका नियमतः सद्ग्राव पाया जाता है इसका नाम अन्वय, तथा  
विवक्षित किसी एकके अभावमें जो अन्यका नियमतः अभाव पाया जाता है, इसका नाम  
व्यतिरेक है । जैसे धुरेंका सद्ग्राव अग्निके सद्ग्रावमें ही पाया जाता है ( अन्वय ) तथा  
अग्निके अभावमें नियमतः धुरेंका अभाव पाया जाता है ( व्यतिरेक ) । प्रकृतमें अभिप्राय  
यह है कि विवक्षित गुणोंके सद्ग्रावमें ही समीचीन ध्यानका सद्ग्राव और उन गुणोंके अभावमें  
उस समीचीन ध्यानका भी अभाव रहता है । इसी प्रकार विवक्षित दोषोंके सद्ग्रावमें गियापसे  
असमीचीन ध्यान ( दुर्धर्यन ) का सद्ग्राव और उनके अभावमें उस असमीचीन ध्यानका  
भी अभाव पाया जाता है । उन गुणों और दोषोंके वर्णनके साथ उक्त ध्यानका वर्णन विस्तार-  
से किया गया है । साथ ही यहाँ यह भी कहा गया है कि जो ध्यान गुणोंसे संयुक्त है वह  
उपादेय ( ग्राह ) तथा जो दोषोंसे संयुक्त है वह हेय ( त्याज्य ) है । इस प्रकार हेय और  
उपादेयके भेदसे उक्त ध्यानके दो भेद ही गये हैं ॥३॥

ध्याता ( ध्यान करनेवाला ), ध्यान, सम्यग्दृढ़ान ज्ञान व चारित्रसे संयुक्त उसके  
समस्त अंग, गुण-दोषोंकी पहिचानके साथ ध्येय ( ध्यानके योग्य वस्तु ), ध्यानके नाम,

१. P सविकल्पं = सभेद् । २. All others except P लक्षणयुतं । ३. Y कालः स्फुटम् । ४. M N  
निषुणास्त्वबोच्यमानं ।

२८८ ) ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं फलं चेति चतुष्टयम् ।

इति सूत्रसमासेन सविकल्पं निश्चयते ॥५

२८९ ) मुमुक्षुर्जन्मनिविष्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः ।

जितात्मः संबृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥६ तद्वयाः—

एतत्सर्वं ध्यानादिसूत्रमहार्णवात् महार्णवसूत्रात् समुदितं कथितम् । बुधैः पण्डितैः यत् प्राक् पूर्वं प्रणीतम् । हे निपुणाः अत्र शास्त्रे उच्चमानं क्रमात् अनुक्रेण परिभावयन्तु इति सूचार्थः ॥४॥ अथ सविकल्पतामाह ।

२८८ ) ध्याता ध्यानं—ध्याता, ध्यानं, ध्येयं, फलं चेति सविकल्पध्यानं चतुष्विवरूपेण संक्षेपतो वर्णितम् ॥५॥ तत्र यथोदैश्च निर्देशमिति ज्ञायेत् । पूर्वं ध्यातारमाह ।

२८९ ) मुमुक्षुर्जन्म—एवंभूतो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते । कीदृशो ध्याता । मुमुक्षुः मोक्षं गत्वामिल्लुः । जन्मनिविष्णः जन्मथात्मः । पूनः कीदृशः । शान्तचित्तादि सर्वं गुणमम् ॥६॥ तद्वयाः । अथ जगत्स्वरूपमाह ।

उसका काल और फल; इन सबका समुदित रूपमें वर्णन सूत्ररूप महासिमुद्रसे जैसे विद्वानोंके द्वारा पूर्वमें किया गया है वैसे ही कमसे उन सबका कथन यहाँपर ( ध्यानार्णवमें ) किया जाता है । पण्डित जन उसका भलीभाँति पर्यालोचन ( या मनन ) करें ॥४॥

यहाँ ध्याता, ध्यान, ध्येय और उस ध्यानका फल इन चारोंका कथन भेदपूर्वक सूत्रके संक्षेपसे किया जाता है ॥५॥

यह इस प्रकारसे—जो मोक्षका अभिलाषी हो, संसार व शरीरादिसे विरक्त हो, शान्तचित्त हो, अपने आपपर—अन्तःकरणके ऊपर—नियन्त्रण रखनेवाला है, स्थिर हो—शरीरकी चंचलतासे रहित हो, इन्द्रियोंको वशमें रखता हो, और गुणिव समिते आदिसे आवृत हो—मनोन कर्मबन्धको रोक रहा हो; वह ध्याता है—ध्यानका अधिकारी है—और उसकी शास्त्रमें प्रार्थना की गयी है ॥ विशेषार्थ—इसके पूर्व इलोक ३ में यह निर्दिष्ट किया गया था कि गुण और दोषोंके सद्व्यापक व असद्व्यापके साथ आगममें उस ध्यानका वर्णन विस्तृत है । तदनुसार यहाँ उस ध्यानके कर्तामें आवश्यक कीमत-कीनसे गुण होने चाहिए, इसका दिग्दर्शन करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि सर्वप्रथम ध्याता को मोक्षका अभिलाषी होकर संसार, शरीर और भौतिके विरक्त होना चाहिए । कारण इसका यह है कि प्राणीको जब तक संसारमें परिभ्रमण करते हुए जन्मपरणके दुःखका अनुभव नहीं होगा तथा वह जब तक विषयानुराग व ममत्वबुद्धिको उसका कारण नहीं समझेगा तब तक वह संसारसे विरक्त होकर मोक्षका अभिलाषी नहीं हो सकता है । और जब तक उसे मोक्षकी अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती है तब तक उसकी ध्यानमें प्रवृत्ति हो नहीं सकती है । इसके साथ उसे जितेन्द्रिय—इन्द्रियों और मनको वशमें रखनेवाला—भी होना चाहिए क्योंकि, इन्द्रियों व मनपर विजय प्राप्त कर लेनेके बिना ध्यानमें कभी स्थिरता नहीं रह सकती है । क्रोधादि कषायं चूँकि चित्तको

१. M N इति चात्र, B ] इति ध्यानं । २. M N तद्वया—मुमुक्षु । ३. P M तद्वया—इशोर्ण ।

२९० ) उदीर्णकर्मेन्धनसंभवेन दुःखानलेनातिकदर्थ्यमानम् ।  
दंदद्वते विश्वमिदं समन्तात् प्रमादमूढं च्युतसिद्धिमार्गम् ॥७

२९१ ) दद्यमाने अगत्यस्मिन् महता योहृषिना ।  
प्रमादमदमुत्सृज्य निष्कान्ता योगिनः परम् ॥८

२९० ) उदीर्णकर्मेन्धन—इदं विड्वं जगत् समन्तात् दुःखानलेन अतिकदर्थ्यमार्गं पीड्यधानं दन्दद्वते । कीदृशेन दुःखानलेन । उदीर्णकर्मेन्धनसंभवेन उदीर्ण उदयं प्राप्तं यत् कर्म तदेवेन्धन-संभवेन । कीदृशम् । प्रमादमूढं प्रमादव्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । च्युतसिद्धिमार्गं नष्टमोक्षमार्गमिति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ योगिवेरार्थमाह ।

२९१ ) दद्यमाने अगत्यस्मिन्—योगिनः परं केवलं निष्कान्ताः । किं कृत्वा । प्रमादमदस्य उत्सृज्य त्यक्त्वा । क्व सति । अस्मिन् जगति योहृषिना महता दद्यमाने इति सूत्रार्थः ॥८॥ यौवासकुर्तिसतत्वमाह ।

कलुषित करके समीचीन ध्यानसे बिसुख करनेवाली हैं, अतएव ध्याताको उन कषायोंसे रहित होकर शान्तचित्त भी होना चाहिए । इसी प्रकार शरीरके ऊपर उसका इतना नियन्त्रण भी होता चाहिए कि हृद्धानुसार वह किसी भी एक आसनसे स्थित हो दीर्घकाल तक ध्यान कर सके । इस प्रकारसे ध्याता योगी जब गुणियों एवं समितियों आदिका परिपालन करने लगता है तब उसके नवीन कर्मोंका आगमन रुक्कर—संवर होकर—तपके प्रभावसे पूर्वसंचित कर्मकी निर्जरा भी होती है । इस प्रकार वह अन्तमें उत्कृष्ट ध्यानके आश्रयसे अपने अभीष्ट मोक्ष पदको प्राप्त कर लेता है ॥८॥

प्रमादसे योहृषको प्राप्त होकर मुक्तिमार्गसे छष्ट हुआ यह सारा विड्व उद्यमे प्राप्त हुए कर्मरूप ईंधनसे उत्पन्न हुई दुःखरूप अग्निसे अग्निशय पीड़ित होता हुआ चारों ओरसे बार-बार जल रहा है—संतप्त हो रहा है ॥८॥

इस प्रकार तीव्र योहृषर अग्निसे जाग्वल्यमान इस जगत्मेंसे केवल योगीजन ही प्रमादरूप नशाको छोड़कर बाहिर निकले हैं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार भवित्वाको पीकर उन्मत्त हुआ—नशेमें चूर—मनुष्य घरके अग्निसे जलनेपर भी उसके भीतर ही स्थित रहता है और कष्ट सहता है, किन्तु उसके बाहिर नहीं निकलता है; उसी प्रकार प्रमादी जीव भी योहृषे संतप्त रहकर कष्ट लो भोगते हैं, किन्तु उस प्रमादको नहीं छोड़ते हैं । उस प्रमादको केवल वे योगीजन ही छोड़ते हैं जिनके अन्तःकरणमें सुख-दुःखका विवेक उद्दित हो चुका है ॥८॥

२९२) न प्रमादजयः करुं धीधनैरपि पार्यते ।

महाव्यसनसंकीर्णे गृहवासे इतिनिन्दिते ॥१९

२९३) शक्यते न वशीकरुं गृहिभिश्चपलं मनः ।

अतशिच्चत्प्रशान्त्यर्थं सद्ग्रिस्त्यक्ता गृहस्थितिः ॥२०

२९४) प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्तचेतसो नूणां दुराशाप्रहर्षीडितात्मनाम् ।

नितम्बिनीलोक्नचनचौरसंकटे गृहाश्रमे नश्यति पारमार्थिकम् ॥२१

२९२) न प्रमादजयः—धीधनैः प्रमादजयः करुं न पार्यते । कथ । गृहवासे । कीदूषे । अतिनिन्दिते । पुनः कीदूषे । महाव्यसनसंकीर्णे महाकष्टव्याप्ते इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ मन-इच्छात्मलत्वमाह ।

२९३) शक्यते न वशीकरुम्—गृहिभः मनो वशोकरुं न शक्यते । अतः कारणत् चित्त-प्रशान्त्यर्थं सद्ग्रिः गृहस्थितिः त्यक्ता इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथात्मनो हिताभावमाह । वंशस्थ ।

२९४) प्रतिक्षणं द्वन्द्व—नूणां गृहाश्रमे । च पादपूरणे । आत्मनो\* हितं नश्यति । कीदूषां नूणाम् । प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्तचेतसो कलेशशतपीडितचित्तात्मनाम् । पुनः कीदूषां नूणाम् । दुराशाप्रहर्षीडितात्मनाम् । नुगमम् । कीदूषे । नितम्बिनीलोक्नचनचौरसङ्कटे इति सूत्रार्थः ॥२१॥ पुनस्तदेवाह ।

जो गृहका निवास हीने दुःखोंसे व्याप्त व अतिशय निन्दित है उसमें अत्यन्त दुद्धिमान मनुष्य भी वस प्रमादको जीवनेके लिए समर्थ नहीं होते ॥१९॥

गृहस्थ जन चैकल मनको वशमें करनेके लिए समर्थ नहीं हैं । इसीलिए सत्पुरुषोंने उस भनकी शान्तिके लिए—उसे वशमें करके ध्यानको सिद्ध करनेके लिए—उक्त गृहनिवासका परित्याग किया है ॥२०॥

सिद्धयोंके नेत्ररूप चोरोंसे विषम ( भयानक ) उस गृहस्थाश्रममें—गृहनिवासमें—भनुष्योंका मन सैकड़ों झंडाओंसे व्यथित तथा दुष्ट तृष्णारूप पिशाचसे पीड़ित रहा करता है । इसीलिए गृहके भीतर रहते हुए मनुष्योंकी—परमार्थता—संयम वृत्तमुक्तिका भाव—नष्ट हो जाता है । तात्पर्य यह है कि धरमें रहते हुए अनेक चिन्ताओंका समान करना पहला है । अतएव यहाँ रहते हुए प्राणी मोक्षके साधनभूत संयम, तप एवं ध्यान आदिका आचरण नहीं कर सकता है ॥२१॥

१. All others except P M X प्रमादजये । २. All others except P M S J X गृहे स्थितिः ।

३. M N J B गृहाश्रमे नश्यति चात्मनो हितम्, L F V C X Y स्वात्मको हितं, S T R गृहाश्रमे स्वात्महितं न स्थिति ।

२९५ ) निरन्तरात्मनिलदाहुर्गमे कुवासनाध्वान्तविलुप्तोचने ।

अनेकचिन्ताज्वरजिह्वितात्मना॑ नुणा॒ गृहे स्वात्महितं॑ प्रसिद्धति॑ ॥१२

२९६ ) विष्णमहापङ्कनिभग्नबुद्धयः प्रसुदरागज्वरयन्त्रपीडिताः ।

परिग्रहव्यालविषाग्निमूळिता॑ विवेकवीथ्यां गृहिणः सखलन्त्यभी ॥१३

२९७ ) हिताहितविमूढात्मा॑ स्वं शश्वत्वेष्टयेद् गृही ।

अनेकारमभजैः पापैः कोशकारः कुमिर्यथा ॥१४

२९५ ) निरन्तरात्मनिल—नुणा॑ गृहे स्वात्महितं॑ न सिद्धति॑ । अनेकचिन्ताज्वरजिह्वितात्मनाम् । अनेकचिन्ताज्वरपीडितात्मनाम् । कीदृशे । निरन्तरात्मनिलदाहुर्गमे सदाचत्तरिन्द्राहुर्गमीही । सुगमम् । पुनः कोदृशे । कुवासनाध्वान्तविलुप्तोचने । सुगममिति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ सति परिग्रहे विवेकाभावमाह ।

२९६ ) विष्णमहापङ्क—अमी गृहिणः विवेकवीथ्यां विवेकमार्गे सखलन्ति॑ । कीदृशाः । विष्णमहापङ्कनिभग्नबुद्धयः आप्नमहापङ्कमज्जतबुद्धयः । सुगमम् । प्रसुदरागज्वरयन्त्रपीडिताः गभीररागज्वरयन्त्रपीडिताः । पुनः कीदृशाः । परिग्रहव्यालविषाग्निमूळिता॑ परिग्रहसर्पगरान्तमूळिताः इति सूत्रम् ॥१३॥ पुनर्गृहिस्वरूपमाह ।

२९७ ) हिताहित—गृही पापैः स्वं वेष्टयेत् । शश्वत् निरन्तरम् । कीदृशाः । हिताहितविमूढात्मा॑ । कीदृशः॑ पापैः॑ । अनेकारमभजैः॑ । यथा कोशकारकुमिः कोशीटकनामा॑ कीटविशेषः॑ स्वं वेष्टयेत् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ संयमादिना रागाद्यभावमाह ।

निरन्तर आत्मध्यानरूप अग्निके सन्तापसे दुर्गम और कुत्सित वासनारूप अन्दकारसे आँखोंको अन्धा करनेवाले घरमें स्थित मनुष्योंकी आत्मा चूँकि अनेक चिन्तारूप ज्वरसे मन्द रहती है अतएव वहाँपर रहते हुए वे आत्महितको सिद्ध नहीं कर सकते हैं । अभिप्राय यह है कि गृहस्थाश्रममें रहनेवाले मनुष्य निरन्तर अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे प्रसिद्ध रहते हैं; इसीलिए वहाँ आत्महितके साधनभूत तप, संयम एवं ध्यान आदिका आचरण सम्भव नहीं है ॥१२॥

घरमें रहते हुए जिनकी बुद्धि विषयितरूप गहरे कीचड़में फँसी रहती है, जो उत्पन्न हुए रागरूप ज्वरके यन्त्रसे त्यक्त रहते हैं, तथा जो परिग्रहरूप सर्पके विषके सन्तापसे मूळित—सुध-नुध हीन—रहते हैं, वे गृहस्थ विवेकरूप वीथी ( गली ) में सखलित होते हैं—मार्गको भूल जाते हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सर्पके हाथा काटा गया मनुष्य उसके विषसे मूळित होकर मार्गसे भ्रष्ट हो जाता है उसी प्रकार घरमें रहते हुए मनुष्य विषयतृष्णाविषके समान भयानक से मूळित रहकर विवेकसे भ्रष्ट रहता है—उसे आत्म-परका विवेक नहीं रहता है ॥१३॥

हिताहितके विषयमें मूढ़ अन्तःकरणवाला गृहस्थ अपनेको निरन्तर अनेक आरम्भ

१. M N विलुप्तचेतने । २. M जिह्वात्मना । ३. L S B ] गृहे स्वात्महितं न सिद्धति । ४. F प्रसिद्धते । ५. B J °त्या शश्वत्संवेष्टयेद्गृही ।

२९८) जेतुं जन्मशतेनापि रागाद्वरिपताकिनी ।

विना संयमशस्त्रेण न सद्भिरपि शक्यते ॥१५॥

२९९) प्रचण्डपवनैः प्रायश्चाल्यन्ते यत्र भूभूतः ।

तत्राङ्गनादिभिः स्वान्तं निसर्गतरलं न किम् ॥१६॥

३००) खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते ।

न पुनर्देशकाले इपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥१७॥

२९८) जेतुं जन्मशतेनापि—सद्भिः पुरुषैः रागाद्वरिपताकिनी रागादिवैरिसेना जन्मशतेनापि जेतुं तापि शक्यते संयमशस्त्रेण विना इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ स्त्रियो मनश्चञ्चलत्वमाह ।

२९९) प्रचण्डपवनैः—यत्र भूभूतः प्रायश्चाल्यन्ते । कैः । प्रचण्डपवनैः । तत्र अङ्गनादिभिः निसर्गतरलं स्वभावचञ्चलं कि न ॥१६॥ अथ ध्यानशुद्धयमावं गृहाश्रमे दर्शयशाह ।

३००) खपुष्पमथवा—खपुष्पम् आकाशकुसुमं प्रतीयते । अथवा खरस्य शृङ्गं प्रतीयते । परं गृहाश्रमे देशकाले इपि पुनः ध्यानसिद्धिः न शब्दतीत्यर्थः ॥१७॥ अथ मिथ्यादृष्टेनां ध्यानसिद्धयमाह ।

जनित पार्षीसे इस प्रकार वेष्टित करता है जिस प्रकार कि रेशमका कीड़ा उसके तारोंसे अपनैको स्वयं वेष्टित किया करता है ॥ १४॥

संयमरूप शस्त्रके विना सत्पुरुष भी एक जन्मकी तो क्या, किन्तु सैकड़ों जन्मोंमें भी रागादिरूप शत्रुसेनाको जीतनेके लिए समर्थ नहीं होते हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शत्रुपर विजय प्राप्त करनेके लिए तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रादिकी आवश्यकता होती है उसी प्रकार दुष्ट रागादिको जीतनेके लिए—उन्हें नष्ट करनेके लिए संयमकी आवश्यकता होती है, उसके विना उनका जीतना सम्भव नहीं है ॥१५॥

जहाँ तीक्ष्ण वायुके द्वारा प्रायः करके बड़े-बड़े पर्वत विचलित कर दिये जाते हैं वहाँ क्या स्त्री आदिके हारा स्वभावसे चंचल अस्तःकरण क्या विचलित नहीं किया जाता है ? अवश्य किया जाता है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार प्रलयकालीन तीक्ष्ण वायुके द्वारा स्थिर स्थभाववाले बड़े बड़े पर्वत भी स्थानभ्रष्ट कर दिये जाते हैं उसी प्रकार गृहस्थ जीवनमें स्त्री-पुत्रादिकोंके बीचमें रहनेवाले मनुष्यका मन—जो स्वभावसे ही चंचल है—उक्त स्त्री-पुत्रादिकोंके द्वारा संयमके मार्गसे नियमतः भ्रष्ट किया जाता है । इसलिए मोक्ष सुखके साधनभूत संयम व ध्यान आदिको सिद्ध करनेके लिए मनुष्यको उस गृहस्थाश्रमका परित्याग करना ही चाहिए ॥१६॥

कदाचित् आकाश कुसुम अथवा गधेके सींगकी भी उत्पत्ति देखी जा सकती है, परन्तु किसी भी देश और कालमें गृहस्थ जीवनमें मनुष्यके ध्यानकी सिद्धि नहीं देखी जा सकती है । सात्यर्थ यह कि जिस प्रकार आकाशके कभी फूल सम्भव नहीं है, अथवा गधेके सिरपर कभी सींगोंकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार गृहस्थ अवस्थामें कभी ध्यानकी उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है ॥ विशेषार्थ—इन श्लोकोंके द्वारा गृहस्थके जो ध्यानका सर्वथा निषेध

३०१ ) दुर्दृशामपि न ध्यानसिद्धिः स्वप्ने ऽपि जायते ।  
गृहता दृष्टिवैकल्याद्वस्तुजातं यदृच्छया ॥१८॥

३०२ ) साध्यसिद्धिर्यतित्वे ऽपि न स्थात् पाषण्डनां वैचित् ।  
पूर्वापरविरुद्धार्थमतसत्तावलम्बिनाम् ॥१९॥

३०३ ) किं चै पाषण्डनः सर्वे गर्वथैकान्तदूषिताः ।  
अनेकान्तात्मकं वस्तु प्रभवन्ति न वेदितम् ॥२०॥

३०१ ) दुर्दृशामपि न—ध्यानसिद्धिः दुर्दृशां मिथ्यात्विनाम् स्वप्ने ऽपि न जायते । कीदृशां मिथ्यात्विनाम् । दृष्टिवैकल्यात् विपरीतदशोजात् वस्तुजातं यदृच्छया गृहतामिति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ पाषण्डनां सिद्धुद्धभावमाह ।

३०२ ) साध्यसिद्धिः—पाषण्डनां साध्यसिद्धिः ध्यानसिद्धिः यतित्वे अपि न स्थात् । वैचित् कुश्रापि । कीदृशा पाषण्डनाम् । पूर्वापरविरुद्धार्थमतसत्तावलम्बिनाम् । पूर्वापरविरुद्धः यः अर्थः, एतादृशी मतसत्ता मतास्तित्वं तदवलम्बिनाम् इति सूत्रार्थः ॥१९॥ किं च पक्षान्तरमाह ।

३०३ ) किं च पाषण्डनः—सर्वे पाषण्डनः अनेकान्तात्मकं स्याद्वादस्वरूपं वस्तु वेदितुं न प्रभवन्ति न समर्थः । कीदृशा । सर्वथैकान्तदूषिताः एकान्तमतदूषिताः इत्यर्थः ॥२०॥ अथ मिथ्यात्विनां जगत्परिज्ञाने नाभास्वमाह ।

किया है उससे भोक्त्रके साधक उत्कृष्ट ध्यानका ही निषेध समझना चाहिए, अन्यथा स्वर्गीय अस्तुदृशके साधनभूत धर्मध्यानको वो गृहस्थ भी कर सकता है ॥१७॥

इष्टिकी चिकिलतासे सम्यग्दर्ढनसे रहित होनेके कारण—वस्तुसमूह ( तत्त्व ) को इच्छानुसार भ्रह्म करनेवाले मिथ्याहित्योंके भी उस ध्यानकी सिद्धि स्वरूपमें भी नहीं हो सकती है ॥१८॥

पूर्वापर विरुद्ध अर्थको प्रगट करनेवाले गतोंको समीक्षीन समझकर उनका आश्रय लेनेवाले घूर्णे जनोंके साधुकी अवस्थामें भी साध्यकी—सिद्धि करने योग्य उस ध्यानकी—सिद्धि नहीं हो सकती है ॥१९॥

ये सब होंगी साधु नूँकि सर्वथा एकान्तसे—आत्मा नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, ज्ञानादि गुण आत्मासे सर्वथा भिन्न ही हैं अथवा अभिन्न ही हैं; इत्यादि प्रकारके हुराप्रहसे—दूषित होते हैं, अतएव वे अनेकान्तात्मक—कर्त्तव्यनित्यादि व भिन्नाभिन्नादि स्वरूप—वस्तुको अथार्थरूपमें जाननेके लिए समर्थ नहीं होते हैं ॥२०॥

१. S T V C R ध्यानसिद्धि । २. M N भवमूत्रादि । ३. M N किं च—पाषण्डनः उपा सर्वे ।

३०४) [ नित्यतां केचिदाचक्षुः केचिच्छानित्यतां खलाः ।

मिथ्यात्वान्मैव पश्यन्ति निरूपानित्यात्मकं जगत् ॥२०१॥ ]

३०४) नित्यतां केचिदाचक्षुः—केचित् खलाः दुर्जसा: जगत् नित्यानित्यात्मकं नैव पश्यन्ति । कर्मात् । मिथ्यात्वात् । केचित् पात्रिणः नित्यतामाहुः । च पुनः । केचित् अनित्यताम् आचक्षु-रित्यर्थः ॥२०१॥ अथ मिथ्यात्वतां ध्यानं केवलं प्रथासावेत्याह ।

कितने ही दृष्टि ( मिथ्याहृष्टि ) वस्तुकी सर्वथा नित्यताको और कितने ही उसकी सर्वथा अनित्यताको कहते हैं । वे उस मिथ्यात्वके ही कारण बिद्वको कथंचित् नित्यानित्य-स्वरूप नहीं देखते हैं ॥ विशेषार्थ—नैयायिक, वैशेषिक और सांख्य आदि आत्माको जहाँ सर्वथा नित्य व एक स्वरूप ही मानते हैं वहाँ बौद्ध उसे सर्वथा अणिक ही मानते हैं । उक्त नैयायिक आदि जिस सामान्यको वस्तुभूत मानते हैं, उसे ही बौद्ध अवस्तुभूत व अज्ञान-जित मानते हैं । इस प्रकार तीव्र मिथ्यात्वसे प्रस्त कितने ही प्रकान्तवादियोंने परस्पर विलम्ब अनेक मतोंको प्रचलित किया है । उनका आश्रय लेकर अनेक बोले जीव आत्महृतसे वंचित होते हैं । वशार्थमें विचार किया जाय तो प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मवाली है । उदाहरण-स्वरूप यदि आत्मा द्रव्य हृष्टिसे—अपने अविनश्वर चैतन्य स्वभावकी अपेक्षा—नित्य है तो वही पर्याय हृष्टिसे—नरनारकादि अवस्थाओं अधबा ग्रतिक्षण परिवर्तित होनेवाली पर्याय ( अर्थपर्याय ) की अपेक्षा—अनित्य भी है । और ऐसा माननेमें कुछ विरोध भी नहीं है, कथोंकि, लोक व्यवहारमें भी किसी एक ही व्यक्तिके विषयमें परस्पर विलम्ब प्रतीत होनेवाले पिता व पुत्र आदिका अपेक्षाकृत व्यवहार देखा ही जाता है । इसी प्रकार वैशेषिक यदि आत्मासे ज्ञानादि विशेष गुणोंको सर्वथा भिन्न—समवाय नामक सम्बन्धसे सम्बद्ध—मानते हैं तो विज्ञानाद्वैतवादी दृष्ट्यमान समस्त बिद्वको ही ज्ञानस्वरूप मानते हैं—ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुका सद्भाव नहीं मानते हैं । परन्तु दुराघटको छोड़कर यदि यम्बोरतासे विचार करें तो जिस प्रकार अग्निकी उष्णता तीनों ही कालोंमें कभी उस अग्निसे पृथक् नहीं पायी जाती है—सर्वथा उससे अभिन्न ही देखी जाती है—उसी प्रकार आत्मासे वे ज्ञानादि गुण भी कभी पृथक् नहीं हो सकते हैं, अन्यथा उस आत्माका फिर कोई जिज स्वरूप ही नहीं रहेगा । इस हृष्टिसे आत्मासे वे ज्ञानादि अभिन्न हैं । परन्तु ज्ञानगुण आत्माका है इस सम्बन्धसूचक भेद व्यवहारके साथ दोनोंके नाम ( आत्मा व ज्ञान ) व लक्षण आदि भी पृथक् पृथक् देखे जाते हैं; अतएव व्यवहारकी अपेक्षा आत्मासे उक्त ज्ञानादिके भिन्न माननेमें भी कोई विरोध नहीं है । परन्तु जब तक जीवकी वह मिथ्या हृष्टि नहीं हटती है तब तक वह कदाघटको नहीं छोड़ता है, और जब तक कदाघट है तब तक वस्तुकी अनेकान्तरात्मकताका बोध नहीं हो पाता है । इस कारण मिथ्याहृष्टियोंके भी उस ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥२०१॥

305 ) वस्तुतस्यापरिज्ञानात् किं ध्येयं च भावना ।

ध्यानाभ्यासस्ततस्तेषां प्रयासायैव केवलम् ॥२१

306 ) <sup>३</sup>उक्तं च—

शतमाशीतं प्रथितं क्रियाविदां वादिनां प्रचण्डानाम् ।

चतुरधिकाशीतिरिपि प्रसिद्धमहसां विपक्षाणाम् ॥२१\*१

307 ) <sup>३</sup>षष्ठिविज्ञानविदां सप्तसमेतां प्रसिद्धोधानाम् ।

द्वात्रिशष्ठैनविका भवन्ति सर्वे प्रवादविदः ॥२१\*२॥ इति ।

308 ) ज्ञानादेवेष्टसिद्धिः स्यासतोऽन्यः शास्त्रविस्तरः ।

मुक्तेरुक्तमतो बीजं विज्ञानं ज्ञानवादिभिः ॥२२

305 ) वस्तुतस्यापरिज्ञानात्—तेषां मिथ्यात्विनां ध्यानाभ्यासः केवल प्रयासाय । कस्मात् । वस्तुतस्यापरिज्ञानाभावात् । च पुनः । किं ध्येयम् । भावना क्वेत्यर्थः ॥२१॥ [ एकान्तवादिनां संख्याभेदानाह ।

306-7 ) शतमाशीतं—प्रचण्डानां क्रियावादिनां संख्या अशोत्यविकशतमिता होय । तद्विपक्षाणामक्रियावादिनां तु संख्या चतुरबीतिरिति प्रसिद्धा । विगतं ज्ञानं येऽप्यस्ते विज्ञानिनः अज्ञानिनः । अज्ञानवादिनां संख्या सप्तषष्ठिः । तथा च वैनविकानां संख्या द्वात्रिशष्ठ्यप्रसिद्धा । एवं मिलित्वा एतेषाम् एकान्तवादिनां संख्या विषष्टधिविकशतप्रयात्मिका भवति ॥२१\*१-२॥ ] अथ ज्ञानवादिनभाव ।

308 ) ज्ञानादेवेष्टसिद्धिः—ज्ञानवादिभिर्विज्ञानं मुक्तेः बीजम् उक्तम् । अतः कारणात्

इस प्रकार वस्तुतस्यरूपका यथार्थं ज्ञान न होनेसे क्या ध्येय ( ध्यानके योग्य वस्तु ) हो सकता है और कहाँ भावना ( चिन्तन, ध्यान ) हो सकती है ? अर्थात् जब तक ध्यान और ध्येय आदिके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक उस ध्यानकी सम्भावना ही नहीं रहती है । फिर भी मिथ्याहष्ठि जन जो उस ध्यानका अभ्यास करते हैं वह केवल उनके परिश्रमका ही कारण होता है—उसका फल उन्हें कुछ भी उपलब्ध नहीं होता है, केवल इत्यर्थका कष्ट ही होता है ॥२१॥ कहा भी है—

प्रचण्ड क्रियाके ज्ञाता वादियोंके—क्रियावादियोंके—एक सौ अस्सी ( १८० ) भेद प्रसिद्ध हैं, प्रसिद्ध तेजवाले—प्रभावशाली—विपक्षभूतवादियोंके ( अक्रियावादियोंके ) चौरासी ( ८४ ) भेद हैं, प्रसिद्ध ज्ञानवाले ज्ञानविदोंके—अज्ञानियोंके—सङ्ख्यात ( ६७ ) भेद हैं, तथा वैनविक बत्तीस ( ३२ ) होते हैं । ये सब ही ( १८० + ८४ + ६७ + ३२ = ३६१ ) प्रवादके जाननेवाले ( वादी ) होते हैं ॥२१\*१-२॥

अभीष्टकी सिद्धि एकमात्र ज्ञानसे ही होती है । उसके अतिरिक्त अन्य सब शास्त्रका विस्तार भाव है । इस कारण ज्ञानवादियोंने विज्ञानको मुक्तिका कारण बतलाया है ॥२२॥

१. N कि ध्यानं कव । २. B J om. । ३. B J om. । ४. All others except P सप्तसमेता ।  
५. P Y इति । ६. M मुक्तिरूपत ।

309 ) कैश्चिच्च कीर्तिता मुक्तिर्दर्शनादेव केवलम् ।

जादिनां खलु सर्वेषामपाकृत्य नयान्तरम् ॥२३

310 ) अथान्यैर्बुद्धेनैवं गुरुकृत्यं परिगमितिरम् ।

अपास्य दर्शनज्ञाने तत्कार्यविफलश्रमे ॥२४

311 ) विज्ञानादिविवर्णे अस्मिन् द्वे द्वे इष्टे तथा परैः ।

स्वसिद्धान्तावलेपेन जन्मसंततिशात्मे ॥२५

312 ) एकैकं च त्रिभिर्नेष्टुं द्वे द्वे नेष्टुं तथापरैः ।

त्रयं न रुचये अन्यस्य समैते दुर्दृशः स्मृताः ॥२६

ज्ञानादेव इष्टसिद्धिः स्थान् । ततो ज्ञानादन्यः शास्त्रविस्तरः इति सूत्रार्थः ॥२२॥ पुनः केषां मुक्तिमाह ।

309 ) कैश्चिच्च कीर्तिता—केवलं दर्शनादेव कैश्चित् मुक्तिः कीर्तिता । च पादपूरणे । खलु निश्चयेन । सर्वेषां वादिनां नयान्तरम् । अपाकृत्य निराकृत्य इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथान्येषां चारित्रप्रधानमाह ।

310 ) अथान्यैर्बुद्धेन—अयेति पञ्चान्तरम् । अन्येरेकं वृत्तमेव चारित्रम् एव मुक्त्यज्ञं परिकोर्तितम् । किं कृत्या । दर्शनज्ञाने अपास्य द्वूरोऽन्तः । कीदृशे दर्शनज्ञाने । तत्कार्यविफलश्रमे तथोः विफलश्रमः ययोः ते तथा ॥२४॥ अथेषां स्वरूपमाह ।

311 ) विज्ञानादिविवर्णे—तथा परैः अन्यवादिभिः द्वे द्वे ज्ञानदर्शनेन इष्टेन अभिलषते । च च सति । अस्मिन् विज्ञानादिविवर्णे ज्ञानदर्शनचारित्रे । केन । स्वसिद्धान्तावलेपेन निष्ठसिद्धान्ताहेकारेण । कीदृशे हे । जन्मसंततिशात्मे स्फुटने इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ वादिनां ज्ञानात्ममाह ।

312 ) एकैकं च त्रिभिर्नेष्टुं—त्रिभिः एकैकं नेष्टुं न प्रधानम् । च पुनः । द्वे द्वे नेष्टुं । तथा परैः

किन्हीं वादियोंने अन्य सब वादियोंके मतान्तरका निराकरण करके मुक्तिका कारण केवल दर्शन ( सम्यगदर्शन ) को ही बतलाया है ॥२६॥

अन्य वादियोंने उस मुक्तिरूप कार्यमें व्यर्थके परिशमस्वरूप सम्यगदर्शन और ज्ञानका निराकरण करके केवल एक चारित्रको ही मुक्तिका कारण बतलाया है ॥२७॥

अन्य वादियोंको अपने मतके अभिभानमें चूर द्वोनेसे जन्म परम्पराके विनाशस्वरूप उस मुक्तिमें उक्त विज्ञानादि तीनमेंसे दो दो—सम्यगदर्शन-सम्यगज्ञान, सम्यगदर्शन-चारित्र और सम्यगज्ञान-चारित्र—कारण इष्ट हैं ॥२८॥

तीन मिथ्याहृष्टियोंको उक्त सम्यगदर्शनादि तीनमेंसे एक एक इष्ट नहीं है, अन्य तीन मिथ्याहृष्टियोंको उनमेंसे दो दो इष्ट नहीं है, तथा दूसरे एक मिथ्याहृष्टिको वे तीनों ही नहीं बचते हैं । इस प्रकार ये सात मिथ्याहृष्टि माने गये हैं ॥ विजेषार्थ—मुक्तिकी प्राप्ति सम्य-

१. Y Reads thus : विज्ञानादि “ । त्रयं न रुचये ” ॥२८॥ स्वसिद्धान्ता ” । एकैकं च त्रिभिः ” ॥२९॥

२. S T F V C X R नहीं है द्वे नहीं । ३. N S T F V C X R बचते अन्यस्य ।

313 ) उक्तं च—

ज्ञानहीना<sup>३</sup> क्रिया पुंसि परं नारभते<sup>४</sup> फलम् ।

तरोऽश्लायेव कि न स्यात् फलधीर्नएष्टुष्टिभिः ॥२६\*१

314 ) ज्ञानं पञ्चौ<sup>५</sup> क्रिया चात्ये<sup>६</sup> निःश्रद्धे नार्थकृत् इत्यम् ।

ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्र्यं तत्पदकारणम् ॥२६\*२

अन्यैः नाभिलषते । अन्यस्य वादिनः रुचये त्रयं ज्ञानदर्शनचारित्रं न भवति । एते सप्त दुदृष्टाः पिश्यादृष्ट्यः स्मृताः इति सूत्रार्थः ॥२६॥ उक्तं च । ज्ञानरहिता क्रिया फलवती नेत्याह ।

313 ) ज्ञानहीना क्रिया—ज्ञानहीना क्रिया चारित्रं परं फलं नारभते न प्राप्यति नष्टुष्टिभिः फलधीर्न कि लभ्या<sup>७</sup> । इवोत्प्रेक्षते । तरोः छाया इव । अपि तु न लभ्या इत्यर्थः ॥२६\*१॥ अथ ज्ञानचारित्रयोः स्वरूपमाह ।

314 ) ज्ञानं पञ्चौ—ज्ञानं पञ्चौ<sup>८</sup> । च पुनः क्रिया अन्या<sup>९</sup> । निःश्रद्धे सम्यग्दर्शनरहिते ज्ञानचारित्रे । अर्थकृत् शिवपददातुद्यं ज्ञानचारित्रं न भवतोत्यर्थः । तत्स्तस्तस्मात्कारणात् । ज्ञानदर्शनचारित्रयं तत्पदकारणमिति सूत्रार्थः ॥२६\*२॥ अथ ज्ञानचारित्रयोरन्योन्यं विना विफलत्वमाह ।

दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी ही पूर्णतासे होती है । परन्तु कुछ (सात) पिश्याहष्टि ऐसे हैं जो उन तीनोंमें पक, दो अथवा तीनोंको ही मुक्तिका कारण नहीं मानते हैं । ऐसे—१. सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको ही मानता है, किन्तु सम्यक्चारित्रको नहीं मानता । २. सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको तो मानता है, किन्तु सम्यग्ज्ञानको नहीं मानता । ३. सम्यग्ज्ञान और चारित्रको तो मानता है, किन्तु सम्यग्दर्शनको नहीं मानता । ४. केवल सम्यग्दर्शनको ही मानता है, शेष दोको नहीं मानता । ५. केवल सम्यग्ज्ञानको ही मानता है, शेष दोको नहीं मानता । ६. केवल सम्यक्चारित्रको ही मानता है, शेष दोको नहीं मानता । ७. उन तीनोंको ही मुक्तिका कारण नहीं मानता ॥२६॥ कहा भी है—

ज्ञानसे रहित क्रिया पुरुषमें उसम फलको नहीं प्राप्तम् करती है । ठीक है—जिनकी हष्टि नष्ट हो गयी है—जो अन्ये हैं—उन्हें क्या वृक्षकी छायाके समान फलोंकी समर्पति प्राप्त हो सकती है ? उन्हें न वृक्षकी छाया प्राप्त हो सकती है और न फलसमर्पति भी ॥२६\*१॥

लैंगदे पुरुषके ज्ञान है पर क्रिया नहीं है—वह अग्नि आदिको देखते भी भाग नहीं सकता है; इसलिए उसका वह ज्ञान निरर्थक है । अन्ये समुद्धर्में क्रिया है—वह भाग सकता है, पर ज्ञान नहीं है; इसलिए उसकी क्रिया निरर्थक है । तथा जो श्रद्धासे रहित है उसका ज्ञान और क्रिया द्वोनों ही व्यर्थ हैं ॥२६\*२॥

१. T om, three verses । २. M N S T V C X Y K ज्ञानहोने । ३. M नारभते । ४. All others except P कि लभ्या फले । ५. M पञ्चो, B J पञ्च । ६. M चात्ये ।

315) हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता अज्ञानिनः क्रिया ।

धावक्षयन्थको नष्टः पश्यमपि च पद्मुकः ॥२६\*३॥ इति ।

316) कारकादिकमो लोके<sup>३</sup> व्यवहारश्च जायते ।

न पक्षे अन्विष्यमाणोऽपि सर्वथैकान्तवादिनाम् ॥२७

315) हतं ज्ञानं—क्रियाशून्यं ज्ञानं हतं नष्टम् । च पुनः । अज्ञानिनः क्रिया हता । अन्थकः धावक्षयन्थपि नष्टः । च पुनः । पश्यन् पद्मुको नष्टः । इति सूत्रार्थः ॥२६\*३॥ अथेकान्तवादिनां क्रियाभावत्वमाह ।

316) कारकादिकमो—लोके कारकादिकमो क्रिया-कारकादिकमो जायते । च पुनः । व्यवहारो जायते । एकान्तवादिनां स व्यवहारः सर्वथा पक्षे अन्विष्यमाणोऽपि न भवतीत्यर्थः ॥२७॥ उक्तं च । अथ क्रममाह । पृथ्वी ।

जिस प्रकार क्रियासे रहित कोरा ज्ञान नष्ट होता है—व्यर्थ होता है—उसी प्रकार अज्ञानीकी क्रिया भी व्यर्थ होती है। ठीक है—ज्ञानहीन अन्धा मनुष्य मार्गका ज्ञान न होनेसे जिस प्रकार इधर-उधर भागता हुआ भी अग्निमें जलकर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार लँगड़ा मनुष्य भागनेकी क्रियासे रहित होनेके कारण अग्निको देखता हुआ भी उसमें जलकर नष्ट हो जाता है ॥२६\*३॥

लोकमें सर्वथा एकान्त रहित रखनेवाले वादियोंके पक्षमें—उनके मतके अनुसार— योजा जानेवाला भी कारकोंका क्रम नहीं बनता है और न लोकव्यवहार भी उस अवस्थामें चल सकता है ॥ चिठोधार्थ—सर्वथा नित्यत्व आदि एकान्त पक्षको स्वीकार करनेवाले वादियोंके यहाँ—वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसिक, सांख्य और बौद्ध आदि मतोंमें—जो विभिन्न प्रकारके कार्योंकि लिए विविध प्रकारके कर्ता आदि कारकोंकी गवेषणा की जाती है उह व्यर्थ होती है । उदाहरण स्वरूप वैशेषिक और नैयायिक द्वयोंमें दिशा, काल, आकाश, आत्मा, मन और पृथिव्यादिके परमाणुओंको; गुणोंमें परम महस्त्वादिको तथा सामान्य, विशेष और समवाय इन पदार्थोंको भी सर्वथा नित्य मानते हैं । सो उनके मतानुसार जब ये सर्वथा ही नित्य हैं तब वे जिस स्वरूपमें कर्तादि कारकोंकी उपस्थितिके पूर्वमें थे उसी स्वरूपमें उनकी उपस्थितिके समय भी रहेंगे, क्योंकि, सर्वथा नित्य—एक ही स्वरूपमें उपस्थित—होनेसे उनमें किसी प्रकारके विकारकी सम्भावना नहीं है । अतएव उन कर्तादि कारकोंकी योजना व्यर्थ सिद्ध होती है । और यदि कर्तादि कारकोंकी उपस्थितिमें उनके स्वरूपमें कुछ परिवर्तन होता है तो फिर उनके द्वारा मानी गयी सर्वथा नित्यताके व्याधातका प्रसंग अनिवार्य होता है । इसके अतिरिक्त जब आत्मा आदि सर्वथा-नित्य हैं तो वे विकारसे प्रसंग अनिवार्य होता है । इसके अपरिणमनस्वभाव—होनेसे स्वयं कर्तादिकारकस्वरूपको नहीं प्राप्त हो सकते हैं, रहित—अपरिणमनस्वभाव—होनेसे स्वयं कर्तादिकारकस्वरूपको नहीं प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि, क्रियाविशिष्ट द्रव्यको ही कारक कहा जाता है । सो वह क्रियाविशिष्टता सर्वथा नित्यस्वरूपसे अभिग्रेत उक्त आत्मा आदिमें सम्भव नहीं है । इस प्रकार सर्वथा नित्यत्व पक्षके ग्रहण करनेपर लोकमें जो कार्य-कारण आदिका व्यवहार देखा जाता है वह तथा

१. B क्रिया शून्या । २. P M इति । ३. M N लोकव्यवहारस्त्र । ४. L S °वाणेश्वि ।

३१७ ) तदुक्तम्—

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेषः क्रमे—  
व्ययो ज्यमनुषङ्गजं फलमिदं दशेर्यं मम ।  
अयं सुहदयं द्विषत्प्रयतदेशैकालादिना  
इति प्रतिक्रितर्क्यन् प्रयतते बुधो नेतरः ॥२७\*१॥ इति ।

३१८ ) यस्य प्रश्ना स्फुरत्पुच्चैरनेकान्ते च्युतभ्रमा ।

ध्यानसिद्धिविनिश्चेया तस्य साध्वी महात्मनः ॥२८

३१७ ) इदं फलमियं—इदं फलम्, इयं क्रिया, एतत्करणम्, एषः क्रमः\* । यथा पश्वोविदा [?] फलम् । द्वैवीभावः क्रिया । कुठारः करणम् । व्ययो नाशः अयम् । इदम् जनुषंगजं प्रसंगजं फलम् । इयं दशा मम । अयं सुहद् । अयं द्विषत् वैरी । इसी सुहदद्विषी, नियतो देशकाली ययोस्तौ नियतदेशकाली\* । बुधः पष्ठितः । इति वितर्क्यन् प्रयतते यत्नं करोति । नेतरो जनः मूर्खजनः । इति सूत्रार्थः ॥२७\*१॥ अथ स्थावादमतावलम्बिनः ध्यानसिद्धिमाह ।

३१८ ) यस्य प्रश्ना—यस्यानेकान्तवादे स्थाद्वादे उच्चैः प्रश्ना बुद्धिः स्फुरति । कीदृशी

बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था भी असम्भव हो जावेगी । इसी प्रकार शब्द और आत्मा आदिको सर्वथा नित्य माननेवाले भीमासकोंके मतमें तथा पुरुषको कूटस्थ नित्य व निर्विकार माननेवाले सख्लयोंके मतमें भी ये ही दोष समझने चाहिए । इसके विपरीत सब ही पदार्थोंको सर्वथा ही क्षणिक माननेवाले बीदोंके यहाँ भी उपयुक्त कार्य-कारणभाव और बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था नहीं बन सकती है । कारण इसका यह है कि कार्य-कारणभावकी व्यवस्था-के लिए स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान आदिकी आवश्यकता होती है । सो वे सर्वथा क्षणिकवादमें सम्भव नहीं हैं, क्योंकि, पूर्वमें जिसका दर्शन हो चुका है उसीके विषयमें स्मृति और प्रत्यभिज्ञान हुआ करते हैं । इसलिए अब तक विवित पदार्थका कुछ काल तक अवस्थान न माना जावे तब तक वे सम्भव नहीं हैं । इसी प्रकार कुछ काल स्थायित्वके बिना बन्ध-मोक्षादिकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती है ॥२८॥ कहा भी है—

विद्वान् मनुष्य यह कार्य है, यह उसकी क्रिया है, यह करण है, यह उसकी उत्पत्तिका क्रम है, यह व्यय है—पूर्व अवस्थाका विनाश है अथवा हानि है, यह आनुषंगिक फल है, यह मेरी अवस्था है, यह मित्र है, यह शत्रु है, और ये निश्चित देश-काल हैं; इस प्रकारसे विचार करके ही किसी कार्यके लिए प्रयत्न करता है । परन्तु मूर्ख भनुष्य उस सबका विचार किये बिना ही कार्यमें प्रवृत्त हो जाता है जो अन्तमें या तो असफल होता है या फिर अनिष्ट फलका भोक्ता होता है ॥२७\*१॥

जिस भद्रपुरुषकी बुद्धि भ्रान्तिको छोड़कर अनेकान्तरके विषयमें अतिशय प्रकाशमान

१. M B उक्तं च— २. All others except P क्रमी व्ययो । ३. N द्विषत् प्रयतदेश, All others except P N द्विष्वित । ४. P M इति ।

३१९ ) ध्यानतन्त्रे निषिद्ध्यन्ते<sup>१</sup> नैते<sup>२</sup> मिथ्यादृशः परम् ।

मुनयो ऽपि जिनेशाङ्गाप्रत्यनीकारचलाशयाः ॥२९॥

३२० ) योग्यता न यतित्वे ऽपि येषां ध्यातुमिह क्षणम् ।

अन्विष्य<sup>३</sup> लिङ्गमेतेषां सूत्रसिद्धं<sup>४</sup> निगद्यते ॥३०॥ तदथाँ—

३२१ ) यत्कर्मणि न तद्वाचि वाचि यत्तत्र चेतसि ।

यतेर्यस्य स कि ध्यानपदवीमधिरोहति ॥३१॥

प्रजा । च्युतभ्रमा नष्टभ्रान्तिः । तस्थ महात्मनो ध्यानसिद्धिविनिषेधा ज्ञातव्या । कीदृशी ध्यान-सिद्धिः । साध्वी प्रधानेत्यर्थः ॥२८॥ अथ मिथ्यादृष्टीना ध्याननिषेधमाह ।

३१९ ) ध्यानतन्त्रे—एते मिथ्यादृशः ध्यानतन्त्रे ध्यानशास्त्रे न केवल निषेध्यन्ते<sup>५</sup> । परं केवलम् । अपि पक्षान्तरे । मुनयो जिनेशाङ्गाप्रत्यनीकाः प्रतिकूलाः निषेध्यन्ते । पुनः कीदृशाः । चलाशयाः चलचित्ताः । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ यतीनामपि ध्यानाभावमाह ।

३२० ) योग्यता न—इह अगति यतित्वेऽपि योग्यता तेषां न, येषां यतीनां धातुं लिङ्ग-चिह्नमन्विष्य विलोक्य । सूत्रसिद्धिः<sup>६</sup> सिद्धान्तप्रसिद्धिनिगद्यते कथयते । हति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ यतेष्यनिपदवीं किमधिरोहति ।

३२१ ) यत्कर्मणि न—यस्य यतेऽपि कर्मणि यज्ञ तद्वाच्यपि न । यद्वाचि न तत् चेतस्यपि न । स यतिष्यनिपदवीं किमधिरोहति । अपि तु नेत्यर्थः ॥३१॥ अथ संगिनां लाघवमाह ।

होती है—जो एकान्तवादको छोड़कर दृढ़तासे अनेकान्तरका आश्रय ले लेता है—उस महात्मा-के ही उत्कृष्ट ध्यानकी सिद्धि होती है, ऐसा निष्ठय करना चाहिए ॥२८॥

ध्यानके व्यवहारमें केवल ये मिथ्यादृष्टि ही निषिद्ध नहीं हैं, किन्तु अस्थिर अभिप्रायवाले वे मुनि भी निषिद्ध हैं जो कि जिनेन्द्र-आशा (जिनशरण)के विपरीत आचरण करते हैं ॥२९॥

जिनके मुनि अवस्थामें भी क्षणभर भी ध्यान करनेकी योग्यता नहीं है, उनके उस आगमोक्त चिह्नको खोजकर वहाँ बसलाते हैं ॥३०॥

बहु इस प्रकार है—जिस मुनिके जो कुछ क्रियामें है वह वचनमें नहीं है—जो कहता कुछ है और करता कुछ अन्य ही है—थथा जो वचनमें है वह मनमें नहीं है—जो मनसे कुछ अन्य विचार करता है और वचनसे कुछ अन्य ही प्रगट करता है—वह मुनि क्या ध्यानके मार्गपर आसूद हो सकता है? नहीं हो सकता ॥३१॥

१. J निषेध्यन्ते । २. Y न ते मिथ्या । ३. M N अन्वीक्य लिङ्ग । ४. M N L F V B C J Y सूत्रसिद्धिनिगद्यते । ५. P M तदथा ।

३२२ ) संगेनापि गुरुत्वं<sup>१</sup> ये मन्यन्ते स्वस्य लाभवम् ।

परेषां संगवैकल्यात्ते स्वबुद्धयव वक्षिताः ॥३२

३२३ ) <sup>२</sup>सत्संयमधुरा धृत्वा तुच्छशीर्मदोद्धतैः ।

त्यक्ता<sup>३</sup> यैः प्रच्युतस्थैर्यैर्ध्यतिमीर्शं बव तन्मनः ॥३३

३२४ ) कीर्तिपूजाभिमानात्तेलोक्यात्रानुरक्षितैः ।

बोधचक्षुविलुप्तं यैस्तेषां ध्याने न योग्यता ॥३४

३२२ ) संगेनापि महत्वं—ये संगेनापि स्वस्य महत्वं मन्यन्ते, परेषां लाभवं मन्यन्ते । संगवैकल्यात्, संगत्यागात् । ते स्वबुद्धयव वक्षिताः । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ तुच्छशीलानां संयमाक्षमत्वमाह ।

३२३ ) इत्तत्त्वभुतां चैत्रैः सञ्चयन्तु चारं धृत्वा त्यक्ता । कीदृशैर्यैः । तुच्छशीर्मदोद्धतैः तुच्छात्मारैः । पुनः कीदृशैः । मदोद्धतैः । पुनः कीदृशैः । च्युतस्थैर्यैः । तन्मनः तेषां मनः ध्यातुं ध्यानं कर्तुं क्वेषां बव समर्थम् । अपि तु न क्वापोति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ पुनः केषांचित् ध्यानयोग्यताभावमाह ।

३२४ ) कीर्तिपूजा—ये बोधचक्षुविलुप्ता<sup>४</sup> ज्ञानवक्षुरहिताः । पुनः कीदृशाः । कीर्तिपूजाभिमानात्ताः । सुगमम् । पुनः कीदृशाः । लोक्यात्रानुरक्षिताः । सुगमम् । तेषां ध्याने न योग्यता इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथान्ताकरणद्वयभावे तत्त्वज्ञानाभावमाह ।

जो साधु परिग्रहके निमित्तसे भी अपनेको महान् और उसके बिना दूसरोंको तुच्छ गिनते हैं वे अपनी ही दुर्बुद्धिसे ठगे जाते हैं । विशेषार्थ—सञ्च्चा साधु निःस्पृष्ट होकर आरम्भ और परिग्रहसे रहित होता है । जो वस्तुतः प्रशंसनीय है । इसके विपरीत जो साधुका वेष धारण करके भी विषयोंमें अनुरक्त रहते हुए परिग्रहको धारण करते हैं वे अतिशय निकृष्ट हैं । उनकी अपेक्षा तो ब्रतरहित सञ्चयगृहिणी गृहस्थ ही प्रशंसनीय होता है ( २० भा० ३३ ) । इस प्रकार जो साधुके व्यार्थ स्वरूपसे रहित होकर उसके वेषमें परिग्रहसे अनुराग ही नहीं रखते, बल्कि उसके आश्रयसे अपनेको महान् तथा उसके बिना दूसरोंको—सभीचीन साधुओंको—हीन समझते हैं वे अपनी ही दुर्बुद्धिके कारण कष्टको आमन्त्रित करते हैं । ऐसे साधुओंके ध्यानकी सम्भावना नहीं है ॥३२॥

अतिशय अभिमानी व द्वीन स्वभाववाले जिन भनुष्योंने सभीचीन संयमके भारको धारण करके भी पश्चात् अपने अस्थिर स्वभावके कारण उसे छोड़ भी दिया है उनका मन कहीं ध्यानके लिए समर्थ हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥३३॥

जो लोग कीर्ति, प्रतिष्ठा और अभिमानसे व्याकुल रहते हैं; लोक व्यवहारमें अनुराग रखते हैं; तथा जो ज्ञानरूप नेत्रसे रहित हैं—अहानी व अविवेकी हैं; वे ध्यानके योग्य नहीं हैं ॥३४॥

१. All others except P संगेनापि महत्वं । २. M N सत्संगम, T सं संयम । ३. N Y त्यक्त्वा यैः । ४. N यैत्यु च्युत, All others except P N यैः सा च्युत । ५. P M N J B मानात्तां रक्षितां विलुप्ता यैः । [ These readings of P are later corrections ] L विलुप्ता यैः ।

325 ) अन्तःकरणशुद्धयर्थं मिथ्यात्वविषयुदत्तम् ।

निष्ठूर्तं<sup>१</sup> यैर्न निःशेषं न तैस्तत्त्वं प्रभीयते ॥३५

326 ) दुःखमन्वादयं<sup>२</sup> कालः कार्यसिद्धेन साधकः<sup>३</sup> ।

इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषां कैश्चिद्वाचानं निषिध्यते<sup>४</sup> ॥३६

327 ) संदिग्धते<sup>५</sup> मतिस्तत्त्वे यस्य कामार्थलालसा ।

‘विश्रलब्धान्यसिद्धान्तैः स कथं ध्यातुमहंति ॥३७

328 ) निसर्गच्छलं चेतो नास्तिकैविप्रतारितम् ।

स्याद्यस्य स कथं तत्त्वपरीक्षायां<sup>६</sup> क्षमो भवेत् ॥३८

325 ) अन्तःकरणशुद्धयर्थं — यजीवैमिथ्यात्वविषयतःकरणशुद्धयर्थं चित्तशुद्धयर्थं निःशेषं निष्ठूर्तं वमितम् । कीदूर्ण मिथ्यात्वं विषयम् । उद्धतम् । तैस्तत्त्वं न प्रभीयते आयते इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ दुःखमात्मालस्य भावात्मवाह ।

326 ) दुःखमन्वादयं—कैश्चित् वादिभिः स्वस्य च पुनरन्येषां धर्मनं निगदते<sup>७</sup> । किञ्चत्वा । इत्युक्त्वा । इतीति किम् । अर्य कालः कार्यसिद्धेभ्यनिस्य न साधकः दुष्कर्मत्वात्<sup>८</sup> । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथान्यसिद्धान्तविप्रतारितस्य तत्त्वाभावमाह ।

327 ) संविद्याते मतिस्तत्त्वे—यस्य पुरुषस्य तत्त्वे मतिः संदिग्धति<sup>९</sup> संदेहं करोति । कीदूषी मतिः । कामार्थलालसा । सुगमम् । पुनः कीटशः । अन्यसिद्धान्तैः विप्रलुब्धो<sup>१०</sup> विश्रतारितः । स मुनिध्यातुं कथमहंति । न अहंतीति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ चेताहचञ्चलत्वमाह ।

328 ) निसर्गच्छलं चेतोः—यस्य मुनेः चेतो नास्तिकैविप्रतारितम् । कीदूर्ण चेतः । निसर्ग-

जिन्होंने अन्तःकरणको निर्भल करनेके लिए मिथ्यात्वरूप समस्त प्रबल विषयको नहीं थूका है—नहीं नष्ट किया है—वे यथार्थ वस्तुस्वरूपको प्रमाण नहीं मानते हैं—उसे वे अयथार्थ स्वरूपमें ही प्रहृण करते हैं ॥३५॥

यह ( पंचम ) काल ध्यानके लिए अतिशय विषय होनेसे कार्यसिद्धिको—ध्यानके फलको—सिद्ध करनेवाला नहीं है, ऐसा कहकर कितने ही मनुष्य अपने आपको तथा अन्य जनोंके लिए भी उस ध्यानका निषेध किया करते हैं ॥३६॥

जिसकी बुद्धि तत्त्वके विषयमें सन्देहको प्राप्त है—जिसे वस्तुस्वरूपका निश्चय नहीं है, जिसे काम ( विषयभोग ) और धनकी अभिलाषा है, तथा जिसकी बुद्धि अन्य सिद्धान्तोंके आश्रयसे ठगी गयी है वह ध्यान करनेके लिए भला कैसे योग्य हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥३७॥

चित्त स्वभावसे ही चंचल है । फिर जिसके उस चंचल चित्तको नास्तिकोने—ठग

१. M N निर्धूर्तं यैर्न प्रकीयते । २. All others except P B J दुःखमत्वात् । ३. S V B C J X Y साधकः । ४. B J ध्यानं निषेधते । ५. F संदिग्धते । ६. J विप्रलुब्धो । ७. M N नास्तिकैवि प्रता<sup>११</sup> । ८. All others except P ध्यानपरीक्षायां ।

३२९ ) कान्दर्पीप्रमुखाः पञ्च भावना रागरञ्जिताः ।

येषां हृदि पदं चक्रः वव तेषां वस्तुनिश्चयः ॥३९

३३० ) [ 'कान्दर्पी कैलिबषी चैव भावना आभियोगिकी<sup>३</sup> ।

दानवी चापि संमोही त्याज्या पञ्चतयी<sup>४</sup> च सा ॥३९\*१ ]

चपलं स्वभावचक्रचलं यदि स्यात् स \*ध्यानपरीक्षायां ज्ञानः समर्थः कथं भवेत् इति सूत्रार्थः ॥३८॥  
अथ कान्दर्पीप्रमुखभावनायुक्तस्य ध्यानाभावमाह ।

३२९ ) कान्दर्पीप्रमुखाः—कान्दर्पी-किलिबषी-आसुरी-संमोही-आभियोगिकीप्रमुखाः पञ्च-  
भावना येषां हृदि पदं स्थानं चक्रः, तेषां वस्तुनिश्चयः आत्मनिश्चयः वव । न क्वापीति भावार्थः  
॥३८॥ अथ पञ्चभावमाह ।

३३० ) कान्दर्पी कैलिबषी—कान्दर्पी, कैलिबषी, आभियोगिकी, दानवी, संमोही एवं पञ्च-  
प्रकारा भावनाः वस्तुशातुभिस्त्याज्याः ॥३९\*१॥ अथ कुत्सितचारित्रस्य त्रिपाकरत्वमाह ।

लिया है, मिथ्याहृषियोगे मोहित करके उसे सन्मार्गसे विमुख कर दिया है—यह ध्यानकी  
परीक्षामें कैसे समर्थ हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥३८॥

जिनके हृदयमें रागसे रंगी हुई कान्दर्पी आदि पाँच भावनाओंने स्थान बना रखा है  
उनके तत्त्वका निश्चय कहाँसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥३९॥

कान्दर्पी, कैलिबषी, आभियोगिकी, दानवी और पाँचवीं संमोही भावना; ये पाँचों ही  
भावनाएँ छोड़नेके शोभ्य हैं । विशेषार्थ—कान्दर्पी आदि नामोंके अनुसार इन भावनाओंका  
स्वरूप निम्न प्रकार प्रतीत होता है—१. कन्दर्प नाम कामवासनाका है । उस कामके वशीभूत  
होकर असत्यके आश्रयसे हँसी-मजाक करना, इसका नाम कान्दर्पी भावना है । इस भावना-  
के वशीभूत हुआ प्राणी कन्दर्प जातिके देवोंमें जन्म प्रहण करता है । २. किलिबषीका अर्थ  
पाप होता है । तीर्थकर व संघकी महिमा तथा आगम प्रन्थोंके प्रतिकूल रहकर उनका  
अनादर करना, यह कैलिबषी भावना है । इसमें रत हुआ प्राणी किलिबषिक जातिके देवोंमें  
उत्पन्न होता है । ३. भूतिकर्म ( शरीरमें भूमिका लेपन ) और मन्त्रादिमें आसक्त रहना,  
दूसरोंसे बलपूर्वक काम करना तथा अन्यजल्दीका परिहास करना; इसका नाम आभियोगि-  
की भावना है । इसके वशीभूत हुआ प्राणी आभियोग्य जातिके देवोंमें उत्पन्न होता है ।  
४. क्रोधादि कषायोंमें आसक्त रहकर क्रूरतापूर्ण आचरण करना तथा हृदयमें वैरभाव रखना,  
यह दानवी, ( आसुरी ) भावना कही जाती है । इस भावनामें रत रहनेवाला प्राणी आसुर  
जातिके देवोंमें उत्पन्न होता है । ५. मूढ़ताके वश कुमारांगका उपदेश करना तथा सभीष्ठीन  
मार्गके विषयमें विवाद करना, इसका नाम संमोही भावना है । इसके वशीभूत हुआ प्राणी  
संमोह जातिके देवोंमें उत्पन्न होता है । इसीलिए यहाँ इन उपर्युक्त पाँचों विकृष्ट भाव-  
नाओंके परित्यागकी प्रेरणा की गयी है ॥३९\*१॥

१. F C कान्दर्पीप्रमुखाः, V कन्दर्पीप्रमुखाः । २. P M N omitt । ३. F कान्दर्पी योगिनी, S कान्दर्पी  
योगिकी, L योगिनी; J कैलिबषी चैव । ४. B संमोही—पंचमी च सा ।

३३१) मार्जीररसितप्रायं येषां वृत्तं त्रपाकरम् ।

तेषां स्वप्ने इपि सद्ध्यानसिद्धिनेवोपजायते ॥४०॥

३३२) अनिश्चाक्षसंताना अजितोप्रपरीषहाः ।

अत्यक्तचित्तचापल्याः प्रसखलन्त्यात्मनिश्चये ॥४१॥

३३३) अनासादितनिर्वेदा अविद्याब्याधवञ्चिताः ।

असंबिंधितसंवेगा न विदन्ति परं यदम् ॥४२॥

३३१) मार्जीररसितप्रायं—येषां वृत्तं चारित्रं मार्जीररसितप्रायं मार्जीरशब्दसदृशं निःष्टप्रायं त्रपाकरं लज्जाकरमिति भावः । तेषां स्वप्ने इपि सद्ध्यानसिद्धिनेवोपजायते इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथाजितेन्द्रियाणामात्मनिश्चयाभावमाह ।

३३२) अनिश्चाक्ष—एतादृशा मनुष्या आत्मनिश्चये आत्मज्ञाने प्रसखलन्ति पतन्ति । कीदृशाः । अनिश्चाक्षसंतानाः । न निश्चाक्षसंतानमिन्द्रियसमूहो यैस्ते तथा । पुनः कीदृशाः अजितोप्रपरीषहाः । न जिता उपरोषहा यैस्ते तथा । पुनः कीदृशाः । अत्यक्तचित्तचापल्याः, न त्यक्तं चित्तचापल्यं यैस्ते तथेति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ केषांचित् परमपदाप्राप्तिमाह ।

३३३) अनासादितनिर्वेदा—एवंभूताः मनुष्याः परं पदं मोक्षं न विदन्ति न जानन्ति । कीदृशाः । अनासादितनिर्वेदाः अप्राप्यवैराग्याः । पुनः कीदृशाः । अविद्याब्याधवञ्चिताः अज्ञानवपाक-

जिनका आचरण बिल्लीके कथनके समान लज्जाजनक है उनके सभीचीन ध्यानकी सिद्धि स्वप्नमें भी नहीं हो सकती है ॥ विशेषार्थ—बिल्लीके विषयमें यह किंवदन्ती लोकमें प्रसिद्ध है कि एक बिल्लीको जब चूहे खानेके लिए दुर्लभ हो गये तब उसने यह प्रचार प्रारम्भ किया कि मैंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा करके यह नियम किया है कि अबसे मैं किसी भी चूहेका भक्षण नहीं करूँगी । बिल्लीके इस कपटपूर्ण प्रचारसे प्रभावित होकर चूहे निःशंक होकर उसके पास आने लगे और वह उन्हें खाने लगी । इससे तात्पर्य यह हुआ जिन्होंने केवल दूसरोंको ठगानेके लिए ही सदाचारिताका दोष धारण किया है उन अथवा मनुष्योंका सभीचीन ध्यान कर्मो भी नहीं हो सकता है ॥४०॥

जिन्होंने विषयोंकी ओरसे अपनी इन्द्रियोंको नहीं रोका है, परीषहोंपर विजय प्राप्त नहीं की है, तथा चित्तकी अस्थिरताको भी नहीं रोका है वे आत्माके निश्चयमें सखलित (च्युत ) होते हैं—उन्हें कभी आत्मस्वरूपका निश्चय नहीं हो सकता है और इसीलिए वे ध्यानके पात्र नहीं हैं ॥४१॥

जिन्होंने कभी निर्वेदको प्राप्त नहीं किया है—जो संसार, शरीर और मोर्गोंकी ओरसे विरक्त नहीं हुए हैं, जो अविवेकरूप व्याधसे ठगे गये हैं—अविवेकके कारण सभीचीन मार्गके

334 ) न चेतः करुणाकान्तं न च विज्ञानवासितम् ।

विरतं च न भोगेभ्यो यस्य ध्यातुं न स क्षमः ॥४३१

335 ) लोकानुरक्षकैः पापैः कर्मभिगौरवं श्रिताः ।

अरञ्जितनिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रताः ॥४४२

336 ) अनुद्रूतमनःशल्या अकृताध्यात्मनिश्चयाः ।

अभिन्नभावदुलेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने ॥४५३

वच्छिताः । पुनः कीदृशाः । असर्ववित्तसंवेगाः, न वधितः संवेग इन्द्रियविषया प्रवृत्तिः इति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथ कस्यचित् ध्यानाक्षमत्वमाह ।

334 ) न चेतः करुणा—यस्य चेतः करुणाकान्तं दयायुक्तं न । च पुनः यस्य चेतः विज्ञानवासितं न । च पुनः भोगेभ्यो न विरतं न विरक्तं, स ध्यातुं न क्षमः न समर्थः, इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथेतदेवाह ।

335 ) लोकानुरक्षकैः पापैः—एतादृशाः मनुष्याः अक्षार्थगहने इन्द्रियार्थगहने रताः । पुनः कीदृशाः । पापैः कर्मभिगौरवमाश्रिताः । कोदृशीः कर्मभिः । लोकानुरक्षकैरिति । पुनः कीदृशाः । अरञ्जितनिजस्वान्ताः अरञ्जितस्वचित्ताः । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ ध्यानसाधनं केषांचिच्चाह ।

336 ) अनुबृतमनःशल्याः—एतादृशाः मनुष्याः ध्यानसाधने निषिद्धाः । कीदृशाः । अनुद्रूतमनःशल्याः अनुत्पादितमनःशल्याः । पुनः कीदृशाः । अकृताध्यात्मनिश्चयाः । अभिन्नभावदुलेश्याः पूर्वाभावदुलेश्याः । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पुनरस्तेषां स्वरूपमाह ।

प्रतिकूल हैं, तथा जिनका संवेग—धर्मानुराग—बुद्धिको प्राप्त नहीं हुआ है वे उत्कृष्ट पदको—मोक्षको—नहीं जानते हैं ॥४२॥

जिसका अन्तःकरण दयासे द्यात्म, विज्ञानसे संस्कृत और भोगोंकी ओरसे विरक्त नहीं हुआ है वह ध्यानको करनेके लिए समर्थ नहीं है ॥४३॥

जो लोगोंको अनुरंजित करनेवाली पापकियाओंसे—मन्त्र-तन्त्रादिके प्रयोगसे—अपने-को महान् समझते हैं, जिनका अन्तःकरण निजमें—अध्यात्ममें—अनुरक्त नहीं हुआ है, जो इन्द्रियोंके विषयरूप बनमें विचरण करते हैं, जिन्होंने मनके भीतरसे शल्यको—माया द्यवहार, मिथ्यात्व एवं भोगाकृशाको—दूर नहीं किया है, जिन्होंने आत्माके स्वरूपका निश्चय नहीं किया है तथा जिन्होंने दुष्ट भावलेश्याको—अशुभलेश्याको—नष्ट नहीं किया है; वे ध्यानकी सिद्धिमें निषिद्ध हैं—वे ध्यानके अधिकारी नहीं हैं ॥४४-४५॥

३३७ ) नर्मकौतुककौटिल्यं पापसूत्रोपदेशकाः ।

अज्ञानशिवत्रिशीणिङ्गा मोहनिद्रास्तचेतनाः ॥४६

३३८ ) अनुचुक्तास्तपः कर्तुं विषयग्रासलालसाः ।

ससंगाः शङ्कुता भीता मन्ये अमी दैवतश्चिताः ॥४७

३३९ ) एते तृष्णीकृतस्वार्था मुक्तिश्रीसंगनिःस्पृहाः ।

प्रभवन्ति न सद्व्यानमन्वेषितुमपि क्षणम् ॥४८

३४० ) पापाभिवारकर्मणि सातद्विरसलम्पटैः ।

यैः क्रियन्ते उथमैमोहाद्वाहं हतं तैः स्वजीवितम् ॥४९ तथा च-

३३७-३८ ) नर्मकौतुक—अहम् एवं मन्ये । अमी मोहनिद्रास्तचेतनाः पुरुषाः तपः कर्तुं मनुचुक्ताः उद्धरहिताः । पुनः कीदृशाः । नर्मकौतुककौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः हास्यकूटकौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः । पुनः कीदृशाः । \*अज्ञानज्वरद्वाणिङ्गाः । पुनः कीदृशाः । विषयग्रासलालसाः विषयभक्षणतत्पराः । पुनः कीदृशाः । ससञ्जाः सपरिग्रहाः । पुनः कीदृशाः । शङ्कुताः भीताः दैवतश्चिताः । इति सूत्रद्वयार्थः ॥४६-४७॥ अथ मूलोनां स्वरूपमाह ।

३३९ ) एते तृष्णीकृत—एते मनवः सद्व्यानमन्वेषितुं विलोकयितुं क्षणमपि न प्रभवन्ति । कीदृशाः । तृष्णीकृतस्वार्थाः । पुनः कीदृशाः । मुक्तिश्रीसञ्जनिःस्पृहाः । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४८॥ मोहात् पापैः स्वजीवितं हन्यते तानाह ।

३४० ) पापाभिवार—हा इति खेदे । तैः स्वजीवितं हतम् । कस्मात् । मोहात् । तैः कैः । यैः पापाभिवारकर्मणि क्रियन्ते । कीदृशीः । सातद्विरसलम्पटैः साताद्विरसलम्पटैः इति सूत्रार्थः ॥४९॥ तथा च ।

जो क्रीडा, कौतूहल, कुटिलता और पापाचरणमें प्रबृत्त करनेवाले आगम ( कुश्रुत ) का उपदेश देते हैं; जिनका शरीर अज्ञानरूप कोहसे गल रहा है; जिनकी चेतना ( विवेक ) को मोहरूप नीदने नष्ट कर डाला है, जो तपके करनेका कभी उद्यम नहीं करते हैं, जिनकी इच्छा विषयोंसे ब्रह्म है—जो विषयालुरागी, परिग्रहसे सहित हैं, तत्त्वके विषयमें सन्देहको प्राप्त हैं, तथा भयमीत हैं; उन्होंने ऐसा समझता हूँ कि वे दैवसे ठगे गये हैं—पापसे पीड़ित हैं । इसी कारण वे अपने स्वार्थको—आत्महितको—सृष्टके समान तुच्छ समझकर कभी मुक्तिरूप उद्धमीके सम्भोगकी इच्छा नहीं करते हैं । ऐसे मनुष्य क्षणमरके लिए उस समीक्षीन व्यापके स्वोजनेके लिए भी समर्थ नहीं होते हैं ॥४६-४८॥

जो अधम मनुष्य मोहवश सात, रस और ऋद्विरूप तीन गारबोंमें लम्फट होकर पापाचरणको करते हैं, खेद है कि उन्होंने अपने जीवनको नष्ट कर दिया है—उन्होंने अपने आपको भयानक कष्टमें डाल दिया है ॥४९॥

१. M N T कौटिल्याः पाप । २. All others except P अज्ञानशिवत्रसर्वाः, P शिव = कुष ।

३. J सत्संगाः । ४. N मोहात्माहर्त । ५. P M L B X तथा च, F तथाण ।

३४१ ) वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोचाटनं तथा ।

जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम् ॥५०

३४२ ) पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ ।

विद्याच्छेदस्तथा वेष्ठे ज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सितम् ॥५१

३४३ ) यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः कालवश्चना । ३४३) यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः कालवश्चना ।

पादुकाउननिखिशभूतभोगीन्द्रसाधनम् ॥५२

३४४ ) इत्यादिविक्रियाकर्मरज्ञितैदुष्टचेष्टितैः ।

आत्मानमपि न जाते न एषं लोकद्वयच्युतैः ॥५३

३४१ ) वश्याकर्षणविद्वेष—दुष्टचेष्टितैः दुष्टकर्मकर्तृभिरात्मानमपि न जातम् । कीदृशम् । नष्टम् । कोदृशैस्तैः । लोकद्वयच्युतैः । पुनः कीदृशैः । इत्यादिविक्रियाकर्मरज्ञितैः । इतीति किम् । वश्यं मन्त्रादिना स्त्रोपुरुषयोर्वशीकरणम् आकर्षणं दूरस्थस्य मन्त्रादिना । विद्वेषं परस्परं विद्वेषः । मारणं दुष्टमन्त्रादिना । उच्चाटनं विरसि समशानोत्क्षेपादि । जलानलविधाणां स्तम्भः । रसकर्म पारदादिक्रिया । रसायनं रूप्यसिद्धधारि । इति श्लोकार्थः ॥५०॥

३४२ ) पुरक्षोभेन्द्र—पुरक्षोभेन्द्रजालं च, पुरक्षोभः नगरक्षोभः, इन्द्रजालं इन्द्रजालविद्या । च पुनः । बलस्तम्भः कटकादिस्तम्भः । जयाजयौ जयपराजयौ । विद्याच्छेदः परविद्योच्छेदः । वेष्ठः प्रहादिविषयः । ज्योतिर्ज्ञानं व्यवहारलग्नादिकस् । रत्नमालाभवतदीपादिविक्रितिस्तं भिषग्विद्यानिदानचिकित्सादिशास्त्रमिति सूत्रार्थः ॥५१॥

३४३ ) यक्षिणी—यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः निविदर्ज्ञानाङ्गजादयः । कालवश्चना वायु-आरणा । पादुकां परिवायाकाशोत्क्षेपादि । अञ्जनं गुप्ताञ्जनम् । निलिंगशभूतभोगीन्द्रसाधनं, खड्ग-साधनं, भूतसाधनं क्षेत्रपालाद्याराधनम् । भोगीन्द्रसाधनं धरणेन्द्रपद्मावत्याराधनम् । इति सूत्र-चतुष्प्रार्थः ॥५२॥ [ एतासां दुष्टक्रियाणां फलमाह । ]

३४४ ) इत्यादिविक्रिया—एतासु दुष्टक्रियासु अनुरक्ता जनाः इहपरलोकसुखात् च्युताः भवन्ति । आत्मानं आत्मस्वरूपं ज्ञातुमपि ते त प्रभवतीत्यर्थः ॥५३॥ ] अथ वर्तित्वे जीवनोपायाभावमाह ।

इसके अतिरिक्त—जो लोग वशीकरण, आकर्षण, विद्वेष, मारण, उच्चाटन—सन्त्रक्षे प्रभावसे किसी वस्तुको अपने स्थानसे उड़ा देना, जल, अग्नि एवं विषको रोकना; रसकर्म—सुवर्णादि वसानेकी क्रिया, रसायन—आयुर्वेदमें निर्दिष्ट कुटीप्रावेशिक और वातात्पिकरूप रसायनोंका प्रयोग, नगरको क्षोभित करनेवाला इन्द्रजाल ( मायाकर्म ), सेनाको कीलित करना, जीत-हार, विद्याको नष्ट करना, विद्व करना, ज्योतिषका जानना, चिकित्साका परिज्ञान; यक्षिणी, मन्त्र च पातालकी सिद्धि; मृत्युको रोकना; पादुकासाधन—खड्डाउओंको पहचकर

१. B ] बलस्तम्भो । २. B ] तथा वस्त्रज्योतिः । ३. M N यक्षिणीबिल्पाताल । ४. M N आत्मा शुश्रो इपि न जाती न हो । ५. L S T F V C Y R न जातु । ६. P इत्याच्युतैः ।

३४५ ) यतित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः ।  
मातुः पणमिवौलम्ब्य यथा केचिद्गतघृणाः ॥५४

३४६ ) निस्त्रयाः कर्म कुर्वन्ति यतित्वे अतिनिन्दितम् ।  
ततो विराघ्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे ॥५५

३४७ ) अविद्याश्रयणं युक्तं प्राग्गृहावस्थितैर्वर्तम् ।  
मुक्त्यज्ञं लिङ्गमादाय न इलाद्यं लोकदम्भनम् ॥५६

३४५ ) यतित्वं जीवनोपायं—केचित् यतित्वमवलम्ब्य जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः । मातुः पणं मातुः शपथम् अवलम्ब्य किं यथा लज्जन्ते । कीदूशाः केचित् । गतघृणाः निर्देष्याः । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथ सन्मार्गंच्युतानां नरकफलमाह ।

३४६ ) निस्त्रयाः कर्म—केचित् निस्त्रयाः निलंज्जाः यतित्वे अपि अतिनिन्दितं कर्म कुर्वन्ति । ततस्तस्यात् । सन्मार्गं विराघ्य नरकोदरे विशन्ति प्रविशन्तीत्यर्थः ॥५५॥ अथ मुक्तेः लिङ्गमाह ।

३४७ ) अविद्याश्रयण—प्राक् पूर्वं गृहावस्थितैर्गृहस्थैरविद्याश्रयणं युक्तम् । मुक्त्यज्ञं लिङ्गं विलंज्जमादाय लोकदम्भनं लोकविप्रतारणं न इलाद्यं न शस्यम् ॥५६॥ अथ वुधानामशुभकर्मणो हेयत्वमाह ।

जलके ऊपरसे तथा आकाशमें गमन करना, अंजनसाधन—भूमिके भीतर स्थित धातु आदि-को देख सकना, निर्दिशसाधन—अग्निं व जलमय अस्त्र-शस्त्रादिको सिद्ध करना, भूत ( व्यन्तर ) साधन तथा सर्पसाधन—सर्पको बशमें करना, इनको आदि लेकर विविध प्रकार की क्रियाओंमें अनुरक्त होकर दुराचरणमें प्रदूस हो रहे हैं वे आत्मस्वरूपके जाननेमें असुमर्थ होकर दोनों लोकोंसे भ्रष्ट होते हैं ॥५७-५८॥

जिस प्रकार कितने ही निर्देय ( या निर्लंज ) मनुष्य माताके मूल्यका आलम्बन लेकर—उसे वेश्या बनाकर—आजीविकाको सिद्ध करते हैं और इसके लिए लज्जित नहीं होते हैं उसी प्रकार कितने ही निर्देय—अपने आपमर भी दया न करनेवाले मनुष्य मुनिलिंगको आजीविकाका साधन बनाकर लज्जित क्यों नहीं होते हैं ? अर्थात् उन्हें इसके लिए अवश्य लज्जित होना चाहिए । कारण यह कि जो लोग मुनिलिंगको धारण करके भी निर्लंज होते हुए अतिशय निन्दित कार्य करते हैं वे इस प्रकारसे समीचीन मार्ग ( मोक्षमार्ग ) की विराघना करके नरकके मध्यमें प्रविष्ट होते हैं ॥५८-५९॥

मुनिलिंग धारण करनेके पूर्व जिस प्रकार गृहमें अवस्थित थे उसी प्रकारसे घरमें रहकर ही अज्ञानताका आश्रय लेता—निर्दिश कार्य करना—कदाचित् योग्य कहा जा सकता था, परन्तु मुक्तिके कारणभूत लिंगको—मुनि अवस्थाको—प्राहण करके लोगोंको ठगना अर्थात् उस मुनिलिंगके विरुद्ध आचरण करना, कभी भी प्रशंसनोय नहीं हो सकता है ॥५९॥

१. B यतित्वे ओर २. V B C X Y R मातुः पणमिव । ३. T विवालम्ब । ४. N यथा केवन निर्षृणाः । ५. M लोकदम्भन ।

३४८ ) मनुष्यत्वं समासाद्य यतित्वं च जगन्नतम् ।

हेयमेवाशुभं कर्म<sup>१</sup> विवेच्य<sup>२</sup> नियतं<sup>३</sup> श्रुधीः ॥५७

३४९ ) अहो विभ्रान्तचित्तानां पश्य पुंसां विचेष्टितम् ।

यत्प्रपञ्चैर्यतित्वे ऽपि नीयते जन्म निष्फलम् ॥५८

३५० ) उक्तं च—

भुक्ताः श्रियः सकलकामदुषास्ततः किं  
संतपिताः प्रणयिनस्तु<sup>४</sup> धनैस्ततः किम् ।  
न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किं  
कल्पं स्थितं<sup>५</sup> तनुभूतां तनुभिस्ततः किम् ॥५८\*६

३४८ ) मनुष्यत्वं समासाद्य—बुधैरघुभं कर्म हेयमेव । कि कृत्वा । \*स्वहितं आत्महितं विवेच्य विचार्य । च पक्षान्तरे । मनुष्यत्वं समासाद्य यतित्वं च समासाद्य । कोदृशम् । \*अग्ननुत्तमिति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ यतित्वे ऽपि जन्म निष्फलमाह ।

३४९ ) अहो विभ्रान्तचित्तानां—अहो इत्याश्चर्ये । रे जीव, त्वं पश्य पुंसां विचेष्टितम् । कोदृशां पुंसाम् । विभ्रान्तचित्तानाम् । यत्प्रपञ्चैः पाषण्डैर्यतित्वे ऽपि जन्म निष्फले भवतीत्यर्थः ॥५८॥ उक्तं च । अथ संसारसकलसुखानामहारतामाह । वसन्ततिलका छन्दः ।

३५० ) भुक्ताः श्रियः—मो भव्याः, सकलकामदुषाः सर्वाभिगुणादायकाः श्रियः भुक्ताः, तत् कि जातम् । न किमपि । तु धनैः प्रणयिनः सुजनाः संतपिताः प्रीणिताः । ततः कि जातम् । न किम-पोत्यर्थः । विद्विषतां वैरिणां शिरसि यदि पदं न्यस्तं स्थापितं, ततः कि जातम् । कल्पं यावत् स्थितं, ततः किम् । कैः । तनुभूतां शरीरिणां तनुभिरिति सूत्रार्थः ॥५८\*६॥ वसन्ततिलका ।

मनुष्य पर्याय और उसके साथ लोकपूर्व्य मुनिलिंगको पा करके विद्वान् मनुष्योंको विचारपूर्वक नियमसे उस अशुभ ( निन्दा ) कार्यको छोड़ना ही चाहिए ॥५७॥

आइचर्य है कि मनमें विपरीतताको स्थान देनेवाले उन मनुष्योंकी प्रबुत्तिको देखो कि जो मुनिलिंगका आश्रय लेकर भी दूसरोंको प्रतारित करनेवाले कार्योंको करके इस मनुष्य जन्मको व्यर्थ करते हैं ॥५८॥

कहा भी है—यदि सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली सम्पत्तियोंको भोग लिया है तो इससे भला क्या अभीष्ट सिद्ध हुआ ? कुछ भी नहीं । उन सम्पत्तियोंके द्वारा यदि स्नेहीजनोंको सन्तुष्ट किया है—उनकी इच्छाओंको भी पूर्ण किया है तो इससे क्या लाभ हुआ ? कुछ भी नहीं । यदि अभिभावके बश होकर शत्रुओंके शिरपर पाँव रखा है—उन्हें ठुकराया है—

१. All others except P जगन्नत । २. M L S F V C Y \*शुभं कार्य । ३. P विविच्य ।

४. L S T F V B C X Y स्वहित श्रुधीः, J R हुहित । ५. P भुक्ता श्रियः, M भुक्त्वा श्रियः ।

६. S T F V B C J X R प्रणयिनः स्वधनैः, Y प्रणयिनः शुष्णनैः । ७. J कलं भूतं ।

३५१) इत्थं न किञ्चिदपि साधनसाध्यमस्ति  
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम् ।  
तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि  
तद् ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनास्ति ॥५८४-२॥ इति

३५२) <sup>१</sup>किं ते सन्ति न कोटिशोऽपि बहुशः<sup>२</sup> स्फारैर्वचोभिः परं  
ये वातीं प्रथयन्त्यमेयमहसां राशेः परब्रह्मणः ।  
तत्रानन्दसुधासरस्वति पुनर्निर्मज्ज्य मुञ्चन्ति ये  
संतापं भवसंभवं श्रिचतुरुप्ते सन्ति वा न वा ॥५८५॥

३५१) इत्थं न किञ्चिदपि—इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण किञ्चिदपि साध्यसाधनमपि नास्ति । कीदृशम् । स्वप्नेन्द्रजालसदृशम् । पुनः कीदृशम् । परमार्थशून्यम् । तस्मात् कारणात् । हे जना । यदि चेतनास्ति, तत् ब्रह्म वाञ्छत । कीदृशम् । अनन्तम् । पुनः कीदृशम् । अजरं जरारहितम् । पुनः कीदृशम् । परमं विकासि । इति सूत्रार्थः ॥५८४-२॥ अथ परब्रह्मणः वाच्यमानाभावम् आहु ॥ शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

३५२) किं ते सन्ति न—ये परब्रह्मणो वातीं प्रथयन्ति । परं केवलम् । कीदृशात् परब्रह्मणः । अमेयमहसां तेऽसां राशेः । कैः । स्फारैर्वचोभिः । ते सुधियः<sup>३</sup> कोटिशोऽपि कोटिप्रमाणाः कि न सन्ति । तत्रात्मनि । वा अथवा । ते श्रिचतुराः अधृच्च चत्वारश्च श्रिचतुराः । सन्ति वा न वा । किं कृत्वा । आनन्दसुधासरस्वति सरसि निर्मज्ज्य स्नात्वा ये भवसंभवसंतापं मुञ्चन्ति । इति सूत्रार्थः ॥५८५॥ अथ केषां शमयमादीनामभावमाह ।

तो इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? कुछ भी नहीं । तथा यदि प्राणियोंके शरीर कल्पकाल तक स्थित रहे हैं ( या स्वयमें स्थित रहे हैं ) तो इससे भी क्या अभीष्ट सिद्ध हुआ ? कुछ भी नहीं । इस प्रकार कुछ भी इन साधनोंसे सिद्ध होनेवाला नहीं है । वे सब स्वप्न अथवा इन्द्रजालके समान अयथार्थ हैं—धोखा देनेवाले हैं । इसलिए हे प्राणियो ! यदि तुम्हारे अन्तर्करणमें विवेक है तो तुम उस आत्मपदकी इच्छा करो जो कि अवित्तवर, जरासे रहित, उत्कृष्ट और विकास स्वभाववाला है ॥५८५-२॥

जो केवल अनेक प्रकारसे विस्तृत वज्रनोकी द्वारा अपरिमित तेजोंकी राशिस्वरूप उस परमात्माकी वातीको प्रसिद्ध करते हैं—उसके स्वरूपका विविध प्रकारसे व्याख्यान करते हैं—वे क्या करोड़ोंकी संख्यामें नहीं हैं ? अवश्य हैं । किन्तु जो आनन्दरूप अमृतके समुद्रस्वरूप उस परमात्मामें निमग्न होकर संसारके सन्तापको नष्ट करते हैं वे तीन-चार ही हैं—विरले ही हैं, अथवा वे यहाँ हैं ही नहीं । अभिप्राय यह कि परमात्माकी चर्चा करनेवाले तो बहुत हैं, किन्तु उसके स्वरूपमें स्वयं लीक होनेवाले अतिशय थोड़े हैं ॥५८६॥

१. P इति । २. P adds this verse on the margin । ३. All others except P F Y कोटिशोऽपि सुधियः । ४. M परं ब्रह्मणः । ५. M तु चतुराः ।

३५३ ) एते पण्डितमानिनः शमयमस्वाध्यायचिन्ताच्युता<sup>१</sup>  
रागादिग्रहकश्चिता यतिगुणप्रधंसकुष्णाननाः ।  
व्याकृष्टा विषयैर्मदैः प्रभुदिताः शङ्काभिरङ्गीकृताः  
न ध्यानं न विवेचनं न च तपः कर्तुं वराकाः क्षमाः ॥६०

इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते  
गुणदोषविचारः ॥४॥

३५३ ) एते पण्डितमानिनः—के एते । वराकाः ध्यानं कर्तुं न क्षमाः समर्थः । च पुनः ।  
विवेचनं कर्तुं न क्षमाः । च पुनः । तपः कर्तुं न क्षमाः न समर्थः । ते पण्डितमानिनः । पुनः  
कीदृशाः । शमयमस्वाध्यायचिन्ताच्युताः । पुनः कीदृशाः । रागादिग्रहकश्चिताः । पुनः कीदृशाः ।  
यतिगुणप्रधंस-कुष्णाननाः कालमुखाः । पुनः कीदृशाः । मदेमदजनकैः प्रभुदिताः । व्याकृष्टाः  
व्याप्ताः । शङ्काभिरङ्गीकृताः । इति सूचार्थः ॥६०॥

इति श्रोशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्थवसूने योगप्रदीपाधिकारे पण्डित-नवविलासेन साहपासा-  
तत्पुत्र-साहटोडर-न्तस्कुलकमलदिवाकर-साहूरिविदासस्वव्यवणार्थं पण्डितजिनदासीद्यमेन  
कारापितं गुणदोषव्याख्यानं कृतम् । चतुर्थः सर्गः ॥४॥

बभूव पूर्वे किळ पासराजः सद्गुडरः शुद्धगुणप्रवानः । तदीयपुत्रो रिविदासनामा पात्यास्तदा  
तं त्रिनधर्ममार्गः ॥ इति आशीर्वदिः । अथ ध्यातारमाह ।

ये जो अपनेको पण्डित भानते हैं—यथार्थमें पण्डित न होकर भी उसका कोरा अभिमान करते हैं; शान्ति, संयम एवं स्वाध्यायकी चिन्तासे रहित हैं—जिनको इनकी परमाहनही है; रागहृषादिरूप पिशाचसे ठगे गये हैं, मुनिके योग्य मूल व उत्तर गुणोंको नष्ट करके अपने मुखको काला करनेकाले—साधुके योग्य आचरणसे रहित होनेके कारण निन्दाके पात्र होते हैं, विषयोंसे खीचे गये हैं—उनमें अनुराग रखते हैं, आठ मदोंसे आनन्दित रहते हैं, सथा शंकाश्रोंसे स्वीकृत किये गये हैं—उन शंकादि दोषोंसे दूषित रहते हैं; वे वेचारे न ध्यान कर सकते हैं, न आत्म-परका विचार कर सकते हैं, और न तप भी कर सकते हैं ॥६०॥

इस प्रकार आचार्य शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्थवमें योग प्रदीपाधिकारमें  
गुण-दोष विचाररूप यह प्रकरण समाप्त हुआ ॥४॥

१. S V C J X Y R शमदम । २. M V C X Y R चिन्ताच्युताः । ३. L विचारप्रकरण F “प्रकरण  
चतुर्थः सर्गः, B गुणदोषव्याख्यानं कृतं । चतुर्थो सर्गः ।

[ योगिप्रशंसा ]

354 ) अथ निर्णीततत्त्वार्था धन्याः संविग्नमानसाः ।

कीर्त्यन्ते यमिनो जन्मसंभूतसुखनिःस्पृहाः ॥१॥

355 ) भवञ्चमणनिविष्णा॑ भावशुद्धि॒ समाश्रिताः ।

सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे योगिनः पुण्यचेष्टिताः ॥२॥ तदैर्था—

356 ) विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।

यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ॥३॥

354 ) अथ निर्णीततत्त्वार्थः—अथेत्यानन्तर्ये । यमिनः कीर्त्यन्ते । कीदृशाः । निर्णीत-  
तत्त्वार्थः आततत्त्वाः । पुनः कीदृशाः । धन्याः पुण्यवस्तः । कीदृशाः । संविग्नमानसाः । पुनः  
कीदृशाः । जन्मसंभूतसुखनिःस्पृहाः । जन्मनः संभूतं सुखं, तस्माश्रिःस्पृहाः । इति सूत्रार्थः ॥१॥  
अथ योगिनां स्वरूपमाह ।

355 ) भवञ्चमणनिविष्णा—च पुनः । केचित् योगिनः भूपृष्ठे सन्ति पुण्यचेष्टिताः । पुनः  
कीदृशाः । भवञ्चमणनिविष्णाः आनन्दाः । पुनः कीदृशाः । भावशुद्धि॒ समाश्रिताः । इति सूत्रार्थः ॥२॥  
तदैर्था दर्शयति । पुनर्ध्यातृलक्षणमाह ।

356 ) विरज्य कामभोगेषु—स हि ध्याता प्रशस्यते । स इति कः । यस्य चित्तं स्थिरीभूतं  
बत्तर्ते । किं कृत्वा । कामभोगेषु विरज्य विरक्तीभूय । वपुषि स्पृहां विमुच्य त्यक्त्वा । इति सूत्रार्थः  
मद॥ अथ केचित् प्राणत्यागे ऽपि संक्रमभारं न ल्यजन्तीति तात्त्वाह ।

अब इस प्रकरणमें उन प्रशंसनीय संयमी योगियोंका कीर्तन किया जाता है—उनके  
गुणोंकी प्रशंसा की जाती है—जिन्हें तत्त्वार्थका निश्चय हो चुका है, जिनका मन संवेगसे  
परिपूर्ण है—धर्ममें अनुराग रखता है, तथा जो संसारके विषयजनित सुखकी इच्छासे रहित  
हो चुके हैं ॥१॥

इस पृथिकीतलपर पवित्र आचरण करनेवाले कुछ ऐसे भी योगी विद्यमान हैं जो  
संसारके परिभ्रमणसे विरक्त होकर भावशुद्धिका आश्रय ले चुके हैं। अभिप्राय यह है कि जो  
संसार परिभ्रमणके दुःखसे खिच होकर राग-द्वेषसे रहित होते हुए अपने अन्तःकरणको अतिशय  
निर्मल रखते हैं ऐसे भी कुछ योगी यहाँ विद्यमान हैं। उनकी प्रशंसा करनी चाहिए ॥२॥  
जैसे—

जिस ध्याताका चित्त इन्द्रियविषयभोगोंसे विरक्त होकर शरीरके विषयमें निर्ममत्व  
होता हुआ स्थिरताको प्राप्त कर चुका है वह ध्याता अतिशय प्रशंसनीय है ॥३॥

- 357 ) सत्संयमधुरा धीरैर्न हि प्राणात्यये ऽपि यैः ।  
त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यानधनेश्वराः ॥४
- 358 ) परीषहमहाव्यालैग्रीम्बैविककण्टकैदृढैः ॥  
मनागपि मनो येषां न स्वरूपात्परिच्छयुतम् ॥५
- 359 ) क्रोधादिभीमभोगीन्द्रै रागादिरजनीचरैः ।  
अजग्म्यैरपि विध्वस्तं<sup>३</sup> न येषां<sup>४</sup> यमजीवितम् ॥६
- 360 ) मनः प्रोणयितुं येषां क्षमास्ता दिव्ययोषितः ।  
मैत्र्यादयः सतां सेव्या ब्रह्मचर्ये ऽप्यनिन्दिते ॥७

361 ) सत्संयमधुरा—यैः प्राणात्यये ऽपि प्राणनाथे ऽपि सत्संयमधुरा न हि त्यक्ता । कीदृशैः ।  
धीरैः । हि यस्मात् । ते ध्यानधनेश्वराः । कि कृत्वा । महत्त्वं समालम्ब्याश्रित्येति सूत्रार्थः ॥४॥  
अथ तेषां मनः परीषहैर्न ज्याक्षयते तानाह ।

362 ) परीषहमहाव्यालैः—येषां स्वरूपात् मनो मनागपि न परिच्छयुतं नष्टम् । कैः । परी-  
षह-महाव्यालैः सर्वैः । ग्राम्यैग्रामिजनसंजातैविकण्टकैः । कीदृशैः । दृढंश्चिति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ  
ब्रह्मानां दृढतरत्वमाह ।

363 ) क्रोधादिभीमभोगीन्द्रैः—[येषां मुनीर्नां यमजीवितं संयमजीवनं न विध्वस्तं विना-  
शितम् । कैः । क्रोधादिभिः कषायैः एव भीमभोगीन्द्रैः भयंकरसर्वैः । रागादिभिः रागद्वेषलैः रजनी-  
चरैः राक्षसैः । कथम् । अजस्तं सततम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥] । अथ ब्रह्माचर्यस्वरूपमाह ।

364 ) मनः प्रोणयितुं—येषां ताः दिव्ययोषितः मनः प्रोणयितुं मनो मोदयितुं क्षमाः समर्थाः ।  
तेषां सतां मैत्र्यादयः अनिन्दिते ऽपि ब्रह्माचर्ये सेव्याः । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ तपोवशेषमाह ।

जो धैर्यशाली महामुनि अपनी महामताका आश्रय लेकर प्राणोंकि नष्ट होनेपर भी  
समीक्षीन संथमके भारको नहीं छोड़ते हैं वे ही वास्तवमें ध्यानरूप धनके स्वामी हैं—उन्हें  
ही यथार्थ ध्याता समझना चाहिए ॥४॥

जिनका मन परीषहरूप सर्वों अथवा हाथियोंसे तथा असभ्य व अइलील वचनरूप दृढ  
कट्टोंसे पीड़ित होकर आत्मस्वरूपसे किञ्चित् भी विचलित नहीं हुआ है, जिनके संयमरूप  
जीवनको—प्राणोंको अजेय ( अविशय प्रतापशाली ) भी क्रोधादिरूप भयानक सर्व और  
रागद्वेषादिरूप राश्र्मस नहीं नष्ट कर सके हैं, जिनके निर्मल अखण्ड ब्रह्माचर्यके रहने पर भी  
सत्तुरूपोंके द्वारा सेवनीय मैत्री आदि—मैत्री, प्रमोद, काहण्य एवं माध्यस्थ्यभावनाओं रूप  
वे द्वितीय खियाँ मनके प्रसन्न करनेके लिये सर्वार्थ हैं, अर्थात् जो मैत्र्यादिभावनाओंका आश्रय

१. All others except P. L. वा कण्टकैः । २. S कण्टकैर्हैः । ३. Y विश्वस्तं न । ४. M  
N न तेषां ।

३६१ ) तपस्तरलतीवाचिःप्रचये पातितः स्मरः ।

यै रागरिपुभिः साधं पतञ्जप्रतिभीकृतः ॥८

३६२ ) निःसङ्घत्वं समासाद्य ज्ञानराज्यं समीप्यताम् ।

जगत्त्रयचमत्कारि चित्रभूतं चेचित्तम् ॥९

३६३ ) अत्युग्रतपसात्मानं पीडयन्तो अपि निर्दयम् ।

जगद्विद्यापयन्त्युच्चैर्ये मोहदहनक्षतम् ॥१०

३६४ ) स्वभावजनिरातङ्कुनिर्भरानन्दनन्दिताः ।

तृष्णाचिःशान्तये धन्या ये ज्ञालजलदोदगमाः ॥११

३६१ ) तपस्तरल—यैः रागरिपुभिः साधं स्मरः कामः पतञ्जप्रतिभीकृतः पतञ्जसदृशीकृतः । कीदूशः । तपस्तरलतीवाचिःप्रचये पातितः । जगत्त्रयचमत्कारि चित्रभूतम् । समीप्यताम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ निःसङ्घत्वमाह ।

३६२ ) निःसङ्घत्वं—च पुनः येषां चेचित्तं क्रिया चित्रभूतम् । इति सूत्रार्थः । अथ निःसङ्घत्वमाह ।

३६३ ) अत्युग्रतपसा—यैहच्चैर्जगत् विद्यापयन्ति शमयन्ति । कीदूशं जगत् । मोहदहनक्षतं मोहाग्निक्षतम् । अपि ये पुरुषाः निर्दयं यथा स्पात् आत्मानं अत्युग्रतपसा पीडयन्तः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ तृष्णाग्निशान्तिमाह ।

३६४) स्वभाव—ये तृष्णाग्निशान्तये ज्ञालजलदोदगमाः अज्ञालजलदसदृशाः । ते धन्याः । पुनः । स्वभावजनिरातङ्कुनिर्भरानन्दनन्दिताः । स्वचेतस्यनिरातङ्कुबहुतरानन्दनन्दिताः । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ ध्यानयोग्यान् भूतोत्ताह । षड्भिः कुलकम् ।

लेकर अखण्ड ब्रह्मचर्यका परिपालन करते हैं, जिन्होंने तपस्त्रय चंचल व लीब्र ज्वालाओंके समूहमें कामदेवको गिराकर उसे रागरूप अनुओंके साध पतंगोंके समान भस्मीभूत कर दिया है, अपरिषद् प्रतको स्वीकार करके ज्ञानस्त्रय राज्यकी अभिलाषा करनेवाले जिन योगियोंकी प्रवृत्ति विश्वको आइचर्यचकित करनेवाली व विचित्र ही रही है [ आश्र्वर्यका कारण यह है कि राज्यकी अभिलाषा करनेवाले परिप्रहसे रहित नहीं होते, प्रत्युत उसकी अधिकतासे ही सहित होते हैं । परन्तु इन योगियोंने सब प्रकारके परिप्रहका परित्याग करके भी ज्ञानके साम्राज्यको प्राप्त किया है—वे केवल ज्ञानी हुए हैं ], जो अपने-आपको निर्दयतापूर्वक अतिशय लीब्र तपसे पीड़ित करते हुए भी मोह रूप अविसें विश्वको अत्यन्त जीवाल करते हैं—प्राणियोंके मोहजनित सन्तापको नष्ट करके उन्हें शान्त व सुखी करते हैं, जो प्रशंसनाय योगी स्था-

१. Y° अन्तिप्रथमः । २. M S T F V C X R समीक्षितम् । ३. All others except P M B N शूतं विचेष्टितं ।

३६५ ) अशेषसंगसंन्यासवशाजितमनोद्विजाः ।

विषयोदामभातङ्गवटासंघटुवातकाः ॥१२

३६६ ) वाक्पथातीतमाहात्म्या विश्वविद्याविशारदाः ।

शरीराहारसंसारेकामभोगेषु निःस्पृहाः ॥१३

३६७ ) विशुद्धबोधपीयूषपानपुण्यीकृताशयाः ।

स्थिरेतरजग्जन्तुकरुणावारिवार्थयः ॥१४

३६८ ) स्वर्णचिल इवाकम्या ज्योतिःपथ इवामलाः ।

समीर इव निःसंगा निर्ममत्वं समाश्रिताः ॥१५

३६५-७० ) अशेषसंग—मुनिमहेश्वराः, व्यामसिद्धेः पात्रं स्थानं समाख्याताः । कीदृशाः । इत्यादिपरमोदारपुण्याचरणलक्षिताः । सुगमय । अशेषसंगसंन्यासवशात् समस्तसंगत्यागवशात् जित-  
मनोद्विजाः मनःपत्रिणः । पुनः कीदृशाः । विषयोदामभातङ्गवटासंघटुवातकाः विषयाः इन्द्रिय-  
विषयपातः एव उद्दापा उल्कटा मातङ्गवटा तस्याः संघटुः समूहः तस्य भातकाः । इति आवार्थः ।  
पुनः कीदृशाः । वाक्पथातीतमाहात्म्याः । सुगमम् । पुनः कीदृशाः । विश्वविद्याविशारदाः  
समस्तविद्याविचञ्चणः । पुनः कीदृशा मुनयः । शरीराहारसंसारेकामभोगेषु वेहाहारभवकाम-  
भोगेषु निःस्पृहाः गतस्पृहाः । पुनः कीदृशाः । विशुद्धबोधपीयूषपानपुण्यीकृताशयाः शुद्धजाता-  
भूतपानपविश्रीकृतचित्ताः । पुनः कीदृशाः । स्थिरेतरराः त्रसस्थावरा ये जगज्जन्तवः तेषां  
करुणावारिवार्थयाजल-वार्थयः समुद्राः इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशाः । स्वर्णचिलो मेरुरिवाकम्यः  
निश्चलाः । पुनः कीदृशाः । ज्योतिष्यथः [ इव ] आकाशवत् अमलाः निर्मलाः । पुनः कीदृशाः ।  
समीर इव वायुरिव निःसंगाः समरहिताः । इत्यर्थः । पुनः कीदृशाः । निर्ममत्वं समाश्रिताः व्याप्ताः ।

भाविक एव सन्तापसे रहित ऐसे अतिशय आनन्दसे वृद्धिको प्राप्त होते हुए तुष्णारूप अग्नि-  
की व्याप्तिको शान्त करनेके लिए असमयमें—वर्षाकालके जिनाही—उत्पन्न हुए मेघोंके समान  
हैं, जो समस्त परिग्रहके परित्यागके प्रभावसे मनरूप वशीपर विजय प्राप्त करते हुए विषयो-  
रूप मदोन्मसा हावियंकि समूहके बातक हैं—वाहा ये अन्यन्तर परिग्रहसे रहित हो जानेके  
कारण जिन्होंने अपने मनरूप हाथीको बड़ामें कर लिया है तथा इसीलिए जो विषयतुष्णासे  
सर्वथा रहित हो चुके हैं; जिनका माहात्म्य घचनके अमोचर ( अनिर्वचनीय ) है, जो समस्त  
विद्याओंमें पारंगत होकर शरीर, भोजन, संसार एवं विषयभोगोंकी इच्छासे रहित हो चुके हैं,  
अतिशय निर्मल ज्ञानरूप असूतका पान करनेसे जिनका अन्तःकरण पवित्र हो चुका है,  
जो स्थावर और त्रसरूप जगत्के जीवोंकी दृश्यरूप जलके समुद्र हैं—उनका सदा संरक्षण  
करनेवाले हैं; जो मेरुके समान निश्चल, आकाशके समान निर्मल और वायुके समान परिग्रह-

१. N भवीद्विषः, T भवीद्विषाः । २. X संहारकाम । ३. M N F V C पात्रपूर्णिकाः, S T B तुष्णद्वाता ।  
४. M ज्योतिष्यथमिवामलाः, N ज्योतिःपदमिषा । ५. M समीरा इव ।

३६९ ) हितोपदेशपर्जन्यैभव्यसारङ्गतर्पकाः ।

निरपेक्षाः शरीरे ऽपि सापेक्षाः सिद्धिसंयमे ॥१६

३७० ) इत्यादिपरमोदारपुण्याच्चरणलक्षिताः ।

ध्यानसिद्धेः समाख्याताः पात्रं मुनिमहेश्वराः ॥१७

३७१ ) तब गन्तुं<sup>२</sup> प्रवृत्तस्य मुक्तेर्भवनमुच्चतम् ।

सोपानराजिकामीषां पदच्छायां पविष्यति ॥१८

३७२ ) ध्यानसिद्धिर्मता सूत्रे मुनीनामेव केवलम् ।

इत्याद्यमलविरुद्यातगुणलीलावलम्बिताम् ॥१९ ।

इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशाः । हितोपदेशपर्जन्यैः भव्यसारङ्गतर्पकाः । पुनः कीदृशाः । शरीरे ऽपि निरपेक्षाः । पुनः कीदृशाः । सिद्धिसंयमे सापेक्षाः साभिलाषाः इति सूत्रार्थः । इति पद्मिः कुल-कव्याङ्क्यानम् ॥१२-१७॥ अथ मुनीनां माहात्म्यमाह ।

३७१ ) तब गन्तुं प्रवृत्तस्य ——हे भठ्य, मुक्तेर्भवनमुन्नतमुच्चेस्तरमारोहु<sup>१</sup> प्रवृत्तस्य तस्या-मीषां पूर्वोक्तमुनीनां पदच्छाया पदकान्तिः सोपानराजिका सोपानपैक्तिर्भविष्यति । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ पुनर्ध्यानसिद्धिर्मतीनामाह ॥

३७२ ) ध्यानसिद्धिर्मता ——सूत्रे परमागमे मुनीनामेव केवल निष्केवल ध्यानसिद्धिर्मता अभिमता । कीदृशां मुनीनाम् । इत्यादिसर्वोक्तनिर्मलप्रसिद्धगुणलीलाश्रितानाम् ॥१९॥ अथ योगीन्द्रगुणस्तुतिद्वारा परमनिर्वृत्तिं यात्त्वश्वाह । शा० ।

से रहित होकर निर्ममत्व हो जाके हैं; जो हितोपदेशरूप मेघोंके द्वारा भव्य जीवोंस्त्रप चातक पक्षियोंको सञ्चुष्ट करते हुए शरीरके भी चिष्ठयमें निरपेक्ष (निर्मम) तथा मुक्तिके संयोगमें सापेक्ष (अनुरक्त) हैं; इस प्रकार जो इनको आदि लेकर अतिशय उदार और पवित्र आचरण-से पहचाने जाते हैं ऐसे वे महामुनि ध्यानकी सिद्धिके पात्र—उसके अधिकारी कहे गये हैं ॥५-१८॥

हे भव्य ! मुक्तिके ऊंचे भवनमें जानेके लिए उद्यत हुए तेरे लिए उपर्युक्त महामुनियोंके चरणोंकी छाया पाथरियोंकी पक्कि होगी । तात्पर्य यह कि ऐसे निःस्पृह महामुनीन्द्रोंके चरण-कमलोंकी आराधना भव्य जीवोंके लिए मुक्तिप्राप्तिका कारण होती है ॥१८॥

परमागममें ध्यानकी सिद्धि केवल उन मुनियोंकि ही भासी गयी है जो कि उपर्युक्त गुणोंके साथ अन्य भी निर्मल व प्रसिद्ध गुणोंकी कीड़ाका आलमन लेनेवाले हैं ॥१९॥

१. B सिद्धिसंगमे । २. All others except P तवारोहु । ३. M L T F V C X भवनमुत्सम् ।

४. S T F V C X Y R पादच्छाया ।

३७३ ) निष्पन्दीकृतचित्तचण्डविहगाः पञ्चाक्षकक्षान्तका

ध्यानध्वस्तमस्तकल्पयविषा विद्याम्बुधेः पारगाः ।

लीलोन्मूलितैर्कर्मकन्दनिचयाः कारुण्यपुण्याशया

योगीन्द्रा भवभीमदैत्यदलनाः कुर्वन्तु ते निर्वृतिम् ॥२०

( ३७४ ) विन्ध्याद्रिन्गरं गुहा वसतिकाः शश्या शिला पार्वती

दीपाश्वन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना ।

विशानं सलिलं तथः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां

धन्यास्ते भवयद्वनिर्गमपथप्रोदेशकाः सन्तु ते ॥ २१ ॥

३७३ ) निष्पन्दी—ते योगीन्द्रा निर्वृतिमुखं कुर्वन्तु । कीदृशा योगीन्द्राः । निष्पन्दीकृत-  
चित्तचण्डविहगाः निष्पक्षीकृतचित्तरीद्रविहगाः । पुनः कीदृशाः । पञ्चाक्षकक्षान्तकाः पञ्चेन्द्रिय-  
कक्षान्तकाः । पुनः कीदृशाः । ध्यानध्वस्तमस्तकल्पयविषा ध्यानदूरीकृतसर्वपापविषा । पुनः  
कीदृशाः । विद्याम्बुधेः शास्त्रसमुद्रस्य पारगाः पारगामिनः । पुनः कीदृशाः । लीलोन्मूलितैर्कर्मकन्द-  
निचयाः लीलामात्रोत्थपितकर्मकन्दसमूहाः । पुनः कीदृशाः । कारुण्यपुण्याशयाः दधाभावपवित्रित-  
चित्ताः । पुनः कीदृशाः । भवभीमदैत्यदलनाः संसाररीद्रैत्यदलनाः इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ पुनः  
प्रशान्तात्मनां स्वरूपमाह । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

३७४ ) विन्ध्याद्रिन्गरं—ते धन्याः नोऽस्माकं भवयद्वनिर्गमपथप्रोदेशकाः संसारकर्दमनि-  
र्गममार्गप्रोदेशकाः कर्षकाः सन्तु । यत्तदोनित्याभिसंबद्धात् । येषां प्रशान्तात्मनाभ् विन्ध्याद्रि-  
विन्ध्याद्वलं नगरम् । वसतिका गुहा । शश्या पार्वती शिला पर्वतसंवन्धिनो । दीपाश्वन्द्रकरा:  
चन्द्रोद्योता: । के सहचराः । मृगाः । कुलीनाङ्गना मैत्री मित्रभावत्वम् । विशानं सलिलं पानीय-  
मित्यर्थः । सदशनं तपः । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ ध्यानावलम्बिनः परमानन्दमाह ।

जिन्होंने भन्नरूप अतिशय क्रोधी पक्षीको स्थिर करके पौत्रों इन्द्रियोरूप बनको भस्म  
कर दिया है, जिन्होंने ध्यानके द्वारा समस्त पापरूप विषको नष्ट कर दिया है, जो विद्यारूप  
समुद्रके पारको प्राप्त कर चुके हैं, जिन्होंने कर्मरूप बृक्षकी जड़ोंके समूहको कीड़ाके रूपमें—  
अनायास ही निर्मूल कर दिया है, तथा जिनका हृदय प्राणिदयासे पवित्र हो रहा है, ऐसे  
वे संसाररूप ध्यानक वैत्यका विध्वंस करनेवाले महायोगी तुम्हारे लिए मुस्तिके कारण  
होवें ॥२०॥

( अतिशय शान्त जिन योगियोंके लिए विन्ध्याद्वल नगरके समान है, गुफाएँ गृहके  
समान हैं, पर्वतकी शिला ( चट्ठान ) ही शश्या है, मृग मित्र जैसे हैं, समस्त प्राणियोंमें  
मित्रत्वकी भावना कुलीन स्त्री है, विशिष्ट शान जल है तथा तप ही उत्तम भोजन है; वे  
अतिशय प्रशंसनीय योगी तुम्हारे लिए संसाररूप कीचड़से निकलनेके पथके प्रदर्शक  
होवें ॥२१॥ )

१. N शीलोन्मूलितैर्कर्म । २. M दैत्यदलनार्कुर्वन्तु । ३. M N सन्तु में, S T F V B C ] X Y R  
सन्तु में ।

३७५) रुद्धे<sup>१</sup> प्राणप्रचारे वपुषि नियमिते संवृते उक्षप्रपञ्चे  
नेत्रस्थन्दे निरस्ते प्रलयमुपगते अन्तर्विकल्पेन्द्रजाले ।  
भिन्ने<sup>२</sup> मोहान्धकारे प्रसरति महसि कायि विश्वप्रदीपे  
धन्यो ध्यानावलम्बी कलयति परमानन्दसिन्धुप्रवेशम् ॥२२

३७६) अहेयोपादेय<sup>३</sup> त्रिभुवनभीदं व्यवसतः<sup>४</sup>  
शुभं वा पापं वा द्वयमपि दहत् कर्म भहसा ।  
निजानन्दास्वादव्यवधिविधुरीभूतविषयं  
प्रतीत्योन्त्वैः कश्चिद्विगलितविकल्पं विहरति ॥२३

३७५) रुद्धे प्राणप्रचारे—धन्यो ध्यानावलम्बो ध्यानाश्रितः परमानन्दसिन्धुप्रवेशं  
परमहर्षसमुद्रप्रवेशान्तं कलयति जानाति । क्व सतीति सर्वत्र योजयम् । प्राणप्रचारे उच्छृङ्खासे निःश्वासे  
रुद्धे सति । पुनः क्व सति । वपुषि शरीरे नियमितेऽशुभव्यापारेभ्यः संकोचिते । पुनः क्व सति ।  
अक्षप्रपञ्चे इन्द्रियविस्तारे संवृते । पुनः क्व सति । नेत्रस्थन्दे लोचने मेषीत्येषनिरस्ते । पुनः क्व  
सति । अन्तर्विकल्पेन्द्रजाले प्रलयं नाशमुपगते । पुनः क्व सति । मोहान्धकारे भिन्ने । पुनः क्व  
सति । महसि तेजसि प्रसरति । पुनः क्व सति । विश्वप्रदीपे सति । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ देहिनां  
बैचित्र्यमाह । शिखरिणी ।

३७६) अहेयोपादेय—उच्चवैद्यथा स्थात् तथा विगलितविकल्पं विहरति कश्चित् निजा-  
नन्दास्वादव्यवधिविधुरीभूतविषये<sup>५</sup> । कि कृत्वा । निजानन्दास्वादभयदारहितविषये प्रतीत्याश्रित्य  
हृदं त्रिभुवनं व्यवसितम्<sup>६</sup> । कीदूर्णं जगत् । अहेयोपादेयम् । कि कुर्वत् । शुभं वा कर्म । वा व्यववा-

जिस योगीके ध्यानस्थ होनेपर प्राणवायु ( श्वासोऽछल्डास ) का संचार रुक जाता है,  
शरीर नियमित ( स्थिर ) हो जाता है, इन्द्रियोंका विस्तार—उनकी स्वेच्छाप्रवृत्ति—रुक  
जाती है, नेत्रोंका स्थन्दन—इधर-उधर देखना—नष्ट हो जाता है, अन्तःकरणका विकल्परूप  
इन्द्रजाल ध्वस्त हो जाता है, मोहरूप अन्धकार निःशेष हो जाता है, तथा विश्वको प्रदीप  
करनेवाला तेज सर्वत्र फैल जाता है; वह योगी धन्य है और वही उत्कृष्ट आनन्दके समुद्रमें  
प्रविष्ट होनेका अनुभव करता है ॥२३॥

जिसने हेय और व्यादेयके विकल्पसे रहित इन तीन ही लोकोंका निश्चय कर लिया है,  
अर्थात् जो ध्यानमें लीन होकर हेय-व्यादेयके विकल्पसे रहित हो चुका है, जो उस ध्यानरूप  
अग्निके तेजसे पुण्य और पापरूप दोनों ही प्रकारके कर्मको जला रहा है ऐसा कोई विशिष्ट  
योगी आत्मिक आनन्दके स्वादकी अपरिमिततासे—सीमातीत आत्मिक सुखके अनुभवसे—

१. M N शुद्धे प्राण । २. T व्यस्ते मोहा<sup>७</sup> । ३. M त्रिभुप्रदेश । ४. N न हेयोपादेय । ५. M N L S T  
X Y R व्यवसितः, F V B C J व्यवसितः । ६. N S T X Y R दहन्कर्म, F V C महत्कर्म ।  
७. M N B J विषये, L S T R विषयः ।

३७७ ) दुःप्रज्ञावल्लुप्तस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया  
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थेचिता देहिनः ।  
आनन्दासुत्सिन्धुशीकरचैर्निर्विषयं जन्मज्ज्वरं  
ये मुक्तेवंदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति नो च यदि ॥२४

३७८ ) यैः सुप्तं हिमशैलशृङ्गसुभगप्रासादगमन्तरे  
पल्यङ्के परमोपधानरचिते दिव्याङ्गनाभिः सह ।  
तेरेयाद्य निरस्तविश्वविषयैरन्तःस्फुरज्ज्योतिषि  
क्षोणीरन्ध्रशिलाद्विकोटरघृतं धैर्यन्यनिका नीयते ॥२५

पापं द्वयमपि शुभाशुभं कर्म । महसा दहन्\* । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ मुक्तिप्राप्तिर्वास्त्रोक्तरत्व-  
माह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

३७७ ) दुष्प्रज्ञावल्लुप्तस्तु—एवंभूता देहिनः प्रतिमन्दिरं विद्यन्ते । कीदृशाः देहिनः । निज-  
निजस्वार्थेचिताः । पुनः कीदृशाः । विज्ञानशून्याशयाः । पुनः कीदृशाः । दुष्प्रज्ञावल्लुप्तस्तुनिचयाः ।  
सुधमस् । कि कृत्वा । जन्माक्षलं\* जन्माभिर्नि निर्विषय विध्यापयित्वा । कैः । आनन्दामृतसिन्धुशीकर-  
चयैः स्वानन्दपीयूषबिन्दुसमूहैर्यदि मुक्तेवंदनेन्दुवीक्षणपराः मुक्तिमुखचन्द्रवीक्षणपराः । ते द्वित्राः  
सन्ति द्वौ च त्रयइच द्वित्राः ॥२७॥ अथ विरक्तानां स्वरूपमाह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

३७८ ) यैः सुप्तं हिमशैल—यैहिमशैलशृङ्गसुभगप्रासादगमन्तरे हिमाचलशिखरमनोहर-  
श्वलप्रासादमध्यान्तरे । पल्यङ्के परमोपधानरचिते सुप्तम् । काभिः सह । दिव्याङ्गनाभिः । तेरेय  
सुखभोक्तृभिः । अत्र तैः क्षोणीरन्ध्रशिलाद्विकोटरमतैः पृथ्वीविवरशिलावृक्षकोटरशिखरप्राप्तैः ।

विषयवाङ्गाको नष्ट करनेवाले निर्विकल्पक ध्यानका आलम्बन लेकर अतिशय कीदृा करता  
है—सुखी होता है ॥२८॥

दुर्बुद्धि ( मिथ्याज्ञान ) के प्रभावसे वस्तुसमूहके स्वरूपको नष्ट करनेवाले तथा विज्ञान ( विवेकबुद्धि ) से रहित द्वदयवाले जो प्राणी अपने-अपने स्वार्थमें तत्पर रहते हैं वे तो घर-  
बरमें पाये जाते हैं, परन्तु जो आनन्दरूप असूतके समुद्र सम्बन्धी कणोंके समूहसे संसारके  
सन्तापको शान्त करके मुक्तिके मुखरूप चन्द्रमाके देखनेमें उद्यत हैं—मोक्षप्राप्तिके अभिमुख हैं—  
वे हैं अथवा हैं ही नहीं । अभिश्राय यह है कि मिथ्याज्ञानके वशीभूत होकर इन्द्रिय-  
विषयमें अनुराग रखनेवाले प्राणी तो बहुत अधिक पाये जाते हैं, परन्तु जो विवेकरूप जलसे  
संसारके सन्तापको नष्ट करके मोक्षप्राप्तिके समुख हो रहे हैं वे बहुत ही थोड़े हैं ॥२८॥

जो पूर्वमें हिमालयके शिखरके समान उम्रत व सुन्दर भवनके भीतर उपधान ( तकिया ) से सुशोभित शर्याके ऊपर सुन्दर स्त्रियोंके साथ सोते थे वे ही इस समय अन्तः-

१. P writes this verse on the margin । २. M N दुःप्रज्ञावल्लुप्त । ३. B जन्माक्षल । ४. M N द्वित्रा यदा सन्ति ते । ५. All others except P सन्ति द्वित्रा यदि । ६. M पर्युषे परमो । ७. L F V B C J शिलाद्विकोटर, S R शिलादिकोटर ।

379 ) चित्ते निश्चलता॑ गते प्रशमिते रागाद्यविद्यामये  
निद्राणे॑ इक्षकदम्बके विषटि॒ इवान्ते अमारम्भके ।  
आनन्दे॑ प्रविजृम्भिते पुरपतेज्ञाने समुन्मीलिते  
त्वां द्रक्ष्यन्ति कदा वनस्थमभितः पुस्तास्थया॑ श्वापदाः ॥२६

निशा रात्रिनीयते । पुनः कीदूशीः । धृथ्यैः । पुनः कीदूशीः । निरस्तविश्वविषयैर्द्वौ रीकृतसर्वैन्द्रियव्या-  
पारैः । क्व सति । अन्तः अन्तःकरणे स्फुरज्ज्योतिषि स्फुरद्वानग्रदीपे । इति सूक्तार्थः ॥२५॥ अथ  
ज्ञानस्वरूपमाह । शारूलविक्रीडितम् ।

379 ) जिते निश्चलता॑ गते—इवापदाः सुप्ताशयाः चित्रलिखितमृगाः । त्वां वनस्थम् ।  
अभितः समन्तात् कदा द्रक्ष्यन्ति अबलोकयन्ति । पुरपतेरात्मलो ज्ञाने समुन्मीलिते । क्व सति ।  
जिते निश्चलता॑ गते । क्व सति । रागाद्यविद्यामये रागाद्यज्ञानमये प्रशमिते । अक्षकदम्बके इन्द्रिय-  
समूहे निःशक्तिके । पुनः क्व सति । अमारम्भके अमोत्पादके इवान्ते विषटि॒ । पुनः क्व सति ।  
आनन्दे प्रतिजृम्भिते उल्लसिते । च पादपुरणे । इति सूक्तार्थः ॥२६॥ अथ श्रीपरमज्ञानफलमाह ।  
ज्ञानवराछन्दः ।

कठज्ञमें समयज्ञानरूप ज्योतिके उदित होनेपर समस्त विश्वभोगोंसे रहित होकर पृथिवीके  
छिद्र ( गुफा आदि ) शिला, पर्वत और कोटर ( बृक्षकी पोल ) में स्थित होते हुए रात्रिको  
बन्दीत करते हैं । वे ऋषीश्वर घन्य हैं ॥२५॥

ध्वानावस्थामें जिसके स्थिर हो जानेपर, रागादि व अविद्या ( अज्ञान ) रूप रोगके  
ज्ञान्त हो जाने पर, इन्द्रियसमूहके निद्राको प्राप्त होनेपर—उनको प्रवृत्तिके रूप अनेपर,  
संसारमें परिभ्रमण करानेवाले मोहरूप अन्धकारके नष्ट हो जानेपर, आनन्दके वृद्धिगत होनेपर  
तथा आस्मज्ञानके प्रकट होनेपर वनमें स्थित तेरे लिए श्वापदसिंहादि हिंस्त जन्मतु—सब ओरसे  
भीतपर चित्रित मूर्तिके समान क्व देखेंगे । अभिप्राय यह है कि योगीकी वही ध्यानावस्था  
प्रशंसनीय है कि जिसमें भोह व राग-द्वेषादिके नष्ट हो जानेपर योगीका शरीर, इन्द्रियों और  
सब सर्वथा स्थिर हो जाते हैं तथा इसीलिए जिसे वन्य जन्मतु पाषाणादिसे निर्मित मूर्ति  
समझकर स्वतन्त्रतासे विचरण करते हुए अपने शरीरको धसने लगते हैं । मुश्कु जीव  
निरन्तर उसी अवस्थाकी अभिलाषा करते हैं ॥२६॥

१. All others except P विद्वाने । २. N विगलिते ज्ञान्ते । ३. M आकृद्वयि॑ । ४. All others  
except P M N पुस्तोच्छया, B ] सुस्ताशयाः इवापदाः ।

३८० ) आत्मन्यात्मप्रचारः कृतसकलबहुः संगसंन्यासवीर्या-  
दन्तज्योतिः प्रकाशाद्विलयगतमहामोहनिद्रातिरेकः ।  
निर्णीते स्वस्वरूपे स्फुरति जगदिदं यस्य शून्यं जडं वा  
तस्य श्रीबोधवार्थेदिशतु तत्र शिवं पादपद्मेरुहश्रीः ॥२७

३८१ ) आत्मायत्तं विषयविरतं<sup>१</sup> तत्त्वचिन्तावलीनं<sup>२</sup>  
निर्व्यापारं स्वहितनिरतं निवृत्तानन्दपूर्णम् ।  
ज्ञानारुदं शमयमतपोध्यानलभ्यावकाशं  
कृत्वात्मानं कल्य सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम् ॥२८

३८० ) आत्मन्यात्मप्रचारः—तस्य श्रीबोधवार्थः ज्ञानसमुद्रस्य पादपद्मेरुहश्रीः पदकमल-  
लक्ष्मीः तत्र शिवं कल्याणं दिशतु । आत्मनि आत्मप्रचारः कृतः । कस्मात् । सकलबहुः संगसंन्या-  
सात् ब्रह्माभ्यन्तरसंगत्यागात् । पुनः कीदृशः । विलयगतमहामोहनिद्रातिरेकः । अतिरेकः आषि-  
क्यस् । कस्मात् । अन्तज्योतिः प्रकाशात् । यस्य स्वस्वरूपे इदं जगत् शून्यं जडं वा स्फुरति । कीदृशे  
स्वस्वरूपे । निर्णीते निवचयीकृते इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथात्मतत्त्वमुपसंहरन्नाह । मन्दाक्रान्ता ।

३८१ ) आत्मायत्तं विषयविरतं—मुमते, आत्मानं कल्य जानीहि । किं कृत्वा । दिव्यबोधा-  
धिपत्यं कृत्वा । कीदृशम् । आत्मायत्तम् आत्माधीनम् । पुनः कीदृशम् । विषयविरतम् इन्द्रिय-  
व्यापाररहितम् । पुनः कीदृशात्मानम् । तत्त्वचिन्तानि<sup>३</sup>लीनं परमात्मज्ञाने वितरी लीनम् ।  
पुनः निर्व्यापारं व्यापाररहितम् । पुनः कीदृशम् । स्वहितनिरतम् । सुगमम् । पुनः कीदृशम् ।  
निवृत्तानन्दपूर्णम्<sup>४</sup> मुक्तानन्दपूर्णम् । पुनः कीदृशात्मानम् । ज्ञानारुदम् । सुगमम् । शमयमत-

समस्त ब्राह्मणियहके परित्यागके बलसे जिसका आत्मसंचार अपनी आत्माके भीतर  
ही हो रहा है—जो ब्राह्म वस्तुओंसे निषुक्त होकर अपनी आत्मामें ही लीन हो रहा है, जिस-  
के आत्महानरूप अभ्यन्तर ज्योतिके प्रकाशसे मोहरूप निद्राकी अधिकता नष्ट हो चुकी है  
तथा जिसे आत्मस्वरूपका निश्चय हो जानेपर यह जगत् शून्य अथवा जड़के समान प्रतीक  
हो रहा है उस ज्ञानके समुद्रस्वरूप योगीके चरण-कमलकी लक्ष्मी तुम्हारे लिए मुक्तिको प्रदान  
करे ॥२८॥

हे सुबुद्धे ! तू अपने आपको अपने ही स्वाधीन, विषयोंसे विरक्त, तत्त्वके चिन्तनमें  
तल्लीन, शरीर व इन्द्रियों आदिके व्यापारसे रहित, अपने हितमें उद्यत, दुःखके संसर्गसे  
रहित, निराकुल सुखसे परिपूर्ण, ज्ञानमें आरुद (ज्ञानानन्दस्वरूप), तथा शम, यम, तप और  
ध्यानमें अवस्थित करके दिव्य बोधके—केवलज्ञानके—स्वामित्वका अनुभव कर ॥२८॥

१. N S T V C X Y R प्रचारे, B आत्मज्ञानप्रचारः । २. M N J B 28 and 28\*1 interchanged । ३. V B C J R विषयविरतः । ४. M चिन्ताविलीन, B चिन्तातिलीन, J X Y चिन्तानिलीन ।  
५. All others except P निर्वृत्तानन्द ।

382 ) [दृश्यन्ते भुवि कि न ते<sup>१</sup> कृतधियः संख्याव्यतीताश्चिरं  
ये लीलाः<sup>२</sup> परमेष्ठिनः प्रतिदिनं तन्वन्ति वाग्मिः परम् ।  
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुद्धराशि पुन-  
ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति पुरुषा धन्यास्तु ते दुर्लभाः ॥२८१॥

इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्चभूम्बद्विरचिते  
योगिप्रशंसाप्रकरणम् ॥५॥

पौध्यानेलंब्वः अवकाशः येन सः, तमिति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ तत्त्वज्ञानां दुर्लभत्वमाह । शार्दूल-  
विक्रीडितम् ।

382 ) दृश्यन्ते भुवि कि—भुवि पृथिव्या संख्याव्यतीताः ते कृतधियश्चिरं चिरकालं च  
दृश्यन्ते । ये कृतधियः वाग्मिः प्रतिदिनं परमेष्ठिनः परं तन्वन्ति । तु पुनः । ते जनाः दुर्लभाः ।  
ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति । तं नित्यपरमानन्दाम्बुद्धराशि साक्षादनुभूय भुक्त्वा । इति सूत्रार्थः ॥२८१॥

इति श्रीशुभूम्बद्वाचार्यविरचिते ज्ञानार्थवस्तुत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितन्यविलासेन साहृपासा  
तस्युत्र साह टोडर तत्कुलकमलदिवाकर साहु रिषिदास स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासा-  
ग्रहेण योगिप्रशंसाप्रकरणं व्याख्यातम् । समाप्तः पञ्चमः सर्गः ॥५॥

[ समजनि पूर्वं पाद्वर्षस्तदोयकुलदिनकरष्टोडरो जीयात् । तस्युत्रो रिषिदासः करोति योगि-  
प्रशंसां च ॥ इत्याशीर्वादः । अथ सम्यग्दर्शनज्ञानज्ञारित्रस्वरूपमाह । ]

जो बुद्धिभान् प्रतिविन वचनोंके द्वारा परमेष्ठीकी लीलाका चिस्तार किया करते हैं—  
परमात्माके स्वरूपका रोचक व्याख्यान करते हैं—वे कथा चिरकाल तक असंख्यात नहीं देखे  
जाते हैं ? अबहय देखे जाते हैं—परमात्माके स्वरूपका कथन करनेवाले तो बहुत अधिक हैं ।  
किन्तु जो अविनश्वर व उत्कृष्ट आनन्दके समुद्रस्वरूप उस परमात्माका प्रत्यक्ष अनुभव करके  
संसारके परिभ्रमणको नष्ट करते हैं वे पुरुष धन्य हैं और वे दुर्लभ हैं ॥२८१॥

इस प्रकार आचार्य शुभूम्बद्व विरचित ज्ञानार्थवस्तुमें योगप्रदीपाधिकारमें  
योगिप्रशंसा प्रकरण समाप्त हुआ ॥५॥

१. P om. । २. M N भुवि न व्य ते कृत । ३. M N ये लीलाः । ४. B प्रकरण पंचमं सर्गः, X योगप्र-  
शंसाप्रकरण ।

## [ दर्शनविशुद्धिः ]

383) सुप्रयुक्तैः स्वयं साक्षात् सम्यग्दृग्बोधसंयमैः ।  
त्रिभिरेवापवर्गशीर्धनाशलेषं प्रयच्छति ॥१॥

384) तेरेव हि विशीर्यन्ते विचित्राणि बलीन्यपि ।  
दृग्बोधसंयमैः कर्मनिगडानि शरीरणाम् ॥२॥

385) त्रिशुद्धिपूर्वकं ध्यानमामनन्ति मनीषिणः ।  
व्यथं स्पात्तामनासाद्य तदेवात्र शरीरणाम् ॥३॥

383) सुप्रयुक्तैः—अपवर्गशीः विभिरेव धनाशलेषं प्रयच्छति । त्रिभिः कैः । साक्षात् सम्यग्दृग्बोधसंयमैः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः । कोदृशैः । स्वर्यं तीर्थकरादिभिः सुप्रयुक्तैः सुकृष्टितैरिति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ सम्यग्दर्शनादीनां कर्मभावकारणमाह ।

384) तेरेव हि—शरीरणां कर्मनिगडानि विचित्राणि प्रकृतिस्थित्यनुभागमेदादनेकानि । पुनः कोदृशानि । बलीन्यपि बलकारीणि । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ ध्यानशुद्धिमाह ।

385) त्रिशुद्धिपूर्वकं—अत्र जगति शरीरणां तां त्रिशुद्धिमनासाद्याप्राप्य तदेव ध्यानं व्यथं स्पात् । यां [ यत् ] त्रिशुद्धिपूर्वकं ध्यानं मनीषिणः योगिनः आमनन्ति इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ रत्नत्रयं विना ध्यानं न भवतीत्याह ।

यदि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ङान और सम्यक्चारित्र ये तीनों विधिपूर्वक रथयं प्रत्यक्षतः प्रयोगमें लाये जाते हैं तो उनके आश्रयसे मुक्तिरूप लक्ष्मी गाढ़ आँखिगनको प्रदान करती है—विधिपूर्वक रत्नत्रयके परिपालनसे भोक्तृपद ग्राप्त होता है ॥१॥

प्राणियोंकी अनेक प्रकारकी दृढ़ भी कर्मरूप सांकेलें उन्हीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ङान और सम्यक्चारित्रके द्वारा दूटती हैं ॥२॥

शुद्धिमान् गणधरादि रत्नत्रयकी शुद्धिपूर्वक ही ध्यानको सफल बतलाते हैं । उक्त रत्नत्रयकी शुद्धिके बिना प्राणियोंका यही ध्यान यहाँ निरर्थक होता है—उससे अभीष्ट प्रथोजन सिद्ध नहीं होता है ॥३॥

१. T om, this verse । २. N त्रिशुद्धिपूर्वकं ।

३८६) रत्नत्रयमनासाध्य यः साक्षात् ध्यातुमिच्छति ।

खपुष्यैः कुरुते मूढः स वन्ध्यासुतशेखरम् ॥४

<sup>३८७</sup> ३८७) [ तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वप्रख्यापकं भवेज्ञानम् ।  
पायक्रियानिवृत्तश्चरित्रमुक्तं जिनेन्द्रियः ॥४४१ ॥ ] .

३८८) तत्रादी सम्यग्दर्शनम् । तथा—

यज्जीवादिपदार्थीनां अद्वानं तद्विदर्शनम् ।

निसर्गादिविगत्यां वा तद्विद्यस्वैव जाथते ॥५

३८६) रत्नत्रय—स मूढः खपुष्यैराकाशकुसुमैः वन्ध्यासुतशेखरं मुकुटं कुरुते । स इति कः । यः रत्नत्रयमनासाध्याध्याय साक्षात्तत्त्वकारण ध्यातुमिच्छति । इति सूक्तार्थः ॥४॥ अथ रत्नत्रयस्यैव विशेषार्थमाह ।

३८७) सत्त्वरुचिः—[ तत्त्वरुचिः जीवादिसप्ततत्त्वेषु रुचिः अद्वानम् । सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनम् । तत्त्वप्रख्यापकं प्रकाशकं ज्ञानम् । विविधपापक्रियाभ्यो निवृत्तश्चारित्रम् । इत्येतत् जिनेन्द्रियोपदिष्टमित्यर्थः ॥४४१ ॥ ] तत्रादी सम्यग्दर्शनम् । तथा ।

३८८) यज्जीवादि—निसर्गेण\* स्वभावेन अधिगत्या अभिनवप्राप्त्या । शेषं सुगमम् ॥५॥ अथ सम्यक्त्वावात्तरभेदानाह ।

जो मुख्य उस रत्नत्रयको नहीं प्राप्त करके साक्षात् ध्यान करनेकी इच्छा करता है वह यानो आकाशके फूलोंसे भाला बनाकर उससे बांझ खीके पुत्रकी शिखाको अलंकृत करता है—तत्त्वक्रियकी प्रतिक्रियाके विचार वह ध्यान आकाशकुसुम और वन्ध्यापुत्रके समान असम्भव है ॥४॥ उनमें सम्यग्दर्शनकी प्रतीक्षा इस प्रकार है—

जीवादि तत्त्वोंकी रुचि ( अनुरुग्या या अद्वान ) का नाम सम्यग्दर्शन, उसके प्रगट करनेका नाम सम्यग्द्वान और पापकार्यसे विरत होनेका नाम चारित्र है; इस प्रकारसे जिनेन्द्रिय देवते उक्त रत्नत्रयका स्वरूप सिद्धिषु किया है ॥४४१ ॥

जीवादि पदार्थोंका जो अद्वान होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं । वह निसर्ग और अधिगमसे उत्पन्न होकर भव्य जीवके ही होता है, अभिन्नके नहीं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि वह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है—निसर्गज और अधिगमज । इनमें जो तत्त्वका अद्वान दूसरेके उपदेशके विचारसे ही उत्पन्न होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा जाता है । तथा दूसरेके उपदेशादिसे जो तत्त्वका अद्वान उत्पन्न होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है । अन्तरंग और बहिरंगके भेदसे कारण दो प्रकारका है । इनमें सम्यग्दर्शनका अन्तरंग कारण तो दर्शनमोहनीयका उपशम, स्थ॒ अथवा क्षयोपशम है जो उक्त दोनों ही सम्यग्दर्शन भेदोंमें समानरूपसे पाया जाता है । अधिगम अर्थवोध वह आश्च कारण है । किसी जीवके अन्य मुनि आदिके उपदेशको सुनकर जो अर्थात्वोध होता

३८९ ) श्रीणप्रशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात् ।

तत् स्याद्वद्व्यादिसामग्र्या पुंसां सदर्शनं त्रिधा ॥६

३९० ) उक्तं च—

भव्यः पर्याप्तकः संज्ञी जीवः पञ्चेन्द्रियान्वितः ।

काललङ्घ्यादिभिर्युक्तः सम्यक्त्वं प्रतिपद्धते ॥६\*१

३९१ ) सम्यक्त्वमयथ तत्त्वार्थश्रद्धानं परिकीर्तितम् ।

तस्योपशमिको भेदः क्षायिको मिश्र इत्यपि ॥६\*२

३९२ ) सप्तानां प्रशमात् सम्यक् क्षयादुभयतो ऽपि च ।

प्रकृतीनामिति प्राहुस्तत्त्वैविद्यं सुमेधसः ॥६\*३

३८९) श्रीणप्रशान्त—पुंसां पुरुषाणां तत् सदर्शनं त्रिधा स्यात् भवति । कासु सत्तु । मोह-  
प्रकृतिषु अनन्तानुबन्धित्वतुष्कादिषु क्रमात् श्रीणप्रशान्तमिश्रासु । मोहप्रकृतिष्यादे क्षायिकम् ।  
मोहप्रकृतिष्यमें औपशमिकम् । मोहप्रकृतिष्योपशमिकम् । क्षायोपशमिकम् । इति त्रिधा सम्यगदर्शनम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ सम्यक्त्वाङ्गीकारकमाह । उक्तं च—

३९०) भव्यः—[ सम्यक्त्वं कः प्रतिपद्धते । जीवः । कीदृशः । पर्याप्तकः आहारादिपर्याप्ति-  
युक्त इत्यर्थः ॥६\*१॥ ] पुनः सम्यक्त्वैविशेषार्थमाह ।

३९१) सम्यक्त्व—[ सम्यक्त्वस्य कति भेदाः । त्रयः । के ते । औपशमिकः क्षायिको मिश्रः  
( क्षायोपशमिकः ) चेत्यर्थः ॥६\*२॥ ] अथ त्रैविध्यमाह ।

३९२) सप्तानां—सुमेधसः सुबुद्धयः तत्त्वैविद्यं सम्यक्त्वैविद्यं, इति प्राहुः । सप्तानाम् अन-  
न्तानुबन्धिकषायचतुष्क-सम्यक्त्व-मिश्यात्व-सम्यग्मिश्यात्वभेदात् प्रकृतित्रयसमिलिताः सप्तप्रकृतयो

है उसके निमित्तसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है । इसके विपरीत किसी जीवके ताल्कालिक उपदेशके बिना भी पूर्व संस्कारसे वह सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है । यह इन दोनोंमें विशेषता है ॥५॥

द्रव्यक्षेत्रादिरूप सामग्रीके साथ तीन दर्जनमोहनीयप्रकृतियोंके क्षय, उपशम और  
क्षायोपशमके होनेपर जीवोंके क्रमसे तीन प्रकारका—क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक  
सम्यग्दर्शन चतुष्क होता है ॥६॥ कहा भी है—

जो जीव भव्य, पाँचों इन्द्रियोंसे संयुक्त, संज्ञी और पर्याप्तक होता है वही काललङ्घिष्ठ  
आदिको पा करके सम्यक्त्वको आप करता है ॥६\*१॥

तत्त्वार्थश्रद्धानको—अपने-अपने स्वरूपसे संयुक्त जीवादि पदार्थोंके वशार्थ श्रद्धानको  
सम्यग्दर्शन कहा गया है । उसके औपशमिक, क्षायिक और मिश्र ( क्षायोपशमिक ) ये तीन  
भेद हैं ॥६\*२॥

मिश्यात्व, सम्यग्मिश्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन दर्जनमोहनीय तथा क्रोध-  
मानादिरूप चार अनन्तानुबन्धी हस प्रकार इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे जो सम्यग्दर्शन

३९३) एकं प्रशमसंवेगदयास्तिक्यादिलक्षणम् ।

आत्मनः शुद्धिमात्रं स्थादितरच्च समन्ततः ॥६\*४॥ इति ।

३९४) द्रव्यादिकमथासाद्य तज्जीवैः प्राप्यते क्वचित् ।

पञ्चविंशतिसुत्सुज्य दोषांस्तच्छक्तिधातकान् ॥७

भवन्ति । तासां सप्तप्रकृतीनां प्रशमात् औपशमिकम् । सम्यक् क्षयात् क्षायिकम् । च पुनः । उभयतः प्रशमात् क्षयाद्वा क्षयोपशमिकमिति सूत्रार्थः ॥६\*३॥ अथ वीतरागसम्यक्त्वमाह ।

३९५) एक—आत्मनः एकं सम्यक्त्वं स्थात् । कीदृशम् । प्रशमसंवेगदयास्तिक्यादिलक्षणम् । क्रोधाद्यभावः प्रशमः । संसारासरतासंवेगः दया । आस्तिक्यं जिनवर्मस्थापनम् । तदेव लक्षणं यस्य तत् । पुनः कीदृशम् । आत्मनः शुचिमात्रं पवित्रम् । च पुनः । इतरत् सम्ब्रहल्वं समन्ततः सर्वप्रकारेण वीतरागसम्यक्त्वं भवतीत्यर्थः ॥६\*४॥ अथ सम्यक्त्वप्राप्तिकारणमाह ।

३९६) द्रव्यादिक—अथेत्यानन्तर्ये । तत्सम्यक्त्वं जीवैः क्वचित् प्राप्यते । कि कृत्वा । द्रव्यादिकमासाद्य प्राप्य । पञ्चविंशतिदोषानुत्सुज्य त्यक्त्वा । कीदृशान् दोषान् । तच्छक्तिधातकान् सम्यग्क्त्वधातकान् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ [ अथ सम्यग्दर्शनदोषानाह । उक्तं च—

उत्पन्न होता है वह औपशमिक; उन्हीं सात प्रकृतियोंके भ्रमसे जो उत्पन्न होता है वह क्षायिक तथा उन्हींके क्षयोपशमसे जो उत्पन्न होता है वह क्षयोपशमिक कहलाता है । इस प्रकार निर्मल शुद्धिके धारक गणधरादि उस सम्यग्दर्शनके तीव्र भेद बतलाते हैं ॥६\*३॥

एक सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग, दया और आस्तिक्य स्वरूप सद्या दूसरा सब औरसे निवृत्त होकर केवल आत्माकी शुद्धिमात्रकी अपेक्षा करनेवाला है । विशेषार्थ—अभिप्राय इसका यह है कि उक्त सम्यग्दर्शन जिस प्रकार कारणकी अपेक्षासे तीन प्रकारका है उसी प्रकार से वह स्वामीकी अपेक्षासे दो प्रकारका भी है—सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागसम्यग्दर्शन । जो सम्यग्दर्शन रागी जीवके होता है वह सराग और जो वीतरागके होता है वह वीतराग सम्यग्दर्शन कहलाता है । इनमें सरागसम्यग्दर्शनकी पहचान प्रशम, संवेग, अनुकूल्या और आस्तिक्य इन गुणोंके द्वारा होती है । बाह्य वस्तुओंके आश्रयसे मनमें राग-द्वेषशुद्धिका उत्पन्न न होना, इसका नाम प्रशम है । शारीरिक, मानसिक एवं आगन्तुक दुःखोंके कारणभूत संसारसे भयभीत होनेका नाम संवेग है । मनमें समस्त प्राणियोंके ग्रन्थि जो दयालुता उद्दित होती है उसे अनुकूल्या कहते हैं । आप, आगम और पदार्थोंके अस्तित्वकी छठताको आस्तिक्य कहा जाता है । इन गुणोंके सदूभावमें उस सम्यग्दर्शनके सदूभावका अनुमान मात्र किया जा सकता है । परन्तु उनके अभावमें उस सम्यग्दर्शनका अभाव निहित जाना जाता है । वीतरागसम्यग्दर्शन आत्माकी शुद्धि मात्र है । इसमें आप, आगम एवं पदार्थ आदिका विकल्प ही नहीं रहता है ॥६\*४॥

जीव द्रव्य-क्षेत्रादिरूप सामग्रीको प्राप्त करके सम्यग्दर्शन शक्तिके घातक पश्चीम दोषोंको नष्ट करते हुए कहींपर भी—चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें—उस सम्यग्दर्शनको प्राप्त करते हैं ॥७॥ कहा भी है—

१. N शक्तिमात्रं, २. J शुचिमात्रं । ३. P M इति । ४. V C R °तच्छक्तिधातक ।

३९५ ) [ उक्तं च—

मूढत्रयं मदाश्वाष्टौ तथानायतनानि षट् ।

अष्टौ शङ्कादयश्चेति दुम्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥७४१ ॥

३९५) मूढत्रयं—सम्यग्दर्ढानस्य पञ्चविंशतिदोषाः प्रोक्ताः । के ते । मूढत्रयं लोक-देवता-पाखण्डमूढता इति त्रयो दोषाः । ज्ञानं पूजां कुलं जाति बलयृद्धि सपो वपुः । अष्टाधाश्चित्य मानि-त्वम् । समयो नाम मदः । स चाष्टविधः । कुदेव-कुगुरु-कुवर्माः तेषां सेवकादच एवं षडायतनानि । शङ्का-काङ्क्षा - विचिकित्सा-भूढदृष्टिः-वनुपगृहनम्-अस्थितोकरणं-वातसल्याभावः-प्रभावनाभावश्चेति अष्टौ शङ्कादयो दोषा इत्यर्थः ॥७४१॥ ] अथ सप्ततत्त्वान्याह ।

तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और शंका आदि आठ; इस प्रकार ये पचास दोष उक्त सम्यग्दर्ढानको मलिन करनेवाले हैं। विशेषार्थ—मूढताका अर्थ अज्ञानता होता है। वह अज्ञानता संक्षेपमें तीन प्रकारकी हो सकती है—धर्मके विषयमें, देवके विषयमें, और गुरुके विषयमें। गंगा आदिमें नहाने, घालु और पत्थरोंका ढेर करने, पर्वतसे गिरने और सती आदिके रूपमें अन्निमें जल मरने; इत्यादि क्रियाओंमें धर्मके न होते हुए भी धर्म मानना, यह धर्मविषयक अज्ञानता है। इसे लोकमूढता या धर्ममूढताके नामसे कहा जाता है। अभोषुसिद्धिके कारण मानकर धन या सन्तानकी प्राप्ति आदिकी अभिलाषासे राग-द्वेषादिसे दूषित देवताओंकी—आपाभासोंकी—आराधना करनेका नाम देवमूढता है। जो आरम्भ, परिग्रह एवं हिंसा आदिमें रत होते हुए भी साधुके वेषको धारण करते हैं उन असाधुओंको साधु समझ कर उनकी यथार्थ साधुके समान भक्ति व उपासना आदि करना, यह गुरुमूढता है। बुद्धि, पूजा-प्रतिष्ठा, कुळ (पितृवंश), जाति (मातृवंश), शारीरिक बल, धन-सम्पत्ति, तप (उपवास आदि) और शरीर सौन्दर्य; इन आठमेंसे जिस किसीके भी आश्रयसे अन्तःकरणके भीतर अभिमान प्रादुर्भूत होता है उसे उस नामका मद—जैसे बुद्धिमद व प्रतिष्ठामद आदि—समझना चाहिए। आयतनका अर्थ स्थान होता है। जो धर्मके आयतन होते हैं वे धर्मायतन कहे जाते हैं। किन्तु जो धर्मके वस्तुतः स्थान नहीं होते हैं वे अनायतन कहलाते हैं और वे संक्षेपमें छह हैं—कुदेव, कुशुत और कुलिंगी (कुगुरु) तथा इन तीनोंके भक्त—कुदेवभक्त, कुशुतभक्त व कुलिंगिभक्त। इन छहोंकी प्रशंसा आदि करने-से सम्यग्दर्ढान मलिन होता है। इनके अतिरिक्त जो शंका आदि आठ दोष हैं वे ये हैं—१. आगममें तपश्चरणसे अनेक ऋद्धियों एवं स्वर्ग-मोक्षकी जो प्राप्ति बतलायी गयी है, वह सत्य है क्या, इत्यादि प्रकारसे होनेकाली तत्त्वश्रद्धानकी शिथिलताका नाम शंका है। २. सासारिक सुखको स्थिर समझकर भोगोंकी अभिलाषा रखनेका नाम काङ्क्षा है। ३. मुनि आदिके भलिन शरीरको देखकर मनमें झलनिका भाव उत्पन्न होना, यह विचिकित्सा दोष है। ४. यथार्थ व अयथार्थकी परीक्षा न करके मिथ्यादर्ढान, मिथ्याक्षान और मिथ्याचारित्र तथा इनके धारक-जनोंकी पूजा व स्तुति आदि करना; इसका नाम भूढदृष्टि है। ५. यदि अज्ञानी या अशक्त-जनोंके कारण मोक्षमार्गकी निन्दा होती हो तो उसे दूर करनेका प्रयत्न नहीं करना तथा

३९६ ) जीवाजीवास्तवा वन्धः संवरो निर्जरा ततः<sup>१</sup> ।

मोक्षरचैतानि समैव तस्मान्पूर्वमनीषिणः ॥८॥ तदथा—

३९७ ) अनन्तः सर्वदा सर्वो जीवराशिद्धिधा स्थितः<sup>२</sup> ।

सिद्धेतस्विकल्पेन त्रैलोक्यसुवनोदरे ॥९

३९८ ) सिद्धस्त्वेकस्वभावः स्यात् दृग्बोधानन्दशक्तिमात् ।

मृत्युत्पर्यादिजन्मोत्थवलेशप्रचयविच्युतः ॥१०

३९६ ) जीवाजीवा—[ मनोषिणो विद्वांस ऊचुः कथितवन्त इत्यर्थः ॥८॥ ] तदथा । अथ जीवमेदानाह ।

३९७ ) अनन्तः—सिद्धेतस्मेदात् । इन्द्रे संसारिणः । शेषं सुगमम् ॥९॥ तथाद्यमेदमाह ।

३९८ ) सिद्धस्त्वेक—सिद्धः । तु पुनः । एकस्वभावः स्यात् । कीदृशः । दृग्बोधानन्दशक्ति-

अपनी प्रशंसा और दूसरोंकी निन्दा करना, यह अनुपगृहन दोष है । ६. प्राणियोंको मोक्ष-मार्गसे भ्रष्ट होते हुए देख करके भी उन्हें उसमें स्थिर रखनेका प्रयत्न नहीं करना, इसे अस्थिरीकरण कहा जाता है । ७. साधमाँजिमोंका सदूभावनाके साथ यथायोग्य आदर-सत्कार नहीं करना, इसका नाम अबात्सल्य है । ८. जैन धर्मविषयक अज्ञानताको दूर करके उसकी महिमाको प्रदर्शित करनेका प्रयत्न नहीं करना या स्वयं अज्ञानतावश ऐसा आचरण करना कि जिससे धर्मकी निन्दा हो सकती हो, इसका नाम अप्रभावना है । ये पचासीस (२५) उस सम्यग्यदर्शनके दोष हैं । उसे निर्भल रखनेके लिए इन दोषोंको दूर करना ही चाहिए ॥७\*१॥

जीव, अजीव, आस्तव, वन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सातोंको विद्वान् पुरुष तत्त्व कहते हैं ॥८॥

इनमेंसे प्रथमतः १६ इलोकोंमें जीवतत्त्वका वर्णन इस प्रकारसे किया गया है—तीन लोकरूप सुवनके भीतर सिद्ध और संसारीके भेदसे सदा अवस्थित रहनेवाली समस्त जीवराशि अनन्त है । विशेषार्थ—जीवका स्वरूप ज्ञान-दर्शन है । ये जीव संसारी और सिद्ध-के भेदसे दो प्रकारके हैं । जो ज्ञानावरणादि कर्मोंके वशीभूत होकर निरन्तर जन्म-मरणको प्राप्त होते हुए चतुर्गतिमें परिभ्रमण किया करते हैं वे संसारी कहे जाते हैं । इसके विपरीत जो उन आठों कर्मोंसे रहित होते हुए जन्म-मरणके दुःखसे छुटकारा पाकर अविनश्वर एवं अवाधित सुखको प्राप्त हो चुके हैं वे सिद्ध या मुक्त जीव कहलाते हैं । इन सब जीवोंकी संख्या अनन्त है ॥९॥

जो जीव दर्शन, ज्ञान, आनन्द ( सुख ) और शक्ति ( वीर्य ) स्वरूप अनन्त चतुष्टयको

१. MN वन्धसर्वरी, B<sup>२</sup>जीवाधववन्धः संवरो, Y जीवास्तवो वन्धः । २. All others except PMB तथा for ततः । ३. P M L B X तदथा, F उक्तं च । ४. B J द्विवा भवेत् । ५. F V C Y \*जीवा-नन्दशक्तिमात् । ६. V C R मृत्युत्पादादि ।

- 399 ) चरस्थिरभवोदभूतविकल्पैः कल्पिताः पृथक् ।  
भवस्यनैकमेदास्ते जीवाः संसारवत्तिनः ॥११
- 400 ) पृथिव्यादिविभेदेन स्थावराः पञ्चधा मताः ।  
त्रसास्त्वनेष्वमेदास्ते नानायोनिसमाश्रिताः ॥१२
- 401 ) चतुर्धा गतिमेदेन भित्यन्ते प्राणिनः परम् ।  
मनुष्यामरतिर्यश्चो नारकाश्च यथायथम् ॥१३

मानु दर्शनज्ञानानन्दशक्तियुक्तः । पुनः कोदृशः । मूल्यूत्पादादिजन्मोत्थक्लेशप्रचयविच्छयतः मरणो-  
स्त्वादिजन्मभ्यः उत्थः क्लेशः तस्य प्रचयः समूहः तेन विच्छयते रहितः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥  
अथ संसारिजीवानाह ।

399 ) चरस्थिर—ते संसारवत्तिनो जीवा अनेकमेदा भवन्ति । कीदृशाः । पृथक् पृथक्  
कल्पिताः । कौः । चरस्थिरभवोदभूतविकल्पैः ॥११॥ त्रस्त्वावरमेदानाह ।

400 ) पृथिव्यादि—[ पृथिवी, आपः, तेजः, वायुः, वनस्पतिः, इति पञ्चप्रकाराः स्थावरा  
एकेन्द्रियाः । नानायोनिषु समाश्रिताः त्रसाः द्विन्द्रियादयः नैकमेदाः कल्पिता इत्यर्थः ॥१२॥ ] पुनः  
संसारिजीवानाह ।

401 ) चतुर्धा—[ देवमनुष्यतिर्यञ्चनारका इति गतिमेदेन प्राणिनां चत्वारो भेदाः ॥१३॥  
प्राणिनां भ्रमणमाह ।

प्राप्त कर चुका है वह सिद्ध कहा जाता है । सब सिद्ध जीव उक्त अनन्त चतुष्टयकी अपेक्षा  
एक ही स्वभाववाले ( समान ) हैं । ये मरण और जन्म आदिरूप संसारके कष्टसमूहसे  
सर्वदाके लिए रहित हो चुके हैं ॥१०॥

चर और स्थिर स्वरूप संसारपरिभ्रमणसे उत्थन हुए भेदोंके द्वारा पृथक्-पृथक् भेदकी  
कल्पनाओं प्राप्त हुए वे संसारी जीव अनेक भेदोंमें विभक्त हैं । अभिप्राय यह है कि संसारी  
जीव मूलमें दो प्रकारके हैं—त्रस और स्थावर । जो त्रस नामकर्मके उदयसे चलने-फिरनेमें  
समर्थ होते हैं वे त्रस कहलाते हैं । किन्तु जो स्थावर नामकर्मके उदयसे इच्छानुसार  
गमनागमनमें असमर्थ होते हैं वे स्थावर कहे जाते हैं । वे सब अनेक प्रकारके हैं । इन भेदों-  
का निर्देश आगे प्रत्यक्षार स्वर्य करते हैं ॥११॥

स्थावर जीव पृथिवी आदिके भेदसे—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति इन  
भेदोंकी अपेक्षा—पाँच प्रकारके माने गये हैं । त्रस जीव अनेक प्रकारके हैं और वे विविध  
अवस्थाओंको प्राप्त हैं ॥१२॥

सब संसारी जीव यथायोग्य गतिकी अपेक्षा केवल चार भेदोंमें विभक्त हैं—मनुष्य,  
देव, तिर्यक् और नारक ॥१३॥

402 ) ऋमन्ति नियतं जन्मकान्तारे कर्मलाशयाः ।

तुरन्तकर्मसंपात्प्रपञ्चवशवतिनः ॥१४

403 ) कि तु तिर्यगतावेव स्थावरा विकलेन्द्रियाः ।

असंज्ञिनश्च नाम्नन्त्र प्रभवन्त्यज्ञिनः क्वचित् ॥१५

404 ) उपसंहारविस्तारधर्मी तुमोपलब्धनः ।

कर्ता भोक्ता स्वयं जीवस्तनुमात्रो अथमूर्तिमान् ॥१६

402 ) ऋमन्ति—कर्मलाशयाः पापवृद्धयो जीवा अनन्तकर्मसंघातविस्तारवशवर्तिनो जन्मकान्तारे पुनर्जन्मानुवत्त्वनि संसारे नियतं निश्चितं ऋमन्ति पर्यटन्ति, इत्यर्थः ॥१४॥ ] अथ जीवानां तिर्यगतिमाह ।

403 ) कि तु—अज्ञिनो जीवाः क्वचित् अन्यत्र न प्रभवन्ति नोत्पद्यन्ते । कि तु विशेषे । स्थावराः पञ्च पृथिव्यादयः । विकलेन्द्रिया द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः । चकारात् असंज्ञिनः । तिर्यगतावेव उत्पद्यन्ते । इति सूत्रार्थः ॥१५॥] अथ जीवस्वरूपमाह ।

404 ) उपसंहार—जीवः स्वयं कर्ता भोक्ता तनुमात्रो देहमात्रव्यापी अमूर्तिमान् । पुनः कीदृशः । दृग्बोधलब्धनः दर्शनज्ञानलक्षणः । पुनः कीदृशः । उपसंहारविस्तारधर्मीः कुन्तुदन्तिदेह-प्रमाणोपसंहारविस्तारजीवप्रदेशः । इति तात्पर्यर्थः ॥१६॥ उक्तं च । अथ जीवस्योत्पत्तिमाह ।

इथर्यामें भोक्ता या मूर्खाँको धारण करनेवाले वे सब संसारी जीव तुविनाश कर्मके उदयसे आरम्भ व प्रतारणामें संलग्न होकर नियमसे परिभ्रमण कर रहे हैं ॥१४॥

परन्तु उपर्युक्त पृथिवी आदिस्वरूप पाँच स्थावर, विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय—तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय प्राणी ये सब एक भाव तिर्यक्त्वातिमें ही होते हैं, अन्य किसी गतिमें वे लहीं प्राप्त होते हैं ॥१५॥

जीव अमूर्तिक—रूप, रस, गन्ध व स्पर्शसे रहित—होकर भी संकोच व विस्तार-रूप धर्म ( रूपभाव ) के कारण प्राप्त हुए शरीरके अभाव रहता है । वह ज्ञान और दर्शन रूपरूपको ग्राप्त होकर स्वयं कर्मका कर्ता और उसके कलका भोक्ता भी है ॥ विशेषार्थ—जीव स्वभावसे अमूर्तिक है । परन्तु वह अनादि कालसे कर्मके साथ एकमेक हो रहा है । इस दृष्टिसे उसे मूर्तिक भी कहा जाता है । वह यद्यपि प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी-लोकके बराबर है, किंतु भी नामकर्मके उदयसे जिस अवस्थामें जो शरीर उसे प्राप्त होता है उसीके भीतर वह संकोच और विस्तारको प्राप्त होकर रहता है । उदाहरण स्वरूप जैसे—दीपकका प्रकाश यद्यपि असीमित है, किंतु भी वह यथायोग्य छोटे-बड़े कमरे आदिको पाकर तथामाण ही रहता है । सांख्य प्रकृतिको कर्ता और पुरुषको भोक्ता मानते हैं । इसे लक्ष्यमें रखते हुए यहाँ यह बतलाया गया है कि वह जीव स्वयं कर्ता भी है और स्वयं भोक्ता भी है ॥१६॥ कहा भी है ।

१. P first line is written on the margin : २. Others except P M V B कर्मलाशयाः ।  
३. M N कर्मसंघात । ४. P adds this verse on the margin । ५. B विस्तारधर्मी ।

405 ) उक्तं च—

तत्र जीवस्यजीवच्चे जीविष्यति सचेतनः ।

यस्मात्स्माद्युधैः श्रोक्तो जीवस्तत्त्वविदां वरैः ॥१६\*१

406 ) एको द्विधा त्रिधा जीवश्चतुःसंक्रान्तिपञ्चमौः ।

षष्ठमः सप्तमङ्गो इष्टाश्रयो नवदशस्थितिः ॥१७

407 ) भव्याभव्यविकल्पो अयं जीवराशेनिसर्गजः ।

मतः पूर्वोऽपवर्गाय जन्मपञ्चाय चेतरः ॥१८

405 ) तत्र—[ भूतवर्तमानभाविकालेषु सचेतन एव जीवति इति तत्त्वविद्वरैः प्रोक्तमित्यर्थः ॥१६\*१॥ ] अथ जीवानामनेकत्वमाह ।

406 ) एको द्विधा—एकस्तत्त्वरूपः । द्विधा अस्त्वावरभेदात् । त्रिधा एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसर्वेन्द्रियभेदात् । चतुर्था एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसंज्ञभेदात् । पञ्च भेदा यथा एकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः । षट् भेदा यथा एकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः षष्ठः अस्त्वावररूपश्च । पञ्चस्त्वावरविकलेन्द्रियसकलेन्द्रियभेदात् सप्त । पञ्चस्त्वावरविकलेन्द्रियसंज्ञसंज्ञसंकमादष्टप्रकारः । सकलेन्द्रियविकलश्चयं पञ्च स्थावरा इति नव भेदाः । पञ्चस्त्वावरविकलश्चयं संज्ञसंज्ञभेदात् दशवा । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ भव्याभव्यस्वरूपमाह ।

407 ) भव्याभव्य—अयं जीव\*राशिर्भव्याभव्यविकल्पो निसर्गजः स्वभावजो भवति । पूर्वो जो चेतनासे संयुक्त रहकर जीता है, जीता था और जीवित रहेगा वह जीव है; ऐसी चूँकि जीवकी निरुक्ति है, इसीलिए तत्त्वज्ञामें श्रेष्ठ विद्वानोंने वसे जीव कहा है ॥१६\*१॥

जीव चेतनतासामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारका; त्रस और स्थावर अथवा भव्य और अभव्यकी अपेक्षा दो प्रकारका; एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रियकी अपेक्षासे तीन प्रकारका; एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञीकी अपेक्षा अथवा चार मतियोंकी अपेक्षा चार प्रकारका; इन्द्रियभेदसे पाँच प्रकारका; पाँच स्थावर और त्रस भेदोंकी अपेक्षा छह प्रकारका; पाँच स्थावर, विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय इन भेदोंकी अपेक्षा अथवा अस्तित्वादि भर्योंकी अपेक्षा सात प्रकारका; पाँच स्थावर, विकलेन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी इन भेदोंकी अपेक्षा आठ प्रकारका; पाँच स्थावर और द्वीन्द्रियादि चार त्रस इस प्रकारसे नौ प्रकारका; तथा पाँच स्थावर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय इस प्रकारसे दस प्रकारका है ॥१७॥

जीवराशिकी जो यह भव्य और अभव्यरूप विशेषता है वह स्वभावजनित है । इनमें भव्य जीव मोक्षके लिए और अभव्य जीव संसाररूप कीचड़में निमग्न रहनेके लिए माना गया

१. P M B उक्तं च— २. V B C J X Y R जीवस्यजीवीच्च । ३. All others except P M N पञ्चमः; M N पञ्चकः । ४. M N L F षट्कर्मः; Others षट्कर्म । ५. M N नवदशस्थितः । ६. All others except P M N जीवराशिः ।

४०८) सम्यग्ज्ञानादिरूपेण ये भविष्यन्ति जन्तवः ।

प्राप्य द्रव्यादिसामग्रीं ते भव्या मुनिभिर्भताः ॥१९॥

४०९) अन्धपाषाणकल्पं स्यादभव्यत्वं शरीरिणाम् ।

यस्माद्ब्रह्मशतेनापि आत्मतत्त्वं पृथग्भवेत् ॥२०॥

४१०) अभव्यानां स्वभावेन सर्वदा जन्मसंक्रमः ।

भव्यानां भाविनी मुक्तिनिःशेषदुरितक्षयात् ॥२१॥

४११) यथा धातोर्मलैः साधौ संवन्धो ऽनादिसंभवः ।

तथा कर्ममलैङ्गेयः संश्लेषो ऽनादिदेहिनाम् ॥२२॥

भव्यरूपो ऽपवर्गाय मतो भविष्यतः । च पुनः । इतरो अभव्यरूपः जन्मपञ्चाय संसारकर्मसाय मतः । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ भव्यस्वरूपमाह ।

४०८) सम्यग्ज्ञानादि—वे जन्तवो जीवाः सम्यग्ज्ञानादिरूपेण भविष्यन्ति । कि कृत्वा । द्रव्यादिसामग्रीं प्राप्य । ते जीवा मुनिभिर्भव्या भता इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ जीवस्वरूपमाह ।

४०९) अन्धपाषाण—शरीरिणां अव्यक्तत्वं\* अन्धपाषाणकल्पं सुषष्ठिपाषाणतुल्यं स्यात् । यस्माऽज्जन्मशतेनापि आत्मतत्त्वं पृथग् न भवेत् ॥२०॥ अथाभव्यानां स्वरूपमाह ।

४१०) अभव्यानां—अभव्यानां जीवानां सर्वदा निरन्तरं स्वभावेन जन्मसंक्रमः स्यात् । भव्यानां भाविनी मुक्तिर्वर्तते । कस्मात् । निःशेषदुरितक्षयात् सर्वपापक्षयात् ॥२१॥ अथ जीवेन सहानादिसंबन्धमाह ।

४११) यथा धातोः—यथेति दृष्टान्तोपन्थासे । धातोर्मलैङ्गादिकस्य स्वणदिवा । मलैः है । अभिप्राय यह है कि भव्य जीव अपनी योग्यताके अनुसार मोक्षगामी है, परन्तु अभव्य जीव सदा संसारमें ही परिभ्रमण करनेवाला है—उसमें मोक्षप्राप्तिकी योग्यता नहीं है ॥१८॥

जो प्राणी द्रव्य-क्षेत्रादिरूप सामग्रीको प्राप्त करके सम्यग्ज्ञानादि स्वरूपसे परिणत होंगे वे मुनियोंके द्वारा भव्य माने रखे हैं ॥१९॥

प्राणियोंका अभव्यपना अन्धपाषाणके समान है । कारण यह कि उन्हें सैकड़ों प्रयत्नोंके करने पर भी कभी आत्मतत्त्वका पृथक् अनुभव नहीं होता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अन्धपाषाण कभी सुषष्ठिस्वरूपसे परिणत नहीं हो सकता है उसी प्रकार अभव्य जीव कभी रत्नत्रयस्वरूपसे परिणत नहीं होते और इसीलिए उन्हें मुक्ति भी कभी प्राप्त नहीं होती, क्योंकि, उनमें वैसी योग्यताका अभाव है ॥२०॥

अभव्य जीवोंका स्वभावसे ही निरन्तर संसारमें लंचरण हुआ करता है—वे सदा जन्म-मरणको प्राप्त होते हुए संसारमें ही परिभ्रमण किया करते हैं । परन्तु भव्योंको समस्त पापके—द्रव्य और भाव कर्मके—क्षयसे भविष्यमें मुक्ति प्राप्त होनेवाली है ॥२१॥

जिस प्रकार धातुका—सुषष्ठिपाषाणादिका—अनादि कालसे मलके साथ सम्बन्ध

१. B स्याद्ब्रह्मतत्त्वं । २. All others except P यस्माऽज्जन्मशतेनापि । ३. M सर्वथा जन्म ।

४१२ ) द्वयोरनादिः<sup>१</sup> संसारः<sup>२</sup> सान्तः पर्यन्तवज्जितः ।

वस्तुस्वभावतो ज्ञेयो भव्याभव्याङ्गिनोः क्रमात् ॥२३

४१३) चतुर्दश समारेष मार्गणाम् शुणेषु च ।

ज्ञात्वा संसारिणो जीवाः श्रद्धेयाः शुद्धदृष्टिभिः ॥२४॥जीवः ॥

सार्वभूतादिसंबन्धः संबन्धो यथा वर्तते सथा देहिनां प्राणिनां कर्मभलैरनादिसंबन्धो शेयः । इति  
सुत्रार्थः ॥२३॥ अश्च भव्याभव्यानां कर्मसंबन्धमाह ।

412 ) हयोः—भव्यस्यानादिः सान्तः कर्मबन्धः । अभव्यस्यानादान्तः । कस्मात् । अनादिसंसारात्\* अथं कर्मबन्धो वस्तुस्वभावतो ज्ञेयः । भव्याभव्याङ्गिनः क्रमात् । इति सूक्ष्मार्थः ॥२३॥ अथ जीवात्मा सार्गणादिष्व दर्शयश्चाह ।

413 ) चतुर्दश—शुद्धदृष्टिभिः सम्यगदशिभिः संसारिणो जीवाः चतुर्दशसमासेषु जीकभेदेषु श्रद्धेयाः । तत्र संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वं नारकमनुष्यभेदेषु । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तिर्थव्याप्तिः एव । द्रव्यभाव-मनोभावात् एकेन्द्रियाः सूक्ष्मबादररूपाः असंज्ञिनः एव । संज्ञ्यसंज्ञभेदद्वयोपेताः पञ्चेन्द्रियाः । विकल-त्रिकं द्विशिचतुरिन्द्रियाः भेदत्रयमेतत् । एवमनादररूपेन्द्रिये द्वयं लेपि इति समसु जीवसमासेषु पर्याप्तापर्याप्तभेदद्वयम् । ततो जाताः चतुर्दशसु जीवसमासाः । अथ मागंणासु जीवान् दर्शयति । तत्र याथा—“गइ इदियेसु काथे” ( गोमटसार० जीवका०४० १४१ ) तत्र नामकमोदियात् ग्रास-शुभाशुभफला देवनारकतिर्थं मनुष्यभेदेन चतुःप्रकारा गतिमागंणा भवति । अतीन्द्रियशानप्रतिकूला चैकद्विशिचतुरपञ्चेन्द्रियभेदात् पञ्चप्रकारा लेन्द्रियमागंणा । शरीरनामकमोदियात् पृथिव्यप्लेजीवायु-वनस्पतित्रिसकायभेदात् षष्ठ्यमेदा कायमागंणा । अव्यापारविद्युद्बोधात्मतत्त्वाभावात् मनोवचन-कायभेदेन त्रिधा योगमागंणा । अथवा प्रकारान्तरमाह । सत्यासत्योभयानुभवभेदेन चतुर्विधो मनो-योगो वचनयोगद्वच । औदरिकीदरिकमिश्रवैक्रियिकवैक्रियिकमिश्रआहारकाहारकमिश्रकार्मणकाय-

रहता है उसी प्रकार प्राणियोंका अनादि कालसे कर्म-मलके साथ सम्बन्ध जानना चाहिए॥३॥

भृत्य और अभृत्य दोनोंका ही अनादि है। परन्तु वह अनादि संसार वस्तुस्वभावके अनुसार क्रमसे भृत्यका स्थान—नष्ट हो जानेवाला है और अभृत्यका वह अन्तसे रहित—अनन्त काल तक रहनेवाला—है ॥३३॥

शुद्ध सम्यग्द शिथोंको चौदह जीवसमासों, चौदह मार्गणाओं और चौदह गुणस्थानोंका आश्रय करके उन संसारी जीवोंके स्वरूपको जानना चाहिए और तदनुसार अद्वान भी करना चाहिए। विशेषार्थ—संसारी जीवोंके स्वरूपको जाननेके लिए जीवसमास, मार्गणा और गुणस्थान आदि ( पर्याप्ति व प्राण आदि ) का जानना आवश्यक है; वर्थोंकि उनके आने विना उक्त जीवोंका पूर्ण बोध नहीं हो सकता है। उनमें जीवसमासका जीवोंका संक्षेप, अर्थात् जिन अवस्थाविशेषोंके द्वारा अनेक जीव और उनकी जातियोंका सामूहिक रूपमें बोध होता है उन्हें जीवसमास कहा जाता है। वे संक्षेपसे चौदह हैं—वाहर एकेन्द्रिय,

३. All others except P श्वेतांडिसुरोऽस्य च ३. B संग्रहात् साक्षात्पर्यन्त ३. X Y श्वेतांडि:

४. P L X जीव; F इसि जीवप्राणी प्रजिपादितः

भेदात् त्रिधा वेदमार्गणाः । शुद्धात्मस्त्वाभावात् क्रोधमानमायालोकभेदेन चतुर्विधाः क्रायमार्गणाः विस्तरेण कषायनोकदायजनितभेदात् पञ्चविंशतिविधाः वा । मतिश्रुतावधिमनःपर्यग्केवलज्ञान-पञ्चकं कुमत्याद्यज्ञानश्रव्यं मेलादष्टप्रकारा ज्ञानमार्गणाः । सामायिकच्छेषोपस्थापनपरिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसांपराययथाल्यात्त्वारित्रभेदेन पञ्च प्रकाराः । संयमासैयमस्त्वासंयमः प्रतिपश्चद्येन सह सप्तप्रकाराः संयममार्गणाः । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदेन चतुर्विधा दर्शनमार्गणाः । अन्तर्लपर-मात्रमद्रव्यप्रतिकूलाः कृष्णनीलकापोततेजःपीतशूक्रमेशात् षट्प्रकारा लेश्यमार्गणाः । भव्याभवप्रभेदेन द्विधा भव्यमार्गणाः । औपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिक-सम्यक्त्वभेदाः त्रिधा सम्यक्त्वमार्गणाः । मिथ्यादृष्टिसादनमिश्रसंज्ञविपक्षत्रयपतनात् षट्प्रकाराः सम्यक्त्वमार्गणाः । संज्ञसंज्ञभेदात् द्विविधाः संज्ञमार्गणाः । आहारकानाहारकभेदाद् द्विविधाः आहारकमार्गणाः । इति चतुर्दश-मार्गणा ज्ञातव्याः । तत्र सर्वसु गतिषु सर्वे संसारिजीवाः सन्ति इसि गतिमार्गणा । अन्तर्गुल-एतिस्थजीवान् विहाय सर्वेन्द्रियेषु सर्वे जीवाः सर्वकायेषु सर्वे संसारिजीवा इति कायमार्गणा । कामंणोपलक्षितान्तरालगतिस्थान् त्वक्त्वा सर्वयोगीषु सर्वे जीवाः इति योगमार्गणा । व्यवहारायेष्या अन्तरालस्थान् वेदक्षपत्तान् तान् जीवान् परित्यज्य त्रिषु वेदेषु सर्वे जीवाः प्राप्यस्ते इसि वेदमा-र्गणा । एवं शेषास्वनुकामु यावन्तो जीवभेदा वर्तम्भे तत्र ग्रन्थान्तरादवसेया इति मार्गणामु संसारिजीवाः प्रख्यिताः । सोप्रत गुणस्थानेषु तानाह । 'मिच्छो सासण' ॥ ( गोम्भटसार-जीवकाण्ड ९ ) निजपरमात्मतस्वस्य सर्वज्ञप्रणीतामवोक्तरत्नव्यरुपमोक्षमार्गस्य शद्वान्न यस्य नास्ति स मिथ्यादृष्टिः । देवमानुषनारकपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तु केषांचित् सम्यक्त्वं लान् विहाय सर्वे मिथ्यादृष्टयः । अथ पाषाणरेखादिसपानानन्तानुबन्धिचतुष्ककोषमानमायालोभान्यतरोदयेन प्रथमीपशमिकसम्य-क्त्वोत्पतितो मिथ्यात्म नादापि गच्छतीत्यन्तरालवर्ती सासादनः । उपर्यमश्रेष्ठः पतन् जीवः सासादनः स्वशुद्धात्मादितत्वं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं परप्रणीतं च मन्यते यः दर्शनमोहनीयभेदमिश्रकर्मदयेन दधिगुडमिश्रभाववत् मिश्रगुणस्थानम् । तत्रायं सम्यक्त्वप्राप्तिकाले केषांचित् भवति इति मिश्रगुण-स्थानम् । ननु सर्वे देवा वन्दनीया न च निन्दनीया इत्यादिवैन्दियिकमिथ्यादृष्टेः सम्यग्मिथ्यादृष्टेः को विशेषः । उच्यते । तत्र वैनियिकमिथ्यादृष्टेः सर्वदेवभक्तिविषये कस्यापि वन्दनेन मम पुण्यं भविष्यति इति अभयेन भक्तिं करोति, मम पुण्यं भविष्यत्येवेति निश्चयो नास्ति । मिश्रस्य पुनर्हभवथत्रापि निश्चयोऽस्तोति विशेषः । अप्रत्याख्याने द्वितीयकषायोदयेन आत्मनिन्दादि-सहितः इन्द्रियसुखमनुभवति इत्यविरतसम्यग्द्विष्टगुणस्थानम् । यद्यप्यन्यत्रापि स्यात्तथा स देवमनुष्योविशेषः इति अविरतगुणस्थानम् । अविरतसम्यग्द्विष्टी सत्यां तृतीयकषायोदयाभावेन सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय; इस प्रकार ये सात हैं जो पर्याप्त और अपर्याप्त भेदोंमें विभक्त होनेसे चौदह हो जाते हैं । इनके उत्तरभेदों ( पृथिवी व जल आदि ) को प्रह्लण करनेपर उक्त जीवसमाख्यके सत्तादन ( ९९ ) भेद भी हो जाते हैं । मार्गणाका अर्थ अन्वेषण होता है । तदनुसार जिन अवस्था विशेषोंके द्वारा अथवा जिन अवस्थाओंमें जीवोंका अन्वेषण ( स्लोज ) किया जाता है उनका नाम मार्गणा है । वे मार्गणाएँ जिन प्रकारसे चौदह हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार । इनका विशद वर्णन गोम्भटसार-जीवकाण्डमें किया गया है, वहाँसे देखना चाहिए । मोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षयोपशम और श्रव्य आदिके होनेपर जीवोंके जो परिणामं प्रादुर्भूत होते हैं उन्हें

४१४ ) धर्मधर्मनभःकालाः पुद्गलैः सह योगिभिः ।

द्रव्याणि पट् प्रणीतानि जीवपूर्वाण्यनुक्रमात् ॥२५

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणं देशविरतिगुणस्थानम् । तत्र पञ्चेन्द्रियसंज्ञितिर्थस्त्रमनुष्ट्या: एवं पूर्वप्राप्तसम्बन्धत्वा वर्तन्ते । अथ धूलिरेखासदृशक्रोधादितृतीयकषायोदयाभावे सति हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहलपेषु पञ्च महाब्रतेषु वर्तते । यदा दुःस्वप्नादिव्यक्तप्रमादसहितोऽपि पञ्चगुणस्थानवर्तीं प्रमत्संयतो भवति । स पञ्चेन्द्रियमनुष्ट्यसाधुरेव भवति इति प्रमत्तगुणस्थानम् । स एव जलरेखादिसमानसंज्ञकलनकषाये भन्दोदये सति शुद्धात्मतत्त्वमलजनकव्यक्ताव्यक्तप्रमादरहितः सन् सप्तमगुणस्थानवर्तीं अप्रमत्संयतः । तत्रापि सम्यक्त्वादिसहितः साधुरेव इत्यप्रमत्तगुणस्थानम् । स एव भत्तसंज्ञकलनकषाये भन्दोदये सत्यपूर्वनिन्दामृतसुखस्पर्शी उपशमक्षपकश्रेणिप्रारम्भकोऽपूर्वकरणगुणस्थानमष्टमम् । अत्रीपशमिकः क्षणको वा निःसंकल्पपरमात्मतत्त्ववैकल्यानपरिणामेन द्वितीयक्षायादि एकविशतिभेदभिन्नचारित्रमोहनीयप्रकृतोनामुपशमक्षपकयोः समर्थो नक्षमगुणस्थानवर्तीं जीवो भवति । तत्र द्वावप्युपशमक्षपको भवतः । सूक्ष्मपरमात्मतत्त्ववैकल्यानबलात् सूक्ष्मोत्कृष्णत्त्वोभक्षयायस्थोपशमक्षपको रतः इति दशमगुणस्थानम् । परमोपशमस्वभावस्वात्मसंबोधबलेन सर्वोऽपि शान्तमोह एकादशगुणस्थानवर्तीं शमकः । उपशमश्रेणिरहितेन क्षणकश्रेणिमार्गेण निःक्षयाः शुद्धात्मभावनावलेन क्षीणक्षणाधद्वादशगुणस्थानवर्तीं भवति स चौपशमश्रेणि विहाय क्षणकः मोहक्षयानन्तरान्तरमुहूर्तकालं स्वशुद्धात्मबोधलपेक्त्ववित्कर्विचारद्वितीयशुक्लध्यानमेदेति स्थित्वान्त्यसमये ज्ञानावरणादशीभावरणान्तरायत्रपयुगपदेकसमयेन छित्वा मेघमालाविनिर्गतिदिनकर इव सकलविमलकेवलज्ञानकिरणीलोकालोकप्रकाशकाः त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जिनभास्करा भवन्ति । मनोवचनकायवर्णावलम्बनकमदिनहेतुप्रदेशस्पन्दलक्षणं योगारहितावचतुर्दशगुणस्थानवर्तिनोऽयोग्नो भवन्ति । इति गुणस्थानेषु चतुर्दशसु संसारिजीवाः समाख्याता इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ जीवप्रतिपक्षत्वात् प्राप्तनिर्देशत्वात् । अथ जीवपदार्थमाह ।

४१५ ) धर्मधर्म—सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वये शुद्धोपयोगः । सतिज्ञानादिरूपो विकलोऽशुद्धोपयोगः वेतनालक्षणो वा । यथ द्विधापि नास्ति स अजोवः । धर्मधर्मनभःकालपुद्गलभेदात् पञ्चवा । गतिस्थित्यवगाहृत्वंनलक्षणा वर्मधर्मकाशकाला गलनपूरणवर्मणः पुद्गलाः । अथ गाथार्थं उच्यते । योगिभिः षट् द्रव्याणि प्रणीतानि अनुक्रमात् कथितानि । कीदूषानि । जीवपूर्वाणि । जीवस्वरूपं पूर्वमुक्तम् । शेषं सुगमम् ॥२५॥ अथ जीवादीनां स्वरूपमाह ।

गुणस्थान कहते हैं । वे गुणस्थान जीदह हैं—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत-सम्बन्धिति, देशसंयत, प्रमत्संयत, अप्रमत्संयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली । इनका विशेष विवरण गोम्भदसार जीवकाण्ड ( गा-८-६५ ) में देखना चाहिए ॥२४॥ जीवतत्त्वका वर्णन समाप्त हुआ ।

उक्त जीवोंके साथ क्रमसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल; इन छहको योगियोंने द्रव्य कहा है । विशेषार्थ—जो वेतना अथवा ज्ञान-दर्शनसे रहित है वह अजीव कहलाता है । वह पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे पाँच प्रकारका है । इनके साथ जीवों को प्रहण कर वे छह द्रव्य कहे जाते हैं ॥२५॥

४१५) तत्र जीवादयः पञ्च प्रदेशप्रचयात्मकाः ।

कायाः कालं विना ज्ञेया भिन्नप्रकृतयोऽप्यभी ॥२६

४१६) अचिद्रूपा विना जीवमपूर्तीः पुद्गलं विना ।

पदार्थी वस्तुतः सर्वे स्थित्युत्पत्तिव्यात्मकाः ॥२७

४१५) तत्र जीवादयः—तत्र तेषु जीवादयः पञ्च पदार्थाः प्रदेशप्रचयात्मकाः प्रदेशसमूहात्मका ज्ञेया ज्ञातव्याः । कालं विना कायाः । कालस्य कायत्वं न संभवति प्रदेशरहितत्वात् । अभी पूर्वोक्ता भिन्नप्रकृतयः भिन्नप्रकृतावाः । पुद्गलकथणत्वात् । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ पुनर्स्तेषामेव स्वरूपमाह ।

४१६) अचिद्रूपा—जीव चेतनालक्षणं विना सर्वे पदार्थी अचिद्रूपा अज्ञानस्वरूपाः । पुद्गलं गलनपूरणवर्ती विना अपूर्ती पूर्तत्वरहिताः । वस्तुतः परमार्थतः सर्वपदार्थाः स्थित्युत्पत्तिव्यात्मकाः स्थित्युत्पत्तिनाशस्वरूपाः इत्थर्थः ॥२७॥ अथ पुद्गलानां भेदमाह ।

उक्त छह द्रव्योंमें कालको छोड़कर ज्ञेय जीवादिक पाँच द्रव्य भिन्न-भिन्न स्वभाववाले होकर भी प्रदेश समूहात्मक होनेसे काय कहे गये हैं, ऐसा समझना चाहिए । विशेषार्थ—कायका अर्थं शरीर होता है । जो द्रव्य कायके समान बहुप्रदेशी हैं वे काय कहे जाते हैं । ऐसे द्रव्य पाँच हैं—जीव, पुद्गल, घर्म, अधर्म और आकाश । जितने क्षेत्रको एक परमाणु रोकता है उतने क्षेत्रका नाम प्रदेश है । ये प्रदेश प्रत्येक जीव, घर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्यके असंख्यात ( ऊकाकाश प्रमाण ) हैं । पुद्गलोंमें किसी ( द्विष्टुकादि ) स्कन्धके संख्यात, किसीके असंख्यात और किसीके अनन्त होते हैं । आकाशके वे अनन्त हैं । इस प्रकार प्रदेशोंमें अधिक होनेसे ये द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते हैं । परन्तु काल जौँकि एक ही प्रदेशरूप है अतएव वह अस्तिस्वरूप होकर भी काय नहीं भाना गया है । उक्त पाँच द्रव्य कायत्वकी अपेक्षा समान होते हुए भी प्रकृतिभेदसे—क्रमशः चेतनत्व, मूर्तिमत्त्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व और अवकाश हेतुत्वसे—परस्पर भिन्न हैं ॥२६॥

उक्त छहों द्रव्योंमें जीवको छोड़कर ज्ञेय पाँच अचिद्रूप—अचेतन या जड़—तथा पुद्गलको छोड़कर ज्ञेय पाँच अपूर्त—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित हैं । ये सब उत्पाद, व्यय और ध्रौद्य ( स्थिति ) स्वरूप होनेसे पदार्थ द्रव्य कहे जाते हैं । विशेषार्थ—जो सत् अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौद्यसे सहित होता है वह द्रव्य या पदार्थ कहलाता है । ये तीनों अवस्थाएँ प्रत्येक पदार्थमें प्रति समय रहती हैं । इनमें अपनी जातिको न छोड़कर बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तके बहु जो अवस्थान्वरकी उत्पत्ति होती है उसका नाम उत्पाद और पूर्व पर्यायके विनाशका नाम व्यय है । जैसे—सुवर्णके कड़ेको तुड़वाकर उसकी सांकल बनवानेपर सांकल अवस्थाका उत्पाद और कड़ेरूप अवस्थाका व्यय तथा वस्तु जिस अनादि पारिणामिक स्वभावसे उत्पन्न और विनष्ट न होकर सदा स्थिर रहती है, उसका नाम ध्रौद्य है । जैसे—कड़ेसे सांकलके बनवानेपर भी उस दोनों ही अवस्थाओंमें सुवर्ण सामान्य जैसाका उत्पाद अवस्थित रहता है—वह न उत्पन्न हुआ और न नष्ट भी हुआ है । यह ध्रौद्यका स्वरूप है ॥२७॥

417 ) अणुस्कन्धविभेदेन मिन्नाः स्युः पुदगला द्विधा ।

मूर्ती वर्णरसस्यर्थंगुणोपेताश्च रूपिणः ॥२८

418 ) किं त्वेतत् पुदगलद्रव्यं षड्वकल्पं बुधीर्मतम् ।

स्थूलस्थूलादिभेदेन सूक्ष्मसूक्ष्मेण च क्रमात् ॥२९

417) अणुस्कन्ध—पुदगला अणुस्कन्धविभेदेन द्विधा । शुद्धनयेन अणुभां रूपगत्थस्पर्शनिमतीनिद्रियत्वं भवति । यथा शुद्धबोधीकस्वभावसिद्धजीवे इन्तचतुष्टये तथैव शुद्धपुदगलपरमाणुद्रव्ये रूपादीनां सद्गावो भवति । यथा रागादिस्तेहगुणेन कर्मवत्थावस्थायां ज्ञानादिचतुष्टयस्य शुद्धत्वं, तथा स्त्रिघरलक्ष्यत्वगुणेन द्रव्यणुकादिवन्धावस्थायां रूपादिचतुष्टयस्याशुद्धत्वम् । अत एवाह । गत्थरसस्यर्थंगुणोपेताः परमाणुस्कन्धा इति विशेषणं गुरुम् । च पुनः । रूपिणः रूपोपेता । पुनः कीदृशाः । मूर्तीः । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अर्थात् स्वरूपमाह ।

418) किन्तु त्वेतत्—किन्तु पक्षान्तरे । एतत्पुदगलद्रव्यं बुधीः षण्डते: षड्वकल्पैर्मतं स्थूलस्थूलादिभेदेन । परमाणोरपेक्षया द्रव्यणुकं स्थूलम् । च पुनः । क्रमात् त्वयुक्तापेक्षया द्रव्यणुकः सूक्ष्मः । द्रव्यणुकात् परमाणुः सूक्ष्मः । तेन एवमप्ये इति वाच्यम् । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ षड्वकल्पैर्मतं स्थूलस्थूलक्रमसे भेदेन द्रव्यं विद्वानोंके द्वारा छह प्रकारका भी माना गया है । वे छह भेद क्रमसे ये हैं—स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म । विशेषार्थ—उपरके इलोकमें जो अणु और स्कन्धरूप पुदगलके दो भेद बतलाये गये हैं उनमें स्कन्धरूप पुदगल स्थूलस्थूल आदिके भेदसे छह प्रकारके हैं । इनमें जो पुदगलस्कन्ध विभक्त होकर स्वयं मिल नहीं सकते हैं वे स्थूलस्थूल कहे जाते हैं । जैसे—लकड़ी वा पत्थर आदि जो विभक्त होकर भी फिरसे स्वयं मिल सकते हैं वे स्थूल कहलाते हैं । जैसे—दूध, धी, तेल एवं पानी आदि । जो चक्षुसे उपलब्ध होकर भी हाथसे नहीं प्रहण किये जा सकते हैं तथा अन्य देशको भी नहीं ले जाये जा सकते हैं उन्हें स्थूलसूक्ष्म समझना चाहिए । जैसे—छाया, आतप और अन्धकार आदि । जो सूक्ष्म होकर भी स्थूलके समान प्रतिभासित होते हैं वे सूक्ष्मस्थूल कहे जाते हैं । जैसे—स्पर्श, रस, गत्थ, वर्ण और शब्द । अथवा जो चक्षु इन्द्रिय के विषय न होकर शेष चार इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं उन्हें सूक्ष्मस्थूल समझना चाहिए । जो स्कन्ध किसी भी इन्द्रियके विषय नहीं है वे सूक्ष्म कहलाते हैं । जैसे—ज्ञानावरणादि कर्मवर्गणाओंके योस्य स्कन्ध जो इन कर्मवर्गणा योग्य स्कन्धोंकी अपेक्षा भी अतिशय सूक्ष्म हैं वे सूक्ष्मसूक्ष्म माने जाते हैं । जैसे—कर्मवर्गणा योग्य स्कन्धोंके नीचे द्रव्यणुक स्कन्ध तक ॥२९॥

४१९) प्रत्येकमेकद्रव्याणि धर्मादीनि यथायथम् ।

आकाशान्तान्यपूर्तानि निष्क्रियाणि स्थिराणि च ॥३०

४२०) स लोकगणव्यापी धर्मः स्याद्गतिलक्षणः ।

तावन्मात्रो उप्यधर्मो इयं स्थितिलक्ष्मा प्रकीर्तिः ॥३१

४२१) स्वयं गन्तुं प्रवृत्तेषु जीवाजीवेषु सर्वदा ।

धर्मो इयं सहकारी स्याज्जलं यादो इङ्गिनामिव ॥३२

४२२) दत्ते स्थितिं प्रेषणानां जीवादीनामर्थं स्थितिम् ।

अधर्मः सहकारित्वायथा छायाभ्ववतिनाम् ॥३३

४१९) प्रत्येक—प्रत्येकमेकद्रव्याणि धर्मादीनि । सुगमम् । यथायथं यथाप्रकारेण आकाशान्तानि । पुनः कोदशानि । निष्क्रियाणि क्रियारहितानि । च पुनः । स्थिराणि स्थिरस्वरूपाणि । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ धर्मस्वरूपमाह ।

४२०-४१) स लोक—स धर्मः लोके गगनव्यापी लोकाकाशप्रदेशव्यापी स्यात् । पुनः कीदृशः । गतिलक्षणः । को इर्थः । गतिपरिणतानां जीवपुद्गलानां धर्मो गमनसहकारिकारणं भवति । मत्स्यानां गमने तोषवत् । तावन्मात्रः तावत्प्रदेशप्रमाणात्मकः । अदि पक्षान्तरे । अधर्मः कीदृशः । स्थितिलक्ष्मा प्रकोर्तिः । को इर्थः । स्थानयुक्तानां जीवपुद्गलानां स्थितेः सहकारिकारणं भवति । तृतीयः आकाशः सहकारी स्यात् । यादो इङ्गिनां समुद्रः एव । इति सूत्रार्थः ॥३१-३२॥ अथ धर्मविशेषणमाह ।

४२२) दत्ते स्थितिं—प्रेषणानां जीवादीनां स्थितिं दत्ते । कस्मात् । सहकारित्वात् । यथा

यथाक्रमसे आकाश पर्यन्त धर्मादि द्रव्य—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य—प्रत्येक एक ( भेद रहित अखण्ड ), परिस्पन्दरूप क्रियासे रहित और स्थिर हैं—अपनी छह संख्याका अतिक्रमण नहीं करते हैं ॥३०॥

समस्त लोकाकाशमें व्याप वह धर्म द्रव्य गति लक्षणवाला है—गमनमें प्रबर्तमान जीव-पुद्गलोंके गति ( चलने ) में सहायक होता है । यह अधर्म द्रव्य भी उतना मात्र ( लोकाकाशमें व्याप ) होकर स्थितिलक्षणवाला कहा गया है—वह स्थित होने से हुए जीव-पुद्गलोंके अवस्थानमें सहायक होता है ॥३१॥

जैसे भल्ली आदि जलचर प्राणियोंके चलनेमें जल सहायक हुआ करता है वैसे ही जीवों और पुद्गलोंके गमनमें स्वर्य प्रवृत्त होनेपर यह धर्म द्रव्य सदा सहायक होता है ॥३२॥

जिस प्रकार मार्गमें संचार करनेवाले पथिकोंकी स्थितिमें सहायक होनेसे वृश्चकी छाया उन्हें स्थितिको देती है उसी प्रकार स्वर्य स्थितिको प्राप्त होनेवाले जीव-पुद्गलोंको

१. Y प्रत्येकमेव । २. B यथायथा । ३. B L स्थितिलक्ष्म, M S T V C X Y R स्थितिलक्ष्मः ।

४. M N सर्वथा । ५. M N T स्थितिप्रपन्नानां ।

423 ) अवकाशप्रदं व्योम सर्वं स्वप्रतिष्ठितम् ।

लोकालोकविकल्पेन तस्य लक्ष्म प्रकीर्तिम् ॥३४

424 ) लोकाकाशप्रदेशेषु ये भिन्ना अणवः स्थिताः ।

परिवर्तीय भावानां मुख्यः कालः स वर्णितः ॥३५

425 ) समयादिकृतं यस्य मानं उयोतिर्गणाश्रितम् ।

व्यवहाराभिधः कालः स कालज्ञः प्रपञ्चितः ॥३६

दृष्टान्तोपन्यासे । अववर्तनां पथिनां छाया स्थिति दत्ते । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथाकाश-  
स्वरूपमाह ।

423 ) अवकाश—व्योमाकाशं जीवादीनामवकाशप्रदम् । पुनः कीदृशम् । सर्वं सर्वव्याप्ति ।  
पुनः कीदृशम् । स्वप्रतिष्ठितं स्वस्मिन् स्थितमित्यर्थः । तस्याकाशस्य लक्षणं प्रकीर्तिम् ।  
केन । लोकालोकविकल्पेन दृश्यन्ते लोकपन्ते जीवादिपदार्थां यत्र स लोकः, तस्माल्लोकात्परतो  
बहिरनन्ताकाशमलोकः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ कालस्वरूपमाह ।

424 ) लोकाकाश—स कालो वर्णितः । कोदृशः । लोकाकाशप्रदेशेषु ये अणवः कालाणवः  
भिन्नाः रत्नज्ञाः राशिवत् स्थिताः भावानां पदार्थानां परिवर्तीय स मुख्यकालो निश्चयकालो भवति  
॥३५॥ [ पुनस्तदेवाह । ]

425 ) समयादिकृतं—स व्यवहाराभिधः कालः कालज्ञस्तीर्थकुञ्जः प्रपञ्चितः विस्तारितः  
परमाणुरूपो निश्चयकाला विज्ञेयः । स इति कः । यस्य कालस्य मानसमयादिकृतं समयादिलि-  
मुहूर्तादिभिः कृतं उयोतिर्गणाश्रितं कालकृतपरत्वात् परत्वाभिव्यङ्गं भवति । इति सूत्रार्थः ॥३६॥  
पुनस्तस्येव स्वरूपमाह ।

सहायक स्वरूपसे लिखितिको यह अर्थमें द्रव्य देता है—उनके अवस्थानमें उदासीनतापूर्वक  
सहायक होता है ॥३३॥

आकाश द्रव्य अन्य सब द्रव्योंको स्थान देनेवाला है, यह उसका स्वरूप निर्दिष्ट किया  
गया है । वह सर्वव्यापक होकर अपने आपमें प्रतिष्ठित है—उसका कोई दूसरा आश्रय  
( आधार ) नहीं है, किन्तु स्वाश्रित ही है । वह लोक और अलोकके भेदसे दो भ्रकारका है ।  
जितने आकाशमें जीवादिक द्रव्य देखे जाते हैं—पाये जाते हैं—उनेका नाम लोकाकाश तथा  
उसके परे उक्त जीवादि द्रव्योंसे रहित शेष समस्त ही आकाशका नाम अलोकाकाश है ॥३४॥

पदार्थके परिवर्तनमें—अवस्थान्तरकी प्राप्तिमें—कारणभूत जो भिन्न-भिन्न कालाणु  
लोकाकाशके प्रवेशोपर स्थित हैं वह मुख्य ( निश्चय ) काल कहा गया है ॥३५॥

जिसका समय व आवली आदिरूप ग्रमाण व्योतिष्ठसमूहके आश्रित है उसे कालके  
शाता व्यवहार नामका काल कहते हैं और उसका वर्णन उनके द्वारा विस्तार पूर्वक किया  
गया है । अभिप्राय यह है कि लोकाकाशके एक-एक प्रवेशोपर जो एक-एक कालाणु स्थित हैं  
उनको निश्चय काल कहते हैं जो वर्तनास्वरूप है । तथा सूर्योदिव व्योतिष्ठियोंके गमनसे शाता

४२६ ) यदभी परिवर्तन्ते पदार्थी विश्वतिनः ।

नवजीणादिरूपेण सत् कालस्यैव चेष्टितम् ॥३७

४२७ ) भाविनो वर्तमानत्वं वर्तमानस्त्वतीतताम् ।

पदार्थः प्रतिपद्यन्ते कालकेलिकदधिताः ॥३८

४२८ ) धर्माधिर्मनमःकाला॑ अर्थपर्यायगोचराः ।

ब्यञ्जनारूपस्य संबन्धो॒ जीवपुद्गलौ ॥३९

४२६ ) यदभी—यद्यस्मात्कारणात् अभी पदार्थी नवजीणादिरूपेण पर्यायेण परिवर्तन्ते । कीदृशाः पदार्थाः । विश्वतिनः संसारस्थिताः । सत्कालस्यैव चेष्टितस्थित्यर्थः ॥३७॥ अथ वर्तमान-दिरूपेण कालमाहु ।

४२७ ) भाविनो—पदार्थी जीवादयः भाविनो वर्तमानत्वं प्रतिपद्यन्ते स्वीकुर्वन्ति । तु पुनः । वर्तमाना अतीततां प्रतिपद्यन्ते । कीदृशाः । कालकेलिकदधिताः कालक्रीडापीडिताः । इति सूक्ष्मार्थः ॥३८॥ अथ धर्मादीनां पर्यायानाह ।

४२८ ) धर्माधिर्मन—परस्परं षड् हानिवृद्धिरूपम् अनन्तासंख्यातभागहानि । अनन्तासंख्यात-गुणवृद्धिरूपार्थपर्यायविषयाः । अन्यो द्वो जीवपुद्गलौ\* ब्यञ्जनारूपस्य संबन्धो । सत्र शब्दवाबद्बन्ध-होनेवाला जो समय, आवली, उच्छ्रवास एवं दिन-रात्रि आदिके प्रमाणरूप काल हैं उसका नाम ब्यवहारकाल है ॥३९॥

लोकमें स्थित ये जो सब ही पदार्थ नवीन और जीर्ण आदिके रूपसे अवस्थान्तरको प्राप्त हो रहे हैं, यह सब कालका ही कार्य है ॥३९॥

इस कालके प्रभावसे जो पदार्थ भावी हैं—भविष्यमें होनेवाले हैं—वे क्रमसे वर्तमान अवस्थाको प्राप्त होते हैं तथा जो वर्तमान पदार्थ हैं वे अतीत ( भूत ) अवस्थाको प्राप्त होते हैं । यह सब उस कालकी ही लीला है ॥३९॥

धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य अर्थपर्यायके गोचर हैं तथा जीव और पुद्गल ये जो दो अन्य द्रव्य हैं वे ब्यञ्जन नामक पर्यायसे सम्बन्ध रखते हैं । विशेषार्थ—द्रव्य और गुणकी अवस्थाखिशेषका नाम पर्याय है । वह दो प्रकारकी है—अर्थपर्याय और ब्यञ्जनपर्याय । इनमें जो पर्याय सूक्ष्म, एकसमयकर्ता और वचनके अगोचर है उसे अर्थपर्याय कहा जाता है । यह पर्याय अगुच्छघुगुणके विकारभूत छह प्रकारकी वृद्धि और छह प्रकारकी हानि स्वरूप है । जो पर्याय स्थूल, विरकाल तक रहनेवाली, वचनके गोचर और छद्मस्थके द्वारा देखी भी जा सकती है उसका नाम ब्यञ्जनपर्याय है । यह दो प्रकार की है—स्वभावब्यञ्जन पर्याय और विभावब्यञ्जन पर्याय । इनमें स्वभावब्यञ्जनपर्याय जैसे जीवकी सिद्ध अवस्था और पुद्गलकी अविभागी परमाणु-

१. L वर्तमानस्वाद्वस्मानाः । २. ] नमः काला पुद्गलैः सह योगिभिः । इव्याणि षट् प्रणीतानि जीव-पूर्वाण्यनुक्रमात् ॥ अर्थपर्यायः ॥ ३. M ब्यञ्जनस्य च, N अर्थज्ञेन च । ४. N संबद्धो, All others except PN संबन्धी ।

- 429 ) भावाः पञ्चापि जीवस्य द्वावन्योऽ पुद्गलस्य च ।  
 धर्मदीनां तु शेषाणां स्याद्भावः पारिणामिकः ॥४० ॥
- 430 ) अन्योन्यसंक्रमोत्पन्नः स्यात् भावः सांनिपातिकः ।  
 पद्मिवशेषदेवभिन्नात्मा स पृष्ठोऽ मुनिभिर्मतः ॥४१ ॥

सूक्ष्मस्थूलादेयः व्यञ्जनपर्यायः तद्विषयाः पुद्गलाः । जीवस्य अशुभशुभकर्मादयजनितचतुर्गतिसंसारपर्यटने व्यञ्जनपर्यायो जीवस्य । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ धर्मदीप्तु भावानाह ।

429 ) भावाः—जीवस्य पञ्चवेत्त भावाः । १. औपशमिकः २. क्षायिकः ३. क्षायोपशमिकः ४. औदयिकः ५. पारिणामिकः भेदा वर्तन्ते । अन्यो द्वौ पुद्गलस्य औदयिकपारिणामिकी । धर्मदीनाम् । तु पुनरर्थे । कालपर्यवृत्तानां पारिणामिको भावः स्यात् इति सूत्रार्थः ॥४०॥ [ पुनस्तदेवाह । ]

430 ) अन्योन्य—सांनिपातिको भावः स्यात् । अन्योन्यसंक्रमेण औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-औदयिक-पारिणामिकातां पृष्ठो जातः, स स्यात् भवेत् । \*वर्द्धिशाद्दुदेन भिन्नात्मा भिन्नस्वरूपः स भावो मुनिभिर्जानिभिर्मतो भिर्मतः । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ धर्मदीप्ता प्रदेशस्वरूपमाह ।

रूप अवस्था । जोककी नर व नारकादिरूप अवस्थाको तथा पुद्गलकी द्वयणुकादिरूप अवस्थाको विभावव्यञ्जन पर्याय समझना चाहिए । जीवादि वह द्रव्योंमें धर्म, अर्थ, आकाश और काल इन चार द्रव्योंके अर्थपर्याय ही होती है; व्यञ्जनपर्याय नहीं होती । परन्तु जीव और पुद्गलोंमें अर्थपर्यायके साथ वह व्यञ्जनपर्याय भी होती है । इसका कारण यह है कि ये दोनों द्रव्य अनेक हैं, अतएव अनेकोंमें एकरूपताका बोध करानेवाली उक्त व्यञ्जनपर्याय इन दोनोंके सम्मव है ॥३९॥

जीवके औपशमिक व क्षायिक आदि पाँचों ही भाव होते हैं । पुद्गलके दो अन्य भाव होते हैं (?) । शेष धर्मदीप्त चार द्रव्योंके एक पारिणामिक भाव होता है ॥४०॥

भिन्न-भिन्न भावोंके संयोगसे जो भाव उत्पन्न होता है उसका नाम सांनिपातिक भाव है । यह मुनियोंके द्वारा छठा भाव माना गया है जो छब्बीस भेदरूप है ॥ विशेषार्थ—किन्हीं आचार्योंने औपशमिक आदि पाँच भावोंके साथ एक सांनिपातिक नामका छठा भाव भी माना है । यह भाव स्वतन्त्र न होकर उन औपशमिक आदि भावोंके ही द्विसंयोग (१०), त्रिसंयोग (१०), चतुःसंयोग (५) और पंचसंयोग (१) रूप है । उसके निम्न प्रकारसे छब्बीस भेद होते हैं— १. औदयिक-औपशमिक २. औदयिक-क्षायिक ३. औदयिक-क्षायोपशमिक ४. औदयिक-पारिणामिक ५. औपशमिक-क्षायिक ६. औपशमिक-क्षायोपशमिक ७. औपशमिक-पारिणामिक ८. क्षायिक-पारिणामिक ९. क्षायिक-पारिणामिक १०. क्षायोपशमिक-पारिणामिक ११. औदयिक-औपशमिक-क्षायिक १२. औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक १३. औद-

१. All others except P भावाः पञ्चवेत् । २. MLSFVCJR द्वावन्यो । ३. B धर्मदीप्तां च शेषाणां, 'दीप्तां विशेषाणां । ४. P संक्रमोत्पन्नो । ५. M वर्द्धिशभेद । ६. स पृष्ठो मुनिभिः ।

४३१) धर्मधर्मेकजीवानां प्रदेशा गणनातिगः ।

कियन्तो इयि न कालस्य व्योम्नः पर्यन्तवर्जिताः ॥४२

४३२) एकादयः प्रदेशाः स्युः पुद्गलानां यथायथम् ।

संख्यातीताश्च संख्येया अनन्ता योगिकल्पिताः ॥४३

४३३) मूर्ते व्यञ्जनपर्यायो वास्त्राभ्यो अनश्वरः स्थिरः ।

सूक्ष्मः प्रतिक्षणधर्मसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः ॥४४॥अजीवः॥

४३१) धर्मधर्मेक—धर्मधर्मेकजीवानां प्रदेशगणनातिगः: सर्ववामसंख्यातप्रदेशत्वे कालस्य न कियन्तो इयि लस्येकप्रदेशसंख्यात् व्योम्नः आकाशस्य प्रदेशाः पर्यन्तवर्जिताः अनन्तसंख्याः इत्यर्थः ॥४२॥ अथ पुद्गलानां प्रदेशसंख्यामाह ।

४३२) एकादयः—एकादयः संख्याता असंख्याता अनन्ताः पुद्गलानां प्रदेशाः स्युः । यथायथं यथास्थानम् । तत्र विशेषमाह । अनन्ताः प्रदेशाः योगिभिः कल्पिताः । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ व्यञ्जनपर्यायमाह ।

४३३) मूर्ते व्यञ्जन—तत्र व्यञ्जनपर्यायः मूर्ते स्थूलरूपः । पुनः कीदृशः । वाग्मयो वचनगोचरः । अनश्वरो इविताशो । पुनः कीदृशः । स्थिरः चिरकालस्थायी । आयुःप्रमाणच्छश्च-दृष्टिगोचरजीवपुद्गलयोर्भवति नाम्यत्र । अथ पर्यायमाह । च पुनः । अर्थसंज्ञकः पर्यायः । कीदृशः । सूक्ष्मः चक्षुराद्यविषयकः वचनागोचरः सर्वज्ञानगोचरः । पुनः कीदृशः । प्रतिक्षणधर्मसी सर्वद्रव्य-साधारणः । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अजीवपदार्थव्याख्यानम् ॥ अथ बन्धमाह ।

यिक-औपशमिक-पारिणामिक १४. औदयिक-शायिक-आयोपशमिक १५. औदयिक-क्षायिक-पारिणामिक १६. औदयिक-शायोपशमिक-पारिणामिक १७. औपशमिक-क्षायिक-शायो-पशमिक १८. औपशमिक-शायिक-पारिणामिक १९. औपशमिक-शायोपशमिक-पारिणामिक २०. शायिक-शायोपशमिक-पारिणामिक २१. औपशमिक-शायिक-शायोपशमिक-पारिणामिक २२. औदयिक-शायिक-शायोपशमिक-पारिणामिक २३. औदयिक-औपशमिक-शायोपशमिक-पारिणामिक २४. औदयिक-औपशमिक-शायिक-पारिणामिक २५. औदयिक-औपशमिक-शायिक-आयोपशमिक २६. औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-शायोपशमिक-पारिणामिक । ( दोखण्ड तत्त्वार्थवार्तिक २, ७, २२ ) ॥४१॥

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीव इनके असंख्यात प्रदेश हैं । कालद्रव्यके कुल भी प्रदेश नहीं है—यह प्रदेशरहित ( एकप्रदेशी ) है । आकाशके अनन्त प्रदेश हैं ॥४२॥

पुद्गलेकि यथायोग्य—परमाणु च द्रव्यणुक आदिके क्रमसे—एक-दो आदि (संख्यात), असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं । इन प्रदेशोंकी कल्पना योगियोंके हारा की गयी है ॥४३॥

व्यञ्जनपर्याय मूर्ते (स्थूल), वचनके गोचर, अविनश्वर च स्थिर है—बहुत समय तक रहनेवाली है । किन्तु अर्थनामकी पर्याय सूक्ष्म और प्रतिसमय नष्ट होनेवाली है ॥४४॥

इस प्रकार अजीव तत्त्वका निरूपण समाप्त हुआ ।

434 ) प्रकृत्यादिविकल्पेन ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विधः ।

ज्ञानात्म्यादिभेदेन सो इष्टवा प्रथमः स्मृतः ॥४५॥

435 ) मिथ्यात्माविरतियोगकषायाश यथाक्रमम् ।

प्रमादैः सह पञ्चैते विज्ञेया बन्धहेतवः ॥४६॥

436 ) उत्कर्षेणापकर्षेण स्थितिर्या कर्मणा भता ।

स्थितिबन्धः से विज्ञेय इतरस्तत्स्त्वोदयः ॥४७॥

434 ) प्रकृत्यादि—कमलिमप्रदेशानामन्योन्यं जीर्णीरवत् प्रवेशनं बन्धः । स बन्धश्चतुर्विधः । प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात् । स बन्धः प्रथमतो इष्टवा मतो व्याख्यातः । केन ज्ञानावरणादिभेदेन । सत्र ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः, का स्थितिः, को इनुभागः, के प्रदेशाः । देवतामुखवस्त्रमिव ज्ञानप्रचडादनता । जीवप्रदेशे “विषयावलकालं ज्ञानावरणादिकमंबन्धानां स्थितिः तावत् स्थितिबन्धः त्रिशत्सागरोपमादिका । को इनुभागः । ज्ञानावरणादिकमंपुद्गलानामात्मप्रदेशेषु तारतम्येन रसविशेषः । जोवेन स्वशक्त्या कर्मणांस्यपरमाणुसंबोजनं प्रदेशबन्धः । एवं शेषदर्शनावरणादिषु कर्मसु प्रकृत्यादिचतुर्विधो बन्धो ज्ञानव्यः । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ कर्मबन्धहेतुमाह ।

435 ) मिथ्यात्मविरतियोगकषायप्रमादाः । तत्र मिथ्यात्मविरतियोगकषायप्रमादाः । तत्र मिथ्यात्मविरतियोगदार्थात् जिनोक्तपदार्थात्तिं विपरीतश्चहृवानम् । तत्पञ्चधा । सुमधुम् । तत्प्रत्ययः कर्मबन्धो भवति । अविरतिः द्वादशधा । हिसानृतस्तेयावृत्तापरिग्रहाकाङ्क्षारूपेण पञ्चप्रकाशा । अथवा भनः सहितपञ्चविन्द्रियप्रभूतिवद्विकायविराघनाभेदेन द्वादशप्रकाशा । सत्प्रत्ययः कर्मबन्धो भवति । भनोवचनकायव्यापारभेदेन योगस्त्रिवा । तस्मादपि कर्मबन्धो भवति । विस्तरेण पञ्चदशप्रकारैवं पुर्वोक्ता एव कषायाः क्रोधमानमायालीभभेदेन चत्वारः । कषायनोक्तपदायभेदेन पञ्चविशेषतिप्रकाश वा । तैरपि कर्मबन्धो भवति । “विकहा तहा कसाया इंदियणिद्वा तहेव पण्यो य । चदु चदु पणभेदों होंति परादा हु पण्णरस” इत्यादि गाथोक्तपञ्चदशप्रमादाः । तैरपि कर्मणि वध्यन्ते । एते सर्वे एपि मिथ्यात्मादयः कर्मबन्धहेतवः । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ स्थितिबन्धमाह ।

436 ) उत्कर्षेणाप—कर्मणां ज्ञानावरणादोनां या स्थितिर्भवता अभिमता । केन । उत्कर्षेण त्रिशत्सागरप्रमाणा । अपकर्षेण अत्तमुहूर्तादिकादिभेदेन द्वित्रिवः स्थितिबन्धः से विज्ञेयः ।

बन्ध प्रकृति आदि ( स्थिति, अनुभाग व प्रदेश ) के भेदसे चार प्रकारका है । इनमें प्रथम स्थितिबन्ध ज्ञानावरण आदिके भेदसे आठ प्रकारका माना गया है ॥४५॥

प्रमादोंके साथ यथाक्रमसे मिथ्यात्म, अविरति, कषाय और योग इन पाँचको बन्धबन्धके कारण ज्ञानना चाहिए ॥४६॥

कर्मोक्ता जो अधिकसे अधिक तथा कमसे कम काल तक आत्मप्रदेशोंके साथ आवस्थान

१. B J प्रथम स्मृतः । २. M T विरती योगः, L B विरतिर्योगः, N F V C विरतियोगः, S J X Y R विरती योगः । ३. All others except P M N यथाक्रमात् । ४. P writes this verse on the margin । ५. स्थितिबन्धश्च विज्ञेयः ।

- 437 ) परस्परप्रदेशानुप्रवेशं जीवकर्मणोः ।  
यः संश्लेषः स निर्दिष्टो वन्धो विश्वस्तवन्धनैः ॥४८
- 438 ) [प्रकृतिप्रदेशबन्धौ योगमवौ कीर्तिंतौ समाखेन ।  
स्थित्यनुभागविकल्पौ कषायजौ कीर्तिंतौ यत्रे ॥४८\*१] ॥वन्धः॥
- 439 ) प्रागेव भावनातन्त्रे निर्जरास्ववसंवराः ।  
कथिताः कीर्तयिष्यामि मोक्षमार्गं सहेतुकम् ॥४९
- 440 ) एवं द्रव्याणि तत्त्वानि पदार्थान् कायसंयुतान् ।  
यः अद्वते स्वसिद्धान्तात् स स्यान्मुक्तेः स्वयंवरः ॥५०

इतरी अनुभागबन्धः । तेषां कर्मणां फलोदयः तत्फलोदयः । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ प्रदेश-  
बन्धमाह ।

437 ) परस्पर—जीवकर्मणोर्यैः संश्लेषः संबन्धः स बन्धो निर्दिष्टः । को । परस्परप्रदेशानु-  
प्रवेशंयोन्यप्रदेशीः । अयः पिण्डवत् अनुप्रवेशः संक्रमः । कैनिर्दिष्टः । विश्वस्तवन्धनैः दुरीकृतकर्म-  
बन्धैः । इति सूत्रार्थः ॥४८॥ [ अथ चतुर्वा बन्धविधोत्ताह ।

438 ) प्रकृतिप्रवेश—एते हि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाद्यतुर्धा बन्धविधयः । तत्र योग-  
निमित्ती प्रकृतिप्रदेशी । कषायनिमित्ती स्थित्यनुभागी चेत्यर्थः ॥४८\*१॥ अथ ग्रन्थार्थमाह ।

439 ) प्रागेव भावना—अस्मिन् ग्रन्थे प्रागेव भावनाधिकारे निर्जरास्ववसंवरा निरूपिताः ।  
अतः परं च मोक्षमार्गी निरूप्यते ॥४९॥ अथ को मुक्तिभाग् भवति तदाह । ]

440 ) एवं द्रव्याणि—एवंप्रकारेण द्रव्याणि वसदीनि, तत्त्वानि जीवादोनि, पदार्थान्  
कायसंयुतान्, स्वसिद्धान्तान्\* यः अद्वते स मुक्तेः स्वयंवरः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥५०॥ अथ  
जीवादिस्वरूपमुपसंहरति ।

माना गया है उसे स्थितिबन्ध जानना चाहिए । उक्त कर्मोंमें जो फलकी उत्पत्ति है—हीनाधिक  
फल देनेकी शक्तिका आविर्भाव है—उसका नाम अनुभागबन्ध है ॥४७॥

जीव और कर्मका जो एक-दूसरेके प्रदेशोंमें अनुप्रवेशरूपसे—एक श्रेष्ठावगाह स्वरूपसे  
सम्बन्ध होता है उसे कर्मबन्धसे सुक्त हुए जिनेन्द्र ऐवने बन्ध ( प्रदेशबन्ध ) कहा है ॥४८॥

इस प्रकार बन्धतत्त्वका निरूपण समाप्त हुआ ।

निर्जरा, आस्त्रव और संवरका कथन पहले ही भावना ( द्वादशानुप्रेष्ठा ) अधिकारमें  
किया जा चुका है । अब आगे कारणनिर्देशपूर्वक मोक्षमार्गका वर्णन करूँगा ॥४९॥

इस प्रकारसे जो छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ और पाँच अस्तिकाय इनका आगम-  
के अनुसार अद्वान करता है वह मुक्तिका स्वयंवर होता है—मुक्तिके द्वारा स्वर्य वरण किया  
जाता है । तात्पर्य यह कि उसे मुक्ति अवश्य ही प्राप्त होती है ॥५०॥

१. M X \*नुप्रदेशीर्णि, N S T V C J Y R \*नुप्रवेशी जीव । २. M N Read । ३. P L F बन्धः ।

४. B J Omit this verse । ५. B सिद्धान्तान् स ।

- 441 ) इति जीवादयो भावा दिङ्मात्रेणात्र वर्णिताः ।  
विशेषरुचिभिः सम्यग् विज्ञेयाः परमागमात् ॥५१॥
- 442 ) सम्यग्नभद्रारत्नं विश्वलोकैकभूषणम् ।  
मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितम् ॥५२॥
- 443 ) चरणज्ञानयोर्वीजं यमप्रशमजीवितम् ।  
तपःश्रुताद्यधिष्ठानं सद्ग्रिः सद्वर्णनं मतम् ॥५३॥

441 ) इति जीवादयो—अथ ज्ञानार्थवे इति पूर्वोक्तप्रकारेण जीवादयः पदार्था दिङ्मात्रेण वर्णिताः कथिताः । परमागमात् विशेषरुचिभिः विशेषार्थं उचिभिः सम्यग्विज्ञेया । इति सूत्रार्थः ॥५१॥। अथ सम्यग्नदर्शनफलमाह ।

442 ) सद्वर्णन—सद्वर्णनं सम्यक्तत्वं लोका भंजत । कीटशं सद्वर्णनम् । महारत्नं चिन्तासमित्यरत्नम् । पुनः कीटशम् । विश्वलोकैकभूषणं सर्वलोकाभरणम् । पुनः कीटशम् । मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं प्रतिष्ठितमुक्तं जिनवरैरिति शेषः ॥५२॥। पुनः सद्वर्णनस्वरूपमाह ।

443 ) चरण—सद्ग्रिः सत्पुरुषैः सद्वर्णनं सम्यक्तत्वं मतम् । कीटशम् । चरणज्ञानयोर्वीजं सद्वृत्तिकारणमित्यर्थः । पुनः कीटशम् । यमप्रशमजीवितं व्रतक्षान्तिस्वरूपम् । पुनः कीटशम् । तपःश्रुताद्यधिष्ठानं वाह्याभ्यन्तरं तपः श्रुतं द्वादशाङ्गं तयोरधिष्ठानमात्रय इत्यर्थः ॥५३॥। अथ सम्यग्नदर्शनतरमाह ।

इस प्रकारसे यहाँ जीवादि तत्त्वोंका संक्षेपसे वर्णन किया गया है । विशेष जिन्नासारखनेवाले जीवोंको उनका यथार्थं ज्ञान परमागमसे प्राप्त करना चाहिए ॥५१॥।

समस्त लोकके अद्वितीय भूषणके समान वह सम्यग्नदर्शनरूप महारत्न मुक्तिके प्राप्त होने तक कल्याणके द्वेषमें समर्थ बतलाया गया है ॥५२॥।

साधुजन उस सम्यग्नदर्शनको चारित्र और ज्ञानका शीज ( कारण ), यम और प्रशमका प्राण सथा तप और आगमका आश्रय भानते हैं । विशेषार्थ—अब तक प्राणीको वह सम्यग्नदर्शन नहीं प्राप्त होता है तब तक उसका ज्ञान मिथ्यज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र ही रहता है—वही इन दोनोंकी यथार्थताका कारण है । उस सम्यग्नदर्शनके बिना भले ही न्यारह अंगों तकका ज्ञान क्यों न प्राप्त हो जावे, किन्तु वह निरर्थक ही रहता है । तथा उस सम्यग्नदर्शनके साथ विशेष ज्ञानके न होने पर भी जीव केवलज्ञानको प्राप्त करके सोक्षपदको धा लेता है । इसी प्रकार उक्त सम्यग्नदर्शनके बिना संवर्म और राग-द्रेषका उपशम ये द्वोनों भी चिर्जीवि ( मुर्दा ) से प्रतीत होते हैं—उसके बिना ये भी संसारपरिभ्रमणको नष्ट नहीं कर सकते हैं । साथ ही तप और श्रुतके अभ्यासकी सफलता भी इसी सम्यग्नदर्शनके ऊपर निर्भीर है । तात्पर्य यह कि सब धर्मोंका मूल यह सम्यग्नदर्शन ही है ॥५३॥।

१. B J ° यात्र दण्डितः । २. B J वक्त्रं प्रतिष्ठितम् ।

४४४ ) अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्छयुतम् ।

न पुनः संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषद्बूषिते ॥५४

४४५ ) अत्यल्पमपि सूक्ष्मदृष्टिपूर्वं यमादिकम् ।

प्रणीतं भवसंभूतश्लेषग्राम्याभारभेषजम् ॥५५

४४६ ) मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनम् ।

यतस्तदेव मुक्त्यज्ञमग्रिमं परिकीर्तितम् ॥५६

४४७ ) प्राप्नुवन्ति शिवं शशचरणज्ञानविच्छयुताः ।

अपि जीवा जगत्यस्मिन् न पुनर्दर्शनं विना ॥५७

444) अप्येक—अपि पक्षान्तरे । एके वादिनो दर्शनं सम्यक्त्वं चरणज्ञानरहितं इलाघ्य वदन्ति । संयमज्ञाने मिथ्यात्वमतद्वूषिते न श्लाघ्ये । इति सूत्रार्थः ॥५४॥। अथ सम्यग्दर्शनपूर्वक-चरणज्ञानसाकल्पयमाह ।

445 ) अत्यल्पमपि—सूक्ष्मदृष्टियमादिकं व्रतादिकं अल्पमपि स्तोकमपि दृष्टिपूर्वं सम्यक्त्वपूर्वं भवसंभूतश्लेषग्राम्याभारभेषजं संसारोत्पन्नश्लेषसमूहोषबद्म् ॥५५॥। अथ सम्यग्दर्शनस्य मुक्त्यज्ञतामाह ।

446 ) मन्ये मुक्तः—यस्य दर्शनं विशुद्धं भवति । अहम् एवं मन्ये । स मुक्तः कर्ममुक्तः स पुण्यात्मा । यतः कारणात् तदेव दर्शनमग्रिमं प्रधानं मुक्त्यज्ञं मुक्तिकारणं परिकीर्तितं कथित-मिति सूत्रार्थः ॥५६॥। अथ दर्शनं विना ज्ञानचरणयोर्बैकल्पयमाह ।

447 ) प्राप्नुवन्ति—जीवा अस्मिन् जगति चरणज्ञानविच्छयुताश्चरणज्ञानरहिता अपि शशवश्चिरन्तरं शिवं मोक्षं न प्राप्नुवन्ति दर्शनसम्यक्त्वं विना । इति सूत्रार्थः ॥५७॥। अथ दर्शनं स्तुतिपूर्वं मुपसंहरति । मालिनी ।

यदि चारित्र और ज्ञानसे रहित एक ही वह सम्यग्दर्शन है तो वह अकेला भी प्रशंसनीय है । परन्तु उस सम्यग्दर्शन के विना मिथ्यात्वरूप विषयसे दूषित चारित्र और ज्ञान दोनों भी प्रशंसनीय नहीं हैं ॥५४॥।

सम्यग्दर्शनके साथ यदि संयम आदि अतिशय अल्प प्रभाणमें भी हो तो भी उन्हें आगमके ज्ञाता गणधर आदिने संसारपरिभ्रमणसे उत्पन्न कष्टके भारी बोझको नष्ट करनेवाली ओषधि बतलाया है ॥५५॥।

जिसे निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है उस पवित्र आत्माको मैं मुक्त हुआ ही भानता हूँ । कारण इसका यह है मुक्तिका प्रधान अंग ( साधन ) उसे ही निर्दिष्ट किया गया है ॥५६॥।

जो जीव चारित्र और ज्ञानसे भ्रष्ट हैं वे निरन्तर मुक्तिको प्राप्त करते हैं । परन्तु जो ग्राणी उस सम्यग्दर्शनसे रहित हैं वे इस संसारमें कभी भी मुक्तिको प्राप्त नहीं होते हैं ॥५७॥।

448 ) अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणधीर्ज  
जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम् ।  
दुरिततरुठारं पुण्यतीर्थे<sup>१</sup> प्रधानं  
पिवते जितविषभं दर्शनाख्यं सुधाम्बु<sup>२</sup> ॥५८  
इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्येश्वरम्-  
चन्द्रविरचिते दर्शनविशुद्धिः ॥६॥

448 ) अतुलसुख—भो भव्या:, दर्शनाख्यं सुधाम्बु पिवते । कोटशम् । अतुलसुखनिधान-  
मित्यादि सर्वे सुगमम् ॥५८॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहगारा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहकृष्णिदास-स्वश्रवणार्थ  
पण्डितजितदासाग्रहेण \*दर्शनशुद्धप्रकरणे व्याख्यासम् ॥६॥

सम्यग्दर्शनं यस्य हृदि स्फुरति संमतम् । स जीयादूषिदासस्तु जेनदर्शनमीषिकृत् ॥ इत्याशी-  
र्वादः । अथ दर्शनज्ञानपूर्वकमनोज्ञानमुक्त्यते ।

हे भव्य जीवो ! जो सम्यग्दर्शन नामका अमृतरस अनुपम सुख ( मोक्षसुख ) का  
भण्डार, समस्त कल्याणपरम्पराको उत्पन्न करनेवाला, संसाररूप समुद्रसे पार होनेके लिए  
जहाजके समान, एकमात्र भव्य जीवके आश्रित रहनेवाला—अभव्यको कभी न प्राप्त होने  
वाला, पापरूप बृक्षके छेदनेमें कुठारका काम करनेवाला, प्रवान पवित्र तीर्थके समान मलको  
हरनेवाला तथा शशुभ्यरूप मित्यादर्शनादिपर विजय प्राप्त करनेवाला है, उसका तुम  
निरन्तर पान करो—उसे धारण करो ॥५८॥

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
दर्शनविशुद्धिका प्रकरण समाप्त हुआ ॥६॥

१. All others except P N S F तीर्थधानं । २. L S विवतु । ३. All others except P M  
सुधाम्बुम् । ४. B दर्शनशुद्धप्रकरण, X दर्शनविशुद्धप्रकरण, Y दर्शनशुद्धिः पूर्णः ।

## ( ज्ञानोपयोगः )

449) श्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुताः ।

यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्जानं ज्ञानिनां भवतम् ॥१॥

450) ध्रौद्यादिकलितैर्भविनिर्भरं निचितं जगत् ।

विभितं युगपद्यत्र तज्ज्ञानं योगिलोचनम् ॥२॥

451) मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययकेवलैः ।

तदित्थं सान्वयैर्मेदैः पञ्चधेति प्रकल्पितम् ॥३॥

449) श्रिकाल—यत्र ज्ञाने भावाः पदार्थीः उच्चैः स्फुरन्ति प्रगटीभवन्ति । कीदृशा भावाः । श्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुताः श्रिकालविद्यकानन्तगुणपर्यायव्याप्ताः । इति सूत्रार्थः ॥१॥ पुनर्ज्ञानस्य स्वरूपमाह ।

450) ध्रौद्यादि—यत्र ज्ञाने जगत् युगपद् विभितम् । कीदृशं जगत् । भावेः पदार्थैर्निर्भरं यथा स्यात् तथा निचितं भूतम् । कीदृशैर्भविः । ध्रौद्यादिकलितैर्धौद्योत्पादव्ययरूपैर्युक्तैः । तज्ज्ञानं योगिलोचनं भवतम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ ज्ञानमेवमह ।

451) मतिश्रुत—[ मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानं, अवधिज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं, केवलज्ञानमिति ज्ञानं पञ्चविद्यम् । प्रत्येकस्य भेदात्तत्वार्थं सूत्रेषु अत्रैव च पुरस्तान्निरूपिता द्रष्टुव्याः ॥३॥ ] तत्राद्यज्ञानमाह ।

जिसके भीतर उन्हों कालोंके विषयभूल अनन्त गुणों और पर्यायोंसे सहित सब पदार्थ स्पष्टतया प्रतिभासित होते हैं वह ज्ञानी जनोंको ज्ञान अभीष्ट है—उसे ज्ञानीजन ज्ञान मानते हैं ॥१॥

जिसके भीतर ध्रौद्य आदि (उत्पाद व व्यय) से संयुक्त—उत्पाद-व्यय-ध्रौद्यस्वरूप—पदार्थोंसे अतिशय भरा हुआ विद्य एक साथ प्रतिविभित होता है वह ज्ञान कहलाता है । उसे योगीजन नेत्रके समान मानते हैं ॥२॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान; इस प्रकारसे वह ज्ञान अपने बंशसहित—अपने अवान्तर भेदोंसे संयुक्त—भेदोंसे पाँच प्रकारका कल्पित किया गया है ॥ विशेषार्थ—वास्तवमें ज्ञान यह एक आत्माका अखण्ड गुण है और इसीलिए

१. M कल्पितैर्भविः । २. L F V C R कल्पितं जगत् । ३. S V C X R विभितं युगपद । ४. P तं ज्ञानं ।

५. M N योगिलोचरं । ६. N B ज्ञानमतः । ७. S V C J R केवलं ।

४५२ ) अवग्रहादिभिर्भैर्वद्वायन्तर्भवैः परैः ।

पट्टिंशत्तिशतीं<sup>१</sup> प्राहुर्मतिज्ञानं प्रपञ्चतः<sup>२</sup> ॥४

४५३ )<sup>३</sup> प्रसूतं वहुधानेकैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः ।

स्याद्वादन्यायसंकीर्णं श्रुतज्ञानमनेकधा ॥५

४५२) अवग्रहादिभिः—विषयविषयिसनिपाते समन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । यथा चक्षुषा शुक्लं रूपमिति ग्रहणमवग्रहः । अवग्रहगुहीते इथे तद्रिषेषाकाङ्क्षणमीहा । यथा शुक्ले रूपं, कि बलाका पताका चेति विशेषविज्ञानाद् यथार्थग्रहणमवायः । यथा उत्पत्तनियतनपञ्चविक्षेपादिभिर्बैलाकेति । गुहीते ज्ञाये कालान्तरे इविस्थरणकारणं धारणा । यथा सेवेयं बलाका पूर्वाङ्के याम-हमद्राक्षमिति । अवग्रहेहावायधारणा [ इति ] चतुःप्रकारः स अवग्रहः । पञ्चेन्द्रियषष्ठमनोभिः षड्भगुण्यते । जातश्चतुर्विंशतिप्रकारो इथविग्रहः । व्यञ्जनावग्रहसेज्ञं चक्षुर्मनोवर्जं चक्षुरिन्द्रियं श्लिष्टेत् । जाता भेदा अष्टाविंशतिः पूर्वं चतुर्विंशतिप्रकारो इथविग्रहो वद्वादिष्टमेदर्गुण्यते । जातम् एकशतचतुर्दशत्वार्थित्वमाणस् । अष्टाविंशतिभेदा बहुषद्विवैः सह गुणते । जाता १६८ पश्चात् त एव भेदाः । बहुदिभिः सेतरे द्वादशभिः सह ताड्यते गुणताचजाताः । एते मतिज्ञानोत्तरभेदा ज्ञातव्याः । शतवर्यं पट्टिंशत्सहितं प्रपञ्चितं\* विस्तृतं मतिज्ञानं प्राहुरवग्रहादिभेदैः । कीदृशैः । बद्वाद्यन्तं मविवैर्वद्वप्रमुखान्तर्भूतेः परैर्भैर्वदेविति इलोकार्थः ॥४॥ अथ श्रुतज्ञानमाह ।

४५३) प्रसूतं—हि यस्यात्कारणाद् अनेकैरङ्गपूर्वैराचाराङ्गेत्यादिभिः प्रकीर्णकैश्चतुर्दशभिः बहुधा प्रसूतम् । पुनः कीदृशस् । स्याच्छब्दलाङ्गिष्ठतं स्याद्वादोपेतम् । तच्छ्रुतज्ञानमनेकधेति उपलक्षणादिद्वभेदं तावद् दर्शयति । अङ्गवाद्यम् अङ्गप्रविष्टं चेति । तत्राङ्गवाहुमनेकविवरम् । उपाङ्गादिदशविधकालिकोत्तराध्ययनादि वा । आङ्गप्रविष्टं द्वादशविवरम् । तद्यथा—आचारः

उसके भेदोंकी सम्भावना नहीं है । प्रथम इलोकमें जो उस ज्ञानका यह लक्षण किया गया है कि जिसमें तीनों कालोंके समस्त पदार्थ अपने अनन्त शुणों और पर्यायोंके साथ युग्मत् प्रतिविम्बित होते हैं वह ज्ञान है; वह भी इस अखण्ड व निरावरण ज्ञानमें ही घटित होता है । उसके जो मति-शुलादिरूप भेद-प्रभेद माने गये हैं वे औपचारिक हैं—कर्मके निमित्तसे कल्पित किये गये हैं, इसीलिए वे उपचरित हैं, वास्तविक नहीं हैं । इन ज्ञानभेदोंकी प्रस्तुपर्याप्त आगे ग्रन्थकार खबरं करते हैं ॥५॥

वह मतिज्ञान विस्तारकी अपेक्षा वहु आदिरूप अपने अवान्तर भेदोंके साथ अवग्रहादि भेदोंसे तीन सौ छत्तीस भेदवाला कहा जाता है ( देखिये सर्वार्थसिद्धि १,१४-१५ ) ॥५॥

जो श्रुतज्ञान अनेक अंग, पूर्वं और प्रकीर्णकरूप ज्ञानभेदोंके द्वारा वहुत प्रकारसे विस्तृत है तथा स्याद्वादन्यायसे व्याप्त है—अनेकान्तका अनुसरण करता है वह अनेक प्रकारका है ( देखिये सर्वार्थसिद्धि १,२० ) ॥५॥

१. L S F V B C J X R विश्वासं । २. T ज्ञानप्रपञ्चितं, S F C X प्रपञ्चितं । ३. B om. । ४. All others except P स्याच्छब्दलाङ्गिष्ठतं तद्वि श्रुत ।

१ सूक्ष्मकृतम् २ स्थानम् ३ समवायः ४ व्याख्याप्रज्ञसि: ५ ज्ञातृधर्मकथा ६ उपासकाध्ययनम्  
 ७ अन्तकृदशाङ्गम् ८ अनुत्तरोपपादिकदशाङ्गम् ९ प्रश्नव्याकरणम् १० विपाकश्रुतम् ११ दृष्टिवादः  
 १२ इति । पूर्वे पदाक्षरप्रमाणं दर्शयति । षोडशलक्षप्रमाणकोटयः चतुर्स्त्रिशत्सहस्रकोटयः अशीति-  
 लक्षप्रमाणसहस्राणि अष्टशताशीतियुक्तानि मध्यमपदाक्षराणि ज्ञेयानि । एतत्पदप्रमाणेनैव  
 द्वादशाङ्गपदसंख्या क्रियते । तत्राचारे अष्टशताशसहस्रं (१८०००) पदानां भवति । ततः सूक्ष्मकृते  
 षट्त्रिशत्सहस्रपदप्रमाणं (३६०००) । ततस्तृतीयाङ्गे स्थानाख्ये द्विचत्वारिशत्सहस्राणि (४२०००)  
 पदानि भवन्ति । ततः समवाये एकलक्षचतुषष्ठिसहस्राणि (१६४०००) भवन्ति । ततः पञ्चमाङ्गे  
 व्याख्याप्रज्ञस्तौ द्वे लक्षे अष्टाविंशतिसहस्रप्रमाणानि (२२८०००) पदानि भवन्ति । पञ्चलक्षाणि  
 षट्पञ्चचाशत्सहस्राणि (५५६०००) पदानां भवन्ति ज्ञातृधर्मकथायाम् । ततः उपासकाध्ययने एकादश  
 लक्षाणि सप्ततिसहस्राणि (११७००००) पदानाम् । ततश्चानुत्तरोपपादिकदशायां द्विनवतिलक्षाणां  
 अष्टाविंशतिसहस्राणि (२३२८०००) पदानां भवन्ति । ततश्चानुत्तरोपपादिकदशायां द्विनवतिलक्षाणां  
 चतुर्शत्वारिशत्सहस्राणि (९२४४०००) पदसंख्या भवति । ततश्च विपाकश्रुते कोटिरेका चतुरशीतिसहस्राणि  
 षोडशसहस्राणि (९३१६०००) पदानाम् । ततश्च विपाकश्रुते कोटयः पञ्चलक्षाणि सहस्रांश्यं च (४१५०२०००)  
 सर्वाङ्गानां पदप्रमाणं दर्शयति । चतुरः कोटयः पञ्चलक्षाणि सहस्रांश्यं च (४०३०००)  
 सर्वाङ्गानां पदप्रमाणं भवति । तत्र परिकर्मणां पदप्रमाणं दर्शयति । ततश्च सूर्यप्रज्ञस्त्यां  
 पञ्चलक्षाणि सहस्रांश्यं (५०३०००) पदानां भवति । अम्बूद्धोपप्रज्ञस्त्यां  
 लक्षश्र्वयं पञ्च सहस्राणि (३०५०००) पदानि । ततश्च द्वीपसागरप्रज्ञस्त्यां द्विपञ्चाशलक्षाणि  
 षट्त्रिशत्सहस्राणि (५२३६०००) पदानां भवन्ति । ततश्च व्याख्याप्रज्ञस्त्यां चतुरशीतिलक्षाणां  
 षट्त्रिशत्सहस्राणि (८४३६०००) पदानि भवन्ति । एवं पञ्चप्रकारपरिकर्मणि पदप्रमाणं दर्शयति ।  
 एका कोटिरेकाशीतिलक्षा पञ्च सहस्राणि पदानां संख्या भवति । अथ दृष्टिवादद्वितीयभेदसूक्ष्मपद-  
 प्रमाणमाह । अष्टाशीतिलक्षाणां (८८०००००) पदसंख्या सूत्रं भवति । अथ पूर्वगतपदप्रमाणमाह ।  
 नवकाङ्गपञ्चपञ्चशूल्यपञ्चकण्डाङ्गप्रमाणा (९५५०५५) पूर्वगतपदसंख्या भवति । प्रथमानुयोग-  
 पदप्रमाणमाह । पञ्चसहस्राणि (५०००) पदानां प्रमाणं प्रथमानुयोगे भवति । अथ पञ्चप्रकार-  
 चूलिकापदसंख्यमाह । तत्र प्रथमचूलिकाप्रतिमादिकायां पदसंख्यमाह । द्विकोटी अष्टानवतिलक्षाणां  
 द्विनवतिसहस्राणि पदानां संख्या भवति । द्वितीया मातृगता चूलिका द्वे कोटी द्विनवतिसहस्राणि  
 पदानां संख्या भवति । तृतीया भूमता चूलिका । तस्याः पदप्रमाणं द्वे कोटी अष्टानवतिलक्षाणां  
 द्विनवतिसहस्राणि पदसंख्या भवति । चतुर्थी विद्यानुभावस्त्रयगता । तस्याः पदप्रमाणं द्वे कोटी  
 अष्टानवतिलक्षाणां द्विनवतिसहस्राणि पदप्रमाणम् । अथ गग्नगता पञ्चमी । तस्याः प्रमाणं द्वे कोटी  
 अष्टानवतिलक्षाणां द्विनवतिसहस्राणि पदप्रमाणम् । अथ चूलिकानां पदसंख्योच्यते । दश  
 कोटयः एकोनपञ्चाशलक्षाः षट्चत्वारिशत्सहस्राणि पदानां संख्या बत्तते । तत्र दृष्टिवादस्य परिकर्म-  
 सूत्रपूर्वप्रथमानुयोगचूलिकाभेदैः पञ्चप्रकारत्वम् । तत्र पूर्वगतं चतुर्दशविषयम् । उत्पादपूर्वम्,  
 अग्रायणोपयम्, वीर्यप्रवादम्, अस्तिनास्तिप्रवादम्, ज्ञानप्रवादम्, सत्यप्रवादम्, आत्मप्रवादम्, कर्म-  
 प्रवादम्, प्रत्याख्याननामधेयम्, विद्यानुबादम्, कल्याणनामधेयम्, प्राणावायम्, क्रियाविशालम्,  
 लोकविस्तुसारम् । तत्र सावत् उत्पादपूर्वपदप्रमाणमुच्यते । एका कोटिः पदानां संख्या भवति ।  
 द्वितीयाशायणीयपूर्वे षण्णवतिलक्षाणां पदप्रमाणं भवति । तृतीये वीर्यप्रवादे सप्ततिलक्षाणां

४५४ ) देवनारकयोर्ज्ञेयस्त्ववधिर्भवसंभवः ।

षड्विकल्पश्च शेषाणां क्षयोपशमलक्षणः ॥६

पदप्रमाणं स्यात् । अथ चतुर्थिकास्त्रिमास्त्रिप्रवादे षष्ठिर्लक्षणां पदप्रमाणं भवति । अथ पञ्चमज्ञान-प्रवादे पदसंख्योच्यते । एकोनशतलक्षा एकोनशतसहस्राणि नवशतानि एकोनशतं पदप्रमाणं भवति । अथ षष्ठे सत्यप्रवादे षड्विभरचिका कोटिः पदानां संख्या वर्तते । ततश्च सप्तमात्मप्रवादे षड्विशति-कोटयः पदप्रमाणं भवेत् । ततश्चाष्टमकर्मप्रवादे एका कोटिरशीतिलक्षाः पदसंख्या । नवमे प्रत्याख्यानप्रवादे चतुरशीतिलक्षं पदानां प्रमाणं भवति । ततो दशमे विद्यानुप्रवादे एका कोटिर्दशलक्षाणि पदानां संख्या भवति । ततश्चैकादशे कल्पाणप्रवादे कोटिष्ट्रिविशतिपदप्रमाणसंख्या ज्ञातव्या । ततो द्वादशमे प्राणवाये त्रयोदशकोटयः पदानां प्रमाणं भवति । अथ त्रयोदशे लोकविशाले नवकोटयः पदप्रमाणं भवति । ततश्चतुर्दशो लोकविश्वुसारे पदप्रमाणमाह । द्वादशकोटयः पञ्चाशलक्षाः पञ्चाधिका: पदप्रमाणं भवति । अथ सर्वदृष्टिप्रवादपदप्रमाणमुच्यते । अष्टोत्तरशतकोटयोऽष्टषष्ठिलक्षा षट्पञ्चाशतसहस्राणि पञ्चाधिकानि द्वादशाङ्गपदप्रमाणसंख्या भवति । अथ चतुर्दश-पूर्ववस्तुसंख्यामाह । पञ्चमवत्यधिकशतं वस्तुप्रमाणं वर्तते । एकस्मिन् वस्तुनि विशितः प्राभृता ज्ञातव्याः । अथ सर्वश्रुताद्वारप्रमाणमाह । एकाष्टतुद्वचतुःष्ट इमसात् चतुःष्टासप्तिसप्तशतुःष्टानव-पञ्चवपञ्चैकषड्कपञ्चप्रमाणाङ्गाङ्गाश्चरप्रमाणमङ्गप्रविष्टे सर्वश्रुतेन्नतिव्यम् । चतुर्दशप्रकीर्णं अष्टोत्तरकोटयो दशलक्षा अष्टी सहस्राणि एकशतं पञ्चमसप्तव्यधिकमक्षप्रमाणं भवति । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अवधिज्ञानमाह ।

४५४ ) देवनारकयोः—अवधिर्द्विविधः । भवप्रत्ययः क्षयोपशमलक्षणः । तत्र भवप्रत्ययो देवनारकाणाम् । शेषाणां जोवानां क्षयोपशमलक्षणः । स षड्विकल्पः षड्मेदः । अनुगामि-सूर्य-प्रतापवस्त्रीत्वा……। अनुगामि-समुद्रकृत् पदचात् कल्लोला उत्पद्यते । वर्धमानम्—यथेत्वनैरपिनवर्धते सथा संयमेन वृद्धि वाति । हीयमानम्—दीपकवत् मन्दं मन्दं याति यथा वृत्तिः हीना भवति । अवस्थितः द्वारवत् एकरुपकान्तिः । अनवस्थितः लिङ्गवत् क्वापि वर्धते क्वापि विघटते । तथा विशुद्धता प्राप्य वर्धते, मलिनता प्राप्य विघटति । अवधिज्ञानावरणोयक्षयोपशमात् मूलं वस्तु जानाति । सोऽपि त्रिविधः । परमावधिः सर्वविधिर्देवावधिः । परमावधिर्श्चरमदेहे भवति । स्थूल-

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके जानना चाहिए । क्षयोपशमरूप अवधिज्ञान शेष भनुष्य और तिर्यकोंके होता है और वह वह प्रकारका है ॥ विशेषार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी सर्वादायुक्त जो स्थी द्रव्य-विषयक अतीत्रिय निर्मल ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं । वह दो प्रकारका है—भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्तक । जिस अवधिज्ञानका कारण मुख्यतासे भव है उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहा जाता है और वह देव और नारकियोंके होता है । इसका अभिप्राय यह है कि देव और नारक भवको पाकर प्राणियोंके निश्चयतः यथासम्भव अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होता ही है, इसीलिए क्षयोपशमके होनेपर भी इसे भवप्रत्यय कहा गया है । विशेषता इतनी समझनी चाहिए कि उक्त देव-नारकियोंमें जो जीव सम्यग्विष्ट होते हैं उनके समीक्षीन अवधिज्ञान तथा मिथ्याविष्टियोंके कुत्सित अवधिज्ञान ( विभंग ) होता है । जिस अवधिज्ञानमें क्षयोपशमकी ही प्रमुखता होती है—देव-नारकियोंके समान भवकी प्रमुखता नहीं होती—वह क्षयोपशमनिमित्तक कहा जाता है

४५५) ऋजुविपुल इत्येवं स्यान्मनःपर्ययो द्विधा ।

विशुद्धयतिपाताभ्यां तद्रिशेषो ऽबगम्यताम् ॥७

४५६) अशेषद्व्यपर्यायविषयं विवलोचनम् ।

अनन्तमेकमत्यक्षं केवलं कीर्तिं जिनैः ॥८

परमाणु पश्यति । गुणप्रत्ययः सम्यक्त्वपूर्वतपश्चरणकादिगुणप्रत्ययः सर्वावधिश्चरमदेहे भवति । वर्गवर्गणासूक्ष्मकर्मस्कन्धान् पश्यति । सो ऽपि गुणप्रत्ययः देशावधिश्चतुषु गतिषु भवति । देवनारकाणां तीर्थेशानां भवप्रत्ययः । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ मनःपर्ययज्ञानमाह ।

४५५) ऋजुविपुल—मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशापाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशामाङ्गच स्वकीयमनो ऽवलम्बेन परकीयमनोगतं भूतं वस्तु पश्यति । स द्विविधः । ऋजुमतिविपुलमतिः । ऋजुमतिविपुलमत्योर्विशेषभेदः अवगम्यतां जानोयताम् (?) । तदावरणकर्मक्षयोपशामे सति अस्मनः प्रसादे विशुद्धिः प्रतिपत्तनं प्रतिपातः । न प्रतिपातो ऽप्रतिपातः । उपशान्तकषायस्य चारित्रमोहोद्रेकात् प्रस्तुतसंयमशिखरस्य प्रतिपातो भवति । क्षीणकषायस्य प्रतिपातकारणाभावात् अप्रतिपातश्च विशुद्धिश्च विषुद्धप्रसिद्धाताभ्यां रद्विशेषमानम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ केवलज्ञानस्वरूपमाह ।

४५६) अशेषद्व्यय—जिनैः सीर्थकर्ते केवल ज्ञानं कीर्तिम् । कोदृशस् । अत्यधिम् अतीन्द्रियम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ पुनर्स्तदेवाह ।

और वह निम्न छह भेदवाला है । १. अनुगामी—क्षेत्रान्तर व भवान्तरमें साथ जानेशाला, २. अननुगामी, ३. वर्धमान—हानिसे रहित होकर उत्तरोत्तर बढ़नेवाला, ४. हीयमान—शुद्धिसे रहित होकर उत्तरोत्तर हानिको प्राप्त होनेवाला, ५. अवस्थित—उत्पन्न होनेके समय जिस प्रमाणमें था उतना ही रहनेवाला और ६. अनवस्थित—हीनता व अधिकताको प्राप्त होनेवाला ॥६॥

मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमति इस प्रकारसे दो प्रकारका है । इन दोनोंमें विशुद्धि और अप्रतिपातकी अपेक्षा विशेषता समझनी चाहिए ॥ विशेषार्थ—जो दूसरेके मनमें स्थित चिन्तित, अचिन्तित अथवा अर्धचिन्तित पदार्थको जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं । वह दो प्रकारका है—ऋजुमतिमनःपर्यय और विपुलमतिमनःपर्यय । इनमें जो सरल मन, वचन व कायसे किये गये दूसरेके मनोगत पदार्थको जानता है उसे ऋजुमतिमनःपर्यय, तथा जो सरल व कुटिल भी मन, वचन एवं कायके द्वारा किये गये दूसरेके मनोगत पदार्थको जानता है, उसे विपुलमतिमनःपर्यय कहते हैं । इनमें ऋजुमतिमनःपर्ययकी अपेक्षा विपुलमति विशुद्धतर (अधिक विशुद्ध) और अप्रतिपाती है—यह संयम-शिखरसे न गिरनेवाले क्षीणकषायके होता है, उपशान्तकषायके नहीं होता । यह इन दोनोंमें विशेषता भी है ॥८॥

ओ ज्ञान सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको विषय करता है, समस्त लोकको देखनेके लिये नेत्रके समान है, अनन्त है—अनन्त पदार्थोंको युगपत् ग्रहण करनेवाला है, एक या केवल है—इन्द्रियों आदिकी सहायतासे रहित है, तथा अतीन्द्रिय है, उसे जिन्मनेने केवलज्ञान कहा है ॥८॥

१. P विशुद्धप्रति० २. F कीर्तिसे बुधैः, All others except P M N कीर्तिसे बुधैः ।

४५७ ) कल्पनातीतमभ्रान्तं स्वपराथर्विभासकम् ।

जगज्ज्योतिरसंदिग्धमनन्तं सर्वदोदितम् ॥९

४५८ ) अनन्तानन्तमागे ऽपि यस्य लोकश्चराचरः ।

अलोकश्च सुरत्युच्चैस्तज्ज्योतियोगिनां मतम् ॥१०

४५९ ) अगम्यं यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेदं<sup>१</sup> यद्रवेरपि ।

तद्दुर्बोधोत्थितं<sup>२</sup> आनन्दं ज्ञानमेवं प्रकीर्तितम् ॥११

४५७ ) कल्पनातीतम्—कीदृशो ज्ञानम् । कल्पनातीतं प्रसिद्धम् । अभ्रान्तं आन्तिरहितम् । पुनः कीदृशम् । स्वपराथर्विभासकम् । पुनः कीदृशम् । जगज्ज्योतिः । पुनः कीदृशम् । असंक्षिप्तं सदैहरहितम् । पुनः कीदृशम् । अनन्तविषयम् । पुनः कीदृशम् । सर्वदोदितं सर्वदोदयमिति सूत्रार्थः ॥९॥ अथालोकस्वरूपमाह ।

४५८ ) अनन्तानन्त—उच्चैर्यथा स्थान् अलोकः समुरति । स अलोकः योगिनां तज्ज्योतिमंतम् । च पादपूरणे । स कः । यस्थालोकस्थानन्तानन्तं<sup>३</sup>भागो लोकश्चराचरो बतते । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ ज्योतिःस्वरूपमाह ।

४५९ ) अगम्य—यज्ज्योतिर्मृगाङ्कस्येन्दोरगम्यं यमनायोग्यम् यज्ज्योतो रवेः सूर्यस्य दुर्भेदं भेदनाशक्यमित्यर्थः । अपि पक्षान्तरे । पुनः कीदृशम् । यज्ज्योतिस्तद्<sup>४</sup> दुर्बोधोद्भृतध्वान्तं विस्तोणी-ज्ञानोत्कटान्धकारं ज्ञानमेवं प्रकीर्तिमिति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ ज्ञानमाहात्म्यमाह ।

यह केवलज्ञान कल्पनासे रहित, आन्तिसे रहित, स्व और पर दोनों ही पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला, दिव्यको प्रकाशित करनेवाली अपूर्व ज्योति, सन्देहसे रहित, प्रमाणमें अनन्त और सर्वदा उदित रहनेवाला है—सूर्य-चन्द्रके समान कभी अस्त होनेवाला नहीं है ॥९॥

जिस केवलज्ञानरूप ज्योतिके अनन्तानन्तवें भागमें भी त्रस व स्थावर प्राणियोंसे व्याप समस्त लोक और अलोक भी स्पष्टतया प्रतिभासित होता है वह केवलज्ञानरूप ज्योति योगियोंके भानी गयी है । तात्पर्य यह कि तपश्चरणके द्वारा चार धातियाकर्मोंके सम्बन्ध कर देनेपर वह केवलज्योति योगियोंको ही प्राप्त होती है ॥१०॥

भिश्याधानसे उत्पन्न हुए जिस अज्ञानरूप अन्धकारको न अन्द्रभा नष्ट कर सकता है और न सूर्य भी सम्बन्ध कर सकता है उस अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाला ज्ञान बतलाया गया है ॥११॥

१. B<sup>१</sup>कल्पभागो ऽपि । २. All others except P F दुर्भेदं । ३. All others except P दुर्बोधोद्भृतं । ४. M N T C<sup>२</sup>विशेषोद्भृतध्वान्तं ।

- 460 ) दुःखज्वलनतसानां संसारोगमहस्थले ।  
विज्ञानमेव जन्तुनां सुधाम्बुद्धी प्रीणनक्षमम् ॥१२॥
- 461 ) निरालोकं जगत्सर्वमज्ञानतिभिराहतम् ।  
तावदास्ते उद्देत्युच्चैर्न यावज्ज्ञानभास्करः ॥१३॥
- 462 ) बोध एव दृढः पाशो हृषीकमृगबन्धने ।  
गारुडश्च महातन्त्रैश्चित्तभोगिविनिग्रहे ॥१४॥
- 463 ) निशात् विद्धि निखिंशं भवारातिनिपातने ।  
तृतीयमथवा नेत्रं विश्वतस्वप्रकाशने ॥१५॥

460 ) दुःखज्वलन—जन्तुनां संसारमहस्थले विज्ञानमेव शुद्धाम्बुद्धी निर्मलज्वलम् । कीदृशम् । प्रीणनक्षमं तृस्तिज्ञनकम् । कीदृशानां जन्तुताम् । दुःखाग्नितसानामिति सूत्रार्थः ॥१२॥ पुनर्ज्ञानभाह ।

461 ) भिरालोकं—जगत् सर्वं निरालोकं तावत् यावत् उच्चैज्ञानभास्करः नाभ्युदेति\* । कीदृशं जगत् । अज्ञानतिभिराहतम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ सदेवाह ।

462 ) बोध एव—हृषीकमृगबन्धने इन्द्रियमृगबन्धकः बोध एव ज्ञानमेव दृढः पाशः । चित्तभोगिविनिग्रहे मनःसर्पनाशो गारुडः । च पादपूरणे । \*महामन्त्रः । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ पुनर्स्तस्वप्रलयमाह ।

463 ) निशात्—भवारातिनिपातने भवारिमारणे निशातं सीक्षणं खड्डं विद्धि जानीहि । अथवा तृतीयं नेत्रं ज्ञातव्यं विश्वतस्वप्रकाशने । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ बोधाधिक्यमाह ।

संसाररूप भयानक महस्थलके भीतर दुखरूप अग्निसे सम्प्र प्राणियोंके प्रसन्न करनेमें विशिष्टज्ञान ( सम्यज्ञान = विवेक ) ही अमृतजलके समान समर्थ है ॥१२॥

अब तक ज्ञानरूप सूर्य अतिशय उदयको—अभिवृद्धिको—नहीं प्राप्त होता है तभी तक सब लोक प्रकाशसे रहित होकर अज्ञानरूप अन्धकारसे व्याप्त रह सकता है ॥१३॥

इन्द्रियोरूप सूर्योंके बाँधनेमें—उनके स्वाधीन करनेमें—ज्ञान ही मजबूत फौस ( जाल ) है तथा मनरूप सर्पका प्रतीकार करनेमें वह ज्ञान ही गरुड़—सर्पके चिषको नष्ट करनेवाला—महामन्त्र है ॥१४॥

संसाररूप शत्रुके गिरानेमें—उसके नष्ट करनेमें—उस ज्ञानको तीक्ष्ण धारवाली तळवार अथवा समस्त तस्वोंके प्रकाशित करनेमें उसे तीसरा नेत्र समझो ॥१५॥

१. B J शुद्धाम्बुद्धी । २. L S F V C J X R प्रीणनक्षमः । ३. B J तावदास्ते उद्देत्युद्धी । ४. All others except P महामन्त्रशित्त । ५. J निशात् विद्धि ।

- 464 ) क्षीणतन्द्रा जितकलेशा वीतसंग्गाः स्थिराशयाः ।  
तस्यार्थे अभी तपस्यन्ति योगिनः कृतनिश्चयाः ॥१६
- 465 ) वेदगतात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनैः ।  
विज्ञानी मोक्षयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे ॥१७
- 466 ) यज्ञन्मकोदिभिः पापं ज्येत्यज्ञस्तपोबलात् ।  
तद्विज्ञानी क्षणार्थेन दहत्यनुलविक्रमः ॥१८
- 467 ) ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं निःशेषं यस्य योगिनः ।  
न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ॥१९

464 ) क्षीणतन्द्राः—अभी योगिनः तस्यार्थे बोधार्थे कृतनिश्चयाः तपस्यन्ति । कोदृशा योगिनः । क्षीणतन्द्राः गतालस्याः । पुनः कीदृशाः । जितकलेशाः । पुनः कीदृशाः । वीतसंग्गाः संगरहिताः । पुनः कीदृशाः । स्थिराशयाः निश्चलचित्ताः । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ पुनस्तदेवाह ।

465 ) वेदुयति—अज्ञानी ज्ञानरहितः पुमान् आत्मनात्मानं वेष्टयति । कौ कर्मबन्धनैः । तद्विपक्षतामाह । विज्ञानी मोक्षयत्येव दूरीकरोत्येव । क्षमयान्तरे कालान्तरे प्रबुद्धः सन् । इत्यर्थः ॥१७॥ पुनर्जनिस्वरूपमाह ।

466 ) यज्ञन्म—अज्ञो मूर्खो यत्पापं तपोबलाऽज्ञन्मकोदिभिर्जयति । सद्विज्ञानी पापं क्षणार्थेन दहति । कीदृशो विज्ञानी । अनुलविक्रमः महाबलः । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ पुनस्तदेवाह ।

467 ) ज्ञानपूर्वम्—यस्य योगिनः ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं निःशेषं तस्य कर्मबन्धं कस्मिन्नपि क्षणे नायाति । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ तद्विपरीक्षमाह ।

आलस्यसे रहित, कलेशोंके विजेता (कष्टसहिष्यु), परियहसे रहित और मनमें हृदताको धारण करनेवाले ये योगीजन तत्त्वका निश्चय करके उस ज्ञानके लिए ही तपश्चरण करते हैं ॥१६॥

अज्ञानी जीव अपनेआपको अपने द्वारा ही कर्मरूप बन्धनोंसे बेलित करता है, और इसके विपरीत यिवेकी जीव प्रबोधको प्राप्त होकर एक समयके भीतर उन कर्म-बन्धनोंसे अपनेको छुड़ाता है ॥१७॥

अज्ञानी जीव जिस पापको तपके प्रभावसे करोड़ों जन्मोंमें जोड़ता है उसे विशिष्ट ज्ञानी जीव अनुपम पराक्रमसे आधे क्षणमें ही जला डालता है ॥१८॥

जिस योगीका सब ही आचरण ज्ञानपूर्वक होता है उस योगीके किसी भी क्षणमें कर्म बन्धको नहीं प्राप्त होता है ॥१९॥

१. N J interchange Nos. 18-19 । २. Y ज्येत्यज्ञस्तपो । ३. N तद्वि ज्ञानी । ४. T V C J X Y R interchange Nos. 19-20 ।

४६८ ) अज्ञानशूद्धिका<sup>१</sup> चेष्टा यतेर्यस्यात्र भूतले ।

स व्यव्यात्यात्मनात्मानं कुर्वन्नपि तपशिवरम् ॥२०॥

४६९ ) यत्र बालश्वरत्यस्मिन् पथि तत्रैव तत्त्ववित् ।

बालः स्वमपि व्यव्याति मोक्षयत्येव पण्डितः ॥२१॥

४७० ) दुरिततिभिरहंसं मौक्षलक्ष्मीसरोजं

मदनभुजगमन्त्रं चित्तमातङ्गसिंहम् ।

व्यसनधनसभीरं विश्वतत्त्वैकदीयं

विषयशफरजालं ज्ञानमाराधय त्वम् ॥२२॥

४६८ ) अज्ञान—अत्र भूतले यस्य यतेरज्ञानशूद्धिका चेष्टा क्रिया भवति स यतिः आत्मनात्मानं व्यव्याति । तपशिवरं कुर्वन्नपि इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ ज्ञानपण्डितयोरेकत्वे ( उपि ) फले विशेषमाह ।

४६९ ) यत्र बालः—यत्र लोके इस्मिन् पथि बालो ज्ञाततत्त्वः अरति, तत्रैव पथि पण्डित-इत्यरति । बालः स्वमात्मानं व्यव्याति । कर्मभिरति शेषः । तत्त्ववित् पण्डितः ध्रुवं निश्चयेन मुच्यते । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ ज्ञानं वर्णयन्नाह । मालिनी छन्दः ।

४७० ) दुरिततिभिर—हे भव्य, त्वं ज्ञानमाराधय । कीदृशां ज्ञानम् । दुरिततिभिरहंसं पापान्धकारसूर्यम् । पुनः कीदृशम् । मौक्षलक्ष्मीसरोजं मुक्तिकमलाकमलम् । वासार्थमिति गम्यम् । पुनः कीदृशम् । मदनभुजगमन्त्रं कामनागमन्त्रम् । पुनः कीदृशम् । चित्तमातङ्गसिंहम् । सुगमम् । पुनः कीदृशम् । व्यसनधनसभीरं सम्भव्यसनदूसादिमेधवाग्मम् । पुनः कीदृशम् । विश्वतत्त्वैकदीयम् । सुगमम् । पुनः कीदृशम् । विषयशफरजालं पठनेन्द्रियव्यापारमत्यव्यव्यनजालम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ ज्ञानफलं दर्शयति । संग्रहरा छन्दः ।

इस पृथिवीतलपर जो सुनि अज्ञानवापूर्वक प्रवृत्ति करता है वह चिरकाल तक तपश्चरण करता हुआ भी अपनैआपको स्वर्य बाँधता है—कर्मसे सम्बद्ध करता है ॥२०॥

संसारमें जिस मार्गसे अज्ञानी संचार करता है उसी मार्गसे तत्त्वज्ञ भी संचार करता है । फिर भी अज्ञानी जीव अपनेको कर्मसे सम्बद्ध करता है और वह ज्ञानी पण्डित अपनेको उस कर्मवन्धनसे छुड़ाता ही है । अभिप्राय यह है कि ज्ञानी और अज्ञानीके आचरणमें समानताके होनेपर भी ज्ञानीका वह आचरण विवेकपूर्वक होनेसे संचार और निर्जराका कारण होता है तथा वही अज्ञानीका आचरण अविवेकपूर्वक होनेसे कर्मवन्धनका कारण होता है ॥२१॥

[हे भव्य जीव !] जो ज्ञान पापरूप अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान है, जो मुक्तिरूप लक्ष्मीके रहनेके लिए कमलके समान है—मुक्तिको प्राप्त करनेवाला है, कामदैवरूप सर्पके वशीभूत करनेके लिए मन्त्र जैसा है, मनरूपी हाथीका सिंहके समान निश्चय करनेवाला

१. M अज्ञानपूर्वकम् । २. All others except P तत्रैव पण्डितः । ....व्यव्याति मुच्यते तत्त्वविद् ध्रुवम् ।

471 ) अस्मिन् संसारकथे यमभुजगविषाक्रान्तनिःशेषसत्त्वे  
क्रोधाद्युतुक्षीले कुटिलगतिसरित्पातसंतानभीमे ।  
मोहान्धाः संचरन्ति सखलनविधुरिताः प्राणिनस्तावदेते  
यावद्विज्ञानभानुर्भवभयदमिदं नोच्छनत्यन्धकारम् ॥२३॥

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्र-  
विरचिते ज्ञानोपयोगः ॥७॥

471 ) अस्मिन्—तावदेते प्राणिनो मोहान्धाः संचरन्ति । कत्र । अस्मिन् संसारकथे भवधने ।  
कीदूषे । यमभुजगविषाक्रान्तनिःशेषसत्त्वे मृत्युसर्पगरलब्यामृसर्वजीवे । पुनः कीदूषे । क्रोधाद्यु-  
तुक्षीले क्रोधमानमायालोभोच्चपवैते । पुनः कीदूषे । कुटिलगतिसरित्पातसंतानभीमे वक्रगति-  
नदीपातसमूहरौप्रे इति सूत्रार्थः ॥२३॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहपासा तत्पुत्र-साहटोडर - तत्कुछकमलदिवाकर - साहरिखिदासश्रवणार्थं  
पण्डितजिनदासोदयमेन ज्ञानोपयोगव्याख्यानं समाप्तम् । सप्तमसंविः ॥७॥

श्रीटोडरकुलचन्द्रः कारण्यपुण्यभासमानसबुद्धिः । श्रृणिदासः श्रीयुक्तः जीयाद् जिननाथ-  
तद्भक्तः । इत्याशीर्वादः । अथ सम्यग्ज्ञानदर्शनपूर्वकं चारित्रं भवतीत्यतः \*चारित्रमाह ।

है, व्यसनरूप बादलोंके उड़ानेमें बायुका काम करता है, समस्त तत्त्वोंके प्रकाशित करनेमें  
अद्वितीय दीपकके सहजा है तथा विषयरूप मछलियोंको नष्ट करनेके लिए जालके समान है,  
उसका तू आराधन कर—उसको सम्पादित करनेका प्रयत्न कर ॥२३॥

जिस संसाररूप बनके भीतर समस्त प्राणी यमरूप सर्वके विषसे व्याप्त हो रहे हैं,  
जहाँपर क्रोधादि कथायोरूप ऊचे पर्वत स्थित हैं, तथा जो कुटिलगति—नरकादि दुर्गतियों—  
रूप टेढ़ी-मेढ़ी बहनेवाली नदियोंमें गिरनेके प्रवाहसे भयानक है, उस संसाररूप बनके भीतर  
ये मोहसे अन्धे हुए प्राणी इधर-उधर गिरने-उड़नेसे व्याकुल होकर तभी तक संचार करते हैं  
जब तक कि विज्ञानरूप सूर्य संसाररूप भयको देनेवाले उस अन्धकारको नष्ट नहीं करता  
है । तात्पर्य यह कि प्राणीके जब तक अविवेक रहता है तभी तक वह संसार परिभ्रमणके  
दुखको सहता है, और जब वह उस अविवेकको छोड़कर प्रबुद्ध हो जाता है तब वह उस  
संसार परिभ्रमणके दुखसे छूटकर निर्बोध व अविजश्वर सुखको प्राप्त कर लेता है ॥२३॥

इस ग्रन्थार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
ज्ञानोपयोग प्रकरण समाप्त हुआ ॥७॥

## VIII

## [ अहिंसाव्रतम् ]

472 ) यद्विशुद्धेः परं धाम् योगिजनजीवितम् ।  
तदृशुतं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम् ॥१

473 ) सामायिकादिभेदेन पञ्चधा परिकीर्तितम् ।  
वृषभादिजिनैः पूर्वे चारित्रं सप्रपञ्चम् ॥२

472 ) यद्विशुद्धेः—तद् वृत्तं चारित्रं भवति । कीदूशम् । सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणं सर्वपापाभावैकलक्षणम् । तस्मिम् । यत् चारित्रं विशुद्धेः परं प्रकृष्टं धाम गृहं, यत् चारित्रं योगिजनजीवितमिति सूत्रार्थः ॥१॥ तस्य विशेषमाह ।

473 ) सामायिकादि—वृषभादिजिनैः पूर्वे चारित्रं सामायिकादिभेदेन पञ्चधा परिकीर्तितम् । सामायिक दिवदेशानर्थेदण्डविरतिः । तच्च द्विविधम् । निष्ठतकालमनियतकालं च । स्वाध्याधादि नियतकालम् । इयपिधादनियतकालम् । प्रमादकृतानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यकप्रतिक्रिया छ्लेषोपस्थापनं विकल्पनिवृत्तिर्वा । परिहरणं परिहारः प्राणिद्वयाभिवृत्तिः, तेन विविष्टा शुद्धिर्यस्मस्तपरिहारविशुद्धिचारित्रम् । अतिसूक्ष्मकषायत्वात् सूक्ष्मसांपरार्थं चारित्रम् । मोहनीयस्य निरवधोषस्योपशमात् क्षयात् च आत्मस्वभावावस्थोपेक्षालक्षणं यथास्यातचारित्रम् । तेषां भेदेन पञ्चधोक्तम् । कीदूशं चारित्रम् । सप्रपञ्चं सविस्तारमिति सूत्रार्थः ॥२॥ पुनश्चरणस्वरूपमाह । आर्थ ।

जो विशुद्धिका उत्कृष्ट स्थान है, योगीजनोंका जीवन ( प्राण ) है, उथा समस्त पापका परित्याग ही जिसका लक्षण है उसका नाम चारित्र है । अभिप्राय यह कि समस्त पापके परित्यागको चारित्र कहते हैं और वह योगियोंके होता है । उससे आत्मा अतिशय निर्मल होती है ॥१॥

ऋषभादि तीर्थकरोंने पूर्वमें उस चारित्रको सामायिक आदि ( सामायिक, छ्लेषोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ) के भेदसे पाँच प्रकारका विस्तार-पूर्वक कहा है ॥२॥

१. P writes this on the margin, M N Om. । २. All others except P X ऋषभादि ।

474 ) [ पञ्चमहाब्रतमूलं समितिप्रसरं नितान्तमनवद्यम् ।

गुप्तिपलभारतसं भवतिना कीर्तिं शुचम् ॥२\*१]

475 ) पञ्च पञ्च त्रिभिर्भेदस्तदुक्तं मुक्तसंशयैः ।

भवभ्रमणभीतानां चरणं शरणं परम् ॥३

476 ) पञ्चब्रतं समित्यश्च गुप्तित्रययवित्रितम् ।

श्रीवीरददनोद्गीर्णं चरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥४

474 ) पञ्चमहा—समतिना तीर्थकरादिना वृत्तं चारित्रं कीर्तिं कथितम् । कीदृशम् । पञ्चमहाब्रतमूलं सुगमम् । समितिप्रसरं ईयसिमित्यादिविस्तारम् । पुनः कीदृशम् । नितान्तमतिषयेनानवद्यं निष्पापम् । पुनः कीदृशम् । गुप्तिपलभारतसं भनोगुप्त्यादिफलभारतसं नमनशीलम् । इति सूत्रार्थः ॥२\*१॥ अतस्तद्भेदान् पुनराह ।

475 ) पञ्च पञ्च—मुक्तसंशयैः संशयरहितैः सञ्चरणं चारित्रं पञ्चपञ्चत्रिभिर्भेदे: पञ्चब्रत-पञ्चसमिति-त्रिगुप्तिभिर्भेदस्तदुक्तम् । कीदृशं चरणम् । भवभ्रमणभीतानां परं प्रकृष्टं शरणमिति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

476 ) पञ्चब्रत—[ अहिंसादीनि पञ्च ब्रतानि, ईयदियः पञ्च समितयः, भनोवाक्यायगुप्तित्रयं च एतद् भगवता महावीरेण उक्तं चन्द्रवध्निर्मलं चारित्रम् इत्यर्थः ॥ ] विशेषस्त्वमेव दर्शयति ॥४॥ अथ ब्रतान्[नि] नामप्राहमाह ।

जिमेल बुद्धिके धारक गणधरादिके द्वारा अथवा और जिनेन्द्रके द्वारा वह अतिशय निर्दीपि चारित्ररूप वृक्ष पाँच महाब्रतोरूप जड़ोंसे उद्द, पाँच समितियोरूप शाखाओंसे विस्तृत और गुप्तियोरूप कलोंके भारसे जग्र ( झुका हुआ ) बतलाया गया है । वात्पर्य यह कि वह चारित्र पाँच महाब्रतों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंके भेदसे तेरह प्रकारका है ॥२\*१॥

संशयसे रहित गणधरादिकोने उस चारित्रको पाँच ( महाब्रत ), पाँच ( समिति ) और तीन ( गुप्ति ) भेदोंसे युक्त प्रख्यात किया है । वह संसारपरिभ्रमणसे भयभीत हुए प्राणियोंका अतिशय रक्षक है—उससे उद्धार करनेवाला है ॥३॥

पाँच महाब्रतों और पाँच समितियोंसे सुखोभित तथा तीन गुप्तियोंसे पवित्रताको प्राप्त हुआ वह चन्द्रमाके समान निम्न चारित्र थी और जिनेन्द्रके सुखसे निकला है—उसका उपदेश और प्रभुने दिया है ॥४॥

१. P M N Om., F gives after 4th, J reads here 5th । २. All others except P M भेदैर्यदुक्तं । ३. B Om । ४. All others except P M L F पञ्चब्रतं समित् पञ्च, M L F ब्रतसमित्यञ्च ।

477 ) हिंसायामनृते स्तेये मैथुने इथे परिग्रहे ।  
विरतिर्वतमित्युक्तं सर्वसत्त्वानुकम्पकैः ॥६

478 ) सत्याद्युत्तरनिःशेषयमजातनिवन्धनम् ।  
शीलैश्वर्यद्विष्णुनमहिंसाल्यं महाब्रतम् ॥६

479 ) वाकिच्चततनुभिर्यत्र न स्वप्ने ऽपि प्रवर्तते ।  
चरस्थिराङ्गिनां घातस्तदार्थं व्रतमीरितम् ॥७

477 ) हिंसायामनृते—सर्वसत्यानुकम्पकैस्तीर्थकर्त्तरितमित्युक्तम् । इतीति किम् । हिंसाया प्राणिवधे विरतिर्वतम् । अनृते इस्त्ये दचसि विरतिर्वतमित्यादि प्रत्येकं योज्यम् । स्तेये चौर्ये । च पुनः । मैथुने स्त्रीसेवायाम् । परिग्रहे द्रव्यादिसंग्रहे विरतिर्वतम् । इति व्रतपञ्चकं सूत्रार्थः ॥५॥ तथाद्यब्रतमाह ।

478 ) सत्याद्युत्तर—अहिंसाल्यं महाब्रतं भवति । कीदृशम् । सत्याद्युत्तरनिःशेषयमजातनिवन्धनं द्वितीयमहाब्रतसत्याद्युत्तराणि अप्रस्थानानि शेषाणि समस्तब्रतानि तेषां \*जातमुत्पन्नं निवन्धनं कारणं यत्था । पुनः कीदृशम् । शीलैश्वर्यद्विष्णुनं शीललक्ष्म्या मूलमित्यर्थः ॥६॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

479 ) वाकिच्चत—तदार्थं व्रतमहिंसाल्यमीरितं कथितम् । तीर्थकर्त्तरिति शेषः । तत्किम् । यत्र व्रते चरस्थिराङ्गिनां त्रस्त्यावराणां स्वप्ने घातः न प्रवर्तते । कैः । वाकिच्चततनुभिर्यतनमनःकायेरिति सूत्रार्थः ॥ १॥ अथ तद्विशेषमाह ।

हिंसा, असत्य, चौरी, मैथुन और परिग्रह इन पाँच पापोंके विषयमें जो विरलि—उनका परित्याग—किया जाता है उसे सब प्राणियोंपर दयाभाव रखनेवाले गणधराद्विने व्रत कहा है ॥ विशेषार्थ—हिंसादि पाँच पापोंकी जो विरति ( त्याग ) की जाती है वह दो प्रकार से की जाती है—एकदेशरूपसे और सर्वदेशरूपसे । इनमें जो एकदेशस्वरूपसे—स्थूल दृष्टिसे—जो उनका परित्याग किया जाता है उसका नाम अयुत्रत तथा पूर्णरूपसे जो त्याग किया जाता है उसका नाम महाब्रत है । यहाँ चूंकि ध्यानकी मुख्यता है और वह मुनियोंके ही सम्भव है, इसीलिए यहाँ महाब्रतके आश्रयसे ही उसकी प्रहृष्टपणा की जा रही है, इसका स्मरण रखना चाहिए ॥५॥

अहिंसा नामका महाब्रत आगेके जो सत्यमहाब्रतादिरूप समस्त व्रतोंका समूह है उसका कारण है—उन सबकी स्थिति इस अहिंसा महाब्रतके आश्रित है । साथ ही वह अठारह हजार शीलोंके स्वामित्व आदिका भी आधार है—उसके बिना इन शीलोंके स्वामित्व आदिकी सम्भावना नहीं है ॥६॥

जिस व्रतमें वृत्तन, मन और शरीरसे स्वप्नमें भी ब्रह्म-स्थावर प्राणियोंका घात नहीं प्रवृत्त होता है वह आद्यब्रत—प्रथम अहिंसा-महाब्रत—कहा गया है ॥७॥

४८० ) मृते वा जीविते वा स्याजन्तुजाते प्रमादिनाम् ।

बन्ध एव न बन्धः स्याद्दिसया॑ संवृत्तात्मनाम् ॥८

४८१ ) संरम्भादित्रिकं योगीः कषायैव्याहृतं क्रमात् ।

शतमषाधिकं ज्ञेयं हिंसाभेदैस्तु पिण्डतम् ॥९

४८० ) मृते वा—प्रमादिनां जन्तुजाते । वेति पञ्चान्तरे । मृते जीविते वा बन्ध एव भवति हिंसायां\* प्राणिवधे संवृत्तात्मनां न बन्धः । तत्कारणस्य कषायादेवभावात् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ हिंसाभेदानाह ।

४८१ ) संरम्भादि—शतमषाधिकं ज्ञेयम् । कि तद् । संरम्भादित्रिकं संरम्भसमारम्भ-आरम्भत्रयम् । तत्र संरम्भः प्राणिवधादिषु प्रमादवत्सः प्रवृत्तावेशः । तत्साधनसम्भ्यासीकरणं समारम्भः । प्रक्रम आरम्भः । एतत्रयेषु क्रमात् योगीर्मनोवचनकायेव्याहृतं, कषायैः क्रोधमान-मायालोभेव्याहृतम् । तु पुनः । कोदृशम् । हिंसाभेदैः पिण्डतम् एकत्र कृतम् । तत्कर्म कृतकारिता-नुभोदक्रयं योगश्रद्धयुक्तं कोधादिचतुर्भुक्तिलितं भेदात्मकं भवति । तथा हि । कृतमनःक्रोधसंरम्भः कारितमनःक्रोधसंरम्भः अनुभोदितमनःक्रोधसंरम्भः, कृतमनःक्रोधसमारम्भः कारितमनःक्रोधसमारम्भः अनुभोदितमनःक्रोधसमारम्भः, कृतमनःक्रोधआरम्भः कारितमनःक्रोधआरम्भः अनुभोदितमनःक्रोधआरम्भः एते नव भज्ज्ञाः क्रोधाज्जाताः । कृतमनोमानसंरम्भः कारितमनोमानसंरम्भः अनुभोदितमनो-मानसमारम्भः, कृतमनोमानआरम्भः कारितमनोमानआरम्भः अनुभोदितमनोमानआरम्भः, एते नव भज्ज्ञा मानाज्जाताः । कृतमनोमायासंरम्भः कारितमनोमायासंरम्भः अनुभोदितमनो-मायासंरम्भः, कृतमनोमायासमारम्भः कारितमनोमायासमारम्भः अनुभोदितमनोमायासमारम्भः,

जो प्राणिसमूहके विषयमें प्रमादयुक्त होते हैं—उनके रक्षणमें असावधान होते हैं—उनके प्राणीका घात हो अथवा न भी हो, कर्मबन्ध होता ही है । किन्तु जिनकी आत्मा अहिंसासे संवृत है—जो प्राणिरक्षणमें सदा सावधान है—उनके कभी कर्मबन्ध नहीं होता है ॥१॥

संरम्भ आदि तीनको क्रमसे तीन योगों और चार कषायोंसे गुणित करके पुनः हिंसाभेदोंसे—कृत, कारित और अनुभोदना इन तीनसे—भी गुणित करनेपर सब भेद एक सौ आठ ( $3 \times 3 \times 3 \times 4 = 108$ ) जानना चाहिए ॥ विशेषार्थ—हिंसाके संकल्प करनेका नाम संरम्भ है । उसके साधनोंको जुटाना व उनका अध्यास करना, इसे समारम्भ कहा जाता है । तथा उसमें प्रथमत हो जाना, यह आरम्भ है । ये तीनों मन, वचन व कायसे सम्बद्ध होकर स्वयं किये जाते हैं, दूसरेको प्रेरित करके कराये जाते हैं, तथा किसीको करते-कराते देखकर उनके विषयमें प्रसन्नता भी प्रगट की जाती है । ये सब ही क्रोधादि चार कषायोंमेंसे किसी न किसी कषायकी अपेक्षा करते हैं । इसलिए इन सबको परस्पर गुणित करनेपर उनके १०८ भेद हो जाते हैं । इन भेदोंको इस प्रकारसे समझना चाहिए—१. क्रोधकृत कायसंरम्भ

१. S F V B C J स्याद्दिसयां, T X Y R हिंसायाः । २. T त्वना । ३. N पिण्डतम् ।

कृतमनोमायाआरम्भः कारितमनोमायाआरम्भः अनुमोदितमनोमायाआरम्भः, एते नव भज्ञा मायासंभूताः । कृतमनोलोभसंरम्भः कारितमनोलोभसंरम्भः अनुमोदितमनोलोभसंरम्भः कृतमनोलोभसंरम्भः कारितमनोलोभसमारम्भः अनुमोदितमनोलोभसमारम्भः, कृतमनोलोभआरम्भः कारितमनोलोभआरम्भः अनुमोदितमनोलोभआरम्भः, एते नव भज्ञा लोभाज्जाताः । सततचैते पट्टविशद्ग्रेदा मनोयोगसंभवाः । कृतवचनमानसंरम्भः कारितवचनक्रोधसंरम्भः अनुमोदितवचनक्रोधसंरम्भः कृतवचनक्रोधसंरम्भः कृतवचनक्रोधसमारम्भः, कारितवचनक्रोधसमारम्भः अनुमोदितवचनक्रोधसमारम्भः, कृतवचनमानआरम्भः कारितवचनमानआरम्भः अनुमोदितवचनमानआरम्भः, एते नव भज्ञा क्रोधाज्जाताः । कृतवचनमानसंरम्भः कारितवचनमानसंरम्भः अनुमोदितवचनमानसंरम्भः कृतवचनमानसंरम्भः कारितवचनमानसंरम्भः कारितवचनमानसंरम्भः अनुमोदितवचनमानसंरम्भः, कृतवचनमानआरम्भः कारितवचनमानआरम्भः अनुमोदितवचनमानआरम्भः, एते नव भज्ञा मायासंभवाः । कृतवचनलोभसंरम्भः कारितवचनलोभसंरम्भः अनुमोदितवचनलोभसंरम्भः, कृतवचनलोभसमारम्भः कारितवचनलोभसमारम्भः अनुमोदितवचनलोभसमारम्भः, कृतवचनलोभआरम्भः एते नव भज्ञा लोभसंभवाः । एते पट्टविशद्ग्रेदा वचनयोगाज्जाताः । कृतकायक्रोधसंरम्भः कारितकायक्रोधसंरम्भः अनुमोदितवचनमायासंरम्भः, कृतकायक्रोधसमारम्भः कारितवचनमायाआरम्भः अनुमोदितवचनमायाआरम्भः एते नव भज्ञा मायासंभवाः । कृतकायक्रोधसंरम्भः कारितकायक्रोधसमारम्भः अनुमोदितकायक्रोधआरम्भः एवे नव भज्ञाः क्रोधाज्जाताः । कृतकायमानसंरम्भः कारितकायमानसंरम्भः अनुमोदितकायमानआरम्भः, कृतकायमानसंरम्भः कारितकायमानआरम्भः अनुमोदितकायमानसंरम्भः, कृतकायमानआरम्भः कारितकायमायासंरम्भः, कृतकायमायाआरम्भः कारितकायमायाआरम्भः एते नव भज्ञा मायासंभवाः । कृतकायलोभसंरम्भः कारितकायलोभसंरम्भः अनुमोदितकायलोभसंरम्भः, कृतकायलोभसमारम्भः कारितकायलोभसमारम्भः अनुमोदितकायलोभसमारम्भः, कृतकायलोभआरम्भः कारितकायलोभआरम्भः एते नव भज्ञा लोभाज्जाताः । एतेरष्टोत्तरसहित[शत] महिंसाव्रतमाल्यातमिति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ ब्रतशुद्धिमाह ।

२. मानकृतकायसंरम्भ ३. मायाकृतकायसंरम्भ ४. लोभकृतकायसंरम्भ ५. क्रोधकारितकायसंरम्भ ६. मानकारितकायसंरम्भ ७. मायाकारितकायसंरम्भ ८. लोभकारितकायसंरम्भ ९. क्रोधानुमतकायसंरम्भ १०. मानानुमतकायसंरम्भ ११. मायानुमतकायसंरम्भ १२. लोभानुमतकायसंरम्भ । इस प्रकार ये १२ भेद कायसंरम्भके हुए । इसी प्रकार १२-१२ भेद वचनसंरम्भ और मनःसंरम्भके भी होंगे । इस प्रकार से संरम्भके सब भेद छत्तीस ( ३६ ) हो जाते हैं । इसी प्रकार ३६ समारम्भके और ३६ ही आरम्भके भेद करनेपर सब भेद १०८ हो जाते हैं । यदि क्रोधादि कषायीमें अवन्तानुशन्धी व अप्रत्याख्यानावरणाद्विषय विशेष क्रोधादिकी विवक्षा हो तो वे सब भेद ४३२ ( १०८×४ ) हो जावेंगे ॥५॥

- 482 ) अतः प्रमादमुत्सूच्य भावशुद्धयाङ्गिसंततिष् ।  
यमप्रशमसिद्धयर्थे॑ बन्धुबुद्धया विलोकय ॥१०॥
- 483 ) यज्जन्तुवधसंजातकर्मपाकं॑ शरीरिभिः ।  
श्वभ्रादौ सहते दुःखें तद्वक्तुं केन पार्यते ॥११॥
- 484 ) हिंसैव नरकागारप्रतोली प्राणशुविग्रहा ।  
कुठारीवं द्विधा कर्तुं भेतुं शूलादिनिर्दया॑ ॥१२॥
- 485 ) क्षमादिपरमोदारैर्यमैर्यो वर्धितश्चरम् ।  
हन्यते स क्षणादेव हिंसया धर्मपादपः ॥१३॥

482 ) अतः प्रमाद—ऐ भव्य, अङ्गिसंतति जीवराँशं बन्धुबुद्धया भ्रातुबुद्धया विलोकय । कथा भावशुद्धया । कि कृत्वा । अतः कारणात् प्रमादमुत्सूच्य त्यक्त्वा । किमर्थम् । यमप्रशम-सिद्धयर्थे॑ ब्रतशान्तिसिद्धयर्थमिति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ हिंसाजन्यदुर्गतिदुःखमाह ।

483 ) यज्जन्तुवध—शरीरिभिः प्राणिभिः श्वभ्रादौ नरकागार यददुःखें सहते, तददुःखें वक्तुं केन पार्यते । न केनापि । कस्मात् । जन्तुवधसंजातकर्मपाकात्॑ जीवहिंसोत्प्रकर्मविपाकात् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ पुनरस्तदेवाह ।

484 ) हिंसैव—हिंसैव नरकागारप्रतोलीप्राणशुविग्रहा नरकवप्रप्रतोली प्रोच्चतरविग्रहा । पुनः कीदूषी । द्विधा कर्तुं कुठारीव । भेतुं शूलादिनिर्दयेति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ हिंसास्वरूपमाह ।

485 ) क्षमादि—यः धर्मपादपा यमैर्वतेश्चरू वर्धितः । कीदूषैर्यमैः । क्षमादिपरमोदारैः

इसलिए प्रमादको छोड़कर परिणामोंकी निर्मलतापूर्वक संयम और कषायोपशमको सिद्ध करनेके लिए समस्त प्राणियोंके समूहको बन्धुकी बुद्धिसे—मित्रभावसे—देखना चाहिए ॥१०॥

प्राणियोंके वधसे जो कर्मवन्ध होता है तथा उसका फल जो प्राणियोंके द्वारा नरकादिमें भोगा जाता है उसका वर्णन करनेके लिए कौन समर्थ है ? उसका वचनके द्वारा वर्णन करना अशक्य है ॥११॥

यह हिंसा नरकरूप घरके भीतर प्रविष्ट होनेके उन्नत शरीरवाला ( ऊँचा ) गोपुरद्वार है—जिस प्रकार किसी नगर या विशाल आसादमें प्रविष्ट होनेके लिए उसका प्रधान द्वार ही कारण होता है उसी प्रकार नरकोंके भीतर प्रवेश पानेका मुख्य कारण वह हिंसा ही है । उहाँ नरकोंमें प्राणीके शरीरको खण्ड-खण्ड करनेके लिए वह हिंसा कुठारी ( कुल्हाड़ी ) के समान तथा उसको छिन्न-मिन्न करनेके लिए वह अतिशय कठोर शूलीके समान है ॥१२॥

जो धर्मरूप चृक्ष शमा-मार्दवादिरूप अतिशय भवान् संयमोंके द्वारा चिरकालसे

१. M अन्तःप्रमाद । २. M प्रवामशुद्धयर्थे॑ । ३. M पाकः, All others except P M F पाकात् ॥

४. M कुठारी च । ५. M N T शूलशुनिर्दया, V शूलविनिर्दया, B J शूलादिनिर्दया, C X R शूलोऽतिनिर्दया ।

४८६ ) तपोयमसमाधीनां दानाद्ययनकर्मणाम् ।

तनोत्यविरतं पीडां हृदि हिंसा क्षणं<sup>३</sup> स्थिता ॥१४

४८७ ) अहो व्यसनविध्वस्तैलोकः पाखण्डभिर्वलात् ।

नीयते नरकं धोरं हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥१५

४८८ ) रौखादिषु धोरेषु विशन्ति पिशिताशनाः ।

तेष्वेव हि कदर्थ्यन्ते जन्तुषात्कृतोद्यमाः ॥१६

क्षान्त्यादिप्रकृष्टोत्तमैः । स धर्मपादपः हिंसा प्राणिवधेन क्षणादेव हन्यते । इति सूत्रार्थः ॥१३॥  
अथ हिंसाया ध्यानासक्तानां दुःखदायित्वमाह ।

४८६ ) तपोयम—हिंसा प्राणिवधो विविरतं निरन्तरं पीडां तनोति विस्तारयति । कीदृशी हिंसा । पुरुषाणां हृदि क्षणं स्थिता । पुनः केषाम् तपोयमसमाधीनां \*ध्यानाद्ययनकर्मणां ध्यान-पाठकर्मणाम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पाखण्डनां हिंसोपदेशकत्वमाह ।

४८७ ) अहो व्यसन—अहो इत्याशच्चर्ये । पाखण्डभिलोकः वलात् धोरं रीढं नरकं नीयते । कीदृशौः । व्यसनविध्वस्तैः सप्तव्यसनपीडितैः । पुनः \*हिंसाशास्त्रोपदेशकैरिति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ नरकदुःखमाह ।

४८८ ) रौखादिषु—ते पिशिताशनाः मांसभोगिनः रौखादिषु नरकेषु धोरेषु विशन्ति प्रविशन्ति । हि यस्मात् कारणात् । जन्तुषात्कृतोद्यमाः जीवमारणकृतोद्यमाः । तेष्वेव रौखादिषु कदर्थ्यन्ते पीडयन्ते । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ पुनस्तत्त्वरूपमाह ।

बढ़ाया गया था उसे हिंसा क्षणभरमें ही नष्ट कर देती है ॥१३॥

हिंसा क्षणभर भी हृदयमें स्थित होकर तप, संयम, समाधि, दान और स्वाध्याय आदि क्रियाओंको पीड़ा पहुँचाती है । अभिप्राय यह है कि यदि क्षणभरके लिए भी प्राणिवात्का विचार किया जाता है तो उससे तप-संयमादि सब ही नष्ट हो जाते हैं ॥१४॥

खेद है कि व्यसनोंसे आहत होकर हिंसक शास्त्रोंका उपदेश करनेवाले—हिंसाविधायक शास्त्रोंकी रचना व उनका वैसा ध्यानद्यान करनेवाले—वूर्त्ति भनुष्य प्राणियोंको जयरन् भयानक नरकमें ले जाते हैं । अभिप्राय यह कि जो दूसरोंसे हिंसाके उपदेशको सुनकर उसमें अनुरक्त होते हैं वे नियमसे नरकमें जाते हैं ॥१५॥

जो प्राणी मांसका भक्षण करते हैं तथा अन्य प्राणियोंके घातमें प्रयत्नशील रहते हैं वे भयानक रौख (सातवीं पृथिवीमें स्थित एक नारक बिल) आदि नरकोंमें प्रविष्ट होकर वहीं-पर पीड़ाका अनुभव करते हैं ॥१६॥

१. All others except P L F V ध्यानाद्ययन । २. All others except P M N Γ B ध्यानस्थिता । ३. M N विश्वस्तैः । ४. M N \*पिण्डभिः क्षणात् । ५. All others except P हिंसाशास्त्रो ।

४८९ ) शान्त्यर्थं देवपूजार्थं यज्ञार्थमयवा नृभिः ।

कृतः प्राणभूतां धातः पातयत्यविलम्बितम् ॥१७

४९० ) हिसैव दुर्गतेष्टार्थं हिसैव दुरितार्णवः ।

हिसैव नरकं धोरं हिसैव गहनं तमः ॥१८

४९१ ) निःस्पृहत्वं महत्वं च नैराश्यं दुष्करं तपः ।

दानमाहारदानाद्यत्वम् ॥१९

४९२ ) कुलक्रमागता हिसा कुलनाशाय कीर्तिता ।

कृता च विघ्नशान्त्यर्थं विघ्नीषायैव जायते ॥२०

४८९ ) शान्त्यर्थं—नृभिर्मनुष्यैः प्राणभूतां धातो वधः कृतः । शान्त्यर्थं शान्तिनिभितम् । पूजार्थं दुष्टदेवपूजनार्थम् अथवा यज्ञार्थम् अजामेष्ठादिकरणार्थम् । एतेषां निमित्तं कृतः प्राणिवधः अविलम्बितं विलम्बराहितं पातयति नरकादौ । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ पुनः हिसास्वरूपमाह ।

४९० ) हिसैव—हिसैव प्राणिवध एव दुर्गतेष्टरकगत्यादेष्टरिम् । एवकारो ज्वधारणार्थः । हिसैव दुरितार्णवः । हिसा एव जीववध एव दुरितानां पापानाम् अर्णवः समुद्रः । हिसैव नरकं धोरम् । हिसैव जीवमारणमेव गहनं गुप्तिं तमो उच्चकार इति सूत्रार्थः ॥१८॥ हिसकालां सर्वं मनुष्यानं निरथंकमित्याह ।

४९१ ) निःस्पृहत्वं—हिसकालां वधकत्तृणां एतत्सर्वमनुष्यानमपार्थकम् । निःस्पृहत्वं विलोभत्वम् । च पुनः । महत्वं नैराश्यम् अशारद्यत्वम् । दुष्करं तपः । च पुनः । कायवलेशपञ्चाग्निसेवनादि । च पुनः । दानमाहारदानादि सर्वमपार्थकमिति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ हिसाविशेषमाह ।

४९२ ) कुलक्रमागता—कुलक्रमागता हिसा कुलनाशाय कीर्तिता कथिता । च पुनः । विघ्न-

मनुष्य देवादिकी शान्तिके लिए, देवपूजाके लिए अथवा विशेष यज्ञ आदिको सिद्ध करनेके लिए जो प्राणियोंका धात लिया करते हैं वे उसके कारण शीघ्र ही नरकमें जा पड़ते हैं ॥१७॥

हिसा ही नरकादिरूप दुर्गतिका द्वार है, वही पापका समुद्र है, वही भयानक नरक है, और वही गाढ़ अन्धकार है ॥१८॥

निर्ममता, महानता, सुधारका परित्याग, दुर्दूर तप, कायवलेश और दान ये सब हिसक जीवोंके द्वयर्थ होते हैं—हिसामें निरत होनेसे उन्हें इनका कुछ भी फल नहीं प्राप्त होता ॥१९॥

कुलपरम्परासे चली आयी हिसा उस कुलके नाशका कारण कही गई है, तथा विघ्न शान्तिके लिए जो हिसा की जाती है वह विघ्नसमूहका कारण होती है ॥ विशेषार्थ—बहुतोंके यहाँ कुलदेवता आदिके नामपर परम्परासे वकरों आदिकी वलिका कार्य चला आता है और इसी मोहसे वे उसे आगेके लिए भी नहीं छोड़ना चाहते हैं । परन्तु वास्तवमें कोई भी देवी-देवता इस प्रकारकी जीवहिसासे सन्तुष्ट नहीं होते और न देवोंका वैसा स्वभाव भी है । यह निकृष्ट कार्य तो उन धूर्त लोगोंके द्वारा कराया जाता है जो मांस भक्षणके अनुरागी और

४९३) सौख्यार्थे दुःखसंतानं मङ्गलार्थे उपमङ्गलम् ।

जीवितार्थे ध्रुवं मृत्युं कृता हिंसा प्रयच्छति ॥२१॥

४९४) तितीर्षिति ध्रुवं मूढः स शिलाभिनन्दीपतिम् ।

धर्मवुद्धयाधमो यस्तु धातयत्यज्जिसंचयम् ॥२२॥

४९५) प्रमाणीकृत्य शास्त्राणि यैर्वधः क्रियते उधमैः ।

सह्यते तैः परे लोके शश्रूलाधिरोहणम् ॥२३॥

शान्त्यर्थं कृता विष्णोवाद विष्णवमूहाय आयत एव । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ हिंसावैचित्रे फलवैचित्रमाह ।

४९३) सौख्यार्थे—सौख्यार्थे कृता हिंसा दुःखसंतानं ददाति । कृतेति शब्दः प्रस्त्रेकार्थे योज्यः । मङ्गलार्थे कृतापि हिंसा अमङ्गलं दत्ते इति क्रिया सर्वत्र प्रयोज्या । जीवितार्थे कृता हिंसा ध्रुवं मृत्युं मरणं प्रयच्छति । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ हिंसकानां मूर्खत्वमाह ।

४९४) तितीर्षिति—स मूढः मूर्खः शिलाभिः प्रस्तरमयीभिः नदीपतिं समुद्रं तितीर्षिति तरीतुभिच्छति । ध्रुवं निश्चयम् । तु पुनः । यो उधमः धर्मवुद्धयाज्जिसंचयं धातयति । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ यैः शास्त्रप्रमाणेन हिंसा क्रियते तेषां दुर्गतिफलमाह ।

४९५) प्रमाणीकृत्य—यैर्वधमैः पापेवधः क्रियते । कि कृत्वा । शास्त्राणि हिंसाप्रसिद्धकानि प्रमाणीकृत्य । तैः \*परलोके इवत्रे नरके \*शूलादिरोहणं सह्यते । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ निदंयत्वेनानुष्ठानं दुर्गतिहेतुमाह ।

स्वार्थी होते हैं । इस प्रकार से कुछ परम्पराके नामपर की जानेवाली प्राणिहिंसा अन्तमें उस कुलके नाशका ही कारण बन जाती है । इसी प्रकार कितने ही अधिवेकी मनुष्य विष्णवाधार्योंको शान्त करनेके विचारसे हिंसाप्रथाम यज्ञादिको करते-करते हैं । परन्तु इससे प्रकृत विष्णोंकी शान्ति तो नहीं होती, बल्कि पापकार्य होनेसे अन्य नवीन आधार्य ( दुखके कारण ) और भी आकर उपस्थित होती हैं ॥२०॥

सुखके विचारसे की गयी हिंसा दुखपरम्पराको, मंगलके निमित्त की गयी हिंसा अग्नगाल ( अकल्याण ) को तथा जीवित रहनेकी इच्छासे की गई हिंसा निश्चयसे मरणको ही देती है ॥२१॥

जो निकृष्ट मनुष्य धर्म समझकर प्राणिसमूहका धात करता है वह मूर्ख निश्चयसे शिलाभ्योंके आशयसे समुद्रको पार करनेकी इच्छा करता है । अभिप्राय यह कि जिस प्रकार पत्थरके साहारेसे समुद्रको तैरना असम्भव है उसी प्रकार हिंसासे धर्मका होना भी असम्भव है ॥२२॥

जो निकृष्ट जन हिंसापोषक शास्त्रोंको प्रसाण मानकर प्राणियोंका वध करते हैं वे परभवमें नरकको प्राप्त होकर अहौं शूलीपर चढ़ने आदिके दुखको सहते हैं ॥२३॥

१. All others except P सह्यते परलोके तैः ।

496 ) निर्देयेन हि किं तेन श्रुतेनाचरणेन चै ।

यस्य स्वीकारमात्रेण जन्तवो यान्ति दुर्गतिम् ॥२४

497 ) वरमेकाक्षरं ग्राह्यं सर्वसत्त्वानुकम्पनम् ।

म त्वक्षपोषकं पापं कुशास्त्रं धूर्तचर्चितम् ॥२५

498 ) 'चरुमन्त्रौषधानां' वा हेतोरन्यस्य वा व्यचित् ।

कृता सती नरैहिसा पातयत्यविलम्बितम् ॥२६

499 ) विहाय धर्मं शमशीललाञ्छितं दयावर्ह भूतहितं गुणाकरम् ।

मदोदृता अक्षकथायदञ्चिता दिशन्ति हिसामपि दुखशान्तये ॥२७

496 ) निर्देयेन—हि निश्चितम् । तेन श्रुतेन । व पुनः तेनाचरणेन चारित्रेण निर्देयेन दयारहितेन किम् । यस्य निर्देयश्रुतचारित्रस्य स्वीकारमात्रेणाङ्गीकारमात्रेण जन्तवो जीवाः दुर्मतिनरकादिगति यान्ति गच्छन्तीत्यर्थः ॥२४॥ सदयस्यैकाक्षरस्यापि प्रमाणस्वमाह ।

497 ) वरमेकाक्षरं—सर्वसत्त्वानुकम्पनं सर्वजीवहितकारि एकाक्षरं श्रुतं ग्राह्यं वरम् । अक्षपोषकमिन्द्रियपोषकं कुशास्त्रं पापं पापहेतुत्वात् । पुनः कोदृशम् । \*धूतं व्यचितं कितववद्धक्षितम् दृश्यर्थः ॥२५॥ अथ प्रकारेण कृता दुखशायनीत्याह ।

498 ) चरुमन्त्रौषधानां—नरैः चरुमन्त्रौषधानां वा हेतोरन्यस्य वा व्यचित् हिसा कृता सती अविलम्बितं विलम्बरहितं पातयति दुर्गतिभिति गम्यम् । चरुदेवाये नैवेद्यदानार्थं हिसा कृता । मन्त्रसाधनाय मुष्टिवाताय दुष्टदेवसाधनार्थं बलिप्रदानं जीवस्य क्रियते । औषधार्थं कृता । वा अथवा । व्यचित् । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ धर्मं विहाय हिसा दुखाय क्रियत इत्याह । वंशस्थछन्दः ।

499 ) विहाय धर्मं—मिथ्यात्विनः हिसामपि दुखशान्तये दिशन्ति कथयन्ति । किं कृत्वा ।

जिस शास्त्रमें हिसाका पोषण है उस शास्त्रसे, तथा जिस आचरणमें हिसाका संसर्ग है उस आचरणसे भी क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं । कारण यह कि उसके स्वीकार करने मात्रसे ही प्राणी दुर्गतिको प्राप्त होते हैं ॥२४॥

सब प्राणियोंके ऊर दयाभावको प्रगट करनेवाले एक आक्षरका प्रहण करना योग्य है, परन्तु धूर्तजनोंके द्वारा विरचित होकर इन्द्रियविषयोंको पुष्ट करनेवाले पापोत्पादक कुशास्त्रं को प्रहण करना योग्य नहीं है ॥२४॥

नैवेद्य, मन्त्र, औषध तथा अन्य भी किसी निभित्तसे भनुष्योंके द्वारा की गई हिसा शीघ्र ही अधिष्ठात कराती है—दुर्गतिको ले जाती है ॥२६॥

जो जन मदोन्मत्त होकर इन्द्रियविषयों व कषायोंसे ठगे गये हैं वे ही शम (राग-द्वेष-

१. P Folio No. 45 is missing; therefore verses 24 to 32 are not found in it.

२. B श्वभ्रेणाचरणेन, J द्वयभ्रेण चरणेन । ३. Y योनि किंग् । ४. M N T नुकम्पकम् । ५. J धूर्तचर्चितम् । ६. Y सा सु for चरु । ७. M N च for वा, L मन्त्रौषधानीना ।

- ५०० ) धर्मबुद्धयाधर्मैः पापं जन्तुधातादिलक्षणम् ।  
क्रियते जीवितस्यार्थे चेष्टते विषयं शिष्यम् ॥२८
- ५०१ ) एतत्समयसर्वस्वभेतत्सिद्धान्तजीवितम् ।  
यज्ञन्तुजातरकार्यं भावशुद्धया दृढं ब्रतम् ॥२९
- ५०२ ) श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च ।  
अहिंसालक्षणो धर्मस्तद्विषयश्च पातकम् ॥३०

धर्मं कान्त्यादिवर्मै विहाय । कीदृशस् । शमशीललाभिष्ठतम् । सुगमम् । पुनः कीदृशं धर्मम् । दयावहम् । पुनः कीदृशं धर्मम् । भूतहितं प्राणिहितकारिणम् । पुनः कीदृशम् । गुणाकरं जातादिगुणसमूहमित्यर्थः । कीदृशा मित्यात्मिनः । मदोद्धताः मदोत्कटाः । पुनः कीदृशाः । अक्षकषायविजिताः अक्षाणि इन्द्रियाणि, कषायाः क्रोधादयः तैर्विजिताः । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ धर्मबुद्ध्या जन्तुधातफलमाह ।

५०० ) धर्मबुद्ध्या—अधर्मेऽन्तुधातादिलक्षणं पापं धर्मबुद्ध्या क्रियते । कस्मिन्नर्थे । जीवितव्यस्यार्थे । तैर्विषयं सहस्रधाति विषयं हालाहलादि पोथते ॥२८॥ अथ ब्रतस्वरूपमाह ।

५०१ ) एतत्समय—यद् दृढव्रतं जन्तुजातरकार्यै क्रियते । कथा भावशुद्धया । एतद् दृढव्रतं समयसर्वस्वं सिद्धान्तपरमार्थम् एतत्सिद्धान्तजीवितम् । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अत्र ब्रतसाक्षकत्वमाह ।

५०२ ) श्रूयते—सर्वशास्त्रेषु श्रूयते । च पुनः । सर्वेषु समयेषु सिद्धान्तेषु श्रूयते । अहिंसालक्षणो जीवदयाहूपो धर्मः । च पक्षान्तरे । तद्विषयः हिंसालक्षणः पातकं भवति । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अहिंसावर्णनमाह ।

का उपशम) व शीलसे चिह्नित, दयाको धारण करनेवाले, प्राणियोंको हितकर एवं गुणोंकी खानिस्वरूप धर्मको छोड़कर दुःखकी शान्तिके लिए हिंसाका भी उपदेश करते हैं ॥२७॥

जो नीच मनुष्य धर्मबुद्धिसे प्राणिधातादिरूप पापको करते हैं वे जीवित रहनेकी इच्छासे भयानक विषको पीते हैं—जिस प्रकार विषको पीकर मनुष्यका जीवित रहना असम्भव है उसी प्रकार प्राणिधातसे धर्मका होना भी असम्भव है ॥२८॥

जो जीवोंकी रक्षाके लिए परिणामोंकी निर्मलतापूर्वक दृढतासे ब्रत किया जाता है—प्राणिहिंसादिका परित्याग किया जाता है—यह सब मतोंका सार है और यही आगमका ग्राण है ॥२९॥

यह सब ही शास्त्रोंमें और सब ही मतोंमें सुना जाता है कि धर्मका लक्षण अहिंसा है और इसके विपरीत जो प्राणियोंका धात किया जाता है वह पाप है ॥३०॥

503 ) अहिसैव जगन्माता हिसैवानन्दपद्धतिः ।

अहिसैव गतिः साध्वी श्रीरहिसैव शाश्वती ॥३१

504 ) अहिसैव शिवं सूते दत्ते च श्रिदिवश्रियम् ।

अहिसैव हितं कुर्याद् व्यसनानि निरस्यति ॥३२

505 ) सप्तद्वीपवती धात्री कुलाचलसमन्विता ।

नैकप्राणिवधोत्पन्नं दत्तां दोषं व्यपोहति ॥३३

506 ) सकलजलधिवेलावारिसीमां धरित्रीं

नगरनगसमग्रां स्वर्णस्त्वादिपूर्णीम् ।

यदि मरणनिमित्ते<sup>४</sup> को इपि दद्यात् कथंचित्

तदपि न मनुजानां जीवितेत्यागबुद्धिः ॥३४

503 ) अहिसैव—अहिसा जीवदया । एव निर्वाणार्थः । जगन्माता हितकर्त्री । अहिसैव आनन्दपद्धतिरानन्दश्रेणी । अहिसैव साध्वी प्रथाना गतिः । मोक्षादिकारणत्वात् । अहिसैव शाश्वती श्रीः । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ पुनस्तत्स्तरूपमाह ।

504 ) अहिसैव—अहिसैव जीवदया एव शिवं कल्याणं सूते जनयति । च पुनः । श्रिदिव-श्रियं स्वर्णश्रियं दत्ते । अहिसैव हितं कुर्यात् । व्यसनानि निरस्यति दूरीकरोतीत्यर्थः ॥३२॥ अथैकस्यापि प्राणिनो वधस्यासाम्यत्वमाह ।

505 ) सप्तद्वीप—सप्तद्वीपवती सप्तद्वीपयुक्ता धात्री चेद्वता सती एकप्राणिवधोत्पन्नं दोषं न व्यपोहति दूरीकरोति । कीदृशी धात्री । कुलाचलसमहापर्वतसंयुक्ता । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ जीवस्य बुस्त्यजत्त्वमाह । मालिनीछन्दः ।

506 ) सकलजलधि—यदि को इपि समर्थः मरणनिमित्ते मरणरक्षार्थं कथंचिद् धरित्रीं पृथ्वीं दद्यात् । कीदृशो धरित्रीम् । सकलजलधिवेलावारिसीमां सप्तसमुद्रकल्लोलजलसर्यादाम् । पुनः

अहिंसा ही विश्वकी माता है, अहिंसा ही आनन्द ( सुख ) का मार्ग है, अहिंसा ही उत्तम गति है, और अहिंसा ही अविनश्वर लक्ष्मी है ॥३५॥

अहिंसा ही स्वर्गकी लक्ष्मीको देती है और मोक्षको उत्पन्न करती है तथा वही अहिंसा व्यसनोंको—सब प्रकारकी आपत्तियोंको—नष्ट करके प्राणीका हित करती है ॥३६॥

दानमें दी गयी कुलाचलोंसे मंथुक्त सात द्वीपवाली पृथिवी एक प्राणीके घातसे उत्पन्न हुए दोषको नहीं नष्ट करती है । अभिप्राय यह है कि एक ही प्राणीके घातसे इतना भारी पाप होता है कि जो सात द्वीपोंवाली समस्त पृथिवीके दान देनेसे भी नष्ट नहीं होता है ॥३७॥

जिसकी सीमा समस्त समुद्रका किनारा है, जो बहुतसे लगारों एवं पर्वतोंसे सहित है, तथा जो सुवर्ण व रत्नों आदिसे परिपूर्ण है, ऐसी विशाल पृथिवीको भी यदि कोई मरनेके

१. M श्रिदिव शिवम् । २. शुभं for हितं । ३. J R °वतीं धात्रीं...न्विता । ४. S T J R दत्ता दोष ।

५. M N मरणनिमित्तं । ६. All others except P M N जीविते त्याग ।

- 507 ) आत्मैवोत्क्षय्य तेनाशु प्रक्षिप्तः श्वभ्रसागरे ।  
स्नेहभ्रमभयेनापि येन हिंसा समर्थिता ॥३५
- 508 ) शूलचक्रासिकोदण्डैरुद्युक्ताः सखखण्डने ।  
ये उथसात्ये इपि निर्भिर्दैरेवत्येन प्रकल्पिताः ॥३६
- 509 ) बलिभिर्दुर्बलस्यात्र क्रियते यः पराभवः ।  
परलोके स तैस्तस्मादनन्तः प्रविष्ट्याते ॥३७
- 510 ) भयवेषितसर्वाङ्गाननाथान् जीवितप्रियान् ।  
निघनद्विः प्राणिनः किं तैः स्वं ज्ञातमजरामरम् ॥३८

कीदृशीभूमि । नयरनगसमग्राम । पुनः कीदृशीभूमि । स्वर्णरत्नादिषुण्यमि । तदपि मनुजानां जीविते ल्यागमुद्धिः न जायते । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ हिंसाद्यां दुष्टत्वमाह ।

507 ) आत्मैवोत्क्षय्य—तेन पुण्येणाशु शीघ्रे श्वभ्रसागरे नरकसमुद्रे आत्मैव प्रक्षिप्तः । किं कृत्वा । उत्क्षय्य । येन पुंसा स्नेहभ्रमभयेन हिंसा समर्थिता ॥३५॥ अथ शस्त्रभूतामधमत्वं दर्शयन्नाह ।

508 ) शूलचक्रासि—ते इपि देवा निर्स्वशर्णिर्दैरेवत्येन प्रकल्पिताः । ते के । ये उथमाः पाणाः सखखण्डने शूलचक्रासिकोदण्डैः शस्त्रेन्दुरुद्युक्ता उद्यता भवन्ति । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ बलवत्ता हीनानां दुःखदापित्वमाह ।

509 ) बलिभिः—अत्र जगति बलिभिर्बलवत्तरेदुर्बलस्य यः पराभवः क्रियते स पराभवः परलोके तस्मादनन्तः पराभवः प्रविष्ट्याते प्रकर्षेण सह्यते । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ प्राणिधातिनां निर्दयत्वमाह ।

510 ) भयवेषित—तैरवमेः प्राणिनो जीवान् निघनद्विः स्वं अजरामरं ज्ञातं किम् । कर्थभूतान् प्राणिनः । भयवेषितसर्वाङ्गान् भयकम्पितशरीराङ्गान् । पुनः कीदृशान् प्राणिनः ।

निमित्त देता है तो भी मनुष्योंके जीवित देनेकी बुद्धि—मरनेकी इच्छा—किसी प्रकारसे भी नहीं होती है । अभिप्राय यह है कि मनुष्योंको विशाल साम्राज्य आदिकी अपेक्षा अपना जीवन ही अधिक प्रिय होता है ॥३४॥

जिस मनुष्यने स्नेह भ्रान्ति अथवा भयके कारण भी हिंसाका समर्थन किया है उसने अपनेआपको उठाकर शीघ्रतासे नरकरूप समुद्रमें फेंक दिया है ॥३५॥

जो अधम चिंशूल (महादेव), चक (विष्णु), ललचार (काली आदि) और धनुष (राम) के द्वारा प्राणियोंके घातमें उद्यत हैं उन्हें भी निर्दय मनुष्य देवस्वख्यपसे मानते हैं ॥३६॥

बलवान् प्राणियोंके द्वारा जो यहाँ दुर्बल प्राणीका पराभव किया जाता है—उसे जितना कष्ट पहुँचाया जाता है—उसकी अपेक्षा वे परलोकमें अनन्तगुणे कष्टको सहने हैं ॥३७॥

जिस बेचारे प्राणियोंका सब शरीर भयसे काँप रहा है, जिनकी रक्षा करनेवाला कोई नहीं है, तथा जिनको अपना जीवन प्यारा है—जो मरना नहीं चाहते हैं; उन दीन हीन

- ५११ ) स्वपुत्रपौत्रसंतानं वर्धयन्त्यादर्जनाः ।  
व्यापादयन्ति चान्येषाभ्यु हेतुर्बुध्यते ॥३९॥
- ५१२ ) परमाणोः परं नाल्पं न महद् गगनात्परम् ।  
यथा किञ्चित्तथा धर्मो नाहिसालक्षणात्परः ॥४०॥
- ५१३ ) तपःश्रुत्यमज्ञानध्यानदानादिकर्मणाम् ।  
सत्यशीलवतादीनामहिंसा जननी मता ॥४१॥

अनाथात् । पुनः कीदृशात् । जीवितप्रियात् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ स्वजनात् पालयन्ति । अन्यात् मारणे विशेषमाह ।

५११ ) स्वपुत्रपौत्र—जनाः स्वपुत्रपौत्रसंतानम् आहरेवंवर्धयन्ति च । अन्येषां जीवानां व्यापादयन्ति । अत्र विषये हेतुर्बुध्यते जायते । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ हिंसाधिक्यमाह ।

५१२ ) परमाणोः परं—परमाणोः सकाशात् अल्पं स्तोर्क नास्ति । गगनात्परं महस्तास्ति । यथेति दृष्टान्तोपन्यासार्थः । तथा अहिंसालक्षणात् धर्मात् परधर्मो न वर्तते, इति सूत्रार्थः ॥४०॥ सर्वधर्मे जीवदयाधिक्यमाह ।

५१३ ) तपःश्रुत—[ तपः श्रुतादिकर्मणां तथा सत्यादिवतानां अहिंसेव परा जननी श्रेष्ठा माता इत्यर्थः । ] ॥४१॥ अथ यादृशस्य ध्यानं सिद्धं तादृशमाह ।

प्राणियोंका जो घात करते हैं उन्होंने क्या अपनेको अजर-अभर समझ लिया है? अभिप्राय यह है कि जैसे वातक प्राणियोंको अपना जीवन प्रिय है वैसे ही अन्य प्राणियोंको—पशु-पक्षियों आदिको—भी अपना जीवन प्रिय है। अतएव अन्य प्राणियोंका घात करना उचित नहीं है ॥३८॥

जो मनुष्य अपने पुत्र और पौत्र आदिरूप सन्ततिका आदरके साथ प्रेमपूर्वक—परिवर्धन करते हैं वे ही अन्य (मृगादि) प्राणियोंकी सन्ततिका जो घात करते हैं, इसका कारण ज्ञात नहीं होता। तात्पर्य यह कि मनुष्य जैसे अपनी सन्तानका संरक्षण करते हैं वैसे ही उन्हें कठेल्य समझकर अन्य प्राणियोंकी सन्तानका भी संरक्षण करना चाहिए ॥३९॥

जिस प्रकार परमाणुसे दूसरा कोई छोटा नहीं है, तथा आकाशसे दूसरा कोई बड़ा नहीं है उसी प्रकार हिंसासे निकुष्ट दूसरा कोई पाप नहीं है तथा अहिंसासे उक्षुष्ट कोई धर्म नहीं है—सब धर्मोंमें अहिंसा धर्म ही उक्षुष्ट है ॥४०॥

यह अहिंसा तप, श्रुत, संयम, ज्ञान, ध्यान और दान आदि कियाओंकी तथा सत्य, शील और व्रत आदिकी जननी मानी गयी है। अभिप्राय यह है कि—जिस प्रकार माता सन्तानको पुष्ट करती है उसी प्रकार अहिंसा उपर्युक्त तप च श्रुत आदिको पुष्ट करती है। उस अहिंसाके विना वे सब व्यर्थ रहते हैं ॥४१॥

- ५१४) करुणाद्र्दि॑ च विज्ञानवासितं यस्य मानसम् ।  
इन्द्रियार्थेषु निःसङ्गं तस्य सिद्धं समीहितम् ॥४२  
५१५) निस्त्रिश इवे निस्त्रिशं यस्य चेतो ऽस्ति जन्तुषु ।  
तपःश्रुताद्यनुष्ठानं तस्य क्लेशाय केवलम् ॥४३  
५१६) द्वयोरपि समं पापं निर्णीतं परमागमे ।  
वधानुमोदत्योः कत्रौरसत्संकल्पसंथयात् ॥४४  
५१७) संकल्पाच्छालिमत्स्यो ऽपि स्वयंभूरमणार्णवे ।  
महामत्स्याद्युमेन स्वं नियोज्य नरकं गतः ॥४५

५१४) करुणाद्र्दि॑ च—यस्य मानसं चित्त करुणाद्र्दि॑ भवति । च पुनः विज्ञानवासितं भवति । पुनः मानसं इन्द्रियार्थेषु निःसंगं संगरहितं, तस्य प्राणिषु त्रिवित्तं सिद्धमिति दृढ़त्वाद्यः ॥४२॥ अथ चित्ताद्युद्धी सर्वमनुष्ठानमशुद्धं तदाह ।

५१५) निस्त्रिश इव—यस्य चेतः जन्तुषु प्राणिषु निस्त्रिश इव निर्दयमस्ति तस्य तपःश्रुताद्यनुष्ठानक्रिया केवलं क्लेशाय जायते इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ पापकर्तृत्वानुमोदत्योः साम्यमाह ।

५१६) द्वयोरपि समं—द्वयोरपि वधानुमोदनयोर्धतिनुमत्योरपि निश्चयेन समं पापं परमागमे सिद्धात्ते निर्णीतं निर्णयोङ्कल्पम् । वधानुमोदकर्त्रोः असत्संकल्पसंथयात् दुष्टमनोदिकल्पसंथयात्, इति सूत्रार्थः ॥४४॥ दुष्टसंकल्पे दृष्टान्तमाह ।

५१७) संकल्पाच्छालि—[ स्वयंभूरमणार्णवे स्वयंभूरमणसमुद्रे महामत्स्यस्य कर्णं स्थितः शालिमत्स्यः । संकल्पात् केवलमिष्ठया । स्वयं—यदा निद्रितमहामत्स्यमुखे नैके जलचरा आगमनं

जिसका भन दयासे भीगा हुआ, विज्ञान ( विवेक ) से, संस्कृत और इन्द्रियविषयोंमें सूक्ष्मीसे रहित (निर्ममत्व) हो चुका है उसका अभीष्ट सिद्ध हुआ ही समझना चाहिए ॥४२॥

जिसका अन्तःकरण प्राणियोंके विषयमें तलचारके समान कठोर है—दयासे रहित है—उसके द्वारा किया जानेवाला तपश्चरण और आगमाभ्यास केवल क्लेशका ही कारण होता है—प्राणिदयाके खिलावे दोनों निरर्थक हैं ॥४३॥

जो प्राणिवधको स्वयं करता है और जो उसकी अनुमोदना करता है—उसे भला समझता है—उन दोनोंकी ही पापको परमागममें समान निश्चित किया गया है । कारण इसका यह है कि—जैसा निकृष्ट विचार वध करनेवालेका होता है वैसा ही निकृष्ट विचार उसकी अनुमोदना करनेवालेका भी होता है ॥४४॥

स्वयम्भूरमण समुद्रमें स्थित शालिमत्स्य भी अपनेको महामत्स्यके समान पापसे संयुक्त करके भरकको ग्रास हुआ है ॥ विशेषार्थ—जितना पाप हिंसा करनेवाले प्राणीके होता है उतना

५१८ ) अहिंसैकापि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम् ।

दत्ते तदेहिनां नायं तपःश्रुतयमोत्करः ॥४६॥

५१९ ) दूयते यस्तुणेनापि स्वशरीरे कदर्थिते ।

स निर्दयः परस्याङ्गे कथं शस्त्रं निषातयेत् ॥४७॥

५२० ) जन्मोग्रभ्रमेभीतानामहिंसैवीषधी परा ।

तथामरपुरीं गन्तुं पाथेयं पथि पुष्कलम् ॥४८॥

गमनं च कुर्वन्ति हम् ए अहामत्स्यः च दात्र तिगित्वा इति तद् दुहका शालिमत्स्यः एवम् अचिन्तयत्-यदि मम मुखं एसे प्राणिनः प्रविशन्ति तहिं अहं एताम् द्वयं भक्षयामि । एतादृश-संकल्पात् सः सप्तमं लक्षणं गतः । इति सूत्रार्थः ] ॥४५॥ अथ तपःप्रमुखानुष्ठाने अहिंसाधिक्यमाह ।

५१८ ) अहिंसैकापि—एकार्थर्हिंसा यत्सौख्यं दत्ते । कल्याणमथवा शिवं मीर्जं देहिनां दत्ते, तत् अर्यं तपःश्रुतयमोत्करः न कल्याणं शिवं देहिनां दत्ते इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ स्वपरबोद्धुःखसाम्यमाह ।

५१९ ) दूयते यः—यः स्वशरीरे तृणेनापि कदर्थिते दूयते तप्यते, स निर्दयः पापः परस्याङ्गे परशशरीरे शस्त्रं क्षुरिकादिकं निषातयेत्, तन्मारणोद्यतः कथं स्वादित्यर्थः ॥४७॥ अथाहिंसास्वरूपमाह ।

५२० ) जन्मोग्रभ्रम—जन्मोग्रभ्रमेभीतानां पुष्कलाणां अहिंसैव परा उत्तमा बीषधी । तथा पक्षान्तरे । अमरपुरीं गन्तुं पथि मार्गं पुष्कलं बहुतरं पाथेयं शम्बलं भवति ॥४८॥ अथ अहिंसा-स्वरूपमाह ।

ही पाप उसकी अनुमोदना करनेवाले प्राणीके भी होता है, इसके लिए यहाँ शालिमत्स्यका उदाहरण दिया गया है । उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—स्वयम्भूरमण समुद्रके भीतर जो महामत्स्य था उसके कानमें यह शालिमत्स्य स्थित था । महामत्स्य जब गहरी नीदमें रहता उम्ब उसके मुखमें आते-जाते देखकर वह शालिमत्स्य व्याकुल होकर बिचार करता कि यह कैसा मुख्य है जो मुखके भीतर प्रविष्ट होनेपर भी वह उम्बें नहीं निगलता है, यदि मैं उस अवस्थामें होता तो उम्बेंसे किसीको भी नहीं छोड़ता—सभीको खा जाता । इस प्रकारके रौद्र ध्यानसे वह मरकर सातवें नरकमें गया है । इससे अनुमोदनाजनित पापकी कल्पना की जा सकती है ॥४५॥

एक ही अहिंसा प्राणियोंके लिए जिस सुखको, कल्याणको अथवा मोक्षसुखको देती है उसे यह तप, श्रुत और संयमका समुदाय भी नहीं दे सकता है ॥४६॥

जो मनुष्य अपने शरीरके तिनकेके द्वारा भी पीड़ित किये जानेपर, व्याकुल होता है वह निर्दय होकर दूसरे प्राणीके शरीरपर शस्त्रका प्रहार कैसे करता है । तात्पर्य यह कि मनुष्यको अपनी पीड़िके ही समान दूसरे प्राणियोंकी भी पीड़िका अनुभव करना चाहिए ॥४७॥

संसाररूप भ्रम-रोगसे भयको ग्राप्त हुए प्राणियोंके लिए उत्कृष्ट औपचि अहिंसा ही है । तथा वह अहिंसा अमरपुरीको—स्वर्ग अथवा मोक्षको—जानेके लिए अनुर पाथेय—मार्गमें खानेके योग्य भोजन—है ॥४८॥

५२१ ) विद्युथहिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी ।

तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती ॥४९॥

५२२ ) स्वान्ययोरप्यनालोच्ये सुखं दुःखं हिताहितम् ।

जन्तून् यः पातकी हन्यात् स नरत्वे इपि राक्षसः ॥५०॥

५२३ ) अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैश्चोमनिन्दिताम् ।

एवयात्मसदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरम् ॥५१॥

५२४ ) जायन्ते भूतयः पुंसां याः कृपाक्रान्तचेतसाम् ।

चिरेणापि न ता बक्तुं शक्ता देव्यपि भारती ॥५२॥

५२१ ) विद्युथहिंसैव—किन्तु<sup>१</sup> पक्षान्तरे । अहिंसा जीवदया । एव निश्चयार्थः । माता इव हितकारिणी । तथा पक्षान्तरमाह । रमयितुं कान्ता स्त्रो । च पुनः । विनेतुं शिखां दातुं सरस्वती, इति सूत्रार्थः ॥४९॥। अथ हिंसानां नराणां राक्षसत्वमाह ।

५२२ ) स्वान्ययोरप्यभालोच्य—स नररूपेण राक्षसः । स कः । यः पातकी पापी आत्मनः परस्य च सुखदुःखं हिताहिते वा अनालोच्य अविचार्य जन्तून् प्राणिनः हन्यात्, इति सूत्रार्थः ॥५०॥। अथ दयाकर्त्वं दर्शयति ।

५२३ ) अभयं यच्छ—रे जीव, भूतेषु प्राणिषु अभयं यच्छ देहि । अनिन्दितां मैत्रीं कुरु । विश्वं जगत् आत्मसदृशं पद्य । कोदृशं जीवलोकम् । चराचरं त्रसस्थावरम् । इति सूत्रार्थः ॥५१॥। अथाहिंसाजन्यसुखानन्त्यमाह ।

५२४ ) जायन्ते भूतयः—पुंसां पुरुषाणां याः भूतयः लक्ष्यो जायन्ते । कर्थभूतानो पुंसाम् । कृपाक्रान्तचेतसां दयाव्याप्तिचित्तानाम् । ताः भूत्यादयो लक्ष्यः चिरेणापि बक्तुं देवी भारत्यपि न शका समर्था ॥५२॥। अथाहिंसास्वरूपमाह ।

प्राणियोंका माताके समान हित करनेवाली अहिंसा ही है । उस अहिंसाको रमण करनेके लिए स्त्री तथा शिखा देनेके लिए सरस्वती समझो ॥४९॥।

जो पापी मनुष्य अपने और दूसरेके भी सुख-दुखका तथा हित-अहितका विचार न करके प्राणियोंका घात करता है उसे मनुष्यके रूपमें राक्षस ही समझना चाहिए ॥५०॥।

हे भव्य ! तू प्राणियोंके विषयमें अभयको दे—उनका संरक्षण कर—तथा उनके साथ निर्देश मित्रताका व्यवहार कर । त्रस और स्थावर रूप समस्त जीवलोकको तुझे अपने समान ही देखना चाहिए । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकारके व्यवहारसे तुझे स्वयं कष्ट होता है उस प्रकारके व्यवहारको तुझे दूसरे प्राणियोंके प्रति भी नहीं करना चाहिए ॥५१॥।

जिन पुरुषोंका अन्तःकरण दयासे व्याप्त रहता है उनकी जो संपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं उनका वर्णन स्वयं सरस्वती देवी भी दीर्घकाल तक नहीं कर सकती हैं—अन्यकी तो फिर बात ही क्या है ? ॥५२॥।

१. All others except P किन्तुहिंसैव । २. All others except P °नालोक्य ।

५२५ ) कि न तसं तपस्तेन कि न दत्तं महात्मना ।

वितीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥५३

५२६ ) यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम् ।

तथा तथा विवेकश्रीः परां प्रीतिं प्रकाशते ॥५४

५२७ ) <sup>३</sup>[अन्ययोगब्यवच्छेदादहिसा श्रीजिनामये ।

परैश्च योगमात्रेण कीर्तिंता सा यदृच्छया ॥५४\*१]

५२८ ) तत्त्वास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्प्याणम् ।

यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण ॥५५

५२५ ) कि न तत्त्वं—तेन कि तपो न तप्तम् । तेन महात्मना कि न दत्तम् । येन प्रीति-मालम्ब्य देहिनामध्यभयं दानं वितीर्णम्, इति सूत्रार्थः ॥५३॥ अथ विवेकस्य दयाकार्यत्वमाह ।

५२६ ) यथा यथा—नृणां मनुष्याणां हृदि स्थैर्यं करुणा दया यथा यथा करोति तथा तथा विवेकश्रीः परामुक्ताणां प्रीतिं प्रकाशयेत्<sup>२</sup> । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथाहिसाया विशेषमाह ।

५२७ ) अन्ययोग—श्रीजिनामये अहिसा कीर्तिंता । करुणाम् । अन्ययोगा वै शान्तप्रयस्तेषां व्यवच्छेदात् नाशात् । च मुनः । परैमिथ्यात्विभिः । सा अहिसा यदृच्छया योगमात्रेण यज्ञादिकरणेन कीर्तिंता, इति सूत्रार्थः ॥५४\*१॥ अथ जीवदयासाध्यं किमपि नास्तीत्याह ।

५२८ ) तत्त्वास्ति—जीवलोकेषु तत् जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्प्याणं नास्ति । यन्मनुजाः मनुष्याः जीवरक्षानुरागेण न प्राप्नुवन्ति, इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथ हिसाफलमाह । आर्थी ।

जिस मनुष्यने प्रेमपूर्वक प्राणियोंको अभय दिया है उसने कौनसे तपका अनुष्ठान नहीं किया है तथा उस महापुरुषने क्या नहीं दिया है ? अभिप्राय यह है कि दयालुताके वशीभूत होकर जो प्राणियोंका संरक्षण किया जाता है, वह तपसे बढ़कर व सब दानोंमें श्रेष्ठ है ॥५३॥

मनुष्योंके हृदयमें दया जैसे-जैसे स्थिरताको करती है वैसे ही वैसे विवेकरूप लक्ष्मी उत्कृष्ट प्रीतिको प्रगट करती है । तात्पर्य यह कि मनुष्यके अन्तःकरणमें जैसे-जैसे दया वृद्धि-को प्राप्त होती है वैसे-वैसे उसकी विवेकवृद्धि भी वृद्धिगत होती है ॥५४॥

जिनामयमें जो अहिसा कही गयी है वह अन्ययोगब्यवच्छेदसे कही गयी है, अर्थात् अहिसाको छोड़कर दूसरा कोई भी धर्म नहीं है—वही मुख्य धर्म है इस हृदयसे उसे स्वीकार किया गया है । किन्तु दूसरोंने ल्वेच्छापूर्वक योगमात्रसे उसका उपदेश किया है—उन्होंने यदि कहीं अहिसाको धर्म बतलाया है तो कहीं हिंसाको भी धर्म बतलाया है ॥५४\*१॥

इस जीवजगत्से तीर्थंकर, इन्द्र और चक्रवर्तीका वह कोई भी कल्याणकारक पद नहीं है, जिसे कि मनुष्य जीवरक्षाके अनुरागसे न प्राप्त कर सकते हों—जीवोंके विषयमें दयालुता-पूर्ण आचरण करनेवाले मनुष्य इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकरके भी पदको प्राप्त करते हैं ॥५५॥

१. M N महात्मनाम् । २. F V C X प्रकाशयेत् । ३. P om. । ४. M कोसिताम् । ५. M J Y चक्रिकल्प्याणं ।

५२९ ) यत्किञ्चित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम् ।

दीर्घायादि समस्तं तद्विसारंभवं ज्ञेयम् ॥५६॥

५३० ) ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रो हरिमृतभुजां चण्डरोचिर्प्रहाणां

कल्पाणः पादपानां सलिलनिधिरपां स्वर्णशैलो गिरीणाम् ।

देवः श्रीबीतरागस्त्रिदशमुनिगणस्याश्र नाथो यथायं

तद्वच्छीलव्रतानां शमयमतपसां विद्यथिंसा प्रधानम् ॥५७॥

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते  
अहिंसात्रतप्रकरणम् ॥८॥

५२९ ) यत्किञ्चित्संसारे—संसारे जगति शरीरिणां दुःखशोकभयबीजं कारणं यत् किञ्चित् वर्तते, अन्यत् समस्तं दीर्घायादि वर्तते, तत्सर्वं हिंसारंभवं वधाजातं ज्ञेयं ज्ञातव्यम्, इति सूत्रार्थः ॥५६॥। अथ अहिंसाप्रधानं दृष्टान्तमाह । सम्बरा ।

५३० ) ज्योतिश्चक्रस्य—यथा ज्योतिश्चक्रस्य मध्ये चन्द्रो महान्, यथा अमृतभुजां देवानां मध्ये हरिरिन्द्रो महान्, ग्रहाणां मध्ये चन्द्ररोचिः प्रधानम् । पादपानां यथा कल्पाणः कल्पवृक्षः प्रधानः । अपां मध्ये सलिलनिधिः प्रशस्यः । गिरीणां मध्ये स्वर्णशैलो मेरुः प्रधानः । देवमुनिगणस्य मध्ये अत्र जगति श्रीबीतरागो देवः । ‘यथा नाथः’ इति शब्दः प्रत्येकं वाच्यः प्रधानः । तद्वस्था शीलव्रतानां शमयमतपसां मध्ये अहिंसा प्रधानं विद्धि जानीहि, इति सूत्रार्थः ॥५७॥।

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रयोगप्रदीपाधिकारे पण्डितनधविलासेन

साहपासा-तत्पुत्रसाहटोडरतत्कुलकमलदिवाकरसाहरिषिदास-स्वथवणार्थ

पण्डितजिनदासोद्यमेन अहिंसाप्रकरणं समाप्तम् ॥८॥

स्थकान्यष्टर्मसंसर्गः स्वर्गप्रतिपालकः । तोडरस्येहूं सत्पुत्रो जीयात् श्रीकृष्णिदासो इस्तु ॥१॥। आशीर्वादः । अथ व्रताधिकारे अहिंसानन्तरं क्रमेण सत्यस्वरूपमाह ।

संसारमें प्राणियोंके दुख, शोक और भयका कारणमूरत जो दीर्घाय (पाप कर्म) आदि है वह सब हिंसासे ही उत्पन्न होता है, ऐसा निश्चय करना चाहिए ॥५६॥।

( जिस प्रकार यहाँ ज्योतिषी देवोंका चन्द्र, देवोंका इन्द्र, ग्रहोंका सूर्य, वृक्षोंका कल्पवृक्ष, जलाशयोंका समुद्र, पर्वतोंका सुमेरु तथा देवों व मुनिगणोंका श्री बीतराग (अरिहन्त) देव स्वामी है, उसी प्रकार शील, व्रत, शम, यम और तपका प्रधान—उनकी अधिष्ठात्री—अहिंसा है ॥५७॥। )

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
अहिंसा प्रकरण समाप्त हुआ ॥८॥

## [ सत्यव्रतम् ]

- 531 ) यः संयमधुरां धते धैर्यमालम्ब्य संयमी ।  
स पालयति यत्नेन वाग्वने सत्यपादपम् ॥१॥
- 532 ) अहिंसाव्रतसिद्धयर्थं यमजातं जिनैर्मतम् ।  
नारोहति॑ परा कोटि॒ तदेवासत्यदूषितम् ॥२॥
- 533 ) असत्यमपि तत्सत्यं यत्सत्त्वार्थसकं वचः ।  
सावद्यं यत्र पुण्याति तत्सत्यमपि गहितम् ॥३॥

531) यः संयमधुरां—यः संयमी संयमवान् संयमधुरां भारं धते । कि कृत्वा । धैर्यमालम्ब्याश्रित्य । स संयमधुरावरणः यत्नेन वाग्वने वचनकानने सत्यपादपं वृक्षं पालयति इत्यर्थः ॥१॥  
सत्यव्रतस्य माहात्म्यमाह ।

532 ) अहिंसाव्रत—जिने रागादिजेतुभिरहिंसाव्रतरक्षार्थं\* यमजातं व्रतसमूहः भर्तु कथितम् । तदेव यमजातं परा कोटि नारोहति । कोदृशम् । असत्यदूषितम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥  
[अथ सत्यासत्ययोनिर्णयमाह ।

533 ) असत्यमपि—प्राणिनां यद्वितकारिवचः तदसत्यमपि सत्यं भन्तव्यम् । तद्विपरीक्षं च यत् प्राणिषात्कं पापपोषकं तत्सत्यमप्यसत्यबद् गहितम्, इत्यर्थः ॥३॥ ] अथ यादृक् सत्यवादी तमाह ।

जो मुनि धैर्यका आश्रय लेकर संयमके बोझको धारण करता है वह वचनस्त्रप बनमें सत्यस्त्रप वृक्षका प्रयत्नपूर्वक रक्षण करता है । अभिप्राय यह है कि मुनिधर्मको स्वीकार करनेपर सत्यमहाव्रतका पूर्णतया पालन करना अनिवार्य होता है ॥१॥

अन्य सत्य आदि अतोंका जो समुदाय है उसे जिन भगवान् अहिंसाव्रतकी सिद्धिका कारण मानते हैं, कथोंकि, वही अहिंसाव्रत यदि असत्यसे दूषित है तो वह उत्कृष्ट अवस्थाको नहीं प्राप्त होता है ॥२॥

जो वचन जीवोंके हितका सूचक हो वह यदि असत्य भी हो तो भी उसे सत्य ( संभाषणयोग्य ) ही समझना चाहिए, तथा इसके विपरीत जो वचन पापको पुण्य करता है वह सत्य होते हुए भी घृणास्पद है ॥३॥

१. All others except P वतरक्षार्थ । २. M न रोहति\*\*\*तदेवासाध्यदूषितम् ।

534 ) अनेकजन्मजब्लेशशुद्धयर्थं यस्तपस्यति ।

सर्वसंच्चहितं शश्वत्स ब्रूते सूनूर्तं वचः ॥४॥

535 ) सूनूर्तं करुणाकान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।

अग्राम्यं गौरवाशिलष्टं वचः शास्त्रे प्रशस्यते ॥५॥

536 ) मौनमेव हितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।

वचो वातिं प्रियं तथ्यं सर्वसंचोपकारि<sup>१</sup> यत् ॥६॥

537 ) यो जिनैर्जगता मार्गः प्रणीतो ज्यन्तशाश्वतः ।

असत्यबलतः सो ऽपि निर्दयैः कथयते ज्ञयथा ॥७॥

534 ) अनेकजन्मजब्लेशशुद्धयर्थं प्राप्नन्मोत्पत्त्वावलेशशुद्धये तपस्यति, स नरः शश्वत्सर्वसंच्चहितं सर्वजोपकारकं वचः सूनूर्तं ब्रूते कथयति, इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ वचःस्वरूपमाह ।

535 ) सूनूर्तं—एतादूर्णं वचः शास्त्रे प्रशस्यते इलाध्यते । कीदूर्णं वचः । सूनूर्तं सत्यम् । पुनः कीदूर्णम् । करुणाकान्तं दयाव्याप्तम् । पुनः कीदूर्णम् । अविरुद्धं पूर्वादिराविरोध । अनाकुलम् । पुनः कीदूर्णम् । सकोमलम् । पुनः कीदूर्णम् । गौरवाशिलष्टं गम्भीरमिति सूत्रार्थः ॥५॥ पुनस्तस्वरूपमाह ।

536 ) मौनमेव हितं—यत् यस्मात् कारणात् मौनमेव पुंसां पुरुषाणां हितं हितकारि । शश्वत्सर्वसंच्चहितं वचो वाति<sup>२</sup> वक्तव्यम् । कीदूर्णम् । प्रियं मनोहरम् । पुनः कीदूर्णम् । तथा सत्यं सर्वसंचोपकारकम्<sup>३</sup>, इत्यर्थः ॥६॥ अथ जिनप्रणीतमार्गोऽपि असत्यबलाद् विपरीत इत्याह ।

537 ) यो जिनैर्जगता—[ यः सदाचरणात्मको मार्गो ज्यन्तशाश्वतः भगवद्विजिनेश्वरैः प्राणिमात्राय दर्शितः स दयाहीनः पालण्डभिरसत्यबलेनान्यथा कथित इत्यर्थः ॥७॥ अथ लोकस्वरूपमाह ।

जो मुनि अनेक जन्मसे उत्पन्न हुए कष्टको दूर करनेके लिए तपश्चरण करता है वह निरन्तर समस्त प्राणियोंको हितकर सत्य वचनको बोलता है ॥४॥

जो वचन सत्य, दयासे व्याप्त, विरोधसे रहित, आकुलताको दूर करनेवाला, ग्राम्यस्वरूपसे रहित ( सम्यक शिष्ट ) और गौरवसे आलिंगित—महानताका कारण—हो उसकी शास्त्रमें प्रशंसा की जाती है ॥५॥

मनुष्योंको सब ही प्रयोजनोंकी सिद्धिका कारणभूत निरन्तर मौन ही हितकर है, अथवा वह वचन द्वितकर है जो कि अतिजय प्रिय, यथार्थ और सब प्राणियोंका उपकारक हो ॥६॥

जिन भगवान् ने संसारी प्राणियोंके लिए जिस अनन्त और अविनश्वर मार्ग ( मोक्षमार्ग )का उपदेश दिया है उसका भी वर्णन दुष्टजन असत्यके बलसे विपरीत करते हैं ॥७॥

१. All others except P M सर्वं सत्य । २. All others except P M N वाति प्रियं । ३. J प्रियं तप्त्य । ४. M N सर्वोपकारक ।

५३८ ) विचर्च्यासत्यसंदोहं खलैलोकः खलीकृतः ।

कुशास्त्रैः स्वमुखोदगीर्णेत्पाद्य गहनं तमः ॥८

५३९ ) जयन्ति ते जगद्वन्द्या यैः सत्यकरुणामये ।

अवज्ञके चै लोकोऽप्य एषि शक्तद् प्रतिष्ठितः ॥९

५४० ) असद्वदनवल्मीकविशालविषेषपिणी ।

उद्देजयति वागेवं जगदन्तविषेषलब्धणा ॥१०

५४१ ) न सास्ति काचिद्वच्यवहारवर्तनी न यत्र वाग्विस्फुरति प्रवतिका ।

ब्रुवन्नसत्यामिह तां हताशयः करोति विश्ववच्यवहारविष्लवम् ॥११

५३८ ) विचर्च्यासत्य—खलैदुर्जनैलोकः खलीकृतः दुर्जनीकृतः । किं कृत्वा । असत्यसमूहं समूहं विचर्च्य [अ]त्यज्य । पुनः किं कृत्वा । गहनं तमः उत्पाद्य । कैः । कुशास्त्रैः । कथंभूतैः । स्वमुखोदगीर्णेभिजवदनोक्तैरित्यर्थः ॥८॥ अथ सत्यवादिनां स्वरूपमाह ।

५३९ ) जयन्ति ते—ते जगद्वन्द्याः जयन्ति । यैर्जगद्वन्द्यैः लोकोऽप्य शक्तद् निरन्तरं पथि सम्बागे प्रतिष्ठितः स्थापितः । कीदृशो पथि । सत्यकरुणामये । सुगमम् । पुनः कीदृशो । अवज्ञके सरले । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथासत्यवच्नस्वरूपमाह ।

५४० ) असद्वदन—वागेव जगत् उद्देजयति पीडयति । कीदृशो वाक् । विशालविषेषपिणी । सुगमम् । पुनः कीदृशो । अन्तविषेषलब्धणा मध्यविषरौद्रा । क्व । असद्वचनवल्मीके\* असत्यवचन-संपर्स्थाने, इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ वचनध्यापकत्वमाह । वंशस्थछन्दः ।

५४१ ) न सास्ति काचिद—यत्र सा वाक् काचिन्न विस्फुरति । कीदृशो वाक् । व्यवहारवर्तनो सर्ववच्यवहारवर्तनो\*\* । पुनः कीदृशो । प्रवतिनी प्रवतिका । इह जगति तां सत्यां वाचं ब्रुवन्

दुष्ट मिश्याद्विष्ठयोने अपने मुखसे निकले हुए कुशास्त्रोंके द्वारा गहरे अन्धकारको उत्पन्न करके—अङ्गानान्धकारको कैला करके—असत्यसमूहकी विशेष चर्चा करते हुए विश्वको अपने समान दुष्ट बना लिया है ॥८॥

जिन साधु जनोंने इस लोकको सत्य व दयास्वरूप तथा वंचनासे रहित ( सरल ) मार्गमें निरन्तर प्रतिष्ठित किया है वे विश्वके बन्दसीय साधु जयवन्त होते हैं ॥९॥

दुष्ट जनोंके मुखरूप वाँशीमें अवस्थित, अतिशय विषेष्ठी एवं भीतर तीव्र विषको धारण करनेकाली सर्पिणीके समान यह वाणी ही लोकको उद्दिग्न करती है ॥१०॥

ऐसा कोई भी व्यवहारमार्ग नहीं है जहाँपर कि वाणी प्रवर्तक स्वरूपसे न प्रकाशमान होती है । इसीलिये जो दुर्बुद्धि यहाँ उस असत्य वाणीको बोलता है वह समस्त व्यवहार ही लोप करता है । अभिप्राय यह है कि समस्त लोकव्यवहार वचनपूर्वक ही चलता है, इसलिये

१. L विवेच्यासत्य । २. Y करुणामयैः । ३. S F V C J X R अवज्ञकेऽपि, Y अवचनकैश्च ।

४. All others except P M N वल्मीके । ५. J X Y R विशाला विष । ६. M वागेवं । ७. All others except P वर्तिनी ।

५४२) पृष्ठैरपि न वक्तव्यं न शोतव्यं कथंचनैः ।

वचः शङ्काकुलं पापं दोषाद्यं चाभ्यसूयकम् ॥१२॥

५४३) मर्मच्छेदि मनःशब्दं च्युतस्थैर्ये विरोधकम् ।

निर्दयं च वचस्याज्यं<sup>४</sup> प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥१३॥

५४४) धन्यास्ते हृदये येषामुदीर्णः करुणाम्बुधिः ।

वाग्वीचिसंचयोऽलासैनिर्वापयति देहिनः ॥१४॥

विश्ववृथवहारविष्वं जगद्वृथवहारनाशं करोति । इति सूत्रार्थः ॥११॥ पुनरेतादूरा वचः न वक्तव्यं तदाह ।

५४२) पृष्ठैरपि न—पृष्टैः केभापि किञ्चिन्न वक्तव्यम् । \*कदाचनापि न शोतव्यम् । कीदूर् वचः । शङ्काकुलं शङ्काव्यासम् । पुनः । पापं पापकारि । पुनः कीदूरशम् । दोषाद्यं दोषयुक्तम् । च पुकः । अभ्यसूयकं परमुणान् दृष्ट्वा ईर्ष्या [ युक्तम् ], इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ वचस्वरूपमाह ।

५४३) मर्मच्छेदि—व पुनः । एतादूर्ण वचो न वक्तव्यम् । मर्मच्छेदि । पुनः कीदूरशम् । मनःशब्दं मनसि शल्यमिव । च्युतस्थैर्ये गतधैर्यम् । पुनः कीदूरशम् । विरोधकं सुषमम् । च पुनः । निर्दयं हयारहितम् । प्राणैः कण्ठगतैरपि त्याज्यम् ॥१३॥ अथ दयामाह ।

५४४) धन्यास्ते हृदये—ते पुरुषा धन्याः । पैदो हृदि करुणाम्बुधिः दयात्मनुद्रा उदीर्णः । कीदूराः । वाग्वीचिसंचयोऽलासैनिर्वचनकल्पोऽलैः । देहिनः निविषयति शोतलीकरोति । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ सति धर्मादिनाशोऽपृष्टैरपि वक्तव्यम् ।

जो असत्यभावण करता है वह समस्त लोकवृथवहारको ही नष्ट करता है, ऐसा समझना चाहिए ॥११॥

जो वचन शंकाको उत्पन्न करनेवाला ( अथवा भवावह ), पापस्वरूप, शोषोंसे परिपूर्ण और ईर्ष्याको उत्पन्न करनेवाला हो; ऐसे वचनको पूछे जानेपर भी सत्युहषोंको नहीं बोलना चाहिए और न कैसे वचनको किसी प्रकारसे सुनना भी चाहिए ॥१२॥

जो वचन मर्मको विदीर्ण करनेवाला, मनमें कौटिके समान चुम्नेवाला, स्थिरतासे भ्रष्ट करनेवाला, विरोधको उत्पन्न करनेवाला और दथासे शून्य हो; ऐसे वचनका प्राण जानेपर भी परित्याग ही करना चाहिए । तात्पर्य यह कि सत्यु को स्वीकार करना अच्छा है, पर उपर्युक्त दुर्वचनको बोलना अच्छा नहीं है ॥१३॥

जिनके हृदयमें वयाका समूद्र उत्पन्न होकर वचनस्वरूप लंहरोंके समूहसे प्राणियोंको शान्ति पहुँचाता है वे महामुहूर धन्य हैं ॥१४॥

१. ] कदाचन । २. M N चाप्यसूयकं, S V C X R<sup>३</sup> चार्षिसूयकं, F चार्यसूयकं । ३. All others except P विरोधकं । ४. M वचस्याज्या ।

- ५४५ ) धर्मनाशे क्रियाद्वंसे स्वसिद्धान्तार्थविष्टवे ।  
अपूष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने ॥१५
- ५४६ ) या मुहुमोहयत्येव विश्वान्ता कर्णयोर्जनम् ।  
विषमं विषमुत्सृज्य सावश्यं पश्यगी न गीः ॥१६
- ५४७ ) असत्येनैव विक्रम्य चार्वाकद्विजकौलिकैः ।  
सर्वाशिषोऽप्य धूर्तैः पश्य त्वं गतिशितम् ॥१७
- ५४८ ) मन्ये पुरजलावर्तप्रतिमं तन्मुखोदरम् ।  
यतो वाचः प्रवर्तन्ते कश्मलाः कार्यनिष्फलाः ॥१८

५४५ ) धर्मनाशे—सत्यव्रतस्यैरपूष्टैरपि वक्तव्यम् । कुञ्ज । धर्मनाशे दथादिवर्मध्वंसे । पुनः कव । क्रिया चारित्रं तस्य ध्वंसे विनाशे । पुनः कस्मिन् । स्वसिद्धान्तार्थविष्टले स्वसिद्धान्तस्य द्वादशाङ्गस्यार्थविष्टवे नाशे अपूष्टैरपि वक्तव्यम् । पुनः कव । तत्प्रकाशने सत्यप्रगटने, इति सूक्ष्मार्थः ॥१५॥ अथासत्यस्वरूपमाह ।

५४६ ) या मुहुमोहयत्येव—जनं या वाणी मुहुवरिवारं मोहयत्येव मूर्ख्यत्येव । कीमुशी । कर्णयोविश्वान्ता कणभिर्या श्रुतेत्यर्थः । सावश्यं पन्नयी सर्पिणी । गीः वाणी न । अपि तु स्तोवे (?) त्यर्थः । विषमं धूर्तं विषं गरलं उत्सृज्य त्यक्ष्वा । इति सूक्ष्मार्थः ॥१६॥ पुनरसत्यमाह ।

५४७ ) असत्येनैव—चार्वाकद्विजकौलिकैर्नास्तिक-ब्राह्मण-कणादेवशीर्थसत्येनैव, पक्षं प्रतिष्ठितं स्थापितम् । कि कुत्वा । विक्रम्य शक्तिमालम्भय । कीदृशैः । धूर्तैः छद्मिभिः । कीदृशम् । सर्वाक्षयोषकं सर्वेन्द्रियपोषकम् । रे जीव, त्वं पश्य, इति सूक्ष्मार्थः ॥१७॥ अथासत्यवाचो दुष्टतामाह ।

५४८ ) मन्ये पुरा—अहम् एवं मन्ये । तन्मुखोदरं तदानन्दविवरं पुरजलावर्तप्रतिमं नगर-प्रणालसदृशं यसो मुखोदरात् कश्मलाः मलिनाः वाचः प्रवर्तन्ते । कीदृश्यो वाचः । कार्येशून्याः ।

धर्मनाशके उपस्थित होनेपर, शास्त्रविहित अनुष्ठानका द्यनाश होनेपर अथवा परमागमके अर्थके नष्ट होनेपर सत्पुरुषोंको पूछनेके बिना भी उसके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला सम्भाषण करता ही चाहिए ॥१५॥

जो वाणी दोनों कानोंके भीतर विश्वामको प्राप्त होती हुई भयानक विषको छोड़कर मनुष्यको बार-बार मुमध किया करती है वह अवश्य ही सर्पिणी है, वाणी नहीं है । अभिप्राय यह है कि जो वचन मुत्तनेमें मनोहर होनेपर भी परिणाममें अद्वितकारक होता है उसे विषेश सर्पके लमान जानकर सदा ही छोड़ना चाहिए ॥१६॥

देख्नो, धूर्त चार्वाक, आक्षण ( क्रियाकाण्डी ) और कौलिक ( लान्त्रिक ) जनोंने असत्यके शलपर ही इन्द्रियविषयोंको पुष्ट करनेवाले पक्षको स्थापित किया है ॥१७॥

जिस मुखके मध्यसे भोहको उत्पन्न करनेवाले निरर्थक वचन प्रवृत्त होते हैं उस मुखके मध्यको मैं नगरकी नालीके समान मानता हूँ । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार नगरकी

५४९) प्राप्नुवन्त्यतिघोरेषु रीरवादिषु संभवम् ।

तिर्यक्ष्वथै निगोदेषु मृषावाक्येन देहिनः ॥१९॥

५५०) न तथा चन्द्रनं चन्द्रमणयोऽमालतीसजः ।

कुर्वन्ति निर्वृति पुंसां यथा वाणी श्रुतिश्रिया ॥२०॥

५५१) अपि दावानलप्लुषं साद्रैः संजायते वनम् ।

न लोकः सुचिरेणापि जिह्वानलकदर्थितः ॥२१॥

यथा नगरप्रणालद्वारा कहमलं निर्गच्छति तथा तन्मुखोदरात् कहमला वाचः प्रवर्तन्ते, इसि सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ मृषावादफलमाह ।

५४९) प्राप्नुवन्त्यति—देहिनः प्राणिनः । रीरवादिषु अतिघोरेषु रीरेषु । अथ तिर्यक्षु संभवं दुःखं प्राप्नुवन्ति । केन । मृषावाक्येन । निगोदेषु दुःखं प्राप्नुवन्ति ॥१९॥ अथ वाणी-स्वरूपमाह ।

५५०) न तथा चन्द्रनं—तथा चन्द्रनं, चन्द्रमणयः चन्द्रकिरणाः, तथा मालतीसजः पुंसां निर्वृति म कुर्वन्ति यथा वाणी श्रुतिश्रिया कण्ठिया निर्वृति करोति । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथासत्यमाह ।

५५१) अपि दावानल—वर्ण दावानलप्लुषमपि दावानलवर्धं साद्रैः संजायते । अपि यथार्थैः । तथा लोकः जिह्वानलकदर्थितः सुचिरेणापि साद्रैः न जायते । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ असत्यमेव वक्तव्यमाह ।

जालीसे घृणित व निष्फल मलमूत्र आदि पदार्थ बहते रहते हैं उसी प्रकार दुर्बुद्धि जनोंके मुखसे निन्दनीय निरर्थक वचन निकला करते हैं ॥१८॥

प्राणी असत्य वचनके प्रभावसे अविश्वस्य भयानक रीरव आदि नारकविलोगे, तिर्यक्षों-में और निगोद जीवोंमें जन्मको प्राप्त करते हैं ॥१९॥

सुननेमें भनोहर व आगमके अनुकूल वाणी मतुष्योंके लिए जिस सुखको उत्पन्न करती है उसे चन्द्रन, चन्द्रकान्त मणि और मालती पुष्पोंकी मालायें नहीं उत्पन्न करती हैं ॥२०॥

वत्ताग्निसे जला हुआ वस गीला भी हो जाता है—पुनः हरा भरा हो जाता है, किन्तु जीभसे उत्पन्न वचनरूप अग्निसे पीड़ित जन दीर्घकालमें भी गीला—शान्तिको प्राप्त—नहीं होता ॥२१॥

१. N तिर्यक्षपथ, T तिर्यक्षकपि । २. S F V C J X Y R चन्द्रो मण्यो । ३. M कुर्वन्ति निर्वृति । ४. Y श्रुतिश्रिया । ५. L S T F V C X R प्लुषं शावृत्वे जायते, J साद्रै संजायते, Y साद्रै संजायते ।

- 552 ) सर्वलोकप्रिये तथ्ये<sup>१</sup> ग्रसन्हे<sup>२</sup> ललिताक्षरे ।  
जान्मते सत्यपि किं ब्रूते निकृष्टः परुषं वचः ॥२२
- 553 ) सती विज्ञाततत्त्वानां सत्यसीमावलम्बिनाम् ।  
चरणस्पर्शमात्रेण विशुद्ध्यति धरातलम् ॥२३
- 554 ) यमव्रतगुणोपेतं सत्यश्रुतसमन्वितम् ।  
यैर्जन्म सफलं नीतं ते धन्या धीमतां मताः ॥२४

552 ) सर्वलोकप्रिये—निकृष्टोऽधमः परुषं कठोरं वचो ब्रूते । वच सति । सत्यपि वाक्ये सत्यवचसि सत्यपि । कीदृशो । सर्वलोकप्रिये सर्वलोकमनोहरे । पुनः कीदृशो । तथ्ये । पुनः । प्रशान्ते<sup>३</sup> क्रोधाद्यभावेन । पुनः कीदृशो वाक्ये । ललिताक्षरे सुन्दरवर्णे । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ सत्यवादिनां माहात्म्यमाह ।

553 ) सती विज्ञात—सती सत्पुरुषाणां चरणस्पर्शमात्रेण धरातलं पृथिवीतलं विशुद्ध्यति शुद्धं भवति । कीदृशां सतीम् । विज्ञाततत्त्वानां ज्ञातपरमाधीनाम् । पुनः कथंभूतानाम् । सत्यसीमावलम्बिनां सत्यमयदिवितानाम् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ यतीनां माहात्म्यमाह ।

554 ) यमव्रत—यैः पुरुषैर्जन्म सफलं नीतं प्राप्तम् । कीदृशां जन्म । यमव्रतगुणोपेतम् । सुगमम् । पुनः कीदृशम् । सत्यश्रुतसमन्वितं सत्यवाक्यशास्त्रयुक्तम् । ते पुरुषा धीमतां बुद्धिमतां मता अभीष्टाः, इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथासत्यवादिनां निन्दामाह ।

सब लोगोंको आनन्दप्रद, यथार्थ, प्रसन्न और सुन्दर वर्णोंसे निष्पत्र हुए वाक्यके विशमान रहनेपर भी निकृष्ट मनुष्य कठोर वचनको क्यों बोलता है ? अभिप्राय यह है कि उच्चम वाक्योंके होते हुए भी अधम मनुष्य स्वभावतः कठोर वाक्योंको ही बोला करते हैं ॥२२॥

जिन मनुष्योंने अस्तुस्वरूपको जानकर सत्यकी सीमाका आश्रय ले लिया है—जो सदा निर्दीप सत्य वचनको बोला करते हैं—उनके चरणोंके रूपर्ण मात्रसे ही पृथिवीतल पवित्र ही जाता है । अभिप्राय यह है कि पृथिवीपर वे ही मनुष्य श्रेष्ठ समझे जाते हैं जो असत्यका सर्वथा परित्याग करके निरन्तर सत्य व श्रिय भाषण ही किया करते हैं ॥२३॥

जिन मनुष्योंने यम व ब्रत गुणोंसे संयुक्त तथा सत्य व आगमद्वानसे विभूषित करके अपने जन्मको सफलतापूर्वक बिताया है उन्हें बुद्धिमान् मनुष्य धन्य मानते हैं ॥२४॥

१. M पथ्ये । २. J तथ्ये प्रशान्ते । ३. L S F V C X R सत्यसीलाव॑ ।

५५५ ) नूजन्मन्यपि यः सत्यप्रतिज्ञाप्रच्युतो धर्मः ।

स केन कर्मणा पश्चाज्जन्मपद्मै तरिष्यति ॥२५

५५६ ) अदयैः संप्रयुक्तानि वाक्यस्त्राणीह भूतले ।

सथो मर्माणि कुन्तन्ति शितास्त्राणीब देहिनाम् ॥२६

५५७ ) व्रतश्रुतयमस्थानं विद्याविनयभूषणम् ।

चरणज्ञानयोर्बीजं सत्यसंज्ञं व्रतं मतम् ॥२७

५५५ ) नूजन्मन्यपि—यः पुरुषः नूजन्मन्यपि सत्यप्रतिज्ञाच्युतः सत्याङ्गीकाररहितो भवति । सो धर्मः पश्चात्केन कर्मणा जन्मपद्मै प्रस्तावात् भवसमुद्द तरिष्यति । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ पुनरसत्यवाक्यालमाह ।

५५६ ) अदयैः संप्रयुक्तानि—इह भूतले अदयैनिर्दयैः पुरुषैविक्षास्त्राणि संप्रयुक्तानि उक्तानि । लानि देहिनां सद्यः शीघ्रं मर्मस्थानानि कुन्तन्ति निष्ठन्ति । कामीब । शितास्त्राणीब । यथा शितास्त्राणि देहिनां मर्मस्थानानि निष्ठन्ति तदिवेत्यर्थः ॥२६॥ पुनः सत्यव्रतमाह ।

५५७ ) व्रतश्रुतयमस्थानं—सत्यसंज्ञव्रतं चरणज्ञानयोर्बीजं कारणं मतम् उक्तम् । कीदृशं सत्यसंज्ञं व्रतम् । अतश्रुतयमानां स्थानम् । पुनः कीदृशम् । विद्याविनयभूषणं ज्ञानविनयाभरणम् । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ सत्यवादिनां विद्याभावं दर्शयन्नाह ।

जो निकुष्ट मनुष्य मनुष्यभवको पा करके भी सत्यकी प्रतिज्ञासे भ्रष्ट हुआ है वह यीछे कौनसे कर्मके द्वारा संसाररूप कीचड़से पार हो सकेगा ? विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि मनुष्य पर्याय ही एक ऐसी है कि जिसमें जीव सत्य, संयम, तप एवं ध्यान आदिका आलम्यत लेकर इस संसार परिभ्रमणको नष्ट करता है । किर भल्ला जो अज्ञानी प्राणों उस दुर्लभ मनुष्य पर्यायको पाकर भी उसे असत्यसम्भाषण आदिसे कलंकित करके दुर्गतिको प्राप्त होते हैं उनका उस संसार परिभ्रमणसे अन्त पाना कैसे सम्भव है ? असम्भव है ॥२५॥

यहाँ पूर्थिवीतलपर दयाहीन दुष्ट मनुष्योंके द्वारा उपयोगमें लाये गये वचनरूप शस्त्र तीक्ष्ण अस्त्रोंके समान प्राणियोंके मर्मोंको शीघ्र ही चिदीर्ण करते हैं ॥२६॥

यह सत्य नामका व्रत व्रत, आगमज्ञान एवं यमका स्थान ( आधार ); विद्या विनयको विभूषित करनेवाला तथा चारित्र और ज्ञानका शीज ( कारण ) माना गया है ॥२७॥

५५८ ) न हि सत्यप्रतिज्ञस्य पुण्यकर्मावलम्बिनः ।

प्रत्यूहकरणे शक्ता अपि दैत्योरगादयः ॥२८

५५९ ) चन्द्रमूर्तिरिवानन्दं वर्धयन्ती जगत्त्रये ।

स्वगिभिर्धियते मूष्मा कीर्तिः सत्योत्थिता नृणाम् ॥२९

५६० ) खण्डितानां विरूपाणां दुर्विधानां च रोगिणाम् ।

कुलजात्यादिहीनानां सत्यमेष्टं विभूषणम् ॥३०

५६१ ) यस्तपस्वी जटी मुण्डो<sup>१</sup> नग्नो वा चीवरावृतः ।

सोऽप्यसत्यं यदि ब्रूते निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि ॥३१

५५८ ) न हि सत्य—सत्यप्रतिज्ञस्य सत्यव्रताङ्गीकारिणः प्रत्यूहकरणे विघ्नकरणे दैत्योरगादयोऽसुरपच्चाः । अपि हि निरिचतम् । त शक्ताः समर्था भवेयुः । कीर्तिः पुण्यकर्मावलम्बिनः पुण्यकर्मावित्स्येत्यर्थः ॥२८॥ अथ सत्यवादिनां माहात्म्यमाह ।

५५९ ) चन्द्रमूर्तिरिव—नृणां मनुष्याणां सत्योत्थिता कीर्तिः स्वगिभिः मूष्मा ध्रियते । स्वगिभिर्वर्मध्मा मस्तकेन । कं केव । जगत्त्रये, उभयत्र योजयम् । चन्द्रमूर्तिरानन्दं वर्धयन्ती स्वगिभिर्धियते तथेत्यर्थः ॥२९॥ अथ सत्यस्य सर्वेषां भावत्वमाह ।

५६० ) खण्डितानां—एतेषां सत्यमेव विभूषणमाभरणम् । केषाम् । खण्डितानां हस्ताख्यवयवरहीनानां विरूपाणां दुर्विधानां दुष्टानाम् । च पुनः । रोगिणां कुलजात्यादिहीनानाम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥३०॥ अथासत्यवादिनां नित्यत्वमाह ।

५६१ ) यस्तपस्वी—यस्तपस्वी लपोयुक्तः जटी जटाकान् । मुण्डो कृतलोकादिः । नग्नो वस्त्ररहितः । वा अथवा । चीवरावृतः वस्त्रयुक्तो भवति । सोऽप्येतादूशोऽपि यद्यसत्यं ब्रूते, सदा

जो पुण्यज्ञाली मनुष्य सत्यपर दृढ़ रहता है उसके अभीष्टमें वाधा पहुँचानेके लिए दैत्य और सर्प आदिमें कोई भी समर्थ नहीं है ॥२८॥

तीनों लोकोंमें चन्द्रमूर्तिके समान आनन्दके समुद्रको बढ़ानेवाली जो मनुष्योंकी कीर्ति सत्यसे उत्पन्न होती है उसे स्वर्गवासी देव शिरसे धारण करते हैं । अभिप्राय यह है कि सत्यवक्ताकी देव भी प्रशंसा किया करते हैं ॥२९॥

जिनके हाथ-पैर आदि अंग-उपोग खण्डित हैं, जो कुरुप हैं, दीर्घायसे शुक्त (पापिष्ठ) हैं, रोगी हैं, तथा कुल व जाति आदिसे हीन हैं; उन सब ही का भूषण एक सत्य है ॥३०॥

जो तपस्वी हो, जटाओंको धारण करता हो, शिरके मुण्डनसे संयुक्त हो, वस्त्रसे रहित ( नग्न ) हो, अथवा वस्त्रसे बेछित हो; वह भी यदि असत्य वचन बोलता है तो उसे चापड़ालसे भी निन्दनीय समझना चाहिए ॥३१॥

( ५६२ ) कुटुम्बं जीवितं वित्तं पथसत्येन वर्धते ।

तथापि युज्यते वक्तुं नासत्यं शीलशालिभिः ॥३२॥

( ५६३ ) एकतः सकलं पापमसत्योत्थं ततो अन्यतः ।

साम्यमेव वदन्त्यार्थस्तुलायां धृतयोस्तयोः ॥३३॥

( ५६४ ) मूकता मतिवैकल्यं मूर्खत्वं<sup>३</sup> बोधविच्छुतिः ।

वाधिर्यं मुखरोगित्वमसत्यादेव देहिनाम् ॥३४॥

( ५६५ ) इवपाकोलूकमाजरिवृकगोमायुमण्डलाः ।

स्वीक्रियन्ते अवचिङ्गोकर्न सत्याच्छुतचेतसः ॥३५॥

स अन्त्यजाच्चाण्डालादपि निन्दाः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अय ये कुटुम्बार्थमसत्यं ब्रूते तेषामाह ।

( ५६६ ) कुटुम्बं जीवितं—यदि कुटुम्बं स्वजनादि । जीवितं प्राणादि, वित्तं द्रव्यं असत्येन वर्धते । तथापि शीलशालिभिः सदाचारैः असत्यं वक्तुं नाभियुज्यते, असत्यं कथं नोच्यते । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथासत्यवादिनः सर्वपापसमतामाह ।

( ५६७ ) एकतः सकलं—एकतः सकलं जीवहिंसादि पापं तथासत्योत्थं पापम् अन्यतः । तयोरसत्योत्थसर्वपापयोस्तुलायां धृतयोरार्थः साम्यं वदन्ति एव निश्चयेन ॥३३॥ अथासत्यफलमाह ।

( ५६४ ) मूकता मति—देहिनां प्राणिनाम् असत्यादेतत् फलं भवति । कि तत् । मूकता वचोऽभावः । मतिवैकल्यं बुद्धेविषयसिः । मूर्खत्वं जडत्वम् । बोधविच्छुतिः धर्मद्वि भ्रंशाः । वाधिर्यं श्रुत्योः शब्दाभावः । मुखरोगित्वमन्तजिङ्गादिरोगता । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथासत्यवादिनः के इषि न संग्रहन्ति ।

( ५६५ ) इवपाकोलूक — इवपाकोलूकमाजरिवृकगोमायुमण्डलाः चण्डालकौशिकगाजर-

( यदि असत्यके आश्रयसे कुटुम्ब, जीवन अयवा जनकी बृद्धि होती हो तो भी शीलसे शोभायमान मनुष्योंको उसके लिए असत्य बोलना योग्य नहीं है ॥३२॥ )

एक ओर समस्त पाप वथा दूसरी ओर असत्यसे उत्पन्न पाप, इन दोनोंको तराजूके ऊपर रखनेपर उन दोनोंको आर्यजन समान बतलाते हैं । तात्पर्य यह कि अन्य सब ही पाप इस असत्यके ही आश्रित हैं, इसीलिए यह सब पापोंमें मुख्य गिना जाता है ॥३३॥

( गूँगापन, बुद्धिहीनता, मूर्खता, अज्ञानता, बहरापन और मुखरोग; ये सब प्राणियोंके उस असत्यके आश्रयसे हुआ करते हैं ॥३४॥ )

चण्डाल, उलू, बिलाव, भेड़िया, गीदड़ और कुत्ता; इनको तो लोग स्वीकार करते

१. M N यस्य सत्येन वर्धयेत् । २. J तथान्यतः । ३. S V C J X Y R मूर्खता । ४. J बोधविच्छुतिः ।

५. All others except P सत्यशुत ।

- ५६६ ) प्रसन्नोन्नतवृत्तानां गुणानां चन्द्ररोचिषाम् ।  
संघातं वातयत्येव सकृदप्युदितं<sup>१</sup> मृषा ॥३६
- ५६७ ) न हि स्वप्ने इयि संसर्गमसत्यमलिनैः सह ।  
कश्चित्कल्पेति पुण्यात्मा दुरितोल्मुकशङ्क्या ॥३७
- ५६८ ) जगद्वन्ये सतां सेव्ये भवेत्यसनशुद्धिदे ।  
शुभे कर्मणि योग्यः स्यान्नासत्यमलिनो जनः ॥३८

ज्यान्नागीधाकुरुरा लोके ववचित् स्वीक्रियन्ते । सत्यच्युतचेतसो न स्वीक्रियन्ते । इति सूत्रार्थः ॥३५॥  
अथ मृषावाददुश्तामाह ।

५६६ ) प्रसन्नोन्नत—मृषा असत्यं वचः सकृदपि एकवारमपि उदितमुक्तम् एतेषां सञ्जाते  
समूहं वातयत्येव । केषाम् । प्रसन्नोन्नतवृत्तानाम् । पुनः केषाम् । चन्द्ररोचिषां चन्द्रकिरणो-  
ज्ञवलानां गुणानाम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथासत्यवादिसंसर्गं निषेधयति ।

५६७ ) न हि स्वप्ने इयि—कश्चित् पुण्यात्मा असत्यमलिनैः सह स्वप्ने इयि संसर्गं संबन्धं हि  
निश्चितम् । न करोति । कथा । दुरितोल्मुकशङ्क्या पापग्रहाशङ्क्या इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथासत्य-  
वादी धर्मयोग्यो न भवेदित्याह ।

५६८ ) जगद्वन्ये सतां—असत्यमलिनो जनः शुभे कर्मणि योग्यो न स्यात् । कीदृशे कर्मणि ।  
जगद्वन्ये जगद्वृज्ये । पुनः कीदृशे । सतां सेव्ये । पुनः कीदृशे । भवेत्यसनशुद्धिदे संसारकष्ट-  
पवित्रे । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ सत्यासत्यसेवकानाह ।

हैं, किन्तु वे सत्यसे हीन चित्तवाले ( असत्यभावी ) को स्वीकार नहीं करते हैं । सत्यर्थं यह  
कि जो असत्य भाषण किया करता है उसे इन चाण्डाल आदिकोंसे भी निन्दा समझता  
चाहिए ॥३५॥

असत्य वचन एक बार भी उत्पन्न होकर प्रसन्न व उन्नत प्रवृत्तिसे सहित होते हुए  
चन्द्रकी किरणोंके समान शान्तिको प्रदान करनेवाले गुणोंके समूहको नष्ट ही करता  
है ॥३६॥

जो मनुष्य असत्यभाषणसे मलिन है उनके साथ कोई भी पुण्यशाली पुरुष पापरूप  
अंगारकी शंकासे स्वप्नमें भी संगति नहीं करता है ॥३७॥

असत्यसे कलंकित मनुष्य किसी ऐसे शुभ कर्ममें योग्य नहीं है—उस उत्तम अनुष्ठानका  
अधिकारी नहीं है—जो लोकसे चन्द्रनीय, सत्युक्तेंके द्वारा आराधनीय तथा संसारके कष्टों-  
को दूर करनेवाला है ॥३८॥

१. M N चक्रवर्युत्तिता । २. F J V दुरितोल्मुक । ३. M S V C X Y R भवेत्यसन ।

५६९) महामतिभिन्निष्ठूतं<sup>१</sup> देवदेवैनिषेधितम् ।

असत्यं पोषितं पापैर्दुःशीलाधमनास्तिकैः ॥३९

( ५७० ) सुतस्वजनदारार्थं वित्तबैन्धुकृते इथवा ।

आत्मार्थं न वचो इसत्यं वाच्यं प्राणात्यये इपि वा ॥४० ॥

५७१) 'परोपरोधादपि' निन्दितं वचो ब्रुवन्नरो गच्छति नारकीं पुरीम्<sup>२</sup> ।

अनिन्द्यवृत्तो इपि गुणी नरेश्वरो वसुर्यथामादिति लोकविश्रुतम् ॥४१

५६९) महामतिभिः—इदमसत्यवतं महामतिभिन्निष्ठूतं शास्त्रेषु प्रोतं देवदेवैस्तीर्थकरै-निषेधितम् । इदम् असत्यं पापैः पापकारिभिः पोषितम् । कीदृशः पापैः । दुःशीलाधमनास्तिकैः दुराचाराधमनास्तिकैः ॥३९॥ अथ स्वजननिमित्तमसत्यं न वक्तव्यमित्याह ।

५७०) सुतस्वजन—असत्यं वचो न वाच्यम् । कस्मिन्ब्रथं । सुतस्वजनदारार्थं पुश्यदिवार-रामार्थं । अथवा वित्तबैन्धुकृते इव्यभ्रातुकरणाय । आत्मार्थं । च पुनः । प्राणात्यये प्राणनाशेऽपि । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ असत्यभाषणेन नरो नरकं गच्छतीत्याह ।

५७१) परोपरोधात्—परोपरोधात् परेषाम् आग्रहेण अपि निन्द्यं वचो ब्रुवन् नरः नरकं गच्छति । यथा गुणी तथा अनिन्द्यवृत्तः सत्रपि वसुराजा निन्दितवचनं ( अज इत्यस्य छाग इति

जिस असत्य वचनको बुद्धिमान् मनुष्योंने केक दिया है—उसका परित्याग कर दिया है—तथा जिसका जिनेन्द्रदेवके द्वारा निषेध किया गया है उसका पोषण पापी व दुष्ट स्वभाव-वाले निकृष्ट नास्तिकजनोंने किया है ॥३९॥

( प्राण चाहे भले ही नष्ट हो जावें; किन्तु पुत्र, कुदुम्बीजन व स्त्रीके लिए, घन अथवा बन्धुके लिए तथा स्वयं अपने लिए भी कभी असत्य वचन मही बोलना चाहिए ॥४०॥ )

दूसरेके आप्रहसे भी निन्दित ( असत्य ) वचनको बोलनेवाला मनुष्य नारकी पुरीको—नरकगतिको—जाता है । जैसे निर्मल आचरणवाला भी वसुराजा असत्यभाषणके वश नरकगतिको प्राप्त हुआ है, यह लोकप्रसिद्ध वाच है ॥ विशेषार्थ—यहाँ असत्यभाषणवश प्राणीको नरकगतिका भयानक तुल सहना पड़ता है, इसके लिए लोकप्रसिद्ध वसुराजाका उदाहरण दिया है । उसकी कथा इस प्रकार है—एक क्षीरकदम्ब नामका ब्राह्मण चिदानन् देवका अच्छा छाता था । वह एक दिन वनके भीतर स्थित होकर वसु, अपने पुत्र पर्वत और नारद इन तीनोंको आरप्यक वेद पढ़ा रहा था । उसने उस समय आकाशमें जाते हुए किसी आकाशगामी गुनिको यह कहते हुए सुना कि इन वेदाभ्यासियोंमें से दो लोपके बशीभूत हो कर नरकगतिको प्राप्त होनेवाले हैं और दो पुण्यके बशीभूत होकर ऊर्ध्वगामी हैं । यह गुनकर

१. P L निष्ठूर्तं । २. N निरीदितं । ३. M N दारार्थं विस, L S F V C R दारादिविस । ४. M N J त्यये इपि च, S V C J त्यये इयन्ना । ५. ] Om. Verse । ६. All others except P M N L T इति निन्दितं । ७. X Y नारकीं गतिम् । ८. S V C J विश्रुतिः ।

विपरीतमर्थम् ) उक्तवा नरकम् अगात् इति लोके विश्रुतम् ॥८॥। अथासत्यवचःफलं दर्शयितुमुप-  
संहरति । शार्दूलविक्रीडितम् ।

श्रीरकदम्ब संसारसे भयभीत हुआ । तब वह शिष्योंको घर भेजकर स्वयं दूसरी ओर चला गया । उधर ब्राह्मणी (स्वस्तिमती) ने जब श्रीरकदम्बको साथमें आता नहीं देखा तब शिष्यों-से पूछा कि उपाध्याय किधर गया है । इसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि 'मैं आता हूँ' कहकर गुरुने द्वारको यहाँ भेज दिया है । वे भी जाते ही रहे । ऐ गरातः ! तुम इसके लिए व्याकुल न होओ । परन्तु जब दिन भी बीत गया और रात भी बीत गयी, परन्तु श्रीरकदम्ब घर वापस नहीं आया तब स्वस्तिमती बहुत शोकाकुल हुई । उसे निश्चय हो गया कि उसने दीक्षा ले ली है । अन्तमें पर्वत और नारद उसे खोजनेके लिए निकले । इस प्रकारसे खोजते हुए उनको वह मिर्ण्ण अवस्थामें गुरुके समीक्षमें बैठा हुआ दिखा । उसे देखकर पर्वत तो अधीर होकर थोड़ी ही वापस हो गया । परन्तु नारदने प्रदक्षिणापूर्वक उन्हें प्रणाम किया और फिर कुछ सम्भाषण करते हुए उसने उनसे अणुब्रतोंको ग्रहण किया । तत्पश्चात् उसने घर वापस आकर शोकसे सन्तप्त गुरुपत्नीको सान्त्वना दी । उधर वसुके पिताने भी वसुको राज्य देकर दीक्षा ग्रहण कर ली । वसु बहुत धर्मोत्तमा था । वह स्फटिकमणिमय ऊँचे सिंहासनपर बैठता था । इससे लोगोंको वह आकाशमें स्थित दिखायी देता था । इससे पृथिवीपर उसकी इस प्रकारकी कीर्ति फैल गयी थी वह धर्मके प्रभावसे अधर स्थित रहता है ।

एक दिन नारद बहुतसे छात्रोंके साथ गुरुपुत्र पर्वतसे मिलने आया । उस समय पर्वत छात्रोंसे धिरा हुआ उन्हें वेद पढ़ा रहा था । प्रकरणमें 'अजैर्यष्टुल्यम्' यह वाक्य था । उसकी व्याख्या करते हुए पर्वत बोला कि अज शब्दका अर्थ निःसन्देह पशुविशेष ( बकरा ) है । स्वर्ग आनेके इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणोंको उन पशुओंके द्वारा यज्ञ करना चाहिए । इस व्याख्याको सुनकर नारदने कहा कि हे भट्टपुत्र ! तुम और हम साथमें एक ही गुरुके पास पढ़े हैं । क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि गुरुने अज शब्दका अर्थ तीन वर्षका पुराना धान बतलाया था । नारदके इस प्रकार स्मरण करानेपर भी पर्वतने अपने दुराघ्रहको नहीं छोड़ा । बल्कि, उसने प्रतिक्षा की कि हम दोनों वसु राजा की सभामें जाकर अपने-अपने पक्षको स्थापित करें, यदि मैं उसमें पराजित हुँगा तो अपनी जिहाको काट दालूँगा । तत्पश्चात् पर्वतने आकर यह समाचार मातासे कहा । उसे सुनकर स्वस्तिमतीको बहुत सन्ताप हुआ । उसने पुत्रकी निन्दा करते हुए उससे कहा कि तेरा कहना असत्य और नारदका कहना सत्य है । तेरे पिता जो अज शब्दका अर्थ करते थे वही अर्थ नारद कहता है । यह कहकर वह पुत्रमोहसे राशिमें वसुराजाके घर गयी । वसुने यथायोग्य आदर करते हुए उससे आनेका कारण पूछा । उत्तरमें उसने प्रकृत घटनाको सुनाकर उससे पूर्वमें घरोहरके रूपमें रखी हुई गुरुदक्षिणाकी याचना करते हुए कहा कि हे पुत्र ! तू यद्यपि सत्य व असत्य वस्तुस्वरूपको जानता है, फिर भी तुझे नारदके पक्षको दूषित ठहराकर पर्वतके पक्षको स्थापित करना चाहिए । वसुने इसे स्वीकार कर लिया । तदनुसार नियत समयपर उसकी सभा में सब लोगोंके समक्ष पर्वत और नारदके शीघ्र उसपर विवाद हुआ । अन्तमें विद्वानोंने नारदके पक्षकी प्रशंसा करते हुए वसु राजा से ग्रार्थना की कि आप भी इन दोनोंके साथ एक ही गुरुके पासमें

५७१ ) व्यञ्जनमस्तकमौलिरत्नविकट्टयोतिश्छटाडम्बरे-

देवाः पञ्चवयन्ति यच्चरणयोः पीठं<sup>१</sup> लुठन्तो ऽप्यमी ।

कुर्वन्ति ग्रहलोकपालवच्चरा यत्प्रतिष्ठायं कृष्णं

शाम्यन्ति ज्वलनाद्यश्च यदिदं<sup>२</sup> तत्सत्यवाचः फलम् ॥४२

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्र-  
विरचिते सत्यव्रतप्रकरणम् ॥१॥

५७२ ) व्यञ्जनमस्तक—अमी ग्रहलोकपालवच्चराः देवाः । नृणां मनुष्याणां प्रातिहार्थं कुर्वन्ति । कि कुर्वन्तः । यच्चरणयोः पीठे<sup>३</sup> लुठन्तो ऽपि । \*व्यञ्जनमस्तकमौलिरत्नविकट्टयोतिश्छटाडम्बरे-  
व्यञ्जनमस्तकमुकुटरत्नविस्तारिकान्तिश्छटाडम्बरे- पल्लवयन्ति नवपल्लवयुक्तं करोति । च पुनः । ज्वलनादयोऽग्निप्रमुखाः शाम्यन्ति । यत् यस्मात् तदिदं सत्यवाचः फलम् । इति सूत्रार्थः ॥४२॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्य-विरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहपासा तत्पुत्र साहृष्टोडर सत्कुलकमलदिवाकर साहृष्टविदास-स्वश्रूकणार्थं  
पण्डितजिनदासोद्देशमेन मिथ्यावादप्रकरणं समाप्तम् ॥१॥

समजनिष्ट पुरा किल पूर्वजः सुकृतभावितमानसपाश्वर्कः । तदिकपुत्रवरो गुणटोडरः जयतु  
तत्र न ऋषिदासकः ॥१॥ इत्थाशोवदिः । अथ सत्यव्रतानन्तरं यथोद्देशन्यायेन तुतीयव्रतमाह ।

पढ़े हैं, इसलिए आप उस विषयमें जो गुरुका अभिप्राय रहा हो उसे आगमके अनुसार  
बतलाइए । तब वसुने मूढ़ सत्यमें विमूढ़ होकर गुरुके वाक्यका स्मरण करते हुए भी यह  
कहा कि नारदने युक्तियुक्त उपन्यास किया है, परन्तु पर्वतने जो गुरुका कहना था उसे ही  
कहा है । यह कहते ही वसु राजाका वह स्फटिक मणिमय सिंहासन पृथिवीके भीतर धौंस  
गया और वसु राजा भरकर इस असत्य भाषणजनित पापके प्रभावसे सातवीं पृथिवीमें  
स्थित महारौरष नामक नारकविलमें नारकी उत्पन्न हुआ ॥४१॥ देखिए हरिवंशपुराण  
१७२७-१५२ ।

वे देव जो चरणोंमें लोटते हुए उनके ( सत्यभाषी जनके ) पादपीठको नीचे हुके हुए  
महतकपर स्थित मुकुटके रत्नोंकी प्रभाके समूहके आरम्भसे पल्लवित ( अंकुरित या विस्तृत )  
फरते हैं; प्रह, लोकपाल एवं विद्याधर जो मनुष्योंके द्वारपालका काम करते हैं, तथा अग्नि  
आदि जो शान्त हो जाती हैं; यह सब उस सत्य वचनका ही फल है ॥४२॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
सत्यव्रतप्रकरण समाप्त हुआ ॥१॥

१. All others except P M N व्यञ्जनमस्तक । २. All others except P M N J पीठे । ३. All others except P M N L J <sup>४</sup>दयस्त्र नियत ।

## [ चौर्यपरिहारः ]

- 573 ) अनासाद्य व्रतं नाम तृतीयं गुणभूषणम् ।  
नापवर्गपथि प्रायः कवचिद्गुणे मुनिः स्थितिम् ॥१॥
- 574 ) यः समीपस्ति जन्माब्धेः पारमाक्रमितुं सुधीः ।  
स त्रिशुद्धयातिनिःशङ्को नादत्ते कुरुते मतिम् ॥२॥
- 575 ) वित्तमेव मतं सूक्ष्मे प्राणा भावाः शरीरणाम् ।  
तस्यापहारमात्रेण स्युस्ते प्रागेव धातिताः ॥३॥

573 ) अनासाद्य व्रतं—नाम संबोधने । तृतीयं व्रतम् अनासाद्याप्राप्य नापवर्गपथि माक्षमार्गे प्रायो बाहुल्येन मुनिः स्थिति कवचित्त व्रतम् । कीदृशं तृतीयं व्रतम् । गुणभूषणं ज्ञानादिगुणं युक्तमिति सूक्ष्मार्थः ॥१॥ अथ संसाराब्धेः पारमित्तता नादत्तं ग्रहीतव्यमित्याह ।

574 ) यः समीपस्ति—सुधीः पुमान् जन्माब्धेभवसमुद्रस्य पारमाक्रमितुं प्राप्तुं समीपस्ति वाक्छति, स त्रिशुद्धया मनोवाक्यायशुद्धया अदत्ते अदत्तादाने मति न कुरुते । कीदृशः । अतिनिःशङ्कः शङ्कारहितः । इति सूक्ष्मार्थः ॥२॥ अथ द्रव्यस्य बाह्यप्राणत्वमाह ।

575 ) वित्तमेव मतं—सूक्ष्मे शरीरणां वित्तमेव बाल्याः प्राणाः मतम् । तस्य वित्तस्यापहारमात्रेण ते शरीरणः प्रागेव पूर्वमेव धातिता हताः स्युभवेयुरिति सूक्ष्मार्थः ॥३॥ अथ चौर्यकलमाह ।

मुनि जब तक तीसरे अचौर्यमहाव्रतको नहीं प्राप्त कर लेता है तब तक वह प्रायः मोक्षमार्गमें स्थितिको नहीं धारण करता है । तात्पर्य यह कि मोक्षमार्गमें स्थिरताकी प्राप्तिके लिए अचौर्यमहाव्रतका पालन आवश्यक है ॥१॥

जो बुद्धिमान् संसारल्प समुद्रसे पार होनेको इच्छा करता है वह अतिशय निःशंक होकर मन, वचन एवं कायकी शुद्धिपूर्वक अदत्तके प्रहणमें—चौर्यकर्ममें—बुद्धिको नहीं करता है ॥२॥

आगममें प्राणियोंका बाल्य प्राण धन ही माना गया है । इसीलिए धनका हरण करने मात्रसे प्राणीके बैंबाल्य प्राण पहले ही नष्ट हो जाते हैं । अभिप्राय यह है कि मनुष्य धनको प्राणोंसे भी बढ़कर मानते हैं । इसलिए धनके चुराये जानेपर मनुष्यको भारी कष्ट होता है ।

५७६ ) 'गुणा गौणत्वेभायान्ति यान्ति विद्या विडम्बनाम् ।  
चौर्येणाकीर्तयः पुंसां शिरस्यादैधते पदम् ॥४

५७७ ) पुण्यानुष्ठानजातानि प्रणश्यन्तीह देहिनाम् ।  
परवित्तामिषग्रासलालसानाम् भरातले ॥५

५७८ ) परद्रव्यप्रहार्तस्य 'तस्करस्यातिनिर्दया' ।  
गुरुं बन्धुं सुतान् हन्तुं प्रायः प्रशा प्रवर्तते ॥६

५७६ ) गुणा गौणत्वम्—विद्या: सम्बरकानोपदेशकानि शास्त्राणि परवित्तग्रहितैविडम्बन-स्तेषां यान्ति गुणा गौणत्वे गुणहीनत्वम् आयान्ति प्राप्नुवन्ति । पुंसां पुश्याणाम् । शिरसि अप-कीर्तयः पर्वं स्थानं दधते । केन । चौर्येण । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ चौर्ये सुकृतमाह ।

५७७ ) पुण्यानुष्ठान—इह भरातले संसारे देहिनां शरीरिणां पुण्यानुष्ठानजातानि सुकृत-कर्मसमूहाः प्रणश्यन्ति भाशां यान्ति । कीदृशानां देहिनाम् । परवित्तामिषग्रासलालसानाम् अन्य-द्रव्यमासकबलभक्षणलुब्धानाम् । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ चौरस्य निर्देयत्वमाह ।

५७८ ) परद्रव्य—“इह संसारे तस्करस्य चौरस्य गुरुबन्धुसुतान् हन्तुं मारयितुं प्रायो बाहु-लयेन प्रज्ञा बुद्धिर्वर्तते । कीदृशस्य । परद्रव्यप्रहार्तस्य परवित्तप्रहृणपीडितस्य । कीदृशी प्रज्ञा । निर्दया दयाराहितेत्यर्थः ॥६॥ अथ चौरस्य स्वरूपमाह ।

यहाँ तक कि कितने ही मनुष्य तो धनके नष्ट हो जानेपर अतिशय सन्तान होकर आणोंको भी दे देते हैं । इस प्रकार वह चौर्यकर्म महती हिसाका कारण है ॥३॥

चौर्यकर्मसे उत्तमोत्तम गुण गौण हो जाते हैं—उनका कोई भी कीर्तन नहीं करता है, विद्याएँ तिरस्कार अथवा उपहासको प्राप्त होती हैं, तथा उससे मनुष्योंकी अपकीर्ति सिरपर पैरको धारण करती है । तात्पर्य यह कि चौरीसे उत्तम गुण तो सब लुप्त हो जाते हैं और मनुष्यकी अकीर्ति सब ओर फैल जाती है ॥५॥

संसारमें दूसरेके धनस्त्रप मासके ग्रासकी इच्छा करनेवाले प्राणियोंके सभी पवित्र अनुष्ठानोंका समूह नष्ट हो जाता है—चौरीके कारण मनुष्योंके सब सदाचरण लक्ष्य हो जाते हैं ॥५॥

जो चौर दूसरेके धनके प्रहरणमें व्याकुल रहता है उसकी अत्यन्त दुष्टबुद्धि प्रायः करके गुरु, हितैषी, मित्र आदि और पुत्रोंके भी बातमें प्रवृत्त होती है ॥६॥

१. Ms. C ends here । २. P गुणत्वभायान्ति । ३. J शिरसि दधते । ४. L S F V J X R तस्करस्येह, Y तस्करस्याति । ५. | निर्दयं । ६. All others except P गुरुबन्धुसुतान् । ७. प्रजायते ।

- ५७९ ) हृदि यस्य पदं धत्ते परवित्तामिषस्पृहा ।  
करोति कि न कि तस्य कण्ठलग्नेव सर्पिणी ॥७
- ५८० ) चुराशीलं विनिश्चित्य परित्यजति शङ्कुता ।  
वित्तापहारदोषेण जनन्यपि सुतं निजम् ॥८
- ५८१ ) आतरः पितरः पुत्राः स्वकुल्या मित्रबान्धवाः ।  
संसर्गमयि नेच्छन्ति क्षणार्थमयि तस्करैः ॥९
- ५८२ ) न जने न दने चेतः स्वस्थं चौरस्य जायते ।  
मृगस्येवोद्दतव्याधादाशङ्कय बधमात्मनः ॥१०

५७९ ) हृदि यस्य—यस्य पुंसः हृदि पदं स्थानं परवित्तामिषस्पृहा परद्रव्यमांसस्पृहा वाञ्छा धत्ते, तस्य पुंसः कण्ठलग्ना सर्पिणीय कि कि न करोति । अपि तु सर्वं करोतीत्यर्थः ॥७॥ अथ चौर मातापि त्यजति तदाह ।

५८० ) चुराशीलं—जनन्यपि मातापि निजं सुतं परित्यजति । कि कुत्वा । चुराशीलं चौर्यकरिण्यु विनिश्चित्य निश्चयीकृत्य । कीदृशो जननी । वित्तापहारदोषेण शङ्कुता भीता । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ तस्करसंसर्गी निषेधयति ।

५८१ ) आतरः पितरः—इह जगति तस्करैः चोरैः सार्थं क्षणमयि एते न संसर्गमिच्छन्ति । के । आतरः, पितरः, पुत्राः । सुगमम् । स्वकुल्याः निजकुलोङ्गवाः मित्रबान्धवाः । पुनवन्धवग्रहणं मुखजलिपता । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ चौरास्थिरत्वमाह ।

५८२ ) न जने न—चौरस्य चेतः स्वस्थं न जायते । जने लोके । न दने कातने । कि कुत्वा । बात्मनो वधं मरणमाशङ्कय ज्ञात्वा । कस्येव । मृगस्येव । यथा उद्दतव्याधात् उपर्वधिकादात्मनो मरणमाशङ्कति तद्विति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ चौरस्य स्वरूपमाह ।

जिसके हृदयमें परधनरूप भासिकी इच्छाने घर कर लिया है, उसके कण्ठमें उगी हुई सर्पिणीके समाल वह क्या-क्या अनर्थ नहीं करती है । तात्पर्य यह कि परधनकी अभिलाषा सर्पिणीकी अपेक्षा भी अतिशय घातक है ॥७॥

अपने पुत्रको चोरी करनेका स्वभाववाला जानकर माता भी चौर्यकर्मके दोषसे भय-भीत होकर उसका परित्याग कर देती है ॥८॥

भाई, पिता, पुत्र, अपने वंशज, मित्र और बान्धव ( हितैषी जन ) आदि चोरोंके साथ आवे क्षणके लिए संगतिकी भी इच्छा नहीं करते हैं । तात्पर्य यह कि चोरोंको सब ही क्षणकी दृष्टिसे देखते हैं ॥९॥

जिस प्रकार प्रबल व्याघ्रसे अपने मारे जानेकी आशंकासे सृगका चित्त कहीपर निराकुल नहीं रहता है उसी प्रकार चोरका चित्त भी न जनसमुदायमें निराकुल रहता है

- ५८३ ) संत्रासोदभ्रान्तचेतस्कश्चौरो जागर्त्यहर्निशम् ।  
वश्चेयात्रै वश्चेयात्र मार्येयात्रेति शब्दितः ॥११
- ५८४ ) नात्मरक्षा न दाक्षिण्यं लोपकारो न धर्मताै ।  
न सतां शंसितं कर्म चौरः स्वप्ने इषि बुध्यतेै ॥१२
- ५८५ ) तुणाङ्कुरमिवादाय घातयन्त्यविलम्बितम् ।  
चौरं विज्ञाय निःशङ्काै धीमन्तो इषि धरातले ॥१३
- ५८६ ) गुरुबो लाघवं नीता गुणिनो इप्यत्र खण्डिताः ।  
चौरसंश्रयदोषेण यतयो निष्ठनं गताः ॥१४

५८३ ) संत्रासोदभ्रान्त—चौरो इहनिशं दिवारात्रं जागर्ति । कीदृशः चौरः । संत्रासोदभ्रान्तचेतस्कः भयभ्रान्तमनाः । अत्राहं वश्चेय ताङ्मीयः । अत्राहं विशेष घरणीयः । अत्र मार्येय मारणीयः । अत्रेति शब्दितः शब्दकाकुलः । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अय चौरो धर्मं त किमपि वेत्ति ।

५८४ ) नात्मरक्षा—चौर एतत्सवं स्वप्ने इषि न बुध्यते जानाति । कि तत् । नात्मरक्षा निजरक्षणं, न दाक्षिण्यं, लोपकारः, न धर्मता, न सतां सत्पुरुषाणां शंसितं वाङ्मित्रं कर्म । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ तेषां वध्यतामाह ।

५८५ ) तुणाङ्कुरम्—धीमन्तो बुद्धिमन्तः चौरं विज्ञाय जात्वा अविलम्बितं घातयन्त्येव धरातले पृथ्वीतले । कीदृशा धीमन्तः । निःशङ्काः । कि कृत्वा । तुणाङ्कुरमिवादाय गृहीत्वा । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ तत्संसर्गफलमाह ।

५८६ ) गुरुबो लाघवं—चौरसंश्रयदोषेण चौरसंसर्गवशात् गुरुबो इषि पूज्या अपि लाघवं और न बनमें ( एकान्तमें ) भी निराकुल रहता है । तात्पर्य यह कि चाहे गृहस्थ हो और चाहे साधु हो, जिसके हृदयमें परधनकी अभिलाषा है वह सदा और सर्वत्र व्याकुल ही रहता है ॥१४॥

चित्तमें भयसे व्याकुल रहनेवाला चौर यहाँ पीड़ित किये जाने, पकड़े जाने और मारे जानेकी आशंकासे भयभीत होकर दिन-रात जानता है—वह सदा ही व्याकुल रहता है ॥१५॥

चौर स्वप्नमें भी न अपनी रक्षाको जानता है, न सरलताको जानता है, न उपकारको जानता है, न धर्मके स्वरूपको जानता है, और न सत्पुरुषोंके प्रशंसित कर्म ( किया ) को भी जानता है ॥१६॥

इस पृथिवीतलपर चौरको जानकर बुद्धिमान् मनुष्य भी उसे तुणके अंकुरके समान

१. M बुध्येयात्र । २. J मार्येयात्रेति । ३. All others except P J रक्षां...लोपकारं...धर्मतां ।

४. All others except P बुध्यति । ५. S V R interchanges १३-१४, X Y om. । ६. L S घातयन्त्येवि । ७. L S T F V R निःशङ्कं ।

५८७ ) विशन्ति नरकं घोरं दुःखज्वालाकरालितम् ।  
अमुत्रे नियतं<sup>३</sup> मूर्ढ्नाणिनश्चौर्यचविताः ॥१५

५८८ ) सरित्पुरगिरिग्रामवनवेशमजलादिषु ।  
स्थापितं पतितं नष्टं परस्वं त्यज सर्वथा ॥१६

५८९ ) चिदचिद्रूपतापन्नं यत्परस्वमनेकधा ।  
तत्प्राज्यं संयमोदामसीमांसंरक्षणोद्यतैः ॥१७

नीता लघुत्वं प्राप्ताः । गुणिनोऽपि पण्डिता अपि खण्डिताः कृताः । यत्थोऽपि जितेन्द्रिया अपि निधनं विनाशं गताः । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ तेषां नरकफलमाह ।

५८७ ) विशन्ति—अपुत्र परलोके घोरं नरकं विशन्ति प्रविशन्ति मूढाः । कीदूरं नरकम् । दुःखज्वालाकरालितं दुःखगिनश्चिखापीडितम् । नियतं निश्चितम् । प्राणिनः मूढाः । पुनः । चौर्यचविताः<sup>४</sup> चौर्यसिक्ताः । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथान्येषामनुशासति ।

५८८ ) सरित्पुरगिरि—रे भव्य, परस्वं परद्रव्यं सर्वथा त्यज । कीदूरं परस्वम् । सरित्पुरगिरिग्रामवनवेशमजलादिषु स्थापितम् । तत्र सरित् नदो । पुरादिकं प्रसिद्धम् । गिरयः पर्वताः, ग्रामाः अनवास्तव्याः, वनं प्रसिद्धं, वेशम् शून्यं गृहं, जलादिषु तडागादिषु ॥१६॥

५८९ ) चिदचिद्रूपता—यत् परस्वम् अनेकधा परद्रव्यं तत् त्याज्यं हेयम् । कैः । संयमोदामसीमांसंरक्षणोद्यतैः चारिशोत्तमयादासंरक्षणपरः । कीदूरं परस्वम् । चिद्रूपतापन्नं चेटिकादि, अचिद्रूपतापन्नं सर्वद्रव्यमिति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ सर्वथा अदर्शं निषेधयति ।

—तुच्छ धासके तिनकेके समान—प्रहृण करते हैं और निःशंक होकर शीघ्र ही धास कर डालते हैं ॥१३॥

चोरकी संगतिसे उत्पन्न दोषके कारण यहाँ महापुरुष लघुताको प्राप्त हुए हैं, गुणीजन अपमानित हुए हैं, और मुनिजन मरणको प्राप्त हुए हैं ॥१४॥

चौर्यकर्मसे चवाये गये—उसमें संलग्न रहनेवाले—मूर्खं प्राणी नियमसे परलोकमें दुःखोंकी ज्वालाओंसे विकराल भयानक नरकके भीतर प्रविष्ट होते हैं ॥१५॥

हे भव्य ! नदी, नगर, पर्वत, प्राम, वन, घर और जल आदिमें रखे गये, गिरे हुए अथवा नष्ट हुए दूसरेके धनका सर्वथा परित्याग कर—उसकी किसी भी अवस्थामें तू इच्छान कर ॥१६॥

जो संयमकी प्रवण्ड सीमा—हड़ प्रतिष्ठा—के संरक्षणमें प्रबन्धनशील हैं उन्हें, जो परधन चेतन (स्त्री, पुत्र, दास-दासी व पशु-पक्षी आदि) और अचेतन (सोना, चाँदी एवं वस्त्र-बर्तन आदि) के रूपमें अनेक प्रकार का है उसका परित्याग करना चाहिए ॥१७॥

१. J करालिताः । २. P अमुत्र = भवान्तरे । ३. T नयतं मूढ़ । ४. All others except P M N T मूढाः प्राणिन् । ५. M N L T F V J चविताः । ६. J तत्र तन्नहं । ७. All others except P सीमासंरक्षणोऽ । ८. R धनोद्यतैः ।

५९० ) आस्तां परधनादित्सा<sup>१</sup> करुं स्वप्ने ऽपि धीमताम् ।  
तृणमात्रमपि ग्रासं नादनं दन्तशुद्धये ॥१८

५९१ ) अतुलसुखसिद्धिहेतोर्धर्मयशश्चरणरक्षणार्थं च ।  
इह परलोकहितार्थं च कुरु स्वप्ने ऽपि मा चौर्यम् ॥१९

५९२ ) विषयविरतिमूलं संयमोत्तुल्याखं<sup>३</sup>  
यमदलशमपुष्पं ज्ञानलीलाफलाख्यम् ।  
विवृद्धजनशकुन्तैः सेवितं धर्मवृक्षं  
दहति मुनिरपीह स्तेयतीव्रान्तेन ॥२०

५९० ) आस्तां पर—वीमतां बुद्धिमतां स्वप्ने ऽपि तृणमात्रमप्यदर्तं न ग्राह्यं दन्तशुद्धये । परधनादित्सा परद्रव्यग्रहणेच्छां करुं दूरे आस्ताम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥१८॥ अथ इहलोके परलोके च चौर्यं निषेधयति । आर्थ ।

५९१ ) अतुलसुख—इह परलोकहितार्थं चित्ते चौर्यमाकलथतः । पुनः किमर्यम् । अतुलसुख-सिद्धिहेतोर्धर्मयश्चनिमित्ताय । च पुनः । धर्मयशश्चरणरक्षणार्थं, चरणं चारित्रं, वीर्णं सुगमं तदर्थम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥१९॥ अथ तमुपर्यहरति । मालिनी छन्दः ।

५९२ ) विषयविरति—इह जगति मुनिरपि स्तेयतीव्रान्तेन चौर्यतीव्रान्तिना धर्मवृक्षं दहति । कीदृशं धर्मवृक्षम् । विषयविरतिमूलम् इन्द्रियश्चापारप्रत्याख्यामूलम् । पुनः कीदृशम् । संयमोदा<sup>२</sup>-मशास्त्रं चारित्रोल्कटशाखाम् । यमा एव यम एव पुष्पाणि, यमदलान्ति च शमपुष्पाणि च यमदलशम-पुष्पम् । पुनः कीदृशम् । ज्ञानलीलाफलाद्वयं ज्ञानकीडाफलपूर्णम् । पुनः कीदृशम् । विवृद्धजनशकुन्तैः शकुन्ताः पक्षिणः तैः सेवितमित्यर्थः ॥२०॥

बुद्धिमान् पुरुषोंके परधन ग्रहण करनेकी इच्छा तो स्वप्नमें भी दूर रहे, उन्हें तो वैतीर्णीकी शुद्धिके लिए—उन्हें स्वच्छ करनेके लिए—बिना दिये हुए तृणमात्र ( दातीन ) को नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥१८॥

अनुपम सुखकी सिद्धिके लिए; धर्म, यज्ञ और चारित्रकी रक्षाके लिए, तथा इस लोक और परलोकसम्बन्धी शिलके लिए चोरीकी चित्तमें भी नहीं करो—मनसे चोरीका विचार भी न करो ॥१९॥

जो धर्मरूपी वृक्ष विषयविरतिरूप जहसे स्थिर, संयमरूप ऊँची शाखाओंसे विशुल, महाश्रवोरूप वत्तों एवं कषायोपशमरूप पुष्पोंसे सुशोभित, ज्ञानकी लीलारूप फलोंसे संयुक्त और पण्डितजनरूप पक्षियोंसे सेवित है; उसे मुनि भी वहाँ चोरीरूप तीव्र अग्निके द्वारा जला डालता है ॥२०॥

१. M N दित्सा, P = ग्रहणेष्वां ।    २. All others except P चित्तेऽपि ।    ३. L S F V J R  
° मीदामशाखं ।

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-विरचिते  
चौर्यपरिहारप्रकरणम् ॥१०॥

इस्ति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहृपासा तत्पुत्रसाहृष्टोङ्गर तत्कुलकमलविवाकर साहृष्टपिदासस्वश्रवणार्थं  
पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापिते चौर्यनिषेधप्रकरणं समाप्तम् ॥१०॥

साहृष्टप्राद्वराजः समजनि पुरा धर्मविष्यातकीतिस्तत्पुत्रष्टोङ्गराख्यः सकलगुणभूत्माननीयः  
स्वभूपैः । राजत्सोभाग्यभाग्यः परमसुमनीरेषिदासः प्रसिद्धो ज्ञातुं तस्य तृतीयत्रिमिह सुपतीष्ठित्रुतो-  
द्वामतेजः ॥१॥ इत्याक्षीर्दिः । अथ यथाक्रमम्भायेन चौर्यविरत्यनन्तरं स्त्रीविषयविरतिमाह ।

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
चौर्यपरिहार प्रकरण समाप्त हुआ ॥१०॥

## [ कामप्रकोपः ]

५९३ ) विदन्ति॑ परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः ।  
तदूद्रतं ब्रह्मचर्य॑ स्याद्वीरधीरेयगोचरम् ॥१॥

५९४ ) सप्रपञ्चं प्रवक्ष्यामि ज्ञात्वेदं गहनं ब्रतम् ।  
स्वल्पोऽपि न सत्ता क्लेशः कार्योऽस्यालोक्ये विस्तरम् ॥२॥

५९५ ) एकमेव ब्रतं इलाध्यं ब्रह्मचर्यं जगत्क्रये ।  
यद्विशुद्धि॒ समाप्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥३॥

५९३ ) विदन्ति—तद् ब्रह्मचर्यं ब्रतं स्यात् यद् ब्रह्मचर्यं समालम्ब्य आश्रित्य । परमं ब्रह्म परमं ज्ञानं विदन्ति ज्ञानन्ति योगिनः । कोदृष्टम् । \*वीरधीरेयगोचरम् । धीरेयाः प्रधानाः सेषां गोचरम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ तत् सविस्तरमाह ।

५९४ ) सप्रपञ्चं—इदं गहनं तुर्यब्रतं ज्ञात्वा सप्रपञ्चं सविस्तरं प्रवक्ष्यामि । अस्य ब्रतस्य विस्तरमालोक्य स्वल्पोऽपि क्लेशः सत्ता सत्पुरुषाणां म कार्यः । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ तस्य माहात्म्यमाह ।

५९५ ) एकमेव—जगत्क्रये ब्रह्मचर्यमेकमेव ब्रतं इलाध्यम् । यद्विशुद्धि॒ समाप्ना ब्रह्मविशुद्धि॒-माश्रिताः पूजितैरपि पूज्यन्ते । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ पुनस्तस्त्वरूपमाह ।

जिसका आलम्बन लेकर योगीज्ञन उक्खेष्ट आत्माको ज्ञानते हैं तथा जो बीर धुरंधरों-का विषय है—जिसके बोझको बीर धुरंधर ही धारण करते हैं—वह ब्रह्मचर्यब्रत है ॥१॥

इस ब्रतको गहन ज्ञानकर मैं उसका विस्तारपूर्वक कथन करूँगा । इसके विस्तारको देखकर साधुजनोंको थोड़ा-सा भी क्लेश नहीं करना चाहिए ॥२॥

तीनों लोकोंमें वह एक ही ब्रह्मचर्यब्रत प्रशंसनीय है जिसकी विशुद्धिको आम होकर साधुज्ञन पूजित जनोंके द्वारा भी पूजे जाते हैं ॥३॥

१. All others except P. L. P विदन्ति । २. P ] स्याद्वीर । ३. M. N कार्यं स्यालोकविस्तर ।

596 ) ब्रह्मवत्तमिदं जीयाच्चरणस्यैव जीवितम् ।

स्युः सन्तोऽपि गुणा येन विना क्लेशाय देहिनाम् ॥४

597 ) नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैर्न दीनैनासैनिर्जितैः ।

स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥५

598 ) पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम् ।

योवित्संगां द्विरक्तेन त्याज्यमेव भनीष्णा ॥६

599 ) आर्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृद्ध्यसेवनम् ।

तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात् संसर्गस्तुर्यमिष्यते ॥७

596 ) ब्रह्मवत्तमिदं—इदं ब्रह्मवत् जीयात् । चरणस्यैव जीवितं चारित्रस्यैव जीवितम् । येन ब्रह्मवतेन विना सन्तोऽपि गुणाः क्लेशाय देहिनां स्युरिति सूक्ष्मार्थः ॥४॥ अथ ब्रह्मचर्यवत्तस्वरूपं दर्शयति ।

597 ) नाल्पसत्त्वैर्न—एतादृशैर्नरैः इदं ब्रह्मचर्यं स्वप्ने ऽपि चरितुं न शक्यम् । कीदृशैः । अल्पसत्त्वैः । न शक्यं चरितुम् इति सर्वत्र योज्यम् । न निःशीलैः आचाररहितैः । न दानैः । न अक्षिभिर्जितैः इन्द्रियैर्जितैः । इति सूक्ष्मार्थः ॥५॥ अथ पुनर्ब्रह्मचर्यस्वरूपमाह ।

598 ) पर्यन्तविरस—च पुनः । अन्यत् मैथुनं दशधा दशप्रकारेण विद्धि जातीहि । कीदृशम् । पर्यन्तविरसम् अत्ये नीरसम् । भनीष्णा पण्डितेन योवित्संगविरक्तेन स्त्रीसंसर्गरहितेन त्याज्यमेव त्यजनीयमेवेत्यर्थः ॥६॥ अथ तस्य दशवात्त्वमेवाह ।

599 ) आर्यं शरीर—आर्यं प्रथमं शरीरसंस्कारः । द्वितीयं वृद्ध्यसेवनम् इष्टरससेवनम् । तृतीयं तीर्यत्रिकं स्यात् । संसर्गः तुर्यं चतुर्यमिष्यते । इति सूक्ष्मार्थः ॥७॥

जिसके बिना अन्य गुण विद्यमान होते हुए भी प्राणियोंके लिए क्लेशके कारण होते हैं वह चारित्रका प्राणभूत ब्रह्मचर्यवत् जीवा रहे ॥४॥

जो मनुष्य दुर्बल, शीलसे रहित, दीन और इन्द्रियोंके अधीन हैं वे इसमें भी इस ब्रह्मचर्यवतका पालन नहीं कर सकते हैं ॥५॥

इस ब्रह्मचर्यके विरुद्ध अन्य जो मैथुन है वह इस प्रकारका है और वह अन्यमें नीरस है—परिणाममें अहितकारक है, ऐसा निश्चित जानना चाहिये । इसलिए बुद्धिमान मनुष्यको स्त्रीसंभोगसे द्विरक्त होकर इस मैथुनका परित्याग ही करना चाहिए ॥६॥

इस प्रकारके मैथुनमें प्रथम शरीरका संस्कार ( शृंगार ), द्वितीय गरिष्ठ भोजन,

१. X जीयाच्चारित्रस्यैव । २. ] नाल्पिभिर्जितैः । ३. N स्वलोऽपि । ४. Y योविदङ्गाद्विरक्तेन । ५. L वृष्ण-सेवन, F V मिष्टभोज्य । ६. L °मिष्यति, S F V तुर्यमीक्षयते ।

६०० ) योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्तितम् ।

तदज्ज्ञवीक्षणं पञ्चं संस्कारः सम्पर्म मतम् ॥८

६०१ ) पूर्वानुभूतसंभोगस्मरणं स्यात्तदृष्टम् ।

नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिंभोक्षणम् ॥९

६०२ ) किपाकफलसंभोगसंनिभं तद्वि मैथुनम् ।

आयातमात्ररम्यं स्याद्विपाके अत्यन्तभीतिदम् ॥१०

६०३ ) विरज्य कामभोगेषु वे ब्रह्म समुपासते ।

एते दश महादोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये ॥११॥ अपि च-

६०० ) योषिद्विषय—योषिद्विषयसंकल्पः स्त्रीविषयेच्छा पञ्चमं परिकीर्तितम् । तदज्ज्ञवीक्षणं तस्याः स्त्रियः अज्ञवीक्षणं षष्ठम् । संस्कारः<sup>१</sup> सम्पर्म मतम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥

६०१ ) पूर्वानुभूत—पूर्वानुभूतसंभोगस्मरणं पूर्वभूतभोगस्मृतिः तदृष्टमं स्यात् । नवमं भाविनी भविष्यच्चिन्ता । दशमं वस्तिंभोक्षणं वीर्यभोजनभिति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ तेषां विपाकमाह ।

६०२ ) किपाक—तन्मैथुनं हि निश्चितं किपाकफलसंनिभं किपाकफलसदृशं मारणात्मकत्वात् द्विति । पुनः कोदृशस्त् । आपातरम्यम् आगमनमात्रमनोहरं स्यात् । विपाके कर्मजन्यफलभोक्तव्ये अत्यन्तभीतिर्व भयदमिति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथैतेषां दशदोषाणां त्यज्यत्वमाह ।

६०३ ) विरज्य—वे पुरुषा ब्रह्म समुपासते सेवन्ते । कि कृत्वा । कामभोगेषु विरज्य विरक्तीभूय । एते दश महादोषा भावशुद्धये तौ त्याज्याः । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अपि च । अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

तीसरा तीर्यविक—गीतका सुनना, नृत्यका देखना और वायका सुनना—चौथा स्त्रीसे सम्बन्ध स्थापित करना, पाँचवाँ स्त्रीविषयक विचार, छठा स्त्रीके आगोका देखना, सातवाँ स्त्रीका संस्कार करना, आठवाँ पूर्वमें अनुभव किये गये सम्भोगका स्मरण करना, नीवाँ आगोकी चिन्ता और दसवाँ वीर्यका भारण माना गया है ॥११-१॥

वह मैथुन किपाक फल ( विषफल ) के समान प्रारम्भमें ही—भोगते समय ही—रमणीय प्रतीत होता है । परन्तु परिपाकके समय वह अतिशय भयप्रद होता है ॥१०॥

जो सज्जन कामभोगोंसे विरक्त होकर ब्रह्म ( आत्मा ) की उपासना करते हैं उन्हें अपने परिणामोंको निर्मल रखनेके लिए इन दस दोषोंका परित्याग करना चाहिए ॥११॥

१. All others except P N T X संस्कारः । २. N T परमं मतम् । ३. S V R पूर्वानुभूतिः ।

४. X नवमी । ५. F V वस्तुमोक्षणम् । ६. P Second line added on the margin.

७. P 1st line added on the margin । ८. T Y दोषास्त्याज्यास्तैः । ९. P M L F अपि च ।

६०४ ) स्मरप्रकोपसंभूतान् स्त्रीकृतान् मैथुनोत्थितान् ।

संसर्गप्रभवान् तात्वा दोषान् स्त्रीषु विरज्यताम् ॥१२॥ तदथो—

६०५ ) सिक्तो उप्यम्बुधरातैः प्लावितो उप्यम्बुराशिभिः ।

न हि त्यजति संतापं कामवह्निप्रदीपितः ॥१३॥

६०६ ) मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने व्यञ्जे नभसि भास्करः ।

न प्लोषति तथा लोकं यथा दोषः स्मरानलः ॥१४॥

६०७ ) हृदि ज्वलति कामाग्निः पूर्वमेव शरीरिणाम् ।

भस्मसात्कुरुते पश्चादङ्गोपाङ्गानि निर्दयः ॥१५॥

६०४ ) स्मरप्रकोप—भो लोकाः, स्त्रीषु विरज्यतां विरक्तीभूयताम् । कि कृत्वा । दोषान् पूर्वोक्तान् संसर्गप्रभवान् स्त्रीसंबन्धजातान् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ तदथा दर्शयति ।

६०५ ) सिक्तो उप्यम्बु—कामवह्निः प्रदीपितः संतापं न हि त्यजति । कीदृशः । अम्बुधरातैः मेघसमूहैः सिक्तो इषि । पुनः कीदृशः । अम्बुराशिभिः ज्वलसमूहैः प्लावितो इषि तारितो इषि । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ कामस्य संतापकारित्वमाह ।

६०६ ) मूले ज्येष्ठस्य—भास्करः सूर्यः लोकं तथा न प्लोषति न दहति । क्व । ज्येष्ठस्य मासस्य मध्याह्ने नभसि आकाशे मूले । पुनः कीदृशः । व्यञ्जे बभराहते । पथेति दृष्टान्तोपन्यासार्थ । स्मरानलः कन्दपाग्निः दोषः सन् यथा लोकं ज्वलयति । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ तत्कार्यमाह ।

६०७ ) हृदि ज्वलति—कामाग्निः शरीरिणां पूर्वमेव हृदि ज्वलति । पश्चात् अङ्गोपाङ्गानि

इसके अविरिक्त कामके प्रकोपसे उत्पन्न हुए स्त्रीके द्वारा किये गये, मैथुन कियासे उत्पन्न हुए, तथा संरगतिके आशयसे होनेवाले भी दीर्घोक्ते ज्ञानकर स्त्रियोंके विषयमें विरक्त होना चाहिए ॥१२॥

वे दोष इस प्रकार हैं—जो प्राणी कामरूप अग्निसे सन्तप्त होता है वह मेघसमूहोंके द्वारा अभिविक्त होकर भी सन्तापको नहीं छोड़ता है तथा समुद्रमें डुबोया जानेपर भी वह उस सन्तापको नहीं छोड़ता है ॥१३॥

ज्येष्ठ मासके प्रारम्भमें मध्याह्न ( दोपहर ) के समय मेघोंसे रहित आकाशमें स्थित सूर्य प्राणियोंको वैसा सन्तप्त नहीं करता है जैसी कि उदीप हुई ( भड़की हुई ) कामरूप अग्नि उन्हें सन्तप्त करती है । तात्पर्य यह कि कामका सन्ताप सूर्यके सन्तापसे भी भयानक होता है ॥१४॥

कामरूप अग्नि भिश्चयसे प्राणियोंके हृदयमें जलती है । परन्तु वह पीछे निर्दयतापूर्वक

६०८ ) अचिन्त्यकामभीगीन्द्रविषव्यापारमूलितम् ।

बीक्ष्य विश्वं विवेकाय यतन्ते योगिनः परम् ॥१६

६०९ ) स्मरव्यालविषोदूगारैवीक्ष्य विश्वं कदर्थितम् ।

यमिनः शरणं जग्मुविवेकविनतासुतम् ॥१७

भस्मसात् सर्वं भस्म कुर्वते । कोदृशः । निर्दयः ॥१५॥ अथ योगिनः कामे व्याप्तं लोके हृष्ट्वा यत् कुर्वते तदाह ।

६०८ ) अचिन्त्यकाम—योगिनः परं केवलं विवेकाय यतन्ते यतन्ते कुर्वते । कि कुर्त्वा । विश्वं जगत् बीक्ष्य हृष्ट्वा । कोदृशं विश्वम् । अचिन्त्यकामभीगीन्द्रविषव्यापारमूलितम् अचिन्त्यकामदर्पनामेन्द्रगरुदक्रियामोहितमिति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ जगत् कामात् विवेकमुपगच्छतीत्याह ।

६०९ ) स्मरव्याल—यमिनो द्रवितनः विवेकविनतासुतं विवेकगृहं शरणं जग्मुः । कि कुर्त्वा । विश्वं कदर्थितं पीडितं बीक्ष्य । कौः । स्मरव्यालविषोदूगारैः कन्दर्पविषोदूगारैरिति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ कन्दर्पमाहात्म्यमाह ।

उसके अंग और उपांगोंको जला डालती है । अभिप्राय यह है कि हृदयमें कामवासनाके उत्तर द्वारा पर प्राणियोंका सारा ही शरीर पीड़ित होता है ॥१५॥

योगीजन लोकको अचिन्तनीय कामरूप महान् सर्पके विषके प्रयोगसे मूलित देखकर केवल विवेकके लिए—स्व-परभेदविज्ञानके लिए—ही प्रयत्न करते हैं । विशेषार्थ—प्राणीके हृदयमें जब तक स्व-परविवेक नहीं होता है तभी तक वह विषयभोगोंमें रत रहता है । परन्तु जैसे ही उसे वह विवेक प्राप्त होता है वैसे ही वह स्त्री आदिको पर व है य आनंदर उनकी ओर से विरक्त होता हुआ उत्तम व तपमें उद्युक्त हो जाता है । कहा भी है—  
क्षानिसंग-तपोध्यानैरध्यसाध्यो रिपुः स्मर । वेहात्मभेदव्यानोत्थवैराग्येणैव साध्यते ॥  
अर्थात् कामदेवरूप शत्रु ज्ञानियोंकी संगति, तप और ध्यानसे भी नहीं जीता जाता है । वह उसे केवल शरीर और आत्माके भेदव्यानसे उत्पत्ति हुए वैराग्यके ही प्रभावसे जीता जाता है । [ सा० ध० ६, ३२ ] ॥१६॥

संयमीजन लोकको कामदेवरूप सर्पके विषके उगाल ( वमन ) से पीड़ित देखकर विवेकरूप गृह उक्तीकी शरणमें प्राप्त हुए हैं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार गृह पक्षीका आश्रय लेनेसे सर्पका विष नष्ट हो जाता है उसी प्रकार विवेकका आश्रय लेनेसे उस विषके समान भव्यानक वह कामदेव भी नष्ट हो जाता है । यही कारण है जो साधुजन कामको वशमें करनेके लिए उसी स्व-परविवेकका आश्रय लिया करते हैं ॥१७॥

६१० ) एक एव समरो वीरः स चैको अचिन्त्यविक्रमः ।  
अवज्ञयैव येनेदं पादपीठोऽकृतं जगत् ॥१८

६११ ) एकाक्षयपि जैयत्येष जीवलोकं चराचरम् ।  
मनोभूर्भुक्तमानीय स्वशक्त्यात्याहतक्रमः ॥१९

६१२ ) पीड्यत्येव निःशङ्को मनोभूर्भुवनत्रयम् ।  
प्रतीकारशतेनापि यस्य भङ्गो न भूतले ॥२०

६१३ ) कालकूटादहं मन्ये स्मरसंज्ञं महाविषम् ।  
स्यात्पूर्वं सप्रतीकारं निःप्रतीकारमुच्चरम् ॥२१

६१० ) एक एव—समरः कन्दर्पः एक एव वीरः सुभटः एक एव अचिन्त्यविक्रमः अचिन्त्यपराक्रमः । येन कामेन इदं जगत् अवज्ञया इदं खेदेन विना पादपीठोऽकृतम् अधस्तात् कृतम् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

६११ ) एकाक्षयपि—एष कन्दर्पो जयति एकाक्षयपि । कम् । जीवलोकं चराचरं त्रसस्थावरम् । मनोभूः कामः । भङ्गम् आनीय पराजयं कृत्वा । स्वशक्त्या स्ववलेन व्याहतक्रमः सर्वतेजारी इत्यर्थः ॥१९॥ अथ कामस्य अजैयत्वमाह ।

६१२ ) पीड्यत्येष—मनोभूः कामः भुवनत्रयं जगत्वयं पीड्यत्येव । कीदृशः । निःशङ्कः । यस्य कामस्य प्रतीकारशतेनापि उपायशतेनापि भूतले भङ्गो न भवतीति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ तस्य दुःप्रतीकारत्वमाह ।

६१३ ) कालकूटादहं—अहमेवं मन्ये । कालकूटात् स्मरसंज्ञं कन्दर्पनाम् महाविषं स्यात् । त्वं सप्रतीकारं उपायसाध्यमित्यर्थः । उत्तरं कन्दर्पविषं निःप्रतीकारम् उपायरहितमित्यर्थः ॥२१॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

चूँकि कामदेवने इस लोकको तिरस्कारपूर्वक अपना पादपीठ बना लिया है—उसे पैरोंसे कुचल डाला है, अतएव निश्चित है कि लोकमें एक वही शीर है और वही एक अचिन्त्य पराक्रमका भी धारक है ॥१८॥

निर्बाध पराक्रमका धारक वह कामदेव त्रस व स्थावर प्राणियोंसे परिपूर्ण जीवलोक-को अपनी शक्तिके प्रभावसे अकेला ही खण्डित करके जीतता है ॥१९॥

वह कामदेव निर्भय होकर तीनों ही लोकोंको पीछिल करता है । यदि उसका सैकड़ों प्रकारसे भी प्रतीकार किया जाय तो भी इस प्रृथिवीके ऊपर वह किसीके द्वारा भी नहीं रोका जा सकता है ॥२०॥

कामदेवनामक महाविष कालकूट विषकी अपेक्षा अतिशय भयानक है, ऐसा मैं मानता हूँ । कारण यह कि कालकूट विषका तो प्रतीकार ( उपाय ) है, किन्तु उस कामदेव नामक महाविषका कोई प्रतीकार नहीं है ॥२१॥

६१४ ) जन्तुजातमिदं मन्ये स्मरत्त्वाप्रदीपितम् ।

पूर्वत्यग्यात्यात्मात्मा पुरन्धीकायकर्त्तम् ॥२२

६१५ ) अनन्तत्यसनासारदुर्गेभवमस्थले ।

स्मरज्वरपिपासाताँ दिष्ट्वान्ते शरीरिणः ॥२३

६१६ ) धृणास्पदमतिकूर्णं पापाद्वयं योगिदृष्टिम् ।

जनोऽयं कुरुते कर्म स्मरत्ताद्लब्धिर्वितः ॥२४

६१७ ) दिङ्मूढमथै विभ्रान्तमुन्मत्तं शङ्खिताशयम् ।

विलक्षणं कुरुते लोकं स्मरवैरी विजृम्भितः ॥२५

६१४ ) जन्तुजातम्—अहम् एवं मन्ये । इदं जन्तुजातां प्राणिसमूहः अगाधं पुरन्धीकायपञ्चम् अध्यास्य आश्रयित्वा मउजति निमञ्जति । कोदृशम् । स्मरत्त्वाप्रदीपितं कन्दपमितज्वलितम् इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ शरीरिणां संसारभ्रमणमाह ।

६१५ ) अनन्त—[शरीरिणः दिष्ट्वान्ते द्विष्ट्वान्ते । कोदृशाः । स्मरज्वरेण या विषासा तृष्णा तथा आताः पीडिताः सन्तः । क्वच । भवः संसारः एव मरुस्थलं निर्जलप्रदेशः तत्र । पुनः कीदृशां तत् स्थलम् । अनन्तानि यानि व्यसनानि दुःखानि तेषाम् आसारेण वृष्टया दुर्गं गन्तु कठिनम् इत्यर्थः ॥२३॥ स्मरात्तस्य चेष्टितमाह ।

६१६ ) धृणास्पदम्—स्मर एव शार्दूलः व्याघ्रः तेन चवितः ग्रसितः अयं जनः धृणास्पदं निन्दितम् । अतिकूरम् अतिनिष्ठुरं पापपूर्णं योगिभिः दृष्टिं कर्म कुरुते । इत्यर्थः ॥२४॥ स्मरवैरिणः चेष्टितमाह ।

६१७ ) दिङ्मूढः—विजृम्भितः प्रवृद्धः स्मरः एव शत्रुः लोकं दिङ्मूढं दिशानन्तरहितं, शङ्खिताशयं संशययुक्तान्तःकरणं तथा विलक्षणं लज्जितं करोति ॥२५॥] अथ शरीरिणां संसार-भ्रमणम् आह ।

यह प्राणिसमूह कामदेवरूप अभिसे सन्तप्त होकर स्त्रीके शरीररूप अथाह कीचड़का आश्रय लेता हुआ उसके भीतर दृष्ट जाता है ऐसा मैं समझता हूँ ॥२६॥

अनन्त दुखरूप सैन्यकी व्याप्रिसे दुर्गम ( अथवा अनन्त दुखसे परिपूर्ण होकर व्याघ्रकी दुर्लभतासे सहित ) ऐसे संसाररूप मरुस्थलके भीतर कामज्वररूप व्याससे पीड़ित प्राणी खेदको प्राप्त होते हैं ॥२७॥

यह प्राणी कामदेवरूप सिंहका ग्रास बनकर जिस धृणित व अतिशय क्रूरतापूर्ण कृत्यको करता है वह पापसे परिपूर्ण होनेके कारण योगीजनोंके द्वारा निन्दित है ॥२८॥

कामदेवरूप शत्रुका विकास लोकको दिङ्मूढ—दिशानन्तसे रहित, आन्तिसे संयुक्त, उन्मत्त—सुध-बुधसे रहित, शंकित चित्तवाला और आश्चर्यचकित करता है ॥२९॥

६१८ ) न हि क्षणमपि स्वर्थं चेतः स्वप्ने ऽपि जायते ।

मनोभवशरद्रातैर्भिद्यमानं शरीरिणाम् ॥२६

६१९ ) जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।

लोकः कामानलज्जालाकलापक्वलीकृतः ॥२७

६२० ) भोगिदष्टस्य जायन्ते वेगाः समैव देहिनः ।

स्मरभोगीन्द्रदष्टानां दश स्युस्ते महाभयाः ॥२८॥ तथाथ-

६२१ ) प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुभिन्नति ।

स्युस्तृतीये इतिनिश्चासाशच्चतुर्ये भजते ज्वरम् ॥२९

६२२ ) पञ्चमे दद्यते गात्रं पष्ठे भक्तं न रोचते ।

सप्तमे स्यान्महामूर्च्छी उन्मत्तदमधाष्टमे ॥३०

६१८ ) न हि शशदपि—लोकां वेतः स्वप्नम् । हि निनितम् । स्वप्ने ऽपि स्वर्थं न जायते । कीदृशं चेतः । मनोभवशरद्रातैः कन्दर्पशरसमूहः भिद्यमानम् । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ कामव्याप्तलोकस्य विवेकाभावमाह ।

६१९ ) जानन्नपि—लोकः जानन्नपि न जानाति । पश्यन्नपि न पश्यति । कीदृशः लोकः । कामानलज्जालाकलापक्वलीकृतः कन्दपस्मिन्ज्जालासमूहप्रासीकृतः । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ पुनः कामतो इपायमाह ।

६२० ) भोगिदष्टस्य—देहिनः भोगिदष्टस्य सर्पदष्टस्य समैव वेग जायन्ते । स्मरभोगीन्द्रदष्टानां कन्दर्पसर्पेन्द्रदष्टानां दश महाभयाः स्युरिति सूत्रार्थः ॥२८॥ तथाथ ।

कामदेवके वाणसमूहोंसे वेघा जानेवाला प्राणियोंका मन स्वप्नमें भी क्षणभरके लिए स्वरूप नहीं रहता है—वह सदा ही व्याकुल रहता है ॥२६॥

कामरूप अग्निकी ज्वालाओंके समूहसे प्रसित लोक वस्तुस्वरूपको जानता हुआ भी नहीं जानता है वथा देखता हुआ भी नहीं देखता है । तात्पर्य यह कि कामसे पीड़ित मनुष्य की विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है ॥२७॥

सर्पके द्वारा उसे गये प्राणिके सात ही वेग उत्पन्न होते हैं । किन्तु कामदेवरूप सर्पराजके द्वारा उसे गये—उसके वशीभूत हुए—प्राणियोंके महान् भयको उत्पन्न करनेवाले वे वेग दस हुआ करते हैं ॥२८॥

वे दस वेग इस प्रकार हैं—पहले वेगमें चिन्ता उत्पन्न होती है—स्त्रीके विषयमें विचार उद्दिव होता है, दूसरे वेगमें उसके देखनेकी इच्छा करता है, तीसरे वेगमें अतिशय इवासोच्छ्रवास होते हैं—वह दीर्घ इवासोंको छोड़ता है, चौथे वेगमें उवरका अनुभव करता है, पाँचवें वेगमें शरीरमें दाह उत्पन्न होती है, छठे वेगमें भोजन नहीं रुचता है, सातवें वेगमें

१. L S F V R स्युस्ते भयानकाः । २. P M L K तथाथ—। ३. S F V R तृतीये दीर्घनिश्चासाः, X Y तृतीयेऽपि । ४. S F V X Y R भुक्तः ।

६२३ ) नवमे प्राणसंदेहो दशमे मुच्यते असुभिः ।

एतैर्वेगैः समाकान्तोऽजीवस्तत्त्वं न पश्यति ॥३१

६२४ ) संकल्पवशतस्तीव्रा वेगा मन्दादत्त मध्यमाः ।

मोहूज्वरप्रकोपेन प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥३२

६२५ ) अपि मानसमुक्तुङ्गनगशृङ्गाग्रवर्तिनाम् ।

स्मरवीरः क्षणार्थेन विधत्ते मानस्त्वण्डनम् ॥३३

६२६ ) शोलशालभतिकम्य धोधनैरपि तन्यते ।

दासत्वमन्त्यजस्त्रीणां संभोगाय स्मराशया ॥३४

६२१-३ ) प्रथमे जायते—असुभिः, प्राणैः । इति सूक्ष्मार्थैः ॥२९-३१॥ अथ कामसंकल्पतारत्तम्यमाह ।

६२४ ) संकल्पवशतः—इह संसारे देहिनों प्राणिनां \*कामज्वरप्रकोपेन कन्दर्पैज्वरकोषाद् । संकल्पवशतः स्तीव्रा वेगाः । च पूनः । मन्दाः मध्यमाः जायते । इति सूक्ष्मार्थैः ॥३२॥ अथ मारस्त्वसर्वजयित्वमाह ।

६२५ ) अपि मान—स्मरवीरः कन्दर्पसुभटः क्षणार्थेन मानस्त्वण्डनं विधत्ते । केषाम् । मानसमुक्तुङ्गनगशृङ्गाग्रवर्तिनामपि मानोऽव्यवर्तशृङ्गाग्रवर्तिनामपि । इत्यर्थः ॥३३॥ अथ बुद्धिमतामपि कामवश्यत्वमाह ।

६२६ ) शोलशालम्—अन्त्यजस्त्रीणां चाण्डालस्त्रीणामपि दासत्वं तन्यते विस्तार्यते । कैः ।

दीर्घ मूर्छा आती है—वह अचेत हो जाता है, आठवेंमें उन्मत्तता होती है—वह पागलके समान चेष्टा करने लगता है, नौवें वेगमें प्राणोंका सन्देह होने लगता है—वह मरणोन्मुख हो जाता है, और दसवें वेगमें प्राणोंसे मुक्त हो जाता है—मर जाता है । इस प्रकार इन दस वेगोंसे पीड़ित होकर कामी जीव अस्तुस्वरूपको नहीं देखता है ॥२९-३१॥

लोकमें भोहूरूप उवरके प्रकोपसे प्राणियोंके संकल्पके अनुसार वे वेग तीव्र, मध्यम और मन्द भी होते हैं ॥३२॥

जो प्राणी मानस्त्व ऊँचे एवंतके शिखरपर स्थित हैं उनके उस मानका खण्डन कामदेवरूप सुभट शृण्यभरमें कर डालता है । अभिप्राय यह है कि कामके आगे बढ़े बढ़े अभिमानी जनोंका भी मान गलित हो जाता है ॥३३॥

जो बुद्धिरूप धनके धारक हैं—अतिशय बुद्धिमान हैं—वे भी कामदेवकी आङ्गासे

१. P Second line added on the margin, असुभिः = प्राणैः । २. J एतैरङ्गी । ३. M समाकान्तः । ४. S T F V J X Y R कामज्वर । ५. L मन्यते ।

- 627 ) प्रवृद्धमपि चारित्रं व्यक्षयत्याशु देहिनाम् ।  
निरुणदि श्रुतं सत्यं धैर्यं च मदनव्यथा ॥३५  
628 ) नासने शयने याने स्वजने भोजने स्थितिम् ।  
क्षणमात्रमपि प्राणी प्राप्नोति स्मरशल्यितः ॥३६  
629 ) वित्तबृत्तबलस्यान्तं स्वकुलस्य च लाङ्छनम् ।  
मरणं वा॑ समीपस्थं न स्मरात्तः प्रपश्यति ॥३७

धीवनेरपि । कि कृत्वा । शीलशालं शीलमयदिभतिकम्य । किमर्जसु । संभोगाय कर्मणे । स्मराङ्गया ।  
इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ कामस्य चारित्रधर्मस्कल्पमाह ।

627 ) प्रवृद्धमपि—मदनव्यथा कामपीडा प्रवृद्धमपि चारित्रम् आशु शीघ्रम् । देहिनां  
व्यक्षयति विनाशयति । श्रुतं शास्त्रं निरुणदि रुच्यने करोति । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ सर्वावस्थासु  
कामिनः चञ्चलत्वमाह ।

628 ) नासने—स्मरशल्यितः कन्दर्पशल्यवान् प्राणी जीवः क्षणमात्रमपि स्थिति न  
प्राप्नोति । क्व । आसने, उपकेशने, शय्यायां, याने, गमने, स्वजने परिवारे, भोजने भोजनवेळायाम-  
पीत्यर्थः ॥३६॥ अथान्धत्वं कामिनो दर्शयति ।

629 ) वित्तबृत्त—स्मरात्तः वित्तबृत्तबलस्यान्तं । वित्तं द्रव्यं, वृत्तम् आचारः, बलं शरीर-  
बलं, तेषामन्तं विनाशं समीपस्थं न पश्यति । च पुनः । स्वकुलस्य लाङ्छनं कलञ्जुं न पश्यति ।  
समीपस्थमिति सर्वत्र योज्यम् । वा अथवा । मरणं समीपस्थं न प्रपश्यति । इति सूत्रार्थः ॥३७॥  
अथ मदनस्य सर्वतः आविक्षयमाह ।

शीलरूप कोटको लाँघकर सम्भोगके लिए चाषडाल स्त्रियोंकी भी दासवाको करते हैं । तात्पर्य  
यह कि कामके वशीभूत हुआ मनुष्य नीच स्त्रियोंकी भी सेवा किया करता है ॥३४॥

कामकी पीड़ा प्राणियोंके वृद्धिगत भी चारित्रको शीघ्र नष्ट करके उनके आगमकान,  
सत्य और धैर्यको भी रोक देती है ॥३५॥

प्राणी कामरूप कौटिसे पीड़ित होकर आसन ( बैठने ), शयन, गमन, कुदुम्बीजन  
और भोजनके विषयमें क्षणमर भी स्थिरताको नहीं प्राप्त होता है । विद्वेषार्थ—अभिप्राय यह  
है कि जिस प्रकार कौटि से विद्ध हुआ मनुष्य उसकी वेदनासे अतिशय दुखी होता है और  
इसीलिए उसका मन भोजन-पानादि किसी भी कार्यमें नहीं उगता है उसी प्रकार कामकी  
वेदनासे व्याकुल मनुष्यका भी मन किसी कार्यमें नहीं उगता है ॥३६॥

कामसे पीड़ित मनुष्य धन, संयम व शक्तिके विनाशको; अपने कुछकी मङ्गिनताको  
तथा समीपमें आये हुए मरणको भी नहीं देखता है ॥३७॥

१. All others except P L F शत्यतः । २. M N वित्तं वृत्तं बल० । ३. M N J मरणं च ।

६३० ) न पिशाचोरगा रोगा न दैत्यग्रहराक्षसाः ।

पीडयन्ति तथा लोकं यथेयं मदनव्यथा॑ ॥३८

६३१ ) अनासाञ्च जनः कामी कामिनी॒ हृदयप्रियाम् ।

विषशस्त्रानलोपायै॒ सद्यः स्वं हन्तुमिच्छति ॥३९

६३२ ) दक्षो मूढः क्षमी क्षुद्रः शूरो भीरुगुरुल्लघुः

तीक्ष्णः कुण्ठो वशो अष्टो जनैः स्यात् स्मरमोहितः ॥४०

६३३ ) कुर्वन्ति वनिताहेतोरचिन्त्यमपि साहसम् ।

नराः कामहठात्कारविघुरीकृतचेतसः ॥४१

६३० ) न पिशाचोरगाः—यथा वर्य मदमज्वऱ॑ कामज्वरः लोकं पीडयति न पिशाचोरगाः  
तथा लोकं पीडयन्ति । न रोगाः लोकं तथा पीडयन्ति । तथा न दैत्यग्रहराक्षसाः लोकं पीडयन्ति ।  
इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ कामिनः स्त्रीविरहेणापायत्वमाह ।

६३१ ) अनासाञ्च—अनासाञ्च अप्राप्य । कैः । विषशस्त्रानलोपायै॒ गरजास्त्रानिप्रमुखोपायै॒ ।  
इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ कामार्तस्य सर्वदोषाकरत्वमाह ।

६३२ ) दक्षो मूढः—स्मरवक्षितो॑ जनः वशो वित्तेन्द्रियः अष्टः स्यात् । तीक्ष्णः कुण्ठः स्यात् ।  
गुरुः गम्भीरो लघुः स्यात् । शूरो भीरुः स्यात् । क्षमी क्षमावान् । क्षुद्रः कोपवान् । दक्षः चतुरः मूढः  
स्यादित्यर्थः ॥४०॥ अथ कामिनी॒ साहसमाह ।

६३३ ) कुर्वन्ति—नराः मनुष्याः, वनिताहेतोः॑ स्त्रीहेतोः॑, अचिन्त्यमपि साहसं कुर्वन्ति ।  
कर्थमूलाः॑ । कामहठात्काराः॑ कामवशगाः॑ । पुनः कीर्त्तनाः॑ । विघुरीकृतचेतसः॑ विकलीकृतमानसाः॑ ।  
इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ कामस्य निरङ्कुशत्वमाह ।

पिशाच, सर्प, रोग, दैत्य, ग्रह और राक्षस भी प्राणियों को उतनी पीड़ा नहीं देते  
जितनी कि कामकी वेदना उनको पीड़ा दिया करती है ॥३८॥

कामी पुरुष अपने हृदयको प्रिय लगानेवाली स्त्रीको न पाकर विष, शस्त्र और अन्ति  
आदि उपायोंके द्वारा शीघ्र ही अपने आत्मधातकी इच्छा करता है ॥३९॥

कामसे मुख्य हुआ प्राणी चतुर होकर भी मूर्ख हो जाता है, क्षमाक्षील होकर भी दुष्ट  
बन जाता है । शूर होकर भी कायर जैसी चेष्टा करने लगता है, महान् होकर भी हीनताका  
कार्य करता है, तीक्ष्ण होकर भी कुण्ठित हो जाता है, तथा वित्तेन्द्रिय होकर भी भ्रष्ट हो  
जाता है ॥४०॥

जिन मनुष्योंका मन कामके द्वारा बलपूर्वक व्याकुल किया गया है वे स्त्रीके निमित्त  
अचिन्तनीय ( अपूर्व ) भी साहसको किया करते हैं । अभिप्राय यह है कि जो कार्य सर्व-

१. All others except P यथायं मदमज्वरः । २. N शस्त्रनलोपायै॒ । ३. N अष्टो नटः । ४. All others except P स्मरवक्षितः । ५. S F V X R° कृतमानसाः ।

634 ) उन्मूलयत्यविश्रान्तं पूज्यं श्रीधर्मपादपम् ।

मनोभवमहादन्ती मनुष्याणां निरक्षुशः ॥४२

635 ) प्रकुप्यति नरः कामी बहुलं ब्रह्मचारिणे ।

जनाय जाग्रते चौरो रजन्यां संचरन्निव ॥४३

636 ) स्तुषां श्वश्रूं सुतां धात्रीं गुरुपत्नीं तपस्विनीम् ।

तिरश्चीमपि कामातों नरः स्त्रीं भोक्तुभिन्नति ॥४४

637 ) किं च कामशरव्रातजर्जे मनसि स्थितिम् ।

निमेषमपि बध्नाति न विवेकसुधारसः ॥४५

634 ) उन्मूलयत्ति—मनोभवमहादन्ती । श्रीधर्मपादवं श्रीधर्मवृक्षम् । अविश्रान्तं निरन्तरम् उन्मूलयत्ति । पुनः कोदृशम् । पूज्यम् । केवाम् । मनुष्याणाम् । कीदृशः मनोभवमहादन्ती । निरक्षुशः अक्षुशरहितः । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथ कामी शोलवन्तं देष्टितमाह ।

635 ) प्रकुप्यति—कामी नरः बहुलं ब्रह्मचारिणे प्रकुप्यति । क इव । चौर इव । यथा चौरः रजन्यां संचरन् जाग्रते जनाय प्रकुप्यति । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ कामी सर्वाः स्त्रीः कामयते ।

636 ) स्तुषां श्वश्रूं—कामातों नरः स्तुषां वर्ष, श्वश्रूं, सुतां पुत्रीं, धात्रीं मातृक्षिणां, गुरुपत्नीं, लपस्विनीं, तिरश्चीमपि तिर्यक्षीमपि । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ मनोभववश्यतामाह ।

637 ) किं च काम—विवेकसुधारसः मनसि स्थिति न बध्नाति । कीदृशे मनसि । कामशरव्रातजर्जे कम्दपैबाणसमूहजर्जे । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ हरिहरादीनां संसर्गमाह ।

साधारणके लिए अतिशय कठिन प्रतीत होते हैं उनके करनेका भी कामी पुरुष साहस किया करता है । इसके लिए अंजनचौर आदिके अनेकों डदाहरण कथाप्रन्थोंमें देखे जाते हैं ॥४१॥

कामदेवरूप मदोन्मत्त शाश्वी निरक्षुश—नियन्त्रणसे रहित—होकर निरन्तर मनुष्योंके पूजनीय व शोभायमान धर्मरूप वृश्चको उखाड़ा करता है ॥४२॥

जिस प्रकार रातमें संचार करनेवाला चौर जागनेवाले मनुष्यके ऊपर कुपित होता है उसी प्रकार प्रायः कामी पुरुष ब्रह्मचारी मनुष्यके ऊपर कुपित होता है ॥४३॥

कामसे पीड़ित मनुष्य पुत्रवधू, सास, पुत्री, उपमाता ( माता भी ), गुहकी पत्नी, साध्वी और तिर्यक्षी ( स्त्री पशु ) के भी भोगमेकी ढक्का करता है ॥४४॥

और भी—कामके बाणसमूहसे जर्जर ( छेदयुक्त ) किये गये ममके भीतर विवेकरूप असूतरस क्षणभर भी स्थितिको नहीं बाँधता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार छेदोंसे

638 ) हरिहरपितामहाद्या बलिनो ऽपि तथा स्मरेण विष्वस्तः ।  
त्यक्तव्या यथैते स्वाङ्कान्नारीं न मुञ्चन्ति ॥४६

639 ) यदि प्राप्तं त्वया मूढं नृत्वं जन्मोप्रसंक्रमे ।  
तदा तत्कुरु येनेयं स्मरज्ज्वाला विलीयते ॥४७

640 ) स्मरदहनसुतीत्रानन्तसंतापविद्धं  
भुवनमिति समस्तं वीक्ष्य योगिप्रबीराः ।  
विगतविष्यसंगाः प्रत्यहं संश्रयन्ते  
प्रशमजलधितीरं संयमारामरम्यम् ॥४८

638 ) हरिहर—हरिहरपितामहाद्या: कृष्णमहादेवत्रहाद्या: बलिनो ऽपि तथा स्मरेण  
कन्दपेण विष्वस्तः । यथा एते गतव्या गतलञ्जाः स्वाङ्कान्नारीं मुञ्चन्ति नेत्यर्थः ॥४६॥ अथ  
नरस्योपदेशमाह ।

639 ) यदि प्राप्तं—हे मूढ़, त्वया नृत्वं यदि प्राप्तम् । क्व । जन्मोप्रसंक्रमे भवोप्रसंक्रमणे  
तदा तत् कुरु । येनेयं स्मरज्ज्वाला कामज्ज्वाला विलीयते विलयं यातोत्यर्थः ॥४७॥ अथ ब्रह्म[चर्य]-  
भुपसंहरति । मालिनी छन्दः ।

640 ) स्मरदहन—योगिप्रबीराः योगिसुधाराः प्रशमजलधितीरं शान्तिसमुद्रपारं प्रत्यहं  
निरन्तरं संश्रयन्ते आश्रयन्ते । कीदृशं प्रशमजलधितीरम् । संयमारामरम्यं चरित्राराममनोहरम् ।  
किं कृत्वा । भुवनं समस्तम् इति वीक्ष्य पूर्वोक्तप्रकारेण विलोक्य । कीदृशा योगिप्रबीराः । विष्ट-  
विष्यसंगाः नष्टेन्द्रियव्यापारसंगाः । कीदृशं भुवनम् । स्मरदहनसुतीत्रानन्तसंतापविद्धं कन्दपा-  
रिमसुतीत्रानन्तसंतापयुक्तम् । इति सूत्रार्थः ॥४८॥

युक्त वर्तनमें भरा गया पानी शृणभर भी स्थित नहीं रहता है उसी प्रकार कामज्ज्वालासे विद्ध  
हुए मनमें अमृतके समान सुखप्रद विवेक भी शृणभरके लिए स्थित नहीं रहता ॥४७॥

विष्णु, महादेव और ब्रह्मा आदि बलज्ञाली जन भी इस कामदेवके द्वारा इस प्रकारसे  
लग किये गये हैं कि जिससे थे निर्झर होकर स्त्रीको अपनी गोदसे नहीं छोड़ते हैं ॥४६॥

हे मूर्ख ! यदि तूने संसारमें तीव्र गतिसे परिभ्रमण करते हुए मनुष्यभवको प्राप्त कर  
लिया है तो वह कार्य कर कि जिससे यह कामकी ज्वाला शान्त हो जावे ॥४७॥

समस्त लोक कामरूप अग्निके अतिशय तीव्र व अनन्त सन्तापसे पीड़ित हो रहा है,  
यह देख करके श्रेष्ठ योगीज्ञन विषयोंकी संगतिसे रहित होकर—उनका परित्याग करके—  
निरन्तर संयमरूप उद्यानसे रमणीय शान्तिरूप समुद्रके तटका आश्रय लेते हैं ॥४८॥

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-विरचिते  
ब्रह्मवत्विचारे<sup>१</sup> कामप्रकोपप्रकरणम् ॥११॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहृपासा तत्पुत्रसाहृष्टोङ्गर लत्कुलकमलदिवाकर साहृष्टपिदास-स्वश्रवणार्थ  
पण्डितजिनदासोद्यमेन स्त्रीविषयविरतिः समाप्ता ॥११॥

भूतपूर्वः सुपाद्वर्णियः ठोडरो गुणवत्सलः । अृविद्वासस्युतस्तस्थ पातु तं नाभिनन्दनः ॥१॥  
आशीर्वादः । अथ स्त्रीणां चरितमाह ।

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें ब्रह्मवत्व-  
विचारमें कामप्रकोप प्रकरण समाप्त हुआ ॥११॥

१. M विचारकामप्रकोप<sup>२</sup> ।

## [ स्त्रीस्वरूपम् ]

- 641 ) कुर्बन्ति यन्मदोद्रेकदपिता भूवि योषितः ।  
शतांशभिः स्त्रैः न वश्चतुं कदिदोक्षः ॥१॥
- 642 ) धारयन्त्यमृतं वाचि हृदि हालाहलं विषम् ।  
निसर्गकुटिला नाथीं न विद्वः केवल निमिताः ॥२॥
- 643 ) वज्रज्वलन्तेखेव भोगिदृष्टेव केवलम् ।  
वनितेयं मनुष्याणां संतापभयदायिनी ॥३॥

641 ) कुर्बन्ति—भूवि पृथिव्यां योषितः रापाः मदोद्रेकदपिता: सदाविक्षयगविताः यत्  
कुर्बन्ति । इह जगति तस्य स्त्रीकर्तव्यस्य शतांशभिः वश्चतुं कदिदन्तेश्वरः समर्थो भवेत्, इति  
सूत्रार्थः ॥१॥ अथ तासां स्वरूपमाह ।

642 ) धारयन्त्यमृतं—हालाहलं सहस्रातिविषविशेषम् । निसर्गकुटिलाः स्वभाववक्त्राः ।  
वेषं सुषमम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ पुनरस्तत्स्वरूपं दर्शयति ।

643 ) वज्रज्वलन्—इयं वनिता स्त्री मनुष्याणां संतापभयदायिनी । कीदृशी । वज्र-  
ज्वलन्तेखेव वज्राभिनशिखेव । केवलं भोगिदृष्टेव सर्वदाढा इव । इति सूत्रार्थः ॥३॥ [ पुनरस्त-  
त्स्वरूपमाह ।

इस भूतलधर कामके उन्मादकी वृद्धिसे गर्वको प्राप्त हुई स्त्रियाँ जो अकार्य करती  
हैं उसके सीबैं भागका वर्णन करनेके लिए कोई समर्थ नहीं हैं ॥१॥

स्वभावसे मायापूर्ण व्यवहार करनेवालों स्त्रियाँ वचनमें अमृतको तथा हृदयमें  
हालाहल (एक विशेष जातिका भयानक विष) विषको धारण करती हैं—वे दूसरोंको ठगनेके  
लिए वचन तो मधुर बोलती हैं, परन्तु मनमें उनके धातका ही विचार करती हैं । हम नहीं  
जानते कि उन्हें किसने बनाया है ॥२॥

यह स्त्री वज्राभिनकी रेखाके समान अथवा सर्वकी विषेली दाढ़के समान मनुष्योंको  
केवल सन्ताप और भयको ही दिया करती है ॥३॥

- 644 ) उद्वासयति निःशङ्का जगत्पूज्यं गुणब्रजम् ।  
बधनती वसति चित्ते सतामपि नितम्बिनी ॥४
- 645 ) वरथालिङ्गिता कुद्वा चलल्लोलात्र सर्पिणी ।  
न पुनः कौतुकेनापि नारी नरकपद्धतिः ॥५
- 646 ) हृदि दसे तथा दाहं न सृष्टा हुतभुक्षिशङ्का ।  
वनितेयं यथा पुंसामिन्द्रियार्थप्रकोपिनी ॥६
- 647 ) संध्येव क्षणरागाङ्क्षा निम्नगेवाभरप्रियाः ।  
वक्रा वालेन्दुलेखेव भवन्ति नियतं स्त्रियः ॥७

644 ) उद्वासयति—नितम्बिनी बनिता । सज्जनानामपि गुणब्रजं गुणसमूहम् उद्वासयति विनाशयति । कीदृशी नितम्बिनी । चित्ते वसति बधनती मनसि तिष्ठन्ती । यदा सुजनः तामहतिश ध्यायति तदा । इति सूत्रार्थः ॥४॥] पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

645 ) वरथालिङ्गिता—वरं चलल्लोला अतिसर्पिणी गच्छुचचचला अतिसर्पिणी आलिङ्गिता कुद्वा कुपिता । न पुनः । कौतुकेनापि नारी आलिङ्गिता । कीदृशी । नरकपद्धतिः नरकथेणो । इति सूत्रार्थः ॥५॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

646 ) हृदि दसे—यथा इयं वनिता ह्यो पुंसा पुष्पाणाम् । इन्द्रियार्थप्रकोपिनी पञ्चेन्द्रियविषयार्थकोपिनी । तथा हुतभुक्षिशङ्का अस्तिज्वाला सृष्टा सतो हृदि दाहं न \*धत्ते । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ स्त्रीणां वक्रत्वमाह ।

647 ) संध्येव—स्त्रियः नियतं निश्चितं क्षणरागाङ्क्षाः क्षणरागयुक्ताः । केव । संध्येव यथा संध्या क्षणरागवतो । पुनः कीदृशी । अधरप्रिया नीचप्रिया । केव । निम्नगेव, यथा निम्नगा नदी

सत्युरुषोंके भी मनमें धरको बाँधनेवाली—स्थानको प्राप्त करनेवाली—स्त्री निर्भय होकर समस्त संसारसे पूजे जाने ओर गुणसमूहको उजाड़ देती है—नट कर देती है ॥४॥

चलती हुई चंचल जिह्वावाली कुद्वा सर्पिणीका आलिंगन करना कही अक्षरा है, परन्तु नरकके मार्गभूत—नरकको प्राप्त करनेवाली—स्त्रीका कुतूहलपूर्वक भी आलिंगन करना ठीक नहीं है ॥५॥

आलिंगन की यही अभिनकी ज्वाला मनुष्योंके हृदयमें वैसे दाहको नहीं देती है जैसे दाहको यह इन्द्रियविषयोंको कुपित करनेवाली स्त्री दिया करती है ॥६॥

जिस प्रकार सन्ध्या क्षणभरके लिए राग ( लालिमा ) से व्याप्त हुआ करती है उसी प्रकार स्त्रियाँ भी नियमसे क्षणभरके लिए ही रागसे व्याप्त हुआ करती हैं—क्षणभरके लिए ही वे पुरुषसे अनुराग किया करती हैं, जिस प्रकार नदी अधर ( अधोभाग ) से प्रीति किया करती है—नीचली मूमिकी ओर बहा करती है—उसी प्रकार स्त्रियाँ भी अधर ( नीच पुरुष )

१. J om. २. M गुणवत्तम् । ३. All others except P M “वाघरप्रिया” । ४. N नितरा स्त्रियः ।

६४८ ) घूमावल्य इवाशङ्काः कुर्वन्ति मलिनं क्षणात् ।

मदनोन्मादसंभ्रान्ता योषितः स्वकुलगृहम् ॥८

६४९ ) निर्देयत्वमनार्थत्वं मूर्खत्वमतिचापलम् ।

वशकल्पं कुशीलत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥९

६५० ) विचरन्त्यः कुशीलेषु लहृधयन्त्यः कुलकमम् ।

न स्मरन्ति गुरुं मित्रं पति पुत्रं च योषितः ॥१०

६५१ ) वश्याङ्गनानि॒ तन्त्राणि॑ मन्त्रयन्त्राद्यनेकधा ।

व्यथीभवन्ति॑ सर्वाणि॑ वनिताराधनं प्रति ॥११

अथर्प्रिया अश्वोभूगमिनोत्यर्थः । पुनः कीदृश्यः । वक्ता वक्तव्यभावाः । कीदृशी । बालेन्दुलेहेव  
क्षीणकन्द्रलेहेव । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ योषितां स्वकुलकलङ्कदायित्वमाह ।

६४८ ) घूमावल्यः—योषितः स्त्रियः क्षणात् स्वकुलगृहं मलिनं कुर्वन्ति । कीदृश्यः ।  
मदनोन्मादसंभ्रान्ताः । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ तासी वश्याङ्गदीपयात् ।

६४९ ) निर्देयत्वम्—स्त्रीणां स्वभावजा दोषा जायन्ते । के । निर्देयत्वं दयारहितत्वम् ।  
अनार्थत्वं अज्ञोरभावः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥ [ योषितां कुतच्छतामाह ।

६५० ) विचरन्त्यः—योषितः गुर्वदीन् न स्मरन्ति । कीदृश्यः योषितः । कुशीलेषु दुराचारिषु  
जनेषु विचरन्त्यः वसन्त्यः । पुनः कीदृश्यः । कुलकमं कुलपरम्परां उल्लङ्घयन्त्यः ॥१०॥ ] अथ  
तासाम् आराधनमन्त्रादीनां निष्कलत्वमाह ।

६५१ ) वश्याङ्गनानि—वनिताराधनं प्रति स्त्रीसमाराधनं प्रति सर्वाणि॑ \*व्यथी॑ भवन्ति ।  
शेषं सुगमम् ॥११॥ अथ तासी॑ चरितेन जगती॑ दुःखदायित्वमाह ।

से प्रेम किया करती हैं, तथा जिस प्रकार बाल (द्वितीयाका) चन्द्रकी रेखा कुटिल (तिरछी)  
होती है उसी प्रकार स्त्रियाँ भी नियमसे कुटिल (मायाचारिणी) हुआ करती हैं ॥७॥

जिस प्रकार धुएँकी पंक्तियाँ (समूह) निःसन्देह चरको मलिन (काला) किया करती हैं  
उसी प्रकार कामके उन्मादसे चर्स्त हुई स्त्रियाँ भी नियमसे अपने कुलको आणभरमें  
मलिन (कलंकित) कर दिया करती हैं ॥८॥

निर्देयता, दुष्टता, मूर्खता, अतिशय चरलता, धोखादेही और कुशीलता; ये दोष  
स्त्रियोंके स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले हैं ॥९॥

स्त्रियाँ दुराचारी जनोंमें विचरण करती हुई कुलकी परिषादीका उल्लंघन किया करती हैं । वे उस समय गुरु, मित्र, पति और पुत्रका भी स्मरण नहीं करती हैं—दुराचारणमें प्रवृत्त  
होकर वे गुरु आदिकी भी परवाह नहीं करती हैं ॥१०॥

वश करनेके योग्य अंजन, उत्तम औषधियाँ तथा अनेक प्रकारके मन्त्र और चन्द्र  
आदि ये सब स्त्रीकी आराधनामें व्यथा सिद्ध होते हैं ॥११॥

१. All others except P स्वकुलं गृहम् । २. J om. । ३. All others except P M N विचरन्ति ।

४. All others except P उल्लङ्घयन्ति । ५. All others except P M N वश्याङ्गनादि ।

६. M N T J Y यन्त्राण्यनेकवा । ७. J व्यथी॑ भवन्ति ।

६५२ ) अगाधकोधवेगान्धा: कर्म कुर्वन्ति तत्स्वयः ।

सद्यः पतति<sup>१</sup> येनैतद्भूवर्नं दुःखसागरे ॥१२

६५३ ) स्वातन्त्र्यमभिवाऽच्छन्त्यः<sup>२</sup> कुलकल्पमहीरुहम् ।

अविचार्यैव निष्ठन्ति स्त्रियोऽभीष्टफलप्रदम् ॥१३

६५४ ) न दानं न च सौजन्यं न प्रतिष्ठा न गौरवम् ।

न च पश्यन्ति कामान्धा योषितः स्वान्ययोर्हितम् ॥१४

६५५ ) न तत् कुद्धाः<sup>३</sup> हरिव्याघ्रव्यालानलनरेश्वराः ।

कुर्वन्ति यत्करोत्येका नरि नारी निरङ्कुशा ॥१५

६५२ ) अगाधकोध—स्त्रियः तत्कर्म कुर्वन्ति । कीहस्यः स्त्रियः । अगाधकोधवेगान्धा: कुपित ( ? ) कोपवेगान्धा: । येन कर्मणा एतद् भूवर्नं जगत् दुःखसागरे सद्यः पतति । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ तासां कुलनाशकत्वमाह ।

६५३ ) स्वातन्त्र्यमभि—स्त्रियः कुलकल्पमहीरुहं कुलकल्पपादर्थं निष्ठन्ति अविचार्यैव । किं कुर्वन्त्यः । स्वातन्त्र्यमपि<sup>४</sup> वाऽच्छन्त्यः । कोदृशं कुलकल्पमहीरुहम् । अभीष्टफलप्रदम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ तासां विवेकाभावमाह ।

६५४ ) न दानं—योषितः स्वान्ययोरात्मपरयोः हितं न पश्यन्ति । न प्रतिष्ठां यज्ञोविशेषं, सौजन्यं सुजनता । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ यथा स्त्रियः कुर्वन्ति न तथा केनापि क्रियते इत्याह ।

६५५ ) न तत्कुद्धा—एका नारी निरङ्कुशा सती नरि मनुष्ये यत् करोति । कोदृशी नारी । कुद्धा । हरिव्याघ्रव्यालानलनरेश्वराः कुद्धाः सन्तः न तत् कुर्वन्ति यथा सा । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ तासां वातर्णि न सुखदा इत्याह ।

स्त्रियाँ अथाह कोषके वेगसे अभी होकर उस कार्यको करती हैं कि जिससे यह लोक शीघ्र ही दुखरूप समुद्रमें पड़ जाता है ॥१२॥

स्वतन्त्रताकी इच्छा करनेवाली स्त्रियाँ मूर्खतासे अभीष्ट फलके देनेवाले कुलरूप कल्पयुक्तको नष्ट कर डालती हैं ॥१३॥

कामसे अनधी हुई स्त्रियाँ न दानको देखती हैं, न सुजनताका विवेक रखती हैं, न प्रतिष्ठाका विवार करती हैं, न अपनी व अपने कुलकी महानताको देखती हैं, और न अपने व दूसरेके हितका भी ध्यान रखती हैं ॥१४॥

स्त्री स्वतन्त्रताको प्राप्त होकर आचेली ही मनुष्यके जिस अनर्थको करती है उसे कोषको प्राप्त हुए सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और राजा भी नहीं करते हैं ॥१५॥

१. १ पतन्ति । २. ४<sup>५</sup> परिवाऽच्छन्ति । ३. V लकुद्धहरिव्याघ्र ।

६५६) यामासाद्य त्वया कान्तां सोहन्या नारकी व्यथा ।

तस्या वातापि न इलाध्या कथमालिङ्गनादिकम् ॥१६

६५७) स को इपि स्मर्यतां देवो मन्त्रो वालम्ब्य साहसम् ।

यतोऽङ्गनापिशाचीयं ग्रसितुं नोपसर्पति ॥१७

६५८) एकैव वनिताव्याली दुर्विचिन्त्यपराक्रमा ।

लीलयैव यथा भूढ खण्डतं जगतां त्रयम् ॥१८

६५९) न तद्दृष्टं श्रुतं ज्ञातं<sup>३</sup> न तच्छास्त्रेषु चर्चितम् ।

यत्कुर्वन्ति महापापं स्त्रियः कामकलङ्किताः ॥१९

६५६) यामासाद्य—हे पुरुष, त्वया कान्ताम् आसाद्य प्राप्य नारकी व्यथा सोहन्या । तस्याः कान्तायाः वातापि न इलाध्या । आलिङ्गनादिकं कथं इलाध्यम् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ सायः पिशाचसाम्यमाह ।

६५७) स को इपि—स को इपि देवः “स्मर्यते । वा अथवा । आलम्ब्य आश्रित्य साहसं मन्त्रः स्मर्यते” । यतोऽङ्गनापिशाची इयं ग्रसितुं भजितुं नोपसर्पति न गच्छति । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ वनितायाः अचिन्त्यपराक्रमम् आह ।

६५८) एकैव वनिता—हे भूढ, यथा स्त्रिया लोलयैव कोडयैव जगतां त्रयं खण्डतं सा एका वनिताव्याली स्त्रीसर्पिणी । कोदृशो । दुर्विचिन्त्यपराक्रमा अचिन्त्यमहाबला । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ तत्पापं म यस्त्रियो न कुर्वन्ति [ इत्याह ] ।

६५९) न तद् दृष्टं—स्त्रियः यत् महापापं कुर्वन्ति । कोदृशः स्त्रियः । कामकलङ्किताः । तत्पापं दृष्टं न, श्रुतं न, ज्ञातं न, तत् शास्त्रेषु चर्चितं न । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ तासां जन्मदुष्टत्वमाह ।

जिस स्त्रीको प्राप्त करके तुझे नरककी बेदना सहनी पडेगी उसकी जब वात करना भी प्रशंसनीय नहीं है—निन्दनीय है—तब भला उसका आलिंगन आदि तो प्रशंसनीय हो ही कैसे सकता है ? नहीं हो सकता है ॥१६॥

इसलिए हे भव्य ! साहसका आश्रय लेकर तुझे ऐसे किसी देव या मन्त्रका स्मरण करना चाहिये कि जिसके प्रभावसे यह स्त्रीरूप पिशाची ग्रसित करनेके लिए निरुट ही न आ सके ॥१७॥

हे मूर्ख ! जिस स्त्रीने अनायास ही तीनों लोकोंको खण्डित कर छाड़ा है—उन्हें अपने प्रभावसे बझामें कर लिया है—वह एक स्त्रीरूप सर्पिणी ही अचिन्त्य पराक्रमकी धारक है ॥१८॥

कामसे कर्लकित स्त्रियौं जिस ओर पापको करती हैं वह न देखा गया है, न सुना गया है, न जाना गया है, और न शास्त्रोंमें चर्चाका विषय भी बना है ॥१९॥

६६० ) यमजिह्वानलज्जालावज्जिद्युद्धिषाङ्कुरान् ।

समाहृत्य कृता मन्ये वेधसेयं विलासिनी ॥२०

६६१ ) मनस्यन्यद्वचस्यन्यद्वप्यन्यद्विचेष्टितम् ।

यासां प्रकृतिदोषेण प्रेम तासां कियच्चिरम् ॥२१

६६२ ) अप्युत्तुङ्गाः पतिष्यन्ति नरा नार्यङ्गसंगताः ।

यथावामिति लोकस्य स्तनाभ्यां प्रकटीकृतम् ॥२२

६६३ ) यदीन्दुस्तीव्रतां धत्ते चण्डरोचित्रं शीतताम् ।

दैवाचथापि नो धत्ते नरि नारी स्थिरं मनः ॥२३

६६० ) यमजिह्वा—इथं विलासिनो स्त्री । अहम् एवं मन्ये । यमजिह्वानलज्जाला वज्जिद्युद्धिषाङ्कुरा समाहृत्य, मृत्युरसनार्गितशिखा अशनिद्युद्वैरिसमाङ्कुरा एकत्र संमील्य कृता । केन । वेधसा ब्रह्मणा । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ तासां वक्तव्यमाह ।

६६१ ) मनस्यन्यद्वच—यासां प्रकृतिदोषेण स्वभावदोषेण सर्वचेष्टितं भिन्नम् । तासां प्रेम किष्टकालं चिरम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ तासां जगत्यात्माह ।

६६२ ) अप्युत्तुङ्गाः—नराः नार्यङ्गसंगताः नारीसंगयुक्ताः उत्तुङ्गा अपि पतिष्यन्ति । यथा आवाम् इति लोकस्य स्तनाभ्यां प्रकटीकृतम् । स्तनाभ्याम् एव आवाम् इति ताम् प्रकटीकृतम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ तासां मनश्चञ्चलत्वमाह ।

६६३ ) यदीन्दुः—यदि इन्दुः चरदः तोक्रतां तोक्रतापवस्त्रं धत्ते । च पुनः । चण्डरोचिः सूर्यः । दैवात् भाग्यतः । शीततां शीतलत्वं धत्ते । तथापि नारी स्त्री नरि मनुष्ये स्थिरं मनः नो धत्ते ॥२३॥ महाप्राजास्तासां चरितं न जातन्ति ।

मैं समझता हूँ कि श्रद्धाने यमराजकी जीभ, अग्निकी ज्वाला, वज्र, विजली और विषके अंकुरोंको लेकर इस स्त्रीको निर्मित किया है । तात्पर्य यह कि स्त्री उक्त यमराजकी जीभ आदि की अपेक्षा भी अधिक सन्ताप देनेवाली है ॥२०॥

जिन स्त्रियोंके स्वभावदोषसे ही मनमें अन्य, वचनमें अन्य तथा प्रवृत्तिमें कुछ अन्य ही होता है उनकी प्रीति कितने काल रह सकती है ? तात्पर्य यह कि स्त्रियोंकी वह कपटमय प्रीति कुछ ही समय तक रहती है, तत्पश्चात् वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥२१॥

स्त्रीके जो दोनों उन्नत स्तन नीचेकी ओर झुके रहते हैं वे मानो यही प्रगट करते हैं कि स्त्रीके शरीरके साथ संयोगको प्राप्त होकर उन्नत ( महाम् ) पुरुष भी नीचे गिरेंगे—अधोवालिको प्राप्त होंगे, जैसे कि उसके शरीरसे संयुक्त होकर हम दोनों भी नीचे गिर रहे हैं ॥२२॥

यदि दैवतश्च चन्द्रमा तीव्रताको धारण कर लेता है और सूर्य कदाचित् शीतलताको धारण कर लेता है, तो भी स्त्री पुरुषके विषयमें अरते मनको स्थिर नहीं रख सकती है ।

664 ) देवदैत्योरगव्यालग्रहचन्द्राक्षेषितम् ।

विदन्ति ये महाप्राज्ञोऽस्ते ऽपि चुनं न योषितम् ॥२४

665 ) सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि ये विजानन्ति ।

मुक्षन्ति ते ऽपि नूनं तत्त्वविदशेषिते स्त्रीणाम् ॥२५

666 ) जलधेयनिषात्राणि शृक्षाणि गगनस्य च ।

यान्ति पारं न हु स्त्रीणां दुश्चरित्रस्य केचन ॥२६

667 ) आरोपयन्ति संदेहतुलायामतिनिर्दयाः ।

नार्यः पति च पुत्रं च पितरं च क्षणादपि ॥२७

664 ) देवदैत्योरग—ये महाप्राज्ञा महाबुद्धयः । देवदैत्योरगव्यालग्रहचन्द्राक्षेषितं, देवदैत्योरगः सुगमाः । व्यालः सर्पः । ग्रहः प्रसिद्धाः । चन्द्रः । अर्कः सर्यः । तेषां चेष्टितं विदन्ति । ते ऽपि योषितां वृत्तं चरितं न विदन्तीत्यर्थः ॥२४॥ अथ स्वकीयमरणं विदन्ति ये ते स्त्रीणां चरितं न विदन्तीत्याह ।

665 ) सुखदुःख—ये सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि विजानन्ति । नूनं तिश्वतम् । ते ऽपि तत्त्वविदः चष्टिते स्त्रीणां चरिते मुक्षन्ति । इति सूचार्थः ॥२५॥ अथ स्त्रीणां चरितस्य पारं के ऽपि न जानन्तीत्याह ।

666 ) जलधेयनि—यानपात्राणि जलधेः समुद्रस्य पारं यान्ति । च पुनः । गगनस्य आकाशस्य ग्रहाद्याः पारं यान्ति । स्त्रीणां दुश्चरित्रस्य केचन पारं न यान्तीति सूचार्थः ॥२६॥ अथ सर्वेषां मनः चक्षुचक्षं स्त्रियः कुर्वन्तीत्याह ।

667 ) आरोपयन्ति—नार्यः पतिस् । च पुनः । पुत्रं च पितरं च । क्षणादपि संदेहतुलायाम् आरोपयन्ति । कोहश्यः नार्यः । अतिनिर्दयाः । इति सूचार्थः ॥२७॥ अथ मोनादीनां जले मति कदाचिद् विदन्ति तामाह ।

अभिग्राय यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमाका उषण होना कभी सम्भव नहीं है तथा सूर्यका कभी शीतल होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार स्त्रीके प्रेमका किसी एक पुरुषमें स्थिर रहना सम्भव नहीं है ॥२३॥

जो अतिशय बुद्धिमान् मनुष्य देव, दैत्य, सर्प, हाथी, प्रह, चन्द्र और सूर्यकी चेष्टा-को जानते हैं वे भी स्त्रियोंके चरित्रको नहीं जानते हैं ॥२४॥

जो मनुष्य सुख-दुख, जय-पराजय और जीवन-मरणको जानते हैं वे तत्त्वके आनकार पुरुष भी स्त्रियोंके चरित्रके विषयमें मूढ़ताको प्राप्त होते हैं—उसे नहीं जानते हैं ॥२५॥

जहाज समुद्रके पार पहुँचते हैं तथा नक्षत्र आकाशके पार पहुँचते हैं परन्तु स्त्रियोंके दुश्चरित्रके पार कोई भी नहीं पहुँचते हैं—उसे जाननेके लिए कोई भी समर्थ नहीं है ॥२६॥

स्त्रियाँ अतिशय निर्दय होकर पति, पुत्र और पिताको भी सन्देहकी तराजूपर झण-

- 668 ) गृह्णन्ति विदिगे व्याघ्रं दद्युःतं गरुदे स्थिराद् ।  
सरिदध्यदगतं भीनं न स्त्रीणां चपलं मनः ॥२८
- 669 ) न तदस्ति जगत्यस्मिन् भणिमन्त्रौषधाङ्गनम् ।  
विद्याश्र येन सद्गावं प्रयास्यन्तीह योषितः ॥२९
- 670 ) मनोभवसमं शूरं कुलीनं भुवनेश्वरम् ।  
हत्या स्त्रियः पति सद्यो रमन्ते चेटिकासुतैः ॥३०
- 671 ) स्मरोत्सङ्गमपि प्राप्य वाङ्छन्ति पुरुषान्तरम् ।  
नार्यः सर्वाः स्वभावेन वदन्तीत्यमलाशयाः ॥३१

668 ) गृह्णन्ति—विविन्दे वने व्याघ्रं गृह्णन्ति । गगने स्थितं शकुन्तं गृह्णन्ति । सरिदध्यदगतं नदीहृदगतं भीनम् । न स्त्रीणां चपलं मनः । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ स्त्रीणां वशीकरणे मन्त्रादिकं नास्तीत्याह ।

669 ) न तदस्ति—अस्मिन् जगति भणिमन्त्रौषधाङ्गनं तदस्ति । च पुनः । विद्या । येन मध्यादिना विद्यया इह जने योषितः स्त्रियः सद्गावं प्रयास्यन्ति यास्यन्तोत्यर्थः ॥२९॥ अथ स्त्रीणां स्वभस्तुमारकात्वं दर्शयतीत्याह ।

670 ) मनोभव—चेटिकासुतैः दासीपुत्रैः । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ तासां सर्वाणां पतिसंगे अपि चञ्चलत्वमाह ।

671 ) स्मरोत्सङ्गमपि—सर्वी नार्यः स्मरोत्सङ्गमपि प्राप्य पुरुषान्तरं वाङ्छन्ति स्वभावेन । इति अभूता प्रकारेण अमलाशया निर्मलचित्ता वदन्ति इत्यर्थः ॥३१॥ अथ पुत्रस्तासां स्वल्पमाह ।

भरमे आरोपित किया करती हैं । अभिप्राय यह है कि स्त्रियाँ अपने पति, पुत्र और विताको भी सन्देहकी हाषिले देखने लगती हैं ॥२७॥

कितने ही मनुष्य वनमें स्थित वृशान्न को, आकाशमें स्थित पश्चीको तथा नदी व तालाबमें स्थित मछलीको प्रहण किया करते हैं । परन्तु स्त्रियोंके चंचल मनको कोई भी नहीं प्रहण कर सकता है—उनके मनमें स्थित विचारको कोई भी नहीं जान पाता है ॥२८॥

इस संसारमें वह कोई भणि, मन्त्र, ओषध और अंजन तथा ऐसी वे विद्याएँ भी नहीं हैं जिनके आश्रयसे यहाँ स्त्रियाँ उत्तम अभिप्रायको प्राप्त करेंगी । तात्पर्य यह कि स्त्रियोंको सुभागीपर लानेका कोई उपाय नहीं है ॥२९॥

स्त्रियाँ कामदेवके समान सुन्दर, पराकमी, कुलीन और लोकके स्वामी (राजा) जैसे पतिको शीघ्र ही मार करके दासीपुत्रों (नीच पुरुषों) के साथ रमण किया करती हैं ॥३०॥

सब स्त्रियाँ कामदेवकी गोद्दिको भी पा करके—कामदेवके समान सुन्दर पतिको भी प्राप्त करके—स्वभावसे अन्य पुरुषको इच्छा किया करती हैं ऐसा निर्मल अभिप्रायवाले मुनिजन बललाते हैं ॥३१॥

- 672 ) विनाऽनेन तत्त्वेण शब्देण विनयेन च ।  
वच्चयन्ति नरं नार्यः प्रज्ञाधनमपि भणे ॥३२॥
- 673 ) कुलजातिगुणश्च निकृष्टं दुष्टेष्टितम् ।  
अस्यैश्यमधमं प्रायो मन्ये स्त्रीणां प्रियं नरम् ॥३३॥
- 674 ) वैरिकारणदन्ताग्रे समाह्य स्थिरीकृता ।  
वीरश्रीर्येमहासर्वैयो विद्धिस्ते ऽपि खण्डिताः ॥३४॥
- 675 ) गौरवेषु प्रतिष्ठासु गुणेष्वाराध्यकोटिषु ।  
थता अपि निमज्जन्ति दोषपक्षे स्वयं स्त्रियः ॥३५॥

672 ) विनाऽनेन—नार्यः नरं वच्चयन्ति । भणे सुरतसमये । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ जात्यादिगुणहीनं स्त्रियो बाढ़छन्ति ।

673 ) कुलजाति—अहम् एवं मन्ये । कासां । स्त्रीणाम् । एतादशं नरं प्रियम् । प्रायो बाहुस्येन । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ स्त्रीभिः वोरा अपि खण्डिता हस्याह ।

674 ) वैरिकारण—यैः महासर्वैः वीरश्रीः वैरिकारणदन्ताग्रे शत्रुवारणदन्ताग्रभागे समाह्य रोहित्वा स्थिरीकृता । ते ऽपि महासर्वा योविद्धिः खण्डिताः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ गौरवादिगुणेषु स्थापिता अपि स्त्रियः नीचत्वं यान्तीत्याह ।

675 ) गौरवेषु—स्त्रियः स्वयं दोषपक्षे निमज्जन्ति । कीदृशयः स्त्रियः । गौरवेषु प्रतिष्ठासु, वार्ष्यवये, गुणेषु महत्तरादिषु, आराध्यकोटिषु आराधनीयमयदिसु वृत्ता अपि । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ तासां कुटिलत्वमाह ।

स्त्रियाँ अंजन, औषधि, मन्त्र, और विनयके जिना भी शृणभरमें अतिशय बुद्धिमान् पुरुषको भी धोखा दिया करती हैं ॥३२॥

जो पुरुष कुल, जाति एवं गुणसे भष्ट; निन्य, दुराचारी, छूनेके अयोग्य और हीन होता है वह प्रायः स्त्रियोंको प्रिय लगता है; ऐसा मैं मानता हूँ ॥३३॥

जिन अतिशय बंलशाली पुरुषोंने शत्रुके हाथीके दाँतके अग्र भागपर चढ़कर वीर-लक्ष्मीको स्थिर कर दिया है वे भी स्त्रियोंके द्वारा खण्डित किये जा शुके हैं—उनको भी स्त्रियोंने अपने वशमें कर लिया है ॥३४॥

गौरव, प्रतिष्ठा और आराधनीय उक्तगुणोंमें स्थापित की गयी भी स्त्रियाँ स्वयं दोषरूप कीचड़में निमज्ज हुआ करती हैं । अभिप्राय यह है कि स्त्रियोंको उत्तम गुणोंमें प्रवृत्त करानेपर भी वे उन गुणोंमें प्रवृत्त न होकर दोषोंमें ही प्रवृत्त हुआ करती हैं ॥३५॥

६७६ ) दोषान् गुणेषु पश्यन्ति प्रिये कुर्वन्ति विप्रियम् ।

संभानिताः<sup>१</sup> प्रकुप्यन्ति निसर्गकुटिलाः स्त्रियः ॥३६

६७७ ) कृत्वाप्यकार्यलक्षणाणि प्रत्यक्षमयि योगितः ।

छादयन्त्येव निःशङ्का विश्ववश्चनपण्डिताः ॥३७

६७८ ) दानसन्मानसंभोगप्रणतिप्रतिपत्तिभिः ।

अपि सेवापरं नाथं धनन्ति नार्योऽतिनिर्दयाः ॥३८

६७९ ) विषमध्ये सुधास्यन्दं सस्यजातं शिलोच्चये ।

संभाव्यं न तु संभाव्यं चेतः स्त्रीणामकरमलम् ॥३९

६७६ ) वोषान् गुणेषु—स्त्रियः निसर्गकुटिलाः स्वभाववक्ताः दोषान् गुणेषु पश्यन्ति । प्रिये पुत्रादौ विप्रियं प्रतिकूलं कुर्वन्ति । संभानिताः सन्माने दत्ताः प्रकुप्यन्ति, कोधं कुर्वन्ति । इत्यर्थः ॥३६॥ अथ तासां जगद्रूचनपण्डित्यमाह ।

६७७ ) कृत्वाप्यकार्य—योगितः स्त्रियः अकार्यलक्षणाणि कृत्वापि । प्रत्यक्षमयि छादयन्त्येव आच्छादयन्त्येव निःशङ्काः । कीदृशः । विश्ववश्चनपण्डिताः जगद्रूचनचतुराः । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ तासां पतिष्ठात्वमाह ।

६७८ ) दानसन्मान—नार्योऽतिनिर्दयाः सत्यः सेवापरं नाथमयि भर्तरिमयि धनन्ति मारयन्ति । काभिः सेवापरम् । दानसन्मानप्रतिपत्तिभिः दानसन्माननमस्काराङ्गोकारे । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ स्त्रीणां चेतः स्वरूपमाह ।

६७९ ) विषमध्ये—विषमध्ये सुधास्यन्दं सुधाद्रावः संभाव्यम् । शिलोच्चये पर्वतशिलार्यां सस्यजातम् अन्नसमूहः संभाव्यम् । स्त्रीणाम् अकरमलं निष्पापे चेतः न तु संभाव्यम् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ स्त्रीणां चेतोऽशुद्धिमाह ।

स्वभावसे कुटिल स्त्रियाँ गुणोंमें दोषोंको देखा करती हैं, प्रिय ( हितैषी ) के विषयमें के दुष्टतापूर्ण व्यवहार करती हैं, तथा उनका आदर किये जानेपर वे कोधको प्राप्त होती हैं ॥३६॥

स्त्रियाँ सब ही जनोंके ठगनेमें चतुर होती हैं । वे प्रत्यक्षमें लाखों अयोग्य कार्योंको करके भी उन्हें सन्देहसे रहित होकर आच्छादित किया करती हैं—इमारे दोष कभी प्रगट हो सकते हैं, ऐसा उन्हें सन्देह भी नहीं रहता है ॥३७॥

जो दान, सन्मान, सम्भोग, नमन और आदर-सत्कारके द्वारा निरन्तर ही उनकी सेवामें लत्यर रहता है ऐसे सुयोग्य पतिको भी वे स्त्रियाँ निर्दयतापूर्वक मार डालती हैं ॥३८॥

कदाचित् विषके मध्यमें अमृतके प्रवाहकी तथा शिलासमूहके ऊपर धान्य ( कसल ) के समूहकी सम्भावना भले ही की जा सकती हो, परन्तु स्त्रियोंके मनमें निर्मलताकी कभी सम्भावना नहीं की जा सकती है—उनका मन सदा भलिन ही रहता है ॥३९॥

१. All MSS. संभानिताः । २. All others except PMNJ कृत्वाप्यकार्य । ३. MN स्त्रीणामकरमलमयम् ।

६८० ) वन्ध्याङ्गजस्यै राज्यश्रीः पुष्पश्रीगंगनस्य च ।

स्थादैवात् तु नारीर्णा मनःशुद्धिर्मनागपि ॥४०

६८१ ) कुलद्वयमहाकशं भस्मसात् कुरुते क्षणात् ।

दुश्चरित्रसमीरालीप्रदीपो वनितानलः ॥४१

६८२ ) सुराचल इवाकम्या अगाधा वार्धिवद् भृशम् ।

नीयन्ते अ नरा॒ स्त्रीभिरवधूति॑ क्षणान्तरे ॥४२

६८३ ) वित्तहीनो जरी॑ रोगी दुर्बलः स्थानविच्युतः ।

कुलीनाभिरपि स्त्रीभिः सद्यो भर्ता॒ विमुच्यते ॥४३

६८० ) वन्ध्याङ्गजस्य—वन्ध्याङ्गजस्य वन्ध्यासुतस्य राज्यश्रीः दैवात् भाग्यात् स्थात् । अ पुनः । यगनस्य आकाशस्य पुष्पश्रीः दैवात् स्थात् । न तु स्त्रीणां मनागपि मनःशुद्धिः स्थात् ॥४०॥ अथ तासां स्वरूपमाह ।

६८१ ) कुलद्वय—दनितानलः स्त्रीबङ्गिः कुलद्वयमहाकशम् उभयकुलतृणसभूहं भस्मसात् कुरुते क्षणात् । कीदृशो वनितानलः । दुश्चरित्रसमीरालिप्रदीपसः दुश्चारपवनसमूहप्रदीपतः । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ तासां निष्कम्पादिगुणोपायमाह ।

६८२ ) सुराचलः—अथ जगति स्त्रीभिः नरा॒ अवधूति॑ भस्म क्षणान्तरे नीयन्ते प्राप्यन्ते॒ । शेषं सुगमम् ॥४२॥ अथ ताभिः वित्तहीनादिव्युक्तो भर्ता॒ ल्याज्यः इत्याह ।

६८३ ) वित्तहीनो—शारीरवलरहितः स्थानविच्युतः॒ स्थानभ्रष्टः॒ । शेषं सुगमम् ॥४३॥ अथ नराणां स्त्रियः दुःखहेतवः इत्याह ।

संयोगसे वन्ध्या स्त्रीके पुत्रको राज्यलक्ष्मी तथा आकाशको पुष्पोंकी शोभा भले ही प्राप्त हो जावे, परन्तु स्त्रियोंके मनकी शुद्धि थोड़ी सी भी नहीं हो सकती है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार असम्भव वन्ध्यापुत्रके कभी राज्यलक्ष्मीकी सम्भावना नहीं है तथा आकाशके कभी फूलोंकी सम्भावना नहीं है उसी प्रकार स्त्रियोंके मनमें शुद्धि ( विमूलता ) की सम्भावना नहीं है ॥४०॥

स्त्रीरूप अग्निं दुराचरणरूप वायुके समूहसे प्रज्वलित होकर दोनों ही कुलों ( मातृ-वंश व पतिका वंश ) को क्षणभरमें भस्म कर देती है ॥४१॥

जो मनुष्य सुमेरुके समान निष्कम्प ( स्त्रिय ) और समुद्रके समान अतिशय गम्भीर होते हैं उन्हें भी विचलित करके स्त्रियाँ सुषणभरके भीतर तिरस्कारको प्राप्त कराती हैं । अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य अतिशय गम्भीर होते हैं उन्हें भी स्त्रियाँ अपने वशमें करके अपमानित किया करती हैं ॥४२॥

यदि पति धनहीन, बृद्ध, रोगी, दुर्बल और स्थानसे रहित होता है तो उसे कुलीन स्त्रियाँ भी शीघ्र छोड़ दिया करती हैं । फिर नीच स्त्रियोंका तो कहना ही क्या है—यदि ये उसे छोड़ देती हैं तो इसमें आश्चर्य कुछ भी नहीं है ॥४३॥

१. L. वन्ध्यासुतस्य । २. M°रवधूत॑ । ३. MN अवरी ।

684 ) भेतुं शूलमसि छेतुं कर्तितुं क्रकचं दृढम् ।

नरान् पीडयितुं यन्त्रं वेधसा विहिताः स्त्रियः ॥४४

685 ) विषुवैधूभिर्मन्त्रे अहं नमःस्यो जपि प्रतारितः ।

अन्यथा क्षीयते कस्मात् कलङ्कोपहतप्रभः ॥४५

686 ) यद्रागं संध्ययोर्धते यद्भ्रमत्यविलम्बितम् ।

तन्मन्त्रे वनितासार्थैविप्रलब्धः खरद्युतिः ॥४६

684 ) भेतुं शूलं—स्त्रियः वेधसा विधान्ना नरान् भेतुं शूलं विहिताः कृताः । कर्तुंकर्म-क्रियाध्याहारः सर्वेत्र योज्यः । नरान् छेत्तुमसि: खङ्गः स्त्रियः विहिताः, कर्तितुं दृढककचं विहिताः । नरान् पीडयितुं यन्त्रं विहिताः । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ ताः सर्वेषां विप्रतारणन्ति तदाह ।

685 ) विषुवैधूभिः—अहं मन्त्रे । वषुभिः स्त्रीभिः नमःस्योऽपि विषुः चन्द्रः विप्रतारितः । अन्यथा नो चेत् प्रतारितः । कलङ्कोपहतप्रभः कस्मात् यात्ययः कस्मात् क्षीयते । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पुनस्तासां विप्रतारणमाह ।

686 ) यद्रागं—अहं मन्त्रे । खरद्युतिः सूर्यः संध्ययोः प्रातःसार्थसंध्ययोः यत् रागं धत्ते, यत् अविलम्बितं अमति । तत् तस्मात् कारणात् वनितासार्थैः स्त्रीसमूहैः विप्रलब्धः\* भासितः । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ तासां कृते सरित्पतिकष्टतामाह ।

ब्रह्माने मनुष्योंको खण्डित करनेके लिए शूल (अखविशेष) जैसी, छेदनेके लिए तलवार जैसी, काटनेके लिए आरो जैसी तथा पेलनेके लिए दह यन्त्र (कोलङ्ग) जैसी स्त्रियोंको रचा है ॥४४॥

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आकाशमें स्थित रहनेवाला अन्द्रमा भी उन स्त्रियोंके द्वारा ठगा गया है । कारण कि यदि नहीं होता तो वह कलंकसे कान्तिहीन होकर भला किस कारणसे श्वीण होता ॥४५॥

सूर्य नूँकि दोनों सन्ध्याकालोंमें लालिमाको धारण करता है तथा सिरन्तर परिभ्रमण भी करता है, इससे मैं ऐसा समझता हूँ कि वह भी स्त्रीसमूहके द्वारा ठगा गया है ॥४६॥

धैर्यशाली भी समुद्र औंकि स्त्रीके निमित्तसे मथा गया है और वौधा भी गया है इसीलिए भीतरसे रिक्त होकर यह वेला (किनारा) के मिष्ठसे रोता है और कौपता भी है—किनारेपर टकरानेवाली लहरोंके शब्दसे मानो वह रो रहा है तथा उनकी चंचलतासे मानो कौप ही रहा है ॥ विषेषार्थ—यहाँ जो समुद्रभन्धनमें स्त्री (विषाधरी व लक्ष्मी) को जो निमित्त अतलाया गया है उसकी कथा इस प्रकार है—

एक बार धूथिबीपर विचरण करते हुए दुर्वासा ऋषिको एक सुन्दर विद्याधर स्त्री दिखी । उसके हाथमें सन्तानक पुष्पोंकी माला थी । उसे दुर्वासा ऋषिने उससे माँग लिया । आगे जानेपर उन्हें देवोंके साथ ऐरावत हाथीपर चढ़कर आता हुआ इन्द्र विखा । तथा

१. F कर्तुं क्रकचनं दृढम् । २. L S X Y R कलङ्कोपहत । ३. FVJ क्रमः for प्रभः । ४. FV सार्थविषः ।
५. V लुभः ।

687 ) अन्तःशून्यो भूशं रीति वेलाव्याजेन वेपते ।

धीरो इषि मथितो बद्धः स्त्रीनिमित्ते सरित्पतिः ॥४७

688 ) सुरेन्द्रप्रतिमा धीरा अचिन्त्यपराक्रमाः ।

दशग्रीवादयो याताः कुते स्त्रीणां रसातलम् ॥४८

687 ) अन्तःशून्यः—सरित्पतिः समुद्रः स्त्रीनिमित्ते भूशं रीति । वेलाव्याजेन कल्लोलकपटेन वेपते कम्पते । कर्त्तभूतः । अन्तो भूदयः शून्यः । धीरो इषि मथितो बद्धः । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ स्त्रीणां स्वरूपमाह ।

688 ) सुरेन्द्रप्रतिमा—स्त्रीणां कुते कारणाद दशग्रीवादयो दशकल्पराद्याः पुञ्चीतलं याताः । कीदृशा दशग्रीवादयः । सुरेन्द्रप्रतिमाः सुरेन्द्रसदृशाः । धीरा अचिन्त्यपराक्रमाः । इति सूत्रार्थः ॥४८॥ पुनस्तासां निन्द्रात्ममाह ।

उन्होंने उस मालाको लेकर इन्द्रके ऊपर फेंक दिया । इन्द्रने उसे ऐरावत हाथीके मस्तकपर ढाल दिया तथा उस हाथीने उसे सूँघकर पुर्यिष्ठीके ऊपर फेंक दिया । इस प्रकार उस मालाके तिरस्कारको देखकर दुर्वासाने कुद्ध होते हुए इन्द्रको यह शाप दे डाला कि तेरे तीनों लोकोंकी लक्ष्मी नष्ट हो जाय । उद्गुसार तीनों लोकोंकी वह श्री नष्ट हो गयी और उब श्रीहीन हो जानेसे दैत्यों द्वारा देवलोग जीत लिये गये । उस लक्ष्मीको पुनः प्राप्त करनेके लिए देव लोग ब्रह्माजीके साथ विष्णुके पास पहुँचे । वहाँ उन सबने विष्णु भगवान्की स्तुति करते हुए उनसे दर्शन देनेकी प्रार्थना की । उद्गुसार विष्णु भगवान्के प्रगट होनेपर देवगणने अपनी नष्ट हुई लक्ष्मीको पुनः चृद्धिगत करनेकी प्रार्थना की । इसपर विष्णु भगवान् ने उन्हें दैत्योंके साथ श्रीरसमुद्रके मन्थनका उपदेश दिया । इस प्रकार श्रीरसमुद्रका मन्थन करनेपर उसमें से कमशः कामधेनु, बाहुणी देवी, कल्पवृक्ष, अप्सरासमूह, चन्द्रमा, विष, अमृतसे परिपूर्ण कमण्डलुको लिये हुए घन्वन्तरि देव और अन्तमें लक्ष्मी देवी प्रगट हुई । उब विष्णु भगवान्की सहायतासे वह अमृतका कमण्डलु देवगणको प्राप्त हो गया । उसका पान करनेपर वे अतिशय बलशाली हो गये । उब उनसे पराजित होकर दैत्य सेना भाग गयी । अन्तमें इन्द्र द्वारा स्तुति करनेपर लक्ष्मी देवीने सन्तुष्ट होकर उसकी इच्छानुसार यह वर दिया कि अब मैं तेरे तीनों लोकोंको कभी नहीं छोड़ूँगी तथा जो मनुष्य मेरी स्तुति करेगा उसके मैं कभी पराङ्मुख नहीं होऊँगी । इस प्रकार लक्ष्मी जी की कृपासे तीनों लोकोंकी शोभा फिरसे पूर्ववत् हो गयी ।

समुद्रका बन्धन सीताके निमित्तसे हुआ है—रामचन्द्रके बनवासके समय जब रावण सीताको हरकर समुद्रसे वेष्टित लंकामें ले गया था तब रामचन्द्र हनुमान्के द्वारा इसका पता लगाकर बानरसेनाके साथ शत्रुके विनाशार्थ लंका पहुँचे थे । उस समय उन्होंने लवण-समुद्रके ऊपर सेतु ( पुल ) को बांधा था ॥४७॥

इन्द्रके सदृश बलशाली, धीर और अचिन्त्य पराक्रमके धारक रावण आदि स्त्रियोंके निमित्तसे नरकको प्राप्त हुए हैं ॥४८॥

- 689 ) दुःखलानिरगाथेयं कलेमूलं भयस्य च ।  
पायबीजं शुचां कन्दः इव आवनि नितमिवनी ॥४९॥
- 690 ) यदि मूर्ता: प्रजायेरन् स्त्रीणां दोषाः कथंचन ।  
शूरये युस्तदा नूनं निःशेषं भुवनोदरम् ॥५०॥
- 691 ) कौतुकेन समाहृत् विश्ववर्त्यङ्गिसंचयम् ।  
वेधसेयं कुता मन्ये नारी व्यसनवागुरा ॥५१॥
- 692 ) एकं दृशा परं भावैवाग्निभरन्यं तथेङ्गितः ।  
संजयान्यं रत्नशान्यं रमयन्त्यङ्गिना जनम् ॥५२॥

689 ) दुःखलानिः—शुचां शोकानां कन्दः, इव आवनिः नरकभः, नितमिवनी लक्ष्मी । शेषं सुगमम् ॥४९॥ अथ स्त्रीणां दोषस्वरूपमाह ।

690 ) यदि मूर्ता:—यदि नूनं निवित्तं स्त्रीणां दोषाः, कथंचन केन चित्प्रकारेण मूर्ता: शरीरवन्तः प्रजायन्ते\* । तदा निःशेषं समस्तं भुवनोदरं पूरयेत् पूर्णं कुर्यात् । इति सूत्रार्थः ॥५०॥ अथ स्त्रियो वागुरासाम्यमाह ।

691 ) कौतुकेन—वेधसा ब्रह्मणा इयं नारी व्यसनवागुरा कुला । अहं मन्ये । कि कुल्वा । विश्ववर्त्यङ्गिसंचयं जगद्वित्रिप्राणिसमूहं कौतुकेन “समाहृत्य गृहीत्वा । इति सूत्रार्थः ॥५१॥ अथ लासां सर्वं साधारणत्वमाह ।

692 ) एकं दृशा—अङ्गिना लक्ष्मी, एकं जनं दृशा रमयति । अपरं जनं भावैः चित्समुद्भवैः । तथा वाग्निः अन्यम् । इङ्गितैः अन्यम् । संजया अङ्गुलीभूभ्यां कुलया । च पुनः । रत्नैः समोगैः अन्यं रमयतीत्यर्थः ॥५२॥ अथ लासां त्यागो यैः कुतस्तानाह ।

यह स्त्री दुःखोंकी गहरी खान, लड़ाई और भयकी जड़, पापकी कारण, शोककी जड़ तथा नरककी पृथिवी—नरक प्राप्तिका कारण है ॥४९॥

स्त्रियोंमें इतने अधिक दोष होते हैं कि यदि वे किसी ग्रकारसे भूर्तं स्वरूपको धारण कर लें तो वे निश्चयसे समस्त लोकको पूर्णं कर देंगे ॥५०॥

ब्रह्माने आपत्तियोंकी वागुरा (मृगोंके फँसानेका जाल) स्वरूप जो इस स्त्रीकी रक्षा की है वह मानो उसने कुतुहलसे लोकके भीतर रहनेवाले प्राणिसमूहके एकत्रित करनेके लिए ही की है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥५१॥

स्त्री कटाक्षरातसे किसी एक पुरुषको, भावोंसे दूसरेको, बचनों व शरीरकी चेष्टाओंसे किसी औरको, सकेतसे किसी अन्यको तथा सम्भोगसे अन्य ही पुरुषको सन्तुष्ट किया करती है ॥५२॥

१. T शोककन्दः । २. All others except P S F इव भूमि । ३. All others except P M N प्रजायन्ते । ४. M N विश्ववर्त्यागसा चयम् । ५. N T रमयत्यङ्गिना ।

६९३) धीरे धैर्यं सवान्नाम विवेकाहलहोक्तनैः ।

त्यक्ताः स्वप्ने इषि निःशब्दैर्नार्थः श्रीसूरिपुंगवैः ॥५३॥

६९४) यद्गुर्वतुं न बृहस्पतिः शतमध्यः श्रोतुं न साक्षात्क्षम-  
स्तत्स्त्रीणामगुणव्रजं निगदितुं मन्ये न को इषि प्रभुः ।  
आलोक्यं स्वमनीषया कतिपयैर्वर्णैर्यदुक्तं मया  
तच्छ्रुत्वा गुणिनस्यजन्तु वनितासंभोगपापग्रहम् ॥५४॥

६९५) परिभवफलवद्धीं दुःखदावानलालीं  
विषयजलधिवेलां श्वभ्रसौधप्रतोलीम् ।  
मदनसुजगदंषां भोहतन्द्रासवित्रीं  
परिहर परिणामस्थैर्यमालम्ब्य नारीम् ॥५५॥ अथवा—

६९३) धीरे धैर्य—श्रीसूरिपुञ्जवैः श्रोसूरिवरैः । शेषं सुगमम् ॥५३॥ अथ तासां दोषान्  
वक्तुं न को इषि समर्थं इत्याह ।

६९४) यद्गुर्वतुं—तत् स्त्रीणाम् अगुणव्रजं दोषसमूहं निगदितुं कथयितुं न कः प्रभुः समर्थः ।  
अहं मन्ये । यत् अगुणव्रजं वक्तुं बृहस्पतिः न अमः । यत् अगुणव्रजं स्वमनीषया स्वबुद्धया आलोक्य  
कतिपयैर्वर्णः मया अत्रोक्तम् । तत् अगुणव्रजं श्रुत्वा हे गुणिनः त्यजन्तु वनितासंभोगपापग्रहम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथ तासां परित्यागमाह । मालिनी ।

६९५) परिभव—हे भव्य, परिणामैः\* नारीं स्त्रियं परिहर त्यज । कीदूशीं नारीम् ।  
परिभवफलवद्धीं पराभवफललताम् । पुनः कीदूशीम् । दुःखदावानलालीं दुःखदावानिश्चेणोम् ।  
पुनः कीदूशीम् । विषयजलधिवेलाम् इन्द्रियविषयसमुद्रवेलाम् । पुनः कीदूशीम् । श्वभ्रसौधप्रतोलीं

हे धीर ! विवेकरूप निर्मल नेत्रोंके घारक श्रेष्ठ आशार्थीनि निर्भय होकर धैर्यके  
आश्रयसे उन स्त्रियोंका स्वप्नमें भी परित्याग कर दिया है ॥५३॥

स्त्रियोंके जिस दोषसमूहका वर्णन करनेके लिए साक्षात् बृहस्पति समर्थ नहीं है  
तथा जिसके सुननेके लिए साक्षात् इन्द्र भी समर्थ नहीं है उसका वर्णन करनेके लिए कोई  
भी समर्थ नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ । फिर भी अपनी बुद्धिके अनुसार उनके उस दोष-  
समूहको देखकर मैंने जो कुछ वर्णोंके आश्रयसे उसका कथन किया है उसको सुनकर गुणी-  
जन स्त्रीके सम्भोगरूप क्रूर प्रहको छोड़ दें ॥५४॥

जो स्त्री तिरस्काररूप फलको उत्पन्न करनेके लिए वेलके समान है, दुःखरूप वनामिन-  
की पंक्ति है, विषयभोगरूप समुद्रकी वेला ( किनारा ) है, नरकरूप आसादकी प्रतोली

१. All others except P N धीरेवर्य । २. M त्यक्त्वा । ३. S T F V X Y R विःशब्दैर्नार्थः, MNJ

निःकर्मणैः । ४. M N आलोक्य स्वैः । ५. L T परिणामैः स्थैर्य, S F V J X Y R परिणामैर्वर्यैः ।

६. PMLFY अथवा ।

६९६ ) यमिभिर्जन्मनिविष्णौदूषिता यद्यपि स्त्रियः ।

तथाथेकान्ततस्तासां विद्यते नावसंभवः ॥५६

६९७ ) ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः ।

निजवंशतिलकभूताः अत्यस्तयैसमन्विता नार्यः ॥५७

६९८ ) सतीत्वेन महत्वेन वृत्तेन विनयेन च ।

विवेकेन स्त्रियः काश्चिदू भूषयन्ति धरातलम् ॥५८

न रक्महृलप्रतोलीम् । पुनः कोदृशीम् । मदनभुजगदंष्ट्राम् । सुगमम् । पुनः कोदृशीम् । मोहतन्द्रा-  
सवित्रीम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथवा । अथ पुनस्तासां त्यागमाह ।

६९६ ) यमिभिः—सुधापि लासाम् अवसंचयः\* [ पाप ] संयहो इति न विद्यते । शेषं सुगमम् ॥५६॥ अथ कासां शीलत्वमाह ।

६९७ ) ननु सन्ति—क्रोधाभावाचारसंयमोपेताः । शेषं सुगमम् ॥५७॥ अथ कासांचित्  
गुणानाह ।

६९८ ) सतीत्वेन—वृत्तेनाचारेण, विनयेन भवत्या । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५८॥ अथ  
काश्चिच्छमनिभिर्निदिता न निन्द्याः ।

( भीतर जानेका मार्ग ) है, कामरूप सर्पकी विषेली दाढ़के समान है, तथा मोह व  
आलस्यकी माता है; उसको हे भव्य, तू परिणामीकी स्थिरताका आश्रय लेकर छोड़ दे ॥५५॥

अथवा—यद्यपि संसारसे विरक्त हुए सुनियोने स्त्रियोंको दोषयुक्त बतलाया है, तो भी  
उनके सर्वथा ही पापकी सम्भावना नहीं है । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि यहाँ जो  
स्त्रियोंको अनेक दोषोंसे दूषित बतलाया गया है उससे सभी स्त्रियोंको नियमतः दोषयुक्त  
नहीं समझ लेना चाहिए । कारण कि उन स्त्रियोंमें अनेक स्त्रियाँ ऐसी भी होती हैं जो अपनी  
सदाचार प्रवृत्तिसे दोनों कुलोंको उज्ज्वल करती हैं । यहाँ जो उनकी विशेष स्तिन्दा की गथी  
है वह केवल विषयभोगोंसे विरक्त करानेके उद्देश्यसे की गयी है । इसी अभिप्रायको अन्यकार  
आगे स्वयं व्यक्त करते हैं ॥५६॥

संसारमें निश्चयसे कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जो शम ( शान्ति ), शील ( पातिक्रत्य )  
एवं संयमसे विभूषित तथा आगमज्ञान व सत्यसे संयुक्त हैं । ऐसी स्त्रियाँ अपने वंशकी  
तिलक मानी जाती हैं—जिस प्रकार तिलक उत्तम अंगस्त्ररूप मस्तकके ऊपर विराजमान  
होता है और उससे समस्त शरीरकी शोभा बढ़ जाती है उसी प्रकार उपर्युक्त स्त्रियोंके द्वारा  
उनके कुलकी भी शोभा बढ़ जाती है ॥५७॥

कितनी ही स्त्रियाँ पातिक्रत्य, सहानन्दा, सदाचरण, विनय और विवेकके द्वारा इस  
पृथिवीतलको विभूषित करती हैं ॥५८॥

६९९ ) निर्दिष्टेभवसंक्रमाच्छ्रुतधररैकान्ततो निःस्पृहै-  
नर्यो यद्यपि निन्दिताः॑ शमधनैश्चावतालभिमिः ।  
निन्द्यन्ते न तथापि निर्मलयमस्वाध्यायवृत्ताङ्किता  
निर्वेदप्रशमादिपुण्यचरितैर्थाः॒ शुद्धिभूताँ॑ सुवः॑ ॥५९

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे ब्रह्मवताधिकारे  
आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-विरचिते स्त्रीस्वरूपे-  
प्रतिपादनं नाम प्रकरणम् ॥१२॥

६९९ ) भिक्षिणीः—यद्यपि नार्यः श्रुतवरैः एकान्ततो निन्दिताः॑ । कीदृशैः॑ । भवसंक्रमात्  
भिक्षिणीः विरक्तैः॑ । पुनः कीदृशैः॑ । निःस्पृहैः॑ । पुनः कीदृशैः॑ । शमधनैः॑ । पुनः कीदृशैः॑ । ब्रह्मवता-  
लभिमिः॑ । तथापि भूवि॑ पृथिव्या॑ शुद्धिभूता॑ या न निन्द्यन्ते॑ । कैः॑ । निर्वेदप्रशमादिपुण्यचरितैः॑  
बैराघ्यक्षमत्यादिपुण्यचरितैः॑ । कीदृश्यः॑ । निर्मलयमस्वाध्यायवृत्ताङ्किता॑ विमलवतस्वाध्यायचारि-  
त्राङ्किताः॑ । इति सूत्रार्थः॑ ॥५९॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहृपासा-तत्पुत्रसाहृष्टोडर-तत्कुलक्षमलद्विवाकरसाहृष्टिदास-स्वश्रवणार्थ  
पण्डितजिनदासोदयमेन स्त्रीस्वरूपप्रतिपादनप्रकरणम् ॥१२॥

साहृपास्वर्णो हि संभूतष्टोडरः कुलमण्डनः । तत्पुत्रो ऋषिदासस्तु परस्त्रीत्यागसंयुतः ॥१॥  
इति श्री-आशीर्वादः ।

जो मुनिजन संसारपरिभ्रमणसे विरक्त हो चुके हैं, आगमके पारगामी हैं, सर्वधा-  
विषयोंकी इच्छासे रहित हैं, शान्तिरूप धनके स्वामी हैं तथा ब्रह्मचर्यव्रतके धारक हैं उनके  
द्वारा यद्यपि स्त्रियोंकी निन्दा की गयी है; तो भी जो स्त्रियों स्तिर्णोष संयम, स्वाध्याय एवं  
चारित्रसे चिह्नित हैं—इन गुणोंसे विभूषित हैं—और लोककी शुद्धिभूत है—अनशुद्धिकी  
कारण है—उनकी बैराग्य एवं प्रशम आदिस्वरूप पवित्र गुणोंका आचरण करनेवाले महापुरुष  
कभी निन्दा नहीं करते हैं ॥५९॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
ब्रह्मवत-विचारमें स्त्रीस्वरूपप्रतिपादन नामक प्रकरण  
समाप्त हुआ ॥१२॥

१. L S F V Y R यद्यपि दूषिताः । २. X निर्मलविद्या॑ स्वाध्याय । ३. L तैः॑ शुद्धास्तु॑ योषा॑ भूवि॑ ।  
४. V, All others except PMN भूवि॑ । ५. X स्त्रीस्वरूपप्रकरणं ।

## [ मैथुनम् ]

700 ) स्मरज्ज्वलनसंभ्रान्तो यः प्रतीकारमिच्छति ।  
दैयुनेन स दुर्बुद्धिराज्ञेयाभिनि निषेद्यति ॥१॥

701 ) वरमाज्यच्छटोनद्वः परिरब्धो हुताशनः ।  
न पुनर्दुर्गतेद्वारं योषिता जघनस्थलम् ॥२॥

700 ) स्मरज्ज्वलन—यो मनुष्यः स्मरज्ज्वलनसंभ्रान्तः कन्दपर्गिनसंभ्रान्तः प्रतीकारं तच्छमनोपायम् इच्छति । केन । मैथुनेन । स दुर्बुद्धिः, आज्ञेन घृतेनाभिनि निषेद्यति उपशमयति । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ तासामालिङ्गने निषेद्यति ।

701 ) वरमाज्य—हुताशनो ऽग्निः परिरब्धो आलिङ्गितो वरम् । कोदृशो हुताशनः । आज्यच्छटासिक्तः<sup>१</sup> वृत्तच्छटासिक्तः । योषिता जघनस्थलं न पुनः परिरब्धव्यम् आलिङ्गितव्यम् । कोदृशं जघनस्थलम् । दुर्गतिहारम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ तासां पञ्चत्वमाह ।

जो कामरूप अग्निसे व्याकुल होकर उसका प्रतीकार मैथुन कियासे करना चाहता है वह मूर्ख धीके द्वारा अग्निको रोकता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार धीके ढालनेसे अग्नि कभी शान्त नहीं होती है, वहिक अधिकाधिक प्रजालित ही होती है उसी प्रकार विषयसेवनसे कभी कामकी वाधा शान्त नहीं होती है, वहिक वह उत्तरोत्तर वृद्धिगत ही होती है ॥१॥

धीके समूहसे सीची गयी अग्निका आलिंगन करना तो अच्छा है, किन्तु नरकादि दुर्गतिके द्वारभूत स्त्रियोंके जघनस्थानका आलिंगन करना अच्छा नहीं है । विशेषार्थ—वात्पर्य यह है कि स्त्रीसम्भोग धीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निकी अपेक्षा भी भयानक है । कारण यह कि अग्निसे जला हुआ प्राणी तो उसी भवमें कष्ट पाता है तथा कष्टाचित् योग्य औषधि आदिके उपचारसे वह उस भवमें भी उसके कष्टसे मुक्त हो जाता है, परन्तु स्त्रीसम्भोगसे उत्पन्न पापके कारण प्राणी अनेक भवोंमें दुर्गतिके कष्टको भोगता है तथा उसका कोई प्रतीकार भी सम्भव नहीं है ॥२॥

१. All others except P छटासिक्तः ।

702 ) स्मरशीतज्वरेतद्वृशङ्किताः शीर्णबुद्धयः ।

विशन्ति वनितापद्मे तत्प्रतीकारवाऽन्त्या ॥३॥

703 ) वासनाजनितं मन्ये सौख्यं स्त्रीसंगसंभवम् ।

सेव्यमानं यदन्ते स्वादैरस्यायैव केवलम् ॥४॥

704 ) प्रपश्यति यथोन्मत्तः शशवृष्टीष्टे इपि काञ्चनम् ।

मैथुने इपि तथा सौख्यं प्राणी रागान्धमानसः ॥५॥

705 ) अपश्यानि यथा रोगी पथ्यबुद्धया निषेवते<sup>३</sup> ।

सुखबुद्धया तथाङ्गानि स्त्रीणां कामी गतत्रपः ॥६॥

702 ) स्मरशीत—शीर्णबुद्धयो नष्टमतयः, वनितापद्मे स्त्रीकर्दमे विशन्ति । कथा । तत्प्रतीकारवाऽन्त्या । कीदृशाः । स्मरशीत<sup>\*</sup>करातद्वृशङ्किताः कन्दर्पचन्द्रातद्वृश्मीताः । इति सूक्ष्मार्थः ॥३॥ अथ स्त्रीसौख्यं विरसमित्याह ।

703 ) वासना—अहं मन्ये । स्त्रीसंगसंभवं सौख्यं वासनाजनितं पूर्वकमोपाजितं यत् सौख्यं सेव्यमानम् अन्ते प्राप्ते केवलं वैरस्यायैव स्वात् ॥४॥ अथ रागान्धः विपरीतं पश्यति ।

704 ) प्रपश्यति—यथा उन्मत्तः शशवत् निरन्तरं लोष्टे इपि पाषाणे इपि काञ्चनं प्रपश्यति, तथा मैथुने इपि विपरीतं रागान्धमानसः प्राणी सौख्यं प्रपश्यति । इति सूक्ष्मार्थः ॥५॥ अथ स्त्रीणां भोगस्वरूपमाह ।

705 ) अपश्यानि—यथा रोगी अपश्यानि अन्तादीनि पथ्यबुद्धया निषेवते, तथा स्त्रीणां अङ्गानि कामी सुखबुद्धया निषेवते । कीदृशः कामी । गतत्रपः निर्लंज्जः । इति सूक्ष्मार्थः ॥६॥ अथ रूढिमात्रे न सुखमपीत्याह ।

कामरूप शीतज्वरके सम्बन्धसे भयभीत हुए मूर्खजन उसके प्रतीकारकी इच्छासे स्त्रीरूप कीचड़के भीतर निमन्त होते हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कीचड़में फँसा हुआ प्राणी दुख पाता है उसी प्रकार विषयभोगमें निमन्त हुआ प्राणी भी अतिशय दुख पाता है ॥३॥

स्त्रीके संयोगसे उत्पन्न हुआ जो सुख सेवन करते हुए अन्तमें केवल नीरसताका ही कारण होता है वह पूर्वकृत कर्मकी वासनासे उत्पन्न होता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥४॥

जिस प्रकार पागल मनुष्य निरन्तर मिट्ठीके ढेलेमें भी सुखर्णको देखता है उसी प्रकार रागमें अन्धे हुए मनथाला—विषयानुरागसे अविवेकको प्राप्त हुआ—प्राणी मैथुनके सेवनमें भी सुख मानता है ॥५॥

जिस प्रकार रोगी पुरुष पथ्य (हितकर) समझकर अपश्योका—अहितकर (रोगाधर्मक) भोजन आदिका—सेवन करता है उसी प्रकार कामी पुरुष सुखकी इच्छासे निर्लंज्ज होकर रिक्रियोंके अंगोंका सेवन किया करता है ॥६॥

१. J शीतकरातद्वृश्मी । २. N लोष्टे का<sup>१</sup> । ३. P निषेविते ।

706 ) करिचद् ब्रूते यथा दीपै निर्वाणमपि नन्दितम् ।

स्मरयूढः सुखं तद्वद् दुःखमप्यत्रै मैथुनम् ॥७

707 ) किष्माकफलसमानं वनितासंभोगसंभवं सौख्यम् ।

आपाते रमणीयं प्रजायते विरसमवसाने ॥८

708 ) मैथुनाच्चरणे कर्म निर्धृणै क्रियते ऋधमम् ।

पीयते वदनं स्त्रीणां लालाम्बुकलुषीकृतम् ॥९

709 ) कण्ठूयनं तनुस्वेदाद्वेति कुष्टी यथा सुखम् ।

तीव्रस्मररुजातङ्गीडितो मैथुनं तथा ॥१०

706 ) कश्चिद् ब्रूते—करिचद्वया निर्वाणं शमितमपि दीपं नन्दितं ब्रूते, तद्वद् अथ जगति मैथुनं दुःखमपि सुखं स्मरयूढः ब्रूते । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ वनितासुखमन्ते विरसं तदाह । आपा ।

707 ) किष्माक—वनितासंभोगसंभवै दीख्यं किष्माकफलसदृशं प्रजायते । पुनः कीदृशम् । आपाते रमणीयं प्रथमतः आगमने रमणीयम् । पुनः कीदृशम् । अवसाने प्राप्तते विरसम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ मैथुनाच्चिकारे निन्दितं कर्म करोति तदाह ।

708 ) अैथुनाच्चरणे—निर्धृणैनिदैयैरधमं कर्म क्रियते । अव । मैथुनाच्चरणे । सुगमम् । स्त्रीणां वदनं पीयते । कीदृशम् । लीलाकलुषीकृतं लालाजलमलिनीकृतमित्यर्थः ॥९॥ अथ मैथुनस्य पीडनमाह ।

709 ) कण्ठूयनं—यथा कुष्टी सुखं वेति जानाति । कस्मात् । कण्ठूयनतनुस्वेदात् । कण्ठूयनेन तनोः स्वेदः तस्मात् । तथा मैथुनं सुखं तीव्रस्मररुजातङ्गीडिताः तीव्रकन्दर्परोगभरभीताः जानन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथाङ्गनानाम् अङ्गकुत्सितस्वभाह ।

जिस प्रकार कोई बुझे हुए भी दीपकको नन्दित ( बदा हुआ ) कहता है उसी प्रकार कामसे मूढ़ हुआ मनुष्य यहाँ दुखदायक भी मैथुनको सुखकर कहता है ॥७॥

स्त्रीके सम्भोगसे उत्पन्न होनेवाला सुख किष्माक फल ( एक विषेला फल ) के समान भोगनेके समयमें रमणीय प्रतीत होता है, परन्तु अन्तमें वह नीरस—परिणाममें दुखदायक—होता है ॥८॥

कामी जन मैथुनके सेवनमें घृणासे रहित होकर जग्न्य कार्य करते हैं, वे लारके अलसे भलिन हुए स्त्रियोंके सुखका पान करते हैं ॥९॥

जिस प्रकार शरीरके वापसे पीडित कुष्टरोगी सुखलानेको सुखकारक मानता है उसी प्रकार तीव्र कामरूप रोगके वापसे पीडित मनुष्य मैथुनको सुखकारक मानता है । परन्तु यह

१. M N दीपनिकणि । २. J दुःखमन्त्रापि मै । ३. All others except P M N मैथुने । ४. All others except PNT कण्ठूयनतनु । ५. J पीडितमैथुने ।

710 ) अशुचीन्यज्ञनाज्ञानि स्मराशीविषमूर्छितः ।

जिह्वाभिविलिहन्त्युक्तैः शुनीनामिव कुकुराः ॥११

711 ) ग्लानिर्मूर्छा ऋषः कम्पः श्रमः स्वेदोऽज्ञविक्रियाः ।

क्षयरोगादयो दोषा मैथुनोत्थाः शरीरिणाम् ॥१२

712 ) अनेकदुःखसंधाताँनिदानं विद्धि मैथुनम् ।

कर्यं तदपि सेवन्ते हन्त रागान्धबुद्धयः ॥१३

713 ) कुष्टवण्मिवाजस्त्रं वाति स्ववति पूतिकम् ।

यत्स्त्रीणां जघनद्वारं रतये तद्धि रागिणाम् ॥१४

710 ) अशुचीनि—स्मराशीविषमूर्छितः कल्पवीशीविषमोहितः अज्ञनाज्ञानि अशुचीनि जिह्वाभिहृच्यर्था स्याद्विलिहन्ति । कासो के इव । शुनीनां कुकुराः इव । यथा शुनीनामज्ञानि कुकुराः जिह्वाभिविलिहन्तीत्यर्थः ॥११॥ अथ मैथुनोत्थदोषानाह ।

711 ) ग्लानिः—शरीरिणां क्षयरोगादयो दोषा मैथुनोत्था भवन्ति । पुनर्ग्लानिः शरीर-बलता, मूर्छा, ऋषः, कम्पः, श्रमः, स्वेदः, अज्ञविक्रिया, कुट्टादिः । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अनन्तदुःखं मैथुनस्याह ।

712 ) अनेकदुःख—हे भवय, अनेकदुःखसंतानं\* मैथुनं त्वं विद्धि जानीहि । हन्तेति खेदे । तदपि मैथुनं रागान्धबुद्धयः कर्यं सेवन्ते । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथाशुचित्वं जघनद्वारस्याह ।

713 ) कुष्टवण्मी—यत् कुष्टवण्मिव अजस्त्रं निरन्तरं वाति दुर्गन्धयति पूतिकं स्ववति । तद् हि रागिणां रतये जघनद्वारं स्त्रीणां भवतीत्यर्थः ॥१४॥ अथ स्त्रीमैथुनरतानां कुत्सितत्वमाह ।

उसका ऋम है, क्योंकि जिस प्रकार सुजलानेसे अन्तमें कोढीको अधिक ही कष्ट होता है उसी प्रकार कामसेवनसे भी अन्तमें कष्ट ही अधिक होता है ॥१०॥

कामरूप सर्पके विषसे भूर्छित मनुष्य स्त्रीके अपवित्र अंगोंको जीभसे इस प्रकार चाटा करते हैं जिस प्रकार कि कुत्से कुतियोंके अपवित्र अंगोंको अतिशय चाटा करते हैं ॥११॥

प्राणियोंके जो ग्लानि ( खेद ), मूर्छा, ध्रान्ति, कम्प, श्रम ( थकावट ), स्वेद ( ताप या पसीना ), अंगविकार और क्षयरोग आदि दोष उत्पन्न होते हैं वे सब मैथुनसे उत्पन्न होते हैं ॥१२॥

मैथुनको अनेक दुखसमूहका कारण समझना चाहिए । फिर खेद है कि जिनकी चिवेकबुद्धि रागसे नष्ट हो चुकी है वे उस मैथुनका सेवन कैसे करते हैं ? ॥१३॥

जो स्त्रीका जघनद्वार ( योनि ) कोढके धावके समान निरन्तर गतिशील होकर दुर्गन्ध-युक्त मलिन द्रवको बहाता है वह रागी जनोंकी प्रीतिका कारण होता है, यह खेदकी वात है ॥१४॥

१. P स्मराशीविष, M N स्मरासवविषमूर्छितः । २. M कुकुराः । ३. M स्वेदाज्ञ । ४. All others except P M विक्रिया । ५. All others except P दुःखसंतान ।

714 ) काकः कुमिकुलाकीर्णे करञ्जे कुरुते रतिभ् ।

यथा तद्वद्वराको इयं कामी स्त्रीगुह्यमन्थने ॥१५

715 ) बक्तुमपि लज्जनीये दुर्गन्धे मूत्रशोणितद्वारे ।

जघनबिले वनितानां रमते बालो न तत्त्वज्ञः ॥१६

716 ) स्वतालुरस्तं किल कुकुराधमैः प्रपीयते यद्वदिहास्थिचवणात् ।

सथा विटौविद्वि वधुविडम्बनैर्मिषेव्यते मैथुनसंभवं सुखम् ॥१७

717 ) अशुचिष्वङ्गनाङ्गेषु संगताः पश्य रागिणः ।

जुगुप्सा जनयन्त्येते लोलन्तः कुमयो यथा ॥१८

714 ) काकः कुमि—यथा काकः करञ्जे अस्थिन रति कुरुते । कीदूषे करञ्जे । कुमिकुलाकीर्णे । तद्वद्वराको इयं कामी स्त्रीगुह्यमन्थने रति कुरुते । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ स्त्रीणां भगास्याशुचित्वमाह ।

715 ) बक्तुमपि—वनितानां स्त्रीणां जघनबिले बालो मूर्खः रमते । कीदूषे । बक्तुमपि लज्जनीये, दुर्गन्धे । पुनः कीदूषे । मूत्रशोणितद्वारे । न तत्त्वज्ञः । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ मथुनस्य विडम्बनत्वमाह । वंशस्थछन्दः ।

716 ) स्वतालु—किल सत्ये । कुकुराधमैः स्वतालुरस्तं प्रपीयते । इह जगति । यद्वद् यथा । कस्मात् । अस्थिचर्वणात् । तथा विटैलंस्पटैर्मिथुनसंभवं सौख्यं निषेव्यते । रे जन, त्वं विदि जानीहि । कैः । वधुविडम्बनैः । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथाङ्गनाङ्गशुचित्वमाह ।

717 ) अशुचिष्व—रे सुजन, त्वं पश्य । रागिणः अशुचिष्वङ्गनाङ्गेषु संगताः व्याप्ताः जुगुप्सां निन्दां जनयन्ति । यथा एते कुमयो लोलन्त्यज्ञवलन्तः जुगुप्सां जनयन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ स्त्रीभगस्य दुस्त्यज्ञत्वमाह ।

जिस प्रकार कौवा कीढ़ोंके समूहसे व्याप्त हड्डीमें अनुराग करता है उसी प्रकार यह बेचारा कामी स्त्रीके गुप्त अंगके मर्यादेमें अनुराग करता है ॥१५॥

स्त्रियोंके जिस योनिछिद्रका नाम लेना भी लज्जाजनक है तथा जो दुर्गम्बयुक्त होकर मूत्र और रुधिरको निकाला करता है उसमें मूर्ख (अविवेकी) मनुष्य ही रमता है, सत्त्वह—वस्तुस्वरूपका जानकार विवेकी—मनुष्य नहीं रमता है ॥१६॥

जिस प्रकार यहाँ निकृष्ट कुत्ते हड्डीके चबानेसे अपने ही लालुसे निकले हुए रुधिरको पीकर सुखका अनुभव करते हैं उसी प्रकार कामी जन अपने शरीरकी विडम्बना करते हुए मैथुनसे उत्पन्न हुए सुखका सेवन करते हैं ॥१७॥

देखो ये रागी जन स्त्रियोंके अपवित्र अंगोंकी संगतिको प्राप्त होकर इस प्रकार वृष्टाको उत्पन्न करते हैं जिस प्रकार कि अपवित्र मलमें विचरण करनेवाले शुद्र कीड़े उस वृष्टाको उत्पन्न करते हैं ॥१८॥

- 718 ) योनिरन्त्रमिदं स्त्रीणां दुर्गतेद्वारमग्रिमम् ।  
 तत्त्वजन्ति ध्रुवं धन्वा न दीना दैववच्चिताः ॥१९॥
- 719 ) मालतीव मृदून्यासां विद्धि ज्ञानानि योषिताम् ।  
 दारयिष्यन्ति मर्माणि विपाके शास्यसि स्वयम् ॥२०॥
- 720 ) मैथुनाचरणे भृदै त्रियन्ते जन्तुकोटयः ।  
 योनिरन्त्रसमुत्पन्ना लिङ्गसंघट्योडिताः ॥२१॥
- 721 ) शीभत्सानेकदुर्गन्धमलाक्तं स्वकलेवरम् ।  
 यत्र तत्र वपुः स्त्रीणां कस्यास्तु रतये भुवि ॥२२॥

718 ) योनिरन्त्रं—स्त्रीणाम् इदं योनिरन्त्रं ध्रुवं तत् त्वजन्ति धन्वाः । न दीनाः दैववच्चिताः । कीदृशम् । दुर्गतेरग्रिमं द्वारमित्यर्थः ॥१९॥ अथ स्त्रीणाम् अज्ञानां दारणत्वमाह ।

719 ) मालतीव—रे जीव, त्वं शास्यसि । यद्युः योषितामज्ञानि कर्मणोऽकर्त्तये मर्माणि दारयिष्यन्ति विदारयिष्यन्ति । कीदृशानि अज्ञानि । मालती इव मृदूनि सुकुमाराणि । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ मैथुनहिंसायां भग्नसंगे जीवहिंसामाह ।

720 ) मैथुनाचरणे—मूढ़, मूर्ख, मैथुनाचरणे जन्तुकोटयो त्रियन्ते । कीदृशा जन्तुकोटयः । योनिरन्त्रसमुत्पन्नाः भग्नाताः । पुनः कीदृशाः । लिङ्गसंघट्योडिताः । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ स्त्रीणां शरीरस्याशुचित्वमाह ।

721 ) बीभत्सानेक—यत्र स्त्रीणां वपुः । तत्र कलेवरं शरीरं, भुवि पृथिव्या, कस्य रतये इत्यु । न कस्यापि । कीदृशं स्त्रीणां वपुः । बीभत्सानेकदुर्गन्धं, सुगमम् । मलाकर्तं मलव्यासम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ उक्तां च शास्यान्तरे ।

स्त्रियोंका यह योनिलिंग्रुपांतिका मुख्य द्वार है । उसका परित्याग निश्चयसे पुण्यशाली मनुष्य ही करते हैं, दैवसे वचित—पुण्यहीन—वेचारे साधारण मनुष्य उसका परित्याग नहीं कर सकते हैं ॥१९॥

इन स्त्रियोंके अंगोंको तू मालती लताके समान कोमल समझ, अन्तमें ये तेरे मर्मस्थानोंको विदीर्ण करनेवाले हैं । इसका अनुभव वरिपाकके समय तुङ्गे स्वर्यं ही जावेगा ॥२०॥

हे भूर्ख ! मैथुनके सेवनमें योनिलिंग्रमें उत्पन्न हुए करोड़ों जीव लिंगके संघर्षणसे दीड़ित होकर मारे जाते हैं ॥२१॥

जहाँ अपना शरीर धृणाको उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके दुर्गन्धयुक्त मलोंसे व्याप है वहाँ भला इस पूथिवीपर स्त्रियोंका शरीर किसकी प्रीतिके लिए हो सकता है ? अभिप्राय यह है कि पुरुष शरीरकी अपेक्षा स्त्रियोंका शरीर अधिक मलिन होता है, इसलिए उसके विषयमें विवेकी जीव अनुरक्त नहीं होते ॥२२॥

१. T Y शास्यसि ध्रुवम् । २. Y भूडा । ३. All others except P M X Y संक्षेपोडिताः ।

722 ) उक्तं च—

उत्तानोच्छूनमण्डकदास्तिदरसनिभे ।

चर्मखण्डे<sup>१</sup> मनुष्याणामपूर्वः को उप्यसदग्रहः ॥२२५१॥इति ।

723 ) [ 'नारीजघनरन्धस्थविषमूत्रमयचर्मणा ।

वराह इव विद्भक्षी हन्त मृदः सुखायते ॥२२५२॥इति । ]

724 ) सर्वाशुचिमये काषे दुर्गन्धामेध्यसंभृते ।

रमन्ते रागिणः स्त्रीणां विरमन्ति तपस्त्रिनः ॥२३

725 ) कुथितकुणिपृणन्धं योषितां योनिरन्धं

कुमिकुलशतपूर्णं निश्चर्त्तारवारि ।

722 ) उत्तानोच्छून—असदग्रहः कदाग्रहः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२५१॥  
[ अत्र स्त्रीशरीरस्य अभिलाखिणो मूढतामाह ।723 ) नारीजघन—मूढो जनः सुखायते सुखमनुभवति । केव । नारीजघनरन्धस्थचर्मणा ।  
कोदृशं तत् । विष्मूत्रमयं विष्मया मूत्रेण च परिपूर्णम् । क इव । विद्भक्षी वराहः सूकरः इव  
॥२२५२॥ अथ स्त्रीशरीरस्य हेयत्वमाह ।724 ) सर्वाशुचिमये—विरमन्ति विरक्ता भवन्तोत्थर्थः । शेषं सुगमम् ॥२३॥ अथ स्त्रीणा-  
मञ्जानि नित्यानीत्युपसंहरति ।725 ) कुथित—मुनिनिकायः यतिसमूहः योषितां योनिरन्धं त्यजति । कोदृशं योनिरन्धम् ।  
\*कुथितकुणिपृणन्धे शट्टमांसदुर्गन्धम् । पुनः कोदृशम् । \*कुमिकुलशतपूर्णं सुगमम् । पुनः कोदृशम् ।

कहा भी है—

उलटा करके सबे गले मेंढकके उदरको चीरनेपर जो स्वरूप उसका होता है वही  
स्वरूप (स्वभाव) स्त्रियोंके चर्मखण्ड अर्थात् चमड़ेके अंशमूल योनिप्रदेशका भी है । फिर भी  
मनुष्योंका उसके विषयमें कोई अपूर्व ही दुराघ्रह है ॥२३-१॥[जिस तरह विष्ठा खानेवाला सूकर अपनेको सुखी मालता है, उसी तरह मूर्ख मनुष्य  
स्त्रियोंके जघनविलके विष्ठा और मूत्रसे भरे हुए चमड़ेसे सुखका अनुभव लेता है ॥२३-२॥]समस्त अपवित्र वस्तुओंसे निर्भित तथा दुर्गन्ध एवं घृणाके स्थानमूल मल-मूत्रादिसे  
परिपूर्ण स्त्रियोंके शरीरमें रामीजन ही अनुराग करते हैं साथु जन तो उससे विरक्त रहते  
हैं ॥२३॥सदे-नाले निर्जनि शरीर (मुर्दा) के समान दुर्गन्धवाला जो स्त्रियोंका योनिछिद्र कोड़ोंके  
सीकड़ों समूहोंसे परिपूर्ण होकर आर जलको छोड़ा करता है उसका परित्याग वह मुनिसमूह

१. P M L Y उक्तं च । २. All others except P चर्मरन्धे । ३. P इति । ४. Only in MN ।

५. M दुर्गन्धे इमेव्य । ६. All others except P कुणिप । ७. Y कृमिकुलशतकुल । ८. M निर्भरकार ।

त्यजति शुनिनिकायः क्षीणजन्मप्रवन्धो  
भजति मदनबीरप्रेरितो अङ्गी वराकः ॥२४

इति शानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे ब्रह्मव्रतविचारे  
आचार्य-श्री-शुभचन्द्रविरचिते मैथुन-  
प्रकरणम् ॥ १३ ॥

निस्सरत्कारवारि । सुयम्भु । कीदृशो शुनिगणः । श्रीणजन्मप्रवन्धः गलजन्मपरंपरः । पुनः  
कीदृशः । मदनबीरप्रेरितः । अङ्गी प्राणी वराकः । इति सूक्तार्थः ॥२४॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते शानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहपासा-तत्पुत्रसाहटोडर तत्कुलकमलदिवाकरसाहरिषिदास-स्वश्रवणार्थं  
पण्डितजिनदासोद्यमेन मैथुनप्रकरणं समाप्तम् ॥१३॥

मालिनी छन्दः । सकलगुणगरिष्ठो भाविपासाख्यसाहः सुकतविदितभावष्टोडरः पुण्यपात्रः ।  
सदयहृदययुक्तः कामलीलाविरक्तः स जयलि ऋषिदासः स्वप्रतापैकधामा ॥१॥ इत्याशीर्वादः ।  
अथ पुनर्स्तत्स्वरूपमाह ।

ही करता है जिसकी कि संसारपरम्परा नष्ट होनेको है । परन्तु जो बेचारा कामरूप सुभट-  
की आक्षामें चलता है वह उस योनिलिंग्रका सेवन ही करता है ॥२४॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित शानार्णव योगप्रदीपाधिकारसे  
ब्रह्मव्रतविचारमें मैथुनप्रकरण समाप्त हुआ ॥१३॥

## [ संसर्गः ]

726 ) विरज्याशेषसंगेभ्यो यो शृणीते शिवश्रियम् ।

स कुद्धाहेरिव स्त्रीणां संसर्गाद्विनिवर्तते ॥१॥

727 ) यथा सब्दो विदार्थन्ते गिरयो वज्रताङ्गिताः ।

तथा मत्ताङ्गनापाङ्गप्रहारेणाल्पचेतसः ॥२॥

728 ) यस्तपस्वी व्रती मौनी संवृतात्मा जितेन्द्रियः ।

कलङ्कयति निःशङ्कः<sup>१</sup> स्त्रीसखः सोऽपि संयमम् ॥३॥

726) विरज्याशेष—यो इशेषसंगेभ्यः समस्तपरिग्रहेभ्यो विरज्य विरक्तीभूय शिवश्रियं वृणुते स स्त्रीणां संसर्गाद्विनिवर्तते । कस्येव । कुद्धाहेरिव । यथा कुद्धाहेः कुपितसर्पस्य संगाद्विनिवर्तते तथेत्यर्थः ॥१॥ अथ कठाक्षस्वरूपमाह ।

727) यथा सब्दः—मदोन्मत्तस्त्रीकटाङ्गप्रहारेणाल्पचेतसः विलीयन्ते । इति सूत्रार्थः । शेषं सुगमम् ॥२॥ अथ स्त्रीसंसर्गात्संयमं कलङ्कं दत्ते तपाह ।

728) यस्तपस्वी—संवृतात्मा अशुभव्यापारात् । शेषं सुगमम् ॥३॥ अथ तपस्विनो इष्टज्ञनासंसर्गदिवायमाह ।

जो समस्त परिग्रहसे रहित होकर मुकिरुपी लक्ष्मीका वरण करता है वह प्रचण्ड सर्पके समान भयानक स्त्रियोंके संसर्गसे दूर रहता है ॥१॥

जिस प्रकार वज्रसे ताङ्गित होकर पर्वत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार मदसे उन्मत्त स्त्रियोंके कठाक्षोंके प्रहारसे मन्दमुद्धि जन भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं—उनके वशीभूत हो जाते हैं ॥२॥

जो तपश्चरणमें तत्पर है, ब्रतोंका परिषाळन करता है, मौनको धारण करता है, सावध श्रवृत्ति से रहित है तथा इन्द्रियोंकी वशमें रखता है; वह भी निर्भय होकर स्त्रीके अनुरागसे संयमको कलंकित कर छालता है ॥३॥

१. All others except P विलीयन्ते । २. J B interchange Nos. 2-3 । ३. S F V J X Y R निःशङ्कः ।

७२९) मासे मासे व्यतिक्रान्ते यः पिवत्यम्बु केवलम् ।

विमुह्यति नरः सोऽपि संगमासाद्य सुभ्रुवः ॥४

७३०) <sup>१</sup> सर्वत्राप्युपचीयन्ते संयमाद्यास्तपस्त्विनाभ् ।

गुणाः किन्त्वङ्गनासंगं प्राप्य यान्ति शयं क्षणात् ॥५

७३१) संचरन्ति जगत्यस्मिन् स्वेच्छया यमिनां गुणाः ।

विलीयन्ते पुनर्नरीवदनेन्दुविलोकनात् ॥६

७३२) तावद्वत्ते मुनिः स्थैर्यं श्रुतं शीलं <sup>२</sup> कुलकम्ब् ।

यावन्मत्ताङ्गनानेत्रवागुराभिर्न रुध्यते ॥७

७२९) मासे मासे—विमुह्यति मोहनीयपुरुषेदोदयात् । योषितः स्थियः संगमासाद्य प्राप्य । शेषं सुगमम् ॥४॥ अथ स्त्रीशां संगे संयमादिगुणहानिमाह ।

७३०) सर्वत्रापि—तपस्त्विनां संयमाद्याः गुणाः <sup>१</sup> सर्वत्राप्युपचीयन्ते । वृद्ध्यन्ते । किं तु पक्षान्तरे । वङ्गनासंगं प्राप्य क्षणात् शयं यान्तीत्यर्थः ॥५॥ अथ व्रतिनां गुणाः स्त्रीसंयम-शश्यन्तीत्याह ।

७३१) संचरन्ति—यमिनां व्रतिनां गुणाः मूलोत्तरमेदभिन्नाः । शेषं सुगमम् ॥६॥ अथ स्त्रीविलोकने धैर्यादिगुणनाशमाह ।

७३२) तावद्वत्ते—मुनिश्चात्तत्स्वः, स्थैर्यं, श्रुतं द्वादशाङ्गं, शीलं वेदसर्वेचारित्रं, कुलकम्बं कुलमर्यादां, तावद्वत्ते यावन्मत्ताङ्गनायत्तस्त्रीनेत्रवागुराभिर्न विरुद्ध्यते । इति सूक्ष्मार्थः ॥७॥ अथ स्त्रीपुंसोद्देवदमाह ।

जो मनुष्य एक-एक माहके बीत जानेपर केवल जलको धीता है—महीने-महीने का उपवास करके पारण के समय केवल जलको ही प्रहण करता है—वह भी स्त्रीके संयोगको पाकर मोहित हो जाता है ॥४॥

तपस्त्विथोंकि संयम आदि गुण सर्वत्र वृद्धिको प्राप्त होते हैं । परन्तु स्त्रीके संयोगको पाकर वे क्षणभरमें ही नष्ट हो जाते हैं ॥५॥

संयमी जलोंकि गुण इस लोकमें इच्छानुसार सर्वत्र संचार करते हैं । परन्तु वे स्त्रीके मुखरूप चन्द्रके दर्शनसे नाशको प्राप्त होते हैं ॥६॥

मुनि स्थिरता (दृढ़ता), श्रुत, शील और कुलकी परम्पराको तत्र तक ही धारण करता है जब तक कि वह उन्मत्त स्त्रीके नेत्रोद्धर्य अन्धनसे नहीं रोका जाता है ॥७॥

१. L J साद्य योषितः । २. M सर्वत्राप्य । ३. M N श्रुतं सर्वं ।

- 733 ) नवनीतनिभं पुंसा मनः सद्यो विलीयते ।  
वनितावह्निसंतप्तं सतामपि न संशयः ॥८
- 734 ) अन्तःसुप्तो इषि जागति स्मरः संगेन योषिताम् ।  
रोगब्रज इवापथ्यसेवासंभावितात्मनाम् ॥९
- 735 ) क्रियते यैर्मनः स्वस्थै श्रुतप्रशमसंयमैः ।  
ते इषि संसर्गमासाद्य वनितानां क्षर्य गताः ॥१०
- 736 ) स्थिरीकृत्य सनस्तत्त्वे तावच्छिष्टति संयमी ।  
यावश्चित्तमित्तिभोगिभूकुटिं न समीक्षते<sup>३</sup> ॥११

733) नवनीत—पुंसा सतामपि मनः नवनीतमिव सद्यो विलीयते । कीदूर्ण मनः । वनिता-वह्निसंतापं स्थीवह्निसंतप्तम् । इत्यत्र न संशयः कार्यः ॥८॥ अथ शमितकामो इषि स्त्रीसंगाङ्गजागति तदाहृ ।

734) अन्तःसुप्तः—स्मरः कन्दपैः अन्तःसुप्तो इषि योषितां संमेन जागति । केबां क इव । अपथ्यसेवासंभावितात्मनाम् अपथ्यात्मनभोजनव्यासदैहानां रोगब्रजः इव रोगसमूहः इव । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ पुनर्बनितासंगदोषमाह ।

735) क्रियते—यैः श्रुतप्रशमसंयमैः शास्त्रक्षान्तिचारित्रैर्मनः स्वस्थै क्रियते । ते इषि श्रुताद्याः वनितानां स्त्रीणां संसर्ग संबन्धमासाद्य प्राप्य क्षर्य गताः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ मनःस्थिरोपायमाह ।

736) स्थिरीकृत्य—संयमी चारित्रवान् तत्त्वे स्वात्मस्वरूपे मनः स्थिरीकृत्य तावत्तिष्ठति यावश्चित्तमित्तिभोगिभूकुटिं स्त्रीभोगिजनकटाक्षं न समीक्षते । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ यासा इथानतः कन्दपैः जनयति तदाहृ ।

इसमें सन्देह नहीं कि सउजन पुरुषोंका भी मन स्त्रीरूप अरिनके संयोगसे सन्तप होकर मक्खनके समान शोध ही पिशल जाता है ॥८॥

भीतर सौथा हुआ भी काम स्त्रियोंके संगसे इस प्रकार जाग उठता है जिस प्रकार कि अपथ्य भोजनका सेवन करनेवाले मनुष्योंका रोगसमूह जाग उठता है ॥९॥

जिन महापुरुषोंने श्रुत, प्रश्नम और संयमके द्वारा अपने मनको अपनी आत्मामें स्थिर कर लिया है वे भी स्त्रियोंकी संगतिको पाकर नाशको प्राप्त होते हैं ॥१०॥

संयमका परिपालक साधु मनको बस्तुस्वरूपमें स्थिर करके लब्धतक ही स्थित रहता है जब तक वह स्त्रीरूप सर्पकी भूकुटिको नहीं देखता है ॥११॥

१. M N मनः स्वास्थ्यं । २. M भोगिभूकुटिः । ३. All others, except S R समीक्षते ।

737) यासां संकल्पलेशो ऽपि तनोति मदनज्वरम् ।

प्रत्यासचिन्नं किं तासां रुणद्वि चरणश्चियम् ॥१२

738) यस्याः संसर्गमात्रेण यतिभावः जलदत्तये ।

तस्याः किं न कथालापैभूभङ्गैश्चारुदिव्रमैः ॥१३

739) सुचिरं सुष्टु निर्णीतं लब्धं वा वृद्धसंनिधौ ।

लुप्यते स्त्रीमुखालोकाद् वृत्तरत्नं शरीरिणाम् ॥१४

740) पुस्तोपलविनिष्पन्नं दारुचित्रादिकल्पितम् ।

अपि वीक्ष्य वपुः स्त्रीणां मुखत्यङ्गी न संशयः ॥१५

737) यासां—यासां स्त्रीणां संकल्पलेशो ऽपि मदनज्वरं तनोति तासां प्रत्यासत्तिः संबन्धी न । किं चरणश्चियं चारित्रलङ्घमो रुणद्वि रोधं करोति इत्यर्थः ॥१२॥ अथ स्त्रीणां कथादिनिषेधमाह ।

738) यस्याः—यस्याः स्त्रियः संसर्गमात्रेण संबन्धमात्रेण यतिभावः कलङ्गयसे कलङ्गो-क्रियते, तस्याः कथालापैः भूभङ्गैः कटाक्षैः चारुविभ्रमैः कटाक्षभेदैः यतिभावः कथं न कलङ्गयते इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ स्त्रीमुखविलोकनादचारित्रमाह ।

739) सुचिरं—शरीरिणां वृत्तरत्नं चारित्ररत्नं स्त्रीमुखालोकाद् लुप्यते लोपं याति । सुचिरं चिरकालं सुष्टु निर्णीतं वृद्धसंनिधौ । वा अथवा । लब्धं प्राप्तमित्यर्थः ॥१४॥ अथ स्त्रीणां प्रतिमापि मोहकारणमाह ।

740) पुस्तोपल—स्त्रीणां वपुः शरीरं वीक्ष्यापि । अङ्गी प्राणो मुहूर्ति मोहं याति । कोदृशं वपुः । पुस्तोपलनिष्पन्नं लेपपाणाणमयम् । वुनः कोदृशम् । दारुचित्रादिकलिपतं काष्ठचित्र-लिखितम् । न संशयः । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ मनोमोहभेदमाह ।

जिस स्त्रियोंका संकल्पमात्र भी कामज्वरको विस्तृत करता है उनका सानिध्य क्या चारित्ररूप लक्षणीको नहीं रोकता है ? अवश्य ही उनका सानिध्य उस चारित्रको नष्ट करने-वाला है ॥१२॥

जिस स्त्रीकी संगतिमात्रसे भी मुनि-अवस्था कल्पित होती है उसके साथ भृकुटियों-के भंगयुक्त और सुन्दर विलाससे परिपूर्ण कथावार्तासे क्या वह मुनि-अवस्था मर्लिनताको प्राप्त नहीं होगी ? अवश्य होगी ॥१३॥

अतिशय दीर्घं कालसे यह भलीभूति निश्चित हो चुका है अथवा वृद्धोंके समीपमें रहकर यह ज्ञात हो चुका है कि स्त्रीके मुखके देखनेसे प्राणियोंका चारित्ररूप रत्न नष्ट हो जाता है ॥१४॥

लेखकर्मी और पत्थरसे निर्मित हुए तथा लकड़ीसे और चित्र आदिके रूपमें रखे गये भी जियोंके शरीर ( आकार ) को देखकर प्राणी मोहित हो जाया करता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥१५॥

- 741 ) दृष्टिपातो भवेत्यूर्वं व्यामुह्यति ततो भनः ।  
प्रणिघसे जनः पश्चात्तत्कथागुणकीर्तने ॥१६
- 742 ) ततः प्रेमानुबन्धः स्थादुभयोरपि निर्भरम् ।  
उत्कण्ठते ततश्चेतः प्रेमकाष्ठाप्रतिष्ठितम् ॥१७
- 743 ) दानदाक्षिण्यविश्वासैरुभयोर्वर्धते स्मरः ।  
ततः शाखोपशाखाभिः प्रीतिवल्लो विसर्पति ॥१८
- 744 ) मनो मिलति चान्योन्यं निःशङ्कं संगलालसम् ।  
प्रणश्यति ततो लज्जा प्रेमप्रसरणीडिता ॥१९

741) दृष्टिपातः—यूर्वं दृष्टिपातो भवेत् । ततो भने व्यामुह्यति मोहं याति । पश्चात्तमतः प्रणिघसे स्नेहं करोति । क्व । उत्कथागुणकीर्तने गुणकथने । इति सूक्ष्मार्थः ॥१६॥ अथ ततो इपि यत् स्थातदाह ।

742) ततः प्रेमानुबन्धः—ततः उभयोरपि निर्भरे प्रेमानुबन्धः स्थात् ततश्चेतः उत्कण्ठते । कीदृशं प्रेम । काष्ठाप्रतिष्ठितं प्रेमदशाव्यासम् इति सूक्ष्मार्थः ॥१७॥ [ प्रेमप्रसरणस्य प्रकारमाह ।

743) दानदाक्षिण्य—उभयोः स्त्रीपुरुषयोः स्मरः मदनः वर्धते । ततः अनन्तरं शाखोपशाखाभिः । प्रीतिरेव वल्लो । विसर्पति प्रसरतोत्थर्थः ॥१८॥ ] पुनरप्रतः कायंमाह ।

744) मनो मिलति—व पुनः । मनो ज्ञयोन्यं परस्परं मिलति निःशङ्कम् । पुनः कीदृशम् । संगलालसम् । ततो लज्जा प्रणश्यति । कीदृशो लज्जा । प्रेमप्रसरणीडिता प्रेमसमूहपीडिता ॥१९॥ ततो यद्भूतति तदाह ।

प्रथमतः स्त्रीके ऊपर दृष्टि (निगाह) पढ़ती है, पश्चात् उसके विषयमें मन व्यामोहको प्राप्त होता है, तत्पश्चात् मनुष्य उसकी बाती और गुणोंके कीर्तनमें उपयोग लगाता है ॥१६॥

फिर दोनोंमें प्रेमका सम्बन्ध हो जाता है, पश्चात् मन उस प्रेमकी अन्तिम सीमापर स्थित होकर उत्कण्ठाको प्राप्त होता है ॥१७॥

इसके पश्चात् उन दोनोंमें दान, दाक्षिण्य ( उदारता या सरलता ) और विश्वासके द्वारा कामकी बालना वृद्धिगत होती है । पश्चात् प्रीतिरूप बेल शाखा और उपशाखाओंसे विस्तारको प्राप्त होती है ॥१८॥

पश्चात् संयोगके लिए उत्सुक हुआ मन निर्भय होकर परस्परमें मिल जाता है । तत्पश्चात् प्रेमके विस्तारसे पीछित होकर दोनोंकी लज्जा नष्ट हो जाती है ॥१९॥

१. M N निर्भरः । २. All others except P N T प्रेमकाष्ठप्रति । ३. N प्रसर्पति । ४. N निःशङ्की । प्रसरणपीडिता ।

- 745 ) निःशङ्कीकुरुते<sup>१</sup> नर्म रहोजल्पावलम्बितम् ।  
 वीक्षणादीन्धनोद्भूतः कामार्चिः प्रविजृम्भते ॥२०
- 746 ) बहिरन्तस्ततस्तेन दद्यमानो अग्निना भृशम् ।  
 अविचार्य जनः शीघ्रं ततः पापे प्रवर्तते ॥२१
- 747 ) श्रुतं सत्यं तपः शीलं विज्ञानं वृत्तमुच्छतम् ।  
 हन्धनोद्भूते मूढः प्रविश्य वनितानले ॥२२
- 748 ) स्फुरन्ति हृदि संकल्प्या ये स्त्रीव्यासकृतचेतसाम् ।  
 रागिणां तानिहैं आत्मन् को इपि गादितुं क्षमः ॥२३

745 ) निःशङ्कीकुरुते—ततो निःशङ्कं कर्त्त हृत्यं कुरुते । कीदृशं नर्म । रहोजल्पावलम्बितम् एकान्तवार्ताविलम्बितम् । ततः कामार्चिः प्रविजृम्भते प्रगटीभवति । कीदृशः कामार्चिः । वीक्षणादीन्धनोद्भूतः दद्यनादीन्धनजातः । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ ततो यद्भूतवित तदाह ।

746 ) बहिरन्तः—ततस्तदनन्तरं तेनाग्निना दद्यमानः । बहिरन्तवीहृमध्ये । ततो जनः शीघ्रं पापे प्रवर्तते । कि कृत्वा । अविचार्य । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ श्रुतादीन्धनं भवति वह्नी तदाह ।

747 ) धूतं सत्यं—वनितानले स्त्रोवह्नी प्रविश्य वृत्तमाचारम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ स्त्रीसंकल्पकथनमाह ।

748 ) स्फुरन्ति—स्त्रोऽप्यासकृतेसां हृदि ये संकल्पाः स्फुरन्ति । इह जगति हे आत्मा, तान् संकल्पान् गादितुं कथयितुं न को इपि क्षमः समर्थः । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

फिर परस्परके दर्शन-स्पर्शन आदि रूप इंधनसे उत्पन्न हुई कामरूप अग्नि छुट्टिगत होती है । तब प्राणी निर्भय होकर एकान्तमें श्रेमभाषणादि के आश्रित कीद्धा करता है ॥२०॥

अन्वमें मनुष्य उस कामार्चिसे बाहर और अन्तरंगमें अतिशय सन्वत्स होता हुआ विवेकछुट्टिको नष्ट करके शीघ्र ही पापमें प्रवृत्त हो जाता है ॥२१॥

इस प्रकारसे भूर्य मनुष्य स्त्रीरूप अग्निमें प्रविष्ट होकर वहाँ आगमज्ञान, सत्य, तप, शील, विज्ञान और उन्नत चारित्रको इंधन बना डालता है—उन्हें भस्म कर देता है ॥२२॥

जिनका विज्ञान स्त्रीके विषयमें अत्यन्त आसक्तिको प्राप्त हुआ है उन विषयानुरागी मनुष्योंके हृदयमें जो कल्पनाएँ उठती हैं, हे भाई ! उनका वर्णन करनेके लिए यहाँ कोई भी समर्थ नहीं है ॥२३॥

१. All others except P M L निःशङ्कं कुरुते । २. All others except P कामार्चिः । ३. All others except P M N वृत्तमुत्तमम् । ४. S विमह आत्, V J X Y K लाजि हे आत् ।

749 ) संसर्गप्रभवा नूनं गुणा दोषात्र देहिनाम् ।

एकान्ततः स दोषाय स्त्रीभिः साधौ विवर्धितः ॥२४

750 ) पुण्यानुष्टानसंभूतं महत्वं क्षीयते नृणाम् ।

सद्यः कलङ्कयते वृत्तं साहचर्येण योषिताम् ॥२५

751 ) अपवादमहापङ्के निमज्जन्ति न संशयः ।

यमिनोऽपि जगद्वन्द्यवृत्ता रामास्पदं श्रिताः ॥२६

752 ) अनन्तमहिमाकीर्णं प्रोत्तुङ्गं वृत्तपादपम् ।

वामाकुठारधारेण विच्छिन्न्याशु देहिनाम् ॥२७

749 ) संसर्ग—देहिनों प्राणिनों गुणाः । च पूनः । दोषाः नूनं निविचतं संसर्गप्रभवाः संबन्धात् जाताः स्त्रीभिः साधौ कृतः क्षणः कृतः प्रस्तावः । एकान्ततः एकान्तेन सदोषाय भवतीत्यर्थः ॥२४॥ अथ स्त्रीसंगे वृत्तमञ्जमाह ।

750 ) पुण्यानुष्टान—नृणां मनुष्याणां पुण्यानुष्टानसंभूतं महत्वं क्षीयते । वृत्तं चारित्रं सद्यः कलङ्कयते । केन साहचर्येण योषिताम् । साहचर्येण संगेनेत्यर्थः ॥२५॥ अथ रामासंगिनामयशो दर्शयति ।

751 ) अपवाद—रामास्पदं श्रिताः स्त्रीगृहं प्राप्ताः वतिनोऽपि अपवादमहापङ्के निमज्जन्ति वृडन्ति । क्व । अयशोमहाकदेसे । कीदृशाः । जगद्वन्द्यवृत्ताः जगद्वन्दनीयचारित्राः । इति सूतार्थः ॥२६॥ अथ स्त्रियः संगेन चारित्रं नशयति ।

752 ) अनन्त—इर्य वामाकुठारधारा स्त्रीपरशुधारा आशु शीघ्रं देहिनों वृत्तपादपं चारित्रवृक्षं विच्छिन्नन्ति । कीदृशम् । अनन्तमहिमाकीर्णं बहुतरमहिमाव्याप्तम् । कीदृशम् । प्रोत्तुङ्गमुख्यस्तरमिति सूतार्थः ॥२७॥ अथ स्त्रीणां लोचनविकारमाह ।

प्राणियोंके गुण और दोष नियमतः संसर्गसे उत्पन्न होते हैं । परन्तु स्त्रियोंके साथ बढ़ाया गया वह संसर्ग सर्वेषां दोषके लिए ही होता है । अभिप्राय यह है कि अन्य जनकी संगतिसे तो कुछ गुण और दोष दोनों ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु स्त्रियोंकी संगतिसे केवल दोष ही उत्पन्न होते हैं ॥२४॥

पवित्र अनुष्टानसे—सदाचरणसे—उत्पन्न हुआ मनुष्योंका साहात्य स्त्रियोंकी संगतिसे नष्ट हो जाता है । तथा उससे उनका चारित्र शीघ्र ही दूषित हो जाता है ॥२५॥

जिन संबंधी जीवोंका चारित्र लोकमें बन्दना करनेके योग्य होता है वे भी स्त्रीरूप स्थानका आश्रय पाकर निन्दारूप गहरे कीचड़के भीतर छूत जाते हैं ॥२६॥

प्राणियोंका जो उत्तम चारित्ररूप वृक्ष अपरिमित महिमासे व्याप्त होता है उसे यह स्त्रीरूप कुठार ( फरसा ) की धारा शीघ्र ही छिन्न-भिन्न कर डालती है ॥२७॥

१. M J X Y R साधौ कृतः क्षणम् , L T कृतश्चाणः , S F V कृतश्चाणः । २. N क्षीयते क्षणात् ।

३. S T F V X R धारेव ।

753 ) लोचनेषु मृगाक्षीणां क्षिप्तं किञ्चित्दञ्जनम् ।

येनापाङ्गैः क्षणादेव मुद्यत्यासां जगत्वयम् ॥२८

754 ) कौतुकेन अमेणापि दृष्टिर्ग्नाङ्गनामुखे ।

क्रष्टुं न शक्यते लोकैः पङ्कमग्नेव हस्तिनो ॥२९

755 ) एकत्र वसतिः साद्वी वरं व्याघ्रोरगैः सह ।

पिशाचैवी न नारीभिन्निमेषमपि शस्यते ॥३०

756 ) भ्रूलताचलनैर्येषां स्खलत्यमरमण्डली ।

ते ऽपि संसर्गमात्रेण वनितानां विडम्बिताः ॥३१

753 ) लोचनेषु—मृगाक्षीणां स्त्रीणां लोचनेषु तत् किञ्चिदञ्जनं क्षिप्तम् । येनाङ्गजनेनापाङ्गः कटाक्षः । वासा क्षणादेव जगत्वर्य मुह्यति । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ तासा दृष्टी लग्नायां दुष्करत्वमाह ।

754 ) कौतुकेन—अङ्गनामुखे स्त्रीबद्ने दृष्टिर्ग्ना लोकैः क्रष्टुमाक्षितुं न शक्यते । केन लग्ना । कौतुकेन अमेणापि । का इव । पङ्कमग्ना हस्तिनी यथा । हस्तिनो पङ्कमग्ना क्रष्टुं न शक्यते । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ स्त्रीबासोऽपि न युक्त इत्याह ।

755 ) एकत्र—व्याघ्रोरगैः सह सर्पैः सह एकत्र वसतिः वासः साद्वी वरम् । वा अथवा । पिशाचैः । नारीभिन्निमेषमपि निमेषमात्रमपि न शस्यते प्रशास्यते । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथामरादयो-ऽपि वासां दृष्टिश्वलम्भोत्यर्थः ।

756 ) भ्रूलता—येवां मुनीनां भ्रूलताचलनाद अमरमण्डली स्खलति धैर्य त्यजति । ते ऽपि तादुशब्दलोपेताः वनितानां संसर्गमात्रेण विडम्बिताः । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ स्त्रीदर्शनात् मुनयो-ऽपि भग्ना इत्याह ।

हिरण्यके समान चंचल नैव्रीवाली स्त्रियोंके उन नेत्रोंमें वह कोई अंजन ढाला गया है, जिससे कि उन स्त्रियोंके कटाक्षोंके द्वारा तीनों ही लोक क्षणभरमें मुग्ध हो जाते हैं ॥२८॥

यदि हष्टि कुतूहलसे या भ्रान्तिसे भी खीके मुखपर संलग्न होती है तो उसे मनुष्य कीचड़में फँसी हुई हथिनीके समान वहाँसे खीचनेके लिए समर्थ नहीं होते हैं ॥२९॥

व्याघ्र, सर्प अथवा पिशाचोंके साथ एक स्थानपर रहना अच्छा है । परन्तु स्त्रियोंके साथ एक स्थानपर क्षणभर रहना भी निम्दनीय है—अच्छा नहीं है ॥३०॥

जिनकी भृकुटिरूप लताके चलनेसे—कुद होनेपर—देवोंका समूह भी रुक जाता है वे धीर-धीर महामुरुष भी स्त्रियोंके संसर्गमात्रसे ही तिरस्कृत हुआ करते हैं—उनके वशीभूत हो जाते हैं ॥३१॥

७५७ ) त्यजन्ति वनिताचौरुद्धारचारित्रमौक्तिकम् ।

यतयोऽपि तपोभैङ्गकलङ्कुमलिनामनाः ॥३२॥

७५८ ) ब्रह्मचर्यव्युतः सद्यो महानप्यवगमन्यते ।

सर्वेरपि जनैलोके विद्यात् इव पावकः ॥३३॥

७५९ ) विशुद्ध्यति जगदेषां स्वीकृतं पादपासुभिः ।

वश्चिता बहुशस्ते ऽपि वनितापाङ्गवीक्षणात् ॥३४॥

७६० ) तपःश्रुतकृताभ्यासा ध्यानधैर्यविलम्बिनः ।

श्रूयन्ते यमिनः पूर्वं योषाभिः करमलीकृताः ॥३५॥

७५७ ) त्यजन्ति—यतयोऽपि वनिताचौरुद्धारचारित्रमौक्तिकं त्यजन्ति । कीदृशाः । तपोभैङ्गकलङ्कुमलिनामनाः तपोभैङ्गः एव कलङ्कः तेन मलिनमानं येषां से तथा । इति सूत्रार्थः ॥३२॥। अथ ब्रह्मचर्यव्युत्यायाम्नमहानपि निन्द्यते इत्याह ।

७५८ ) ब्रह्मचर्य—महानपि ब्रह्मचर्यव्युतः अवमन्यते निन्द्यते पावक इव विद्यातः । यथा विद्यातः शमितः पावकोऽग्निर्जन्मनिन्द्यते । इति सूत्रार्थः ॥३३॥। अथ महात्मनामपि स्त्री-संसगद्विषमाह ।

७५९ ) विशुद्ध्यति—येषां पादपासुभिः चरणरजोभिर्जगद् विशुद्ध्यति । ते ऽपि बहुशः वनितापाङ्गवीक्षणात् ब्रह्मिताः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥। अथ पूर्वमुनीनां योषित्संगादपायमाह ।

७६० ) तपःश्रुत—यमिनो ब्रह्मिनः, योषाभिः स्त्रीभिः करमलीकृता मलिनीकृताः श्रूयन्ते । कीदृशाः । तपःश्रुतकृताभ्यासात् ध्यानात् धैर्यविलम्बिनः । इति सूत्रार्थः ॥३॥। [अथ दृष्टात्मसाह ।]

स्त्रीरूप चोरोंके द्वारा रोके गये संयमीजन भी तपसे भ्रष्ट होकर उत्पन्न हुए कलंकसे मलिनमुख होते हुए चारित्ररूप मोतीको छोड़ देते हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चोरोंके द्वारा रोके गये मनुष्य उनके सामने अपने धनको छोड़कर मलिनमुख हो जाते हैं उसी प्रकार स्त्रियोंके द्वारा रोके जानेपर संयमी साधुजन भी उनके सामने अपने चिररक्षित आरित्ररूप धनको छोड़ देते हैं तथा इस प्रकार तपसे भ्रष्ट हो जानेके कारण उत्पन्न हुई निन्दासे मलिनमुख होते हैं—मुँह दिखलानेके बोग्य भी नहीं रहते ॥३२॥।

ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हुआ महान् पुरुष भी लोकमें सभी जनोंके द्वारा बुझी हुई अग्निके समान शीघ्र ही अपमानित होता है ॥३३॥।

जिन महर्षियोंके पैरोंकी धूलिको स्वीकार करके जगत् विशुद्ध होता है वे भी प्रायः स्त्रियोंके कटाक्षोंके देखनेसे ठगे गये हैं ॥३४॥।

जिन अर्णियोंने तप और आगमका अच्छा अभ्यास किया था तथा जो ध्यानके विषयमें धैर्यका अवलम्बन हेते थे—इदंसापूर्वक ध्यानमें अवस्थित रहते थे—वे भी पूर्वमें स्त्रियोंके द्वारा कलंकित किये गये हैं, यह पुराणोंसे सुना जाता है ॥३५॥।

७६१) उद्यते यत्र मात्रज्ञेन गोतुञ्जीर्जलप्लवे ।

दृश्य व्यूढा न सदेह। प्राप्तिव चूभकाशकाः ॥३६

७६२) इह हि वदनकञ्जं हावभावालसाद्यं

मृगमदललिताङ्कं विस्फुरद्भूविलासम् ।

क्षणमपि रमणीनां लोचनैर्लक्ष्यमाणं

जनयति हृदि कर्मणं धैर्यनाशं च पुंसाम् ॥३७

७६३) यासां सीमन्तिनीनां कुरबकतिलकाशोकसाकन्दवृक्षाः

प्राप्त्योच्चिंक्रियन्ते ललितभुजलतालिङ्गनादीन् विलासान् ।

तासां पूर्णेन्दुगौरं सुखकमलमलं वीक्ष्य लीलारसाद्यं

को योगी यस्तदानीं कलयति कुशलो मानसं निर्विकारम् ॥३८

७६१) उद्यते—यत्र जलप्लवे जलप्रवाहे मात्रज्ञेहस्तिभिः प्रतिस्रोतस्त्वेन उद्यते गम्यते । कीदृशैभृतिङ्गीः । नगोत्तुञ्जीः पर्वतीच्छैस्तरैः । तत्र मृगशावकाः मृगबालकाः प्राप्तिव व्यूढाः, न सदेहः । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ पुंसां धैर्यनाशमाह । मालिनी ।

७६२) इह हि—इह जगति । हि निश्चितस्त् । पुंसां हृदि कर्मणं जनयति । रमणीनां वदनं मुखं, लोचनैः क्षणमपि "वीक्ष्यमाणम् । च पुनः । धैर्यनाशं जनयति । कीदृशं रमणीनां वदनम् । हावभावालसाद्यं, हावो मुखविकारः, भावशिवत्तसमुद्भवः, तास्थामलसाद्यम् । मृगमदललिताङ्कं कस्तुरिकामनोहरपत्रबललीकम् । पुनः कीदृशम् । विस्फुरद्भूविलासं शोभायमानभूविलासम् । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ स्त्रीणां संसर्गति कामोद्रेकमाह । आधरा ।

७६३) यासां—यासां सीमन्तिनीनां, ललितभुजलतालिङ्गनादीन् चारुवाहुलतालिङ्गनादीन् विलासान् प्राप्त्य । कुरबकतिलकाशोकसहकारानीनां वृक्षाणां कृतवोडशशृङ्खाराः सुराभृतवदताः

जिस जलप्रवाहमें पर्वतके समान उन्नत वक्षे-वक्षे हाथी भी वह जाते हैं उसमें मृगके बच्चे वो पहले ही वह जानेवाले हैं, इसमें कुछ सन्देह ही नहीं है ॥३८॥

हाव-भाव एवं आलस्यसे परिपूर्ण, मध्यमे कस्तूरीसे सुशोभित तथा भृकुटियोंके विलाससे संयुक्त; ऐसे स्त्रियोंके मुख-कमलको क्षणभर भी नेत्रोंसे देखनेपर वह पुरुषोंके हृदयमें कम्पनको उत्पन्न करता हुआ उनके धैर्योंको नष्ट कर देता है ॥३९॥

जिन स्त्रियोंकी सुन्दर मुजाहुपी लकाके आँलिंगन आदि विलासोंको पाष्ठर कुरबक, सिलक, अशोक और आश्रवृक्ष अतिशय विकारको प्राप्त होते हैं—विकसित हो जाते हैं—उनके पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान गौर और लीलारससे परिपूर्ण मुखरूप कमलको देखकर वह कौन-सा कुशल योगी है जो उस समय अपने मनको विकारसे रहित प्रगट कर सकता

१. M L F V ऊरुन्ते । २. S वीक्ष्यमाणं, All others except P वीक्ष्यमाणः । ३. M X Y लीलालसाद्यं ।

- 764 ) तावद्वत्ते प्रतिष्ठां प्रशमयतिै मनश्चापलं चैष तावत्  
 तावरिसद्वान्त्यन्तं रुकुरति हृषि एवं दिशतस्त्वैकदीपम् ।  
 क्षीरकृपारवेलावल्यविलसितैर्मानिनीनाै कटाक्षै—  
 योवन्नो हन्यमानं कल्यति हृदयं दीर्घदोलायितानि ॥३९
- 765 ) संसर्गादि दुर्वलां दीनां संत्रस्तामप्यनिलङ्घतीम् ।  
 कुष्ठिनां रोगिणीं जीणीं दुःखितां क्षीणविग्रहाम् ॥४०
- 766 ) निनिदत्ताै निन्द्यजातीयां स्वजातीयां तपस्विनीम् ।  
 बालामपि तिरस्चीं स्त्रीं कामी भोवतुं प्रवर्तते ॥४१

सुमृद्धबाहुलताभ्यामैश्चिलभ्य मुखेन सुराच्छटोत्क्षेपं ददति । सतस्ते वृक्षाः पूष्यादिकोपेता जायन्ते । अन्यथा न । इति तासौ पूषान्दुग्नीरं मुखकमलम् अलम् अत्यर्थं वीक्ष्य । कीदृशं मुखकमलम् । \*लोलालसाहर्थं क्रीडालस्यमहार्थम् । कः । योगी । यः कुशलः तदानीं मानसं चित्तं निविकारं कल्यति भारयति, स एव योगी । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ यावत् स्त्रीणां रूपं न पश्यति तावत् प्रतिष्ठादि पूर्वे भवति इत्याह । स्वर्गरा ।

764) तावद्वत्ते—यावन्मानिनीनाै कटाक्षैहन्यमानं हृदयं दीर्घलोलायितानि\* दीर्घलोलाकर्म न कल्यति, तावत् प्रतिष्ठां धते । तावदेव मनः चापलं परिहृरति\* च । एव निधरिणार्थः । तावत्सूचं सिद्धान्तं हृषि रुकुरति । कीदृशम् । परं प्रकृष्टम् । पुनः कीदृशम् । दिशतस्त्वैकदीपम् । कीदृशम् । क्षीरकृपारवेलावल्यविलसितैः क्षीरसमुद्रकल्लोलवल्यः भ्रमविशेषः, तदिलसितैः । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ कुष्ठिसत्ताै नारीं भोवतुं कामी वाङ्छति इत्याह ।

765-66) संसर्गात्—कामी संसर्गात् संबन्धात् । एतादुशीं स्त्रीं भोवतुं प्रवर्तते इति संबन्धः ।

हो ? अभिग्राय यह है कि जो चुक्ष लोकमें तुच्छ गिने जाते हैं वे भी जब स्त्रियोंके संसर्गसे विकारको प्राप्त होते हुए देखे जाते हैं तब भला विशेष चतुर समझे जानेवाले मनुष्य वो उसके संसर्गसे विकारको प्राप्त होंगे ही ॥३८॥

यह मनुष्य तब तक ही प्रतिष्ठाको धारण करता है—तब तक ही अपनी प्रतिष्ठाको स्थिर रख सकता है, तब तक ही अपने मनको चंचलताको शास्त करता है—उसे वशमें रख सकता है, और तब तक ही हृदयमें समस्त वस्तुस्वरूपके प्रगत करनेमें अनुपम दीपकके समान सिद्धान्त-सूच—आगमका रहस्य भी प्रकाशमान रहता है, जबतक कि श्रीरसमुद्रके किनारेके धेरेके समान यिलाससे संयुक्त स्त्रियोंके कटाक्षोंसे व्यथित हुआ हृदय दीर्घ हिंडालेके लघ्बे शोकोंका अनुभव नहीं करता है । तात्पर्य यह कि स्त्रियोंके कटाक्षोंसे विद्ध होनेपर मनुष्योंकी प्रतिष्ठा और आगमकान आदि सब कुछ सम्भव हो जाता है ॥३९॥

विषयी मनुष्य अतिशय पुरुषसंयोगके कारण दुर्बलताको प्राप्त हुई, दरिद्र, भयभीत, स्वयं इच्छा न करनेवाली, कोहसे असित, रोगयुक्त, वृद्ध, दुःखित, कृश शरीरवाली, वृणित,

१. All others except P प्रतिष्ठा परिहृरति । २. M दीर्घलोलायितानि ।

767 ) अज्ञनापाङ्गवाणालो ब्रपतन्तो निवारय ।

विधाय हृदयं धीर दृढं वैराग्यवमितम् ॥४२

768 ) ब्रह्मचर्यविशुद्धयर्थं संगः स्त्रीणां न केवलम् ।

त्याज्यः पुंसामपि प्रायो विटविद्यावलम्बिनाम् ॥४३

769 ) मदान्धैः कामुकैः पापैर्वश्चकैर्मर्गविच्युतैः ।

स्तव्यलुब्धाधमैः सार्थं संगो लोकद्वयान्तकः ॥४४

770 ) सूत्रे दत्तावधानाः प्रशमयमतपोद्यानलब्धावकाशाः

शश्वत्संन्यस्तसंगा विमलगुणमणिप्रामभाजः स्वयं ये ।

कीदूशीं स्त्रीम् । अवाङ्गन्तीं, क्षीणशरीराम् । धोषं सुगमम् । तों कुत्सितत्वेन जिन्दाजातीर्था चाण्डालजातीयम् । धोषं सुगमम् । इति सूत्रद्वयार्थः ॥४०-४१॥ अथ स्त्रोकटाक्षवारण्यत्वाह ।

767) अज्ञना—हे धीर, अज्ञनापाङ्गवाणालों स्त्रीकटाक्षशरावलों ब्रपतन्तो निवारय । कि कृत्वा । हृदयं दृढं विधाय । कीदूशं हृदयम् । वैराग्यवमितम् । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथ ब्रह्मचर्य-रक्षार्थं लम्पटसंसर्गत्यागमाह ।

768) ब्रह्मचर्य—न केवल ब्रह्मचर्यरक्षार्थं स्त्रीणां संगः त्याज्यः । प्रायः विटविद्यावलम्बिनां पुंसामपि संगस्त्याज्यः । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ ये: सार्थं संगस्त्याज्यस्तानाह ।

769) मदान्धैः—कठोरलुब्धाधमैः सार्थं संगः लोकद्वयान्तकः इहयरलोकविनाशकः । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ स्त्रीणां शरीरविलोकनातीर्थकरतपोमङ्ग इत्याह । स्वधरा ।

770) सूत्रे—ये जिनपतियतयः, ते प्राक् पूर्वं कथासु स्वयं प्रसिद्धाः सन्तः ते ऽपि भूताः श्रूयन्ते । कस्मात् । कामिनीनां स्तनजघ्नमुखालोकनात् स्तनजड्घामुखालोकनात् । कीदूशास्ते ।

नीच जातिकी, अपनी ही जातिकी, तपस्या करनेवाली, अवश्यक और पशुस्त्री तकके भोगनेमें प्रवृत्त हो जाता है ॥४०-४१॥

हे धीर ! अपने हड्ड हृदयको वैराग्यरूप कवचसे आच्छादित करके गिरती हुई स्त्रियोंके कटाक्षरूप बाणोंकी पंक्तिका निवारण कर ॥४२॥

ब्रह्मचर्यव्रतको निर्भल रखनेके लिए केवल हित्रियोंके ही संसर्गका परित्याग करना आवश्यक नहीं है, वहिक कामकलाका आलम्बन करनेवाले दुराचारियोंके भी संसर्गका परित्याग करना आवश्यक है ॥४३॥

जो मदसे अन्धे हो रहे हैं, विषयों हैं, पापों हैं, धूर्त हैं, सन्मार्गसे भ्रष्ट हैं, अभिमानी हैं, लोभी हैं और निकुष्ट आचरण करनेवाले हैं; उनके साथ किया गया संसर्ग दोनों ही लोकोंको नष्ट करनेवाला होता है ॥४४॥

जो स्वयं सूत्रग्रन्थके अध्यासमें उपयोगको दिया करते थे; जिनको प्रशम, चम, तप एवं ध्यानके लिए अवकाश प्राप्त था—जो उक्त प्रशमादिमें सदा अवस्थित रहा करते थे;

श्रूयन्ते कामिनीनां स्तनजघनमूखालोकनाते इपि भग्ना  
मज्जन्तो मोहवार्थौ जिनशतयतयः प्राक् प्रसिद्धाः कथासु ॥४५॥

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे ब्रह्मब्रतविचारे आचार्य-  
श्री-शुभचन्द्रविरचिते संसर्गप्रकरणम् ॥१४॥

सूत्रे द्रावशाङ्गे दत्तावधानाः दत्तचित्ताः । पुनः कोदृशाः । प्रशमयमलपोष्यानलव्यावकाशाः कालित-  
ब्रततपोष्यानेषु लब्धः प्राप्तो अवकाशो यैस्तथा । पुनः कोदृशाः । शशवत् संन्यस्तसंगाः निरन्तरा-  
पास्तसंगाः । पुनः कोदृशाः । विमलगुणमणिमामभाजः । सुगमम् । स्त्रीणामङ्गविलोकनात्मोहवार्थौ  
मज्जन्तः । इति सूत्रार्थः ॥४५॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहृपासा-तत्पुत्र-साहृटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहृरिषिदास-स्वप्रबणार्थ  
पण्डितजिनदासोद्यमेन स्त्रीणां संसर्गप्रकरणम् ॥१४॥

मालिनी छन्दः । विमलगुणनिधानः स्वक्रियासावधानः परमचरितयुक्तः पाश्वसाहः  
प्रमुकः । तदनु इह समृद्धसोडरो भावशुद्धो जदति जगति चैषः रेषिदासः सुरेशः ॥१॥ अथ  
स्त्रीसंगत्यागात् महतो सेवा भवतीत्याह ।

जो निरन्तर परिप्रहकी ओरसे विमुख रहते थे, तथा जो निर्मल गुणरूप मणियोंके समूहकी  
आराधना किया करते थे; वे जैन मुनि भी पूर्व समयमें स्त्रियोंके स्तन, जघन और मुखके  
देखनेसे अष्ट होकर मोहरूप समुद्रके भीतर भग्न हुए हैं। उनकी कथाएँ पुराणप्रन्थोंमें  
प्रसिद्ध हैं ॥४५॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
ब्रह्मब्रतविचारमें संसर्ग प्रकरण समाप्त हुआ ॥१४॥

## [ वृद्धसेवा ]

७१ ) लोकद्रुयविशुद्धथर्थं भावशुद्धथर्थमेव वा ।  
विद्याविनयवृद्धथर्थं वृद्धसेवैव शस्यते ॥१॥

७२ ) कषायदहनः शान्तिं याति रागादिभिः सम्म् ।  
चेतःप्रसत्तिमाधत्ते<sup>१</sup> वृद्धसेवावलम्बिनाम् ॥२॥

७१ ) लोकद्रुय—वृद्धसेवैव शस्यते प्रशस्यते । किमर्थम् । लोकद्रुयविशुद्धथर्थम् । पुनः किमर्थम् । अञ्जसा<sup>२</sup> सुखेन भावशुद्धथर्थम् । पुनः किमर्थम् । विद्याविनयवृद्धथर्थम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ वृद्धसेवाकलमाह ।

७२ ) कषाय—चेतः प्रशान्तिमाधत्ते । केषाम् । वृद्धसेवावलम्बिनां वृद्धसेवा कुर्वताम् । शोषं मुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ सति वृद्धे धर्मकर्तव्यमाह ।

दोनों लोकोंकी विशुद्धि, परिणामोंकी निर्मलता तथा ज्ञान एवं विनयकी वृद्धिके लिए वस्तुतः वृद्ध जनोंकी सेवा की ही प्रशासा की जाती है ॥ विशेषार्थ—वृद्ध जनोंसे अभिप्राय यहाँ उन बुद्धोंका नहीं है जो केवल आशुमें अधिक होते हैं । किन्तु जो आगमके पारंगत होकर संयमका परियालन करते हैं; जो आत्म-परस्वरूपके ज्ञाता होनेसे संसार, शरीर एवं भोगोंकी ओरसे विरक्त रहते हैं; तथा जो हृदयापूर्वक तप एवं ध्यानमें लीन रहते हैं; उन महात्माओंको यहाँ वृद्ध पदसे प्रहृण करना चाहिए । कारण कि ऐसे महापुरुष ही आत्महित-के साथ परहितके सम्पादनमें भी समर्थ होते हैं । इसके विपरीत जो अवस्थामें वृद्ध होते हैं वे परका कल्याण तो कर ही नहीं सकते, किन्तु साथ ही वे आत्महितके साधनमें भी असमर्थ हो जाते हैं । इसका कारण यह है कि उस समय उनका शरीर शिथिल हो जाता है, इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं करती हैं, तथा स्मृति श्रीण और विचारशक्ति नष्ट हो जाती है ॥१॥

जो उन वृद्धसेवाका आश्रय लेते हैं, उनकी कथायरूप अग्नि रागादिके साथ ही ज्ञान हो जाती है तथा चित्त निर्मल होकर प्रसन्नताको धारण करता है ॥२॥

१. All others except P शुद्धथर्थमङ्गसा । २. L ] चेतःप्रशान्तिः<sup>१</sup> ।

- 773 ) निश्चलीकुरु वैराग्यं चित्तदैत्यं नियन्त्रय ।  
आसादय परा शुद्धि<sup>१</sup> दुर्बुद्धे वृद्धसाक्षिकम् ॥३॥
- 774 ) सत्त्वनिकषोऽनुतं विवेकालोकविधितम् ।  
येषां बोधमयं चक्षुस्ते वृद्धा विदुषां मताः ॥४॥
- 775 ) तपःश्रुतधृतिध्यानंविवेकयमसंयमैः ।  
ये वृद्धास्ते अ शस्यन्ते न पुनः पलिताङ्गुरैः ॥५॥
- 776 ) प्रत्यासत्ति समायातैविषयैः स्वान्तरञ्जकैः ।  
न धैर्यं सखलितं येषां ते अपि वृद्धा वृथैर्मताः ॥६॥

773 ) निश्चलीकुरु—हे दुर्बुद्धे, दुर्मते, वृद्धसाक्षिकम् एतत्सर्वं कुरु । चित्तदैत्यं नियन्त्रय बद्धं कुरु । परा शुद्धिम् आसादय प्रापय । इति सूत्रार्थः । शेषं सुगमम् ॥३॥ अथ वृद्धानां स्वरूपमाह ।

774 ) सत्त्वस्य—येषां बोधमयं ज्ञानमयं चक्षुवर्तते । कीदृशम् । \*स्वतत्त्वनिकषोदभूतं स्वात्मतत्त्वकषपद्वजातम् । पुनः कीदृशम् । विवेकालोकविधितं विवेकप्रसादवितम् । ते पूर्वोक्तलक्षणालक्षिता विदुषां पण्डितानां मता अभिमताः । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनर्वृद्धानां स्वरूपमाह ।

775 ) तपःश्रुत—अत्र जगति तपःश्रुतधृतिज्ञानंविवेकयमसंयमैः ये वृद्धास्ते शस्यन्ते । न पुनः पलिताङ्गुरैः इवेतकेशैः । इति सूत्रार्थः ॥५॥ पुनर्वृद्धानां स्वरूपमाह ।

776 ) प्रत्यासत्ति—येषां धैर्यं न सखलितम् । कैः । विषयैः इन्द्रियव्यापारैः । कीदृशैः ।

हे दुष्टबुद्धि ! तू उन वृद्धोंके समोपमें चित्तरूप दैत्यको वशमें करके वैराग्यभावको स्थिर करता हुआ उक्तषट शुद्धिको प्राप्त कर ॥३॥

जिनका ज्ञानरूप नेत्र समीक्षीन तत्त्वके परीक्षणसे उत्पन्न होकर विवेकरूप प्रकाशकी सहायतासे वृद्धिको प्राप्त हुआ है वे महापुरुष विद्वानोंके द्वारा वृद्ध माने गये हैं—उन्हें ही पण्डित जन वृद्ध समझते हैं ॥४॥

लोकमें जो मनुष्य तप, श्रुत, धैर्य, ध्यान, विवेक, यम ( ब्रताचरण ), और संयम ( इन्द्रियनिप्रह ) इन गुणोंके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हैं उन वृद्धोंकी ही प्रशंसा की जाती है । किन्तु जो बालोंकी सफेदीसे वृद्धिको प्राप्त हैं—अवस्थामें ही वृद्ध हैं—उनकी लोकमें प्रशंसा नहीं की जाती है ॥५॥

मनको अनुरजायमान करनेवाले विषयोंके साथ समीपतामें हीमेषर भी जिनका धैर्य

१. S V J X R वरां वृद्धिः । २. All others except P स्वतत्त्वनिकषोः । ३. J ज्ञान for ध्यान । ४. N S T F V J Y R ते वृद्धा विदुषैः ॥

७७७ ) न हि स्वप्ने इपि संजातां येषां सद्गुच्छवाच्यता ।

यौवने इपि मतां वृद्धास्ते धन्याः शीलशालिमिः ॥७॥ किं च-

७७८ ) प्रायः शरीरशैथिल्यात्स्यात्स्वस्था मतिरङ्गिनाम् ।

यौवने तु क्वचित्कुर्याद् दृष्टतच्चो इपि विक्रियाम् ॥८

७७९ ) वार्धक्येन वपुर्धत्ते शैथिल्यं च यथा यथा ।

तथा तथा मनुष्याणां विषयाशा निवर्तते ॥९

\*प्रत्यासत्तिसमायातैः संबन्धमात्रसमागतैः । पुनः कीदृशैः । स्वान्तरङ्गजकैः चित्तरङ्गजकैः । ते इपि वृद्धा वृधीर्मताः ॥६॥ अथ पुनस्तेषां लक्षणमाह ।

७७७ ) न हि स्वप्ने—[ के वृद्धाः । येषां सद्गुच्छवाच्यता शीलनिन्दा लोके न संजाता ते । शीलशालिमः शीलेन शीभयानाः । शेषं सुगमम् ] ॥७॥ किं च । अथ यौवने इपि तत्त्वलक्षणमाह ।

७७८ ) प्रायः शरीर—वृद्धत्वे अङ्गिनां स्वस्था मतिः स्यात् । कस्मात् । प्रायः शरीरशैथिल्यात् । तु पुनः । यौवने दृष्टतत्त्वो इपि वृद्धिविद्विक्यां कुर्यात् । इति सूक्ष्मार्थः ॥८॥ पुनर्वर्धिके यत्तदाह ।

७७९ ) वार्धक्येन—वृद्धस्य गावो वार्धक्यम् । तेन । शेषं सुगमम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥९॥ अथ तत्संगफलमाह ।

सखलित नहीं हुआ है—जो उन सुलभ भोगोंकी प्राप्तिके लिए कभी अधीर नहीं होते हैं—उन्हें भी परिषड्स जन वृद्ध मानते हैं ॥६॥

जिनका चारित्र स्वप्नमें भी कलंकित नहीं हुआ है उन्हें शीलसे विभूषित मुनिजन युवावस्थामें भी वृद्ध मानते हैं । वे धन्य हैं—उनकी प्रशंसा करना चाहिये ॥७॥

इसके अतिरिक्त वृद्धावस्थामें प्रायः शरीरके शिथिल हो जानेसे प्राणियोंकी वृद्धि आत्मस्वरूपमें स्थित होती है । परन्तु युवावस्थामें तो वस्तुस्वरूपका जानकार भी कही विकारको कर सकता है ॥ विशेषार्थ—इसका अभिप्राय यह है कि जब वृद्धावस्थामें शरीर शिथिल हो जाता है उस समय यदि कोई मनुष्य विषयोंसे विरक्त होकर आत्मकल्याणमें ग्रवृत्त होता है तो यह विशेष आश्चर्यकी बात नहीं है । परन्तु जिस युवावस्थामें विकारके अनेकों साधन उपस्थित रहते हैं उस अवस्थामें भी जो विवेकी जीव चन विषयोंसे विरक्त होकर आत्महितकी दृष्टिसे संयम व तपश्चरण आदिमें ग्रवृत्त हो जाते हैं वे अतिशय प्रशंसनीय हैं ॥८॥

वृद्धावस्थाके कारण जैसे-जैसे शरीर शिथिलताको धारण करता है वैसे-वैसे मनुष्योंकी विषयतुल्या नष्ट होती जाती है । अभिप्राय यह है कि वृद्धावस्थामें शरीरके शिथिल हो जानेसे मनुष्योंकी विषयतुल्यता प्रायः स्वयमेव शान्त हो जाती है ॥९॥

१. All others except P ] संयाता । २. Y इपि वृद्धिवृद्धा । ३. ] शालिमः । ४. P M L F किं च । ५. N स्वस्था देहिनो मतिः । ६. N वार्धक्ये तु वपुः ।

780 ) हीनाचरणसंआन्तो वृद्धो इषि तरुणायते ।  
तरुणो इषि सतां धने श्रियं 'सत्संगवासितः ॥१०

781 ) विद्धिै वृद्धानुसेवेयं मातेव द्वितकारिणी ।  
विनेश्री वापिवामाना दीपिकेवार्थदर्शिनी ॥११

782 ) कदाचिहैव वैमुख्यान्मातापि विकृति भजेत् ।  
न देशकालयोः क्वापि वृद्धसेवा कृता सती ॥१२

780 ) हीनाचरण—हीनाचरणसंआन्तो वृद्धो इषि तरुणायते तरुण इव आचरते । तरुणे-इषि सतां श्रियं धने । कीदृशः । सत्संगवासितः सत्संगव्याप्तः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ वृद्ध-सेवायाः फलमाह ।

781 ) विद्धि—इयं वृद्धानुसेवा साकात्<sup>१</sup> माता इव । कीदृशी । द्वितकारिणी । पुनः कीदृशी । आमाना सर्वज्ञाना वागिव वाणोद । कीदृशी । विनेश्री । पुनः कीदृशी । दीपिकेव अर्थ-दर्शिनी । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पुनवृद्धसेवाफलमाह ।

782 ) कदाचित्—देशकालयोविषये वृद्धसेवा कृता सती क्वापि विकृति विकारं न भजेविति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ कस्यविद्धाणीदोषमाह ।

जो हीन आचरणसे व्याकुल है वह अवस्थामें वृद्ध होकर भी युषकके समान आचरण करता है—उसे युषक ( जवान ) ही समझना चाहिए । इसके विपरीत जो साधु जनकी संगतिमें रहकर उत्तम संस्कारको प्राप्त है वह अवस्थामें युवा होकर भी सत्पुरुषोंकी लक्ष्मी-को धारण करता है—उसे युवा होनेपर भी वृद्ध समझना चाहिए ॥१०॥

यह वृद्धसेवा माताके समान हित करनेवाली, आपकी वाणीके समान विनयशील बनाने याली ( या शिक्षा देनेवाली ) और दीपकके समान पदार्थके स्वरूपको दिखलानेवाली है ॥१२॥

दैवके विपरीत होनेपर कदाचित् माता तो विकारको प्राप्त हो सकती है—वह अपनी द्वितकरताको छोड़ भी सकती है, परन्तु विधिपूर्वक की गयी वह वृद्धसेवा किसी भी देश और किसी भी कालमें विकारको नहीं प्राप्त होती है—वह सदा और सर्वत्र ही प्राणीका द्वित किया करती है ॥१२॥

१. N सत्सञ्ज्ञासितः । २. All others except P साकाद्वृद्धाः । ३. All others except P M भजेत् ।

783 ) अन्ध एव वराको इसी न सतां यस्य भारती ।  
श्रुतिरन्धं समासाद्य प्रस्फुरत्यधिकं हृदि ॥१३

784 ) सत्संसर्गसुधास्यन्दैः पुंसां हृदि पवित्रिते ।  
जानलक्ष्मीः पदं धर्मे विवेकमुदिता सती ॥१४

785 ) वृद्धोपदेशमर्शीं प्राप्य चित्तकुशेशयम् ।  
न प्राचोधि कर्थं तथं संयमश्रीः स्थिति दधे ॥१५

783 ) अन्ध एव—श्रुतिरन्धं कर्णमूलं प्राप्य हृदि अधिकं प्रस्फुरति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ सत्संसर्गफलमाह ।

784 ) सत्संसर्ग—पुंसां हृदि जानलक्ष्मीः पदं स्थानं धत्ते । कीदृष्टी । विवेकमुदिता सती । कीदृष्टीः । सत्संसर्गसुधास्यन्दैः सत्संबन्धामृतनिद्यन्दैः पूर्वे पवित्रिते । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ [ अथ वृद्धोपदेशफलमाह । ]

785 ) वृद्धोपदेश—थावत् चित्तमेव कुशेशयं कमलम् । वृद्धोपदेश एव घर्माशुः सूर्यः तं प्राप्य । न प्राचोधि न विकसितम् । तावत् संयम एव श्रीः शोभा । तथं कर्थं स्थिति दधे आश्रयं कुप्राप्ति । वृद्धोपदेशाच्चित्तशुद्धिः । ततः संयमस्य प्रादुर्भवि इत्यर्थः ॥१५॥ अथ वृद्धसेवाफलमाह ।

कालरूप छेदको पा करके जिसके हृदयमें सत्पुरुषोंकी वाणी असिश्य प्रकाशमान नहीं होती है उस बेचारेको अन्धा ही समझना चाहिए । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जो सत्पुरुषोंके हितकर बच्चोंको नहीं सुनता है और न उनका मन भी करता है उसे अन्धे मनुष्यसे भी गया-बीता समझना चाहिये । कारण यह कि अन्धा मनुष्य तो चिवेक के आश्रयसे अपना हित कर सकता है, परन्तु जो आपजनके सदुपदेशको नहीं सुनता है वह अधिवेकी कभी भी अपना हित नहीं कर सकता है ॥१३॥

जिन पुरुषोंका हृदय सत्समागमरूप अमृतके प्रवाहसे पवित्र हो चुका है उनके उस हृदयमें ज्ञानरूप लक्ष्मी विवेकसे हर्षको प्राप्त होकर स्थानको धारण करती है—निवास करती है । अभिप्राय यह कि जो साधुजनकी संगतिमें रहते हैं उनका ज्ञान वृद्धिको प्राप्त होता है वैसे ही उससे उनका संयम ( चारित्र ) भी वृद्धिगत होता है ॥१४॥

जिनका हृदयरूप कमल वृद्धोंके उपदेशरूप सूर्यको पाकर प्रबोधको नहीं प्राप्त हुआ है—विकसित नहीं हुआ है—उनके उस हृदय-कमलके भीतर संयमरूप लक्ष्मी कैसे अवस्थित रह सकती है ? नहीं रह सकती है । अभिप्राय यह कि वृद्धोंकी संगतिसे जैसे ज्ञान वृद्धिगत होता है वैसे ही उससे उनका संयम ( चारित्र ) भी वृद्धिगत होता है ॥१५॥

786 ) अनुपासयैव यो वृद्धमण्डलीं मन्दविक्रमः ।

जगत्तत्त्वस्थिति वेत्ति सं मिमीते नभः करैः ॥१६

787 ) "सुधांशुरस्मिसंपक्ताद्विसर्पति यथाम्बुधिः ।

तथा सदृश्चत्तरसंगान्नुणां प्रज्ञापयोनिधिः ॥१७

788 ) नैराश्यमनुबध्नाति विष्ण्याप्याशाहविर्भुजम् ।

आसाद्य यमिनां योगी वाक्पथातीतसंयमम् ॥१८

789 ) वृद्धानुजीविनामेव स्युश्चारित्रामिसंपदः ।

भवत्यपि च निर्लेपं मनः क्रोधादिकश्मलम् ॥१९

786 ) अनुपासयैव—यो मनुष्यः वृद्धमण्डलीम् अनुपासयैव अदृश्यैव जगत्तत्त्वस्थिति भुवन-तत्त्वमयदी वेत्ति जानाति । कोदृशः । मन्दविक्रमः भद्रबलवान् । स करैहृष्टैर्नंभः आकाशं मिमीते । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ सत्संसर्गात् प्रजावृद्धिमाह ।

787 ) सुधांशु—यथा अम्बुधिः समुद्रः \*शीतांशुरस्मिसंपक्तिं चन्द्रकिरणसंबन्धात् विसर्पति । [ तथा ] सदृश्चत्तरसंगात् सञ्चारित्रसंबन्धात् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ योगिकर्तव्यमाह ।

788 ) नैराश्यमनु—योगी नैराश्यं निर्लेपितामनुबध्नाति बन्धयति । कि कृत्वा । यमिनां व्यसिनां वाक्पथातीतसंयमे वचनागोचरसंयमम् आसाद्य प्राप्य । आशाहविर्भुजं वाङ्छामिन विष्ण्याप्य उपशमयित्वा । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ सेवतां फलमाह ।

789 ) वृद्धानुजीविना—वृद्धानुजीविनां वृद्धसेवावतां चारित्रादिसंपदः चारित्रलक्ष्मयः स्युः ।

जो हीन पराक्रमवाला मनुष्य वृद्धसमूहकी वपासना न करके ही संसारके यथार्थ स्वरूपको जानना चाहता है वह मानो हाथों के द्वारा आकाश को मापना चाहता है । अभिप्राय यह कि जिस प्रकार अमन्त आकाश का हाथों के द्वारा मापा जाना सम्भव नहीं है उसी प्रकार वृद्ध सेवाके विना तत्त्वका परिद्वान होना भी सम्भव नहीं है ॥१६॥

जिस प्रकार चन्द्रकी किरणोंके संसर्गसे समुद्र विस्तारको प्राप्त होता है उसी प्रकार सदाचारी जनोंके संसर्गसे मनुष्योंका बुद्धिरूप समुद्र भी विस्तारको प्राप्त होता है ॥१७॥

योगी अनिर्बचनीय मुनियोंके संयमको पाकर आशारूप अग्निको बुझाता हुआ निराश-भावका अनुसरण करता है । अभिप्राय यह है कि प्राणीकी विषयतुष्णा तभी नष्ट होती है जब कि वह मुनिव्रत ( सकलचारित्र ) को स्थीकार करता है ॥१८॥

चारित्ररूप सम्पदाएँ उनको ही प्राप्त होती हैं जो कि वृद्धजनके आश्रयमें रहकर

१. N न मिमीते । २. All others except P शीतांशु । ३. M N रसिमसंस्पर्शति । ४. M N L T चरित्रादि; S F V J X Y R चारित्रादि ।

- ७९० ) सुलभेष्वयि भौगेषु नुणां तृष्णा निवर्तते ।  
सत्संवर्गमुधाक्ष्यन्दैः शशदार्दीकृतात्मनाम् ॥२०

७९१ ) कातरत्वं परित्यज्य वैर्यमेवावलम्बते ।  
सत्संगजपरिज्ञानरञ्जितात्मा जनः स्वयम् ॥२१

७९२ ) पुण्यात्मनां गुणापापस्मीमसंसक्तमानसैः ।  
तीर्यते यमिभिः किं न अविद्यारामसागरः ॥२२

७९३ ) तच्चे तपसि चैरास्ये परां ग्रीति समश्चुते ।  
हृदि सुररति यस्योच्चैर्द्वापर्दीपसंततिः ॥२३

च पुनः । क्रोधादिकरमले क्रोधादिमलेति॑ मनः मिल॑ भवत्यवि इत्यर्थः ॥१५॥ अथ सुखा-  
निवर्तनमाह ।

- ७९० ) सुलभेष्वपि—प्रत्यसंसर्गमुकास्थन्ते: लता संबन्धामूतद्रावये: शशदत्रिरत्नरम् आद्री-  
कृतात्मनाम् । शेषं मुशमम् । इति सुवाच्यः ॥२०॥ अथ यतो संबन्धतो वैर्यं भवतीत्याह ।

- ७१) कालरत्वं—सतीं सुगात्रात्परिज्ञनशिखलात्मा जनः । सवयम् आत्मना । शेषं  
सुगमम् । इति सुत्रार्थः ॥२१॥ अथ यमिभिर्यत्कार्यं तुदाह ।

- ७९२ ) पुण्यात्मना—यमिभिः कुविद्यागरक्षागरः<sup>१</sup> कुशास्त्रविषसमुद्रः कि न तीर्यते । अपि तु तीर्यते एव । कीदूधेः । पुण्यात्मना मुण्ड्रमसीमसंसक्तमानसैः मुण्ड्रमूहमर्यादास्थापितचित्ते-रिति सत्वार्थः ॥२३॥ अथ पुनर्बद्धसेवाफलमाह ।

793 ) तत्त्वे तपसि—यः तत्त्वे परमार्थे तपसि वेशारथे परां प्रकृष्टां श्रीसि वामदण्डे प्राप्नोति ।

उनकी सेवा किया करते हैं। ऐसे महामुरुगोंका क्रोधविदि कथाओंके द्वारा कल्पित हुआ भी मन निर्मल हो जाता है॥१९॥

जिनकी आत्मा सत्समागमरूप असूतके प्रबाहसे निरन्तर आदि ( शीली ) को धरी है उन मनुष्योंकी विषयताओं भी गोंके सद्गम होनेपर भी शान्त हो जाती है।

जिस अलुड़यकी आरम्भ सत्संगतिसे शुरू हुआ यह अनुभव ऐसा जिसके द्वारा एक व्यक्ति को अपनी जीवनी की अवधि का अधिक लाभ होता है।

जिन भाष्यक्रमों का यह सुनायलीला विवरण के बाहरी दृष्टिकोण से है। इसकी परिपूर्ण समाचार गणना को इस दृष्टि के अन्तर्गत किया जाना चाहिए। इसका महापुरुषोंके समागममें उद्देश्य विवरण के विवरणों पर विशेष ध्येय रखना है। इसका विवरण एवं राशिलेप आपको इस दृष्टि से है।

जिसके दृढ़पद्धति वृद्ध जाति का बनाना सब लोगों की अपेक्षा अधिक लम्बा है। इसके अलावा यह लोगों की अपेक्षा अधिक लम्बा है।

७९४ ) मिथ्यात्वादिनगोचतुङ्गभृद्गमज्ञाय कल्पितः ।

विवेकः साधुसंगोत्थो वज्रादप्यजयो चूपाम् ॥२४

७९५ ) अप्यनादिसमुद्भूतं क्षीयते गहनं तमः ।

युद्धानुयायिनां च स्याद्विश्वतत्त्वैकनिश्चयः ॥२५

७९६ ) अन्तःकरणजं कर्म यः स्फेटयितुमिच्छति ।

स योगिवृन्दमाराध्य करोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥२६

यस्य पुरुषस्य हृदि वृद्धशागदीपसंततिहृष्टैः स्फुरति । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ [ इवानीं विवेकस्य फलमाह ।

७९४ ) मिथ्यात्वादि—मिथ्यात्वादय एव पर्वतास्तेषाम् उत्तुङ्गशृङ्गाणां भञ्ज्यते विनाशाय कल्पितः विवेकः नृणां कृते वज्रादपि अजयः ज्ञातव्यः साधुसंगोत्थः साधुसंसर्वेण उत्पन्न इत्यर्थः ] ॥२४॥ अथ पुनः वृद्धसेवाफलमाह ।

७९५ ) अप्यनादि—वृद्धानुयायिनां तमो ज्ञानं क्षीयते । अपि च कीदृशम् । अन्तःदि-समुद्भूतस्य अनादिकालजातम् । कीदूर्धं तमः । निविडं<sup>\*</sup> सम्पन्नम् । च पुनः । विश्वतत्त्वैकनिश्चयः जगत्तत्त्वैकनिश्चयः । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अन्तःकरणजातयापकर्म लिखेदयति ।

७९६ ) अन्तःकरणजं—यः पुमान् अन्तःकरणजं चित्तसंभूतं कर्म स्फेटयितुं द्वारीकर्तुम् दृच्छति, स पुमान् आत्मनि अवस्थिति करोति । कि कृत्वा । योगिवृन्दम् आराध्य । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ वृद्धसेवाया ज्ञानहेतुत्वमाह ।

मनुष्योंके साधुजनकी संगतिसे जो विवेक उत्पन्न होता है वह वज्रकी अपेक्षा भी अजेय ( हृद ) होनेसे मिथ्यादर्शनादिरूप पर्वतोंकी उन्नत शिखरोंके खण्डनका कारण होता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वज्र वडे-बडे पर्वतोंके ऊंचे-ऊंचे शिखरोंको खण्डित कर देता है उसी प्रकार साधु समागमसे प्राप्त हुआ विवेक मिथ्यादर्शनादिरूप पर्वतशिखरोंको खण्डित कर देता है—उन्हें नष्ट करके सम्यग्दर्शन आदिको उत्पन्न करा देता है ॥२४॥

जो शुद्धोंका अनुसरण करते हैं—उनके संसर्वमें रहते हैं—उनका अनादि कालसे उत्पन्न हुआ भी—अनादि परम्परागत भी—ज्ञानरूप गहरा अनधकार नष्ट हो जाता है और समस्त तत्त्वोंका अनुपम निश्चय आविर्भूत होता है ॥२५॥

जो भव्य अन्तःकरणसे उत्पन्न हुए कर्मको नष्ट करनेकी डूँढ़ा करता है वह योगि-समूहकी आराधना करके अपनी आत्मामें अवस्थित होता है । तात्पर्य यह कि साधुसंगतिसे आत्मस्वरूपमें अवस्थान और उससे पूर्वोपाजित कर्मोंका चिनाश होता है ॥२६॥

१. J om. । २. All others except P निविडं तमः । ३. N S T V J X Y R स्फेटयितुं ।  
४. M N योगिवृद्धं<sup>०</sup> ।

- ७९७ ) एकैव<sup>१</sup> महतां सेवा स्याजज्ञेशीं भुवनश्रये ।  
 यथैव यमिनौ युच्चैर्न्तज्योंतिविजृम्भते ॥२७
- ७९८ ) दृष्ट्वा श्रुत्वा यमी योगिपुण्यानुष्ठानमूर्जितम् ।  
 आक्रामति निरातङ्कः पदवीं तैरुपासिताम् ॥२८
- ७९९ ) विश्वविद्यासु चातुर्यं विनयेष्वतिकौशलम् ।  
 भावशुद्धिः स्वसिद्धान्ते सत्संगादेव देहिनाम् ॥२९
- ८०० ) यथात्र शुद्धिमाधते स्वर्णमत्यन्तमग्निना ।  
 मनःशुद्धिर्तथा ध्यानो योगिसंसर्गवह्निना ॥३०

७९७ ) एकैव महतां—भुवनश्रये एकैव महतां सेवा जैत्री<sup>२</sup> स्यात् । यथा सेवया यमिना ब्रतिनाम् अन्तर्मध्ये उच्चैर्ज्योंतिविजृम्भते चकास्ते । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ पुण्यानुष्ठानेन योगिध्यानं भवतीत्याह ।

७९८ ) दृष्ट्वा—यमी व्रती योगी पुण्यानुष्ठानं दृष्ट्वा श्रुत्वा अजितमुपार्जितम् । तैर्योगिभिरुपासितां पदवीम् आक्रामति समारोहति । कीदृशो यमी । निरातङ्कः गतभयः । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ सत्ता संगेत फलमाह ।

७९९ ) विश्वविद्यासु—देहिनां प्राणिनां सत्संगादेव स्वसिद्धान्ते भावशुद्धिः स्थाव । विश्वविद्यासु समस्तविद्यासु चातुर्यं, विनयेषु सेवासु अतिकौशलम् । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ योगिसंसर्गान्मनःशुद्धिमाह ।

८०० ) यथात्र—अत्र यथा स्वर्णम् अग्निना अत्यन्तशुद्धिमादते । तथा ध्यानो योगिवह्निना मनःशुद्धिम् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ पुनर्स्तत्स्वरूपमाह ।

जिस वृद्धसेवाके द्वारा मुनियोंके अन्तःकरणमें अन्तज्योंतिकी—उत्कृष्ट ज्ञानरूप प्रकाशकी—अतिशय वृद्धि होती है वह एक ही महान् ( वृद्ध ) पुरुषोंकी सेवा तीनों लोकोंमें विजय प्राप्त करानेवाली है ॥२७॥

संयमका परिपालन करनेवाला साधु योगियोंके प्रतापपूर्ण पवित्र अनुष्ठान ( तपश्चरणादि ) को देखकर और सुन करके निर्भय होता हुआ उनके द्वारा सेवित मार्गपर आक्रमण करता है—उनके द्वारा अनुष्ठित तपश्चरणादिमें सरलतासे प्रवृत्त हो जाता है ॥२८॥

प्राणियोंको जो समस्त विद्याओंमें कुशलता, विनयों अथवा संयमभेदोंमें नियुणता और अपने सिद्धान्तके विषयमें उपयोगकी विशुद्धि प्राप्त होती है; वह साधुसंगतिके प्रभावसे छी प्राप्त होती है ॥२९॥

जिस प्रकार यहाँ सुवर्ण अतिशय अग्निके संयोगसे शुद्धिको—कोट और कालिमासे

१. F एकैसा । २. M स्याजज्ञेशीं...यमिनीमुच्चैः । ३. X स्वात्संगादेव । ४. All others except P J मनःशुद्धि ।

४०१ ) भयलज्जाभिमानेन धैर्यमेवावलम्बते ।

साहचर्यं समालम्ब्यं संयमी पुण्यकर्मणाम् ॥३१

४०२ ) शरीराहारसंसारकामभोगेष्वपि स्फुटम् ।

विरज्यति नरः क्षिप्रं सद्ग्रहः सूत्रे प्रतिष्ठितः ॥३२

४०३ ) यथा यथा मुनिर्धर्ते चेतः सत्संगवासितम् ।

तथा तथा तपोलक्ष्मीः परां ग्रीति प्रकाशते<sup>३</sup> ॥३३॥ उक्तं च—

४०४ ) न हि भवति निविंगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् ।

प्रकटितपश्चिमभागं पश्यत नृत्यं मयूरस्य ॥३३४॥ इति

४०१ ) भयलज्जा—धैर्यमेवावलम्बते । केन । भयलज्जाभिमानेन । कः संयमी । पुण्यकर्मणां साहचर्यं समासाद्य । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ वैराग्यमाह ।

४०२ ) शरीराहार—नरः स्फुटं क्षिप्रं विरज्यति । केषु । शरीराहारसंसारकामभोगेषु अपि । कीदृशाः । सूत्रे प्रतिष्ठितः ॥३२॥ अथ सत्संसर्कलमाह ।

४०३ ) यथा यथा—सतां संगवासितं भावितम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

४०४ ) न हि भवति—अनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानं निविंगोपकं प्रगटं न हि भवति ।

रहित अवस्थाको—प्राप्त करता है उसी प्रकार ध्यानी साधु योगियोंकी संगतिरूप अग्निके संयोगसे मनकी शुद्धिको—राग-द्वेषसे रहित अवस्थाको—प्राप्त करता है ॥३०॥

मुनि पवित्र आचरण करनेवाले योगियोंकी संगतिका आश्रय पाकर भय, लज्जा अथवा अभिमानसे धैर्यका ही सहारा लेता है । अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य सदाचारियोंकी संगतिमें रहता है वह सभीचीन मार्गसे भ्रष्ट करनेवाली साधन-सामग्रीके उपस्थित होनेपर उनके भयसे, लड़ासे अथवा स्वाभिमानके कारण मार्गभ्रष्ट नहीं होता है ॥३१॥

जो मनुष्य साधु जनोंके द्वारा परमागममें प्रतिष्ठित किया गया है—आगममें सुशिष्मित किया गया है—वह शीघ्र ही शरीर, भोजन, संसार और कामभोगके विषयमें स्पष्टतया विरक्त हो जाता है ॥३२॥

मुनि जैसे-जैसे चित्तको सत्संगतिसे संस्कारित करता है जैसे ही वैसे उपरूप लक्ष्मी उसके प्रति उल्कुष्ट ग्रीतिको प्रगट करती है—वह तपश्चरणमें स्थिरताको प्राप्त करता है ॥३३॥ कहा भी है—

जिसने गुरुपरिवारकी—गुरुसमूहकी—उपासना भही की है उसका विज्ञान विरक्तादरसे रहित नहीं होता—निन्दनीय ही होता है । जैसे—मयूरके नृत्यको देखो ।

१. All others except P समासाद्य । २. M N संयमी । ३. N L T V X R प्रकाशयेत्, ] प्रकाशतः । ४. P M उक्तं च । ५. P इति ।

८०५ ) तपः कुर्वन्तु वा मा वा चेद् वृद्धान् समुपासते ।  
तीर्त्वा व्यसनकान्तारं यान्ति पुण्यां गति नराः ॥३४

८०६ ) कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं विद्वपि श्रुतार्णवम् ।  
नासादयति कल्याणं चेद् वृद्धानेवमन्यते ॥३५

अतो मयूरस्य नृत्यं पश्यत । कीर्त्तशम् । प्रगटितपश्चिमभागम् । इति सूत्रार्थः ॥३३\*१॥ अथ वृद्ध-  
सेवाफलमाह ।

८०५ ) तपः कुर्वन्तु—नराः मनुष्याः तपः कुर्वन्तु । वा अथवा । मा कुर्वन्तु । चेत् वृद्धान्  
समुपासते सेवते । पुण्यां गति यान्ति । कि कृत्वा । व्यसनकान्तारं कष्टदनं सीर्त्वा । इति  
सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ वृद्धसेवातिक्रमे फलमाह ।

८०६ ) कुर्वन्नपि—तीव्रं तपः कुर्वन्नपि श्रुतार्णवं विद्वपि जानन्नपि तथापि कल्याणं  
नासादयति न प्राप्तोति । चेत् वृद्धान् पूर्वोक्तान् अवमन्यते अवधीरणा करोतीत्यर्थः ॥३५॥ अथ  
महात्मनः संगफलमाह ।

वह जो नृत्य करता है सो उसमें अपने पिछले भागको स्पष्ट दिखलाता हुआ करता है जो  
निन्दनीय है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय इसका यह है कि मयूर जो नृत्य करता है वह कुछ  
नाशक्षात्त्वोक्त विधिके अनुसार नहीं करता है, क्योंकि तद्रिष्टयक शिक्षा उसे उद्धरण्ड्य ही  
नहीं होती है । इसीलिए वह नृत्य करते समय पिछलको फैलाकर अपने शृण्ठभागको उचाड़  
देता है । वह शिष्टताके विरुद्ध होनेसे निन्दनीय है । ठीक इसी प्रकारसे जो मनुष्य गुरुजनों  
के सम्बन्धमें नहीं रहा है उसको जो विशेष ज्ञान प्राप्त है वह चूँकि गुरुओंके समागममें रहकर  
विधिपूर्वक नहीं प्राप्त किया गया है, अतएव वह अन्यथा भी हो सकता है । यही कारण है  
जो वह निन्दनीय समझा जाता है । नीतिकारोंका भी यही कहना है कि ‘संदिग्धं हि  
परिज्ञानं गुरुप्रत्ययवज्जितम्’ ( च० च० २-४३ ) अर्थात् जिस ज्ञानके उपार्जनमें गुरुजनका  
विश्वास उपलब्ध नहीं हुआ वह प्रमाणमें अधिक होने पर भी समीक्षीनताके विषयमें  
सन्देहास्पद ही रहता है । इससे वृद्धसमागमकी उपादेयता सिद्ध है ॥३३\*१॥

यदि वृद्धोंकी उपासना ( सेवा ) की जाती है तो फिर मनुष्य तपश्चरण करें अथवा  
न भी करें । फिर भी वे दुखोंसे परिपूर्ण संसाररूप द्वनके पार पहुँचकर पवित्र धतिको—  
मोक्षको—प्राप्त होते हैं ॥३४॥

इसके विपरीत गनुष्य यदि वृद्धजनोंका अपमान करता है तो अले ही वह और  
तपश्चरण भी क्यों न कर रहा हो तथा आगमरूप समुद्रको भी क्यों न जानता हो, फिर भी  
वह कल्याणको—मोक्षसुखको—नहीं प्राप्त कर सकता है ॥३५॥

८०७ ) मनो ऽभिमतनिःशेषफलसंपादनकथम् ।

कल्पवृक्ष इवोदारं साहचर्यं महात्मनाम् ॥३६॥

८०८ ) जायते यत्समासाद्य न हि स्वप्ने ऽपि दुर्भितिः ।

मुक्तिवीजं तदेकं स्यादुपदेशाक्षरं सताम् ॥३७॥

८०९ ) तत्र लोके परं धाम न तत्कल्याणमत्रिमम् ।

यद्योगिषादराजीवसंश्रितैर्नाथिगम्यते ॥३८॥

८१० ) अन्तर्लोनिमयि भवान्तप्रज्ञादिप्रभवं नृणाम् ।

क्षीयते साधुसंसर्गं प्रदीपप्रसराहतम् ॥३९॥

८०७ ) मनो ऽभिमत—महात्मनां साहचर्यं संसर्गः कल्पवृक्ष इव । कीदृशम् । मनो ऽभिमत-  
निःशेषफलसंपादनकथम् मनोबाक्षितसमस्तफलकरणसमर्थम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ सताम्  
उपदेशस्थरूपं दर्शयति ।

८०८ ) जायते—सतां तदेकम् उपदेशाक्षरं मुक्तिवीजं स्यात्, यत् उपदेशाक्षरं समासाद्य  
प्राप्य स्वप्ने ऽपि दुर्भितिनं जायते । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ सर्वं योगिप्राप्यमाह ।

८०९ ) तत्र लोके—यद्योगिषादराजीवसंश्रितैर्नाथिगम्यते न प्राप्यते ।  
लोके तत्परं धाम तदश्रितं कल्याणं नेति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ साधुसंसर्गफलमाह ।

८१० ) अन्तर्लोनिमयि—नृणां मनुष्याणाम् अन्तर्लोनि मनःस्थं ध्वान्तमज्ञानमयि क्षीयते ।  
कीदृशम् । अनादिप्रभवम् । पुनः कीदृशम् । साधुसंसर्गः एव प्रदीपः, तस्य प्रसरः समूहः तेनाहतम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ पुनर्वृद्धेवाफलमाह । मालिनी ।

सत्युरुषोंकी संगति महान् कल्पवृक्षके समान मनवीलित समस्त फलोंके प्राप्त करनेमें  
समर्थ है । विशेषार्थी—तात्पर्य यह कि प्राणियोंको जिस प्रकार कल्पवृक्षोंसे अभीष्ट सब  
सामग्री प्राप्त होती है उसी प्रकार वह अभीष्ट सामग्री उन्हें वृद्धोंकी संगतिसे प्राप्त हुआ  
करती है । इतना ही नहीं, बल्कि वह वृद्धेवा तो उस कल्पवृक्षोंसे भी वृद्धकर है । कारण  
यह कि मोक्षकी साधनभूत जिस रत्नऋग्यस्थरूप अभीष्ट सामग्रीको वह वृद्धेवा प्रदान किया  
करती है उसके प्रदान करनेमें कल्पवृक्ष सर्वथा असमर्थ होते हैं ॥३६॥

जिसको पा करके स्वप्नमें भी दुर्बुद्धि ( आर्त-रीढ़रूप दुर्ध्यान ) नहीं उद्दित होती है  
वह साधुजनोंके उपदेशका एक अक्षर भी मुक्तिकी प्राप्तिका कारण होता है ॥३७॥

लोकमें वह कोई उल्कुष्ट स्थान नहीं है तथा वह कोई उल्कुष्ट हित नहीं है जिसको कि  
योगिजनोंके चरणकमलोंका आश्रय लेनेवाले मनुष्य प्राप्त न कर सकते हों । तात्पर्य यह कि  
योगिजनोंके आराधनसे मनुष्योंका सब ही मनोरथ पूर्ण होता है ॥३८॥

मनुष्योंका अनादि कालसे उत्पन्न होकर भीतर लीन हुआ अज्ञानरूप अनधकार साधु-  
समागमरूप दीपकके विस्तारसे आहत होकर नष्ट हो जाता है ॥३९॥

८११) दहति दुरितकक्षं कर्मवन्धं लुनीते  
वितरति यमसिद्धि भावशुद्धि तनोति ।  
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते  
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्यी ॥४०॥

८१२) विरम विरम संगात् मुञ्च मुञ्च प्रपञ्चं  
विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम् ।  
स्वल्प्य कल्प दृतं पूर्ण तात्त्वस्वरूपं  
कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः ॥४१॥

८१३) अतुलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानवीर्जं  
विलयगतकलङ्कं शान्तविश्वप्रचारम् ।

८११) दहति—वृद्धसेवा एव एतत्सर्वं दत्ते । दुरितकक्षं दहति । कर्मवन्धं लुनीते । यमसिद्धि व्रतसिद्धि वितरति ददाति । भावशुद्धि तनोति विस्तारयति । जननतीरं भवसमुद्रं पारं प्रापयति । च पुनः । ज्ञानराज्यं दत्ते । ध्रुवं निर्विचितम् । इह जगति । केषाम् । मनुजानां मनुष्याणाम् । इति वृद्धसेवा ॥४०॥ अथ धर्मोपदेशमाह । मालिनी ।

८१२) विरम—हे भव्य, संगात् परिग्रहात् विरम विरम त्यज त्यज । अत्र क्रियाद्वित्वप्रतिपादनमत्यादरसूचनाय । प्रपञ्चं कुटुम्बादिविस्तारं मुञ्चच मुञ्च । मोहं स्वजनादिषु विसृज विसृज स्वतत्त्वं परमात्मस्वरूपं विद्धि विद्धि जानीहि जानीहि । दृतं चारित्रं कल्प तात्त्वं आश्रय आश्रय । स्वरूपमात्मतत्त्वं पश्य पश्य । पुरुषार्थं धर्मंरूपं कुरु कुरु । निर्वृतस्य मोक्षस्य आनन्दहेतोः कारणाय । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ पुनरुपदेशमाह । मालिनी ।

८१३) अतुलसुख—हे भव्य, स्वात्मना स्वस्वरूपेणात्मानं भज सेवस्व । एव निर्धारणार्थः । कोदृशमात्मानम् । अतुलसुखनिधानम् । सुगमम् । पुनः कोदृशमात्मानम् । ज्ञानविज्ञानवीर्ज,

भली भाँति की गयी वृद्धसेवा ही यहाँ निर्विचयसे मनुष्योंके पापरूप बनको भस्म करती है, कर्मवन्धको काटती है, संथमकी सिद्धिको देती है, परिणामोंकी निर्भालकाको विस्तृत करती है, संसाररूप समुद्रके किनारे ले जाती है, तथा ज्ञानरूप राज्यको—केवलज्ञानरूप लक्ष्मीको प्रदान करती है ॥४०॥

हे भव्य ! सूर्यग्रहसे सर्वथा विराम ले ले—बाहा सध वस्तुओंसे ममत्वभावको छोड़ दे, धूतीवा को शीघ्रतासे छोड़ दे, मोहका परित्याग कर दे, आत्मस्वरूपको प्रयत्नपूर्वक जान ले, चारित्र को पहचान करके उससे सम्बन्धको स्थापित कर—उसे धारण कर ले, अपने आसाधारण स्वरूपको देख तथा निर्बाध मोक्षसुखके लिए पुरुषार्थको कर ॥४१॥

हे भव्य ! जो अपनी आत्मा अनुपम सुखका भण्डार, ज्ञान व विवेकका कारण, पापरूप मलसे रहित, समर्पण प्रवृत्तियोंसे—संकल्प-विकल्पोंसे—असीत, समस्त शंकाओं अथवा

१. P M adds वृद्धसेवा । २. M N Y निर्विद्यानन्द ।

शमितसकलशङ्कुं विश्वरूपं विश्वालं

भज विगतविकारं स्वात्मनात्मानमेव ॥४२

814 ) धन्यास्ते मुनिमण्डलस्य गुरुता प्राप्ताः स्वयं योगिनः

ज्ञात्यन्तेष्व जगत्वयी शमवता श्रीपादरागाङ्कुता ।

तेषां संयमसिद्धयः सुकृतिनां स्वप्ने इपि येषां मनो

नालीढं विषयैर्न कामविशिखैर्नैवाङ्गनालीढनैः ॥४३

815 ) येषां वाग्भुवनोपकारचतुरा विद्या विवेकास्थदं

ध्यानं ध्वस्तसमस्तकर्मकवचं वृत्तं कलङ्कोज्ज्ञातम् ।

प्रसिद्धम् । पुनः कीदृशम् । विलयगतकलङ्कुं विलयं गतः कलङ्को यस्मात् स तम् । पुनः कीदृशम् । शान्तविश्वप्रथारं शान्तविश्वे अगति प्रचारः पर्यटनं यस्मिन् स तम् । पुनः कीदृशम् । विगत-  
विकारम् । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथ योगिमाहात्म्यमाह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

814 ) धन्यास्ते—ते योगिनो धन्याः स्वयमात्मना मुनिमण्डलस्य गुरुता प्राप्ताः । तेषां  
शमवता श्रीपादरागाङ्कुता श्रीचरणरागाङ्कुता जगत्वयी शुद्धज्ञति एव । येषां सुकृतिनां संयम-  
सिद्धयो जायन्ते । पुनर्येषां [ मनो ] विषयैर्नालीढं न व्याप्तम् । न कामविशिखैर्बणीनालीढम् ।  
नैवाङ्गनालीढनैर्नालीढमिति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ पुनस्तोषामेव योगिनां स्वरूपमाह । शार्दूल-  
विक्रीडितम् ।

815 ) येषां वाग्—येषां योगिनां वाग् वचनं भुवनोपकारचतुरा अगदुषचारचतुरा । येषां  
प्रश्ना\* विवेकास्थदम् । येषां ध्यानं ध्वस्तसमस्तकर्मकवचं वर्तते । येषां वृत्तमाचारः कलङ्कोज्ज्ञातं  
भयसे रहित, समस्त पदार्थोंका ज्ञाता होनेसे विश्वस्वरूप, विस्तृत तथा सब प्रकारके  
विकारोंसे—राग-व्येषादिसे—रहित है उसकी ही तू स्वयं आराधना कर ॥४२॥

जिनका मन विषयभोगों, कामके वाणीं और स्त्रियोंके नेत्रों ( कटाक्षों ) से स्वप्नमें  
भी नहीं छुआ गया है वे योगी धन्य हैं—अतिशय प्रशंसनीय हैं, वे ही स्वयं मुनिसंघकी  
गुरुताको—मुनिसमूहके मध्यमें प्रभुखताको प्राप्त होते हैं, राग-द्वेषादिको उपशान्त करनेवाले  
उन योगियोंके शोभायमान चरणों के राग ( लालिया और अनुराग ) से चिह्नित तीनों लोक  
नियमसे शुद्धिको प्राप्त होते हैं तथा उन्हीं पुण्यज्ञालो महात्माओंके विविध प्रकारके  
संयमकी सिद्धि भी होती है । अभिप्राय यह है कि जो योगी ब्रह्मवर्यका दृष्टसे परिपालन  
करते हैं वे संयममें परिपूर्ण होनेसे मुनियोंके मध्यमें आवार्य आदिके प्रतिष्ठित पदको प्राप्त  
करते हैं तथा उनके चरणोंकी आराधनासे तीनों लोकोंके जीव कर्ममलसे रहित होकर  
विशुद्ध हो जाते हैं ॥४३॥

जिन योगियों की वाणी जगत्के प्राणियोंका उपकार करनेमें समर्थ है, जिनकी विद्या  
( ज्ञान ) विवेकका स्थान है—उसका अनुसरण करनेवाली है, जिनका ध्यान कर्मरूप कवच-

१. All others except P गणितसकल । २. All others expect P चतुरा प्रश्ना ।

सम्यग्ज्ञानसुधातरङ्गनिचयैश्चेतश्च निर्वापितं  
धन्यास्ते शमयन्त्वनङ्गविशिखव्यापारजास्ते' रुजः ॥४४

816 ) चञ्चलिंश्चरमप्यनङ्गप्रशुप्त्यर्थ्यभूलोचनै-  
येषामिष्टफलग्रदः कृतधियां नाच्छेदि शीलद्रुमः ।  
धन्यास्ते शमयन्तु संततमिलदुर्वारिकामानल-  
ज्वालाजालकरालमानसमिदं विश्वं विवेकाम्बुभिः ॥४५

817 ) यदि विषयपिशाची निर्गता देहगेहात्  
सपदि यदि विशीणो मोहनिद्रातिरेकः ।

कर्त्तस्ते । च पुनः । येषां चेतो निर्वापितं शीतलीभूतम् । कैः । सम्यग्ज्ञानसुधातरङ्गनिचयैः  
सम्यग्ज्ञानामूलकल्लोलसमूहैः । ते धन्याः अनङ्गविशिखव्यापारजारुजः ते शमयन्तु । इति  
सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह । शादुलविकीडितम् ।

816 ) चञ्चलिं—येषां शीलद्रुमः ताच्छेदि न च्छेदं चकार । कैः । वधूलोचनैः । कोदृशैः ।  
चञ्चलिं चञ्चलैः । चिरकालमप्यनर्मपरशुप्रश्यैः कठोरकुठारसदृशैः । कोदृशः शीलद्रुमः ।  
इष्टफलग्रदः । कीटशार्णा येषाम् । कृतधियाम् । ते धन्याः इदं विश्वं विवेकाम्बुभिः शमयन्तु । कोदृशैः  
विश्वम् । संततमिलदुर्वारिकामानलज्वालाजालकरालमानसं निरन्तरमिलदुर्वारिकन्दपीगिनशिखा-  
समूहरोद्वचित्तम् । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पुनस्तत्कर्तव्यसामाह । मालिनी छन्दः ।

817 ) यदि विषय—ननु निश्चयेत् । हे भव्य, तदा ब्रह्मवीथीविहारं ब्रह्मचर्यमार्गविहारं  
विधेहि । यदि देहगेहात् विषयपिशाची निर्गता । सपदि शीघ्रं यदि मोहनिद्रातिरेकः । अतिरेकः

को नष्ट करता है, जिनका चारित्र मलसे—दोषोंसे—रहित है, तथा जिनका अन्तःकरण  
सम्यग्ज्ञानरूप अमृत की तरंगोंके समूह द्वारा शीतल किया जा चुका है; वे योगीन्द्र धन्य हैं ।  
वे कामके बाणोंके व्यापारसे उत्पन्न हुए दोषोंको—विषयभोगापिलापरूप चावोंको—शान्त  
करें ॥ ४५ ॥

जिनका अभोष्टु फलको देनेवाला शोलरूप वृश्च विरकालमें भी कामदेवके फरसाके  
समान चमकते हुए स्त्रियोंके नेत्रों द्वारा नहीं छेदा गया है—जो कामिनीजनके कटाक्षोंके  
बशीभूत कभी नहीं होते हैं—वे विवेकी योगी धन्य हैं । वे निरन्तर मिलनेवाली दुर्लिखार  
कामरूप अग्निकी भयानक ज्वालाओंसे उद्धिन भनवाले विश्वको—लोकके प्राणियोंको—  
विवेकरूप झलके द्वारा शान्त करें ॥ ४५ ॥

हे भव्य ! यदि शरीररूप गृहसे विषयरूप राशसी—दुर्गतिदायक भोगाक्षी निकल  
शुकी है, यदि मोहरूप निद्राका आधिक्य शीघ्रतासे नष्ट हो चुका है, तथा स्त्रीके हस्तियोंके

यदि युवतिकरङ्गे निर्ममत्वं प्रपन्नो  
शगिति ननु विषेहि ब्रह्मवीथीविहारम् ॥४६॥

818 ) स्मरभोगीन्द्रदुर्वारविषानलकरालितम् ।  
जगद्यैः शान्तिमानीतं ते जिनाः सन्तु शान्तये ॥४७॥

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-  
विरचिते चातुर्थवृद्धसेवाप्रकरणम् ॥१५॥

आधिक्यम् । यदि शगिति शीघ्रे युवतिकरङ्गे स्वीकारीरे निर्ममत्वं प्रपन्नः प्राप्तः । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ जिनानां नमस्कारमाह ।

818 ) स्मरभोगीन्द्र—ते जिनाः रागद्वेषजीतारः शान्तये सन्तु । ते के । यैः जगत् शान्ति-  
मानीतं शान्तिप्राप्तिम् । कीदूर्शं जगत् । स्मरभोगीन्द्रदुर्वारविषकरालितं कन्दपैसपैदुर्वारविषरीद्रम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥४७॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्य-विरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितमय-  
विलासेन साहपासा तत्पुत्र साहटोडर तत्कुलकमलदिवाकर साहन्त्रषिदास  
स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमैन ऋद्धाचर्यप्रकरणं समाप्तम् ॥१५॥

मालिनी । विगतदुरितभावो ज्ञानविष्वकभावः समभवविह पार्श्वब्दोडरः शुद्धवृद्धः । परिगत-  
कुलचन्द्रो ऋद्धाचर्यैककन्दः स जयति ऋद्धिदासो जैनघमैकदासः । इति आशीर्वादः । नागरुहीता योषित  
परिमुज्यते इत्यतो ऋद्धाचर्यनिन्तरं परिश्रहमाह ।

पंजरमें मलमूत्रादि से परिपूर्ण शरीरमें—ममत्वबुद्धि (अनुराग) से रहित हो चुका है; तो फिर  
तू शीघ्र ही ऋद्धाचर्यरूप गलीमें विहार कर ऋद्धाचर्यका हड्डता से पालन करता हुआ अपने  
आत्मस्वरूपमें रमण कर ॥ ४६ ॥

कर्मविजेता जिन अरिहन्त केवलियोंने कामरूप विकराल सर्पकी दुर्निवार विषरूप  
अग्निसे भयभीत हुए लोकको शान्ति प्राप्त कराया है—शान्ति किया है—वे शान्तिके  
निमित्त होवें ॥ ४७ ॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
चातुर्थवृद्धसेवाप्रकरण समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

## [ परिग्रहदोषविचारः ]

४१९ ) यानपात्रमिवाम्भोधी गुणवानपि मज्जति ।  
परिग्रहगुरुत्वेन संयमी जन्मसागरे ॥१॥

४२० ) बाह्यान्तभूतमेदेन द्विषा स्युस्ते॑ परिग्रहाः ।  
चिदचिद्रूपिणो बाह्या अन्तरङ्गास्तु॑ चेतनाः ॥२॥

४२१ ) दश ग्रन्थाः मता बाह्या अन्तरङ्गारचतुर्दश ।  
तान् मुक्त्वा भव निःसंगो भावशुद्धश्च भृशं सुने ॥३॥

४१९ ) यानपात्र—गुणवानपि संयमो जन्मसागरे समुद्रे मज्जति । केन । परिग्रहगुरुत्वेन परिग्रहभारवत्त्वेन । कस्मिन् क इव । अभोधी समुद्रे यानपात्रमिव । यथा यानपात्रं नीः समुद्रे गुरुत्वेन मज्जति । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ परिग्रहमेदमाह ।

४२० ) बाह्यान्तभूत—ते परिग्रहा द्विषा स्युः । केन । बाह्यान्तरङ्गमेदेन । तत्र बाह्या द्विषा स्युः । चिदचिद्रूपिणः । एके चिद्रूपाः, एके अचिद्रूपाः । अन्तरङ्गाः सचेतनाः । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनरस्तत्त्वरूपमाह ।

४२१ ) दश ग्रन्थाः—भृशमत्यर्थम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ [ अथ बाह्यान् दश ग्रन्थान् निदिशति ।

जिस प्रकार गुणवान् भी—योग्य शिल्पीके द्वारा विधिपूर्वक निर्मित हठ जाहाज भी—परिग्रहकी गुरुत्वासे—खोली गयी अधिक वस्तुओं के बोझसे—समुद्रमें छूब जाता है उसी प्रकार परिग्रहकी गुरुत्वासे—धन-धान्यादिविषयक मोहकी अधिकतासे—संयमी साधु भी संसाररूप समुद्रके भीतर छूब जाता है ॥१॥

वे परिग्रह बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारके हैं । इनमें बाह्य परिग्रह भी चेतन ( स्त्री-मुत्रादि ) और अचेतन ( धन-धान्यादि ) स्वरूपसे दो प्रकारके हैं । परन्तु अभ्यन्तर परिग्रह ( मिथ्यात्वन्मार्ग-इषादि ) चेतनारूप ही हैं ॥२॥

उनमें बाह्य परिग्रह दस तथा अभ्यन्तर परिग्रह चौदह माने गये हैं । हे साधो ! तू उन सब परिग्रहोंको छोड़कर परिणामोंको निर्मलतासे निर्ममत्व हो जा ॥३॥

१. All others except P द्विषा ते स्युः परि । २. P M "रङ्गास्त्वचे", L F J "रङ्गाश्च चे" ।  
३. N तान् हित्वा ।

822 ) [ वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं द्विपदाश्च चतुष्पदाः ।  
शयनासनयानं च कुप्यं भाणहमसी दश ॥३\*१ ॥ ]

823 ) निःसंगो ऽपि मुनिर्न स्यात्संभूच्छः संगवजितः ।  
यतो मूर्च्छेव तत्त्वज्ञैः संगमूतिः प्रकीर्तिता ॥४

824 ) स्वजनधनधान्यदारापशुपुत्रपुराकरा गृहं भूत्याः ।  
मणिकनकरजत्तेन्नयावस्थामरणादि वासार्थाः ॥५

825 ) उक्तं च—

मिथ्यात्ववेदरागा दोषा हास्यादयो ऽपि षट् चैव ।

चत्वारश्च कथायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥५\*१ ॥ इति

822 ) वास्तु क्षेत्र—द्विपदा मनुष्याः पक्षिणः च । चतुष्पदाः चतुर्श्चरणा मृगादयाः ।  
यानं वाहनम् । कुप्यं रजतसुवर्णादि । अन्यत्सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३\*१ ॥ ] अथ मूर्च्छायाः परिग्रहत्वमाह ।

823 ) निःसंगो ऽपि—निःसंगो मुनिरपि न स्यात् । कोदृशः । सन्मूर्च्छः मूर्च्छासहितः । पुनः  
कोदृशः । संगवजितः । यतो कारणात् तत्त्वज्ञैः मूर्च्छेव संगमूतिः परिग्रहः प्रकीर्तिता । इति सूत्रार्थः ॥४  
॥५ ॥ अथ दशवा परिग्रहत्वमाह । आर्थी ।

824 ) स्वजनधन—रजतं रूपम् । दोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।  
चतुर्दशान्तरज्ञग्रन्थाः लाजाह । आर्थी ।

825 ) मिथ्यात्व—[ मिथ्यात्व, वेदः, रागः, दोषः नाम द्वेष एते चत्वारः, हास्यं, रतिः

वास्तु (गृह), क्षेत्र (सेत), धन (चाँदी-सोना आदि), धान्य (गोहूं-चावल आदि),  
द्विपद (स्त्री-पुत्रादि), चतुष्पद (गाय-भैंस आदि पशु), शय्या व आसन, यान  
(रथ आदि), कुप्य (रेशमी और सूती वस्त्र अथवा सोना और चाँदी के अतिरिक्त अन्य  
पीतल आदि) और वर्डन ये दस वास्तु परिग्रह हैं ॥ ३\*१ ॥

वास्तु परिग्रहसे रहित होकर भी यदि मुनि अभ्यन्तरमें ममत्वभावसे संयुक्त है तो वह  
वस्तुतः परिग्रहसे रहित नहीं होता है । कारण यह है कि तत्त्वज्ञ पुरुषोंने उस मूर्च्छा (ममत्व-  
भाव) को ही परिग्रहकी उत्पत्तिका कारण बतलाया है ॥ ४ ॥

कुटुम्बी जन, धन, धान्य, स्त्री, पशु (हाथी, घोड़ा व गाय आदि), पुत्र, नगर, खान  
घर, सेवक, मणि, सुवर्ण, चाँदी, शय्या (पलंग आदि) तथा वस्त्र और आभूषण आदि वास्तु  
परिग्रह कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

कहा भी है—

मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य आदि (रति, अरति, शोक, भय व जुण्पसा)  
छह वस्तु कोधादि चार कथाय; इस प्रकार ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं ॥ ५\*१ ॥

१. P M N om. Verse । २. T संगमूतिः । ३. All others except P शारः पशु । ४. R रवित ।

५. M 'मरणानि । ६. M N वाहो ऽर्थः । ७. P L F उक्तं च । ८. P M इति ।

४२६ ) संवृतस्य सुवृत्तस्य<sup>१</sup> जिताक्षस्यापि योगिनः ।  
व्यामुद्दति मनः क्षिप्रं धनाशाल्यालविष्टुतम् ॥६

४२७ ) त्याज्य एवाखिलः संगो मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ।  
स चेत्यक्तुं न शक्येत् कार्यस्तद्वात्मदक्षिभिः ॥७

४२८ ) नाणवो इपि गुणा लोके दोषाः शैलेन्द्रसंनिभाः ।  
मवन्त्यत्र न संदेहः संगमासाद्य देहिनाम् ॥८

अरतिः, शोकः, भयः, जुगुप्ता एते षट् तथा क्रोधः, मानः, माया, लोभइचेत्येवं चत्वारः कषायाः  
एवं मिलित्वा चतुर्दश अभ्यन्तरा गन्धा भवन्ति । इति सूत्रार्थः ॥५\*१॥] अथ योगिनो इपि धनाशां  
विष्टुत्यन्ति ।

४२६ ) संवृतस्य—योगिनो इपि मनो व्यामुद्दति मोहं याति । कीदूशं मनः । वनाशाल्याल-  
विष्टुतं द्रव्येच्छासर्वविष्टुतं पीडितम् । कीदूशस्य योगिनः । संवृतस्य संवरयुक्तस्य, सुवृत्तस्य  
स्वाचारस्य, जिताक्षस्यापि । इति सूत्रार्थः ॥६॥] अथ मुक्तिकामिभिः संगस्त्याज्यः तदाह ।

४२७ ) त्याज्य एव—मुनिभिः अखिलः समस्तः संगः त्याज्य एव । कीदूशीमुनिभिः । मोक्तु-  
मिच्छुभिः । स संगः चेत्यक्तुं न शक्नोति, तर्हि आत्मदक्षिभिः कार्यः । इति सूत्रार्थः ॥७॥] अथ  
संगे इपि दोषमाह ।

४२८ ) नाणवो इपि—अत्र लोके जगति देहिनां संगमासाद्य प्राप्याणवो इपि स्तोका अपि  
गुणः [ न । ] शैलेन्द्रसंनिभाः पर्वतसदृशाः दोषाः [ तु ] भवन्ति, न संदेहः । इति सूत्रार्थः ॥८॥] अथ  
बधान्तरज्ञवा द्युशुद्ध्या शुद्धिमाह ।

योगी सावध प्रहृत्तिसे रहित, सम्यक्चारित्रिका परिपालक और इन्द्रियों का निप्रहृ  
करनेवाला भी क्यों न हो; परन्तु यदि उसका मन धनकी अभिलाषारूप उपद्रवसे व्याप्त है  
तो वह शीघ्र ही मोहको प्राप्त हो जाता है—मुनिमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

मुक्ति की इच्छा करनेवाले मुनियोंको सब ही संगका—परिप्रहृकी संगतिका—परिस्थार  
कर देना चाहिए । और यदि सब प्रकारका संग नहीं छोड़ा जा सकता है तो किर उन्हें  
आत्मद्रष्टा योगियोंके साथ उस संगको करना चाहिए—आत्माका अवलोकन करनेवाले  
महात्माओंकी संगति करनी चाहिए ॥ ७ ॥

परिप्रहृकी संगतिको प्राप्त होकर यहाँ प्रयोगियोंके गुण तो अनुप्रमाण भी नहीं रहते,  
परन्तु दोष भेद पर्वतके समान विशाल हो जाते हैं ॥ ८ ॥

८२९ ) अन्तर्बाह्यभुवोः शुद्धयोगीगायोगी विशुद्ध्यति ।

न क्षेकं पश्चमालम्भय व्योग्नि पश्ची विसर्पति ॥९

८३० ) साध्वीयं स्थाद् वहिःशुद्धिरन्तःशुद्धयात्र देहिनाम् ।

फलगुभावं भजत्येव बाह्या त्वाध्यात्मिकीं विना ॥१०

८३१ ) संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्द्विसा तथाशुभम् ।

तेन शाश्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम् ॥११

८३२ ) संग एव मतः सत्रे निःशेषानर्थमन्दिरम् ।

येनासन्तो ऽपि सूक्ष्मते रागाद्या रिपवः क्षणे ॥१२

८२९ ) अन्तर्बाह्य—योगी विशुद्ध्यति । कस्यात् । अन्तर्बाह्यभुवोः अन्तर्बाह्यबाह्यजातयो-विशुद्धयोगीमात् संबन्धात् । हि निदिनतम् । एके पश्चमालम्भयाश्रित्य, व्योग्नि आकाशे, पश्ची पक्षी विसर्पति गच्छति । इति सूक्ष्मार्थः ॥९॥ अथाभ्यन्तरशुद्धया बाह्यशुद्धिपाह ।

८३० ) साध्वीयं—अत्र जगति देहिनाम् अन्तःशुद्धया इर्य वहिः शुद्धिः साध्वी स्थात् । आध्यात्मिकीं शुद्धिं विना बाह्या शुद्धिः । तु पुनर्थैः । फलगुभावं व्यर्थतां भजत्येव । इति सूक्ष्मार्थः ॥१०॥ अथ संगस्य परम्परया नरकदुःखेतुत्थमाह ।

८३१ ) संगात्कामः—तेनाशुभेन । इवाश्री गतिः नरकगतिः । तस्यां दुःखं वाचामगोचरं वचनातीतम् । शेषं सुगमम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥११॥ अथ संगस्य सर्वानर्थकारणतामाह ।

८३२ ) संग एव—येन संगेन असतो ऽपि अविद्यमाना अपि । शेषं प्रसिद्धम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥१२॥ अथ संगेन मुनेः ज्ञान्त्यादिधर्षी भृश्यन्ति इत्याह ।

योगी अभ्यन्तर और बाह्य इन दोनों ही शुद्धियों के सम्बन्धसे विशुद्धिको प्राप्त होता है । ठीक है—पक्षी आकाशमें जो गमन करता है वह कुल एक पंखके आश्रयसे नहीं करता है, किन्तु दोनों ही पंखोंके आश्रयसे करता है । अभिप्राय यह है कि मुक्ति बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही प्रकारके परिग्रहसे रहित हो जाने पर प्राप्त होती है, न कि केवल बाह्य परिग्रहसे ही रहित हो जाने पर ॥९॥

लोकमें प्राणियोंकी यह बाह्यशुद्धि अभ्यन्तर शुद्धिके साथ योग्य होती है । परन्तु उस अभ्यन्तर शुद्धिके विना अकेली बाह्यशुद्धि व्यर्थ ही होती है ॥१०॥

परिग्रहसे विषयवाङ्का उत्पन्न होती है, किर उस विषयवाङ्कासे क्रोध, उस क्रोधसे द्विसा, उससे अशुभ कर्मका उपार्जन, उससे नरकगतिकी प्राप्ति और वहाँ पर अनिर्वचनीय दुःख होता है ॥ ११ ॥

आगममें समस्त अनर्थोंका स्थान यह परिग्रह ही माना गया है । इसका कारण यह है कि उसके प्रभावसे यहि क्रोधादि न भी हों तो भी वे क्षणभरमें ही उत्पन्न हो जाते हैं ॥१२॥

- ४३३) रागादिविजयः सत्यं क्षमा शौचं वित्तुष्णिता ।  
मुनेः प्रच्यदते<sup>१</sup> नूनं संगैव्यभीहितात्मनः ॥१३॥
- ४३४) संगाः शरीरमासाद्य स्वीक्रियन्ते शरीरिभिः ।  
तत्प्राणेव सुनिःसारं योगिभिः परिकीर्तितम् ॥१४॥
- ४३५) हृषीकराक्षसानीकं कषायभुजगत्रजम् ।  
विलामिषमुषादाय धत्ते कामप्युदीर्णताम् ॥१५॥
- ४३६) उन्मूलयति निर्वैदिवेकद्वुभमञ्जरीः ।  
प्रत्यासर्ति समायातः सतामपि परिग्रहः ॥१६॥

४३३) रागादि—मुनेज्ञतितत्वस्य प्रच्याव्यते दूरोक्रियते । व्याभीहितात्मनः मुखात्मनः ।  
शेषं मुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ शरीरकारणाय संगः क्रियत इत्याहु ।

४३४) संगाः शरीरम्—शरीरिभिः औवीः शरीरमासाद्य प्राप्य । संगाः स्वीक्रियन्ते ।  
तच्छरीरं मुनिभिर्योगिभिः । प्राणेव पूर्वमेव । सुनिःसारं निःफलम् । प्रकीर्तिं कथितमिति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ वित्तस्य इन्द्रियाणां हेतुमाह ।

४३५) हृषीक—विलामिषं द्रव्यमांसम् उपादाय गृहीत्वा हृषीकराक्षसानीकम्, अनीकं  
सेना । कामपि उदीर्णतां वत्ते । कषायभुजगत्रजं कषायसर्पेसमूहः ॥१५॥ अथ परिग्रहः विवेक-  
मध्यास्थितीत्याह ।

४३६) उन्मूलयति—परिग्रहः सतां सत्पुष्टवाणां निर्वैदिवेकद्वुभमञ्जरी वैराग्यविवेकतस्मृ-  
मञ्जरी उन्मूलयति मूलतः उत्पाटयति । कोदृशः परिग्रहः । प्रत्यासर्तिसमायातः संबन्धं प्राप्तः । इति  
सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ संगसंप्र सर्वदोषतामाह ।

जो मुनि परिग्रहमें मूढ़ होता है, उसके इस परिग्रहके ग्रभावसे राग-द्वेषका जीतना,  
सत्यभाषण, क्षमा, शौच और निःशूद्धा आदि गुण नष्ट हो जाते हैं ॥१३॥

प्राणी शरीरको पा करके ही परिग्रहोंको स्वीकार किया करते हैं । और उस शरीरको  
योगीजन पूर्वमें ही सारहीन बतला चुके हैं ॥१४॥

इन्द्रियरूप राक्षसकी सेनासंबंध, कषायरूप, सर्पेका समूह इनरूप मासि को व्रहण  
करके असाधारण सामर्थ्य को धारण करता है ॥१५॥

परिग्रह साधुजनोंकी भी समीपताको पाकर वैराग्य और विवेकरूप वृक्षके बीर  
(मंजरी)को सर्वथा नष्ट कर देता है । अभिप्राय यह कि परिग्रहके संयोगसे उत्तम पुरुषोंका  
भी वैराग्य और विवेक नष्ट हो जाता है ॥१६॥

१. All others except P प्रच्याव्यते ।

- ४३७ ) लुप्यते विषयव्यालैभिद्यते मारमार्गणैः ।  
रुध्यते वनिताव्याधैर्नरः संगैस्तरङ्गितः ॥१७  
४३८ ) यः संगपङ्कुनिर्मग्नो उप्यपवर्गाय चेष्टते ।  
स मूढः पुष्पनाराजैर्विभिन्नात्विदशाचलम् ॥१८  
४३९ ) अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहप्रनिर्दृढीभवेत् ।  
विसर्पति तत्स्तुष्णा यस्यां विश्वं न शान्तये ॥१९  
४४० ) परोषहरिपुत्रातं तुच्छवृत्तैकमीतिदम् ।  
वीक्ष्य धैर्यं विमुञ्चन्ति यतयः संगसंगताः ॥२०

४३७ ) लुप्यते—मरो मनुष्यः संगः परिग्रहैरभिद्रुतः वीडितः । विषयव्यालैविषयसर्पैः लुप्यते । मारमार्गणैः कामबाणैभिद्यते । वनिताव्याधैः स्त्रीलुब्धकैः रुध्यते । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ परिग्रहस्य मोक्षाभावमाह ।

४३८ ) यः संग—यः संगपङ्कुनिर्मग्नो उप्यपवर्गाय चेष्टते मोक्षाय यतते स मूढः मूखः पुष्पनाराजैः पुष्पनाराजैः । विदशाचलं सुरगिरि, विभिन्नात् विशेषेण भिन्नात् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ स्तोको परिग्रहः मोहस्य कारणमाह ।

४३९ ) अणुमात्रादपि—अणुमात्रात् स्तोकतरादपि ग्रन्थात् । मोहप्रन्थः दृढीभवेत् । ततो मोहप्रन्थेः तुष्णा विसर्पति । यस्यां तुष्णायां विश्वं जगत्त शान्तये । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ धैर्यदिलोपकात्वं संगस्याह ।

४४० ) परोषह—यतयः संगसंगिताः संगव्याप्ताः धैर्यं विमुञ्चन्ति । परोषहरिपुत्रातं वीक्ष्य । कोदृशम् । तुच्छवृत्तैकमयदम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ परिग्रहस्य सर्वेषात्कल्पमाह ।

परिग्रहसे तरंगित ( व्याकुल ) मनुष्य विषयरूप सर्पोंके द्वारा नष्ट किया जाता है, कामके वाणीोंसे भेदा जाता है, तथा स्त्रीरूप व्याधोंके द्वारा रोका जाता है । अभिप्राय यह है कि परिग्रहमें आसक्त रहनेवाला मनुष्य विषयभोगोंमें अनुरक्त होकर पापको उपार्जित करता है, और उससे दुर्गतिके दुःखको सहता है ॥१७॥

जो मनुष्य परिग्रहरूप कीचक्षुमें फँसकर मोक्षके लिए प्रयत्न करता है वह मूखं कूलों, के वाणीोंसे मानो भेद पर्वतको खण्डित करता है । तात्पर्य यह कि परिग्रहमें आसक्त रहते हुए मोक्षकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है ॥१८॥

परमाणुप्रमाण भी परिग्रहसे मोहकी गाँठ अतिशय शृङ्ख होती है और फिर उससे तुष्णा विस्तारको प्राप्त होती है, जिसमें कि समस्त लोक भी शान्तिके लिए नहीं होता है । अभिप्राय यह है कि थोड़े-से भी परिग्रहके मोहसे जो उत्तरोत्तर विषयतुष्णा वृद्धिगत होती है उसकी पृति विश्वमें जितनी भी इष्ट सामग्री है उस सब के प्राप्त हो जानेवर भी नहीं होती है ॥१९॥

परिग्रहमें आसक्त रहनेवाले मुनि थोड़ेसे संयमका पालन करनेवाले ब्रतीजनोंको त. M N S F V J X Y R संवैरभिद्रुतः; L T संगैरुपदृतः ।

८४१ ) सर्वसंगपरित्यागलक्षणः श्रीजिनागमः<sup>१</sup> ।

यस्तमेवान्यथा अते स हीनः स्वान्यथातकः ॥२१॥

८४२ ) यमप्रशासनं राज्यं तपाशुलपरित्यागः ।

योगिनोऽपि विमुच्चन्ति वित्तवेतालपीडिताः ॥२२॥

८४३ ) पुण्यानुष्टानजातेषु निःशेषाभीष्टसिद्धिषु ।

कुर्वन्ति नियतं पुंसां प्रत्यूहं वित्तवैरिणः ॥२३॥

८४४ ) अत्यक्तसंगसंतानो मोक्तुमात्मानमुद्यतः ।

बद्धमध्यि न जानाति स्वं धनैः कर्मवन्धनैः ॥२४॥

८४१ ) सर्वसंग—यः पुमान् । तं सर्वसंगपरित्यागमन्यथा अते । स हीनः स्वान्यथातकः स्वस्थान्यस्य [ च ] धातकः इत्यर्थः । शेषं सुगमम् ॥२१॥ अथ वित्तस्य सर्वधर्मानुष्ठानाभावत्वमाह ।

८४२ ) यमप्रशासनं—योगिनोऽपि यमप्रशासनं व्रतकाञ्चित्जं । राज्यं तपाशुलपरित्यागः विमुच्चन्ति । कीदृशा योगिनः । वित्तवेतालपीडिताः धनराक्षसाक्रान्ताः । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ पुण्यानुष्टानस्याभावो सति परिग्रहे भवतीत्याह ।

८४३ ) पुण्यानुष्टान—धनसंग्रहाः पुंसां नियतं निदिवतं प्रत्यूहं विद्धं कुर्वन्ति । केषु । पुण्यानुष्टानजातेषु पुण्यकर्तव्यसमूहेषु । कीदृशेषु । निःशेषाभीष्टसिद्धिषु सर्ववाञ्छतसिद्धिषु । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ मुक्तकामस्यापि संगे दुस्त्यजत्वनाह ।

८४४ ) अस्यक्त—आत्मानं मोक्तुम् उद्यतः सावधानो यः बद्धमध्यि स्वं न जानाति । कैः ।

अतिशय भयभीत करनेवाले परिग्रहरूप शत्रुओंके समूहको देखकर धैर्यको छोड़ देते हैं । अभिप्राय यह है कि जो मुनि होकर भी परिग्रहमें अनुराग रखते हैं वे संथममें परिपूर्ण न होनेसे परीषहों के जीतनेमें असमर्थ रहा करते हैं ॥२०॥

समस्त परिग्रहका त्याग, यह श्री जिन भगवान्के द्वारा प्रसूपित आगम का लक्षण है । फिर उसे जो मूर्ख अन्यथा—हिंसाका पोषक बतलाता है वह अपनेको तो नष्ट करनेवाला है ही, साथमें वह उन अन्य प्राणियोंको भी नष्ट करनेवाला है जो उस कल्पित आगमका अभ्यास आदि करते हैं ॥२१॥

धनरूप विशाचसे पीड़ित होकर योगीजन भी संयम और प्रशमसे उत्पन्न होकर तप व आगमरूप परिग्रहसे परिपूर्ण हुए राज्यको छोड़ देते हैं । तात्पर्य यह है कि धनके मोहसे बड़े-बड़े योगी भी संयम, प्रशम, तप और आगम ज्ञानसे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥२२॥

धनरूप वैरो मनुष्योंके पवित्र अनुष्टान से उत्पन्न हुई सभी अभीष्ट सिद्धियोंके विषय में नियमसे विद्धि किया करते हैं ॥२३॥

जिसने परिग्रहकी परम्पराको तो नहीं छोड़ा है—उससे जिसका अनुराग बना हुआ

१. M N L T F J Y त्यागः कीतितः श्री, S V X R कीर्त्यते । २. All others except P श्रीजिनागमे । ३. All others except P धनसंग्रहः ।

- 845 ) अति स्थिरत्वजेद्गत्वं स्थिरत्वं पा गुरुपलः ।  
न पुनः संगसंकीर्णो<sup>१</sup> मुनिः स्यात्संबृतेन्द्रियः ॥२५
- 846 ) बाह्यानपि च यः संगान् परित्यक्तुमनीश्वरः ।  
स कलीबः कार्मणं सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ॥२६
- 847 ) स्मरभोगीन्द्रवल्मीकं रागाद्यरिनिकेतनम् ।  
क्रीडास्पदविद्यानां बुधैवित्तं प्रकीर्तितम् ॥२७

धनेः । कोदृशोः । कर्मबन्धनमकैः । कोदृशः । अत्यवत्संगसंतानः । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ संगवतो जितेन्द्रियत्वं न भवतीत्याह ।

845 ) अपि सूर्यः—मूर्योऽपि धाम तेजस्त्वजेत् । वा अथवा । गुरुचलः सुमेहः । स्थिरत्वं त्यजेत् । न पुनः मुनिः संगसंकीर्णः स्यात् संबृतेन्द्रियः । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ संगं परित्यक्तु न क्षमः स कलीबः इत्याह ।

846 ) बाह्यानपि—पुमान् बाह्यानपि संगान् परित्यक्तुम् अनीश्वरो इत्यर्थः स्यात् । स कलीबः पुरेदरहितः स कर्मसैन्यं कथम् अग्रे हनिष्यति । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ वित्तं रागादीनां जनकत्वमाह ।

847 ) स्मरभोगीन्द्र—बुधैः पण्डितेरविद्यानां कुशास्त्राणां क्रीडास्पदं लोलागृहं प्रकीर्तितं कथितम् । पुनः कोदृशं वित्तम् । स्मरभोगीन्द्रवल्मीकं सुगमम् । पुनः कोदृशम् । रागाद्यरिनिकेतनं रागादिशब्दगृहमिति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ स्तोकमपि धनं दीपाणां कलङ्घमाह ।

है—फिर भी मोक्षप्राप्तिके लिए उच्चत हो रहा है वह अपनेको सघन कर्मरूप बन्धनोंसे जकड़ता हुआ भी उसे नहीं जानता है । अभिप्राय यह है कि परिग्रहपरित्यागके बिना मुक्ति तो सम्भव है ही नहीं, किन्तु हड़ कर्मबन्ध ही हुआ करता है ॥२४॥

कदाचित् सूर्य अपने तेजको भले ही छोड़ दे अथवा मेर पर्वत अपनी स्थिरताको भी भले ही छोड़ दे, परन्तु परिग्रहसे व्याप्त मुनि कभी जितेन्द्रिय नहीं हो सकता है—वह इन्द्रियों का निग्रह कभी नहीं कर सकता है ॥२५॥

जो बाह्य धन-धान्यादिरूप परिग्रहको ही नहीं छोड़ सकता है वह नपुंसक भविष्यमें कर्मकी सेनाको कैसे नष्ट करेगा । अभिप्राय यह कि बाह्य परिग्रह के परित्यागके बिना परिणामोंकी विशुद्धि नहीं हो सकती और उस परिणाम विशुद्धिके बिना कर्मबन्धनसे मुक्ति नहीं हो सकती है ॥२६॥

पण्डितजनोंने धनको कामदेवरूप सर्वराजकी बाबी, राग-द्वेषादिका स्थान तथा अविद्याओंका क्रीडागृह बतलाया है ॥२७॥

४४८ ) अत्यल्पे धनजम्बाले निभग्नो गुणवानपि ।

अगत्यस्मिन् जनः क्षिप्रं दोषलक्ष्मैः<sup>१</sup> कलद्वयते ॥२८

४४९ ) संन्यस्तसर्वसंगेभ्यो गुरुभ्यो इष्यतिश्छद्यते ।

धनिभिर्भूतरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्यते ॥२९

४५० ) सुतस्वजनभूपालदुष्टचौरारिविद्वरात् ।

बन्धुमित्रकलत्रेभ्यो धनिभिः शश्द्यते इनिशम्<sup>२</sup> ॥३०

४५१ ) कर्म बध्नाति यज्ञीब्दो धनाकाकश्मलीकृतः ।

तस्य शान्तिर्धिदि क्लेशाद् बहुभिर्जन्मकोटिभिः ॥३१

४४८ ) अत्यल्पे—गुणवानपि चारित्रादिगुणयुक्तो इपि अस्मिन् जगति क्षिप्रं दोषैः कलद्वयते । कीदृशः । अत्यल्पे अतिस्तोके धनजम्बाले वित्तकर्दमे मग्नो इपि मजिजतो इपि । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ पुनः संगत्यागस्वरूपमाह ।

४४९ ) संन्यस्तसर्व—धनिभिर्वितरक्षकैर्धैतरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्यते शयनं करोति [ क्रियते ] । गुरुभ्यो इपि तत्त्वप्रस्तावकेभ्यो इपि अतिश्छद्यते शश्द्यां करोति । कोदृशेभ्यो गुरुभ्यः । संन्यस्तसर्वसंगेभ्यः दूरीकृतसर्वपरिग्रहेभ्यः । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ धनिभ्यः सर्वेभ्यः शश्द्यते इत्याहु ।

४५० ) सुतस्वजन—धनिभिर्शमत्यर्थं शश्द्यते । केभ्यः । बन्धुमित्रकलत्रेभ्यः । सुतस्वजनभूपालदुष्टचौरारिविद्वरात् पुत्रपरिजन[नृप]दुष्टचौरशत्रुकलहात् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ धने वाङ्छां कुर्वतो यत् कर्मवन्धनं तस्य दुःसाध्यत्वमाह ।

४५१ ) कर्म बध्नाति—जीवः धनाकाकश्मलीकृतः वित्तवाङ्छामलिनीकृतः सब्दं धत्कर्म बध्नाति, तस्य कर्मणः शान्तिर्धिदि बहुभिर्जन्मकोटिभिः भवेदिति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ सर्वेसंगपरित्यागे योगी ध्यानं करोतीत्याहु ।

इस लोकमें थोड़ी-सी भी धनरूप काईके भीतर फँसकर गुणवान् मनुष्य भी शीघ्र ही लाखों दोषोंसे कलंकित हो जाता है ॥२८॥

धनवान् मनुष्य जिन महात्मा ओने सर्वे परिग्रहसे भमत्वभावको छोड़ दिया है उन गुरुओं की ओरसे भी शक्ति रहा करते हैं तथा वे उस धनकी रक्षाके लिए रात्रिमें सोते भी नहीं हैं ॥२९॥

धनी जन पुत्र, कुदुम्बीजन, राजा, दुष्ट, चोर, शत्रु, दुराचारी, बन्धु ( भाई ), मित्र और स्त्रीकी ओरसे भी शक्ति रहा करते हैं ॥३०॥

धनकी तृणासे मलित किया गया जीव जिस प्रबल कर्मको शैषिता है उसकी शान्ति क्लेशका अनुभव करते हुए करोड़ों जन्मोंमें कदाचित् ही हो पाती है । अभिप्राय यह है कि परिग्रहके व्यामोहसे जो दृढ़ कर्म शाँधा जाता है वह प्राणीको करोड़ों जन्म तक दुःख देता है ॥३१॥

१. M P V दोषलक्ष्मैः । २. All others except P Y भूषां, Y श्रुतम् ।

४५२ ) सर्वसंगविनिर्मुक्तः संवृताशः स्थिराशयः ।  
धते ध्यानधुरा धीरः संयमी वीरवर्णिताम् ॥३२

४५३ ) संगपञ्चात्समुत्तीर्णो नैराश्यमवलम्बते ।  
ततो नाक्रम्यते दुःखैः पारतन्त्रैः क्वचिन्मुनिः ॥३३

४५४ ) विजनै जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थिते ऽपि वा ।  
सर्वत्राग्रतिबद्धैः स्यात्संयमी संगवजितः ॥३४

४५२ ) सर्वसंग—संयमी ध्यानधुरां धते । कीदृशो धीरः । निःप्रकम्पः । पुनः कीदृशः । सर्वसंगविनिर्मुक्तः सर्वपरिप्रहरहितः । पुनः कीदृशः । संवृताशः गुप्तेन्द्रियः । स्थिराशयः स्थिरचितः । पुनः कीदृशा धुराम् । वीरवर्णितां सुभट्टबलाध्याम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ संगपरित्वागात्मुखी भवतीत्याह ।

४५३ ) संगपञ्चात्—मुनिनैराश्यं निराशतामवलम्बते । कीदृशः । संगपञ्चात् समुत्तीर्णः । सुगमम् । ततो नैराश्यात् दुःखेनाक्रम्यते व्याप्तोति । कीदृशोः दुःखैः । पारतन्त्रैः कर्मजनितैः क्वचित् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ पुनः संगत्यामे गुणमाह ।

४५४ ) विजने जन—संयमी संगवजितः सर्वत्राग्रतिबद्धः मायारहितः स्यात् । वव । विजने जनरहितस्थाने । अप्रतिबद्धः इति सर्वत्र योअथम् । जनसंकीर्णे लौकव्याप्तस्थाने । सुस्थिते सातावस्थायाम् । दुःस्थिते दुःखावस्थायामपि । वा विकल्पार्थः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ धनवतों सर्वत्र दुःखमाह ।

जो धीर-वीर साधु सम्पूर्णं परिप्रहसे ममत्वको छोड़ चुका है वह इन्द्रियों का नियन्त्रण करता हुआ स्थिर अभिप्रायके साथ वीरजिनेन्द्रियके द्वारा प्रखण्डित ध्यानके भारको धारण करता है ॥३२॥

जो मुनि परिप्रहरूप कीचड़के पार हो चुका है वह चूंकि निराशताका आश्रय ले लेता है—उसकी सब विषयवाचि नष्ट हो जाती है—इसीलिए वह पराधीनतारूप दुःखके आकर्मणका विषय नहीं होता । तात्पर्य यह कि जो परिप्रहरूके मोहसे रहित हो जाता है वह सब प्रकारके दुःखोंसे रहित होकर स्वाधीन अनुभव सुखका अनुभव करता है ॥३३॥

जो मुनि परिप्रहरकी ममताको छोड़कर निःस्पृह हो जाता है वह चाहे जनसे शून्य वस्त आदि एकान्त स्थानमें अवस्थित हो और चाहे जनसमुदायसे व्याप्त किसी नगर आदिमें अवस्थित हो, तथा इसी प्रकारसे वह चाहे दुःखकी अवस्थामें हो और चाहे सुखकी अवस्था में हो; वह सब ही अवस्थाओंमें प्रतिबन्धसे रहित होता है—वह सर्वत्र स्वाधीन सुखका ही अनुभव करता है ॥३४॥

855 ) दुःखमेव धनव्यालविषविघ्नस्तचेतसाम् ।

अर्जने रक्षणे नाशे पुंसां तस्य परिक्षये ॥३५॥

856 ) स्वजातीयैरपि प्राणी सद्योऽभिद्रयते धनी ।

यथात्र सामिषः पक्षी पक्षिभिर्द्वयण्डलैः ॥३६॥

857 ) आरम्भो जन्तुधातश्च कथायोऽच्च परिग्रहात् ।

जायते अत ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे ॥३७॥

858 ) न स्याद् ध्यातुं प्रवृत्तस्य चेतः स्वप्ने ऽपि निश्चलम् ।

मुनेः परिग्रहग्राहैः स्पण्डयमानमनेकशः ॥३८॥

855 ) दुःखमेव—पुंसां पुरुषाणां तस्य द्रव्यस्य अर्जने उपार्जने दुःखमेव । तस्य रक्षणे दुःखमेव । तस्य नाशे दुःखमेव । तस्य परिक्षये सामस्येन गम्यते । कीदृशानां पुंसाम् । धनव्यालविषविघ्नस्तचेतसां धनसर्पविषेण सष्टीचलानाम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथातमज्जेरपि धनी संताप्यते ।

856 ) स्वजातीयैः—प्राणी जीवो धनी । स्वजातीयैः स्वजनेरपि सद्यस्तत्कालं विद्युयते संताप्यते । अत्र जगति यथा सामिषः मासयुक्तः पक्षी । पक्षिभिर्विद्युयते । कोहशैः । बद्धमण्डलैः बद्धयेणिभिः । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ परिग्रहात् आरम्भादि सर्वे जायते इत्याह ।

857 ) आरम्भो—अत्र जगति प्राणिना परिग्रहात् आरम्भो जायते । च पुनः । जन्तुधातो जायते प्राणिहिसा । च पुनः । कथायानन्तानुबन्धादि क्रोधादयो जायन्ते । ततः क्रोधादैः श्वभ्रसागरे नरकसमुद्रे पातः पतनं भवेदिति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ परिग्रहस्य ध्यानाभावमाह ।

858 ) न स्याद् ध्यातुं—मुनेश्चेतः स्वप्ने ऽपि निश्चलं न स्यात् । कीदृशस्य मुनेः । ध्यातुं प्रवृत्तस्य ध्यानोद्यतस्य । केः । परिग्रहग्राहैः परिग्रहा एव आहाः नक्षमकरादयः, तैः । कीदृशं चेतः । अनेकधा भिद्यमानम् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ संबन्धो दुःखकारणमित्याह ।

जिन मनुष्योंका चित्त धनरूप सर्पके विषसे नष्ट किया गया है—मूर्च्छीको प्राप्त हुआ है—उसको उस धनके उपार्जन, रक्षण, विनाश और स्वयं श्रव्यमें दुःख ही होता है ॥३५॥

जिस प्रकार यहाँ माससे संयुक्त पक्षीको अन्य पक्षी घेरकर पीड़ा पहुँचाते हैं उसी प्रकार धनवान् मसुध्यको अपने कुदुम्बीजन भी घेरकर पीड़ा पहुँचाया करते हैं ॥३६॥

परिग्रहसे आरम्भ, प्राणियोंका संहार और क्रोधादि कथायें उत्पन्न होती हैं तथा उससे प्राणियोंका नरकरूप समुद्रमें पतन होता है—नरकमें जाकर उन्हें घोर दुःख सहना पड़ता है ॥३७॥

ध्यानके लिए प्रवृत्त हुए मुनिका परिग्रहरूप हिंसा जलजन्तुओंके द्वारा अनेक प्रकारसे खण्डित किया जानेवाला भन स्वप्नमें भी स्थिर नहीं रह सकता है ॥३८॥

१. J विद्युयते, Y अभिभृतते । २. M N L T कथायश्च । ३. All others except P N T जायते ।

४. All others except P प्राहृभिद्यमानमनेकधा ।

४५९ ) [ 'यावन्तः कुरुते जन्तुः संबन्धान् भानसेप्सितान् ।

तावन्तो इस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥३८\*१

४६० ) <sup>३</sup>मार्जारभक्षिते हुःखं यादृशं गृहकुकुटे ।

न तादृष्ममताशून्ये कलविष्टे इथ मूषके ॥३८\*२ ]

४६१ ) सकलविषयबीजं सर्वसावधमूलं

नगरकुरुहक्षदं <sup>३</sup> वित्तजातं विहाय ।

अनुसर मुनिवृन्दानन्दि संतोषराज्य-

भमिलषसि यदि त्वं जनमवन्धव्यपायम् ॥३९

४६२ ) एनः केन धनप्रसक्तमनसा<sup>३</sup> नासादि हिसादिना  
कस्तस्यार्जनरक्षणस्थकुतैनदिद्वि दुःखानलैः ।

४५९ ) [ यावन्तः—अन्तुः प्राणी । भानसेप्सितान् इष्टान् । संबन्धान् अन्येषां पदार्थनिम् इत्यर्थः । शोकः एव शङ्कः । हृदये निखन्यन्ते शोकेन हृदयं तूयते । इति सूत्रार्थः ॥३८\*१॥ ममसा-विषये दुःखाविक्षयमाह ।

४६० ) मार्जार—गृहकुकुटे गृहे पालितकुकुटे । मार्जरिण बिडालेन भक्षिते । यावत् दुःखे भवति तावत् मूषके अथवा कलविष्टे भक्षिते सति न भवतीत्यर्थः ॥३८\*२॥ ] अथोपदेशद्वारा संगत्यागमुपसंहरति । मालिनी ।

४६१ ) सकल—हे मुने, संतोषराज्ये अनुसरात्रय । कीदृशं संतोषराज्यम् । मुनिवृन्दानन्दो मुनिसमूहावन्दनः । यदि चेत् । त्वं जनमवन्धव्यपायं तव बन्धनाशं अभिलषसि वाङ्छसि । किं कृत्वा । वित्तजातं विहाय द्रव्यसमूहं परित्यज्य । कीदृशं वित्तजातम् । सकलविषयबीजं सर्वनिद्रिय-व्यापारजनकम् । पुनः कीदृशम् । सर्वसावधमूलं सर्वपापमूलम् । पुनः कीदृशं वित्तजातम् । नरक-नगरकेतुं नरकपुरुषवजम् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ संगस्य पापकारितामाह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

४६२ ) एनः केन—केन पुरुषेण । हिसादिना जीववदेन एनः पार्य नासादि नाप्राप्य ।

प्राणी मनके लिए अभीष्ट जितने सम्बन्धोंको करता है वह हृदयमें उतने ही शोकरूप कीलोंको खोदता है ॥३८\*१॥

धरके मुर्गोंको बिल्डिंग्से खा लेनेपर जैसा दुःख होता है वैसा ममवासे रहित चिड़ियाके खाये जाने पर नहीं होता है ॥३८\*२॥

हे भठ्य ! यदि तू संसारकी परम्पराको नष्ट करना चाहता है तो जो धनसमूह समस्त विषयओंगोंका मूल कारण सब पापोंकी जड़ और नरकरूप वृशका कन्द है उसको छोड़कर मुनिसमूहको आनेन्दित करनेवाले सन्तोषरूप राज्यका अनुसरण कर ॥३९॥

जिनका मन धनमें अनुरक्त रहता है उनके हिसा आदि किस दुराचरणके द्वारा

१-२. Only in F V X । ३. All others except P नरकनगरकेतु । ४. S J X Y R एवः कि न । ५. F V प्रशास्त्रमनसा ।

तत्प्रागेव विचार्य वर्जय 'वरं व्यामूढवित्स्थुही  
यैनैकासपदता न यासि विषयं' पापस्य तापस्य च ॥४०॥

863 ) एवं तावदहं लभेय विभवं रक्षेयमेवं तत्—  
स्तद्वृद्धिं गमयेयमेवमनिशं भुज्जीय चैवं<sup>३</sup> पुनः ।  
इत्याशारसरुद्धमानसभृशं नात्मानमुत्पश्यसि  
कुरुध्यत्कूरकृतान्तदन्तपटलीयन्त्रान्तसालस्थितम् ॥४१॥

कोदृशेन केन । धनप्रसक्तमनसा धनव्याप्तचित्सेन । कः पुमान् तस्य द्रव्यस्य अर्जनमुपार्जनं,  
रक्षणं पालनम्, कथः हानिः, [आसादि] प्राप्तम् । येन कारणे तापस्य एकास्पदता न  
यासि । च पुनः । तापस्य विषयं न यासि । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ सर्वसंगपरित्यागे  
फलमाह ।

863 ) एवं तावदहं—रे जीव, भूशमत्यर्थम् । इत्याशारसरुद्धमानसः इतिवाङ्छारसरन्तिवत्  
(?) चितः आत्मानं नात्पदयसि । इतीति किम् । एव तावत् अहं द्रव्यं लभेय लभिष्ये (?) ।  
एवम् अमूला प्रकारेण भुज्जीय भुज्जित्वये । कीदृशमात्मानम् । कुरुकूरकृतान्तदन्तपटलीयन्त्रान्त-  
सालस्थितं कुपितरोद्भूतमूह्यत्वमह्यस्थितमिति सूत्रार्थः ॥४१॥

पापका उपार्जन नहीं हुआ है ? अर्थात् वे हिंसा आदि अनेक पापकार्योंको करके अशुभ कर्म-  
को उपार्जित करते हैं । तथा उस धनमें अनुराग रखनेवाला कौन-सा मनुष्य उसके उपार्जन,  
रक्षण और नाशसे उत्पन्न हुए दुःखरूप अपित्से सन्तप्त नहीं हुआ है ? सब ही धनानुरागी  
उसके अर्जन आदिके कारण दुःखी होते हैं । इसलिए है मूर्ख ! तू पहले ही इसका भली-  
भौति विचार करके उस धनकी इच्छाको छोड़ दे । इसका परिणाम यह होगा कि तू विषयों-  
के साथ पाप और सन्तापका एक स्थान नहीं बनेगा ॥४०॥

पहले मैं इस प्रकार से विभतिको प्राप्त करूँगा, फिर उसका इस प्रकार से रक्षण  
करूँगा, पश्चात् उसको इस प्रकारसे वृद्धिको प्राप्त कराऊँगा और उसके पश्चात् निरन्तर  
उसका इस प्रकारसे उपभोग करूँगा; इस प्रकारकी आशारूप उसके द्वारा जिसका मन रोका  
गया है—इस विषयसुष्णाके बश होकर जो विवेकसे रहित हो चुका है—ऐसा है भव्य ! तू  
अपनेआपको क्रोधको प्राप्त हुए दुष्ट यमराज के दौतोकि समूहरूप थन्त्रके मध्यमें स्थित नहीं  
देखता है । अभिप्राय यह है कि प्राणीको धनके उपार्जन आदिकी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती ही  
है, वह कम नहीं होती । और इस बीच आयुके क्षीण हो जाने पर वह मरणको प्राप्त होकर  
आत्महितसे सञ्चित ही रह जाता है ॥४१॥

१. L परं । २. L विषये, S P V X Y R विषये । ३. P भुज्जीयमेवं । ४. S V V द्रव्याशारस ।

इति शान्तार्णवे संयमाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-  
विरचिते परिग्रहदोषविचारप्रकरणम् ॥१६॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते शान्तार्णवसूत्रे वोगप्रदोषाधिकारे पण्डितसंघविलासेन  
साहृपासा तत्पुत्र-साह-टोडर-नक्तुलकमलदिवाकर-साह-रिषिदास-स्वश्रवणाथं  
पण्डितजिनदासोद्यमेन परिग्रहदोषविचारप्रकरणं समाप्तम् ॥१६॥

मालिनी । सुकृतपरमपात्रं दत्तदामैकपात्रं दुरितनिधनपात्रं पात्रसाहाज्ञजातम् । विदित-  
जिनपधर्मं टोडरं दत्तसर्वंभु अवतु न ऋषिदासः शान्तिनाथप्रकाशः ॥१६॥ इति आशोवादिः । अथ  
निराशताफलमाह ।

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित शान्तार्णवके संयमाधिकारमें  
परिग्रहदोष प्रकरण समाप्त हुआ ॥१६॥

## [ आशापिशाची ]

८६४ ) वाह्यान्तर्भूतनिःशेषसंगसंन्याससिद्धये ।

आशा सद्गुर्विराकृत्य नैराद्यमवलम्बितम् ॥१

८६५ ) यावद्यावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति ।

तावत्तावन्मनुष्याणां मोहग्रन्थिदृढीभवेत् ॥२

८६६ ) अनिरुद्धा सती शशवदाशा विश्वं विसर्पति ।

ततो निर्बद्धमूलासौ पुनश्चेत्सु न शक्यते ॥३

८६४ ) वाह्यान्तर्भूत—सद्गुरुः सत्युपर्यन्तराद्यमवलम्बितं निराशाता अङ्गोऽकृता । किं कृत्वा । आशा धनाशां निराकृत्य दुरोऽकृत्येत्यर्थः । कस्यै । वाह्यान्तर्भूतनिःशेषसंगसंन्याससिद्धये वाह्यान्तरसर्वपरिग्रहत्यागसिद्धये इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ धनाशावृद्धौ मोहग्रन्थिवृद्धिमाह ।

८६५ ) यावद्यावत्—यावच्छरीराशा विसर्पति विस्तरति । वा अथवा । धनाशा विसर्पति । तावस्पूर्वं तावत् मनुष्याणां मोहग्रन्थिदृढीभवेदिति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ धनाशाहत्यन्ते फलमाह ।

८६६ ) अनिरुद्धा—आशा धनाशा शशवन्निरन्तरं अनिरुद्धा सती विश्वं अगत् विसर्पति व्याप्तोति । ततो व्याप्त्यनन्तरं निरुद्धमूला दृढमूला असौ आशा छेत्सु पुनः स शक्यते । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ धनाशाशान्ती कलमाह ।

साधुजनोंने वाह्य और अन्तररूप समस्त परिग्रहके त्यागको सिद्ध करनेके लिए अपरिग्रह महाब्रतका परिपालन करनेके लिए—उस विषयतृणाको नष्ट करके नैराद्यभाव ( निःस्पृहता ) का ही आश्रय लिया है ॥१॥

मनुष्योंकी जितनी-जितनी शरीर सम्बन्धी और धन सम्बन्धी इच्छा विस्तृत होती है उतनी ही उतनी उतकी मोहरूप गाँठ छढ़ होती जाती है ॥२॥

निरन्तर फैलनेवाली उस आशाको यदि रोका नहीं जाता है, तो फिर वह समस्त लोकमें फैल जाती है । उस समय चूँकि वह अपनी गहरी जड़ोंको जमा लेती है, अतएव वहका काटना अशक्य हो जाता है ॥३॥

१. य संन्यासवृद्धये । २. All others except P M N X <sup>१</sup>मवलम्ब्यते । ३. All others except P M N T प्रसर्पति । ४. M तमोति व्यधमालासौ, N तमोति व्यधमालां सा, F V तकी निरुद्धमूलासौ ।

८६७ ) यद्याशा शान्तिमायाता तदो सिद्धं समीहितम् ।

अन्यथा भवसंभूतो दुःखवर्धिदुरुत्तरः ॥४

८६८ ) यमप्रशमराज्यस्य सद्वोधाकोदयस्य च ।

विवेकस्यापि भूतानामाशैव प्रतिबन्धिका ॥५

८६९ ) आशामपि न सर्वन्तीं यः क्षमं रक्षितुं क्षमः ।

तस्यापवर्गसिद्धयर्थं वृथा मन्ये परिश्रमम् ॥६

८७० ) "आशैव मदिराक्षाणामाशैव विषमञ्जरी ।

आशामूलानि दुःखानि प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥७

८७१ ) यद्याशा—साधनाशा यदि शान्तिमायाता प्राप्ता । शेषं सुगमम् ॥४॥ अथाशाया वर्मनिषेधकत्वमाह ।

८७२ ) यमप्रशम—लोकानाम् आशा एव यमप्रशमराज्यस्य ब्रतक्षान्तिराज्यस्य प्रतिषेधिका । च पुनः । सद्वोधाकोदयस्य सद्गानसूर्यस्य । जपि पक्षास्तरे । विवेकस्य प्रतिषेधिका । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथाशां यो न रुचति तदाह ।

८७३ ) आशामपि—यः पुमान् आशां घनाशां विसर्वन्तीं रक्षितुं क्षणमपि न क्षमः यमर्थो भवति । अहं मन्ये । तस्य पुरुषस्य अपवर्गसिद्धयर्थं मुक्तिसाधनाय वृथा परिश्रमः । इति सूत्रार्थः ॥६॥ [ आशायाः सर्वदुःखानि प्रभवन्तीत्याह ।

८७४ ) आशैव—आशा एव अक्षाणाम् इन्द्रियाणां मदिरा मदोत्पादिका । विषमञ्जरी विषवल्ली । अन्यत्सुगमम् ॥५॥ ] अथ घनाशात्यागफलमाह ।

यदि वह आशा शान्तिको प्राप्त हो चुकी है तो फिर प्राणीका भनोरथ सिद्ध हो चुका—तब उसकी मुक्तिप्राप्ति में सम्बद्ध नहीं रहता । और इसके विपरीत यदि वह आशा नष्ट नहीं हुई है तो फिर प्राणीका संसारपरिभ्रमणसे उत्पन्न हुआ दुःखरूप समुद्र दुर्लभ्य है—उसके संसारपरिभ्रमणका दुःख नष्ट होनेवाला नहीं है ॥५॥

प्राणियोंके संयम व प्रशमरूप राज्यको, सम्यग्ज्ञानरूप सूर्यके उदयको तथा विवेकको भी रोकनेवाली उनकी वह आशा ही है ॥५॥

जो उस फेलनेवाली आशासे अग्रभर भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता है उसका मुक्तिकी प्राप्तिके लिए किया जानेवाला परिश्रम व्यर्थ है, ऐसा मैं मानता हूँ । अभिप्राय यह है कि जब तक मनुष्यकी विषयत्रृष्णा नष्ट नहीं होती है तब तक वह संयम आदिका परिपालन कर ही नहीं सकता है । फिर भी यदि वह ब्रत व तपश्चरण आदिके कष्टको कुछ सहता भी है तो भी उससे अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है ॥६॥

आशा इन्द्रियोंको उन्मत्त करनेवाली मदिरा ही है तथा वह आशा विषको छता ही

१. All others except P M N T तथा लिङ् । २. N प्रतिबन्धिका, All others except P N प्रतिषेधिका । ३. M N परिश्रमः । ४. J om. verse ।

- 871 ) त एव सुखिनो धीरा वैराशाराक्षसी हता ।  
महाब्यसनसंकीर्णे उत्तीर्णः क्लेशसागरः ॥८
- 872 ) येषामाशा कुतस्तेषां मनःशुद्धिः शरीरिणाम् ।  
अतो नैराश्यगालम्ब्य शिवीभूता मनीषिणः ॥९
- 873 ) सर्वाशां यो निराकृत्य नैराश्यमबलम्बते ।  
तस्य व्यवचिदपि स्वान्तं संगपद्मकेर्व लिप्यते ॥१०
- 874 ) तस्य सत्यं श्रुतं बृतं विवेकस्तत्त्वनिश्चयः ।  
निर्ममत्वं च यस्याशापिशाची निधनं गता ॥११

871 ) त एव—ये: पुरुषैराशाराक्षसी हता त एव सुखिनः; त एव धीराः । च पुलः क्लेश-  
सागरः समुद्रः तैरेवोत्तीर्णः कोदृशः । महाब्यसनसंकीर्णः महाकष्टव्यासः । इति सूत्रार्थः ॥८॥  
अथाशायां सत्यां कुतो मनःशुद्धिरित्याह ।

872 ) येषामाशा—येषां जीवानां घनाशा, तेषां शरीरिणां मनःशुद्धिः कुतः । न क्वापि-  
त्यर्थः । अतः कारणान्यकीर्णिः पण्डिताः शिवीभूता मुक्ताः कर्मबन्धनैः । किं कृत्वा । नैराश्यमबल-  
म्ब्य । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ यो घनाशा द्वयोकरोति तस्य पापं न भवतीत्याह ।

873 ) सर्वाशां यो—यः पुमान् नैराश्यमबलम्बते । किं कृत्वा । सर्वाशां निराकृत्य । तस्य  
मनुष्यस्य स्वान्तं चित्तं संगपद्मकेर्व लिप्यते । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ यस्य घनाशा नाशं यता  
तस्य सत्यादि सर्वमस्ति इत्याह ।

874 ) तस्य सत्यं—यस्य पुरुषस्य आशा वाङ्मापिशाची निधनं गता विनाशं प्राप्ता, तस्य  
श्रुतं, सत्यं, बृतं आचारः, सत्यं तस्य विवेकः, तस्य तत्त्वनिश्चयः परमार्थनिर्णयः । इति सूत्रार्थः  
॥११॥ अथाशायां सत्यां दुःखशान्तिनं भवतीत्याह ।

है । प्राणियोंको यहाँ जितने भी दुःख प्राप्त होते हैं उन सबका मूल कारण यह एक आशा  
ही है ॥१॥

जिन धीर पुरुषोंने उस आशालूप राक्षसीको नष्ट कर दिया है वे ही वास्तवमें सुखी  
हैं तथा उन्हींने महती आपत्तियोंसे द्याम क्लेशरूप समुद्रको पार कर लिया है ॥८॥

जिन प्राणियोंकी आशा वनी हुई है—वह नष्ट नहीं हुई है—उनके मनकी निर्मलता  
भला कहाँसे हो सकती है ? नहीं हो सकती । इसीलिए बुद्धिमान् ( विवेकी ) जीव नैराश्य-  
भावका आश्रय लेकर उस आशाका सर्वथा परित्याग करके—मुक्तिको प्राप्त हुए हैं ॥९॥

जो जीव पूर्णतया उस आशाका निराकरण करके नैराश्यभावका आश्रय ले लेता है  
उसका मन कहीं पर भी परिप्रहरूप कीचड़ से लिप्त नहीं होता है ॥१०॥

जिसकी आशालूप पिशाची भरण को प्राप्त हो चुकी है—नष्ट हो गयी है—उसके  
सत्य, आगमश्चान, चारित्र, विवेक तत्त्वका निश्चय और निर्ममता आदि उत्तम गुण सुरक्षित  
रहते हैं ॥११॥

- 875 ) यावदाशानलदिवसे जाज्वलीति विशुद्धलः ।  
 तावत्तव महादुखदाहशान्तिः कुतस्तनी ॥१२
- 876 ) निराशतासुधापूर्यस्य चेतः पवित्रितम् ।  
 तमालिङ्गाति सोत्कण्ठं शमश्रीर्द्धसौहृदा ॥१३
- 877 ) न भजति मनो येषामाशापक्षे दुरुचरे ।  
 तेषामेव जगत्यस्मिन् फलितो ज्ञानपादपः ॥१४
- 878 ) शको ऽपि न सुखो स्वर्गे स्यादाशानलदीपितः ।  
 विद्याप्याशानलज्वाला श्रवन्ति यमिनः शिवम् ॥१५

875 ) यावदाशानलः—चित्ते यावदाशानलः वाऽछारिनः जाज्वलीति अतिशयेन उवलति । कीदृशः आशानलः । विशुद्धलः । तावत्तव रे जीव, महादुखदाहशान्तिः कुतस्तनी कुतोभवा इति सूक्ष्मार्थः ॥१२॥ अथ निराशस्य शमश्रीः भवतीत्याह ।

876 ) निराशता—यस्य चेतः निराशतासुधापूर्ये पवित्रितं पुनीतं भवति । तं पुरुषं शमश्रीः उपशमश्रीः सोत्कण्ठं उत्कण्ठासहितं यथा स्यातथालिङ्गाति । कीदृशी बद्धसौहृदा जातप्रीतिः । इति सूक्ष्मार्थः ॥१३॥ अथ ये परिग्रहं न कुर्वन्ति तेषां ज्ञानपादाह ।

877 ) न सज्जति—येषां मन आशाम्भसि वाऽछाज्जले न मनं भवति । कीदृशो । दुस्तरे दुस्तरणोये । तेषामेव अस्मिन् । जगति ज्ञानपादपः फलितः इति । सूक्ष्मार्थः ॥१४॥ अथाशासद्वावे कुत्रापि न सुखम् इत्याह ।

878 ) शको ऽपि न—आशानलदीपितः शको ऽपि न सुखो । यमिनो व्रतिनः शिवं मोक्षं श्रवन्ति । कि कुत्वा । आशानलज्वाला विद्याप्येति सूक्ष्मार्थः ॥१५॥ अथाशायां नष्टायां कि न सिद्धमित्याह ।

हे भठ्य ! जब तक तेरे हृदयमें श्रुत्यालासे रहित ( निर्बाधिया विविध प्रकारकी ) आशारूप अग्नि जलती है तब तक तेरे महादुखहा दाहकी शान्ति कहाँसे हो सकती है ? नहीं हो सकती । तारम्य यह कि प्राणीके हृदयमें जबतक आशाका निवास रहता है तबतक वह निरन्तर दुःखोंसे सन्तुष्ट रहा चरता है ॥१२॥

जिसका अन्तःकरण नैराहयरूप अमृतके प्रवाहसे पवित्र हो चुका है उसका शान्तिरूप दक्षमी मित्रतामें बद्द होकर उत्कण्ठापूर्वक आलिंगन किया करती है ॥१३॥

जिसका मन दुर्लभ आशारूप कीबड़ोंमें निपत्त नहीं होता है उन्हीं का ज्ञानरूप बृक्ष इस लोकमें फलशाली ( सफल ) होता है ॥१४॥

स्वर्गमें आशारूप अग्निसे सन्तुष्ट हुआ हनु भी सुखी नहीं है । इसीलिए मुनिजन उस आशारूप अग्निकी ज्यालाको बुझाकर मोक्षका आश्रय लेते हैं ॥१५॥

१. M N सुखास्यन्दः । २. All others except P °माशाम्भसि । ३. M N °नलपीक्षितः...यमिनः श्रियम् ।

८७९ ) चरस्थिरार्थजातेषु॑ यस्याशा प्रलयं गता ।

किं कि न तस्य लोके अस्मिन् सम्बै सिद्धं समीहितम् ॥१६

८८० ) चापलं॑ त्यजति स्वान्तं विक्रिया॑ चाक्षदन्तिनः ।

प्रशास्यति कथाय॑चिन्नैराश्याधिष्ठितात्मनाम् ॥१७

८८१ ) किमत्र बहुनोक्तेन यस्याशा निधनं गता ।

स एव महता॑ सेव्यो लोकद्वयविशुद्धये ॥१८

८८२ ) आशा जन्मोप्रपञ्चाय शिवायाशाविपर्ययः ।

इति सम्यक् समालोच्य यदितं तत्समाश्रयं ॥१९

८७९ ) चरस्थिरार्थ—यस्य पुंसः चरस्थिरार्थजातेषु॑ स्यावरजङ्गमपदार्थेषु॑ आशा प्रलयं नाशं गता । तस्य पुरुषस्य किं कि नास्मिन् समीहितं वाच्छितं सिद्धं जातम् । अहम् एव मन्ये । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथाशारहितस्थेन्द्रियाणि विकारं त्यजन्तीत्याह ।

८८० ) चापलं—नैराश्याविष्ठितात्मनां निःसंगताश्रितानां स्वान्तं चित्तं चापलं॑ त्यजति । च पुनः अक्षदन्तिन इन्द्रियगताः विक्रियाः त्यजन्ति । कथायाग्निः क्रोधाद्यनलः प्रशास्यति । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ यस्याशा नष्टा तस्य महस्त्वमाह ।

८८१ ) किमत्र—यस्याशा निधनं नाशं गता । अत्र जगति बहुता उक्तेन किम् । स एव महता॑ सेव्यः । कस्ये । लोकद्वयविशुद्धये । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथाशा संसारदुःखाय भवतीत्याह ।

८८२ ) आशा जन्मोप्रपञ्चाय—रे जीव, यत्ते हितं हितकारि तत् समाचर । कि कृत्वा । इति सम्यक् समालोच्य । इतीति किम् । जन्मोप्रपञ्चाय भवोप्रकर्दमाय आशा भवति । शिवाय मोक्षाय आशाविपर्ययः । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथाशाविक्षिप्तचित्तानां न कुत्रिष्ठिसिद्धिरित्याह ।

जिसकी चर-स्त्री-गुच्छ आदि-तथा अचर ( धन-धान्यादि ) पदार्थोंके विषयमें आशा नष्ट हो चुकी है उसका इस लोकमें कौन-कौन-सा मनोरथ पूर्ण नहीं होता है ? अर्थात् उसका सब अभीष्ट सिद्ध हो जाता है ॥१६॥

जिनका अन्तःकरण नैराश्यमावसे अधिष्ठित हो चुका है उनका मन अस्थिरताको तथा इन्द्रियरूप हाथी विकार ( उपद्रव ) को छोड़ देते हैं । आशासे रहित हुए मनुष्यकी कथायरूप अर्द्ध भी शान्त हो जाती है ॥१७॥

यहाँ बहुत कहनेसे कथा लाभ ? जिसकी आशा नष्ट हो चुकी है उसकी दोनों लोकोंको विशुद्ध करनेके लिए महापुरुष आराधना किया करते हैं । अभिग्राय यह कि निःस्पृह योगीकी अन्य महापुरुष भी अपने अभीष्ट की सिद्धिके लिए आराधना किया करते हैं ॥१८॥

आशा तो संसाररूप मयानक कीचड़ीकी कारण है और उसके विपरीत निराशता मुक्तिकी कारण है । हे भड़य ! ऐसा भलीभाँति विचार करके जो हितकारक प्रतीत हो उसका तू आचरण कर—उसको अपना ले ॥१९॥

१. M जालेषु । २. M N L S T F V चापलं । ३. All others except P विक्रियाश्चाश । ४. All others except P M कथायाग्निनै॑, M कथायो ऽग्निनै॑ । ५. Y इति वृत्त । ६. All others except P L समालोच्य । ७. All others except P समाचर ।

८८३ ) न स्याद्विक्षिप्तचित्ताना स्वेष्टसिद्धिः क्वचिन्नृणाम् ।

तथं वदीप्तिक्षेपा भवन्त्याशाग्रहक्षताः ॥२०

८८४ ) विषयविपिनबीधीसंकटे पर्यटन्ती

श्छिति घटितवृद्धिः क्वापि लब्धावकाशा ।

अपि नियमिनरेन्द्रानाकुलत्वं नवन्ती

छलयति॑ खलु कं वा नेयमाशापिशाची ॥२१

इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभन्द्रविरचिते  
आशापिशाची-प्रकरणम् ॥१७॥ पञ्चव्रतानि॑ ।

८८३ ) न स्याद्विक्षिप्त—विक्षिप्तचित्ताना रागद्वेषाकान्तभेतसा नृणा क्वचिदिष्टसिद्धिर्न स्थात् । आशाग्रहक्षताः वाञ्छाकदाग्रहपीडिताः । प्रक्षीणविक्षेपा नष्टमभोविकल्पा: कथं भवन्तीति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथाशापिशाची कं त छलतीत्याह । मालिनी ।

८८४ ) विषयविपिन—खलु निष्ठये । कं पुरुषम् इयम् आशापिशाची न छलयति, अपि तु सर्वान् छलयति । वेति वक्रोक्तिसूचकः । किं कुर्वत्सो । विषयविपिनबीधीसंकटे विषयवस्तमार्गविषमे पर्यटन्ती भ्रमन्ती । पुनः कीदृशी । श्छिति शीघ्रं घटितवृद्धिः प्रापितवृद्धिः । क्वापि लब्धावकाशा नियमिनरेन्द्रान्त्याकुलत्वं नवन्ती प्रापयन्ती । इति सूत्रार्थः ॥२१॥

इति श्री-शुभन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्थवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा तत्पुत्रसाहटोडर-तरकुलकभलदिवाकर-साहरिषिदास-स्वश्रवणार्थं पण्डित-जिनदासोद्यमेन कारापितं आशापिशाची-प्रकरणं समाप्तम् ॥१७॥

मालिनी । सुरसरिदिह साम्यं यस्य कोतिल्लभेत गुणगणपरिवीतः पादवंसाहो बभूव । तदनुमुक्तयुक्तष्टोडरो धर्मवेदी सुचरितश्चिदासो जयति ज्ञातप्रकाशः ॥१॥ इत्याशीर्वादः । इति पञ्चमहाव्रतानि । अथ महाव्रतवत्ता समितिगुप्तयो भवन्तीत्याह । उपेन्द्रवज्ञा ।

जिनका चित्त विक्षिप्त—ओभको प्राप—है उन मनुष्योंको कहीं भी अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती है तथा जो आशारूप पिशाचीसे पीड़ित हैं वे उस चित्तविक्षेपसे ( मनः-क्षोभसे ) रहित कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते । अभिप्राय यह है कि विषयबोधासे चित्तमें जो क्षोभ होता है वह अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धि में बाधक होता है ॥२०॥

जो यह आशारूप पिशाची इन्द्रियविषयरूप बनकी विषयबीधी में विचरण किया करती है, जो कहीं भी—किसी भी विषयके आश्रित—स्थान पा करके शीघ्र ही वृद्धिगत होती है, तथा जो संयमी जनरूप राजाओंको व्याकुल किया करती है, वह भला किसको धोखा नहीं दिया करती है ? वह सबको ही ठगा करती है ॥२१॥

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभन्द्र विरचित ज्ञानार्थ योगप्रदीपाधिकारमें आशा पिशाचीप्रकरण समाप्त हुआ ॥१७॥ पञ्चमहाव्रत समाप्त ।

१. M प्रकोर्णविक्षेपा । २. M N छलयति । ३. M N पञ्चमहाव्रतानि, V इति पञ्चमहाव्रतानि ।

## XVIII

## [ अक्षविषयनिरोधः ]

४८५ ) महत्त्वहेतोर्गुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्वृतानि ।  
महासुखज्ञाननिवन्धनानि महाब्रतानीति सतीं मतानि॑ ॥१

४८६ ) [ 'उक्तं च—

आचरितानि महद्विर्यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम् ।  
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाब्रतानीत्यतस्तानि ॥१४१ ] )

४८५ ) महत्त्वहेतोः—सतीं सत्पुरुषाणां महाब्रतानि इति मतानि वक्तानि । कीदृशानि ।  
महत्त्वहेतोर्महत्त्वकारणाय गुणिभिः सम्यग्ज्ञानादिगुणयुक्तैः श्रितानि आश्रितानि । त्रिदशैर्वृतानि ।  
किं कृत्वा । महान्ति मत्वा ज्ञात्वा । पुनः कीदृशानि । महासुखज्ञाननिवन्धनानि । निवन्धनं कारणम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे । अथ महाब्रतव्युत्पत्तिभावनाः कथयति ।

४८६ ) आचरितानि—अतः कारणात् इति असुना प्रकारेण महाब्रतानि । हतोलि किम् ।  
यस्मान्महद्विराचरितानि च पुनः । यन्महान्तमर्थं प्रसाधयन्ति । स्वयमपि महान्ति । इत्यतो  
महाब्रतानीति सूत्रार्थः ॥१४१॥ अथ महाब्रतविशुद्ध्यर्थं पञ्चविंशतिभावनाः कथयति ।

पूर्वोक्त अहिंसा आदि पाँच व्रत चूँकि महत्त्व के—महान् वना देने के—हेतु होने से  
गुणी जनोंके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, उन्हें महान् मानकर देव नमस्कार करते हैं, तथा वे  
सहान् सुख और ज्ञानके कारण हैं; इसीलिये सत्पुरुष उन्हें महाब्रत मानते हैं । अभिप्राय यह  
है कि इन व्रतोंके आश्रयसे गुणी जन महान् ( श्रेष्ठ ) वन जाते हैं, देव उन्हें महान् मानते हैं,  
तथा उनके आश्रयसे जीवोंको महान् सुख ( अनन्त सुख ) और ज्ञान ( अनन्त ज्ञान ) प्राप्त  
होता है; इसीलिये उनका 'महाब्रत' यह सार्थक नाम माना जाता है ॥१॥

कहा भी है—चूँकि महापुरुषोंने उनका परिपालन किया है, वे महान् अर्थको—  
गोप्य पुरुषार्थको—सिद्ध करते हैं, तथा स्वयं भी महान् हैं; इसीलिये वे महाब्रत माने  
गये हैं ॥१४१॥

१. M N नीति समानन्ति । २. P X om, this verse ।

८८७ ) महाव्रतविशुद्धयर्थं भावनाः पञ्चविंशतिः<sup>१</sup> ।

परमासाद्य निर्वेदपदबीं भव्य भावय ॥२

८८८ ) ईयभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञकाः ।

सञ्ज्ञः समितयः पञ्च निदिष्टाः संयतात्मभिः ॥३

८८९ ) वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकम् ।

त्रियोगरोधकं<sup>२</sup> वा स्याद्यत्तद्गुप्तित्र्यं भवत्य् ॥४॥ तथर्थ—

८९० ) सिद्धक्षेत्राणि चैत्यानि<sup>३</sup> जिनविम्बानि वन्दितम् ।

गुर्वचार्यश्रुतोपेतान्<sup>४</sup> सेवितुं ब्रजतो ऽथवा ॥५

८८७ ) महाव्रत—हे भव्य पञ्चविंशतिभावनाः भावय । किमर्थम् । महाव्रतविशुद्धयर्थम् । प्रसिद्धम् । कि कृत्वा । निर्वेदपदबीं वैराग्यमार्गम् आसाद्य प्राप्येति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ समितयो नामयाहमाह ।

८८८ ) ईयभाषैषणा—संयतात्मभिः मुनिभिः । ईयसिमितिः, भाषासमितिः, एषणासमितिः, आदाननिक्षेपसमितिः उत्सर्गसमितिश्च इति पञ्च समितयः । निदिष्टाः कथिताः । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ गुप्तयः प्राह ।

८८९ ) वाक्काय—तद् गुप्तित्र्यं मर्तं कथितम् । तत् किम् । यत् यस्मात् कारणात् त्रियोगरोधनं स्यात् । अ पादपूरणे । कोदृशं त्रियोगरोधनम् । वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकं वचनकायमनोजातानेकापायप्रतिषेधकमिति सूत्रार्थः ॥४॥ तथाचा समितिगुप्तयो दर्शयति । तत्प्रथमतः ईयसिमितिमाह । श्लोकः ।

हे भव्य ! इन महाव्रतोंको सिर्वल रखनेके लिए उत्कृष्ट वैराग्यकी पदबीको प्राप्त करके पचचीस भावनाओंका चिन्तन कर ॥२॥

अपनेको निर्विक्रित करनेकाले सत्युक्तेनि हृथी, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और उत्सर्ग नाभीकाली पाँच समितियाँ निर्दिष्ट की हैं ॥३॥

जो वचन, काय और मन इन तीन थोगोंसे उत्पन्न होनेवाली अनेक ग्रकारकी पाप-प्रहृतिको रोकती हैं उनको अथवा इन तीनों थोगोंका जो निरोध करती है वे तीन गुप्तियाँ मानी गयी हैं ॥४॥

जो मुनि लिद्धक्षेत्र, जिनालयीं और जिन प्रतिमाओंकी वरदनाके लिए अथवा गुह, आचार्य एवं आगमसे संयुक्त उपाध्यायकी सेवाके लिए गमन करते हुए दयार्द्र होकर

१. N पञ्चविंशतिम् । २. All others except PLJ परमासाद्य । ३. M सञ्जिकाः । ४. L संयतात्मनाम् ।

५. Y चित्तजातेन । ६. All others except P M N Y रोदनं । ७. P गुप्तित्र्यी । ८. P M L F तत्त्वाचा । ९. S V X R सिद्धानि for चैत्यानि । १०. All others except P चार्यसपोदानम् ।

- ८९१ ) दिवा सूर्यकरैः स्पृष्टै मार्गं लोकातिवाहितम् ।  
दयार्द्रसर्वरक्षार्थं शनैः संशयतो मुनेः ॥६
- ८९२ ) प्राणेव लोकय इत्वेन पुण्ड्राश्रहितेरण्णः ।  
प्रमादरहितस्यास्य समितीर्या प्रकीर्तिता ॥७
- ८९३ ) धूतकामुकक्रव्यादैचोरचावकिसेविता ।  
शङ्कासंकेतपापाढ्या त्याज्या मापा मनीषिभिः ॥८
- ८९४ ) दशदोषविनिर्मुकतां सूत्रोक्तां साधुसंमताम् ।  
गदतोऽस्य मुनेभाषां स्याद्वापासमितिः परा ॥९

८९०-९२ ) सिद्धक्षेत्राणि—त्रिभिः कुलम् । अस्य मुनेरीयसमितिः प्रकोर्तिता कथिता । कि कुर्वतो मुनेः । सिद्धक्षेत्राणि, चैत्यानि जिनबिम्बानि, वन्दितुं व्रजतः अथवा गुर्वीचायंतपोवृद्धान् सेवितुं व्रजतः । इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशस्य मुनेः । दयार्द्रस्य । पुनः कि कुर्वतो मुनेः । अङ्गरक्षार्थं जीवरक्षार्थं मार्गं शनैः संशयतः आश्रयतः । कीदृशं मार्गम् । लोकातिवाहितं लोकपदमदितम् । दिवा दिवसे सूर्यकरैः स्पृष्टम् । इति द्वितीयप्रलोकार्थः । प्राणेव पूर्वमेव । मार्गमालोक्य संशयतो यत्वेन पुण्ड्राश्रहितेकणात् चतुहस्तप्रमाणस्यापितदृष्टेः सकाशात् । प्रमादरहितस्य । हेतो पञ्चमी । इति सूत्रश्रव्यार्थः ॥५-७॥ अथ भाषासमितिमाह ।

८९३ ) धूतकामुक—मनीषिभिः पण्डितैरेतादशी भाषा त्याज्या । कीदृशी । धूतंकामुक-क्रव्यादचौरचावकिसेविता, धूतः कपटी, कामुकः कामो, क्रव्यादः मांसाशी, चौरः प्रसिद्धः, चावको नास्तिकः, एभिः सेविता । पुनः कीदृशी । शङ्का शङ्कारूपा संकेतपापाढ्या अथवा शङ्कायाः सकेतः तस्माज्जातं यत् पार्व तेनाढ्या पूर्णा । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ पुनस्तत्त्वरूपमाह ।

८९४ ) दशदोष—अस्य मुनेभाषासमितिः स्यात् । परा प्रकृष्टा । कीदृशस्य मुनेः । एवं प्राणियोंके रक्षणार्थी दिनमें सूर्यकिरणोंसे स्पृष्ट व जन-समुद्रायके आवागमनसे संयुक्त मार्गका आश्रय लेता है/तथा सावधानीसे जुपैँ प्रमाण मार्गको पहिले ही देख लेता है उस प्रमादरहित मुनिके ईर्यासमिति होती है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि सिद्धक्षेत्र आदिकी वंदना अथवा गुरुसेवा आदिके निमित्तसे गमनमें प्रबृत्त हुआ मुनि प्रमादसे रहित होकर सावधानी-पूर्वक शुगप्रमाण (४ हाथ) मार्गको देखता हुआ जो गमन करता है, इसका नाम ईर्यासमिति है । इस ईर्यासमितिका इराक मुनि अतिशय दयालु होकर प्राणिरक्षामें सदा सत्पर रहता है तथा दिन हो जानेपर जब मार्ग सूर्यकिरणोंसे व्याप्त व प्राणियोंके गमन-गमनसे परिपूर्ण हो जाता है तब ही वह उसपरसे गमन करता है ॥५-७॥

जिस भाषाकी सेवा ( उपयोग ) धूत, कामो, राशस, चोर और चावक ( जीवना-

१. All others except P M N स्फट्ट for स्पृष्टं । २. All others except P L दयार्द्रस्याङ्गरक्षार्थ ।  
३. M N Y यत्वेन गन्तु शमस्य लोकया; All others except P T <sup>१</sup>हितेशिष्ण; T हितेकणात् । ४. N क्रव्यादि, T क्रव्यादा ।

८९५ ) [ ' उल्लं च--'

कर्कशा परुषा कट्टी निष्ठुरा परकोपिनी ।

छेषाङ्गुरा मध्यकुशातिमानिनी भयंकरी ॥९\*१

८९६ ) 'भूतहिसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजेत् ।

हितं मितमसंदिग्धं स्याद्वाषारामितिर्बदेत् ॥९\*२ ]

भाषा गदतो बदतः । कीदृशीं भाषाम् । दशदोषविनिर्मुक्ताम् ॥९॥ दोषार्णा दशत्वमेवाह  
[ उक्तं च ]

८९५-९६ ) कर्कशा—इलोकद्वयं सुगमम् । एतेदीर्षविनिर्मुक्ताम् । पुनः कीदृशीं भाषाम् ।  
सूच्रोक्ताम् । सुगमम् । पुनः कीदृशीम् । साधुसंमतो साधुयोग्याम् । इति सूत्रार्थः ॥९\*१-२॥ अथे-  
वणासमितिमाह ।

स्तित्वबादी ) कियर करते हैं तथा जो शंका, संकेत ( दुराचारी जनका व्यभिचारविषयक  
इशारा ) एवं पापसे परिपूर्ण है उसका बुद्धिमान् मनुष्योंको परित्याग करना चाहिये । मुनि  
ओं दस दोषोंसे रहित और साधुओंसे सम्मत आगमानुकूल भाषाका व्यवहार करता है  
उसका नाम भाषासमिति है ॥ ८-९ ॥

कहा भी है—भाषासमितिका धारक मुनि कर्कशा, परुषा, कट्टी, निष्ठुरा, पर-  
कोपिनी, छेषकरा, मध्यकुशा, अतिमानिनी, भयंकरी और भूतहिसाकरी; इस दस प्रकारकी  
दुष्ट भाषाको छोड़कर हित, मित और सन्देहरहित वचनको बोले ॥ विशेषार्थ—जो भाषा  
( वचन व्यवहार ) सन्तापको उत्पन्न करनेवाली हो वह कर्कशा कहलाती है । जैसे—तू भूर्ख  
है, कोरा बैल है और कुछ वही जानता है आदि । जिसके सुननेपर मर्मको कष्ट पहुँचे वह  
परुषा भाषा कही जाती है । जैसे—तू अनेक दोषोंसे दुष्ट है आदि । जो भाषा बहेगको  
उत्पन्न करती हो उसे कट्टी कहते हैं । जैसे—तू जातिसे निष्ठुर है, पापी है आदि । जो  
भाषा निर्दयतासे परिपूर्ण हो उसे निष्ठुरा समझना चाहिये । जैसे—मैं तुझे मार डालूँगा, तेरा  
शिर धड़से अलग कर दूँगा आदि । जिसको सुनकर दूसरेके हृदयमें कोष उत्पन्न हो सकता  
हो उसे परकोपिनी कहते हैं । जैसे—तेरे तपश्चरणमें क्या बल है, तू निर्लज्ज है आदि ।  
जो भाषा ब्रत, शील व गुण आदिको नष्ट करनेवाली हो वह छेषकरा कही जाती है, अथवा  
जो दूसरेमें अविद्यमान दोषोंको प्रगट करनेवाली हो उसे छेषकरा समझना चाहिये । जो  
हिंदूओंके मध्यभागको भी कुश करती हो ऐसी अविश्वय कठोर भाषा मध्यकुशा कहलाती है ।  
जिस भाषाके द्वारा अपनी महिमाको तथा अन्यकी निन्दाको प्रगट किया जाता है उसका  
नाम अतिमानिनी है । जो भाषा भयको उत्पन्न करनेवाली होती है वह भयंकरी कही जाती  
है । जो भाषा प्राणिहिसामें प्रवृत्त कराती है वह भूतहिसाकरी कहलाती है । यह दस प्रकारकी  
भाषा भाषासमितिको नष्ट करनेवाली है । इसीलिए भाषासमितिका धारक साधु ऐसी किसी

१. P N om. । २. F V Y छेषाङ्गुरा । ३. F कुशा भयंकरीति मानिनी, V भयंकरीतिमानिनी, X कुशा तिम्मा नित्यभयंकरी । ४. P N om. । ५. S R समितिर्मुनेः, T समितिर्बद्ध, Y समिती बद्ध ।

४९७ ) उद्गमोत्पादसंभूतैर्धूमाङ्गारादिकल्पितैः ।

दोषैर्मलैविनिर्मुक्तं विघ्नशङ्खादिवजितम् ॥१० ।

४९८ ) शुद्धं काले पर्देत्तमलुदिष्टमयाचितम् ।

वल्भतोऽनं मुनेज्ञेया एषणासमितिः परा ॥११ ।

४९७-४९८ ) उद्गमोत्पाद—एषणासमितिर्मुनेज्ञेया ज्ञातव्या । यस्याभदत्तामनं न गृह्णते । कीदृशम् । शुद्धम् । अष्टशक्तारपिण्डशुद्धिनिर्मलम् । तथा चोकम् । “उग्रम-उत्पादण-एसर्ण च संयोजणं परमाणं च । हंगालधूमकारण अद्विविदा पिण्डमुद्दी दु ।” उद्गतिस्तप्तव्यते यैरुपाधीर्दत्तिपात्रगतैराहारादिस्ते उद्गमदोषाः । उत्पद्यते निष्पाद्यते वैरमित्रायैः पात्रगतैः आहारादिस्ते उत्पादनदोषाः आहाराधनुष्ठानविशेषाः । अश्यते भुज्यते तेभ्यः परिवेषकेभ्यः तेषामशुद्धयो अशनदोषाः । संयोजयन्ते संयोजनमात्रं वा संयोजनदोषाः । प्रमाणातिरेकः प्रमाणदोषः । अङ्गारमिव चारित्रं करोति सोऽङ्गारदोषः । धूम इव धूमदोषः । कारणं निमित्तं कारणदोषः । एते रष्टमिर्दोषैविनिर्मुक्तं रहितं मलैविनिर्मुक्तम् । पुनः कीदृशम् । विघ्नशङ्खादिवजितम् अन्तरायद्वात्रिशकेन वजितम् । पुनः कीदृशम् । काले भोजनकाले परैः आद्वैदतम् । अनुद्विष्ट उद्देशरहितम् अयाचितमिति सूत्रद्वयार्थः ॥१०-११॥ अथादानसमितिमाह ।

भी भाषाका उपयोग न करके निरन्तर हितकारक व परिमित भाषण करता है । उसके बच्चन सन्देहको दूर करनेवाले होते हैं ॥१०-११॥

जो मुनि भोजनके उद्गम और उत्पादनसे उत्पन्न दोषोंसे, धूम और अंगार आदि (प्रमाण व संयोजन) से कलिपत दोषोंसे तथा मल दोषोंसे हीन और विघ्न (अन्तराय) व शंका आदि (मलदोष) से रहित दूसरों (आवकों) के द्वारा समयपर दिये गये शुद्ध, अनुद्विष्ट एवं अयाचित भोजनको प्रहण करता है उसके उत्कृष्ट एषणासमिति जानना चाहिये । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि दाताके द्वारा योग्य समयपर विधिपूर्वक दिये गये निर्दोष (उद्गमादि दोषोंसे रहित) भोजनको दिनमें एक बार प्रहण करना, इसका नाम एषणासमिति है । इस समिलिका धारक मुनि जिन दोषोंको दूर कर आहारको प्रहण करता है वे छातीस (४६) हैं जो इस प्रकार है—१६ उद्गमदोष, १६ उत्पादनदोष, १० एषणादोष, १ संयोजन, १ प्रमाण, १ अंगार और १ धूम । दाताके जिन मार्गविरोधी क्रियाभेदों (व्यापारविशेषों) के द्वारा भोजन उत्पन्न होता है वे उद्गमदोष कहलाते हैं । ये उद्विष्ट व साधिक आदिके भेदसे सोलह हैं । मुनिके जिन मार्गविरोधी क्रियाभेदोंके द्वारा भोजन उत्पन्न करावा जाता है वे उत्पादनदोष कहे जाते हैं । ये धात्री, दूत व निमित्त आदिके भेदसे दस होते हैं । शीत भोजनके उषण जलादिसे अथवा शीत जलादिके उषण भोजनसे किये जानेवाले संयोगका नाम संयोजनदोष है । प्रमाणसे अधिक आहारके प्रहण करनेपर प्रमाणदोष होता है । गृद्धिके साथ भोजनका प्रहण करना, यह अंगारदोष है । अनिष्ट समझकर

१. All others except P इसअंतर्वर्ती...दिवैस्तव्या । २. All others except P बदलो ज्ञ ।

३. N एषणा ।

- 899 ) शश्यासनाभिधानानि॑ शास्त्रोपकरणानि॒ च ।  
 पूर्व॑ सम्यक् समालोक्य॑ प्रतिलिख्य पुनः पुनः ॥१२
- 900 ) गृहूतो इस्य प्रयत्नेन क्षिपतो वा धरातले ।  
 भवत्यविकला साधोरादानसमितिः स्फुटम् ॥१३
- 901 ) विजन्तुकंधरापृष्ठे मूत्रश्लेष्ममलादिकम् ।  
 क्षिपतो अतिप्रयत्नेन व्युत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥१४
- 902 ) विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषार्तिसूचकान् ।  
 स्वाधीनं कुरुते॑ चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ॥१५

899-900 ) शश्या—जाय आधोरादानसमितिः स्फुटं प्रयत्नं यथा स्थात् तथा भवति । कीदृशस्य । धरातले पृथ्वीतले एतानि वस्तुनि क्षिपतः । वा अथवा । गृहूतः प्रयत्नेन । एतानि कानि । शश्या सनोपष्टमकं काष्ठम् । आठनं काष्ठनिमित्तमेव । अविधानानि सुगमम् । शास्त्रोपकरणानि । च पक्षान्तरसूचकम् । पुनः पुनः प्रतिलिख्य प्रमाजर्थं । पूर्व॑ सम्यक् समालोक्य दृष्ट्वा । गृहूतः वा क्षिपतः अविकला: संपूर्णाः । इति सूत्रार्थः ॥१२-१३॥ अथ व्युत्सर्गसमितिमाह ।

901 ) विजन्तुक—पूर्वोक्तमुनेव्युत्सर्गसमितिर्भवेत् । कि कुर्वतः । विजन्तुकधरापृष्ठे जीवरहित-मूप्रदेवो अतिप्रयत्नेन मूत्रश्लेष्ममलादिकं क्षिपतः । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ चेतोवशीकरणमाह ।

902 ) विहाय—मुनिः चेतः स्वाधीनं कुरुते । कीदृग् चेतः । समत्वेषु प्रतिष्ठितं समतथा स्थापितम् । कि कृत्वा । सर्वसंकल्पान् शुभाशुभव्यवसायान् विहाय त्यक्त्वा । कोद्वान् संकल्पान् । रागद्वेषावलम्बितान् रागद्वेषार्थितान् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ गुप्तप्रस्तावे मनोगुप्तिमाह ।

षृणा प्रदर्शित करते हुए भोजनको ग्रहण करनेका नाम धूमदोष है । इनके अतिरिक्त ये १४ मलदोष भी छोड़ने योग्य हैं—नख, रोम, जन्तु, अस्थि, कण ( गेहूँ आदिका बाहरी अंश ), कुण्ड ( शालि आदिका भीतरी सूक्ष्म अंश ) पीव, चमड़ा, रुधिर, मांस, बीज, फल, कन्द और मूल । इन दोषोंका विशेष स्वरूप मूलाचारके पिण्डशुद्धि अधिकारमें अथवा अनगार वर्मायुतके पिण्डशुद्धिविधानीय नामक पाँचवें अध्यायमें देखना चाहिये ॥१०-११॥

शश्या व आसन नामक उपकरणोंको लक्षा जास्त एवं संयमके उपकरण स्वरूप पीछी व कमण्डलु आदिको पूर्वमें भली-भौंति देखकर और तत्त्वश्चान् वार-वार पीछीसे शोधित करके प्रयत्नपर्वक-साधधानीसे—ग्रहण करनेवाले और पूर्थिवीपर रखनेवाले इस साधुके पूर्ण आदान ( आदाननिष्ठेप ) समिति होती है, यह स्पष्ट है ॥१२-१३॥

जन्तुओंसे रहित पूर्थिवीके ऊपर अतिशय साधधानीके साथ मूत्र, कफ और मल आदि-का परित्याग करनेवाले साधुके व्युत्सर्ग समिति होती है ॥ १४ ॥

१. T°सनोपषाम्यानि, All others except P N°सनोपषाम्यानि । २. N प्रागालोक्य प्रतिलेख्य गृहीयानि पुनः पुनः । ३. All others except P T J समालोक्य । ४. T J विजन्तुके, S विजन्तुकं । ५. L T समितिः स्फुटम् । ६. All others except P द्वेषावलम्बितान् । ७. N कुर्वतः । ८. N T समत्वेषु प्रति॑ ।

- 903 ) सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतो ऽथवा ।  
भवत्यविकला नाम मनोगुणिमीषिणः ॥१६
- 904 ) साधुसंवृतवाग्वृत्तेमौनारूढस्य वा मुनेः ।  
संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुणिः स्थानमहामतेः ॥१७
- 905 ) स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यङ्कं संश्रितस्य वा ।  
परीषहप्रपाते<sup>१</sup> इयि कायगुणिमता मुनेः ॥१८
- 906 ) जनन्यो यमिनामष्टौ रत्नत्रयविशुद्धिदाः ।  
एताभी रक्षितं दैत्यमूर्तिरूपं न लिप्यते ॥१९

903 ) सिद्धान्त—मनोविणो जाततत्त्वस्य मनोगुणिनामि भवति । कोटुशो । अविकला संपूर्णी । कि कुर्वतः मनीषिणः । सिद्धान्तसूत्रविन्यासे जायते शश्वत्विरत्तरं प्रेरयतः । अथवेति अर्थसाकाढः । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ वाग्गुणिमाह ।

904 ) साधुसंवृत्—महामुनेः वाग्गुणिः स्थात् । कैन । संज्ञादिपरिहारेण । कोटुशस्य महामुनेः । साधुसंवृतवाग्वृत्तेयंतिस्वाचारे वाग्वृत्तिर्यस्य सः, तस्याः । वा अथवा । मुनेमौनारूढस्य मौनं कुर्वतः । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ कायगुणिमाह ।

905 ) स्थिरीकृत—मुनेः कायगुणिमता कविता । कोटुशस्य मुनेः । स्थिरीकृतशरीरस्य । पर्यङ्कं पर्यसिनं संश्रितस्य । वाशब्दो विकल्पार्थः । परीषहादिप्रपाते परीषहागमने । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ समितिगुणीनां फलमाह ।

906 ) जनन्यः—अष्टौ पञ्च समितयः, त्रयो गुप्तयः भिलिका अष्टौ । यमिना व्रतिना जनन्यो मातरः समूलाः । एताभी रक्षितं मुनिवृत्तं दोषेन लिप्यते । कोटुशाः । रत्नत्रयाणां सम्बन्धर्थानादि-त्रयाणां विशुद्धिदाः । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ चारित्रमूपसंहरति । मालिनी ।

जो बुद्धिमान साधु राग और द्वेषके सूचक सब संकल्प-विकल्पोंको छोड़कर अथवे मनको स्वाधीन करता हुआ उसे समताभावमें स्थापित करता है अथवा सिद्धान्त शास्त्रकी रचनाकी ओर निरन्तर प्रेरित करता है उसके परिपूर्ण मनोगुणि होती है ॥ १५-१६ ॥

जो मुनि अपने वचन व्यापारपर तियन्त्रण रखता है अथवा जो संक्षा ( संकेत ) आदिका परित्याग करके मौनपर आरूढ होता है—उसको स्वीकार करता है—उस अतिशय बुद्धिमान् मुनिके वचनगुणि रहती है ॥ १७ ॥

जो मुनि परीषहके उपस्थित होनेपर भी शरीरको स्थिर रखता है अथवा पर्यंक आसनका आश्रय लेता है—स्थिरतापूर्वक उसे सहन करता है उसके कायगुणि मानी गयी है ॥ १८ ॥

रत्नत्रयको विशुद्धि प्रदान करनेवाली ये आठ—५ समिति और ३ गुणि मुनियोंकी माताओंके समान हैं । इनके द्वारा रक्षित मुनियोंका समूह शोषोंसे लिप्त नहीं होता है ॥१९॥

१. ] वाग्गुणेः । २. All others except P N महामुनेः । ३. All other except P L F ] पर्यङ्क-संस्थितस्य । ४. Y परीषहप्रतापे । ५. These three verses are numbered in P १, २, ३ ।

- 907 ) इति कतिपयवर्णेश्चिंतं चित्ररूपं  
चरणमनष्मुच्चैश्चेतसां शुद्धिषाम ।  
अविदितपरमार्थं न साध्यं विषयं-  
स्तदिदमनुसरन्तु ज्ञानिनः शान्तदोषाः ॥२०
- 908 ) सम्यगेतत्समासाद्य त्रयं त्रिभुवनाचित्तम् ।  
द्रव्यक्षेत्रादिसामग्र्या भव्यः सप्तदि मुच्यते ॥२१
- 909 ) एतत्समयसर्वस्वं मुक्तेश्चैतन्तिवन्धनम् ।  
हितमेतद्विजीवानामेतदेवाग्रिमं पदम् ॥२२
- 910 ) ये याता यान्ति यास्यन्ति यमिनः पदमव्ययम् ।  
समाराघ्यैष ते नूनं रत्नत्रयमखण्डितम् ॥२३

907 ) इति कतिपय—हे ज्ञानिनः, तदिदं चरणं चारित्रम् । अनुसरन्तु । कीदृशाः । शान्ताः । कीदृशं चरणम् । इति अमुला प्रकारेण । कतिपयवर्णरक्षणैः चचित्तम् । पुनः कीदृशम् । चित्ररूपं नामाप्रकारम् । पुनः कीदृशम् । अनवं सफलम् । पुनः कीदृशम् । उच्चैश्चेतसाम् उब्रतचित्तानां शुद्धिषाम । पुनः कीदृशम् । विषयमिथ्यात्विभिर्यज्ञारित्रं न साध्यम् । कीदृशै-विषयीः । अविदितपरमार्थः । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ सम्यगदर्शनत्रिकस्य कलमाह ।

908 ) सम्यगेतत्—तत् सम्यक् त्रयं सम्यगदर्शनादित्रिकं समासाद्य प्राप्य भव्यः सप्तदि शीघ्रं मुच्यते मुक्तो भवति । कया । द्रव्यक्षेत्रादिसामग्र्या । सुगमम् । कीदृशं तत्त्रयम् । सम्यवत्रयं त्रिभुवनाचित्तम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुनः सम्यकत्रयफलमाह ।

909 ) एतत्समय—एतद् रत्नत्रयं समयसर्वस्वं सिद्धान्तपरमार्थं एतन्मुक्तेनिवन्धनं कारणम् । पक्षान्तरे । एतद् हि निश्चितं हितं हितकारि । एतद् अग्रिमं पदं प्रवानं स्थानमिति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ श्रेष्ठकाल्ये उपि रत्नत्रयस्य मुक्तिकारणत्वमाह ।

910 ) ये याताः—अव्ययं पदं शाश्वतस्थानं, मुक्तिमिति पर्यायः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ रत्नत्रयाभावे मुक्तेरभावमाह ।

इस प्रकार जिसका यहाँ कुछ बणोंके द्वारा—किसेही इलोकीमें—बर्णन किया गया है, जिसका अनेक प्रकारका स्वरूप आइचर्यजनक है, जो पापसे रहित होकर उन्नत मनवाले संवर्मी जनोंकी शुद्धिका कारण है, तथा जिसे विरह आचरण करनेवाले ( विषयीं ) वस्तु-स्वरूपके वथार्थ छानसे रहित होनेके कारण सिद्ध नहीं कर सकते हैं; ज्ञानी जन दोषोंसे रहित होकर उस इस निर्यत चारित्रका अनुसरण करें—वसे चारण करें ॥ २० ॥

तीनों लोकोंसे पूजित इस सभीचीन रत्नत्रयकी द्रव्यक्षेत्रादिरूप सामग्रीके अनुसार प्राप्त करके भव्य जीव शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

यह रत्नत्रय आगम या आत्माका सर्वस्व ( सर्व धन ) है, यह मुक्तिका कारण है, यह जिइचयसे प्राणियोंका कल्याण करनेवाला है, तथा यही उनका सर्वोत्कृष्ट पद है ॥ २२ ॥

जो मुनि अविनश्वर पद ( भोक्ता ) को प्राप्त कर चुके हैं, वर्तमानमें प्राप्त कर रहे हैं,

911 ) साक्षादिदमनासाद्य जन्मकोटिशतैरपि ।

दृश्यते न हि केलापि मुक्तेवंदनं पङ्कजम् ॥२४॥ अथवा—

912 ) दृग्बोधचरणान्याहुः स्वमेवाध्यात्मवेदिनः ।

यतस्तन्मय एवासी शरीरी वस्तुतः स्थितः ॥२५

913 ) निर्णते अस्मिन् स्वयं साक्षात्मापरः कोऽपि मृग्यते ।

यतो रत्नत्रयस्यैषं प्रसूतेवीजमग्रिमम् ॥२६

914 ) जानाति यः स्वयं स्वस्मिन् स्वस्वरूपं गतभ्रमः ।

तदेव तस्य विज्ञानं तद्वृत्तं तस्य दर्शनम् ॥२७

911 ) साक्षाद्—इदं रत्नत्रयं साक्षादिदमनासाद्याप्राप्य केलापि मुक्तिश्रीमुखपङ्कजं मुखकमलं न दृश्यते । हि निश्चितम् । जन्मकोटिशतैरपि इति सूक्ष्मार्थः ॥२४॥ अथवा पक्षान्तरे ।

912 ) दृग्बोध—अथात्मवेदिनः दृग्बोधचरणान्याहुः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रः एव स्वयमेवाहुः कथयामासुः । यतः कारणात् असी शरीरी वस्तुतः परमार्थतस्तन्मय एवासी । इति सूक्ष्मार्थः ॥२५॥ अथ रत्नत्रये सम्यग्वधारिते स्वयमेवात्मा वर्तते इत्याह ।

913 ) निर्णते—अस्मिन् रत्नत्रये निर्णते । स्वयमात्मना साक्षात् प्रकारेण नापरः कोऽपि मृग्यते । यतः कारणात् एष आत्मा रत्नत्रयस्य प्रसूतेरग्रिमं प्रधानं पदं स्थानम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥२६॥ अथात्मनि जाते रत्नत्रयं विज्ञानम् इत्याह ।

914 ) जानाति—यः पुमान् रुद्धस्वरूपम् आत्मस्वरूपं स्वयमात्मना जानाति । कीदृशो यः । गतभ्रमः नष्टज्ञानः । तस्य पुंसः तदेव विज्ञानम् । च पुलः । तद्वृत्तमात्मारः तद्वृत्तं सम्यक्त्वमिति सूक्ष्मार्थः ॥२७॥ अथ ब्रह्मप्रोक्षयोः सर्वस्वं स्वज्ञानमेवाह ।

वथा भवित्यमें प्राप्त करेंगे उन सबने निश्चयसे उस पूर्ण रत्नत्रयकी आराधना करके उसे प्राप्त किया है, प्राप्त करते हैं, और आगे प्राप्त करेंगे ॥ २३ ॥

इस रत्नत्रयको न प्राप्त करके कोई भी सत्युरुप सैकड़ों जन्मोंमें भी मुक्तिरूप लक्ष्मीके मुखकमलको नहीं देख सकता है—उसे नहीं पा सकता है ॥ २४ ॥

अथवा—आत्मस्वरूपके ज्ञाता गणधरादि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) को आत्मा ही बतलाते हैं । इसका कारण यह है कि यह आत्मा शरीराश्चित होकर उस रत्नत्रयस्वरूपसे ही वस्तुतः—निश्चय नयकी अपेक्षा—अवस्थित है ॥ २५ ॥

प्रत्यक्षमें स्वयं ही उस रत्नत्रयस्वरूप आत्माका निश्चय हो जानेपर फिर अन्य किसी-की भी खोज नहीं की जाती है । कारण यह कि रत्नत्रयकी उत्पत्तिका मुख्य स्थान यह आत्मा ही है ॥ २६ ॥

जीव भ्रमको छोड़कर जो स्वयं अपनेमें अपने आत्मस्वरूपको जानता है वही उसका सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यक्चारित्र है, और वही सम्यग्दर्शन भी है ॥ २७ ॥

१. All others except P मुक्तिश्रीमुख । २. १२ N अथवा—after this N adds अत्रात्मक्षिणी वदन्ति ( ? ) । ३. J स्वयमेव । ४. J अथस्यैव । ५. All others except P प्रसूतेरग्रिमं वदम् ।

915 ) स्वज्ञानादेव मुक्तिः स्वाज्ञमवन्धस्ततो अन्यथा ।

एतदेव जिनोद्दिष्टं सर्वस्वं बन्धमोक्षयोः ॥२८

916 ) आत्मैव मम विज्ञाने दृग्भूतं चेति निश्चयः ।

मत्तः सर्वे इयमी भावा बाह्याः संयोगलक्षणाः ॥२९

917 ) अयमात्मैव सिद्धात्मा स्वशक्त्यपेक्षया स्वयम् ।

अवक्त्रीभवति विज्ञानवह्निात्यन्तसाधितः ॥३०

918 ) एतदेव परं तत्त्वं ज्ञानमेतद्वि शाश्वतम् ।

अतोऽन्योऽयः श्रुतस्कन्धा स तदर्थं प्रपञ्चितः ॥३१

915 ) स्वज्ञानादेव—बन्धमोक्षयोः सर्वस्वं जिनोद्दिष्टं जिनैः कथितम् । एतत्किम् ( स्वज्ञानादेवात्मज्ञानादेव भुक्तिः स्यात् । तत अन्यथा आत्मज्ञानाभावात् । जन्मबन्धः संसारपर्यटनं स्यादिति सूत्रार्थः ॥२८॥) आत्मनः सकाशात् सर्वे भावा इत्याहु ।

916 ) आत्मैव—आत्मैव मम विज्ञानम् । च पुनः । दृश्यते दर्शनम् । वृत्तपात्राः इति निश्चयः । अमी सर्वे इयि भावा मत्तो बाह्याः संयोगलक्षणाः स्पृहिति सूत्रार्थः ॥२९॥) अथात्मनः सिद्धत्वमाहु ।

917 ) अयमात्मैव—अयम् आत्मैव सिद्धात्मा स्वयं स्वशक्त्यपेक्षया अवक्त्रीभवति प्रगटीभवति । कीदृशः आत्मा । "सदृष्ट्यानवह्निना अत्यन्तसाधितः । इति सूत्रार्थः ॥३०॥) अथात्मनः स्वरूपवर्णनमाहु ।

918 ) एतदेव परं—एतदेवात्मस्वरूपमेव परं प्रकृष्टं तत्त्वं परमार्थम् । हि निश्चितम् । एतदेव शाश्वतं ज्ञानम् । अत आत्मस्वरूपात् अन्योऽयः श्रुतस्कन्धः स श्रुतस्कन्धः तदर्थमात्मस्वरूपार्थं प्रपञ्चितः विस्तारितः । इति सूत्रार्थः ॥३१॥) अथात्मस्वरूपवतो रलत्रयं भवतीत्याहु ।

अपने इस आत्मस्वरूपके ज्ञानसे ही मुक्ति प्राप्त होती है और इसके विपरीत उस आत्मस्वरूपको न जाननेसे जन्मका सम्बन्ध अना रहता है—जन्म-मरणस्वरूप संसारकी परम्परा चालू रहती है ॥ २८ ॥

मेरी आत्मा ही सम्यग्ज्ञान, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है; यह मुझे निश्चय ही खुका । मुझसे संयोग रखनेवाले ये सब ही शास्त्र पदार्थ वस्तुतः मुझसे भिन्न हैं ॥ २९ ॥

अपनी शक्तिकी अपेक्षा यह आत्मा ही स्वयंसिद्ध आत्मा है । उसे विशिष्ट ज्ञान (विवेकज्ञान) स्वयं अग्निके द्वारा अतिशय सिद्ध करनेपर वह प्रगटमें सिद्ध हो जाती है ॥३०॥

उपर्युक्त निश्चय ही उत्कृष्ट तत्त्व है और वही शाश्वत ज्ञान है, इसके अतिरिक्त अन्य जो श्रुतस्कन्ध—आगमसमूह अथवा आगमरूप शूक्रका स्कन्ध ( तना )—है उसका विस्तार इस उत्कृष्ट तत्त्वके ज्ञाननेके लिये ही किया गया है ॥ ३१ ॥

१. All others except P विज्ञान । २. N Y ज्ञेयाः सर्वे । ३. All others except P शक्त्यापेक्षया...सदृष्ट्यानवह्निना ।

919 ) अपास्य कल्पनाजार्लं चिदानन्दमये स्वरूपे ।  
यः स्वरूपे लयं प्राप्तः स स्याद्रत्नत्रयास्यदम् ॥३२

920 ) सुप्तेष्वेषु जागति पश्यत्यात्मानात्मनि ।  
वीतविश्वविकल्पो यः स स्वदर्शी बुधैर्मतः ॥३३

921 ) [ निःशेषक्लेशनिर्मुकमपूर्तं परमाक्षरम् ।  
निष्प्रपञ्चं व्यतीताक्षं पश्य स्वं स्वात्मनि स्थितम् ॥३३\*१

922 ) “नित्यानन्दमयं शुद्धं चित्स्वरूपं” सनातनम् ।  
पश्यात्मनि परं ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम् ॥३३\*२ ]

919 ) अपास्य—यः चिदानन्दमये स्वरूपे स्वरूपात्मना लयं प्राप्तः व्याजं प्राप्तः । किं कृत्वा । कल्पनाजार्लं दुरव्यवसायशमूहम् । अपास्य द्वूरीकृत्य । स पुरुषः रत्नत्रयास्पदं सम्यगदर्शनादिशिकगृहम् इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथात्मनः स्वदर्शित्वमाह ।

920 ) सुप्तेष्वेषु इति—यः अक्षेषु इन्द्रियेषु सुप्तेषु जागति । आत्मानम् आत्मनि स्वस्मिन् पश्यति । कीदृशो यः । वीतविश्वविकल्पः गतजगद्विकल्पः । स पुमान् बुधैः रुदर्शी मतः कथितः । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ स्वस्मिन् स्वं पश्येत्याद्युपदेशमाह ।

921 ) निःशेष—रे भव्य, स्वमात्मानं स्वात्मनि स्थितं पश्य । कीदृशं स्वम् । निःशेष-क्लेशनिर्मुकतं समस्तक्लेशरहितम् । पुनः कीदृशम् । अपूर्तम् । पुनः कीदृशम् । परमाक्षरम् । पुनः कीदृशम् । निःप्रपञ्चं प्रपञ्चरहितम् । पुनः कीदृशम् । व्यतीताक्षं नष्टेन्द्रियविषयम् । इति सूत्रार्थः ॥३३\*१॥ पुनः परमात्मस्वरूपमाह ।

922 ) नित्यानन्द—रे भव्य, आत्मनि परंज्योतिः पश्य । कीदृशो ज्योतिः । नित्यानन्दमयम् सुगमम् । पुनः कीदृशम् । अनव्ययं व्यवरहितम् । इति सूत्रार्थः ॥३३\*२॥ अथ पुनर्ज्ञनस्वरूपमाह ।

जो योगी सब द्वी विकल्पसमूहको भट्ट करके स्वर्यं उस चिदानन्दस्वरूपं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता वह रत्नत्रयका स्थान बन जाता है ॥३२॥

जो साधु समस्त विकल्पोंसे रहित होकर इन्द्रियोंके सो जानेपर—अपने-अपने विषयसे विमुक्त हो जानेपर स्वयं जागता है—आत्मस्वरूपमें लीन होता है—और अपनी आत्मामें ही आत्माको देखता है उसे पण्डितजन आत्मदर्शी समझते हैं ॥३३॥

हे भव्य ! तू अपनी आत्मामें स्थित अपने आपको समस्त क्लेशोंसे रहित, अपूर्त, अद्वृत्त, अविनश्वर, छल-कपटसे रहित और इन्द्रियोंसे भी रहित देख—अनुभव कर ॥३३\*१॥

हे भव्य ! तू अपनी आत्मामें उस उक्तषु ज्योतिको देख जो अविनश्वर आनन्दस्वरूप, शुद्ध, विश्वरूप—समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली (व्यापक), नित्य, अनुपम और विनाशसे रहित है ॥३३\*२॥

१.) स्वप्नेष्वै । २. M S V X Y विकल्पोऽस्तीति । ३. P X om. । ४. P X om. । ५. N I शुद्धं विश्वरूपं । ६. N ज्योतिरमूर्त्यमनव्ययं, Y रुदितीयमनाममम् ।

923 ) यस्यां निशि जगत्सुरं तस्यां जागति यः स्वेयम् ।  
निष्पत्रं कल्पनातीतं स वेत्यात्मानमात्मनि ॥३४

924 ) [ ३४ या निशा सर्वभूतेषु तस्यां जागति संयमी ।  
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥३४\*१ ]

925 ) यस्य हेयं न चादेयं निःशेषं भुवनश्रयम् ।  
उन्मीलयति विज्ञानं तस्य स्वान्यप्रकाशकम् ॥३५

१२३ ) यस्यां निशि—स आत्मानम् आत्मनि वेत्ति । स इति कः । यस्यां निशि रात्री जगत् मुष्टं किमपि न वेत्ति स्वशरीरादिकम्, तस्यां रात्री संयमो जागति तदवस्थया लिष्टात्मर्थः । कीदृशमात्मानम् । निष्पत्रम् । पुनः कीदृशम् । कल्पनातीतं कल्पनारहितम् । इति सूत्रार्थः ॥३४॥। अथ पुनरध्यात्मस्वरूपमाह ।

१२४ ) या निशा—सर्वभूतेषु प्राणिषु या निशा रात्रिः निद्राहेतुका तस्यां यः पुमान् स्वधमात्मना जागति । स्वापादरूपायां जागर्त्तिभावः । यस्यां रात्री मोहरूपायां भूतानि जाग्रति, इदं वपुर्मम्, इमे मे स्वजनाः, इत्याद्यपेक्षया जाग्रति । पश्यतो दृष्टुकामस्य मुनेनिशा अज्ञानात्मिका तदवस्थां मुनिः न वेत्तोति सूत्रार्थः ॥३४\*१॥। अथ स्वान्यप्रकाशकं ज्ञानमाह ।

१२५ ) यस्य हेय—यस्य योगिनः निःशेषं भुवनश्रयं सब जगत्त्रये हेयं त्यज्यम् । च पुनः । नादेयं न ग्राह्यम् । तस्य मुनेः स्वान्यप्रकाशकं स्वपरदोपकविज्ञानम् उन्मोलयति चकास्ते इति सूत्रार्थः ॥३५॥। अथ परमेष्ठिद्याने जन्माभावमाह । शादूर्ल० ।

जिस रात्रमें—अज्ञानरूप अन्यकारमें—समस्त संसार सोता है उसमें जो योगी स्वयं जागता है—आत्मस्वरूपके अन्युक्त होकर प्रबुद्ध रहता है—वह अपनेमें अवस्थित सिद्ध और सब कल्पनाओंसे रहित आत्माको जानता है ॥ ३४ ॥

सब प्राणियोंके विषयमें जो रात्रि है—स्वपरभेद सम्बन्धी अज्ञान है—उसमें योगी जागता है, प्रबुद्ध रहता है । तथा अन्य प्राणी जिस रातमें जागते हैं—जिस विषयानुरागमें निरन्तर प्रतिबुद्ध रहते हैं—वह आत्मस्वरूपके देखनेवाले मुनिके लिये रात्रि है—वह उसमें सदा अप्रतिबुद्ध रहता है । तात्पर्य यह कि आत्मावबाधका न होना रात्रिके समान तथा उसका होना दिनके समान है ॥ ३४\*१ ॥

( जिसके लिये सब ही तीनों लोक न हेय हैं और न उपादेय हैं, अर्थात् जो तीनों लोकोंके किसी पदार्थको अनिष्ट मानकर छोड़नेकी इच्छा नहीं करता तथा किसीको भी इष्ट मानकर प्रहण करनेकी इच्छा नहीं करता, किन्तु रागद्वेषसे रहित होता है; उसके ही आत्मा और पर पदार्थोंका प्रकाशक विशिष्ट ज्ञान प्रगट होता है ॥ ३५ ॥ )

१. T Y read verses ३४\*१-२ after this verse । २. M S T F V J जागति संयमी ।  
३. P om. । ४. T J जागति यः स्वयं । ५. All others except P J चा for चा ।

926 ) दृश्यन्ते भुवि कि न ते कुतथिवौः संख्याव्यतीताश्चिरं  
ये लीला परमेष्ठिनः प्रतिदिनं तन्वन्ति वाग्भिः परम् ।  
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुदाशि पुन—  
ये जन्मअमसुत्सृजन्ति सहसा धन्यास्तु ते दुर्लभाः ॥३६

927 ) <sup>३</sup> दुःप्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया  
दृश्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोदयता देहिनः ।  
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैनिर्बिप्य जन्मज्वरं  
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्रा यदि ॥३७

926 ) दृश्यन्ते—भुवि पुष्टिवौ ते मनुष्या अल्पमतयः संख्याव्यतीता असंख्याताश्चिरं चिरकालं कि न दृश्यन्ते, अपि तु दृश्यन्ते एव । ये पुर्मासः परमेष्ठिनी लीला निजनिजेवाभिः परं यथा रूपात् तन्वन्ति विस्तारयन्ति । तु पुनः । से वन्या दुर्लभाः नित्यपरमानन्दाम्बुदाशि नित्यपरम-हर्षसमुद्रं तं साक्षादनुभूय । पुनः सहसा शोध्रं जन्मअमसुत्सृजन्ति खञ्जन्ति इति सूत्रार्थः ॥३६॥  
{ मुमुक्षूणां दुर्लभत्वमाह ।

927 ) दुःप्रज्ञाबल—दुःप्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचयाः दुष्टबुद्धेः प्रभावेण यैः वस्तुस्वरूपं यथार्थज्ञानं नाशितं ते । जन्मज्वरं जन्मदुःखम् । निर्बिप्य विनाशय । कैः । आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैः आनन्द-रूपामृतसमुद्रविन्दुसमूहैः इत्यर्थः ॥३७॥ ] कि च चारित्रस्य प्रतिबन्धकक्षायस्वरूपमाह ।

जो प्रतिदिन केवल बचनों ( व्याख्यानों ) के द्वारा ही परमात्माका लीलाका विस्तार करते हैं वे बुद्धिशाली जीव व्या पृथिवीपर चिरकाल तक असंख्यात नहीं दिखते हैं ? अबइय दिखते हैं । परन्तु जो शाश्वतिक एवं उत्कृष्ट आनन्दके समुद्रस्वरूप उस परमात्माका स्वर्णं प्रत्यक्षमें अनुभव करके संसारपरिभ्रमणका परित्याग करते हैं—भोक्षमार्गमें प्रवृत्त होते हैं वे ही प्रशंसनीय हैं और वे अतिशय दुर्लभ हैं । तात्पर्य यह कि अपनी बुद्धिकी तीव्रतासे परमात्माका रोचक ढंगसे व्याख्यान करनेवाले तो बहुत हैं, परन्तु उसका स्वर्ण अनुभव करके उसी स्वरूपकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले बहुत थोड़े हैं । परन्तु प्रशंसाके पात्र वस्तुतः वे ही हैं ॥ ३६ ॥

जिन्होंने दुष्ट बुद्धिके प्रभावसे वस्तुसमूहके यथार्थ स्वरूपको नष्ट कर दिया है—अर्थात् जो दुष्ट बुद्धिसे वस्तुस्वरूपका अन्यथा व्याख्यान करते हैं, जिनका हृदय विवेकज्ञानसे रहित है, तथा जो अपने-अपने स्वार्थके सिद्ध करनेमें सदा प्रयत्नशील रहते हैं; ऐसे प्राणी सो प्रत्येक धर्मे देखे जाते हैं—वे बहुत अधिक हैं । परन्तु जो आनन्दरूप असृतसमुद्रके जलविन्दु समूहोंके द्वारा संसाररूप उवर ( ताप ) को ज्ञान करके मुक्तिरूप उद्धमीके मुँहके देखनेमें उत्तम हो रहे हैं वे यदि हैं तो वो तीन ही सम्भव हैं—अधिक सम्भव नहीं हैं ॥ ३७ ॥

१. All others except P ते अल्पमतयः....<sup>१</sup>लिनो निजनिजेतन्वन्ति । २. T R ends here प्रकरण ।

३. Only in P ।

९२८ ) सत्संयममहाराम् यमप्रशमजीवितम् ।

देहिनां निर्दहत्येव क्रोधाद्यग्निःै समुत्थितः ॥३८

९२९ ) दृग्बोधादिगुणानर्थरत्नप्रचयसंचितम् ।

भाण्डागारं दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥३९

९३० ) संयमोत्तमपीयूषं सर्वाभिमतसिद्धिदम् ।

कषायविषसेको इयं निःसारीकुरुते क्षणात् ॥४००

९३१ ) तपःश्रुतयमाधारं वृत्तविज्ञानवधितम् ।

भस्मीभवति रोषेण पुंसा धर्मात्मकं वपुः ॥४१

९२८ ) सत्संयम—शेहिनां प्राणिनां क्रोधाद्यग्निः यमप्रशमजीवितं निर्दहत्येव उवालयति । समुत्थितः उत्पन्नः । सत्संयममहाराम् सर्ववारित्रमहावनम् इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ पुनः क्रोधस्वरूपमाह ।

९२९ ) दृग्बोधादि—दृग्बोधादिगुणानर्थरत्नप्रचयसंचितं भाण्डागारं सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानादिगुणमहार्थरत्नसमूहमृतं दहत्येव । कः । क्रोधवह्निः समुत्थितः । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ पुनः कषायस्वरूपमाह ।

९३० ) संयमोत्तम—अयं कषायविषसेकः क्षणात् संयमोत्तमपीयूषं चारित्रोत्तमामृतं निःसारीकुरुते । कोदूशं संयमोत्तमपीयूषम् । सर्वाभिमतसिद्धिदं सर्ववाचित्तसिद्धिदातारम् । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ क्रोधस्य धर्माण्यकारणमाह ।

९३१ ) तपःश्रुत—पुंसां पुरुषाणां धर्मात्मकं वपुः धर्मरूपं शरीरं रोषेण भस्मीभवति । कोदूशं वपुः । तपःश्रुतयमाधारम् । मुगमम् । पुनः कोदूशम् । वृत्तविज्ञानवधितं चारित्रविज्ञानवृद्धिनीतम् । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ पुनर्धर्मभावजनकतां क्रोधस्य दर्शयति ।

क्रोधादि कषायरूप अग्निं उत्पन्नं होकर प्राणियोंके यम ( महाब्रत ) और प्रशमरूप प्राणोंसे संयुक्त सभीचीन संयमरूप उद्यानको जलाती ही है । तात्पर्य यह कि कषाय के रहने-पर प्राणीके संयम नहीं रह सकता है ॥ ३८ ॥

क्रोधरूप अग्नि आविर्भूत होकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आदि गुणोरूप अमूल्य रत्नोंके समूहसे संचित भण्डार ( खजाना ) को निहत्यसे ही जला डालती है ॥ ३९ ॥

यह कषायरूप विषका सिंचन समस्त प्राणियोंके अभीष्टको सिद्ध करनेवाले संयमरूप उत्तम असूतर ही क्षणभरमें ही व्यर्थ कर देता है । तात्पर्य यह कि कषायके साथ धारण किया गया संयम प्राणीके हितको कभी सिद्ध नहीं कर सकता है ॥ ४० ॥<sup>१०</sup>

तद्, शास्त्रज्ञान और संदर्भका आधारभूत जो पुरुषोंका धर्ममय शरीर चारित्र एवं छानसे छुट्टिको प्राप्त हुआ है उसे क्रोध भस्म कर डालता है ॥ ४१ ॥

१. L कि च— । २. M L S V J Y R क्रोधवह्निः, X क्रोधाद्यग्निः । ३. All others except P गुणानर्थः । ४. Y interchanges verses No. 40-41 ।

932 ) अर्थं समुत्थितः क्रोधो धर्मसारं सुरक्षितम् ।

निर्दहत्येव निःशङ्क<sup>१</sup> शुष्कारण्यमिवानलः ॥४२॥

933 ) पूर्वमात्मानमेवासौ क्रोधान्धो दहति ध्रुवम् ।

पथादन्यान् न वा लोको विवेकविकलाशयः ॥४३॥

934 ) कुर्वन्ति यतयोः इप्यत्र क्रुद्धास्तत्कर्म निन्दितम् ।

हत्वा लोकद्वयं येन विशन्ति धरणीतलम् ॥४४॥

935 ) क्रोधाद् द्वीपायनेनापि कृतं कर्मातिगहितम् ।

दग्धा द्वारवती<sup>२</sup> नाम पूः स्वर्गनगरीनिभा ॥४५॥

932 ) अर्थं समुत्थितः—अर्थं क्रोधः समुत्थितः उत्थाः धर्मसारं धर्मपरमार्थं निर्दहत्येव । कीदृशम् । सुरक्षितम् । कीदृशाः । निःशङ्कः । शुष्कारण्यं शुष्ककाष्ठवनम् । अनल इव, यथा अनलो अग्निः शुष्कारण्यं निर्दहत्येव । इति सूत्रार्थः । ४२॥ अथ क्रोधवतः स्वान्यधात्मकत्वमाह ।

933 ) पूर्वमात्मानम्—असौ क्रोधान्धः । ध्रुवं निश्चितम् । पूर्वं प्रागेवात्मानं दहति । पश्चात् अन्यान् । वा अथवा । लोकः क्रोधान्धः न दहति । अष्टि तु दहत्येव । कीदृशो लोकः । विवेकविकलाशयः विवेकेन शून्यचित्तः । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ मुनयो इपि क्रोधवशात् कुत्सितं कर्म कुर्वन्तीर्थ्याह ।

934 ) कुर्वन्ति—यसयोः इपि अत्र अगाति क्रुद्धाः सन्तः सत्कर्म निन्दितं निन्दास्थदे कुर्वन्ति । येन कर्मणा लोकद्वयम् इहपरलोकद्वयं हत्वा धरणीतलं विशन्ति प्रविशन्तोति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ क्रोधकर्त्तरं दृष्टान्तेनाह ।

935 ) क्रोधात्—पूः पुरी । स्वर्गनगरीसदृशा । [ द्वीपायनेन अतिगहितमतिनिन्दितं कर्म कृत्या दग्धा ] । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पूनः क्रोधस्य स्वरूपमाह ।

जिस प्रकार अग्नि सूखे बनको निश्चित ही भर्म कर देती है उसी प्रकार उत्थन्न हुआ यह क्रोध अविशय सुरक्षित धर्मरूप धनको नियमसे भर्म कर देता है ॥ ४२ ॥ ०

क्रोधमें अन्धा हुआ प्राणी विवेकसे रहित होकर पूर्वमें निश्चयसे अपने आपको ही जलाता है—स्वयं सञ्चात् वह अन्य प्राणियोंको जलाता है और कदाचित् नहीं भी जलाता है ॥ ४३ ॥

अन्य मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, किन्तु मुनिजन भी क्रोधको प्राप्त होकर ऐसे निन्दित कार्यको करते हैं कि जिसके आश्रयसे वे अपने दोनों लोकोंको नष्ट करके पूर्थिवी-तलमें प्रविष्ट होते हैं—नरकमें नारकी उत्थन्न होते हैं ॥ ४४ ॥

क्रोधके वशीभूत होकर द्वीपायन मुनिने भी स्वर्गपुरीके सदृश द्वारिकापुरीको जलाकर अविशय निन्दित कार्य किया है ( देखिए, ह. पु. ६१, १७-१० ) ॥ ४५ ॥

१. L T F V निःशङ्कः । २. All others except P N T <sup>३</sup>निन्दित । ३. All others except P N T द्वाराकृती नाम ।

936 ) लोकद्वयविनाशाय पापाय नरकाय च ।

स्वपरस्यापकाराय क्रोधः शंत्रुः शरीरिणाम् ॥४६

937 ) अनादिप्रभवो वैरीं कषायविषमग्रहः ।

स एवानन्तदुर्वारिदुःखसंपादनक्षमः ॥४७

938 ) तस्मात्प्रशममालम्ब्य क्रोधवैरी निवार्यताम् ।

शमासूतैःमहामोघेरवगाहृथ सेव्यताम् ॥४८

939 ) क्रोधवद्धेः क्षमैकेऽप्रशान्तौ जलवाहिनी ।

उदामसंयमारामवृतिवृत्यन्तनिर्भरा ॥४९

936 ) लोकद्वय—शरीरणां क्रोधशंत्रुः । लोकद्वयविनाशाय इहपरलोकनाशाय । चकारः सर्वत्र योज्यः । पापाय नरकाय रीरवादिनरकाय । स्वपरस्यापकाराथेति सूक्ष्मार्थः ॥४६॥ अथ कषायस्य दुःखदायित्वमाह ।

937 ) अनादि—कषायविषमग्रहः कषायदुष्टकदायहः अनादिकालसंभूतः । सुगमम् । स एव विषमग्रहः अनन्तदुर्वारिदुःखसंपादनक्षमः अनन्तदुर्वारिदुःखकरणसमर्थः । इति सूक्ष्मार्थः ॥४७॥ अथ क्रोधनिग्रहमाह ।

938 ) तस्मात्प्रशमम्—तस्मात् कारणात् प्रशमम् आलम्ब्याश्रित्य क्रोधवैरी निवार्यताम् । च पुनः । जिनागममहामोघेर्जिनप्रणीतागममहासमुद्दस्यावगाहः सेव्यताम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥४८॥ अथ क्रोधोपशमाय क्षान्तिः कर्तव्येत्याह ।

939 ) क्रोधवद्धेः—द्वयम् एका शक्ति सर्वां दुष्टवाक्यसहस्रं क्षमा । क्रोधवद्धेः प्रशान्त्ये प्रशायाय जलवाहिनी जलप्रवाहिका । वा अथवा । क्षमा उदामसंयमारामवृत्तिः उत्तमचारित्रवनवृत्तिः अत्यन्तनिर्भरा अत्यन्तग्रहता । इति सूक्ष्मार्थः ॥४९॥ अथ व्रतिनां क्रोधजयनमाह ।

प्राणियोंका बास्तविक शाश्वत यह क्रोध ही है, क्योंकि वह उसके दोनों लोकोंके नाश, पापसंचय, नरकप्राप्ति और स्व-परके अपकार ( अहित ) का कारण है ॥ ४६ ॥

अनादिकालसे उत्पन्न हुआ वह कषायरूप भयानक विशाल शंत्रुके समान अनन्त और दुर्निवार दुखके उत्पन्न करनेमें समर्थ है ॥ ४७ ॥

इस कारण उत्कृष्ट शान्तिका आश्रय लेकर उस क्रोधरूप शंत्रुका निराकरण करते हुए शमभावरूप विशाल अमृतके समुद्रका अवग्रहन करना चाहिए ॥ ४८ ॥

क्रोधरूप अविनको शान्त करनेके लिए यह क्षमा अनुपम नदीके समान है तथा वह उत्कृष्ट संयमरूप उद्यानकी अतिशय दृढ़ दृति ( कैटी आदिसे निर्मित खेतकी बाढ़ ) है ॥ ४९ ॥

१. N L S T F V क्रोधशंत्रुः । २. All others except P अनादिकालसंभूतः । ३. All others except P जिनागममहा० । ४. N क्षमैकेव । ५. L F V ] प्रशान्त्ये ।

940 ) जयन्ति यमिनः क्रोधं लोकद्वयविराधकम् ।

तन्निमित्ते ऽपि संप्राप्ते भावयन् भावनामिमाम् ॥५०॥ तद्यथा

941 ) यथार्थं कुरुते को ऽपि मां स्वस्यं कर्मपीडितम् ।

चिकित्सत्वा स्फुटं दोषं स एवाकृत्रिमः सुहृत् ॥५१॥

942 ) हस्ता स्वपुण्यसंतानं मदोषं यो निकृत्तति ।

तस्मै यदिह रुज्यामि मदन्यः को ऽधमस्तदा ॥५२॥

943 ) आकुष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृतः ।

मारितो न हतो धर्मो मदीयो अनेन बन्धुना ॥५३॥

940 ) जयन्ति—हे भव्य, इमां भावनां भावय । यमिनो अतिनः क्रोधं जयन्ति । क्रोधम् । लोकद्वयविराधकम् इहापरलोकनाशकम् । क्रोधनिमित्ते क्रोधकारणे संप्राप्ते सतीति सूत्रार्थः ॥५०॥ अथ कर्मणः दुःखाद्यत्वमाह ।

941 ) यद्यथा—अथ यदि को ऽपि मां कर्मपीडितं स्वस्यं मुखिनं करोति । किं कुरुत्वा । स्फुटं प्रगटं दोषं कर्मजनितं चिकित्सत्वा चिकित्सां कुरुत्वा । स एवाचिकित्सकः अकृत्रिमः अकृतः सुहृत् मित्रम् । इसि सूत्रार्थः ॥५१॥ अथ पुनः कर्मसाध्यतामाह ।

942 ) हस्ता स्वपुण्य—इह जगति यः पुमान् मदोषं यम कर्मजं दोषं निकृत्तति छेदयति । किं कुरुत्वा । स्वपुण्यसंतानं निजपुण्यसमूहं हत्वा । यथा यस्मात् । तस्मै मदोषनिकृत्ततकर्त्ते यदि रुज्यामि दोषं कुर्वे, तदा मदन्यः मलो ऽधमो ऽन्यः कः । न को ऽपि । इति सूत्रार्थः ॥५२॥ अथ अतिनः क्षान्तिसदृपमाह ।

943 ) आकुष्टोऽहं—अनेन बन्धुना आकुष्टो आक्रोशितो ऽहं हतो नैव । एवकारः पक्षान्तर-सूचकः । वा अथवा । हतश्चेत् द्विधा न कृतः द्विखण्डो न कृतः । द्विधा कृतश्चेत् हतो न । कः । मदीयो धर्मः । इति सूत्रार्थः ॥५३॥ अथ निःश्रेयसि पथि प्रवृत्तानां विघ्ना भवन्तीत्याह ।

मुमि क्रोधके निमित्तके उपस्थिति होनेपर भी इस आगे कही जानेवाली भावनाका चिन्तन करते हुए दोनों लोकोंके विचारक उस क्रोधपर विजय प्राप्त किया करते हैं ॥५०॥

बहु भावना इस प्रकार है—यदि आज कोई कर्मसे पीड़ित मेरे दोषकी चिकित्सा करके मुझे स्वस्थ—सीरोग (आत्मस्थ) —करता है, तो उसे स्पष्टतया अकृत्रिम (स्वर्व प्राप्त) मित्र ही समझना चाहिए ॥५१॥

जो अपने पुण्यकी परम्पराको नष्ट करके मेरे दोषको दूर करता है उसके ऊपर यदि मैं यहाँ क्रोध करूँगा तो मुझसे निकृष्ट दूसरा कौन होगा ? कोई नहीं ॥५२॥

यदि कोई अपशब्द कहता है—गाली देता है—तो मुनि उस समय यह विचार करते हैं कि मेरे लिए इसने अपशब्द ही तो कहे हैं, मुझे कुछ मारा तो नहीं है । यदि वह कदाचित्

१. All others except P J N T विरोधकम् । २. M S T F V X Y संप्राप्ते भजन्ते, N भावयेत् भावना । ३. P L F तद्यथा— । ४. L F V यद्यु, T यद्यपि, J यद्यत् । ५. F आकुष्टो ज्ञहे ।

६. N हतो । ७. Y हतो नैव द्विधा ।

- 944 ) संभवन्ति महाविद्वा इह निःश्रेयसार्थिनाम् ।  
ते चेत् किल समायाताः समत्वं संशयाम्यतः ॥५४  
945 ) चेन्मासु हिंश्य अश्यन्ति शोलशैलास्यस्विनः ।  
अमी अतो ऽत्र भजन्म परम्परायै केवलम् ॥५५  
946 ) प्राङ्गम्या यत्कृतं कर्म तन्मयैवोपभूज्यते ।  
मन्ये निमित्तमात्रो अथः सुखदुःखोदतो जनः ॥५६

944 ) संभवन्ति — इह जगति निःश्रेयसार्थिनां मात्रां गन्तुकामानां महाविद्वाः संभवन्ति । किलेति सत्ये । चेत् विद्वाः समायाताः उपस्थिताः । अतः कारणात् समत्वं संशयामि । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथात्पञ्चमो निन्दामाह ।

945 ) चेन्मासु — अमी तपस्विनः चेत् शोलशैलात् ब्रह्मावयविलात् अश्यन्ति पतन्ति । किं कृत्वा । मासु हिंश्य । अत्र भवे । अतः भजन्म केवलं क्लेशाय । इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथ स्वकृतं कर्म स्वयमेवोपभूज्यते इत्याह ।

946 ) प्राङ्गम्या — मया प्राक् पूर्वं शुभाशुभं कर्म कृतं सत्कर्मं शुभाशुभं मयैवोपभूज्यते । अहं मन्ये । अन्यः सुखदुःखोदतो जनः । कः । निमित्तमात्रः । कर्माणि भोक्तव्ये सहकरिकारणम् । इति सूत्रार्थः ॥५६॥ अथ क्रोधादिपिञ्जातितस्त्रा न भिद्यन्तीत्याह ।

मारने भी लग जावे तो वे विचार करते हैं कि इसने मुझे मारा ही तो है, मेरे कुछ दो ढुकड़े तो नहीं किये—प्राणवात तो नहीं किया । कदाचित् वह प्राणीके धातमें ही प्रवृत्त हो जाता है तो वे सोचते हैं कि इसने मेरे शरीरका ही धात किया है, मेरे धर्मका कुछ धात नहीं किया—उसका तो उसने संरक्षण ही किया है; अतएव वह मेरा बन्धु (हितेशी) ही हुआ । किर भला उसके ऊपर कोध क्यों करना चाहिए ? अर्थात् उसके ऊपर कोध करना उचित नहीं है ॥ ५६॥

यहाँ जो सौक्ष्मके अभिलाषी हैं उनके भाग्यमें बहुत बड़े विद्वोंकी सम्मानना है । तब यदि वे विद्वां आकर उपस्थित हुए हैं तो मैं समतामात्रका आशय लेता हूँ—उनके कारण क्षोभको प्राप्त होना उचित नहीं है ॥ ५४ ॥

यदि मेरा दृष्टेश करके—मुझे भार्गव्यष्ट होता हुआ देखकर—ये तपस्वी शोलरूप पर्वतसे गिरते हैं तो किर यहाँ मेरा जन्म—उत्तरन होना—केवल दूसरोंके विनाशका ही कारण होगा ॥ ५५ ॥

मैंने पूर्वमें जो कर्म किया है उसका फल मुझे ही योगना है । यदि कोई अन्य प्राणी मेरे उस सुख या दुखमें उच्चत होता है तो उसे मैं केवल निमित्त मात्र ही मानता हूँ ॥ ५६ ॥

१. All others except T X Y परमेश्वर, P reads this verse on the margin ।

१४७ ) मदीयमपि चेत्येतः क्रोधाद्यैर्विप्रलभ्यते ।

अज्ञातज्ञाततत्त्वानां को विशेषस्तदा भवेत् ॥५७<sup>२</sup>

१४८ ) न्यायमार्गोपपन्ने<sup>३</sup> उस्मिन् कर्मयाके पुरास्थिते ।

विवेकी कस्तदात्मानं क्रोधादीनां वशं नयेत् ॥५८

१४९ ) सहस्व प्राक्तनासातफलं स्वस्थेन चेतसा ।

निष्प्रतीकारमालोक्य भविष्यद्दुःखशङ्कितः ॥५९

१५० ) मदीयमपि—कं प्रति कश्चिद् ज्ञानी प्राह । मदीयमपि चेत् यदि चेतो मनो विप्रलभ्यते । तदा अज्ञातज्ञाततत्त्वानां को विशेषो भवेत् । मदीयस्य चेतो न विप्रलभ्यते । ज्ञाततत्त्वात् । अन्येषां तु लुप्यते अज्ञाततत्त्वात् । इति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ पूर्वोपाजितकर्मविपाके समुपस्थिते विवेको क्रोधाद्यैरात्मानं न वशं कर्तव्यमाह ।

१५१ ) न्यायमार्गोपपन्ने—तदा को विवेकी आत्मानं क्रोधाद्यैवशं नयेत् प्रापयेत् । तत् सति । अस्मिन् कर्मयाके कर्मोदये पुरास्थिते । कोदृशोऽस्मिन् । न्यायमार्गोपपन्ने न्यायमार्गाश्रिते । इति सूत्रार्थः ॥५८॥ अथ प्रागजितकर्मफलं सहनीयमित्यत आह ।

१५२ ) सहस्व—रे भव्य, प्राक्तनासातफलं पूर्वोपाजितदुःखफलं सहस्व । केव । स्वस्थेन चेतसा । कि कृत्वा । निष्प्रतीकारं पूर्वोपाजितदुःखं प्रतोकाररहितम् आलोक्य । कीदृशः । भविष्यद्दुःखशङ्कितः आगामिदुःखशङ्कितः । इति सूत्रार्थः ॥५९॥ अथोदिताः क्रोधाद्यः शमश्रियं विलोपयन्ति इत्याह ।

यदि मेरा भी मन इन क्रोधादि कषायोंके द्वारा ठगा जाता है, अर्थात् वस्तुत्वरूपको जानते हुए भी यदि मैं क्रोधादि कषायोंके बशीभूत होता हूँ तो किर अतत्त्वज्ञ और तत्त्वज्ञ इन दोनोंमें भला भेद ही क्या रहेगा ? कुछ भी नहीं ॥५७॥

यह कर्मका फल जब न्यायमार्गसे संगत है तब उसके उपस्थित होनेपर कीन-सा विवेकी जीव अपनेको क्रोधादि कषायोंके बशमें ले जाता है । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि प्राणीते अच्छा या बुरा जो भी कर्म किया है उसका सुख-दुख रूप फल उसे न्यायमार्गसे भोगना ही चाहिए । ऐसी अवस्था में यदि वह पूर्वकृत कर्मका फल किसीके निमित्तसे आकर उपस्थित हो जाता है तो मुझे उस निमित्तके ऊपर क्रोध क्यों करना चाहिए ? नहीं करना चाहिए, क्योंकि, उसका फल तो मुझे किसी न किसी निमित्तके आश्रयसे अनिवार्यरूपमें भोगना ही था । ऐसा विचार कर संयमी जीव किसीके भी ऊपर कोध नहीं करता है ॥५८॥

हे आत्मन् ! तू पूर्वकृत असातावेदनीयके फलको प्रतीकाररहित देखकर आगामी दुखसे भयभीत होता हुआ शान्त विस्तसे सह । विशेषार्थ—दुखके उपस्थित होनेपर साधु विचार करता है कि हे आत्मन् ! तूने पूर्वमें जिस असातावेदनीय कर्मको उपाजित किया है उसका यह दुखरूप फल इस समय प्राप्त हुआ है । अतएव तू उसे प्रतीकार रहित देखकर

१. All others except P विप्रलभ्यते । २. P writes this verse on the margin, N interchanges Nos. 54 & 57 । ३. All others except P N न्यायमार्गप्रपञ्चे । ४. P V दुःखशङ्कितः ।

- 950 ) उदीपयन्तो रोषाग्नि चहु विक्रम्य विद्विषः ।  
मन्ये विलोपयिष्यन्ति कवचिन्मतः शमश्रियम् ॥६०
- 951 ) अप्यसहो समुत्पन्ने महाकलेशसमुकरे ।  
तुष्यत्यपि च विजाती प्राकर्मविलयोद्यतः ॥६१
- 952 ) यदि वाकण्टकैविद्धो नावलम्बे भमाभद्रम् ।  
भमाप्याक्रोशकादस्मात् को विशेषस्तदा भवेत् ॥६२
- 953 ) विचित्रैर्वधबन्धादिप्रयोगैर्व चिकित्सति ।  
यद्यसो मां तदा च व स्यात्संचितासातनिष्क्रयः ॥६३

950 ) उदीपयन्तः—अहं मन्ये । विद्विषः शश्रवः । रोषाग्नि क्रोषाग्निमुदीपयन्तः प्रकटी-  
कुर्वन्तः । चहु विक्रम्य पराकर्म कुख्या विलोपयिष्यन्ति । कवचिन्मतः सकाशात् ( ? ) शमश्रियम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥६०॥ अथ समुपस्थिते कलेशे विजाती मोदत इत्याह ।

951 ) अप्यसहो—अपि पक्षान्तरे । च पादपूरणे । विजाती तुष्यति मोदते । च च सति ।  
महाकलेशसमुकरे कलेशसमूहे । असहोऽपि असहनीये जपि समुत्पन्ने सति । कीदूशो विजाती ।  
प्राकर्मविलयोद्यतः पूर्वजितकर्मक्षयसाववानः । इति सूत्रार्थः ॥६१॥ अथ वाक्यवरूपं दर्शयति ।

952 ) यदि वाक्—यद्यहं वाकण्टकैविद्धः क्षमां नावलम्बे नाधितवान्, तदा अस्माद्  
आक्रोशकात् भमाप्यि को विशेषो भवेत् । न कोऽपि भवेदिति सूत्रार्थः ॥६२॥ अथ पुनः शत्रुस्व-  
भावमाह ।

953 ) विचित्रैः—पद्यसो शत्रुः मां न चिकित्सति उपचारं न करोति । विचित्रैर्नानाप्रकारैः  
वधबन्धादिप्रयोगैस्तदा संचितासातनिष्क्रयः पूर्वसचितदुःखनिर्गमः च व स्यादिति सूत्रार्थः ॥६३॥  
अथ प्राक् समर्थस्तोपशमस्वभावमाह ।

शान्तचित्तसे सह । और यदि तू उस न्यायप्राप्त दुखको शान्तचित्तसे नहीं सहता है तो  
पुनः असातावेदनीयका बन्ध अनिवार्य होनेसे तुझे भविष्यमें फिर भी दुख सहना पड़ेगा ।  
अलएव उससे भयभीत होकर तू इस न्यायप्राप्त दुखको समताभावसे सहन कर ॥५२॥

ये शत्रु बड़ी बीरतासे मेरी कोषरूप अनिको भड़काकर कही मेरी शान्तिरूप  
लक्ष्मीको मुझसे पूछकर कर देंगे, ऐसा मैं मानता हूँ ॥५०॥

असहु अतिशय तीव्र कष्टसमूहके भी उत्पन्न होनेपर विवेकी जीव पूर्वकृत कर्मके  
वाशमें उथत होकर उससे सन्तुष्ट ही होता है, न कि चिकित्सा ॥६१॥

यदि वन्नरूप कौटीसे विद्ध होकर मैं क्षमाका आश्रय नहीं लेता हूँ—कोषको प्राप्त  
होता हूँ—तो फिर मुझमें इस गाली देनेवालेकी अपेक्षा विशेषता ही क्या रहेगी ? कुछ भी  
नहीं—मैं भी उसीके समान हो जाऊँगा ॥६२॥

यदि वह अनेक प्रकारके मारने व बाँधने आदि प्रयोगोंके द्वारा मेरी चिकित्सा  
( इलाज ) नहीं करता है तो मेरे पूर्वसंचित असातावेदनीय कर्मका निर्गमन ( निर्जरा )  
कहाँसे हो सकता ? नहीं हो सकता ॥६३॥

- 954 ) यः शमः प्राक्समभ्यस्तो विवेकज्ञानपूर्वकः ।  
तस्यैते इदं परीक्षार्थं प्रत्यनीकाः समुत्थिताः ॥६४
- 955 ) यदि प्रशमसीमाने भिस्वा रुप्याभि शत्रवे ।  
उपयोगः कदास्य स्यात्तदा मे ज्ञानचक्षुषः ॥६५
- 956 ) अयत्नेनापि सैवेण संजाता कर्मनिर्जरा ।  
चित्रोपायैर्मानेन थल्कृता भृत्यस्यात्तना ॥६६
- 957 ) <sup>१</sup>ममापि चेद्ग्रोहं मुपैति मानसं परेषु सद्यः<sup>२</sup> प्रतिकूलवतिषु ।  
अपारसंगारपरायणात्मनो किमस्ति तेषां मम वा विशेषणम् ॥६७

954 ) यः शमः—यः शमः प्राक्समभ्यस्तः । कोदृशः । विवेकज्ञानपूर्वकः । तस्य प्राप्तभ्यस्तो-प्रशमस्याद्य परीक्षार्थम् एते प्रत्यनीकाः शत्रवः समुत्थिताः ॥६४॥ अथ शमं भिस्वा कोष्ठं कुर्व तदा मे घमभावमाह ।

955 ) इदि चशम—यदि अहं शमे वैरिले रुप्याभि । नि कृत्वा । प्रशममर्यादां भिस्वा । अस्य शत्रोः उपयोगः । कदा । तदा । मे मम ज्ञानचक्षुषः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥६५॥ अथ पुनः शत्रोः कृत्यमाह ।

956 ) अयत्नेनापि—इयं सा कर्मनिर्जरा संजाता अयत्नेनापि । यत् यस्मात्कारणात् । अनेन शत्रुणा मम भृत्यस्यात्तना कृता अपकारवचनपूर्वकं पीडा कृतेति । ‘भृत्यं चापकारवाय’ इति शेष-नामः । इति सूत्रार्थः ॥६६॥ अथ मम ज्ञानचक्तो इपि क्रोधाभावः इत्याह । उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

957 ) ममापि—परेषु शत्रुषु मह्यं प्रतिकूलवतिषु विपरीतकारिषु । ममापि चेतः मानसं

मैंने विवेकज्ञानपूर्वक जिस शान्तिका पहिले अभ्यास किया है, इस समय उसकी परीक्षाके लिए ये शत्रु उपस्थित हुए हैं ॥६४॥

यदि मैं इस समय शान्तिकी मर्यादाको लौंघकर शत्रुके ऊपर कोष्ठ करता हूँ तो फिर मेरे इस ज्ञानरूप नेत्रका उपयोग कब हो सकता है ? विशेषार्थ—असिप्राय यह है कि ऐसे समयमें साधु यह विचार करता है कि मुझे जो विवेक-बुद्धि प्राप्त है उससे यह विचार करता चाहिए कि संसारमें मेरा कोई भी शत्रु व मित्र नहीं है । यदि कोई बास्तविक शत्रु है तो वह मेरा ही पूर्वोदारित अशुभ कर्म है और उसे यह वचनवचनादिके द्वारा मुक्त्वा पृथक् कर रहा है—उसकी निर्जराका कारण वह रहा है । अतएव ऐसे उपकारीके ऊपर कोष्ठ करनेसे मेरी अज्ञानता ही प्रमाणित होगी । ऐसा सोचकर वह कोष्ठके ऊपर विजय प्राप्त करता है ॥६५॥

इसने अनेक प्रकारके उपायोंद्वारा जो मुझे निन्दाके साथ पोछा की है वही यह बिला किसी प्रकारके प्रयत्नके मेरी कर्मनिर्जराका कारण हुई है—उससे मेरे पूर्वकृत कर्मकी निर्जरा ही हुई है; यह इसने मेरा बड़ा उपकार किया है ॥६६॥

कहा भी है—इन विरुद्ध आचरण करनेवाले दूसरे प्राणियोंके विषयमें यदि मेरा भी

१. All others except P प्रशममर्यादां । २. P writes this Verse on the margin, J R उक्तं च शास्त्रान्तरे । ३. N वेदोपायः, J चत्रोहौः । ४. N T J मह्यं for सद्यः ।

958 ) <sup>१</sup>अपारयन् बोधयितुं पृथग्जनानसत्रवृत्तेष्विं नासदाचरेत् ।

अशक्नुवन् पीतविषं चिकित्सितुं पित्रेद्विषं कः स्वयमायबालिशः ॥६८

959 ) [ <sup>२</sup>न चेदयं मां दुरितैः प्रकम्पयेदेहं यतेयं प्रशमाय नाधिकम् ।

अतो अतिलाभो इयमिति प्रसक्यन् विचाररुद्धा हि भवन्ति निश्चलाः ॥६८\*१]

चित्तद्रोहम् उपैति । अपारसंसारे परायणात्मनां स्थितात्मनां लेषां, मम वा विशेषणम् । इति  
सूत्रार्थः ॥६७॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

958 ) अपारयन्—जलाम् पृथग् बोधयितुं ज्ञापयितुम् अपारयन् असमर्थयन् । असत्रवृत्तिषु  
चिद्वद्वत्या प्रवर्तमानेषु असत् नाचरेत् । पीतविषं चिकित्सितुम् उपवरितुम् अशक्नुवन् । कः ।  
बालिशः मूर्खः । रुग्मयमिति दिव्यं विवेत् । इलि सूत्रार्थः ॥६८॥ अथ यथा शशुं प्रकम्पयति, तदा  
प्रशमो वर्धते इत्याह ।

959 ) न चेदयं—अर्व शशुः मां चेत् दुरितैः पापैर्भ विकम्पयेत् । अहम् अधिकं प्रशमाय न  
यतेयम् । अतः कारणात् अपमतिलाभ इति प्रसक्यन् विचारयन् । हि निश्चितम् । विचाररुद्धा  
विचारवन्तः निश्चला भवन्ति । इति सूत्रार्थः ॥६८\*१॥ अथ केषां संतोषार्थं धनादिकं  
त्यजतीत्याह ।

मन द्वेषभावको प्राप्त होता है तो फिर अपरिभित संसार-परिभ्रमणमें तत्पर रहनेवाले उन  
लोगोंसे मुश्किलमें विशेषता ही क्या रह जाती है? कुछ भी नहीं ॥६७॥

सज्जन मनुष्य कुमार्गमें प्रवृत्त होनेपर भी यदि अन्य जनोंके प्रबोधित करनेमें  
असमर्थ होता है तो उनके समाज उसे स्वयं निन्य आचरण नहीं करता चाहिए । यह ठीक  
भी है, क्योंकि ऐसा कौन-सा चतुर वैद्य है जो विषको दिये हुए अन्य मनुष्यकी चिकित्सा  
करनेमें असमर्थ होकर स्वयं भी विषको पीता हो? अर्थात् जिस प्रकार कोई भी बुद्धिमान्  
वैद्य विषका पान करनेवाले अन्य मनुष्यके उस विषकी यदि चिकित्सा नहीं कर सकता  
है तो वह स्वयं कुछ विषका पान नहीं करता है उसी प्रकार यदि कोई साधु कुमार्गमें  
प्रवृत्त रहनेवाले अन्य मनुष्योंका उससे उद्धार नहीं कर सकता है तो उसका स्वयं कुमार्गमें  
प्रवृत्त होना—स्वयं क्रोधादि कषायोंके वशीभूत होना—उचित नहीं है ॥६८॥

यदि यह मुझे पापोंसे कम्पायमान नहीं करता है—‘यह पूर्वकृत अशुभ कर्मका कल  
है’ इस विचारको उत्पन्न नहीं करता है । अथवा वय-वन्धनादिरूप दुष्ट्येष्वारोंसे यदि  
क्षुब्ध नहीं करता है—तो मैं राग-द्वेषकी शान्तिके लिए अधिक प्रयत्न नहीं कर सकता था ।  
यह मेरे लिए बड़ा भारी लाभ है । इस प्रकार विचार करता हुआ साधु क्रोधादि विकारों  
को जीतता है । ठीक है—जो मनुष्य विचारमें तत्पर होते हैं वे अपने कार्यमें छढ़ रहा  
करते हैं ॥६८\*१॥

१. P. writes this verse on the margin । २. J प्रवृत्तिष्विः । ३. P om. । ४. N दुष्टिः ।  
५. N T J X विकम्पये ।

960 ) परपरितोषनिमित्तं त्यजन्ति केचिद्गनं शरीरं वा ।

दुर्बचनवन्धनाद्यैर्वयं रुपन्तो न लज्जामः ॥६९॥

961 ) अस्य हानिर्मात्मार्थसिद्धिः स्यान्नात्र संशयः ।

इतो यदि न रुप्यामि रोषश्चैव व्यत्ययस्तदा ॥७०॥

962 ) प्राणात्यये ऽपि संपन्ने प्रत्यनीकप्रतिक्रिया ।

मता सद्गिः स्वसिद्धयर्थं<sup>१</sup> समैका स्वस्थचेतसाम् ॥७१॥

963 ) इयं निकपभूत्य संपन्ना पुण्ययोगतः ।

समत्वं<sup>२</sup> किं प्रपन्नो ऽस्मि न वेत्यथ परीक्षयते ॥७२॥

960 ) परपरितोष—परपरितोषनिमित्तं परेषां संतोषनिमित्तं वर्यं रुपन्तः कोर्पं कुर्वन्तः न लज्जामः । दुर्बचनवन्धनाद्यैः । इति सूत्रार्थः ॥६९॥ अथ मारणोद्यतस्य पार्प भद्रतीत्यादिकमाह ।

961 ) अस्य हानिः—हन्तुर्हनशीलस्य हानिर्भवति । ममात्मार्थसिद्धिः स्यात् । मात्र संदेहः हन्तुर्यदि न रुप्यामि । चेत् रोषं किपते तदा व्यत्ययः । हन्तुरात्मार्थसिद्धिः मम हानिः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥७०॥ अथ प्राणापहारकल्पे ऽपि समायुक्तप्रतिक्रियामाह ।

962 ) प्राणात्यये—प्राणात्यये प्राणानामेऽपि प्रत्यनीकप्रतिक्रिया शब्दोः प्रतीकारो न कर्तव्यः इति वेषः । सद्गिः सत्पुरुषः स्वसिद्धयर्थं एका क्षमा स्वस्थचेतसां मता । इति सूत्रार्थः ॥७१॥ अथ क्षमास्वरूपमाह ।

963 ) इयं निकपभूत्य—अद्य इयं क्षमा निकपभूत्यः परीक्षाभूमिः क्षमात् । क्षमात् । पुण्ययोगतः । अत्र । च पुनः । क्षमा न परीक्षयते । समत्वं किं प्रपन्नो ऽस्मि । इति सूत्रार्थः ॥७२॥ अथ प्रश्नमस्वरूपमाह ।

यह और भी विचार करता है—कितने ही परोपकारी जन दूसरोंको सन्तुष्ट करनेके लिए धन और शरीरका भी त्याग कर दिया करते हैं । परन्तु हम दूसरोंके द्वारा प्रयोगमें लाये गये हुए वचन और वन्धन आदिसे क्रोधको प्राप्त होते हुए लज्जित नहीं होते हैं—इसके लिए अवश्य ही लज्जित होना चाहिए ॥५६॥

यदि इसके द्वारा पीड़ित होकर मैं क्रोध नहीं करता हूँ तो इसकी हानि ( पापवन्ध ) और मेरा आत्मप्रयोजन ही सिद्ध होता है, परन्तु यदि मैं उसके ऊपर क्रोध करता हूँ तो उससे विपरीत अवस्था होती है—उसका भला न भी हो, परन्तु मेरी हानि ( दुर्गति ) निश्चित है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥७०॥

प्राणोंके नष्ट होनेपर भी शान्तचित्त साधुजनोंकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया ( प्रतीकार ) एक क्षमा ही है, जो आत्मसिद्धिका कारण है । इसीलिए वह सत्पुरुषोंको विशेष अभीष्ट है ॥७१॥

आज यह ( वध-वन्धनादिरूप वादा ) पुण्यके संशोगसे मुक्ते परीक्षाका स्थान प्राप्त हुआ है । मैं क्या क्षमताधारको—राग-द्वेषसे रहित अवस्थाको—प्राप्त हो चुका हूँ अथवा

१. P writes this verse on the margin । २. All others except P J हन्तुर्हानि, J हन्तुर्यदि ।

३. M N प्रत्यनीका । ४. J सिद्धयर्थः । ५. All others except P शमत्वं । ६. J प्रपन्नो ऽस्मि ।

964 ) स एव प्रशमः श्लाद्यः स च श्रेयोनिबन्धनम् ।

अदर्यैहन्तुकामैयो न पुंसां कश्मलीकृतः ॥७३

965 ) चिराभ्यस्तेन किं तेन शमेनास्त्रेण वा फलम् ।

व्यर्थीभवति यत्कार्ये समुत्पन्ने शरीरिणाम् ॥७४

966 ) प्रत्यनीके समुत्पन्ने यद्वैर्यं तद्वि शस्यते ।

स्यात्सर्वे ऽपि जन्मः स्वस्थः सत्यशीचक्षमास्यदम् ॥७५

964 ) स एव—स एव प्रशमः श्लाद्यः स्पृहणीयः । च पुनः । स एव प्रशमः श्रेयोनिबन्धनं कल्याणकारणम् । स इति कः । यः हन्तु शमेहन्तुमूद्यते । पुंसां पुरुषाणां कश्मलीकृतः मलिनोकृतः इति सूत्रार्थः ॥७३॥ अथ येन शमेन पुंसां कार्यसिद्धिनं भवेत् तदाह ।

965 ) चिराभ्यस्तेन—तेन शमेन उपशमेन । चिराभ्यस्तेन चिरकालाधीतेन किम् । वा अथवा । वस्त्रेणायुधेन शरीरिणां कार्ये समुत्पन्ने यत्कलं व्यर्थीभवति । इति सूत्रार्थः ॥७४॥ अथ सति परीषहे विवेद्लाघ्यतामाह ।

966 ) प्रत्यनीके—प्रत्यनीके परीषहे समुत्पन्ने यद्वैर्यं विशस्यते सत् प्रशास्यते । सर्वे ऽपि जन्मः सत्यशीचक्षमास्यदम् । इत्यजहल्लिङ्गत्वात् नपुंसकत्वम् । एतादृशः स्वस्थः संतोषितः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥७५॥ अथ मनसः रागद्वेषाभावत्वमाह ।

नहीं, इस बातकी वहाँ आज परीक्षा की जा रही है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शाणोपल (कसीटी) पर कसकर सुवर्णके खरे-खोटेपनकी परीक्षा की जाती है उसी प्रकार इन उपद्रवोंके द्वारा मेरी श्वसाशीलताकी भी परीक्षा की जा रही है। यदि मैं कोधको प्राप्त होकर इस समय इस परीक्षामें असफल हो जाता हूँ तो अबतकका मेरा वह सब परिश्रम व्यर्थ हो जायेगा। यह विचार करके साथु प्राप्त हुए उपद्रवको शान्तिपूर्वक सहला है ॥७३॥

मनुष्योंका वही प्रशमभाव प्रशंसनीय है और वही मोक्षका भी कारण है जो कि ब्राणधारके इच्छुक दुष्टजनोंके द्वारा मलिन नहीं किया जाता है। अभिप्राय यह कि इस प्रकारके उपद्रवको शान्तिके साथ सह लेनेपर मोक्षकी प्राप्ति होती है और उसके विपरीत कोधादिको प्राप्त होनेपर नरकादि दुर्गतिकी प्राप्ति होती है ॥७४॥

प्राणियोंने जिस शमभावका चिरकालसे अभ्यास किया है वह यदि कार्यके उपस्थित होनेपर व्यर्थ हो जाता है तो फिर उसका कुछ भी फल नहीं है। जिस प्रकार कि जिन प्राणियोंने बहुत समयसे जिस शस्त्रसंचालनका अभ्यास किया है वह यदि युद्धके समय व्यर्थ होता है—उसके द्वारा शत्रुका शिरच्छेद नहीं होता है—तो उनके उस शस्त्र-भ्यासका कुछ भी फल नहीं होता ॥७५॥

प्रतिकूलताके उत्पन्न होनेपर—कोधादिके उत्पादक कारणोंके उपस्थित होनेपर जिस धैर्यका आलम्बन लिया जाता है वह धैर्य ही प्रशंसनीय माना जाता है। अन्यथा—प्रति-

- 967 ) वासीचन्दनतुल्या<sup>१</sup> तैर्वृत्तिमालम्ब्य केवलम् ।  
आरब्धं सिद्धिमायातं प्राचीनैर्मुनिसत्तमैः ॥७६
- 968 ) कृतैर्बन्ध्यैः स्वयं जातैरुपसर्गैः कलङ्कितम् ।  
येषां चेतः कदाचित्तर्न प्राप्ताः स्वेष्टसंपदः ॥७७
- 969 ) प्राकृताय<sup>२</sup> न रूप्यन्ति कर्मणे निर्विवेकिनः ।  
तस्मिन्नपि च क्रुद्यन्ति यस्तदेव चिकित्सति ॥७८

967 ) वासीचन्दन—प्राचीनैः पूर्वजैर्मुनिसत्तमैः मुनिप्रधानैः सिद्धिमानीतम् आरब्धम् । कि कृत्वा । केवलं वासीचन्दनतुल्यान्तवृत्तिमालम्ब्य परशुधातचन्दनलेपयोदुल्या अन्तवृत्तिः यत्र स्यात् वासीचन्दनतुल्यान्तवृत्तिः तामवलम्ब्याथित्य इति सूत्रार्थः ॥७६॥ अथ परोषहृभग्नचेतसां कार्यसिद्धिसंभवेदित्याह ।

968 ) कृतैर्बन्ध्यैः—येषां मुनिकराणां चेतः उपसर्गैः कलङ्कितम् । कीदूशैरुपसर्गैः । अन्यैर्म्लेच्छादिभिः कृतैः । वा अयता । स्वयं जातैः । आत्मना संभूतैः । तैः मुनिभिः । स्वेष्टसंपदः कदाचित्त्र संप्राप्ताः । इति सूत्रार्थः ॥७७॥ अथ पूर्वकृतकर्मणे सन्तो न क्रुद्यन्तीत्याह ।

969 ) प्राकृताय—विवेकिनः \*प्राकृताय पूर्वं कृताय कर्मणे न रूप्यन्ति न रोषं यान्तीति । च पुनः । तस्मिन्नपि शत्री न क्रुद्यन्ति, न क्रोधं कुर्वन्ति । यः शत्रुः तदेव प्राकृतं कर्म चिकित्सति निराकर्तुं मुद्यतः । इति सूत्रार्थः ॥७८॥ अथोपकारिणि कः क्रुप्येदित्याह ।

कुल सामग्रीके अभावमें तो—सब ही मनुष्य शान्त रहकर सत्य, शीच एवं शामाका आश्रय लिया करते हैं ॥७५॥

बसूला और चन्दनके समान स्वभावयाले प्राचीन श्रेष्ठ मुनियोंने केवल उसी स्थितिका आश्रय लेकर अपने प्रारम्भ किये हुए रत्नत्रयसाधनरूप कार्यको सिद्धिको प्राप्त कराया है ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार बसूलासे काढा जानेवाला चन्दन अपनी स्वाभाविक सुगन्धसे सबको सुगन्धित ही करता है उसी प्रकार सत्पुरुष दूसरोंके द्वारा पीड़ित किये जानेवर भी अपनी स्वाभाविक क्षमाशीलतासे उनके ऊपर क्रोध न करके उनके हितकी कामना ही करते हैं । इसी मार्गका आश्रय लेकर पूर्वं समयमें मुमुक्षु महर्षियोंने रत्नत्रयको सिद्ध करके मोक्षमुखको प्राप्त किया है ॥७९॥

इसके विपरीत जिनका चित्त अन्य प्राणियोंके द्वारा किये गये अथवा स्वयं ही उत्पन्न हुए उपद्रवोंके द्वारा कलंकित—क्रोधादि विकारोंसे मलिन—किया गया है वे अपनी अभीष्ट सम्पत्ति ( स्वर्ग-मोक्षादि )को कभी भी नहीं प्राप्त कर सके हैं ॥७९॥

अधिवेकी जीव अपने द्वारा उपार्जित स्वाभाविक कर्मके लिये तो रुप्त नहीं होते हैं, किन्तु जो उसीकी चिकित्सा कर रहा है—वध-जन्मनादिके द्वारा उक्त कर्मकी निर्जराका कारण बन रहा है—उसके ऊपर रुप्त होते हैं, यह खेदकी बात है ॥७८॥

१. M N तुल्यं तैः, All Others except P M N X तुल्यान्तवृत्तिः । २. M N मायान्तु, L S F V J X Y R सिद्धिमानीतः । ३. M N श्रेष्ठसंपदः । ४. M प्राकृताय ।

970 ) यः श्वभ्रान्मा॒ समाकृष्य क्षिप्यत्यात्मानमन्तधोः ।

वधवन्धनिभिते ऽपि कस्तस्मै॑ विप्रियं चरेत् ॥७९३

971 ) यस्यैव कर्मणो नाशाज्जन्मदाहः प्रशाम्यति ।

तच्चेदुक्ति॑ समायात् सिद्धं तर्हय वाङ्छितम् ॥८०

972 ) अनन्तकलेशसप्ताचिःप्रदीप्तेयं भवाटवी ।

तत्रोत्पन्नैर्न कि सद्यस्तदुत्थो व्यसनोत्करः ॥८१

970 ) यः इवभ्रान्मा॑—यः पुमान् इवभ्रान्मरकान्मा॑ समाकृष्य निष्कास्य । आत्मामें वध-वन्धनिभिते वधवन्धकारणे ऽपि क्षिप्ति॑ कीदृशः । अस्तथीनेष्टवृद्धिः । तस्मै उपकारिणों को विप्रियं चरेत् विरूपम् आचरेत् । इति सूत्रार्थः ॥७९॥ अथ कर्मणो जन्मनाशमाह ।

971 ) यस्यैव—यस्य पूर्वकृतस्य कर्मणो नाशात् । एवकारः निश्चयार्थः । जन्मदाहः भवसंतापः प्रशाम्यति । च पुनः । वेतत्कर्म भुक्ति॑ समायात्यु उदयप्राप्तं, तहि अद्य जन्मनि वाङ्छितं सिद्धमिति सूत्रार्थः ॥८०॥ अथ संसारस्य विशेषनाशयतामाह ।

972 ) अनन्त—इयं भवाटवी॑ भवारप्यम् अनन्तकलेशसप्ताचिःप्रदीप्ता अनन्तवलेशारिन-ज्वलितः । लत्रोत्पन्नैर्भवाटवीजातैः तदुत्थो अनन्तकलेशाग्निसमुत्थो व्यसनोत्करः कष्टसमूहः कि न सद्यः न सहनीयः । इति सूत्रार्थः ॥८१॥ अथ यदि दुर्जना॑ न भवन्ति तदा कर्म कर्त्त भोक्तव्य-मित्याह ।

जो भार्व मनुष्य वध-वन्धनादिके निभित्तको उपस्थित करके भी मुझे नरककी ओरसे खीचकर अपनेआपको नरकमें डालता है उसके प्रति अप्रिय ( क्रोधादिस्वरूप ) व्यवहार कौन करता है ? कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे उपकारी प्राणीके ऊपर कोप नहीं किया करता है ॥७९॥

जिस कर्मके ही लाशसे संसारका सन्ताप ज्ञान्त होता है वह यदि भोगनेमें आ रहा है—इन वध-वन्धनादि उपद्रवोंको शान्तिपूर्वक सह लेनेवर यदि स्वर्यं निर्जीर्णि हो रहा है—तो मेरा अभीष्ट ( कर्मनाश ) आज्ञ ही सिद्ध हो जाता है ॥८०॥

यह संसाररूप वस अपरिभित कष्टरूप अग्निसे प्रज्वलित हो रहा है । उस संसार-रूप वनके भीतर उत्पन्न हुए प्राणियोंको उक्त कष्टरूप अग्निसे उत्पन्न होनेवाले दुखसमूहको क्या नहीं सहना चाहिए ? सहना ही चाहिए । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार जो बन सब ही औरसे अग्निसे प्रज्वलित हो रहा है उसके भीतर उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंको अग्निसे उत्पन्न दुखको सहना ही पड़ता है उसी प्रकार सर्वथा दुखमय इस संसारमें भी जन्म लेनेवाले प्राणियोंको जब वध-वन्धनादिरूप अनेक कष्टोंको सहना ही पड़ता है तब क्यों न उन्हें राग-द्वेषसे रहित होकर शान्तिके साथ सहा जाय ? कारण कि उन्हें शान्तिपूर्वक सह लेनेसे नवीन कर्मोंके आस्तवका निरोध ( संवर ) होता है और इसके विपरीत उससे व्याकुल होकर राग-द्वेषादिके वशीभूत होनेवर नवीन कर्मोंका वन्ध होता है जो भविष्यमें भी दुखका कारण बननेवाला है ॥८१॥

९७३ ) सम्यग्ज्ञानविवेकशूल्यमनसः पापा गुणदेविणो<sup>१</sup>  
 निश्चिन्ताः शमसत्यसूत्रविमुखाः कायै विना वैरिणः<sup>२</sup> ।  
 दीर्जन्यादि॑ कलङ्किता यदि नरा न स्युजंगत्यां तदा  
 कस्मात्तीव्रतपोभिरुन्नतधियः काङ्क्षन्ति मोक्षश्रियम् ॥८२

९७४ ) अहो कैवित्कर्मनुदयगतमानीयै रमसा—  
 दशेषं निर्धूतं प्रवर्लतपसा जन्मचकितैः ।  
 स्वयं यद्यायातं<sup>३</sup> तदिह मुद्रमालम्ब्य मनसा  
 न किं सद्यं धीरैरतुलसुखसिद्धे॒ वर्यवसितैः ॥८३

९७३ ) सम्यग्ज्ञान—यदि एतादृशा नरा जगत्यां न स्युर्म भवेयुः । तदा कस्मात् तीव्रतपो-  
 गिहन्ततवियः उक्तमतयः मोक्षश्रियं मोक्षलक्ष्यों काङ्क्षन्ति वाऽऽन्तिः । कोदृशा नराः ।  
 सम्यग्ज्ञानविवेकशूल्यमनसः सम्यग्ज्ञानविवेकाभ्यां शूल्यं मनो येर्या ते तथा । पुनः कोदृशा नराः ।  
 सिद्धान्तसूत्रद्विषः द्वादशाङ्गसूत्रवैरिणः । पुनः कोदृशा: । निश्चिन्ताः निर्देयाः । पुनः कोदृशा: ।  
 परलोकमष्टमतयः । पुनः कोदृशा: । मोहानलोहीपिता: मोहानिज्जलिताः । पुनः । दीर्जन्यादि॑-  
 कलङ्किताः । इति सूत्रार्थः ॥८२॥ अब कर्म सद्यमेवेत्याह ।

९७४ ) अहो कैवित्व—अहो इत्याश्चर्यै॑ कैवित्व भूत्युद्वगात्म सूत्रादकालाश्रयम् ।  
 अशेषं समस्तं कर्म आनोय । रमसा वेषेन तपसा निर्वूतम् । कीदृशैः कैः । जन्मचकितैर्भवभीतैः ।  
 यदि तत्कर्म स्वयमायात्म सूत्रावलिकायां प्राप्तम् । इह भवे कि न सद्यम् । अपि तु सद्यमेव ।  
 धीरैः । कि कृत्वा । मनसा मुद्रं हर्षम् आलम्ब्य आश्रित्य । कोदृशैः धीरा । अतुलसुखसिद्धेवर्यवसितैः  
 कृतोर्यमैः । इति सूत्रार्थः ॥८३॥ अब मायास्वभावमाह ।

यदि लोकमें सम्यग्ज्ञान और विवेकसे शूल्य मनवाले, पापी, गुणोंमें द्रेष करने वाले; प्रशम, सत्य च सिद्धान्तसूत्रसे पराङ्मुख; प्रयोजनके विना भी शत्रुतापूर्ण व्यवहार करने-वाले और दुर्जनता आदिसे दूषित मनुष्य न होते तो फिर उक्ताङ्ग सुद्धिके धारक भवेत् जीव और तपश्चरणके द्वारा मुक्तिलय लक्ष्मीकी इच्छा ही क्यों करते ? नहीं करते ॥८३॥

आश्चर्य है कि संसारसे भवभीत हुए कितने ही महापुरुषोंने जो कर्मनिषेक उदयमें  
 प्राप्त नहीं था—भवित्यमें उदयको प्राप्त होनेवाला था—उस सबको बलपूर्वक घोर  
 तपश्चरणके द्वारा वर्तमान उदयमें प्राप्त कराकर निर्जीवि किया है । फिर यदि वह कर्म  
 स्वर्य ही उदयमें आकर प्राप्त हो गया है तो जो धीर मुनि यहाँ अनुपम सुख (मुक्तिसुख)के  
 साधनेमें प्रयत्नशील हैं उन्हें क्या उसे हर्षपूर्ण मनसे सहन नहीं करना चाहिए ? अब इस  
 सहन करना चाहिए ॥८३॥

१. All others except P T F मनसः सिद्धान्तसूत्रद्विषः, X सर्वतत्त्वद्विषः, T सर्वज्ञसूत्रद्विषः ।

२. All others except P निश्चिन्ताः परलोकमष्टमतयो मोहानलोहीपिताः । ३. M रौद्रस्यात्कलङ्कितः ।

४ P गतमध्यानीय वलः । ५. J यद्यायात्मे । ६. Y सुखसिद्धैः । ७. All others except P  
 interchange Nos 83-84 ।

975 ) वयमिहै परमात्मस्वरूपका दावधानाः  
परिकलितपदार्थस्त्यक्तसंसारमार्थाः ।  
यदि निकषपरीक्षासु क्षमा नो तदानीं  
भजति विफलभावं सर्वथैष प्रयासः ॥८४

976 ) [ ^उक्तं च—  
( यो धर्म दहति दुग्रं दत्त इवोन्मध्याति नीति लता  
दन्तीबेन्दुकला विधुन्तुद इव क्लिश्नाति कीर्ति नृणाम् ।  
स्वार्थं वायुरिवाम्बुदं विघटयत्युल्लासयत्यापदं  
तृष्णा धर्म इवोचितः कुतुपालोपः स कोपः कथम् ॥८४\*१ ]  
क्रोधकषायजयः ।

975 ) वयमिह—इह जगति वर्यं यदि निकषपरीक्षासु परीक्षाभूमिषु नो क्षमाः समर्थाः भवेयुः । कोदृशा वयम् । परमात्मस्वरूपका दावधाना इत्यचित्ताः । पुनः कोदृशा वयम् । परिकलित-पदार्थाः ज्ञातसकलभावाः । पुनः कोदृशाः । स्वार्थं विघटयत्युल्लासयत्यापदं सर्वथा विफलभावं भजति । इति सूक्ष्मार्थः ॥८४॥ कोपस्यातीचित्यमाह ।

976 ) यो धर्म—स कोपः कथम् उचितः । कोदृशः । यः दत्त वनापिनः द्रुमम् इव धर्म दहति । लताम् एव नीति उम्भ्याति । कः । दन्ती हस्ती । विधुन्तुदः राहुः इन्दुकलाम् इव । यः नृणां कीर्ति क्लिश्नाति नाशयति । वायुः अम्बुदं अङ्गदम् इव यः स्वार्थं विघटयति विनाशयति, धर्मः यथा तृष्णा तथा यः आपदम् उल्लासयति वर्षयतीर्थर्थः ॥८४\*१॥ इति क्रोधकषायजयो वर्णितः । अथ मदजनितकर्मवर्त्त्वं कथयति ।

परमात्मस्वरूपके चिन्तनमें सावधान, वस्तुस्वरूपके ज्ञाता और संसारके कारणभूत पापान्वरणका त्याग कर देनेवाले ऐसे हमलोग यदि यहाँ क्षमाकी कसौटीभूत इस परीक्षाओं-में—वध-चन्द्रघनादि अनेक प्रकारके उपद्रवोंके सहनमें—समर्थ नहीं होते हैं तो हमारा यह सब परिश्रम—क्रत-संयमादिका परिपालन—सर्वथा निष्फलताको प्राप्त हो जाता है ॥८४॥

कहा भी है—जो क्रोध धर्मको, दावानल जैसे वृश्चको, जलाता है । हाथी जैसे लताको वैसे जो नीतिको उखाड़ता है । राहु जैसे चन्द्रमाको उसी तरह जो मनुष्योंकी कीर्तिको गिराता है । वायु जैसे मेधको वैसे जो स्वार्थको उड़ाता है । उषणकाल जिस तरह तृष्णाको उड़ाता है उसी तरह जो संकटोंको उड़ाता है । तथा जो कृपाका नाश करता है, ऐसा कोप करना कैसा योग्य है ॥८४\*१॥ >

क्रोधकषायके जीतनेका कथन समाप्त हुआ ॥

१. T वयमिह । २. M N परीक्षां न क्षमामस्तुदानीं । ३. J विफलभावं । ४. Only in E X ।  
५. M विजयः, R ^कषायवर्णनं ।

977 ) कुलजातीश्वरत्वादिमद् पूच्छस्त्रुद्धिभिः ।

सद्यः संचीयते कर्म नीचैर्गतिनिवन्धनम् ॥८५

978 ) मानग्रन्थिर्मनस्युच्चैर्यविदास्ते दृढस्तेव ।

तावद्विवेकमाणिक्यं प्राप्तमप्यपर्पति ॥८६

979 ) श्रोतुङ्गसात्तर्णैलाग्रवितिभिः स्तुत्युद्धिभिः ।

क्रियते मार्गसुखदृश्य पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥८७

980 ) लुप्यते मानिनः \* शशद् विवेकामललोचनम् ।

ततः प्रच्युबते \* शीघ्रं शीलशैलाग्रसंक्रमात् ॥८८

977 ) कुलजातीश्वरत्वादि—सद्यः शोघ्रं कर्म संचीयते । कैः । कुलजातीश्वरत्वादिमद्-विवरस्त्रुद्धिभिः कुलमदजातिमद्इश्वरत्वादिमदैविवरस्ता द्वुद्धियेषां से कुलजातीश्वरत्वादिमद्-विवरस्त्रुद्धयः । तेः । तथा कोदूर्घां कर्म । नोचैर्गतिविवन्धनं कारणम् । इति सूत्रार्थः ॥८५॥ अथ माने सति विवेकाभाव इत्याह ।

978 ) मानग्रन्थिः—हे भव्य, ते तब मतसि उच्चैर्यविद् मानग्रन्थिरास्ते दृढः तावद् यावतीः । समाराधिकरणत्वात् ( ? ) ॥८६॥ अथ सति माने धर्ममार्गः वाच्य इत्याह ।

979 ) श्रोतुङ्ग—लुप्तवुद्धिभिर्नष्टमतिभिः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः पूज्या गुर्वादियस्तेषां पूजा-व्यतिक्रमः उन्नतमानपवर्तशृङ्गस्थितैः । इति सूत्रार्थः ॥८७॥ अथ मानसञ्चावे विवेकाभाव इत्याह ।

980 ) लुप्यते—पुंसो पुष्पाणां विवेकामललोचनं लुप्यते नदयति । कस्मात् । मानतः ।

जिनकी बुद्धि कुल, जाति और प्रभुता आदिके भद्रके मोहसे नष्ट हो चुकी है वे शीघ्र ही नीच गतिके कारणभूत कर्मका संचय करते हैं । अभिप्राय यह है कि ज्ञान, पूजा-अतिष्ठा, कुल ( पितृपक्ष ), जाति ( मातृपक्ष ), श्ल, घन-सन्ध्यात्मि, अवश्यनादि तप और शरीर-सौन्दर्य आदिके विषयमें अभिमान करनेसे प्राणीके जो नीच गोत्र आदि पापकर्मोंका अन्ध होता है उससे वह दुर्योगके दुखको सहना है ॥८५॥

हे भव्य ! जब तक तेरे हृदयमें अतिशय दड मानकी गाँठ विघ्नमान है तब तक विवेकरूप मणि आप होकर भी नष्ट हो जाता है ॥८६॥

जो अभिमानपूर्ण बुद्धिके धारक भनुष्य अतिशय उन्नत मानसी पर्वतके शिखरपर स्थित रहते हैं वे सभीचीन पद्मलिका उल्लंघन करके पूज्योंकी—अहंत-सिद्धादि परमेष्ठियों-की—पूजाको नष्ट करते हैं । तात्पर्य यह कि अभिमानी मनुष्य अपने सामने अन्य सबको तुल्ण समझा करता है, इसीलिए वह जो अरिहन्त आदि पूजनेके योग्य हैं उनकी भी वह भक्ति-पूजा आदि नहीं करता ॥८७॥

अभिमानी प्राणीका विवेकरूप निर्मल नेत्र निरन्तर लुपा रहता है । इसीलिये वह शीलरूपी पर्वतशिखरके मार्गसे शीघ्र ही चयुत हो जाता है ॥८८॥

१. All others except P भविवरस्त । २. L S F X R दृढस्तवा । ३. All others except P लुप्त for स्तुत्य । ४-५. All others except P भावतः पुंसां विं...प्रभवत्से ततः शीघ्र ।

- ९८१ ) ज्ञानरत्नमपाकृत्य शृङ्गात्प्रज्ञानपन्नगम् ।  
गुरुनपि जनान् मानी विमानयति गर्वितः ॥८९०  
९८२ ) करोत्युद्गतधीर्मनाद्विनयाचारलङ्घनम् ।  
विराध्याराध्यसंतानं स्वेच्छाचारेण वर्तते ॥९०  
९८३ ) मानमालस्य मृदात्मा विवत्ते कर्म निन्दितम् ।  
कलङ्कयति चाशङ्कधरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥९१  
९८४ ) गुणरिक्तेन किं तेन मानेनार्थः प्रसिद्ध्यति ।  
तन्मन्ये मानिना मानं यज्ञोक्त्रयशुद्धिदर्श ॥९२

तसो विवेकामललोचने लुप्ते सति । शीर्षं शैलाग्रसंकमात् स्वाचारपवृतशृङ्गसंकमात् प्रच्यवन्ते पतन्तीति सूत्रार्थः ॥८८॥ अथ मानवतो गुरोरवबीरणामाह ।

९८१ ) ज्ञानरत्नम्—मानी जनः अज्ञानपन्नगं गृह्णति । फलगं संपर्श । किं कृत्वा । ज्ञानरत्नम् अपाकृत्य दूरीकृत्य । इति भावः । अपि पक्षान्तरे । गुरुन् तत्त्वोपदेशकान् विमानयति अवधीरयति । कीदृशः । मानी गर्वितः अहंकारवान् । इति सूत्रार्थः ॥८९॥ अथ मानेन विनायादि नश्यत इत्याह ।

९८२ ) करोत्युद्गत—उद्गतधीर्मनाचारलङ्घनं भक्तिसेवाचारविलङ्घनं करोति । आसप्रस्तात् राध्यन्त इत्याराध्याः । तेषां संतानमाराध्य संतानं विराध्य विरोधयित्वा स्वेच्छाचारेण वर्तते । इति सूत्रार्थः ॥९०॥ अथ पुनर्मनियुक्तवरणं कलङ्कयतीत्याह ।

९८३ ) मानमालस्य —मृदात्मा मूर्खः निन्दितं कुत्सितं कर्म विवत्ते करोति । किं कृत्वा । मानमालस्याश्रित्य । च पुनः । स मृदात्मा अशोषं संपूर्णं चरणं चारित्रं कलङ्कयति । कीदृशम् । चन्द्रनिर्मलम् । इति सूत्रार्थः ॥९१॥ अथ मानेनार्थसिद्धिनं भवेदित्याह ।

९८४ ) गुणरिक्तेन—गुणरिक्तेन गुणशून्येन मानेन तेन किम् अर्थः प्रसिद्ध्यति प्रकर्षण

मानी मनुष्य ज्ञानरूपी रत्नको नष्ट करके अज्ञानरूप विषयकी ग्रहण किया करता है तथा वह अभिमानके बशीभूत होकर गुरुजनोंको भी अपमानित करता है ॥८९॥

गर्विष्ठबुद्धि मनुष्य मानके कारण विनयाचारका उल्लंघन करता है—वह गुरुजनके प्रति विनयपूर्ण व्यवहार नहीं करता है, तथा वह आराधनीय सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी परम्परा विराधना करके स्वरूपन्द आचरणमें प्रवृत्त होता है ॥९०॥

मूर्ख मनुष्य मानका आश्रय लेकर निन्दित कार्यको करता है, वह निर्भय होकर चन्द्रके समान निर्मल चारित्रको कलंकित करता है ॥९१॥

गुणसे रहित उस अभिमानसे भला क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? कुछ भी नहीं । मानी जनोंका सच्चा मान तो वही कहा जा सकता है जो कि दोनों लोकोंको शुद्धि प्रदान

१. All others except P जनो । २. All others except P J गर्वितः । ३. All others except P M N ज्ञानेष्वरण । ४. M सिद्धिवं ।

९८५ ) अपमानकरं कर्म येन दूरान्विषिष्यते ।

स उच्चैश्वेतसा मानोऽपरः स्वपरथातकः ॥९३

सिद्धो भवति । अहम् एवं मन्ये । तन्मानिनां मानं परलोकद्वयसिद्धिदम् इहपरलोकसिद्धिदातारम् इति सूत्रार्थः ॥९२॥ अथ महतां मानकार्यमाह ।

९८६ ) अपमान—स उच्चैश्वेतसाम् उन्नतचित्तानां मानः परः प्रकृष्टः । पुनः कोदृशः । स्वपरयोर्धातिकः स्वपरथातकः । स इति कः । येन मानेन अपमानकरं कर्म दूरान्विषिष्यते दूरतः परिवर्ज्यते । इति सूत्रार्थः ॥९३॥ अथ संसारभ्रमे मानाभावं दर्शयति ।

करनेवाला हो । विशेषार्थ—प्रकृतमें प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे मानके दो भेद किये जा सकते हैं । उनमें जो मान प्राणीको कुमार्गसे हटाकर सन्मार्गमें प्रवृत्त करता है वह प्रशस्त मान है । उदाहरणस्वरूप कुछ दुर्व्यसनी मनुष्य एक मनुष्यसे भिन्नता जोड़कर यदि उसे भी व्यसनीमें प्रवृत्त कराना चाहते हैं तो उस समय उसे यह अभिमान होना चाहिये कि मैं ऐसे उच्च कुलमें उत्पन्न होकर इस हीन कृत्यमें कैसे प्रवृत्त होऊँ, इससे मेरा निर्मल कुछ कलंकित होगा । दूसे इन दुराधारियोंकी संगतिमें भी उन्होंना योग्य नहीं है । इस प्रकारका अभिमान प्रशस्त समझा जाता है जो उपादेय ही है । इस प्रकारके स्वाभिमानसे प्राणी पापाचरणसे दूर रहता है । इससे यह इस लोकमें प्रतिष्ठा आदिको तथा परलोकमें उत्तम देवताओं व मुक्तिको भी प्राप्त करता है । इस प्रकार यह प्रशस्त अभिमान प्राणीके उभय लोकोंको शुद्ध करता है । दूसरा अप्रशस्त अभिमान यह है कि जिसके आश्रयसे हीन मनुष्य अपनेमें अभिमानके योग्य गुणोंके न होते हुए भी उनके सद्भावको प्रगट करके अपनी लो प्रशंसा करता है तथा दूसरेमें उत्तम गुणोंके होनेपर भी उनके अभावको बतलाकर उनकी निन्दा करता है । ऐसा अभिमानी मनुष्य पूज्य जनोंकी विनाय व भक्ति आदि नहीं करता, इवना ही नहीं, बल्कि वह प्रायः अपने ज्ञान-चारित्र व धन-सम्पत्ति आदिके अभिमानमें मूढ़ होकर साधु जनोंका तिरस्कार भी करता है । इस दुरभिमानके कारण वह हिंसा व असत्यभाषणादि पापाचारमें प्रवृत्त रहता है, जिससे उसे इस लोकमें निन्दापूर्वक दण्डका पात्र तथा परलोकमें नरकादि दुर्गतिका पात्र बनना पड़ता है । इसीलिये यहाँ घन्थकारने यह भाव प्रगट किया है कि आत्महितैची जीवोंको इस दुरभिमानको छोड़कर स्वाभिमानमें प्रवृत्त होना चाहिये । इससे यह दोनों ही लोकोंमें सुखी रहेगा ॥९२॥

जो मान अपमानित करनेवाले कार्यको दूरसे ही रोक देता है—प्राणीको दुराचारसे बचाता है—वही भनस्त्री जनोंका मान प्रशंसनीय है । इसके विपरीत जो मान प्राणीको अपमानित करनेवाले कार्यमें—दुर्व्यसन एवं हिंसादि पापकार्योंमें—प्रवृत्त करता है वह स्व और परका घातक है—उसके कारण अपने साथमें अन्य प्राणियोंका भी अहित होने-वाला है ॥९३॥

१८६ ) कव मानो नाम संसारे जन्तुवजविडम्बके ।

यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्टामध्ये कुमिर्भवेत् ॥१४

१८७ ) [ मुष्णाति यः कृतसमस्तसमीहितार्थं

संजीवनं विनयजीवितमङ्गभाजाम् ।

जात्यादिमानविषयं विषमं विकारं

तं माद्वामृतरसेन नयस्व शान्तिम् ॥१४\*१

१८८ ) औचित्याचरणं विलुम्पति पथोवाहं नभस्वानिव

प्रध्वंसं विनयं नयत्यहिरिव प्राणस्पृशां जीवितम् ।

कीर्तिं केरविणीं मतङ्गज्ज इव प्रोन्मूलयत्यज्जसा

मानो नीच इवोपकारनिकरं हन्ति त्रिवर्गं नृणाम् ॥१४\*२ ] मानम् ।

१८६ ) कव मानः—नामेति कोमलामन्थणे । संसारे कव मानः । न कवापीति । कीदूशे संसारे । जन्तुवजविडम्बके जोवसमृद्धविडम्बतकर्त्तरि । यत्र संसारे प्राणी नृपो भूत्वा राजा भूत्वा विष्टामध्ये कुमि: कोटविशेषो भवेदिति सूक्ष्रार्थः ॥१४॥ [ अथ मानस्यानिष्टतामाह ।

१८७ ) मुष्णाति यः—तं मानं शान्तिं नयस्व । कीदूशम् । जात्यादिविषयकम् । किमर्थम् । यः कृतसमस्तसमीहितार्थं संवादितसमस्ताभीष्टवस्तुबात् मुष्णाति चोरयति । पुनः कीदूशम् । विषमम् अनर्थकारिणम् । केन । माद्वामृतरसेन माद्वं विनयः स एव अमृतरसा, तेन । अन्यत्सुगमम् ॥१४\*१॥ पुनस्तदेवोपमया आह ।

१८८ ) औचित्याचरणं—यथा नभस्वान् वायुः पथोवाहं मैथं विलुम्पति तथा मानः औचित्याचरणं विलुम्पति । यथा वा अहिः सर्वः प्राणस्पृशां प्राणिनां जीवितं प्रध्वंसं नयति तथा मानो विनयम् । यथा वा मतङ्गजः मत्तहस्ती केरविणी नलिनीम् प्रोन्मूलयति उत्पाटयति तथा मानः कीर्तिम् । यथा वा त्रिवर्गो उपकारनिकरं उपकृतसमूहं हन्ति तथा अर्थ मानः नृणां त्रिवर्गं वर्षार्थकामस्वरूपं नाशयतीत्यर्थः ॥१४\*२॥ ] मानम् । अथ मानानन्तरं मायास्त्रल्यमाह ।

प्राणिसमूहको तिरस्कृत छरनेवाले जिस संसारमें प्राणी राजा होकर मलके मध्यमें शुद्र कीड़ा उत्पन्न हो सकता है । उस संसारमें भला मान कहाँ और किसका रह सकता है ? तात्पर्य यह कि संसारमें जब धन-सम्पत्ति एवं शरीर-सौन्दर्यं आदि सब ही नश्वर हैं तब उनके आश्रयसे प्राणीका अभिमान करना उचित नहीं है ॥१४॥

जो मान प्राणियोंके समस्त ईरित साध्य करनेवाले नम्रताको चुरा लेता है, ऐसा जात्यादिरूप मान, जो कि अनिष्ट विकार है, उसे मृदुतारूप असृतसे नष्ट कर ॥१४\*२॥

बायु जैसे अम्बुद्धको वैसे जो मान योग्य आचरणको नष्ट करता है, सर्व जैसे प्राणियोंका जीवित वैसे जो नम्रताको नष्ट करता है, मदमस्त हाथो जैसे कमलकी छताको वैसे जो ध्वाटसे मानवोंकी कीर्तिको उखाइता है तथा नीच जैसे उपकारोंका वैसे जो मानवोंके त्रिवर्गका नाश करता है ॥१४\*२॥

- 989 ) जन्मभूमिरविद्यानामकीर्तेवासिमन्दिरम् ।  
पापपञ्चमहागतीं निकृतिः कीर्तिता दुधैः ॥९५  
990 ) अर्गलेवायद्वर्गस्य पदबी शश्रवेशमनः ।  
शीलशालवने ज्वाला॑ मायेयमवगम्यताम् ॥९६  
991 ) कूटद्रव्यमिवासारं स्वप्नराज्यमिवाफलम् ।  
अनुष्ठानं मनुष्याणां मन्ये मायावलम्बिनाम् ॥९७  
992 ) लोकद्वयहितं केचित्पोषिः कर्तुमुथताः ।  
निकृत्या वर्तमानास्ते हन्त हीनाँ न लज्जिताः ॥९८

989 ) जन्मभूमिः—दुधैः पण्डितैनिकृतिः माया पापपञ्चमहागतीं पापकर्दममहागतीं कीर्तिता । कीदृशी निकृतिः । अविद्यानां कुशास्थाणां जन्मभूमिः जन्मस्थानम् । पुनः कीदृशी । अकीर्तेः वासमन्दिरम् । इति सूत्रार्थः ॥९५॥ अथ पुनर्मायाविशेषमाह ।

990 ) अर्गले—इयं माया अवगम्यतां विज्ञायताम् । कीदृशो माया । अपवर्गस्य मोक्षस्य अर्गला इव । शश्रवेशमनः नरकगृहस्य पदबी । पुनः कीदृशी । शीलशालवने शीलसहकारकानने वह्निः । इति सूत्रार्थः ॥९६॥ अथ मायावतामसारमाह ।

991 ) कूटद्रव्यं—मनुष्याणाम् अनुष्ठानं कूटद्रव्यमिव असारं स्वप्नराज्यमिवाफलम् । मायावलम्बिनां मायाश्रितानाम् । अहं मन्ये । इति सूत्रार्थः ॥९७॥ अथ मायाकृतं तपो व्यर्थमित्याह ।

992 ) लोकद्वय—ते निकृत्या मायथा वर्तमानाः । हन्त खेदे । हीनाः हीनसत्त्वाः न

विद्वान् जनोने माया ( छल-कपट ) को अविद्याओंकी जन्मभूमि—अज्ञानको उत्पन्न करनेवाली, अकीर्तिका निवासस्थान—अपयशका कारण, और पापरूप कीचड़का विशाल गद्दा—उसे संचित करनेवाली बतलाया है ॥९५॥

यह माया मोक्षकी अर्गला—उसके द्वारको रोकनेवाली आगल ( कपाटोंके पीछे लगायी जानेवाली विशेष लकड़ी ) के समान, नरकरूप गृहके मार्गसमान और शीलरूप शाल ( सालू, वृक्ष ) वनके भस्म करनेमें अनिवार्यालाके समान हैं, ऐसा निश्चित समझना चाहिए ॥९६॥

मायाचारी मनुष्योंका आचरण—जप-तप व अत-संबन्धादि—कूटद्रव्य ( बाजीगरके द्वारा दिखलायी जानेवाली बनावटी अङ्गूठी आदि वस्तु ) के समान निःसार और स्वप्नमें प्राप्त हुए राज्यवैभवके समान लिङ्कल होता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥९७॥

मायाचारके साथ अवस्थित जो कितने ही निकृष्ट जन तपश्चरणके द्वारा होनी लोकों सम्बन्धी आत्महित करनेके लिए उद्यत होते हैं, खेद है कि वे इसके लिए लज्जित नहीं होते । अभिप्राय यह है कि मायापूर्वक की जानेवाली जप-तप आदिरूप कोई भी क्रिया

१. M N S T J Y R ज्ञाते । २. All others except P वने वह्निमयि० । ३. M N भ्रीता व ।

- 993 ) मुक्तेरविप्लुतैबोक्ता॑ गतिश्चृंज्वी जिनेश्वरैः ।  
तत्र मायाविभिः॒ स्थातुं न स्वप्ने इष्यस्ति योग्यता ॥९९
- 994 ) ब्रती निःशल्य एव स्यात् सशल्यो वृत्तेषातकः ।  
माया शल्यं मतो॑ साक्षात् सूरिभिर्भूरिभीतिदम् ॥१००
- 995 ) इहाकीर्ति॑ समादर्ते॒ भूतो यात्येव दुर्गतिम् ।  
मायाप्रपञ्चदोषेण जनो॑ इयं जिह्विताशयः ॥१०१ ॥

लज्जिताः । ते के । वे केचित्पोभिर्लोकद्वयहितम् इहपरलोकहितं कहु॑म् उद्यताः सावधानाः । इति सूत्रार्थः ॥९८॥। अथ माया मुक्तेः कारणं नेत्याह ।

993 ) मुक्तेरविप्लुता—जिनेश्वरैः गुक्तेः ऋज्वो सरला गतिः च उक्ता । चकारः पादपूरणार्थः । कीदृशीः । \*अविद्रुतैनिमंडः । तत्र ऋजुगत्यां माया विनिस्थातुं स्वप्ने इषि योग्यता नास्ति । इति सूत्रार्थः ॥९९॥। अथ पुनर्याताशल्यस्य दुःखदायित्वमाह ।

994 ) ब्रती—ब्रती चारित्रयुक्तः॑ निःशल्य एव स्यात् । सशल्यो व्रतषातकः । माया शल्ये॑ मते॑ कथितसम् । कैः॑ । सूरिभिः॑ । भूरिभीतिदं बहुभयदमिति॑ सूत्रार्थः ॥१००॥। अथ मायाजनित-दोषमाह ।

995 ) इहाकीर्ति—अयं जनो लोकः॑ इह जगति अकीर्तिम् अयशः समादत्ते गृह्णाति॑ । भूतो यात्येव गच्छत्येव । दुर्गति॑ नरकादिगतिम् । केन । मायाप्रपञ्चदोषेण मायाविस्तारदोषेण । कोदृशो जनः । जिह्विताशयः कुटिलचित्तः । इति सूत्रार्थः ॥१०१॥। अथ मायाकृतं प्रगटयत्येवेत्याह ।

कार्यकारी नहीं होती । इसीलिए जो जीव दूसरोंको धोखा देनेके लिए ब्रत-संयमाविका परिपालन करते हैं वे वस्तुतः दूसरोंको धोखा नहीं देते, बल्कि अपने आपको ही धोखा देते हैं । इसके लिए उन्हें लज्जा आनी चाहिए ॥९८॥।

जिनेन्द्र देवने मुक्तिकी गति—मोक्षमार्गका अनुष्ठान—निरुपद्रष्ट और सरल ( कुटिलतासे रहित ) बतलाया है । इसलिए वहाँ कपटी मनुष्योंको स्थित होनेके लिए स्वप्नमें भी योश्यता नहीं है । वात्पर्य यह है कि मायाचारी जन सरलतापूर्ण मोक्षमार्गका अनुष्ठान कभी भी नहीं कर सकते हैं ॥९९॥।

जो माया, मिथ्या और निवान इन तीन शल्योंसे रहित होता है, वही ब्रती हो सकता है । इसके विपरीत जो इन शल्योंसे सहित होता है, वह सभीचीन चारित्रको नष्ट ही करता है । आचार्योंने मायाकषायको प्रत्यक्षमें ही अतिशय भयप्रद शल्य माना है ॥१००॥।

अन्तःकरणमें कुटिलताको खारण करनेवाला यह मनुष्य मायाव्यवहारके दोषसे इस लोकमें अपर्कीर्तिको ग्रहण करता है, तथा मर करके परलोकमें नरकादि दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥१०१॥।

१. All others except P M N लुतैश्चोक्ता । २. All others except P M मायाविकाः ।  
३. All others except P F व्रतषातकः । ४. All others except P मते ।

९९६ ) छाद्यमानमपि प्रायः कुरुक्षुरुति स्वयम् ।  
अलं मायाप्रपञ्चेन लोकद्वयविरोधिना ॥१०२

९९७ ) क्व मायाचरणं हीनं क्व सन्मार्गपरिग्रहः ।  
नापवर्गपथे मूढं संचरन्तीह वशकाः ॥१०३

९९८ ) बकवृत्तिं समालम्ब्ये वशकैर्वज्जितं जगत् ।  
कौटिल्यकुशलैः पापैः प्रसन्नं कश्मलाशयैः ॥१०४

९९६ ) छाद्यमानम्—कुरुक्षुरुति छाद्यमानमपि । प्रायः स्वयं स्फुटति प्रगटीभवति । अतः कारणात् मायाप्रपञ्चेन मायाविस्तारेण अलं श्रितम् । कीदृशेन मायाप्रपञ्चेन । लोकद्वयविरोधिना नाशकत्वेन, इहपरलोकवैरिणा । इति सूत्रार्थः ॥१०२॥ अथ मायावतां मोक्षमार्गभावमाह ।

९९७ ) क्व मायाचरणं—मायाचरणं मायाचरितं क्व । कीदृशम् । हीनं हीनफलम् । सन्मार्गपरिग्रहः मोक्षमार्गज्ञीकारः क्व । महदन्तरम् । हे भ्रातुः,\* इह भवे वशकाः मायाविनः अपवर्गपथि न संचरन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१०३॥ अथ कौटिल्येनमत् वज्जितमित्याह ।

९९८ ) बकवृत्ति—बक्षकैर्वज्जितं जगत् वज्जितम् । कि कल्पा । बकवृत्ति बकजीववृत्ति समालम्ब्य । कीदृशीर्वज्जितैः । कौटिल्यकुशलैः कुटिलसाचतुरैः । पुनः कीदृशैः । पापैः कश्मलाशयैः मलिनचित्तैः । कीदृशं जगत् । प्रसन्नं निर्मलमिति सूत्रार्थः ॥१०४॥ [ मायाया अस्तित्वामाह । यदुवतम् ।

दोनों लोकोंके विरोधी उस मायाव्यवहारसे लुपाया जानेवाला भी दुरुक्षम् प्रायः स्वयं ही फूट जाता है—सपष्ट हो जाता है । इसीलिए उक्त मायाव्यवहारका सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥१०२॥

निकुष्ट मायाचार कहाँ और समीक्षीन मार्गका ग्रहण कहाँ—दोनोंमें परस्पर विरोध है । हे भाई ! दूसरोंको धोखा देनेवाले मनुष्य उहाँ मोक्षमार्गमें प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं ॥१०३॥

कुटिलसापूर्ण व्यवहारमें चतुर पापी और मलिन अस्तित्वाकरणवाले धूतैजन बकवृत्तिका आश्रय लेकर निर्मल विश्वको—सीधे व सरल प्राणियोंको—ठगा करते हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार बगुला मछलियोंके पकड़नेके विचारसे उन्हें धोखा देनेके लिए शरीरको स्थिर करके ध्यात्मकी अवस्थामें स्थित हो जाता है और जब मछली सामने आयी कि उसे पकड़कर स्त्रा जाता है उसी प्रकार कितने ही धूत अपनी कपटपूर्ण धार्मिकताका प्रगट करके दूसरोंको धोखा देते हैं और उनसे अपने स्वार्थको सिद्ध किया करते हैं ॥१०४॥

१. M N पथि प्रायः, All others except P M N पथि भ्रातः । २. Y समाप्ताद्य ।

999 ) वदुक्तम्—

कुशलजननवन्ध्या सत्यसूर्यस्तसंध्या  
कुपतियुवतिमालां मोहमातङ्गशालाम् ।  
शमकमलहिमानीं दुर्यशोराजधानीं  
व्यसनशतसहायां दूरतो मुञ्च मायाम् ॥१०४\*१

1000 ) विधाय मायां विविधैरुपायैः परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति ।

ते वञ्चयन्ते हुदि वापवगात् सुखान्महामोहसखाः स्वमेव ॥१०४\*२

1001 ) मायैव विश्वासविलासमन्दिरं दुराशयो यः कुरुते धनाशया ।

सो अनर्थसार्थं न पतन्तमीक्षते यथा विडालो लगुडं पयः पिबन् ॥१०४\*३

999 ) कुशलजनन—मायां दूरतः मुञ्च । कीदृशीम् । कुशलजननवन्ध्या कल्याणस्य संपदाने अक्षमाम् । सत्यसूर्यस्तसंध्या सत्यमेव सूर्यः तस्य अस्तमने विलोपने संध्यां संध्या-सदृशीम् । कुपतिः एव युवतिः सस्याः मालां मालासदृशीम् । मोह एव मातङ्गः मत्तगजः तस्य शालां वसतिस्थानम् । शमः शान्तिः एव कमलं तस्य विनाशाने हिमानीं हिमवृष्टिसदृशीम् । दुर्यशो-राजधानीम् अपकीलिरेव राजधानीं राजसमा तत्सदृशीम् । व्यसनशतसहायां विघ्नशतोत्पादने साहाय्यकश्रीमिति सूत्रार्थः ॥१०४\*१॥ परवञ्चना स्वहानिकरीत्याह ।

1000 ) विधाय—ये मायां कपटं विधाय । परस्य वञ्चनम् आचरन्ति ते महामोहसखाः मोहयुक्ताः । अपवगात् सुखात् मोक्षसुखात् स्वमेव आत्मानमेव वक्तव्यन्ते इत्यर्थः ॥१०४\*२॥ पुनस्तदेव पक्षान्तरेणाह ।

1001 ) मायैव—यः दुराशयः दुष्टान्तःकरणः धनाशया द्रव्येभूषया मायैव विश्वास-विलासमन्दिरं कुरुते । सः पतन्तम् आगच्छन्तम् अनर्थसार्थम् अनर्थसमूहं न ईक्षते न पश्यति । यथा पयः पिबन् विडालः मार्जरिः लगुडं यष्टि न पश्यति तद्वत् इत्यर्थः ॥१०४\*३॥ पुनस्तदेवाह ।

[ कल्याणको जन्म न देनेवाली, सत्यरूप सूर्यका अस्त करनेमें संध्याके समान, नीच गतिरूप युवतिकी मानो माला, मोहरूप इश्वरीका निवासस्थान, शान्तिरूप कमलोंकी हिमवृष्टि जैसी, अकीर्तिकी मानो राजनगरी और सैकड़ों संकटोंको साहाय्य करनेवाली मायाको, हे भव्य, तू दूर रख ॥१०४\*१॥

जो लोग मायासे विविध उपाय बनाकर लोगोंको ठगते हैं वे महामोहके मित्र होकर अपनेहो सोक्षमसुखसे चञ्चित रखते हैं ॥१०४\*२॥

जो दुष्ट द्रव्यकी इच्छासे मायाको विश्वासका विलासमन्दिर बनाता है, यानी कपट-से जो दूसरोंका विश्वास नष्ट करता है, वह अपनेपर आनेवाले संकटोंके समूहको नहीं देखता है । जिस वरह दूध पीनेवाला मार्जरि लकड़ीको नहीं देखता ॥१०४\*३॥

t. These four verses are found only in X. ।

1002) मुग्धप्रतारणपरायणमुजिहीते यत्याट्वं कषट्ठलम्पदचित्तशून्ते ।  
जीर्यत्युपस्तुवैश्वमेहाप्युक्त्वा नापथ्यभोजनमिवामयमायतोजत् ॥ ( ? )  
१०४\*४ ] ॥ माया ।

1003) नयन्ति विफलं जन्म प्रयासैसृत्युगोचरैः ।  
वराकाः प्राणिनो अजस्रं लोभादप्राप्तवाच्छिताः ॥१०५

1004) शाकेनोनागीश्वरः जातु न अर्तुदुर्दरं इत्यतः ।  
लोभात्थापि वाञ्छन्ति नराश्रकेश्वरश्रियम् ॥१०६

1002) मुग्धप्रतारण—वस्थ इलोकर्य शुद्धः पाठः नोपलभ्यते । अतो इय दीकापि कर्तुं न पार्थते ॥१०४\*४॥] माया । अथ मायानन्तरे क्रमायात्तलोभं निदर्शयति ।

1003) नयन्ति—प्राणिनो वराकाः अजस्रं निरस्तरं जन्म विफलं निष्फलं नयन्ति प्राप्नुवन्ति । कैः । प्रयासैः उद्यमैः । कीदृशैः । सृत्युगोचरैः । कीदृशाः प्राणिनः । अप्राप्तवाच्छिताः । कस्माद् । लोभादिति सूत्रार्थः ॥१०५॥ अथ लोभादुदरं भरित्वमाह ।

1004) शाकेनापि—नराः मनुष्याः । जातु कदाचित् । शाकेनापि व्यज्ञनेनापि इच्छया उदरं अतुं न क्षमाः न समर्थाः । तथापि नराः लोभात् चक्रेश्वरश्रियं चक्रवर्तिलक्ष्मीं वाञ्छन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१०६॥ अथ लोभवतो निन्द्यकमहि । आर्द्ध ।

इस इलोकका संस्कृत रूप अशुद्ध होनेसे इसका वरावर अर्थ देना असंभव है ॥१०४\*४॥] माया कषायका अर्णन समाप्त हुआ ॥

कितने ही दीन प्राणी निरन्तर लोभकषायके वशीभूत होकर अभीष्ट पदार्थोंको न प्राप्त करते हुए सृत्युके कारणभूत परिश्रमसे अपने जन्मको निष्फल करते हैं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोभकषायके वशमें होकर अभीष्ट वन-सम्पत्ति आदिको प्राप्त करनेके लिए देश-विदेशमें परित्रयण करता हुआ उसके लिए चोर परिश्रम करता है और दुखी होता है । यहाँ तक कि कभी-कभी प्राणी अपनी आशाकी धूतिके लिए दुष्कर कार्यको करते हुए प्राणोंको भी दे देता है । लोभी जीव यह नहीं सोचता है कि प्राणोंको जो अभीष्ट सुखकी सामग्री प्राप्त होती है वह उसके पूर्वोपार्जित कर्मके अनुसार प्राप्त होती है—केवल परिश्रमसे ही यह नहीं प्राप्त होती है । इसीलिए पूर्वं पुण्यके बिना उसका यह सब परिश्रम व्यर्थ होता है ॥१०५॥

जो मनुष्य यसपि इच्छाके अनुसार शाकसे भी अपने उदरको पूर्ण करनेके लिए समर्थ नहीं होते हैं तो भी वे लोभके वशमें ॥१०६॥

1005 ) स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानवलावालांश जीर्णदीनादीन् ।

व्यापाद्य विगतशूको लोभातो वित्तमादत्ते ॥१०७

1006 ) ये केचित्सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः प्रोक्ताः ।

ग्रन्थनिति निविचारं ते लोभादेव जननूनाम् ॥१०८॥ लोभः । ०

1007 ) शमाम्बुधिः क्रोधशिखी निवार्यतां नियम्यतां मानसुदारमादैः ।

इयं च मायार्जवशश्चधारया मुनीश लोभश्च परिग्रहात्ययात् ॥१०९

1008 ) यत्र यत्र प्रसूयन्ते तत्र क्रोधादयो द्विषः ।

तत्र प्रागेव मोक्षव्यं वस्तु तत्सूतिशान्तये ॥११०

1005) इति—लोभातो शुद्धः वित्त दब्धमादत्ते । कोदृशः । विगतशङ्कः इह परलोक-शङ्कारहितः । स्वामिगुरुबन्धुवृद्धान् स्वपतिगुरुभ्रातृज्येष्ठान् । पुनरबलान् बलरहितान् । बालांशच बालकान् । जीर्णदीनादोन् जरितकान्दिशीकान् व्यापाद्य हत्येति सर्वत्र योज्यम् । इति सूत्रार्थः ॥१०७॥ अथ लोभादेव सर्वप्राणिनां दोषवस्त्रमाह । आर्थ ।

1006) ये केचित्—[ सिद्धान्ते शास्त्रे । श्वभ्रस्य नरकस्य साधकाः । ] निविचारं निःसंदेहम् । इति सूत्रार्थः ॥१०८॥ अथ क्रोधादीनां युगपन्निरासमाह ।

1007) शमाम्बुधिः—रे भव्य, क्रोधशिखो क्रोधाग्निः निवार्यताम् । कैः । शमाम्बुधिः उपशमजलैः । उदारमादैः प्रघानश्चजुतया मानं नियम्यतां बध्यताम् । च पुनः । आर्जवतः प्रतिक्षणं माया निग्रहोत्थ्या । च पुनः पक्षान्तरसूचकः । \*लोभशान्तये निरीहतां निलोभताम् आश्रय । इति सूत्रार्थः ॥१०९॥ अथ क्रोधादीनाम् उत्तर्तिनाशं कथयति ।

1008) यत्र यत्र—रे भव्य, तत्र यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् वस्तुनि क्रोधादयो द्विषः वैरिणः प्रसूयन्ते उत्पद्धन्ते तत्तदुस्तु प्रागेव पूर्वमेव मोक्षव्यम् । कस्यै । तेषां क्रोधादीनां सूतिशान्तये

लोभसे पीड़ित मनुष्य सिद्धय होकर स्वामी, शुद्ध, बन्धु, वृद्ध, स्त्री, बालक, दुर्बल और दरिद्र ( या दुखी ) आदि प्राणियोंका घात करता हुआ धनको ब्रह्मण करता है ॥१०७॥

आगममें नरकके कारणभूत जो कितने ही दोष कहे गये हैं वे सब विवेकसे रहित होनेके कारण प्राणियोंके लोभके निभित्से ही उत्पन्न होते हैं ॥१०८॥

हे मुनीन्द्र ! शम (क्रोधका निग्रह-धर्म) रूप जलसे क्रोधस्त्री अविमका नियारण करना चाहिए, सूदुतायूर्ण व्यवहारसे भद्रान् मानका निग्रह करना चाहिए, आर्जव ( सरलता ) रूप शशकी धारसे इस मायाका विनाश करना चाहिए, और परिग्रहके विनाशसे लोभको नष्ट करना चाहिए ॥१०९॥

हे भव्य ! जिस-जिस वस्तुके आश्रयसे तेरे क्रोधादि शत्रु उत्पन्न होते हैं उस-उस वस्तुको उक्त क्रोधादि की उत्पत्तिको नष्ट करनेके लिए छोड़ देना चाहिए ॥११०॥

१. All others except P विगतशङ्के । २. All others except P \*अर्जवतः प्रतिक्षणं निरीहतां आश्रय लोभशान्तये ।

- 1009) येन येन निवार्यन्ते क्रोधाद्याः परिपन्थिनः ।  
स्वीकार्यमग्रमत्तेन तत्त्वर्म मनीषिणा ॥१११
- 1010) गुणाधिकतया मन्ये स योगी गुणिनां गुरुः ।  
तन्निमित्ते ऽपि नाशिसं क्रोधाद्यैर्यस्य मानसम् ॥११२
- 1011) यदि क्रोधादयः क्षीणास्तदा कि खिदते वृथा ।  
तपोभिरथ तिष्ठन्ति तपस्त्राप्यपार्थकम् ॥११३

बन्धशान्तिनिमित्तम् । इति सूत्रार्थः ॥११०॥ अथ येन क्रोधादयो निवारणीयाः सत् कर्म कर्तव्यम् इत्याह ।

1009) येन येन—येन येन कर्मणा क्रोधाद्या निवार्यन्ते । क्रोदुशः क्रोधाद्याः । परिपन्थिनः प्रतिकूलाः । मनीषिणा पण्डितेन तत्त्वर्म स्वीकार्यम् अङ्गोकर्तव्यम् । कीदृशेन मनीषिणा । अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन । इति सूत्रार्थः ॥१११॥ अथ क्रोधाद्यैर्यन्मनः न भिद्यते, तेषां महत्त्वमाह ।

1010) गुणाधिकतया—अह मन्ये । गुणिनां स गुरुः वृद्धतया पूज्यः । कवा । गुणाधिकतया गुणाधिकतये । तन्निमित्ते ऽपि होवादितिमित्ते ऽपि व्रत सानसं चित्तं क्रोधाद्यैः नाशिष्टं तपोडितम् । इति सूत्रार्थः ॥११२॥ अथ क्रोधादिसद्गुर्वे कि वृथा प्रयासः इत्याह ।

1011) यदि क्रोधादयः—यदि क्रोधादयः कषायाः क्षीणाः तदा कि वृथा खिदते खेदः क्रियते । अथ तपोभिरस्तुष्ठन्ति तपः कुर्वन्ति, तत्रापि तपःकरणे तपो उपार्थकम् । इति सूत्रार्थः ॥११३॥ अथ कषाये स्तोके स्वसंवेदनमाह ।

शत्रुभूत वे क्रोधादि जिस-जिस कार्यके द्वारा रोके जाते हैं बुद्धिमान् मनुष्यके लिए प्रमादको छोड़कर उस-उस कार्यको स्वीकार करना चाहिए ॥१११॥

जिसका मन क्रोधादिके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी भुव्य नहीं होता है वह गुणोंकी अधिकताके योगसे योगी और गुणीजनोंका गुरु है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥११२॥

हे आत्मन्, यदि वे क्रोधादि विकार नष्ट हो चुके हैं तो फिर तपश्चरण के द्वारा व्यर्थ क्यों लेकर प्राप्त होता है? और यदि वे अवस्थित हैं—नष्ट नहीं हुए हैं—तो उनके होते हुए भी वह तप व्यर्थ है। तात्पर्य यह कि क्रोधादि कषायोंका निघट करने के बिना तपश्चरण आदि सब निष्फल होता है। कारण यह कि तपश्चरण आदिका प्रयोजन उन क्रोधादि विकारोंको जीतना ही है ॥११३॥

1012 ) स्वसंवित्ति समायाति यमिनां तत्त्वमुत्तमम् ।

आसमन्ताच्छमं नीते कषायविषमज्वरे ॥११४॥ अथवा—

1013 ) अजिताक्षः कषायाग्निं विनेतुं न प्रभुर्भवेत् ।

अतः क्रोधादिकं जेतुमक्षरोधः प्रशस्यते ॥११५

1014 ) विषयाशामिभूतस्य विक्रियन्ते उक्षदन्तिनः ।

~~पुनर्स्त एव दृष्ट्यन्ति~~ क्रोधादिगहनं श्रिताः ॥११६

1015 ) इदमक्षकुलं धत्ते मदोद्रेकं यथा यथा ।

कषायदहनः पुंसां विसर्पति तथा तथा ॥११७

1012) स्वसंविलित—यमिनां व्रतिनां स्वसंविलिम् आत्मानुभवनं समायाति । कीदृशम् । उत्तमं तत्त्वम् । क्व सति । कषायविषमज्वरे आसमन्ताच्छमम् उपकामं नीते सति । इति सूत्रार्थः ॥११४॥ अथवा पक्षान्तरमाह ।

1013) अजिताक्षः—अजितेन्द्रियः कषायाग्निं विनेतुं विनाशयितुं न प्रभुः समर्थः भवेत् । अतः कारणात् क्रोधादिकं जेतुम् अथरोध इन्द्रियरोधनं प्रशस्यते ॥११५॥ [ पुनर्स्तदेवाह । ]

1014) विषयाशा—विषयाशामिभूतस्य विक्रियन्ते उक्षदन्तिनः इन्द्रियगजाः विक्रियन्ते । पुनरेवाक्षदन्तिनः क्रोधादिकं गहनम् आयिताः दृष्ट्यन्ते\* । इति सूत्रार्थः ॥११६॥ अथेन्द्रियाणां कषायकारणत्वमाह ।

1015) इदमक्षकुलं—इदमक्षकुलम् इन्द्रियसमूहः यथा यथा मदोद्रेकं मदाधिकर्यं धत्ते तथा तथा कषायदहनः क्रोधवह्निः विसर्पति प्रसरति । इति सूत्रार्थः ॥११७॥ अथ कषायजयम् आह ।

कषायरूप विषमज्वरके सब ओरसे शान्तिको प्राप्त हो जानेपर—कषायके सर्वथा नष्ट हो जानेपर—उत्तम तत्त्व ( परमात्मस्वरूप ) मुनि जनोंके स्वसंवेदनको प्राप्त होता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार तीव्र ज्वरमें प्राणीको मूळरूपके कारण अपनी कुछ सुध-बुध नहीं रहती है उसी प्रकार क्रोधादि कषायोंके रहनेपर प्राणीको कभी आत्मस्वरूपकी सुध-बुध नहीं रहती है—वह आत्मसंवेदन सर्वथा असमर्थ रहता है ॥११४॥

जिसने अपनी इन्द्रियोंपर विजय नहीं प्राप्त की है वह कषायरूप अग्निको नष्ट करनेके लिए समर्थ नहीं होता है । इसलिए उन क्रोधादि कषायोंको जीतनेके लिए इन्द्रियनिग्रहकी प्रशंसा की जाती है ॥११५॥

जो प्राणी विषयरूपासे पराभूत होता है उसके अक्ष ( इन्द्रियाँ ) रूप हाथी विकारको प्राप्त होते हैं और फिर वे ही क्रोधादिरूप वस्त्रका आश्रय पा करके उन्मत्ताको प्राप्त होते हैं ॥११६॥

जैसे-जैसे वह इन्द्रियोंका समूह मदकी तीव्रताको धारण करता है—मदोन्मत्त होता है—वैसे-वैसे मनुष्योंकी कषायरूप अग्नि विस्तारको प्राप्त होती है ॥११७॥

१. All others except P N T Y end of Chapter । २. L S J R om. अथवा ।

३. All others except P N दृष्ट्यन्ते ।

1016) कथायवैरिवजनिर्जयं यमी करोतु पूर्वं यदि संवृतेन्द्रियः ।  
किलानयोनिग्रहलक्षणो विधिर्न हि क्रमेणात्र बुधैविधीयते ॥

१८। तथा—

1017) यदक्षावेषयोद्भूतं दुःखमैव न तत्सुखम् ।

अनन्तजन्मसंतानकलेशसंपादकं यतः ॥११९॥

1018) दुर्देन्द्रियमातङ्गान् शीलशाले नियन्त्रय ।

बीरं विज्ञानपाशेन विकुर्वणान् यदृच्छया ॥१२०॥

1016) कथायवैरि—यमी व्रती कथायवैरिवजनिर्जयं कथायवैरिवजनिर्जयं पूर्वं करोतु । कीदृशः । संवृतेन्द्रियः । किलेति सत्ये । अनयोः इन्द्रियकथाययोनिग्रहलक्षणः विनाशात्मको विधिः । अत्र लोके । हि निश्चितम् । क्रमेण न बुधैः पण्डितैः विधीयते क्रियते । इति सूत्रार्थः ॥११८॥। तद यथा दर्शयति । अथाक्षसंभूतं दुःखम् आह ।

1017) यदक्ष—अक्षविषयोद्भूतं इन्द्रियव्यापारजनितं यद दुःखं तत् सुखं न भवति । यतो यस्मात् कारणात् । अनन्तजन्मसंतानकलेशसंपादकम् अनन्तभवसमूहकलेशजनकम् इति सूत्रार्थः ॥११५॥। अथेन्द्रियाणां दुर्देन्द्रियम् आह ।

1018) दुर्देन्द्रिय—हे \* शीर, दुर्देन्द्रियमातङ्गान् हस्तिनः शीलशाले स्तम्भे ब्रह्माचर्यमहावृक्षे नियन्त्रय बधनीहि । केन । विज्ञानपाशेन ॥१२०॥। साधनोपायमाह ।

यदि मुनि पूर्वमें इन्द्रियोंका निरोध कर चुका है तो वह कथायरूप शत्रुओंपर विजय ग्रास करे । कारण यह कि विद्वान् महात्मा इन दोनोंके मध्यमें निग्रह करनेरूप विधिको विधान करमसे नहीं करते हैं । सात्यर्थं यह है कि इन्द्रियनिग्रह और कथायनिग्रहमें पूर्वपरताका क्रम नियत नहीं है—यदि मुनि पूर्वमें इन्द्रियोंका निग्रह कर चुका है तो तत्पश्चात् उसे कथायोंका निग्रह करना चाहिए और यदि पूर्वमें वह कथायोंका निग्रह कर चुका है तो तत्पश्चात् उसे इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिए ॥११८॥।

वह इस प्रकारसे—इन्द्रियविषयोंसे उत्पन्न हुआ सुखका आभास बन्नुसः दुख ही है, वह सुख नहीं है । कारण यह कि वह विषयसुख अनन्त संसारकी परम्पराके कलेशको उत्पन्न करनेवाला है ॥११५॥।

हे चीर ! स्वतन्त्र रहकर इच्छानुसार उपद्रव करनेवाले दुर्दम इन्द्रियरूप हाथियोंको विज्ञानरूप इसीसे शीलरूप बुक्षमें नियन्त्रित कर—उससे बाँध दे । अभिश्राव यह है कि जिस प्रकार हाथी स्वतन्त्र रहकर चूंकि अनेक प्रकारके उपद्रव करता है, अतएव चतुर महावत उसे मोटे रसेके आश्रयसे किसी बुक्ष या खम्भेसे बाँध देता है; उसी प्रकार ये इन्द्रियोंभी चूंकि स्वतन्त्र रहकर इच्छानुसार स्पर्शादि विषयोंमें प्रवृत्त होती हुई राग-द्वेष-बुद्धिको उत्पन्न करती हैं, अतएव विषेकी मुनि उन्हें कुशलतापूर्वक संयममें प्रवृत्त करते हैं ॥१२०॥।

१. P M L F X तथा । २. X Y संसादनक्षमम् । ३. All others except P शीर । ४. All others except P T विकुर्वन्ती ।

1019) हृषीकभीमभोगीन्द्रदीप्रेदपर्णेपिशान्तये ।

स्मरन्ति वीरनिदिष्टं योगिनः परमाभरम् ॥१२१

1020) निरुद्ध्य बोधपाशेन क्षिप्रा वैराग्यपञ्चरे ।

हृषीकहरयो येन स मुनीनां महेश्वरः ॥१२२

1021) हृदि स्फुरति तस्येच्चैवोधिरत्नं सुनिर्मलम् ।

शीलशालो न यस्याक्षदन्तिभिः प्रविदारितः ॥१२३

1022) दुःखमेवाक्षजं सौख्यमविद्याव्याललालितम् ।

मूर्खस्तत्रैव रज्यन्ते न विद्यः केन हेतुना ॥१२४

1019) हृषीक—योगिनः परमाभरं परमश्रताकारं स्मरन्ति । कीदृशम् । वीरनिदिष्टं वर्धमानकथितम् । कस्मै । हृषीकभीमभोगीन्द्रकुद\*दपर्णेपिशान्तये इन्द्रियसद्वनागेन्द्रकोपितदपर्णेपिशमाय । इति सूत्रार्थः ॥१२१॥ अथ वैराग्येन हृषीकपराजयम् आह ।

1020) निरुद्ध्य—हृषीकहरयः प्रस्तावात् पक्षिणः येन वैराग्यपञ्चरे क्षिप्रा । बोधपाशेन ज्ञानपाशेन निरुद्ध्य रोधयित्वा । स मुनीनां जाततत्त्वानां महेश्वरः प्रभुः । इति सूत्रार्थः ॥१२२॥ जिनधर्मः शीलरक्षणेन भवतीत्याह ।

1021) हृदि स्फुरति—तस्य पुंसो हृदि बोधिरत्नम्\* उच्चैः यथा स्वात् सम्यग्दर्शनादि रत्नं स्फुरति प्रगटीभवति । कीदृशं बोधिरत्नम् । सुनिर्मलम् । तस्येति कस्य । यस्य शीलजालः शीलतरः, अक्षदन्तिभिः इन्द्रियगजेन्प्रविदारितः भेदितः । इति सूत्रार्थः ॥१२३॥ अथेन्द्रियसुखं दुःखानुबन्धत्वाद् दुःखमेवाह ।

1022) दुःखमेव—अक्षजमिन्द्रियजं यत्सुखं दुःखमेव । प्रान्ते दुःखदायित्वात् । कीदृशम् । अविद्याव्याललालितम् अज्ञानसर्पणोपितम् । मूर्खः बालिशास्तत्रैव अक्षजे मुखे रज्यन्ते । केन हेतुना इति न विद्यः न जानीयहे । इति सूत्रार्थः ॥१२४॥ अथेन्द्रियेषु वशमानीतेषु ज्ञानोत्पत्तिमाह ।

योगी जन इन्द्रियरूप भयानक सर्पराजके तेजपूर्ण गर्वको ज्ञान्त करनेके लिए वीर जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट सर्वश्रेष्ठ वर्ण ( ॐ ) का स्मरण किया करते हैं ॥१२१॥

जिस मुनिसे इन्द्रियरूप सिंहोंको सम्यज्ञानरूप रससीसे रोककर वैराग्यरूप पिंजरेके भीतर फेंक दिया है वह मुनियोंका महेश्वर है—मुनियोंके मध्यमें सर्वश्रेष्ठ मुनि है ॥१२२॥

जिसका शीलरूप शृङ्ख इन्द्रियरूप हाथियोंके द्वारा छिन्न-भिन्न नहीं किया गया है उसके हृदयमें अतिशय निर्मल उल्कुष ज्ञानरूप रत्न प्रकाशमान होता है ॥१२३॥

अज्ञानरूप सर्पके द्वारा रनेहपूर्वक पालित इन्द्रियजन्य सुख वास्तवमें दुख ही है । किर हम नहीं जानसे कि मूर्खजन किस कारणसे उसीके विषयमें अनुरक्त होते हैं ॥१२४॥

- 1023) यथा यथा हृषीकाणि स्ववशं यान्ति देहिनाम् ।  
तथा तथा स्फुरत्पुच्छैहीदे विश्वानभास्करः ॥१२५
- 1024) विष्वेषु यथा चित्तं जन्तोर्भग्नमनाकुलम् ।  
तथा यथात्मनस्तत्रे सद्यः को न शिवीभवेत् ॥१२६
- 1025) अत्रमिजनकं मोहदाववह्नेर्भैर्वधनम् ।  
असात्संततेवीजमक्षसौख्यं जगुजिनाः ॥१२७
- 1026) नरकस्यैव सोपानं पाथेयं वा तदध्वनि ।  
अपवर्गपुरद्वारकपाट्युग्मलं दृढम् ॥१२८

1023) यथा यथा—यथा यथा येन प्रकारेण हृषीकाणि इन्द्रियाणि स्ववशं यान्ति वश्याति भवन्ति । केषाम् । देहिनां प्राणिनाम् । तथा तथा देहिनां हृषि स्फुरति प्रणटीभवति । कः । उच्चैः विश्वानभास्करः विशिष्टशानसूर्यः । इति सूत्रार्थः ॥१२५॥ अथ विष्वेषु यथास्थितमनसः शिवत्वाभावमाह ।

1024) विष्वेषु—[ अनाकुलम् अवशम् । परनम् आसक्तम् । ] कः न [ सद्यः ] शोद्रं मुको भवति । इति सूत्रार्थः ॥१२६॥ अथाक्षजसौख्यस्यात्मिजनकसामाह ।

1025) अत्रमिजनकं—अक्षसौख्यमिन्द्रियसुखं जिनाः केवलं न अत्रमिजनकं जगुः कथया-मासुः । कीदृशम् अक्षसौख्यम् । मोहदाववह्नेः मोहदावाग्नेः भवेत्प्रसं महावनीयकाष्ठम् । पुनः कीदृशम् अक्षसौख्यम् । अशात्संततेवीजं दुःखसमूहस्य जनकम् । इति सूत्रार्थः ॥१२७॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

1026) नरकस्यैव—पुनः कीदृशम् अक्षसौख्यम् । नरकस्यैव सोपानं पड़क्तिः श्रेणिः । वा अथवा । तदध्वनि नरकमार्गं पाथेयं शम्बलम् । पुनः कीदृशम् । अपवर्गपुरद्वारकपाट्युग्मलं मोक्ष-नगरद्वारकपाट्युग्मं दृढम् । इति सूत्रार्थः ॥१२८॥ अथाक्षजसौख्यरूपमाह ।

प्राणीयोंकी इन्द्रियाँ जैसे-जैसे अपने वशमें होती हैं वैसे-वैसे उनके हृदयमें विशिष्ट शानरूप सूर्यं अतिक्षय प्रकाशित होता है ॥१२५॥

प्राणीका मन निराकुल होकर जिस प्रकार विषयोंमें मन ( आसक्त ) होता है उस प्रकार यदि वह आत्माके रूपरूपमें निरम्म होता तो फिर शीघ्र ही कौन न मुक्त हो जाता ? सभी शीघ्र मुक्त हो सकते थे ॥१२६॥

जिन भगवान् ने इन्द्रियजन्य सुखको असन्तोषका उत्पन्न करनेवाला, मोहरूप वनामिन-को बढ़ानेवाला भहान, इंधन और दुःखपरम्पराका कारण बताया है ॥१२७॥

इन्द्रियविषयोंसे जो सुख उत्पन्न होता है वह नीचे नरकमें जानेके लिए सीढ़ीके समान अथवा उसी नरकके मार्गमें खाने योग्य जाइता जैसा, मोक्षरूप नगरके द्वारके द्वारे दोनों

1027) विघ्नबीजं विषन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम् ।  
करणग्राहमेतदि॑ यदक्षार्थोत्थितं सुखम् ॥१२९॥

1028) जगद्वचनचातुर्यं विषयाणां न केवलम् । अत्  
नराभरकपाताले नेतुमप्यतिकौशलम् ॥१३०॥

1029) निसर्गचपलैश्चित्रैर्विषयैर्विश्वितं जगत् ।  
प्रत्याशा निर्देयेषु कीदृशी पुण्यकर्मणाम् ॥१३१॥

1027) विघ्नबीजं—पुनः कीदृशम् । विघ्नबीजं विघ्नोत्पादकम् । पुनः कीदृशम् । विषन्मूलं विपदामापदामुत्पत्तिकम् । पुनः कीदृशम् । अन्यापेक्षं परद्रव्यसपेक्षम् । भयास्पदं भयस्थानम् । पुनः कीदृशम् । करणमनोवाक्कायग्राह्यम् । हि निश्चितम् । एतत् यत् अक्षार्थोत्थितं इन्द्रियव्यापार-जनितं सुखम् । इति सूत्रार्थः ॥१२९॥ अथ पुनविषयाणां स्वरूपमाह ।

1028) जगद्वचन—विषयाणां न केवलं जगद्वचनचातुर्यं जंगतो वचनदक्षम् । नरक-पाताले नरात् मनुष्यान् नेतुमपि प्राप्तुमपि अतिकौशलम् अतिचतुरम् । इति सूत्रार्थः ॥१३०॥ अथ पुनविषयाणां स्वरूपमाह ।

1029) निसर्गचपलैः—विषयैः इन्द्रियव्यापारैः जगद्विचलं विप्रतारितम् । कीदृशैः । निसर्ग-चपलैः स्वभावचचलैः । पुनः कीदृशैः । चित्रैः भानाप्रकारैः । एषु विषयेषु निर्देयेषु पुण्यकर्मणाम् । कीदृशैः । प्रत्याशा निकटता । इति सूत्रार्थः ॥१३१॥ अथ विषयैः लोभादिकं जन्मते इत्याह ।

कपाटोंके सहश, बाधाका कारण, विपत्तिकी जड़, अन्य बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा रखनेवाला, भयका स्थान और इन्द्रियोंसे ही प्रहण किया जानेवाला है ॥१२८-२९॥

इन इन्द्रिय विषयोंके केवल लोकको ठगनेकी ही चतुरता नहीं है, बल्कि उनमें मनुष्यों-को नरकरूप पातालमें ले जानेकी भी कुशलता है । तात्पर्य यह कि ये इन्द्रियविषय प्रथम तो प्राणियोंको इच्छानुसार प्राप्त ही नहीं होते, दूसरे यदि वे कुछ प्राप्त भी हुए तो शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त उनमें आसक्त होनेसे जो पाप कर्म संचित होता है उसके कारण नरकादि दुर्गतिकी प्राप्ति भी होती है ॥१३०॥

स्वभावसे चंचल ( अस्थिर ) और अनेक अवस्थाओंको धारण करनेवाले वे विषय लोकके प्राणियोंको ठगा करते हैं । ऐसे दुष्ट स्वभाववाले इन विषयोंमें पवित्र आचरण करनेवाले संयमीजनकी फिरसे इच्छा किस प्रकार होती है ? तात्पर्य यह कि प्राणियोंको जब उन विषयोंकी प्राप्ति अपने-अपने पुण्य कर्मके अनुसार होती है तब उनके नष्ट हो जानेपर पुनः पुनः उनकी इच्छा करना योग्य नहीं है ॥१३१॥

- 1030 ) वर्धते शृद्धिरशान्तं संतोषधापसर्पति ।  
विवेको विलयं याति विषयैर्विजितात्मनाम् ॥१३२
- 1031 ) विषस्य कालकूटस्य विषयोत्थस्य आन्तरम् ।  
वदन्ति लब्धनिर्वेदा मेरुपर्षपयोरिव ॥१३३
- 1032 ) अनन्तदुखसंकीर्णे विषयैव्याकुलीकृतम् ।  
पतत्येव जगजन्मदुर्गे दुःखाग्निदीपिते ॥१३४
- 1033 ) इन्द्रियाणि न गुप्तानि नाभ्यस्तचित्तनिर्जयः ।  
न निर्वेदः कुतो मित्रं जात्मा दुःखेन भावितः ॥१३५

1030) वर्धते शृद्धिः—शृद्धिः तुषा अश्रान्तं निरस्तरं वर्धते । च पुनः । संतोषः अपसर्पति गच्छति । विवेको विलयं याति भावं प्राप्नोति । केषाम् ३ विषयैः विजितात्मनाम् । इति सूत्रार्थः ॥१३२॥ अथ विषयविषयोः साम्यमाह ।

1031) विषस्य—ज्ञाततत्त्वार्थी योगिनः कालकूटस्य विषस्य । च पुनः । विषयाल्यस्य\* अन्तरं मेरुपर्षपयोरिव । इति सूत्रार्थः ॥१३३॥ अथ विषयैः जगत् दुःखे स्थापितमाह ।

1032) अनन्तदुख—जगत् जन्मदुर्गे पतत्येव । कीहशे । दुःखाग्निदीपिते । पुनः कीदृशम् । अनासादितनिर्वेदम्\* अप्राप्तवैराग्यम् । पुनः । विषयैः व्याकुलीकृतम् आनुरीकृतम् । इति सूत्रार्थः ॥१३४॥ पुनरेतत्त्वरूपमाह ।

1033) इन्द्रियाणि—इन्द्रियाणि न गुप्तानि । चित्तनिर्जयो नाभ्यस्तः न साधितः । न निर्वेदः वैराग्यं मित्रं कृतः । न आत्मा दुःखेन भावितः । इति सूत्रार्थः ॥१३५॥ अथ मूढैः स्वं विजितम् इत्याह ।

जो प्राणी विषयोंसे ठगे जाते हैं उनकी लोलुपता निरन्तर शृद्धिको प्राप्त होती है, संतोष भाग जाता है, और विवेकशृद्धि नष्ट हो जाती है ॥१३२॥

वैराग्यभावको प्राप्त हुए योगी कालकूट विष और इन्द्रियजन्म विषयसुख इन दोनोंके मध्यमें मेरु और सरसोंके समान अन्तर बतलाते हैं । तात्पर्य यह कि विषयजन्म सुख काल-कूट विषकी अपेक्षा भी अधिक भयानक है ॥१३३॥

विषयोंके द्वारा व्याकुल किया गया लोक अनन्त दुःखोंसे व्याप्त और दुखरूप अनिसे जलते हुए संसाररूप दुर्गम स्थान ( बन ) में गिरता ही है ॥१३४॥

जिन मूर्खोंने विषयोंकी ओरसे इन्द्रियोंका संरक्षण नहीं किया है, भसके जीतनेका अभ्यास नहीं किया है, मित्रको वैराग्यकी ओर नहीं झुकाया है, तथा आत्माके विषयमें दुःखका

१. N विवेकः...यान्ति । २. All others except P विषयाल्यस्य...वदन्ति ज्ञाततत्त्वार्थीः । ३. All others except P अनासादितनिर्वेदं विषयैः ।

1034 ) एवमेवापवर्गीय प्रवृत्तैव्यनिसाधने ।

स्वमेव वज्ञ्यते<sup>१</sup> मूढैलोकद्वयपथात्<sup>२</sup> च्युतिः ॥१३६

1035 ) अध्यात्मजं तदत्यक्षं<sup>३</sup> स्वसंवेद्यमनश्चरम् ।

आत्माधीनं निरावाधमनन्तं योगिनां सुखम् ॥१३७

1036 ) अपास्य करणग्रामं यदात्मन्यात्मना स्वयम् ।

सेव्यते योगिभिस्तदि सुखमाध्यात्मिकं मतम् ॥१३८

1037 ) आपातमात्ररम्याणि विषयोत्थानि देहिनाम् ।

विषयाकान्तिं पर्यन्ते विद्धि सौख्यानि सर्वथा ॥१३९

1034) एवमेव—मूढः भूर्लः स्वमेव वज्ञितं व्याजसाधने । अपवर्गीय एवमेव प्रवृत्तैः कृतोद्यमैः । पुनः कीदृशैः । लोकद्वयपथच्युतेः इहपरलोकभृत्यैः । इति सूत्रार्थः ॥१३६॥ अथ योगिनां सुखमात् ।

1035) अध्यात्मजं—योगिनां सुखं भवति । कीदृशाम् । अध्यात्मजं व्याजातम् । पुनः कीदृशाम् । यत्सुखम् अत्यक्षम् अतीन्द्रियम् । पुनः कीदृशाम् । स्वसंवेद्यं स्वानुभवजम् । पुनः कीदृशाम् । अनश्वरम् अविनाशि । पुनः कीदृशाम् । आत्माधीनम् । पुनः कीदृशाम् । निरावाधं वाधारहतम् । पुनः । अनन्तम् अनन्तविषयावच्छेदकम् । इति सूत्रार्थः ॥१३७॥ अथात्मनावे स्वसंवेदनमात् ।

1036) अपास्य—हि निश्चितम् । योगिभिः आध्यात्मिकं सुखं मतमभीष्टम् । यत्सुखमात्मनि आत्मना स्वयं सेव्यते । कि कृत्वा । करणग्रामम् इन्द्रियसमूहम् अपास्य दूरीकृत्य । इति सूत्रार्थः ॥१३८॥ अथ संसारसीख्यासारतामात् ।

1037) आपातमात्र—देहिनां विषयोत्थानि सौख्यानि आपातमात्ररम्याणि विद्धि जातीहि चिन्तन नहीं किया है; किर भी जो यों ही मोक्षप्राप्तिकी इच्छासे व्याजके सिद्ध करनेमें प्रवृत्त हुए हैं वे भूर्ल दोनों लोकोंके बार्गसे अहं होकर अपने आपको ही ठगते हैं ॥१३५-३६॥

योगियोंका वह आध्यात्मिक सुख इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित, स्वसंवेदनका विषय, अविनश्वर, आत्मामात्रकी अपेक्षा रखनेवाला ( परनिरपेक्ष ), सब प्रकारको आधासे रहित और अनन्त है ॥१३७॥

इन्द्रियसमूहकी अपेक्षा न करके योगीजन स्वयं आत्मामै आत्माके द्वारा जिस सुखका अनुभव करते हैं वह आध्यात्मिक सुख माना गया है ॥१३८॥

विषयोंसे उत्पन्न हुआ प्राणियोंका सुख के बाल अनुभवनकालमें ही रमणीय प्रतीत होता

१. M N बड्यते, L S T F J X Y R वज्ञितं । २. All others except P पवच्युतिः । ३. All others except P N F Y यदत्यक्षं । ४. V -मनकरं । ५. All others except P M N X योगिनां भर्तः । ६. L विषयसुख्यानि ।

1038) हृषीकतस्करानीकं चित्तदुग्नितराश्रितम् ।

पुंसा विवेकमाणिक्यं हरत्येवानिवारितम् ॥१४०

1039) स्वामेव वशितुं मन्ये प्रवृत्ता विषया इमे ।

स्थिरोकुरु तथा चित्तं यथैतीर्न कलद्वयते ॥१४१

1040) उदधिरुदकपूरैरिन्धनैश्चित्रभासु-

र्यदि कथमपि दैवात्मसिमासादयेताम् ।

न पुनरिह शरीरो कामभोगैर्विसंख्यै-

शिरतरमपि भुक्तैस्तुमिमायाति कश्चित् ॥१४२

त्वम् । सर्वेषां पर्यन्ते विषपाकानि विषवद्विषपाकानि इति सूत्रार्थः ॥१४३॥ अथ पुंसा विवेकमाणिक्यम् इन्द्रियाणि हन्तीत्याह ।

1038) हृषीक —हृषीकतस्करानीकं इन्द्रियचौरसेन्यं पुंसा विवेक हरत्येव । कीदृशम् । अनिवारितम् । कीदृशां हृषीकतस्करानीकम् । चित्तदुग्नितराश्रितं मतोदुग्नितरव्याप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥१४०॥ अथ विवेकिनमुपदिशतीत्याह ।

1039) त्वामेव—अहम् एवं मन्ये । हे विवेकिन्, इमे विषयाः स्वामेव वज्जित्वा॑ प्रवृत्ताः, तथा॑ चित्तं स्थिरोकुरु । यथा॑ एतेविषये॑ः चित्तं न कलद्वयते न कलद्वयुक्तं कुरुते । इति सूत्रार्थः ॥१४१॥ अथ नराः संसारसुखतुप्ता न भवन्तीत्याह । मालिनी ।

1040) उदधिः—उदधिः समुद्रः उदकपूरैः जलसमूहैः । तथा चित्रभानुरग्निः इन्धनैः । एतो द्वीयदि कथमपि केनचित् प्रकारेण देवात् भाग्यात् तुमिमासादयेताम् प्राप्नुयाताम् । इहलोके न पुनः शरीरो केशित् कामभोगैः तुमिमायाति प्राप्नोति । कीदृशोः कामभोगैः । विसंख्यैः संख्यान्वितैः । पुनः कीदृशैः । शिरतरमपि भुक्तैः बहुकालभुक्तैः । इति सूत्रार्थः ॥१४२॥ अथ विषयसुखस्य सुप्राप्यत्वं नास्तीत्याह । आर्या॑ ।

है, परन्तु अन्तमें उसका परिपाक सर्वथा विषके समाप्त घातक होता है, ऐसा निविष्ट जानना चाहिए ॥१४३॥

चित्तरूप दुर्गा ( किला ) के भीतर आश्रय लेनेवाली इन्द्रियरूप औरोंकी सेना आणियों-के विवेकरूप रूपका निर्बाधरूपसे ( वेरोकटोड ) अपहरण करती है ॥१४०॥

हे भव्य ! मैं यह मानता हूँ कि ये विषय तुझे ही ठगनेके लिए प्रवृत्त हुए हैं । इसलिए तू अपने चित्तको इस प्रकारसे स्थिर कर कि जिससे ये विषय उसे कलंकित न कर सकें ॥१४१॥

यदि देवबधा किसी प्रकारसे समुद्र अनेक जलग्राहोंसे तथा अग्नि ईशनके समूहसे भले ही तुमिको प्राप्त कर लें, किन्तु संसारमें कोई प्राणी चिरकालसे भी भोगे गये असंख्यात कामभोगोंके द्वारा तुमिको नहीं प्राप्त कर सकता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अग्नि-

1041) यद्यपि दुर्गतिव्रीजं तृष्णोसंतापपापसंकलितम् ।

तदपि न सुखसंप्राप्य विषयसुखं वाङ्मत्तं नृणाम् ॥१४३॥ कि च—

1042) विषयेषु भवेद्वाङ्मा संभवन्ती<sup>३</sup> यथा यथा ।

तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥१४४

1043) अनिषिद्धाक्षसंदोहं यः साक्षात्मोक्षमिल्लिति ।

विदारथति दुर्बुद्धिः शिरसा स महीधरम् ॥१४५

1041) यद्यपि—सृष्टां मनुष्याणां वाङ्मत्तं विषयसुखम् । तदपि सुखसंप्राप्य न भवसंताप-पापव्याप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥१४३॥ कि च युक्तव्यन्तरमाह ।

1042) विषयेषु—यथा यथा कामाः वाङ्माः संकलिताः अपि संभवन्ति । तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं सामर्ह्यं वा जगद्विसर्पति प्रसरति । इति सूत्रार्थः ॥१४४॥ अथाक्षसमूहम-निजित्य मोक्षं वाङ्मत्तीत्याह ।

1043) अनिषिद्ध—यः पुमान् साक्षात् प्रकारेण मोक्षमिल्लिति वाङ्मत्तिः । कि कुत्वा । अक्षसंदोहम् इन्द्रियसमूहम् अनिषिद्धा(निवार्य) । स दुर्बुद्धिः महीधरं पर्वतं शिरसा भस्तकेन विदारथति मिनत्तीति सूत्रार्थः ॥१४५॥ अथ पुनर्विषयसुखं हेयम् इत्याह । मालिनी ।

मैं जितना ही अधिक ईंधन ढाला जाय उननी ही वह अधिक बढ़ती है, किन्तु शान्त नहीं होती; उसी प्रकार प्राणीको जितने अधिक विषयभोग प्राप्त होते जाते हैं उननी ही अधिक उसकी भोगाकांक्षा बढ़ती जाती है, किन्तु शान्त नहीं होती ॥१४२॥

मनुष्योंका अभीष्ट वह विषयसुख यद्यपि दुर्गतिका कारण तथा तृष्णा, सन्ताप थर्व पापसे परिपूर्ण है तो भी वह उन्हें सुखपूर्वक—सरलतासे—नहीं प्राप्त होता है । अभिप्राय यह है कि जो विषयसुख पापका कारण होनेसे उरकादि दुर्गतिको प्राप्त कराता है वह भी मनुष्योंको सरलतासे प्राप्त नहीं होता, किन्तु जिनके कुछ पूर्वोपाञ्जित पुण्य शेष होता है उन्हींको वह प्राप्त हुआ करता है ॥१४३॥

दूसरे—जैसे-जैसे मनुष्योंको अभीष्ट कामभोग प्राप्त होते जाते हैं वैसे-वैसे उनकी विषयतृष्णा विस्तृत होकर लोकको व्याप करती है—वह और भी अधिक बढ़ती जाती है ॥१४४॥

जो दुर्बुद्धि मनुष्य इन्द्रियोंके समूहका निषेध न करके—उन्हें वशमें करनेके बिना ही—साक्षात् मोक्षकी इच्छा करता है वह मानो शिरसे पर्वतको विदीर्ण करता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शिरसे आहृत करके पर्वतका खण्डन करना असम्भव है, उसी प्रकार इन्द्रियोंको वशमें करनेके बिना मोक्षकी प्राप्ति भी असम्भव है ॥१४५॥

१. MN तुच्छं for तृष्णा । २. PML कि च, F तत्त्वाः । ३. All others except P अपि संकलिताः कामाः संभवन्ति यथा । ४. All others except P मोक्षमिल्लिति ।

1044) इदमिह विषयोत्थं यत्सुखं तद्वि दुःखं  
व्यसनविपिनबीजं तीव्रसंतापविद्म् ।  
कटुतरेकलाखं निन्दितं ज्ञानवृद्धैः  
परिहर किमिहान्मैर्धूर्तवाचां प्रपञ्चैः ॥१४६

1045) तत्त्वकारकपारतन्त्र्यमचिरान्नाशः सतृष्णान्वये—  
स्तैरेभिन्निरूपाधिसंगमभूतो बाधानिदानैः परैः ।  
शर्माणि॑ स्पृहयन्ति हन्त विषयानाश्रित्य यदेहिन—  
स्तत्कुर्ध्यत्फणिनायकाग्रदशनैः कण्ठविनोदः स्फुटम् ॥१४७

1044) इदमिह—इह जगति यद्विषयोत्थं सुखम् । हि निश्चतम् । तत्सुखं दुःखमेव । कीदृशम् । व्यसनविपिनबीजम् आपद्नस्य कारणम् । पुनः कीदृशं तत् सुखम् । कटुतरपरिपाकं कटुतरः दुःखः परिपाको भुक्तिकालो यस्य तत् । पुनः कीदृशम् । ज्ञानवृद्धैनिन्दितं हेयतया अपवणितम् । तत्सुखं, हे भव्य, परिहर त्यज । इह प्रस्तावे अन्यैर्धूर्तवाचप्रपञ्चैः । कण्ठविग्रहस्तारैः किम् । न किमपीत्यर्थः ॥१४६॥ अथ विषये॑ यत्सुखं बाल्छति तानाह । शार्दूल० ।

1045) सत्त्वकारक—तत् इन्द्रियसुखं तत्कारकपारतन्त्र्यं पराधीनम् । सतृष्णान्वयः । अन्निराश्राशः शीघ्रनाशः । निरुपाधिसंगमभूतः निग्रन्थलिङ्गधारका यतयः । एभिविषयैः परैः अन्यैर्वा बाधानिदानैः दुःखकारणैः शर्मस्य॑ सुखेभ्यः स्पृहयन्ति बाल्छन्ति । अत्र स्पृहादियोगे द्वितीयास्थाने चतुर्थी॑ । हन्त सेवे । किं कृत्वा । विषयानाश्रित्य । यत्सुखं देहिनः स्पृहयन्ति, तत् कुर्ध्यत्फणिनायकाग्रदशनैः कोपितनागीन्द्राग्रदशनैः स्फुटं यथा स्यात् तथा कण्ठविनोदः खर्जःकीडा । इति सूत्रार्थः ॥१४७॥ अथेन्द्रियविषयवतां वैराग्याभावमाह ।

संसारमें वह जो विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख है वह निश्चयसे दुख ही है । कारण वह कि वह कष्टरूप वनका बीज—अनेक कष्टोंको उत्पन्न करनेवाला, तीव्र सन्तापसे बेधा गया—अतिशय सन्तापका कारण, अत्यन्त कष्टे फलोंसे उत्पन्न और विशिष्ट ज्ञानियोंके द्वारा निन्दित है । इसलिए हे भव्य ! तू उसे छोड़ दे, क्योंकि, यहाँ अन्य धूर्तजनोंके द्वचनोंके विस्तारसे तुझे क्या लाभ होनेवाला है ? कुछ भी नहीं ॥१४६॥

वह विषयसुख उन्नतन कारकोंके अधीन—बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा रखनेवाला, ध्य-मश्वर एवं तृष्णाका अविनाभावो है । बाधाके कारणभूत उन इन पर पदार्थोंके साथ उपाधिरहित संयोगको धारण करनेवाले प्राणी जो विषयोंका आश्रय लेकर सुखोंकी अभिलाप करते हैं वह स्पष्टतया कोधको प्राप्त हुए भवानक सर्पके अगले दौर्तोंके द्वारा—विषेली झाड़ों-से—खुजलाकर खुजलीको नष्ट करनेके समान है । अभिप्राय यह है कि विषयसुख क्षणनिश्चर होकर भी पर पदार्थोंके अधीन है । परन्तु उन पर पदार्थोंको अनुकूलता प्राणीके अधीन नहीं

१. All others except P कटुतरपरिपाकं । २. MN कारमपार । ३. T J X Y R तृष्णान्वयैः । ४. All others except PMN संयम । ५. P बाधानिदानै ( ? ) । ६. All others except P शर्मस्यः ।

1046 ) निःशेषाभिमतेन्द्रियार्थरचनासौन्दर्यसंदानितः

प्रीतिप्रसुतलोभलहृषितमनाः को नाम निर्वैद्यताम् ।

अस्माकं तु नितान्तधोरनरकज्वालाकलापाः पुरः

सोहव्याः कथमित्यसौ तु महती चिन्ता मनः कृन्तति ॥१४८

1047 ) मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धा

नद्वास्ते वारिवन्धे ज्वलन्मुपगताः पत्रिणश्राक्षिदोषात् ।

भृजा गन्धोदताशाः प्रलयसुपगताः श्रोतुकामाः कुरञ्जाः

कालज्वालेन दण्डस्तदपि तसुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागः ॥१४९

1046) निःशेषाभिमते—नामेति कोमलामन्त्रणे । को निर्वैद्यतां वैराग्यतां भजेत् । न को अपीति । कीदृशः कः । निःशेषाभिमतेन्द्रियार्थरचनासौन्दर्यसंदानितः सर्वाभिमतेन्द्रियार्थरचना, तस्याः सौन्दर्य, तेन संदानितः रूपित्रितः । पुनः कीदृशः । प्रीतिप्रसुतलोभलहृषितमनाः प्रीत्या प्रारब्धो योऽसी लोभः तेन लहृष्टं मनो यस्य सः । तु पुनः । अस्माकं नितान्तधोरनरकज्वालाकलापाः निरस्तररीद्रनरकज्वालासमूहाः । पुरः अप्रतः सोहव्याः । कथम् । तुभिष्मोक्तिः । असौ महती चिन्ता इति मनः कृन्तति छिनति । इति सूत्रार्थः ॥१४८॥ अथ एष्वेन्द्रियाणां विषयैः प्रत्येकं जीवा दुःखमनुभवन्तीत्याह । स्वाधरा ।

1047) मीना मृत्युं—मीना मत्स्याः मृत्युं प्रयाताः । कीदृशाः । रसनवशमिता: जिह्वावशप्राप्ताः । दन्तिनः स्पर्शरुद्धाः मृत्युं प्रयाताः । ते दन्तिनः वारिवन्धे बद्धाः । च पुनः । पत्रिणः पतञ्जाः ज्वलन्मुपगताः प्राप्ताः । कस्मात् । अक्षदोषात् । भृजाः भ्रमराः प्रलयं ताशमुउपगताः । कीदृशा भृजाः । गन्धोदताशाः । कुरञ्जा हरिणाः । कालज्वालेन कालसर्पेण दृष्टाः ।

है । अतएव पर पदार्थोंके संयोगसे विषयसुखकी अभिलाषा करना सर्पकी विषपूर्ण दाढ़ोंके संयोगसे खुजलीके नष्ट करनेकी अभिलाषाके समान दुखदायक है ॥१४९॥

समस्त आभीष्ट इन्द्रियविषयोंकी रचनाके सौन्दर्यसे सम्बद्ध—उनकी सुन्दरतामें अनुरक्ष—तथा जिसका मन प्रीतिसे प्रसुत लोभके द्वारा लौक्य गया है, अर्थात् जो उनके विषयमें अतिशय लुभ्य है, ऐसा कीन-सा मनुष्य है जो वैराग्यको प्राप्त हो सकता है? अर्थात् समस्त आभीष्ट विषयसामग्रीको प्राप्त करनेवाला कोई भी मनुष्य विरक्त नहीं हो सकता है । परन्तु हमारे मनको तो यह बड़ी भारी चिन्ता व्यग्र करती है कि वह अतिशय भवानक नरककी ज्वालाओंका समूह ग्राणीसे कैसे सहा जावेगा ॥१४९॥

मछलियाँ रसना इन्द्रियके वशीभूत होकर मृत्युको प्राप्त हुई हैं, हाथी स्पर्शसे रुद्ध होकर—स्पर्शीन इन्द्रियके वशमें होकर वारिवन्ध में बैंगे गये हैं, पतंग चक्षु इन्द्रियके

१. All others except PMY कलापः....सोहव्यः । २. All others except P बद्धास्ते....गीत-लोलः कुरञ्जाः । ३. P दुष्टाः ।

1048) एकैकरणपरब्रह्मपि मृत्युं याति जन्मुजातमिदम् ।

सकलाक्षविषयलोलः कथमिह कुशली जनो अन्यः स्थात् ॥१५०॥

1049) संवृणोत्यक्षसैन्यं यः कूर्मो इज्ञानीव संयमी ।

स लोके दोषपङ्काङ्गे चरन्नपि न लिप्यते ॥१५१॥

1050) अयत्नेनापि जायन्ते तस्यैता दिव्यसिद्धयः ।

विषयैर्न मनो यस्य मनामपि कलद्वितम् ॥१५२॥

कीदृशाः गीतलोलाः गानचपलाः । तदपि यथा एभिः पञ्चभिः जीवैः एकैकेन इन्द्रियेण दुःखं संयमीपि तनुभूतो शरीरियाऽपि इन्द्रियाणीयु इन्द्रियविद्वद् रुद्धः । इति सूत्रार्थः ॥१४९॥ अथ सकलेन्द्रियविषयविरागमाह ।

1048) एकैक—इदं जन्मुजाते जीवसमूहः मृत्युं याति । कीदृशं जन्मुजातम् । एकैकरण-परब्रह्मपि । जनो लोकः इह लोके अन्यः स्थात् । कुशलं कल्याणं ऋथं प्राप्नोति इति गम्यम् । कीदृशो जनः । सकलाक्षविषयलोलः सर्वेन्द्रियविषयचपलः । इति सूत्रार्थः ॥१५०॥ अथेन्द्रिय-संवरमाह ।

1049) संवृणोत्पक्ष—स संयमी अक्षसैन्यं वृणोत्यावृणोति । यः कूर्मो इज्ञानीव यथा कूर्मः स्वाज्ञानि वृणोति, स संयमो लोके दोषपङ्काङ्गे चरन्नपि न लिप्यते पापैः । इति सूत्रार्थः ॥१५१॥ अथ विषयरहितस्य फलमाह ।

1050) अयत्नेनापि—तस्य पुंसः एता दिव्यसिद्धयो जायन्ते उत्पद्यन्ते । केन । अयत्नेनापि तपःप्रमुखादिना विनैव । यस्य मनः विषयैः मनामपि न कलद्वितम् । इति सूत्रार्थः ॥१५२॥

दोषसे अग्निको प्राप्त हुए हैं—अग्निमें भस्मसात् हुए हैं, गन्धमें उल्कट इच्छा रखकर भूमर नाशको प्राप्त हुए हैं, तथा गीत सुननेमें अतुरक होकर हिरण भी कालरूप सर्पके द्वारा काटे गये हैं—मरणको प्राप्त हुए हैं। फिर भी प्राणियोंको इन इन्द्रियविषयोंमें अतुराग है ॥१४९॥

यह जन्मुसमूह एक-एक इन्द्रियके अधीन होकर भी मरणको प्राप्त होता है। फिर जो अन्य प्राणी यहाँ सब ही इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त हो उसकी कुशलता कैसे रह सकती है? वह तो दुसह दुखका भाजन होगा ही ॥१५०॥

जिस प्रकार कछुआ अपने अवयवोंका संरक्षण करता है उसी प्रकार जो संयमी साधु इन्द्रियरूप सेनाका संरक्षण करता है—उसे अपने अधीन रखता है—वह अनेक दोषरूप कीचड़से व्याप लोकमें संचरण करता हुआ भी उन दोषोंसे लिप्त नहीं होता है ॥१५१॥

जिसका मन इन्द्रियविषयोंके द्वारा थोड़ा भी कलंकित नहीं किया गया है उसके बिना प्रयत्नके ही से दिव्य सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं ॥१५२॥

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-विरचिते  
अक्षविषयनिरोधप्रकरणम् ॥१८॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साह-  
पासा तत्पुत्र साहटोडर तत्कुलकमलदिवाकर साहकार्यविदास स्वश्रवणार्थ  
पण्डितजिनदासोदयमेन अक्षविषयनिरोधप्रकरणं समाप्तम् ॥१८॥

मालिनी छन्दः । सकलमहिमधामध्वस्तदुर्जयकामः समभवदिह पार्वकर्मकान्तारपार्श्वः ।  
तदिककुलसमुद्रोलासचन्द्रप्रकाशो जयतु विगतशङ्कुष्टोडरः स्वर्षिदासः ॥१॥ आशीर्वादः । अथ  
व्याख्यानेन्द्रियजयो विवर्त्यत इन्द्रियजयानन्तरं ध्यानं हेतुमङ्गावत्वेनाह ।

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
अक्षविषयनिरोध प्रकरण समाप्त हुआ ॥१८॥

## [ त्रितर्स्वम् ]

- 1051 ) अयमात्मा स्वयं साक्षात् गुणरत्नमहार्णवः ।  
सर्वज्ञः सर्वगः सार्वः परमेष्ठी निरञ्जनः ॥१॥
- 1052 ) तत्स्वरूपमजानानो जनो इथं विधिवच्चितः ।  
प्रेपश्यतीन्द्रियार्थेषु दुःखमेव सुखास्थया ॥२॥
- 1053 ) यत्सुखं वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकम् ।  
न तस्यानन्तभागो इषि प्राप्यते विद्यशेवरैः ॥३॥

1051) अयमात्मा—अयम् आत्मा स्वयमात्मनैव साक्षात् प्रत्यक्षं गुणरत्नमहार्णवो भवति । अयमात्मा सर्वज्ञः, सर्वदृक्, सार्वः सर्वरूपः, परमेष्ठी निरञ्जनश्च ॥१॥ [ विषयसुर्खं विषाङ्ग-वदित्याह । ]

1052) तत्स्वरूपम्—तत्स्वरूपम् आत्मस्वरूपम् अजानानः अजानन् अयं लोकः विषयेषु सुखं वेति । किभूतो जनः । विधिवच्चितो देववच्चितः स्वरूपज्ञानात् प्रचयवितः । किभूतं च तद्विषय-सुखम् । यदिदमेवं विनिन्द्यते । \*अथ यत्पाके परिणामे विषयसुखं विषाङ्गवत् विषमिलितान्नदत् स्वात् ॥२॥ [ वीतरागसुखं देवदुर्लभमित्याह । ]

1053) यत्सुखं—वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकं यत्सुखं वत्ति, तस्य सुखस्यानन्तभागो इषि विद्यशेवरैः देवैरपि न प्राप्यते ॥३॥ [ तत्सुखं साधनैः विना प्राप्यते इत्याह । ]

यह आत्मा प्रगटमें स्वयं गुणरूप रत्नोंका महासमुद्र, सर्वज्ञ, सर्वज्ञापक—अनन्त-ज्ञानकी अपेक्षा सर्वत्र व्याप, सबका हित करनेवाला, परम पदमें स्थित और कर्मरूप कञ्जलि-से रहित है ॥१॥

यह प्राणी देवसे ठगा जाकर—कर्मदिव्यके बशीभूत होकर—आत्माके उपर्युक्त स्वरूप को न जानता हुआ इन्द्रियविषयोंमें उनके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले दुखको ही सुखकी हृषिसे देखता है । अभिप्राय यह है अज्ञानी प्राणी अशुभ कर्मके उद्यसे आत्माके यथार्थ स्वरूपको न समझकर ज्ञाय इन्द्रियविषयोंमें सुखकी कल्पना करता है । परन्तु ऐसा है नहीं, यथार्थ सुख वो आत्मामें ही है—वह वाणि पदार्थोंमें नहीं है ॥२॥

राग-द्वेषके उपशमपूर्वक जो सुख वीतराग सुनिको प्राप्त होता है, इन्द्रोंको उसके अनन्तवें भाग सी वह सुख नहीं प्राप्त होता । अभिप्राय यह है कि प्राणीके अन्तःकरणमें जब १. N. L. S. T. F. J. K. R. सर्वदृक् सार्वः । २. All others except P 2nd line विषयेषु सुखं येति यत्स्वात् याके विषाङ्गवत् ।

1054 ) अनन्तबोधवीर्योदिनिर्मला गुणिभिर्गुणः ।

स्वस्मिन्नेव स्वयं मूर्खा अपास्य करणान्तरम् ॥४

1055 ) अहो अनन्तबीर्योऽयमात्मा विश्वप्रकाशकः ।

त्रैलोक्यं चालयत्येव ध्यानशक्तिप्रभावतः ॥५

1056 ) अस्य बीर्यमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ।

यत्समाधिग्रयोगेण स्फुरत्पव्याहृतं क्षणे ॥६

1057 ) अयमात्मा स्वयं साक्षात् परमात्मेति निश्चयः ।

विशुद्ध्याननिर्धूतकर्मन्धनसमूलकरः ॥७

1054) अनन्त—गुणिभिः पण्डितैः अनन्तबोधानन्तबीर्योदियो निर्मला ये गुणास्ते स्वस्मिन्नेव मूर्खाः । अपास्य करणान्तरम् । किं कृत्वा । करणान्तरं साधनान्तरम् अपास्य । न हि ऐन्द्रियिक-सुखबद्व साधनान्तरमुपभुज्यते । इत्यर्थः ॥४॥ [ अथात्मनः सामर्थ्यमाह । ]

1055) अहो अनन्त—अहो आइच्छयम् । अनन्तबीर्यः अयमात्मा विश्वेषां प्रकाशकः ध्यान-शक्तिप्रभावतः त्रैलोक्यं चालयत्येव स्थानान्तरं नयत्येव । इदम् उपलक्षणम् । ध्यानशक्त्या उत्पादयति पीषयति च विश्वम् इति नासंभावितमात्मनः किंविदरतीत्यर्थः ॥५॥ [ आत्मनः सामर्थ्यं वल्लसो उपयगमयमित्याह । ]

1056) अस्य बीर्य—अस्यात्मनो बीर्यम् अहं योगिनामप्यगोचरम् अविषयं मन्ये । यत्समाधि-प्रयोगेण अस्यात्मनः स्फुरति । किमूलं बीर्यम् । अव्याहृतं वल्लसो उगम्यम् ॥६॥ [ अयमात्मैव परमात्मेत्याह । ]

1057) अयमात्मा—अयमात्मा स्वयं स्वरूपतः साक्षात् प्रत्यक्षं परमात्मा इति निश्चयः । किंविशिष्टः आत्मा । विशुद्ध्यानेन परब्रह्मस्वरूपविचारणसमाधिना निर्धूतः कर्मन्धनानां समूलकरः तक राग-द्वेष विद्यमान रहते हैं तब तक उसे स्थायी व बाधारहित सुख प्राप्त नहीं होता, वह सुख लो उसे आकुलताको उत्पन्न करनेवाले उन राग और द्वेषके दूर कर देनेपर ही प्राप्त हो सकता है ॥७॥

गुणी जनोंको अनन्त ज्ञान और अनन्तबीर्य आदि ( अनन्तसुखादि ) निर्मल गुणोंको इन्द्रियोंके व्यवधानको इटाकर स्वयं अपनी आत्माके भीतर ही खोजना चाहिए । अभिश्राय यह है कि यथार्थ सुख आत्माके ही भीतर है । उसका अनुभव इन्द्रियोंकी अपेक्षा न करके स्वसंवेदन ( स्वासुभव ) से किया जा सकता है ॥४॥

अरे यह आत्मा अनन्त शक्तिसे सम्पन्न होकर समस्त लोकका प्रकाशक ( ज्ञाता द्रष्टा ) है । वह ध्यानके वल्लसे तीनों लोकोंको विचलित कर सकता है । तात्पर्य यह कि आत्मध्यानके प्रभावसे तीनों लोकोंके प्राणी आकर भक्तिपूर्वक पूजा-बन्दनादि किया करते हैं ॥५॥

प्रन्थकार कहते हैं कि ध्यानके प्रभावसे ध्यानभरमें जो निर्वाध शक्ति प्रगट होती है वह योगी जनकी भी विषय नहीं है—उसे केवली ही जानते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥६॥

निर्मल ध्यानके द्वारा कर्मरूप ईधनके समूहको नष्ट करनेवाला यह आत्मा प्रगटमें स्वयं परमात्मा है, यह निदिवत है ॥७॥

1058) श्यानादेव गुणग्रामैमस्याशेषं स्फुटीभवेत् ।

क्षीयते च तथानादिकमौघैध्वान्तसंततिः ॥८

1059) शिवो इयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तितः ।

अणिमादिगुणान्धर्यरत्नवाधिरुधैर्मतः ॥९

1060) उक्तं च—

आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखः पुमान् ।

परमात्मा विभुः<sup>१</sup> कहुरद्वौ पादान्तर्यात्मनः ॥९\*२॥ इति

समूहः येन इति । अनेन अवहारतः शंसारित्वे जपि पारमाधिकम् आत्मस्वरूपम् असमाप्ति एव हृति निर्णीतम् ॥३॥ [ श्यानादेव कर्मकथा इत्याह । ]

1058) श्यानादेव—मम अशेषो गुणग्रामः श्यानादेव स्फुटीभवेत् । तथा अनादिसंभवा कर्मसंततिः च क्षीयते ॥८॥ [ आत्मनो विविधरूपाण्याह । ]

1059) शिवो इयं—अयम् आत्मैव शिवः, वैनतेयः गरुडः, स्मरः च कीर्तितः मतः । किं च । अणिमादिगुणान्धर्यरत्नवाधिः अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, ईशित्वं, वशित्वं चैता अष्टसिद्धय एव गुणाः । त एवानाध्याणि अमूल्यानि रत्नानि, तेषां वाधिः समुद्रः । बुधैः ज्ञानिभिः । मतः कथितः । इत्यर्थः ॥९॥ तदेवाथन्तिरेणाह । उक्तं च ।

1060) आत्यन्तिक—अहो इत्यादचर्ये । आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखः स्वभावेनैवोत्थान्तर्मनन्तं ज्ञानं सुर्वं च यस्य एतादृशः । पुमान् आत्मा । परमात्मा, गरुडः, कामः । इति विविध-

1060) शिवो इयं—अयम् आत्मा शिवः सिद्धः कीर्तितः शुक्लव्यानात् । तथा अयम् । आत्मा वैनतेयो गरुडः कीर्तितः श्यानबलत् । तथा स्मरः ऋष्यर्पः कीर्तितः । पुनः किविधिष्ठः । अणिमादीत्यादि—अणिमा अणीभविः । आदिशब्दात् महिमादयोऽष्टौ गृह्यन्ते । ते च ते गुणास्त एव अनध्याणि अमूल्यानि रत्नानि तेषां वाधिः समुद्रः । बुधैः गणधरदेवादिभिः । मतः कथितः । अणिमादिगुणानां विचारित्वाभिवसागादौ वेदितव्यः ॥१॥ तत्र तावत् श्यानबलादय आत्मा शिवः कथमिति गद्येन शुभचन्द्रदेवा निरूपयन्ति यद्देत्यादि ।

इस आत्माके सब ही गुणोंका समूह एकमात्र श्यानके ही प्रभावसे प्रगट होता है तथा अनादि काळसे संचित कर्मकि समूहरूप अन्धकारकी परम्परा इस श्यानके बलसे ही नष्ट होती है ॥८॥

यह आत्मा ही शिव, गरुड़ और काम भी कहा जाता है । विद्वान् जन इसे अणिमा-महिमा आदि गुणों रूप अमूल्य रत्नोंका समुद्र मानते हैं ॥९॥ कहा भी है—

अपने अवित्सवर स्वभावसे उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान और अनन्तसुखसे परिपूर्ण यह

१. N ज्ञानादेव । २. M गुणाम्भोधिरस्या । ३. All others except P नादिसंभवा कर्मसंततिः ।

४. P अनर्थ । ५. N दिपः, L विशाक्त तु, T विषः, M S F J K X Y R विषः ।

‘अमुमेवार्थं संप्रति गच्छैविशदयामः । तथा—

यथान्तर्बहिर्भूतनिजनिदानं संदोहसंपाद्यमानद्रव्यादिकं चतु-  
ष्कसकलसामग्रीस्वभावप्रभावात्स्फुरितरत्नत्रयातिशयसमुल्लसित -  
स्वशक्तिनिराकृतसकलतदावरणप्रादुर्भूतशुक्लध्यानानलबहुलं ज्वा-  
लाकलाएकवलितगहनतरोनादिसकलजीवप्रदेशघनधटितसंसारका-

रुपैः जायते । आत्मनः माहौलस्यं सामर्थ्यम् । आमर्थ्यकारीत्यर्थः ॥९\*१॥ इलोकोक्तमेवार्थं गच्छेन  
विशदयति ।

यथान्तर्बहिर्भूत—अन्तर्भूतं निजनिदानम् आत्मनः कारणम् । भव्यत्वादि । तथा बहिर्भूतं  
सुद्रव्यादि । तेषां संदोहः समूहः तेन संपाद्यमाना उत्पाद्यमाना । या द्रव्यादिचतुष्कस्य द्रव्यक्षेत्र-  
भवभावचतुष्करय सकला सामग्री तस्याः । स्वभावः प्रभावः । तस्मात् स्फुरितं यद् रत्नत्रयं सम्बग-  
दर्शनादिलक्षणं तस्यातिशयेन प्रादुर्भूतस्वशक्त्या आत्मशक्त्या निराकृतं यत्सकलं तदा-  
वरणम् आत्मावरणम् । तेन प्रादुर्भूतं शुक्लध्यानम् एव अनलः अग्निः तस्य बहुलाः ज्वालाः, तासां  
कलामेन समूहेन कवलितं ग्रंसितं यद्गहनं गुणिलम् आन्तरमात्मप्रदेशोषु वक्ष्यः पिण्डवदेकीभूतम् ।

यथा—यथेत्युदाहरणे । अन्तर्भूतं निजनिदानं भव्यत्वं कर्मलबुलं निःकषायत्वं चेत्यादि ।  
बहिर्भूतं निजनिदानम् । आत्मनः कारणम् । सुद्रव्य-सुक्षेत्र-सुकाल-सुभव-सुभावादिकं सुगुर्वादिकं च ।  
एतेषां निदानानां हेतुनां योऽसी संदोहः समूहः तेन संपाद्यमाना उत्पाद्यमाना या द्रव्यादीनां द्रव्य-  
क्षेत्रभवभावचतुष्करय या सकला परिपूर्णा सामग्री समग्रता तस्याः स्वभावः तस्य प्रभावः तेन अन्त-  
मैनसि यस्फुरितं जागरितं यद्वत्त्रयं सम्बगदर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं तस्य अतिशयेन सर्वोक्तुष्टुतया  
समुल्लसिता उच्छलिता प्रादुर्भूता या स्वस्य आत्मनः शक्तिः सामर्थ्यम् अनादिजीवलग्नप्रभुत्वम् ।  
तथा निराकृतं निर्मुलितं स्फेटितं समूलकार्यक्षितं यत्सकलं समर्थं तदावरणम् आत्मावरणं मति-  
श्रुताद्यावरणं तेन प्रादुर्भूतम् उत्पन्नं यत् शुक्लध्यानं पृथक्तविक्तिवीचारलक्षणम् एकत्वविक्तिवी-  
चारलक्षणं च, तदेव अनलो अग्निः, तस्य बहुलाः प्रचुरा अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिलक्षणोपलक्षिता

आत्मा ही परमात्मा (शिवतत्त्व), विष्णु (विष्णु या गणेश तत्त्व) और कामतत्त्व है । आत्माकी  
महिमा आइचर्यजनक है ॥९\*१॥

अब इसी अर्थको गच्छेकि द्वारा स्पष्ट करते हैं । वह इस प्रकारसे । जैसे—अपने  
अन्तरंग और बहिरंग कारणोंकि समूहसे प्राप्त होनेवाली द्रव्यादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल और  
भाव) चाररूप समस्त सामग्रीके स्वभावके प्रभावसे जो रत्नत्रय प्रगट हुआ है उसके अतिशयसे विकसित हुई शक्तिसे जिसने समस्त आवरण कर्मको नष्ट कर दिया है; इससे उत्पन्न हुई शुक्लध्यानरूप अग्निकी मोटी ज्वालाओंके समूहसे जिसने अतिशय गहन, अनादि

१. N S T J K R om. this sentence । २. All others except P M N निजनिजानन्द ।  
३. N स्वद्रव्या । ४. All others except P द्रव्यादिच । ५. M प्रभावपरिस्फुरित, N प्रभाव-  
स्फुरित, L S F J K X R प्रभावात् परिस्फुरित, T प्रभावजपरि । ६. N T निराकृति । ७. L S F  
K X Y R बहुल । ८. All others except P L F गहनान्तरालादि, L F गहनान्तरालादि ।

रणजानावरणादिद्रव्यभावबन्धनविशेषस्ततो युगपत्प्रादुर्भूतानन्तचतुष्टयो घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवृ सखलव्ययमात्मैव परमात्मव्यपदेशभागमवति ॥ [ इति ] 'शिवतत्त्वम् ॥१

अनादि आदिरहितं सकलं प्रतिप्रदेशव्याप्तम् । जीवप्रदेशेषु घनं निक्षिणं प्रतितं रचितं संसारस्य कारणम् एतादृशं यत् ज्ञानावरणादि । आदिशब्दादेष्टर्म ग्राह्यम् । तस्य यत् द्रव्यभावबन्धनं प्रकृति-स्थितिप्रदेशानुभागरूपं तस्य विशेषो यस्मिन्नात्मनि स तथा । ततो ज्ञानावरणादिकर्मनाशानन्तरम् । किभूतं आत्मा । युगपत्प्रादुर्भूतानन्तचतुष्टयः सकलोत्पन्नानन्तचतुष्टयो वीर्यादिरूपो यस्य स तथा । किवत् । घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवृ, घनपटलो मेघसमूहः तस्य विगमे मात्रे सवितुः सूर्यस्य प्रतापसेजः प्रकाशः तस्याभिव्यक्तिः प्राकटर्थं तद्वत् ॥ इति शिवतत्त्वम् ॥१॥ अथ पृथ्व्यादितत्त्वानां गहडप्रतिस्थिपके निर्दिशान्नाह । तत्र गहडजानु...इत्प्रतिलिपत्वेन पृथ्वीतत्त्वमाह ।

या ज्वाला: वीलास्तासां कलापः समूहः, तेन कवलितो मूलादुन्मूलितः गहनान्तरः अविज्ञातसंधिः । अनादी काले सकलेषु जीवप्रदेशेषु घनघटितो निविडतया जटिनो यो उत्ती संसारस्य कारणभूतो ज्ञानावरणादिद्रव्यभावबन्धनविशेषो यस्य आत्मनः स तथोक्तः । अत्र द्रव्यबन्धनविशेषः कर्मरजः । भावबन्धनविशेषः रागद्वेषमोहादिजातिव्यः । ततस्तदनन्तरं द्रव्यभावबन्धनविशेषकवल-नानन्तरं शुक्लव्यानानलव्याप्त्यनन्तरं युगपत्समकालं प्रादुर्भूतं प्रकटीभूतम् । अनन्तचतुष्टयम् अनन्तकेवलज्ञानदर्शनिण्ठितसुखचतुष्टको यस्य स तथोक्तः, घनपटलविगमे मेघपटलविघटने सति सवितुः श्रीसूर्यस्य प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवृ । तदेव प्रतापः उण्णतालक्षणः तदेव प्रकाशः उद्द्योत-लक्षणः, तयोः अभिव्यक्तिवृ, प्रकटनवत् । वहु निश्चयनयेन । अर्थ प्रत्यक्षीभूतः आत्मैव संसारी

कालसे सब ही जीवप्रदेशोंमें सचनरूपसे निर्मित एवं संसारके कारण ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके द्रव्य और भावरूप बन्धविशेषको सर्वथा निर्मूल कर दिया है; तथा इसीलिए जिसके मेघसमूहके नष्ट हो जानेपर सूर्यके प्रताप और प्रकाशके समान एक साथ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख व अनन्तवीर्य स्वरूप अनन्तचतुष्टय प्रगट हो चुका है; वह यह आत्मा ही 'परमात्मा' नामको प्राप्त करता है । शिवतत्त्वका कथन समाप्त हुआ । विशेषार्थ— कितने विद्वान् ध्यानके लिए शिवतत्त्व, गहडतत्त्व और कामतत्त्वको अभीष्ट (ध्येय) भानते हैं । इसके लिए यहाँ यह कहा गया है कि उक्त तीनों आत्मरूप ही हैं, उससे पृथक् नहीं हैं । उनमें सर्वप्रथम यह आत्मा शिवतत्त्व किस प्रकार है, इसको स्पष्ट करते हुए यह चतु-लाभा है कि आत्मा जब अन्तरंग और बाह्य कारणोंसे योग्य द्रव्य-क्षेत्रादि रूप सामग्रीको सम्पादित कर उसके प्रभावसे रत्नश्रवको प्राप्त कर लेता है तब उसके अतिशयसे जिस आत्मशक्तिका विकास होता है उससे जीव पृथक्त्ववितर्क और एकत्रवितर्क रूप शुक्लव्याप्त-को प्राप्त कर लेता है और तब उसके आश्रयसे वह जिस प्रकार अनिकी ज्वाला विशाल

१. V. मावसंबन्धन । २. S K X R विश्लेष । ३. P M N T om. स । ४. P M only read शिवतत्त्वम् ।

अविरलमरीचिमञ्जरीपुञ्जपिङ्गरितभास्वरतरशिरोमणिमण्ड-  
लीयहस्तमण्डतविकटतरस्फूलकार्मालुपरमप्रोत्पातप्रेष्टोलितकुला-  
चलसंमिलितशिखिशिखासंतापद्रवत्काचनकान्तिकपिण्ठेनिजकाय-

**अविरल—** एतादृशः पृथ्वीतत्त्वे भवति । कीदृशः । अविरला निरन्तरा ये मरीचयः विर-  
णात् एव मञ्जरीपुञ्जास्तीः पिङ्गरिताः पिङ्गरीभूता भासुरतराः शिरोमणयो येषां ते । मण्डलीसहस्रा-  
मर्षसहस्रा तेष्टमण्डता रविता विकटतरी फूलकारमालुपरमपरा पवनपरम्परा तासामुख्यातः तेन  
प्रेष्टोलिताः कम्पिताः कुलाचला येन सः । च पुनः । कीदृशः । संमिलिता एकत्र जाता शिखिशिखा अग्निउत्तराला तासा संतापेन द्रवत् द्रवीभूतं काङ्गनं स्वर्णं तस्य कान्तिस्तद्वल्पिणः पीत-  
वर्णः निजकायः तस्य कान्तिः छटापटलः छटासमूहः, तेन जटिलितः मिश्रितो दिग्बलयः येन सः ।

**जीवः ।** परमात्मव्यपदेशभाक् परमात्मनामभग्नी अहंत्सद्वलक्षणो भवति संजायते ॥ शिवतस्वं  
शम्भवम् ॥१॥ अथ गाहडलत्कमास्त्वनो निरूप्यते । तथाहि—तत्रार्थं क्रियाकारकसंबन्धः । कथम् ।  
आग्नेयेव नामयः कोऽपि पुद्गलादिकः । गाहडगीर्गोचरत्वं गाहडविद्या वेत्तीति गाहडः । गाहड इति  
गीर्गिभ्य गाहडगीर्गीः, तस्य गोचरत्वं विषयत्वम् अवगाहते प्राप्नोति आत्मगाहड इति कथ्यते इत्यर्थः ।  
कर्णभूतः मन् । अविरल इत्यादि—अविरला अविच्छिन्ना या मरीचयः किरणाः ता एव मञ्जर्यो  
बलर्थः तासा पुञ्जः समूहः तेन पिङ्गरिताः पीतवर्णः ते च ते भासुरतरा अतिशयेन देवीप्रमाणाः ।  
ये विरोमणयः फणारत्नानि तेषां मण्डली चक्रवालं तस्याः सहस्रं तेन मण्डलं श्रीगितंसु । क्षत्रिय-  
भुजङ्गपुञ्जविलयमित्यस्य विशेषणमिदम् । तज्ज्व तदविकटतरेत्यादि—विकटतरा प्रकटतरा ये  
फूलकारमालुता वायवः तेषां परमपरा व्येणः तस्या उत्पातेन उच्छ्वलनेन प्रेष्टोलिताः कम्पिताः ये  
कुलाचला कुलपर्वता तेषां संमिलितः समूदभूतः योऽसी शिखी अग्निं तस्य शिखा उवाला तासा  
संपातेन आगमनेन द्रवत् निर्मलत् यत् काङ्गनं सुवर्णं तस्य या कान्तिर्दीपिः तथा कपिणी पीतरक्ती

यनको भस्म कर देती है उस प्रकार आत्माके साथ अनादि कालसे सम्बन्धको प्राप्त हुए  
ज्ञानाचारणादि चार वातिया कर्मोंको भस्म कर देता है—उन्हें आत्मासे सर्वथा पुरुषक कर  
देता है । उस समय उस के अनन्तज्ञानादि चार अनन्तगुण एक साथ प्रगट हो जाते हैं ।  
तब वही आत्मा परमात्मा कहा जाता है तथा वही शिवस्वरूप—कल्पाणकारक—होनेसे  
शिवतस्व माना जाता है ॥१॥

सबन किरणरूप लताओंके समूहसे पीतवर्णवाली व अतिशय चमकीली ऐसी शिरकी  
मणियोंकी—फणोंमें स्थित रत्नोंकी—हजार पंक्तियोंसे सुशोभित तथा अतिशय विस्तीर्णं  
फूलकारकी वायुओंकी परम्पराके उपद्रवसे विचलित हुए कुछपर्वतोंकी उत्पन्न हुई अग्निकी  
उवालाओंके सन्तापसे पिघले हुए सुवर्णकी कान्तिसे कपिणा (काला-पीला) वर्णयुक्त अपने  
शरीरकी कान्तिके समूहसे दिग्मण्डलको व्याप्त करनेवाले ऐसे क्षत्रिय जातिके दो श्रेष्ठ सर्पों

१. K starts here, J reads passages Nos. 2 to 7 after No. 6 । २. All others except P भासुर । ३. All others except P M फूलकार । ४. M N कान्तिपिङ्गल ।

कान्तिच्छापटलजटिलितदिग्बलयक्षत्रियभुजङ्गपुङ्गवेदितयपरि-  
सिसक्षितिवोजमिहिष्टप्रकल्पयित्कुरुत्वगणिर्विचुरुत्वदेदि-  
नीयष्टुलावलम्बनगजपतिपृष्ठप्रतिष्ठितवरिकलितकुलिशकरशन्वी-  
प्रमुखविलासिनीशुद्धारदर्शनोद्भवितलोचनसहस्रश्रीत्रिदशपतिमुद्रा-  
लंकृतमस्तभुवनावलम्बिशुनासीरपरिकलितजानुद्दयः ॥ [ इति  
पृथ्वीतत्त्वम् । ] ॥२

त पुनः । कीदृशः । क्षत्रकुलोत्पञ्चसर्पप्रधानद्वितयेन परिक्षिसं वेष्टितं यत् क्षितिवीजं धराधूलं तत्र  
विसृष्टः स्थापितः प्रगटो वज्रपञ्चराज्ञादितः सवनगिरि सुमेहः । च पुनः । कीदृशः । चतुरस-  
मेदिनीभष्टुलम्ब अवलम्बनं यः सः । च पुनः । कीदृशः । मजपतिपृष्ठप्रतिष्ठित ऐरावतपृष्ठारोहितः ।  
परिकलितः स्थापितः कुलिशो वज्रः करे येन सः । च पुनः । कीदृशः । श्रीत्रिदशपतिदेवेन्द्रः, तद्य  
मुद्रया प्रतिबिम्बेनालंकृतं समस्तं भवनं तदवलम्बी यः सुनासीर इम्द्रः, तेन परिकलितं व्याख्य-  
जानुद्दयं यस्य स च तेषां समाहारस्तथा । इति पृथ्वीतत्त्ववर्णनं समाप्तम् ॥२॥ ततो पूतत्वं तद-  
विष्टायकवरुणाकारेण वर्णयति ।

निजकाषी स्वशरीरे तयोः याः कान्तयो दीपयः तासां छटापटलं धारासमूहः तेन जटिलितं कर्वृरी-  
द्वातं दिग्बलयं दिक्क्वचकं येन तत् क्षत्रियभुजङ्गपुङ्गवेदितयं क्षत्रियजातिवासुकिशशुपलनामधेयर्थ-  
राजयुगलं, तेन परिक्षिसं वेष्टितं तत्त्वं [ तत्तक्षित- ] बीजक्षिसृष्टं लक्षि [?] इति वर्णद्वयचतुर्प्रय-  
गंयुक्तं तत्त्वं तत् प्रकटपविष्टरपिनद्वं स्फुटतरवज्ररेखाचतुष्टयेन वेष्टितम् । श्वल्युकर्णिणिर्युपलक्षितं  
भेदगिरिषोभमानम् । यत् चतुरसं चतुर्जोणम् । यन्मेदिनीमाङ्गलं पृथ्वीतत्त्वं तत् अवलम्बयम्  
आश्रारो यस्य स चासौ गजपतिपृष्ठप्रतिष्ठितः ऐरावणस्कन्धमाहृषः । स चासौ परिकलितकुलिश-  
करः यमुद्धृतवज्रहस्तः स चासौ शब्दीप्रमुखविलासिनीशुद्धारदर्शनोद्भवितलस्त्रीचतुर्हस्यः, यन्त्री  
इन्द्राणी, प्रमुखा मूर्ख्या यासां विलासिनीनां कमलीयकामिनीनां तासां शुद्धारदर्शने ल्ननजघनकद-  
नादिशोभाविलोकने उल्लसितम् उल्कुलं लोचनसहस्रं यस्य स चासौ यिद्यपतिदेवराजः तस्य या  
मुद्रा तया अलंकृतं शोभितं यत्समस्तं भुवनं जगत् तत्र अवलम्बते । इत्यैवंशीलः तदवलम्बी स चासौ  
सुनासीरो देवेन्द्रः तेन परिकलितं रचितं जानुद्दयम् अष्ट्रीवत्पर्यन्तं जह्नायुगलं येनात्मना यु  
तशोकः ॥२॥

(वासुकि और डंखपाल) से वेष्टित; ‘श’ इस बीजाश्रसे विशेषताको प्राप्त होता हुआ स्थृ-  
तया चार वज्र-रेखाओंसे वेष्टित सुमेहसे युक्त चौकोन पूर्विकीभष्टुलका आश्रय लेनेवाले  
ऐरावण हाथीकी पीठपर अवस्थित, हाथमें वज्रको लिये हुए, और इम्द्राणी आदि देवांग-  
माओंके शृंगार (सजावट) के देखनेमें हर्षको प्राप्त हुए हजार नेत्रोंकी शीभासे सम्पन्न ऐसे

१. E N कायजनितकान्ति । २. N पुङ्गविनताद्वितय । ३. All others except P M विसृष्ट ।  
४. F गिरि । ५. Y करप्रकरशनी । ६. N भुवनालम्बिशुनासीरमुनिसारपरि, T भुवनावलिशुना ।  
७. All others except P M read इति पृथ्वी etc. ।

तदुपरि पुनरानाभिविपुलतरसुधासमुद्रसंनिभसमुल्लसचिज-  
शरीरप्रभाषटलव्याससकलगणनान्तरालवैश्याशीविषधरावैनदुर्बाहण-  
वीजाक्षरमण्डनेपुण्डरीकलस्मोपलक्षितपारावारमयखण्डनुभण्ड-  
लाकारवरुणपुरप्रतिष्ठितविपुलतरप्रचण्डमुद्राग्रहेतिविकीर्णशिशिर-

**तदुपरि**—एतादृशी अस्त्री भवति । तदुपरि पृथ्वीतस्वामरि आनाभि गहडनाभि मयादीकृत्य विपुलतरसुधासमुद्रसंनिभसमुल्लसचिजशरीरप्रभाषटलः कान्तिसमूहः तेन व्यासं सकलं गगनान्तरालमाकाशमध्यं येन स तथा । च पुनः । कीदृशः । वैश्याशीविषविषधरावैनदुर्बाहणवीजाक्षरमण्डनः वैश्यः च आशीविषवै एतादृशी विषधरी कर्कोटिपञ्चनामी ताभ्याम् अत्रनद्दे व्यासं यद्वारुणबीजाक्षरं वाहणमन्त्राक्षरं तम्भण्डनं यस्य स तथा । च पुनः । कीदृशः । पुण्डरीकलस्मोपलक्षितकमललाङ्घनीपयुक्तो यः स तथा । च पुनः । कीदृशः । पारावारमयखण्डनुभण्डलाकारवरुणपुरप्रतिष्ठितविपुलतरप्रचण्डशुण्डाग्रहेतिविकीर्णशिशिरतरप्रयः कणाकान्तिकर्वैरितसकलदिवकं, पारावारमयः समुद्रमयः यः खण्डनुभण्डलः अर्थचन्द्रमण्डलः तदाकारं वद्वरुणपुरं वरुणमण्डलं तत्र प्रतिष्ठितं यः स तथा । च विपुलतरो विस्तीर्णतरः प्रचण्डमुद्राग्रहः आयुधाग्रहः तस्मिन् अतिविकीर्णी अतिविक्षितः शिशिर-

**तदुपरि**—तदुपरि तस्य सुनासीरपरिकल्पितजानुद्वयस्थोपरि लदुपरि । पुनः पुनरपि पूर्वोक्तव्यानविधानानन्तरम् अपरं व्यानम् । आनाभि तु उन्निकापर्यन्तं विपुलतरो विस्तीर्णतरो यः सुधासमुद्रोऽमूलसमुद्रः क्षीरसाधरः तेन संनिभयः । अतिशुक्लं समुल्लसमूहं यम्यगुलामं प्राप्नुवत् यन्निजशरीरं सपैशरीरद्वयं तस्य प्रभाषटलानि तेजःसमूहाः तेः व्यासं शब्दलीकृतं सकलं समग्रं गगनान्तरालम् आकाशमध्यं याम्यां ती वैश्याशीविषविषधरी वैश्यजातयुत्पन्नी आशीविषौ दंष्ट्राविषौ विषधरी कर्कोटिपञ्चनामी ताभ्याम् , अत्रनद्दे वेष्टितं तच्च तद्वारणबीजाक्षरमण्डनं वाहणबीजाक्षरैः चतुभिः वकारैः चतुर्दिक्स्थितैः मण्डनं शोभा यस्य सच्च तत्पुण्डरीकलशोपलक्षितं पञ्चपञ्चकमललक्षणोपयोभितं तच्च तत्पारावारमयं क्षीरसाधरमयं तच्च तत् खण्डनुभण्डलाकारम् अर्थचन्द्रमण्डलसदूर्धा यत् वरुणपुरं वरुणतस्वं जलमण्डलभिति यावत् । तत्र वरुणपुरे प्रतिष्ठितः स्थितो यो इसी विपुलतरो विस्तीर्णतरः प्रचण्डमुद्रः अद्वृतमूर्तिः । स चासी अप्रहेतिविकीर्णशिशिरप्रयः कणांइन्द्रकी प्रतिकृति (मुहर) से अलंकृत एवं समस्त पृथ्वीका आश्रय लेनेवाले इन्द्रके द्वारा रखे गये दोनों घुटनोंसे संयुक्त, पृथिवीतत्व ॥३॥

फिर इन्द्रके द्वारा रखे गये उन दोनों घुटनोंके ऊपर नाभिपर्यन्त अतिशय विशुल अमृससमुद्रके समान विकसित होनेवाली अपने शरीरकी कान्तिके समूहसे समस्त आकाशके मध्य भागको व्यास करनेवाले ऐसे वैश्य जातिके दो सर्पी (कर्कोट और पद्म) से वेष्टित वाहण बीजाक्षरोंसे—चारों दिशाओंमें स्थित चार चकारोंसे—मणिडत; पाँच पत्तोंवाले कमलके चिह्नसे उपलक्षित क्षीरसमुद्रस्वरूप, अर्थं चन्द्रमण्डलके सहश आकारवाले वहणपुरमें प्रतिष्ठित, अतिशय विस्तृत आइचर्यजनक मूर्तिसे संयुक्त, मुख्य किरणोंसे मिशित अतिशय

तरथयः कणाकान्ति कर्बुरितसकलककुपचककरिमकरैमा रुद्रप्रशस्त-  
पाशयाणिवरुणामृतमुद्रावन्धविधुरितनिः शेषविषानलसंतानभगव-  
द्वरुणनि॒ गूढोत्संगदेशः [ इति अस्त्वम् ] ॥३

विस्फुरितनिजवपुर्वहूलज्वालावलीपरिकलितसकलदिव्यलय-  
द्विजदद्वद्युकरस्ताशुशुभधिष्ठिर्विस्फुरितविस्तीर्णस्वस्तिकोपयन्न-

तरथयः कणाः । तेषाम् आक्रान्तिः आक्रमणं तेन कर्बुरितं सकलं ककुपचकं येन तथा । च पुनः  
कीदृशः । करिमकरीरुद्रप्रशस्तपाशयाणिवरुणामृतमुद्रावन्धः करिरुणो यो मकारे मत्स्यः तथा रुद्र  
आरोहितः प्रवास्तो मनोहरो यः पाथः स पाणी यस्य एतादृशः वरुणः तस्यामृतमुद्रामुधा रक्षा तस्या  
बन्धुस्तस्यादृशः यः स तथा । च पुनः । कीदृशः । विधुरितो अपारतो निःशेषः समस्तो विषानल-  
संतानो विषाणिनिसमूहो येन स तथा । पुनः कीदृशः । भगवता वरुणेन निर्गुढो व्यासो उत्संगः  
प्रदेशो यस्य स तेषां समाहारस्तथा ॥ अस्त्वार्थः समाप्तः ॥३॥ अथप्रस्त्वानन्तरं विहितस्त्वमाह ।

**विस्फुरित—**विस्फुरिता प्रगटिता निजवपुषः सकाशान् बहूला सघना ज्वालावली ताम्भिः  
परिकलितं व्याप्तं सकलदिव्यलयं येन स तथा । पुनः कीदृशः । द्विजदद्वद्युकी विलेशायसर्वैः ताम्भ्या

कान्तिकर्बुरितसकलककुपचकः । अस्यायं समाप्तः । जग्राः पूज्यतराः याः हेतयः किरणाः ताम्भिर्वि-  
कीर्णीः मिश्रिताः ये शिद्विरतरा अतिशीतलाः ते च ले पथः कणाः चूर्णजलानि तेषाम् आक्रान्तिः  
व्याप्तिः तेया कर्बुरितं लिप्तं सकलं समग्रं ककुपचकं दिग्मण्डलं येन स तथोक्तः स चासी करिमकरः  
जलगजेन्द्रः तम् आरुदः स चासी प्रवास्तो इतिरुचिरो यो ज्यो पावपाणिः नामफाशपाणिः स  
चासी वरुणः प्रतीचीदिशापालकः, तस्य यो ज्यो अमृतमुद्रावन्धः तेन विधुरितः स्फेटिनः निःशेषः  
समस्तः विषागलसंतानो येन विषाणिनिसमूहो येन स चासी भगवान् पूज्यतरः स चासी वरुणः तेन  
निर्गुढो वेष्टितः ध्यानबलेनात्मसात्मुतः उत्संगप्रदेशः उत्संगस्थानं येनात्मना स तथोक्तः ॥३॥

**विस्फुरित—**विस्फुरिता सकलजगद्विद्योतकारिणी सा चासी निजवपुर्वहूलज्वालावली  
निजवपुषोः सर्पद्रुयशरीरयोः या बहुलानिप्रबुरतरा ज्वालावली तेजसां शेणिस्तया परिकलितं

शीतल जलकण्ठोकी व्याप्तिसे दिग्मण्डलको छिस करनेवाला; जलहाथीपर आरुद, हाथमें  
सुन्दर नामपाणिको लिये हुए, ऐसे वरुण दिग्मण्डलकी अमृतसय भूर्तिके सम्बन्धसे समस्त  
विषरूप अग्निके समूहको नष्ट करनेवाले भगवान् वरुण दिग्मण्डलके द्वारा जिसका मध्य भाग  
गुप्त किया गया है, अप्तस्त्व ॥३॥

विकास को प्राप्त हुई अपने शरीरकी ज्वालाके समूहसे दिग्मण्डलको व्याप्त करनेवाले  
ऐसे आद्याग जातिके दो सर्पों (अनन्त और कुलिक) से रक्षित, आशुशुभ्यणि (अग्नि) वर्ण (र)

१. M N कणाङ्गुड़ित, All others except P M L कणाकान्ति । २. M N समारुद्ध । ३. All  
others except P T निर्गुढो<sup>०</sup>, T निर्वृद्धो । ४. All others except P M N त्संगप्रदेशः ।  
५. All others except P M हृति अस्त्वम् । ६. M S J X Y अग्निरद्वर्ण । ७. M विस्फुर-  
विस्फुरितविस्तीर्ण, N विस्फुरितविस्तारितविस्तीर्ण ।

त्रिकोणतेजोमयपुरमध्यबद्धवसतिवस्ताधिरुद्गवलदलातहस्तानल-  
मुद्रोदीपितसकललोकवह्निविरचितोरःप्रदेशः ॥ [ इति वह्नि-  
तत्त्वम् । ] ॥४

अविरतपरिस्फुरत्सूक्त्कारमारुतान्दोलितसकलभुवनाभोग-  
परिभूतषट्चरणचक्रवालकालिमानिजतनुसमुच्छलद्वह्निकान्तिपटल-

रक्षितः आशुशुक्षणिरग्निः तस्य वर्णः, तद्विस्फुरितमुद्रोपितं विस्तीर्णं स्वस्तिकोपपञ्चं स्वस्तिकसदशं  
त्रिकोणं त्रिकोणाकारं यत्तेजोमयपुरमग्निमण्डलं तस्मध्ये बद्धा रचिता वसतिः स्थानं येन स तथा ।  
पुनः कीदृशः । ज्वलदिलातलहस्तानलमुद्रोदीपितसकललोकवह्निविरचितोरःप्रदेशः, ज्वलदिलातले  
दीप्यमात्रपृथ्वीतलहस्तानलमुद्रया उद्दीपितो यः सकललोकवह्निः तेन विरचितोरःप्रदेशो यस्य तेषां  
पदानां समाहारः स तथा । इति वह्नितत्त्वम् । व्याख्या समाप्ता ॥४॥ अग्निनितत्वानन्तरे  
बायुतत्त्वमाह ।

अविरत—अविरतपरिस्फुरत्सूक्त्कारमारुतान्दोलितसकलभुवनाभोगः, अविरता निरन्तरः  
परिस्फुरन्तः फूल्कारमारुताः तैरान्दोलितः कम्पितः सकलभुवनाभोगो जगद्विस्तारो येन स तथा ।  
पुनः कीदृशः । परिभूतषट्चरणचक्रवालकालिमानिजतनुसमुच्छलद्वह्निकान्तिपटलपिह्निनभस्तल-

वेष्टितं सकलं सभग्रं द्विवलवं हृष्टव्यक्तं धाम्यां द्विजदम्बधूकाभ्यः द्विजजातीयसर्वभ्याम् अनन्त-  
कुलिकनामभ्यां तौ रक्षणं यस्य तेजोमयपुरस्य तच्च तत् आशुशुक्षणिवर्णविश्फुरितम् अग्निवीज-  
शोभितं रकाराक्षरशोभितं तच्च तत् विस्तीर्णस्वस्तिकोपपञ्चं त्रिकोणेषु भद्रास्वस्तिकात्रयसंपुक्तं  
त्रिकोणं अर्घ्यं यत्तेजोमयपुरम् अग्निमण्डलं तस्य मध्ये बद्धा विरचिता वसतिः स्थितिर्येन स  
चासौ बस्तः छागराजः तस्मधिरुद्धः चटितः स चासौ ग्रज्वलदलातहस्तः जागवल्यमानोलमुक्तारः स  
चासौ अनलमुद्रोदीपितसकललोकः अनलमुद्रया अग्निमुद्रया उद्दीपितः उद्योतितः सकलो निरवशेषो  
लोको जगद्येन स तथोक्तः स चासौ एवंविधविशेषग्रायविशिष्टो वह्निरग्निदेवता तेन विरचितो  
ध्यानेन परिकल्पितः उरःप्रदेशो हृदयप्रदेशो येनात्मना स तथोक्तः ॥४॥

अविरत—अविरतं निरन्तरं परिस्फुरत्समन्ततो धावन् योऽसौ फूल्कारमारुतः फूल्कार-  
पवन तेन आन्दोलितः कम्पितः योऽसौ सकलः समग्रो भुवनाभोगो जगद्विस्तारस्तेन परिभूता  
उद्धापिता ये षट्चरणा अमरसलेषां चक्रवालं मण्डलं सस्येव कालिमा ग्राण्णत्वं येषां तानि च  
तानि निजतनुसमुच्छलद्वह्निकान्तिपटलानि निजतनुभ्यां समुच्छलन्ती उत्तद्यमाना यासौ बहुला

से प्रकाशमान तथा विस्तीर्ण स्वस्तिक (साधिया) चिह्नसे संयुक्त, ऐसे तीन कोन बाले तेजसे  
निर्मित नगरके मध्य भागमें अवस्थित, बकरेपर चढ़ा हुआ, जलते हुए काष्ठ (या अंगार) को  
हाथमें लिये हुए; अग्निकी मुद्रासे समस्त लोकको व्याप करनेवाले ऐसे अग्नि लोकपालसे  
जिस का वशस्थल रचा गया है, वह्नितत्त्व ॥४॥

निरन्तर चलती हुई फुकार बायुसे कम्पित हुए समस्त लोकप्रदेशके द्वारा परिभवको  
प्राप्त हुए अमरसमूहकी कालिमाके समान अपने शरीरसे निकलनेवाली विस्तृत कान्तिके

पिहितनिखिलनभस्तलशूद्रकाद्रवेषबेलयितमरुमुद्रोपपश्चिन्दु-  
संदोहसुन्दरमहामारुतवलयत्रितयात्मकसकलमुवनाभोगवायुपरि-  
मण्डलनभस्तवपुरान्तर्गतव्रुद्धिहनकुरज्जवेमविहरणदुर्लितःकर-  
तलकलितचलविट्ठकोटिकिसलयशालशालिमरुमुद्रोच्छेलितसकल-  
मुवनः पवनमयवदनारविन्दः । [ इति 'वायुतत्त्वम् । ] ॥५

शूद्रकाद्रवेषः, परि मामस्त्वेन परिभूता जिता । बट्चरावकवालस्य मृद्गुसमूहस्य कालिमा यदा  
एवंभूतः विजिततुः स्ववरीरं तस्याः शमुच्छलत् समन्तादुच्छलत् यो उसी बहलकान्तिपटलः सघन-  
कान्तिलमूहः तेन पिहितमाच्छादितं निखिलं नभस्तलं येन स तथा । पुनः कीदृशः । शूद्रकाद्रवेष-  
वलयितमरुमुद्रोपपश्चिन्दुसंदोहसुन्दरमहामारुतवलयत्रितयात्मकः, शूद्रकाद्रवेषाः सर्वविशेषाः तदिव  
वायितवलयाकारेण जाता मस्तमुद्रा मरुदलकृतिः तया उपपश्चाः स्थिता ये विन्दवस्तेषां संदोहेन  
सुन्दरः यो महामारुतः महावायुः तस्य वलयत्रितयं तदात्मकं यः स तथा । पुनः कीदृशः । सकल-  
भूवनाभोगी भूवनविस्तारः, तत्र यो वायुपरिमण्डलः, तेन नभस्तवपुरान्तर्गतवरयुष्मण्डलान्तरस्थितः  
यः स तथा । पुनः कीदृशः । वाहनकुरज्जवेमविहरणः वाहनो यो उसी कुरज्जो हरिणः तस्य वेगस्तेन  
विहरणं शीघ्रगामित्वाद्यस्य स तथा । पुनः कीदृशः । अस्ति दुर्मिता करतलेन कलिता व्यासा  
चलाश्चञ्चला ये विटपास्तेषां कोटयः, तासां किसलयाः, तैः शालते यः स तथा । पुनः । मरुमुद्रो-  
अतिप्रचुरा यासौ कान्तिदीर्घिः तस्याः पटलानि समूहस्तैः पिहितम् आच्छादितं निखिलं समस्तं  
नभस्तर्लं गगनमण्डलं याभ्यां ती च ती शूद्रकाद्रवेषी शूद्रजातीयसर्पी तक्षक-महापश्चानामानी ताभ्यां  
वलयितं वेष्टितं तत्त्वं तस्युरतमुद्रोपपश्चिन्दुसंदोहसुन्दरं सुरस्य संभोगस्य या मुद्रा अलिङ्गन-  
चुम्बमादिव्यापारलक्षणा तस्याम् उत्पश्चाः संजाता ये विन्दवः प्रसवेदजलकणाः तेषां संदोहः  
समूहः तेनैव सुन्दरं मनोहरं जलविन्दुभिव्याप्तिभित्यर्थः । सच्च तन्महामारुतवलयत्रितयात्मकं  
महान्तो ऽतिप्रचण्डाः अतिस्थूलतराश्च ये मारुताः पवनास्तेषां वलयत्रितयं गोमूत्रिकाकारञ्चन-  
वालत्रितयं, तत् आत्मा स्वरूपं यस्य तत् महामारुतवलयत्रितयात्मकं तच्च तत्सकलभूवनाभोगवायु-  
परिमण्डलं सकलं च तत् भूवनं जगत् तस्य आभोग आटोपः तत्र यत् वायुपरिमण्डलं वातचकं  
तन्मयं यत् नभस्तवपुरं वायुमण्डलं तस्य अन्तर्गतो मध्येस्थितो यो उसी वाहनकुरज्जः वाहनसंबन्धीये  
मृगः वातप्रमीनामको हरिणः तस्य वेगविहरणे शीघ्रवावने दुर्लितम् अप्रतिहतव्यापारम्  
आसफालनकर्त्तां कठिनं यत्करतलं हस्ततलं तेन कलितो शृतो यो उसी चलविट्ठकोटिकिसलयशालः  
चलानि चपलानि विटपाशेषु किसलयानि पल्लवाः यस्य स चासौ शालो वृक्षः तेन

समूहसे समस्त आकाशमण्डलको आच्छादित करनेवाले ऐसे शूद्र जातिके दो सर्पीं (तक्षक च  
महापश्चा) से वेष्टित, वायुकी मुद्रासे युक्त, विन्दुसमूहसे सुन्दर, महावायुके तीन मण्डलस्वरूप  
समस्त लोकके मध्यवर्ती वायुमण्डल स्वरूप ऐसे वायुपुरके मध्यमें स्थित विष्णुका वाहन  
हिरण्यके वेगसे दुर्लित, हाथमें महण किये गये चंचल वृश्चके अम धारमें स्थित कोमल

१. M N काद्रवेषवलम्बित । २. M N शीघ्रपूरवायु । ३. All others except P M N om. वञ्चु ।

४. All others except P दुर्लितकर । ५. M N मृदोच्छलित । ६. P M om. इति वायुतत्त्वम् ।

गगनगोचरामूर्तजयविजयभुजङ्गभूषणो अनन्ताकृतिपरम-  
विभुन्नभेस्तलनिलीनैसमस्ततत्त्वात्मकं समस्तज्वरोगविषधरोहुमर-  
हरिदिनीद्वयक्षर्णिनार्थेरामिन्द्रियामन्त्रेन्नामुद्रामण्डलवलन-  
हरिशरभशार्दूलद्विपदुष्टदेत्यप्रभुतिसमस्तोपसर्गनिर्मूलनकारिसामर्थ्यः

च्छलितसकलभूवनपवनमयवदनारविनदः, महमुद्रया उच्छलितः यः सकलभूवनपवनसर्वजगद्वायुः  
तन्मयो वदनारविन्दे यस्य म तेषां ममाहारः म तथा ॥ इति वायुतत्वार्थः ॥५॥ अथात्मनः  
समस्ततत्त्वात्मनः गरुडतत्त्वमाह ।

**गगन**—कीदूजः आत्मा । गगनगोचरः आकाशस्वरूपो यः स च । पुनः कीदूशः । जयविजय-  
नामानी भुजङ्गो सर्पी भूषणं यस्य स तथा । पुनः कीदूशः । अनन्ताकृतिरनन्ताकाररूपो यः स  
तथा । पुनः कीदूशः । परमविभुः परमव्यापकः यः स तथा । पुनः । नभस्तले निलीनानि हित्यतनि  
समस्ततत्त्वानि यस्मिन् म तदात्मकः स तथा । पुनः कीदूशः । समस्तज्वररोगविषधरोहुरडाकिनी-  
गद्वयद्विकिनरसरेन्द्रारिमारिपरथन्त्रमन्त्रमुद्रामण्डलज्वलनहरिशरभशार्दूलद्विपदुष्टप्रभुतिसमस्तोप-  
सर्गविर्मूलनकारिसामर्थ्यपरिकलितसमस्तगारुडमुद्रामण्डलाहम्बरसमस्ततत्त्वात्मकः स च । कीदूशः  
स च । समस्ता ये ज्वरादयः, ज्वररोगः प्रसिद्धः, विषधराः सर्पीः, उद्धरा भयजनकाकाशः, डाकिन्यः

शालते शोभते इत्येवंशीला शालकालिनी लादुशी या महमुद्रा वायुमुद्रा तथा उच्छलित  
उत्पन्नः सकले भूवने समस्ते जगति यो इसी पवनः तेन निर्वृत्तं तन्मयं कृतं चिन्तितं ध्यानेन परि-  
कलितं वदनारविन्दे मुखकमलं येनात्मना स तथोक्तः ॥५॥ पुनरपि कथं भूतः सप्तयमात्मा ।

**गगन**—गगनगोचरामूर्तजयविजयभुजंगभूषणः गगनं वियत् आकाशं गोचरो विषयो  
यथोत्तमी च ती अमूर्ती ध्यानगम्यो चक्षुरादीनामपि अविषयी एवंविधौ यी जयविजयनामानी  
लेलिहानीौ ती भूषणं पण्डनं यस्यात्मनः स यथोक्तः । एतेन आकाशतत्त्वं सूचितम् । भूयोऽपि कथं-  
भूतो इयमात्मा । अनन्ताकृतिपरमविभुः अनन्तं ध्योम तस्य आकृतिः आकारो यस्थासौ अनन्ता-  
कृतिः स चासौ परमविभुः सर्वोत्कृष्टव्यापकः आकाशमयः । अपरम् किनिशिष्ठः । नभस्तलनिलीन-  
पत्तोवाले शालवृक्षसे सुशोभित, आयुकी सुद्रासे समस्तं लोकको उच्छालनेवाला तथा वायुस्वरूप  
मुखकमलसे संयुक्त, वायुतत्त्व ॥५॥

आकाशको विषय करनेवाले अमूर्तिक जय एव विजय नामके दो सर्पोंसे विभूषित,  
अनन्त आकाशकी आकृतिको धारण करता हुआ सर्वव्यापक, आकाशमें अवस्थित पृथ्वी  
आदि समस्त तत्त्वों स्वरूप; समस्त (एकतरा आदि अनेक प्रकारका) ज्वर रोग, विषले  
सर्पादि प्राणी, भक्षाभय, डाकिनी, शनि आदि कूर ग्रह, यम, किंशर (अश्वमुख), राजा,  
शत्रु, मारि (लेग आदि संक्रामक रोग), दूसरेके द्वारा किये गये यन्त्र, तन्त्र, मुद्रामण्डल,  
तथा अग्नि, सिंह, अद्वापद, व्याघ्र, हाथी, दैत्य और दुर्जन आदि इन सब उपद्रवोंको सर्वथा

१. M भूषणात्मा । २. M विभूतिसम्बन्ध । ३. M N निलीनः । ४. All others except P  
तत्त्वात्मकः । ५. All others except P M N °रोहुमर । ६. M J X Y यस्त्रमन्त्र । ७. All  
others except P द्विपदुष्ट । ८. M N T F सामर्थ्यपरि ।

परिकलितसमस्तगारुडमुद्राकारिडम्बरसमस्ततत्त्वात्मकः समात्मैव  
गारुडगीणोचरत्वमवगाहते ॥ [इति 'वितत्त्वम्'] ॥६

ग्रहः केत्त्रादयः, यक्षः क्षमन्तरविशेषाः, चित्तरा लक्ष्मसुताः व्याघ्रारजेतः इति । नरेन्द्रा एवारथः, मारिर्भैरणप्रदृतिः, परेषां यन्त्रं विकीणाद्युच्चाटनादिविषयम्, मन्त्रं दुष्ट्रेवाधिष्ठायकम्, मुद्रामण्डलं कौलशास्त्रे प्रसिद्धम् । ज्वलनो इति:, हरिः सिंहः, शरभा अष्टापदाः, शार्दूला व्याघ्राः, द्विपा हस्तिनः, देत्या दानवाः, अन्ये ये दुष्ट्रप्रभृतयः तेषां समाहारः ते तथा । तेषां समस्तोपसगारीः तैः कृता वा समस्तोपसगास्तेषां निर्मूलं दूरीकरणं तत्कारि यत्तामर्थ्ये तेन परिकलितः संयुक्तः यः समस्तः गारुडमुद्रामण्डलः गारुडाकृतिमण्डलः तस्याऽम्बरो यस्मिन् स समस्ततत्त्वात्मकाङ्गज्यः स तेषां समाहारः स तथा सन् ॥ इति वियतत्त्वार्थः\* ॥६॥ अथात्मनः कामरूपतामाह ।

समस्ततत्त्वात्मकः नमस्तले गगनमण्डले निलीनानि स्थितानि समस्तानि विश्वानि पृथ्वीबरुणाग्निवायुनामानि यानि यानि तस्वानि पूर्वोक्तलक्षणोपलक्षितानि चत्वारि तस्वानि आत्मा स्वभावो यस्यात्मनः स नमस्तलनिलीनसमस्ततत्त्वात्मकः । अन्यत्र च कथंभूतो ज्यमात्मा । समस्तेत्यादि भूतगद्यम् । समस्ता विश्वे ते च ते उवररोगाः वातपित्तश्लेष्मोदभवा व्याधयः आयुर्वेदनिश्चित्तानामानः ते च ज्वरश्च एकाहिकद्वयाहिकश्चाहिकादिकः ज्वरो महारोगत्वात्पृथगुपातः । विषधरश्च अवैकमेदनागाः । उहामरश्च महती भीतिः, डाकिन्यश्च कुटिसतमन्त्राः स्त्रियः, श्रहाद्वच पिशाचाः शनिप्रभृतयश्च, यक्षाश्च वनदाः, किनराद्वच अद्वमुखाः, नरेन्द्राद्वच राजानः, अरथश्च शत्रकः, मारिष्यश्च भरकः, परेषां मिथ्यादृष्टीनां यन्त्रमन्त्रमुद्रामण्डलानि च, ज्वलनश्च दावादिलक्षणः, हृषयश्च सिंहाः, वरभाश्च अष्टापदाः, शार्दूलाश्च व्याघ्राः, द्विपाश्च हस्तिनः, देत्याश्च व्यन्तरादयः, दुष्ट्राश्च दुर्जनाः, कर्णेजपाः ते प्रभृतयो मृद्या येषां शाकिनीत्रह्यराक्षसादीनां तेषां संवन्धी समस्तः सर्वः यो ज्ञाकुफसर्गः तस्य निर्मूलनकारि समूलकाषेकाषकारि सामर्थ्यं बलं यस्यात्मनः स तथोक्तः । अपरं च कथंभूतः । परि इत्यादि । परिकलिता स्वसाकृता या समस्ता पञ्चविधायि या गारुडमुद्रा तस्या आडम्बरः आटोपः परियुर्णता येषु समस्तेषु तत्त्वेषु तानि च तानि तस्वानि आत्मा स्वभावो यस्यात्मनः स तथोक्तः । एवंविवर्धयानाविष्टः आत्मा गारुडो भवति । विशादिसामर्थ्यं निरर्थयति इत्यर्थः । इति वियतत्त्वं समाप्तम् ॥६॥ अथेदानीं कामतत्त्वं प्रकाशयितुमन्तः यदि पुनरित्याह ।

नष्ट कर देनेवाली शक्तिसे सम्पन्न, तथा गारुडमुद्राको करनेवाले आडम्बरसे परिपूर्ण पृथिवी आदि समस्त तत्त्वोंस्वरूप होता हुआ आत्मा ही गारुडगीकी—गारुड विश्वाका ज्ञाता इस नामकी—विषयताको प्राप्त होता है, वितत्त्व समाप्त हुआ ॥६॥

१. M N F X Y मुद्रामण्डलसमस्त, L मुद्रामण्डलादम्बर, S T J R मुद्राऽम्बरसमस्त । २. P वितत्त्वम्, I, F वियतत्त्वम्, T गुहतत्त्वम्, J om. ।

यदि पुनरसौ सकलजगच्छमत्कारिकामुकास्पदनिवेशित-  
मण्डलीकृतसरसेक्षुकाण्डस्वरेसहितकुसुमसायकविधिलक्ष्यीकृतदु-  
लक्ष्मीक्षेत्रसमीक्षागमोत्कण्ठितकठोरतरसुनिमनाः स्फुरन्मकर-  
केतुकमनीयः १ सकलललनावृन्दवन्दितसौन्दर्यरतिकेलिकलापदुर्ल-

यदि पुनः—यदि पुनरसौ आत्मा सकलजगच्छमत्कारिकामुकास्पदनिवेशितमण्डलीकृतसरसे-  
क्षुकाण्डस्वरेसहितकुसुमसायकविधिलक्ष्यीकृतदुलक्ष्मीसमागमोत्कण्ठितकठोरतरसुनिमनाः ।  
सकलजगतः चमत्कारिकामुकास्पदनिवेशितो धनुःस्थानारोपितो मण्डलीकृतो वक्रीकृतः सरसेक्षुकाण्ड-  
स्तस्य स्वरसे आहिता आरोपिताः कुसुमसायकाः पुष्पबाणाः तेषां विधिमोक्षेन लक्ष्यीकृतं  
वेधीकृतम् । दुर्लक्ष्या दुष्प्राप्या या मोक्षलक्ष्मीः तस्याः समागमोत्कण्ठितकठोरतरमुनीनां मनो येन स  
तथा । पुनः कीदृशः । स्फुरन्मकरकेतुकमनीयसकलललनावृन्दवन्दितसौन्दर्यरतिकेलिकलापदुर्लिल-  
चेताः स्फुरन् यो मकरकेतुः कन्दर्पः तद्वत् कमनीयं प्रधानं यत्सकलललनावृन्दं स्त्रीसमूहः तेन वन्दितं  
सौन्दर्यं वस्या रतेः तस्याः केलीनां कलापाः समूहाः, तैर्दुर्लिलितं चेतो यस्य स तथा । पुनः कीदृशः ।

यदि—यदि चेत् पुनर्भूयोऽपि असौ स्वसविदनप्रत्यक्षीभूत आत्मा इति अमृता प्रकारेण  
चिन्त्यते ध्यायते । तदा तस्मिन् काले अर्थं चिच्छमत्कारलक्षणी ज्ञायकेकस्वभावः आत्मैव नान्यः  
कोऽपि कामोक्तिविषयतां कामनागमगोचरताम् अनुभवति प्राप्तोति इति क्रियाकारकसंबन्ध ।  
कामभूत आत्मा कथंभूतः । सकलजगदित्यादि—सकलजगतो चमत्कारि स्फुरद्रूपं यत्कामुकं धनुः  
तस्यास्पदे स्थाने निवेशितः आरोपितः स चासौ मण्डलीकृतः आकृत्य कुण्डलाकारीकृतः ।  
रागलक्षणरससहितत्वात् सरसः स चासौ इक्षुदण्डः स च स्वरसहितकुसुमसायकरचेति द्वन्द्वसमाप्तः  
इतरेतरलक्षणः । स्वरः शब्दः टङ्कार इति यावत् । तेन सहिताः संयुक्ताः ये कुसुमसायकाः  
पुष्पबाणाः, उन्मादनमोहनसंतापनशोषणमारणलक्षणोपलक्षिताः पञ्च । तेषां कामुकसायकानां  
यो विधिविधानम् आरोपणं तेन लक्ष्यीकृतं तच्च तत् दुर्लक्ष्यं लक्षयितुम् अशक्यम् । ‘ईषददुमुषु  
कुञ्ज्यार्थेषु खल ह्यण्प्रत्ययापवादभूतः खलप्रत्ययः’<sup>१</sup> तच्च तत् मोक्षलक्ष्मीसमागमोत्कण्ठितं मोक्ष-  
लक्ष्मीः परमानन्दसुखदायिनीत्वात् । तस्याः समागम आगमने तत्र उत्कण्ठितं बद्धहेवाकं कठोरतरं  
दीक्षाकाले पुत्रकलनमित्रसनेहरहितत्वात् निर्दयम् । मुनीनां स्वपरसमययतीनां धनः चित्तं येन आत्मना  
स तथोक्तः । पुनः कथंभूतो यमात्मा । स्फुरश्चित्यादि—स्फुरन् भूवनत्रयजनमनस्य चमत्कुर्वन्  
मकराकारचित्रशोभितः केतुः ध्वजो धरय स स्फुरन्मकरकेतुः स चासौ कमनीयसकलललनावृन्दवन्दित-

यदि आगे कहे जानेवाले स्वरूपके अनुसार चिन्तन किया जाता है तो वह कामतस्व  
भी आत्मात्वरूप ही है—उससे मिन्न नहीं है । यथा—जिसने समस्त लोकको आइचर्यवकिल  
करनेवाले धनुषके स्थानमें रसपूर्ण ईखके दण्डके समान स्वर (टंकार) युक्त पुष्पबाणको  
रखकर और फिर धनुषको खीचकर उसे मण्डलाकार करके विधिपूर्वक दुर्लक्ष (अहश्य)  
मुक्तिरूप लक्ष्मीके समागममें उत्सुक व अतिशय कठोर ऐसे मुनियोंके मनको अपने उस

१. M N काण्डासनसहित....विधिः । २. N S T Y R दुर्लभ, X दुर्मितः । ३. S J X Y R केतुः ।

४. M N रमणीयः । ५. All others except P M N यमकल ।

लितचेताथतुरचेष्टितभूमङ्गमात्रवशीकृतजगत्यस्त्रैणसाधनो दुर-  
थिगमागाधगहनतरंगसामरान्तदोलित्सुरासुरनरभुजगयक्षसिद्ध-  
गन्धर्वविद्याधरादिवर्गस्त्रीपुरुषभेदभिन्नसमस्तसत्त्वपरस्परमनःसंघ-  
इनश्चधारः विविधवनराजपरिमलपरिमलितमधुकरनिकराय-

चतुरचेष्टितभूमङ्गमात्रवशीकृतजगत्यस्त्रैणसाधनः, चतुरचेष्टा इताः प्राप्ता येरेतादृशा ये भूमङ्गः  
कटाशः तन्मात्रेण वशीकृतं जगतो वर्य एतादृशं स्त्रीणां समूहः स्त्रीण तदेव साधनं यस्य स तथा ।  
पुनः कीदृशः । दुरधिगमागाधगहनरागसामरान्तदोलित्सुरासुरनरभुजगयक्षसिद्धगन्धर्वविद्याधरादि-  
वर्गः, दुरधिगमः दुर्जयः, अगाधो गुप्तिः, गहनः रागसामरः रागसमुद्रः, तशान्तदोलिता कम्पिता,  
सुरासुरा नराश्च, भुजगाः सर्पाः, यक्षाश्च सिद्धाश्च गन्धर्वाविद्याधराश्च तेषां समूहः तदादिवर्गो येन  
स तथा । पुनः कीदृशः । स्त्रीपुरुषभेदभिन्नसमस्तसत्त्वपरस्परमनःसंघदृग्नश्चधारः कलाचार्यः । पुनः  
कीदृशः । वसन्तसुहृदा वसन्तमित्रेण दूरमारोपितप्रतापः । कीदृशेन वसन्तेन । विविधवनराजिपरि-  
मलपरिमलितमधुकरकुलशिक्षितसितकुसुमस्तबक्तरलितकटाशप्रगटश्चभाग्येन विविधा नाना-

सीन्दर्यरनिकेलिकलापदुर्लिलितचेता कमनीया मनोनयनहारिष्यः याः सकलाः समरता ललना  
मनोहरकोमलतरशारीरासत्त्वस्थः तासां वृन्दः समूहैः बन्दितं सीन्दर्यं सीभाग्यं यस्या सा चासी रतिः  
कामभार्या तस्याः केलयः तथा सह क्रीडनानि आलिङ्गनचुम्बनभाषणादीनि तेषां कलापाः समूहाः  
तत्र दुर्लिलितम् अनिवारितचेष्टितं चेतो मनो यस्य आत्मनः स तथोक्तः । पुनरपि कथेभूत  
आत्मा । चतुरेत्यादि—चतुरचेष्टितं विद्यधनेष्टासहितं यदभूमङ्गमात्रं भूविशेषमात्रं चिह्नलीचलनमात्रं  
तेन वशीकृतं वशमानीतं स्वनाथवल्कुतं यत् जगत्यस्त्रीण त्रैलोक्यविनितासमूहः 'स्त्रीपुंसान्यो नण्णन्यो'  
तदेव साधनं सैन्यं यस्यात्मनः स तथोक्तः । पुनः किञ्चित्शिष्टो ध्यानेन कन्दपीभूतं स आत्मेत्याह ।  
दुरधिगमेत्यादि—दुरधिगमो दुर्गमः अगाधः अतलस्पर्शः गम्भीर इति यावत् । गहनः अविज्ञात-  
मध्यमर्मी स चासी रागसामरः राग एव सागरः अप्राप्यपर्वन्तवात् । तरय अन्तः मध्ये दोलितो  
निर्भृतिः सुरासुरनरभुजगयक्षसिद्धगन्धर्वविद्याधरादिवर्गो येन । सुराश्च कल्पवासिनो देवाः, असुराश्च  
भुवनवासिन्यन्तरज्योतिष्ठाः, नराश्च राजादिलोकाः, भुजङ्गाश्च धरणेन्द्रादयः शेषनाशादयः,

बाणका लक्ष्य बनाया है, जो प्रकाशमान मगरके चिह्नसे चिह्नित ध्वजासे रमणीय है, जिसका  
चित्त समस्त स्त्रियोंके समूहसे बन्दित (प्रशंसित) सुन्दरताको धारण करनेवाली अपनी पत्नी  
रतिके साथ की जानेवाली कीदृशोंके समूहसे दुर्लिलित है—उनसे विमुख नहीं होता है,  
जिसने कुशल चेष्टापूर्वक झुकुटियोंके भंग करने मात्रसे—उन्हें टेढ़ा करके ही तीनों लोकोंके  
स्त्रीसमूहस्य सैन्यको बशमें कर लिया है; जो दुर्गम अथाह एवं अतिशय गहन रागरूप  
समुद्रके भोतर झूलते हुए देव, असुर, मनुष्य, सर्प, यज्ञ, सिंह, गन्धर्व और विद्याधर आदि-  
के समूहोंमें स्त्री व पुरुष इन दो भेदोंमें विभक्त हुए समस्त प्राणियोंके मनके परस्पर संघर्षण

१. All others except P M चतुरश्चै । २. N जगत्याः । ३. All others except P M N  
०००. तर । ४. M °रान्तलोलित । ५. All others except P वर्गः । ६. All others except  
P K T K संघटन । ७. All others except P M X Y °राजिमञ्जरीपरि ।

कसितेसितकुसुमस्तवकतरलितकटाक्षप्रकटसौभाग्येन सहकार-  
लताकिसलयकरोन्मुक्तमजरीपरागपिष्ठातकैपिशुनितप्रवेशोत्सवेन  
मदमुखरमधुकरकुट्टमिनीकोमलालापसंबलितमांसलितकोकिल्कु-  
लक्वणात्कारसंगीतकप्रियेण मलयगिरिमेखलावनकृतनिलयचन्दन-

प्रकारा या बनराजवः तासां परिमलेन परिमिलिता एकीभूता भधुकरा भ्रमरा:, तेषां कुलं यत् । तथा विकसितानि विनानि कुसुमानि तेषां स्तवको गृह्णः, तेन तरलिताः चञ्चलाः कटाक्षाः तैः प्रकटसौभाग्यं यस्य स तेन । पुनः कीदृशेन । सहकारलताकिसलयकरोन्मुक्तमजरीपरागपिष्ठातकैपिशुनितप्रवेशोत्सवेन सहकारलतानां किसलयान्येव आम्रलतापल्लवा एव करास्तैस्तमुक्तमङ्गरीपराग एव पिशतकं चूर्णं तेन सुचितः प्रवेशोत्सवो यस्य स तथा तेन । पुनः कीदृशेन । मदमुखरमधुकरकुट्टमिनीकोमलालापसंबलितमांसलितकोकिलालापकुलक्वणकारसंगीतकप्रियेण मदमुखरा मद-  
वक्षाइच धनदादयः, सिद्धार्थ अङ्गनगुटिकादिना लोकमनोरक्षकाः, गन्धर्वादिन देवधायकाः, विद्या-  
धराइच गगतसामिनः उभयर्थेणिवतिनः, ते आदियेषां हरिहरवह्नादीनां तेषां वर्गः समूहो येन आत्मना  
ध्यातविषयिणा स तथोक्तः । पुनरपि कथंसूत्रं आत्मा । ऊपुषुषेत्यादिन्नियमं पुरुषाइच तेषां भेदेन  
प्रकारैः मित्राः गापाविधये सरथा, तिर्थेष्टमुष्विद्यादयः तेषां परस्परम् अन्योन्यं मनसां चेतसां  
संबद्धे मेलने सूत्रधारः विश्वकर्मा । पुनरपि कथंभूतः आत्मा । कन्दर्य इत्याह—वसन्तसुहृदा  
मधुमसमिवेण दुरस् अतिशयेन आरोपिनः प्रतापः स्थापितः उत्कर्षितप्रभावः । कथंभूतेन  
वसन्तसुहृदा । विविधेत्यादि—विविधा नानाप्रकारा या बनराजवः बनश्चेण्यः तासां परिमलैः  
सुगच्छः परिमिलिता: समन्तादागता या भधुकरकुट्टमिवन्यः भ्रमर्थः तासां कोमलालापैः मृदुतरशब्दैः  
संबलिताः मिश्रिताः मांसलिताः द्विरक्षः पोषिता ये कोकिलकुलकण्ठकारा: पुंस्कोकिलसमूहशब्द-  
विशेषाः [ समूहविशेषाः ] त एव संगीतकानि समीचीनगतानि प्रियाणि हृदयंगमानि यस्य [ स ]  
वसन्तसुहृद तेन तथोक्तेन । पुनः कथंभूतेन वसन्तसुहृदा । मलयमारुतैः मलयगिरित्यादि—मलय-  
गिरेत्वन्दनाचलस्य या मेखलास्तटानि कटिन्यः तासु यानि वनानि चन्दनगह्नानि तेषु कृता  
करनेमें—उसे परस्पर सुग्रव करनेके लिए—सूत्रधार (प्रधान जट) का काम करता है; जिसका  
प्रताप उस वसन्तरूप मिश्रके द्वारा असिशयित किया गया है जो अनेक प्रकारकी वनपंक्तियों-  
के बौरकी सुगन्धिसे एकत्रित हुए भ्रमरोंके समूहसे तथा फूले हुए धवल फूलोंके गुच्छोंरूप  
चंचल कटाक्षोंसे प्रकटित सौभाग्यसे सहित है, आम्रलताके कोमल पत्तोंरूप हाथोंसे छोड़े  
गये बौरके पश्चात (धूलि) रूप सुवासित चूर्णके द्वारा जिसके शुभागमनसम्बन्धी उत्सवकी  
सूचना कर दी गयी है, जो हष्ट (या उन्मत्ता) से शब्द (गुंजार) करनेवाली भ्रमरियोंके  
कोमल शब्दसे मिलकर पुष्ट हुए कोइलसमूहके कण-कण शब्दरूप संगीतसे अनुराग रखता  
है; मलयपर्वतके तटपर स्थित बनोंमें स्थानको प्राप्त करनेवाली चन्दनलताओंको सृत्यविषयक

१. All others except P M N भधुकरकुलविकसितकुसुम । २. M स्तवकः तरलतर ।

३. J पिष्ठातक्ष । ४. All others except P N कोकिला । ५. M N प्रणत्कार, F रण्कार,  
others कणत्कार ।

**लतालास्योपदेशकुशलैः सुरतभरेष्विन्द्रियपञ्चगनितम्बिनीजनव-**  
**दनकवलिताशेषैरपि विरहिणीनिःश्वासमासिलीकृतकायैः केरली-**  
**कुरलान्दोलनदक्षेषुर्त्कम्पितकुन्तलकामिनीकुन्तलैः परिगतसुरत-**  
**खेदोन्मिषितलाटीललाटस्वेदाम्बुकणिकापानदोहद्वद्विरासादि-**

बाचाला ये मधुकरा अमरा: तेषां कुटुम्बिन्यः अमर्यः तासां कोमलालापः तेन संबलितो मिथितः  
 मांसलितः पुष्टः यः कोकिलालापः तस्य कुर्ल लस्य ववणल्कारः तदेव संगीतकं तत्प्रयत्नं तेन । पुनः  
 कीदृशेन । मलयमास्तैः समुलसितसौभाग्येन मलयगिरिमेखलावनकृतमिलयचन्दनलतालास्योपदेश-  
 कुशलैः । मलयगिरेमेखलाधा याजि वनाजि तत्र कृतं निलयं स्थाने याभिमुक्तनलताभिः तासां  
 लास्यो मनोहरः यः उपदेशः तत्र कुशलैः चतुरैः । पुनः कीदृशैः । सुरतभरेण खिन्नाः पश्चगनि-  
 तम्बिन्यः सर्वस्त्रियः । ता एव जनः, तस्य वदनं तेन कवलिता ग्रसिता शिखा अग्रभागो येषां ते,  
 वैरपि । पुनः कीदृशैः । विरहिणीनिःश्वासमासिलीकृतकायैः विरहिणीनिःश्वासेमासिलीकृतः स्थूलीकृतः  
 कायो येषां ते । पुनः कीदृशैः । केरलीकुरलान्दोलनदक्षीः केरलीदेशास्त्रीकुरलान्दोलनदक्षेष्वतुरैः ।  
 पुनः कीदृशैः उत्कम्पितकुन्तलकामिनीकुन्तलः उत्कम्पितकुन्तलदेशस्त्रीणां कुन्तला: केशा यैः ते,

निलयाः स्थानानि याभिमुक्ताश्च ता: चन्दनलता: चन्दनबल्ल्यश्वन्दनशाखाश्च तासां लास्योपदेशे  
 नर्तनशिक्षणं कुशला: प्रवीणा मलयमास्तास्तैः तथोक्ते । पुनरपि कथंभूतैः मलयमास्तैः । सुरत-  
 भरेष्विन्द्रियपञ्चगनितम्बिनीजनवदनकवलितशिखैरपि विरहिणीनिःश्वासमासिलीकृतकायैः सुरतभरेण  
 संभोगातिशयेन खिन्नाः खेदं प्राप्ताः ये पश्चगनितम्बिनीजनाः नागर्णीसमूहाः सर्वनितावन्दनानि तेषां  
 वदनानि मुखानि ते: कवलिताः आस्वादिताः शिखा अग्राणि येषां मलयमास्तानां ते तथोक्तास्तैः  
 तथोक्ते । ईदृग्विधव्ययपुक्तैरपि विरहिणीनां विप्रलब्धानां स्त्रीणां निःश्वासैः ऊर्ध्वमुक्तश्वसितैः  
 मांसलीकृतः स्थूलीकृतः पुनरुक्तः पुष्टि नीतः कायो येषां मलयमास्तानां ते तथोक्ताः ते: तथोक्ते ।  
 भूयोऽपि कथंभूतैः मलयमास्तैः । केरलीकुरलान्दोलनदक्षीः केरलदेशास्त्रीणां केशकम्पनचतुरैः । अपरं  
 किविशेषणं मलयमास्तैः । उत्कम्पितकुन्तलकामिनीकुन्तलैः उत्कम्पिताः नतिताः कुन्तलकामिनीना-  
 कुन्तलदेशस्त्रीणां कुन्तला: केशा. यैः ते तथोक्ताः ते । अन्यत् कथंभूतैः मलयमास्तैः । परिगतेत्यादि-  
 —परिगतः उत्पन्नः सुरतखेदः स्वेशाश्वमः तेन उन्मिषितः प्रादुर्भूतः लाटीनां नर्मदातटस्त्रीणां ललाटेषु  
 निटिलतटेषु यो ज्ञां स्वेदः प्रस्वेदजलं लस्य कणिकाश्चूर्णणीसि तासां पाने आचमने दोहूद इच्छा

उपदेशके करनेमें कुशल (मलयमास्तका विशेषण), सम्भोगकी अधिकतासे खेदको प्राप्त हुई  
 सर्पिणी जनके मुखका सामस्त्येन (पूर्णरूपसे) ग्रास बन जानेपर भी विषयोगिनी विषयोक्ती  
 निःश्वासोंसे पुष्ट किये गये शरीरको धारण करनेवाला, केरल देशवासिनी स्त्रियोंके बालोंके  
 कम्पनमें कुशल, कुन्तल देशकी कामिनी जनके केशोंको कम्पित करनेवाला, प्राप्त हुए  
 सम्भोगके खेदसे उत्पन्न हुए लाट देशकी विषयोंके स्वेद (पसीना) जलके पानकी इच्छा

१. All others except P भरहिणि । २. All others except P M N कवलितशिखैरपि ।

३. M N आन्दोलदक्षीः । ४. १. उत्कम्पितकामिनी । ५. T खेदोन्मिषितः । ६. K श्वेताम्बु-

S T X Y R खेदाम्बु । ७. P M N T दोहूद्वैः ।

तानेकनिर्वर्शशिरशीकरैर्बुलामोदसंदर्भनिर्भरैः १ परिलुण्ठितै-  
पाटलासौरभैः २ परिमिलितनवमालिकामोदर्मन्दसंचरणशीलै-  
राकुलीकृतसकलभुवनजनमनोभिर्मलयमारुतैः ३ समुद्गासित-  
सौभाग्येन वसन्तसुहृदा दूरमारेषितप्रतापः ४ प्रारब्धोत्तमतपस्तम्-

५ । पुनः कीदृशैः । परिगतसुरतस्वेदोन्मीषितलाटीललाटस्वेदाम्बुकणिकापानदोहृद्धिः परिगतः  
प्राप्तो यः सुरतस्वेदः संभीगश्चमः, लेनोन्मीषितमुत्पादितं यत् लाटीललाटस्वेदाम्बुजलं तस्य  
कणिकाः, लेषां पानं तदेव दोहृदी धेषां ते, तैः । पुनः कीदृशैः । आसादितानेकनिर्वर्शशिरशीकरैः  
प्राप्तानेकनिर्वर्शशीलतलतस्वपरिमलरचनापृष्ठैः । पुनः कीदृशैः । परिलुण्ठितपाटलासौरभैः सामस्येन  
गृहीतपाटलसुरभियन्धैः । पुनः कीदृशैः । परिमिलितनवमालिकामोदैः समिश्रिततवमालिकापरिमलैः ।  
पुनः कीदृशैः । मन्दगंचरणशीलैः मन्दगंचितमच्छीलैः । पुनः कीदृशैः । आकुलीकृतसकलभुवनमनोभिः  
आतुरीकृतसर्वजगन्मनोभिः । एतादृशैर्मलयमारुतैः प्राप्तसौभाग्येन वसन्तेन सुहृदा मित्रेण दूरमारो-  
षितप्रतापः दूरस्थापितप्रतापः । पुनः कीदृशैः वसन्तसुहृदा । प्रारब्धोत्तमतपस्तमशान्तमुनिजन-

विद्यते येषां ते तद्दोहृदवस्तः तैः तथोक्तैः । पुनरपि किलक्षमभिः मलयमारुतैः । आसादितानेकनिर्वर्श-  
शिरशीकरैः आसादिता अनेकेषां निर्वर्शराणां शिशिराः शीतला शीकरा जलकणाः यैस्ते तथो-  
कास्तैः । भूथो ऽपि किञ्चित्तैः मलयमारुतैः । बकुलामोदसंदर्भनिर्भरैः बकुलानां मदगन्धिवृक्षघुष्पाणाम् ।  
आमोदी दूरस्थापिपरिमलः तस्य संदर्भः समूहः तेव निर्भरा अतिशयगन्धवन्तस्ते तथोकास्तैः  
तथोक्तैः । बयरं च किञ्चित्तैः मलयमारुतैः । परिलुण्ठितपाटलासौरभैः परिलुण्ठितं लूषितं पाटलानां  
वसन्तदृशीनां सौरमे सीगन्ध्यं यैस्ते तथोकास्तेत्तथोक्तैः । पुनरपि किलक्षणैः मलयमारुतैः । परि-  
मिलितनवमालिकामोदैः परि समन्तात् मिलितो नवमालिकानां बनमालिनीनां नेपालीनामिति  
यावत् । आमोदः परिमलो यैः ते तथोक्ताः तैः । पुनः किञ्चित्तैः मलयमारुतैः । मन्दसंचरणशीलैः  
शनैः गमनस्वभावैः । पुनः कथंभूतैर्मलयमारुतैः । आकुलीकृतसकलभुवनजनमनोभिः अना-  
कुलानि आकुलानि कृतानि विषयलभ्याटानि कृतानि सकलस्य समस्तस्य भुवनजनस्य त्रैलोक्य-  
लोकस्य मनासि चित्तानि यैस्ते तथोकास्तैः । एवंविधमलयमारुतैः समुल्लासितसौभाग्येन वसन्त-  
सुहृदा दूरस्थ आरोपितप्रतापः कम्दर्पभूतः आत्मा । कथंभूतः प्रारब्धोत्तमतपस्तमशान्तमुनि-  
जनप्राधितप्रवेशोत्तमैन कृत्वा स्वर्णापवर्गद्वारि विघटनवज्जार्गलः प्रारब्धं उत्तमं निरतिचारं जैनं च

करनेवाला, अनेक श्वरनोक्त शीतल जलकणोंसे संयुक्त, बकुल शूष्मोंको दूर तक फैलने-  
वाली सुगन्धिके समूहसे परिषूर्ण, पाटल पुष्पोंकी सुगन्धिको लूटनेवाला, नवमालिका  
पुष्पोंकी सुगन्धिसे मिश्रित, स्वाभाविक मन्द संचारसे परिणत, तथा समस्त लोकके  
प्राणियोंके मनको द्याकुल करनेवाला, इस प्रकारकी मलय पर्वतकी वायुके द्वारा जिसके  
सौभाग्यको विकसित किया गया है ऐसे वसन्तस्वप मित्रके द्वारा जिस कामके प्रतापको  
अतिशय बढ़ावा दिया गया है; जो प्रारम्भ किये हुए उत्तम तपसे सन्तान होकर थके हुए

१. M N निर्भरशिविर । २. J संदर्भनिर्भरैः । ३. All Ms. read लूण्ठित । ४. M N T पाटल-  
सौरभैः । ५. All others except P M N समुल्लासित । ६. S J X तपस्तापम् V तपःशत्तम् ।

आन्तमुनिजनप्रार्थितप्रवेशोत्सवेने<sup>१</sup> स्वर्गपवर्गद्वारविषट्नवजा-  
र्गलः सकलजगद्विजयवैजयन्तीकृतचतुरकामिनीभूविभ्रमः क्षोभ-  
णादिसुद्राविशेषशाली सकलजगद्वशीकरणसमर्थः<sup>२</sup> इति चिन्त्यते  
तदायभात्मैव कामोक्तिविषयतामनुभवति ॥ [ इति काम-  
तत्त्वम् ] ॥७

प्रार्थितप्रवेशोत्सवेन प्रारब्धं यदुत्तमं तपः तेन तसाः श्रान्ताः ये मुनिजनाः, तैः प्रार्थितः प्रवेशोत्सवः  
येन स तेन । कीदृशः कामः । स्वर्गपवर्गद्वारसंघटृतवज्ञार्गलः स्वर्गमोक्षयोद्वारविष्टलनवज्ञार्गलः ।  
पुनः कीदृशः । सकलजगद्विजयवैजयन्तीकृतचतुरकामिनीभूविभ्रमः सकलजगतो विजयेन वैजयन्ती-  
कृतः पता कीकृतः चतुरकामिनीनां भूविभ्रमा येन सः । पुनः कीदृशः । क्षोभणादिसुद्राविशेषशाली  
क्षोभणादिआकारविशेषशोभायमानः । पुनः कीदृशः । सकलजगद्वशीकरणसमर्थ इति चिन्त्यते ।  
तदा अयमात्मैव कामोक्तिविषयतामनुभवति ॥७॥

यस्तपो दीक्षालक्षणं तेन पूर्वं तप्ताः पववात् श्रान्ताः खेदखिन्नाः जाता ये मुनिजना धत्तिवर्णः तैः  
प्रार्थितो याचितो ऽभिलिप्तिः प्रवेशोत्सवः समागमनमहोत्सवः तेन कारणभूतेन हेतुना कृत्वा स्वर्ग-  
पवर्गद्वारविषट्नवज्ञार्गलः स्वर्गश्च त्रिषष्ठिपटलभेदभित्रः अपवर्मश्च परमनिर्वाणं लयोद्वारे व्यवहार-  
विश्ववरत्त्वप्रलक्षणं तस्य विषट्ने विशेषणं संघटृने विशिष्टद्रवतया झम्यने वज्ञार्गलः वज्ञमयम्  
अर्गलं काष्ठमयो लोहमयो दण्ड । स्वर्गमोक्षं वा गन्तुं न ददाति दीक्षामङ्गेन प्रायो नरक एव भव-  
तीति कारणात् अर्गला । अर्गलं च इत्येतस्य प्रधानत्वात् पुरुत्वं निरूपितम् । पुनरपि कथंभूतः  
ध्यानेन कामभूत आत्मा । [ सकलजगद्विजयवैजयन्तीकृतचतुरकामिनीभूविभ्रमः ] सकलजगद्विज-  
येन समस्तत्रैलोक्यभूतेन वैजयन्तीकृतः व्यजीकृतः चतुरकामिनीनां विद्यध्यमुन्दरीणां भूविभ्रमः  
चिल्लीसमाटोपो येन आत्मना स तथोक्तः । भूयोऽपि कथंभूतः आत्मा । क्षोभणादिसुद्राविशेषशाली  
क्षोभणं चित्तादिचालनम् आदियेषां ते मोहनवशीकरणोच्चाटनादीनां तेषां तेषां ये मुद्राविशेषाः  
आकारभेदाः तैः शालते शोभते इत्येवंशीलः क्षोभणादिसुद्राविशेषशाली । 'शालू शोभायां' विधि-  
निष् । पुनरपि कथंभूतः आत्मा । सकलस्य जगतः त्रैलोक्यस्य वशी-

मुनिजनोंके द्वारा याचित प्रवेशके उत्सवसे स्वर्ग और मोक्षके द्वारके खोलमें वज्ञमय  
अर्गला ( काष्ठमय दण्ड ) के समान बाधक होता है, जिसने चतुर रिक्षोंके भ्रकुटियोंके  
विलासको अपने तीनों लोकोंके जीतनेकी विजयपताका बना ली है, जो चित्तको क्षोभित  
एवं मोहित आदि करनेकी मुद्राविशेषसे शोभायमान है, तथा समस्त लोकके वश करनेमें  
समर्थ है; ऐसे जो इस कामतत्त्वका चिन्तन किया जाता है उस कामकी उक्ति ( नाम ) की  
विषयताका अनुभव वह आत्मा ही करता है, कामतस्त्र ॥७॥

१. N प्रवेशोत्सवस्वर्ण । २. L F J संघटन, S X Y संविष्टन, T संकटन । ३. M समर्पत इति ।  
४. P N om, इति कामतस्त्र ।

यदेवं यदिह जगति शरीरविशेषसमवेतं किमपि सामर्थ्य-  
मुपलभास्ते तत्सकलमात्मन एवेति निश्चिन्मः१ । आत्मप्रवृत्ति-  
परंपरोपेष्यादितत्वां द्विग्रहणस्येति२ ॥८

थदेवं—यत् इह जगति शरीरविशेषसमवेतं संयुक्तं किमपि सामर्थ्यमुपलभास्ते तत्सकल-  
मात्मन एवेति निश्चयः । विग्रहणस्य शरीरग्रहणस्य आत्मप्रवृत्तिः परंपरोत्पादितत्वात् ॥८॥  
अर्थान्तरेणात्मानं स्तौनि ।

कारणे नाथवद्विभासे समर्थः क्षमः स तथोक्तः । इति यदा आत्मा निन्यते तदा अयम् आत्मैव  
कामोक्तिविषयतामनुभवतीति क्रियाकारकसंबन्धः ॥९॥

यदेवं—ततस्तस्मात्कारणात् । एवं अमुना प्रकारेण । यदि चेत् जगति मैसारे । शरीरविशेष-  
समवेतं कायमेदेषु समवायमागतम् । किमपि किञ्चिदपि । सामर्थ्यं समर्थताम् । वयमुपलभास्ते  
पद्यामः । तत्सकलं समस्तम् । आत्मन एव सामर्थ्यं वर्तते । नान्यस्य शरीरादेः । इति निश्चयो  
निर्धारिः । इदं सामर्थ्यं (आत्मन एव कथमिति प्रश्ने सति हेतुमाह । आत्मप्रवृत्तिपरंपरोत्पादि-  
तत्वाद्विग्रहणस्य इति । आत्मनो जीवस्य या प्रवृत्तिर्मनोवचनकायावलम्बनेन चेत्तिवानि सेषां  
परंपरा श्रेणिः संतानः तथा उत्पादितत्वात् । कस्य । विग्रहणस्य शरीरग्रहणस्य । यत् आत्मा  
शरीरं गृह्णति तत् । आत्मनः अशुद्धपरिणाममाहात्म्यम् । विशुद्धपरिणामैस्तवात्मनो भौक्त एव  
स्थादिति ॥८॥ 'यदिह जगति किञ्चिदित्यादि' सुगमम् ।

आचार्येरिह शुद्धतत्त्वमतिभिः श्रीक्षिहनन्द्याङ्गैः  
संप्राप्त्यै श्रुतसामरं कृतिवरं भाष्यं शुभं कारितम् ।  
गद्यानां गुणवत्तियं विनयतो ज्ञानार्थविद्यालत्तरे  
विद्यानन्दिगुरुप्रसादजनितं देयादमैयं सुखम् ॥  
इति श्रीज्ञानार्थविद्यतगद्यटीका तत्त्वत्रयप्रकाशिनी समाप्ता ॥

इसका कारण यह है कि इस प्रकार यहाँ लोकमें शरीरविशेषमें समवायको प्राप्त  
हुई जिस किसी भी शक्तिको हम प्राप्त करते हैं वह सब आत्माकी ही है, ऐसा हम निश्चित  
समझते हैं, क्योंकि, शरीरका जो ग्रहण होता है वह आत्माकी प्रवृत्ति—मन, वचन एवं काय-  
के आश्रयसे होनेवाली चेष्टा—की परम्पराके अनुसार उत्पन्न किया जाता है ॥८॥

१. All others except P तदेवं । २. M S J X Y K R विनिश्चयः, X निश्चिन्मः, L F T  
निश्चयः । ३. All others except P परंपरोत्पादि । ४. M N त्यादितत्वात् परंपरविद्यह ।  
५. J इति कामतस्वं ।

1061 ) यदिह जगति किञ्चिद्दिस्मयोत्यसिद्धीजं  
भुजगमनुजदेवेष्वस्ति सामर्थ्यमुच्चैः ।  
तदखिलमपि मत्वा नूनमात्मैकनिष्ठं  
भजत नियतचित्ताः शश्वदात्मानमेव ॥१०

1062 ) अचिन्त्यमस्य सामर्थ्यं प्रवक्तुं कः प्रभुमवेत् ।  
तच्च नानाविधध्यानपदबीमधितिष्ठतः ॥११

1063 ) तदस्य कर्तुं जगद्ग्रिलीनं तिरोहितास्ते सहजैव शक्तिः ।  
प्रबोधितस्ता समभिव्यनक्ति प्रसद्य विज्ञानमयः प्रदीपः ॥१२

<sup>3</sup>अथवा ।

1061) यदिह—इह जगति यर्लिनिदि भुजगमनुजदेवेषु उच्चैः सामर्थ्यमस्ति । कीदूर्धं सामर्थ्यम् । विस्मयोत्पत्तिदीजम् आश्चर्यजन्मकारणम् । तूनं निश्चितम् । तदखिलमपि समस्तमपि मत्वा जात्वा । कीदूर्धम् । आत्मैकनिष्ठमात्मैकवत्ति । हे नियतचित्ताः वशीकृतममः । शश्वद्विरुद्धर-  
मात्मानमेव भजत सेवत । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1062) अचिन्त्यमस्य—अस्यात्मनः सामर्थ्यमनिन्त्यमपि तद् प्रवक्तुं कथयितुं कः क्षमः समर्थो त को अपि इति भावः । च पुनः । तत्सामर्थ्यं नानाविधं यद् ध्यानं सद्य पदबीं श्रेणीम् अधिरोहति अधितिष्ठति ॥११॥ पुनः ।

1063) तदस्य—अस्यात्मनो जगत् अड्डिलीनं पादलीने कर्तुं ते स्थिरीकृतचित्ताः तिरोहिता आच्छादितास्तिष्ठन्ति । यद्यस्मात् कारणात् सा तेषां सहजैव शक्तिः । विज्ञानमयः प्रदीपः प्रबोधितः जागृतः स्यात् । प्रसद्य हठात् तां महजशक्तिं समभिव्यनक्तिं प्रकटीकरोति । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथवा पक्षान्तरमाह ।

यहाँ लोकमें अधोलोकवासी नागोंमें—नागकुमारादि देवोंमें, मध्यलोकवासी मनुष्योंमें और ऊर्ध्वलोकवासी देवोंमें जो कुछ भी आश्चर्यकी उत्तरतिका कारणभूत विशेष सामर्थ्य है, वह सब ही निश्चयसे एक आत्मामें ही अवस्थित है, ऐसा मानकर निरन्तर चित्तकी स्थिरतापूर्वक उस आत्माकी ही आराधना करना चाहिए ॥१०॥

अनेक प्रकारके ध्यानके मार्गपर अधिष्ठित होनेवाले इस आत्माकी उस अचिन्त्य शक्तिका वर्णन करनेके लिए मला कौन समर्थ है? उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता है। तात्पर्य यह है कि ध्यानके निमित्तसे आत्मामें अभूतपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है ॥११॥

विश्वको उस आत्माके चरणोंमें लीन करनेके लिये इस आत्माके भीतर स्वाभाविक ही शक्ति अवस्थित है जो तिरोहित है—कर्मसे आच्छादित है। आत्माकी उस शक्तिको विज्ञानस्वरूप दीनक प्रबोधित ( प्रगट ) होकर बलपूर्वक प्रगट करता है ॥१२॥

१. M N प्रवक्तुः । २. All others except P सिष्टति । ३. P M only अथवा ।

1064 ) अयं त्रिजगतीभर्ता विश्वज्ञो अनन्तशक्तिमान् ।

नात्मानमपि जानाति स्वस्वरूपात् परिच्युतः ॥१३॥

1065 ) अनादिप्रभवैर्भीमैः कलञ्जैः कश्मलीकृतः ।

स्वेच्छयार्थात् समादत्ते स्वतो अस्यन्तविलक्षणान् ॥१४॥

1066 ) दृग्बोधनयनः सो अयमज्ञानतिमिराहतः ।

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ॥१५॥

1067 ) अविद्योद्भूतसागादिगच्छयग्रीकृताशयः ।

पतत्यनन्तदुःखाग्निप्रदीपे जन्मदुर्गमे ॥१६॥

1064) अयं त्रिजगती—अयमात्मा आत्मानमपि न जानाति । त्रिजगती त्रिजगती स्वामी । पुनः कीदृशः । विज्ञानः सर्ववेदी । पुनः कीदृशः । अनन्तशक्तिमान् अनन्तशक्तियुक्तः । पुनः कीदृशः । स्वस्वरूपात् परिच्युतः ॥१३॥ अथात्मा स्वकृतकर्मणा कलञ्ज्ञयत इत्याह ।

1065) अनादि—अयमात्मा स्वतो अस्यन्तविलक्षणान् आत्मस्वरूपरहितान् समादत्ते गृह्णाति । कीदृशः । कलञ्जैः स्वकृतकर्मभिः कश्मलीकृतो मर्लिनीकृतः । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथात्मनो ज्ञानप्रावलयमाह ।

1066) दृग्बोध—सो अयमात्मा जानन्नपि न जानाति वेत्ति स्वस्वरूपमिति गम्यम् । कीदृशः । दृग्बोधनयनः सम्यग्दर्शनसम्यज्ञानलोचनद्रव्यः । कीदृशो न जानाति । अज्ञानतिमिराहतः अनेकभव-जनितज्ञानान्तर्कार-आसमन्ताद हतः । पुनः कीदृशः । पश्यन्नपि नानाजीवस्वरूपं सर्वं न पश्यति । दर्शनावरणाद्भूताभ्यन्तरेन्द्रियत्वात् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथाविद्यावद्यीकृतात्मनः कलमाह ।

1067) अविद्योद्भूत—अयमात्मा जन्मदुर्गमे भवसंकटे पतति । कीदृशो । अनन्तदुःखाग्नि-

अथवा—अनन्त शक्तिवाला यह आत्मा समस्त पदार्थोंका ज्ञाना होकर तीनों लोकोंका स्वामी है । परन्तु वह अपने स्वरूपसे चयुत होकर अपने आपको भी नहीं जानता है ॥१३॥

अनादि कालसे उत्पन्न हुए भयानक मिथ्यात्वादि दोषोंसे मूँछित किया गया वह आत्मा अपनेसे अतिशय मिथ्या चेतन व अचेतन रूप पर पदार्थोंको अपनी इच्छानुसार प्रहण किया करता है ॥१४॥

वही यह आत्मा दर्शन और ज्ञानरूप दोनों नेत्रोंसे संयुक्त होकर भी अज्ञानरूप अनधकारसे प्रेरित होता हुआ वस्तुस्वरूपको जानता हुआ भी नहीं जानता है और देखता हुआ भी नहीं देखता है ॥१५॥

अविद्या ( मिथ्याज्ञान ) से उत्पन्न हुए रागादिरूप विषके द्वारा मनमें व्याकुलताको

1068 ) लोष्टेष्वपि यथोन्मत्तः स्वर्णवुद्धया प्रवर्तते ।  
अर्थेष्वनात्मभूतेषु स्वेच्छयायं तथा ऋभाद् ॥१७

1069 ) वासनाजनितान्येव सुखदुःखानि देहिनाम् ।  
अनिष्टमपि येनायमिष्टमित्यमिष्टन्यते ॥१८

1070 ) अत्यजस्तमसौ जीवो यथा कामार्थलालसः ।  
सिद्धते च यदि स्वार्थं तथा उत् कि न मुच्यते ॥१९

प्रदीपे । कीदृश आत्मा । अद्विशोदभूतरामादिग्रन्थयोगीकृताशयः अज्ञानजनितरागादिविष-  
व्याकुलीकृतः आशयः अभिप्रायो यस्य । इनि सूत्रार्थः ॥१६॥ अथात्मनो ऋभाद् विषरीतज्ञानमाह ।

1068) लोष्टेष्वपि—यथा उन्मत्तो मदिरादिभिः लोष्टे पापाणे अपि स्वर्णवुद्धया प्रवर्तते । अयं  
जीवः तथा ऋभाद् ऋभज्ञानात् अनात्मभूतेषु स्वात्मव्यसिरिक्षणदार्थेषु स्वेच्छया प्रवर्तते । इति  
सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ सुखदुःखादीनां वासनाकारणमाह ।

1069) वासना—देहिनां सुखदुःखानि वासनाजनितानि । एवकारो निश्चयार्थः । येन  
कारणेनात्मनानिष्ट विष्टमित्यभिष्टन्यते जानाति । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथात्मा कामुको  
भवति, तथा स्वार्थेनेत्याह ।

1070) अत्यजस्तम्—असौ जीवो यथा अविश्वास्तं निरन्तरं कामलालसो भवति, तादृशः  
सन् सिद्धते । तर्हि कि न विमुच्यते कर्मभ्यः । इति सुगमम् ॥१९॥

प्राप्त होकर—बाष्प पदार्थैर्में आसक्त होकर—अनन्त दुखरूप अनित्ये जलते हुए संसार-  
रूप गहन बनमें जा गिरता है ॥१६॥

जिस प्रकार पागल मनुष्य सुवर्ण समझकर हेठोंके प्रहण करनेमें प्रवृत्त होता है उसी  
प्रकार यह अज्ञानी प्राणी अनित्ये के बश होकर अपनेसे भिज बाष्प पर पदार्थोंके प्रहणमें  
इच्छाकुसार प्रवृत्त होता है ॥१७॥

संसारी जीवोंके सुख-दुख नियमसे संस्कारजनित हैं—काल्पनिक हैं, जिससे यह  
जीव अनिष्ट वस्तुको भी इष्ट माना करता है ॥१८॥

वह जीव जिस प्रकार निरन्तर काम और अर्थ ( धन ) की इच्छा करता हुआ वहाँ  
खेदको प्राप्त होता है उस प्रकार यहि वह अन्तप्रयोजन ( मोक्ष ) के सिद्ध करनेमें प्रयत्न-  
शील होकर खेदको प्राप्त होता तो क्या मुक्तिको प्राप्त न हो जाता ? अवश्य हो जाता ॥१९॥

१. N तथा । २. T ऋसेत् । ३. M "मिष्टमिष्टमि" । ४. All others except P अविश्वास्तमसौ ।  
५. All others except P N T X त्रित्यते । ६. All others except P तथा कि न विमुच्यते ।

इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते  
त्रितत्त्वप्रकरणम् ॥ १९ ॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्य-विरचिते ज्ञानार्थवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनवयविलासेन  
साहसासा-तत्पुत्र-साहृदीडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहृरिषिदासस्क-  
श्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन [ कारापितं ] इति  
त्रितत्त्वं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १९॥ संधिः ॥

धृतपरतमभावः पाश्वेऽपि धर्मस्वभावः  
सुकृतविहितकीर्तिष्ठोडरः काममूर्तिः ।  
भवभयपरिभीतः पात्रलक्ष्मीप्रणीतो  
जयति विदितनामा रेषिदासः सुधामा ॥ १॥  
आशीर्वादः ॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्थव योगप्रदीपाधिकारमें  
त्रितत्त्व प्रकरण समाप्त हुआ ॥ १९॥

## [ भनोव्यापारप्रतिपादनम् ]

अंथ कैश्चिद्यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इत्यष्टाङ्गानि  
योगस्य॑ । तथान्वैर्यमनियमावपास्यासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः इति  
पद् ।

1071) उत्साहाजिथाद्वैर्यात् संतोषात्त्वनिथयात् ।  
मुनेर्जनपदत्यागात् पदभियोगः प्रसिद्ध्यति ॥११॥

अथाष्टाङ्गयोगं लिख्यति । अथ कैश्चिद्यमनियमासन [ तनि ], प्राणायामः इवासोच्छ्वास-  
रोधनम्, प्रत्याहार इन्द्रियाणां स्वस्त्रविषयेभ्यः संकीर्तनम्, धारणा वबचिद् ध्येयवस्तुनि चित्तस्य  
स्थिरता, ध्यानं ध्येयवस्तुना सहैकरणता, समाधिः अर्थमात्राभ्यासनविषयः । इत्यष्टाङ्गयोग-  
वर्णनम् । तथाव्यैः पण्डितैर्यमनियमावपास्य आसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः  
इति पद्मपो योगः । एतेषु अष्ट्ययोगाङ्गेषु यमनियमौ अपास्य द्वूरीकृत्य । शोषाणि पद् योगाङ्गानि ।  
शेषं सुगमम् । तथान्वैर्योगं उक्तः ।

1071) उत्साहात्—उत्साहाद् उत्साहाद् योगः प्रकीर्तिः । निश्चयात् प्रतीतेयोगः ।  
यत्संतोषात् तत्त्वदर्शनात् परमात्मस्वरूपदर्शनात् । जनपदत्यागात् मुनेयोगः पदभिः प्रकीर्तिः<sup>१</sup> ।  
इति सूत्रार्थः ॥१॥ [ तथान्वैर्यस्युक्तम् ।

कितने ही दार्ढीनिक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और  
समाधि इन आठको योगके अंग मानते हैं । तथा कितने दार्ढीनिक उक्त आठ अंगोंमेंसे यम  
और नियमको छोड़कर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन छहको  
ही योगके अंग मानते हैं । तथा अन्य दार्ढीनिक कहते हैं—

उत्साह, निश्चय, धैर्य, सम्मोप, तत्त्वनिश्चय और देशत्याग इन छहसे भुग्निके योग  
की सिद्धि होती है ॥१॥

१. S om. this sentence । २. P ध्यानं । ३. All others except P M N F योगस्य स्थानमनि ।

४. S F om. this sentence । ५. P ध्यानं । ६. L om. इति । ७. T om. पद् । ८. All others

except P तत्त्वदर्शनात् । ९. M पुनर्जन<sup>२</sup> । १०. K योगः प्रकीर्तिः । ११. S om. this verse ।

1072 ) [ तथान्यैरप्युक्तम्—

ध्यानस्य च पुनर्सुख्यो हेतुरत्र चतुष्टयम् ।

गुरुपदेशः श्रद्धान् सदाभ्यासः स्थिरं मनः ॥१\*१ ]

1073 ) एतान्यैवाहुरेके च मनःस्थीर्यायि शुद्धये ।

तस्मिन् स्थिरीकृते साक्षात् स्वार्थसिद्धिर्ध्रुवौ भवेत् ॥२

1074 ) यमादिषु कृताभ्यासो निःसंगो निर्ममो मुनिः ।

रागादिकलेगनिर्मुक्तं करोति स्ववर्णं मनः ॥३

1072) ध्यानस्य—गुरोः उपदेशः, श्रद्धाने गुरी शास्त्राक्षयेषु च विश्वासः, सदाभ्यासः तत्त्वं चिन्तायाः, स्थिरं मनः मनसः एकाग्रता । इति चतुष्टयं ध्यानस्य मुख्यं कारणं प्रोक्तम् । इति सूत्रार्थः ॥१\*१॥ केचित्तु मनःस्थीर्यायि एतेषां प्राधान्यमाहः । ]

1073) एतान्यैव—एतान्यैवाष्टाङ्गादियोगलक्षणाति केचित् मनःस्थीर्यायि आहुः कथयामासुः । च पुनः । मनःशुद्धये । तस्मिन्मनसि स्थिरीकृते साक्षात्स्वार्थसिद्धिर्ध्रुवा निश्चला भवेत् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ मनसो बशीकरणमाह ।

1074 ) यमादिषु—मुनिः स्ववर्णं मनः करोति । कीदृगो मुनिः । यमादिषु अष्टाङ्गयोगेषु कृताभ्यासः । पुनः कोदृशः । निःसंगः वाह्याभ्यन्तरसंगरहितः । पुनः कीदृशः । निर्ममः मायारहितः । कीदृशो मनः । रागादिकलेगनिर्मुक्तं रागाद्युपद्रवरहितमिति सूत्रार्थः ॥३॥ अथाष्टाङ्गयोगानां भुक्ति-बीजत्वमाह ।

[ तथा अन्य आचार्योंने भी कहा है—ध्यानका प्रधान कारण यह चतुष्टय है । १) गुरुका उपदेश, २) उपदेशपर भक्ति, ३) सतत चिन्तन और ४) मनकी स्थिरता ॥१\*१॥ ]

कितने ही साधक मनकी स्थिरता और उसकी शुद्धिके लिए इन यम-नियमादिकोंको ही बतलाते हैं, क्योंकि उस मनके स्थिर कर लेनेपर निश्चयसे आपमप्रयोजनकी सिद्धि प्रगटमें हो जाती है ॥३॥

जिस मुनिने उक्त यमादिकोंका अभ्यास कर लिया है वह परिघासे रहित होकर निर्ममत्वं होता हुआ रागादि कलेशोंसे रहित हुए मनको अपने अधीन कर लेता है ॥३॥

१. Only in M N । २. All others except L S F <sup>०</sup>वाहुः केचित्तत्र । ३. All others except P M N T श्रुतं ।

- 1075 ) अष्टावङ्गानि योगस्य यान्युक्तान्यार्थस्त्रिभिः ।  
चित्तप्रसत्तिमागेण वीजं स्युस्तानि मुक्तये ॥४
- 1076 ) अङ्गान्यथावपि प्रायः प्रयोजनवशात् कुचित् ।  
उक्तान्यत्रैव तान्युच्चविदाकुर्वन्तु योगिनः ॥५
- 1077 ) तथान्वैरप्युक्तम्—  
मनोरोधे भवेद्बुद्धं विश्वमेव शरीरभिः ।  
प्रायोऽसंबृतचित्तानां शेषरोधोऽप्यपार्थकः ॥५\*१॥ इति ।
- 1078 ) कलङ्कविलयः साक्षान्मनःशुद्धयैव देहिनाम् ।  
तस्मिन्नपि शमीभूते<sup>२</sup> स्वार्थसिद्धिरुदाहता ॥६

1075 ) अष्टावङ्गानि—यानि अष्टावङ्गयोगस्याङ्गानि आर्थसूरिभिरुक्तानि तानि मुक्तये वीजे स्युः । केन । चित्तप्रसत्तिमागेण मनोयोगप्रशान्तिपथा । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथाष्टाङ्गानि योगिनो जानन्तु तदाह ॥

1076 ) अङ्गान्यष्टौ—अष्टावपि अङ्गानि प्रायः प्रयोजनवशात् कुचित् उक्तानि । अत्रैव तानि अष्टावप्यङ्गानि योगिन उच्चविदाकुर्वन्तु ज्ञानविषयकुर्वन्तु । इति सूत्रार्थः ॥५॥ तथाप्यन्वैरप्युक्तम् ।

1077 ) मनोरोधे—मनोरोधे शरीरभिर्विश्वं बुद्धमेव सर्वं ज्ञातमेव । प्रायः संबृतचित्तानां संवरितमनसो शेषं रोधोऽपि अपार्थकः निरर्थकः । इति सूत्रार्थः ॥५\*१॥ अथ मनशुद्धेः कलमाह ।

1078 ) कलङ्कविलयः—देहिनां प्राणिनां मनशुद्धयैव कलङ्कविलयः साक्षात्क्रियते । तस्मिन्नपि कलङ्कविलये समीभूते<sup>३</sup> स्वार्थसिद्धिरेव तेषां मुनीनाम् उदाहुता कथिता ॥ इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ मुक्तिप्राप्तिहेतुमाह ।

शेष आचार्योंने योगके जिन आठ अंगोंका उल्लेख किया है वे मनकी प्रसन्नता (निर्मलता)के हारा मुक्तिके कारण होते हैं ॥४॥

उन आठों ही अंगोंका कथन प्रायः यहींपर (इस ज्ञानार्थवर्मे) प्रयोजनसके अनुसार कही कहींपर किया गया है, ऐसा योगीजन हात करें ॥५॥ तथा अन्य आचार्योंने भी कहा है—

जिन प्राणियोंने मनको रोक लिया है—उसे स्वाधीन कर लिया है—उसने विश्वको ही रुकावीन कर लिया है । परन्तु जिन्होंने उस मनका निरोध नहीं किया है उनका प्रायः शेष द्वन्द्वियों आदिका निरोध करना भी व्यर्थ होता है ॥५\*१॥

प्राणियोंके दोषोंका विनाश प्रगटमें मनकी शुद्धिसे ही होता है । तथा उस मनके शान्त हो जानेपर स्वार्थकी सिद्धि—मोक्षकी प्राप्ति—कही गयी है ॥६॥

१. P योगस्य । २. P M L तथाप्य एत्युक्तं । ३. L प्रायः संबृत । ४. P M इति । ५. All others except P M L F समीभूते<sup>४</sup>

1079 ) चित्प्रपञ्चजानेकविकारप्रतिवन्धकाः ।

प्राप्नुवन्ति नरा नूनं मुक्तिकान्ताकरणहम् ॥७

1080 ) अतस्तदेव संरुच्य कुरु स्वाधीनमङ्गसा ।

यदि छंतुं समुद्युक्तस्त्वं कर्मनिगडं दुढम् ॥८

1081 ) सम्यगस्मिन् शर्मं नीते दोषा जन्मभ्रमोद्भवाः ।

जन्मिनां खलु शीर्यन्ते ज्ञानश्रीप्रतिवन्धकाः ॥९

1082 ) एक एव मनोदैत्यजयः सर्वार्थसिद्धिदः ।

अन्यत्र विफलः कलेशो यमिनां तज्जयं विना ॥१०

1079 ) चित्प्रपञ्च—सिद्धिष्ठीपाणिग्रहं प्राप्नुवन्ति । कीदृशा नराः । चित्प्रपञ्चजानेकविकारप्रतिवन्धकाः मनोविस्तारजातानन्तविकारप्रतिरोधकाः । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ मनोहरमध्योपायमाह ।

1080 ) अतस्तदेव—अतः कारणात् तदेव मनः संरुच्य रोधयित्वा स्वाधीनं कुरु अङ्गसा सुखेन । त्वं यदि कर्मनिगडं दृढं छेन् समुद्युक्तः उत्तो भवेदिति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ मनसि शमिनो जन्मजातदोषमाह ।

1081 ) सम्यगस्मिन्—अस्मिन् मनसि शर्मं नीते उपशर्मं प्राप्ते जन्मभ्रमोद्भवा भवभ्रमणजाता । खलु निश्चिनाम् । यमिनां व्रतिनाम् । शीर्यन्ते नाशयन्ते । कीदृशा दोषाः । ज्ञानश्रीप्रतिवन्धकाः ज्ञानलक्ष्मीप्रतिकूलाः । इति सूत्रार्थः ॥९॥ पुनर्मनोजयोपायमाह ।

1082 ) एक एव—एक एव मनोदैत्यजयः सर्वार्थसिद्धिदः अभिमतस्यौख्यदः । अन्यत्र तपःप्रमुखे तज्जयं विना मनोजयं विना यमिनां व्रतिनां कलेशो विफलो निष्कलः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ तस्यैव मनसो रोधमाह ।

जिन मनुष्योंने मनके प्रपञ्च (प्रतारण या दुष्प्रवृत्ति) से उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके क्रोधादि विकारोंको रोक लिया है वे निश्चयसे मुक्तिरूप महिलाके साथ पाणिग्रहणको प्राप्त होते हैं—उसे प्राप्त कर लेते हैं ॥७॥

इसलिए है भवय ! यदि तू दृढ़ कर्मरूप सांकेतिक सोडनेमें उत्तम हैं तो उस मनका ही निरोध करके वास्तवमें उसे अपने अधीन कर ले ॥८॥

इस मनके भली भाँति उपशान्त हो जानेपर संसारपरिभ्रमणसे उत्पन्न हुए जो दोष प्राणियोंके ज्ञानरूप लक्ष्मीकी प्राप्तिमें वाधक हैं वे नियमसे नष्ट हो जाते हैं ॥९॥

एक मात्र मनरूप दैत्यकी विजय ही समस्त अभीष्ट पदार्थोंको सिद्ध करनेवाली होती है । और उस मनकी विजयके विना ब्रत-संयमादिके परिपालनमें जो संयमी जन कष्ट सहते हैं वह व्यर्थ होता है ॥१०॥

- 1083 ) एक एवं मनोरोधः सर्वभिन्नद्यसाधकः ।  
यमेवालम्ब्य संग्रामा योगिनस्तत्त्वनिश्चयम् ॥११  
1084 ) पृथकरोति यो धीरः स्वपरावेकता गतौ ।  
स चापलं निष्टुलाति पूर्वमेवान्तरात्मनः ॥१२  
1085 ) मनःशुद्धयैव शुद्धिः स्यादेहिनां नात्र संशयः ।  
वृथा तदृष्ट्यतिरेकेण कायस्येयं<sup>१</sup> कदर्थना ॥१३  
1086 ) ध्यानसिद्धिं<sup>२</sup> मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलम् ।  
विच्छिन्नस्थियि निःशङ्का कर्मजालानि<sup>३</sup> देहिनाम् ॥१४

1083 ) एक एवं मनोरोधः—मनोरोध एक एवं सर्वभिन्नद्यसाधकः सर्वकल्याणकारकः ये मनोरोधमेवालम्ब्य प्राप्त्य योगिनः तत्त्वनिश्चयं परमात्मस्वरूपं प्राप्ताः । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ स्वपरयोविवेचनमाह ।

1084 ) पृथकरोति—यो धीरो निःप्रकम्पः स्वपरी आत्मकर्मणी पृथकरोति । कीदृशी स्वपरी । एकतां गतौ । ह एव पुण्याद् गृह्येत्वा शास्त्रान्तरात्मनः चापलं निष्टुलाति दूरीकरोति । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ मनःशुद्धया सर्वं शुद्ध्यतीत्याह ।

1085 ) मनःशुद्धयैव—देहिनां प्राणिनाम् । अत्र जगति मनःशुद्धयैव शुद्धिः स्यात् न संशयः । तदृष्ट्यतिरेकेण मनःशुद्धिव्यतिरेकेण कायस्य शरीरस्य इव कदर्थना वेदना वृथा निष्कला स्यात्, इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ मनःशुद्धी ध्यानशुद्धिमाह ।

1086 ) ध्यानसिद्धिं—मनःशुद्धिः ध्यानशुद्धिः<sup>४</sup> केवलं न करोत्येव । देहिनां कर्मजालानि । अपि पक्षात्मतरे । विच्छिन्नति भिन्नतति निःशङ्कम् इति क्रियाविशेषणम् ॥१४॥ अथ स्थिराचित्तस्थ जगत्त्वयं पादलीनमाह ।

जिस मनके नियन्त्रणका आश्रय लेकर योगी उन तत्त्वके निश्चयको प्राप्त हुए हैं, एक मात्र वह मनका नियन्त्रण ही समस्त सम्पत्तियोंको सिद्ध करनेवाला है ॥११॥

जो धीर पुरुष अभेदस्तत्त्वाको प्राप्त हुए स्व ( आत्मा ) और पर पदार्थ इन दोनोंको पृथक कर देता है—उन्हें भिन्न समझने लगता है—वह अन्तःकरणकी चंचलताको पूर्वमें ही नष्ट कर देता है ॥१२॥

प्राणियोंकी शुद्धि—कर्ममूलसे रहितता—इस मनकी शुद्धिसे ही होती है, इसमें सम्बद्ध नहीं है । और उस मनशुद्धिके विना—रागद्वेषकी आन्तिके विना—तपश्चरणादिसे होनेवाला यह कायकलेश उर्थर्थ होता है—उससे अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ॥१३॥

मनकी शुद्धि केवल ध्यानकी शुद्धिको ही नहीं करती है, किन्तु वह प्राणियोंके कर्म-समूहोंको भी छिन्न-भिन्न ( नष्ट ) करती है ॥१४॥

१. S Y R कायस्वेव कदर्थने । २. All others except P ध्यानशुद्धि । ३. All others except P M N T निःशङ्क । ४. M N जालादि ।

- 1087 ) पादपङ्कजसंलीनं तस्यैतमुबनत्रयम् ।  
यस्य चित्तं स्थिरीभूय स्वस्वरूपे लयं गतम् ॥१६  
1088 ) मनः कृत्वा शु निःसंगं निःशेषविषयच्युतम् ।  
मूनिभूज्ञैः समालीहं मुक्तेर्वदनपङ्कजम् ॥१७  
1089 ) यथा यथा मनःशुद्धिमुनेः साक्षात्प्रजायते ।  
तथा तथा विवेकश्रीहृदि धत्ते स्थिरं पदम् ॥१८  
1090 ) चित्तशुद्धिमनासाद्य मोक्तुं यः सम्यग्यिच्छति ।  
मृततृष्णातरञ्जिण्यां स पिबत्यम्बु केवलम् ॥१९

1087 ) पादपङ्कज—तस्य पुंसः एतद् भुवनत्रयं जगत्त्वयं पादपङ्कजसंलीनं चरणकमल-स्थितम् । यस्तदोनित्याभिसंबध्यात् । यस्य चित्तं स्वस्वरूपे आत्मस्वरूपे लयं गतं ध्यानत्वेन प्राप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ मनोनिःसंगफलमाह ।

1088 ) मनः कृत्वा—मूनिभूज्ञैर्मुक्तेर्वदनपङ्कजं मुखकमलं समालीनम् आश्रितम् । किं कृत्वा । मनः “मूनिःसंगं कृत्वा । कीदूशं मनः । निःशेषविषयच्युतं समस्तविषयरहितम् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ मनःशुद्धिविवेकस्य कारणत्वेनाह ।

1089 ) यथा यथा—यथा यथा मुनेऽर्जिततत्त्वस्य साक्षात्मनःशुद्धिः प्रजायते । तथा तथा मुनेः एव हृदि विवेकश्रीः स्थिरं पदं धत्ते । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ मनःशुद्धि विना मुक्तिर्न भवतीत्याह ।

1090 ) चित्तशुद्धि—यः नित्यशुद्धिमनासाद्याप्राप्तं मोक्तुं सम्यग्यिच्छति स मृगतृष्णा-तरञ्जिण्यां मरीचिकानद्यां केवलम् अम्बु पानीयं पिबति । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ स्थिरत्वामाह ।

जिसका मन स्थिर हो करके आत्मरूपमें लीन हो गया है उसके चरण-कमलमें ये तीनों लोक लीन हो गये हैं—वह मुक्त होकर तीनों लोकोंका स्वामी बन जाता है ॥१५॥

मुनिरूप भगव मनको परिग्रहसे अतिशय रहित ( निर्भम ) एवं सब विषयोंसे विमुक्त करके मुक्तिरूप लक्ष्मीके मुखरूप कमलका आलिंगन करते हैं ॥१६॥

जैसे-जैसे मुनिके मनकी शुद्धि प्रगटमें होती जाती है वैसे ही वैसे विवेकरूप लक्ष्मी हृदयमें स्थिर स्थानको धारण करती है । अभिप्राय यह है कि विवेककी स्थिरता मनकी शुद्धिसे ही होती है ॥१७॥

जो जीव मनकी निर्भलताको न प्राप्त करके—उसके विना ही—भली भाँति मुक्त होना चाहता है वह मृगतृष्णारूप नदीमें केवल पानीको पीता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मनभूमिमें बालूको जल जानकर मृग अपनी तृष्णा ( प्यास ) को शान्त करनेकी इच्छासे दौड़ते हैं, परन्तु उन्हें कहीं भी जल प्राप्त नहीं होता है; उसी प्रकार मनकी निर्भलताके विना जो मुक्त होनेका प्रवत्तन करता है उसे वह मुक्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकती है ॥१८॥

1091 ) तद्व्यानं तद्वि विज्ञानं तद्व्ययेण तत्त्वमेव वा ।

यैनाविद्यामतिकम्य मनस्तत्त्वे स्थिरीभवेत् ॥१९॥

1092 ) विषयग्रासलुभ्वेन चित्तदैत्येन सर्वथा ।

विक्रम्य स्वेच्छयाजस्त् जीवलोकः कदर्थितः ॥२०॥

1093 ) अवार्यविक्रमः सो ऽयं चित्तदन्ती निवार्यताम् ।

न यावद् ध्वंसयत्येष सत्संयमनिकेतनम् ॥२१॥

1094 ) विभ्रमन्<sup>१</sup> विषयारण्ये चलच्चेतोबलीमुखः ।

यैन रुद्रो ध्रुवं सिद्धं फलं तस्यैव वाञ्छितम् ॥२२॥

1091 ) तद् व्यानं—येनोपायेन मनः स्थिरं भवेत् । क्व । तत्त्वे । तद् व्यानम् । हि निवित्तम् । तद् विज्ञानम् । तदेव व्येयं व्यानार्हम् । वा अथवा । तत् नत्त्वमेव । किं कृत्वा । अविद्याम् अज्ञानमतिक्रम्य त्यक्त्वेति सूत्रार्थः ॥ १९॥ अथ जीवलोकस्य चित्तकृतपरिवेकनमाह ।

1092 ) विषयग्रास—चित्तदैत्येनाजस्त् निरन्तरं स्वेच्छया जीवलोकः कदर्थितः पीडितः । किं कृत्वा । सर्वथा विक्रम्य । कीदृशोन । विषयग्रासलुभ्वेन इन्द्रियव्यापारकवललभ्यटेन । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ चित्तदन्तिनो अनिवार्यत्वमाह ।

1093 ) अवार्य—सो ऽयं चित्तदन्ती निवार्यताम् निषेध्यताम् । कीदृशः । अनिवार्यविक्रमः दुर्बारपराक्रमः । एषः चित्तदन्ती यावद् संयमनिकेतनं गंयमगृहं न ध्वंसयति न विद्यंसयति । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुनः चित्तस्वरूपमाह ।

1094 ) विभ्रमन्—यैन पुंसा चलच्चेतोबलीमुखः चलच्चेतोमक्टः ध्रुवं सिद्धितं रुद्रः । किं कृत्वन् । विषयारण्ये विषयविपिने विभ्रमत्<sup>२</sup> तस्यैव पुंसो वाञ्छितं फलं सिद्धिमिति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ यः चेतो न जयति तस्य सर्वं विफलमाह ।

जिसके आश्रयसे मन अज्ञानको लोधकर—उसे छोड़कर—आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाता है वही व्यान है, वही विज्ञान है, वही व्येय है, और तत्त्व ( परमार्थ ) है ॥१९॥

चित्तरूप दैत्य विषयरूप प्राप्तके लोभसे आक्रमण करके निरन्तर प्राणिसमूहको इच्छानुसार सब प्रकारसे पीड़ित किया करता है ॥२०॥

जो यह मनरूप हाथी अनिवार्य पराक्रमका धारक है, वह जब तक समीचीन संयमरूप प्राप्तादको ध्वस्त नहीं करता है, तब तक उसका निवारण करना उचित है ॥२१॥

जिसने विषयरूप बनमें विचरते हुए चंचल चित्तरूप बन्दरको रोक लिया है, उसके निहचयसे अभीष्ट फलकी सिद्धि होती है ॥२२॥

१. M N तद्व्ययै । २. J Y R यावद्विसद्यै । ३. M S J K X Y R विभ्रमद्विष्टै । ४. 'मत्तिवर्षै' । ५. M N चलच्चित्तो, F T चलच्चेतो ।

- 1095 ) चित्तमेकं न शक्नोति जेतुं स्वातन्त्र्यवत्ति यः ।  
 ध्यानवातार्ता ब्रुवन्मूढः स किं लोके न लडते ॥२३॥
- 1096 ) यदसाध्यं तपोनिष्टुनिषिवीतमत्सरैः ।  
 तत्पदं प्राप्यते धीरं चित्तप्रसरबन्धकैः ॥२४॥
- 1097 ) अनन्तजन्मजानेककर्मबन्धस्थितिद्रुढा ।  
 भावशुद्धिं प्रपञ्चस्य मुनेः प्रथीयते क्षणात् ॥२५॥
- 1098 ) यस्य चित्तं स्थिरीभूतं प्रसर्वं ज्ञानवासितम् ।  
 सिद्धमेव मुनेस्तस्य साध्यं कि कायदण्डनैः ॥२६॥

1095 ) चित्तमेक—यः पुमान् एकं चित्तं जेतुं न शक्नोति समर्थो न भवति । कीदूरां चित्तम् । स्वातन्त्र्यवत्ति स्वाधीनवत्ति । स मूढो मूर्खः लोके न लडते । अपि तु लड्जत एव । कि कुर्वन् । ध्यानवातार्ता ब्रुवन् वदत् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ [ मनोजयेन सर्वं साध्यं भवतीत्याह । ]

1096 ) यदसाध्यं—मुनिभिः यत् पदम् असाध्यं तत् चित्तप्रसरबन्धकैः मनोजयिभिः प्राप्यते । कीदूरौः मुनिभिः । तपोनिष्टुः तप आचरद्धुः । अपि च कीदूरौः । वीतमत्सरैः ईर्ष्यारहितैः । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ भावशुद्धिः कलमाह ।

1097 ) अनन्त—मुनेः कर्मबन्धस्थितिः क्षणात् प्रथीयते तश्यति । कीदूशस्य मुनेः । भावशुद्धिः मनोजयं प्रपञ्चस्य प्राप्तस्य । कीदूरी कर्मबन्धस्थितिः । द्रुढा स्थिरा । पुनः कीदूरी । अनन्तजन्मजा अनन्तजन्ममुद्गता । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ पुनर्लटदेवाह ।

1098 ) यस्य चित्तं—यस्य चित्तं स्थिरीभूतं तस्य मुनेः सर्वं सिद्धमेव । कीदूरां चित्तम् । प्रसर्वं ज्ञानवासितं च । तस्य मुनेः कायदण्डनैः कि साध्यम् । न किमपीत्यर्थः ॥२६॥ ] अथाजित-चित्तस्य सर्वं विफलमाह ।

जो स्वतन्त्रतासे प्रवृत्ति करनेवाले उस एक चित्तके जीलने में समर्थ नहीं है, परन्तु ध्यानकी बात करता है; वह मूर्ख इस लोकमें लड्जाको क्यों नहीं प्राप्त होता है? अर्थात् उसे लड्जित होना चाहिये, क्योंकि, मनकी एकाप्रताके विना उस ध्यानकी सम्भावना नहीं है ॥२३॥

मात्सर्यभावको छोड़कर तपका अनुष्ठान करनेवाले साधुजन जिस पदको नहीं सिद्ध कर पाते हैं, है धीर! उस पदको चित्तके संचारको रोकनेवाले—उसे वशमें कर लेनेवाले—सज्जन प्राप्त कर लेते हैं ॥२४॥

जो मुनि भावोंकी निर्मलताको प्राप्त कर चुका है, उसके अनन्त जन्मोंमें उत्पन्न हुई अनेक कर्मोंकी दृढ़ स्थिति क्षणभरमें क्षीण हो जाती है ॥२५॥

जिसका निर्मल व झानसे संस्कारित मन स्थिरताको प्राप्त हो चुका है, उस मुनिका साध्य—रलत्रयस्य अभीष्ट—सिद्ध ही हो चुका । अब उसे शरीरको क्लेश पहुँचानेवाले

1099 ) तपःश्रुतयमज्ञानतत्त्वक्लेशादिसंश्वर्यम् ।

अनियन्त्रितचित्तस्य स्यान्मुनेस्तुषकण्ठनम् ॥२७

1100 ) एकैव हि मनःशुद्धिलोकाग्रपथदीपिका ।

सखलितं वहुभिस्तत्र तामनासाद्य निर्मलाम् ॥२८

1101 ) असन्तो ऽपि गुणाः सन्ति यस्यां<sup>३</sup> सत्यां शरीरिणाम् ।

सन्तो ऽपि यां विना यान्ति सा मनःशुद्धिरुच्यते ॥२९

1099 ) तपःश्रुत—मुनेः पूर्वोक्तस्य तपःश्रुतयमज्ञानाः तत्त्वक्लेशादिसंश्वर्यं सर्वं तुष्टवण्डम् निरर्थकम् । वीदृशस्य मुनेः । अनियन्त्रितचित्तस्य अनिवद्वचित्तस्य । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ पुनर्भवाशुद्धिफलमाह ।

1100 ) एकैव हि—एकैव, हि निश्चितं, मनःशुद्धिः लोकाग्रपथदीपिका मुक्तिपथदीपिका वर्तते । तत्र लोके । तां नित्तशुद्धि निर्मलामनासाद्याग्राप्य । वहुभिः सखलितं वहुभिः पतितम् । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ पुनर्स्तस्येव फलमाह ।

1101 ) असन्तो ऽपि—यस्यां मनःशुद्धी सत्याम् । असन्तो ऽपि अविद्यमाना अपि सन्ति । यां विना मनःशुद्धिमन्तरेण सन्तो ऽपि चारित्रादयः यान्ति गच्छन्ति । सा मनःशुद्धिः शस्यते प्रशस्यते ॥२९॥ अथ पुनर्द्वितीयस्य स्वरूपमाह ।

संयम व तप आदिसे क्या प्रथोजन है ? कुछ भी नहीं । अभिप्राय यह है कि वाष्प तप व संयम आविकी अपेक्षा अन्तःकरणकी निर्मलता ही मुख्य है, क्योंकि उसके बिना वे सब उद्यर्थ ही रहते हैं ॥२६॥

जिस मुनिका मन वशमें नहीं हुआ है उसका तप, शास्त्राभ्यास, संयम, ज्ञान और क्षायक्लेश आदिका आश्रय उसके तुष्टवण्डमें समान धार्यके कणोंसे रहित कोरे भूसेके कूटनेके समान उद्यर्थ ही है ॥२७॥

लोकशिखरके मार्गको—मोक्षमार्गको—प्रकाशित करनेवाली दीपिका ( छोटा दीपिक ) एक वह मनशुद्धि ही है । उस निर्मल दीपिका को न पाकर वहाँ बहुतन्ते जीव भ्रष्ट हुए हैं ॥२८॥

जिसके होने पर प्राणियोंके अविद्यमान भी गुण विद्यमान हो जाते हैं तथा जिसके बिना उनके विद्यमान गुण भी चले जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं—उस मनशुद्धिकी ही प्रशस्ता की जाती है ॥२९॥

१. F J यमध्यान । २. Y संचर्य । ३. All others except P M X सन्ति यस्य यस्यां शरी<sup>०</sup> ।

४. All others except N शुद्धिः शस्यते ।

1102 ) अपि लोकत्रयैश्वर्यं सर्वाक्षिप्रीणनशम् ।

भजत्यचिन्त्यवीर्योऽयं चित्तदैत्यो निरदृशः ॥३०

1103 ) शमश्रुतयमोपेता जिताक्षः शंसितव्रताः ।

विद्वन्त्यनिर्जितस्वान्ताः स्वस्वरूपं न योगिनः ॥३१

1104 ) विलीनविषयं शान्तं निःसङ्गं स्वकृतविक्रियम् ।

स्वस्थं कुल्वा मनः प्राप्तं मुनिभिः पदमव्ययम् ॥३२

1102 ) अपि लोक—अथ चित्तदैत्यः लोकत्रयैश्वर्यमपि भजति । कीदृशम् । सर्वाक्षिप्रीणलक्षणम् सर्वेन्द्रियहृषीत्पादकम् । कीदृशः चित्तदैत्यः । अचिन्त्यवीर्यः अनन्तपराक्रमः । पुनः कीदृशः । निरदृशः अदृशारहितः । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथजितस्वान्ता आत्मस्वरूपं न विदन्तीत्याह ।

1103 ) शमश्रुत—अनिर्जितस्वान्ता अजितचित्ताः । स्वस्वरूपम् आत्मस्वरूपं योगिनो इयि न विद्वित न जानन्ति । कीदृशः । शमश्रुतयनोपेता । अनिर्जितस्वान्तव्रतोरिता । तु ग । कीदृशाः । जिताक्षा जितेन्द्रियाः । पुनः कीदृशाः । शंसितव्रताः प्रशंसितमहाव्रताः । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ यथा मुनिभिर्मौक्षः प्राप्तः तथाह ।

1104 ) विलीनविषय—मुनिभिरव्ययम् अविनश्चापदं मोक्षपदं प्राप्तम् । किं कुल्वा । मनः स्वस्थं कुल्वा । कीदृशं मनः । विलीनविषय विनष्टेन्द्रियव्यापारम् । पुनः कीदृशम् । शान्तं क्रोधाद्य-भावोपेतम् । पुनः । निःसंगम् वाह्याभ्यन्तरसंगमुक्तम् । पुनः कीदृशम् । स्वकृतविक्रियं तर्जितविकारम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ चित्तस्थं वैलोक्यव्याप्त्यत्वमाह ।

अचिन्त्य शक्तियाला यह मनरूप दैत्य स्वतन्त्र रहकर सब इन्द्रियोंके प्रसरण करनेमें समर्थ ऐसे तीनों लोकोंकी भी ऐश्वर्यको भोगता है । अभिप्राय यह है कि जब तक मनको बशमें नहीं किया जाता है तबतक वह तीनों ही लोकोंकी सम्पत्तिके भोगने का विचार (आर्तव्यान्) करता रहता है ॥३०॥

शम, आगमज्ञान और संयमसे सहित, जितेन्द्रिय एवं प्रशस्त व्रतोंके प्रारक हो करके भी जिन योगियोंने अपने मनको नहीं जीता है वे आत्माके स्वरूपको नहीं जानते हैं ॥३२॥

इसके विपरीत जिन मुनियोंने उस मनको विषयोंसे विमुख, शान्त, निर्भम और क्रोधादि विकारोंसे रहित करके आत्मस्वरूपमें स्थित कर लिया है उन्होंने अविनश्चर पद (मोक्ष) को प्राप्त कर लिया है ॥३२॥

1105 ) दिक्षकं दैत्यधिष्ठयं त्रिदशभूतिपुराण्यस्तुवाहान्तरालं  
द्वीपाम्भोधिप्रकाण्डं सचरनसुराहीन्द्रवासं समग्रम् ।  
एतत्त्रैलोक्यनीडं पवनचयचितं चापलेन क्षणाधे-  
नाश्रान्तं चित्तदैत्यो भ्रमति तनुमता दुर्विचिन्त्यप्रभावः ॥३३

1106 ) प्रशमयमसमाधिध्यानविज्ञानहेतो-  
विनयमयविवेकोदारचारित्रसिद्धयैः ।  
य इह जयति चेतःपश्चगं दुर्निवारं  
स खलु जगति योगिव्रातवन्द्यो मूनीन्द्रः ॥३४

1105 ) दिक्षकं—तनुमता चित्तदैत्यो इथान्तं निरन्तरं क्षणाधेन भ्रमति । कीदृशः । दुर्विचिन्त्यप्रभावः । कि भ्रमति । समग्रं यमस्तम् एतत्त्रैलोक्यनीडम् एतत्रिभूतवनम् भ्रमति । कर्तृ-  
क्रियाव्याहारो विशेषज्ञैर्योग्यः । दिक्षकं चित्तदैत्यो भ्रमति । पुनः । दैत्यधिष्ठयं दैत्याश्व धिष्ठण्याइच  
दैत्यधिष्ठयम् । त्रिदशप्रतिपुराणि इन्द्रनगराणि भ्रमति । अस्तुवाहान्तरालं भेदमध्यम् । पुनः कीदृशम् ।  
चित्तदैत्यो द्वीपाम्भोधिप्रकाण्डं द्वीपसमुद्रसमूहं भ्रमति । पुनः कि भ्रमति । सचरनसुराहीन्द्रवासं  
विद्याधरमनुष्यामरनागेन्द्रजवनम् । पुनः कीदृशं भूतवनम् । पवनचयचितं वायुसमूहव्याप्तम् । इति  
सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ चेतोविनयफलमाह ।

1106 ) प्रशमयम—यः पुमान् वह जगति चेतःपश्चगं मनःसर्पम् । कीदृशम् । दुर्निवारं जयति ।  
किमर्थम् । प्रशमयमसमाधिध्यानविज्ञानहेतोः [ प्रशमयम् ] चित्तस्थिरताध्यानविशिष्टज्ञाननिवित्तम् ।  
पुनः कस्यै । विनयवनयविवेकोदारचारित्रसिद्धयै विनयो भक्तिः, नयविवेकः उदारं प्रधानं यज्ञाचारित्रं  
तस्य सिद्धिः, तस्यै । खलु निश्चयेन । स चेतःपश्चगजेता मूनीन्द्रो योगिव्रातवन्द्यो योगिसमूहनमस्यो  
भवति । इति सूत्रार्थः ॥३४॥

अचिन्त्य प्रभावका धारक वह प्राणियोंका चित्तरूप दैत्य सब दिशाओंके घेरेमें, दैत्योंके  
स्थानमें, इन्द्रके पुरोंमें, मेघोंके मध्यमें, द्वीप व समुद्रोंके अन्तरालमें तथा विद्याधर, मनुष्य,  
देव और भरणेन्द्रोंके स्थानमें, इस प्रकार वायुसमूहसे वेष्टित इस तीन लोकरूप धरमें अपनी  
चंचलतासे निरन्तर आये ही क्षणके भीतर चक्कर लगाया करता है । तात्पर्य यह कि जब  
तक मनको बड़में नहीं किया जाता है तब तक वह जो वस्तु स्वप्नमें भी प्राप्त नहीं हो सकती  
है उसके विषयमें भी कुछ न कुछ सोचा ही करता है ॥३४॥

जो मूनीन्द्र प्रशम ( कषायोंकी शान्ति ), महाब्रत, प्रतिभाग्य ( आत्मलीनता ), ध्यान  
और विशिष्ट ज्ञानके कारणसे तथा क्रिय, स्थाय-नीति, विवेक और महान् चारित्रकी मुद्दिके  
लिए उस कष्टसे निवारण किये जानेवाले मनरूप सर्पको जीत लेता है—उसे अपने अधीन  
कर लेता है—वह लोकमें योगियोंके समूहसे बंदनीय होता है ॥३४॥

इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-विरचिते  
मनोव्यापारप्रतिपादनप्रकरणम् ॥२०॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्थवस्त्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितमयविलासेन  
साहपासा-तत्त्वात्-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहकृष्णिदासस्वथवणार्थे  
पण्डितजिनदासोद्धमेन मनोव्यापारप्रतिपादनप्रकरणम् ॥२०॥

अभावि पाश्वैः पूर्वैः यो टोडरः साधुतुद्धिकः ।  
जीयात् प्रसिद्धकीतिस्तु ऋषिदासो नरोत्तमः ॥१॥  
इत्याशीर्वदिः ॥

अथ मनोजये रागाद्यभावो भवति । अतः रागाद्यभावप्रतिपादकं प्रकरणमाह ।

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्थव योग श्रद्धीपाधिकारमें  
मनोव्यापार प्रतिपादन प्रकरण समाप्त हुआ ॥२०॥

## [ रागादिनिवारणम् ]

1107 ) निःशेषविषयोत्तीर्णं विकल्पव्रजवर्जितम् ।

स्वतस्यैकपरं धने मनीषी नियतं मनः ॥१॥ अथवा-

1108 ) क्रियमाणमपि स्वस्थं मनः सद्योऽभिभूयते । स्मरण्युत्तेज श्लोक ५५  
अनाद्युत्पन्नसंबन्धैः<sup>३</sup> रागादिवलिभिर्बलात् ॥२

1109 ) स्वतस्वानुगतं चेतः करोति यदि संयमी ।

रागादयस्तथाप्येते क्षिपन्ति अमसागरे ॥३

1107 ) निःशेष—मनीषी पण्डितः मनः स्वतस्यैकपरम् आत्मैकतत्त्वसावधानं नियतं निश्चितं धने । कीदृशं मनः । निःशेषविषयोत्तीर्णं समस्तविषयरहितम् । पुनः कीदृशं मनः । विकल्पव्रजवर्जितं दुरध्यवसायवर्जितम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथवा पक्षान्तरे ।

1108 ) क्रियमाणमपि—मनो रागादिरिपुभिर्बलात् हठात् सद्यः शीघ्रम् अभिभूयते पीड्यते । कीदृशी रागादिरिपुभिः<sup>४</sup> । अनाद्युत्पन्नसंबन्धैः अनादिकालसंबन्धजातैः । स्वस्थं क्रियमाणमपि । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ रागादीना दुष्टकलमाह ।

1109 ) स्वतस्वानुगतं—संयमी यदि स्वतस्वानुगतम् आत्मैकतत्त्वागतं चेतः करोति, संयमि एते रागादयः अमसामरे भवसमुद्रे क्षिपन्ति पातयन्ति । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ रागादिजये उद्यममाह ।

बुद्धिमान् योगी नियमसे अपने मनको समस्त विषयोंसे विमुख और विकल्पजालसे रहित करके उसे एक मात्र अपने आत्मस्वरूपमें लीन करता है ॥१॥

अथवा—मनको आत्मस्वरूपमें स्थित करनेपर वह शीघ्र ही उन रागादिरूप बलशाली शत्रुओंके द्वारा चलापूर्वक पराभवको प्राप्त होता है जिनका कि सम्बन्ध जीवके साथ अनादि कालसे उत्पन्न हुआ है ॥२॥

यद्यपि संयमका परिपालक मुनि उस मनको अपने आत्मस्वरूपमें अवस्थित करता है फिर भी ये रागादि शत्रु उसे अमरूप समुद्रमें फेंक देते हैं ॥३॥

१. J विशेष । २. P M L F अथवा । ३. All others except P M N T संबद्धैः । ४. All others except P रागादिरिपुभिः<sup>५</sup> । ५. J क्षिपन्ति ।

1110 ) आत्माधीनमपि स्वान्तं सद्यो रागैः कलङ्कयते ।

अस्ततन्द्रैरतः पूर्वमत्र यत्नो विधीयताम् ॥४

1111 ) अथलेनापि जायन्ते चित्तभूमौ शरीरणाम् ।

रागादयः स्वभावोत्थङ्गानराज्याङ्गधातकाः ॥५

1112 ) इन्द्रियार्थसंपाकृत्य स्वतत्त्वमवलम्बते<sup>१</sup> ।

यदि योगी तथाप्येते छलयन्ति मुहुर्मन्तः ॥६

1113 ) क्वचिन्मूढं क्वचिद्भान्तं क्वचिद्ग्रीतं क्वचिद्ग्रुतम्<sup>२</sup> ।

शङ्कितं च क्वचित्किलङ्गं रागाद्यैः क्रियते मनः ॥७

1110 ) आत्माधीनमपि—यदि स्वान्तं चित्तम् आत्माधीनम् आत्मलीनं क्रियते तथापि रागैः स्वान्तं सद्यो शीघ्रं कलङ्कयते मलिनीक्रियते । अतः कारणात् पूर्वम् अस्ततन्द्रैरनालस्थैरत्र रागादिये यत्नो विधीयता क्रियताम् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ रागादीनां स्वभावमाह ।

1111 ) अथलेनापि—रागादयः शरीरणां चित्तभूमीं मनोभूमिकायाम् अथलेनापि यत्नं विनापि जायन्ते । कीदृशा रागादयः । स्वभावोत्थङ्गानराज्याङ्गधातकाः स्वभावजनितङ्गानसाभ्राज्याङ्गधातकाः विनाशकाः । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ रागादयोः योगिभां मनः चालयन्ति ।

1112 ) इन्द्रियार्थसु—यदि योगी स्वतत्त्वं स्वस्वरूपमवलम्बते आधयति । कि कृत्वा । इन्द्रियार्थात्<sup>३</sup> इन्द्रियप्रव्यापारारात् अपाकृत्य तिरस्कृत्य । तथापि इन्द्रियार्थानिषाकरणे अपि एते पूर्वोक्ता रागादयः मुहुर्विवारं मनः ललयन्ति । इन्द्रियविषयेषु [ मनसः ] प्रवृत्तिं कुर्वन्ति । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ मनसो रागाद्यैः किलश्यमानत्वमाह ।

1113 ) क्वचिन्मूढं—रागाद्यैर्मनः एतादृशां क्रियते । कीदृशाम् । क्वचिन्मूढं मूळितं क्रियते । क्वचिद्भान्तं रागाद्यैर्विपरीतमन्ति क्रियते । क्वचिद्भीतं भयभ्रान्तं क्रियते । क्वचिद्द्रुतं<sup>४</sup> व्याधिं

अपने अधीन हुआ भी वह मन रागादिकोंके द्वारा शीघ्र ही मलिन कर दिया जाता है । इसलिए मुमुक्षु मुनियोंको प्रथमतः आलस्यको छोड़कर उन रागादिकोंके विषयमें ही प्रयत्न करना चाहिए ॥४॥

स्वभावसे उत्पन्न होकर झामरूप राज्यके अंगोंका धात करनेवाले वे रागादि प्राणियों-की मनरूप भूमिमें विना किसी प्रयत्नके ही उत्पन्न हुआ करते हैं ॥५॥

यदि योगी इन्द्रियविषयको दूर करके आत्मतत्त्वका आश्रय लेता है तो भी वे रागादि उस मनको बार-बार ठगते हैं—मलिन करते हैं ॥६॥

रागादिक उस मनको कहीपर मुग्ध, कहीपर भ्रान्तिसंयुक्त, कहीपर भयभीत, कहीपर रोता हुआ ( अथवा द्रुत=पीड़ित ) कहीपर शंकायुक्त और कहीपर क्लेशसे परिपूर्ज किया करते हैं ॥७॥

१. J स्वभावोत्था । २. All others except P इन्द्रियार्थानिषाः । ३. M "मवलम्बयते । ४. J Y मुहुर्मृहः । ५. M L क्वचिद्द्रुतम्, N क्वचिद्भूतम्, others क्वचिद्रत्नम् ।

११४

अजस्रं रुद्ध्यमाने ऽपि चिराभ्यासाद् दृढीकृताः ।

चरन्ति हृदि निःशङ्का नृणां रागादिराक्षसाः ॥८

( ११५ ) प्रयासैः फलगुभिर्मृदैः किमात्मा दण्डयते ऽधिकम् ।  
शक्यते न हि चेच्छेतः कर्तुं रागादिवर्जितम् ॥९ ॥

११६ ) क्षीणरागं च्युतद्वेषं ऋवस्तमोहं सुसंवृतम् ।

यदि चेतः एतादृशं उद्ध रिद्धं लग्नीहितम् ॥१० ॥

दिलम्बितम् । च पुनः । शङ्कृतं क्रियते स्वस्वरूपे शङ्कोभेतम् । कवचित् किलमृदं क्लेशयुक्तं क्रियते । इति सूत्रार्थः ॥७॥ [ अथ रागादीना स्वरूपमाह ।

११४ ) अजस्रं—नृणां रागादिराक्षसाः हृदि मनसि चरन्ति संचरन्ति । कीदृशाः । निःशङ्का शङ्कारहिताः । पुनः कीदृशो हृदि । अजस्रे निरन्तरं रुद्ध्यमाने ऽपि । पुनः कीदृशा । चिराभ्यासाद् चिरकालम् अभ्यासात् दृढीकृता । इति सूत्रार्थः ॥८॥ [ अथ पुनः रागादिस्वरूपमाह ।

११५ ) प्रयासैः—मूढैर्मूर्खैः किमधिकमात्मा दण्डयते । प्रयासैः तपो ज्ञुषानजनितैः । कीदृशैः प्रयासैः । फलगुभिनिःसारैः । हि यस्मात् कारणात् । चेत् यदि चेतो रागादिवर्जितं कर्तुं न शक्यते तदेति सूत्रार्थः ॥९॥ [ अथ स्वच्छचेतसः फलमाह ।

११६ ) क्षीणरागं—यदि चेतः एतादृशं समाप्तं जातम् । कीदृशम् । क्षीणरागं लष्टरागं, च्युतद्वेषम् । पुनः कीदृशम् । सुसंवृतम् अद्युभव्यापारेभ्यः संकोचितम् । तदा समीहितं वाञ्छितं सिद्धम् । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ [ अथ मूर्खविद्युषोभेदमाह ।

दीर्घकालके अभ्याससे प्रबल किये गये रागादिरूप राक्षस रोके जानेपर भी मनुष्योंके हृदयमें निरन्तर संचार किया करते हैं ॥१०॥

( अज्ञानीजन यदि मनको रागादिसे रहित नहीं कर सकते हैं तो फिर वे न्यर्थके परिश्रमोंसे—त्रित, संघ्रम एवं तपश्चरण आदिसे उत्पन्न होनेवाले क्लेशोंसे—आत्माको अधिक पीड़ित करते हैं ? तात्पर्य यह कि रागादिकी शान्तिके बिना संघ्रम व तपश्चरण आदि न्यर्थ ही रहते हैं ॥१०॥ )

यदि मन राग और द्वेषसे रहित होकर मोहको नष्ट करता हुआ समस्त सावधा प्रदृशि-से रहित ही चुका है तो समझना चाहिए कि प्राणीका अर्भाष्ट सिद्ध हो चुका—मुक्ति उसके निकट ही है ॥१०॥

- ( ११७ ) [ मूर्खस्तिथोभिः क्रशयन्ति देहं बुधा मनो देहविकारहेतुम् ।  
था क्षिसमर्थं ग्रसते अतिक्रोपात् क्षेसारमस्य निहन्ति सिंहः ] ॥१०\*१ ]
- ११८ ) मोहपङ्के परिक्षीणे प्रशान्ते रागविश्रमे ।  
पश्यन्ति यमिनः स्वस्मिन् स्वरूपं परमात्मनः ] ॥११
- ११९ ) महाप्रशमसंग्रामे शिवश्रीसंगमोत्सुकैः ।  
योगिभिज्ञनशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः ] ॥१२
- १२० ) असंक्लिष्टमविभ्रान्तमविभृतमनाकुलम् ।  
निवेशं<sup>१</sup> च मनः कृत्वा वस्तुतच्च निरूपय ] ॥१३

११७ ) मूर्खस्तिथोभिः—मूर्खाः तपोभिः तपांसि कृत्वा देहं कृत्यायन्ति कृशं कुर्वन्ति । किन्तु बुधाः विद्वान् देहविकारहेतुं देहविकारकारणं मनः कृशं कुर्वन्ति । तदर्थं दृष्टान्तमाह । यथा इवा कुन्तकुरुः स्वस्मिन् क्षितिम् अस्त्रम् अतिक्रोधात् ग्रसति किन्तु सिंहः अस्त्रस्य क्षेसारं मनुजमेव निहन्ति । इति सूत्रार्थः ] ॥१०\*१॥ ] अथ स्वस्वरूपोपलब्धिमाह ।

११८ ) मोहपङ्के—यमिनो व्रतिनः परमात्मनः स्वरूपं स्वरूपम् पश्यन्ति शुद्धबोधलया । कीदूशे स्वस्मिन् । मोहपङ्के मोह एव पङ्कः मालिन्यकारित्वात् पङ्कः । तस्मिन् मोहपङ्के परिक्षीणे क्षये संजाते सति । पुनः च च सति । रागविश्रमे प्रशान्ते सति । इति सूत्रार्थः ] ॥११॥ अथ योगिभिज्ञन राधादयो जैतव्या उत्थाह ।

११९ ) महाप्रशम—योगिभिः ज्ञानशस्त्रेण ज्ञानायुथेन रागमल्लो रागमुभटो निपातितः । च्च । महाप्रशमसंघ्रामे महाशान्तिसमरे । कीदूशाः । शिवश्रीसंगमोत्सुकैः मोक्षलक्ष्मीमेलापकोत्कण्ठितैः । इति सूत्रार्थः ] ॥१२॥ अथ मनोनिश्चलत्वमाह ।

१२० ) असंक्लिष्टम्—हे योगिन्, वस्तुतच्च वस्तुस्वरूपं निरूपय । ‘उपशमेण धात्वर्थं बलादस्य नीयते’ इति अबलोकय । कि कृत्वा । मनो इन्द्रियविषयनिवारितिवेन निश्चलं कृत्वा ।

[ मूर्ख लोग तप करके अपना झरीर कृश बनाते हैं, लेकिन विद्वान् लोग झरीरमें चिकार बनानेवाले मनकी ही शक्ति श्रीण करते हैं । मनको जीतते हैं । जैसे कुत्ता आदमीके फेंके हुए लकड़ी आदि हथियारको कोधसे दंडा करता है । लेकिन सिंह हथियार फेंकनेवालेको ही मार डालता है ॥१०\*१॥ ]

जिन सुनियोक्ता मोहरूप कीचड़ भट्ठ हो चुका है, तथा रागका विलास अतिशय शान्त हो चुका है वे परमात्माके स्वरूपको अपने आपमें ही देखते हैं ॥११॥

मुक्तिरूप लक्ष्मीके संयोगमें उत्सुक हुए योगियोंने रागमङ्गेषके उपशमरूप घोर युद्धमें ज्ञानरूप शम्भके ग्रहारसे रागरूप योद्धाका धात किया है ॥१२॥

हे भव्य ! तू मनको संकलेश, अन्ति, उपद्रव और आकुलतासे रहित करके इसे स्थिर करता हुआ वस्तुस्वरूपका निरूपण कर ॥१३॥

१. Only in M N । २. S R स्ववर्णं च मनः ।

1121 ) रागाद्यभिहृतं चेतः स्वतस्यविमुखं भवेत् ।  
ततः प्रच्छ्यवते क्षिप्रं ज्ञानरत्नाद्रिमस्तकात् ॥१४

1122 ) रागद्वेषप्रमाणावै मुक्तिमार्गं स्थिरीभवेत् ।  
संयमी जन्मकान्तारसंक्रमक्लेशशङ्कृतः ॥१५

1123 ) रागादिभिरविश्रौन्तर्विज्ञ्यमानं<sup>१</sup> मुहुर्मनः ।  
न पश्यति परंज्योतिः पुण्यपापेन्धनानलम् ॥१६

अकारो विशेषणकाङ्क्षी । कीदूषां मनः । असंक्लिष्टं कलेशरहितम् । पुनः कीदूषम् । अविश्वासं आन्तिरहितम् । पुनः कीदूषम् । अविष्टृतं स्थिरीभूतम् । पुनः कीदूषम् । अनाकुलं अश्वलत्वरहितम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ रागाद्यभिद्रुतं चेतः आत्मतत्त्वं न वेत्तीत्याह ।

1121 ) रागद्वेषभिहृतं—तेतो रागाद्यभिहृतं रागादिपीडितं सत् स्वतस्ये विमुखं आत्मतत्त्व-पराङ्मुखं भवेत् । ततो रागाद्यभिहृतचित्तत्वात् ज्ञानरत्नाद्रिमस्तकात् शुद्धबोधरोहणाचलभस्तकाम् क्षिप्रं शीघ्रं प्रच्छ्यवते पतति । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ रागद्वेषप्रमाणावै यत्तदाह ।

1122 ) रागद्वेष—संयमी द्रवती । मुक्तिमार्गं सम्यज्ञानादिक्यरूपे निष्ठाक्षो भवेत् । कैः । रागद्वेषप्रमाणावैः इष्टानिष्ठवस्तुविषयैः तेष्यो भ्रमः । अथवा भ्रमो भिन्नत्वेन ग्राह्यः । ततो रागद्वेषश्च अमल्व रागद्वेषप्रमाणास्तेषामभावः, ते । कीदूषाः संयमी । जन्मकान्तारसंक्रमात् अवाटवी-भ्रमणात् क्लेशशङ्कृतः क्लेशभीतः । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ रागादिभिर्विज्ञ्यमानः परं ज्योतिः न पश्यति ।

1123 ) रागादिभिः—संयमी परं प्रकृष्टं ज्योतिः स्वात्मप्रकाशं न पश्यति । कथम् । रागादिभिर्मुहुर्वीर्वारं मनः वज्च्यमानम् । अथ सप्तम्यश्च प्रथमां । कीदूषां मनः । अविश्वासं विश्राम-रहितम् । कीदूषां ज्योतिः । पुण्यपापेन्धनानलं शुभाशुभक्षेपेन्धनेषु अमलवदनलं, दाहकत्वात् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ पुनः रागाद्यभावफलमाह ।

रागादिसे आहत चित्त आत्मतत्त्वसे विमुख होता है, और तब प्राणी ज्ञानरूप रूप पर्वतके शिखरसे शीघ्र ही च्युत हो जाता है ॥१४॥

संसाररूप वनमें भटकनेके क्लेशसे भयभीत हुआ मुनि राग, द्वेष एवं मोहके अभावसे मोक्षमार्गमें स्थिर हो जाता है ॥१५॥

निरन्तर विद्यमान रहनेवाले रागादिकोंके द्वारा वार-कार ठगा गया भन उस उल्लुष्ट ज्योतिको नहीं देखता है जो कि पुण्यभावरूप इंधनके भस्म करनेमें अग्निके समान है ॥१६॥

१. L T रागादिभिहृत । २. All others except P°रविश्वासं । ३. J वस्त्यमानं ।

- 1124 ) रागादिपद्मविश्लेषात् प्रसन्ने चित्तवारिणि ।  
परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥१७
- 1125 ) स को इपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते ।  
येन लोकत्रयैश्चर्यमप्यचिन्त्यं तुणायते ॥१८
- 1126 ) प्रशास्यति विरागस्य दुर्बोधविषमग्रहः ।  
स एव वर्धते इज्ज्ञं रागात्मस्येह देहिनः ॥१९
- 1127 ) स्वभावजमनातद्कं वीतरागस्य यत्सुखम् ।  
न तस्यानन्तभागो इपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरः ॥२०

1124 ) रागादिपद्म—मुनेर्जन्मशीलस्य वस्तुकदम्बकं वस्तुसमूहे निःशेषं समस्तं परिस्फुरति प्रगटीभवति । वब सति । चित्तवारिणि मनोजले प्रसन्ने निर्मले सति । कस्मात् । रागादिपद्मविश्लेषात् रागादिकदंमविभागात् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ वीतरागमुखस्वरूपमाह ।

1125 ) स को इपि—वीतरागस्य रागद्वेषरहितस्य स को इपि वक्तुमशक्तो इपि परमानन्दः स्वात्मोपलक्षितसंभवो जायते । येनानन्देन लोकत्रयैश्चर्यं जगत्त्रयसाम्राज्यम् अचिन्त्यमपि अचिन्तत-नीयमपि तुणायते तुणम् इव चरते । निःस्फूरत्वादित्यर्थः ॥१८॥ अथ वीतरागस्य यद्गुवतीत्याह ।

1126 ) प्रशास्यति—विरागस्य नीरागस्य दुर्बोधविषमग्रहः अज्ञानविकटकदाग्रहः प्रशास्यति उपशमं याति । स एव दुर्बोधविषमग्रहः अज्ञानं निरन्तरं वर्धते वृद्धि याति । इह लोके रागात्मस्य । उपलक्षणात् द्वेषो इपि ग्राह्यः । रागद्वेषपीडितस्य देहिनः प्राणिनः । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ वीतरागमुखस्वरूपमाह ।

1127 ) स्वभावजम्—वीतरागस्य पुर्वोक्तार्थयुक्तस्य यत्सुखं रागद्वेषभावजनितं परमानन्द-रूपम् । कीदूरा सुखम् । स्वभावजं सहजोत्पन्नम् । पुनः कीदूशम् । अनातद्वान्नं निर्मयमारोग्यरूपं वा । तस्य तादृशविशेषणोपेतस्य सुखस्यानन्तभागो इपि त्रिदशेवस्त्रेवेकन्द्रैः प्राप्यते । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ रागद्वेषयोरनन्तदुखकारणमाह ।

रागादिरूप कीचिह्नके हट जानेवर निर्मलताको प्राप्त हुए मुनिके चित्तरूप जलके भीतर समस्त वस्तुओंका समूह प्रतिभासित होने लगता है ॥१७॥

उस समय उक्त वीतराग मुनिके वह कोई असाधारण उत्कृष्ट आनन्द उत्पन्न होता है जिसके कि आश्रयसे वह तीनों लोकोंके अचिन्त्य ऐश्वर्यको भी लृणके समान तुच्छ समझने लगता है ॥१८॥

जो मुनि रागद्वेषसे रहित हो चुका है उसका मिश्याङ्गान रूप भयानक पिशाच शान्त हो जाता है और इसके विपरीत जो प्राणी यहाँ रागसे पीड़ित होता है उसका वही मिश्याङ्गानरूप पिशाच निरन्तर वृद्धिको प्राप्त है ॥१९॥

वीतराग मुनिको जो पीड़ासे रहित स्वाभाविक ( अर्तानिद्र्य ) सुख प्राप्त होता है, इन्द्रोंको उसके अनन्तवर्ण भाग मात्र भी वह सुख प्राप्त नहीं होता ॥२०॥

११२८ ) एतावनादिसंभूतौ रागदेषी महाग्रहौ ।  
अनन्तदुःखसंतानप्रसूतेशाग्रिमाङ्कुरौ ॥२१

११२९ ) उक्तं च—

रागी बधनाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते ।  
जीवो जिनोपदेशो अपं समासाद्यमोक्षयोः ॥२१\*१॥ इति ।

११३० ) तद्विवेच्य धुर्वं धीरं ज्ञानाकालोकमाश्रयं ।  
विमुच्यते च यं प्राप्य रागकल्पोलमालिनी ॥२२

११२८ ) एताश्नादि—एती रागदेषी अनन्तदुःखसंतानप्रसूतेः पूर्वकृतानन्तदुःखसमुहजम्मनः प्रथमाङ्कुरी प्रारम्भा द्वारी । कीदृशी । अनादिसंभूतौ अनादिकालसंजातौ । पुनः कीदृशी । महासुरो दुःखदायकत्वात् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

११२९ ) रागी बधनाति—रागी जीवो कर्माणि बधनाति । वीतरागो जीवो विमुच्यते कर्मभ्यः । समाशात् संक्षेपतो बन्धमोक्षयोविषयेऽवदं जिनोपदेशः । बन्धमोक्षी च कथिती जिनैः । इति सूत्रार्थः ॥२१\*१॥ अब रागदेष [ रहितं ] यथार्थं ज्ञानमूपादेयमित्याह ।

११३० ) तद्विवेच्य—हे धीर, तद्ज्ञानसूर्यप्रकाशं विवेच्य विवेकविषयीकृत्य । ज्ञानाकालोकं प्राप्य रागकल्पोलमालिनी रागतरङ्गिणी शुच्यते योषं यातीत्यर्थः ॥२२॥ अथ रागदेषयोः सतो-रथ्यात्मं नास्तीत्याह ।

ये राग-देष रूप दो महा पिशाच अनादिकालसे उत्पन्न होते हुए अपरिमित दुःख-परम्पराकी उत्पत्तिके प्रधान अंकुर हैं—सुख कारण हैं ॥२१॥

कहा भी है—

रागी जीव कर्मोंको बाँधता है और वीतराग उन्हीं कर्मोंको छोड़ता है—उनकी निर्जरा करता है, यह जिमेन्ट्र देवने संक्षेपमें बन्ध और मोक्षविषयक उपदेश दिया है ॥२१\*१॥

इसलिए हे धीर ! पूर्वोक्त बन्धमोक्षके स्वरूपका विचार करके उस स्थिर ज्ञानरूप सूर्यके प्रकाशका आश्रय ले, जिसको पा करके वह रागरूप नदी सूख जानेवाली है ॥२२॥

१. M L T F J K Y महासुरी । २. All others except P "के प्रथम" । ३. All others except P विमुच्यते । ४. T "यं भग्न स्थादन्त्य" । ५. P M इति । ६. M N धीर, J धीरः । ७. J "आश्रयः" । ८. L विमुच्यति ।

1131 ) चिदचिद्रूपिभावेषु सूक्ष्मस्थूलेष्वपि क्षणम् ।  
रागः स्याद्यदि वा द्वेषः कव तदाभ्यात्मनिश्चयः ॥२३

1132 ) नित्यानन्दमयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसंभवाम् ।  
कृणोति वीतसंरम्भो वीतरागः विवश्रियम् ॥२४

1133 ) यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषेस्तत्रैति निश्चयः ।  
उभावेतौ समालम्ब्य विक्रामत्यधिकं मनः ॥२५

1131 ) चिदचिद्रूपि—सूक्ष्मस्थूलेषु भावेषु पदार्थेषु रागः स्यात् यदि वा द्वेषः स्यात् । कीदृशेषु भावेषु । चिदचिद्रूपभावेषु<sup>१</sup> चेतनावेतनभावेषु । तदाभ्यात्मनिश्चयः परमात्मनिश्चयः कव । न कवापीति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ वीतरागस्य मोक्षालक्ष्मीकारणत्वमाह ।

1132 ) नित्यानन्द—वीतरागो निःस्पृहः विवश्रियं मोक्षालक्ष्मीं कृणोति । कीदृशः । वीत-संरम्भो गतमनोविकल्पः । कीदृशीम् । नित्यानन्दमयीं शाश्वतानन्दरूपाम् । पुनः कीदृशीम् । साध्वीं प्रधानीम् । पुनः । शाश्वतीम् अविनश्वराम् । पुनः कीदृशीम् । आत्मोपपन्नाम् । च पादव्युरणे ॥२४॥ पुनस्तात्रोः स्वरूपमाह ।

1133 ) यत्र रागः—यत्र भनुष्टे रागः पदं स्थानं धत्ते तत्र जने द्वेषः पदं धत्ते, इति निश्चयः । एती उभी रागद्वेषी समालम्ब्याश्रित्याश्रिकं मनो विक्रामति विक्रियां करोति । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ ज्ञानमिञ्छन् राग हृत्तोत्थाह ।

सूक्ष्म व स्थूल स्वभाववाले चेतन, अचेतन और रूपी ( मूर्तिक ) पदार्थोंकि विषयमें यदि क्षणभरके लिए भी राग अथवा द्वेष होता है, तो फिर अध्यात्मका निश्चय भला कहाँ सम्भव है ? राग-द्वेषके हीते हुए आत्मस्वरूपका निश्चय सम्भव नहीं है ॥२६॥

वीतराग योगी संरम्भसे—हिंसादि पापोंके संकल्पसे—रहित होकर शाश्वतिक आनन्दरूप, उक्तुष्ट, अविनश्वर और आत्ममात्रसे उत्पन्न होनेवाली मुक्तिरूप लक्ष्मीका वरण करता है ॥२६॥

जहाँ (जिसके हृदयमें) राग अपने चरणको धारण करता है—स्थान प्राप्त करता है—वहाँ द्वेष भी आकर उपस्थित होता है, यह निश्चित है। और इन दोनोंके आश्रयसे मन अतिशय पराक्रम विखलाता है—यह इष्टसंयोग एवं अनिष्ट वियोग आश्रिके दुर्ध्यानमें प्रवृत्त होता है ॥२७॥

१. All others except P विष्ट्रप । २. M द्विष्ट ।

- 1134 ) सकलज्ञानसाम्राज्यं स्वीकर्तुं यः समीक्षति ।  
स धन्यः शमशस्त्रेण रागशर्वं निकृन्तति ॥२६
- 1135 ) यथोत्पाताक्षमः पक्षी लूनपक्षः ग्रजायते ।  
रागद्वेषच्छद्वल्लेदे स्वान्तपत्ररथस्तथा ॥२७
- 1136 ) चित्तप्लवद्वृद्धिं स हि नूनं विजेष्यते ।  
यो रागद्वेषसंतानतरुमूलं निकृन्तति ॥२८॥ अथवा—
- 1137 ) अयं मोहवशाजन्तुः क्रुद्यति द्वेष्टि रज्यते ।  
अर्थेषु ने स्वभावेन तस्मान्मोहो जगज्ञयी ॥२९

1134 ) सकलज्ञान—यः सकलज्ञानसाम्राज्यं सर्वज्ञानेष्वर्यं स्वीकर्तुमङ्गीकर्तुं समीक्षति वाङ्गलति स पुमान् धन्यः शमशस्त्रेण उपशमायुवेन रागशर्वं रागवैरिणं निकृन्तति छिनति । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ रागस्वरूपमाह ।

1135 ) यथोत्पाताक्षमः—यथा पक्षी लूनपक्षः छेदितपक्षः उत्पाताक्षमः उद्युग्नायासमर्थो जायते । तथा स्वान्तपत्ररथः चित्तपक्षी रागद्वेषच्छद्वल्लेदे रागद्वेषपक्षच्छलेदे सति तोहुयते । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ रागद्वेषभावस्य दुष्कृचित्तं कारणमाह ।

1136 ) चित्तप्लवं—यः पुमान् रागद्वेषसंतानतरुमूलं रागद्वेषसमूहवृशमूलं निकृन्तति छिनति । हि यस्मात् । तु ने निश्चितम् । स चित्तप्लवद्वृद्धिं चित्तप्लवन्तरुष्ट्राचरणं विजेष्यते जयं करिष्यति । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ पक्षान्तरे । अथ मोहलक्षणमाह ।

1137 ) अयं मोह—अयं जन्तुः अन्यः<sup>१</sup> स्वभावेषु परस्यरं पृथक् स्वभावेषु मोहवशास् अर्थेषु पदार्थेषु क्रुद्यति क्रोधं करोति, द्वेष्टि द्वेषं करोति, रज्यते । तस्मात् कारणात् मोहो जगज्ञयी जगज्ञेता । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ मोहस्य रागद्वेषी कारणमाह ।

जो पुण्यशाली भनुद्य समस्त ज्ञान ( केवलज्ञान ) रूप साम्राज्यको स्वीकार करनेकी इच्छा करता है वह कषायोषशमरूप शम्भके द्वारा रामरूप शम्भुको खण्डित करता है ॥२६॥

जिस पक्षीके पंख कट गये हैं वह जिस प्रकार उपद्रव करनेमें असमर्थ हो जाता है उसी प्रकार रागद्वेषरूप पंखोंके कट जानेपर—उनके नष्ट हो जानेपर अनरूप पक्षी भी उपद्रव करनेमें—वाहा पदार्थोंमें इष्टानिष्ट त्रुद्धि करके उनकी प्राप्ति व परिहारके लिए पापाचरण करनेमें—असमर्थ हो जाता है ॥२७॥

जो साधु रागद्वेषकी परम्परारूप वृक्षकी जड़को काट डालता है वह निश्चित ही मनरूप बन्दरके दुष्ट ल्यवहारको जीतेगा—उसे आपने अधीन कर लेगा ॥२८॥

अथवा—वह प्राणी वाहा पदार्थोंमें जो किसीपर क्रोध करता है, किसीके साथ शम्भुताका ल्यवहार करता है, और किसीमें आसर्क होता है वह मोहके अभावसे वैसा करता है; न कि स्वभावसे । इस कारण वह मोह ही जगन्तका विजेता है ॥२९॥

१. M शम्भु । २. R विजेष्यति । ३. P M L F अथवा । ४. All others except P M N अर्थेष्वन्यस्वभावेषु ।

1138 ) रागद्वेषविषोद्यानं मोहबीजं जिनैर्मतम् ।

अतः स एव निःशेषद्वेषसेनानरेक्षरः ॥३०

1139 ) असावेव मोहद्वृतदावेवद्विः शरीरिणाम् ।

तथा दृढतरानन्तकर्मवन्धनिवन्धनम् ॥३१

1140 ) रागादिगहने खिलं मोहनिद्रावशीकृतम् ।

जगन्मिथ्याग्रहाविष्टं जन्मपद्मे निमज्जति ॥३२

1141 ) स पश्यति मुनिः साक्षाद्विश्वमध्यसमञ्जसा ।

यः स्फेटयति<sup>१</sup> मोहान्धपटलं<sup>२</sup> ज्ञानचक्षुषः<sup>३</sup> ॥३३

1138 ) रागद्वेष—रागद्वेषविषोद्यानं रागद्वेषावेव विषोद्यानं मोहबीजं मोह एव बीजं जिनैस्तीर्थकरैर्मतभिमतम् । अतः कारणात् मोह एव स एव निःशेषद्वेषसेनानरेक्षरः समस्तद्वेषकटकराजा वर्तते । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ पुनर्मोहस्यरूपमाह ।

1139 ) असावेव—असावेव मोह एव दृढतरानन्तकर्मवन्धनिवन्धनं धनतरानन्तकर्मवन्धस्य निवन्धनं कारणम् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ जगतो भीहक्षशीकृतस्य स्वरूपमाह ।

1140 ) रागादि—जगत् जन्मपद्मे निमज्जति । कीदृशं जगत् । रागादिगहने रागादिगुणिले खिलं देवितम् । पुनः कीदृशम् । मोहनिद्रावशीकृतं । सुगमम् । पुनः कीदृशं जगत् । मिथ्याग्रहाविष्टं मिथ्याग्रहगृहीतम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ मोहाभावे योगिनो ज्ञानमाह ।

1141 ) स पश्यति—स पश्यति मुनिः । कम् । साक्षाद् विश्वं प्रत्यक्षम् । अञ्जसा सुखेन । स इति कः । यः मोहान्धकारं ज्ञानचक्षुषा<sup>४</sup> स्फेटयति दूरीकरोति । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ मोहस्य नाशोपायमाह ।

जिस भगवान् राग-द्वेषरूप विषयवृक्षमय वर्गीयेका बीज मोहको मानते हैं । इसलिए समस्त दोषोंकी सेनाका स्वामी एक वह मोह ही है ॥३०॥

वह मोह प्राणियोंके संसाररूप वनमें उत्पन्न हुई वनकी अग्नि ही है—इवाचिनके समान विस्तारको प्राप्त होकर प्राणियोंको सन्तान करनेवाला वह मोह ही है, तथा प्राणियोंके अतिशय दृढ व अपरिमित कर्मवन्धका कारण भी वही मोह है ॥३१॥

सब ही संसारी प्राणी मिथ्यादर्शनरूप मिशानसे पीड़ित होकर राग-द्वेषादिरूप भवानक वनमें विभवण करते हुए खेदको प्राप्त होते हैं और तब मोहरूप निद्राके वशीभूत होकर संसाररूप कीचड़में निमग्न हो जाते हैं—संसारमें परिभ्रमण करते हुए अनन्त दुखको सहते हैं ॥३२॥

जो मुनि ज्ञानरूप नेत्रके ( या ज्ञानरूप नेत्रके निमित्तम् ) आवारक अज्ञानरूप अन्धकारके समूहको नष्ट कर देता है वह यथार्थमें विश्वको—सच्चरात्मर लोकको—प्रकटमें प्रस्तरके देखता है ॥३३॥

- 1142 ) इयं मोहमहाज्वाला जगत्त्रयविसर्पिणी ।  
क्षणादेव क्षयं याति प्लाव्यमाना शमाम्बुभिः ॥३४  
1143 ) यस्मिन् सत्येव संसारी यद्वियोगे शिवीभवेत् ।  
जीवः स एव पापात्मा मोहमल्लो निवार्यताम् ॥३५  
1144 ) यत्संसारस्य वैचित्र्यं नानात्वं यद्विरिणाम् ।  
यदात्मीयेष्वनात्मास्था तन्मोहस्यैव वल्लितम् ॥३६  
1145 ) रागादिवैरिणः कूरा मोहभूपेन्द्रपालिताः ।  
निकृत्य शमशस्त्रेण मोक्षमार्गं निरूपय ॥३७

1142 ) इयं मोह—इयं मोहमहाज्वाला क्षणादेव क्षयं याति । कीदूशी मोहमहाज्वाला । जगत्त्रयविसर्पिणी जगत्त्रयप्रसरणकीला । पुनः कीदूशी । शमाम्बुभिः उपशमजलैः प्लाव्यमाना सिद्धमाना । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ [ अथ मोहसामर्थ्यमाह । ]

1143 ) यस्मिन्सत्येव—स एव जीवः यस्मिन् मोहे सति संसारी भवति । यस्य मोहस्य वियोगे निराकरणे सति शिवीभवेत् मोक्षं लभते । अतः पापात्मा पापरूपः मोहमल्लः मोह एव मल्लः वक्षिशाली निवार्यताम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ मोहस्यानिवार्यत्वमाह ।

1144 ) यत्संसारस्य—संसारस्य यद्विचित्र्यं विचित्रता, शरीरिणां मनुष्याणां यन्मानात्वं मनेकप्रकारत्वं, यदात्मीयेषु पदार्थेषु अनात्मास्था परबुद्धिनिष्ठता तन्मोहस्यैव वल्लितं वैभवं चेष्टितं वा । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ मोहस्य स्वरूपमाह ।

1145 ) रागादि—हे भव्य, मोक्षमार्गं सम्यरदर्शनादित्रयरूपं निरूपय प्रवाशय । शमशस्त्रेण उपशमायुक्ते रागादिवैरिणः रागादिशब्दन् निकृत्य छित्वा । कीदूशात् । कूरान्<sup>१</sup> रौद्रान् । पुनः

शमभावरूपं जलके द्वारा डुखोयी गयी वह तीनों लोकोंमें कैलनेवाली मोहरूप विशाल अग्निकी ज्वाला क्षणभरमें शान्त हो जाती है । अग्निशाय यह है कि जिस प्रकार अग्निकी शान्ति जलसे हुआ करती है उसी प्रकार मोहकी शान्ति राग-द्वेषके उपशमनसे होती है ॥३६॥

जिस मोहके होने पर ही जीव संसारी होता है—जन्म-मरणके दुखको सहता है—और जिसके नष्ट हो जानेपर वह उस दुखसे मुक्त होकर कल्याणका भाजन होता है उसी पापरूप मोह-सुभट्का निवारण करना चाहिए ॥३७॥

प्राणियोंके जो संसारकी विचित्रता—नरनारकाविस्वरूप विविधरूपता, भिन्नता और आत्मीय भावोंमें—सम्यरदर्शीन, सम्यग्मान, संयम एवं क्षमा-मार्दवादिमें—आत्मभिन्नताका जो विश्वास होता है वह मोहकी चाल है—उसीके प्रभावसे ऐसा होता है ॥३८॥

हे साधो ! ये रागादिरूप शत्रु मोहरूप राजाके द्वारा रक्षित हैं । इसलिए तू उस मोह-को और उसके द्वारा रक्षित इन रागादिकोंको शमभावरूप शब्दसे काटकर मोक्षमार्गका अचलोकन कर ॥३७॥

१. P वल्लितम्, F <sup>२</sup>स्वैव चालितम् । २. All others except P M कूरान्.....पालितात् ।

११४६ ) इति मोहबीरवृत्तं रागादिवरुचिनीसमाकोर्णम् ।

सुनिरुप्य भावशुद्धया यतस्व तद्वन्धमोक्षाय ॥ ३८

इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते  
रागद्वेष्टप्रकरणम् ॥२१॥

कीदृशात् । मोहभूपेन्द्रपालितात्\* मोहराजेन्द्ररथितात् । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ मोहस्वरूप-  
मुपर्संहरति ।

११४६ ) इति मोह—हे भव्य, तत्समाल्कारणात् वन्धमोक्षाय यतस्व । इति अमुना प्रकारेण  
मोहबीरवृत्तं मोहसुभट्टचरितं भावशुद्धया निरुप्य कथयित्वा । कीदृशात् । रागादिवरुचिनीसमाकीर्णं  
रागादिसेनाव्यासम् । इति सूत्रार्थः ॥२८॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्थवमूलसूक्ते योगप्रदीपाधिकारे पण्डित-  
जिलदासोद्यमेन रागद्वेष्टप्रकरणं समाप्तम् ॥२१॥

बभूव पात्रवः श्रीयुक्त टोडर कृतिटोडरः ।\*\*\*स्वभावजः ऋषिदासो जयत्वह् ॥१॥ इति  
आशीर्वदिः । अथ रागद्वेषाभावे उपशमो भवतीत्याह ।

इस प्रकार रागादिरुप सैन्यसे ल्याप—उसके आश्रयसे चलनेवाले उस मोहस्वरूप  
सुभट्टके वृत्तात्म (व्यवहार) को देखकर भावशुद्धिके द्वारा उस कर्मवन्धसे छूटनेका प्रयत्न  
कर ॥३८॥

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्थव योगप्रदीपाधिकारमें  
राग-द्वेष्टप्रकरण समाप्त हुआ ॥२१॥

## [ साम्यवैभवम् ]

- 1147 ) मोहब्दिभापाक्तुं स्वीकर्तुं संयमश्रियम् ।  
छेतुं रागद्रुमोद्यानं समत्वैभवलम्ब्यताम् ॥१॥
- 1148 ) चिदचिद्विषयाणैभावैरिष्टानिष्टतया स्थितैः ।  
न मुह्यति मनो यस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥२॥
- 1149 ) विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।  
समत्वं<sup>३</sup> भज सर्वज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम् ॥३॥

1147 ) मोहब्दिभाम्—हे भव्य, शमत्वम् उपशमत्वम् अवलम्ब्यताम् आश्रयताम् । कि कर्तुम् । मोहब्दिभामिनम् अपाकर्तुम् । पुनः कि कर्तुम् । संयमश्रियं स्वीकर्तुम् अन्तीकर्तुम् । पुनः कि कर्तुम् । रागद्रुमोद्यानं छेतुम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ मनसो मोहाभावफलमाह ।

1148 ) चिदचिल्लक्षणैः—यस्य पुरुषः मनः चित्तं न मुह्यति मोहं न याति । कैः । भावैः पदार्थैः । कीदृशैः । चिदचिल्लक्षणैः ज्ञानाज्ञानरूपैः । पुनः कीदृशैः । इष्टानिष्टतया अभीष्टानभीष्टतया स्थितैः । तस्य पुरुषः साम्ये समतायां स्थितिरवस्थानं भवेदिति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ समयक्त्वफलमाह ।

1149 ) विरज्य—हे [ भव्य ], समत्वं समर्ता भज सेवय । कि कृत्वा । कामभोगेषु विरज्य विरक्तीभूय । पुनः कि कृत्वा । वपुषि स्पृहां समत्वं विमुच्य त्यक्त्वा । कीदृशाम् । सर्वज्ञानलक्ष्मी-कुलास्पदम् अर्हत्वेवलज्ञानकमलाकुलगृहमिति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ भववन्धुमच्छेदननिवन्धनमाह ।

हे भव्य ! तू मोहरूप आङ्गको शान्त करनेके लिए, संयमरूप सम्पत्तिको स्वीकार करनेके लिए और रागरूप वृक्षोंके वनको नष्ट करनेके लिए समताभावका—भाव्यस्थय वृत्तिका अवलम्बन कर ॥१॥

जिस भद्रात्माका मन इष्ट और अनिष्ट रूपसे अवस्थित चेतन ( मित्र-शत्रु आदि ) व अचेतन ( कोमल शश्वा व शस्त्रादि ) पदार्थोंसे मुग्ध नहीं होता है वही साम्यभावमें स्थित रह सकता है ॥२॥

हे भव्य ! तू विषयभोगोंसे विरक्त होकर शरीरके विषयमें निःस्पृह होता हुआ उस समताभावकी आराधना कर जो सर्वज्ञकी ज्ञानरूप लक्ष्मीके कुलगृहके समान है—सर्वज्ञकी विमूर्तिको प्राप्त करानेवाला है ॥३॥

१. M L J शमत्व । २. M N साम्यस्थिति । ३. M शमत्व ।

1150 ) छित्रा प्रशमशस्त्रेण भवत्यसनवागुराम् ।

मुक्तेः स्वयंवरागारं धीरं व्रज शनैः शनैः ॥४

1151 ) साम्यसूयशुभिमिच्चे रागादितिभिरोत्करे ।

प्रपश्यति॑ शमी॒ स्वस्मिन्॒ स्वरूपं॒ परमात्मनः ॥५

1152 ) साम्यसीमान्तमालम्ब्य कुत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ।

पृथक् करोति॑ विजानी॒ संशिलष्टे॒ जीवकर्मणी॑ ॥६

1153 ) साम्यवारिणि॑ शुद्धानां॒ सतां॒ ज्ञानैकचक्षुषाम् ।

इहैवानन्तबोधादिराज्यलक्ष्मीः॑ सखी॒ भवेत् ॥७

1150 ) छित्रा प्रशम—हे धीर, मुक्तेः स्वयंवरागारं शिवश्रीस्वयंवरमण्डपं गृहं शनैः शनैः व्रज गच्छ । कि कुत्वा । भवत्यसनवागुरां संसारबन्धनं छित्रा । केन । प्रशमशस्त्रेण उपशमायुधेन । इति॒ सूत्रार्थः ॥४॥ अथ परमात्मनः॑ स्वरूपमाह ।

1151 ) साम्यसूयशुभिः—यमी॑ व्रती॒ स्वस्मिन्॒ परमात्मनः॑ स्वरूपं॒ प्रपश्यति॑ प्रकर्षेण॑ पश्यति॑ । क्व सति॑ । रागादितिभिरोत्करे॑ रागाद्यन्धकारसमूहे॑ साम्यसूयशुभिः॑ उपशमादित्यकिरणैः॑ भिन्ने॑ भेदिते॑ सतीति॑ सूत्रार्थः ॥५॥ अथ जीवकर्मणो॑ विवेचनमाह ।

1152 ) साम्यसीमान्तम्—विजानां॑ विशिष्टज्ञानोपयुक्तः॑ जीवकर्मणी॑ जीवश्च कर्म च जीव-कर्मणी॑ पृथक् करोति॑ । कीदृशी॑ जीवकर्मणी॑ । संशिलष्टे॑ परस्परमनादिकालतो॑ भिलिते॑ । कि कुत्वा । साम्यसीमान्तम्॑ उपशममर्यादाम्॑ आलम्ब्य आश्रित्य । पुनः॑ कि कुत्वा । आत्मनि॑ आत्मनिश्चय॑ परमात्मनिर्णयं कुत्वा । इति॒ सूत्रार्थः ॥६॥ अथ पुनरुपशमस्वरूपमाह ।

1153 ) साम्यवारिणि—इहैव भवे॑ सतां॒ सत्युरुषाणाम् । अनन्तबोधादिराज्यलक्ष्मीः॑ अनन्त-ज्ञानादिसाम्राज्यश्रीः॑ सखी॒ भवेत्॒ सहायिनी॑ भवेत् । कीदृशां॑ सताम् । साम्यवारिणि॑ शुद्धानां॑

हे धीर ! तू प्रशमरूप शस्त्रके द्वारा संसारपरिभ्रमणके दुखरूप फौसको काटकर धीरेधीरे॑ मुक्तिरूप लक्ष्मीके स्वयंवर मन्दिरकी और गमन कर । अभिप्राय यह है कि संसारपरिभ्रमणके कारणमूल जो राग-द्वेष हैं उनको नष्ट कर देनेसे जीवको मुक्तिरूप लक्ष्मी स्वयं ही वरण कर लेती है—उसे फिर सोक्षमसुखके प्राप्त करनेमें विलम्ब नहीं होता ॥४॥

समताभावरूप सूर्यकी किरणोंकि द्वारा रागादित्य अन्धकारसमूहके नष्ट कर देनेपर प्रशमभावका आश्रय लेनेवाला जीव अपने आपमें ही परमात्माके स्वरूपको देखता है—तब वह स्वयं आराध्य बन जाता है, उसका आराध्य अन्य कोई नहीं रहता ॥५॥

विवेकी जीव समताभावकी सीमाका आश्रय लेकर जब आत्मामें आत्माके निश्चयको करता है, तब वह परस्परमें सम्बद्ध जीव और कर्मको पृथक् करता है—उसको स्वरूपसे भिन्न समझने लगता है ॥६॥

विवेकज्ञानरूप नेत्रके धारक जो सज्जन समताभावरूप जलमें स्नान करके शुद्धिको

१. T धीर । २. P शम corrected into शाम्य, M J शाम्य । ३. All others except P यमी ।  
४. M N सीमा॑ समालम्ब्य । ५. M कर्मणि ।

- 1154 ) भावयस्व तथात्मानं समत्वेनातिनिर्भरम् ।  
न यथा द्वेषरागाभ्यां गृह्णात्यर्थकदम्बकम् ॥८॥
- 1155 ) रागादिविषये भीमं मोहशार्दुलपालितम् ।  
दर्शं मुनिमहावीरैः साम्यधूमध्वजाचिंथा ॥९॥
- 1156 ) मोहपङ्के परिक्षीणे श्रीर्णे रागादिबन्धने ।  
सृणां हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीचिंथवन्दिता ॥१०॥

साम्यपानीये शुद्धात्माम् । पुनः कीदृशां सत्ताम् । ज्ञानैकव्युत्पां ज्ञानैकलोचनात्माम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥  
अथ शमसद्ग्रावे रागद्वेषाभावमाह ।

1154 ) भावयस्व—हे जीव, तथात्मानं भावयस्व चिन्तयस्व । केन । अतिनिर्भरं बहुभावं शमत्वेनोपशमत्वेन । यथा अर्थकदम्बकं परिहादिसमूहं रागद्वेषाभ्यां न गृह्णाति, तद्यहर्ण न करीतीति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ पुनः साम्यसाध्यमाह ।

1155 ) रागादिविषये—मुनिमहावीरैर्युनिमहासुभट्टैः रागादिविषये वर्तं दर्शं ज्वालितम् । कथा । साम्यधूमध्वजाचिंथा साम्यामिज्वालया । कीदृशं रागादिविषयम् । भीममोहशार्दुलपालिते रौद्रमोहव्याघ्रपालितम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ मोहरागादिहीने साम्यतामाह ।

1156 ) मोहपङ्के—साम्यश्रीरुपशमश्रीर्णणां हृदि पदं स्थानं धत्ते । कीदृशी साम्यश्रीः । विश्ववन्दिता जगत्पूजिता । कव सति । मोहपङ्के परिक्षीणे । पुनः कव सति । रागादिबन्धने श्रीर्णे विनश्चरे सतीति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ पुनः साम्यफलमाह ।

प्राप्त हुए हैं उनकी अनन्तज्ञानादिरूप राज्यलक्ष्मी इस जन्ममें सखी ( सहचारिणी ) होती है—उन्हें इसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त हो जाती है ॥७॥

हे भव्य ! तू अपनी आत्माका पूर्णतया समताभावस्थास्फसे इस प्रकार चिन्तन कर कि जिससे वह पदार्थसमूहको राग-द्वेषके साथ ब्रह्म नहीं करे—किसीसे राग और किसीसे द्वेष न करे ॥८॥

मुनिरूप महायोद्धाओंने मोहरूप सिद्धसे संरक्षित भयानक रागादिरूप वनको समताभावरूप अग्निकी ज्वालाके द्वारा भर्म किया है ॥९॥

जब मनुष्योंका मोहरूप कीचड़ नष्ट हो जाता है तथा रागादिरूप बन्धन टूट जाता है तब उनके हृदयमें समरत लोकसे बन्दित समतारूप लड्मी पदार्पण करती है । अभिप्राय यह है कि जब तक प्राणीका मोह नष्ट नहीं होता है तबतक राग-द्वेष भी नष्ट नहीं होते हैं और अबतक वे राग-द्वेष नष्ट नहीं होते तबतक उसके हृदयमें समताभावको स्थान नहीं मिलता है । इसलिए उस समताभावको प्राप्त करनेके लिए राग-द्वेष और मोहको नष्ट करना चाहिए ॥१०॥

- 1157 ) आशा: सद्यो विषयन्ते<sup>१</sup> यान्त्यविद्याः क्षर्यं क्षणात् ।  
 ग्रियते चित्तभोगीन्द्रो<sup>२</sup> यस्याः<sup>३</sup> सा साम्यभावना ॥११॥
- 1158 ) साम्यकोटि समारुद्धो यमी जयति कर्म यत् ।  
 निमेषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतरः ॥१२॥
- 1159 ) साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः ।  
 तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्ये इयं शास्त्रविस्तरः ॥१३॥
- 1160 ) साम्यभावितभावानां स्यात्सुखं यन्मनीषिणाम् ।  
 तन्मन्ये हानसाम्राज्येऽसमत्वमवलम्बते ॥१४॥

1157 ) आशा: सद्यः—यस्य पुंसः आशा: वाञ्छा: सद्यः शीघ्रं विषयान्ते विनश्यन्ति । क्षणात् अविद्या: अज्ञानानि थर्य यान्ति । यस्य चित्तभोगीन्द्रो ग्रियते, तस्य सा साम्यभावना वर्तते । इति सूक्ष्मार्थः ॥११॥ अथ साम्यावस्थावती कर्मभावमाह ।

1158 ) साम्यकोटि—यमी व्रती यत्कर्म निमेषान्तेन जयति । कीदूशो यमी । \*साम्यकोटि-समारुद्धः साम्यभावस्थितः । तत्कर्म इतरः साम्यभावनारहितः तपसा जन्मकोटिभिर्व जयति । इति सूक्ष्मार्थः ॥१२॥ अथ साम्यस्य ध्यानकारणत्वमाह ।

1159 ) साम्यमेव—विश्वदर्शिभिः सर्वज्ञैः साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं कथितम् । नूनं निश्चिन्तम् । तस्यैव व्यक्तये साम्यस्य प्रगटनायां शास्त्रविस्तरः । इत्यहं मन्ये । इति सूक्ष्मार्थः ॥१३॥ अथ साम्यजनितफलमाह ।

1160 ) साम्यभावित—मनीषिणां पण्डितानां यत्सुखं स्यात् । कीदूशां मनीषिणाम् ।

जिसके होनेपर जीवकी सभ इच्छाएँ शीघ्र नष्ट हो जाती हैं, अविद्याएँ (मिथ्या दुरभिनिवेश ) क्षणभरमें श्रीण हो जाती हैं, तथा मनरूप महाभेद्यानक सर्वं मर जाता है, उसका नाम साम्यभावना है ॥११॥

सुसताभावके अप्रभागपर—शिखरपर—आरुद हुआ योगी जिस कर्मको निमेष (नेत्रकी टिमकार) मात्र कालके भीतर—क्षणभरमें ही—जीत लेता है, उसीको उक्त समताभावसे रहित अन्य जीव तपश्चरणके द्वारा करोड़ों जन्मोंमें जीत पाता है ॥१२॥

समस्त लोकके ह्वाला द्रष्टा सर्वज्ञदेवने एक साम्यभावको ही उक्तव्य ध्यान निरूपित किया है । यह शास्त्रविस्तार लो निश्चयसे उसी साम्यभावके प्रकट करनेके लिए है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१३॥

साम्यभावसे पदार्थोंका चिन्तन करनेवाले चुदिमान् महापुरुषोंको जो सुख प्राप्त होता है, वह ज्ञानके साम्राज्य ( केवलज्ञान ) की समानताका आश्रय लेता है, ऐसा मैं मानता हूँ ।

१. P विलीयन्ते । २. F J Y रामादिरिपुभिः सार्थं यस्य सा । ३. All others except P यस्य ।  
 ४. All others except P M N चिमिषां । ५. M साम्राज्यं समत्वं ।

1161 ) यः स्वभावोत्थितां साधीं विशुद्धि स्वस्य बाह्यति ।

स धारयति पुण्यात्मा समत्वाधिष्ठितं मनः ॥१५॥

1162 ) तनुत्रयविनिर्मुक्तं दोषत्रयविवर्जितम् ।

यदा वेच्यात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥१६॥

1163 ) अशेषपरपर्यायैः परद्रव्यविलक्षणम् ।

निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रदूयते ॥१७॥

साम्यभावितभावानां साम्यवासितचित्तानाम् । अहं मन्ये तत्पुर्खं ज्ञानसाम्राज्यसमत्वं तुल्यताम् अवलम्बते आश्रयते । इनि सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ समधुक्तस्य स्वरूपमाह ।

1161 ) यः स्वभावोत्थितां—यः पुमान् तम्यात्मनः विशुद्धि बाह्यति । कीदृशीम् । स्वभावोत्थिताम् । पुनः कीदृशीम् । साधीं समीचीनाम् । स पुमान् पुण्यात्मा समत्वाधिष्ठितम् उपशमाश्रितं धारयति । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ साम्यत्थितिप्रकारम् आह ।

1162 ) तनुत्रय—यदा वस्मिन् समये आत्मना आत्मानं वेति जानाति । कीदृशाम् । तनुत्रयविनिर्मुक्ताम् औदारिकवैक्यकाभंगशरीरारहितम् । पुनः कीदृशाम् । दोषत्रयविवर्जितम्, जन्ममृत्युजरा-रागद्वेषमोह-भिद्यादर्दनमिथ्याज्ञानमिथ्याचारित्राणि वा, तैविवर्जितं त्यक्तम् । तदा साम्ये स्थितिर्भवेदिति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ साम्योत्पत्तिमाह ।

1163 ) अशेषपर—यदा आत्मानं स्वरूपेण निश्चिनोति निर्णयति । कीदृशमात्मानम् । परद्रव्यैः शरीरादिभिलक्षणं रहितम् । कीदृशैः परद्रव्यैः । अशेषपरपर्यायैः समस्तपरपर्यायैः । तदा साम्यं प्रसूयते उत्पन्नते । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ समत्ववतो सौख्यादिकमाह ।

अभिप्राय यह है कि केवल ज्ञानके प्राप्त होनेपर जो जीवको सुख होता है लगभग वैसा ही सुख अन्य वाय पदार्थोंके विषयमें रागद्वेषत्रुद्धि न करनेवाले सत्पुरुषोंको भी प्राप्त होता है ॥१४॥

जो पवित्र जीव अपनी (आत्माकी) स्वभावसे उत्पन्न हुई उत्तम विशुद्धिकी हङ्का करता है वह समताभावसे परिपूर्ण मनकी धारण करता है । अभिप्राय यह है कि मनके समताभावसे अधिष्ठित हो जानेपर जीव अपनी स्वाभाविक सर्वोत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त कर लेता है ॥१५॥

जब जीव अपनी आत्माको आत्माके द्वारा औदारिक, तैजस व कार्यण इन तीन शरीरोंसे तथा राग, द्वंष व मोह इन तीन दोषोंसे भी रहित जानता है तब उसका साम्यभावमें अवस्थान होता है ॥१६॥

जब जीव समस्त भिन्न पर्यायोंसे तथा परद्रव्योंसे विलक्षण—भिन्न स्वरूपवाली—अपनी आत्माका निश्चय करता है तब उसके साम्यभाव उत्पन्न होता है ॥१७॥

१. M स्थिरीभवेत् । २. S T J K R “पैरम्यद्रव्ये” । ३. Y तदा साम्ये स्थितिर्भवेत् ।

११६४ ) तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम् ।  
तस्यैव बन्धविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः ॥१८

११६५ ) यस्य हेयं न चादेयं जगद्वैश्वं चराचरम् ।  
स्यात्स्यैव मुनेः साक्षात्कुभाशुभमलक्षयः ॥१९॥ तथा हि ।

११६६ ) शाम्यन्ति जन्तवः कूरा बद्धवैराः परस्परम् ।  
अपि स्वार्थप्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ॥२०

११६४ ) स्यैवाविचलं—यस्य योगिनः समत्वं समभावः, तस्यैव अविचलं निश्चलं सौख्यम् । तस्यैव पदम् अविनाशि अव्ययं मोक्षपदम् । तस्यैव बन्धविश्लेषः बन्धवियोगः । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ जगद्वेयोपादेयाभावेन घुभागुभभावमाह ।

११६५ ) यस्य हेयं—यस्य मुनेः जगत् हेयं न । च पुनः । जगत् उपादेयं ग्राह्यं न स्यात् । कीदृशम् । विश्वं समस्तम् । पुनः कीदृशम् । चराचरं वसस्थावरम् । तस्यैव मुनेः साक्षात्कारेण शुभाशुभमलक्षयः शुभकमशुभकर्ममलनाशः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ मुनेः साम्यभाव-प्रभावमाह । तथा हि दर्शयति ।

११६६ ) शाम्यन्ति—जन्तवः प्राणिनः शाम्यन्ति उपशमं प्राप्नुवन्ति । कीदृशा जन्तवः । कूरा: कूरकर्मणः । पुनः कीदृशाः । परस्परमन्योन्यं बद्धवैराः संवितर्थाः । कस्मात् । मुनेः । साम्यप्रभावतः समलाप्तिर्मिवसांयोगादन्योन्यं प्राणिनां प्रीतिर्भवतीत्याह । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ समलाप्तिर्मिवसांयोगादन्योन्यं प्राणिनां प्रीतिर्भवतीत्याह ।

जिस योगीके समताभाव है उसीके स्थिर सुख, उसीके अविद्यार पद और उसीके बन्धका अभाव होता है ॥१८॥

जिस मुनिके लिए चर ( त्रय ) व अचर ( न्यावर एवं अन्य अचेतन पदार्थ ) पदार्थोंसे व्याप्त यह समस्त संसार न होय है और न आदेय ( ग्राह ) है उसीके साक्षात् शुभ और अशुभरूप कर्म-मलका क्षय होता है । तात्पर्य यह कि जिस मुनिके राग-द्वेष बुद्धिके द्वष हो जानेसे कोई भी परपदार्थ न ग्रहण करनेके लिए शेष रहा है और छोड़नेके लिए भी शेष रहा है उसके पुण्य और पापरूप दोनों प्रकारके कर्मकी निर्जरा होती है ॥१९॥

आगे इसीको स्पष्ट किया जाता है—अपने आत्मप्रयोजनकी भिडियें प्रवृत्त हुए मुनिके साम्यभावके प्रभावसे परस्परमें वैरभावको रखनेवाले दुष्ट जीव शान्तिको ग्राप्त होते हैं—जातिगत दुष्ट स्वभावको छोड़ देते हैं ॥२०॥

- 1167 ) भजन्ति जन्तवो मैत्र्येभन्योन्यं त्यक्तमत्सराः ।  
समत्वालम्बिना प्राप्य पादपद्माचितां क्षितिम् ॥२१॥
- 1168 ) शास्त्रनितैः योगिभिः क्रूरा जन्तवो नेति शब्दयते ।  
दावदीपमिवारण्यं यथा वृष्टैर्बलाहकैः ॥२२॥
- 1169 ) भवन्त्यतिप्रसन्नानि कश्मलान्यपि देहिनाम् ।  
चेतांसि योगिसंसर्गे अगस्त्ययोगे जलानि॑ च ॥२३॥ अपि च
- 1170 ) कुम्भनिति ग्रहयक्षकिंनरनरास्तुष्यन्ति नाकेशरा  
सुञ्चनिति द्विषदैत्यसिद्धशरभव्यालादयः क्रूरताम् ।

1167 ) भजन्ति—जन्तवो जीवा अन्योन्यं परस्परं मैत्रीं मित्रभावं भजन्ति समाथ्यन्ति । कीदृशाः । त्यक्तमत्सराः त्यक्तगुणिषु द्वेषाः । किञ्चत्य । समत्वालम्बिना साम्यभावाश्रितानां क्षिति भूयि प्राप्य । कीदृशीं क्षितिम् । पादपद्माचितां पदकश्मलपूजिताम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ योगिभिः क्रूरजन्तवः शास्त्रन्ति इत्याह ।

1168 ) शास्त्रनिति—मया हति शब्दयते । इतीति किम् । योगिभिर्कर्ततत्त्वैः क्रूराः कुद्रा जस्तवः शास्त्रन्ते॑ । कैः कर्मिव । बलाहूकैररण्यमिव यथा बलाहूकैर्मैषैररण्यं दावदीपां वक्ष्युज्वालितं शास्त्रयते विद्याप्यते । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ योगिसंबन्धे पापनाशनमाह ।

1169 ) भवन्त्यति—योगिसंसर्गे योगिसंबन्धे देहिनां चेतांसि मनांसि अतिप्रसन्नानि अतिनिर्मलानि । पुनः कीदृशानि । कश्मलान्यपि मलिनान्यपि । कस्मिन् कानीव । अगस्त्ययोगे अगस्त्यमुनिसंबन्धे जलानीव॑ । यथा अगस्त्ययोगे जलानि निर्मलानि भवन्तीति सूत्रार्थः ॥२३॥ अपि च पक्षान्तरे । अथ योगिसाम्यस्य सर्वं साध्यमाह ।

1170 ) कुम्भनिति—भुवि पृथिव्यां योगीन्द्रसमत्वं योगीश्वरसमता तत्साध्यम् । अथवा पक्षान्तरे । कि कि न स्यात् । तत्किम् । ग्रहयक्षकिंनरनराः, ग्रहाः केत्वादयः, यक्षाः व्यन्तर-

साम्यभावका आश्रय लेनेवाले मुनियोंके चरण-कमलोंसे पूजित ( अधिष्ठित ) पृथिवीको पाकर प्राणी परस्परमें भल्सरता ( द्वेष व ईर्ष्या ) छोड़कर मित्रताको प्राप्त होते हैं ॥२५॥

जिस प्रकार वर्षीको प्राप्त हुए मेषोंके प्रभावसे दावानलसे प्रज्वलित वन शान्त हो जाता है, उसी प्रकार साम्यभावको प्राप्त हुए योगियोंके प्रभावसे दुष्ट जीव अपनी क्रूरताको छोड़कर शान्त हो जाते हैं, इसमें शंका नहीं है ॥२६॥

जिस प्रकार अगस्त्य ताराके संयोगसे दरसातका मलिन जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार योगियोंके संसर्गसे प्राणियोंके मलिन भन भी अतिशय निर्मल हो जाते हैं ॥२७॥

साम्यभावके भारक योगियोंके प्रभावसे इनि आदि दुष्ट ग्रह, यक्ष, किंनर और मनुष्य ज्ञोभको प्राप्त होते हैं; वैमानिक इन्द्र सन्दुष्ट होते हैं; हाथी, देव्य, सिंह, अष्टापद और सर्प

१. All others except P M N मैत्रीम् । २. M शास्त्रन्ते । ३. Y जन्तवो दुष्टवृदयः । ४. N जलं परा, T जलानि च, F जलानि च, J X Y R जलानिवत् । ५. P M अपि च ।

रुद्रैरप्रतिबन्धविश्रमभयअर्थं जगज्ञायते  
स्याद्योर्जीन्द्रसमत्वं साध्यमथवा किं किं न सद्यो थुवि ॥२४

1171 ) चन्द्रः सान्द्रैविकिरति सुधामंशुभिर्जीवलोके  
भास्वानुग्रैः किरणपट्टैरुच्छनस्यन्धकारम् ।  
धात्री धत्ते भुवनमस्तिलं विश्वमेतत्त्वं वायु-  
र्घट्टसाम्यार्घ्यमयति तथा जन्तुजातं यतीन्द्रः ॥२५

1172 ) सारङ्गी मिहशावं स्पुशति सुतधिया नन्दिनी व्याप्रपोतं  
मार्जीरी हंसवालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम् ।

विशेषाः, किनरास्तदभेदा एव, नरा भनुष्याः, तेषां समाहारः । ते कुम्भन्ति थोर्भं धान्ति । योगिसमतासाध्यत्वमेव सर्वेषामाह । नाकेश्वरा देवेन्द्राः । तुष्यन्ति हृषिता भवन्ति । तथा द्विपदैत्यसिहशशभव्यालादयः हस्तिदैत्यसिंह-अष्टापदसप्तियः क्रूराः क्रूरभावं मुक्षन्ति । जगत् रुद्रैरप्रतिबन्धविश्रमभयभ्रष्टम् । रोगवैरी प्रसिद्धी, प्रतिबन्धः स्नेहः, तेषां विभ्रमो भ्रमः, तस्य भयं भीतिः, तेन भ्रष्टं रहितं जायते । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ योगिभिर्जीवानां साम्यसाध्यत्वमाह ।

1171 ) चन्द्रः सान्द्रैः—यथा चन्द्रः सुधाम् अंशुभिः किरणीजीवलोके विकिरति । कीदृशः । सान्द्रैः सधनीः । भास्वान् सूर्यः अन्धकारम् उच्छनन्ति । कैः । उम्रेश्वकटौ, किरणपट्टैः धामसमूहैः, अस्तिलं समस्तं, भुवनं जगत्, धात्री पृथ्वी धत्ते । च पुनः । एतद् विश्वं सर्वं वायुधेत्तं । यद्वत् यथा । तथा यतीन्द्रो योगी जन्तुजातं प्राणिसमूहं साम्यात् समतया शमयति उपशमयति । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ योगिसमीपस्थजीवानां वैराभावमाह ।

1172 ) सारङ्गी—अन्ये जन्तवो वैराणि वैरभावान् त्यज्यन्ति । कीदृशानि । आजन्मजातानि आदि दुष्टताको छोड़ देते हैं; तथा लोक रोग, विष्व-वाधा, विभ्रम ( भ्रान्ति ) और भयसे रहित हो जाता है । अथवा ठीक ही है—लोकमें योगीन्द्रोंके समताभावसे शीघ्र ही क्या-क्या नहीं सिद्ध किया जाता है ? उसके प्रभावसे सब प्रकारका अभीष्ट, सिद्ध होता है ॥२५॥

जिस प्रकार चन्द्रमा स्वभावसे अपनी सघन किरणोंके द्वारा जीवलोकमें असृतकी वर्षा करता है, जिस प्रकार सूर्य स्वभावसे अपने तीक्ष्ण किरण समूहोंके द्वारा अन्धकारको नष्ट करता है, जिस प्रकार पृथिवी स्वभावसे समस्त लोकको धारण करती है, तथा जिस प्रकार वायु ( वातवल्य ) स्वभावसे इस विश्वको धारण करती है; उसी प्रकार मुनीन्द्र स्वभावसे प्राणिसमूहको शान्त किया करते हैं ॥२५॥

जिस योगीने मोहसे रहित होकर पापको शान्त कर दिया है और असाधारण साम्य-

दैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवो ऽन्ये त्यजन्ति  
त्रित्वा साम्यैकरूदं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥२६

1173 ) एकः पूजां रचयति नतौः पारिजातप्रसूनैः  
कुदृः कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततो ऽन्यः ।  
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी  
साम्यारामं विशति परमज्ञानिदेतावकाशम् ॥२७

जन्मपर्यन्तोत्पन्नानि । अपिवाङ्कादैरस्य दीर्घकालत्वं सूचितम् । कीदृशा जन्तवः । गलितमदा: नम्हाहन्तवासः । कि छात्वा । योगिनं वित्वा । कीदृशम् । साम्यैकरूदम् उपशमैकारोहितम् । पुनः कीदृशम् । प्रशमितकलुषं प्रकर्षेण शामितपापम् । पुनः कीदृशम् । क्षीणमोहं नष्टमोहनीयम् । के ते । जन्तवो वैराणि त्यजन्ति । सारङ्गी हरिणी सिंहशाखं सिंहबालं सृशति परामृशति । कथा । सुतधिया । कस्मात् । प्रणयपरवशात् स्नेहतरात्मसात् । इति सर्वत्र योज्यम् । केकिकान्ता मयूरखो भुजगं सार्पसूतधिया स्पृशति । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ योगिनः साम्यरूपमाह ।

1173 ) एकः पूजां—स योगी साम्यारामं साम्यदत्तं प्रविशति । कीदृशां साम्यारामम् । परमज्ञानैदत्तावकाशं प्रकृष्टज्ञाने दत्तावकाशम् । स इति कः । एको नरः<sup>१</sup> । यस्य योगिनः पारिजात-प्रसूनैः कल्पद्रुमपुष्पैः पूजां रचयति । कीदृश एकः । नतः नशीभूतः सन् । ततो ऽन्यः पुरुषः कण्ठे भुजगं सर्पं कुदृः सन् क्षिपति । कि कर्तुकामः । हन्तुकामो मारणोद्यतः । यस्य नित्यं पूजकाहन्तुकयोः तुल्या वृत्तिर्भवति । चकारः प्रकान्तरसूचकः । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथान्तःकरणशुद्धस्य साम्य-भावमाह ।

भाष्को प्राप्त कर लिया है उसका आश्रय पाकर सूर्गी सिंहके अन्तर्वेको पुत्रके समान स्नेहसे सर्पी करती है, गाय व्याघ्रके वर्णवेसे बछड़के समान प्रेम करती है, विलली हंसके वर्णवेसे स्नेह करती है, तथा मशूरी स्नेहके वशीभूत होकर सर्पका सर्पका सर्पी करती है। इसी प्रकार अन्य प्राणी भी अभिमानसे रहित होकर उक्त योगीके प्रभावसे जन्मसे उत्पन्न हुए भी वैरभावको छोड़ देते हैं ॥२८॥

एक मनुष्य तो नश छोकर पारिजात पुष्पोंके द्वारा पूजा को रचता है और इसके विपरीत दूसरा कोशको प्राप्त होकर धात करनेकी इच्छासे गलेमें सर्पको ढालता है। इन दोनोंके विषयमें जिसका व्यवहार सर्वदा समान होता है—जो पूजा करनेवालेके ऊपर प्रसन्न नहीं होता और सर्प ढालनेवालेके ऊपर कोशको प्राप्त नहीं होता है—वह योगी उत्कृष्ट ज्ञानियोंके लिए जिसमें स्थान दिया गया है ऐसे समताभावस्वरूप उत्तानमें प्रवेश करता है ॥२८॥

1174 ) नो<sup>१</sup> उरुण्यास्त्रगरं न मित्रमहिसाङ्गोष्ठाच्च जाम्बूनदं  
न स्नागदामं भुजंगमाच्च दृष्टस्तन्यं शशाङ्कोज्जवलम् ।  
यस्यान्तःकरणौवलम्बि कलयत्युच्छृष्टतामीषद-  
प्यायस्तं<sup>२</sup> परमोपशान्तपैद्रीमारुद्धमाचक्षते ॥२८

1175 ) सौधोत्सङ्गे इमशाने स्तुतिशष्ठनविधौ कर्दमे कुड्डमे वा  
पञ्चङ्गे कण्टकाग्रे दृष्टदि शशिमणी चर्मचीनाशुकेण ।  
शीणाङ्गे दिव्यनार्यामसभशमवशाद्यस्य चित्तं विकल्पै-  
नलीढं सो उथमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासम् ॥२९

1174 ) नो उरुण्यात्—यस्य योगिनः अन्तःकरणे चित्तं कलया लेशमात्रेण ईषदपि स्तोकमपि  
उत्कृष्टतां न विभर्ति । अरुण्याद् वनान्नगरं नोत्कृष्टतां कलया लेशमात्रेण विभर्ति । अहितात् शत्रोः  
मित्रं नोत्कृष्टतां विभर्ति । यस्यान्तःकरणं चित्तम् इति सर्वत्र योज्यम् । लोष्ठात् पाषाणात् जाम्बूनदं  
स्वर्णं नोत्कृष्टतां विभर्ति । भुजङ्गमात् सर्पत् स्नागदामं पुष्यादिदामं नोत्कृष्टतां विभर्ति । दृष्टदः  
शिलायाः तत्ये शश्या नोत्कृष्टतां विभर्ति । कीदृशं तत्पम् । शशाङ्कोज्जवलम् । आर्या विद्वांसः तं  
योगिनम् आचक्षते कथयन्ति । कीदृशं तम् । परमोपशान्तपदवीं प्रकृष्टोपशमश्रेणिम् आरुद्धम्  
आरोहितम् । इति सूत्राण्यः ॥२८॥ अथ शमलीलावता स्वरूपमाह ।

1175 ) सौधोत्सङ्गे—अयं स एकः । कीदृशः । कुशलः चतुरः । स इति कः । यस्य चित्तं  
विकल्पैः संकल्पैनलीढम् । कस्मात् । असदूशोपशमवशात् । कव । सौधोत्सङ्गे  
धबलगृहे, इमशाने । साम्यलीलाविलासम् इति सर्वत्र योज्यम् । तथा स्तुतिशष्ठनविधौ, केनचित्

जिसके अन्तःकरणका अवलम्बन लेकर नगर वनकी अपेक्षा, मित्र शशुकी अपेक्षा,  
सुवर्ण देलेकी अपेक्षा, माला सर्पकी अपेक्षा, तथा चन्द्रमाके समान निर्मल शश्या पत्थरकी  
अपेक्षा किंचित् भी उत्कृष्टताका अनुभव नहीं करती है; उसे पूज्य पुण्य अतिशय उपशान्त  
मार्गपर आरुढ़ हुआ बतलाते हैं । अभिप्राय यह है कि जो नगरादिको अभीष्ट समझकर  
उपादेय तथा उसके विपरीत वनादिको अनिष्ट समझकर हेय नहीं मानता है, किन्तु वोनोंकि  
ही विषयमें समताभावका आश्रय लेता है; उसके ही कषायोंका उत्कृष्ट उपशम समझना  
चाहिए ॥२९॥

जिसका मन असाधारण समताभावके प्रभावसे प्रासादके मध्यभाग व इमशानमें,  
स्तुति व शापमें, कीचड़ व केसरमें, पलंग व कैटेकी नोकमें, पत्थर व चन्द्रकान्त मणिमें,  
चमड़ा व रेशमी वस्त्रमें तथा गलितशरीर व दिव्य स्त्रीके विषयमें राग-द्वेषरूप विकल्पोंसे

१. M N T F नारुण्यात् । २. M N सम्भीमभुजः । ३. M N J न्तःकरण, All others except P  
करणे विभर्ति कलया नोत्कृष्टतां । ४. L प्यायस्ते । ५. M Y शान्तिपदवी । ६. All others except  
P M Y शीणाङ्गे ।

- 1176 ) चलत्यचलमालेयं कदाचिद्वैवदोषेतः ।  
नोपसर्गैरपि स्वान्तं सुनेः साम्यप्रतिष्ठितम् ॥३०  
1177 ) उन्मत्तमथ विश्रान्तं दिव्यमृदं सुसमेव वै ।  
साम्यस्थस्य जगत्सर्वं योगिनः प्रतिभासते ॥३१  
1178 ) बाचस्पतिरपि ब्रूते यद्यज्ञस् समाहितः ।  
बक्तुं तथापि शक्नोति न हि साम्यस्य वैभवम् ॥३२

स्तुतिः कृता, तेनैव यापनं कृतम् । तथैव कदम्बे कुडुम्बे वा पङ्कुचन्दनलेपे साम्यलीलाविलासं कलयति । तथा पल्यङ्के कण्टकाणे, दृष्टिपाषाणे, शशिमणी, पटुकूले, चर्मचीनांशुकेऽप्यु चर्मकम्बे तथा शीणाङ्गे जर्जरिताङ्गे दिव्यतार्या दिव्यरूपखियां सोऽयं चित्तं साम्यलीलाविलासं कलयति । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अ [ थ मुनेऽन्वेत्त अचल ] माह ।

1176 ) चलत्यचल—इयम् अचलमाला पर्वतसमूहः कदाचिद्वैवयोगतः तथोपसर्गैरपि मुनेः स्वान्तं चित्तं साम्यप्रतिष्ठितम् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ साम्यस्थस्य योगिनो जगत्प्रतिभास-कारणमाह ।

1177 ) उन्मत्तमथ—योगिनः सर्वं जगत् प्रतिभासते । कीदृशस्य मुनेः । साम्यस्थस्य समतास्थितस्य । कीदृशम् । उन्मत्तं पीतमदिरावतो विवेकाभावात् उन्मत्तता जगतः । पुनः कीदृशम् । अथेति पक्षान्तरे । विश्रान्तं विशेषेण आन्तं अमयुक्तम् । पुनः कीदृशम् । दिङ्मूढस् । स्वगतेः परिज्ञानाभावात् । वा अथवा । सुतं नष्टसकलज्ञानपदार्थत्वात् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ साम्यवैभवस्यावकाश्यतामाह ।

1178 ) बाचस्पतिरपि—साम्यस्य वैभवं माहात्म्यं बाचस्पतिः ब्रूहस्पतिरपि यदि अजलं निरन्तरं न शक्नोति समर्थो भवति । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ योगिनामल्लत्वमाह ।

नहीं शुआ गथा है वही एक यह कुशल योगी समताभावकी लीलाके विलासका अनुभव करता है । तात्पर्य यह कि जो इष्ट व अनिष्ट प्रतिभासित होनेवाले पदार्थोंके विषयमें कभी राग व द्वेषको नहीं करता है उसे ही उक्त योगी साम्यभावके आश्रयसे होनेवाले निराकुल सुखका अनुभव हुआ करता है ॥२९॥

दैवके दोषसे कदाचित् यह पर्वतपर्कि भले ही विचलित हो जाय, परन्तु साम्यभावमें प्रतिष्ठित—उसका आश्रय लेनेवाला—मुनिका मन उपद्रवोंके द्वारा भी कभी विचलित नहीं होता है ॥३०॥

जो योगी साम्यभावका आश्रय ले चुका है उसको समस्त जगत् उन्मत्त ( पागल ), विपरीतताको प्राप्त, दिशाको भूला हुआ अथवा सोया हुआ जैसा प्रतिभासित होता है ॥३१॥

यदि शृहस्पति भी एकाग्रचित्त होकर निरन्तर इस साम्यभावके वैभवकी प्रखण्डणा करे तो वह भी उसके वैभवका दर्शन नहीं कर सकता है ॥३२॥

१. All others except P M N दैवयोगतः । २. J साम्यं । ३. T च for वा । ४. N L S T F R read कुञ्जशावल etc. at the end of this chapter, others read this verse as the

1179 ) 'दुष्प्रज्ञावल्लुप्तस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया  
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यतो देहिनः ।  
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैनिवाप्य जन्मानलं  
ये मुक्तेवंदनेन्दुबीक्षणपरास्ते सन्ति नो वा यदि ॥३३

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-  
विरचिते साम्यप्रकरणम् ॥२२॥

1179 ) दुष्प्रज्ञा—प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यतोः स्वस्वस्वार्थोद्यताः सावधाना विद्यन्ते । कीदृशा देहिनः । दुष्प्रज्ञावल्लुप्तस्तुनिचया: दुर्बुद्धिबललोपितपदार्थसमूहाः । पुनः कीदृशाः । विज्ञानशून्याशया: विशिष्टज्ञानशून्यचित्ताः । एतादृशाः प्रतिमन्दिरं विद्यन्ते सन्ति । ते पुरुषा यदि द्वित्रां द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । ते के । ये मुक्तेवंदनेन्दुबीक्षणपराः मोक्षस्य वदनचन्द्रदर्शनसावधानाः । किं कुत्वा । जन्मानलं जन्माग्निं निवाप्य विद्ययाप्य । कैः । आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैः हर्षसुवारस-समुद्रविन्दुसमूहैः । इति सूत्रार्थः ॥३३॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवमूलसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितश्चविलासेन साहस्रासा तत्पुत्रसाहस्रोडर तत्पुत्रसाहस्रीरिपिदासेन स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन कारणितं साम्यप्रकरणं समाप्तम् ॥२२॥

स्वस्वत् श्रीपार्वत्साहः समभवदधिकं पुण्यप्रागभारमूलित्सद्विद्योद्योतनेनः परमकरणास्तच्छ-  
चेता महेभ्यः । साहश्रीटोडरात्मः सुकृतविपिने पुष्करावतभेदस्तत्पुत्रः श्रीविलासो जयति जगती-  
मण्डले रेपिदासः ॥१॥ इति आशीर्वदिः । अथ पुनः साम्यस्वरूपमाह ।

जिन्होंने दुष्ट बुद्धिके प्रभावसे वस्तुसमूहको—उसकी यथार्थताको—मष्ट कर दिया है, तथा जिनका हृदय विज्ञान ( विवेकबुद्धिं च विशिष्टं ज्ञानं ) से रहित है ऐसे अपने-अपने स्वार्थमें मम्न रहनेवाले प्राणी तो धर-धरमें विद्यमान हैं—सर्वत्र पाये जाते हैं । परन्तु जो आनन्दरूप अमृतसमुद्रके जलकणोंके समूहसे संसाररूप अमिको बुझाकर मुक्तिरूप कान्ताके मुखावलोकनमें तत्पर हैं वे हैं अथवा हैं ही नहीं हैं—बहुत ही थोड़े हैं ॥३३॥

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र-विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
साम्य प्रकरण समाप्त हुआ ॥२२॥

first verse of the next chap. । P, however, writes this on the margin at the beginning of the next Chapter; M om.

१. N दुष्प्रज्ञानपि लघ्ववस्तु । २. S K Y R स्वार्थो दिता । ३. T जन्मज्वरं । ४. All others except P सन्ति दिता यदि ।

## [ आर्तध्यानम् ]

1180 ) सौम्यश्रीनातिनिःशङ्कं सतामपि हृदि स्थितिम् ।

धर्मे सुनिश्चलध्यानसुधासंबन्धवर्जिते ॥१॥

1181 ) यस्य ध्यात्वं निश्चलम् यस्य वर्त्तम् तस्य निश्चलम् ।

मानयोविद्युधिष्ठानमन्योन्येस्माद् विभेदतः ॥२॥

1182 ) साम्यमेव न सदृथानांत् स्थिरीभवति केवलम् ।

शुद्ध्यत्यपि च कर्मधिकलङ्घी यन्त्रवाहकः ॥३॥

1180 ) साम्यश्री—साम्यश्रीः समतालक्षणीः अतिनिःशङ्कं यथा स्यात् सतामपि हृदि स्थिर्ति मर्यादां अन्ते । कीदृशे । सुनिश्चलध्यानसुधासंबन्धवर्जिते सु [स्व] अश्चलताध्यानामृतसंयोग-रहिते । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथानयोरन्योन्यं भेदाभेदमाह ।

1181 ) यस्य ध्यानम्—यस्य योगिनः ध्यानं वश्यमाणं सुनिःकर्मं समत्वं समतारूपं निश्चलं भवति, तस्य निश्चलो ( ? ) जनयोध्यनिसाम्ययोः भेदतः अधिष्ठानं न । अन्योन्यं परस्पर-भविष्यत्तमवस्थितं स्यात् । तत्र विभिरस्तस्त्वम् ( ? ) इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ ध्यानसाम्ययोः परस्परं शुद्धिष्ठाह ।

1182 ) साम्यमेव—सदृथानात् प्रधानध्यानात् केवलं साम्यमेव न स्थिरीभवति । अपि च पक्षाभ्यर्थे । यन्त्रवाहको जीवः शुद्ध्यति । कीदृशः । कर्मधिकलङ्घी कर्मसमूहकलङ्घवान् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ समत्वे शुद्धिष्ठानमाह ।

समतारूप लक्षणी अतिशय स्थिर ध्यानरूप अमृतके सम्बन्धसे रहित सत्पुरुषोंके भी दृढ़यमें निर्भयतापूर्वक स्थितिको नहीं धारण करती है । अभिश्राय यह है कि जब प्राणीका हृदय स्थिर ध्यानमें उत्तम होता है तब ही वह समताभाव-उसके हृदयमें अवस्थित होता है ॥१॥

जिसका ध्यान अतिशय निश्चल है उसके स्थिर साम्यभाव होता है । इन दोनोंके परस्परके भेदसे—एककी दूसरेके बिना—उनकी स्थिति सम्भव नहीं है, ऐसा निश्चय करना चाहिए ॥२॥

समीचीन ध्यानसे केवल साम्यभाव ही स्थिर नहीं होता है, बल्कि, कर्मसमूहसे मलिन हुआ यह शरीरधारी आत्मा उससे शुद्ध होता है ॥३॥

१. M साम्य । २. F सुनिश्चलम् । ३. M N समत्वं । ४. All others except P साम्ययोः । ५. All others except P °त्योन्यं स्यात् । ६. M N I. विभेदवत् । ७. N ध्यान ।

- 1183 ) यदैव संयमी साक्षात् समत्वमवलम्बते ।  
स्यात्तदैव परं ध्यानं तस्य कर्मचिद्गतकम् ॥४
- 1184 ) अनादिविभ्रमोद्भूतं रामादितिमिरं घनम् ।  
स्फेट्यत्याशु जीवस्य ध्यानार्कः प्रविजृमितः ॥५
- 1185 ) भवज्वलनसंभूतमहादाहशान्तये ।  
शब्द ध्यानाम्बुद्धीरैरवगाहः प्रशस्यते ॥६
- 1186 ) ध्यानमैवापवर्गस्य मुख्यमेकं निवन्धनम् ।  
/ तदेव दुरितव्रातगुरुकक्षेहुताशनः ॥७

1183 ) यदैव—संयमी चारित्रयुक्तः यदेव साक्षात्प्रकारेण समत्वं समतामवलम्बते आश्रयते तदैव तस्य संयमिनः परं प्रकृष्टं कर्मचिद्गतकं कर्मसमूहताशकं स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ ध्यानस्य फलमाह ।

1184 ) अनादि—ध्यानार्को ध्यानसूर्यः । आशु शीघ्रं रागादितिमिरं रामाद्यन्धकारं स्फेट्यति । कीदृशम् । घनं निविडम् । पुनः कीदृशम् । अनादिविभ्रमोद्भूतम् अनादिविभ्राम्योदयम् । कीदृशः ध्यानार्कः । प्रविजृमितः प्रयतिः । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ पुनरपि ध्यानफलमाह ।

1185 ) भवज्वलन—धीरैर्धीरपुरुषैरवगाहो इत्यासः प्रशस्यते इत्याश्चते । गश्वविरन्तरम् । कस्य । ध्यानाम्बुद्धीर्ध्यानिसमुद्रस्य । कस्यै । भवज्वलनसंभूतमहादाहशान्तये भवाग्निसंजात-महासंतापशान्तिनिमित्तमिति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ पुनर्ध्यानिस्य मोक्षकारणत्वमाह ।

1186 ) ध्यानमेव—अपवर्गस्य योक्षण्य मुख्यं प्रधानम् एकम् अद्वितीयं निवन्धनं कारणं ध्यानमेवादित । तदेव ध्यानं दुरितव्रातगुरुकक्षेहुताशनं पापसमूहगरिष्ठवनहुताशनम्<sup>१</sup> अग्निम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ कुवासनात्यागेन ध्यानस्य भोक्षसाधनत्वमाह ।

संयमका धारक मुनि जब प्रगटमें समताभावका आश्रय लेता है तभी उसके कर्मसमूह-को नष्ट करनेवाला उक्तकृष्ट ध्यान होता है ॥४॥

जीवका विकसित हुआ ध्यानरूप सूर्य उसके अनादिकालीन मिश्याङ्गानसे उत्पन्न हुए सघन रागादिरूप अन्धकारको शीघ्र ही नष्ट कर देता है ॥५॥

धीर ( गणधररादि ) पुरुष संसाररूप अग्निके संयोगसे उत्पन्न हुए तीव्र सन्तापकी शान्तिके लिए निरन्तर ध्यानरूप समुद्रके स्नानकी प्रशस्ति करते हैं ॥६॥

/ मोक्षका मुख्य कारण एक वह ध्यान ही है । वही ध्यान पापसमूहरूप विस्तृत बनके भस्म करनेके लिए अग्निके समान है ॥७॥

१. S J K X Y R लकुट्यत्याशु । २. T<sup>०</sup>मेकान्तिष्ठानं । ३. F शुष्कवृक्ष for गुणकथ । ४. T J K X Y R<sup>०</sup>शनं ।

- 1187 ) अपास्य स्वण्डविज्ञानरसिकां पापवासनाम् ।  
 असद्यानानि चादेयं ध्यानं मुक्तिप्रसाधकम् ॥८
- 1188 ) अहो कैश्चिन्महामृदैरज्ञैः स्वपरबन्धकैः ।  
 ध्यानान्यपि ग्रणीतानि श्वभ्राताय केवलम् ॥९
- 1189 ) विषायते अमृतं यत्र ज्ञानं मोहायते अथवा ।  
 ध्यानं श्वभ्रायते कर्णं नृणां चित्रं विचेष्टितम् ॥१०
- 1190 ) अभिचारपरैः कैश्चित् कामकोषार्थात्वचितैः ।  
 भोगार्थमरिधातार्थं क्रियते ध्यानमुद्भृतैः ॥११

1187 ) अपास्य—मुक्तिप्रसाधक मुक्तिकारणं ध्यानमादेयं ग्राह्यम् । पापवासनाम् अपास्य तयक्त्वा । कीदूर्णां पापवासनाम् । स्वण्डविज्ञानरसिकाम् अर्थज्ञानं पाखण्डज्ञानं तत्र रसिकामिति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ केषाचिद् ध्यानं दुर्गतिसाधनत्वमाह ।

1188 ) अहो कैश्चित्—अहो [ इ ] त्याक्षये । अजंमूर्खैः केवलं श्वभ्राताय नरकप्रताय ग्रणीतानि । कानि । ध्यानानि । कीदूर्जैरज्ञैः । महामृदैर्भूखैः स्वपरबन्धकैः स्वस्य परस्य [ च ] बन्धकैः । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ ध्यानं कायान्तरार्थं कैश्चित् क्रियत इत्याह ।

1189 ) विषायते—अमृतं यत्र विषायते नृणां चित्रं विचेष्टितं विपर्याच्चरते । यत्र ज्ञानं मोहायते । अथवा तेषां नृणां ध्यानं श्वभ्रायते नरकायते । तेषामेव विचेष्टितं कर्तव्यं चित्रं भानाप्रकारं कर्णं कष्ठदायि । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ ध्यानं कायान्तरार्थं कैश्चित् क्रियत इत्याह ।

1190 ) अभिचार—कैश्चित् उद्भृतैः उत्कटैः पाखण्डभिर्धर्यानि क्रियत इति संबन्धः । कीदूर्लोः । अविचारपरैविचाररहितैः । पुनः कीदूर्लोः । कामकोषार्थात्वचितैः कामकोषयोरात्तिः पीडा तथा

आंशिक ( क्षायोपशमिक ) विजिष्ट ज्ञानके विषयमें आनन्द भासनेवाली पापवासनाको तथा निकृष्ट ध्यानोंको भी नष्ट करके मुक्तिके सिद्ध करनेवाले समीचीन ध्यानको प्रहृण करना चाहिए ॥८॥

स्वयं अपनेको और दूसरोंको भी उग्नेवाले कितने ही अतिशय मूढ़ अज्ञानी जनोंने केवल नरकवासके कारणमूत ध्यानोंका भी निरूपण किया है, यह खेदकी बात है । अभिप्राय यह है कि कितने ही अज्ञानी जनोंने ऐसे भी ध्यानोंका वर्णन किया है, जो असमीचीन होनेसे एकमात्र नरकवासिके कारण हैं ॥९॥

अथवा जहाँ असूत विषरूप परिणत होता है, और ज्ञान अज्ञानरूप परिणत होता है, कहु है कि वहाँ ध्यान नरकका कारण बन जाता है । ठीक है—मनुष्योंकी प्रवृत्ति अनेक प्रकारकी होती है ॥१०॥

काम और कोषकी पीड़ासे ठगे गये कितने ही अभिमानी या उन्मत्त जन अभिचार

११९१ ) ख्यातिपूजाभिमानातेः कैविद्वोक्तानि सुरिभिः ।

पापाभिचारकर्मणि क्रूरशास्त्राण्यनेकधा ॥१२

११९२ ) अनासा वशकाः पापा दीना मार्गद्वयच्युताः ।

दिशन्त्येष्वनात्मजा ध्यानमन्त्यन्तभीतिदम् ॥१३॥ आस्तां तावत् ।

११९३ ) संसारसंक्रमथान्तो यः शिवाय विचेष्टते ।

स युक्त्यागमनिष्ठाते विवेच्य पथि धर्तते ॥१४

वशितैः विप्रतारितैः तेधर्यनि किमर्थं क्रियते । भोगार्थम्, इह परलोके इन्द्रियमुखार्थम् । पुनः किमर्थम् । अरिधातार्थं शत्रुमारणार्थं दुष्टदेवताध्यानं मन्त्रे क्रियते । इति भावार्थः ॥११॥ अथान्यकृतशास्त्राणां वैफल्यमाह ।

११९१ ) ख्यातिपूजा—कैश्चित् सुरिभिः पण्डितैरनेकधा नानाप्रकारकूरशास्त्राणि दुप्रशास्त्राणि उक्तानि प्रतिपादितानि । कूरत्वमेवाह । कीदृशानि । पापाभिचारकर्मणि यत्प पापजनकम् अभिचारकर्म मैथुनकर्म वेषु तानि । कीदृशी सुरिभिः । ख्यातिपूजाभिमानातेः, ख्यातिः प्रसिद्धिः, पूजा इष्टवस्तुप्राप्तिः, ताम्याम् अभिमानः अहंकारः तेनातेः पीडितः । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ मिथ्यादृषीनां ध्याने कूराणामिव स्वभावमाह ।

११९२ ) अनासाः—अनासाः पिथ्यादुष्टयः अन्येषु शास्त्रेषु ध्यानं दिशन्ति कथयन्ति । कीदृशा वशकाः । मिथ्योपदेशेन लोकान् वश्यन्ति ते वशकाः । पुनः । पापोपदेशकाः । दीना वराकाः । पुनः कीदृशाः । मार्गद्वयच्युताः निश्चयव्यवहारमार्गरहिताः । पुनः कीदृशाः । आत्मज्ञानरहिताः । कीदृशी ध्यानम् । “अत्यन्तभीतिदं अधिकभयप्रदम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ आस्तां तावत् । एतत्तिष्ठतु ।

११९३ ) संसार—यो मनुष्यः शिवाय मोक्षाय विचेष्टते । कीदृशी यः । संसारसंक्रमथान्तः । संसारे चतुर्मितिरूपे यः संक्रमः परिभ्रमः तेन श्रान्तः खिन्नः स मनुष्ये युक्त्या पथि सम्यग्दर्शनादिके (दूसरे के बधके लिए किया जानेवाला यन्त्रादिका प्रयोग) में उश्त होकर भोगके लिए व शनुके धातके लिए ध्यान किया करते हैं ॥१४॥

कितने ही आचार्यानि प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा एवं अभिमानसे पीडित होकर पाप स्वरूप अभिचार कर्ममें प्रवृत्त करनेवाले अनेक प्रकारके सदोप शास्त्रोंको रचा है ॥१२॥ जो स्वर्य आप (देव) नहीं हैं, दूसरोंको ठगनेवाले हैं, पापिष्ठ हैं, दीन हैं तथा इस लोक व परलोकके मार्गसे अष्ट हैं वे यदि आत्मस्वरूपसे अनभिज्ञ होकर अतिशय भयको उत्पन्न करनेवाले ध्यानका उपदेश मूर्खजनोंके मध्यमें करते हैं तो भले ही करें—उनको छोड़कर बुद्धिमान् मनुष्य उनके इस उपदेश को ग्रहण करनेवाले नहीं हैं ॥१३॥

और तो रहे—जो विवेकी जीव संसार परिभ्रमणसे थककर मोक्षके लिए चेष्टा करता है,

१. J दीना पापा । २. All others except P M दिशन्तवज्ञे<sup>०</sup> । ३. All others except P मत्यन्त ।

४. N S T J K R om. । ५. J K R संभ्रम ।

1194 ) उक्तं च—उत्तमसंहनमस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।  
उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्ततः ।

ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधो चुधोत्तमाः ॥१४\*१

1195 ) एकचिन्तानुरोधो यस्तद्ध्यानं भावनाः पराः ।  
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्जैरभ्युपयम्यते ॥१४\*२॥ इति ।

वर्तते । कीदूषे पथि । आगमनिर्णति आगमेन निर्णीतः आगमनिर्णीतः तस्मशाश्वमनिर्णीति । कि कुल्वा । विवेच्य विचार्य । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे । ध्यानस्वरूपमाह । उत्तम संहनमस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् एतदर्थः ।

1194 ) उत्कृष्टकाय—उत्तमसंहनमस्य उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोर्यतिमः अन्तर्मुहूर्तात् अन्तर्मुहूर्ततः एकाग्रचिन्तानिरोधीनि । अथ पक्षान्तरे । एकाग्रचिन्तारोधे ध्यानमाहुर्धोत्तमाः पण्डिताः । इति सूत्रार्थः ॥१४\*१॥ अथ पुनरपि ध्यानमाह ।

1195 ) एकचिन्ता—एकचिन्तानिरोधो<sup>५</sup> यः तद्ध्यानं कथितम् । अपरा एकचिन्तानिरोधादपरा भावना । वा अथवा । अनुप्रेक्षार्थचिन्तातज्जैः ध्यानशायकैः अभ्युपगम्यते अङ्गीक्रियते । इति सूत्रार्थः ॥१४\*२॥ अथ ध्यानस्य द्विविद्यमाह ।

वह युक्ति और आगम से निश्चित मार्गमें ही विवेकके साथ प्रवृत्त होता है—वह अन्य दुर्बुद्धियोंके द्वारा निर्दिष्ट दुर्ध्यानमें प्रवृत्त नहीं होता है ॥१५॥ कहा भी है—

एकाग्रचिन्तानिरोध अर्थात् चिन्तनको अन्य विषयोंकी ओरसे हटाकर किसी एक प्रमुख विषयकी ओर लगाता, इसका नाम ध्यान है । वह उत्तम संहनमवाले—वर्षार्थभवञ्चनाराच्च-संहनन, वर्जनाराच्चसंहनन और नाराच्चसंहनन इन तीन उत्तम संहननोंमेंसे किसी भी संहननके धारक—जीवके अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है । [ त. सू. ९-२७ ]

चिद्रानोमें श्रेष्ठ गणधरादि एकाग्रचिन्तानिरोधको ध्यान अतल्याते हैं । वह उत्कृष्ट शरीरबन्धन ( संहनन ) से संयुक्त साधुके अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है ॥१४\*१॥

किसी एक ही विषयकी ओर जो चिन्ताको रोका जाता है, इसका नाम ध्यान है । इससे भिन्न भावनाएँ होती हैं—उनमें संसारशारीर आदि अनेक विषयोंकी ओर चिन्ताका दृक्काव होता है । भावनाओंके द्वारा उन भावनाओंको अनुप्रेक्षा अथवा अर्थचिन्ता भी स्वीकार करते हैं ॥१४\*२॥

१. P M L F X Y उक्तं च ( F ) तत्त्वार्थसूत्रम् । २. M N चिन्तारोधः । ३. K चिन्तनिरोधः,  
All others except P निरोधो । ४. S F K X Y R ध्यानभावना । ५. All others except  
P M T भावना परा । ६. P M N इति ।

1196 ) प्रशस्तेतरसंकल्पवशात्तद्विद्यते द्विधा ।

इष्टानिष्टफलप्राप्तेवीजभूतं शरीरिणाम् ॥१५

1197 ) अस्तरागो मुनिर्यत्र वस्तुतस्वं विचिन्तयेत् ।

तत्प्रशस्तं मतं ध्यानं सूरिभिः शीणकलमषैः ॥१६

1198 ) अज्ञातवस्तुतस्वस्य रागाद्युपहृतात्मनः ।

स्वातन्त्र्याद् वृत्तिर्याजन्तोस्तदसद्यानमुच्यते ॥१७

1199 ) आर्तरौद्रविकल्पेन दुर्ध्यानं देहिनां द्विधा ।

द्विधा प्रशस्तमप्युक्तं धर्मशुक्लविकल्पतः ॥१८

1196 ) प्रशस्तेतर—तद् ध्यानं द्विधा द्विप्रकारं भिद्यते भेदवद्भवति । कस्मात् । प्रशस्तेतर-संकल्पवशात् प्रशस्तः शुभः, हतरो शुभः प्रशस्तवचेतरज्ञ प्रशस्तेतरः शुभाशुभः यः संकल्पो उच्यवसायः तद्वात् । पुनः कीदृशं ध्यानम् । शरीरिणां प्राणिनामिष्टानिष्टफलप्राप्तिः मनोज्ञामनोज्ञफलागमनस्य बीजभूतं कारणभूतम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ तयोरात्मभेदमाह ।

1197 ) अस्तरागः—सूरिभिराचार्यः तत् प्रशस्तं ध्यानं मतं कथितम् । कीदृशीः सूरिभिः । शीणकलमषैः गतपापैः । तत् किम् । यत्र ध्याने मुनिरस्तरागः सम् गतरागद्वेषः सम् वस्तुतस्वं परमार्थस्वरूपं विचिन्तयेत् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथाशुभध्यानस्य स्वरूपमाह ।

1198 ) अज्ञात—अभ्योर्जीविस्य तदसद्यानम् शशुभध्यानम् उच्यते । अज्ञातवस्तुतस्वस्य जीवस्य स्वातन्त्र्यवृत्तिर्याजन्तो । कीदृशस्य । रागाद्युपहृतात्मनः रागाद्युपहृतः व्याप्तः आत्मा यस्य सः तस्य । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ पक्षान्तरेण ध्यानद्वैविद्यमाह ।

1199 ) आर्तरौद्र—देहिनां प्राणिनाम् आर्त [ रौद्रविकल्पेन ] दुर्ध्यानिं द्विधा । प्रशस्तमपि

बहु ध्यान प्रशस्त विचार ( ध्यान ) और अप्रशस्त विचारके बासे दो भेदरूप हैं जो प्राणियोंको कमज़ाः हष्टफल ( स्वर्गादि ) और अनिष्ट फल ( नरकादि ) की प्राप्तिका कारण होता है ॥१५॥

जिस ध्यानमें मुनि रागसे रहित होकर वस्तुस्वरूपका विचार करते हैं उसे पापसे रहित हुए आचार्य प्रशस्त ध्यान मानते हैं ॥१६॥

जो लीब वस्तुस्वरूपके यथार्थ ज्ञानसे रहित है तथा जिसका मन राग-द्वेषादि विकारोंसे आहत है उसके मनकी जो स्वतन्त्रतामें प्रवृत्ति होती है—वह जो यद्वा तद्वा विचार करता है—उसे अप्रशस्त ध्यान कहा जाता है ॥१७॥

प्राणियोंका यह दुर्ध्यान ( अप्रशस्त ध्यान ) आर्त और रौद्रके भेदसे दो प्रकारका है । पूर्वोक्त प्रशस्त ध्यान भी धर्म और शुक्लके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है ॥१८॥

१. P प्राप्ते बीज, N प्राप्तेहेतु । २. All others except P M I. K स्वातन्त्र्यवृत्तिर्याज्ञामनोज्ञवृत्तिर्याज्ञामनोज्ञ K वृत्तिर्याज्ञामनोज्ञ । ३. M धर्म्य ।

1200 ) स्थातां तत्रार्तरौद्रे द्वे दुध्यनि इत्येन्तदुःखदे ।  
धर्मशुक्ले ततो इन्ये द्वे जन्मसंबन्धशुद्धिदे ॥१९

1201 ) प्रत्येकं तु चतुर्भेदैश्चतुष्टयमिदं भवतम् ।  
अनेकवस्तुसाधम्यवैधम्यलिङ्गनं यतः ॥२०॥तत्त्वार्था—  
1202 ) ऋते भवत्यात्म स्थादसद्व्यानं शरीरिणाम् ।  
दिङ्मोहोन्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात् ॥२१

द्विषा भवति । कस्मात् । धर्मशुक्लविकल्पतः धर्मध्यानशुक्लध्यानभेदात् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥  
अथार्तरौद्रधर्मशुक्लानां फलमाह ।

1200 ) स्थाताम्—तत्र द्वे आर्तरौद्रे दुध्यनि तीव्रदुःखदे दुःखदाविनी स्थातां भवेताम् । तत्र  
आर्तरौद्रदुध्यनिवादपरे धर्मशुक्ले द्वे इन्ये । कीदूजे । कर्मनिर्मूलनक्षमे\* कर्मक्षणपणसमर्थे स्थातामिति  
सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ व्यावस्थ्य चातुर्विद्यमाह ।

1201 ) प्रत्येकं तु—इदं चतुष्टयं मतं कथितम् । प्रत्येकं तु पादपूरणे । चतुर्भेदैः चतुःप्रकारैः ।  
यतः कारणादनेकवस्तुसाधम्यवैधम्यविलिङ्गनम् । अनेकवस्तुनां यसाधम्ये समानधर्मता-विरुद्धधर्म-  
तयोरालम्बनम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ तत्त्वार्था दर्शयति ध्यानचतुष्टयार्थम् ।

1202 ) ऋते भवतम्—ऋते सकाशाद् भवते जातम् अथार्तमार्तनामासद्व्यानं शरीरिणं  
प्राणिनां भवति । कीदूशमार्तमसद्व्यानम् । दिङ्मोहोन्मत्ततातुल्यं दिङ्मोहश्च उन्मत्तता च तासां  
तुल्या सदृशा । कस्मात् । अविद्यावासनावशात् अज्ञानवासनावशादिति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुन-  
स्तोषां व्यावासनां स्वरूपमाह ।

उनमें आर्त और रौद्र ये दुध्यनि जीवोंकी अत्यन्त दुःख देनेवाले हैं । उनसे भिन्न  
धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान जीवोंके कर्मोंके नष्ट करनेमें समर्थ हैं—कर्मनिर्जरके कारण  
हैं ॥१९॥

उक्त चारों ध्यानों ( आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल ) मेंसे प्रत्येक ध्यान अनेक वस्तुओंके  
साधम्य और वैधम्यका अवलम्बन लेनेके कारण चार-चार प्रकारका माना गया है ॥२०॥

वह इस प्रकारसे—‘ऋते भवतम् आर्तम्’ इस निरुक्तिके अनुसार जो ऋत अर्थात्  
पीड़ामें जो होता है वह आर्तध्यान कहा जाता है । प्राणियोंके मिथ्याह्वानकी वासनासे उत्पन्न  
होनेवाला यह दुध्यनि दिङ्मूढता या उन्मत्तताके समान है । अनिप्राय यह है कि जिस  
प्रकार कोई पथिक दिशाभ्रमको प्राप्त होकर—दिशाओंको भूलकर या विपरीत दिशाका  
आश्रय लेकर—व्यर्थ भटकता है, अथवा जिस प्रकार पागल मनुष्य विवेकहीन होनेसे यद्वा-  
तद्वा कार्य करता है उसी प्रकार आर्तध्यानसे भयुक्त प्राणी भी अविवेकसे इष्ट विवोग और  
अनिष्ट संशोग आदिमें व्याकुल होकर यद्वातद्वा विचार किया करता है ॥२१॥

१. M N सर्व, L T F J K X Y तीव्र for अत्यन्त । २. M धर्म । ३. All others except P  
हैं कर्मनिर्मूलनक्षमे । ४. All others except P M N T च for तु । ५. P M F तत्त्वार्था ।

1203 ) अनिष्टयोगजन्मोद्यं तथेष्टार्थात्ययात्परम् ।

रुक्षप्रकोपात्सूतीयं स्याद्विदानात्सुर्यमङ्गिनाम् ॥२२

१२०४ ) अनिष्टयोगार्तम् । तथथा—

ज्वलनवनविषाक्तव्यालशादूलदैत्यैः

स्थलभूलभूलसस्वैर्ज्ञानात्सिभूपैः ।

स्वजनधनशरीरध्वंसिभिस्तैरनिष्ट-

र्भवति यदिह योगादात्यमार्तं तदेतत् ॥२३

१२०५ ) तथा चरस्थिरभावैरनेकैः समुपस्थितैः ।

अनिष्टैर्यन्मनः किलष्टं स्यादार्तं तत्प्रकीर्तिंतम् ॥२४

1203 ) अनिष्टयोग—आद्ये प्रथममार्तव्यानम् अनिष्टयोगजम् अमनोज्ञसंयोगजातम् । तथे-  
ष्टार्थात्ययात् मनोज्ञार्थविनाशात् परं द्वितीयम् । रौद्रमसदध्यानं रुक्षप्रकोपात् पीडाचिन्तनात्  
सूतीयम् । अङ्गिना प्राणिना निदानात्सुर्यं चतुर्थं स्यादित्यर्थः ॥२२॥ अनिष्टयोगजं तद्यथा ।

1204 ) ज्वलनवन—तदेतद् आर्तव्यानर्थ्यानं भवति । इह जगति । करमात् । तेरनिष्टैर्योगात्  
संबद्धात् । कीदृशीस्तैः । स्वजनधनशरीरध्वंसिभिः कुटुम्बव्रद्वयदेहनाशकैः । पुनः कैः । ज्वलनवन-  
विषाक्तव्यालशादूलदैत्यैः अम्लपानीयगरलासक्रसर्पसिहैत्यैः । पुनः कैः । स्थलभूलभूलसस्वैः स्थल-  
चरजलचरविलसस्वैः प्राणिभिः । पुनः कैः । दुर्जनारात्सिभूपैः दुष्टजनदात्रुराजभिः । इति सूक्ष्मार्थः  
॥२३॥ अथ पुनरार्तलक्षणमाह ।

1205 ) तथा चर—तसु आर्तव्यानं प्रकीर्तिं कथितम् । कैः । अनिष्टैर्भविः पदार्थः ।  
कीदृशीः । चरस्थिरैः त्रसस्थावरैः । पुनः कीदृशीः । समुपस्थितैः समीपस्थीः । एनादृशेरनिष्टैर्भविर्यन्मनः  
किलष्टं स्यात् । इत्यर्थः ॥२४॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

प्राणियोंके अनिष्ट ( विषकण्टकादि ) के संयोगसे प्रथम ( अनिष्ट संयोगज ) आर्त-  
व्यान, इष्ट अर्थ—स्त्रीपुत्रादि व धनसम्पत्ति आदि—के विनाशसे दूसरा ( इष्टविषयोगज )  
आर्तव्यान, रोगके प्रकोपमें उसके परिहारार्थं तीसरा ( वेदनाजनित ) आर्तव्यान और आगामी  
भवमें भोगाकांक्षारूप निदानसे चतुर्थ ( निदान ) आर्तव्यान होता है ॥२२॥

उसमें अनिष्टके संयोगसे होनेवाले प्रथम आर्तव्यानका स्वरूप इस प्रकार है—अपने  
कुटुम्बीजन, धन-सम्पत्ति और शरीरको नष्ट करनेवाले अग्नि, अरण्य ( अथवा जल ) विष,  
शस्त्र, सर्प, सिंह व देवत्य तथा स्थलके प्राणी, जलके प्राणी एवं विलके प्राणी ( सर्पादि )  
और दुर्जन, शत्रु व राजा इत्यादि; इन अनिष्ट पदार्थोंके सम्बन्धसे जो यहाँ संक्लेश और  
चिन्ता होती है उसका नाम प्रथम आर्तव्यान है ॥२३॥

इसके अतिरिक्त चर ( चलते-किरते ) और स्थिर अनेक अनिष्ट पदार्थोंके उपस्थित  
होनेपर जो मनमें क्लेश उत्पन्न होता है उसे आर्तव्यान कहा जाता है ॥२४॥

1206 ) श्रुतैर्दृष्टैः स्मृतैर्जातैः प्रत्यासर्ति च संश्रितैः ।  
यो अनिष्टार्थैर्मनःक्लेशः पूर्वमातृं तदिष्यते ॥२६॥

1207 ) अशेषानिष्टसंयोगे तद्विद्योगानुचिन्तनम् ।  
यत्स्यात्तदपि तत्त्वज्ञैः पूर्वमातृं प्रकीर्तितम् ॥२६॥ प्रथमम् ।

१२०८ ) <sup>२७</sup> राज्यैश्चर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये  
चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावे इत्यवा ।  
संत्रासुभ्रमशोकमोहविवर्ण्यतिख्यते इहनिशं  
तत्स्यादिष्टविद्योगजं तनुमतां ध्यानं कलङ्कास्पदम् ॥२७॥

1206 ) श्रुतैर्दृष्टैः—तत् पूर्वं प्रथमम् आर्तम् इष्यते । तत्किम् । यो मनःक्लेशः अनिष्टार्थैः क्रियते । कीदूशैरनिष्टार्थैः । श्रुतैरन्यस्मात्, दृष्टैः स्वर्यं साधात्यकारेण । पुनः कीदूशैः । पूर्वानुभूत-स्मृतगोचरीकृतैः । जातैः स्वयमवगतैः । च पुनः । प्रत्यासर्ति संबन्धमात्रितैः । द्वितीय सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ प्रकारान्तरेणात्तध्यानमाह ।

1207 ) अशेषानिष्ट—तदपि तत्त्वज्ञैः परमार्थज्ञैः पूर्वमातृं ध्यानं प्रकीर्तितम् । तत्किम् । यत् अशेषानिष्टसंयोगे सर्वानिष्टसंयोगे सति तद्विद्योगानुचिन्तनम् इष्टविद्योगानुचिन्तनम् । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ इति प्रथममातृम् । अथ द्वितीयध्यानमाह ।

1208 ) राज्यैश्चर्य—तनुमतां प्राणिनां तद् ध्यानं कलङ्कास्पदं पापस्थानं स्यात् । कीदूशम् । इष्टविद्योगजं मनोजविद्योगजातम् । अहनिशम् अहोरात्रं यत् लिद्यते प्राणिभिः । कीदूशैः । संत्रासभ्रमशोकमोहविवर्णैः, संत्रासश्च भ्रमश्च शोकश्च संत्रासभ्रमशोकमोहाः लेषां विवर्णैः परवर्णैः । क्व सति । राज्यैश्चर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये । राज्यं चतुरङ्गम्, ऐश्वर्यं, कलत्रं स्त्रीं, बालवा भ्रातरं, मुहूर्तं मित्रम्, सौभाग्यं, भोगाः, लेषां समाहारस्तद्विनाशे सति । अथवा । चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावे, चित्तस्य प्रीतिकराः प्रसन्ना ये विषयाः लेषां प्रध्वंसभावः । द्वितीय सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ द्वितीयभेदमाह ।

सुने हुए, देखे हुए, समरणमें आये हुए और समीपताको प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थोंके निमित्तसे जो मनमें क्लेश होता है वह प्रथम आर्तध्यान माना जाता है ॥२५॥

समस्त अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होनेपर उसके विद्योगके लिए जो चिन्ता होती है उसे भी तत्त्वज्ञ जनोंने प्रथम आर्तध्यान कहा है ॥२६॥ प्रथम आर्तध्यान समाप्त हुआ ।

राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, बन्धुजन, मित्र एवं सुभगता ( लोकप्रियता ) के नष्ट हो जानेपर अथवा चित्तमें अनुराग उत्पन्न करनेवाले उत्तम विषयका विनाश होनेपर प्राणी जो पीड़ा, भ्रान्ति, शोक और भोहके बशीभूत होकर दिन-रात खेदको प्राप्त होते हैं, वह इष्टविद्योगज आर्तध्यान कहलाता है और वह प्राणियोंके लिए पापका कारण होता है ॥२७॥

१. M जातैः । २. S K X R संसूतैः । ३. P M प्रथम् । ४. M मित्रसे ।

1209 ) दृष्टश्रुतानुभूतैस्तैः पदार्थेश्चित्तरञ्जकैः ।

वियोगे यन्मनः खिन्नं स्यादार्तं तद्वितीयकम् ॥२८॥

1210 ) मनोज्ञवस्तुविध्वसे पुनस्तसंगमार्थिभिः ।

किलश्यते यत्तदेतत्स्याद्वितीयार्तस्य लक्षणम् ॥२९॥ द्वितीयैम् ।

1211 ) हात्यजात्मनंदरेत्तर्वक्तुष्ट्रातिसारञ्जरैः

पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितैरोगैः शरीरान्तकैः ।

१२१२ स्याच्छश्वेत्प्रबलैः प्रतिक्षणभवैर्यद्वाकुलत्वं नृणां

तद्रोगार्तमानिन्दितैः प्रकटितं दुर्बारुदुखाकरम् ॥३०॥

1209 ) वृष्टश्रुतानुभूतैः—तद् द्वितीयकम् आर्त स्यात् । चित्तरञ्जकैः पदार्थेण्यन्मनः खिन्नं खेदितम् । कीदृशैः । दृष्टश्रुतानुभूतैः दृष्टश्रुतानुभूतश्च तैः दृष्टश्रुतानुभूतैः । इति सूक्ष्मार्थः ॥२८॥ अथार्तस्य द्वितीयभेदमाह ।

1210 ) मनोज्ञ—तद् द्वितीयार्तस्य लक्षणं स्यात् । पद्यस्माल्कारणात् मनोज्ञवस्तुविध्वसः<sup>१</sup> विलश्यते सत्संगमार्थिभिः । इति सूक्ष्मार्थः ॥२९॥ अथार्तस्य तृतीयभेदमाह ।

1211 ) कासश्वास—तद् रोगात्मि प्रकटितं यत् नृणां रोगैर्याकुलत्वं स्यात् । कीदृशैः । शरीरान्तकैः शरीरव्यवसंकैः । पुनः कीदृशैः । पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितैः, पित्तं च श्लेष्मा च मरुच्च यित्तश्लेष्ममरुतः । तेषां प्रकोपः तेन जनिताः, तैः । अमेन रोगाणां निदानं [ शृणु । ] के रोगैः । कासश्वासभग्नं दरेत्तर्वक्तुष्ट्रातिसारञ्जरैः, कासश्व श्वासश्व भग्नदरश्व उदरश्वकृष्टश्वातिसारञ्ज ऊवरञ्ज तेषां समाहारस्तैः । पुनः । शश्वप्रबलैः विरन्तरव्यवलवलैः । पुनः कीदृशैः । प्रतिक्षणभवैर्यजनितैः । कीदृशैः रोगार्तम् । दुर्बारुदुखाकरम् । इति सूक्ष्मम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥३०॥ अथ पुनस्तृतीयस्वरूपमाह ।

देखे गये, सुने गये और अनुभवमें आये हुए ऐसे मनमें अनुरागको उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंका वियोग होनेपर जो चित्तमें खेद होता है, वह दूसरा आर्तध्यान है ॥२८॥

मनोहर वस्तुओंका विनाश होनेपर उनके पुनः संयोगकी इच्छासे जो प्राणी क्षेत्रको प्राप्त होते हैं, वह उस द्वितीय आर्तध्यानका लक्षण है ॥२९॥ द्वितीय आर्तध्यानका फथन समाप्त हुआ ।

काश, श्वास, भग्नदर, पेटका यकून, कोद, अतिसार और ड्यारसे तथा फित्त, कफ और वायुके प्रकोपसे उत्पन्न होकर शरीरको नष्ट करनेवाले रोगोंसे, इनके अतिरिक्त निरन्तर प्रतिसमय उत्पन्न होनेवाले प्रबल रोगोंसे जो मनुष्योंको व्याकुलता होती है उसे चिन्दासे रहित ( प्रशस्त ) जनोंने रोगार्त नामका तीसरा आर्तध्यान प्रगट किया है । वह प्राणियोंके लिए दुर्जिकार दुखोंका कारण है ॥३०॥

१. L S P J K R मनस्तैः । २. L X तदेव स्याऽ । ३. P M द्वितीयम् । ४. T "दररुजाकृष्टः", F "दरजरुवकृष्टः", L S J K X Y R "दरजराकृष्टः" । ५. S K Y R स्यात्सत्त्वप्रैः ।

1212 ) अल्पानामपि रोगाणां माभूतस्वप्ने इपि संभवः ।

ममेति या नृणां चिन्ता स्थादात् तत्तृतीयकम् ॥३१॥ तृतीयम् ।

१२१३ ) भोगा भोगीन्द्रसेव्यात्सुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी

राज्यं क्षीणारिचकं विजितसुरवधूलास्यलीलायुक्त्यः ।

अन्यथानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादिचिन्तासुभाजां

या तद्गोगार्तमुक्तं परमण्णधरैर्जन्मसंतानदूत्रैम् ॥३२॥

१२१४ ) पुण्यानुष्टानजातैरभिलषति पदं यज्ञिनेन्द्रामराणां

यद्वा तैरेव वाऽच्छत्यहितकुलकुजच्छेदस्यन्तकोपात् ।

पूजासत्कारलाभप्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः

स्थादात् तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुखदावोग्रधाम ॥३३॥

1212 ) अल्पानामपि—ममाल्पानामपि रोगाणां स्वप्ने इपि संभव उत्पत्तिभूत् इति नृणां चिन्ता स्थात्, तद् तृतीयमात् स्थात् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ तुरीयमेवमाह ।

1213 ) भोगा भोगीन्द्र—परमण्णधरैर्गतिमादिभियवित् भोगार्तमुक्तं कथितम् । कीदूर्यं भीगार्तम् । जन्मसंतानसूतं संसारोत्पत्तिकारणम् । केषाम् । इत्यादिचिन्तासुभाजां जीवानाम् इह जटि अन्यकृत्यन्मसूते हर्यदूर्यं कर्त्तव्यं यदतीति । इति किम् । ममेति गम्यम् । भोगा भोगीन्द्रसेव्याः धरणीन्द्रसेव्याः । रूपसाम्राज्यलक्ष्मीः श्रिभुवनजयिनी जगत्याविका । क्षीणारिचकं नष्टवैरिसमूहं राज्यम् । पुत्रत्यो विनिता: विजितसुरवधूलास्यलीला: विजितामरवधूदेवाङ्गामाः तासां लास्यलीलाः [नृत्य] प्रथानलीलाः । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ पुनश्चतुर्थमेवमाह ।

1214 ) पुण्यानुष्टान—इह जगति नृणां मनुष्याणां तत् आत् स्थात् । कीदृशम् । निदानप्रभवं निदानजातम् । पुनः कीदृशम् । दुखदावोग्रधाम दुखदावोत्कटगृहं यत् जिनेन्द्रामराणां तीर्थकर-

स्वप्नमें भी मेरे श्रोडेन्से भी रोगोंकी सम्भावना न हो, इस प्रकारकी जो मनुष्योंको चिन्ता होती है वह तीसरा (वेदनाजन्य) आर्तध्यान है ॥३३॥ तृतीय आर्तध्यानका कथन समाप्त हुआ ।

धरणीन्द्रके द्वारा भोगने योग्य भोग, तीनों लोकोंको जीतनेवाली सुन्दरतारूप साम्राज्यलक्ष्मी, शत्रुसमूहसे रहित निष्कण्टक राज्य, देवानाओंके नृत्यकी लीलाको जीतनेवाली तरुण छियाँ तथा अन्य भी सुखसामग्री मुझे यहाँ किस प्रकारसे प्राप्त होती है; इत्यादि प्रकारकी जो प्राणियोंको चिन्ता होती है उसे श्रेष्ठ गणधरोंने भोगार्तध्यान कहा है । वह जन्मपरम्परा—संसारपरिभ्रमण—का कारण है ॥३३॥

पवित्र संयम एवं तप आदि अनुष्टानोंके समूहसे जो जिनेन्द्र अथवा देवोंके पदकी अभिलाषा की जाती है, अथवा उक्त अनुष्टानसमूहसे ही जो क्रोधके वशीभूत होकर शत्रु-

१. All others except P M F J स्वल्पानाम् । २. P M तृतीयं । ३. N S T K X Y R वत्तद्, F यावद्भी । ४. L S J K X Y R गुणधरै । ५. L S Y R संतानमूर्ल, F K सूतम् ।

1215 ) इष्टभीगादिसिद्धर्थं रिपुवातार्थमेव वा ।

यन्निदानं मनुष्याणां स्यादात् तत्तुरीयकम् ॥३४॥ [ चतुर्थम् ]

1216 ) इत्थं चतुर्भिः प्रथितैर्विकल्पैरात् समासादिह हि प्रणीतम् ।

अनन्तजीवाशयभेदभिन्नं ब्रूते समग्रं यदि वीरनाथः ॥३५

1217 ) अपश्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे ।

विद्युत्सदूर्थानमेतद्वि पद्मगुणस्थानभूमिकम् ॥३६

देवानां पदं स्थानमभिलषति वाज्ञति । कैः । पुण्यानुषानजातैः पुण्याचरितसमूहैः । वा अथवा । यत्तैरेव विकल्पैः अत्यन्तकोपात् अहितकुलकुञ्जच्छेदं वात्रकुलच्छेदम् वाज्ञति । वा अथवा पूजा-सत्कारलाभप्रभूतिकं याचते । विकल्पैरिति सर्वत्र योज्यम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ चतुर्थभेदमुप-संहरन्नाह ।

1215 ) इष्टभीगादि—तत्तुतीयकं मनुष्याणां यन्निदानं स्यात् । किमर्थम् । इष्टभीगादिसिद्धर्थं सुगमम् । वा अथवा । रिपुवातार्थं च मे स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ चतुर्भेदध्यानमुपसंहरति ।

1216 ) इत्थं चतुर्भिः—इह हि निश्चितं इत्थममुना प्रकारेण आत् समासात् संक्षेपतः प्रणीतं कथितम् । कैः । विकल्पैश्चतुर्भिः । प्रथितैर्विश्रुतैः । यदि वीरनाथः समग्रम् अनन्तजीवाशयभेदभिन्नम् अनन्तजीवाशयवसायभेदभिन्नम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ ध्यानस्वरूपमाह ।

1217 ) अपश्यमपि—हि निश्चितम् । एतद् ध्यानं विद्वि जानीहि । कीदृशम् । पद्मगुणस्थान-भूमिकम् अपश्यमपि पर्यन्ते उदयकाले अग्रिमक्षणे प्रथमसमये रम्यं मनोज्ञम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ गुणस्थानवित्तवमाह ।

समूहरूप वृक्षोंके विनाशकी अभिलाषा की जाती है, अथवा विविध प्रकारके विचारों द्वारा जो पूजा, सत्कार और लाभ आदिकी प्रार्थना की जाती है; वह निदानजन्य आर्तध्यान है जो यहाँ प्राणियोंके दुखरूप दावानलक्ष उठकर स्थान है ॥३३॥

अभीष्ट भीगादिकोंकी सिद्धिके लिए अथवा शत्रुओंके धातके निभित्र भी जो मनुष्योंकी अभिलाषा होती है वह चौथा ( निदानजन्य ) आर्तध्यान है ॥३४॥

इस प्रकार उक्त चार प्रसिद्ध भेदोंके साथ यहाँ संक्षेपसे आर्तध्यानका निरूपण किया गया है । वैसे जीव अनन्त तथा उनके अभिप्राय भी चूँकि अनन्त हैं, अतएव उक्त आर्त-ध्यानके भी अनन्त भेद हो जाते हैं । उनका यदि पूर्णरूपसे कोई निरूपण कर सकता है तो वे वीर जिनेन्द्र ही कर सकते हैं, अन्य कोई छद्मस्थ उसका पूर्णतया निरूपण नहीं कर सकता है ॥३५॥

यह असमीकृत आर्तध्यान यद्यपि प्रथम क्षणमें रम्य प्रतीत होता है फिर भी वह परिणाममें अहितकारक ही है, यह जान लेना चाहिए । वह प्रथम छह गुणस्थानोंमें पाया जाता है ॥३६॥

1218 ) संयतासंयतेष्वेतच्चतुर्भेदं प्रजायते ।

प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा ॥३७

1219 ) कृष्णनीलाद्यसङ्गेश्याबलेन प्रविजृम्भते ।

इदं दुरितदावाचिःप्रसूतेरिन्धनोपमम् ॥३८

1220 ) एतद्विनापि यत्नेन स्वयमेव प्रसूयते ।

अनाद्यसत्समुद्भूतसंस्कारादेव देहिनाम् ॥३९

1221 ) अनन्तदुःखसंकीर्णमस्य तिर्यगतिः फलम् ।

क्षायोपशमिको भावः कालशान्तमुद्भूतकः ॥४०

1218 ) संयतासंयतेषु—एतच्चतुर्भेदपि इषानं संयतासंयतेषु उत्पत्तयते । तु पुनः । प्रमत्तसंयतानां निदानरहितं चतुर्भेदरहितं त्रिधा भवति । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ पुनरायेतस्वरूपमाह ।

1219 ) कृष्णनीलाद्य—इदं ध्यानं प्रविजृम्भते प्रसरति । केन । कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन कृष्णनीलादिवशुद्धलेश्याबलेन । कीदूशम् । दुरितदावाचिःप्रसूते: पापदावाम्निजन्मनः इन्धनोपमम् इन्धनसदृशम् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ पुनरायेतस्वरूपमाह ।

1220 ) एतद्विनापि—एतदार्तं यत्नेनापि विना प्रसूयते उत्पद्यते । केषाम् । देहिनां प्राणिनाम् अनाद्यसत्समुद्भूतसंस्कारात् अनादिकालोत्पन्नवासनात् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथास्य फलमाह ।

1221 ) अनन्त—अस्यार्तस्य तिर्यगतिः फलम् । कीदूशम् । अनन्तदुःखसंकीर्णम् अनन्तदुःखव्याप्तम् । एतस्य भावः कः । क्षायोपशमिकः । च पुनः । अन्तमुद्भूतकः । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथार्तव्यानचिह्नानि दर्शयति ।

बहु संयतासंयतोमें—प्रथम पाँच गुणस्थानोमें—उपर्युक्त चारों भेदोंसे संयुक्त रहता है । परन्तु प्रमत्तसंयत जीवोंके वह निदानभेदसे रहित शेष तीन भेदयुक्त पाचा जाता है ॥३७॥

जिस प्रकार इंधन दावानलकी ज्वालाको विस्तृत करता है उसी प्रकार यह आर्तध्यान पापरूप अनिनकी ज्वालाको विस्तृत करता है । वह कृष्ण और नील आदि अङ्गुभ लेश्याके छलसे चृद्धिगत होता है ॥३८॥

यह प्राणियोंके विना प्रयत्नके ही अनादि कालसे उत्पन्न हुए दुष्ट संस्कारके बश स्वयं उत्पन्न होता है ॥३९॥

इस ध्यानका फल अनन्त दुःखोंसे ब्याप्त तिर्यच गतिकी प्राप्ति है । यह क्षायोपशमिक भाव है और काल इसका अन्तमुद्भूत है ॥४०॥

C 1222 ) शङ्काशोकभयप्रमादकलहेचिन्ताभ्रमोद्भ्रान्तय  
 उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकुलिद्राङ्गजायां थमाः ।  
 मूर्च्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि वाह्यान्यल-  
 मातांधिष्ठितचेतसां श्रुतधरैव्यावर्णितानि स्फुटम् ॥४१॥

इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-  
 विरचिते आर्तध्यानप्रकरणम् ॥२३॥

1222 ) शङ्काशोक—आर्तध्यानव्याप्तितामां शरीरिणामविरतं  
 निरन्तरं लिङ्गानि चिङ्गानि श्रुतधरेणैतमादिभिः स्फुटं प्रगटं व्यावर्णिताभि कथितानि । कानि  
 तानि । शङ्काशोकभयप्रमादकलहाः, शङ्का वस्तुसदैह, शोकः प्रसिद्धः, भयः प्रसिद्धम्, प्रमादकलहावपि  
 प्रसिद्धी । पुनः कानि लिङ्गानि । चिन्ताभ्रमोद्भ्रान्तयः, सुगमम् । पुनः कानि । उन्मादो कान्दर्प-  
 जनितो थर्मः, विषयोत्सुकत्वम् इन्द्रियसुखोत्कण्ठा, असङ्गद् वारंवारम् । निङ्गाङ्गजायाः<sup>१</sup> थमाः ।  
 पुनः कानि । मूर्च्छादीनि । एतानि सर्वविशेषणानि आर्तस्य लिङ्गानि भवन्ति । वाह्यानलं वाह्य-  
 शरीरसंतापः । इति सूक्ष्मार्थः ॥४१॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्थवमूलसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
 साहपासा तत्पुत्र-साहटोड-तत्पुत्र-साहथीरिषिदासेन स्वश्रवणार्थं पण्डित-  
 जिनदासोद्यमेन कारपितम् आर्तध्यानप्रकरणं समाप्तम् ॥ २३ ॥

समाद्भूत श्रीपाश्वः तत्पुत्रोडरो भूतः । जीयादिह रिषिदासः गलातंध्यानसंसारः ॥१॥ अथ  
 रीढध्यानं समेदमाह ।

शंका, शोक, भय, प्रमाद, शशङ्कालु वृत्ति, चिन्ता, आन्ति, व्याकुलता, पागलपन,  
 विषयोक्ती अभिलाषा, निरन्तर निदा, शरीरकी जड़ता, परिश्रम और मूर्छा आदि; वे उस  
 आर्तध्यानसे आकान्त मनवाले प्राणियोंके निरन्तर वाह्य चिङ्ग होते हैं जो श्पष्टतया पूर्णश्रुतके-  
 धारक गणधरोंके द्वारा कहे गये हैं ॥४१॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्थव योगप्रदीपाधिकारमें  
 आर्तध्यान प्रकरण समाप्त हुआ ॥२३॥

१. M N L T F K कलहाः<sup>२</sup> । २. S J X Y R चित्तश्च<sup>३</sup> । ३. P M जाय<sup>४</sup>, T F K जायाः ।

## [ आत्मरौद्रम् ]

- 1223 ) रुद्राशयभवं भीममपि रौद्रं चतुर्विधम् ।  
           कीर्त्यमानं विदन्त्वा आर्यः सर्वसत्त्वाभैयप्रदाः ॥१४
- 1224 ) ~~रुद्रः कूराशयः प्राणी~~ रौद्रकमस्त्वं कीर्तिंतम् ।  
           रुद्रस्य खलु भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ॥२५
- 1225 ) हिंसानन्दान्मृषानन्दाचौर्यात् संरक्षणात्था ।  
           प्रभवत्यज्ञिनां शशदधि रौद्रं चतुर्विधम् ॥३

1223 ) रुद्राशय—रुद्राशयभवं रुद्राध्यवसायजातं भीममपि रौद्रं चतुर्विधम् आर्या विदन्तु जानन्तु । कीर्त्यमानं मया इति गम्यम् । कीदृशा आर्यः । सर्वसत्त्वाभिनन्दकाः सर्वजीवहितकारिणः । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ प्रकारान्तरेण रौद्रमित्यधिविद्यति ।

1224 ) रुद्रः—तत्त्वदविभिः तीर्थकरैः प्रणीतः\* । कः । प्राणी । रुद्रः कूराशयः कूरचित्तः । रौद्रमित्यभिधीयते कथ्यते । रुद्रस्य “कर्म” रौद्रम् । वा अथवा । रुद्रस्य भावो रौद्रम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ प्रकारान्तरेण रौद्रस्य भेदानाह ।

1225 ) हिंसानन्दात्—अज्ञिनां प्राणिनां रौद्रं शशज्ञिरन्तरं चतुर्विधं भवति । कस्मात् । हिंसानन्दात् हिंसारूप आनन्दः लक्ष्मात् । पुनः कस्मात् । चौर्यात् । संरक्षणात् । तथेति पक्षान्तर-सूत्रकाः । इति सूत्रार्थः ॥३॥ हिंसारौद्रम् । तद्यथा ।

जिस रौद्रध्यानका आगे निरूपण किया जा रहा है वह दुष्ट अभिप्रायसे उत्पन्न होने-वाला भयानक रौद्रध्यास भी चार प्रकारका हैं । सब जीवोंके लिए अभय प्रदान करनेवाले आर्य जनोंको उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥१॥

रौद्र शब्दका निरुक्तार्थ करते हुए यहाँ वह बतलाते हैं कि रुद्रका अर्थ यहाँ दुष्ट अभिप्रायवाला प्राणी है, उस रुद्र प्राणीका जो कर्म ( क्रिया ) है उसे रौद्र कहा गया है । अथवा उक्त रुद्र प्राणीका जो भाव है उसे रौद्र इस प्रकार कहा जाता है ॥२॥

हिंसामें आनन्द मालनेसे, असत्यभाषणमें आनन्द माननेसे, चौरीके अभिप्रायसे तथा विषयोंके संरक्षणसे प्राणियोंके निरन्तर चार प्रकारका रौद्रध्यान उत्पन्न होता है ॥३॥

१. ए. Y वदै । २. M N T F Y त्यार्यः । ३. All others except P L S R सत्त्वाभिनन्दकाः ।

४. I missed the portion from V. No. 1222 to 1312 । ५. All others except P प्राणी

प्रणीतसत्त्वदविभिः । रुद्रस्य कर्म ।

1226 ) हिंसारीद्रं तथाथा—

हते विष्णीडिते ध्वस्ते जन्मुजाते कर्दर्थिते ।  
स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्विसारीद्रमुच्यते ॥४

1227 ) अनारतं निष्करुणस्वभावः

स्वभावतः क्रोधकषायदीपः ।  
मद्दृश्यतः पापमतिः कुशीलः  
स्याभास्तिको यः स हि रौद्रधामा ॥५

1228 ) **हिंसाकर्मणि कौशलं निपुणता पापोपदेशे भूशं**

**दाक्षयं नास्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रतिः ।**  
**संवासः सह निर्देवैरविरतं नैसर्गिकी क्रूरता**  
**यत्स्यादेहभूतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयैः ॥६**

1226 ) हते—जन्मुजाते प्राणिसमूहे । स्वेनात्मना । च पुनः । अन्येन केमनित् हते सति । निष्पोडिते नितरां पीडिते सति । ध्वस्ते निराकृते, कर्दर्थिते पीडिते यो हर्षः तद् हिंसारीद्रमुच्यते कथ्यते । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1227 ) अनारतं—अनारतं निष्करुणस्वभावः । स्वभावतः क्रोधकषायदीपः क्रोधादिकषाय-ज्वलितः । पुनः कीदृशः । मदोद्धतः मदोत्कटः । पुनः पापमतिकुशीलौ सुगमी । एतादृशः कः । नास्तिकः । हि निश्चितम् । स पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टो नास्तिकः । रौद्रधाम रौद्रस्थानम् । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ पुनः रौद्रस्वरूपमाह ।

1228 ) **हिंसाकर्मणि—प्रशान्ताशयैः प्रशान्तचित्तैरत्र तद्रौद्रं देहभूतां प्राणिनां गदितं कथितम्** । यत् हिंसाकर्मणि चतुरता पापोपदेशे निपुणता । सुगमम् । भूशमत्यर्थं नास्तिकशासने नास्तिकगते दाक्षयम् । प्रतिदिनं निरन्तरं प्राणातिपाते रतिर्बाङ्छा । निर्देवैः सहाविरतं संवासः । नैसर्गिकी स्वभावजा क्रूरता । यत्स्यात् तद् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ हिंसानन्दा[स्य]रौद्रमाह ।

हिंसारीद्र जैसे—स्वयं अपने द्वारा अथवा अन्यके द्वारा प्राणिसमूहके मारे जानेपर, दयाये जानेपर, नष्ट किये जानेपर, अथवा पीडित किये जानेपर जो हर्ष हुआ करता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं ॥४॥

जो जीव निरन्तर क्रूर स्वभावसे संयुक्त, स्वभावतः क्रोधकषायसे सञ्चाप, अभिमानमें चूर रहनेवाला, पापबुद्धि, दुराचारी और नास्तिक ( लोक-परलोकको न माननेवाला ) होता है उसे रौद्रध्यानका स्थान ( रौद्रध्यानी ) समझना चाहिए ॥५॥

प्रशिक्षियोंकि जो हिंसा करनेमें कुशलता, पापके उपदेशमें अतिशय प्रवीणता, नास्तिक भूतके प्रतिपादनमें चतुरता, प्रतिदिन प्राणघातमें अनुराग, दुष्ट जनोंके साथ सहवास, तथा निरन्तर जो स्वाभाविक दुष्टता रहती है उसे यहाँ वीतराग महात्माओंने रौद्रध्यान कहा है ॥६॥

- 1229 ) केनोपायेन धातो भवति तनुभूतां कः प्रवीणो ऽत्र हन्ता  
हन्तुं कस्यानुरागः कतिभिरिह दिनैर्हन्यते जन्मतुजातम् ।  
हत्वा पूजां करिष्ये द्विजगुरुमरुतां कीर्तिशोन्त्यर्थमित्यं  
यः स्याद्विसाभिनन्दो जगति तनुभूतां तद्वि रीढ्रं प्रणीतम् ॥७
- 1230 ) यगनवनधरित्रीचारिणीं देहभाजां  
दलनदहनवन्धच्छेदधातेषु यत्नम् ।  
दृतिनखकरनेत्रोत्पाटने कौतुकं यत्  
तदिह मदितमुच्चेतसां रीढ्रमित्थम् ॥८
- 1231 ) अस्य धातो जयो अन्यस्य समरे जायतामिति ।  
स्मरत्पद्मी तदप्याहु रीढ्रमध्यात्मवेदिनः ॥९

1229 ) केनोपायेन—जगति तनुभूतां, हि निश्चितं, तद्वौद्रं प्रणीतं कथितम् । तत् किम् । यत् यस्यात् । स इत्यम् अमुना प्रकारेण हिंसाभिनन्दः स्यात् । तनुभूतां प्राणिनां केनोपायेन धातो भवति । अत्र कः प्रवीणः चतुरः हन्ता । कस्य । पुंसः हन्तुम् अनुरागः प्रीतिः । इहाधिकारे कतिभिरिह दिनैः जन्मतुजातां प्राणिसमूहः हन्यते । द्विजगुरुमरुतां ब्राह्मणगुरुदेवानां जन्मतुजातं हत्वा अहं पूजां करिष्ये । किमर्थम् । पुष्टिचास्त्यर्थम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ शरोरणामङ्गच्छेतसांत्यानमाह ।

1230 ) गणन—इह जगति तनुभूतां प्राणिनामुच्चेतसाभित्यममुना प्रकारेण रीढ्रं मदितं कथितम् । तत्कियदेतत् । देहभाजां प्राणिनां दलनदहनवन्धच्छेदधातेषु खण्डनज्वालनवन्धनच्छेदन-हननेषु यत् यत्न स्यात् । पुनः । दृतिनखकरनेत्रोत्पाटने यत् कौतुकं चर्मनखहस्तनेवाणाम् उत्पाटने यत् कौतुकम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ प्रकारान्तरेणार्ताद्यानमाह ।

1231 ) अस्य धातः—अध्यात्मवेदिनः तदपि रीढ्रमाहुः कथयामामुः । यदद्वी प्राणी इति स्मरति वाच्छति । इतीति किम् । समरे संश्लेषे अस्य धातो जायताम्, अन्यस्य जयो जायताम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ प्रकारान्तरेणार्तामाह ।

प्राणियोंका धात जिस उपायसे हो सकता है, यहाँ कौन-सा धातक चतुर है, प्राणधातमें अनुराग किसे रहता है, यह प्राणियोंका समूह यहाँ कितने दिनमें मारा जा सकता है, मैं उसे मारकर कीर्ति और शान्तिके लिए ब्राह्मण, गुरु और बायुदेवकी पूजा करूँगा; इस प्रकार संसारमें प्राणियोंको जो हिंसाकर्ममें आनन्द हुआ करता है उसे रीढ्रध्यान कहा जाता है ॥७॥

आकाश, जल और पृथिवीके ऊपर संचार करनेवाले प्राणियोंके पीसने, जलाने, बाँधने, काटने और प्राणधात करनेमें जो प्रयत्न होता है तथा उनका चमड़ा, नख, हाथ और नेत्रोंके उखाड़नेमें जो कुतूहल होता है उसे यहाँ मनस्वी जनोंनि रीढ्रध्यान कहा है ॥८॥

युद्धमें अमुक प्राणीका धात हो सकता है तथा दूसरेकी जीत हो, इस प्रकारसे जो स्मरण किया जाता है उसको भी अन्यात्मके बेत्ता जब रीढ्रध्यान कहते हैं ॥९॥

१. M N L T पुष्टि for कीर्ति । २. All others except P यस्यात् । ३. M N यत्नः ।

- 1232 ) श्रुते दृष्टे स्मृते जन्तुवधायुरुपराभवे ।  
या 'मुदस्तद्वि विज्ञेयं रीढं दुःखानलेन्धनम् ॥१०
- 1233 ) [ 'अहं कदा करिष्यामि पूर्ववैरस्य निष्कर्षम्' ।  
अस्य चित्रैर्वैथेति चिन्ता रीढाय कल्पिता ॥१०\*१
- 1234 ) किं कुर्मः शक्तिवैकल्याजीवन्त्यग्नापि विद्विषः ।  
तद्युपुत्र हनिष्यामः प्राप्य कालं तथा बलम् ॥१०\*२ ]
- 1235 ) अभिलिप्ति नितान्तं यत्परस्यापकारं  
व्यसनविशिखभिक्षं वीर्यं यत्कोर्षमेति ।  
थदिह गुणगरिष्ठं द्वेष्टि दृष्टान्यभूति  
भवति हृदि सशक्त्यस्तद्वि रीढस्य लिङ्गम् ॥११

1232 ) श्रुते दृष्टे—हि निश्चितं तद्रीढं विज्ञेयम् । कीदृशम् । दुःखानलेन्धनं दुःखाग्नि-समेन्धनम् । यो हर्षः श्रुते दृष्टे स्मृते जन्तुवधायुरुपरो जन्तुमारणादिगरिष्ठपरो भवेदिति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ चिन्ता रीढमाह ।

1233 ) अहं कदा—इति चिन्ता रीढाय रीढव्यानाय कल्पिता । इति किम् । अहं पूर्ववैरस्य कदा निष्कर्षं गृहणच्छेदं करिष्यामि । अस्य वैरिणः चित्रैननाप्रकारैर्वैभरणैः । इति सूत्रार्थः ॥१०\*१॥ अथ तत्स्वरूपमाह ।

1234 ) किं कुर्मः—विद्विषः शब्दः अद्यापि जीवन्ति शक्तिवैकल्यात् शक्तिरहितत्वात् । वदं किं कुर्मः । तहि अमृत परभवे कालं प्राप्य तथा बलं प्राप्य हनिष्यामः । इति सूत्रार्थः ॥१०\*२॥ अथ पुनः रीढस्य लिङ्गमाह ।

1235 ) अभिलिप्ति—हि निश्चितम् । रीढस्य तलिङ्गं स्यात् । नितान्तं विरुद्धतरम् ।

जीवोंके बध आदि तथा उनके महान् पराजयके सुनने, देखने अथवा स्मरण होनेपर जो हर्ष हुआ करता है, उसे रीढव्यान जानता चाहिए । वह रीढव्यान दुखरूप अग्निके बढ़ानेमें ईंधनके समान काम करता है ॥१०॥

इसके अनेक प्रकारके बधके द्वारा मैं पूर्व वैरका प्रतिकार कर करूँगा, इस प्रकारका चिन्तन भी रीढव्यानके लिए—उसका कारणभूत—माला गथा है ॥१०\*१॥

क्या करें, शक्तिकी हीनतासे शत्रु आज भी जीवित हैं । यदि वे इस समय नष्ट नहीं किये जा सकते हैं तो मर करके और तब बलको प्राप्त करके उन्हें अगले भवमें नष्ट करेंगे, इस प्रकारका जो विचार किया जाता है वह रीढव्यान ही है ॥१०\*२॥

दूसरेके अपकारकी जो अतिशय अभिलाप्या होती है, उसे दुखरूप बाणोंसे विद्या हुआ

१. All others except P यो हर्षस्तद्वि । २. P. om. two verses, though it shows merely a sign of addition । ३. MNY निष्क्रियां । ४. M यं तोष, V संतोष ।

1236 ) हिंसानन्दोद्भवं रीढ़ं वक्तुं कस्यास्ति कौशलम् ।  
जगञ्जन्तुसमुद्भूतविकल्पशतसंभवम् ॥१२

1237 ) हिंसोपकरणादानं क्रूरसत्त्वेष्वनुग्रहम् ।  
निश्चिन्तादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥१३

परस्यापकारम् अभिलषति बाञ्छति । अन्यं व्यसनविशिखभित्तम् आपद्वाणभेदितं वीक्ष्य यतोषं संतोषमेति प्राप्नोति । इह यदन्यगुणगरिष्ठं द्वेष्टि द्वेषं करोति । अन्यभूतिम् अन्यलक्षणीं दृष्ट्वा हृदि सशल्यो भवति । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ हिंसानन्दात्म्यं ध्यानमाह ।

1236 ) हिंसानन्दोद्भवम्—हिंसानन्दोद्भवं रौद्रं वक्तुं कस्यास्ति कौशलं चातुर्यम् । कीदृशम् । जगञ्जन्तुसमुद्भूतविकल्पशतसंभवं जगञ्जीवोत्प्रशस्कल्पशतसंभवं जातम् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ रीढ़स्य लिङ्गात्म्याह ।

1237 ) हिंसोपकरणादानम्—निश्चिन्तादि लिङ्गानि निर्देशत्वादि लिङ्गानि बाह्यानि भवन्ति । क्रूरसत्त्वेषु रीढ़सत्त्वेषु प्रसादं हिंसोपकरणादानं वधोपकरणग्रहणम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ इति शुभचन्द्राचार्यविरचिते...कारणितं रीढ़ध्यानप्रकरणं समाप्तम् ॥ प्रगुणगुणगरिष्ठः पाश्वर्धमंप्रकृष्टः परमसुमतिशिष्टः टोडरः श्रीबलिष्टः । सततसुकृतवासः कीर्तिविद्योतिताशः स जयति शृणिदात्मः आर्तध्यानप्रणाशः ॥१॥ इत्याशीर्वादः । अथ मृषारीढ़माह ।

देखकर जो सन्तोष होता है, गुणोंसे महान् व्यक्तिको देखकर जो उससे द्वेष उत्पन्न होता है, तथा दूसरेके वैभवको देखकर जो हृदयमें चिन्ता या ईर्ष्या होती है; यह सब उस रीढ़ध्यान-की पहिचान है ॥११॥

हिंसामें आनन्द माननेसे उत्पन्न होनेवाले उस रीढ़ध्यानके वर्णनकी कुशलता किसके हैं ? अर्थात् उक्त रीढ़ध्यानका निरूपण करनेके लिए कोई भी समर्थ नहीं है । कारण यह है कि संसारी प्राणियोंके सेकड़ों विकल्पोंसे वह रीढ़ध्यान उत्पन्न हुआ करता है ॥१२॥

हिंसाके उपकरणभूत विष-शक्तादिका ग्रहण करना, दुष्ट जीवोंके विषयमें उपकारका भाव रखना तथा निर्देशतापूर्ण व्यवहार आदि; ये प्राणियोंके उस रीढ़ध्यानके बाह्य चिह्न हैं ॥१३॥ इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें हिंसानन्द प्रथम रीढ़ध्यान समाप्त हुआ ॥

१. M जन्मुम् । २. N यह; L निष्ठहै । ३. M L S T F K R देहिनः । ४. PMN इति...विरचिते (L) हिंसानन्दप्रथमः, T X Y इति...विरचिते महाकाव्ये हिंसानन्दप्रकरणं ॥२६॥ ५. हिंसानन्दप्रथमभेदं, K रीढ़ध्यानप्रकरण ।

- 1238 ) असत्यकल्पनाजालकशमलीकृतमानसः ।  
चेष्टते यजनस्तदि मृषारीद्रं प्रकीर्तिम् ॥१४॥ तथाथ—  
1239 ) विधाय वशकं शास्त्रं मार्गमुद्दिश्य निर्देयम् ।  
प्रपात्य व्यसने लोकं भोक्ष्ये अहं वाञ्छितं सुखम् ॥१५  
1240 ) असत्यवात्पुराकराणि कन्यादिरत्नानि च बन्धुराणि ।  
तथाश्वात्पुराकराणि कन्यादिरत्नानि च बन्धुराणि ॥१६  
1241 ) असत्यवाग्वशनया नितान्तं प्रवर्तयत्यत्र जनं वराकम् ।  
सद्धर्ममार्गादितिवर्तनेन मदोद्धतो यः स हि रौद्रधामा ॥१७

1238 ) असत्य—जनो यज्ञेष्टते क्रियां करोति । कीदूषः । असत्यकल्पनाजालकशमलीकृत-  
मानसः अनूतविकल्पसमूहमलिनीकृतपितः । हि विधिपतम्, अस्यारीद्रं रौद्रधामं प्रकीर्तिम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥१४॥ तथाथा दर्शयति ।

1239 ) विधाय—अहं वाञ्छितं सुखं भोक्ष्ये । कि कृत्वा । लोकं व्यसने कष्टे प्रपात्य । पुनः  
कि कृत्वा । वशकं वशनशीलं शास्त्रं विधाय कृत्वा । किमुद्दिश्य । मार्गं निर्देयं दयारहितमुद्दिश्य  
समुद्दिश्य । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ लोकवशनमेवाह ।

1240 ) असत्य—अहं बहुप्रकारं तथाश्वमात्पुराकराणि वित्तं द्रव्यं लोकाद् ग्रहीष्यामि ।  
केन । असत्यवात्पुराकराणि अलीकवाक्वात्पुराकराणि वीर्येण । तथाश्वमात्पुराकराणि हयगजनगराः  
प्रसिद्धाः । आकरः सद्धर्ममार्गादितिवर्तनेन परित्यजनेन यो मदोद्धतः मदोल्कदः । हि  
निश्चितम् । स रौद्रधामास्पदं भवति । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ रौद्रास्पदमाह ।

1241 ) असत्यवाग्—अत्र जगति वराकं जनं नितान्तं निरस्तरं असत्यवाग्वशनया मृषा-  
वाक्यवाचनेन प्रवर्तयति । केन । सद्धर्ममार्गादितिवर्तनेन परित्यजनेन यो मदोद्धतः मदोल्कदः । हि  
निश्चितम् । स रौद्रधामास्पदं भवति । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अतिरीढ़चिन्तामाह ।

जिस मनुष्यका हृदय असत्य कल्पनाओंके समूहसे भोक्त्रोंप्राप्त हुआ है वह जो कुछ  
भी प्रवृत्ति करता है उसे मृषारीद्रध्यान कहा जाता है ॥१४॥

वह इस प्रकारसे—जो असत्यमाणी अभिमानके वशीभूत होकर यह विचार करता  
है कि मैं ठगनेवाले शास्त्रको रचकर और दुश्मतापूर्ण मार्गका उपदेश देकर लोगोंको आपत्तिमें  
बालूँगा व अभीष्ट सुखको भोगूँगा, इसके अतिरिक्त असत्यमाणीकी चतुराईके प्रभावसे मैं  
लोगोंसे बहुत प्रकारके धनको, तथा घोड़ा, हाथी, जगर, सुवर्णादिकी खानों एवं सुन्दर  
कन्यादिरूप रत्नोंको ग्रहण करूँगा; इस प्रकार जो असत्य वशनोंके द्वारा बेचारे साधारण  
जनोंको अतिशय ठगता हुआ उन्हें सभीचीन मार्गसे भ्रष्ट करके कुमार्गमें प्रवृत्त करता है वह  
रौद्रध्यानका स्थान (आश्रय) होता है ॥१५-१७॥

- 1242 ) असत्यसामर्थ्यवशादरातीन्नपेण चान्येन च धातयामि ।  
अदोषिणां दोषचयं विधाय चिन्तेति रौद्राय मता मुनीन्द्रैः ॥१८
- 1243 ) पातयामि जनं मूढं व्यसने इन्द्रसंकटे ।  
वाकोशेश्वल्यप्रयोगेण वाच्छितार्थप्रसिद्धये ॥१९
- 1244 ) इमान् जहान्वोधविचारविच्युतान्प्रतारथाम्यद्य वचोभिरुचते ।  
अमी प्रवत्सर्यन्ति मदीयकौशलादकार्यवयेष्विति नात्र संशयः ॥२०
- 1245 ) अनेकासत्यसंकल्पैर्यः ग्रमोदः ग्रजायते ।  
मृषानन्दात्मकं रौद्रं तत्प्रणीतं पुरातनैः ॥२१

1242 ) असत्यसामर्थ्य—मुशीन्द्रैयोगिभिः सा चिन्ता “अलिरौद्राय मता कथिता । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथैतदेवाह ।

1243 ) पातयामि—अहं मूढं मूर्खं जनं व्यसने कष्टे पातयामि । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ लोकानां मूढत्वमेवाह ।

1244 ) इमान्—अमी मूढा अकार्यवर्गेषु प्रवत्सर्यस्ति प्रवर्तयिष्यन्ति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ मृषानन्दात्मकं रीढमाह ।

1245 ) अनेकासत्य—पुरातनैः पूर्वज्ञायैः मृषानन्दात्मकं रौद्रं तत्प्रणीतं कथितम् । इति सूत्रार्थः । शेषं सुगमम् ॥२१॥ इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते .. काशपितम् असत्यं रौद्रं द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम् ॥ विदितगणिसुपार्श्वः पाससुजातपार्श्वः विहितमहिमधामोद्दामकामैकदाम । जयति जगति मुपुत्रब्दोदरो जाङ्गदाशः महिमचरितवासः शुद्धथीर्घिदासः ॥१॥ आशीर्वादः । अथ चौर्यानन्दमेवाह ।

मैं असत्यके बलसे राजाके द्वारा अथवा अन्यके द्वारा शत्रुओंको नष्ट करता हूँ, इस प्रकार निर्दीप जनोंके द्वोपसमूहको करके जो चिन्ता होती है उसे महर्पि जन रौद्रका कारण मानते हैं ॥१८॥

मैं अभीषु ग्रयोजनको सिद्ध करनेके लिए वचनचालुर्यका उपयोग करके मूर्खं जन-को अन्तर्थोसे भयानक आपत्तिमें डालता हूँ, ऐसे चिन्तनका नाम मृषानन्द रौद्रध्यान है ॥१९॥

मैं ज्ञान और विचारसे रहित इन मूर्खोंको आज अपने उन्नत वचनोंके द्वारा ठगता हूँ । ये मेरी चतुराईसे भहान् अकार्यमें प्रवृत्त होंगे, इसमें सन्देह नहीं है, ऐसा विचार करना रौद्रध्यान ही है ॥२०॥

उक्त रीतिसे अनेकों असत्य विचारोंके द्वारा जो हर्ष उत्पन्न होता है उसे प्राचीन ऋषियोंने मृषानन्दस्वरूप रौद्रध्यान कहा है ॥२१॥

१. All others except PMNT वाच्येन । २. MN वाककीटिल्य । ३. X विचारमुक्तान् । ४. M L T F K X वर्गे, NYR वर्षे । ५. P M N L T X इति“विरचिते असत्यरीढं द्वितीयम्, N ॥२५॥, T ॥२७॥, F इति रौद्रध्यानस्य द्वितीयं मेव समाप्तं, K असत्यं रौद्रप्रक०, Y इति“मृषानन्दप्रक०” ।

1246 ) चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि ।  
यच्चौर्यैकरते चैतस्त्वौर्यनिलैमिष्यते ॥२२॥ तदथा—

1247 ) यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते  
कृत्वा चौर्यमणि प्रमोदमहुलं कुर्वन्ति यत्संततम् ।  
चौर्यणापहते परैः परधने यज्ञायते संभ्रम-  
स्तचौर्यप्रभवं बदन्ति निषुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदम् ॥२३

1248 ) कृत्वा सहायं वरवीरसैन्यं  
तथाभ्युपायायथ वहुप्रकारान् ।  
धनान्दुष्टानानि विराजितानि  
सद्यो हरिष्यामि जनस्य धात्याम् ॥२४

1246 ) चौर्योपदेश—[स चौर्यनिन्द हृष्टते कथयते । स इति कः । यत्र चौर्योपदेशबाहुल्यम् । यत्र च चौर्यकर्मणि चातुर्यं कीशल्यं दृश्यते । यत् कार्यं चौर्यैकपरं चौर्यप्रधानं विद्यते । इत्यर्थः] ॥२२॥ तदथा ।

1247 ) यच्चौर्यै—शरीरिणां प्राणिनां यद्यस्मात् कारणात् चौर्याय अहरहः प्रतिदिन चिन्ता समुत्पद्यते । यत्तुनः चौर्यं कृत्वा अतुलं समस्तं प्रभोदं संततं हृष्टं निरन्तरं कुर्वन्ति । परधने परद्रव्ये चौर्यणाणि परैः हृते यत् संभ्रमो जायते, तच्चौर्यप्रभवं चौर्योत्तमं सुनिन्दास्पदं निन्दाधाम रौद्रं निषुणा बदन्तीति सूक्ष्मार्थः ॥२३॥ अथ चौर्यचिन्तामाह ।

1248 ) कृत्वा सहायं—धात्याय जनस्य विराजितानि धनानि सद्यः शीघ्रं हरिष्यामि । तथाभ्युपायान् प्रपञ्चान् वहन् कृत्वा । शेषं सुगमम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥२४॥ अथ चौर्यचिन्तामाह ।

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्थव योगप्रदीपाधिकारमें द्वितीय असत्य रौद्रध्यान समाप्त हुआ ॥

जो चोरीविषयक उपदेशकी अधिकता, चोरीके कार्यमें चतुरता और उस चोरीके विषयमें जो असाधारण रूप होती है, उसे चौर्यनिन्द रौद्रध्यान माना जाता है ॥२३॥

वह इस प्रकारसे—प्राणियोंके लिए जो प्रतिदिन चोरीके निमित्त चिन्ता उत्पन्न होती है, चोरीको करके भी जो निरन्तर अनुपम आनन्द करते हैं, और जो दूसरोंके द्वारा चोरीसे हरण किये गये दूसरोंके धनके विषयमें आदर या उत्सुकता होती है, उसे तत्त्वज्ञ जन चोरीसे उत्पन्न होनेवाला ( चौर्यनिन्द ) रौद्रध्यान कहते हैं । वह अतिशय निन्दाका कारण है ॥२४॥

दीर्घकालसे कमाया हुआ जो लोगोंका धन पृथिवीपर सरलतासे नहीं प्राप्त किया जा

१. All others except P <sup>१</sup>कपरं । २. M N T X चेतः स चौर्य<sup>१</sup> । ३. All others except P <sup>१</sup>नन्द इष्यते । ४. X इष्यति । ५. P तदथा । ६. MN <sup>१</sup>णोपहृते, T यापि हृते ।

1249 ) द्विपदचतुष्पदसारं धनधान्यवराङ्गनासमाकीर्णम् ।

वस्तु परकीयमपि मे स्वाधीनं चौर्यसामध्यात् ॥२५

1250 ) इत्थं चुरायां विविधप्रकारः शरीरिभिर्यः क्रियते अभिलापः ।

अथारदुःखार्णवहेतुभूतं रौद्रं तृतीयं तदिह प्रणीतम् ॥२६

1251 ) बह्वारम्भयरिद्वेषु नियतं रक्षार्थमभ्युदयतो

यत्संकल्पपरंपरा वित्तनुते प्राणीह रौद्राशयः ।

यवालम्ब्य महूर्च्छुश्रुतमना राजेत्यहं मन्यते

ततुर्यं प्रबद्धनित निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम् ॥२७॥ तद्यथा

1249 ) द्विपदचतुष्पद—[ द्विपदचतुष्पदसारं पश्चिमनुष्पदशुभान्यम् । धनं, धान्यं, धरा भूमिः, अङ्गना स्त्री । समाकीर्ण व्याप्तम् । एतादूर्णं परकीयमपि वस्तु चौर्यसामध्यात् चौर्यवशात् मे स्वाधीनं हस्तगतम् । इति सूत्रार्थः ] ॥२५॥ अथ तृतीयरौद्रमुपसंहरति ।

1250 ) इत्थं चुरायां—एतत्तृतीयं चौर्यनिष्ठम् इहाधिकारे प्राणीतं कर्मितात् । इति तृतीयः । शेषं सुगमम् ॥२६॥ इति श्रीशुभवन्द्राचार्यविरचितोऽकारापिते चौर्यनिष्ठारौद्रं तृतीयं प्रकरणम् ॥ स्यात्तुर्वं परबृद्धिः साहश्रीपाश्चराजभुवि विदितः । श्रीमसोदरनम्दः श्रीकृष्णदासो विराजते ॥१॥ आशीवदिः । अथ चतुर्यं रौद्रभेदमाह ।

1251 ) बह्वारम्भ—निर्मलधियो रौद्रं ततुर्यं चतुर्यं भवाशंसिनां भववाल्प्यकामां प्रबद्धनित । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ तद्यथा इर्णयति ।

सकता है उसको मैं उल्कुष योद्धाओंकी सेनाकी सहायतासे अनेक प्रकारके उपायोंको करके शीघ्र ही प्रहण करूँगा । दुष्पद और चतुष्पदोंमें उल्कुष तथा धन, धान्य एवं उत्तम स्त्रियोंसे व्याप्त जो भी दूसरोंकी बर्तु है, वह चोरीके बलसे मेरे स्वाधीन है—मैं उसे सरलतासे प्राप्त कर सकता हूँ । इस प्रकारसे प्राणी जो चोरीके विषय में अनेक प्रकारकी इक्षुषा किया करते हैं उसे यहाँ तीसरा रौद्रध्यान कहा गया है और वह अपरिभित दुखरूप समुद्रका कारणभूत है ॥२५-२६॥ इस प्रकार ज्ञानार्णवमें चौर्यरौद्र नामक तृतीय रौद्रध्यानका कथन समाप्त हुआ ॥

दुष्ट अभिप्रायवाला प्राणी जो यहाँ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहके विषयमें रक्षणके लिए सदा प्रयत्नशील रहता है, उसके लिए संकल्प-चिकित्पोकी परम्पराको विस्तृत करता है, तथा यहैपनका आश्रय लेकर मनको ऊँचा करता हुआ जो अपनेको मैं राजा हूँ ऐसा समझता है; उसे निर्मल बुद्धिके धारक गणधरादि चतुर्यं रौद्रध्यान कहते हैं । वह संसारपरिभ्रमणके अभिलाषी प्राणियोंके होता है । अभिप्राय यह है कि इस रौद्रध्यानका कल दीर्घ संसार है ॥२७॥

१. M विक्रियते । २. PY इति ज्ञानार्णवे चौर्यरौद्रं तृतीयं, MN चौर्यरौद्रं द्वितीयम्, LT चौर्यनिष्ठरौद्रं तृतीयं ॥२८॥ ३. रौद्रध्यानस्य चौर्यमित्ये तृतीयं, K चौर्यनिष्ठरौद्रं प्रकरणम्, X चौर्यरौद्रं तृतीयकं ।

४. All others except P चौर्यमित्यते । ५. K यवालङ्घ्यमहित्वम् । ६. PM तद्यथा ।

1252 ) आरोप्य चारं निशितैः शरोघैनिकृत्य वैरित्रजमुद्दताशम् ।

दग्धवा पुरागमवराकराणि प्राप्त्ये ऽहमैश्चर्यमनन्यसाध्यम् ॥२८

1253 ) आच्छिद्य गृह्णन्ति धर्मं मदीयां कन्यादिरत्नानि धनानि<sup>१</sup> नारी<sup>२</sup> ।

ये शत्रवः संप्रति लुभ्यचित्तास्तेषां करिष्ये कुलकक्षदाहम् ॥२९

1254 ) सकलभुवनपूज्यं वीरवगोपितेव्यं

स्वजनधनसमृद्धं रत्नरामाभिरामम् ।

अमितविभवसारं विश्वभोगाधिपत्यं

प्रबलरिषुकुलान्तं हन्त कृत्वा मयामम् ॥३०

1255 ) भित्त्वा भुवं जन्तुकुलानि हत्वा प्रविश्य दुर्गाण्येट्वीं विलङ्घ्य ।

कृत्वा पदं मूर्धिन मदोद्रतानां मयाधिपत्यं कृतमत्युदारम् ॥३१

1252 ) आरोप्य—अहम् ऐश्वर्यं प्राप्त्ये लभिष्ये । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२८॥  
पुनरेतदेवाह ।

1253 ) आच्छिद्य—तेषां शत्रुणां कुलकक्षं क्षणसमूहं तत्य दाहं करिष्ये । शेषं सुगमम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1254 ) सकलभुवन—हन्तेति कष्टे । मया विश्वभोगाधिपत्यं जगद्भोगराज्यमाप्तं प्राप्तम् ।  
सकलभुवनपूज्यं सुगमम् । शेषं सर्वं सुगममिति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ पुनरपि प्रकृतमेवाह ।

1255 ) भित्त्वा भुवं—मया आधिपत्यं राज्यम् अत्युदारं प्रधानं कृतम् । शेषं सुगमम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ स्वाभिमानपूर्वकमाह ।

विषयसंरक्षणानन्द-रीढध्यानी इस प्रकार विचार करता है—मैं शत्रुओं को चढ़ाकर तीक्ष्ण बाणसमूहके द्वारा अतिशय प्रबल आशा रखतेवाले शत्रुओंके समूहको छेद करके और उनके पुर, गाँव व सानोंको जला करके जो ऐश्वर्य दुसरोंको अलभ्य है उसे प्राप्त करूँगा । जो शत्रु लोभयुक्त मनसे मेरी भूमिको आच्छादित करके कन्या आदि रत्नों, धन और दिव्य स्त्रियोंको प्रह्लण करते हैं, मैं इस समय उनके कुलरूप वनको भस्म करूँगा । हर्ष है कि मैंने अतिशय बलवान् शत्रुओंके समूहको जट करके समस्त संसारसे पूजनेके योग्य, वीर पुरुषोंके समूह द्वारा उपभोग करनेके योग्य, कुदुम्बीजम् और धनसे वृद्धिगत, रत्नों व स्त्रियोंसे रमणीय तथा अपरिमित श्रेष्ठ वैभवसे परिपूर्ण; ऐसे समस्त भोगोंके स्वामित्वको प्राप्त किया है । मैंने पृथिवीको भेद करके प्राणिसमूहोंका बात करके, दुर्गम स्थानों ( पर्वतादि ) में प्रवेश करके, वनको लान्ध करके और अभिमानमें जूर रहनेवाले शत्रुओंके शिरपर पादप्रहार करके

१. SKR रत्नानि च दिव्यनारी । २. MNT नारीम् । ३. P दुर्गमिट्वीं, M दुर्गाण्युदधीन्, L F X Y दुर्गनिःृदधीन्, NSTKR दुर्गाण्युदधि । ४. MN मध्युदारं ।

1256 ) जलानलव्यालविषप्रयोगैर्विश्वासभेदगणिधिपञ्चैः ।

उत्पाद्य निःशेषमरातिचकं स्फुरत्ययं<sup>१</sup> मे प्रबलः प्रतापः ॥३२

1257 ) इत्यादिसंरक्षणसंनिष्ठां<sup>२</sup> संचिन्तनं यत्कियते मनुष्यैः ।

संरक्षणानन्दभवं तदेतद्रौद्रं प्रणीतं जगदेकनाथैः ॥३३<sup>३</sup>

1258 ) कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलाङ्कितम् ।

रौद्रमेतद्वि जीवानां स्यात् पञ्चगुणभूमिकम् ॥३४

1256 ) जलानल—मे मम प्रबलप्रतापः स्फुरति । किं कृत्वा । निःशेषं समस्तमरातिचकं वैरिसमूहम् उत्पाद्य उत्पाद्य । जलानलव्यालविषप्रयोगैः पानीयाग्निसर्पविषसंधानैः । विश्वासभेदैः प्रणिधिपञ्चैः । विशेषणद्वयं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ संरक्षणानन्दाभिधं रौद्रमूपसंहरति ।

1257 ) इत्यादि—जगदेकनाथैस्तीर्थकरैः संरक्षणानन्दभवं रौद्रं प्रणीतं कथितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ··· काराधितं चतुर्थं रुद्रध्यान-प्रकरणम् ॥ धर्मध्यानधुराखोटः पुष्पपात्राः हि ठोडरः । कल्याणदानमन्दारः ऋषिदासः श्रिये भव ॥१॥ आशीर्वदिः । अथ पुनः रौद्रमेवाह् ।

1258 ) कृष्णलेश्या—हि निश्चितम् । एतद् रौद्रध्यानं जीवानां स्यात् । कीदृशम् । पञ्चगुण-भूमिकं पञ्चगुणस्थानपर्यन्तम् । पुनः कीदृशम् । कृष्णलेश्याबलोपेतं कृष्णलेश्याप्रायोग्याध्यवसाय-युक्तम् । पुनः कीदृशम् । श्वभ्रपातफलाङ्कितं नरकपतनचिह्नितम् । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ रौद्रस्य लिङ्गान्याहुः ।

महान् स्वामित्वको प्राप्त किया है । जल, अग्नि, सर्प और विषके प्रयोगसे तथा विश्वास उत्पन्न कराकर, फूट उत्पन्न कराकर एवं इसी प्रकारकी अन्य भी कपटपूर्ण प्रवृत्तियोंसे समस्त शशुसमूहको नष्ट कर देनेसे यह मेरा प्रबल प्रताप ग्राद है । इत्यादि प्रकारसे मनुष्य जो विषयसंरक्षणसे सम्बन्धित विचार किया करते हैं उसे लोकके अद्वितीय अधिष्ठिति स्वरूप जिनेन्द्रदेवदेवने संरक्षणानन्दजन्य रौद्रध्यान कहा है ॥२८-३३॥ इस प्रकार ज्ञानार्थिमें चतुर्थं संरक्षणानन्द रौद्रध्यानका वर्णन समाप्त हुआ ॥

कृष्णलेश्याके सामर्थ्यसे संयुक्त एवं नरकपात (अधोगति) रूप परिणामसे चिह्नित यह जीवोंका रौद्रध्यान प्रथम पाँच गुणस्थानों तक रहता है ॥ विशेषार्थ—यहाँ उक्त चार प्रकारके रौद्रध्यानके कारण, फल और उसके अस्तित्वकी सीमाका निर्देश करते हुए जो यह बतलाया गया है कि वह कृष्णलेश्याके निमित्ससे होता है तथा उसका फल नरकगति है सो यह कथन मिथ्यात्व-सहकृत रौद्रध्यानकी प्रधानतासे किया गया है । हिंसादिके अभिप्राय एव धनादि संरक्षणके विचारसे जो रौद्रध्यान पाँचवें गुणस्थानमें कदाचित् ही होता है वह सम्बद्धरूपनके सामर्थ्यसे नरकगतिका कारण नहीं होता है । कृष्णलेश्याके निर्देशसे यहाँ तीनों अशुभ लेश्याओंको अहं नरना चाहिए ॥३४॥

१. K उत्पाद्य । २. M स्फुरत्ययं । ३. All others except PMNT सन्निकर्म । ४. PMY इति ज्ञानार्थे (X) संरक्षणानन्दरौद्रं चतुर्थम्, N ॥२७॥, T ॥२९॥ एकोनविशत्प्रक., K चतुर्थ-रुद्रध्यानप्रक. । ५. MN फलान्तिकम् । ६. M भूतिकं, F भूषणं ।

- 1259 ) क्रूरता दण्डपाणुर्यं वश्चक्तव्यं कठोरता ।  
निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रीढ़स्थोक्तानि सूरिभिः ॥३५
- 1260 ) विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे अ॒वका भौषणाकृतिः ।  
कैम्यस्वेदादिलिङ्गानि रीढ़े बाह्यानि देहिनाम् ॥३६
- 1261 ) क्षायोपशमिको भावः कालशान्तमूर्हृतिकः ।  
दुष्टाशयवशादेतद्ग्रशस्तावलम्बनम् ॥३७
- 1262 ) दहत्येव क्षणार्धेन देहिनामिदमुत्थितम् ।  
असद्ग्रथानं त्रिलोकश्रीप्रसवं धर्मपादपम् ॥३८

1259 ) क्रूरता—[रीढ़स्य लिङ्गानि चिङ्गानि सूरिभिः पण्डितैः उक्तानि कथितानि । कानि । क्रूरता, दण्डपाणुर्यं शिक्षाकठोरत्वं, वश्चक्तव्यं परवश्चना, कठोरता, निस्त्रिंशत्वं निदृश्यत्वं एतानि तानि इत्यर्थः] ॥३५॥ अथ रीढ़बाह्यलिङ्गानि दर्शयति ।

1260 ) विस्फुलिङ्ग—देहिनां प्राणिनां रीढ़े रीढ़ध्याने बाह्यानि लिङ्गानि वर्तम्भे । कानि । विस्फुलिङ्गनिभे अङ्गारसदृशनेत्रे । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ रीढ़े भावादिकामाह ।

1261 ) क्षायोपशमिकः—रीढ़े भावः । कः । क्षायोपशमिकः । च पुनः अन्तमूर्हृत्वकालः । एतद्वौद्रम् अप्रशस्तावलम्बनम् वशुभाव्यवशाश्रालम्बनम् । कस्मात् । दुष्टाशयवशात् दुष्टचित्ताभिप्रायात् । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ ध्यानस्य दुष्टत्वमाह ।

1262 ) दहत्येव—देहिनाम् इदम् असद्ग्रथानम् उत्थितं सद् धर्मपादयं धर्मतरं क्षणार्धेन दहत्येव । कीदूर्शं धर्मपादपम् । त्रिलोकश्रीप्रसवं जगत्त्रयश्रीजनकम् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अधार्त-रीढ़ध्यानमूर्षसंहरति ।

दुष्टता, दण्डकी कठोरता, धूर्तता, कठोरता और स्वभावमें निर्दिष्टता; ये आचार्योंके हारा उस रीढ़ध्यानके अभ्यन्तर चिङ्ग कहे गये हैं ॥३५॥

अग्निके कणके समान लाल नेत्र, भुकुटियोंकी कृटिलता, शरीरकी भयानक आकृति, कौपना और पसीना आदा इत्यादि रीढ़ध्यानके समय प्राणियोंके बाह्य चिङ्ग होते हैं ॥३६॥

दुष्ट अभिप्रायसे उत्पन्न होकर निन्द्य वस्तुका आलम्बन लेनेवाला वह रीढ़ध्यान क्षायोपशमिक भाव है व काल उसका अन्तमूर्हृत्वं प्रभाग है ॥३७॥

यह निन्द्य ध्यान उत्पन्न होकर प्राणियोंके तीनों लोकोंकी लक्ष्यमीको उत्पन्न करनेवाले धर्मरूप वृक्षको आवे क्षणमें ही जलाकर भस्म कर देता है ॥३८॥

- 1263 ) इत्यार्तरौद्रे गृहिणामजसं ध्याने सुनिन्द्रे भवतः स्वतो ऽपि ।  
परिग्रहारम्भकषायदोषैः कलङ्किते अन्तःकरणे विशङ्कम् ॥३९
- 1264 ) क्षचित्क्षवच्चिदमी भावाः प्रबर्तन्ते मुनेरपि ।  
प्राक्मर्गौरवाच्चित्रं प्रायः संसारकारणम् ॥४०
- 1265 ) स्वयमेव प्रजायन्ते विना यत्नेन देहिनाम् ।  
अनादिदृढसंस्कारादुध्यनानि प्रतिक्षणम् ॥४१
- 1266 ) इति विगतकलङ्कौर्बर्णितं चित्रस्पं  
दुरितकुरुहकन्दं निन्द्यदुध्यनियुगम् ।

1263 ) इत्यार्तरौद्रे—गृहिणा गृहस्थानाम् अजसं निरन्तरम् इति अमुना प्रकारेण आर्त-  
रौद्रध्याने भवतः । कीदूशे । सुनिन्द्रे निन्दनीये । पुनः कीदूशे । अन्तःकरणे चित्ते विशङ्कं स्वतः  
स्वस्वरूपात् परिग्रहारम्भकषायदोषैः कलङ्किते । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ पुनर्स्तेषामेव  
स्वरूपमाह ।

1264 ) वृचित्—अमी भावाः प्रस्तावाद्रीद्रादयः मुनेरपि ज्ञाततत्त्वस्यापि क्षचित् वृचित्  
प्रबर्तन्ते । कथम् । प्रायः वाहुत्यात् संसारकारणम् । कस्मात् । प्रावक्मर्गौरवात् पुरातनकर्म-  
गौरवत्वेन चित्रमाश्वर्यमेतदिति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथायत्नेनापि देहिनां दुध्यनानि भवन्तीत्याह ।

1265 ) स्वयमेव—देहिनां प्राणिनां विना यत्नेन दुध्यनानि स्वयमेवात्मना प्रजायन्ते  
प्रतिक्षणम् । कस्मात् । अनादिदृढसंस्कारात् अनादिकालघनवासतत्त्वात् । इति सूत्रार्थः ॥४१॥  
अथैतेषां त्याज्यत्वमाह ।

1266 ) इति विगत—हे धीर, निन्द्यदुध्यनियुगम् निन्दनीयदुष्टध्यानद्वयं त्यज । सप्दि  
शीघ्रम् । इति पूर्वोक्तप्रकारं सम्यगालोच्य विचार्य । इतीति किम् । विगतकलङ्कौर्बर्णितरागैश्चचितं

इस प्रकारसे ये अतिशय निन्द्य आर्त और रौद्रध्यान परिग्रह, आरम्भ और कषाय  
दोषोंसे दूषित गृहस्थ जनके अन्तःकरणमें निरन्तर स्वर्य ही हुआ करते हैं, इसमें शंका  
नहीं है ॥३९॥

कहीं-कहीं पर ये भाव पूर्वकृत कर्मके प्रभावसे मुनिके भी हुआ करते हैं । ठीक है—  
संसारका हेतु प्रायः अनेक प्रकारका है ॥४०॥

प्राणियोंके अनादि कालके दृढ़ संस्कारसे ये दुष्टध्यान प्रतिसमय प्रथनके विना स्वर्यं  
ही हुआ करते हैं ॥४१॥

हे धीर ! निन्दनीय ये दोनों ध्यान अनेक प्रकारके स्वरूपसे संयुक्त और पापरूप शृङ्ख-  
की जड़ होते हुए अतिशय कड़वे फलों (नरकादि हुख) से व्याप हैं । यदि तू मोक्षमार्गमें

१. Y विशम्भित । २. M किंचिदमी । ३. V चित्त । ४. M संसारात् । ५. M N T K X Y  
लङ्कौशच्चितं । ६. SR हुस्तिविपिनबीजं ।

कदुकतरफलाद्यं सम्यग्जालोच्य धीर  
त्यज सपदि यदि त्वं मोक्षमार्गे प्रवृत्तः ॥४२

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-  
विरचिते आर्तरौद्रप्रकरणम् ॥२४॥

चत्वारिंशीकृतम् । पुनः कीदृशम् । चित्रस्तपम् । पुनः कीदृशम् । दुरितकुरुहकन्दं पापतस्कन्दम् ।  
पुनः कीदृशम् । कदुकतरफलाड्यम् । यदि त्वं मार्गे सम्यग्जानादिके प्रवृत्तः । इति सूत्रार्थः ॥४२॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहपासा तत्पुत्रसाहटोडर तल्कुलकमल-दिवाकर साहकरिदास स्वश्रवणार्थं  
पण्डितजिनदासोदयमेन कारापितं चतुर्थरुद्रव्यानप्रकरणम् ॥२४॥

धर्मव्यानधुराधीरः पुण्यपादवौ हि टोडरः । कल्याणदानमन्दारः ऋषिदासः परं जीयात्  
॥१॥ आशीवदिः । अथ धर्मव्यानमाह ।

प्रवृत्त हुआ है तो उनके उपर्युक्त स्वरूपका भलीभौति विचार करके उन्हें शीघ्र ही छोड़  
दे ॥४२॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
आर्तरौद्र प्रकरण समाप्त हुआ ॥२४॥

## [ ध्यानविरुद्धस्थानानि ]

1267 ) अथ प्रश्नमालम्ब्य विधाय स्ववर्णं मनः ।

विरज्य कामभोगेषु धर्मध्यानं निरूपये ॥१॥

1268 ) तदेव प्रक्रमायातं सविकल्पं समाप्ततः ।

आरम्भफलपर्यन्तं प्रोच्यमानं निबुद्धताम् ॥२॥

1269 ) ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराश्रयः ।

सुमुकुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते ॥३॥

1267 ) अथ प्रश्नम्—अथेति आत्मैरीडध्यानानन्तरं “प्रथममालम्ब्येति सुगमम् । मनः स्ववर्णं विधाय कुरु ॥ १ ॥ कामभोगेषु विरज्य विरक्तोनूय धर्मध्यानं निरूपय कथयेति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ धर्मध्यानमेवाह ।

1268 ) तदेव—तदेव धर्मध्यानं प्रक्रमायातं प्रस्तावागतं विबुद्धतां जानीयताम् । समाप्ततः संक्षेपात् मया प्रोच्यमानं कथयमानम् । कीदृशम् । सविकल्पं सभड्गाम् आरम्भफलपर्यन्तम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ ध्यानयोग्यमाह ।

1269 ) ज्ञानवैराग्य—मुमुक्षुः मोक्तुभिच्छुः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ मैश्यादिभावता दर्शयति ।

हे भव्य ! तू प्रश्नम् (राग-द्वेषकी शान्ति) का आश्रय लेकर मनको अपने अधीन करता हुआ विषयभोगोंसे विरक्त हो और धर्मध्यानका अखलोकन कर—उसका विचार कर ॥१॥

वही धर्मध्यान यहाँ प्रसंगप्राप्त है । उसका यहाँ भेद-प्रभेदोंके साथ प्रारम्भसे लेकर फलपर्यन्त संक्षेपसे निरूपण किया जाता है । हे भव्य ! तू उसका अनेक प्रकारसे मनन कर ॥२॥

जो मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाला ध्याता ज्ञान व वैराग्यसे सहित, वन्धके कारणभूत मिथ्यात्वादि परिणामोंसे रहित, चित्तकी स्थिरतासे संयुक्त, प्रयत्नशील और शान्त होता है वही ध्याता प्रश्नसाके योग्य हैं ॥३॥

१. MN निरूपयेत्, T निरूपये । २. All others except PM विबुद्धतां ।

1270 ) चतस्रो भावना धन्याः पुराणपुरुषाश्रिताः ।  
मैत्र्यादयशिवरं चित्ते विधेयाः धर्मसिद्धये ॥४॥ अथ मैत्री—

1271 ) क्षुद्रेतरविकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु ।  
सुखदुःखाद्यवस्थासु संस्थितेषु यथायथम् ॥५

1272 ) नानायोनिगतेष्वेषु समत्वेनाविराधिका ।  
साध्वी महस्वभापभा मतिमैत्रीति पञ्चते ॥६

1273 ) जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसनवज्ञिताः ।  
प्राप्नुवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम् ॥७॥ अथ करुणा—

1270 ) चतुर्खः—विधेयाः कर्तव्याः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ प्रथमतः  
मैत्रीमेव आहु । अथ मैत्री ।

1271 ) क्षुद्रेतर—चरस्थिरशरीरेषु प्राणिषु मैत्रीति सर्वश्च योज्यम् । कीदृशेषु । क्षुद्रेतर-  
विकल्पेषु सूक्ष्मभादरेषु । पुनः कीदृशेषु । यथायथं यथाप्रकारं सुखदुःखाद्यवस्थासु संस्थितेषु । इति  
सूत्रार्थः ॥५॥ पुनरेतदेवाह ।

1272 ) नानायोति—अविराधिका विराधनारहिता मतिवृद्धिर्मैत्री । शेषं सुगमम् । इति  
सूत्रार्थः ॥६॥ अथ तदंतं कथयति ।

1273 ) जीवन्तु—पराभवं मानखण्डनम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ करुणा ।

जिन मैत्री आदि चार भावनाओंका आचीन शृणि-महर्षियोंने आश्रय लिया है,  
धर्मकी सिद्धिके लिए उन प्रश्नासनीय भावनाओंका मनमें चिरकाल तक चिन्तन करना  
चाहिए ॥४॥

**मैत्रीभावना**—यथायोग्य सुख व दुख अवस्थाओंमें चर्तुमान सूक्ष्म व स्थूल भेदरूप  
तथा चलते हुए व स्थिर शरीरसे संयुक्त (त्रस-स्थावर) ऐसे अनेक योनियोंमें अवस्थित  
प्राणियोंके विषयमें जो समभावस्थरूपसे विराधनारहित उत्तम महती बुद्धि होती है उसे  
मैत्रीभावना कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि सब ही संसारी जीवोंमें समानताका भाव  
रखते हुए उनके लिए दुख उत्पन्न न हो, इस प्रकारकी अभिलाषाका नाम मैत्रीभावना  
है ॥५-६॥

सब ही प्राणी संक्लेश व आपसिसे रहित होकर जीवित रहें तथा वे वैर, पाप एवं  
अपमानको छोड़कर सुखको प्राप्त हों; ऐसा विचार करना, इसका नाम मैत्री भावना है ॥७॥

१. M पुष्टाः for धन्याः । २. P विधेयात्, S R चित्ते व्येया धर्मस्य सिद्धये । ३. P M अथ मैत्री ।  
४. R संसृतेषु । ५. M विराधिका । ६. LT मैत्री प्रपञ्चते, F मैत्री विषयते, K विषयते । ७. PM  
अथ करुणा ।

- 1274 ) दैन्यशोकसमुत्त्रासरोगपीडादितात्मसु ।  
वधबन्धनस्तदेषु याचमानेषु जीवितम् ॥८
- 1275 ) क्षुत्तृष्टश्वाभिभूतेषु शीताद्यैर्यथितेषु च ।  
अवरुद्देषु निस्त्रिशैष्ठात्यैर्यमानेषु निर्दयैः ॥९
- 1276 ) मरणातेषु भूतेषु यत्प्रतीकारवाऽच्छया ।  
अनुग्रहमतिः सेर्यं करुणेति प्रकीर्तिता ॥१०॥ अथ मुदिता—
- 1277 ) तपःश्रुतयमोद्युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुषाम् ।  
विजिताक्षकषायाणां स्वतस्वाभ्यासशालिनाम् ॥११

1274 ) दैन्यशोक—एतेषु जीवेषु करुणादयादैन्यशोकसमुत्त्रासरोगपीडादितात्मसु दीनता-शोकभयरोगवेदनापीडितात्मसु । पुनः । वधबन्धनस्तदेषु । पुनः । जीवितं याचमानेषु । इति सूक्ष्मार्थः ॥८॥ अथ पुनरस्तदेवाह ।

1275 ) क्षुत्तृष्टश्वाभिभूतेषु—एतादुशेष्वपि करुणा कार्या । क्षुत्तृष्टश्वाभिभूतेषु क्षुष्टा-तुष्णाश्वाभिभूयमानेषु शीताद्यैर्यथितेषु पीडितेषु । पुनः कीदृशेषु । निस्त्रिशैष्ठात्यैर्यमानेषु पीडितेषु करुणा विधेया । इति सूक्ष्मार्थः ॥९॥ अथ करुणालक्षणमाह ।

1276 ) मरणातेषु—सा इर्यं करुणा इति प्रकीर्तिता कथिता । भूतेषु प्राणिषु मरणातेषु यत् प्रतीकारवाऽच्छया उपायवाऽच्छया अनुग्रहमतिः प्रसादमतिः । इति सूक्ष्मार्थः ॥१०॥ अथ मुदिता ।

1277 ) तपःश्रुत—ज्ञानचक्षुषां ज्ञाननेत्राणां मुदिता कार्या । कीदृशाम् । तपःश्रुतयमोद्युक्त-चेतसां तपःश्रुतवतोपेतमनसो मुदिता विजिताक्षकषायाणां विनिजितेन्द्रियकषायाणां दृष्ट्वा मोदः कार्यः । स्वतस्वाभ्यासशालिनाम् आत्मस्वरूपाभ्यासमनोहरणाम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥११॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

करुणाभावना—दीनता, शोक, त्रास व रोगकी वेदनासे पीड़ित; वध व बन्धनसे रोके गये; जीवितकी याचना करनेवाले; भूख, खास व परिश्रमसे पराजित; शीत आदिकी बाधासे संयुक्त; दुष्ट जीवोंके द्वारा रोकफर निर्दयतासे पीड़ित किये जानेवाले; तथा मरणकी वेदनासे व्यक्तित प्राणियोंके चिकित्सामें उनकी पीड़िके प्रतीकारकी इच्छासे जो अनुग्रहरूप झुँझि हुआ करती है वह करुणा कही जाती है ॥८-१०॥

मुदिता ( प्रमोद ) भावना—जिनका चित्त तप, शास्त्रपरिशीलन और ब्रतमें उद्यत है; जो ज्ञानरूप नेत्रसे संयुक्त हैं, जिन्होंने इन्द्रियों व कृपायोंको वशमें कर लिया है, जो आत्म-

१. S K X Y R समुत्त्रासे । २. All others except P F X Y यात्यमानेषु, XY पीडितमानेषु ।

३. All others except P निर्दयम् । ४. NTFR जीवेषु for भूतेषु । ५. PM अथ मुदिता ।

1278 ) जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम् ।

तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्गुणो सा मुदिता मता ॥१२॥ अथोपेक्षा—

1279 ) क्रोधविद्वेषु सत्त्वेषु निस्त्रिशकूरकर्मसु ।

मधुमांससुरान्यस्त्रीलुभ्येष्वत्यन्तपापिषु ॥१३॥

1280 ) देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशसिषु ।

नास्तिकेषु च माध्यस्थं यत्सोपेक्षा प्रकीर्तिंता ॥१४॥

1281 ) एता मुनिजनानन्दसुधास्यन्दैकचन्द्रिकाः ।

ष्वस्तरागाद्युरुक्लेशा लोकाग्रपथदीपिकाः ॥१५॥

1278 ) जगत्त्रय—सद्गुणोः सत्पुरुषोः सा मुदिता मता कथिता । सा का । जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनां त्रिभुवनाश्वर्यकारिचारित्राधिष्ठितात्मनां गुणेषु यः प्रमोदो हर्षः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथोपेक्षा ।

1279 ) क्रोधविद्वेषु—\* क्रोधविद्वेषु सत्त्वेषु प्राणिषु उपेक्षा कर्तव्या । निस्त्रिशकूरकर्मसु निर्दयकूरकर्मसु । मधुमांससुरान्यस्त्रीलुभ्येषु मध्यमांससुराविशेषपरस्त्रीलम्पटेषु । अत्यन्तपापिषु । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथोपेक्षामाह ।

1280 ) देवागम—सा उपेक्षा प्रकीर्तिता कथिता । यत् नास्तिकेषु माध्यस्थम् । कीदृशेषु । देवागमयतिव्रातनिन्दकेषु देवदास्यतिवर्गनिन्दनीयेषु । पुनः कीदृशेषु । आत्मशसिषु । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथैतासां फलमाह ।

1281 ) एता मुनि—एता मैत्र्यादयो लोकाग्रपथदीपिकाः मोक्षपथदीपिकाः मुनिजनानन्दसुधास्यन्दैकचन्द्रिकाः मुनिवृन्दानन्दामृतसावैकचन्द्रज्योत्स्नाः । पुनः कीदृश्यः । ष्वस्तरागाद्युरुक्लेशाः । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ पुनरेतासां फलमाह ।

तत्त्वके अभ्याससे शोभायमान हैं, तथा जिनकी आत्मा तीनों लोकोंकी आइचर्यान्वित करनेवाले चारित्रसे अधिष्ठित हैं; उन महापुरुषोंके गुणमें जो हर्ष होता है, वह सत्पुरुषोंके द्वारा मुदिता भावना मानी गयी है ॥१२-१३॥

उपेक्षा भावना—जो प्राणी क्रोधसे संयुक्त, निर्दयतापूर्वक दुष्ट कर्म करनेवाले; मधु, मांस, मध्य एवं परस्त्रीमें आसत्त; अलिशय पापी; देव, शास्त्र व मुनिसंघके निन्दक, अपनी प्रश्नासा करनेवाले तथा नास्तिक (आत्मा व परस्तोकके न माननेवाले) हैं उनके विषयमें शोभको ग्राप न होकर जो माध्यस्थताका भाव रखा जाता है, वह उपेक्षा भावना कहलाती है ॥१३-१४॥

उपर्युक्त मैत्री आदि चार भावनाएँ मुनिजनके आनन्दरूप अमृतके बहानेके लिय अनुपम चाँदनीके समान, रागादिरूप महाक्लेशको नष्ट करनेवाली और लोकशिखर (सिद्धक्षेत्र) के मार्गको—रत्नत्रयको—प्रकट करनेके लिय दीपिकके समान हैं ॥१५॥

१. MLK यो गुणेषु प्रमोदः स्यात्, NT यो गुणेषु प्रमोदो यः, X स्याद्गुणेषु प्रमोदो यः । २. PM अथोपेक्षा । ३. M क्रोधविद्वेषु, X क्रोधविषटेषु । ४. N हि for च ।

- 1282 ) एताभिरनिशं योगी क्रीड़न्त्यन्तनिर्भयम् ।  
सुखमात्मोत्थमत्यभिमिहैवास्कन्दति ध्रुवम् ॥१६
- 1283 ) भावनास्थासु संलीनः करोत्यध्यात्मनिश्चयम् ।  
अवगम्य जगद्वृत्तं विषयेषु न मुद्घति ॥१७
- 1284 ) योगनिद्रा स्थितिं धने मोहनिद्राप्रसर्ति ।  
आसु सम्यकप्रणीतासु स्यान्मुनेस्तश्चनिश्चयः ॥१८
- 1285 ) आभिर्यदानिशं १ विश्वं भावयत्यखिलं वशी ।  
तदौदासीन्यमापन्नश्चरत्यवैव मुक्तवत् ॥१९

1282 ) एताभिरनिशं—योगी एताभिर्भविनाभिरनिशं निरन्तरम् । सुखम् इहैवास्तदति आश्रयति । ध्रुवं निर्दिशतम् । क्रीड़न्ते सुखम् । आत्मोत्थम् । पुनः क्रीड़न्ते सुखम् । अत्यक्षमतीन्द्रियम् । किं कुर्वन् । अत्यन्तनिर्भरं क्रीडन् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथासां स्वरूपमाह ।

1283 ) भावनास्थासु—आसु भावनासु संलीनः सावधानः अध्यात्मनिश्चयं करोति । किं कृत्वा । जगद्वृत्तं अमच्छरितमवगम्य ज्ञात्वा विषयेषु न मुद्घति । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अर्थातासां स्वात्मतत्त्वकारणतामाह ।

1284 ) योगनिद्रा—मुनेश्चततत्त्वस्य तत्त्वनिश्चयः परमात्मतत्त्वनिश्चयः स्यात् । आसु मैश्यादिभावनासु सम्यकप्रणीतासु कथितासु योगनिद्रा स्थितिं धने । आसु सम्यकप्रणीतासु मोहनिद्रा प्रसर्ति गच्छति । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ पुनरपि तासां कलमाह ।

1285 ) आभिर्यदा—वशी वशेन्द्रियः आभिर्भविनाभिरखिलं विश्वं जगदनिशं निरन्तरम् । तदा औदासीन्यम् आपन्नः । अत्रैव मुक्तवत् चरति विचरति । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अर्थं रागादीनां स्वरूपमाह ।

इन भावनाओंके साथ निरन्तर अतिशय क्रीड़ा करनेवाला योगी निश्चयसे यहाँ ही—हसी भवें—अतीन्द्रिय आत्मिक सुखको प्राप्त कर लेता है ॥१६॥

इन भावनाओंमें निमग्न हुआ योगी अध्यात्मका निश्चय करता है तथा संसारके स्वरूपको जासकर वह विषयोंमें मुग्ध नहीं होता है ॥१७॥

इन भावनाओंका भलीभाँति आचरण (चिन्तन) करनेपर मुनिकी योगनिद्रा (समाधि) स्थिरताकी धारण करती है, मोहरूप चीड़ नष्ट हो जाती है, तथा उसे वस्तुस्वरूपका निश्चय हो जाता है ॥१८॥

जिसेन्द्रिय योगी जब इन भावनाओंके साथ निरन्तर समस्त लोकका चिन्तन करता है तब वह उदासीनभावको प्राप्त होकर—राग-द्वेषसे मुक्त होता हुआ—यहाँ (संसारमें) ही सिद्धके समान आचरण करता है—मुक्ति उसके सिकट आ जाती है ॥१९॥

- 1286 ) रागादिवागुराजालं निकृत्याचिन्त्यविक्रमः ।  
स्थानमाश्रयते धन्वो विविक्तं ध्यानसिद्धये ॥२०
- 1287 ) कानिचित्तत्र शस्यन्ते दृष्ट्यन्ते कानिचित्पुनः ।  
ध्यानाध्ययनसिद्धयर्थं स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥२१
- 1288 ) विकीर्यते मनः सद्यः स्थानदोषेण देहिनाम् ।  
तदेव स्वस्थता धत्ते स्थानमासाद्य बन्धुरम् ॥२२
- 1289 ) म्लेच्छाधमजनैर्जुर्ष्टे दुष्टभूपालपालितम् ।  
पात्रण्डमण्डलकान्तं महाभिध्यात्वनाशितम् ॥२३

, 1286 ) रागादि—धन्वो पुष्पभाक् स्थानमाश्रयते । किमर्थम् । विविक्तं पृथक् पृथक् ध्यानशिद्धये रागादिवागुराजालं निकृत्य कर्तव्यित्वा । कीदृशो धन्वः । अचिन्त्यविक्रमः । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ स्थानाश्रयत्वमेवाह ।

1287 ) कानिचित्—मुनिसत्तमैः मुनिप्रधानैः तत्र कानिचित् स्थानानि शस्यन्ते प्रशास्यन्ते । पुनः । कानिचित् दृष्ट्यन्ते । किमर्थम् । ध्यानाध्ययनसिद्धयर्थम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथेतदेवाह ।

1288 ) विकीर्यते—देहिनां प्राणिनां मनः सद्यः तत्कालं विकीर्यते विमलार्थते । केन । स्थानदोषेण । तदेव तेषां मनः स्वच्छतां निर्मलतां धत्ते । बन्धुरं मनोहरं स्थानमासाद्य प्राप्य । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1289-98 ) म्लेच्छाधम—एतादृशं स्थानं मोक्तव्यम् । ध्यानविद्वंसशङ्कृतैर्भ्यनिविज्ञ-शाङ्कृतैः । यत् स्थानं किञ्चित् क्षोभाय ध्यानक्षोभाय जायते, मोहाय जायते, यद्विकाराय जायते, तदपि स्थानं मोक्तव्यमित्यनेतद्लोकार्थः । म्लेच्छाधमजनैर्यवनाधमलोकैः जुर्ष्टे सेवितम् । पुनः

इस प्रकार उन भावनाओंके आश्रयसे राग-द्वेषादिरूप कौसरोंके समूहको काटकर—उनसे सर्वथा रहित होकर—अचिन्त्य पराक्रमको प्राप्त करता हुआ कुतार्थ योगी ध्यानको सिद्ध करनेके लिए एकान्त स्थानका आश्रय लेता है ॥२०॥

उनमें ध्यान और अध्ययनकी मिलिके लिए श्रेष्ठ भुनियोंके द्वारा कुल स्थान तो प्रशंसनीय बतलाये जाते हैं और कुछ स्थान सदोष बतलाये जाते हैं ॥२१॥

स्थानके दोषसे प्राणियोंका मन शीघ्र ही विकारको प्राप्त होता है, तथा वही भल रमणीय स्थानको पाकर स्वस्थताको धारण करता है—राग-द्वेषसे रहित होकर आत्मस्वभावमें अवस्थित होता है ॥२२॥

जो स्थान म्लेच्छ और निकृष्ट जनोंसे सेवित है, दुष्ट राजासे शासित है, पात्रण्डगों (धूतैः) के समूहसे ल्याप्त है, महाभिध्यात्वसे नष्ट किया गया है, जहाँपर कौलिकों—तान्त्रिकमतानुयायिश्वों या शक्तिके उपासकों—का तथा कापालिकों (बामसार्गिणी) का

१. M अन्तर्जुर्ष्ट । २. All others except P<sup>३</sup> त्वासितम् ।

- 1290 ) कौलकपालिकावासं रुद्रसुद्रादिमन्दिरम् ।  
उद्भ्रान्तभूतवेताले चण्डकाभवनाजिरम् ॥२४
- 1291 ) पण्यस्त्रीकृतसंकेतं मन्दचारित्रमन्दिरम् ।  
क्रूरकर्माभिन्नाराढ्यं कुशास्त्राभ्यासवश्चितम् ॥२५
- 1292 ) क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्त्रीकारदपितम् ।  
भिलितानेकदुःशीलकल्पिताचिन्त्येसाहसम् ॥२६
- 1293 ) धूतकारसुरापानविट्ठन्दिवजान्वितम् ।  
पाकसत्त्वसमाकान्तं नास्तिकसामरसेवितम् ॥२७
- 1294 ) क्रव्यादकामुकाकीर्णं व्याधविध्वस्तश्चापदम् ।  
शिल्पिकारुं कविशिस्मग्निजीविजनाच्चितम् ॥२८

कीदृशम् । दुष्टभूपालपालित दुष्टराजरक्षितम् । पुनः कीदृशम् । पालण्डिमण्डलकान्तं सुगमम् । पुनः कीदृशं स्थानम् । महामिथ्यात्ववासितं सुगममिति श्लोकार्थः । पुनः कीदृशं स्थानम् । कौलका-पालिकावासं नास्तिककापालिकगृहम् । पुनः कीदृशम् । एव शुद्धादिभवन्दिरं सुगमम् । पुनः कीदृशं स्थानम् । उद्भ्रान्तभूतवेताले उद्भ्रान्ता भूतवेताला यत्र तत्तथा । पुनः कीदृशम् । चण्डिकाभवनाजिरं रुद्राणीगृहाङ्गम् । इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशम् । पण्यस्त्रीकृतसंकेतं वाराङ्गलाङ्गुल-संकेतस्त्रीनम् । पुनः कीदृशम् । मन्दचारित्रमन्दिरं मन्दचारित्रमृहम् । पुनः कीदृशम् । क्रूरकर्माभिन्नाराढ्यं दुष्टाचारव्यभिन्नारयुक्तम् । पुनः कीदृशम् । कुशास्त्राभ्याससंयुतं सुगमम् । इति श्लोकार्थः । पुनः कीदृशम् । क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्त्रीकारदपितं क्षेत्रजातिकुलानाम् उत्पन्ना या शक्तिः सामर्थ्यं, तस्य स्त्रीकारः, तेन दपितं गवितम् । पुनः कीदृशम् । मिलितानेक-निवास है, जो भयानक व क्रूर आदि जीवोंका घर है, जहाँ भूत और वेताल आदिकोंका संचार है, जो कुछ खिलोंकी भवनका अंगन जैसा है, वेद्याएँ जहाँपर संकेत किया करती हैं, जो चारित्रसे हीन प्राणियोंका घर घन रहा है, जो दुष्ट कियाओं एवं शत्रुके घातनार्थ किये जानेवाले मन्त्रादिके प्रयोगोंसे व्याप्त है, जो दूषित शास्त्रोंके अभ्याससे प्रतारित है; जो क्षेत्र, जाति व कुलके निभित्तसे उत्पन्न हुई शक्तिकी स्त्रीकारतारूप अभिमानसे व्याप्त है, अर्थात् जहाँपर क्षेत्र, जाति एवं कुल आदिका निरर्थक अभिमान करनेवाले उत्पन्न रहते हैं; जहाँपर अनेक दुष्ट स्वभावबाले प्राणी मिलकर अचिन्त्य पराक्रमकी कल्पना किया करते हैं; जो जुआरियों, मधुपायियों, व्यभिन्नारियों एवं दासियोंके समूहसे संयुक्त है, जो शत्रु जीवोंसे व्याप्त है, जो नास्तिक व मिःसार जीवोंसे संवित है, जो मासभक्षी व कामीजनोंसे व्याप्त है,

१. M N ल for ल । २. L K °भ्याससंयुतम् । ३. K शक्तिस्त्रीकाङ्गदै । ४. °तानेकसाहस । ५. M S पापसर्व, T पापासर्व R पापिसर्व । ६. M नास्तिकाकार । ७. K 'क्यरं च वि' । ८. M N Y जनाचितं, K जनान्वितम् ।

१. M N ल for ल । २. L K °भ्याससंयुतम् । ३. K शक्तिस्त्रीकाङ्गदै । ४. °तानेकसाहस । ५. M S पापसर्व, T पापासर्व R पापिसर्व । ६. M नास्तिकाकार । ७. K 'क्यरं च वि' । ८. M N Y जनाचितं, K जनान्वितम् ।

- 1295 ) <sup>१</sup>सेनासंचारसंरुद्धं भण्डभागवगवितम् ।  
गीतवादित्रधोषात्वं नटनारीविडम्बितम् ॥२९
- 1296 ) क्षुद्रजन्तुपशुकलीबयतितासपृश्यसेवितम् ।  
आत्रेयीखण्डतव्यज्ञसंश्चितं <sup>२</sup> च परित्यजेत् ॥३०
- 1297 ) विडम्बन्ति <sup>३</sup> जनाः पापाः संचरन्त्यभिसारिकाः ।  
क्षोभयन्तीज्जिताकारैर्यन्त्र नार्योऽपेशङ्किताः ॥३१
- 1298 ) कि च क्षोभाय मोहाय यद् विकाराय जायते ।  
स्थानं तदपि मोक्तव्यं व्यानविघ्नं सशङ्कितैः ॥३२

दुःशीलकल्पितानेकसाहस्रम् । मिलिता अनेके दुःशीला दुराचाराः तैः कल्पितानि अनेकानि साहसानि यत्र तत्तथा । इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशम् । दूतकारसुरापालविटबन्दिङ्गजाम्बितम्, शुशम्बम् । पुनः कीदृशम् । यापरापालविटबन्दितम्, सुशम्बम् । पुनः नास्तिकासारसेवितं नास्तिकसमूहसेवितम् । इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशम् । कव्यादकामुकाकीर्णं राक्षसकामुकव्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । व्याधविघ्वसत्य-श्वापदं भिललविनाशिततिर्थं व्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । शिल्पिकारुकविद्यिर्संकारुकजनव्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । अग्निजीविजनान्वितं <sup>४</sup> लोहकारादित्रनयुक्तम् । इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशम् । प्रत्यनीकाः <sup>५</sup> तैरासमन्तात् अवलम्बितं समाश्रितम् । पुनः कीदृशं स्थानम् । आत्रेयीखण्डतव्यज्ञसंश्चितं पुष्पवती खी, खण्डिता पतिरहिता प्रोषितमर्तुका वा, व्यज्ञा नासादिशरीरावयवविकला ताभिः संश्चितं व्याप्तं परित्यजेत् । इति सूत्रार्थः । यथा स्थाने पापा जनाः विद्रवन्ति <sup>६</sup> उपद्रवन्ति, यत्राभिचारिकाः <sup>७</sup> दूताः संचरन्ति, यत्र नार्यः इज्जिताकारैर्भूक्षेपादिभिः क्षोभयन्ति पुष्पमिति गम्भम् ।

जहाँपर व्याप्त हिंसक पशुओंका घात किया करते हैं, जो शिल्पी और कारीगरोंसे दूर किया गया है—छोड़ा गया है, जो अग्निसे आजीविका करनेवाले जनों ( लोहार आदि ) से व्याप्त है, जो सेनाके संचारसे रोका गया है, जो भाँड़ व भाँड़वोंसे गर्वको प्राप्त है, जो गीत, यादित्र और धोषासे व्याप्त है, जो अभिनय करनेवाली लियोंसे विडम्बनाको प्राप्त है; जो क्षुद्र कीड़े, पशु, नपुंसक, पतित व अस्पृश्य जनोंसे सेवित हैं; तथा जो रजस्वला लियों, छिन्नांगों एवं हीनांग जनोंसे आश्रित है; ऐसे स्थानका ध्यानके लिए परित्याग करना चाहिए ॥२९-३०॥

जहाँपर पापी जन दुख देते हों, दुराचारिणी स्त्रियोंका आवागमन हो, तथा स्त्रियाँ निर्भय होकर दूषित शरीरकी चेष्टा और से क्षोभको उत्सन्न करती हों, इसके अतिरिक्त जो

१. All of hers except P N read: प्रतिपक्षशिरः शूल (ले) प्रत्यनीकावलम्बितम् । आत्रेयी<sup>८</sup>त्यजेत् ॥२९॥, X प्रतिपक्ष...लम्बितम् । आस्तिसंचार<sup>९</sup>गवितम् । गीतवादित्रयेषाण्यै<sup>१०</sup>खण्डम्बितं ॥२९॥,

All others except PN om. this verse and first line of the next verse ।

२. K खण्डतव्यज्ञसंश्चितं । ३. All others except PMX संसृतं । ४. All others except

P विद्रवन्ति । ५. MK भिचारिकाः । ६. MNT नार्वौ अपेशङ्किताः ।

- 1299 ) तृणकण्टकबल्मीकविषमोपलकर्दमैः ।  
अस्मोच्छिष्टास्थिरतादैर्षिता संत्यजेद् भुवम् ॥३३
- 1300 ) काककौशिकमार्जरखरगोमायुमण्डलैः ।  
अवघुष्टे हि विघ्नाय ध्यातुकामस्य योगिनः ॥३४
- 1301 ) ध्यानधर्वनिभित्तानि तथान्यान्यपि भूतले ।  
न हि स्वप्ने ऽपि सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥३५

कीदूश्यो नार्यः । अशब्दिता अपि<sup>१</sup> । इति सूत्रार्थः ॥२३-२४॥ अथ पुनरेतादृशं स्थानं त्यज्यम् । तदेवाह ।

1299 ) तृणकण्टक—एतादृशं स्थानं भुवं पृथ्वीं त्यजेत् । तृणकण्टकबल्मीकों कथकण्टकसर्व-स्थानम् । पुनः कीदूशीं भुवम् । विषमोपलकर्दमैर्षितां ब्रह्मप्रसरतरपद्मैर्दोषवतीम् । भस्मोच्छिष्टास्थिरक्तादैः रक्षोच्छिष्टास्थिरधिराद्यदोषवतीम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ पुनस्तदेवाह ।

1300 ) काककौशिक—योगिनो ध्यातुकामस्य विघ्नाय विघ्नकरणाय हि नियतम् अवघुष्टं परिषोषितम् । कैः । काककौशिकमार्जरखरगोमायुमण्डलैः । काकः प्रसिद्धः, कौशिकः उलूकः, मार्जरः प्रसिद्धः, खरा गर्वभाः, गोमायुः गोधा, मण्डलः इवा, तेषां रामाहारः, तैः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ पुनः स्थाननिषेधमाह ।

1301 ) ध्यानधर्वन—मुनिसत्तमैः एतादृशानि स्थानानि न हि स्वप्ने ऽपि सेव्यानि । कीदूशानि । ध्यानधर्वनिभित्तानि ध्याननाशकारणामि । तथा भूतले अन्यान्यपि ध्याननाशकारीणि । इति सूत्रार्थः ॥३५॥

स्थान क्षोभ, मोह और विकारका कारण हो उसको भी ध्यानके विनाशकी आशंकासे छोड़ देना चाहिए ॥३१-३२॥

ध्यानके लिए तृण (धास), कौटि, सर्पकी बौंची, विषम पत्थर, कीचड़, भस्म, जँठन, हड्डी और हथिर आदि से दूषित भूमिका परिस्थिति करना चाहिए—ऐसी भूमि ध्यानके बोध्य नहीं है ॥३३॥

कीवा, उलू, विलाच, मधा, शून्याल और कुता; इनसे अधिकृत स्थान ध्यानकी अभिलाषा करनेवाले योगीके लिए विघ्नका कारण होता है ॥३४॥

इसी प्रकार इस पृथिवीपृष्ठपर अन्य भी जो स्थान ध्यानके नाशक हैं, श्रेष्ठ मुनिजनों को उनका सेवन—ध्यानके लिए उपयोग—स्वप्नमें भी सही करना चाहिए ॥३५॥

१. L भूमम् for भूते । २. M N अवघृहं, X Y अवश्यतो हि ।

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-विरचिते  
विरुद्धसंस्थानप्रकरणम् ॥२५॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा-  
तत्पुत्रसाहटोडरतत्कुलकमलदिवाकरसाहऋषिदासस्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन  
कारापित विरुद्धसंस्थानप्रकरणं समाप्तम् ॥२५॥

विदितसकलधर्मः पाश्वसाहुः मुशर्धः परममहिषहर्ष्यः टोडरो नष्टकर्मः । तदनुसुतविलासो  
अथति श्रीरेखिदासः सुमतिसुकरवासो उपास्तवैरुद्धवासः ॥ इत्याशीर्वादः । अथ ध्यानसिद्धियोग्य-  
स्थानमाह ।

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
विरुद्धसंस्थान प्रकरण समाप्त हुआ ॥२५॥

## [ प्राणायामः ]

- 1302 ) सिद्धेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते ।  
कल्याणकलिते पुण्ये व्यानसिद्धिः प्रजायते ॥१॥
- 1303 ) सागरान्ते वनान्ते वा शैलशृङ्खान्तरे अथवा ।  
पुलिने पद्मखण्डान्ते प्राप्तभारे शालसंकटे ॥२॥
- 1304 ) सरिता संगमे द्वीपे प्रशान्ते तरुकोटरे ।  
जीर्णोद्याने इमशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके ॥३॥

1302 ) सिद्धेत्रे—कल्याणकलिते जन्मदीक्षादिकल्याणस्थाने । शोषं सुगमम् ॥१॥ अथ पुनरुपि स्थानयोग्यतामाह ।

1303 ) सागरान्ते—पुलिने नद्यादिकूले, पद्मखण्डान्ते पद्मोद्याने, प्राप्तभारे, अतिशालसंकटे वृक्षसंकीर्णे । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ [ पुनस्तदेवाह । ]

1304 ) सरिता—सरिता नदीना संगमे मेलापके । द्वीपे समुद्रान्तरंगराकारे । तरुकोटरे वृक्षसुषिरस्थाने । कीदूषे प्रसन्ने । \* पुनः कुत्र । जीर्णोद्याने । वा अथवा । इमशाने, गुहागर्भे दरी-मध्ये । विजन्तुके जन्तुरहितस्थाने । इति सूत्रार्थः ॥३॥ पुनर्ध्यानाहंस्थानमाह ।

व्यानके योग्य स्थान—व्यानकी सिद्धि सिद्धेत्रमें, आयि-महर्षि आदि किन्हीं पुरातन पुरुषोंसे अधिष्ठित अन्य उत्तम तीर्थमें और तीर्थकरके गर्भ-जन्मदादि कल्याणकोंसे सम्बद्ध पवित्र क्षेत्रमें होती है । अभिप्राय यह है कि व्याना योगीको व्यानके लिए किसी ऐसे पवित्र स्थानको देखना चाहिए जहाँसे कोई भव्य जीव मुक्तिको प्राप्त हुआ हो, जहाँ कुछ कालके लिए किसी महापुरुषका निवास रहा हो, अथवा जहाँपर किसी तीर्थकरका कोई कल्याणक सम्पन्न हुआ हो । १॥

संयमका साधक योगी संसारपरिभ्रमणके दुखको शान्त ( नष्ट ) करनेके लिए समुद्रके समीयमें, वनके अन्तमें, पर्वतशिखरोंके मध्यमें, नदी आदिके तटपर, पद्मसमूहके अन्तमें, पर्वतके शिखरपर या गुफामें, वृक्षोंसे संकीर्ण स्थानमें, नदियोंके संयोगस्थानमें, द्वीप ( जलसे

१. M L V कलिते । २. P सिद्धिप्रदायके । ३. Y पद्मध्ये वा । ४. All others except P M N K प्राप्तभारे । ५. All others except P R प्रसन्ने, R प्रशस्ते ।

1305 ) सिद्धकूटे जिनागारे कुत्रिमे अकुत्रिमे इयि चा ।

महर्दिकमहावीरयोगिसंसिद्धिवाजिष्ठते ॥४

1306 ) मनःप्रीतिप्रदे शस्ते शङ्काकोलाहलच्युते ।

सर्वतुर्सुखदे रम्ये सर्वोपद्रववजिते ॥५

1307 ) <sup>३</sup>शून्यवेशमन्यथ ग्रामे भूगर्भे कदलीगृहे ।

पुरोपवनवेद्यन्ते मण्डपे चैत्यपादपे ॥६

1308 ) वर्षातपतुषारादिपवनासारवजिते ।

स्थाने जागत्यविश्वान्तं यमी जन्मातिंशान्तये ॥७

1305 ) सिद्धकूटे—सिद्धकूटे, कुत्रिमे केनापि कृते, अकुत्रिमे वाश्वते एतादृशे जिनागारे चेत्ये । पुनः कीदृशे । महर्दिकमहावीरयोगिसंसिद्धिवाजिष्ठते<sup>१</sup> महर्दिका महावीरा ये योगिनः लेषां सिद्धिः, तथा वाजिष्ठते । इति सूत्रार्थः ॥४॥ पुनर्ध्यनियोगस्थानमाह ।

1306 ) मनःप्रीति—एतादृशे स्थाने ध्यानं कुर्यात् । कीदृशे । मनःप्रीतिप्रदे । पुनः कीदृशे । शस्ते मनोज्ञे । पुनः कीदृशे । शङ्काकोलाहलच्युते शङ्काबहुवजिते । पुनः कीदृशे । सर्वतुर्सुखदे सर्वोपद्रव अत्यन्तो सुखदे । रम्ये मनोहरे । पुनः कीदृशे । सर्वोपद्रववजिते । इति सूत्रार्थः ॥५॥ पुनरस्तदेवाह ।

1307 ) शून्यवेशमनि—शून्यवेशमनि शून्यगृहे । अथवा ग्रामे बहिर्यामि । भूमर्भे भूमिगृहे । कदलीगृहे प्रसिद्धम् । पुरोपवनवेद्यन्ते पुरसमीपतरवनवेदिकानने । मण्डपे, चैत्यपादपे पदद्रव्यं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ पुनर्ध्यनियोगस्थानमाह ।

1308 ) वर्षातिथ—यमी व्रती जन्मातिंशान्तये अविश्वान्तं निरन्तरं जागति । कुत्र स्थाने । वर्षातपतुषारादिपवनासारवजिते वर्षा आतपश्च तुषाराश्च तदादि च पवनो वायुः आसारो वेगवद्वर्णः तैर्वजित इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ ध्यानकालयोगस्थानमाह ।

धिरा हुआ स्थान ) में, अतिशय शान्त वृश्कके कोटर ( पोला भाग ) में, पुराने बर्गीनिमें, इमस्थानमें, जीवोंसे रहित गुफाके भीतर, सिद्धकूटपर, कुत्रिम व अकुत्रिम जिनालयमें, जहाँ-पर किसी महाकृष्णिके धारक व अतिशय पराकर्मी योगीका अभीष्ट सिद्ध हुआ है; जो स्थान मनकी प्रसन्नताको देनेवाला, प्रशस्त, भय व कोलाहलसे रहित, सब ही अल्पोंमें सुखदायक, रमणीय व सब ग्रकारके उपद्रवसे रहित हो बहाँपर; सूने घर, गाँव, भूगर्भ ( पृथिवीका भीतरी भाग ), व केलाके स्तम्भोंसे निर्मित गृहमें; नगर व उपवनकी वेदिकाके सभीपरमें, लतागृहमें, चैत्य वृक्षके नीचे; तथा वर्षा, धाम व शीत आदि वायुके संचार एवं सूखलाधार वृष्टिसे रहित स्थानमें निरन्तर जागता है—सदा ही शिवन-बाधाओंसे रहित ध्यानको करता है। तात्पर्य यह कि उपर्युक्त स्थान योगीके लिए ध्यानके योग्य हैं ॥२-७॥

१. All others except P M N T वीर । २. X Y सिद्धि । ३. T om. this verse.

- 1309 ) यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम् ।  
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥८ तुच्छित्
- 1310 ) दारुपट्टे शिलापट्टे भूमी वा सिकतास्थले ।  
समाधिसिद्धये धीरो विद्ध्यात् सुस्थिरासनम् ॥९
- 1311 ) पर्यङ्कमध्यपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा ।  
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च संमतः ॥१०  
क्रमल
- 1312 ) येन येन सुखासीनौ विद्ध्युनिश्चलं मनः ।  
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्निष्ठुरासनम् ॥११

1309 ) यत्र रागादयः—यत्र स्थाने रागादयो दोषा अजस्रं निरन्तरं लाघवं यान्ति । तत्रैव स्थाने वसतिः साध्वी प्रथाना । ध्यानकाले विशेषतः । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथोपवेशस्थानमाह ।

1310 ) दारुपट्टे—दारुपट्टे कारणपट्टे । शिलापट्टे प्रसिद्धम् । भूमी वा सिकतास्थले धूलिस्थाने । शेषं सुगमम् ॥९॥ अथ पुनरपि आसनमाह ।

1311 ) पर्यङ्कम्—पर्वङ्कं पर्यङ्कासनम् । अर्धपर्यङ्कम् अर्धपर्यङ्कासनम् । वज्रासनं, वीरासनम् । मुखारविन्दपूर्वे च मुखारविन्दाकारपूर्वे । कायोत्सर्गश्च संमतः कथितः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ पुनरपि आसनविशेषमाह ।

1312 ) येन येन—येन येनासनेन सुखासीना निश्चलं मनो विद्धुः । मुनिभिः तत्तदेवासनं बन्धुरं विशेषं स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ पुनरासनविशेषमाह ।

जहाँपर रागादिक दोष निरन्तर हानिको प्राप्त होते हैं, ध्यानके समयमें वहाँपर अवस्थित रहना विशेष रूपसे उत्तम है ॥८॥

धीर योगीको ध्यानकी सिद्धिके लिए लकड़ीके पटियेपर, शिलापट्टपर, पृथिवीके ऊपर अथवा बालुमय स्थलके ऊपर अतिशय ढूढ़ आसन प्राप्त करना चाहिए ॥९॥

पर्यंक आसन, अर्ध पर्यंक आसन, वज्रासन, वीरासन, सुखपूर्व आसन ( सुखासन ) और अरविन्दपूर्व आसन ( पद्मासन ); ये आसन ध्यानके लिए अभीष्ट माने गये हैं ॥१०॥

जिस-जिस आसनसे सुखपूर्वक स्थित होकर मनको स्थिर किया जा सकता है, मुनिभनोंके लिए उस उस रमणीय आसनको प्राप्त करना चाहिए ॥११॥

१. M N वीरो । २. T सुखासीनं ।

1313 ) कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तः कैश्चिदीरितः ।

देहिना वीर्यवैकल्यात् कालदोषेण संप्रति ॥१२

1314 ) बज्रकाया महासच्चा निष्कम्पाः सुस्थिरासनाः ।

सर्वविस्थास्वलं ध्यात्वा गताः प्रामयोगिनः शिवम् ॥१३

1315 ) उपसर्गेरपि स्फीतैर्देवदैत्यारिकल्पितैः ।

स्वरूपालम्बितं तेषां न चेतश्चाल्पते क्वचित् ॥१४

1316 ) शूयन्ते संशृतस्वान्ताः स्वत्स्वकृतनिश्चयाः ।

विषधोग्रोपसर्गार्गिन ध्यानसिद्धिं समाप्तिताः ॥१५

1313 ) कायोत्सर्गश्च—देहिनां जीवानां कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कश्च कैश्चिदाचार्यः इरितः कथितः । कस्मात् । वीर्यवैकल्याद् बलराहित्यात् । संप्रति इदानीम् । केन । कालदोषेण । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथासनप्रयोजनमाह ।

1314 ) बज्रकायाः—अज्ञिनः प्राणिनः प्रायो बाहुधेन शिवं गताः प्राप्ताः । वीर्यं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ तथा सर्वसंज्ञकलत्वमाह ।

1315 ) उपसर्गे—तेषां चेतः क्वचित् न चाल्पते । कीदृशां चेतः । स्वरूपालम्बितं स्वात्म-स्वरूपालम्बितम् । कैः । उपसर्गेरपि स्फीतैः । देवदैत्यारिकल्पितैः<sup>१</sup> देवदैत्यरिकां कृतैः । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ परीषहैरध्यासितैः शिवफलमाह ।

1316 ) शूयन्ते—शूयन्ते लोके शास्त्रे । स्वीकृतस्वान्ताः वशीकृतमनसः ध्यानसिद्धिं समाप्तिताः आश्रिताः । कीदृशाः । तत्त्वकृतनिश्चयाः । उपसर्गार्गिन विषहृष्ट सहित्वा । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनरेतदाह ।

इस समय कालके दोषसे शक्तिकी हीनता होनेसे किन्हीं आचार्यनि ध्यानके इच्छुक प्राणियोंकि लिए कायोत्सर्ग और पर्यंक ये दो आसन ही प्रशस्त बतलाये हैं ॥१२॥

जो पूर्वसमयके योगी बज्र जैसे दृढ़ शरीरवाले—यज्ञर्षभस्ताराचशरीरसंहस्तके धारक, अतिशय बलशाली, निश्चल और स्थिर आसनवाले थे वे सब ही अवस्थाओंमें परिपूर्ण ध्यान करके मुक्तिको प्राप्त हुए हैं ॥१३॥

उन योगियोंका आत्मस्वरूपके आश्रित हुआ मन देव, दैत्य और शब्दुओंके द्वारा किये गये वृद्धिगत ( घोर ) उपसर्गोंके द्वारा भी कहींपर विचलित नहीं हुआ ॥१४॥

जिन योगियोंने मनको मिथ्यादर्शनादिरूप आम्रवौसे रहित कर लिया था तथा जिन्हें आत्मस्वरूपका निश्चय हो चुका था वे भयानक उपसर्गरूप अग्निकी सहकर ध्यानकी मिद्धि-के आश्रित हुए सुने जाते हैं—उनका ध्यान सकल हुआ था ॥१५॥

१. All others except P M N S T प्रशस्तः...<sup>२</sup> दीरित । २. N F दैत्यादि । ३. All others except P M येषां ।

- 1317 ) केचिद्जवालावलीढा हरिशरभगजव्यालविष्वस्तदेहाः  
केचित्क्रूरोरिदैत्यैरदयमभिर्हताः शूलचंकासिदण्डैः ।  
भूकम्पोत्पातवातप्रलैयपविवनव्रातरुद्वास्तथान्ये  
कुत्वा स्थैर्यं समाधौ सपदि शिवपदं निष्प्रपञ्चं प्रयन्नाः ॥१६  
1318 ) तद्वीर्यं यमिनां मन्ये न संप्रति पुरातनम् ।  
अर्तः स्वप्ने इषि तामास्थां प्राचीनां कर्तुमक्षमाः ॥१७  
1319 ) निःशेषविषयोत्तीर्णो निविष्णोऽन्मसंक्रमात् ।  
आत्माधीनमनाः शश्वत्सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥१८

1317 ) केचिद्व—केचिन्मनुष्याः ज्वालावलीढा ज्वालाव्यासाः । हरिशरभगजव्यालविष्वस्तदेहाः सिहाष्टापदकर्त्तिर्येविष्वस्तदेहाः । केचित् क्रूरोरिदैत्यैरदयं निर्दयमपि चक्रशूलसिदण्डैर्हताः । तथान्ये भूकम्पोत्पातवातप्रबलपविवनव्रातरुद्वाः । भूकम्पश्चोत्पातश्च एतादृशो वातः प्रकर्षेण चलतीति स चासी परिश्रमो मेघः तेषां ब्रातः समूहः, तेन रुद्वाः । अन्ये निष्प्रपञ्चं शिवपदं भीक्षं मोक्षहेतुं वा प्रपन्नाः । इति कुत्वा । शगाची उवैर्द धूत्वा । सपदि शीघ्रम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥१६॥ अथ यमिनां वीर्यमाह ।

1318 ) तद्वीर्यम् — अहं मन्ये । संप्रति यमिनां व्रतिनां न पुरातनं तद्वीर्यम् । \* अन्तःस्वप्ने इषि ताम् आस्थां प्राचीनां कर्तुम् अक्षमा असमर्थाः । इति सूक्ष्मार्थः ॥१७॥ अथ ध्यानार्हपुरुषमाह ।

1319 ) निःशेष—शश्वविष्वरन्तरं सर्वदा ध्यातुमर्हति ध्यानयोग्यो भवति । निःशेषविषयोत्तीर्णो सर्वविषयोत्तरिते । स निविष्णः\* विष्मरहितः । जन्मसंक्रमात् आत्माधीनमनाः । इति सूक्ष्मार्थः ॥१८॥ अथ ध्यानसिद्धिकलमाह ।

पूर्व कालमें कितने ही योगी अग्निकी ज्वालाओंसे चाटे जाकर—उनके मध्यमें पड़कर; कितने ही सिंह, अष्ट्रापद, हाथी और सर्वके द्वारा शरीरसे रहित होकर—मारे जाकर; कितने ही दुष्ट शत्रु और दैत्योंके द्वारा शूल, चक, तलवार और दण्डसे निर्दयतापूर्वक ताङ्गित होकर; तथा दूसरे कितने ही भूकम्प, वायु एवं प्रलयकालीन वज्र य भेदोंके समूहसे रोके जाकर ध्यानमें स्थिरताको प्राप्त करते हुए इन्हीं ही प्रतारणासे रहित मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं ॥१६॥

संयमी जनोंका वह प्राचीन तेज इस समय नहीं रहा है, ऐसा मैं मानता हूँ । इसलिए वर्तमान योगी उस प्राचीन शद्वा (दृढ़त) को स्वप्नमें भी प्राप्त करनेके लिए समर्थ नहीं हैं ॥१७॥

जो समस्त विषयोंके पार पहुँच चुका है—उनकी इच्छासे रहित हो चुका है, संसार परिभ्रमणसे विरक्त हो चुका है, तथा जिसका मन सर्वदाके लिए अपने अधीन हो चुका है वह निरन्तर ध्यान करनेके लिए योग्य होता है ॥१८॥

१. S R क्रूरादि । २. S K X Y R °मसिहताः । ३. All others except P चकशूलाः ।  
४. X शूलः । ५. All others except P प्रबलपवि । ६. X वैर्यः । ७. All others except  
P L F K तद्वीर्यः । ८. N S T X Y अथ, F K अन्तः । ९. All others except P M N T  
नामास्थाः । १०. K निविष्णो ।

- 1320 ) अविक्षिप्तं यदा चेतः स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत् ।  
मुनेस्तदेवं निविद्धा ध्यानसिद्धिरुदाहता ॥१९॥
- 1321 ) स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेनिवन्धनम् ।  
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ॥२०॥
- 1322 ) संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः ।  
सर्वावस्थासु सर्वत्र सदैवं ध्यातुमर्हति ॥२१॥
- 1323 ) विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थिते इयि वा ।  
यदि धत्ते स्थिरं चित्तं न तदास्ति निषेधनम् ॥२२॥

1320 ) अविक्षिप्त—यदा चेतः स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत् अविक्षिप्तम् । मुनेऽप्ततस्वस्य ध्यान-सिद्धिरुदाहता कथिता । तदेवं निविद्धो भवेदिति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ पुनर्धानस्वरूपमाह ।

1321 ) स्थानासन—ध्यानसिद्धेः स्थानासनविधानानि पूर्वोक्तस्वरूपाणि निवन्धनं कारणम् । मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितम् एकं न मनो मुक्त्वा । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ ध्यानाहं-पुरुषमाह ।

1322 ) संविग्नः—स सर्वत्र सदैव ध्यातुमर्हति ध्यानयोग्यः [भवति] । कीदृशः । संविग्नः संवेगसहितः । संवृतः संवृतेन्द्रियः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1323 ) विजने—यदि स्थिरं चित्तं धत्ते तदा निषेधनं नास्ति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ ध्यानकालासनमाह ।

मुनिका मन भ्रान्तिसे रहित होकर जब आत्मस्वरूपके सम्मुख होता है तभी उसके ध्यानकी सिद्धि निर्बाध कही गयी है ॥१९॥

✓ स्थान, आसन और विश्रि ये ध्यानके कारण हैं, इनमेंसे किसी एक कारणको भी छोड़कर मुनिका मन भ्रान्ति और क्षोभसे रहित नहीं हो सकता है ॥२०॥

संसारसे भयभीत, धैर्यशाली, मिथ्यात्वादि आत्मव्योमसे रहित, दृढ़ और निर्मल परिणामवाला साधु सदा, सर्वत्र और सब ही अवस्थाओंमें ध्यानके योग्य ( समर्थ ) होता है ॥२१॥

यदि चित्त स्थिरताको प्राप्त कर चुका है तो चाहे एकान्त स्थान हो और चाहे वह जनोंसे व्याप्र भी हो, इसी प्रकार चाहे सुखकी अवस्थामें हो और चाहे विषस्तिसे ग्रस्त हो; किन्तु योगीके ध्यानका निर्बाध नहीं है—चित्तके स्थिर हो जानेपर वह सर्वत्र और सब ही अवस्थाओंमें निविलतासे ध्यान कर सकता है ॥२२॥

- 1324 ) पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखो ऽथ वा ।  
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥२३॥ अथवा—<sup>२</sup>
- 1325 ) चरणज्ञानसंपत्ता जिताक्षा वीतमत्सराः ।  
प्राग्नेकास्ववस्थासु संप्राप्ता यमिनः शिवम् ॥२४
- 1326 ) मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुखी खलिनै वहै ।  
अप्रमत्तश्चमत्ताखयौ धर्मस्यैती यथायथम् ॥२५
- 1327 ) अप्रमत्तः सुसंस्थानो वज्रकायो वशी स्थिरः ।  
पूर्ववित्संकृतो धीरो ध्याता संपूर्णलक्षणः ॥२६

1324 ) पूर्वाशाभिमुखः—ध्यानकाले ध्याता प्रशस्यते । कीदृशः । पूर्वाशाभिमुखः पूर्वदिङ्ग-  
मुखः । वा अथवा । उत्तराभिमुखः । कीदृशः । प्रसन्नवदनः । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथवा ।

1325 ) चरणज्ञान—यमिनो यतयः शिवं संप्राप्ताः । कीदृशाः । चरणज्ञानसंपत्ताः । पुनः  
कीदृशाः । जिताक्षाः जितेन्द्रियाः । पुनः कीदृशाः । वीतविभ्रमाः<sup>२</sup> चष्टभ्रमाः । प्राग्नेकासु अवस्थासु  
शिवं प्राप्ताः । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ ध्यानस्य स्वाभिनावाह ।

1326 ) मुख्योपचार—धर्मस्यैती द्वौ मुखी यथायथं यथाप्रकारं स्वामिनी मतौ । कौ द्वौ ।  
अप्रमत्तः प्रमत्तश्च । केन । मुख्योपचारभेदेन मुख्यगीणभेदेन । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ ध्यातु-  
लक्षणमाह ।

1327 ) अप्रमत्तः—सुसंस्थानः सुष्ठु शरीरावयवः । पूर्ववित् पूर्ववेत्ता । शेषं सुगमम् । इति  
सूत्रार्थः ॥२६॥ धर्मध्यानस्य श्रुतमाह ।

जो ध्याता प्रसन्नमुख होता हुआ ध्यानके समय पूर्व दिशाके अभिमुख अथवा उत्तर दिशाके अभिमुख होता है वह प्रशंसाका भाजन होता है । तात्पर्य यह कि ध्यानके समय पूर्व अथवा उत्तरकी ओर मुख करके स्थित होना उत्तम माना गया है ॥२३॥

अथवा—सम्यक्कृत्यादित्र व सम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न, इन्द्रियोंके विजेता और मात्सर्य-  
भावसे रहित सुनिजन पूर्वकालमें अनेक अवस्थाओंमें सुक्तिको प्राप्त हुए हैं—वे पूर्वोत्तरदिशा-  
भेदादिके दिना भी उत्कृष्ट ध्यानके आश्रयसे सुक्तिको प्राप्त हुए हैं ॥२४॥

यथायोग्य मुख्य व उपचारकी अपेक्षा अप्रमत्त और प्रमत्त नामके ये दो सुनि धर्म-  
ध्यानके स्वामी माने गये हैं ॥२५॥

जो अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती सुनि उत्तम संस्थान ( समचतुरल्ल आदि ३ ) से सहित,  
वज्रमय शरीरसे संयुक्त ( वज्रवृपम आदि तीन उत्तम संहननोंमेंसे किसी एकसे संयुक्त ),  
जितेन्द्रिय, दृढ़, पूर्वश्रुतका ज्ञाता, मिथ्यादर्शनादि आनन्दबोंसे रहित और दैर्घ्यशाली हो उसे  
ध्यानके सम्पूर्ण लक्षणोंसे युक्त ध्याता जानना चाहिए ॥२६॥

- 1328 ) श्रुतेन विकलेनापि स्वामी सूत्रे प्रकीर्तिः ।  
अधःश्रेण्या प्रबुद्धात्मा धर्मध्यानस्य सुंश्रुतः ॥२७
- 1329 ) कि च कैश्चच धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः ।  
संदृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना ॥२८
- 1330 ) ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपि विधा ।  
लेश्याविशुद्धियोगेन फलसिद्धिरुदाहृता ॥२९
- 1331 ) अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः ।  
मनागपि न खिद्यन्ते समाधीं सुस्थिरासनाः ॥३०

1328 ) श्रुतेन—विकलेन अहीनेनापि श्रुतेन स्वामी सूत्रप्रकीर्तिः कथितः । कीदृशः । अधः-  
श्रेण्या प्रबुद्धात्मा<sup>१</sup> सुगमम् । धर्मध्यानस्य सुंश्रुतः । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ कि च ।

1329 ) कि च कैश्चच च—कैश्चिद्बाचार्यः<sup>२</sup> धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः कथिताः ।  
के ते चत्वारः । सम्यग्दृष्ट्यादि अप्रमत्तान्ताः । केन । यथायोग्येन हेतुना कारणेन । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ ध्यानस्य विज्ञानि दर्शयति ।

1330 ) ध्यातारः—ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयाः । तेषां ध्यानान्यपि विधा । केन । लेश्या-  
विशुद्धियोगेन । सुगमम् । फलसिद्धिः ध्यानसिद्धिः उदाहृता कथिता । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथासन-  
स्वरूपभाव ।

1331 ) अथासन—अथेत्यानन्तर्ये । आसनजयं करोतु विजितेन्द्रियः । समाधीं न खिद्यन्ते ।  
समाधीं सुस्थिरासनाः । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथासनशैथिल्ये मनःस्वीयमावभावमाह ।

जो नीचेकी श्रेणीमें वर्तमान होकर आत्मस्वरूपमें प्रबुद्ध ( जागृत ) है वा समीचीन  
श्रुतका देशतः ज्ञाता है उसे पूर्ण श्रुतके बिना भी आगममें धर्मध्यानका स्वामी कहा है ॥२७॥

इसके अतिरिक्त कितने ही आचार्योंने यथायोग्य निमित्तसे—सम्यग्दृष्टिसे अप्रमत्त  
तक—असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत—इन चार गुणागुण  
स्थानवर्ती जीवोंको उस धर्मध्यानके स्वामी माना है ॥२८॥

जधन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारके ध्याता और उनके ध्यानको भी  
तीन प्रकारका जातना चाहिए । कारण यह कि उस ध्यानके फलकी सिद्धि लेश्या ( आत्म-  
परिणामों ) की विशुद्धिके असुसार कही गयी है ॥२९॥

योगीको जितेन्द्रिय होकर आसनजय—दीर्घकाल तक किसी एक ही आसनसे स्थित  
रहनेकी दृढ़ताको—करना चाहिए, क्योंकि, अतिशय दृढ़ आसनबाले योगी समाधिके विषय-  
में थोड़ेसे भी खेदको नहीं प्राप्त होते हैं ॥३०॥

१. Y श्रुतेनाविकले<sup>३</sup> । २. All others except P M Y प्रबुद्धात्मा । ३. M N सुंश्रुतः ।  
४. N धर्मस्य । ५. K सम्यग्दृष्ट्या<sup>४</sup> ।

1332 ) आसनाभ्यासवैकल्यादपुःस्थैर्यं न विद्यते ।

खिद्यन्ते त्वज्ज्वैकल्यात् समाधिसमये ध्रुवम् ॥३१॥

1333 ) वातातपतुषाराद्यैर्जन्तुजातैरनेकशः ।

कृतासनजयो योगी खेदितो इषि न खिद्यते ॥३२॥

1334 ) आसाध्याभिमतं स्थानं रम्यं चित्तप्रसन्निदम् ।

उद्दिन्नपुलकः श्रीमान् पर्यङ्गमधितिष्ठति ॥३३॥

1335 ) पर्यङ्गदेशमध्यस्थे ग्रोत्ताने करकुड्मले ।

करोत्युद्दिनराजीवसंनिभे च्युतचापले ॥३४॥

1332 ) आसनाभ्यास—आसनाभ्यासवैकल्यात् आसनाभ्यासराहित्यात् वपुःस्थैर्यं न विद्यते ।  
तु पुनः । अज्ज्वैकल्यात् सुगमम् । समाधिसमये ध्रुवे खिद्यते<sup>१</sup> । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अस्य दृढासन-  
स्थोपसर्गीमन्तो न वात्यत इत्याह ।

1333 ) वातातप—योगी कृतासनखेदितो इषि न खिद्यते । कौः । अनेकशो जन्तुजातैः ।  
वातातपतुषाराद्यैः वातश्च आतपश्च तुषारश्च तेषां समाहारः, तैः । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ  
पर्यङ्गासनमाह ।

1334 ) आसाध्याभिमतं—श्रीमान् योगी पर्यङ्गं पर्यङ्गासनम् अधितिष्ठति उपविशति । किं  
कृत्वा । स्थानम् आसाद्य प्राप्य । कौंदुशं स्थानस् । वाभिमतं वाभिलातम् । पुनः कीदृशम् । रम्यम् ।  
चित्तप्रसन्निदं मनसः विशदभावदम् । उद्दिन्नपुलकः प्रगटरोमाङ्गः इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ  
पर्यङ्गासनविशेषमाह ।

1335 ) पर्यङ्ग—पर्यङ्गदेशमध्यस्थे करकुड्मले ग्रोत्ताने करोति ऊर्ध्वभूते करोति । पुनः  
कीदृशे करकुड्मले । उद्दिन्नराजीवसंनिभे विकसितकमलसदृशे । पुनः कीदृशे । च्युतचापले । इति  
सूत्रार्थः ॥३४॥ पुनरेतदेवाह ।

आसनका अभ्यास न होनेसे—उसकी अस्थिरतासे—शरीरकी स्थिरता नहीं रहती है  
और शरीरकी अस्थिरतासे समाधिके समयमें नियमसे खेद होता है ॥३५॥

जिस योगीने आसनके ऊपर विजय प्राप्त कर ली है, अर्थात् जो बहुत काल तक  
दृढतापूर्वक एक आसनसे बैठ सकता है; वह वायु, आम और शैत्य आदिके द्वारा तथा  
प्राणिसमूहोंके द्वारा खेदको प्राप्त करनेपर खिड़ा नहीं होता है ॥३६॥

अभीष्ट, रमणीय एवं मनके प्रसन्न करनेवाले स्थानको पा करके हृष्टसे रोमाचको प्राप्त  
हुआ श्रीमान् योगी पर्यंक आसनसे अधिष्ठित होता है ॥३७॥

इस आसनमें योगी चंचलतासे रहित (स्थिर) और सुले हुए दोनों हाथोंरूप  
कलिकाओंको पर्यंकभागके मध्यमें स्थित करके विकसित कमलके आकारमें करता है । अभि-  
प्राय यह है कि दोनों जंघाओंके भागको दोनों पौर्वोंके ऊपर रखकर दोनों खुली हुई

१. All others except P N T खिद्यते । २. All others except P M रम्य स्थानः ।  
३. S Y R °च्युतफुल्लराजीव ।

- 1336 ) नासाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रे सुनिश्चले ।  
प्रसन्ने सौम्यतायन्ने निष्पन्दे मन्दतारके ॥३५
- 1337 ) भ्रूबङ्गीविक्रियाहीनं सुशिलष्टाधरपञ्चवम् ।  
सुसमत्स्यहदप्रायं विदध्यान्मुखपञ्चजम् ॥३६
- 1338 ) अगाधकरुणाम्भोधी मग्नः संविनमानसः ।  
शृज्ज्वायतं वपुर्धर्षे प्रशस्तं पुस्तभूतिंवत् ॥३७
- 1339 ) विवेकवार्धिकल्लोलैर्निर्मलीकृतमानसः ।  
ज्ञानमन्त्रोदधृताशेषरागादिविषमग्रहः ॥३८

1336 ) नासाग्र—नेत्रे सुनिश्चले धत्ते । कीदूशे । प्रसन्ने विकसिते । पुनः कीदूशे । नासाग्र-देशविन्यस्ते सुगमम् । सौम्यतायन्ने सौम्यतायुक्ते । पुनः कीदूशे । निष्पन्दे निमेषोन्मेषरहिते मन्दतारके । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ पुनर्ददत्तेवाद् ।

1337 ) भ्रूबल्ली—मुखपञ्चजं वदनकमलम् । कीदूशम् । भ्रूबल्लिविक्रियादीर्म्<sup>१</sup> भ्रूलता-विकारदीक्षम् । पुनः कीदूश वदनपञ्चजम् । सुशिलष्टाधरपञ्चलवं प्र-अस्फुट-अधरपञ्चलवम् । पुनः कीदूशम् । सुसमत्स्यहदप्रायं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ पुनर्ध्यानिस्वरूपमाह ।

1338 ) अगाध—संविनमानसः वैराघ्योपेतचित्तः । क्षज्ज्वायतं सरलविस्तीर्णं वपुः शरीर धत्ते । अगाधकरुणाम्भोधी अगाधदयासमुद्रे मग्नः । कीदूशम् । प्रशस्तं मनोहरं पुस्तभूतिंवत् शृज्ज्वायतं धत्ते । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ पुनर्योगिस्वरूपमाह ।

1339 ) विवेक—विवेकवार्धिकल्लोलैविवेकसमुद्रतरङ्गैः निर्मलीकृतं मानसं चित्तं येन सः । पुनः कीदूशम् । ज्ञानमन्त्रोदधृताशेषरागादिविषमग्रहः सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ पुनर्योगिस्वरूपमाह ।

हथेलियोंमें से बाई हथेलीको नाभिके पास नीचे और उसके ऊपर दाहिनी हथेलीके रखनेपर पर्यंक आसन होता है ॥३९॥

इस आसनमें योगी अतिशय स्थिर, प्रसन्न, शान्त, स्पन्दनसे रहित और पुतलियोंकी मन्दतायुक्त दोनों नेत्रोंको नासिकाके अघमगामे रखता है ॥३९॥

इसके साथ ही अपने मुखको वह सोते हुए मत्स्यसे संयुक्त तालाके समान खुकुटिंखुप बेलोंके विकार ( कुटिलता ) से रहित और अधरोष्टरूप नवीन पत्तोंके सुन्दर संयोगसे सहित करता है ॥३९॥

उस समय दयारूप अथाह समुद्रके भीतर मग्न हुआ योगी मनमें संसारसे भयभीत होकर सीधे व लम्बे उत्तम शरीरको भिट्ठी, लकड़ी अथवा वर्षसे निर्मित मूर्तिके समान स्थिर करता है ॥३९॥

उक्त स्वरूपकाले पर्यंक आसनसे ध्यानावस्थित हुए जिस योगीका मन विवेकरूप समुद्रकी लहरों द्वारा निर्मल कर दिया गया है, जिसके कुटिल समस्त रागादिरूप ग्रह-

- 1340 ) रत्नाकर इवागाधः सुराद्विरिव निश्चलः ।  
प्रशान्तविश्वविश्वन्देः प्रनष्टसकलभ्रमः ॥३९
- 1341 ) किमयं लोष्टनिष्पलः किं वा पुस्तप्रकल्पितः ।  
समीपस्थैरपि प्रायः प्राज्ञैध्यानीति लक्ष्यते ॥४०॥ आसनंजयः ॥
- 1342 ) सुनिर्णीतस्वसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते ।  
मुनिभिध्यानसिद्धयर्थं स्थैर्यर्थं ४ चान्तरात्मनः ॥४१
- 1343 ) अतैः साक्षात् स विज्ञेयः पूर्वमेव मनोचिह्निः ।  
मनागप्यन्यथा शक्यो न कर्तुं चित्तनिर्जयः ॥४२

1340 ) रत्नाकरः—उपशमितविश्वविश्वन्दः उपशमितजगदाहः सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ ध्यानलक्षणमाह ।

1341 ) किमयर्थ—प्राज्ञः पण्डितैः ध्यानी इति लक्ष्यते । समीपस्थैरपि । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ प्राणायाममाह ।

1342 ) सुनिर्णीत—प्राणायामः प्रशस्यते मुनिभिः । अन्तरात्मनः शुद्धवर्धम् ५ शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अर्थेतस्य विस्तरत्वमाह ।

1343 ) अतैः साक्षात्—कर्तुं न शक्यः । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथ ध्यानान्तरमाह ।

( शनि आदि ) इन रूप मन्त्रके द्वारा नष्ट किये जा चुके हैं, जो समुद्रके समान गम्भीर व सुमेरु पर्वतके समान अहिंग है, तथा जिसके समस्त संकल्प-विकल्प शान्ति व ध्यानि नष्ट ही चुकी है; उस ध्यानावस्थित योगीको देखकर समीपमें स्थित चिह्नान् ‘क्या यह पाषाणसे निर्मित है, अथवा क्या लेप्यकर्म ( मिट्ठी, लकड़ी या बख्त ) से रचित है’ ऐसा प्रायः विचार करते हैं ॥४८-४९॥ आसनञ्जयका कथन समाप्त हुआ ।

जिस प्राणायामके स्वरूपका निर्णय अपने ( जैन ) आगमोंके द्वारा किया गया है उसकी सुनिजनों द्वारा ध्यानकी सिद्धि और अन्तःकरणकी स्थिरताके लिए प्रशंसा की जाती है ॥४१॥

इसलिए बुद्धिमान् सुनिजनोंको उसे पूर्वमें ही प्रकट स्वरूपसे जान लेना चाहिए । कारण यह कि उसके बिना भनके ऊपर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती है ॥४२॥

१. All others except P M विश्वविश्वन्द । २. S V R end the chapter here; others add only आसनञ्जयः । ३. L F K X Y अथ निर्णीतिसि॑, N S T R सुनिर्णीतिसु॑ । ४. M N T X Y शुद्धवर्ध चाँ । K मुख्यार्थद्वाँ । ५. Y अथ । ६. N मनोविष्णा, L T P V मनोविष्णा । ७. L T F निप्रहः ।

- 1344 ) त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतेः पूर्वसूरिभिः ।  
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥४३
- 1345 ) [ रेचनादुदरव्याधेः कफस्य च परिक्षयः ।  
पुष्टिः पूरकयोगेन व्याधिधात्रश्च जायते ॥४३\*१
- 1346 ) <sup>३</sup>विकसत्याशु हृत्यर्थं ग्रन्थिरन्तर्विभिन्नते ।  
बलस्थैर्यविशुद्धिश्च कुम्भकाद् भवति स्फुटम् ॥४३\*२ ] तद्यथा—
- 1347 ) द्वादशान्तात् सभाकुच्य यः समीरः प्रपूर्यते ।  
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥४४

1344 ) त्रिधा लक्षण—पूर्वसूरिभिराचार्यस्त्रिधा लक्षणभेदेन स्मृतः<sup>१</sup> । पूरकः कुम्भकः रेचकः तदनन्तरम् । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ [ अथ पूरकादीनां कलान्याह ।

1345-1346 ) रेचनात्—रेचनात् उदरव्याधेः उदरस्थितरोगस्य । कफस्य च परिक्षयः नाशः भवति । तथा पूरकयोगेन पूरकप्राणायामसंबन्धेन पुष्टिः व्याधिधात्रश्च जायते । तथा च । कुम्भकात् कुम्भकयोगेन हृत्यर्थं हृदयकमलम् । वाशु विटिलि । विकसति उन्मीलति । अपि च । अन्तः ग्रन्थिः विभिन्नते स्फुटति । बलस्थैर्यविशुद्धिश्च बलस्य स्थैर्यस्य च विशुद्धिः च स्फुटं भवति ॥४३\*१-२॥ ] तद्यथा वर्णयति ।

1347 ) द्वादशान्तात्—द्वादशान्तात् यः समीरः सभाकुच्य प्रपूर्यते स पूरक इति ज्ञेयः । कः । वायुः<sup>२</sup> । कैः । विज्ञानकोविदैः विज्ञानपण्डितैः । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ कुम्भकमाह ।

वह प्राणायाम पूर्व आचार्योंके द्वारा लक्षणकी विशेषतासे तीन प्रकारका माना गया है—पूरक, कुम्भक और रेचक ॥ विज्ञेयार्थ—इवास और प्रश्वासस्त्र वायुकी गतिके रोकने का नाम प्राणायाम है । नासिकाके छेदोंद्वारा जो वायु बाहर निकलती है उसे इवास और उक्त लेदेकि द्वारा जो वायु भीतर प्रविष्ट होती है उसे प्रश्वास कहा जाता है । प्राणायाममें इन दोनों प्रकारकी वायुओंकी गतिको रोका जाता है । वह प्राणायाम पूरक, कुम्भक और रेचकके भेदसे तीन प्रकारका है ॥४३॥

( रेचक प्राणायामसे उदरकी व्याधि और कफ नष्ट हो जाता है । तथा पूरक करनेसे पुष्टिओं और वहुत-सी व्याधियोंका नाश हो जाता है ॥४३\*१॥

कुम्भकसे हृदयमें स्थित कमल विकसित हो जाता है । अन्तर्गमें स्थित प्रनिधि स्फुटती है । शक्ति और स्थिरता निश्चयसे बढ़ जाती है ॥४३\*२॥

द्वादशान्त ( ब्रह्मातालु-भस्तक ) से वायुको स्त्रीचकर जो पूर्ण किया जाता है उसे वायुके विशेष ज्ञानमें निषुण जनोंको पूरक जानना चाहिए ॥४४॥ )

१. M N T स स्मृतः । २-३. Only in M N । ४. P M तद्यथा ।

1348 ) निरुणद्वि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपङ्कजे ।

कुम्भवनिर्भरः सो ऽयं कुम्भकः परिकीर्तिः ॥४५॥

1349 ) निःसार्यते॑ इतियत्नेन योः कोष्ठाच्छूदसनः शनैः ।

स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतः पद्मनागमे ॥४६॥

1350 ) नाभिकैन्दाद्विनिष्कान्तं हृत्यओदरमध्यगम् ।

द्वादशान्ते तु॑ विश्रान्तं तं॑ ज्येयं परमेश्वरम् ॥४७॥

1351 ) तस्य चारं गति बुद्ध्या संस्थां चैवात्मनः सदा ।

चिन्तयेत् कालमाप्नुय शुभाशुभफलोदयम् ॥४८॥

1348 ) निरुणद्वि—यः योगी श्वसनं स्थिरीकृत्य निरुणद्वि नाभिपङ्कजे । कुम्भवत् निर्भरः सो ऽयं अयं स कुम्भकः परिकीर्तिः । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ रेचकमाह ।

1349 ) निःसार्यते—प्राज्ञैः स इति रेचकः पद्मनागमे अयानश्चास्त्रे प्रणीतः । स इति कः । यः कोष्ठात् उदरात् शनैः शनैरिति यत्नेन श्वसनो वायुः निःसार्यते । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ परमेश्वरं शरीरान्तरे एव दर्शयति ।

1350 ) नाभिकैन्दादु—तं परमेश्वरं द्वादशान्ते तु विश्रान्तं स्थितम् । कीदृशम् । नाभिकैन्दाद्विनिष्कान्तं नाभिमूलाद्विनिर्गच्छन्तम् । पुनः कीदृशम् । हृत्यओदरमध्यगम् हृदये पञ्चमध्यस्थितम् । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ वायोश्चारेणात्मशुभाद्युभाफलं चिन्तयति ।

1351 ) तस्य चारं—तस्याचारं॑ विनिर्गमः तम् । तस्यैव गति बुद्ध्या ज्ञात्वा । सदा निरन्तरम् आत्मनः संस्थामवस्थिति चिन्तयेत् । च पुनः । आत्मनः कालं चकारात् आयुरपि चिन्तयेत् विचारयेत् । आत्मनः शुभाशुभफलोदयम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४८॥ अथ वायोरभ्यासेनात्मनश्चेष्टितं जानाति ।

उस आसवायुको मिथर करके जो नाभिरूप कमलके भीतर घड़ेके आकारमें अतिहृदयापूर्वक रोका जाता है उसे कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है ॥४५॥

आसवायुको जो उद्दरके भीतरसे अतिशय प्रयत्नपूर्वक बाहर निकाला जाता है उसे वायुशाखमें विद्वानोंने रेचक प्राणायाम कहा है ॥४६॥

जो आसवायु नाभिरूप कन्दसे निकलकर हृदयरूप कमलके मध्यमें प्राप्त होती हुई द्वादशान्त ( ब्रह्मरन्ध्र )में पिथाना होती है उसे परमेश्वर जानना चाहिए ॥४७॥

उक्त वायुके चार, गति और संस्थाको जानकर निरन्तर शुभ-अशुभ फलकी उत्पत्ति युक्त अपने काल और आयुका विचार करना चाहिए । विशेषार्थ—नाभिसे वायुके निकालनेका नाम चार है । उस वायुको हृदयके मध्यमें ले जाना, इसे गुति कहा जाता है । सथा इस वायुका ब्रह्मरन्ध्रमें अवस्थित रहना, इसका नाम संस्था है ॥४८॥

१. T निःकार्यते । २. All others except P M N T K यत्कोष्ठाच्छूदसनः । ३. L S F R नाभिकैन्दादु । ४. L S Y R सुविश्रान्तं, T F तु यि । ५. L T Y R तज्ज्ञेय । ६. K लस्याचारं ।

- 1352 ) अत्राभ्यासप्रयत्नेन प्रास्ततन्द्रः प्रतिक्षणम् ।  
कुर्वन् योगी विजानाति यन्त्रनाथस्य चेष्टितम् ॥४९
- 1353 ) [ 'उक्तं च इलोकद्वयम्—  
समाकृष्ट्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः ।  
नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः ॥४९\*१
- 1354 ) यत्कोष्ठादतियत्नेन नासाद्वापुरातनैः ।  
बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥४९\*२ ]
- 1355 ) शनैः शनैर्मनो ऽजस्रं वितन्द्रः सह वायुना ।  
प्रवेश्य हृदयाम्भोजकर्णिकायां नियन्त्रयेत् ॥५०

1352 ) अत्राभ्यास— योगी अत्राभ्यासं प्रयत्नेन कुर्वन् यन्त्रनाथस्य जीवस्य चेष्टिते विजानाति । कीदृशः योगी । प्रतिक्षणं प्रास्ततन्द्रः गतालस्यः । इति सूत्रार्थः ॥४९॥ [अथ पूरकादीर्घा लक्षणमाह ।

1353-54 ) समाकृष्ट्य—बहिःस्थं वायुं समाकृष्ट्य यदा प्राणधारणं क्रियते स पूरकः । स एव वायुः नाभिमध्ये पदा स्थिरीकृते तदा स एव कुम्भक इत्युच्यते । अपि च स एव यदा नासा नासिकया बहिः प्रक्षिप्त्यते तदा स रेचक इति स्मृतः कथितः ॥४९\*१-२॥] अथ पुनस्तदेवाह ।

1355 ) शनैः शनैः—मनो ऽजस्रं निरन्तरं शनैर्वायुना । वितन्द्रः गतालस्यः । हृदयाम्भोजे हृदयकमले कर्णिकायां नियन्त्रयेत् ॥५०॥ अथ चित्ते स्थिरीकृते मध्ये विज्ञानं स्फुरतीत्याह ।

जो योगी आलस्यको छोड़कर प्रतिसमय प्रयत्नपूर्वक हस्त वायुके विषयमें अभ्यास करता है वह हृदयरूप यन्त्रके अधिष्ठाता (आत्मा)की प्रवृत्तिको जानता है ॥४९॥ कहा भी है—

नासिकाके द्वारा बाहरसे वायुको खीचकर उसे जो गुदा पर्यन्त पूर्ण किया जाता है, इसका नाम पूरक प्राणायाम है । तथा उसे नाभिके मध्यमें स्थिर करके जो रोका जाता है उसे कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है ॥४९\*३॥

वायुकी उड़रके भाँतरसे निकालकर जो नासिका, ब्रह्मपूर (तालुरम्ब) और मुखके द्वारा विशेष प्रयत्नके साथ बाहर फेंका जाता है, इसे रेचक प्राणायाम माना गया है ॥४९\*४॥

योगीको आलस्यसे रहित होकर निरन्तर वायुके साथ धीरे-धीरे मसको प्रविष्ट कराकर उसे हृदयरूप कमलकी कर्णिकाके ऊपर रोकना चाहिए ॥५०॥

1356 ) 'विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तते' ।

अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥५१॥

1357 ) एवं भावयतः स्वान्तं<sup>१</sup> यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात् ।

'विमदी स्युस्तथाक्षाणि कषायरिपुभिः समम् ॥५२

1358 ) कुञ्च श्वसनावश्रामः का नाड्यः संक्रमः कथम् ।

का मण्डलगतिः केयं प्रवृत्तिरिति बुध्यते ॥५३

1359 ) स्थिरीभवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम् ।

जगद्द्वृत्तं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ॥५४

1356 ) विकल्पा न—तत्र हृदयाम्भोजे चित्ते स्थिरीकृते सति अन्तर्मध्ये विज्ञाने स्फुरति । विकल्पाः संकल्पाः न प्रसूयन्ते उत्पद्यन्ते । विषयाशा निवर्तते । इति सूत्रार्थः ॥५१॥ अर्थात् सति मिथ्याज्ञानं नश्यतीत्याह ।

1357 ) एवं भावयतः—एवं भावयतो विचारयतः अविद्या मिथ्याज्ञानं क्षणात् क्षयं याति । तदा अक्षाणि इन्द्रियाणि विमदीस्युः मदरहितानि स्युः । कषायरिपुभिः समं सहेति सूत्रार्थः ॥५२॥ अथ तस्यैव विशेषमाह ।

1358 ) कुञ्च इष्वसन—[ श्वसनविद्यामः प्राणस्थितिः कुञ्च । नाड्यः शरीरस्थिताः का । संक्रमः संचारः कथम् भवति । इत्यादि बुध्यते जायते । ] इति सूत्रार्थः ॥५३॥ अथ प्राणायामस्य स्वरूपमाह ।

1359 ) स्थिरीभवन्ति—चेतांसि स्थिरीभवन्ति । केषाम् । प्राणायामावलम्बिनां इवासाधितानाम् । जगद्द्वृत्तं जगच्छरितम् । च पुमः । निःशेषं समस्तं प्रत्यक्षं हृत्वामलकमिव जायते । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथ व्याख्यानसिद्धिमाह ।

इस प्रकारसे मनके स्थिर कर लेनेपर विकल्प—राग-द्वेषस्वरूप विचार—उत्पन्न नहीं होते हैं, विषय-नुष्ठा नष्ट हो जाती है, तथा अन्तःकरणके भीतर विशिष्ट ज्ञान प्रकाशमान होता है ॥५१॥

इस प्रकारसे अन्तःकरणको संस्कृत करनेवाले योगीकी अविद्या शुणभरमें नष्ट हो जाती है तथा कथायरूप शब्द और उसके साथ ही इन्द्रियाँ भी निर्मद ( स्वाधीन ) हो जाती हैं ॥५२॥

इसके अतिरिक्त उस मनके संस्कृत हो जानेसे श्वासबायुका विश्राम कहाँपर है, नाडियाँ क्या हैं, संक्रमण कैसे होता है, और मण्डलकी गति क्या है; इन सबका परिज्ञान हो जाता है ॥५३॥

प्राणायामका आश्रय लेनेवाले योगियोंके मन स्थिर हो जाते हैं तथा उन्हें संसारका सब ही वृत्त प्रत्यक्ष जैसा हो जाता है ॥५४॥

१. T om. । २. M विवर्तते । ३. L S F K X R स्वान्तं । ४. Y विमदीस्युः, M N read 2nd line thus : सगर्वंगरिमामोर्गं त्यजन्त्यक्षाणि सर्वधा ।

- 1360 ) यः प्राणायाममध्यास्ते स मण्डलचतुष्टयम् ।  
निश्चिनोतुं यतः साध्वी ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥५५
- 1361 ) घोणाविवरमध्यास्य स्थितं पुरचतुष्टयम् ।  
पृथक् पवनसंबीतं लक्ष्यलक्षणमेदतः ॥५६
- 1362 ) अचिन्त्यमतिदुर्लक्ष्यं तन्मण्डलचतुष्टयम् ।  
स्वसंवेद्यं प्रजायेत महाभ्यासात् कर्थन ॥५७
- 1363 ) तत्रादौ पार्थिवं ज्ञेयं वारुणं तदनन्तरम् ।  
मरुत्पुरं ततः स्फीतं पर्यन्ते वह्निमण्डलम् ॥५८

1360 ) यः प्राणायामम्—यः प्राणायामम् वध्यास्ते आश्रितः । कीदृशं प्राणायामम् । समण्डलचतुष्टयम् । सुगमम् । यतः कारणात् ध्यानसिद्धिः साध्वी प्रजायते । इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथ तस्यैव स्वरूपमाह ।

1361 ) घोणाविवरम्—पुरचतुष्टयं स्थितम् । कि कृत्वा । घोणाविवरमध्यास्य । पृथक्-पवनसंबीतं वायुव्याप्तं लक्ष्यलक्षणमेदतः । इति सूत्रार्थः ॥५६॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1362 ) अचिन्त्यम्—तन्मण्डलचतुष्टयं स्वसंवेद्यं प्रजायेत कर्थन । कर्मात् । महाभ्यासात् । कीदृशम् । अचिन्त्यम् । पुनः कीदृशम् । अतिदुर्लक्षणम् । इति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ मण्डलचतुष्टय-मेवाह ।

1363 ) तत्रादौ—तथ मण्डलचतुष्टये आदौ पार्थिवं मण्डलम् । तदनन्तरं वारुणम् । ततः मरुत्पुरं वायुमण्डलम् । पर्यन्ते प्रान्ते वह्निमण्डलम् । इति सूत्रार्थः ॥५८॥ अथ पार्थिवमाह ।

जो योगी प्राणायामको अधिष्ठित करता है—उसे सिद्ध कर लेता है—उसे जिन चार मण्डलोंके निमित्तसे ध्यानकी सिद्धि होती है उनका निश्चय करना चाहिए ॥५५॥

नासिकाके छेदको अधिष्ठित करके जो चार पुर—पार्थिव, वारुण, वायवीय और आग्नेय—अवस्थित हैं वे वायुसे व्याप होते हुए लक्ष्य य लक्षणके भेदसे पृथक् हैं ॥५६॥

वे चार पुर या मण्डल यश्चपि अचिन्त्य—मनके अविषय और असिद्धय दुर्लक्ष्य ( अलक्ष्य या कष्ट से जाननेके शोभय ) हैं तो भी वे महान् अभ्याससे योगीके लिए स्वसंवेद्य हो जाते हैं—उसे उनका स्वरूप संवेदन हो जाता है ॥५७॥

उन चार मण्डलोंमें प्रथम पार्थिव मण्डल, द्वितीय वारुण मण्डल, तत्वशास्त्र विस्तृत व्यावीय मण्डल और अन्तमें आग्नेय मण्डलको जानना चाहिए ॥५८॥

- 1364 ) शितिवीजसमाक्रान्तं द्रुतहेमसमग्रभम् ।  
स्याद्ब्रजलाञ्जनोपेतं चतुरस्त्रं धरापुरम् ॥५९  
1365 ) अर्धचन्द्रसमाकारं वारुणाक्षरलक्षितम् ।  
क्षरत्सुधाम्बुद्धिसिवतं चन्द्राभं वारुणं पुरम् ॥६०  
1366 ) सुवृत्तं विन्दुसंकीर्णं नीलाङ्गनसमंप्रभम् ।  
चञ्चलं पवनोपेतं दुर्लक्ष्यं वायुमण्डलम् ॥६१  
1367 ) स्फुलिङ्गपिङ्गलं भीममूर्ध्वज्वालाशताचितम् ।  
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्रीजं वह्निमण्डलम् ॥६२

1364 ) शितिबीज—धरापुरं शितिवीजसमाक्रान्तम् । पुनः कीदृशम् । द्रुतहेमसमग्रभम् ।  
पुनः कीदृशम् । स्यात् वज्रलाञ्जनोपेतं वज्रलक्ष्मसहितम् । पुनः कीदृशम् । चतुरस्त्रं संस्थानम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥५९॥ अथ वारुणमण्डलमाह ।

1365 ) अर्धचन्द्र—वारुणपुरं वारुणतत्त्वमण्डलम् । कीदृशम् । अर्धचन्द्रसमाकारम् । पुनः  
कीदृशम् । वारुणाक्षरलक्षितम् । पुनः कीदृशम् । क्षीरसुधाम्बुद्धिसिवतं, चन्द्राभम् । सुगमम् । इति  
सूत्रार्थः ॥६०॥ अथ वायुमण्डलमाह ।

1366 ) सुवृत्त—वायुमण्डलम् एतादृशं भवति । सुवृत्तं वर्तुलाकारम् । विन्दुसंकीर्णं विन्दु-  
व्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । नीलाङ्गनसमंप्रभं कालाङ्गनमेघसदृशम् । पुनः कीदृशम् । चञ्चलम्,  
पवनोपेतम्, दुर्लक्ष्यम् । इति सूत्रार्थः ॥६१॥ अथ वह्निमण्डलमाह ।

1367 ) स्फुलिङ्ग—वह्निमण्डलं तद्रीजं वह्निबीजम् । कीदृशम् । स्फुलिङ्गपिङ्गलम्  
अग्निकण्ठरक्तस्याभम् । कीदृशम् । भीमं रीढम् । पुनः । अर्धज्वालाशताचितं सुगमम् । कीदृशम् ।  
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं स्वस्तिकाकारम् । इति सूत्रार्थः ॥६२॥ अथ तेषु वायुप्रवर्तनमाह ।

उनमें जो मण्डल पृथिवी बीज (‘क्ष’ अक्षर)से व्याप, तपे हए सुखर्णके समान  
कान्तिवाला, वशके चिह्नसे संयुक्त और चौकोण है उसे पार्थिवपुर जानना चाहिए ॥५९॥

अर्धचन्द्रके समान आकारवाला, वारुण (व) अक्षरसे चिह्नित, प्रकाशमान, अमृत-  
जलसे सीचा हुआ और चन्द्रमाके समान कान्तिवाला वारुणपुर है ॥६०॥

जो मण्डल अग्निकण्ठोंसे समान पीत वर्णवाला, भवानक, ऊपर उठती हुई सैकड़ों  
ज्वालाओंसे संयुक्त, त्रिकोण अग्निविवाला, स्वस्तिक (साथिया) चिह्नसे सहित और अग्नि-  
बीज (र अक्षर) चिह्नित होता है उसे आपनेय मण्डल जानना चाहिए ॥६१॥

जो मण्डल अग्निकण्ठोंके समान पीत वर्णवाला, भवानक, ऊपर उठती हुई सैकड़ों  
ज्वालाओंसे संयुक्त, त्रिकोण अग्निविवाला, स्वस्तिक (साथिया) चिह्नसे सहित और अग्नि-  
बीज (र अक्षर) चिह्नित होता है उसे आपनेय मण्डल जानना चाहिए ॥६२॥

- 1368 ) ततस्तेषु क्रमाद्वायुः संचरत्यविलम्बितम् ।  
स विजेयो यथाकालं प्रणिधानपरैर्नरैः ॥६३
- 1369 ) शोणाविवरमापूर्य किञ्चिदुष्णः पुरन्दरः ।  
वहत्यष्टाङ्गुलं स्वस्थः पीतवर्णः शनैः शनैः ॥६४
- 1370 ) त्वरितः शीतलो अधस्तात् सितरुक् द्वादशाङ्गुलः ।  
वारुणः पवनस्तज्ज्ञैर्वहनेनावसीयते ॥६५
- 1371 ) तिर्यग्वहत्यविश्रान्तः पवनाख्यः॒ पडङ्गुलः ।  
पवनः कृष्णवर्णोऽसावुष्णैशीतश्च लक्ष्यते ॥६६

1368 ) ततस्तेषु—ततः कारणात् तेषु पार्थिवादिमण्डलेषु क्रमाद् वायुः संचरति । अविलम्बितं विलम्बरहितं प्रणिधानपरैर्नरैर्यथाकालं स विजेयो ज्ञातव्यः । इति सूत्रार्थः ॥६३॥ अथ पुरन्दरवायुमाह ।

1369 ) शोणाविवरम्—पुरन्दरः पार्थिवः अष्टाङ्गुलः॑ स्वस्थः शनैः शनैर्वहति । पुनः कीदृशः । पीतवर्णः । कर्थं वहति । शोणाविवरम् आपूर्यं पूरयित्वा । किञ्चिदुष्णः । इति सूत्रार्थः ॥६४॥ अथ पुनः पार्थिवादिस्वरूपमाह ।

1370 ) त्वरितः—सितरुक् शुक्लो द्वादशाङ्गुलः द्वादशाङ्गुलप्रमाणः । अधस्ताञ्छीतलः । पुनः कीदृशः । त्वरितः शीतलामी । वारुणः पवनः तज्ज्ञैर्वहनेन विशीर्यते । इति सूत्रार्थः ॥६५॥ अथ वायुमण्डलववनमाह ।

1371 ) तिर्यग्वहति—पवनाख्यः पवनः अविश्रान्तः तिर्यग्वहति । कीदृशः । पडङ्गुलः पडङ्गुलप्रमाणः कृष्णवर्णः । असी उष्णशीतश्च लक्ष्यते । इति सूत्रार्थः ॥६६॥ अथ वहति पवनमाह ।

उक्त चार मण्डलोंमें क्रमसे शीघ्र दी जिस वायुका संचार होता है, ध्यानमें तत्त्व हुए सभुष्योंको उसे कालके अनुसार जानना चाहिए ॥६३॥

नासिकाके छेदको पूर्ण करके थोड़ा उष्ण, प्रमाणमें वारह अंगुल, स्वस्थ ( स्वच्छ ) एवं वर्णसे पीत जो धीरे-धीरे वायु बहता है उसे पुरन्दर वायु जानना चाहिए ॥६४॥

जो वायु वेगायुक्त, शीतल, जीचे धबल वर्णं प्रभावाला एवं वारह अंगुल प्रमाण हो वह वरुण पवन कहा जाता है । उसका निश्चय वायुके ज्ञाता वहन क्रियासे करते हैं ॥६५॥

छह अंगुल प्रमाण पवन नामका वायु निरन्तर तिरळा बहता है । वह वायु वर्णसे काला तथा कुछ उष्ण भी होता है और कुछ शीत भी ॥६६ ।

१. M S T K X Y R °दुष्णः, F °दुष्णपुरन्दरः । २. L S F K X Y R वर्णः । ३. P पवनाख्यः ।  
४. All others except P L F उष्णः ।

- 1372 ) बालाक्संनिभशोर्वः<sup>१</sup> सावृत्तंथतुरङ्गुलः ।  
अत्युष्णो ज्वलनाभिख्यः पवनः कीर्तिंतो बुधैः ॥६७
- 1373 ) स्तम्भादिके महेन्द्रो वरुणः शस्तेषु सर्वकार्येषु ।  
चलभलिनेषु च वायुर्वश्यादौ वह्निरुद्देश्यः ॥६८
- 1374 ) छत्रगजतुरगचामररामाराज्यादिसकलकल्याणम् ।  
माहेन्द्रो वदति फलं मनोगतं<sup>२</sup> सर्वकार्येषु ॥६९
- 1375 ) अभिमतफलनिकुरम्बं<sup>३</sup> विद्यावीर्यादिभूतिंसंपूर्णम्<sup>४</sup> ।  
सुतयुवर्तिवस्तुसारं वरुणो योजयति जन्मनाम्<sup>५</sup> ॥७०

1372 ) बालाक्स—ज्वलनाभिख्यः वक्ष्मि पवनः बुधैः प्रकीर्तिः कथितः । कीदृशः । बालाक्संनिभः बालसूर्यसबृशः । ऊर्ध्वः ऊर्ध्वगामी । पुनः । सावर्त्तं<sup>६</sup> आवर्त्तसहितः । पुनः कीदृशः । चतुरङ्गुलः चतुरङ्गुलप्रमाणः । पुनः कीदृशः । अत्युष्णः । इति सूत्रार्थः ॥६७॥ आर्या ।

1373 ) स्तम्भादिके—स्तम्भनादिकार्ये महेन्द्रः पार्थिवः । शस्तेषु सर्वकार्येषु वरुणः । चलभलिनेषु च चलभलिन्ये कार्ये वायुः । वश्यादौ वक्त्रहृदिश्यः वक्तव्यः । इति सूत्रार्थः ॥६८॥ अथ पुनराह ।

1374 ) छत्रगज—माहेन्द्रो पृथ्वीमण्डलो वदति । छत्रचामरगजतुरगचामरामाराज्यादिसकलकल्याणे फलं वदति । आतपत्रहस्तिवाजिचामरस्त्रीऐश्वर्यादिसर्वमङ्गले फलं वदति कथयति । कीदृशं फलम् । सर्वकार्येषु मनोगतम्<sup>७</sup> । इति सूत्रार्थः ॥६९॥ अथ वरुणफलमाह ।

1375 ) अभिमत—जीवानाम्<sup>८</sup> अभिमतफलनिकुरम्बं वाज्ञिष्ठफलकदम्बकम् । रमणी-

जो वायु उदित होते हुए सूर्यके समान कान्तिवाला, ऊपर बहता हुआ, मण्डलाकार परिभ्रमणसे चपलक्षित, चार अंगुष्ठ प्रमाणवाला और अतिशय उच्च द्वोता है उसे विद्वानोंने ज्वलन नामका वायु कहा है ॥६७॥

स्तम्भन आदि कार्योंमें पुरुन्दर वायुको, उत्तम सब कार्योंमें वरुण वायुको, चंचल व मलिन कार्योंमें पवन वायुको और वशीकरणादि कार्योंमें ज्वलन वायुको स्त्रीकार करना चाहिए ॥६८॥

माहेन्द्र (पुरुन्दर) वायु सब कार्योंमें छत्र, हाथी, घोड़ा, चैंचल, स्त्री एवं राज्य आदि सभस्त कल्याणकारक वस्तुओंकी प्राप्तिरूप मनको अभीष्ट फलको सूचित करता है ॥६९॥

वरुण वायु प्राणियोंके लिए विद्या एवं वीर्य आदि विभूतिसे सम्पूर्ण पुत्र व स्त्री आदि श्रेष्ठ वस्तुओंकी प्राप्तिरूप अभीष्ट फलसमूहसे संयोग करता है ॥७०॥

१. All others except P M F <sup>२</sup> इत्योर्ध्वः । २. All Others except P सावर्तः । ३. All others except P M N मनोगतः । ४. All others except P निकुरम्बः । ५. M N K X Y रमणीराज्यादिभव । ६. L F T विभव । ७. All others except P L F T संकीर्ण । ८. N T K X Y स्वजनसुतवस्तु । ९. All others except P S R जीवानां ।

1376 ) भयशोकदुःखपीडाविद्वनौघपरमपरा<sup>१</sup> विनाशं च ।

व्याचष्टे देहभूतां दहनो दाहस्वभावो इयम् ॥७१॥

1377 ) सिद्धमपि याति विलयं सेवाकृष्णादिकं समस्तमपि<sup>२</sup> ।

मृत्युभयकलहैरं पवने त्रौसादिकं च स्यात् ॥७२॥

1378 ) सर्वे प्रवेशकाले कथयन्ति मनोमतं फलं पुंसाम् ।

अहितमतिदुःखनिचितं<sup>३</sup> त एव निःसरणवेलायाम् ॥७३॥

1379 ) सर्वे इपि ग्रविशन्तो रविशशिमार्गेण वायवः सततम्<sup>४</sup> ।

विदधति परां सुखास्थां निर्गच्छन्तो विपर्यस्ताम् ॥७४॥

राज्यादिविभवसंपूर्णम्<sup>५</sup> । सुगमम् । पुनः कीदृशाम् । \*स्वजनसुतवस्तुसारं परिजनपुक्रवस्तुसारं वहनो योजयति । इति सूत्रार्थः ॥७०॥ अथाग्निमण्डलमाह ।

1376 ) भयशोक—अयं दाहस्वभावो दहनः देहभूतां प्राणिनां भयशोकदुःखपीडाविद्वनौघपरमपराविनाशं च व्याचष्टे कथयति । इति सूत्रार्थः ॥७१॥ अथ पवनकलमाह ।

1377 ) सिद्धमपि - पवनमण्डले सेवाकृष्णादिकं समस्तमपि कार्यं सिद्धमपि विलयं याति । मृत्युभयकलहैरं स्यात् । च पुनः । त्रौसादिकं स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥७२॥ अथ सर्वेषां फलमाह ।

1378 ) सर्वे ग्रवेश—सर्वे तत्त्वाः (?) पुंसां पुरुषाणां मनोमतं फलं प्रवेशकाले कथयन्ति । निःसरणवेलायां निर्गमवेलायाम् अहितमतिदुःखनिचितं त एव कुर्वन्ति । इति सूत्रार्थः ॥७३॥ अथ पुनर्मतेषां [फल] माह ।

1379 ) सर्वे इपि—पुंसां<sup>६</sup> पुरुषाणां वायवः सर्वे इपि रविशशिमार्गेण वामदक्षिणसुरेण परा

दाहस्वरूप यह दहन वायु प्राणियोंके लिए भय, शोक, दुःख, पीड़ा एवं विघ्नसमूहकी परम्पराकी तथा विनाशकी सूचना करता है ॥७१॥

पवन नामक वायुके होनेपर सेवा और कृषि आदि सब ही कार्य सिद्ध होकर भी विनाशको प्राप्त होते हैं तथा उसके होनेपर मरण, भय, कलह, वैरभाव और पीड़ा आदि उत्तरान्न होती है ॥७२॥

उक्त चारों वायु मनुष्योंके लिए प्रवेशके समय—पूरक रूपसे मण्डलमें प्रवेश करते समय—मनोमत (मनसे चिन्तित) फलकी सूचना करती हैं तथा वे ही निकलते समय—ऐचकरूपमें मण्डलसे बाहर निकलते हुए—अतिशय दुखसे परिपूर्ण अकल्याणकी सूचना करती हैं ॥७३॥

सब ही वायुएँ सूर्यमार्गसे (दक्षिण नाड़ीसे) और चन्द्रमार्गसे (वाम नाड़ीसे) प्रवेश

१. N L S T F परमपराविनाशं । २. T <sup>१</sup>मप्याति । ३. M N T F X R एकस्तमपि वैव । ४. L नाशादिकं । ५. All others except P मनोमतं । ६. V विवरं । ७. L F K X V पुंसा for सततं ।

1380 ) वामेन प्रविशन्तौ वरुणमहेन्द्रौ समस्तसिद्धिं करौ ।  
इतरेण निःसरन्तौ हुतभुक्षयन्तौ विनाशाय ॥७५

1381 ) अथ मण्डलेषु वायोः प्रवेशनिःसरणकालमवगम्य ।  
उपदिशति भृत्यनवस्तुषु विचेष्टितं सर्वथा सर्वम् ॥७६

1382 ) वामायां विचरन्तौ दहनसमीरी तु मध्यमौ कथितौ ।  
वरुणेन्द्रावितरस्यां तथाविधावेव निर्दिष्टौ ॥७७

सूखस्थां विदथति कुर्वन्ति । निर्गच्छन्ति विषयस्तां हुतवरुणाय । इति सूत्रार्थः ॥७४॥ अथ पुनस्तीषां स्वरूपमाह ।

1380 ) वामेन—वरुणमहेन्द्रौ पृथ्वीतस्त्ववरुणतस्वी वामेन प्रविशन्तौ समस्तवृद्धिकरौ—इतरेण दक्षिणेन निःसरन्तौ हुतभुक्षयन्तौ अनिष्टयन्तौ विनाशाय भवतः । इति सूत्रार्थः ॥७५॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1381 ) अथ मण्डलेषु—योगी भुवनवस्तुषु जगत्पदार्थेषु विचेष्टितं सर्वथा प्रकारेण सर्वम् उपदिशति कथयति । किं कृत्वा । अपेत्यथन्तरे । मण्डलेषु पाथिवादिषु वायोः प्रवेशनिःसरणकालमवगम्य ज्ञात्वा । इति सूत्रार्थः ॥७६॥ अथ तत्त्वानां वामदक्षिणाभ्यां निर्दिशति ।

1382 ) वामायां विचरन्ती—वामायां नाड्यां दहनसमीरी विचरन्ती । तु पादपूरणे । मध्यमौ कथितौ । इतरस्यां दक्षिणायां वरुणेन्द्रौ अप्रभूमण्डलौ सथाविधौ मध्यमावेव निर्दिष्टौ कथितौ । इति सूत्रार्थः ॥७७॥ अथ पुनर्वामदक्षिणयोविचारमाह ।

करती हुई निरन्तर उक्तश्च सुखके विश्वासको करती हैं—सुखप्राप्तिकी सूचना करती हैं—तथा वे ही निकलती हुई विपरीत अवस्था (दुख) की सूचना करती हैं ॥७४॥

वाम नासिकाके छिद्रसे प्रविष्ट होती हुई वरुण और पुरम्दर वायु समस्त अर्द्धिको सिंह, करनेवाली हैं तथा दक्षिण नासिका छिद्रसे निकलती हुई दहन और पवन नामकी दो वायु विनाशकी कारण हैं—विनाशकी सूचना करती हैं ॥७५॥

मण्डलोमें वायुके प्रवेश और निकलनेके कालको जानकर योगी लोकमें अवस्थित समस्त वस्तुओंके विषयमें सब प्रकारसे सब चेष्टाओंका उपदेश करता है ॥७६॥

वाम नासिकामें विचरण ( प्रवेश व निःसरण ) करनेवाली दहन और पवन नामकी दो वायु मध्यम कही गयी हैं तथा दक्षिण नासिकामें विचरण करनेवाली वरुण और पुरम्दर दो वायु उसी प्रकार मध्यम निर्दिष्ट की गयी हैं ॥७७॥

- 1383 ) उदये वामा शस्ता सितपक्षे दक्षिणा पुनः कृष्णे ।  
 श्रीणि त्रीणि दिनानि तु शशिसूर्यस्योदयः॑ इलाल्यः ॥७८
- 1384 ) उदयश्चन्द्रेण हितः॒ सूर्येणास्तं॑ प्रशस्यते वायोः ।  
 रविणोदये तु शशिना शिवमस्तमनं सदा नृणाम् ॥७९
- 1385 ) सितपक्षे रघुदये प्रतिपदिवसे समीक्ष्यते सम्यक् ।  
 शस्तेतरप्रचारौ वायोर्यत्नेन विज्ञानी ॥८०

1383 ) उदये—सितपक्षे शुक्लपक्षे उदये उदयकाले शस्ता प्रधाना । का । वामा । पुनः ।  
 कृष्णे दक्षिणा शस्ता मनोहरा । तु पुनः । श्रीणि त्रीणि दिनानि शशिसूर्यस्योदयः॑ इलाल्यः ॥७८॥  
 अथ पुनवर्मितरथोविदोषमाह ।

1384 ) उदयः—चन्द्रेण उदयः॑ हितः॒ हितकारी । सूर्येणास्तं॑ वायोः॒ प्रशस्यते । नृणां  
 मनुष्याणाम् । तु पुनः । रविणोदये शशिना अस्तमनं शिवं न भवति । इति सूत्रार्थः ॥७९॥  
 अथैतत्वेत्तदा॒

1385 ) सितपक्षे—सितपक्षे शुक्लपक्षे प्रतिपदिवसे यः॑ विचारः॒ सम्यक्॑ समीक्ष्यते । कः ।  
 विज्ञानी । वायोः॑ शस्तेतरप्रचारौ॒ शुभाशुभविचारौ । केन । यत्नेन । इति सूत्रार्थः ॥८०॥  
 अथ प्रतिपदिवसानन्तरे कलाफलमाह ।

शुक्ल पक्षमें उदयमें वाम नाड़ी उत्तम मानी गयी है, तथा कृष्ण पक्षमें उदयमें दक्षिण नाड़ी प्रशस्त मानी गयी है। चन्द्र (वाम नाड़ी) और सूर्य (दक्षिण नाड़ी) का उदय तीन-तीन दिन प्रशस्तमनीय माना गया है। विद्योपार्थ—अभिप्राय यह है कि शुक्ल पक्षमें सूर्योदयके समय प्रथम तीन दिन—प्रतिपदा, द्वितीया व तृतीया—तक यदि वाम नाड़ीका उदय है तो वह उत्तम माना जाता है। आगे तीन दिन—चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी—तक सूर्योदयकालमें यदि दक्षिण नाड़ीका उदय हो तो वह शुभ समझा जाता है। इस क्रमसे आगे भी क्रमशः तीन-तीन दिन वाम और दक्षिण नाड़ीको शुभ समझना चाहिए। कृष्ण पक्षमें सूर्योदयके समय प्रथम तीन दिन—प्रतिपदा, द्वितीया व तृतीया—तक यदि दक्षिण नाड़ीका उदय है तो वह उत्तम माना गया है। उपर्युक्त प्रकारसे आगे भी तीन-तीन दिन इस कृष्ण पक्षमें क्रमसे वाम और दक्षिण नाड़ीको उत्तम समझना चाहिए ॥७८॥

वायुका चन्द्र (वाम स्वर) के साथ उदय होकर सूर्य (दक्षिण स्वर) के साथ अस्त होना प्रशस्तमनीय है; तथा सूर्यके साथ उदय होनेपर चन्द्रके साथ उसका अस्त होना मनुष्योंके लिए हितकर है ॥७९॥

शुक्ल पक्षमें प्रतिपदके दिन सूर्योदयके समय वायुके संचारको विशिष्ट ज्ञानवान् योगी प्रथमपूर्वक शुभ और अशुभ ऐसे—उनके शुभ और अशुभ स्वरूपका विचार करे ॥८०॥

१. N ° दयस्तथा इलाल्यः । २. M ° नास्तः ।

- 1386 ) व्यस्तः॑ प्रथमे दिवसे चित्तोद्देगाय जायते पवनः ।  
धनहानिकुद्दितीये प्रवासदः स्यात् तृतीये इहि ॥८१
- 1387 ) इष्टार्थनाशविअग्रस्वपदभ्रंशास्तथा महायुद्धम् ।  
दुःखं च पञ्चदिवसैः क्रमशः संजायते त्वपरैः ॥८२
- 1388 ) [ अरुणोदयवेलायां यावनाडी वहेत् पुंसाम् ।  
मध्याह्ने च पुनः सैव अस्तकाले च सा यदि ॥८२\*१
- 1389 ) प्रथमे इहनि उद्देगो धननाशो द्वितीयके ।  
महाक्लेशस्तुतीये स्याच्चतुर्थे मृत्युमादिशेत् ॥८२\*२ ]
- 1390 ) वामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छीरिणाम् ।  
संहर्त्री दक्षिणा नाडी समस्तानिष्टसूचिका ॥८३

1386 ) व्यस्तः प्रथमे—प्रथमे दिवसे ये उदयः स चित्तोद्देगाय जायते पवनः । द्वितीये धनहानिकुद्ध । तृतीये इहि प्रवासदः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥८१॥ अथ पुनरेव तदाह ।

1387 ) इष्टार्थ—पञ्चदिवसैः क्रमशः संजायते । इष्टार्थनाशः, विभ्रमः, स्वपदभ्रंशः, तथा महायुद्ध, दुःखं पञ्चदिवसैः । तु पुनः । अपरैः । इति सूत्रार्थः ॥८२॥ [ ग्रन्थान्तरे उक्तं फलमाह ।

1388-३९ ) अरुणोदय—यावत् यदि । अरुणोदयवेलायां सूर्योदयात् प्राक् । तथा मध्याह्ने । तथा अस्तकाले । पुंसां नाडी वहेत् । तदि । प्रथमे अहनि दिने उद्देगः मनःकोभः । द्वितीये धननाशः । तृतीये महाक्लेशः । चतुर्थे च मृत्युम् आदिशेत् कथयेत् । इति सूत्रार्थः ॥८२\*१-२॥] अथ पुनस्तदेवाह ।

1390 ) वामा सुधामयी—शारीरिणां शश्वन्मिरन्तरं वामा सुधामयी ज्ञेया । हिताहितकारिणी दक्षिणा नाडी संहर्त्री । पुनः कोदृशी । निषेषानिष्टसूचिका<sup>a</sup> सामस्तोपद्रवकथका । इति सूत्रार्थः ॥८३॥ अथ पुनरपि वामदक्षिणयोदित्तारमाह ।

प्रथम दिनमें यदि वायु व्यस्त ( अग्रगुण ) हो तो वह चित्तको उद्विग्न करनेवाली होती है । यही यदि द्वितीय दिनमें व्यस्त हो तो धनकी हानि करनेवाली तथा तृतीय दिनमें हो तो प्रवास करनेवाली होती है ॥८१॥

आगे के पाँच दिनमें क्रमसे वह व्यस्त वायु अभीष्ट वस्तुके लाश, विभ्रम, अपने पदसे अष्ट होने, महान् युद्ध और दुखकी सूचक होती है ॥८२॥

यदि भनुष्योंकी नाडी अरुणोदयके समय, मध्याह्नमें तथा अस्तकालमें वहती तो पहले दिन चित्तको उद्विग्न करनेवाली, दूसरे दिन धननाशक, तीसरे दिन महाक्लेश देनेवाली और चौथे दिन मृत्युप्रद कहनी चाहिए ॥८२\*१-२॥

वामा नाडी प्राणियोंके लिए निरन्तर अमृतस्वरूप और हितकारक जानना चाहिए, तथा दक्षिण नाडीको संहार करनेवाली समस्त अनिष्टसूचक जानना चाहिए ॥८३॥

१. L F व्यस्ते, K व्यस्तत् । २. M N दुःखं पञ्चदिवसैः । ३. v. Only in M N । ५. All others except P S निषेषानिष्ट ।

1391 ) अमृतमिव सर्वगात्रं प्रीणयति शरीरिणां ध्रुवं वामा ।  
क्षपयति तदेव शशद्वहमाना दक्षिणा नाडी ॥८४

1392 ) संग्रामसुरतभोजनविरुद्धकार्येषु दक्षिणेष्टा स्यात् ।  
अभ्युदयहृदयवाञ्छितसमस्तशस्तेषु वामैषः ॥८५

1393 ) नेष्टुष्टुटने समर्थी राहुग्रहकालचन्द्रसूर्याद्याः ।  
क्षितिवरुणौ त्वमृतगती समस्तकल्याणदौ ज्ञेयौ ॥८६

1394 ) पूर्णे पूर्वस्य जयो रिक्ते त्वितरस्य कथ्यते तज्ज्ञैः ।  
उभयोर्युद्धानभित्ते दूतेनाशसिते प्रश्नेऽ ॥८७

1391 ) अमृतमिव—वामा नाडी शरीरिणां ध्रुवं निश्चयेत् सर्वगात्रं शरीरं प्रीणयति ।  
किमिव । अमृतमिव । यथा अमृतं शरीरिणां सर्वगात्रं प्रीणयति दक्षिणा नाडी वहमाना क्षपयति  
तदेव सर्वगात्रं शशन्तिरन्तरम् । इति सूत्रार्थः ॥८४॥ अथ द्वयोर्नाडियोः फलं द्विशति ।

1392 ) संग्रामसुरत—संग्रामसुरतभोजनविरुद्धकार्येषु दक्षिणेष्टा स्यात् । वा पक्षान्तरे ।  
अभ्युदये कल्याणे वामा हृष्टा स्यात् । हृदयवाञ्छितसमस्तशस्तेषु वामा स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥८५॥  
अथ पुनस्तत्त्वानां स्वरूपमाह ।

1393 ) नेष्टुष्टुटने—राहुग्रहकालचन्द्रसूर्याद्याः इष्टुष्टुटने मनोवाञ्छितदाने न समर्थः । तु  
पुनः । क्षितिवरुणौ अमृतगती समस्तकल्याणदौ ज्ञेयौ ज्ञातव्यौ । इति सूत्रार्थः ॥८६॥ अथ पुनः  
प्रश्ननान्तरमाह ।

1394 ) पूर्णे पूर्वहृ—पूर्णे स्वरे वहमाने पूर्वस्य जयो भवति । रिक्ते शून्यभागे इतरस्य  
द्वितीयस्य कथ्यते तज्ज्ञैः स्वरज्ञैः । उभयोर्युद्धनिभित्ते दूतेन प्रश्नेनाशसितम् । इति सूत्रार्थः ॥८७॥  
अथ एतदेवाह ।

वामा नाडी तो निश्चयसे प्राणियोंके समस्त शरीरको अमृतके समान प्रसन्न करती है,  
परन्तु वहती हुई दक्षिण नाडी प्राणियोंके उसी शरीरको निरन्तर श्रीण करती है ॥८४॥

युद्ध, मैथुन और भोजन इन विरुद्ध कार्योंमें दक्षिण नाडी शुभ होती है तथा अभ्युदय  
एवं मनोवाञ्छित समस्त उत्तम कार्योंमें वाम नाडी ही शुभ होती है ॥८५॥

राहु, मह (शनि आदि), काल (ग्रहविशेष अथवा ज्योतिषशास्त्रप्रसिद्ध एक  
कुयोग), चन्द्र और सूर्य आदि इष्टुष्टुटका संयोग करानेमें समर्थ नहीं होते हैं । परन्तु वाम  
नाडीको प्राप्त पार्थिव और वरुण मण्डलको समस्त कल्याणके दैनेवाले जानना चाहिए ॥८६॥

दूतके द्वारा दोके मध्यमें होनेवाले युद्धके निभित प्रश्नके पूछे जानेपर तद्विषयक विद्वान्  
परिपूर्ण (पूरक) नाडीके होनेपर पूर्व व्यस्तिकी विजयको तथा रिक्त (रेचक) नाडीके  
होनेपर दूसरे व्यस्तिकी विजयको बतलाते हैं ॥८७॥

- 1395 ) ज्ञातुनामं प्रथमं पश्चायथातुरस्य गृह्णाति ।  
दूतस्तदेष्टसिद्धिविंपरीते<sup>१</sup> स्याद्विपर्यस्ता ॥८८
- 1396 ) जयति समाक्षरनामा वामावाहस्थितेन दूतेन ।  
विषमाक्षरस्तु<sup>२</sup> दक्षिणदिक्संस्थेनात्रै संपाते ॥८९
- 1397 ) भूतादिगृहीतानां रोगात्मनां च सर्वदष्टानाम् ।  
पूर्वोक्त एव च विधिर्बोद्धव्यो मन्त्रिणावश्यम् ॥९०

1395 ) ज्ञातुनाम—दूतो यदि प्रथमं ज्ञातुनामं गृह्णाति । पश्चात् आतुरस्य रोगिणः तदा इष्टसिद्धिः । विषयस्ते<sup>३</sup> प्रथमम् आतुरनामग्रहणं पश्चात् ज्ञातुः तदा विषयस्ता, इष्टसिद्धिनेति सूत्रार्थः ॥८८॥ अथ पुनर्बिशेषमाह ।

1396 ) जयति—स रोगी विषमाक्षरनामा वामावाहस्थितेन दूतेन । यदि विषमाक्षरस्तु रोगी दक्षिणदिक्संस्थेन दूतेनाख्यसंपाते<sup>४</sup> । इति सूत्रार्थः ॥८९॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1397 ) भूतादि—पूर्वोक्तोक्तोक्ता एव विधिर्बोद्धव्यः ज्ञातव्यः । शेषं गुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९०॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

यदि दूत पहले ज्ञाताका नाम और तत्पश्चात् रोगीका नाम ग्रहण करता है तो अभीष्टकी सिद्धि होती है । और यदि वह इसके विपरीत करता है—पहले रोगीका और तत्पश्चात् ज्ञाताका नाम ग्रहण करता है—तो अभीष्टकी सिद्धि न होकर अनिष्टकी प्राप्ति होती है । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि प्रश्न करते समय यदि प्रथमतः शुभाशुभके वेदक ( अथवा वैद्य ) के नामका निर्देश किया जाता है और तत्पश्चात् रोगीके नामका उल्लेख किया जाता है तो इस प्रकारसे अभीष्ट ( रोगकी शान्ति ) की सिद्धि समझनी चाहिए । परन्तु यदि प्रश्नकर्ता पहले रोगीके नामका उल्लेख करके पश्चात् ज्ञाताके नामका निर्देश ( सम्बोधन आदि ) करता है तो उस अवस्थामें अभीष्टसिद्धिकी सम्भावना नहीं है ॥८८॥

दूत ( प्रश्नकर्ता ) यदि वाम भागमें स्थित होकर युद्धमें किसीके ज्येष्ठ-पराजयविषयक प्रश्न करता है तो जिस योद्धाका नाम सम ( दो, चार, छह आदि ) अक्षरोंमें है उसकी जय होती है । और यदि दूत दक्षिण दिशामें स्थित होकर उक्त प्रश्नको करता है तो विषम ( एक, तीन, पाँच आदि ) अक्षरोंसे युक्त नामबाले योद्धाकी विजय जानना चाहिए ॥८९॥

भूत-पिशाचादिके बशीभूत हुए, रोगी और सर्पादिके द्वारा काटे गये प्राणियोंके विषयमें प्रश्न किये जानेपर मान्त्रिकको नियमसे पूर्वोक्त ( इलोक ८८ ) विधि ही जानना चाहिए ॥९०॥

१. M N सिद्धिस्तदेवस्तः, F तद्वास्ये, L S T K X Y R तद्वास्ये । २. K यदि विषमाक्षरनामा दक्षिण । ३. All others except P °नास्त्रौ । ४. R मान्त्रिकवश्यम् ।

- 1398 ) पूर्णी<sup>१</sup> वरुणे प्रविशति यदि वामा जायते क्वचित्पुण्यैः ।  
सिद्ध्येत्यचिन्तितान्यपि कार्याण्यारम्भमाणानि ॥९१
- 1399 ) जयजीवितलामाद्या ये ऽर्थाः<sup>२</sup> पूर्वं तु सूचिताः शास्त्रे ।  
स्युस्ते सर्वे ऽप्यफला मृत्युस्थे भरुति लोकानाम् ॥९२
- 1400 ) अनिलमवद्य सम्यक्पुण्यं हस्तात्प्रपातयेज्ञानी ।  
मृतजीवितविज्ञाने ततः स्वयं निश्चयं कुरुते ॥९३
- 1401 ) वरुणे त्वरितो लाभश्चिरेण भीमे<sup>३</sup> तदर्थिने वाच्यम् ।  
तुच्छतरः पवनाख्ये सिद्धोऽपि विनश्यते वह्नौ ॥९४

1398 ) पूर्णी वरुणे—वरुणे पूरुत्वे पूर्णी यदि वामा प्रविशति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९१॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

1399 ) जयजीवित—दक्षिणनाडीविशेषे मण्डलान्तरे वा । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९२॥ अथ ज्ञानिनः स्वरूपमाह ।

1400 ) अनिलम्—अनिलं दक्षिणवायस्वरमन्तरगम्य ज्ञात्वा । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९३॥ अथ तत्वे फलाफलमाह ।

1401 ) वरुणे—तदर्थिने लाभार्थिने । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९४॥ अथ सत्त्वानां फलाफलमाह ।

यदि कहीं पूर्वं पुष्ट्यके उदयसे वरुण मण्डलके प्रवेश करते हुए वामा नाडी पूर्ण वहती है तो जिनकी सिद्धिका कभी विचार भी नहीं किया गया था ऐसे भी कार्यं प्रारम्भ किये जानेपर सिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥९१॥

वरुण मण्डलके प्रवेश करते समय यदि वायु मृत्युस्थ है—दक्षिण नासिकामें स्थित है—तो प्राणियोंके जिन जय, जीवन और लाभ आदि पदार्थोंकी पहले शास्त्रमें सूचना की गयी है वे सब ही निष्फल होते हैं ॥९२॥

जानकार मनुष्य भलीभाँति वायुको जानकर द्वाथसे पुष्ट्यको शिरावे, तत्पश्चात् मृत्यु और जीवन सम्बन्धी विशिष्ट ज्ञानके विषयमें स्वयं ही निर्णय करे ॥९३॥

प्रश्न करनेपर उत्तर देते समय यदि उत्तर देनेवालेके वरुण मण्डलका उदय है तो प्राथीकि लिए शीघ्र ही लाभका निर्देश करना चाहिए । उस समय यदि पाथिव मण्डलका उदय हो तो दीर्घि कालमें होनेवाले लाभका, यदि पवन नामक मण्डलका उदय हो तो अतिशय तुच्छ लाभका, तथा यदि अग्नि मण्डलका उदय हो तो सिद्ध हुए भी कार्यकी हानिका निर्देश करना चाहिए ॥९४॥

१. S K X Y R पूर्णे । २. N T सिद्धयस्त्य् । ३. K ज्ञेयः for यथाः । ४. X भूमी for भीमे ।  
५. M N वाच्यः ।

1402 ) आयाति गतो वरुणे भीमे तत्रैव तिष्ठति सुखेन ।  
यात्यन्यत्र शसने<sup>१</sup> मृत इति वह्नी समादेश्यम् ॥१५

1403 ) धोरतरः<sup>२</sup> संग्रामो<sup>३</sup> हुताशने मरुति भङ्ग एव स्यात् ।  
गगने सैन्यविनाशं मृत्युर्वा युद्धपूच्छायाम् ॥१६

1404 ) ऐन्द्रे विजयः समरे ततो अधिको वाञ्छितश्च वरुणे स्यात् ।  
सन्धिर्वा रिपुभङ्गात् स्वसिद्धिसूचनोपेतः ॥१७

1402 ) आयाति—वरुणे वरुणतत्त्वे गतो प्रधासी आयाति । भीमे पार्थिवे तत्त्वे तत्रैव तिष्ठति । सुखेन याति अन्यत्र वायुतत्त्वे । वह्नितत्त्वे मृत इति समादेश्यं वक्तव्यम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥१५॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

1403 ) धोरतरः—धोरतरः संग्रामो हुताशने । मरुति भङ्गः स्यात् । गगने आकाशतत्त्वे सैन्यविनाशः<sup>४</sup> कटकनाशः ॥१६॥ अथ पुनरस्तत्त्वानामेव कलमाह ।

1404 ) ऐन्द्रे विजयः—ऐन्द्रे पार्थिवे तत्त्वे समरे संग्रामे विजयः स्यात् । वरुणे वरुणतत्त्वे । त्रकारात् ततो अधिको विजयः वाञ्छितः । वा अथवा । संधिः सीमास्थापनम् । कस्मात् । रिपुभङ्गात् । विजयः स्वसिद्धिसूचनोपेतः स्वार्थकथनयुक्तः । इति सूक्ष्मार्थः ॥१७॥ अथ पुनरस्तेषामेव कलमाह ।

यदि कोई अन्यत्र गया है तो उसके विषयमें प्रश्न किये जानेपर वरुण मण्डलके उद्यमें यह उत्तर है कि अन्यत्र गया हुआ वह मनुष्य बापस आ जाता है । यदि उस समय पार्थिव मण्डलका उदय है तो उसके वहींपर सुखपूर्वक स्थित रहनेकी सूचना करना चाहिए । पक्षनामक मण्डलका उदय होनेपर ‘वह अन्यत्र जानेवाला है’ इस प्रकार उत्तरमें कहना चाहिए । तथा यदि उस समय अग्निमण्डलका उदय है तो ‘वह मर चुका है’ ऐसा निर्देश करना चाहिए ॥१५॥

अग्नि मण्डलके वर्तमान रहते हुए युद्धविषयक प्रश्नके करनेपर अलिशय भयानक युद्ध होना सम्भव है, पक्षनामक मण्डलके होते हुए उक्त प्रश्न पूछे जानेपर विनाश ( अथवा उसमें पराजय ) होता है, आकाश मण्डलमें सैन्यका विनाश या मृत्यु होती है ॥१६॥

पुरुन्दर मण्डलके होनेपर यदि उपर्युक्त प्रश्न किया जाय तो सुद्धमें विजय होगी, तथा वरुण मण्डलके रहते हुए युद्धविषयक प्रश्नके करनेपर उससे भी अधिक अभीष्ट सिद्ध होगा, अथवा शत्रुके पराजित होनेसे अपनी सिद्धिको सूचित करनेवाली सन्धि होगी ॥१७॥

१. L S श्वसनीर्त । २. M N समादेश्यः । ३. F धोरतरे । ४. L F संग्रामे “विनाशो ।

1405 ) वर्षति भौमे मघवात् वरुणे तु मनोमत्सत्त्वाजस्म् ।  
दुर्दिनप्रभाश्च पवने वह्नी वृष्टिः कियन्मात्रा॑ ॥९८

1406 ) सस्यानां निष्पत्तिः स्याद्रुणे पार्थिवे च सुश्लाघ्या ।  
स्वल्पाणि न चाग्नेये वाय्वाकाशे तु मध्यस्था ॥९९

1407 ) नृपतिगुरुबन्धुद्वाह । अपरे अभिलिखितद्वये लोकाः ।  
पूर्णज्ञे कर्तव्या विदुषा वीतप्रपञ्चेन ॥१००

1408 ) शयनासनेषु दक्षैः पूर्णज्ञनवेशितासु योगात् ।  
द्विष्टते चेतस्त्वरितं नातो इन्द्रदश्यविज्ञानम् ॥१०१

1405 ) वर्षति भौमे—भौमे पार्थिवे मघवाम् मेवः वर्षति । वरुणे तत्त्वे तथाजस्म् निरन्तरं  
मनोमतं मनोवान्विष्टं स्यात् । च पुनः । दुर्दिनप्रभाः स्यामात्रमेवाः पवने । वह्नी वक्षितत्त्वे वृष्टिः  
कियन्मात्रा भवति । इति सूत्रार्थः ॥९८॥ अथ पुनरेषां विचारमाह ।

1406 ) सस्यानाम्—वरुणतत्त्वे सस्यानां विष्टतिः । पार्थिवे । च पुनः । सुश्लाघ्या ।  
आग्नेये स्वल्पाणि न च । तु पुनः । वाय्वाकाशे मध्यस्था । इति सूत्रार्थः ॥९९॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1407 ) नृपतिगुरु—विदुषा पण्डितेन वीतप्रपञ्चेन पूर्णज्ञे पूर्णस्वरे कर्तव्याः । के ।  
लोकाः । किमर्थम् । अभिलिखितसिद्धये । अपरे ऽपि । नृपतिगुरुबन्धुद्वाहः । इति सूत्रार्थः ॥१००॥  
अथ स्त्रीर्णा वश्यतामाह ।

1408 ) शयनासनेषु—अतो इन्द्रदश्यविज्ञाने च । कुतः । शयनासनेषु दक्षंश्चतुर्योषितासु

पार्थिव मण्डलमें वर्षाविषयक प्रश्नके करनेपर इन्द्र बरसता है—वर्षा होती है, वरुण  
मण्डलके होनेपर निरन्तर मनको अभिमत होता है—इच्छासुसार वृष्टि होती है, पवन नामक  
मण्डलके होते हुए दुर्दिनस्वरूप आकाश मेषोंसे आच्छादित रहता है, तथा अग्नि मण्डलके  
होनेपर कुछ ही वर्षा होती है ॥९८॥

धान्य ( फसल ) की उत्पत्तिविषयक प्रश्न यदि वरुण मण्डलमें किया जाता है तो  
धान्यों ( अनाजों ) की सिद्धि होती है, पार्थिव मण्डलमें धान्योंकी उत्पत्ति अतिशय प्रशंसनीय  
अवस्थामें होती है, आग्नेय मण्डलमें थोड़ी सी भी वर्षा नहीं होती है, तथा वायु च आकाश  
मण्डलमें मध्यस्थ होती है—अनाजोंकी उत्पत्ति मध्यम अवस्थामें होती है ॥९९॥

अभीष्टकी सिद्धिके लिए विद्वान् मनुष्यको विपरीतभावको लोडकर राजा, गुरु, बन्धु,  
वृद्ध तथा अन्य जनोंको भी पूर्णांगमें करना चाहिए—पूरक पवनके होनेपर उनको वशमें करना  
चाहिए ॥१००॥

जो जन शयन और आसनमें नहुर हैं उन्हें स्त्रियोंको पूर्णांगमें स्थापित करनेपर—

१. K X Y R मवता । २. M L F मत, N मनोपत, S K Y R °जे अभिमती मत, T मनोपत  
यथा । ३. F कियन्मात्रः स्यात् ।

1409 ) [उक्तं च-

रात्यन्तयामवेलायां प्रसुप्ते कामिनीजने ।

ब्रह्मवीजं पिवेदस्तु बालाजीवं हरेन्नरः ॥१०१\*१

1410 ) तसदंतरु ससि उपरि किञ्चित् सत्त्वार ससि सूरहं णिञ्जइ ।

तिण्णिं वार पुणु अप्या दिज्जइ जो जाणह सो अमणु हविससइ ॥१०१\*२)

1411 ) अरिक्षणिकचौरुदुष्टा अपरे उपसर्गविग्रहाद्याद्य ।

रिक्ताङ्गे कर्तव्या जयलाभसुखार्थिभिः पुरुषैः ॥१०२

1412 ) रिपुशस्त्रसंप्रहारे रक्षति यः पूर्णगात्रभूभागम् ।

बलिभिरपि वैस्विग्नैर्भिद्यते तस्य सामर्थ्यम् ॥१०३

पूर्णद्विग्ने निवेशितासु स्थापितासु । तामां चेतः त्वरितं ह्रियते । इति सूत्रार्थः ॥१०१॥ तुनस्तदेवाह ।

1409-10 ) रात्यन्त—यो नरः रात्यन्तयामवेलायां उपरिकाले । कामिनीजने प्रसुप्ते निद्रिते । ब्रह्मवीजं पिवेत् । सः बालाजीवं हरेत् बालां वशम् आनयेत् । तस्याभ्यन्तरः शशी उपरि क्रियते, सप्तवारान् शशी सूर्यस्य नीयते, त्रीन् वारान् पुनर् आत्मा दीयते, यः जानाति सो अमनसकः भवति ॥ इति सूत्रार्थः ॥१०१\*१-२॥ । अथ अन्यस्त्ररक्षलमाह ।

1411 ) अरिक्षणिक—अरिक्षणिकचौरुदुष्टा वैरिक्षण्यदस्युदुष्टाः । रिक्ताङ्गे शुभाङ्गे कर्तव्याः । अपरे उपसर्गविग्रहाद्याः म्लेच्छादिकृतदुर्वार्तिकलहाद्याः । कैः । जयलाभसुखार्थिभिः पुरुषैः । इति सूत्रार्थः ॥१०२॥ । अथेतदेवाह ।

1412 ) रिपुशस्त्र—यः पूर्णगात्रभूभागं रिपुशस्त्रसंप्रहारे रक्षति तस्य पुंसः सामर्थ्यं बलिभिरपि न भिद्यते । वब । वैस्विग्नैः । इति सूत्रार्थः ॥१०३॥ । अथ गर्भविषयविचारमाह ।

जिस ओर नासिकाका स्वर परिपूर्ण हो उस ओर बैठानेपर—उनका मन शीघ्र ही ह्रास जाता है—वे शीघ्र बशमें हो जाती हैं । इसको छोड़कर बशीभूत करनेके लिए अन्य कोई विशेष ज्ञान ( उपाय ) नहीं है ॥१०१॥

कहा भी है—प्रातःकालमें स्त्रियोंके निद्रित रहनेपर जो मसुख्य ब्रह्मवीज पीता है वह बालिकाओंका मन आङ्गृष्ट करता है ॥१०१\*१॥ उसके भीतर चन्द्रको अर्धस्थानमें रखना चाहिये । सात बार चन्द्रको सूर्यकी तरफ ले लेना चाहिये । उसी तरह तीन बार फिर आत्मा-को दिया जाता है । इस तरह जो जानता है वह अमनसक योगी होता है । (?) १०२\*२॥ औ पुरुष विजय, लास पर्व सुखकी इच्छा रखते हैं, उन्हें अनु चक्री ( चक्रदल ), चेत, चु तथा अन्य भी उपसर्ग एवं युद्ध आदिमें तत्त्वर रहनेवाले जनोंको रिक्त स्वरमें करना चाहिए—जिस नासिकाछिद्रसे वायु न बहता हो उस ओर उन्हें स्थापित करना चाहिए ॥१०२॥

शनुके द्वारा किये गये शस्त्रप्रहारमें जो पूर्णगके भूभागकी—जिस ओर नासिकाका छिद्र परिपूर्ण हो उस ओरके प्रदेशकी—रक्षा करता है उसके सामर्थ्यको बलवान् शनुओंके समूह भी खण्डित नहीं कर सकते हैं ॥१०३॥

१. Only in N । २. M रिणकचोर, N रणिक, T रिणिक । ३. N निष्ठहा॒ ।

1413 ) वरुणमहेन्द्रौ शस्ती प्रश्ने गर्भस्य पुत्रदी ज्ञेयौ ।

इतरौ स्त्रीजन्मकरी शून्यं गर्भस्य नाशाय ॥१०४

1414 ) नासाप्रवाहदिग्भागे गर्भीर्थं चस्तु पृच्छति ।

पुरुषः पुरुषादेशं शून्यभागे तथाङ्गना ॥१०५

1415 ) विज्ञेयः संमुखे षण्डः शुध्मणायां मुभौ शिशू ।

गर्भहानिस्तु संक्रान्ती समे क्षेत्रं विनिदिशेत् ॥१०६

1416 ) [ उक्तं च—

ईडा तोयमयी ग्रोवता पिङ्गला विहृपिणी ।

सुषुम्ना शंभुरूपेण शंभुहसस्वरूपकः ॥१०६\*१ ]

1413 ) वरुणमहेन्द्री—इतरी वायुखानितत्वी स्त्रीजन्मकरी । शून्यं गर्भस्य नाशाय । इति सूत्रार्थः ॥१०४॥ अथ पुनः गर्भप्रश्नमाह ।

1414 ) नासाप्रवाह—नासाप्रवाहदिग्भागे गर्भीर्थं पृच्छति पुरुषः । पुरुषादेशम् । शून्यभागे तथा अङ्गना वक्तव्या । इति सूत्रार्थः ॥१०५॥ अथ पुनर्गर्भप्रश्नमाह ।

1415 ) विज्ञेयः—सन्मुखे स्वरे षण्डो विज्ञेयः । शुध्मणायां मुभौ शिशू । शुध्मणायां सत्याम् उभी ही शिशू बालकी । संक्रान्ती सूर्यचित्तस्त्रे चन्द्रात् सूर्ये । तु पुनरर्थे । गर्भहानिः । समावस्थायां क्षेत्रं कल्पाणं विनिदिशेत् । इति सूत्रार्थः ॥१०६॥ [ ईडादीनां ग्रन्थान्तरोक्तं स्वरूपमाह । ]

1416 ) ईडा तोयमयी—तोयमयी जलरूपिणी । सुषुम्ना नाडी शंभुरूपेण शिवरूपेण स्थिता । इति सूत्रार्थः ॥१०६\*१॥ ]

गर्भविषयक प्रश्नमें वरुण और पुरुन्दर मण्डलोंको शुभं व पुत्रके देनेवाले तथा शेष पवन और आग्नेय मण्डलोंकी पुत्रीजन्मके सूचक जानना चाहिए । शून्य ( आकाश मण्डल ) गर्भका नाशक होता है ॥१०४॥

जिस नासिकाछिद्रसे वायु वह रहा हो उस दिशाभागमें स्थित होकर जो पुरुष गर्भके विषयमें पूछता है उसके लिए पुत्रोत्पत्तिकी तथा शून्यभागमें—बाली नासिकाछिद्रकी ओर स्थित रहकर प्रश्न करनेपर—पुत्रीकी उत्पत्तिकी सूचना करना चाहिए ॥१०५॥

सामने स्थित रहकर प्रश्न पूछनेपर नपुंका जन्म जानना चाहिए, सुषुम्ना नाडीकी ओर स्थित रहकर प्रश्न करनेपर दो बालकोंकी उत्पत्तिकी सूचना करना चाहिए । संक्रान्तिमें—मण्डलकी परिवर्तित अवस्थामें प्रश्न करनेपर—गर्भके नाश तथा सम अवस्थामें कुशलका निर्देश करना चाहिए ॥१०६॥

कहा भी है—ईडानाडी जलमय, पिङ्गला अग्निमय, सुषुम्ना शंभुमय कही है । और शंभु हंसरूप माना है ॥१०६\*१॥

1417 ) ज्ञायेत् यदि न सम्यग्मरुतदा विन्दुभिः स निशेयः ।  
सितपीतारुणकृष्णवैरुणावनिदहंपवनोत्थैः ॥१०७

1418 ) कर्णाक्षिनासिकापुटमङ्गुष्ठप्रथममध्यमाङ्गुलिभिः ।  
द्वाभ्यामपिधाय मुखं करणेन हि दृश्यते विन्दुः ॥१०८

1419 ) दक्षिणामथवा वामां यो<sup>३</sup> निषेदधूं समीपसति ।  
तदङ्गं पीडयेदन्यां नासानाडीं समाश्रयेत् ॥१०९

1420 ) अग्रे वामविभागे चन्द्रक्षेत्रं वदन्ति तस्यविदः ।  
पृष्ठौ च दक्षिणाङ्गे रवेस्त [देवा] दाहुराचार्याः ॥११०

1417 ) ज्ञायेत्—यदि यस्तद् वायुनाडी विषयो यदि सम्यङ् न ज्ञायेत्, तदा स वायुः विन्दुभिः निश्चेयो निर्णयतव्यः । कीदूरैव विन्दुभिः । सितपीतारुणकृष्णैः शुचलपीतारकतश्यामैः । पुमः कीदूरैः । वरुणावै निदहंपवनोत्थैः वरुणपृष्ठान्यां निदहंपवनोत्थैः । इति सूत्रार्थः ॥१०७॥ अथ विन्दुदर्शनप्रकारमाह ।

1418 ) कर्णाक्षिनि—कर्णाक्षिनासिकापुटम् अङ्गुष्ठप्रथममध्यमाङ्गुलिभिः पिधायावृत्य । च पुनः । द्वाभ्यामङ्गुलिभ्यां मुखं पिधाय<sup>४</sup> । हि निश्चितम् । करणेन विन्दुदृश्यते ॥१०८॥ पुनरेतदेवाह ।

1419 ) दक्षिणाम्—दक्षिणां नाडीम् अथवा वामां यो निषेदधूं समीपसति तदङ्गम् अन्यां नासानाडीं समाश्रयेत् । इति सूत्रार्थः ॥१०९॥ [ कस्य किं क्षेत्रं तदाह । ]

1420 ) अग्रे वाम—तस्यविदः वामविभागे चन्द्रक्षेत्रं वदन्ति कथयन्ति । च पुनः । पृष्ठी<sup>५</sup> दक्षिणाङ्गे रवे: सूर्यस्य तदेव क्षेत्रमाहुराचार्याः । इति सूत्रार्थः ॥११०॥ अथ मण्डलानां गतिमाह ।

✓ यदि वायुका भल्लीभाँति छान न हो सकता हो तो फिर उसका निश्चय वरुण, पृथिवी, अग्नि और पवन मण्डलोंसे क्रमशः उत्तम हुई धबल, पीली, लाल और काली विन्दुओंके द्वारा करना चाहिए ॥१०७॥

✓ दोनों अङ्गूठोंके द्वारा कर्णपुटोंको, प्रथम अङ्गुलियोंके द्वारा लेत्रपुटोंको, मध्यमा अङ्गुलियोंके द्वारा नासिका पुटोंको तथा अलामिका और कलिष्ठा अङ्गुलियोंके द्वारा मुखको ढकनेपर मनके द्वारा विन्दु देखा जाता है—एकाग्र मनसे उपर्युक्त धबलादि विन्दुओंको जाना जाता है ॥१०८॥

जो दक्षिण अथवा वाम नाडीको रोकना चाहता है उसे उस अंगको पीछित करके— दवा करके—मनसे अन्य नाडीका आश्रय करना चाहिए ॥१०९॥

प्राणायामके हाता आचार्य अग्र ( सामनेका भाग ) और वाम विभागमें चन्द्रक्षेत्रको ढकताते हैं तथा पिंडले भाग और दक्षिण भागमें सूर्यके क्षेत्रको कहते हैं ॥११०॥

१. S T K X Y R पवनदहनोत्थैः । २. All others except P M N द्वाभ्यां च पिधाय ।

३. M N यो । ४. M N पृष्ठे ।

1421 ) अवनिवनदहनमण्डलविचलनशीलस्य तावदनिलस्य ।

गतिश्रजुरेव मरुत्पुरविहारिणः सा तिरश्चीना ॥१११

1422 ) पवनः प्रवेशकाले जीव इति प्रोच्यते महामतिभिः ।

निष्कमणे निर्जीविः फलमपि च तयोस्तथाभूतम् ॥११२

1423 ) जीवे जीवति विशं मृते मृतं सूरभिः समुदिष्टम् ।

सुखदुःखजयपराजयलाभादिमार्गो ऽयम् ॥११३

1424 ) संचरति यदा वायुस्तत्वात्तत्वात्तरं तदा ज्ञेयम् ।

यत्यजति तद्वि रिक्तं तत्पूर्णं यत्र संचरति ॥११४

1421 ) अवनिवन—अवनिवनदहनमण्डलविचलनशीलस्य पृथग्बद्धनामिविचलनशीलस्य तावदनिलस्य गतिः श्रजुरेव सरलंब । मरुत्पुरविहारिणः सा गतिः तिरश्चीना तिर्थं इत्यर्थः ॥१११॥ अथ संज्ञानतरेणाह ।

1422 ) पवनः—पवनः प्रवेशकाले जीव इति प्रोच्यते महामतिभिः पण्डितैः । निष्कमणे पवनस्य निर्जीविः । तयोस्तथाभूतं फलं ज्ञातव्यम् । इति सूत्रार्थः ॥११२॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1423 ) जीवे जीवति—जीवे प्राणे जीवति निर्वहति विशं जीवति । मृते प्राणे अचलति मृत इति व्यपदिश्यते समुद्दिष्टं सूरभिराचार्यैः । सुखदुःखजयपराजयलाभादिमार्गैः अर्यं ज्ञातव्यः ॥११३॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1424 ) संचरति—यदा वायुस्तत्वात्तत्वात्तरं संचरति तत्पूर्णम् । यत्यजति तद्वि रिक्तम् । यत्र स्थाने “संकमतीति सूत्रार्थः ॥११४॥ अथ पुनः गमनकाले विचारमाह ।

पुरिवी, जल और अम्नि मण्डलोंमें विचरण करनेवाली वायुकी गति सरल ( सीधी ) ही है, परन्तु पवनपुरमें विचरण करनेवाली वायुकी वह गति तिरछी है ॥११५॥

प्रश्नके समय वायुके प्रवेशकालमें अतिशय सुद्धिमान् भनुत्य ‘जीव’ ऐसा कहते हैं तथा उक्त पवनके निकलते समय ‘निर्जीव’ ऐसा कहते हैं । उन दोनोंका फल भी उसी प्रकारका है ॥११५॥

‘जीव’ कहनेपर ‘विश्व जीवा है’ तथा ‘मृत’ कहनेपर ‘विश्व निर्जीव है’ ऐसा आचार्यकि द्वारा कहा जाता है । यह सुख, दुख, जय, पराजय, लाभ और अलाभ आदिका मार्ग है ॥११५॥

वायु जब एक तत्त्वको छोड़कर दूसरे तत्त्वपर संचार करती है तब वह जिस तत्त्वको छोड़ती है उसे रिक्त और जिस तत्त्वपर वह संचार करती है उसे पूर्ण जानना चाहिए ॥११६॥

- 1425 ) ग्रामपुरयुद्धजनपदगृहराजकुलप्रवेशनिष्कासे ।  
पूर्णाङ्गपादमध्ये कृत्वा ब्रजतो अस्य सिद्धिः स्यात् ॥११६॥
- 1426 ) उक्तं च—  
अमृते प्रवहति नूनं केचित्प्रवदन्ति सूरयो इत्यर्थम् ।  
जीवन्ति विषासक्ता म्रियन्ते च तथान्यथाभूते<sup>१</sup> ॥११७\*१॥
- 1427 ) यस्मिन्नसति<sup>२</sup> म्रियते जीवति सति भवति चेतनाकलितः ।  
जीवस्तदेव तत्त्वं विरला जानन्ति तत्त्वविदः ॥११७\*२॥
- 1428 ) सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि विद्य इति केचित् ।  
“वायुप्रपञ्चरचनामवेदिनां कथमयं मानः ॥११७\*३॥ इति” ॥

1425 ) ग्रामपुर—अस्य ब्रजतः पूर्णाङ्गपादम् अधे कृत्वा सिद्धिः स्यात् । योवं सुगमय । इति सूत्रार्थः ॥११५॥ अथ विषासक्तानां जीवितमरणज्ञानमाह ।

1426 ) अमृते प्रवहति—नूनं निश्चितम् । अमृते वामस्वरे प्रवहति सति केचित् सूरयो इत्यर्थं प्रवदन्ति, जीवन्ति विषासक्ताः । तथान्यथाभूते दक्षिणस्वरे वहमाने नश्यन्ति म्रियन्ते । इति सूत्रार्थः ॥११५\*१॥ अथ तयोविशेषमाह ।

1427 ) यस्मिन्नसति—यस्मिन् असति प्राणाः म्रियन्ते । जीवति सति प्राणः चेतनाकलितो भवति जीवः । लदेव तत्त्वं विरलास्तत्त्वविदो जानन्ति । इति सूत्रार्थः ॥११५\*२॥ अथ एतद-ज्ञानानां स्वरूपमाह ।

1428 ) सुखदुःख—एतानि सुखादीनि सुगमानि । इति केचित् वदन्ति । विद्यः । वायुप्रपञ्च-रचनाम् अवेदिनाम् अयं मानः कथम् । इति सूत्रार्थः ॥११५\*३॥ अथ कुम्भकादीनां सामर्थ्यमाह ।

✓ गाँव, पुर, युद्ध, जनपद, घर और राजकुल; इनके भीतर प्रवेश करते समय और वहाँ से निकलते समय पूर्णांग पादको—जिस नासिका छिद्रसे वायु वह रही हो उस ओरके पैरोंको—आगे करके चढ़नेवाले प्राणीका अभीष्ट सिद्ध होता है ॥११५॥ कहा भी है—

अमृत ( चन्द्र-वाम नाडी ) के बहनेपर विषमे अतिशय आसक्त प्राणी निश्चयसे जीवित रहते हैं और इसके बिपरीत सूर्य ( दक्षिण ) नाडीके बहनेपर प्राणी मरणको प्राप्त होते हैं, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं ॥११५\*३॥ जिसके न रहनेपर प्राणी मरणको प्राप्त होता है तथा जिसके रहनेपर वह जीवित रहकर चेतनासे संयुक्त होता है उसी तत्त्वको विरले ही तत्त्वज्ञ जानते हैं ॥११५\*२॥ हम सुख, दुख, जय, पराजय, जीवन और मरण; इनको जानते हैं, ऐसा कितने ही भनुष्य कहा करते हैं । परन्तु वायुके विस्तारकी रचनाको न जाननेवाले उनका वह अभिमान कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता है ॥११५\*३॥

१. M N T V om. उक्तं च । २. M N Y सवतास्तथा म्रियन्ते इत्यथाभूते, L F सवता नश्यन्ति तथा, T सवता नश्यन्ति तथा, K X R म्रियते च । ३. M N च म्रियते.....कुलिषः.....सत्त्वे । ४. P वायुः । ५. P M N इति ।

- 1429 ) कुर्वीत पूरके सत्त्वाद्युपि कुम्भके तथा स्तम्भम् ।  
उच्चाटनं च योगी रेचकविज्ञानसामर्थ्यात् ॥११६  
1430 ) इदमखिलं शसनभवं सामर्थ्यं स्यान्सुनेत्रुं तस्य ।  
यो नाडिकाविशुद्धिं सम्यक् कर्तुं विजानाति ॥११७  
1431 ) यद्यपि समीरचारथपलतरो योगिभिः सुदुर्लक्ष्यः ।  
जानाति विगततन्द्रस्तथापि नाड्यां कृताभ्यासः ॥११८  
नाडिकाविशुद्धिः । तद्यथा—  
1432 ) सकलं विन्दुसनाथं रेफाक्रान्तं हृष्णमनवद्यम् ।  
चिन्तयति नाभिकमले सुबन्धुरं कणिकारूढम् ॥११९

1429 ) कुर्वीत—पूरके सति आकृष्टि करोति । तथा कुम्भके स्तम्भं करोति । रेचके योगी रेचकविज्ञानसामर्थ्यात् उच्चाटनं करोति । इति सूत्रार्थः ॥११६॥ अथ पूर्वोक्तानां नाडिकायाः कारणत्वमाह ।

1430 ) इदमखिलं—तस्य मुमेरिदमखिलं समस्तवसनभवं सामर्थ्यं स्याद् । ध्रुवं यो नाडिकाविशुद्धिं सम्यक् कर्तुं विजानाति । इति सूत्रार्थः ॥११७॥ अथ नाडिचारस्य दुर्लक्ष्यत्वमाह ।

1431 ) यद्यपि—विगततन्द्रः चतालस्यः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११८॥ अथ नाडिकाविशुद्धिः<sup>१</sup> । तद्यथा दर्शयति ।

1432 ) सकलं—हृष्णं चिन्तयति । सकलम् अधीचन्द्राकारकलङ्घम् । चतुः । नाभिकमले । विन्दुसनाथं विन्दुसहितम् । पुनः कीदृशम् । रेफाक्रान्तं रेफव्यासम् । पुनः कीदृशम् । अनवर्द्ध निष्पापम् । पुनः कीदृशम् । सुबन्धुरम् । कणिकारूढं कणिकास्थितम् । इति सूत्रार्थः ॥११९॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

योगी पूरक प्राणायामके होनेपर आकर्षणको, कुम्भक प्राणायामके होनेपर स्तम्भनक और रेचक प्राणायामके होनेपर विशिष्ट ज्ञानके बलसे उच्चाटनको करे ॥११६॥

जो मुनि भली भाँति नाडीकी विशुद्धिको करना जानता है उसके निश्चयसे बायुसे उत्तम होनेवाला यह सब दी सामर्थ्यं हुआ करता है ॥११७॥

यद्यपि बायुकी गति अतिशय चंचल होनेसे योगी जनोंके द्वारा भी बड़े कष्टसे देखी जाती है तो भी जिस योगीने आलस्यको छोड़कर नाडीके विषयमें योग्य अभ्यास किया है वह उसे जाना करता है ॥११८॥ चह नाडिकाकी शुद्धि इस प्रकार है—

योगी कला (०) से सहित, विन्दु (०) से संबुक्त तथा रेफ (०) से परिपूर्ण ऐसे सुन्दर व निर्दोष 'ह' वर्णको नाभिरूप कमलकी कणिकाके ऊपर आरूढ़ हुआ विचार करता है । अभिप्राय यह है कि योगीको अपने नाभिरूप कमलकी कणिकापर अवस्थित निर्मल 'है' इस बीज पदका चिन्तन करना चाहिए ॥११९॥

१. M N सत्त्वामरुष्टि, T सत्यां कृष्टि । २. M N पदनाभ्यासो व्यपः नाडिकाविशुद्धिस्तथा, L F T नाडिकाविशुद्धिः । तद्यथा ।

1433 ) रेचयति ततः शीघ्रं पतञ्जल्यार्थेण भासुराकारम् ।

ज्वालाकलापकलितं स्फुलिङ्गमालाकराकान्तम् ॥१२०

1434 ) तरलतडिदुग्धवेष्म धूमशिखावर्तरुद्धिक्चक्रम् ।

गच्छन्तं गगनतले दुर्घटं देवदैत्यानाय् ॥१२१

1435 ) शरदिन्दुधामधवलं गगनतलान्मन्दमन्दमवतीर्णम् ।

शरदसृतमिव सुधांशोः पूरयति पथा पुनः पुरतः ॥१२२

1436 ) आनीय नाभिकमलं निवेश्य तस्मिन् पुनः पुनर्थैवम् ।

अनलसमनसा कार्यं प्रवेशनिष्क्रमणमनवरतम् ॥१२३

1433 ) रेचयति—ततो नाभिकमलात् रेचयति शीघ्रम् । केन । पतञ्जल्यार्थेण सूर्यमार्गेण । कीदृशम् । भासुराकारं सुगमम् । ज्वालाकलापे कलितं, प्रसिद्धम् । पुनः कीदृशम् । स्फुलिङ्गमालाकराकान्तम् । कराः किरणाः । इति सूत्रार्थः ॥१२०॥ अथ पुनस्तस्यैव स्वरूपमाह ।

1434 ) तरल—पुनः कीदृशम् । तरलतडिदुग्धवेष्म । पुनः कीदृशम् । धूमशिखावर्तरुद्धिक्चक्रमेव धूमशिखावर्तरुद्धिक्चक्रमेव आवर्तं अमः तेन रुद्धं दिवक्चक्रं येन तत्तथा । पुनः कीदृशम् । गगनतले आकाशतले गच्छन्तम् । पुनः कीदृशम् । देवदैत्यानां दुर्घटं दुःखनीयम् । इति सूत्रार्थः ॥१२१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1435 ) शरदिन्दु—थथा पुनः पुरतः पूरयति । कीदृशम् । शरदिन्दुधामधवलं शरत्कालीनचन्द्रसदृशम् । पुनः कीदृशम् । गगनतलादवतीर्णम् उत्तरितम् । इवोत्प्रेक्षते । सुधांशोः चन्द्रस्यामृतमिव क्षरत् । इति सूत्रार्थः ॥१२२॥ अथैतदेवाह ।

1436 ) आनीय—आनीय नाभिकमलम् । तस्मिन् नाभिकमले । पुनः पुनश्चैव । अनवरतं

तत्पश्चात् ज्वालाओंके समूहसे वेष्टित और अग्निकणोंकी पंक्तियोंकी किरणोंसे व्याप्त उस चमकते हुए 'हैं' को शीघ्र ही सूर्यके मार्ग ( इक्षिण नासिकाछिद्र ) से बाहर निकालता है । पश्चात् धूएँकी शिखाओंके धेरेसे दिशामण्डलको रोककर चंचल विजलीके समान तीव्र वेगसे आकाशतलमें जाते हुए देवोंव दैत्योंके द्वारा वशमें न हो सकनेवाले, शरत्कालीन चन्द्रसाकी चाँदनीके समान धबल और फिर आकाशतलसे धीरे-धीरे नीचे उतरते हुए मानो अभूतकी ही वर्षी करनेवाले उक्त वर्ण ( हैं ) को चन्द्रमाके मार्ग ( वाम नासिकाछिद्र ) से पूर्ण करता है—उसे पुनः नाभिकमलमें प्रविष्ट करता है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि तत्पश्चात् शोणीको ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि वह 'हैं' दाहिनी ओरके नासिकाछिद्रसे बाहर निकलकर अग्निकी ज्वालाओं और कणोंसे वेष्टित होता हुआ तीव्र वेगसे आकाशमें जा रहा है । पश्चात् वह उस आकाशतलसे धीरे-धीरे नीचे उतरकर वायी ओरके नासिकाछिद्रसे पुनः उस नाभिकमलके भीतर प्रविष्ट हो रहा है, ऐसा विचार करना चाहिए ॥१२०-२२॥

इस प्रकारसे उसे लाकर और नाभिकमलके ऊपर स्थापित करके उसके विषयमें मनसे

1437 ) अथ नाभिपुण्डरीकात्तनैः शनैर्हृदयकमलनालेन ।

निःसारयति समीरं पुनः प्रवेशयति सोद्योगम् ॥१२४

1438 ) नाडीशुद्धि कुरुते दहनपुरं दिनकरस्य मार्गेण ।

निष्कामदिशदिन्दोः पुरभितरेणेति के उप्याहुः ॥१२५

1439 ) इति नाडिकाविशुद्धौ परिकलिताभ्यासकौशलो योगी ।

आत्मेच्छयैवं घटयति पुटयोः पवनं क्षणार्थेन ॥१२६

1440 ) एकस्यामयमास्ते कालं नाडीयुगद्वयं सार्धम् ।

तामुल्सूज्य ततो इन्यामधितिष्ठुति नाडिकामनिलः ॥१२७

निरन्तरम् । अनलसमनसा आलस्यरहितचित्तेन । प्रवेशनिष्कर्मणं कार्यम् । इति सूत्रार्थः ॥१२३॥  
अथ पुनर्स्तदेवाह ।

1437 ) अथ नाभि—अथ नाभिपुण्डरीकात् समीरं वायुं हृदयवालेन शनैः शनैर्मन्तं मन्दं  
निःसारयति । पुनः कीदूशम् । सोद्योगं सयत्नम् । प्रवेशयति । इति सूत्रार्थः ॥१२४॥ अथ नाडी-  
शुद्धयुपायमाह ।

1438 ) नाडीशुद्धिम्—दहनपुरमग्नितत्त्वं दिनकरस्यमार्गेण सूर्यस्वरेण नाडीशुद्धि कुरुते ।  
निष्कामत् इन्दोः पुरं चन्द्रमार्गेण विशत् । इति के उप्याहुराचार्यः ॥१२५॥ अथ नाडीशुद्धिकार्यमाह ।

1439 ) इति नाडिका—नाडिकाशुद्धौ जायमानायां परिकलिताभ्यासकौशलो योगी ।  
आत्मेच्छयैवं क्षणार्थेन पुटयोनासिकाद्वारयोः क्षणार्थेन पवनं घटयति । इति सूत्रार्थः ॥१२६॥ अथ  
नाडीसंक्रममाह ।

1440 ) एकस्यामयम्—एकस्यो नाडिकायां नाडीयुगद्वयं कालमास्ते तिष्ठत्ययम् । सार्धं ततो  
आलस्यको दूर करके—एकाप्रतापूर्वक—निरन्तर उसके बार-बार प्रवेश करने और बाहर  
निकलनेका विचार करना चाहिए ॥१२७॥

पश्चात् नाभिकमलसे हृदयरूप कमलके नालके द्वारा वह प्रथमपूर्वक वायुको बाहर  
निकालता है और फिर भीतर प्रविष्ट करता है ॥१२४॥

अनिनपुर सूर्यके मार्गसे निकलकर व प्रवेश करके तथा वरुणपुर दूसरे मार्गसे—  
चन्द्रके मार्गसे—निकलकर व प्रवेश करके नाडीकी शुद्धिको करता है, ऐसा कितने ही अन्य  
आचार्य कहते हैं ॥१२५॥

इस प्रकार नाडीकी शुद्धिके हो जानेपर जो योगी वायुके अभ्यासमें निपुणताको प्राप्त-  
कर सकता है वह आवे क्षणमें ही पद्मको अपनी इच्छाके अल्पसार दोनों नासिकापुटोंके भीतर  
घटित करता है—उसका इच्छानुसार वहाँ संचालन कर सकता है ॥१२६॥

यह पवन एक नाडीमें अद्वाई नाली युग (मुहूर्त) प्रमाण काल तक रहता है ।  
तलपश्चात् वह उसे छोड़कर दूसरी नाडीके भीतर अधिष्ठित होता है ॥१२७॥

- 1441 ) षोडशप्रमितः कैश्चिद्गिर्णीतो वायुसंक्रमः ।  
अहोरात्रेऽप्तिर्वाक्ये काले द्वयोनाड्योर्यथाक्रमम् ॥१२८॥
- 1442 ) षट्शताभ्यधिकान्याहुः सहस्राण्येकविंशतिः ।  
अहोरात्रे नरि स्वस्थे प्राणवायोर्गमागम्नाः ॥१२९॥
- 1443 ) संक्रान्तिप्रसिद्धो वेदियः समीरस्य मुग्धधीः ।  
स तत्त्वनिर्णयं कर्तुं प्रवृत्तः किं न लज्जते ॥१३०॥
- 1444 ) अथ कौतूहलहेतोः करोति वेदं समाधिसामर्थ्यात् ।  
सम्यग्विनीतपवनः शनैः शनैरेकतूलेषु ॥१३१॥

ज्यामधितिष्ठति । किञ्चुत्य । तां नाडीमुत्सृज्य त्यक्त्वा । अनिलः पवनः । इति सूत्रार्थः ॥१२७॥  
अथ पुनर्नडीसंक्रमणकालमाह ।

1441 ) षोडशप्रमितः—कैश्चित्तद् षोडशप्रमितः कालः वायुसंक्रमो निर्णीतः । अहोरात्रेऽप्तिर्वाक्ये काले द्वयोनाड्योर्यथाक्रमं कालसंक्रमः । इति सूत्रार्थः ॥१२८॥ अहोरात्रे संक्रमकालमाह ।

1442 ) षट्शताभ्यधिकान्ति—अहोरात्रे नरि मनुष्ये स्वस्थे प्राणवायोर्गमागमा एकविंशतिः । अहोरात्रिसहस्राणि षट्शताभ्यधिकान्ति आहुः कथयामासुः । इति सूत्रार्थः ॥१२९॥ अथ संक्रमणकालान्तिनामो मुग्धत्वमाह ।

1443 ) संक्रान्तिप्रसिद्धो—यः पुमान् शरीरस्थवायोः संक्रान्ति संक्रमकालं तो वेति । शेषं मुग्धमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३०॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1444 ) अथ कौतूहल—अथेत्यानन्तर्ये । कौतूहलहेतोः वेदं करोति । कस्मात् । समाधिसामर्थ्यात् शनैः अकेमूलेषु<sup>४</sup> सम्यक् विनीतपवनः । इति सूत्रार्थः ॥१३१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

कितने ही आचार्योंने दिन-रात ( ६० घण्टा ) प्रमाण कालके भीतर दोनों नाडियोंमें क्रमसे होनेवाले इस वायुके संक्रमणको सोलह बार निश्चित किया है । अभिप्राय यह कि उनके भताचुसार इस वायुका परिवर्तन दिन-रातमें दोनों नाडियोंके भीतर क्रमसे सोलह बार होता है ॥१२८॥

नीरोग मनुष्यमें प्राणवायुका जाना और आना दिन-रातके भीतर इककीस हजार छह सौ ( २१६०० ) बार निर्दिष्ट किया गया है ॥१२९॥

जो मूढबुद्धि मनुष्य वायुके संक्रमणको भी नहीं जानता है वह तत्त्वका निर्णय करनेके लिए प्रवृत्त होता हुआ लज्जित क्षमो नहीं होता है ? उसे अबश्य लज्जित होना आहिर ॥१३०॥

जिस योगीने भली भाँति पवनके विषयमें अभ्यासकर लिया है वह समाधिके बलसे कौतूहलवश धीरे-धीरे आककी रुईके ऊपर वेदं करता है—पवनको उसके ऊपर छोड़ता है ॥१३१॥

१. P षोडशः । २. L रात्रेऽप्तिः, F रात्री । ३. I. S F K X R "शताभ्यधिकान्ति....विंशतिः । ४. L F गमागमः, K X Y R गमागमी । ५. K मूलेषु ।

- 1445 ) तत्र कुतनिश्चयोऽसौ जातीबद्धुलादिगुण्यमकुलेषु ।  
स्थिरलक्ष्यतया शश्वत्करोति वेदं वितन्द्रात्मा ॥१३२॥
- 1446 ) कर्पूरकुमागुरुमलयजकुष्टादिगन्धद्रव्येषु ।  
वरुणपथनेन वेदं करोति लक्ष्ये<sup>५</sup> स्थिराभ्यासः ॥१३३॥
- 1447 ) केचित् पुरप्रवेशो तन्वन्ति धनं जयेन पवनेन ।  
स हि दुर्विचिन्त्यशक्तिः प्रकीर्तिं वायुतत्त्वज्ञः ॥१३४॥
- 1448 ) एतेषु लघ्वलक्ष्यस्ततो अंतस्त्रमेषु पत्रिकायेषु ।  
वेदं करोति<sup>६</sup> वायुप्रपञ्चसंयोजने चतुरः ॥१३५॥

1445 ) तत्र कुत—तत्र इवसने कुतनिश्चयः असौ जातीबद्धुलादिगन्धद्रव्येषु स्थिरलक्ष्यतया स्थिरविद्वेन शश्वत्तरन्तरं वेदं करोति । इति सूक्ष्मार्थः ॥१३२॥ अथ वरुणतत्त्वफलमाह ।

1446 ) कर्पूर—वरुणः पवनवेदं करोति लक्ष्ये वस्तुनि कुताभ्यासः<sup>७</sup> । पूर्वार्थः सुगमः ॥१३३॥ [ अथ वायुतत्त्वफलमाह ।

1447 ) केचित् पुर—केचित् योगिनः पवनजयेन पुरप्रवेशो तन्वन्ति कुर्वन्ति । हि यस्मात् । स पवनः दुर्विचिन्त्यशक्तिः अचिन्तनीयसामर्थ्यः प्रकीर्तिः कथितः । कैः । वायुतत्त्वज्ञः । इति सूक्ष्मार्थः ॥१३४॥ ] अथ एतस्यैव स्वरूपमाह ।

1448 ) एतेषु—सूक्ष्मेषु पत्रिकायेषु वेदं करोति । कीदृशः । एतेषु पूर्वोक्तेषु लघ्वलक्ष्यः शाततत्त्वः । वायुः<sup>८</sup> प्रपञ्चसंयोजने चतुरः । इति सूक्ष्मार्थः ॥१३५॥ एतदेवाह ।

इस प्रकार जिसने उक्त आककी रहिके ऊपर वेदका निश्चय कर लिया है—जो उसका भली भाँवि अभ्यास कर लुका है—यह योगी आलस्यसे रहित होकर निरन्तर जाती और बकुल आदि पुष्टियोंपर वेद करता है ॥१३२॥

इस प्रकार लक्ष्यके विषयमें दृढ़ अभ्यासके हो जानेपर योगी वरुण नामक पवनसे कपूर, केसर, अगुरु, मलय चन्दन और कूट आदि गन्धद्रव्योंके विषयमें वेद करता है ॥१३३॥

कितने ही योगी अग्नि नामक पवनके द्वारा पुरप्रवेशाको विस्तृत करते हैं । कारण यह कि वायु तत्त्वके ज्ञाता विद्वानोने उसकी अचिन्त्य शक्तिकी प्रशंसा की है ॥१३४॥

उपर्युक्त कपूर आदि गन्धद्रव्योंमें लक्ष्यके सिद्ध हो जानेपर फिर वायुके विस्तारके जोड़नेमें प्रवीण योगी सूक्ष्म पश्चियोंके शरीरमें वेद करता है ॥१३५॥

१. All others except P "लादिगन्धद्रव्येषु । २. M "मागम । ३. M N वन्धे for लक्ष्ये ।  
४. M N L T F कुताभ्यासः । ५. Only in P. । ६. L S X Y R तत्त्वोऽपि सूक्ष्मेषु, F K तत्त्वोति सू । ७. All others except P M वायुः प्रपञ्चः ।

- 1449 ) मधुकरपतञ्जपत्रिषु तथाण्डजेषु<sup>१</sup> सूगशरीरेषु<sup>२</sup> ।  
संचरति जातलङ्घयस्वनन्यचित्ते<sup>३</sup> कही धीरः ॥१३६॥
- 1450 ) नरतुरगकरिशरीरे क्रमेण संचरति निःसरत्येष ।  
पुस्तोपलरूपेषु च यदृच्छया संक्रमं कुर्यात् ॥१३७॥
- 1451 ) इति परपुरप्रवेशाभ्यासोत्थसमाधिपरमसामर्थ्यात् ।  
विचरति यदृच्छयासौ मुक्त इवात्पन्तनिलेपः ॥१३८॥ अथवा—
- 1452 ) कौतुकमात्रफलो ज्यं<sup>४</sup> पुरप्रवेशो महाप्रयासेन ।  
सिध्यति न वा कथंचिन्महतामपि<sup>५</sup> कालयोगेन ॥१३९॥

1449 ) मधुकर—वशी धीरः अनन्यचित्तः एकचित्तः जातलङ्घयः संचरति । शेषं सुगमम् ।  
इति सूश्रार्थः ॥१३६॥ अथ पुनरपि वायोः स्वरूपमाह ।

1450 ) नरतुरग—वायुः नरतुरगकरिशरीरे क्रमेण संचरति वा निःसरति । पुस्तोपलरूपेषु ।  
च पक्षान्तरे । चित्रलिखितेषु पुस्तोपलेषु रूपेषु यथाक्रमं कुर्यादिति सूश्रार्थः ॥१३७॥ अर्थेव मुक्तो  
भवतीत्याह ।

1451 ) इति पर—असौ योगी यदृच्छया विचरति । मुक्त इव अत्यन्तनिलेपः निरङ्गनः ।  
इति अमुना प्रकारेण । परपुरप्रवेश—परशरीरप्रवेशेन अभ्यासोत्थसमं समस्तम् अधिसामर्थ्यं ततः  
स्तस्मात् । इति सूश्रार्थः ॥१३८॥ अथवा परशरीरस्यासाध्यत्वमाह । अथवा ।

1452 ) कौतुकमात्र—अथवा<sup>६</sup> पक्षान्तरे । अयं परपुरप्रवेशः परशरीरप्रवेशः महाप्रयासेन

तत्पश्चात् पूर्वोक्त अभ्याससे सिद्ध हो जानेपर जितेन्द्रियं एवं धीर-वीर योगी एकाग्र-  
चित्त होकर भ्रमर, पतंगा व पक्षियोंके शरीरमें, अण्डज प्राणियोंके शरीरमें तथा सूखोंके  
शरीरमें वेदको करता है ॥१३९॥

फिर क्रमसे वह योगी मनुष्य, घोड़ा और हाथीके शरीरमें संचार करता है और  
मिकलता है । इस प्रकारसे उसे लेपनिर्मित व पावाणनिर्मित मूर्तियोंमें भी इच्छानुसार संचार  
करता चाहिए ॥१३९॥

इस प्रकार दूसरोंके शरीरके भीतर प्रवेश करनेके अभ्याससे उत्पन्न हुई समाधिके  
उक्तस्य सामर्थ्यसे वह योगीमुक्त जीवके समान अतिशय निलेप होता हुआ इच्छानुसार  
विचरण करता है ॥१३८॥

अथवा, इस पुरप्रवेशका दूसरोंके शरीरमें प्रवेश करनेका फल केवल कौतुहल ही है—  
इसके अतिरिक्त अन्य कोई उसका कल्याणकारक फल नहीं है । उक्त पुरप्रवेश कालके योगसे

१. M N L S T Y तथाण्डजेषु । २. Y पक्षिकायेषु । ३. S K X R <sup>७</sup>नामचेतो । ४. P M L F अथवा । ५. M L S T K X Y R परपुर० । ६. T <sup>८</sup>मपि च ।

1453 ) स्मरणरलभनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुःस्थैर्यम् ।  
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न सदेहः ॥१४०

1454 ) जन्मशतजनितसुग्रं प्राणायामाद्विलीयते पापम् ।  
नाढीयुगलस्यान्ते यतेजिताक्षस्य धीरस्य ॥१४१

1455 ) उक्तं च—

जलविन्दुं कुशाग्रेण मासे मासे तु यः पिबेत् ।  
संवत्सरशतं सार्गं प्राणायामश्च तत्समः ॥१४१\*१

सिद्धति । वा न वा । कथचित् प्रकारेण भृत्यामपि सत्युखाणामपि कालयोगेन । इति सूत्रार्थः ॥१३५॥ अथ पवनधारणफलभाव ।

1453 ) स्मरणरल—योगी पवनप्रचारचतुरः स्मरणरलभनोविजयं सुगमम् । करोति । समस्तरोगक्षयं करोति । वपुःस्थैर्यं करोति । न सदेहः । इति सूत्रार्थः ॥१४०॥ अथ प्राणायामफलभाव ।

1454 ) जन्मशत—प्राणायामात् ध्यानात् उर्घं पापं विलीयते नश्यति । यतः कारणात् । जिताक्षस्य जितेन्द्रियस्य धीरस्य नाढीयुगलस्यान्ते दक्षिणवामद्वयस्यान्ते । इति सूत्रार्थः ॥१४१॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ॥

1455 ) जलविन्दु—[ यः मासे मासे प्रतिमासे कुशाग्रेण जलविन्दुं पिबेत् पिबति । तस्य फलं संवत्सरशतं यावत् कृतेन प्राणायामेन तुल्यम् । इति सूत्रार्थः ॥१४१\*१ ]

महापुरुषोंके भी अतिशय प्रयत्न करनेपर किसी प्रकारसे सिद्ध होता भी है, और कदाचित् नहीं भी सिद्ध होता है ॥१३६॥

जो योगी पवनके संचारमें दक्ष होता है वह कामवासना, भयानक विष और मनके ऊपर विजय प्राप्त करता है, समस्त रोगोंको नष्ट करता है तथा शरीरको स्थिर करता है; इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है ॥१४०॥

जितेन्द्रिय व धीर योगीके प्राणायामसे सैकड़ों जन्मोंमें उपार्जित महान् पाप दो नालियों ( एक सुहृत् ) के भीतर—अन्तसुरुतमें—नष्ट हो जाता है ॥१४१॥ कहा भी है—

जो योगी एक-एक सहीनेमें कुश ( कौस ) के अग्रभागसे केवल जलकी एक बूँदको सौ वर्षसे भी कुछ अधिक कालतक पीता है, प्राणायाम उसके समान है ॥१४१\*१॥

इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-विरचिते  
प्राणायामप्रकरणम् ॥२६॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्थवस्तुत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहमासा-तत्त्वुत्त-साहटोडर-तत्त्वुलकमलदिवाकर-साहकृष्णिदास-स्वश्रवणार्थ  
पण्डितजिनदासोद्यमेन कारोपित प्राणायामप्रकरणम् ॥२६॥

पुराभवत्याइवंसुनामधेयः तदीयपादाम्बूजभास्कराम्भः । सद्गुडरो धर्मधुराधुरीणः जीथादिह  
श्रीकृष्णिदाससंज्ञः ॥१॥ आशीर्वादः । अथ प्राणायामात्मतेरं प्रत्याहारमाह । अथ प्रत्याहारलक्षणमाह ।

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारमें  
प्राणायामप्रकरण समाप्त हुआ ॥२६॥

## [ प्रत्याहारः ]

1456 ) समाकृष्णेन्द्रियार्थेभ्यः साक्षं चेतः प्रशान्तधीः ।  
यत्र यत्रेच्छया धर्मे स प्रत्याहार उच्यते ॥१॥

1457 ) निःसंगः<sup>३</sup> संवृतस्वान्तः कूर्मवत्संवृतेन्द्रियः ।  
यमी समत्वंमापन्नो ध्यानतन्त्रे स्थिरीभवेत् ॥२॥ किं च

1458 ) गोचरेभ्यो हृषीकाणि तेभ्यरिचत्तमनाकुलम् ।  
पृथक्कृत्य वशी धर्मे ललाटे अत्यन्तनिश्चलम् ॥३॥

1456 ) समाकृष्ण—स प्रत्याहार उच्यते । स इति कः । इन्द्रियेभ्यः समाकृष्ण यत्र यत्रेच्छया  
“साक्षाच्चेतः धर्मे । कीदूषाः । प्रशान्तधीः । इति सूक्ष्मार्थः ॥१॥ अथ ध्यानयोग्यमाह ।

1457 ) निःसंगः—यमी द्रस्ती समत्वमापन्नः । ध्यानतन्त्रे ध्यानविषये स्थिरीभवेत् । पूर्वार्थं  
सुगमम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥२॥ किं च दुक्त्यन्तरमाह ।

1458 ) गोचरेभ्यः—वशी गोचरेभ्यो हृषीकाणि इन्द्रियाणि । चित्तं पृथक् कृत्वा । चित्तं  
तेभ्यः अनाकुलं धर्मे ललाटे । कीदूर्धा चेतः । अनाकुलम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥३॥ अथ प्राणायाम-  
प्रत्याहारयोः पृथक् फलमाह ।

अतिशय शान्तबुद्धि योगी इन्द्रियोंके साथ मनको भी इन्द्रियविषयोंकी ओरसे—स्पर्श,  
रस, गन्ध, वर्ण व शब्दकी ओरसे—खीचिकर इच्छानुसार जहाँ-जहाँ धारण करता है उसे  
प्रत्याहार कहते हैं ॥१॥

जो मुनि परिग्रहसे निर्ममत्व हो चुका है, जिसका मन साथच व्रतिसे रहित है  
तथा जिसकी इन्द्रियौं कछुएके समान संकुचित हैं—स्वाधीन हो चुकी हैं वह समतामावको  
प्राप्त होता हुआ ध्यानके सिद्धान्तमें—उसकी सिद्धिमें—दृढ़ होता है ॥२॥

और भी, जितेन्द्रिय योगी विषयोंसे इन्द्रियोंको तथा इन्द्रियोंसे मनको पृथक् करके—  
उनकी ओरसे विमुख करके—आकुलतासे रहित हुए उस मनको अतिशय स्थिरतापूर्वक  
मरुतकमें धारण करता है ॥३॥

१. F साक्षात्, K “निष्ठेभ्यस्तत्साक्षात् । २. M धर्मे तत्र तत्र स्थिरीभवेत्, N धर्मे प्रत्याहारः स कीरितः,  
T प्रत्याहारः स । ३-४. M निःशङ्कः,....., शमत्वं । ५. P M किं च ।

- 1459 ) सम्यक्समाधिसिद्धर्थं प्रत्याहारः प्रशस्यते ।  
प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति ॥४
- 1460 ) प्रत्याहृतं पुनः स्वस्थं सबोपाधिविविजितम् ।  
चेतः समत्वमापन्नं स्वस्मिन्नेव लयं ब्रजेत् ॥५
- 1461 ) वायोः संचारचातुर्यमणिमाद्ब्रह्मसाधनम् ।  
प्रायः प्रत्युहबीजं स्थानमुनेसुकितमभीप्सतः ॥६
- 1462 ) किमनेन प्रपञ्चेन स्वसंदेहार्तहेतुना॑ ।  
सुविचार्येव तज्जेयं यन्मुक्तेबीजमग्रिमम् ॥७

1459 ) सम्पर्कसमाधि—[ सम्यक् उत्तमरूपीण समाधिसिद्धर्थं प्रत्याहारः प्रशस्यते उपकार-कल्पेन स्तुयते । यतः प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः तत्र स्वास्थ्यं न विन्दति न लभते इत्यर्थः ॥४॥ ] अथ प्रत्याहारफलमाह ।

1460 ) प्रत्याहृतं—स्वस्मिन् आत्मनि लयं साम्यं ब्रजेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ वायुचारं फलमाह ।

1461 ) वायोः संचार—वायोः संचारचातुर्यम् अणिमाद्ब्रह्मसाधनं स्थात् । मुक्तिमभीप्सतो मुक्तिं वाञ्छतो मुनेः प्रायो बाहूल्येन प्रत्युहबीजं विघ्नमूलं स्थात् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ मुक्तिबीजमाह ।

1462 ) किमनेन—इवस्य संदेहेनार्तजन्मना॑ यत्य तेन । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ प्राणायामस्य स्वरूपमाह ।

समाधिको भलीभाँति सिद्ध करनेके लिए प्रत्याहारकी प्रशंसा की जाती है । प्राणायामसे शोभको प्राप्त हुआ मन स्वस्थ और समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित होकर समताभावको प्राप्त होता हुआ अपने आत्मस्वरूपमें ही लीन होता है ॥४॥

परन्तु प्रत्याहारको प्राप्त हुआ मन स्वस्थ और समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित होकर समताभावको प्राप्त होता हुआ अपने आत्मस्वरूपमें ही लीन होता है ॥५॥

वायुके संचारविषयक प्रवीणता शरीरको अणु ( सूक्ष्म ) एवं महान् आदि करनेमें कारणभूत है । परन्तु वह मुक्तिकी इच्छा करनेवाले मुनिकी अभीष्ट सिद्धिमें प्रायः वाधा दहुँचानेवाली है ॥६॥

जो वायुके संचारविषयक विस्तार अपने सन्देह और पीड़ाका कारण है उससे क्या अभीष्ट सिद्ध होनेवाला है ? कुछ भी नहीं । इसलिए जो मुक्तिका सुख्य कारण है उसको ही अतिशय विचारपूर्वक जानना चाहिए ॥७॥

१. M N प्रत्याहृत्य । २. All others except P S R °र्तजन्मना ।

- 1463 ) संविग्रस्य प्रशान्तस्य वीतरागस्य योगिनः ।  
वशीकृताक्षंवर्गस्य प्राणायामो न शस्यते ॥८
- 1464 ) प्राणस्थायमने पीडा तस्यां स्थादार्तसंभवः ।  
तेन प्रच्छाव्यते नूनं ज्ञाततत्त्वोपलक्षितः ॥९
- 1465 ) पूरणे कुम्भने<sup>३</sup> चैव तथा शसनंनिर्गमे ।  
व्यश्रीभैवन्ति चेतासि विलक्ष्यमानानि वायुमिः ॥१०॥ कि च—
- 1466 ) नातिरिक्तं फलं सूत्रे प्राणायामात् प्रकीर्तितम् ।  
अतस्तदर्थमस्माभिर्नातिरिक्तः कृतः थमः ॥११

- 1463 ) संविग्रस्य—वशीकृतेन्द्रियस्य । सुगममिति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ प्राणायामस्य फलमाह ।
- 1464 ) प्राणस्थायमने—प्राणस्थायमने निष्कारसने पीडा । तस्या आतिसंभवः रोपसंभवः स्यात् । तेनात्मेन ज्ञाततरदीर्घी लक्षितः नूनं प्रच्छाव्यते , इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ पुनरेतदेवाह ।
- 1465 ) पूरणे—व्यश्रीभैवन्ति आत्मुराणि भवन्ति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ कि च युक्त्यन्तरमाह ।
- 1466 ) नातिरिक्तं—अतः कारणात् तदर्थं प्राणायामार्थम् अस्माभिः अतिरिक्तकृतस्थमो नेति सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पुनः प्रत्याहारमाह ।

जो योगी संबोगसे सहित—संसार दुखसे भयभीत, अतिशय शान्त-राग-द्वेषसे रहित और इन्द्रियसमूहका विजेता है, उसके लिए प्राणायाम प्रशंसनीय नहीं है—वह उसे कभी स्वीकार नहीं करता है ॥८॥

प्राणवायुके उम्बा करनेमें—प्राणायाममें—पीडा होती है, उससे आर्तध्यान उत्पन्न होता है, और उस आर्तध्यानके द्वारा जाने गये वस्तुस्वरूपसे संयुक्त ( तत्त्वज्ञ ) योगी भी धष्ट किया जाता है ॥९॥

पूरण, कुम्भक और इवासके निकालस्वरूप रेचक प्राणायाममें वायुओंके द्वारा संकलेशको प्राप्त होनेवाला मन व्याकुल होता है ॥१०॥

दूसरे, आगममें प्राणायामसे कोई अतिरिक्त—जनसमूहको आशन्यान्वित करनेके सिवाय कोई दूसरा—फल नहीं निर्दिष्ट किया गया है। इसलिये हमने भी उसके लिए अतिरिक्त—उसके स्वरूप और ऐदों आदिके वर्णनविषयक परिश्रमके सिवाय कुछ अन्य—परिश्रम नहीं किया है। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि यहाँ अन्यकर्ताने प्राणायामके स्वरूप,

१. T कृत्याक्ष । २. L S T K X Y R तस्योऽपि लक्ष्यतः, F लक्ष्ये लक्ष्यतः । ३. All others except P M कुम्भके । ४. I. प्राणस्य निर्गमे । ५. N वक्रे भवन्ति । ६. P M V कि च ।

1467 ) निरुद्धय करणग्रामं समत्वमवलम्ब्य च ।

ललाटदेशसंलीनं विद्ययाभिथलं मनः ॥१२॥ अथवा—

1468 ) नेत्रद्वन्द्वे अवश्ययुगले नासिकाग्रे ललाटे

वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि अभ्युगान्ते ।

ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे<sup>३</sup>

तेजोक्तरिग्नू विगड़विषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥१३॥

1469 ) स्थानेष्वेतेषु विश्रान्तं मुनेलक्ष्यं वितन्वतः ।

उत्पद्यन्ते स्वसंविशेषहनो ध्यानप्रत्ययाः ॥१४॥

1467 ) निरुद्धय—करणग्रामम् इन्द्रियसमूहम् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ चित्तस्थ ध्यानस्थानमाह ।

1468 ) नेत्रद्वन्द्वे—अमलमतिभिः निर्मलबुद्धिभिः । अत्र देहे कीर्तितानि । तेषु स्थानेषु एकस्मिन् स्थाने विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथोपसंहरति ।

1469 ) स्थानेषु—एतेषु स्थानेषु विश्रान्तं मुनेलक्ष्यं वितन्वतः विस्तारयतः स्वसंविशेषान्तप्रत्यया ध्यानस्वरूपा उत्पद्यन्ते । इति सूत्रार्थः ॥१४॥

उसके भेद और प्रक्रियाका ही वर्णन किया है, परन्तु उसके विशेष फलका कुछ वर्णन नहीं किया है । इसका कारण यह है कि उसका प्रयोजन दर्शक जनोंको केवल आहर्वर्यचकित करना ही है, इसके अतिरिक्त आत्माके लिए हितकर उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है । प्रत्युत इसके बहु शारीरिक फीडू और मानसिक संकलेशका कारण होनेसे आत्मधातुक भी है । इसलिए उसकी ओरसे विमुख करते हुए यहाँ योगीको अपनी इन्द्रियों और मनको वशमें करनेकी ही प्रेरणा की गयी है ॥११॥

इन्द्रियसमूहका निरोध करके—उन्हें अपने-अपने अभीष्ट विषयसे विमुख करके—समताभावका आलम्बन लेता हुआ योगी मनको भालप्रदेशमें भलीभाँति लीन करके उसे स्थिर करे ॥१२॥

अथवा—निर्मल बुद्धिवाले महर्षियोंने इस शरीरमें दोनों नेत्र, दोनों कान, नासिकाका अप्रभाग, मस्तक, मुख, नाभि, शिर, हृदय, तालु और दोनों भुकुटियोंका अन्तस्थाग; इन उस अवयवोंमें ध्यानके स्थान कहे हैं । उनमेंसे किसी एक स्थानमें विषयोंसे रहित मनको स्थिर करना चाहिए ॥१३॥

उपर्युक्त इन स्थानोंमें विश्रान्तको प्राप्त हुए, मनको उद्ध्व बनानेवाले मुनिके आत्मसंबोधनसे बहुतसे ध्यानके प्रत्यय उल्लङ्घ होते हैं ॥१४॥

१. Y interchanges Nos. 11-12 । २. P M Y अथवा । ३. N गाने for देहे । ४. M “तेष्वविश्रान्त” ।

इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-  
विरचिते प्रत्याहारधारणाप्रकरणम् ॥२७॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्थवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहपासा-तत्त्वुत्त्व-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहशुष्ठिदास-स्वश्ववणार्थं  
पण्डितजिनदासोद्यमेन कारायितं प्रत्याहारधारणाप्रकरणं समाप्तम् ॥२७॥

विभवसुभवयुक्तः पाश्वपाषाभिमूक्तः सुनयविनयसक्तः टोडरो धर्मरक्तः । तदनुसुतवस्त्रिलः  
भव्यकल्याणशिष्टः जयति जगति शुद्धध्यानकर्मप्रकृष्टः ॥ इति आशीर्वदः । अथ सर्वोदयंध्यानमाह ।

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्थव योगप्रदीपाधिकारमें  
प्रत्याहारधारणाप्रकरण समाप्त हुआ ॥२७॥

XXVIII

[ सवीर्यैष्यानम् ]

1470 ) अनन्तगुणराजीवबन्धुरप्यत्र वशितः ।

अहो भवमहाक्षे प्रागाहं कर्मवैरिभिः ॥१

1471 ) स्वविभ्रमसमुद्भूते रागाद्यतुलबन्धनैः ।

यद्वो विडम्बितः<sup>१</sup> कालमनन्ते जन्मदुर्गमे ॥२

1472 ) अद्य रागजवरोत्तीर्णो मोहनिद्रार्थं निर्गता ।

ततः कर्मरिपुं हन्ति ध्याननिस्तिशधारया ॥३

1470 ) अनन्तगुण—अहो इत्याश्चर्ये । भवमहाक्षे भवाट्यो प्राक् पुर्वम् अहं कर्मवैरिभिर्वशितः । कीदृशः । अश संसारे अनन्तगुणराजीवबन्धुरपि विज्ञानाद्यनन्तगुणसूर्यो ऽपि । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथेतदेवाह ।

1471 ) स्वविभ्रम—रागाद्यतुलबन्धनैर्बद्धो जन्मते काले जन्मदुर्गमि विडम्बितः<sup>२</sup> प्रस्तावाद् भ्रमितः । कीदृशः । स्वविभ्रमसमुद्भूतः आत्ममिथ्याज्ञानजातैः । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनर्व्याप्तिस्वरूपमाह ।

1472 ) अद्य राग—ध्याननिस्तिशधारया कर्मरिपुं हन्ति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथेतदेवाह ।

ध्यानके अभियुक्त हुआ मुनि विचार करता है—खेत है कि मैं अनन्त सुप्तोरुप कमलोंका बन्धु—अनन्तज्ञानादि अपरिमित गुणोरूप कमलोंके विकसित करनेमें सूर्यके समान तेजस्वी होकर भी यहाँ संसाररूप महाबनमें कर्मरूप शत्रुओंके द्वारा पहले बहुत ठगा गया हूँ ॥१॥

मैं अपनी ही अज्ञानतासे उत्पन्न हुए राग-द्वेषादिरूप अनुपम ( दृढ़ ) बन्धनोंसे बँधकर अनन्त कालतक हस संसाररूप हुर्गम स्थानमें दुखित रहा हूँ ॥२॥

आज मैं रागरूप ज्वरसे छुटकारा पा चुका हूँ तथा मेरी मोहरूपी निद्रा भी आज निकल चुकी है । इसलिए अब मैं व्याजरूप खड़की थारसे उस कर्मरूप शत्रुको नष्ट कर देता हूँ ॥३॥

१. Q विडम्बितः, Y बद्धवा विडम्बितं । २. Q आचराम । ३. M N L T F K X Y ज्वरो नष्टो, Q S R ज्वरो जीर्णो । ४. Q M X Y निद्रा विनिर्गता ।

- 1473 ) आत्मानमेव पश्यामि निर्धूयाज्ञानजं तमः ।  
प्लोष्यामि तथात्युग्रं कर्मन्धनसमुत्करम् ॥४
- 1474 ) प्रबलध्यानवज्जेण दुरितदुमसंक्षयम् ।  
तथा कुर्मो यथा दत्ते न पुनर्भवसंभवम् ॥५
- 1475 ) जन्मज्वरसमुद्भूतमहामूर्छार्त्तचक्षुषां ।  
स्तनत्रयमयः साक्षान्मोक्षमागो न वीक्षितः ॥६
- 1476 ) “मयात्मापि न विज्ञातो विश्वलोकैकलोचनः ।  
अविद्याविषमग्राहदन्तचर्वितचेतसा ॥७

1473 ) आत्मानमेव—आत्मानमेव शुद्धचैतन्यादस्य पश्यामि । अज्ञानजं तमः निर्धूय दूरीकृत्य । तथापि कर्मन्धनसमुत्कर्म समूहम् उग्रं प्लोष्यामि भस्मीकरिष्यामि । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1474 ) प्रबलध्यान—दुरितदुमसंक्षयं पापानोकहनाशं तथा कुर्मः । केन । प्रबलध्यानवज्जेण । यथा पुनर्भवसंभवं न दत्ते । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ मोक्षमागवीक्षणी हेतुमाह ।

1475) जन्मज्वर—जन्मज्वरसमुद्भूतमहामूर्छार्त्तचक्षुषां । सुगमम् । पुरुषेण साक्षान्मोक्ष-मागो न वीक्षितो विलोकितः । कीदृशः । स्वविज्ञानोद्भवः\* निजविद्यिष्ठज्ञानजनितः । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथात्मनः परिज्ञानमाह ।

1476) मयात्मापि—मया अविद्याविषमग्राहदन्तचर्वितचेतसा मिद्याज्ञानदुष्टग्राहो जीव-विशेषस्तस्य दन्तैश्चर्वितं चेतो यस्य स तेन जात्मा विज्ञातः । कीदृशं आत्मा । विश्वलोकैकलोचनः जगलोकाद्वितीयनेत्रः । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथात्मा विषयविजित इत्याह ।

इस समय मैं अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको ( अज्ञानरूप अन्धकारको ) नष्ट करके आत्माको ही देख रहा हूँ । अब मैं तीव्र कर्मरूप इंधनके समूहको इस प्रकारसे जला डालता हूँ कि जिससे वह फिर कभी दुख नहीं दे सके ॥४॥

मैं प्रबल ध्यानरूप वज्रके द्वारा पापरूप वृक्षका क्षय इस प्रकारसे कर देता हूँ कि जिस प्रकारसे वह फिरसे संसार परिभ्रमणजन्य दुखको न दे सके ॥५॥

अभी तक मैं संसाररूप ज्वरसे उत्पन्न हुई अड़ी भारी मूर्छासे नेत्रोंकि पीड़ित रहनेके कारण रसत्रयस्वरूप मोक्षमार्गको प्रत्यक्षमें नहीं देख सका था ॥६॥

समस्त लोकके देखनेमें समर्थ ऐसे अमुपम ज्ञानरूप नेत्रसे संयुक्त होकर भी मैं अज्ञान-रूप भयानक ग्राह ( हिन्दू जलजन्तु ) के द्वारा चित्त चलाये जानेके कारण अभी तक अपने-आपको भी नहीं देख सका था ॥७॥

१. Q प्रोष्यामि । २. L S T F K X R मूर्छार्त्त । ३. All others except P स्व ( Y एु ) विज्ञानोद्भवः साक्षां । ४. Q मार्गनिधी । ५. Y interchanges Nos 7-8 ।

1477) परमात्मा परंज्योतिर्जगज्ज्येषु ऽपि वशितः ।  
आपातमात्ररम्यैस्तैर्विषयैरन्तनीरसैः ॥८

1478) अहं च परमात्मा च द्वावेतौ ज्ञानलोचनौ ।  
अतस्त ज्ञातुमिच्छामि तत्स्वरूपोपलब्धये ॥९

1479) मम शक्त्या गुणग्रामै व्यक्त्यां च परमेष्ठिनः ।  
एतावानावयोर्भेदः शक्तिव्यक्तिस्वभावतः ॥१०

1480) उक्तं च—  
नासत्पूर्वाश्च पूर्वी नो निविशेषविकारजाः ।  
स्वात्मविद्विदेण तद्गुणाः ॥१०\*१॥ इति ।

1477) परमात्मा—परमात्मा विषयैर्वशितः । परंज्योतिः जगज्ज्येषु जगत्पूज्यः ।  
कीदृशैर्विषयैः । आपातमात्ररम्यैः उदयकालमनोहरैः । तैः अन्तनीरसैः प्रान्तकट्टैः । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथाज्ञानमाह ।

1478) अहं च—एतीं हीं । की । अहं च परमात्मा च । कीदृशी । ज्ञानलोचनी । अतः  
कारणात् सिद्धस्वरूपं ज्ञातुमिच्छामि । कस्यै । तत्स्वरूपोपलब्धये परमात्मस्वरूपप्राप्तये । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथैतदेवाह ।

1479) मम शक्त्या—मम शक्त्या गुणग्रामम् । च पुनः । परमेष्ठिनः व्यक्त्या एतीं हीं  
अनन्दयोः भेदी । कस्मात् । शक्तिव्यक्तिस्वभावतः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ स्वरूपमाह ।  
उक्तं च ।

1480) नासत्पूर्वादिच—तद्गुणाः तीर्थकरगुणाः । असत्पूर्वः असत्तः पूर्व ये ते असत्पूर्वः  
नोपूर्वाः । कीदृशाः । निविशेषविकारजा विशेषरहितविकारजाताः नो वर्तन्ते । हि निश्चितम् ।

स्वभावसे परमात्मा, उक्तुष्ट ज्ञानरूप ज्योतिसे संयुक्त तथा संसारमें श्रेष्ठ होकर भी मैं  
केवल प्रारम्भमें रमणीय प्रतीत होनेवाले, परन्तु अन्तमें नीरस स्वभाववाले—परिणाममें  
दुखदायक—उन विषयोंसे लगा गया हूँ ॥८॥

मैं और परमात्मा ये दोनों ही ज्ञानरूप नेत्रसे सहित हैं । इसीलिए मैं उस परमात्माके  
स्वरूपको प्राप्त करनेके लिए उसे जाननेकी इच्छा करता हूँ ॥९॥

मुझमें ज्ञानादि गुणोंका समुदाय शक्तिके रूपमें अवस्थित हैं तथा परमात्मामें वह  
व्यक्त स्वरूपसे—प्रगटमें—अवस्थित है । बस, इस शक्ति और व्यक्ति रूप स्वभावसे हम  
दोनोंमें द्वना ही भेद है ॥१०॥

कहा भी है—जो आत्मगुण विशेषतासे रहित होते हुए भी विकारसे उत्पन्न होते हैं  
वे न तो असत्पूर्व हैं और न सत्पूर्व भी हैं । किन्तु जो आत्मगुण स्वाभाविक विशेषतासे

१. All others except P Q आमी । २. Q M F व्यक्ता । ३. M इति । ४. P Q L S R  
उक्तं च, M om, this verse । ५. P इति ।

१४८१ ) तावन्मा पीडयतयेव भवोत्थविषमज्वरः ।  
यावज्ज्ञानसुधाम्भोधेनाविगाहः प्रवर्तते ॥११

१४८२ ) अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः ।  
न देवः किंतु सिद्धात्मा सर्वो इयं कर्मजः क्रमः ॥१२

स्वाभाविकविशेषाः स्वाभाविको विशेषो येषां ते स्वाभाविकविशेषाः । अभूतपूर्वः पूर्वं न भूताः । इति सूत्रार्थः ॥१०\*१॥ अथ भवदाहृत्य ज्ञाननाश्यस्वमाह ।

१४८१) तावन्मा—भवोद्भवः<sup>१</sup> संसारजातः महादाहः<sup>२</sup> तावत्पीडयतयेव । यावद् ज्ञान-  
सुधाम्भोधेनान्तसुधासमुद्रस्य मोदगाहः प्रवर्तते । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथात्प्रस्वरूपं निरूपयति ।

१४८२) अहं न—आत्मा कथयति । अहं न नारको नामा<sup>३</sup> । तिर्यक् नामा । सर्वत्र योज्यम् ।  
नापि मानुषः नामा न देवः । किंतु सिद्धात्मा सिद्धस्वरूपः । अयं सर्वो इत्यक्रमः चतुर्गतिपरिभ्रमः  
कर्मजः कर्मजनितः । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ पुनरात्मा निरूपयति ।

संयुक्त होते हैं वे वास्तवमें अभूतपूर्व ही होते हैं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि संसारी  
जीवोंके अनादि कालसे विभावगुणव्यञ्जन पर्यायस्वरूप जो मतिज्ञानादि पाये जाते हैं वे  
विशेषतासे रहित होते हुए विकारसे उत्पन्न हुआ करते हैं । ये गुण सामान्यस्वरूपसे जीवके  
सदा ही रहते हैं, इसलिए सामान्यकी अपेक्षा ये असत्पूर्व नहीं हैं—उनका सद्भाव पूर्वमें  
रहा ही है । परन्तु पर्यायस्वरूपसे चूँकि वे सदा समान नहीं रहते हैं—उनकी अवस्था बदलती  
रहती है, इस दृष्टिसे वे सर्वथा सत्पूर्व भी नहीं हैं—शक्तिकी अपेक्षा पूर्वमें उनके अस्तित्वके  
होते हुए भी व्यक्तिकी अपेक्षा उनका विवक्षित अवस्थामें पहले सद्भाव नहीं रहा है । तथा  
तपश्चरण व ध्यानादिके बलसे जीवके जो स्वभावगुण व्यञ्जनपर्यायस्वरूप अनन्तज्ञानादि  
प्रगट होते हैं वे अपनी स्वाभाविक विशेषतासे संयुक्त होते हुए असत्पूर्व ही हैं—शक्तिरूपसे  
अवस्थित रहनेपर भी उनका उस रूपमें पहले कभी किसी भी संसारी प्राणीके सद्भाव  
नहीं रहा है । यही एक संसारी और सिद्धकी विशेषता है—संसारी जीवके उक्त अनन्त  
ज्ञानादि शक्तिकी अपेक्षा विद्यमान होते हुए भी प्रगटमें नहीं पाये जाते हैं, परन्तु सिद्धके वै  
व्यक्त रूपमें आविर्भूत हो जाते हैं । इसी कारण उन्हें अभूतपूर्व कहा जाता है ॥१०\*१॥

ध्यानमें योगी और भी विचार करता है—जब तक ज्ञानरूप अभूतके समुद्रमें नहाना  
नहीं होता है, तब तक संसारपरिभ्रमणसे उत्पन्न हुआ भयानक दुखरूप विषमज्वर मुझे  
पीड़ित ही करता रहेगा ॥११॥

मैं न नारकी हूँ, न तिर्यच हूँ, न मनुष्य हूँ, और न देव हूँ; किंतु स्वभावसे मैं  
सिद्धात्मा हूँ । ये सब नारकी आदि अवस्था विशेष कर्मजनित हैं—स्वाभाविक नहीं  
हैं ॥१२॥

१. All others except P “त्येव महादाहो भवोद्भवः । २. Q, N सुधाम्भोधेनविं, M ज्ञानमहाम्भो-  
धेनविं, others except P “म्भोधी नाव” । ३. K मोद for नाव । ४. L S F K X Y R  
कर्मविक्रमः ।

1483) अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मको उप्यहम् ।  
कि न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्गुमम् ॥१३॥

1484) अद्यासाद्य स्वसामर्थ्यं प्रविश्यानन्दमन्दिरम् ।  
न स्वरूपाच्छ्यविष्ये इहं बाह्यार्थेषु गतस्पृहः ॥१४॥

1485) मयाद्यैव विनिश्चेयं स्वस्वरूपं हि वस्तुतः ।  
छित्त्वाप्यनादिसंभूतामविद्यावैरिवागुराय् ॥१५॥

1486) इति प्रतिज्ञा प्रतिपद्य धीरः समस्तरागादिकलङ्घमुक्तः ।  
आलम्भते धर्म्यमचञ्चलात्मा शुक्लं च यद्यस्ति बलं विशालम् ॥१६॥ प्रतिज्ञा ॥

1483) अनन्तवीर्य—अहं प्रतिपक्षविषद्गुम कर्मविवतहम् अद्य प्रोन्मूलयामि । कीदृशो ज्ञम् । अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मको उपि दृक् सम्यगदर्शनम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ स्वरूपापरित्यागमाह ।

1484) अद्यासाद्य—अहं स्वरूपादात्मस्वरूपात्म च्यविष्ये । अद्य स्वसामर्थ्यम् आसाद्य प्राप्य । आनन्दमन्दिरं प्रविश्य । कीदृशो उप्यहम् । बाह्यार्थेषु इन्द्रियार्थेषु गतस्पृहः । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पुनरात्मानमेवाह ।

1485) मयाद्यैव—हि निश्चितम् । अद्यैव वस्तुतः निश्चयात् स्वस्वरूपं मया विनिश्चेयं निर्णेतव्यम् । अविद्यावैरिवागुरां मिथ्याज्ञानवद्धनं छित्त्वा । कीदृशाम् । अनादिसंभूताम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1486) इति प्रतिज्ञा—धीरः धर्म्यमालम्भते । कि कृत्वा । इति अमूला प्रकारेण प्रतिज्ञा प्रतिपद्य अङ्गीकृत्य । कीदृशः । अचञ्चलात्मा । च पुनः । शुक्लं बलं यद्यस्ति विशालं विस्तीर्णम् । कीदृशः । समस्तरागादिकलङ्घमुक्तः । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथात्मस्वरूपमाह । प्रतिज्ञा ।

मैं अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तमुख स्वरूप होकर भी क्या आज शश्वभूत उस कर्मरूप विषद्गुष्ठको निर्मूल नहीं कर सकता हूँ—आत्मपरका विवेक उद्दित हो जानेसे अब मैं उस कर्म-शश्वको अवश्य ही सम्भव कर देता हूँ ॥१३॥

आज मैं अपनी स्वामाविक शक्तिको प्राप्त करके और आनन्दके स्थानभूत उस आत्माके स्वरूपमें प्रविष्ट (लीन) होकर बाह्य विषयमें निःस्पृह होता हुआ आत्मस्वरूपसे ल्युत नहीं होऊँगा ॥१४॥

मुझे अनादि कालसे उत्तम हुई अविद्यारूप शश्वकी फाँसको काटकर आज ही यथार्थमें आत्मस्वरूपका निश्चय करना है ॥१५॥

इस प्रकारसे प्रतिज्ञा करके धैर्यशाली ध्याता समस्त रागादिरूप कलंकसे रहित होता हुआ स्थिरतास्वरूपसे धर्मध्यानका आश्रय लेता है तथा यदि विपुलसामर्थ्य हुआ, तो शुक्लध्यानका भी आश्रय लेता है ॥१६॥

१. M N बाल्यार्थेषु । २. Q वस्तुतः । ३. P Q M L F प्रतिज्ञा ।

1487) ध्येयं वस्तु वदन्ति निर्मलैधियस्तत्त्वेतनाचेतनं  
स्थित्युत्पत्तिविनाशलाङ्गूलयुतं भूतेतरं च क्रमात् ।  
शुद्धध्यानविशीर्णकर्मकवचो देवश्च सुक्ष्मेवरः  
सर्वज्ञः सकलः शिवः स मगवान् सिद्धः परो निष्कलः ॥१७

1488) अभी जीवादयो भावात्तिदचिलस्मलाञ्छिताः ।  
तत्स्वरूपाविरोधेन ध्येया धर्मे मनोषिभिः ॥१८

1487) ध्येयं वस्तु—जीवात्तीवरूपम् । पुनः केदृढ़ा ध्येयं वस्तु । स्थित्युत्पत्तिविनाश-  
लक्षणयुतम्<sup>१</sup> । सुगमम् । च पुनः । क्रमादनुक्रमात् भूतेतरं शुक्लध्यानविशीर्णकर्मकवचः  
शुक्लध्याननाशितकर्मसञ्चाहश्च वैवः मुक्तेवरः । वौषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ  
पदार्थनाथेयत्वमाह ।

1488) अभी जीवादयः—अभी जीवादयो भावा ध्येयाः । चिदचिलस्मलाञ्छिताः  
चेतनाचेतनलक्षणोपलक्षिताः । कैः । मनोषिभिः । तत्स्वरूपाविरोधेन स्वस्वरूपापरिज्ञानेन । इति  
सूत्रार्थः ॥१८॥ अथेतदेवाह ।

निर्मल बुद्धिके धारक गणधरादि जो वर्गमुख्याद, व्यय और श्रीब्यरूपलक्षणसे सहित  
हैं उसे ध्येय—ध्यानके शोभ्य—बतलाते हैं । वह वस्तु चेतन ( जीव ) और अचेतन ( पुद्गल  
आदि पाँच द्रव्य ) के भेदसे दो प्रकारकी हैं । उनमें चेतन तो अमूर्त है—रूप, रस, गन्ध व  
स्पर्शसे रहित है—परन्तु अचेतन क्रमसे मूर्त और अमूर्त भी है । अर्थात् पुद्गल द्रव्य भूतं  
और क्षेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल अमूर्त हैं । जिसने शुद्ध ध्यानके द्वारा—निर्मल  
शुक्लध्यानके द्वारा—कर्मरूप कवचको नष्ट कर दिया है तथा जो समस्त पदार्थोंका झाला-  
झूँझा है वह मुक्तिके द्वारा बरण किया जानेवाला देव ( आप ) माना गया है । जो चार  
पातिया कर्मोंको नष्ट करके अनन्त चतुष्प्रको प्राप्त कर चुका है वह सकल ( शरीरसहित )  
परमात्मा तथा जो आठों ही कर्मोंको नष्ट करके आठ गुणोंको प्राप्त कर चुका है वह सिद्ध  
निष्कल ( शरीरसे रहित हुआ ) परमात्मा है । वह मगवान् परमात्मा स्व-परक्षा कल्याण  
करनेवाला है ॥१८॥

बुद्धिमान् मुक्तियोंको धर्मध्यानमें चेतन और अचेतन लक्षणोंसे चिह्नित इन जीवादि  
पदार्थोंका अपने-अपने स्वरूपके अनुसार ध्यान करना चाहिए ॥१८॥

१. N निर्मल । २. Q M L F K X Y लक्षणयुतं । ३. All others except P Q लक्षण ।  
४. Q पातियोंके । ५. N धर्म ।

१४८९ ) ध्याने हृपरते धीमात् मनः कुर्यात् समाहितम् ।  
निवेदपदमापनं मग्नं वा करुणाम्बुधौ ॥१९

१४९० ) अथ लोकत्रयीनाथममूर्ते परमेश्वरम् ।  
ध्यातुं प्रक्रमते साक्षात्परमात्मानमव्ययम् ॥२०

१४९१ ) उक्तं च—

श्रिकालविषयं साक्षात्त्रवित्यवित्यविवक्षया ।  
सामान्येन नयेनैकं परमात्मानमाभनेत् ॥२०\*१॥ इति ॥

१४९२ ) साकारं निर्गताकारं निष्क्रियं परमाक्षरम् ।  
निविकल्पं च निष्कर्मणं नित्यमानन्दमन्दिरम् ॥२१

१४८९) ध्याने हृपरते—धीमात् मनः समाहितं स्वस्यं कुर्यात् । तत्र सति । ध्याने हि उपरते विरते । कीदूर्ण मनः ै निवेदपदमापनं वैराग्यस्थानमायन्नम् । वा अथवा ॥१९॥ [ ध्यानिनः उद्घममाह । ]

१४९०) अथ लोक—ध्यातुं साक्षात्परमात्मानं प्रक्रमते उद्यमं कुरुते । अथ लोकत्रयीनाथम् अमूर्ते परमेश्वरम् । अव्ययं साक्षरहितम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

१४९१) श्रिकालविषयं—साक्षात्प्रकारेण श्रिकालविषयम् । कथा । शक्तिव्यवित्यविवक्षया । सामान्येन नयेन एकं परमात्मानम् आभनेत् । इति सूत्रार्थः ॥२०\*१॥ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

१४९२) साकारम्—[ निर्गताकारम् आकाररहितम् । निष्क्रियं क्रियारहितम् । निष्कर्मणम् अस्थिरम् । आनन्दमन्दिरम् आनन्दमयम् । नित्यम् अविनाशि । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ ] पुनरात्म-स्वरूपमाह ।

ध्यानके पूर्ण होनेपर त्रुद्धिमान् योगी मनको समाहित—समाधिमें व्यवस्थित—करे, अथवा वैराग्यभावको प्राप्त हुए उस मनको दयाके समुद्रमें निपन्न करे ॥१९॥

तत्प्रध्यान उसे साक्षात् उस अविजहवर परमात्माका ध्यान प्राप्तम् करना चाहिए जो तीनों लोकोंको अधिपति होकर अमूर्त और उद्गृष्ट ऐश्वर्यसे संयुक्त है ॥२०॥

कहा भी है—जो सामान्य ( द्रव्यार्थिक ) नयसे शक्ति और व्यक्तिकी विवक्षणसे तीनों कालोंको विषय करनेवाला है उस एक परमात्माका ही साक्षात् ध्यान करना चाहिए । अभिग्राह यह है कि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सब ही प्राणियोंका आत्मा साक्षात् परमात्मा होकर स्वभावतः तीनों काल और तीनों लोकोंका ज्ञाता-द्रष्टा है । इसलिए शक्ति और व्यक्तिकी अपेक्षा उस एक परमात्माका ही ध्यान करना चाहिए ॥२०\*१॥

परमात्माका स्वरूप—वह परमात्मा शरीरके आकार होकर भी वस्तुतः निराकार ( अमूर्तिक ), परिस्पन्दादिरूप क्रियासे रहित, उद्गृष्ट ज्ञानचेतनासे सहित ( या असिद्धान्त )

१. P Q M L X Y उक्तं च । २. Q°मानमेत् । ३. P Q इति । ४. Q साकारनिर्गताकारे ।  
५. Q M N T X Y निष्कलं परे ।

1493) विश्वरूपमविज्ञातस्वरूपं सर्वदोदितम् ।

कुतकृत्यं शिवं ज्ञानं निष्कलं करणच्युतम् ॥२२३

1494) निःशेषभवसंभूतक्लेशद्रुमहुताशनम् ।

शुद्धमत्यन्तनिलेपं ज्ञानराज्ये प्रतिष्ठितम् ॥२३

1495) विशुद्धादर्शसंकान्तश्रतिविभवसमग्रभम् ।

ज्योतिर्मयमंतिस्फीतं परिपूर्णं पुरातनम् ॥२४

1496) विशुद्धाष्टगुणोपेतं निर्द्वन्द्वं निर्गतामयम् ।

अप्रमेयं परिचिङ्गन्विश्वतत्त्वव्यवस्थितम् ॥२५

1493) विश्वरूपम्—करणच्युतम् अतीन्द्रियम् । इति सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ [ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1494) निःशेष—निःशेषः भवसंभूता ये क्लेशः त एव द्रुमाः तेषां नाशने हुताशनम् इव स्थितम् । ज्ञानराज्ये प्रतिष्ठितं ज्ञानमयम् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ तथा च ।

1495) विशुद्धादर्श—विशुद्धादर्शं विमलादर्शं संकान्तं यत् प्रतिविभवं तेन समा प्रभा कान्तिः यस्य तत् । ज्योतिर्मयं तेजोमयम् । अतिस्फीतं सुस्पष्टम् । अन्यत्सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ [ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1496) विशुद्धाष्ट—विशुद्धाष्टगुणोपेतं निर्भलाष्टगुणयुक्तम् । निर्द्वन्द्वं सुखदुःखादिरहितम् । अन्यत्सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ ] अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

अविनश्वर ), विकल्पोंसे रहित, स्थिर, सित्य, आनन्दका स्थान, विश्वरूप होकर भी अविज्ञातस्वरूप—समस्त चराचर पदार्थोंका ज्ञाता होकर भी सर्व-साधारणके द्वारा स्वर्य अज्ञात स्वरूपवाला, सर्वदा अभ्युदयको प्राप्त, कुतकृत्य ( कुतार्थ ), कल्याणस्वरूप, ज्ञान, शरीरसे रहित, इन्द्रियोंसे च्युत ( अतीन्द्रियज्ञानी ), संसारपरिभ्रमणसे उत्पन्न हुए समस्त क्लेशरूप वृक्षोंके दण्ड करनेमें अग्निके समान, निर्मल, कर्म लेपसे अतिशय रहित, ज्ञानरूप रात्यपद्यपर प्रतिष्ठित, निर्भल दर्पणमें प्रतिविभित प्रतिच्छायाके समान प्रभासे संयुक्त—निर्भल ज्ञानमें प्रतिविभित होनेवाले समस्त पदार्थोंका ज्ञायक, प्रकाशस्वरूप, अतिशय, वृद्धिगत, गुणोंसे परिपूर्ण, प्राचीन, आठों कर्मेंकि शीण होनेसे आविभूत हुए केवल ज्ञानादिरूप आठ गुणोंसे सहित, समस्त आकुलता व क्लेशोंसे रहित, रोगसे आंतकान्त, प्रमाणसे रहित—सर्वव्यापक, जाने हुए समस्त तत्त्वोंसे व्यवस्थित तथा बाह्य पदार्थोंके द्वारा अज्ञेय होकर भी

१. M सर्वर्थोऽ । २. L S T F R करण । ३. K lads here । ४. M हुताशनः । ५. N S T X Y R राज्यप्रति । ६. Q L T F X R मर्यं महादीर्घं, M N मर्यं भवातीतं, S मर्यं व्यतीतार्थं, Y मर्यं महादीर्घं । ७. M निर्दयं for निर्द्वन्द्वं । ८. All others except P Q M चिङ्गम् । ९. P Q M अवस्थितम् ।

1497) यदग्राहं बहिर्भविर्ग्रीहं चान्तर्मुखैः अणम् ।  
तत्स्वभावात्मकं साक्षात् स्वरूपं परमात्मनः ॥२६

- 1498) अणोरपि च यः सूक्ष्मो महानाकाशतो ऽपि च ।  
जगद्वन्द्यः स सिद्धात्मा निष्पन्नो इत्यन्तनिर्वृतः ॥२७
- 1499) यस्यानुध्यानमाश्रेण शीर्यन्ते जन्मजा रुजः ।  
नात्यथा जन्मिनां सो इयं जगतां प्रभुरीश्वरः ॥२८

1497) यदग्राहम्—बहिर्भविर्ग्रीह्यादिभिर्यत् परमात्मस्वरूपम् अणाह्यम् । अन्तर्मुखै-  
भविर्ग्रीह्यादिभिर्ग्रीहं क्षणं क्षणमात्रम् । पुनः कीदूषम् । तत्स्वभावात्मकं सूक्ष्मचैतन्यात्मकम् । साक्षा-  
त्प्रकारेण । इति सूक्ष्मार्थः ॥२६॥ अथ पुनरप्यात्मस्वरूपमाह ।

1498) अणोरपि च—अणोरपि च यः सूक्ष्मः । चकारात् आकाशतो ऽपि महात् । पुनः  
कीदूषः । जगद्वन्द्यः समिद्धात्मा निष्पन्नो इत्यन्तनिर्वृतः । इति सूक्ष्मार्थः ॥२७॥ अथ पुनरपि  
तत्स्वरूपमाह ।

1499) यस्यानुध्यान—यस्यानुध्यानमाश्रेण जन्मजा जन्मजाता रुजः रोगाः शीर्यन्ते  
नात्यन्ते । केषाम् । प्राणिनाम् । नात्यथा सो इयं जगतां प्रभुरच्युतः<sup>१</sup> । इति सूक्ष्मार्थः ॥२८॥ अथ  
तत्स्वरूप ज्ञाने सर्वज्ञानमेवाह ।

अध्यन्तर परिणामोंके द्वारा क्षणभरमें ही होय—जान लेनेके योग्य—है । इस प्रकारके  
स्वभावरूप साक्षात् परमात्माका स्वरूप है ॥२१-२६॥

जो अणुसे भी सूक्ष्म और आकाशकी अपेक्षा भी महात्, सिद्धिको प्राप्त तथा अत्यन्त  
सुखी है वह सिद्ध आत्मा विश्वके द्वारा बन्दनीय है । अणुसे भी सूक्ष्म कहनेका अभिप्राय  
यह है कि उसका स्वरूप सर्वसाधारणके लिए ज्ञात नहीं होता, किन्तु आत्मदर्शी विशिष्ट  
तत्त्वज्ञानी ही उसे जान पाते हैं । और चूँकि वह सच्चराचर समस्त विश्वका ज्ञाता-द्रष्टा है,  
इसीलिए उसे आकाशसे भी महात् कहा गया है, कारण यह कि वह अमन्त आकाश भी  
उसके अनन्त ज्ञानमें प्रतिविनिवत होता है ॥२७॥

जिसके ध्यान मात्रसे ही प्राणियोंके जन्मसे उत्पन्न होनेवाले रोग—सर्वारपरिभ्रमणसे  
उत्पन्न दुःख—नष्ट हो जाते हैं, तथा जिसके ध्यानके विमा वे लाट नहीं होते हैं, वही यह  
परमात्मा तीनों लोकोंका प्रभु है ॥२८॥

१. All others except P Q शास्त्र । २. M N यस्यानुध्यान, L S T F X Y R यस्यानुध्यान ।

३. All others except P प्रभुरच्युतः ।

1500 ) विज्ञातमपि निःशेषं यदज्ञानादपार्थकम् ।

यस्मिंश्च विदिते विश्वं ज्ञातमेव न संशयः ॥२९॥

1501 ) यत्स्वरूपापरिज्ञानान्नात्मतत्त्वे स्थितिर्भवेत् ।

यं<sup>१</sup> ज्ञात्वा मुनिभिः साक्षात्प्राप्तं तस्यैव वैभवम् ॥३०॥

1502 ) स एव नियतं ध्येयः स विज्ञेयो मुमुक्षुभिः ।

अनन्यशरणीभूय तद्गतेनान्तरात्मना ॥३१॥

1503 ) अवाग्मोचरमव्यक्तमनन्तं शब्दवर्जितम् ।

अर्जं जन्मभ्रमातीतं निविकल्पं विचिन्तयेत् ॥३२॥

1500) विज्ञातमपि—यस्यात्मनो अज्ञानात् निःशेषं समस्तं विज्ञातमपि अपार्थकं निरर्थकम् । यस्मिन्नात्मनि विदिते जाते विश्वं अगत् ज्ञातमेव न संशयः । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ पुनस्तस्यैव स्वरूपमाह ।

1501) यत्स्वरूपापरि—आत्मतत्त्वे स्थितिर्भवेत् न । कस्मात् । यत्स्वरूपापरिज्ञानात् आत्म-स्वरूपापरिज्ञानात् । यमात्मानं ज्ञात्वा । मुनिभियोगिभिस्तस्यैव वैभवं माहात्म्ये साक्षात् प्राप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ पुनराग्मी आत्मनः स्वरूपमाह ।

1502) स एव—स एव नियतं विश्वसं ध्येयः आत्मा मुमुक्षुभिः मुक्तिकामीः । स विज्ञेयः ज्ञातव्यः । तद्गतेन शरीरात्मगतेन आत्मना अनन्यशरणीभूय । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ तस्यैव स्वरूपमाह ।

1503) अवाग्मोचरम्—पुनः कीदृशं परमात्मानम् । अवाग्मोचरं वचनगोचरं न । पुनः । अव्यक्तममूर्तत्वात् । अनन्तम् अनन्तविषयत्वात् । शब्दवर्जितं नामसंज्ञादिवर्जितम् । अर्जे जन्मरहितम् । जन्मभ्रमातीतं भवभ्रमरहितं निविकल्पम् एकस्वरूपं विचिन्तयेत् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ तस्यानन्तरत्वमाह ।

जिस परमात्माके जाने विना अन्य समस्त भी पदार्थोंका परिज्ञान व्यर्थ रहता है तथा जिसके जान लेनेपर अन्य समस्त विश्व भी निश्चयसे जान लिया जाता है, इसके अतिरिक्त जिसके स्वरूपको न जान सकनेके कारण मुनिज्ञनोंका आत्मस्वरूपमें अवस्थान नहीं होता है तथा जिसको जानकर वे साक्षात् उसकी ही विभूतिको प्राप्त कर लेते हैं—स्वयं भी परमात्मा वन जाते हैं; उसीको एक मात्र शरण मानकर मोक्षके अभिलाषी योगी जनोंको उसकी ओर झुके हुए अन्तःकरणके द्वारा—एकाग्रचिन्त होकर—नियमसे उसका ही ध्यान करना चाहिए ॥२९—३१॥

वह परमात्मा वचनका अविषय, इन्द्रियोंके द्वारा न देखा जा सकनेवाला, अनन्त, शब्दसे रहित, जन्मसे अस्तिकान्त (अजन्मा), संसार-परिभ्रमणको नष्ट कर देनेवाला और सब प्रकारके संकल्प-विकल्पोंसे रहित है; इस प्रकारसे ध्यानमें उसके स्वरूपका चिन्तन करना चाहिए ॥३२॥

- 1504) 'यद्वोधानन्तभागे ऽपि द्रव्यपर्यायिसंभूतम् ।  
लोकालोकं स्थितिं धत्ते स स्याद्वोकत्रयी गुरुः ॥३३
- 1505) तत्स्वरूपाहितस्वान्तस्तदगुणग्रामरञ्जितः ।  
योजयत्यात्मनात्मानं तस्मिस्तद्रूपसिद्धये ॥३४
- 1506) इत्यजस्त्रं स्मरन् योगी तत्स्वरूपावलम्बितः ।  
तन्मयत्वमवाप्नोति ग्राह्यग्राहकवजितम् ॥३५
- 1507) अनन्यशरणीभूय स तस्मिल्लीयते तथा ।  
शाश्वतुष्यानोभयाभावे ध्येयेनैकर्यं यथा व्रजेत् ॥३६

1504) यद्वोधानन्त—स आत्मा लोकत्रयीगुरुः । स कः । यद्वोधानन्तभागे यज्ञानानन्तभागे ऽपि । द्रव्यपर्यायिसंभूतं स्यात् । यो लोकालोकस्थितिं धत्ते । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ तद्विषयकध्यानमाह ।

1505) तत्स्वरूपाहित—यो जयति आत्मनात्मानम् । पुमानिति गम्यम् । कीदृशम् । तत्स्वरूपे आहितं स्थापितं स्वान्ते चित्तं वैन सः । पुनः । तदगुणग्रामरञ्जितः । ववात्मानं योजयति । तस्मिन्नात्मनि । किमर्थम् । तद्रूपोपलब्धये तद्रूपप्राप्तये । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ तद्व्यानफलमाह ।

1506) इत्यजस्त्रम्—योगी तन्मयत्वमात्ममयत्वमवाप्नोति प्राप्नोति । किं कुर्वन् । अजस्त्र निरन्तरम् इति स्मरन् । कीदृशः । तत्स्वरूपावलम्बितः आत्मस्वरूपावलम्बितः । कीदृशम् । ग्राह्यग्राहकवजितम् । ग्राह्यं वस्तु, ग्राहकः पुरुषः, ताभ्यां वजितम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ तत्स्वरूपमाह ।

1507) अनन्य—अनन्यशरणीभूय एकमेवैनं शरणीकृत्य । तस्मिन् आत्मनि स आत्मा लीयते ।

जिस परमात्माके ज्ञानके अनन्तवर्णे भागमें भी समस्त द्रव्यों और उनकी अनन्त पर्यायोंसे परिपूर्ण पूरा लोक व अलोक स्थितिको धारण करता है वह तीनों ही लोकोंमें भवन्त है । अभिप्राय यह है कि उक्त परमात्माके अपरिमित ज्ञानमें समस्त लोक और अनन्त अलोकाकाश भी परमाणुके समान अल्प प्रतीत होता है ॥३३॥

उक्त परमात्माके गुणसमूहमें अनुरक्त हुआ योगी उसके स्वरूपको सिद्ध करनेके लिए उसके उस स्वरूपमें अन्तर्करणको स्थापित करता हुआ अपने आत्माको स्वयं उसीके विषयमें योजित करता है ॥३४॥

इस प्रकारसे उसके स्वरूपका आश्रय लेकर योगी निरन्तर उसीका स्मरण करता हुआ ग्राह और ग्राहकके विकल्पसे रहित होकर—निर्विकल्प समाधिमें अवस्थित होकर—स्वयं ही उस स्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥३५॥

उस समय योगी परमात्माके सिद्धाय अन्यको ज्ञान स मानकर उस परमात्मामें

१. I तद्वीषा० । २. M तमाज्ञान॑ ।

1508 ) [ सो ] इयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम् ।

अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥३६\*१

1509 ) अत्यन्तरात्मांतद्वि तत्संलीनैकमानसः ।

तदगुणस्तत्स्वभावात्मा सैं तादात्म्याच्च संबसन् ॥३६\*२]

1510 ) उक्तं च—

कटस्य कर्ताहिमिति संबन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः ।

ध्यानं ध्येयं यदात्मैव संबन्धः कीदृशस्तदा ॥३६\*३

ध्यातुभ्यानोभयाभावे ध्याता च ध्यानं च ध्यातुध्याने तयोरभावे । ध्येयेनैक्यं यथा ग्रजेत् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ पुनर्स्तत्स्वरूपमाह ।

1508) सो इयं—सो इयमात्मा यश्च परमात्मनि लीयते समरसीभावः सर्वत्र समस्तस्वभावः । तदेकीकरणम् एकस्वरूपावस्थानं स्मृतं कथितम् । अपृथक्त्वेन ऐक्यभावेन । इति सूत्रार्थः ॥३६\*१॥ [ पुनर्स्तदेवैकीकरणमाह ।

1509) अनन्य—अन्यः न विद्यते शरणं यस्य सः । तत्संलीनैकमानसः तदगतचित्तः । अन्यत्सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३६\*२॥ ] उक्तं च याहत्रान्तरे ।

1510) कटस्य—कटस्याहं कर्ता इति संबन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः वस्तुनोः ध्यानम् । ध्येयं वस्तु यदा आत्मैव तदा संबन्धः कीदृशो भवति । इति सूत्रार्थः ॥३६\*३॥ अथ पुनरपि तत्स्वरूपमाह ।

इस प्रकारसे लीन हो जाता है कि जिससे ध्याता और ध्यानके विकल्पका अभाव हो जानेपर ध्येय ( परमात्मा ) के साथ वह एकता ( अभेद ) को प्राप्त हो जाता है ॥३६॥

जिस भावका आश्रय करके जीव अभेदस्यसे परमात्मामें लीन होता है वह यह समरसीभाव परमात्माके साथ अभेदको करनेवाला माना गया है । अभिप्राय यह है कि जब जीव ‘जो परमात्मा है वही मैं हूँ’ इस प्रकार ध्याता और ध्येयके विकल्पको छोड़कर निर्विकल्पक ध्यानमें लीन होता है तब वह उसके प्रभावसे स्वयं परमात्मा बन जाता है ॥३६\*१॥

योगी जब आत्माके अतिरिक्त अन्य किसीको शरण नहीं मानकर एकाश्रचित्तसे एकमात्र उसी आत्मामें लीन होता है तब वह परमात्माके साथ अभिन्न होकर उसीके असाधारण गुणोंसे संयुक्त होता हुआ उसीके स्वभाववाला हो जाता है ॥३६\*२॥

कहा भी है—‘मैं चटाईका कर्ता हूँ’ इस प्रकारका सम्बन्ध भिन्न स्वरूपसे अवस्थित दो-दो पदार्थों ( अहं पदसे वाच्य देवदत्तादि और चटाई )के मध्यमें हुआ करता है । परन्तु यथा एकमात्र आत्मा ही ध्यान और वही ध्येय बन जाता है तब वह भेद वही किस प्रकारसे रह सकता है ? नहीं रह सकता है ॥३६\*३॥

१. P om. । २. P Q om. । ३. M N शरणं । ४. M N Y त्या तादात्म्याच्च स एव सन्, T य तदात्मा स एव सत् । ५. P Q M X उक्तं च ।

1511) यदज्ञानाऽन्मी भ्रमति नियतं जन्मग्रहनं  
विदित्वा यं सद्यखिदशभुलतो याति शुरुताम् ।  
स विज्ञेयः साक्षात्सकलभुवनान्दनिलयः  
परं ज्योतिस्त्राता परमपुरुषो इचिन्त्यचरितः ॥३७॥

1512) इत्थं यत्रानवच्छिन्नभावनाभिर्भवच्युतम् ।  
भावयत्यनिशं ध्यानी<sup>१</sup> तत्सर्वीजं<sup>२</sup> प्रकीर्तितम् ॥३८॥

इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-विरचिते  
सर्वीर्थध्यानप्रकरणम् ॥२८॥

1511) यदज्ञानम्—यदज्ञानात् परमात्माज्ञानात् जन्मी भ्रमति जन्मग्रहनं संसारारण्यम् । नियतं निविज्ञतम् । यमात्मानं सद्यः शीघ्रं विदित्वा ज्ञात्वा । त्रिदशगुरुतो बृहस्पतिः सकाशात् गुरुतां गरिष्ठत्वं याति स विज्ञेयो ज्ञातव्यः । कीदृशः । साक्षात् सकलभुवनान्दनिलयः । स्थानं परं ज्योतिः । त्राता रक्षकः । परमपुरुषो इचिन्त्यचरितः । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ परमात्मस्वरूपस्य सर्वीर्थत्वमाह ।

1512) इत्थं यत्र—इत्थम् अमूनाप्रकारेण अनवच्छिन्नभावनाभिर्भवच्युतं यत्र भावयति अनिशं ध्यानी तत्सर्वीजं प्रकीर्तितम् ॥३८॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्थविसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनवविलासेन  
साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुल-कमलदिवाकर-साहकृष्णिदासस्वत्रवणार्थ  
पण्डितजितदासोद्योगेन कारापितं सुब्रीजध्यानप्रकरणं समाप्तम् ॥२८॥

कल्याणसंपादनकल्पवृक्षः पुराभवत् पाईविचारदक्षः । स टोडरः सर्वगुणप्रशस्यः गाङ्गेय-  
नीराक्षिव शुद्धकीर्तिः । जीयात्सदा श्रीरिष्णिदाससाहः ॥ इत्याशीर्वादः । अथवा ।

जिस परमात्माविषयक अज्ञानके कारण प्राणी सदा संसाररूप बनमें भटकता रहता है तथा जिसके स्वरूपको जानकर वह शीघ्र ही बृहस्पतिकी अपेक्षा भी अधिक गौरवको ग्राह कोता है—मुक्त हो जाता है—वह परमात्मा जाननेके घोम्य है । उक्त परमात्मा समस्त लोकके—सब ही प्राणियोंके—आनन्दका गृहस्वरूप केवलज्ञानरूप सर्वोक्तुष्ट प्रकाश-से संयुक्त, प्राणियोंका दुखसे उद्धार करनेवाला, पुरुषोंमें श्रेष्ठ पुरुष और अविन्द्य चरित्रवाला है ॥३८॥

इस प्रकारसे ध्यान करनेवाला योगी जिस ध्यानमें अविश्रान्त भावनाओंके द्वारा संसारसे मुक्त हुए उस परमात्माका निरन्तर जिन्तन करता है वह सर्वीज ( सर्वीर्थ ) ध्यान कहा जाता है ॥३८॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्थव योगप्रदीपाधिकारमें  
सर्वीर्थध्यान प्रकरण समाप्त हुआ ॥२८॥

१. All others except P M N गहने । २. X <sup>१</sup>मिनिरन्तर । ३. N X ध्यान । ४. N सुब्रीज,  
L S T F X Q R सर्वीर्थ । ५. M N सुब्रीजध्यानप्रकरणम् ।

## [ शुद्धोपयोगविचारः ]

1513 ) अथवा—

अज्ञातस्वस्वरूपेण परमात्मा न बुध्यते ।

आत्मैव प्राग्विनिश्चेयो विज्ञातुं पुरुषं परम् ॥१॥ किं च—

1514 ) आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य न स्यादात्मन्यवस्थितिः ।

सुखत्यत्तेः पृथक् कर्तुं स्वरूपं देहदेहिनोः ॥२॥

1515 ) तथोर्भेदायरिज्ञानाआत्मलाभः प्रजायते ।

तदभावात्स्वविज्ञानसूतिः स्वप्ने ऽपि दुर्घटा ॥३॥

1513) अज्ञात—अज्ञातस्वस्वरूपेण अज्ञातात्मस्वरूपेण परमात्मा न बुध्यते न ज्ञायते । विज्ञातपुरुषेः परम् आत्मैव प्राग् विनिश्चेयः निर्णयः । इति सूत्रार्थः ॥१॥ किं च ।

1514) आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य—आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य अज्ञातस्य आत्मस्थवस्थितिः न स्यात् । देहदेहिनोः स्वरूपमत्यन्ते पृथक् कर्तुं मुह्यति । इति सूत्रार्थः ॥२॥ तथोर्भेदायरिज्ञाने नात्मलाभ इत्याह ।

1515) तथोर्भेदायरिज्ञानात्—तथोर्भेदायरिज्ञानोर्भेदायरिज्ञानात् आत्मलाभो न प्रजायते । तदभावात् भेदाभेदायरिज्ञानात् । स्वविज्ञानात् सूतिः अन्म स्वप्ने ऽपि दुर्घटा । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथात्मस्वरूपमाह ।

जो अपने आत्मस्वरूपको नहीं जानता है वह कभी परमात्माको नहीं जान सकता है । इसलिए उस परमात्माको जाननेके लिए पहले अपने आत्मस्वरूपका निश्चय करना चाहिए ॥१॥

इसके अतिरिक्त—ओ आत्मस्वरूपको नहीं जानता है उसका आत्मामें अवस्थाज भी नहीं हो सकता है । इसी कारण वह शरीर और शरीरधारी (आत्मा) के स्वरूपको पृथक् करनेमें मूड़ताको प्राप्त होता है—वह शरीरको ही आत्मा जानता है उससे भिन्न आत्माको नहीं समझ पाता है ॥२॥

शरीर और आत्मा इन दोनोंकी भिन्नताका परिष्कार न होनेके कारण शरीरसे भिन्न आत्माकी उपलब्धि नहीं होती है तथा उस आत्माकी उपलब्धिके बिना आत्माविषयक विशिष्टज्ञानकी उत्पत्ति स्वास्थ्यमें भी सम्भव नहीं है ॥३॥

१. P Q L X Y अथवा । २. P Q L S V किंच । ३. Q M °तमश्यक° । ४. L S F J X Y R मुह्यत्यन्तः ।

- 1516) अतः प्रागेव निश्चेयः सम्यगात्मा मुमुक्षुभिः ।  
अशेषपरपर्यायिकल्पनाजालवज्जितः ॥४॥ तथा हि—
- 1517) त्रिप्रकारैः स भूतेषु सर्वेषात्मा व्यवस्थितः ।  
बहिरन्तः परश्चेति विकल्पैर्वैक्षण्यमाणकैः ॥५
- 1518) आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात् ।  
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः ॥६
- 1519) बहिभवानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः ।  
सो अन्तरात्मा मतस्तज्जैर्विभ्रमध्यान्तभास्करः ॥७

1516) अतः प्रागेव—अतः कारणात् मुमुक्षुभिः सम्यगात्मा प्रागेव पूर्वं निश्चेयः निर्णयत्वयः ।  
पुनः कीदृशः । अशेषपरपर्यायिकल्पनाजालवज्जितः सर्वपरपर्यायिकल्पनाजालवज्जितः । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनरात्मभेदमाह । तथा हि ।

1517) त्रिप्रकारः—सर्वेषु भूतेषु त्रिप्रकारः आत्मा व्यवस्थितः । बहिरात्मा-अन्तरात्मा-विकल्पैर्वैक्षण्यमण्डनः । इति सूत्रार्थः ॥५॥ एष बहिरात्मानमेवाह ।

1518) आत्मबुद्धिः—यस्य जीवस्य शरीरादावात्मबुद्धिः स्यात् । कस्मात् । आत्मविभ्रमात् ।  
स बहिरात्मा विज्ञेयः । कीदृशः । मोहनिद्रास्तचेतनः । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथान्तरात्मानमाह ।

1519) बहिभवान्—यस्य पुंसः आत्मनि आत्मनिश्चयः स्यात् । किञ्चकुत्वा । बहिभवान्-  
शरीरादीन् अतिक्रम्य । तज्जैरन्तरात्मज्ञैः सो अन्तरात्मा मतः कथितः । कीदृशैः । विभ्रमध्यान्तभास्करैः सूर्यैः । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ परमात्मानमाह ।

इसलिए जो भव्य जीव मोक्षसुखकी अभिलाषा करते हैं उन्हें सर्वप्रथम समस्त परपदार्थ (शरीरादि) और उसकी सब ही पर्यायोंके कल्पनासमूहसे रहित उस आत्माका ही भलीभाँति निश्चय करना चाहिए ॥४॥

बहु इस प्रकारसे—बहु आत्मा बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन आगे प्रस्तुपित किये जानेवाले तीन भेदोंसे तीन प्रकारका हैं जो सब ही प्राणियोंके भीतर व्यवस्थित हैं ॥५॥

जिस जीवके अपनी अज्ञानताके कारण—आत्मस्वरूपका यथार्थवौध म होनेसे—शरीरादि पर पदार्थोंके विषयमें आत्मबुद्धि हुआ करती है, अर्थात् जो आत्मस्वरूपसे अनभिज्ञ होकर शरीरको आत्मा और उससे सम्बद्ध अन्य सब ही पर पदार्थों (स्त्री, पुत्र एवं धन-सम्पत्ति आदि) को अपना मानता है, उसे बहिरात्मा जानना चाहिए । उसकी वेतना—विवेकबुद्धि—मोहरूपी निद्राके द्वारा नष्ट कर दी गयी है ॥६॥

जिसे बाह्य पदार्थोंको पृथक् करके आत्माके विषयमें ही आत्माका सिद्धान्त हो जुका है—जो शरीरादिको पर और आत्माको ही आत्मा मानता है—उसे आत्मतर्त्वके ज्ञाता अन्तरात्मा मानते हैं । बहु अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समाज है ॥७॥

1520 ) निलेपो जिष्कलः शुद्धो निष्पन्नो अत्यन्तनिर्वतः ।

निर्विकल्पश्च सिद्धात्मा' परमात्मेति वर्णितः ॥८

1521 ) कथं तद्हि पृथक् कृत्वा देहाद्यर्थकदम्बकात् ।

आत्मानमभ्यसेऽग्नी निर्विकल्पमतीनिद्रयम् ॥९

1522 ) अपास्य बहिरात्मानमन्तस्तच्चावलम्बितः ।

ध्यायेद्विशुद्धमत्यन्तपरमात्मानमन्तस्यथम् ॥१०॥ तद्यथा—

1523 ) संयोजयति देहेन सहात्मानं विमूढधीः ।

बहिरात्मार्थं विज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम् ॥११

1520) निलेपः—[ अत्यन्तनिर्वतः अत्यन्तानन्दवान् । निर्विकल्पः संकल्पविकल्परहितः । अव्यत् सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ ] अथात्माभ्यासमाह ।

1521) कथं तद्हि—तद्हि योगी आत्मानं कथमभ्यसेत् तद्ध्याने कथमभ्यासं कुर्यात् । देहाद्यर्थकदम्बकात् पृथक् कृत्वा । कोदृशात्मानम् । निर्विकल्पमतीनिद्रयमिति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ परमात्मस्वरूपमाह ।

1522) अपास्य—[ बहिरात्मानमपास्य त्यक्त्वा । सुस्थिरेण सुनिश्चलेन । अन्तरात्मना मनसा । अव्यर्थं नाशारहितम् । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ ] दर्शयति ।

1523) संयोजयति—विमूढधीः चिदात्मानं देहे संयोजयति । ततो बहिरात्मा आनी देहिनो पश्यति । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथात्मस्वरूपमाह ।

जो कर्मरूप लेपसे रहित, शरीरसे अतिक्रान्त ( अशरीर ), शुद्ध, कृतकृत्य, अतिशय सुखी और विकल्पसे रहित हो चुका है ऐसे सिद्ध जीवको परमात्मा कहा जाता है ॥८॥

शंका—जब कि आत्मा निर्विकल्प और अतीनिद्रय है तब योगी उसे शरीरादि वाले पदार्थोंके समूहसे पृथक् करके उसका किस प्रकारसे अभ्यास करे ? ॥९॥

उत्तर—योगी बहिरात्मबुद्धिको छोड़कर—बाहा जड़ शरीरको आत्मा स मान कर—अत्यन्तर स्वरूपका आश्रय लेकर अन्तरात्मा होता हुआ अतिशय पवित्र व अविनश्वर परमात्माका षष्ठान करे ॥१०॥

वह इस प्रकारसे—मूढबुद्धि ( शरीरको ही आत्मा समझनेवाला ) बहिरात्मा शरीरके साथ आत्माको संयुक्त करता है—बाह्यादर शरीरको प्रहृण कर तब तक जन्म-मरणके दुखको सहना है । इसके विपरीत विशिष्ट ज्ञानी—विवेकी अन्तरात्मा—उस शरीरसे शरीरधारी ( आत्मा ) को मिश्र देखता है । [ इसीलिए वह उस शरीरसे आत्माको पृथक् भी करता है—शरीरसम्बन्धको छोड़कर सुक्त भी हो जाता है । ] ॥११॥

१. S T X Y R शुद्धात्मा । २. Q M N L F कोतितः । ३. M वक्तव्यिना, All others except P M अत्यन्त सुस्थिरेणान्तरात्मना । ४. M N अच्युतम् for अव्यर्थ । ५. P Q M तद्यथा । ६. Q Y संयुक्ते ( Y कर्त ) स्वशरीरेण चिदा । ७. All others except P चिदात्मानं । ८. All others except P अत्यन्ता ततो ज्ञानी । ९. S F J देहिनाम् ।

- 1524) अक्षद्वारैरविशान्तं स्वतस्त्वविमुखैर्भृशम् ।  
व्यापृतो वहिरात्मायं वपुरात्मेति मन्यते ॥१२
- 1525) सुरं विद्यशपथ्ये नृपथ्ये तथा नरम् ।  
तिर्यच्च च तदज्ञे स्वं नारकाज्ञे च नारकम् ॥१३
- 1526) वैश्यविद्यापरिश्रान्तो मूढस्तत्र पुनस्तथा ।  
किन्तु मूर्ते स्वयंवैर्यं तदूपं परिकीर्तिम् ॥१४
- 1527) स्वशरीरमिवान्विष्य पराज्ञं च्युतचेतनम् ।  
परमात्माधितंमज्जानी परबुद्ध्याध्यवस्थति ॥१५

1524) अक्षद्वारैः—वहिरात्मायं वपुरात्मेति मन्यते व्यापृतः । कौः । अक्षद्वारैः । अविशान्तं निरन्तरम् । भूशमत्यर्थम् । स्वतस्त्वविमुखैः परमात्मतस्त्वविमुखैरिति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ देहेनात्म-व्यपदेशमाह ।

1525) सुरं विद्यश—विद्यशपथ्ये नृपथ्ये सुरमित्युच्यते । नृपथ्ये तथा नरमित्युच्यते । च तिर्यच्चं तदज्ञे तिर्यगज्ञे । च तदज्ञे नारकाज्ञे स्वं नारकम् इत्युच्यते । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ स्वस्वरूपमेवाह ।

1526) वैश्यविद्या—मूढो मूर्खः । वैश्यविद्यापरिश्रान्तः तदात्मस्वरूपम् । पुनस्तथा । किन्तु पक्षान्तरे । अभूतं स्वयंवैर्यं तदूपं परिकीर्तिम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ परमात्मानं वैसीत्याह ।

1527) स्वशरीरम्—अज्जानी परमात्मानं परबुद्ध्याध्यवस्थति । कि कृत्वा । स्वशरीरमिवान्विष्य दृष्ट्वा । पराज्ञं च्युतचेतनं मष्टचेतनम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनरेतदाह ।

आत्मस्वरूपसे अतिशय विमुख—उसको विषय न करनेवाले—इन्द्रियद्वारोंसे निरन्तर व्यापृत ( प्रवर्तमान ) यह वहिरात्मा शरीरको आत्मा मानता है ॥१२॥

अविश्यासे परिश्रान्त ( अज्जानी ) मूर्खं वहिरात्मा देव पर्यायमें अवस्थित अपनेको देव, मनुष्य पर्याय में अवस्थित अपनेको मनुष्य, तिर्यच्चके शरीरमें स्थित अपनेको तिर्यच्च और नारक-के शरीरमें स्थित अपनेको नारक जानता है । परन्तु यथार्थमें यह वैसा ( देव आदि ) नहीं है । कारण यह कि उसका स्वरूप अभूतं और स्वस्वैर्य—इन्द्रियज्ञानका विषय न होकर स्वानुभवसे ग्रहण करने योग्य—कहा गया है ॥१३-१४॥

मूढं वहिरात्मा अपने शरीरके समान दूसरे प्राणीके द्वारा अघिष्ठित उसके जड़ ( चेतना-शून्य ) शरीरको खोजकर उसका परकी बुद्धिसे निश्चय करता है—उसे अन्य जीवात्मा मानता है ॥१५॥

१. V व्यापृतो । २. N S T X Y R पथ्येर्मृपथ्ये । ३. J परिश्रान्तो । ४. T चिदूपं, Y लदूपं च प्रकी । ५. Q M N मिवान्वीक्ष्य । ६. S J X Y R परमात्मानमज्जानी, F परमात्माधितज्जानी ।

- 1528 ) स्वात्मेतरविकल्पैस्तैः शरीरेष्वविलम्बितम् ।  
प्रवृत्तैर्वित्तं विश्वमनात्मन्यात्मदशिभिः ॥१६
- 1529 ) ततः सो इत्यन्तभिष्ठेषु पञ्चपुत्राङ्गनादिषु ।  
आत्मत्वं मनुते शशदविष्याज्वरजिह्वितः ॥१७
- 1530 ) साक्षात्स्वानेव निविचत्य पदार्थैश्चित्तेतरान् ।  
स्वस्यैव मन्यते<sup>१</sup> मूर्खस्तथाशोपचयादिकम् ॥१८
- 1531 ) अनादिप्रभवः सो इयमविद्याविषमग्रहः ।  
शरीरादीनि पश्यन्ति येन स्वमिति देहिनः ॥१९

1528) स्वात्मेतर—अनात्मनि आत्मदशिभिः । विश्वं जगत् वित्तं प्रवृत्तिः । पुनः कीदृशम् । शरीरेष्वविकल्पने स्थापितम् । तैः स्वात्मेतरविकल्पैरिति सूक्ष्मार्थः ॥१६॥ अथात्मान्येषु आत्मत्वं दर्शयति ।

1529) ततः सो इत्यत्ते—शशन्तिरन्तरम् । अविद्या मिथ्याज्ञानमेव ज्वरस्तेऽनि जिह्वितो मोहितः । इति सूक्ष्मार्थः ॥१७॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1530) साक्षात् स्वानेऽ—मूढो मूर्खस्तथाशोपचयादिकं पदार्थनाशो वृद्धिः । स्वरूपं स्वस्यैव मन्यते । कि क्रत्या । चेतनेतरान् पदार्थैऽसाक्षात्स्थाने निविचत्य निर्णयं क्रत्वेति सूक्ष्मार्थः ॥१८॥ अथाज्ञानफलमाह ।

1531) अनादि—सो इयम् अविद्याविषमग्रहः अज्ञानकदाग्रहः । ये देहिनः स्वमिति न पश्यन्ति । कीदृशो ज्ञानकदाग्रहः । अनादिप्रभवो ज्ञादिकालजातः शरीरादीनि पश्यति । इति सूक्ष्मार्थः ॥१९॥ अथ एतदेवाह ।

इस प्रकार आत्मासे भिन्न उस शरीरमें आत्माको देखनेवाले मिथ्यादृष्टियोंने शरीरोंके विषयमें शीघ्रतासे प्रवृत्त हुए उन स्वात्मा और परात्मारूप विकल्पोंके द्वारा समस्त लोकों नाश है ॥१६॥

इसलिए—आत्मासे भिन्न शरीरको आत्मा समझनेके कारण—वह निरन्तर अविद्या-रूप ज्वरसे कुटिल ( पीड़ित ) होकर शरीरकी अपेक्षा भी प्रत्यक्षमें अतिशय भिन्न दिखनेवाले पशु ( हाथी-धोड़ा आदि ), पुत्र और स्त्री आदिको स्वकीय मानता है ॥१७॥

वह मूर्ख वहिरात्मा चेतन और अचेतन पदार्थोंको प्रगटमें अपना ही मानकर उनके नाश और वृद्धि आदिको अपना ही नाश और वृद्धि आदि मानता है ॥१८॥

जिस अज्ञानरूप ग्रह ( पिशाच ) से पीड़ित होकर प्राणी शरीरादि परपदार्थोंको अपना माना करते हैं वह यह भयानक ग्रह अनादि कालसे उत्पन्न हुआ है ॥१९॥

१. N य आत्मेतर । २. All others except P, Q "विकल्पित" । ३. Q "तरेतरान्" । ४. M मनुते ।

- 1532 ) वपुष्यात्मेति विज्ञानं वपुषा घटयत्यमून् ।  
स्वस्मिन्नात्मेति बोधस्तु मिनस्यज्ञां च्छरीरिणम् ॥२०
- 1533 ) वपुष्यात्ममतिः सूते बन्धुवित्तादिकल्पनम् ।  
स्वस्य संपदमेतेनैः मन्वानं मुषितं जगत् ॥२१
- 1534 ) “तनावात्मेति यो भावः स रथादीर्जं भवस्थितेः ।  
बहिर्बीताक्षविक्षेपैस्तर्यक्त्वान्तविशेषतः” ॥२२

1532) वपुष्यात्मेति—वपुषा शरीरेण मा घटयति । वपुष्यात्मेति विज्ञानं स्वस्मिन्नात्मनि बोधस्तु “शरीरिणामज्ञात् विन्दत” जानीतेति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1533) वपुष्यात्म—जगत् मुषितस् । वपुषा आत्ममतिः सूते । कि बन्धुवित्तादिकल्पनम् । एतेन वपुषा संकल्पम् । स्वस्य मनवत्तरम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथैतदेवाह ।

1534) तनावात्मेति—तेव कारणोनात्मेति यो भावः भवस्थितेः सर्वं स्वात् । बीजं मूलं बहिर्बीताक्षविक्षेपम्” । तत् त्यक्त्वा अन्तविशेषत् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ पुनर्स्तत्स्वरूपमाह ।

‘जो शरीर है वही मैं हूँ’ इस प्रकार अज्ञानताके वश होकर जो शरीरको आत्मा समझा जाता है उसके कारण वे प्राणी उस शरीरसे संयुक्त ही रहते हैं—उनका संसारपरिभ्रमण छूटता रहती है । किन्तु वे आत्मामें किन्तु ज्ञानादि विश्वव्यक्ति करते हैं—उस जड़ के मूर्तिक शरीरसे भिन्न अमूर्त एवं चेतन ज्ञानादि गुणोंके पिण्डस्वरूप आत्माको वृथक् भ्रह्म करते हैं—उनका वह विवेक ज्ञान उनको उस शरीरसे पृथक् कर देता है—वे मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं॥२०॥

शरीरके विषयमें जो आत्मबुद्धि हुआ करती है वह बन्धु और धनादिकी कल्पनाको उत्पन्न करती है तथा उसके द्वारा सम्पत्तिको अपनी माननेवाला जगत् लूटा जाता है । विशेषार्थ—अभिप्राप्त यह है कि जो अज्ञानी जीव शरीरको आत्मा मानता है वह उससे सम्बन्ध रखनेवाले चेतन पदार्थोंके विषयमें यह मेरा भाई है, यह पिता है, यह मेरी पत्नी है, यह मित्र है, और यह मेरा शत्रु है; इत्यादि कल्पनाको किया करता है । इसी प्रकार उस शरीरके ही सम्बन्धके कारण अचेतन पदार्थमें भी वह यह मेरा भालू है, यह मेरा भन है, और यह इतनी मेरी भूमि है; इत्यादि कल्पनाको किया करता है । इस प्रकार इस सम्बन्धबुद्धिके बड़ीभूत होकर प्राणी आत्मस्वरूपसे विसुख होता हुआ उन शरीरादि पर बस्तुओंके ही संरक्षण एवं उनकी बृद्धि आदिमें संलग्न रहा करता है । तथा उसमेंसे जब किसीका विशेष होता है तब वह उससे अतिशय शोकसन्तप्त होता है । इस प्रकार अपनी ही अज्ञानताके कारण प्राणी दीर्घकाल तक संसारपरिभ्रमणके दुखको सहसा है ॥२१॥

शरीरमें ‘यही आत्मा है’ इस प्रकारका जो भाव (अविवेक) है वह संसारमें अवस्थानका कारण होता है—इस विपरीत बुद्धिके कारण ही प्राणी संसारमें परिभ्रमण करता

१. Q T F “स्यज्ञान् शरीरौ”, J विन्दत for भिन्नति, J X R “स्यज्ञं शरीरौ” । २. All others except P शरीरिणाम् । ३. L T X J संकल्पमेतेन, Y स्वसंवादनमेतेन । ४. T तेन चतुर्मेति । ५. J विक्षेपं । ६. M N “विशेषतः” ।

1535 ) अक्षदारैर्गेश्वित्वा' मन्त्रिमन्त्रो घोचरेष्वहम् ।  
लानासाधाहमित्येतत्म् हि सम्बगवेदिपम् ॥२३

१५३६ ) बाह्यात्मानमपास्यैवाऽन्तरात्मानं ततस्त्वयजेत् ।  
ग्रकाशयत्पुर्योगः स्वरूपं परमेष्ठिनः ॥२४

1535) अक्षद्वारैः—अक्षगोचरेषु विषयेषु निमग्नः मज्जितः । अक्षद्वारैरिन्द्रियद्वारैः स्वत-  
इच्छुत्वा ॥१॥ तान् गोचरान् आसाद्य प्राप्य । अहमिति एतम् स्वस्य गवेषितं विचारितम् । इति  
सुत्रार्थः ॥२३॥ अथ परमात्मनः स्वरूपप्रकरणमाह ।

1536) ब्राह्मात्मानम्—अन्तरात्मा स्वात्मानपरपास्यैव तत्स्त्वजेत् । अर्थं योगः परमेष्ठिन स्वरूपं प्रकाशयति । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

हुआ स्थित रहता है। इस कारण जो आत्मद्वितके अभिलाषी हैं उन्हें बाह्य विषयोंकी ओर से इन्द्रियोंको हटाकर उस विपरीत दुष्कृति लोढ़ते हुए अम्बन्तर आत्मस्वरूपमें प्रवेश करना चाहिए॥३३॥

इन इन्द्रिय द्वारोंसे मैं मेरा जो डायरेक्ट स्वभाव है उससे अद्व होकर उन इन्द्रियोंके विषयमें ही आसक्त रहा और तब उनको पा करके मैंने 'अहम्' इसको नहीं जाना—मैं कौन हूँ और मेरा निजका क्या स्वरूप है, इसके जाननेका प्रयत्न नहीं किया ॥२३॥

प्रथमतः बाध्य आत्माको छोड़कर तत्पश्चात् अन्तरात्माको भी छोड़ देना चाहिए। इस प्रकारकी यह प्रवृत्ति परमात्माके स्वरूपको प्रकाशित करती है। विशेषार्थ—बाध्य शरीर और तदृगत इन्द्रियोंका नाम बाध्य आत्मा तथा मैं शरीरादिसे भिन्न, राग-द्वेषादिसे रहित, अमूर्तिक, शुद्ध व ज्ञानमय हूँ; इस प्रकारके आत्मविषयक संकल्पका नाम अन्तरात्मा है। इनमें बाध्य आत्मा तो सर्वथा परित्याज्य है ही, साथ ही परमात्मस्वरूपको प्राप्त करनेके लिए अन्तरात्मा—उपर्युक्त आत्मविषयक संकल्प—भी छोड़नेके ही योग्य है। कारण यह कि जब तक संकल्प-विकल्प रहते हैं तब तक निर्धिकल्पक ध्यान नहीं हो सकता है और जब निर्धिकल्पक ध्यान—आत्मलीनता—नहीं होती है तब तक परमात्मपदकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। उस बाध्य आत्मा और अन्तरात्माका परित्याग किस अकारसे किया जा सकता है, इसे क्रमशः आगे के दो श्लोकोंमें स्पष्ट किया गया है।

१. Q M N X प्रब्लेममुख्यरक्तनिष्ठाको, L S T अणाउँदैः स्वतश्शपुत्रा, P °द्वारैः स्वतः श्रुत्या, Y प्रब्लेमो अमुख्यरक्त°, J R °द्वारैस्तताइचयुत्वा । २. Q Y °लाहमतस्तन्म । ३. All others except P °स्तैवमस्तुरात्मा तत° । ४. Y योगी । ५. N परमात्मनः ।

1537) यद्यदूरयमिदं रूपं तत्तदन् न चान्यथा ।

ज्ञानवच्च व्यतीताक्षमतः केनात्र बद्ध्यहम् ॥२५॥

1538) "यज्जनैरभिवोध्यो अहं यज्जनान् बोध्याम्यहम् ।

तद्विभ्रमपदं यस्मादहं विधुतेकल्पनः ॥२६॥

1537) यद्यदूरयम्—यदि इदं रूपम् अदूर्यं तद्वूर्पं तदन्यं \* तस्मादन्यम् । अन्यथा न च ज्ञानवच्च । पक्षान्तरे । व्यतीताक्षम् अतीन्द्रियम् । अतः कारणात् अत्र जगति केन कारणेनाहं वच्चमीति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथात्मनो भेदाभावमाह ।

1538) यज्जनैरभि—अहम् आत्मा जनेत्तरोऽद्विभिः । ज्ञानरूपो ज्ञमितीक्षते । अहं जनान् लोकान् बोध्यामि । तद्विभ्रमपदं भ्रमस्थानम् । यस्मादहं परमात्मा । विध्वस्तकल्पनः<sup>1</sup> कल्पनारहितः । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ पुनरपि स्वस्वरूपमाह ।

जो यह रूप दूर्य है—जो शरीरादि इन्द्रियोंके द्वारा प्रहण किया जाता है वह जड़ ( चेतनासे शून्य ) है, अन्य प्रकार ( चेतन ) नहीं है । तथा जो ( आत्मा ) ज्ञानबान् है—चेतन व ज्ञाता द्वारा है—वह इन्द्रियोंका विषय नहीं है । ऐसी अवस्थामें मैं यहाँ किससे व किसके ( शब्दरादि ) द्वारा सम्भाषण करूँ ? विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जो शरीरादि वाला पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे तो जड़ हैं, अतः उनके साथ सम्भाषण करना योग्य नहीं है । अब यहाँ आत्मा, सो वह इन्द्रियोंसे प्रहण नहीं किया जाता है । ऐसी अवस्थामें उससे भी सम्भाषण कैसे किया जा सकता है ? नहीं किया जा सकता है । ऐसा विचार कर शरीरादि वाला पदार्थमें समर्थव्युद्धिका परित्याग करना चाहिए ॥२५॥

मैं दूसरे विद्वानोंके द्वारा प्रयोगित किया जाता हूँ तथा मैं अन्य जनोंको प्रतिवोधित करता हूँ, इस प्रकारका जो विकल्प होता है वह विपरीत व्युद्धिका स्थान है—अज्ञानतासे परिपूर्ण है । इसका कारण यह है कि मैं ( आत्मा ) यथार्थतः इस बोध्य-बोधक भावकी कल्पनासे रहित हूँ ॥ विशेषार्थ—यद्यपि यह बोध्य-बोधकभावकी कल्पना शरीरादिसे पृथक् आत्माके अस्तित्वको मानकर अन्तरात्माके रूपमें ही होती है, फिर भी युद्ध नयकी अपेक्षा ( यथार्थमें ) चूँकि वह आत्मा उपर्युक्त बोध्य-बोधकभावादिरूप सभी प्रकारके विकल्पोंसे रहित है, अतएव आत्मस्थितिके आश्रयसे उसे भी यहाँ त्याज्य बतलाया गया है । तात्पर्य यह कि जब तक इस प्रकारका सामर्थ्य आविर्भूत नहीं होता है तब तक व्यवहारके आश्रयसे वह अन्तरात्मा भी उपादेय है, किन्तु उस प्रकारके सामर्थ्य ( आत्मबल ) के आविर्भूत हो जानेपर वस्तुतः वह अन्तरात्मा भी होय ही है । विशिष्ट आत्मबलके अभावमें व्यवहारका आश्रय लेते हुए भी यथार्थ आत्मस्वरूपसे विमुक्त कभी नहीं होना चाहिए—उसको लक्ष्यमें सदा ही रखना चाहिए ॥२६॥

१. All others except P M N वक्तव्यन्यन् । २. L यज्ञतैरपि बोध्यो, S T F J X R यज्जनैरपि बोध्यो । ३. M N यज्जनं । ४. L T F विष्वस्त । ५. S T E J X Y R कल्पनः ।

1539) यः स्वमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतो इपरम् ।

निविंकल्पः स विज्ञानी स्वसंबेदो इस्म केवलः<sup>१</sup> ॥२७

1540) जातसर्पमतेर्यद्वृह्णुलायां क्रियाक्रमः<sup>२</sup> ।

तथैव मे क्रियाः पूर्वस्तन्वादौ स्वमिति अभाव् ॥२८

1541) शृङ्खलायां यथा वृत्तिर्विनष्टे भुजगभ्रमे ।

तन्वादौ मे तथा वृत्तिर्विन्वत्समृष्टामते<sup>३</sup> ॥२९

1539) यः स्वमेव—यः स्वमेवात्मतत्त्वमेवादत्ते । स्वमः परं नादत्ते यः स ज्ञानी निविंकल्पवीः स्वसंबेदो इस्म केवलम्<sup>४</sup> । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ दृष्टान्तेनात्मतत्त्वं द्रढयति ।

1540) जातसर्प—जातसर्पमते: शृङ्खलायां रज्ज्वां यथा क्रियाभ्रमः<sup>५</sup> तथैव मे तन्वादौ क्रियापूर्वा स्वमिति मतिर्भवति । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथावमेवार्थः प्रगटीक्रियते ।

1541) शृङ्खलायां—यथा भुजगभ्रमे विनष्टे शृङ्खलायां प्रवृत्तिः तथा मे तन्वादौ वृत्तिर्विन्वत्सम् । वै निश्चितम् । कीदूशस्थ मे । नर्तात्मविभ्रमस्येति सूत्रार्थः ॥२९॥ पुनरात्मविभ्रामाह ।

जो स्वको—चैतन्यमय आत्माको—ही ग्रहण करता है, जो अपनेसे भिन्न अन्य किसी भी बाह्य पदार्थको नहीं ग्रहण करता है, जो सब प्रकारके संकल्प-विकल्पोंसे रहित है तथा जो विशिष्ट ज्ञानवान् होकर आत्मसंबेदनका विषय है—आत्मानुभवनके द्वारा जाना जाता है; वही एकमात्र मैं हूँ—अन्य नहीं हूँ ॥२७॥

जिस प्रकार संकल्पको सर्प समझनेवाले मनुष्यकी उसके विषयमें चेष्टा होती है—वह उससे भयभीत होकर उसके घातादिमें प्रवृत्त होता है—उसी प्रकार भ्रमवश शरीरादिको स्व (आत्मा) मानकर उसके विषयमें मेरी भी पूर्व चेष्टाएँ रही हैं—मैं भी अज्ञानतासे शरीर दर्श खी-पुत्रादिको अपना मानकर अब तक उन्हींके संरक्षण और भरण-पोषण आदिमें लेदखिल रहा हूँ ॥२८॥

सर्पके भ्रमके नष्ट हो जानेपर जिस प्रकार मनुष्यकी प्रवृत्ति संकलके विषयमें हुआ करती है उसी प्रकार शरीरादिमें आत्माकी जो आनन्दवृद्धि हो रही थी उसके हट जानेपर मेरी भी शरीर अदिमें उसी प्रकारकी प्रवृत्ति हो रही है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार संकलमें उत्पन्न हुई सर्पकी आनन्दके नष्ट हो जानेपर मनुष्य उससे भयभीत न होकर उसे संकल जानता हुआ ही यथायोग्य प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार शरीरादिमें उत्पन्न हुई आत्माकी आनन्दके नष्ट हो जानेपर विवेकी जीव शरीरादिको आत्मासे भिन्न ब जड़ जानता हुआ ही उसके प्रति जैसा व्यवहार करता है तथा आत्माके प्रति स्वस्वका व्यवहार करता है ॥२९॥

१. S T F J X Y R केवलम् । २. L J X जातसर्प, T F ज्ञानं सर्पिते । ३. L S T F J X R क्रियाभ्रमः । ४. M ते for मे । ५. All others except P वृत्तिर्विभ्रमस्व वै ।

1542) एतदेवैषं एकादिवहनीति॑ धियः पदम् ।

नाहं "सूचात्मनात्मानं वेष्यात्मनि तदस्म्यहम् ॥३०

1543) यदबोधे॑ मया सुप्तं यद्बोधे पुनरुत्थितम् ।

तद्रूपमयमत्यक्षं॑ स्वसंवेद्यमहं किल ॥३१

1544) ज्योतिर्मयं॑ ममात्मानं॑ पश्यतोऽत्रैव यान्त्यभी ।

क्षयं रागादयस्तेन न॑ मे कश्चिद्विपुः प्रियः ॥३२

1545) अदृष्टमत्स्वरूपोऽयं जनो मे॑ न रिपुः प्रियः ।

साक्षात्सुदृष्टरूपोऽपि जनो नेष्टो न च द्विपन् ॥३३

1542) एतदेवैष—एतद एव पृष्ठः । एक द्वे बहूनि निधयः॑ पदे स्थानं भवन्ति । आत्मा तत्र नाहम् । पत्र आत्मनात्मानं वेत्य ज्ञात्वा आत्मनि तदस्म्यहम् । आत्मनि अहं वते । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1543) यदबोधे—यद्याजाने मया सुप्तम् । यद्बोधे ज्ञाने पुनरुत्थितम् । तद्रूपमयं सवेद्यम् अहम् । किल सत्ये । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1544) ज्योतिर्मयं—मम पश्यतः रागादयः क्षयं भावां यान्तीति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथैतदेवाह ।

1545) अदृष्ट—अयं जनो अदृष्टमत्स्वरूपः न दृष्टे भृत्यरूपं येन सो ऽरिन्दं शत्रुः मे । न प्रियो मित्रम् । साक्षात्सुदृष्टरूपोऽपि जनो "नारिमें न च "सुहृद्मित्रं मे । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ योगिनो भावात्ममाह ।

नपुंसक, स्त्री और पुरुष इस प्रकार लिंगभेद विवरक जो बुद्धि होती है तथा एक, दो और तीन इस प्रकारकी जो संख्याभेदविविषयक बुद्धि होती है उसका स्थान मैं नहीं हूँ । किन्तु जो अपने द्वारा अपने आपमें ही अपने आपको जानता है वह मैं हूँ ॥३०॥

जिस रूपका बोध न होनेपर मैं सोया हुआ था—अपने लक्ष्यसे बिमुख हो रहा था तथा अब त्रिसका बोध हो जानेपर मैं लठ गया हूँ—प्रबुद्ध होकर आत्महितके साधनमें प्रवृत्त हो चुका हूँ—इसी रूप-स्वरूप मैं अर्थान्त्रिय होकर केवल स्वसंवेदन ( आत्माजुभवन ) से ही गम्य हूँ ॥३१॥

अपने आपको प्रकाशस्वरूप देखनेवाले मेरे ये राग-द्वेषादि यहींपर विनाशको प्राप्त होते हैं । इस कारण न मेरा कोई शत्रु है और न कोई प्रिय ( मित्र ) है ॥३२॥

जिसने मेरे स्वरूपको—आत्मस्वरूपको—नहीं देखा है वह यह जन न मेरा शत्रु है और न प्रिय भी है । तथा जिसने प्रत्यक्षमें मेरे स्वरूपको देख लिया है वह भी जन न प्रिय है और न वैरी भी है ॥३३॥

१. P M L S T F एतदेवैष । २. M N L S T X Y R एक द्वे बहूनोऽसि, F बहूनि निधयः, J द्वीष्यहृनि निधयः । ३. M यस्त्वात्मै॑, All others except P M N यस्त्वात्मना । ४. Q यदबोधि । ५. M N समस्त्वात्मै॑, L S T F J X K यस्यप्रत्यक्षं । ६. N महात्मानं । ७. All others except P स्तेन नारिः कोऽपि प्रियो न मे । ८. All others except P जनो नारिन्दं मे प्रियः...त्वदृष्टः...जनो नारिः सुहृद्म मे । ९. M N साक्षात्मच दृष्ट ।

- 1546 ) इतःप्रभृति निःशेषं पूर्वं पूर्वं विचेष्टितम् ।  
ममाथ ज्ञाततस्त्वस्य भाति स्वप्नेन्द्रजालवत् ॥३४
- 1547 ) यो विशुद्धः प्रसिद्धात्मा परंज्योतिः सनातनः ।  
सो ऽहं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम् ॥३५
- 1548 ) अपाकृत्येति वाह्यात्मा प्रह्लेनान्तरात्मना ।  
विघूतकल्पनाजालं परमात्मानमामनेत् ॥३६
- 1549 ) बन्धमोक्षात्मावेतौ अमेतरनिबन्धनौ ।  
बन्धश्चं परसंबन्धां च देवाभ्यासतः शिवम् ॥३७

1546) इतःप्रभृति—इतःप्रभृति निःशेषं समस्तं पूर्वं पूर्वं विचेष्टितं कर्तव्यम् । अथ मम ज्ञाततस्त्वस्य स्वप्नेन्द्रजालवत् प्रतिभाति । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथात्मानं दर्शयति ।

1547) यो विशुद्धः—सो ऽहं तस्मादात्मनः स्वस्मिन्नात्मानं प्रपश्यामि । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ परमात्मानमाह ।

1548) अपाकृत्येति—परमात्मानमामनेत् । कीदूषं परमात्मानम् । विघूतकल्पनाजालम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ बन्धमोक्षयोः स्वरूपमाह ।

1549) बन्धमोक्षौ—एतौ उभी बन्धमोक्षौ अमेतरनिबन्धनौ सुगमम् । परसंबन्धात् बन्धः देहादिसंबन्धात् बन्धः । भेदाभ्यासात् ततः शिवं मोक्षमिति सूत्रार्थः ॥३७॥ अज्ञानज्ञानिनोः स्वरूपमाह ।

आज जब मुझे वस्तुत्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो चुका है तब इस समयसे लेकर पूर्वमें मैंने जो भी प्रवृत्ति की है वह सब मुझे स्वप्न अथवा इन्द्रजालके समान प्रतीत हो रही है ॥३४॥

जो अतिशय पवित्र, प्रसिद्ध स्वरूपसे संयुक्त, उत्कृष्ट ज्योतिस्त्ररूप और सदा अवस्थित रहनेवाला है वह मैं हूँ । इसलिए अब मैं अपनेमें अपने अनिश्चर आत्मस्वरूपको देखता हूँ ॥३५॥

बाण आत्माका निराकरण करके—शरीरमें आत्मबुद्धिको छोड़कर—सिर्वल अन्तरात्मा-के द्वारा समस्त कल्पनाओंके समूहको नष्ट करके परमात्माका चिन्तन करना चाहिए ॥३६॥

बन्ध और मोक्ष इन दोनोंका कारण क्रमसे मिश्याज्ञान और यथार्थज्ञान है । बन्ध पर पदार्थोंके सम्बन्धसे होता है । इशा मोक्ष परके भेदके अभ्याससे होता है । अभिप्राय यह है कि जब तक अमवश शरीरादिमें आत्मबुद्धि रहती है तब तक कर्मका बन्ध हुआ करता है और जब उस अमके हट जानेपर ग्राणी स्वको स्व तथा पर ( शरीरादि ) को पर मानकर प्रवृत्ति करने लगता है तब उसका उस बन्धसे छुटकारा ( मोक्ष ) होता है ॥३७॥

१. All others except P Q M N T Y अतः । २. All others except P वाह्यात्मानमपि त्यक्त्वा प्र<sup>३</sup>, Q M N L F मिति for मिति । ३. N J प्रसन्ने चात्तरात्मनि । ४. बन्धः स्वपर । ५. All others except P L F चावदभेदाभ्यासात्ततः ।

- 1550 ) अलौकिकमहो वृत्तं ज्ञानिनः केन वर्ण्यते ।  
अज्ञानी ब्रह्मते यथा ज्ञानी तत्रैव मुच्यते ॥३८
- 1551 ) यज्जन्मगहने खिञ्च प्राह्मया दुखसंकुले ।  
तदात्मेतरयोर्नून् व्यत्ययेनावधारणात् ॥३९
- 1552 ) मयि सत्यपि विज्ञानप्रदीपे विश्वदर्शिनि ।  
किं निभज्जत्ययं लोको वराको जन्मकर्दमे ॥४०
- 1553 ) आत्मन्येवात्मनात्मायं स्वयमेवासुभूयते ।  
अतोऽन्यत्रैषं मां ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्कलः ॥४१

1550) अलौकिकम्—ज्ञानिनः वृत्तं चरितम् । अहो इत्याश्चर्ये । केन वर्ण्यते । कीदृशम् । अलौकिकम् । यत्राज्ञानी ब्रह्मते कर्मणा तत्रैव ज्ञानी मुच्यते । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ प्राग्मनेषु ज्ञानाभावमाह ।

1551) यज्जन्म—मया प्राग्भवे यज्जन्मगहने खिञ्चम् । कीदृशो जन्मगहने । दुखसंकुले । तदात्मेतरयोरात्मयरमात्मनोः । तूनमेदेनावधारणात् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथात्मनः सद-यत्वमाह ।

1552) मयि सत्यपि—अयं लोको वराको जन्मकर्दमे निभज्जति । मयि सत्यपि विज्ञानं भवति । प्रदीपे विश्वदर्शिनि । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ पुनरात्मानमेवाह ।

1553) आत्मन्येव—आत्मना आत्मन्येवात्मानं स्वयमेवासुभूयते भोग्यते । प्रयासो मां ज्ञातुं कार्यनिष्कलः । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ पुनस्तदेवाह ।

ज्ञानी ( विवेकी ) जीवकी सब ही प्रश्नाति अलौकिक—लोकको अतिकरण करने-बाली—त आइन्यर्जनक होती है । उसका वर्णन भला कौन कर सकता है ? अर्थात् उसका पूर्णतया वर्णन करना सम्भव नहीं है । अज्ञानी प्राणी जिन क्रियाओंके द्वारा कर्मबन्धको प्राप्त होता है उन्हींके द्वारा ज्ञानी जीव उस कर्मबन्धसे मुक्त होता है ॥३८॥

मैं पूर्वमें जो दुखोंसे व्याप्त इस संसाररूप बनमें खेदको प्राप्त हुआ हूँ उसका कारण निश्चयसे आत्मा और पर ( शरीरादि ) के स्वरूपका विपरीत ज्ञान रहा है ॥३९॥

“विशिष्ट ज्ञानरूप दीपकके द्वारा समस्त विश्वका अवलोकन करनेवाले ऐसे मेरे रहते हुए यह चेतारा दीन प्राणी संसाररूप कीचड़में क्यों निगमन हो रहा है ? ॥४०॥

यह आत्मा अपने द्वारा अपनेमें ही स्वयमेव अनुभवमें आता है । इसलिए शरीरादिमें मुझे—उस आत्माको—जाननेके लिए जो यह परिश्रम किया जाता है वह व्यर्थका कार्य है ॥४१॥

१. All others except P तूनमेदेनां । २. Q विज्ञाने, J विज्ञानं । ३. T वर्धने । ४. M F कि न, N कि नु । ५. J रमानं । ६. All others except P N व्यक्ति । ७. M निष्कलम् ।

- 1554) स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्थन्नारतम् ।  
वासनां द्रव्यचेत्य प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥४२
- 1555) स्थाद्यद्यत्प्रीतये इत्यस्य तत्तदेवापदास्पदम् ।  
विभेत्यर्थं पुनर्यस्मिस्तदेवानन्दमन्दिरम् ॥४३
- 1556) सुसंबृतेन्द्रियग्रामे प्रसन्ने अन्तरात्मनि ।  
क्षणं स्फुरति यत्तत्त्वं तद्रूपं परमेष्ठिनः ॥४४
- 1557) यः सिद्धात्मा परः सो इहं यो इहं स परमेश्वरः ।  
मदन्यो न मयोपास्यो मदन्येन तु नाप्यहम् ॥४५

1554) स एवाहं—अनारतं निरन्तरम् इत्यभ्यसन् । आत्मनि अवस्थितिं प्राप्नोति । एवं<sup>८</sup>  
वासनां द्रव्यत् स एवाहं स एवाहम् । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ एतदेवाह ।

1555) स्थाद्यद्यत्—वस्य पद्मत् प्रीतये स्थात् उत्तदेवापदास्पदं विपदां गृहम् । पुनर्यस्मिन्नर्य  
विभेति तस्य तदेवानन्दमन्दिरं हर्षधाम । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ परमेष्ठिस्त्रस्वरूपमाह ।

1556) सुसंबृतेन्द्रिय—इन्द्रियग्रामे सुसंबृते । च पुनः । अन्तरात्मनि प्रसन्ने । यत्तत्त्वं क्षणं  
स्फुरति । परमेष्ठिनः तद्रूपम् । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ सिद्धत्वमाह ।

1557) यः सिद्धात्मा—यः सिद्धात्मा परः प्रकृष्टः सो इहम् । स परमेश्वरः मदन्यो न मत्तो  
इल्यो न मया उपास्यः सेव्यः । मदन्येन गतः अन्येन अहम् [ न उपास्यः ] इति सूत्रार्थः ॥४५॥  
पुनरात्मनः स्वरूपमाह ।

मैं वही परमात्मा हूँ, मैं वही परमात्मा हूँ; इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करनेवाला  
योगी उस संस्कारको ढुढ़ ही करता है, जिससे वह अपने ही आत्मस्वरूपमें अवस्थानको  
प्राप्त कर लेता है ॥४२॥

अज्ञानीके लिए जो जो ( इन्द्रियविषयादि ) प्रीतिके लिए होता है वही वही दुखका  
स्थान ( दुखदायक ) है, तथा जिस संयम व तप आदिके विषयमें वह भयभीत होता है  
वही वस्तुतः आनन्दका स्थान है ॥४३॥

इन्द्रियसमूहके नियन्त्रित करनेमें अन्तरात्माके प्रसन्न ( निर्मल ) हो जानेपर जो  
क्षणभरके लिए निज स्वरूप प्रतिभासित होता है वही स्वरूप परमात्माका है ॥४४॥

जो सिद्ध परमात्मा है वह मैं हूँ और जो मैं हूँ वह सिद्ध परमात्मा है । न मेरे द्वारा  
मुक्तसे भिन्न दूसरा कोई आराधनीय है । और न मैं ही मुक्तसे भिन्न दूसरेके द्वारा आराधनीय  
हूँ । लात्यर्थं यह कि यथार्थमें मैं स्वर्य परमात्मा हूँ, इसलिए मैं ही उपास्य और मैं ही  
उपासक हूँ—निःचयसे उन दोनोंमें कोई भेद नहीं है ॥४५॥

1558) आकृष्य मोचरव्याघ्रमुखादात्मानमात्मना ।  
स्वस्मिन्है स्थिरीभूतशिदानन्दमये स्वयम् ॥४६॥

1559) पृथगित्थं न मां वेत्ति यस्त्वोर्वीतविभ्रमः ।  
कुर्वन्त्वपि तपत्वीत्रं ग ए मुच्येत इत्यहै ॥४७॥

1560) स्वपरान्तरविज्ञानसुधास्यन्दाभिनन्दितः ।  
खिद्यते न तपः कुर्वन्त्वपि क्लेशः शरीरजैः ॥४८॥

1561) रागादिमलविश्लेषाद्यस्य चित्तं सुनिर्भलम् ।  
सम्यक् स्वं स हि जानाति नान्यः केनापि हेतुना ॥४९॥

1558) आकृष्य —अहं स्वस्मिन्नात्मनि स्थिरीभूतः आत्मनात्मानं व्याघ्रमोचरमुखादाकृष्य । कीदृशो कहिमत् । स्वयं चिदानन्दमये । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ कर्मबन्धनमोक्षमाह ।

1559) पृथगित्थं—यो मां पृथगित्थं न वेत्ति तत्त्वोर्वीतविभ्रमः नष्टाज्ञानः । तीव्रं तपः कुर्वन्त्वपि बन्धनैर्न मुच्यते सः । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ विज्ञानी शरीरज्ञातकर्मभिः स्वं न प्राप्नोति इत्याह ।

1560) स्वपरान्तर—इवपरान्तरविज्ञानसुधास्यन्दाभिनन्दितः खिद्यते न वाभिनन्दितः । शेषं सुगममिति सूत्रार्थः ॥४८॥ अथ पुनर्ज्ञानमाह ।

1561) रागादि—यस्य चित्तं रागादिमलविश्लेषात् सुनिर्भलं स हि केनापि हेतुना अन्यः सम्यक् न स्वं जानाति । इति सूत्रार्थः ॥४९॥ अथ सम्यक्तस्वमाह ।

मैं अपने आपको अपने ही द्वारा इन्द्रियविषयरूप व्याघ्रके मुखसे खीचकर चिदानन्दस्वरूप अपने-आपमें ही स्वयं स्थिर हो गया हूँ ॥४६॥

जो विषरीत बुद्धिको छोड़कर इस प्रकारसे मुझे (आत्माको) शरीरसे भिन्न नहीं जानता है वह और तपहचरण करता हुआ भी बन्धनोंसे नहीं छूटता है—मुझ नहीं हो सकता हूँ ॥४७॥

स्व और परके भेद—चिदानन्दस्वरूप अमृतके बहनेसे आनन्दको प्राप्त हुआ योगी तपको करता हुआ भी शारीरिक क्लेशोंसे खीदको नहीं प्राप्त होता है । अभिप्राय यह कि स्व-पर-भेद विज्ञानके उद्दित हो जानेपर योगीको जो आनन्द प्राप्त होता है उसके आगे उसे तप-जन्यक्लेश क्लेश ही प्रतीत नहीं होता ॥४८॥

राग-द्वेषादिरूप मलके पृथक् ही जानेसे जिसका चित्त अतिशय निर्भल ही गया है वही निश्चयसे अपने आपको भर्तीभाँसि जानता है । इसके विषरीत दूसरा—रागादिसे दूषित अन्तःकरणवाला बहिरात्मा—किसी भी हेतुके द्वारा अपने आत्मस्वरूपको नहीं जानता है ॥४९॥

१. S J R स्वस्मिन्वेद । २. Y स्थिरोक्त्य । ३. All others except P Q M मां चेति ।

४. Q सुखास्पन्दा, All others except P M सुखास्पन्दा ।

- 1562 ) निविकल्पं मनस्तत्त्वं न विकल्पैरभिद्रुतम् ।  
निविकल्पमतः कार्यमन्त स्तत्त्वप्रसिद्धये ॥५०॥
- 1563 ) अज्ञानविष्णुतं चेतः स्वतत्त्वादपवर्तते ।  
विज्ञानवासितं तद्वि पश्यत्यन्तःपुरप्रभुम् ॥५१॥
- 1564 ) मुनेर्यदि मनो मोहाद्रागाद्यैरभिभूयते ।  
तद्वियोज्यात्मनस्तत्त्वे तदैवं क्षपति क्षणात् ॥५२॥
- 1565 ) यत्राजात्मा॑ रतः काये तस्माद्व्यावर्तितो धिया ।  
चिदानन्दमये रूपे॒ पुक्तस्तत्त्वीतिमुल्सुजेत् ॥५३॥

1562) निविकल्पं—मनस्तत्त्वं निविकल्पं कल्पनारहितं विकल्पैरभिद्रुतं न । अतः कारणात् सम्यक्तत्त्वप्रसिद्धये\* मनस्तत्त्वं निविकल्पं कार्यम् । इति सूत्रार्थः ॥५०॥ अथ पुनरात्मतत्त्वमाह ।

1563) अज्ञान—अज्ञानविष्णुतं संविद्रुतं चेतः स्वतत्त्वादपवर्तते । हि निरिचतम् । अन्तः-पुरप्रभु परमात्मानं विज्ञानवासितमिति सूत्रार्थः ॥५१॥ अथ मोहादीनामभावे दर्शयति ।

1564) मुनेर्यदि—यदि मुनेः मनो मोहात् रागाद्यैरभिभूयते । आत्मनस्तत्त्वे क्षणात् तानेवं क्षपति । इति सूत्रार्थः ॥५२॥ अथात्मनि प्रीतियोजनमाह ।

1565) यत्राजात्मा॑—यत्र काये अजात्मा रतः । धिया तस्माद् व्यावर्तितः, चिदानन्दमये रूपे योजितः॒, प्रीतिमुल्सुजेत् । इति सूत्रार्थः ॥५३॥ अथ स्वपरमात्मस्वरूपमाह ।

विकल्पोसे रहितं हुआ मन तत्त्व है—परमात्माका स्वरूप है, किन्तु उन विकल्पोसे पीड़ित हुआ मन तत्त्व नहीं है । इस कारण अभ्यन्तर तत्त्वको सिद्ध करने के लिए उस मनको विकल्पोसे रहित करना चाहिए ॥५०॥

अज्ञानसे उपद्रवको ब्राह्म हुआ चित्त आत्मतत्त्वसे छुत होता है तथा विवेकज्ञानसे संस्कारित अहीं चित्त शरीरके भीतर परमात्माको देखता है ॥५१॥

मोहके बढ़ा यदि मुनिका मन रागादिके द्वारा अभिभूत किया जाता है तो मुनि उसे आत्मा-के स्वरूपमें नियुक्त करके उसी समय क्षणभरमें ही उन रागादिकोंको नष्ट कर देता है ॥५२॥

जिस शरीरमें अज्ञानी जीव रत होता है उससे आत्माको बुद्धिपूर्वक हटाकर यदि वह चिदानन्दमय आत्माके स्वरूपमें मग्न होता है तो वह शरीरविषयक अनुरागको छोड़ देता है ॥५३॥

१. All others except P कार्यं सम्यक्तत्त्वस्य मि॒ । २. T विकृतं । ३. X तत्त्वेन प्रबद्धते ।

४. Q L Y तानेव, M N S T F X R तान्येव । ५. M L T F Y क्षिपति, S क्षिपते, J R क्षिप्यते । ६. All others except P यत्राजात्मा.... । ७. योजितः प्रीतिं ।

- 1566) स्वविभ्रमोद्भवं दुःखं स्वज्ञानेनैव हीयते ।  
तपसापि न तच्छेष्यमात्मविज्ञानवर्जितैः ॥५४
- 1567) रूपायुर्बलवित्तादिसंपत्तिं स्वस्य बाल्छति ।  
बहिरात्मा चैविज्ञानी साक्षात्तेभ्योऽपि विच्युतिम् ॥५५
- 1568) कृत्वाहंमतिमन्येत्र अधनाति स्वं स्वतश्च्युतः ।  
आत्मस्यात्ममतिश्च्युत्वान्यस्माद् ज्ञानी च मुच्यते ॥५६
- 1569) आत्मानं वेष्यविज्ञानी त्रिलिङ्गीसंगतं वषुः ।  
सम्यग्वेदी पुनस्तत्त्वं लिङ्गसंगतिवर्जितम् ॥५७

1566) स्वविभ्रमोद्भवं—स्वविभ्रमोद्भवं स्वमिथ्याज्ञानजातं दुःखं स्वज्ञानेनैव हीयते हानि याति । आत्मविज्ञानवर्जिते तपसा तददुःखं न छेदयत् । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथ बहिरात्म-स्वरूपमाह ।

1567) रूपायुर्बल—बहिरात्मा रूपायुर्बलवित्तादिसंपत्ति स्वस्य बाल्छति । अथैविज्ञानी साक्षात्तेभ्योऽपि रूपादिभ्यो विच्युतम् ।\* इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथ ज्ञानिनो मोक्षमाह ।

1568) कृत्वाहंमतिम्—अहंमतिम् अहंकारं कृत्वा अन्यत्र स्वं स्वतश्च्युतः । आत्मनि आत्म-मति कृत्वा अन्यस्माद् ज्ञानी विमुच्यते । इति सूत्रार्थः ॥५६॥ अथात्मानमेवाह ।

1569) आत्मानम्—अज्ञानी आत्मानं त्रिलिङ्गीसंगतं वषुः वेत्ति । सम्यग्वेदी पुनस्तत्त्वं लिङ्गातिवर्जितं रहितम् । इति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ योगिनमाह ।

आत्मस्वरूपको यथार्थं न जाननेके कारण जो दुख उत्पन्न हुआ है वह आत्मस्वरूपके यथार्थं ज्ञानके द्वारा ही नष्ट किया जाता है । जो प्राणी आत्माके ज्ञानसे रहित हैं वे तपके द्वारा भी उस दुखको नष्ट नहीं कर सकते हैं ॥५४॥

बहिरात्मा प्राणी अपने लिए रूप, आयु, बल और धन आदिको चाहता है, परन्तु विवेकी अन्तरात्मा उनसे साक्षात् छुटकारा चाहता है—वह उन्हें लोडमा चाहता है ॥५५॥

अज्ञानी जीव शरीरादि पर पदार्थोंमें अहंबुद्धि करके—उन्हें अपना मानकर—आत्म-स्वरूपसे न्युत होता हुआ अपनेको कर्मसे सम्बद्ध करता है । परन्तु आत्मामें ही आत्मबुद्धि रखनेवाला—शरीरादिसे आत्माको प्रथक् देखनेवाला—ज्ञानी जीव शरीरादि पर पदार्थोंसे न्युत होकर उस कर्मबन्धनसे छुटकारा पा लेता है—मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥५६॥

अज्ञानी बहिरात्मा स्त्री, पुरुष व नपुंसक इन तीन लिंगोंसे संयुक्त शरीरको आत्मा जानता है । परन्तु सम्यग्ज्ञानी अन्तरात्मा अपने आत्मस्वरूपको लिंगके संयोगसे रहित—शरीर व तदृगत लिंगभेदसे प्रथक्—ही जानता है ॥५७॥

१. Y विज्ञानः । २. All others except P Y<sup>०</sup>रात्मार्थ । ३. P विच्युतिः, F विच्युतम् । ४. All others except P Q M N<sup>०</sup>मति कृत्वा तरमाद् ज्ञानी विमुच्यते । ५. Q M संवृत्त for संगतः ।

- 1570 ) समभ्यस्तं सुविज्ञातं निर्णीतिमपि तत्त्वतः ।  
 अनादिविभ्रमात्मवं<sup>१</sup> प्रस्तुलत्येव योगिनः ॥५८
- 1571 ) अचिददृश्यमिदं रूपं न चिददृश्यं ततो वृथा ।  
 मम रागादयोऽर्थेषु समत्वं<sup>२</sup> संथाप्यतः ॥५९
- 1572 ) करोत्यज्ञो ग्रहत्यागौ बहिरन्तस्तु तत्त्ववित् ।  
 शुद्धात्मा न बहिनन्तस्तौ विदध्यात् कथंचन ॥६०
- 1573 ) वाक्कायाभ्यां पृथक् कृत्वा मनसात्मानमभ्यसेत् ।  
 वाक्ततुभ्यां प्रकुर्वीत कार्यमन्यन्न चेतसा ॥६१

1570) समभ्यस्तं—योगिनः तत्त्वं प्रस्तुलत्येव । कस्मात् । अनादिविभ्रमात् । कीदृशं तत्त्वस् । समभ्यस्तं सुविज्ञातम् । तत्त्वतो निर्णीतम् । इति सूत्रार्थः ॥५८॥ अथात्मस्वरूपमाह ।

1571) अचिददृश्यम्—इदं रूपम् अचिददृश्यम् । मम रागादयो अर्थेषु स्वरूपं संथाप्यति । इति सूत्रार्थः ॥५९॥ अथात्मनो द्वैविध्यमाह ।

1572) करोत्यज्ञः—अज्ञो मूर्खः ग्रहत्यागौ करोति बहिरन्तस्तु । तत्त्ववित् शुद्धात्मा न बहिनन्तः कथंचन पुरुषः विदध्यात् । इति सूत्रार्थः ॥६०॥ अथवा

1573) वाक्कायाभ्यां—मनसा आत्मानमभ्यसेत् । कि कृत्वा । वाक्कायाभ्यां पृथक् कृत्वा । अन्यत्कार्यं वाक्ततुभ्यां प्रकुर्वीत । न चेतसा । इति सूत्रार्थः ॥६१॥ अथात्मवेदिनां स्वरूपमाह ।

जिस वोगीके तस्वक्ता—आत्मस्वरूपका—भले प्रकार अभ्यास किया गया है, जिसे सभीचीनरूपसे जान लिया है, और जिसका यथार्थरूपसे निर्णय भी कर लिया है; वह भी अनादिकालकी विपरीतबुद्धिके संस्कारवश भग्न हो जाता है ॥५८॥

ओं वह रूप (शरीरादि) दिख रहा है वह तो चेतनासे रहित (जड़) है और जो रूप (आत्मा) चेतनासे संयुक्त है वह दृश्य नहीं है—उसे इन्द्रियोंके द्वारा प्रहृण नहीं किया जा सकता है । इसलिए शरीरादि वाणि पदार्थोंके विषयमें मुझे राग-द्वेषादि करना व्यर्थ है—पूर्वमान जड़पदार्थोंसे राग-द्वेष करना मुझे योग्य नहीं है । इस कारण अब मैं समता भावका आश्रय लेता हूँ—बाह्य पर पदार्थोंसे भमत्वबुद्धिको छोड़कर आत्मस्वरूपमें स्थित होता हूँ ॥५९॥

अशानी बहिरात्मा बाह्यमें प्रहृण व त्यागको करता है और तस्वका वेत्ता अन्तरात्मा अभ्यन्तर प्रहृण व त्यागको करता है । परन्तु शुद्धात्मा (परमात्मा) न तो बाह्यमें प्रहृण व त्यागको किसी प्रकारसे करता है और न अभ्यन्तरमें भी ॥६०॥

आत्माको बचन और शरीरसे पृथक् करके उसका मनसे अभ्यास करना चाहिए लक्षा अन्य कार्यको बचन और शरीरके द्वारा ही करना चाहिए, उसे मनसे नहीं करना चाहिए । अभिप्राय यह है कि प्रयोजनके बड़ा शरीर और बचनसे व्यवहारकार्यको करने सुप्रभी मनको निरन्तर आत्मस्वरूपकी ओर ही प्रवृत्त करना चाहिए ॥६१॥

१. M विभ्रमस्तत्वं । २. X ततो ज्यथा । ३. All others except P स्वरूपं for समत्वं ।  
 ४. L S F J R न्यूहं । ५. S J R बहिनन्ति, F बहिजति ।

1574) विश्वासानन्दयोः स्थानं स्याजगदज्ञचेतसाम् ।

कथानन्दः कथं च विश्वासः स्वस्मिन्नेवात्मचेदिनाम् ॥६२

1575) स्वबोधादपरं किञ्चित्प्र स्वान्ते विभूयात्क्षणम् ।

कुर्याद्यत्नमपाकृत्य वाक्कायाभ्यां प्रयोजनात् ॥६३

1576) यदक्षविषयं रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणम् ।

आनन्दनिर्भरं रूपमन्तज्योतिर्भवं मम् ॥६४

1577) अन्तर्दुःखं बहिः सौख्यं योगाभ्यासोद्यतात्मनाम् ।

सुप्रतिष्ठितयोगानां विषयस्तमिदं पुनः ॥६५

1574) विश्वासानन्दयोः—आत्मचेदिना स्वस्मिन्नेव विश्वासानन्दयोः स्थानम् । कीदृशाम् । “जगदन्यचेतसां जागतोऽन्यचेतो येषां ते तेषाम् । कथं आनन्दः । न क्वापीनि । च पुनः विश्वासः चेति सूत्रार्थः ॥६२॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1575) स्वबोधात्—स्वबोधात् ज्ञानात् विना परं प्रकृष्टं किञ्चित् न क्षणं स्वान्ते स्वभन्ननि विभूयात् । कार्यवशात् किञ्चित् कुर्यात् । वाक्कायाभ्यामनादृतः अनादरपरः । इति सूत्रार्थः ॥६३॥ अथाक्षिगोचरमात्मनो भिन्नमित्याह ।

1576) यदक्षविषयं—यदिन्द्रियमोचरं रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणं रहितम् । मम आनन्दनिर्भरं रूपं यजोतिर्भव्यम् । इति सूत्रार्थः ॥६४॥ अथ योगाभ्यासवर्तिदुःखमुखविषयसिमाह ।

1577) अन्तर्दुःखं—योगाभ्यासोद्यतात्मनाम् अन्तर्मध्ये दुःखं बहिः सौख्यम् । सुप्रतिष्ठितयोगानाम् इदं पुनर्विषयस्तमिति सूत्रार्थः ॥६५॥ अथात्मन्येवात्मस्थितिमाह ।

जिनका मन भिन्नान्तसे भलिन हो रहा है उनके लिए संसार विश्वास और आनन्दका घर है । परन्तु जो बाह्य शरीरादिसे भिन्न अपनेमें आत्माका अनुभवन करते हैं उनके लिए आनन्द कहाँ और विश्वास कहाँ ? तात्पर्य यह कि आत्मस्वरूपके ज्ञानकार न बाह्य विषयोंमें कभी स्थिरताका विश्वास करते हैं और न उनको सुखका कारण भी मानते हैं । किन्तु जो आत्मज्ञानसे विमुख हैं वे ही उन्हें स्थिर व सुखका कारण समझा करते हैं ॥६२॥

मुमुक्षु जीवको आत्मज्ञानके सिद्धाय अन्य किसीको क्षणभरके लिए भी अन्तःकरणमें स्थान नहीं देना चाहिए । प्रयोजनके बड़ा यदि कुछ अन्य कार्य करता पड़े तो उसके लिए अनासक्तिपूर्वक केवल बचन और शरीरसे ही प्रयत्न करना चाहिए ॥६३॥

जो रूप इन्द्रियोंका विषय है—जिसे इन्द्रियाँ प्रहृण करती हैं—वह मेरे रूपसे (आत्म-स्वरूपसे ) भिन्न है । मेरा रूप तो अन्तज्योति (अनन्त ज्ञान) स्वरूप और आनन्दसे परिपूर्ण है ॥६४॥

जो योगके अभ्यासमें उत्तम होते हैं उनके लिए प्रारम्भ करते हुए अन्तर्गमें दुख और बाह्यमें सुख होता है । परन्तु जिनका वह योग सिद्ध हो चुका है उनकी अवस्था

१. N जगत्वज्ञ, L T F <sup>१</sup> दृश्य । २. All others except P कुर्यात्कार्यवशात्किविद्वावक्कायाभ्यामनादृतः (F दृ.) तः । ३. Q किंवये । ४. T मनः for मम ।

1578 ) तद्विजेयं तदाख्येयं तत्सेव्यं<sup>१</sup> चिन्त्यमेव वा ।

येन ब्रान्तिभपास्थोऽस्मैः स्यादात्मन्यात्मनः रिथतिः ॥६६

1579 ) विषयेषु न तत्किञ्चित्स्याद्वितं यच्छ्रीरिणाम् ।

तथाप्येष्वेवे कुर्वन्ति प्रीतिमज्जा न योगिनः<sup>२</sup> ॥६७

1580 ) अनाख्यातभिवाख्यातमपि न प्रतिपद्यते ।

आत्मानं जडधीस्तेन वन्ध्यस्तत्र ममोद्यमः ॥६८

1581 ) अनहं<sup>३</sup> यन्मया किञ्चित्प्रशापयितुमिष्यते ।

नान्यग्राह्यमहं यस्मात्तन्मुद्धा बोधनोद्यमः ॥६९

1578) तद्विजेयं—येन ज्ञानेनात्मनि आत्मस्थितिः स्यात् । इति हुला । अतिरिक्तपात्येत्वैः तद्विजेयं ज्ञानव्ययम् । तदाख्येयं वक्तव्यम् । तत् श्राव्ये<sup>४</sup> का चिन्त्यमेव । इति सूत्रार्थः ॥६६॥ अथात्मज्जानमाह ।

1579) विषयेषु—विषयेषु तत्किञ्चित्स्याद्वितं यच्छ्रीरिणां हितं स्यात् । तथाप्येष्वेवाज्जा न योगिनः प्रीति कुर्वन्ति विषयेष्वेति सूत्रार्थः ॥६७॥ अथात्मस्वरूपमाह ।

1580) अनाख्यातम्—जडधीरात्मानं न प्रतिपद्यते । आख्यातमपि अनाख्यातभिव । तेन कारणेन तत्र ममोद्यमः वन्ध्यो निष्कलः । इति सूत्रार्थः ॥६८॥ अथ पुनरपि तत्त्वरूपमाह ।

1581) अनहं—यत्किञ्चित् मया प्रज्ञापयितुमिष्यते । तन्नाहं<sup>५</sup> यो न स परिग्राह्यः । तद्बोधनोद्यमः मुद्धा निष्कलः । इति सूत्रार्थः ॥६९॥ अथात्मस्वरूपमाह ।

उससे विपरीत होती है—उन्हें उससे अन्तरंगमें सुख और बाधामें दुख होता है । अभिप्राय यह है कि योगी जब योगको प्राप्तम करता है तब उसे उसका अभ्यास न होनेसे अन्तरंगमें दुख और बाधामें सुख होता है । किन्तु जब वह उसे सिद्ध कर चुकता है तब उसे बाधामें दुख और अन्तरंगमें सुख होता है ॥६८॥

जिस तत्त्वके आश्रयसे भ्रमको अतिशय निर्मूल करके आत्माका आत्मा में अवस्थान होता है उसीका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, उसीका व्याख्यान करना चाहिए, उसीका आराधन करना चाहिए, और उसीका चिन्तन करना चाहिए ॥६९॥

इन्द्रियविषयोंमें वह कुछ भी नहीं है जो प्राणियोंके लिए हितकर हो, तो भी अज्ञानी जन उन्हींमें असुराग किया करते हैं । परन्तु योगी जन उनमें कभी असुराग नहीं किया करते हैं ॥६९॥

जडबुद्धि—अतिशय विपरीत बुद्धिवाला दुरापही प्राणी—आत्माके स्वरूपको समझानेपर भी वह नहीं कहे हुएके समान उसे स्वीकार नहीं करता है । इस कारण उसके विषयमें मेरा प्रयत्न करना व्यर्थ है ॥६८॥

जो कुछ मैं ज्ञापित करना चाहता हूँ—जिस आत्मस्वरूपका दूसरेके लिए ज्ञान करना

१. All others except P तच्छ्रव्ये । २. M N प्येतेषु । ३. L "मज्जानयोगतः । ४. All others except P तन्नाहं यन्मया....यो ज्ञेन स परिग्राह्यस्तन्मुद्धा ।

1582) **निरुद्धज्योतिरङ्गोऽन्तः स्वतो अन्यत्रैव तुष्यति ।  
तुष्यत्यात्मनि विज्ञानी बहिर्गिलितसंभ्रमः ॥७०**

1583) **यावदात्मास्थैर्यादते वाकिंचत्वपुषां व्रजम् ।  
जन्म तावदमीषां तु भेदज्ञानाद्वच्युतिः ॥७१**

1584) **जीर्णे रक्ते धने ध्वस्ते नात्मा जीर्णादिकः पटे ।  
एवं वपुषि जीर्णादौ नात्मा जीर्णादिकस्तथा ॥७२**

1582) **निरुद्धज्योतिः—अङ्गातोऽ मूर्खः स्वतः आत्मतत्त्वतः अन्यत्र शरीरादौ तुष्यति गोदते ।  
कीदृशो ऽज्ञातः । निरुद्धज्योतिर्नैष्टात्मत्वल्पः । विज्ञानी आत्मनि तुष्यति । कीदृशः । बहिर्विगत-  
भ्रमः<sup>१</sup> वाह्यगतज्ञानः । इति सूत्रार्थः ॥७०॥ अथेतदेवाह ।**

1583) **यावदात्मास्थया—यावदात्मेन्छ्यां वाकिंचत्वपुषां व्रजं दत्ते, तावदमीषां वाचा-  
दीनां भेदज्ञानात् भवच्युतिः । इति सूत्रार्थः ॥७१॥ आत्मज्ञानमाह ।**

1584) **जीर्णे रक्ते—यथा धटे नात्मा जीर्णादिकः । गोदूरं धटे । जीर्णे रक्ते धने श्वेते<sup>२</sup>  
एवमात्मा न जीर्णादिकः वपुषि जीर्णादिके तथेति सूत्रार्थः ॥७२॥ अथ जयतो माहात्म्यं दर्शयति ।**

चाहता हूँ—वह मैं नहीं हूँ और जो मैं हूँ वह परके द्वारा प्राप्त नहीं है—वह मेरे द्वारा ही  
प्रहण करने योग्य है, परके द्वारा वह प्रहण करने योग्य नहीं है। इसलिए दूसरेको प्रबोधित  
करनेका मेरा प्रयत्न व्यर्थ है ॥६९॥

आज्ञानी बहिरात्मा अभ्यन्तरमें आत्मज्ञानरूप ज्योतिके आच्छादित रहनेसे अपनेसे  
मित्र पर पदार्थोंमें सन्तुष्ट होता है, किन्तु ज्ञानी जीव वास्तु शरीराद्विमें आत्मविषयक बुद्धिकी  
आन्तिके नष्ट हो जानेसे अपनेआपमें ही सन्तुष्ट होता है ॥७०॥

प्राणी जब तक वचन, मन और शरीर इन तीनोंके समूहको आत्मबुद्धिसे प्रहण करता  
है तभी वक्त उसका संसारपरिभ्रमण है। किन्तु भेदज्ञानसे—उक्त वचन आदि तीनोंको आत्म-  
बुद्धिसे प्रहण न करके परबुद्धिसे प्रहण करनेपर—उसकी संसारसे भुक्ति है ॥७१॥

जिस प्रकार वस्त्रके जीर्ण, रक्त, सधन और नष्ट होनेपर आत्मा क्रमशः न जीर्ण होता  
है, न रक्त होता है, न सधन होता है, और न नष्ट होता है; उसी प्रकार शरीरके जीर्ण, रक्त,  
सधन और नष्ट होनेपर आत्मा भी क्रमसे जीर्ण, रक्त, सधन और नष्ट नहीं होता है। तात्पर्य  
यह कि जिस प्रकार वस्त्र अपनेसे सर्वथा भिन्न ही सबको प्रतीत होता है, उसी प्रकार शरीर-  
को भी आत्मासे पुश्कर समझना चाहिए ॥७२॥

१. J Interchanges Nos. ७०-७२ । २. J रजातः । ३. All others except P विभृत for  
गलित । ४. L S T F X Y R विभ्रमः, J बहिर्वचन विगतभ्रमः । ५. L S T J X Y R <sup>१</sup>दात्मेन्छ्यां-  
दत्ते, P <sup>२</sup>दात्मा रिथति धत्ते । ६. T F J Y श्वेते for ध्वस्ते । ७. J धटे for पटे ।

1585) चलमप्यचलकारं जगद्यस्यावभासते ।

ज्ञानमोगिक्रियाहीनं स एवास्कन्दति॑ ध्रुवम् ॥७३

1586) तनुत्रयादृतो देही ज्योतिर्मर्यवपुः स्वयम् ।

न वेति यावदात्मानं क्व तावद् बन्धविच्युतिः ॥७४

1587) गलन्मिलदण्डात्मसनिवेशात्मकं वपुः ।

वेति मूढस्तदात्मानमनाद्युत्पन्नविभ्रमात् ॥७५

1585) चलमप्यचल—यस्य योगिनः चलमपि जगत् अचलप्रस्थै॒ विभासते प्रतिभासते । ज्ञातयोगः॑ क्रियाहीनः स एव पुरुषः शिवं मोक्षमास्कन्दति आश्लेषयति । इति सूत्रार्थः ॥७३॥ अथात्मज्ञानाभावे कर्मसद्ग्रावः ।

1586) तनुत्रयादृतः—देही प्राणी तनुत्रयादृतः औदरिकादिशरीरव्युक्तः यावदात्मानं न वेति । स्वयमात्मता ज्योतिर्मर्यं ज्योतिःस्वरूपं तावद्बन्धविच्युतिः बन्धाभावः । इति सूत्रार्थः ॥७४॥ अथ शरीरपरमाणुनिष्ठन्तरं दर्शयति ।

1587) गलन्मिलत्—वपुः गलन्मिलदण्डात्म-गलन्तो मिलन्तदत्ते परमाणवस्तेषां ब्रातः समूहः तस्य सनिवेशात्मकं मेलापकं मूडो तदात्मानं वेति । कस्मात् । अनाद्युत्पन्नविभ्रमात् मिथ्यात् । इति सूत्रार्थः ॥७५॥ आत्मस्थितेर्मुक्तिसद्ग्रावत्वं दर्शयति ।

जिसके लिए जगत्—शरीर आदि—अस्थिर होता हुआ भी स्थिर आकारबाला प्रतीत होता है, वही ज्ञान, भोग और क्रियासे रहित शाश्वतिक पदको प्राप्त करता है । विशेषार्थ—अस्तित्व यह है कि यद्यपि वेतन आत्मासे अधिष्ठित होनेके कारण शरीर आदि चंचल—क्रियायुक्त—दिखते हैं, किं भी जिस अन्तरात्मके लिए आत्मा और शरीरादिके मिन्न स्वरूपका हाल हो चुका है वह उन शरीरादिको काष्ठ-पाषाणादिके समान ज्ञान, भोग और परिस्पन्दात्मक क्रियासे रहित ही अनुभव करता है । इसीलिए उसे स्थिर पदस्वरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥७३॥

स्वयं ज्ञानमय शरीरसे संयुक्त होकर भी बालमें तीन शरीरोंसे—औदरिक अथवा वैक्रियिकमें-से कोई एक तथा तैजस और कार्मण इन पुद्गलमय शरीरोंसे—आच्छादित रहनेबाला प्राणी जब तक अपने इस आत्मस्वरूपको नहीं जास्ता है तब तक उसके बन्धका विच्छेद ( मुक्ति ) कहाँ हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता है ॥७४॥

अज्ञानी बहिरात्मा अनादिकालसे उत्पन्न हुई ध्रान्तिके कारण चिन्हिते और मिलते हुए परमाणुओंके समूहके रचनास्वरूप शरीरको आत्मा जानता है ॥७५॥

१. All others except P चलमप्यचल...ज्ञातयोग, Q M भोग । २. M स्कन्दते शिवं, L N F X स्कन्दते शिवं, Q S T J Y स्कन्दते शिवं ।

- 1588) मुक्तिरेव मुनेस्तस्य यस्यात्मन्यचला स्थितिः ।  
न तस्यास्ति ध्रुवं मुक्तिर्व यस्यात्मन्यवस्थितिः ॥७६॥
- 1589) दृढः स्थूलः स्थिरो दीर्घो जीर्णः शीर्णो गुरुर्लघुः ।  
वपुषैवमसंबन्धन् स्वं विष्णादेदनात्मकम् ॥७७॥
- 1590) जनसंसर्गवाक्चित्परिस्पन्दमनोभ्रमाः ।  
उत्तरोत्तरवीजानि ज्ञानी जनमत्स्यजेत् ॥७८॥
- 1591) नगग्रामादिषु स्वस्य निवासं वेत्यनात्मावित् ।  
सर्वावस्थासु विज्ञानी स्वस्मिन्नेवास्तविभ्रमः ॥७९॥

1588) मुक्तिरेव—यस्यात्मनि स्वरूपे अस्थितिरवस्थानम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७६॥ अथ शरीरस्वभावमाह ।

1589) दृढः स्थूलः—“वपुषैवमसंबन्धात्” स्वमात्मार्व वेदनात्मकं विन्द्यात् । इति सूत्रार्थः । शेषं सुगमम् ॥७७॥ अथ संसारकारणत्यागमाह ।

1590) जनसंसर्ग—ज्ञानी जनस्ततस्यजेत् । जनसंसर्गवाक्चित्परिस्पन्दमनोभ्रमाः जनसंबन्धयोगश्रव्यमिलितमनोभ्रमाः उत्तरोत्तरवीजानि संसारस्येति गम्यमिति सूत्रार्थः ॥७८॥ अथ ज्ञानिः स्वरूपमाह ।

1591) नगग्रामादिषु—अनात्मवित् नगग्रामादिषु स्वस्य निवासं वेत्ति जानाति । विज्ञानी सर्वास्ववस्थासु अस्तविभ्रमः स्वस्मिन्नेव वासं मन्यते । इति सूत्रार्थः ॥७९॥ अथ शरीरज्ञानं शरीरकारणमित्याह ।

जिस मुनिका आत्मामें स्थिर अवस्थान हो चुका है उसकी कर्मवन्धसे मुक्ति निश्चित ही होनेवाली है । किन्तु जिसका अपनेआपमें अवस्थान नहीं हुआ है—जो वास्त्र परवस्तुओंको ही अपना मान रहा है—उसकी उस वन्धसे मुक्ति सम्भव नहीं है ॥७६॥

मैं दृढ़ हूँ, स्थूल हूँ, स्थिर हूँ, दीर्घ हूँ, जीर्ण हूँ, शीर्ण हूँ, लघु हूँ, और गुरु हूँ; इस प्रकारसे शरीरके साथ सम्बन्ध न करके—इन सब शरीरगत विशेषताओंको आत्माकी न मानकर—अपनेआपको ज्ञानस्यरूप अनुभव करना चाहिए ॥७७॥

जनसंसर्ग, वाक्यपरिस्पन्द, चित्परिस्पन्द और मनोभ्रम ये उत्तरोत्तर एक दूसरेके कारण हैं । इसलिए विवेकी जीवके लिए जनसंसर्गका परित्याग करना चाहिए । अभिप्राय यह है कि लौकिक जनसे सम्बन्ध होनेपर प्रथमतः वाग्यवहार होता है, उससे चित्तमें विक्षेप ( चंचला ) होता है, और फिर उससे मनमें भ्रान्ति उत्पन्न होती है । इसलिए इस सबका मूल कारण जनसम्पर्कको जानकर उसका परित्याग करना चाहिए ॥७८॥

जो बहिरात्मा आत्मस्वरूपको नहीं जानता है वह अपने निवासको पर्वत और

१. P adds this verse on the margin । २. All others except P Q लघुरूपः । ३. M N

वपुष्येव, V वपुषैव सम्ब वन्धन् । ४. All others except P Q F विन्द्यात् । ५. L S F J

X Y R संसर्गेः । ६. V भ्रमः । ७. Q L S T F J R जनस्तत् ।

- 1592 ) आत्मेति वपुषि ज्ञानं कारणं कायसंततेः ।  
स्वस्मिन् स्वमिति विज्ञानं स्वाच्छरीरान्तरन्युते ॥८०
- 1593 ) योजयत्यात्मनात्मानं स्वयं जन्मापवर्गयोः ।  
अतो रिपुर्गुरुश्चायमात्मैव स्फुटमात्मनः ॥८१
- 1594 ) पृथग् दृष्ट्वात्मनः कायं कायादात्मानमात्मवित् ।  
‘ततस्त्यजति संयोगं’ यथा वस्त्रे धृणास्यदम् ॥८२

1592) आत्मेति—वपुषि शरीरे आत्मेति ज्ञानम् । तत् कायसंततेऽन्मपर्परायाः कारणम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८०॥ पुनरेकात्मस्वविज्ञानः ।

1593) योजयत्यात्मना—आत्मा<sup>१</sup> आत्मना भवं मोक्षं स्वतो जातं मोक्षं वलः आत्मनः कुरुते । अतः कारणात् अयमात्मैव रिपुः शश्रुः । च पुनः । गुरुः । कस्य । स्फुटं यथा स्वादात्मनः । इति सूत्रार्थः ॥८१॥ अथ पुनरपि एतदेवाह ।

1594) पृथग् दृष्ट्वा—आत्मनः कायं पृथग् दृष्ट्वा कायादात्मानं पृथग् दृष्ट्वा आत्मवित् तथा<sup>२</sup> त्यजति अशङ्कः । अङ्गं शरीरं धृणास्यदं कुर्वितं वस्त्रमिति सूत्रार्थः ॥८२॥ अथात्मशरीरभेदज्ञानमाह ।

नगरादिमें ज्ञानता है । किन्तु जिस अन्तरात्माको स्व-परका भेदविज्ञान उत्पन्न हो चुका है वह उस भान्तिको छोड़कर अपने निवासको सभी अवस्थाओंमें अपनेआपमें ही ज्ञानता है ॥८३॥

शरीरमें ‘यही आत्मा है’ इस प्रकारका ज्ञान शरीरपरम्पराका—संसारमें परिभ्रमण करते हुए बार-बार शरीरके महणका—कारण होता है । इसके विपरीत अपनेआपमें ही जो ‘यह शरीरसे पृथक्, अमूर्तिक और ज्ञानमय आत्मा है’ इस प्रकारका ज्ञान होता है, वह शरीरान्तरकी पृथक्ता—शरीरसम्बन्धसे रहित होकर मुकिकी प्राप्तिका कारण है ॥८३॥

यह आत्मा चूँकि स्वयं ही अपनेआपको संसार और मोक्षमें योजित करता है, इसीलिए स्पष्टतया वही स्वयं अपना शश्रु है और वही स्वयं अपना शुरु है ॥ विज्ञानार्थ—अभिप्राय यह है कि जब तक प्राणी शरीरादिसे अपनेको पृथक् नहीं समझता है, तब तक वह भ्रमवश उनको ही अपना मानता है और निरन्तर उन्हींमें सुध रहता है । तब इससे जो कर्मबन्ध होता है उससे फिर स्वयं संसारमें परिभ्रमण किया करता है । इस प्रकारसे वह स्वयं ही अपना शश्रु हो जाता है । इसके विपरीत यदि वह स्वयं अपनेको स्वभावतः उन शरीरादिसे भिन्न, अमूर्तिक और अनन्तज्ञान-सुखादिस्वरूप अनुभव करता है, तो वह संसारपरिभ्रमणसे छूट जाता है । इससे यह समझता चाहिए कि वस्तुतः प्राणी अपना स्वयं ही शश्रु और मित्र है—दूसरा कोई भी उसका शश्रु और भिन्न नहीं है ॥८४॥

आत्मस्वरूपका वेत्ता—अन्तरात्मा—आत्मासे शरीरको और शरीरसे आत्माको भिन्न अनुभव करके उसके सम्बन्धको धृणाके कारणमूत वस्त्रके समान छोड़ देता है—जिस प्रकार

१. All others except P read first line आत्मात्मना ( P नि ) भवं मोक्षमात्मनः कुरुते वलः ।

२. N L S T F J X Y R तथा for ततः । ३. All others except P त्यशङ्को उङ्गे for संयोगः ।

- 1595) अन्तर्दृष्टात्मनस्तत्त्वे वहिदृष्टा ततस्तनुम् ।  
उभयोभेदनिष्ठातो न स्खलत्यात्मनिश्चये ॥८३
- 1596) तक्षेजगदुन्मत्ते प्रागुत्पश्चात्मनिश्चयः ।  
पथाद्वीपुमिवाचेष्टे तददृष्टाभ्यासवासितः ॥८४
- 1597) शरीराद्विश्वात्मानं शृण्वन्नपि वदन्नपि ।  
तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः ॥८५

1595) अन्तर्दृष्टवा—उभयोभेदनिष्ठातो चतुरः आत्मनिश्चये न स्खलति न पततीति सूत्रार्थः ॥८३॥ अथेतदेवाहु ।

1596) तक्षेत—प्रागुत्पश्चात्मनिश्चयः जगदुन्मत्ते तक्षेत् वितर्क्षेत् । तददृष्टाभ्यासवासितं पश्चाल्लोष्टमिवाचेष्टम् । इति सूत्रार्थः ॥८४॥ अथ शरीराद्वात्मनो भेदमाहु ।

1597) शरीराद्वभिन्नम्—आत्मानं शरीराद्विल्लं शृण्वन्नपि श्रोत्रविषयीकुर्वन् । च पुनः । वदन्नपि । तस्मादपि तावन्न मुच्यते भेदाभ्यासनिष्ठितः यावन्नेति सूत्रार्थः ॥८५॥ अथात्मनि आत्मभावनामाहु ।

विवेकी सनुष्य मलिन वस्त्रके छोड़नेमें किसी प्रकार कलेशका अनुभव नहीं करता है, किन्तु आमन्दका ही अनुभव करता है; उसी प्रकार विवेकी अन्तरात्मा वस्त्रके ही समान ही भिन्न प्रतिभासित होनेवाले शरीरके सम्बन्धको छोड़कर निराकुल एवं अविनश्वर सुखका ही अनुभव करता है ॥८२॥

जो आत्मा और शरीर इन दोनोंके भेदमें निपुण है वह आत्माके स्वरूपको अन्तररंगमें देखकर तथा उससे भिन्न शरीरको वहिर्भूत देखकर आत्माके निश्चयमें स्खलित नहीं होता है—उससे विचलित न होकर उसीमें स्थिर रहता है ॥८३॥

पूर्वमें जिसे आत्माका निश्चय उत्पन्न हो चुका है उसे प्रारम्भकी अवस्थामें अग्राम् उन्मत्त ( पागल ) के समान अनेक प्रकारकी चेष्टा करनेवाला प्रतीत होता है । परन्तु पश्चात् जब उसे स्थिर अभ्यासके संस्कारके आत्माका दृढ़ निश्चय हो जाता है तब वह अग्राम्की छोड़के समान निश्चेष्ट देखता है—शरीरादिको आत्मासे भिन्न व चेष्टासे रहित ( जड़ ) समझता है ॥८४॥

प्रागी आत्माको शरीरसे भिन्न सुनता हुआ भी तथा वैसा कहता हुआ—व्याख्यान करता हुआ—भी जब तक उसकी भिन्नताके अभ्यासमें निष्ठात नहीं होता है तब वह उस शरीरके सम्बन्धसे क्लूट नहीं सकता है—उसे मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है ॥८५॥

१. M°कुलशं । २. All others except P M N T °मिवाषष्टे ।

1598 ) व्यतिरिक्तं तनोस्तद्वद्भाव्यमात्मानमात्मनि ।  
स्वप्ने इष्यं यथाभ्येति पुनर्निक्षेन संगतिम् ॥८६॥

1599 ) यतो ब्रतात्रते पुंसा॑ शुभाशुभनिबन्धने॑ ।  
तदभावः पुनर्मोक्षो मुमुक्षुस्ते ततस्त्यजेत् ॥८७॥

1600 ) प्रागसंयमपुत्सूज्य संयमैकरतो भवेत् ।  
ततोऽपि विरमेत् प्राप्य सम्यगात्मन्यवस्थितिम् ॥८८॥

1601 ) जातिलिङ्गमिति द्वन्द्वमङ्गमाश्रित्यै वर्तते ।  
अङ्गात्मकश्च संसारस्तस्मातद्वितयं त्यजेत् ॥८९॥

1598) व्यतिरिक्तं—तनोः शरीरात् व्यतिरिक्तं तदात्मनि आत्मानं भाव्यम् । अर्थं स्वप्ने॑ इष्यं यथा येन संगति भाभ्येति । इति सूक्ष्मार्थः ॥८६॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1599) यतो ब्रतात्रते—यतो ब्रतात्रते पुंसा॑ शुभाशुभनिबन्धने॑ । तदभावः पुनर्मोक्षो मुमुक्षुस्तेन कारणेन । तदभावः शुभाशुभभावः पुनः मोक्षः । मुमुक्षुस्तेन तत्त्यजेत् । इति सूक्ष्मार्थः ॥८७॥ अथ-संयमाभावमाह ।

1600) प्रागसंयमम्—असंयमं पृथक् उत्सूज्य त्यक्त्वा संयमैकरतो भवेत् । ततोऽपि विरमे असंयमात् । किं कृत्वा । सम्यगात्मव्यवस्थितिं प्राप्येति सूक्ष्मार्थः ॥८८॥ अथ शरीरस्वरूपमाह ।

1601) जातिलिङ्गम्—जातिलिङ्गमिति द्वन्द्वमङ्गमासाद्य प्राप्य वर्तते । अङ्गात्मकः शरीरात्मकः संसारस्तस्मात् कारणात् । लद्वितयम् वाङ्गसंसारद्वयं त्यजेत् । इति सूक्ष्मार्थः ॥८९॥ अङ्गस्य भेदमाह ।

आनंदाका अपनेमें अपने ही हारा शरीरसे भिन्न इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए कि जिस प्रकारसे यह आत्मा स्वप्नमें भी उस शरीरके साथ फिरसे संयोगको प्राप्त न हो सके—उसका उस शरीरसे सम्बन्ध ही सर्वथा छूट जाये ॥८६॥

चूंकि ब्रत और अब्रत ये दोनों क्रमसे जीवीके पुण्य और पापके कारण हैं तथा उन दोनोंका पुण्य और पापका—अभाव ही मोक्ष है; अतएव मोक्षाभिलाषी प्राणीको उन दोनोंका—ब्रत और अब्रतका—भी परित्याग करना चाहिए ॥८७॥

पहिले असंयम ( अब्रत-द्विसादि ) को छोड़कर संयममें असाधारण स्वरूपसे अनुरक्ष होना चाहिए । तत्पश्चात् फिर आत्मामें भलीभाँति अवस्थानको प्राप्त होकर संयमसे भी विरत हो जाना चाहिए—मुक्तिके बाधक स्वरूप उस संयमका भी परित्याग कर देना चाहिए ॥८८॥

जाति ( ब्राह्मणत्वादि ) और लिंग ( दिगम्बरत्व, इवेताम्बरत्व और भूसि व बल्कल धारण आदि; अथवा पुलिंग-खीलिंग आदि ) ये दोनों शरीरके आश्रित रहते हैं—आत्माके आश्रित नहीं हैं—तथा उस शरीरस्वरूप ही संसार है । इसलिए उन दोनोंको छोड़ देना

१. L S V R "ब्य आत्मात्मनात्मनि । २. J ब्रतीब्रते । ३. Q निवन्धनम् । ४. All others except P M N Q भावात् । ५. Q M N T J X Y "मासाच्च, F "मात्रव्य ।

1602) अभेदविद्वथा पञ्जोर्वेति चक्षुरचक्षुषि ।

अङ्गस्यैति<sup>१</sup> तथा वेति संयोगादृशमात्मनः ॥१०

1603) भेदविद्व यथा वेति पञ्जोश्चक्षुरचक्षुषि ।

ज्ञातात्मा<sup>२</sup> न तथा वेति ताँ<sup>३</sup> काये दृशमात्मनः ॥११

1604) मत्तोन्मत्तादिचेष्टासु यथाज्ञस्य<sup>४</sup> स्वविभ्रमः ।

तथा रक्षीस्ववस्थासु न क्वचित्स्वदर्शिनः ॥१२

1602) अभेदविद्वथा—अभेदविद्वचक्षुषि चक्षुर्वेति । यथा पञ्जोः पादहीनस्य । तथात्मनः संयोगाद् दृश्यं वेति । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ भेदभावं दर्शयति ।

1603) भेदविद्वन्—भेदवित् भेद वेत्तीति । पञ्जोः चरणहीनस्य । अचक्षुषि नेत्ररहिते । ज्ञातात्मा ज्ञातः आत्मा येन सः । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ तत्त्वदर्शिनः स्वरूपमाह ।

1604) मत्तोन्मत्तादि—यथाज्ञस्य मूर्खस्य मत्तोन्मत्तादिचेष्टासु स्वविभ्रमो भवति, तथा रक्षीस्ववस्थासु तत्त्वदर्शिनः क्वचिन्नेति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ देहदृष्टेमुक्ताभावमाह ।

चाहिए ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण, क्षणिय आदि जातिभेदोंका, विविध प्रकारके साधु आदि वेषोंका तथा पुरुष-बी आदिरूप लिंगभेदोंका सम्बन्ध केवल शरीरसे ही है; न कि अमूर्तिक आत्मासे । इसलिए जिन प्राणियोंका यह आपह रहता है कि अमुक जाति, अमुक वेष और अमुक लिंगसे ही मुक्ति प्राप्त होती है, अन्यसे नहीं; उनका यह आपह योग्य नहीं है । कारण यह कि शरीर और आत्माका स्वरूप सर्वथा भिन्न है । इसलिए संसारके कारणभूत एकमात्र उस शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली जाति एवं लिंगादिके अभिमानका परित्याग करना चाहिए ॥१०॥

जो अन्धेके कन्धेपर अवस्थित लङ्गड़ेको उससे भिन्न नहीं देखता है—दोनोंको अभिभ्रम समझता है—यह जिस प्रकार लङ्गड़ेकी आँखें अन्धेमें अन्धेकी आँख जानता है उसी प्रकार शरीरसे आत्माको पृथक् न जाननेवाला अज्ञानी प्राणी शरीरके ही संयोगसे आत्माकी दृष्टिको—ज्ञाता-इष्टा स्वरूपको—शरीरकी ही दृष्टि समझता है । परन्तु उन दोनोंमें भेदको देखनेवाला प्राणी त्रिस प्रकार लङ्गड़ेकी दृष्टिको अन्धमें नहीं जानता है उसी प्रकार जो विवेकी जीव आत्माकी शरीरसे भिन्न जानता है वह आत्माकी उस दृष्टिको—विवेकवुद्धिको—शरीरमें नहीं देखता है ॥१०—११॥

जिस प्रकार अज्ञानी जीवको केवल नशायुक्त और पागल आदिकी चेष्टाओंमें ही आत्माकी भ्रान्ति होती है उसी प्रकार आत्मदर्शी अन्तरात्माको सब अवस्थाओंमें-से किसी भी अवस्थामें आत्माकी भ्रान्ति नहीं होती है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि शरीरसे आत्मा-

१. All others except P अङ्गे ऽपि च । २. All others except P Q N T Y दृश्य<sup>१</sup>, Y द्रृस<sup>२</sup> । ३. J भेदविभ्रमी । ४. L S F R विज्ञातात्मा तथा, J ज्ञातात्मा न, Y ज्ञात्माभूतस्था । ५. L S F J R न काये, X Y तं काये । ६. All others except P Y दृश्यमात्मनः । ७. Q यथान्यस्य स्वं, Y यथाज्ञः स्वरूपः ।

- 1605 ) देहात्मदृग् न मुच्येत चेजागति पठत्यपि ।  
सुमोन्मत्तो इपि मुच्येत स्वस्मिन्नुत्पन्ननिश्चयः ॥१३
- 1606 ) आत्मानं सिद्धमाराध्य प्राप्नोत्यात्मापि सिद्धताम् ।  
वर्तिः प्रदीपमासाद्य यथाभ्येति प्रदीपताम् ॥१४
- 1607 ) आराध्यात्मानमेवात्मा परमात्मत्वमशुन्ते ।  
यथा भवति वृक्षः स्वं स्वेनोदृष्टव्य हुताशनः ॥१५
- 1608 ) इत्थं वाग्नोचरातीतं भावयन् परमेष्ठिनम् ।  
आसाद्यति तद्यस्मान्न भूयो विनिवर्तते ॥१६

1605) देहात्मदृग्—देहात्मदृग् शरीरमेवात्मदृग् न मुच्येत भवत्वन्वाल् चेजागति पठत्यपि । तहि स्वप्नोन्मत्तो इपि मुच्येत । स्वस्मिन् उत्पन्ननिश्चयः । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ पुनरपि एतदेवाह ।

1606) आत्मानम्—वर्तिः प्रदीपमासाद्य प्राप्याभ्येति गच्छति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथात्मनः परमात्मत्वमाह ।

1607) आराध्य—आत्मानमाराध्य परमात्मत्वमशुन्ते प्राप्नोति । यथा वृक्षः करिच्चत् स्वेन स्वमुद्घृष्य हुताशनो इत्यर्थवति । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1608) इत्थं वाक्—यस्माल् कारणादभूयो विनिवर्तते । इति सूत्रार्थः । शेषं सुगमम् ॥१६॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

को पृथक् न जाननेवाला बहिरात्मा केवल सोते समय, मूर्च्छित अवस्थामें, नशेकी अवस्थामें और पागलपन आदिकी अवस्थामें ही आन्तिकी कल्पना करता है तथा शेष सब ही अवस्थाओंको वह आन्तिसे रहित भालता है । परन्तु अन्तरात्माको किसी भी अवस्थामें आन्ति नहीं होती—वह सोते समय व मूर्च्छा आदिकी अवस्थामें भी आत्मज्ञानसे रहित नहीं होता, किन्तु सदा ही प्रबुद्ध रहता है ॥१३॥

शरीरमें आत्माको देखनेवाला बहिरात्मा चाहे जागता हो और चाहे पदता भी हो—आगमका अभ्यासी भी हो—तो भी वह मुरुक नहीं हो सकता है । परन्तु जिस अन्तरात्माको शरीरसे भिन्न अपनेमें ही आत्माका निश्चय उत्पन्न हो चुका है वह यदि सोया हुआ या उन्मादयुक्त भी हो तो भी वह मुक्तिको प्राप्त कर लेता है ॥१३॥

जीव सिद्धात्माकी आराधना करके स्वर्य अपनेको भी सिद्धात्मा बना लेता है, जिस प्रकार कि वस्त्री दीपकको पाकर स्वर्य भी दीपकस्वरूप बन जाती है ॥१४॥

जिस प्रकार वृक्ष ( अरणि ) अपना अपने साथ ही घर्षण करके अग्नि बन जाता है उसी प्रकार जीव अपना ही आराधन करके परमात्मा बन जाता है ॥१५॥

इस प्रकार वचनके अगोचर उस परमात्माका चिन्तन करनेवाला प्राणी उस पदको—

१. V सुसो मत्तो इपि । २. M N इत्थं ते वाक्यथातीतं ।

1609 ) अयत्नजनितं मन्य ज्ञानिनां परमं पदम् ।

चेदोत्मन्यात्मविज्ञानमात्रमेव समीहते ॥१७

1610 ) स्वप्नदृष्टविनाशे ऽपि यथात्मा न विनश्यति ।

जागरे ऽपि तथा आन्तेरुमयत्राविशेषतः ॥१८

1611 ) अतीन्द्रियमनिदेश्यममूर्त कल्पनाच्युतम् ।

चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥१९

1609) अयत्न—अहं मन्ये । ज्ञानिनां परमं तदम् अयत्नजनितं गवति । चेदोत्मनि ज्ञाने विज्ञानमात्रमेव रमीहते । इति सूत्रार्थः ॥१७॥। अथ स्वप्नजागरणयोरात्मविचारमाह ।

1610) स्वप्नबृष्ट—यथात्मा स्वप्ने\* दृष्टविनाशी न विनश्यते तथा जागरे ऽपि आन्तेरुमयत्रापि सुप्तजागरयोरविशेषतः । इति सूत्रार्थः ॥१८॥। अथात्मानमेव विचारयति ।

1611) अतीन्द्रियम्—विद्धि जानीहि । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥। अथ शुतवतो कर्ममोक्षनाभावमाह ।

शाईवतिक सौक्ष्मपदको—प्राप्त कर लेता है कि जिससे फिर कभी लौटना नहीं होता है—सदा बहाँपर ही अवस्थित रहता है ॥१६॥।

यदि अपने आत्मामें आत्माके केवल विवेकज्ञानमात्रकी ही अभिलाषा करता है तो ज्ञानी जीवोंका उत्कृष्टपद—परमात्मपद—बिना किसी प्रयत्नके ही उत्पन्न होता है, ऐसा मैं मानता हूँ । अभिप्राय यह है कि जिस जीवके भेदविज्ञान हो गया है—जो अन्तरात्मा बन चुका है—उसे परमात्मा बननेके लिए कुछ विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता है ॥१७॥।

जिस प्रकार स्वप्नमें देखे गये शरीरादिके विनाशमें आत्मा नष्ट नहीं होता है उसी प्रकार जागृत अवस्थामें भी शरीरादिके विनाशके देखे जानेपर भी आत्माका विनाश नहीं होता है, ऐसा समझना चाहिए । कारण यह कि आनितकी समानता दोनोंमें है—जिस प्रकार स्वप्नमें देखे गये शरीरादिका विनाश आनितसे परिपूर्ण आमा जाता है उसी प्रकार जागृत अवस्थामें देखे जानेवाले शरीरादिके विनाशको ( मरणादिको ) भी आनितपूर्ण ही समझना चाहिए ॥१८॥।

आत्मा स्वभावतः अतीन्द्रिय—चक्षुरादि इन्द्रियोंसे रहित और उसके द्वारा न देखा जानेवाला, वचनका अविषय ( अवाक्य ), रूप-रसादिसे रहित, विकल्पातीत ( निर्विकल्प ) और चेतन आनन्द स्वरूप है । उसको अपने द्वारा—इन्द्रियों आदिकी अपेक्षासे रहित—अपने भीतर ही ( न कि शरीरादिमें ) ग्रहण करना चाहिए ॥१९॥।

१. M N P जितात्मः, S J X Y R यदात्म । २. All others except P स्वप्ने दृष्टविनाशी ऽपि ।

- 1612) मुच्येताधीतशास्त्रो ऽपि नात्मेति कलयन् वपुः ।  
आत्मन्यात्मानमन्विष्यन् श्रुतशून्यो ऽपि मुच्यते ॥१००
- 1613) पराधीनसुखास्वादनिर्वेदविशदस्य ते ।  
आत्मैवामृततां गच्छन्नविच्छिन्नं तदिष्यते ॥१०१
- 1614) यदत्यन्तंसुखाद् ज्ञानं तद्दुःखेनापसर्पति ।  
दुःखैकज्ञरणस्तस्माद्योगी तत्त्वं निरूपयेत् ॥१०२
- 1615) निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीपं  
निरूपधिंभधिरुदं निर्भरानन्दकाग्राम् ।  
परममुनिमनीषोद्देश्यपर्यन्तंभूतं  
परिकल्य विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ॥१०३

1612) मुच्येत—अधीतशास्त्रो ऽप्यात्मा न मुच्येत इति । च वपुः । क्व मुच्येत । शब्दं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१००॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1613) पराधीन—निरन्तरं तत्सुखास्वाद इष्यते । इति सूत्रार्थः ॥१०१॥ अथ सुखज्ञानस्यापि दुःखसाध्यत्वमाह ।

1614) यदत्यन्तं—यत्सुखज्ञानं समभ्यस्तं तदज्ञानं दुःखेनापसर्पति मच्छति । तस्माद्दुःखैक-ज्ञरणो योगी तत्त्वं परात्मंतत्वं निरूपयेत् । इति सूत्रार्थः ॥१०२॥ आत्मनः स्वरूपमाह । मालिनी ।

1615) निखिल—आत्मानम् आत्मना परिकल्य जानीहि । कीदृशामात्मानम् । निखिलभुवन-शरीरको 'आत्मा' इस अकारसे जानेवाला जीव आगमका पारगामी भी हो तो भी वह मुक्त नहीं हो सकता है तथा इसके विपरीत आत्मामें आत्माको खोजनेवाला जीव विशेष आगमज्ञानसे रहित भी हो तो भी वह मुक्त हो जाता है ॥१०३॥

हे भव्य ! परपदार्थके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाले सुखके अनुभवनसे विरक्त होकर निर्मलताको प्राप्त हो जानेपर अमृतस्वरूपको जन्म-मरणसे अतीत होकर आत्मन्दग्ध अथस्थाको प्राप्त होनेवाला तेवा आत्मा ही वह अविच्छिन्न—निरन्तर रहनेवाला—सुख है, ऐसा तू निश्चय जान ॥१०४॥

अतिशय सुखसे जो ज्ञान होता है वह दुखके द्वारा नष्ट हो जाता है । इस कारण जो योगी एकमात्र दुखको ही शरण मानता है उसे आत्मस्वरूपका अबलोकन करना चाहिए । विशेषार्थ—अभिग्राय यह है कि सुखपूर्वक जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह दुखके उपस्थित होनेपर विलीन हो जाता है । इसलिए परीषद् एवं तपश्चरणादिसे उत्पन्न दुखमें स्वस्थ रहकर तत्त्वज्ञानको प्राप्त करना चाहिए । कारण कि दुखसे ही उत्पन्न होनेवाले उस तत्त्व-ज्ञानको नष्ट करनेवाला फिर कोई नहीं रहेगा ॥१०५॥

हे भव्य ! तू अपने द्वारा अपने उस विशुद्ध आत्माका ही निश्चय कर । जो कि समस्त

१. M L S F J Y R कल्यन् । २. L S F X Y R स्वमीक्षते । ३. All others except P.  
यदभ्यस्तं सुखा॑ । ४. T निरूपम । ५. J॑ काल्यं । ६. L॑ शोद्भूत, F J X Y R भेद । ७. Q पर्युद्ध ।

1616 ) 'इति साधारणं ध्येयं ध्यानयोर्धर्मशुक्लयोः १  
विशुद्धिः स्वामिभेदेन भेदः सूत्रे निरूपितः ॥१०४

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-  
विरचिते शुद्धोपयोगविचारप्रकरणम् ॥२९॥

तस्वीद्वासनैकप्रदीपं सर्वजगत्त्वे प्रकाशनैकप्रदीपम् । निर्भरानन्दकाहृत्यम् १ । "निरूपमधिरूढ-  
मारोहितम् । परममुनिमनीषोद्देवपर्यन्तभूतः" प्रकृष्टमनीच्छाप्रगटान्तभूतम् । इति सूत्रार्थः ॥१०३॥  
अथ ध्यानमुपसंहरति ।

1616) इति साधारण—इति साधारणं ध्येयं ध्यानार्हम् । क्योः । धर्मशुक्लयोः ध्यानयोः ।  
भेदः सूत्रनिरूपितः । केन १ । विशुद्धस्वामिभेदेनेति सूत्रार्थः ॥१०४॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहृपासा-तत्पुत्रसाहृष्टोडरन्तलुकमलदिवाकरसाहृष्टविदास-स्वथवणार्थं  
पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितं शुद्धोपयोगविचारप्रकरणम् ॥२९॥

दिव्यश्रीमनुप्राप्तः पाशाङ्कः पुष्ययोगसद्वावाद् । तत्पुत्रष्टोडरो जीयात् ऋषिदाससमन्वितः ।  
इति आशीर्वादः ॥ अथात्मनो ज्ञाने ऽपि योगिनो ध्येयन्तीत्याह ।

लोकगत पदार्थोंके स्वरूपको प्रगट दिखलानेके लिए अद्वितीय दीपक जैसा उपर्यु—( माया-  
जाल ) से रहित, अतिशय आनन्दकी अन्तिम सीमाको प्राप्त और उक्ष्य मुनिजल की चुदिके  
द्वारा प्रगट करनेके योग्य अन्तिम अवधिस्वरूप (जिसका पूर्णतया अनुभव उत्तम मुनिवृन्दको  
ही होता है ) है ॥१०३॥

इस प्रकार धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानोंका ध्येय-ध्यानके योग्य आत्मतत्त्व—समान  
ही है । उसमें स्वामियोंके भेदसे होनेवाली विशुद्धि विविध प्रकारकी होती है । इस स्वामि-  
भेदकी प्ररूपणा आगममें की गयी है ॥१०४॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें शुद्धोपयोग  
प्रकरण समाप्त हुआ ॥२९॥

## [ आज्ञाविचयः ]

1617 ) अथवा<sup>१</sup>—

अनादिविभ्रमान्मोहादनभ्यासादसद्ग्रहात् ।

ज्ञातभप्यात्मनस्तत्त्वं प्रचलत्येव<sup>२</sup> योगिनः ॥१॥

1618 ) अविद्यावासनावेशविशेषविवशात्मनाम् ।

योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेतः कुरुते स्थितिम् ॥२॥

1619 ) साक्षात्कर्तुमतः<sup>३</sup> किप्रं विश्वतत्त्वं यथास्थितम् ।

विशुद्धि चात्मनः वस्तुधर्मेऽस्थिरीभवेत् ॥३॥

1617) अनादि—योगिनो ज्ञातभप्यात्मनस्तत्त्वं प्रचलत्येव । असद्ग्रहात् कदाच्छ्रहात् । शेष सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथात्मनः स्वरूपमाह ।

1618) अविद्या—अविद्यावासनावेशविशेषविवशात्मनां मिथ्याज्ञानवासनाप्रवेशविशेषपरवशात्मनां स्वस्मिन् योज्यमानं चेतो न रक्ति कुरुते । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1619) साक्षात्कर्तुं—वादवन्निरन्तरं वस्तुधर्मेऽमनः<sup>४</sup> स्थिरीभवेत् । विश्वतत्त्वं साक्षात्कर्तुं किप्रं यथास्थितम् । च पुनः । आत्मनो विशुद्धि साक्षात्कर्तुम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथात्मस्वरूपमाह ।

आत्माका यह स्वरूप ज्ञात होकर भी योगीकी अनादिकालीन विपरीत बुद्धिसे, भोगसे, निरन्तर अभ्यास न रहनेसे और दुराप्रहके बश विच्छिन्न हो जाता है ॥१॥

जिनका अन्तःकरण मिथ्याज्ञानकी वासनाजनित दुराप्रहसे दूषित है उनका विश आत्माके विषयमें नियोजित किया जानेपर भी वहाँ अवस्थित नहीं रहता है ॥२॥

इसलिए जो तस्व जिस स्वरूपसे अवस्थित है उसका उस स्वरूप प्रत्यक्ष अनुभव करनेके लिए वथा आत्माकी विशुद्धिका भी अनुभव करनेके लिए निरन्तर वस्तुस्वरूपमें स्थिर रहना चाहिए ॥३॥

१. P अथवा । २. S J X R <sup>३</sup>दसेष्ट्रहात् । ३. S F J Y R प्रदललत्येव । ४. M N <sup>५</sup>समनः ।

५. J रतिम् । ६. L F Y कर्तुं मनः । ७. S धर्मो । ८. S स्थिरो भवेत्, L X स्थिरी भव ।

1620 ) अलस्यं लस्यसंबन्धात् स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।  
सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्वमञ्जसा ॥४

1621 ) आशापायविपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा ।  
विचयी यः पृथक् तद्दि धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥५

1622 ) वस्तुतत्वं स्वसिद्धान्तप्रसिद्धं यत्र विचिन्तयेत् ।  
सर्वशाशामियोगेन तदाशाविचयो मतः ॥६

1623 ) अनन्तगुणपर्यायसंयुतं २ तत् त्रयात्मकम् ।  
त्रिकालविषयं साक्षाजिनाशासिद्धमामनेत् ॥७

1620) अलक्षणम्—तत्त्वविदञ्जसा सुखेन तत्त्वं विचिन्तयेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ धर्मध्यानभेदमाह ।

1621) आशापाय—हि निवितम् । तद्धर्मध्यानं चतुर्विधं तथाशापायविपाकानां संस्थितः क्रमशो विचयो यः आशाविचयादिकः । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथाशाविचयं दर्शयति ।

1622) वस्तुतत्वं—स्वसिद्धान्तप्रसिद्धे वस्तुतत्वं यत्र विचिन्तयेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ त्रयस्य स्वरूपमाह ।

1623) अनन्त—तत्त्वितयात्मकं धर्मत्रयं जिनाशासिद्धम् आमनेत् । कीदृशम् । अनन्तगुणपर्यायसंयुतं साक्षात् त्रिकालविषयम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ उक्तं च ।

तत्त्वके ज्ञाता ओगीको लक्ष्यके सम्बन्धसे—जो इन्द्रियोंके द्वारा देखा जा सकता है उसके आश्रयसे—अलक्ष्य ( इन्द्रियोंके अगोचर परमात्मा ) का, स्थूलके आश्रयसे सूक्ष्मका तथा आलम्बन युक्त अर्थके आश्रयसे निरालम्बं तत्त्वका चिन्तन करना चाहिए ॥४॥

आशा, अपाय, विपाक और संस्थानका जो क्रमसे पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है उसे धर्मध्यान कहते हैं और वह इस व्येयके भेदसे क्रमसे चार प्रकारका है—आशाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ॥५॥ आशाविचय—

जिस ज्ञानमें अपने सिद्धान्त ( परमागम ) में प्रसिद्ध वस्तुत्वरूपका विचार सर्वज्ञदेवकी आशाके अनुसार किया जाता है, वह आशाविचय धर्मध्यान माना गया है ॥६॥

जिनभगवानकी आशासे सिद्ध वह वस्तुत्वरूप प्रत्यक्षमें अनन्त गुण और पर्यायोंसे सहित; उत्पाद, व्यय और धौड़यरूप तीन अवस्थाओंसे संयुक्त तथा तीनों कालोंको विषय करनेवाला है ॥७॥ कहा भी है—

1624 ) उक्तं च—

सूक्ष्मं जिनेन्द्रवचनं हेतुभिर्यज्ञं हन्यते ।

आज्ञासिद्धं च तद्वाराहं नान्यथावादिनो जिनाः ॥७\*१॥ इति ॥

1625 ) प्रमाणनयनिक्षेपैनिर्णीतं तत्त्वमञ्जसा ।

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं चिदचिलक्षणं स्मरेत् ॥८

1626 ) श्रीमत्सर्वजदेवोक्तं श्रुतज्ञानं च निर्मलम् ।

शब्दार्थंनिचितं चित्रैमत्र चिन्त्यमविष्टुतम् ॥९॥

श्रुतज्ञानं तद्यथा—

1624) सूक्ष्मं जिनेन्द्र—[ हेतुभिः कारणः यत् न हन्यते अन्यथाक्रियते । अन्यथावादिनः मृषावादिनः । इति सूक्ष्मार्थः ॥७\*१॥ ] अथ चिदचिलक्षणमाह ।

1625) प्रमाणनय—प्रमाणं, नयः स्वसंग्रहाद्याः, निक्षेपाः नामादयः, तैः । तत्त्वम् अज्ञसा सुखेन निर्मितं चिदचिलक्षणं स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं स्मरेत् । इति सूक्ष्मार्थः ॥८॥ अथ श्रुतज्ञानमाह ।

1626) श्रीमत्सर्वज्ञ—अविष्टुतमनुपद्रुतम् । येवं सुममम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥९॥ श्रुतज्ञानं तद्यथा ।

चूँकि जिनेन्द्रका वचन—उनके द्वारा उपदिष्ट वस्तुतत्त्व-सूक्ष्म हैं जो हेतुओं (युक्तियों) के द्वारा खण्डित नहीं किया जा सकता है अतएव उसे जिनेन्द्र भगवान्की आज्ञासे सिद्ध ही ग्रहण करना चाहिए । कारण यह कि वे जिनेन्द्र वस्तुतत्त्वरूपका अन्यथा उपदेश करनेवाले नहीं हैं ॥ विशेषार्थ—पदार्थोमि ऐसे बहुतसे हैं जिनका ज्ञान अतिशय सूक्ष्म होनेसे छद्मस्थं जीवोंको नहीं हो सकता है । अतएव उनका स्वरूप वीतराग सर्वज्ञके द्वारा जैसा निर्दिष्ट किया गया है, उसी प्रकारसे ग्रहण करके उनके विषयमें अद्वान करना चाहिए । कारण यह कि लोकमें अन्यथा उपदेशके दो ही कारण उपलब्ध होते हैं—विशिष्ट तत्त्वविषयक अंजान और कधारावेश । सो ये दोनों ही कारण जिनेन्द्रदेवके नहीं रहे हैं, क्योंकि, वे सर्वज्ञ और वीतराग हैं । इसीलिए उनके द्वारा तत्त्वका अन्यथा उपदेश सम्भव नहीं है । ऐसा विचार करते हुए जिनोपदिष्ट तत्त्वका चिन्तन करना, यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है ॥७\*१॥

जो स्थिति ( ध्रीव्य ), उत्पाद और व्ययरूप सामान्य लक्षणसे संयुक्त है, उसका नाम तत्त्व ( द्रव्य ) है । वह चेतन और अचेतनके भेदसे दो प्रकारका है । इनके विविध प्रकारके स्वरूपका निर्णय प्रमाण, नय और निष्क्रेपके आश्रयसे भलीभाँति करके इस आज्ञाविचय धर्मध्यानमें चिन्तन करना चाहिए ॥८॥

श्रीमान् सर्वज्ञ देवके द्वारा जो शब्द और अर्थसे परिपूर्ण अनेक प्रकारका निर्मल श्रुतज्ञान कहा गया है, उसका निर्वाधस्वरूपसे चिन्तन करना चाहिए ॥९॥

१. M N जिनोदितं तत्त्वं । २. P M इति । ३. J लिङ्गलम् । ४. J तत्त्वमवचिन्त्य । ५. Only in P M Y श्रुत etc. ।

1627) परिस्फुरति यश्रैतदिष्विद्विद्वाकदम्यकम् ।

द्रव्यभावभिदा॑ तद्वि॒ शब्दार्थज्योतिरप्रिमम् ॥१०॥

1628) अपारमतिगम्भीरं पुण्यतीर्थं पुरातनम् ।

पूर्वापरविरोधादिकलङ्घपरिवर्जितम् ॥११॥

1629) नयोपनयसंपातगहनं गणिभिः॑ स्तुतम् ।

‘विचित्रमतिचित्रार्थसंकीर्णं विश्वलोचनम् ॥१२॥

1630) अनेकपदविन्यासैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः ।

प्रसृतं॑ यदिभात्युच्चै॒ रत्नाकरं॒ हवापरः॑ ॥१३॥

1627) परिस्फुरति—शब्दार्थतेजोमयम् अप्रिमे प्रधानम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ पुनः श्रुतज्ञानमाह ।

1628) अपारम्—पुण्यतीर्थमिव पुण्यतीर्थम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पुनः श्रुतज्ञानमाह ।

1629) नयोपनय—भया नैरमाद्याः, उपनया व्यवहारादयः, तेषां संपातस्तेन गहनम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ दुष्टान्तेन श्रुतं स्तौति ।

1630) अनेकपद—तत् श्रुतस् उच्चैविभाति । अनेकपदविन्यासैः पदस्थापनैरङ्गपूर्वैराच्च-राङ्गादिभिः पूर्वैव एवं भावके भेदसे दो प्रकारका हैं । इसमें शब्दात्मक ( ग्रन्थ-रचनास्वरूप ) श्रुतको द्रव्यश्रुत और अर्थरूप श्रुतको भावश्रुत जानना चाहिए ॥१३॥ अथ पुनरपि श्रुतज्ञानमाह ।

उस श्रुतज्ञानका स्वरूप इस प्रकार है—जिसमें यह समस्त आचारादि विषयक विद्याओंका समूह प्रकाशमान होता है तथा जो शब्द और अर्थरूप ज्योतिसे सहित हैं वह श्रेष्ठ श्रुतज्ञान है और वह द्रव्य एवं भावके भेदसे दो प्रकारका है । इसमें शब्दात्मक ( ग्रन्थ-रचनास्वरूप ) श्रुतको द्रव्यश्रुत और अर्थरूप श्रुतको भावश्रुत जानना चाहिए ॥१०॥

पूर्वापरविरोधादि दोषोंसे रहित वह प्राचीन श्रुत पवित्र तीर्थस्वरूप है । जिस प्रकार नया व समुद्र आदि तीर्थ अपार—विस्तृत किलारोंसे सहित और अतिशय गहरे होते हैं उसी प्रकार यह श्रुत तीर्थ भी अपार—अपरिमित—और अथाह है ॥११॥

वह श्रुत द्रव्य-पर्यायार्थिक आदि नयों व सद्भूत-असद्भूत आदि उपनयोंसे दुर्भेद, शणधरोंके द्वारा प्रशंसित, अनेक रूपोंसे संयुक्त, अनेक प्रकारके पदार्थोंसे व्याप—उनका प्रतिपादक—और विद्वका लोकन जैसा है—जिन अदृश्य वस्तुओंका परिज्ञान प्राणियोंको नेत्रके द्वारा नहीं हो सकता है उनका परिज्ञान इस श्रुतज्ञानरूप नेत्रके द्वारा सब ही प्राणियोंको हुआ करता है ॥१२॥

अनेक पदोंकी रचनायुक्त बारह अंगों, चौदह पूर्वों और सामायिक-चतुर्विंशति आदि अनेक प्रकीर्णक ग्रन्थोंसे विस्तृत वह विशाल श्रुत दूसरे समुद्रके समान प्रतीत होता है ॥१३॥

१. Y द्रव्यभावा विद्या । २. S F संघात । ३. J गणिविश्रुतम् । ४. S J X Y R विचित्रमयि ।

५. J तद् for यद् । ६. M N 'परं ।

- 1631) मदमत्तोदत्खुदशासनाशीविषान्तकम् ।  
दुरन्तधनमिथ्यात्वध्वान्तधर्मशुमण्डलम् ॥१४
- 1632) यत्पवित्रं जगत्यस्मिन् विशुद्ध्यति जगत्त्रयी ।  
येन तद्वि सता सेव्यं श्रुतज्ञानं चतुर्विधम् ॥१५
- 1633) स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं तृतीयं योगिलोचनम् ।  
नयद्वयसमावेशात् सोन्दर्भादिव्यवस्थितम् ॥१६
- 1634) निःशेषनयनिक्षेपेनिकष्ट्रावसंनिभम् ।  
स्याद्वादपविनिधीतभग्नान्यमतभूधरम् ॥१७

1631) मदमत्तोदत्त—कीदूशं श्रुतम् । मदमत्तोदत्खुदशासनाशीविषान्तके भद्रमत्तव्यव्य-  
धनमिथ्यात्वध्वान्तधर्मशुमण्डलम् । पुनः कीदूशम् । दुरन्तधनमिथ्यात्वध्वान्तधर्मशुमण्डलं दुष्टान्तनिविद-  
मिथ्यात्वात्यन्धकारधर्मशुमण्डलं सूर्यमण्डलमिति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ श्रुतज्ञानचातुर्विध्यमाह ।

1632) यत्पवित्रं—तत् । हि निश्चिते । सता सेव्यम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥  
अथ तदेवाह ।

1633) स्थित्युत्पत्ति—नयद्वयसमावेशात् निश्चयव्यवहारापेक्षया निश्चयमयात् अनाद्यनन्त-  
व्यवहारापेक्षया सादिः सात्सः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ पुनः श्रुतज्ञानमेवाह ।

1634) निःशेष—कीदूशं श्रुतम् । निःशेषनयनिक्षेपेनिकष्ट्रावसंनिभं सर्वनयनिक्षेप एव  
निकष्ट्रावा कष्ट्रपद्मावस्त्वसंनिभं सदृशम् । स्याद्वाद एव पविः तस्य निपातेन भग्नः अन्यमतभूधरः  
तस्वमिति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ श्रुतज्ञानमेवाह ।

उक्त श्रुत अभिमानसे उन्मत्त अविनीति ऐसे तुच्छ मतरूप आशीविष सर्पोंका विनाशक  
होकर जिस सघन मिथ्यात्वरूप अन्धकारका नाश बड़ी कठिनतासे होता है उसको नष्ट  
करनेके लिए सूर्यके मण्डलके समान है ॥१४॥

जो इस लोकमें स्वयं पवित्र है तथा जिसके आश्रयसे तीनों लोकोंके प्राणी विशुद्ध होते  
हैं वह सत्पुरुषोंकि द्वारा आराधन करने वोग्य श्रुतज्ञान चार प्रकारका है—प्रथमानुशोग,  
करणानुशोग, द्रव्यानुशोग और चरणानुशोग ॥१५॥

योगियोंके तीसरे नेत्रके समान—बन्हें वस्तुस्वरूपको नेत्रके समान प्रगट दिखलानेवाला  
वह श्रुत उत्पाद, व्यय और ध्रीव्यसे संयुक्त होकर दोनों नयोंके प्रवेशसे सादि व अनादि  
व्यवस्थित हैं—इव्याधिकनयकी अपेक्षा वह उत्पाद-व्ययसे रहित होकर सदा अवस्थित रहने-  
वाला ( अनाद्यनन्त ) और पर्यायाधिक नयकी अपेक्षा उत्पाद व व्ययसे सहित होकर सादि-  
सान्त भी है ॥१६॥

स्याद्वादरूप वज्रके आघातसे अन्य मतरूप यर्थतोंको भर्ग करनेवाला वह श्रुतज्ञान  
समस्त नय और निश्चिपोंकि द्वारा वस्तुस्वरूपकी यथार्थताके परीक्षणके लिए शाणोपल (कसौटी)  
के समान है ॥१७॥

- 1635) इत्यादिगुणसंदर्भसुन्दरे भव्यशुद्धिदम् ।  
स्थायन्तु धीमतो<sup>१</sup> श्रेष्ठाः श्रुतज्ञानमहार्णवम् ॥१८
- 1636) यज्जन्मज्ज्वरघातकं त्रिभुवनाधीशैर्यदभ्यच्छिंतं  
यत्स्याद्वादमहाध्वजं नयशताकीर्णं च यत्प्रवते ।  
उत्पादस्थितिभङ्गलाभ्लवद्युता यस्मिन् पदार्थाः स्थिता—  
स्तच्छ्रीवीरमुखारविन्दगदितं<sup>२</sup> दद्याच्छ्रुतं वः शिवम् ॥१९
- 1637) बागदेव्याः कुलमन्दिरं बुधज्ञानानन्दैकचन्द्रोदयं  
मुक्तेर्मङ्गलमग्रिमं<sup>३</sup> शिवपथप्रस्थानदिव्यानकम् ।  
तत्त्वाभासकुरञ्जपञ्चवदनं भव्यान् विनेतुं क्षमं  
तच्छ्रीवाङ्गलिभिः पिवन्तु गुणिनः<sup>४</sup> सिद्धान्तवार्थेः पथः ॥२०

1635) इत्यादिगुण—इत्यादिगुणरज्ञानासधनं सद्यः शुद्धिदम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ श्रुताशीवदिमाह । शा० विक्रीडितम् ।

1636) यज्जन्म—वः युष्माकं शिवं कल्याणं श्रुतं देयात् । धीवीरमुखारविन्दगदितं यत् जन्मज्ज्वरघातकं त्रिभुवनाधीशैर्यत् अभ्यच्छिंतं स्याद्वादमहाध्वजम् । पुतः नयशताकीर्णं यत् प्रवते । यस्मिन् पदार्थाः स्थिताः । कांदूशाः । उत्पादस्थितिव्यययुताः । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ श्रुतमेवाह ।

1637) बागदेव्याः—हे गुणिनः सिद्धान्तवार्थेः समुद्रस्य पथः पिवन्तु श्रोत्राङ्गलिभिः । शिवपदप्रस्थाने<sup>५</sup> दिव्यानकं दिव्यवाच्यम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ पुनर्जिनव्यवस्थारूपमाह ।

इस प्रकार जो इनको आदि लेकर अन्य अनेक गुणोंके विस्तारसे सुन्दर होकर भव्य जीवोंके लिए निर्मलता प्रदान करनेवाला है उस श्रुतज्ञानरूप सद्वासमुद्रका श्रेष्ठ विद्वानोंको ध्यान करना चाहिए ॥१८॥

जो संसाररूप उवरका नाशक, तीनों लोकोंके स्वामित्वोंके द्वारा—इन्द्र, धरणीन्द्र और चक्रवर्तीके द्वारा—पूजित, स्याद्वादरूप सद्वाध्वजासे उपलक्षित और सौकड़ों नयभेदोंसे व्याप कहा जाता है, तथा जिसके भीतर इत्याद, धीव्य व ध्ययरूप लक्षणसे संयुक्त पदार्थ अवस्थित हैं; वह श्री धीर जिनेन्द्रके मुखरूप कमलके द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान आपके लिए मोक्षप्रदान करे ॥१९॥

जो आगमरूप समुद्रका जल सरस्वती देवीके कुलगृहके समान, विद्वज्ञनोंके आमन्दको वृद्धिगत करनेके लिए अनुपम चन्द्रोदय, मुक्तिका मुख्य मंगल, मोक्षमार्गमें प्रयाणकी सूखना करनेके लिए द्रिव्य भेदी जैसा, कुत्तररूप हरिणोंके नष्ट करनेके लिए सिंहसमान तथा भव्य जीवोंको विनयशील बनानेमें समर्थ है, उसका गुणीज्ञ कानरूप अंजुलियोंके द्वारा पान करें—बुद्धिमान जनोंको कानोंसे सुनकर उस परमागमका मनन करना चाहिए ॥२०॥

१. All others except P निर्भर for सुन्दरं । २. J धीमतो । ३. Y adds शिक्कलं after महार्णवम् ।  
४. M N Y<sup>६</sup> विन्दसचिवं । ५. J देयात् । ६. J शिवपदप्रस्थान । ७. N गुणिनः । ८. M सिद्धार्थः ।

- 1638 ) येनैते विदलन्ति॑ कादिगिरयस्तुष्यन्ति॒ 'वामीश्वरा  
भव्या येन विदन्ति॑ निर्वृतिपदं मुञ्चन्ति॑ मोहं बुधाः ।  
यद्वन्धुर्यमिनां॑ यदक्षयसुखस्याधारभूतं॑ नृणां॑  
तल्लोकलोयहुद्विरं॑ जिनवचः॑ पुष्यादिवेकथियम् ॥२१॥
- 1639 ) सर्वज्ञाज्ञां॑ पुरस्कृत्य॑ सम्यगथर्नि॑ विचिन्तयेत् ।  
यत्र॑ तद्व्यानमाम्नातमाज्ञारूपं॑ योगिपुञ्जवैः ॥२२॥  
इति॑ ज्ञानार्णवे॑ योगप्रदीपाधिकारे॑ आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-  
विरचिते॑ आज्ञाविच्यप्रकरणम् ॥२०॥

1638) येनैते—जिनवचः॑ विवेकथियं पुष्यात् । तल्लोकद्वयशुद्विदम्\* । येन एते निष्पतन्ति॑ वादिगिरयः । येन योगीश्वराः\* तुष्यन्ति॑ । येन भव्या निर्वृतिपदं मोक्षं विदन्ति॑ जानन्ति॑ । बुधा॑ मोहं मुञ्चन्ति॑ । यमिनां॑ त्रितीनां॑ यद्वन्धुः । यत्॑ अक्षयसुखस्याधारभूतं नृणां॑ \*लोकद्वयविशुद्विदम् । इति॑ सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1639) सर्वज्ञाज्ञां—सर्वज्ञानाम् आज्ञां पुरस्कृत्य॑ सम्यगथर्नि॑ विचिन्तयत्॑ यत्र॑ तद्व्यानमाम्नाते॑ कथितय् । योगिपुञ्जवैराज्ञारूपम् । इति॑ सूत्रार्थः ॥२२॥

इति॑ श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते॑ ज्ञानार्णवसूत्रे॑ योगप्रदीपाधिकारे॑ पण्डितमयविलासेन  
साहपासान्तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहक्षिणिदास-स्वधबणार्थे॑  
पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितम् आज्ञाविच्यप्रकरणम् ॥२०॥

पुराजनिष्ट सत्यार्थः॑ दानोदारैकस्वस्तरः । टोडरो धर्मशुद्धो [यो] ऋषिदासो जयत्यपि ॥  
आशीर्वदिः ॥ ॥ अथापायविच्यमाह ।

जिस जिनानगमके द्वारा वादीरूप पर्वत भंग किये जाते हैं, जिसका आश्रय पाकर योगीजन सन्तोषको प्राप्त होते हैं, जिसका सहारा पाकर भव्यजन मोक्षपदको प्राप्त करते हैं, जिसका आलम्बन लेकर विद्वान् मोहका परित्याग करते हैं, जो संयमी उमोका बन्धु है—उनका कल्याण करनेवाला है—तथा जो प्राणियोंके अविनश्वर मोक्षसुखका आधारस्वरूप है; ऐसा वह दोनों लोकोंमें शुद्धि प्रदान करनेवाला जिनानगम विवेकरूप लक्ष्मीको पुष्ट करे ॥२१॥

जिस ध्यानमें सर्वज्ञकी आज्ञाको आगे करके—तत्पूर्वक—समीचीन पदार्थोंका विचार किया जाता है, उसे श्रेष्ठ योगियोंने आज्ञाविच्य नामका धर्मध्यान कहा है ॥२२॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योग प्रदीपाधिकारमें आज्ञाविच्य धर्मध्यानका प्रकरण समाप्त हुआ ॥२०॥

## [ अपायविचयः ]

- 1640 ) अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः ।  
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः ॥१॥
- 1641 ) श्रीमत्सर्वजनिदिष्टं मार्गं रत्नत्रयात्मकम् ।  
अनासाथ भवारण्ये चिरं नष्टाः शरीरिणः ॥२॥
- 1642 ) निमग्नोन्ममनतां<sup>१</sup> शश्वद्जनित<sup>२</sup> भवसागरे ।  
वराकाः प्राणिनो प्राप्य यानपात्रं जिनेश्वरम् ॥३॥

1640) अपायविचय—मनीषिणः अपायविचयं ध्यानं तद् वदन्ति । अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः पण्डितैरिति सूत्रार्थः ॥१॥ तद्यथा दर्शयति ।

1641) श्रीमत्सर्वजनिदिष्ट—शरीरिणो जीवाः रत्नत्रयात्मकं मार्गमनासाथ अप्राप्य चिरं नष्ट भवारण्ये । कीदृशम् । श्रीमत्सर्वजनिदिष्टम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1642) निमग्नोन्ममनतां—भवसागरे मज्जनोन्मज्जनं<sup>३</sup> शश्वद् भजन्ति । वराकाः प्राणिनो जिनेश्वरं यानपात्रम् अप्राप्य । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ सम्याज्ञानस्वरूपमाह ।

जिस ध्यानमें विद्वान् जल उपायपूर्वक—हेतुके अन्वेषणके साथ—कर्मोंके विनाशका विचार करते हैं उसे बुद्धिमान् गणधरादि अपायविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥१॥

इस अपायविचयमें योगी इस प्रकारसे विचार करता है—

श्रीमान् सर्वज्ञदेवने जिस रत्नत्रय स्वरूप सोऽह मार्गका निर्देश किया है उसको न पाकर प्राणियोंने चिरकालसे इस संसाररूप बनमें परिभ्रमण किया है ॥२॥

ये बेचारे संसारी प्राणी जिनेन्द्रदेवरूप जहाजको न पाकर निरन्तर संसाररूप समुद्रके भीतर छूपते और ऊपर आते हैं—जन्म-भरणके दुखको सह रहे हैं ॥३॥

१. M adds तद्यथा । २. All others except P मज्जनोन्मज्जनं । ३. M वदन्ति, N फृन्ति for भजन्ति ।

- 1643 ) महाव्यसनसप्तार्चिःप्रदीपे जन्मकानने ।  
अमताथ मया प्राप्तं सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटम् ॥४
- 1644 ) अद्यापि यदि निर्वेदविवेकागेन्द्रमस्तकात् ।  
स्वलेत्तदैव जन्मान्धकूपपातो ऽनिवारितः ॥५
- 1645 ) अनादिभ्रमसंभूतं कथं निर्धार्यते<sup>\*</sup> मया ।  
मिथ्यात्वाविरतिप्रायं कर्मबन्धनिवन्धनम् ॥६
- 1646 ) सो ऽहं सिद्धः प्रसिद्धात्मा दृष्ट्वोधविमलेक्षणः ।  
जन्मपङ्क्ते चिरं खिलः स्वरूपमानः स्वकर्मणा ॥७

1643) महाव्यसन—अद्य सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटं मया प्राप्तं अमता । वा सति । महाव्यसनसप्तार्चिःप्रदीपे महाकृष्णगिन्नप्रदीपे । जन्मकानने । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनरपि तदेवाह ।

1644) अद्यापि—अद्यापि यदि निर्वेदविवेकागेन्द्रमस्तकात् निर्वेदविवेकपर्वतमस्तकात् । तदैव स्वलेत्तदैव जन्मान्धकूपपातो निवारितः । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ कर्मबन्धनस्य दुनिवार्यत्वमाह ।

1645) अनादि—कर्मबन्धनिवन्धने मया कथं निवार्यते<sup>\*</sup> । कीदृशः कर्मबन्धनिवन्धनम् । अनादिभ्रमसंभूतम् अनादिमिथ्याज्ञानोत्पन्नम् । पुनः मिथ्यात्वाविरतिप्रायम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ पुनः कर्मबन्धस्वरूपमाह ।

1646) सो ऽहं सिद्धः—सो ऽहं शुद्धः<sup>†</sup> प्रसिद्धात्मा । पुनः कीदृशः । दृष्ट्वोधविमलेक्षणः सम्यग्दर्शीनज्ञानविमलमेत्रः । पुनः कीदृशः । जन्मपङ्क्ते चिरं खिलः । च पुनः । स्वकर्मणा खण्ड्यमानः । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

भयानक दुखरूप अग्निसे अतिशय जलनेवाले संसाररूप वनमें परिभ्रमण करते हुए मैंने आज सम्यग्ज्ञानरूप समुद्रके किनारेको प्राप्त कर लिया है—अब मुझे वह विवेकबुद्धि प्राप्त हो गयी है जिसके द्वारा मैं उस संसार परिभ्रमणके सम्पादको शान्त कर सकता हूँ ॥४॥

अब भी यदि मैं वैराग्य व विवेकरूप महापर्वतके शिखरसे गिरता हूँ तो फिर संसाररूप अन्धकारयुक्त कुर्षके भीतर मेरा गिरना अनिवार्य ही है—उसे कोई रोक नहीं सकता है ॥५॥

कर्मबन्धके कारणभूत जो मिथ्यात्व व असर्वम आदि हैं वे अनादिकालकी अज्ञानता ( विपरीत बुद्धि ) से उत्पन्न हुए हैं । उनका निवारण मैं किस प्रकारसे कर सकता हूँ ? ॥६॥

जो स्वरूप सिद्ध परमात्माका है वही प्रसिद्ध स्वरूप मेरा है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप निर्मल दो नेत्रोंका धारक मैं अपने कर्मसे खण्डित होकर—उसके वशीभूत होता हुआ—संसाररूप कीचड़में फँसकर शीर्षकालसे खेदको प्राप्त हुआ हूँ ॥७॥

१. T विवेकार्थेन्द्र<sup>‡</sup> । २. S J X Y R निवार्यते । ३. M N T शुद्धः । ४. M N खिलमानः ।

- 1647) एकतः कार्मणं<sup>१</sup> सै-यन्नात्रेष्वत्ततो इन्द्रः ।  
स्थातव्यमैग्रमत्तेन यथा स्मित्तरिसंकटे ॥८
- 1648) निर्धूय कर्मसंधातं प्रबलध्यानवह्निना ।  
शोषयिष्यामि कदात्मानं<sup>२</sup> धातुस्थमिव काश्चनम् ॥९
- 1649) किमुपेयो ममात्माये किं वा विज्ञानदर्शने ।  
चरणं वृषभवर्गीय त्रिभिः साधे स एव वा ॥१०
- 1650) को इहं ममाक्षवः कस्मात् कर्थं बन्धः कव निर्जरा ।  
का मुक्तिः किं विमुक्तस्य स्वरूपं च निश्चयते ॥११

1647) एकतः कार्मण—एकतः कार्मण सैन्यम् । ततो इन्यतो इहमेकः । अप्रमत्तेनास्मित्तरिसंकटे यथा स्थातव्यम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथात्मशोधनमाह ।

1648) निर्धूय—अहं कदा स्वं शोषयिष्यामि । केत । प्रबलध्यानवह्निना । किं कृत्वा । कर्मसंधातं निर्धूय । धातुस्थं काश्चनम् इव । यथा कदिच्च वह्निना धातुस्थं काश्चनं शोषयति । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ रत्नव्रयस्वरूपमाह ।

1649) किमुपेयः—विज्ञानदर्शने वा ज्ञानदर्शने वा । आचरणं चारित्रम् अपवर्गीय मोक्षाय । स एव आत्मा त्रिभिः ज्ञानदर्शनचारित्रैः इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ द्वारमाह ।

1650) को इहं मम—को इहम् । ममाक्षवः कस्मात् । कर्थं बन्धः । निर्जरा कव । का मुक्तिः । विमुक्तस्य किं स्वरूपं च । निश्चयते । इति सूत्रार्थः ॥११॥ पुनर्द्वारमाह ।

एक ओर तो कर्मकी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला हूँ । ऐसी अवस्थामें सुझे शब्दके द्वारा निर्मित इस संकटके समयमें प्रसादको छोड़कर—निरन्तर साधनाम—रहना चाहिए ॥८॥

जिस प्रकार सुवर्णपाठाणमें अवस्थित सुवर्णको प्रबल अग्निके संयोगसे उसकी कीट और कालिकाको पृथक् करके शुद्ध कर लिया जाता है उसी प्रकार मैं प्रबल ध्यानरूप अग्निके संयोगसे कर्मसमूहको पृथक् करके अपनेको कव शुद्ध कर सकूँगा ? ॥९॥

मुक्तिप्राप्तिके लिए मुझे क्या अपने इस आत्माको सिद्ध करना है; अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रस्वरूप रत्नव्रयको सिद्ध करना है; अथवा इन तीनोंके साथ उसी आत्माको सिद्ध करना है ? ॥१०॥

मैं कौन हूँ, मेरे कर्मोंका आगमन किस निर्मितसे होता है, उनका आत्माके साथ बन्ध कैसे होता है, निर्जरा किस अवस्थामें होती है, मुक्ति क्या है, और मुक्त जीवका स्वरूप क्या कहा जाता है ? ॥११॥

१. S X R कर्मणं । २. Y स्थातव्यं नाप्रवत्तेन । ३. All others except P कदा स्वं शोषयिष्यामि । ४. N च for वा । ५. N किमु मुक्तस्य ।

1651 ) जन्मनः प्रतिपक्षस्य मोक्षस्थात्यन्तिकं सुखम् ।  
अव्याबाधं स्वभावोत्थं केनोपायेन लभ्यते ॥१२॥

1652 ) मर्येवं विदिते साक्षाद्विज्ञातं भुवनक्रयम् ।  
यतोऽहमेव सर्वज्ञः सर्वदर्शी निरञ्जनः ॥१३॥

1653 ) उक्तं च—

एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावाः एकभावस्वभावाः ।  
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः ॥१३॥१॥ इति

1651) जन्मनः—मोक्षस्य सुखं केनोपायेन लभ्यते । कीदृशम् । आत्यन्तिकम् । कीदृश-  
मोक्षस्य । जन्मनः प्रतिपक्षस्य प्रतिकूलक्रय । कीदृशों सुखम् । अव्याबाधं निराबाधम् । पुनः कीदृशम् ।  
स्वभावोत्थं स्वभावाज्जातम् । इत्यर्थः ॥१२॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1652) मर्येव—मर्येव आत्मन्येव साक्षात् विदिते जाते भुवनक्रयं विज्ञातम् । यतः कारणा-  
दहमेव सर्वज्ञः, सर्वदर्शी, निरञ्जनः । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

1653) एको भावः—एको भावः पदार्थः सर्वभावः सर्वपदार्थस्वभावो भवति । एको भावः  
पदार्थः सत्त्वतः परमार्थतः येन बुद्धो ज्ञातः, सर्वे भावाः पदार्थः तत्त्वतः तेन बुद्धा ज्ञाताः । यथा  
एको घटः सर्वधृष्टस्वभावः । सर्वधृष्टस्वभावः एको घटः । येन परमार्थतः एको घटो ज्ञातः कम्बुग्री-  
वादिमस्वासाधारणलक्षणेन तथा तेनैव तत्त्वतः सर्वे घटाः तेनैव लक्षणेन ज्ञाताः । इत्याद्यास्ता  
विस्तरः । प्रकृतमेवोच्यते । इति सूत्रार्थः ॥१३॥१॥ अथ स्वस्मिन् स्वज्ञानाभावमाह ।

संसारके प्रतिपक्षमूल मोक्षका जो शाश्वतिक, निर्वाध और स्वाभाविक सुख है वह  
किस उपायसे प्राप्त हो सकता है ? ॥१२॥

मेरे अपने आपको जान लेने पर मैंने साक्षात् तीनों ही लोकोंको जान लिया । कारण  
यह कि मैं स्वयं ही तो सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा और निर्लैर—कर्म-कालिमासे रहित—हूँ ॥१३॥

कहा भी है—

एक पदार्थ सब पदार्थस्वरूप है तथा सब पदार्थ एक पदार्थस्वरूप हैं । इसलिए जिसने  
वस्तुतः एक पदार्थको जान लिया है उसने यथार्थमें सब ही पदार्थोंको जान लिया है ।  
शिशोपार्थ-अभिप्राय यह है कि आत्मा अनन्त ज्ञानदर्शनस्वरूप है । वह जब इस आत्मस्वरूपमें  
अवस्थित होता है तब लोकके सब ही पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं । इस अपेक्षा से एक  
ही आत्मा सबे पदार्थस्वरूप और सब पदार्थ एक आत्मस्वरूप कहे जाते हैं । इसीलिए जिस  
भूत्य-जीवने एकमात्र अपने आपको यथार्थ रूपसे जान लिया उसने वस्तुतः सब ही पदार्थों-  
को जान लिया है, वह कहना सर्वथा योग्य है ॥१३॥१॥

1654) यावद्यावच संबन्धो मम स्याद्ग्राहवस्तुभिः ।  
तावत्तावत्स्वर्यं स्वस्मिन् स्थितिः स्वप्ने ऽपि दुर्लभा॑ ॥१४

1655) तथैवैते ऽनुभूयन्ते पदार्थीः सूत्रसूचिताः ।  
अतो मार्गे ज्ञ लग्नो ऽहं प्राप्त एव शिवास्पदम् ॥१५

1656) इत्युपायै विनिश्चेयो मार्गाच्छ्वलक्षणः ।  
कर्मणां च तथौषाय उपायोः स्वात्मसिद्धये ॥१६

1657) इति नयशतसीमौलम्बिन् निर्धूतदोषं  
च्युतसकलकलङ्कौः कीर्तिर्ह आपदेवद् ।

1654) यावद्यावच्य—स्वस्मिन्नात्मनि स्वप्ने ऽपि स्थितिः दुर्बिटा॑ । शेषं सुगम्भूत् । इति  
सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पुनविशेषमाह ।

1655) तथैवैते—तेष्वेदानुभूयन्ते ज्ञायन्ते । केचन इतरे पदार्थीः । कीदृशाः । सूत्रसूचिताः ।  
अतः कारणात् मार्गे अहं लग्नः । शिवास्पदं भोक्तं प्राप्त एव । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथोपसंहरति ।

1656) इत्युपायै—इति अमुना प्रकारेण उपायो॑ विनिश्चेयो ज्ञातव्यः । कीदृशमार्गात् ।  
भोक्तमार्गात् । यावलक्षणः । च पुनः । \*यथोपायकर्मणाय । च पुनः । उपायः आत्मसिद्धये । इति  
सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ व्यानमुपसंहरति । मालिनी छन्दः ।

1657) इति नय—च्युतसकलकलङ्कौः नष्टसर्वकलङ्कौः । लक्षणया तीर्थकरैः । एतद् व्यानं  
कीर्तितम् । इति अमुना प्रकारेण । नयानां शतं नयशतं तस्य लीलाम् आलम्बिनः । निर्धूता दोषा

जब-जब तक मेरा सम्बन्ध बाहरी वस्तुओंके साथ है—जब तक मैं परपदार्थोंको  
अपना समझता रहूँगा—तब तब तक मेरा आत्मस्वरूपमें अवस्थान स्वप्नमें भी नहीं हो  
सकता है ॥१४॥

पदार्थोंका स्वरूप जैसा परमागममें कहा गया है, मैं उनका अनुभव उसी स्वरूपसे  
कर रहा हूँ । इसीलिए मैं भोक्तमार्गमें प्रवृत्त हो चुका हूँ, अब मुझे भोक्तपदं प्राप्त हुआ-सा  
प्रतीत होता है ॥१५॥

इन उपायोंके द्वारा कर्मोंके अपाय (विनाश) का तथा भोक्तमार्गसे च्युत न होने  
देनेवाले अपने आत्मस्वरूपकी सिद्धिके उपायका भी विश्वय करना चाहिए ॥१६॥

इस प्रकार कर्म-कलंकसे रहित जिनेन्द्रदेशके द्वारा सेकड़ों नवोंका आलम्बन लेनेवाले  
एवं दोषोंके विघातक उस अपायविच्य धर्मध्यानका स्वरूप कहा गया है । जो योगी प्रमाद-

१. All others except P M दुर्बिटा॑ । २. All others except P इत्युपायो॑ । ३. J यथा॑ ।

४. All others except P उपायपत्रात्म॑ । ५. M N J लीलालम्बिन्, T शीलालम्बिन् ।

अविरतमनुपूर्वे ज्यायतो अस्तप्रमादं  
स्फुरति हृदि विशुद्धज्ञानभास्वल्पकाशः ॥१७

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-  
विरचिते अपायविचयप्रकरणम् ॥३१॥

यस्य तत्त्वा । अविरतं निरन्तरम् एतद् ज्यानम् अनुपूर्वं प्राप्तं कथितम् । अस्तप्रमादं ज्यायतो हृदि विशुद्धज्ञानभास्वल्पकाशः स्फुरति । इति सूत्रार्थः ॥१७॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनव्यविलासेन  
साहस्रासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहृरिखिदास-स्वशब्दणार्थं  
पण्डितजिनदासोद्धमेन कारापितम् अपायविचयप्रकरणम् ॥३१॥

समयविदितभावः कर्मकान्तारदादः सुकृतविहृतपाश्वेधस्तमिध्यान्तिवाश्वर्णः । जिनभृति-  
परिवीतष्टोडरो ज्ञाननीतः जर्थति विगतविघ्नः साहस्रदेविदासः ॥ इति आशीर्वादः ॥ अथ विपाक-  
विचयमाह ।

को छोड़कर विष्णिपूर्वक निरन्तर उसका चिन्तन करता है उसके हृदयमें निर्भूल ज्ञानरूप  
सूर्यका प्रकाश प्रगट होता है ॥१७॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
अपायविचय प्रकरण समाप्त हुआ ॥३१॥

## [ विपाकविचयः ]

1658 ) स विपाक इति शेषो यः स्वकर्मफलोदयः ।

प्रतिक्षणे समुद्भूतविचक्ररूपः शरीरिणाम् ॥१

1659 ) कर्मजातं फलं दसे विचित्रमिह देहिनाम् ।

आसाद्य नियर्तं नाम द्रव्यादिकचतुष्टयम् ॥२॥ तथार्थः —

1660 ) स्वक्षश्वयासनयानवस्त्रवनितावादित्रमित्राङ्गजान्

कर्पूरागुरुचन्द्रचन्दनवनक्रीडाद्रिसौधध्वजान् ।

1658) स विपाकः—शरीरिणां जीवानां चित्ररूपः नानाप्रकारः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1659) कर्मजातं—नामेति कोभलामन्त्रणे । द्रव्यादिकचतुष्टयम् आसाद्य प्राप्य । नियर्त निश्चितम् । इह जगति देहिनां प्राणिनां विचित्रं कर्मजातं फलं दत्ते । इति सूत्रार्थः ॥२॥ तथार्था दर्शयति । शार्दूलविक्रीडितम् ।

1660) स्वक्षश्वया—अङ्गिनः प्राणिनः वस्तुनिचयानुपगम्य प्राप्य सौख्यं श्रयन्ति आश्रयन्ति । कान् वस्तुनिचयान् । स्वक्षश्वयासनवस्त्रवनितावादित्रमित्राङ्गजान् स्वक् पुण्यमाला, शश्या पर्यंच्छादि, आसनं सिहासनादि, यानं बाहनं, वस्त्रं पट्ठकूलादि, वनिताः स्त्रियः, वादित्रं धनतत्त्विततादि, मित्रं श्रेष्ठपात्रम्, अङ्गजाः पुत्राः, लेखां समाहारः । तान् उपगम्य प्राप्य । कर्पूरागुरुचन्द्रचन्दनवनक्रीडाद्रिसौधध्वजान् । कर्पूरागुरु प्रसिद्धो । चन्द्रः अत्यन्तश्वेतकर्पूरः । चन्दनवनक्रीडा चन्दनादिवनविहारः ।

प्राणियोंके प्रतिसमयमें जो अनेक प्रकारका अपने कर्मोंके फलका उदय उत्पन्न होता है उसे विपाक जानना चाहिए । अभिप्राय यह है कि धूर्वें वैचि गथे ज्ञानावरणादि कर्म उदयको आश्रय पाकर जो प्रतिसमयमें ज्ञानादिके आवरण करने आदिरूप फल दिया करते हैं उसका नाम विपाक है ॥२॥

संसारमें प्राणियोंके द्वारा बैक्षा गया कर्मोंका समूह द्रव्य, शेष, काल और भाव इन चारका आश्रय पाकर नियमसे सुख-दुःख आदिके उत्पादनरूप अनेक प्रकारके फलको दिया करता है ॥२॥

जैसे द्रव्यका आश्रय पाकर—माला, शश्या ( पलंग व गाढ़ी आदि ), आसन, रथ आदि सवारी, चंडी, झी, बीणा आदि वादित्र, मित्र, पुत्र, कपूर, अगुह, चन्द्र, चन्दन, चन्द-  
१. J सर्ण । २. T सर्ण । ३. J तद्द्रव्यादिकचतुष्टयः । ४. P M तथाया । ५. M °रागह ।

मातङ्गांश्च विहङ्गचामरपुरीभक्षाजपानानि वा  
छत्रादीनुपलभ्ये द्रव्यनिवान् सौख्यं श्रयन्ते जङ्गिनः ॥

1661 ) क्षेत्राणि रमणीयानि सर्वं सुखदानि च ।  
कामभोगस्पदान्युच्यैः प्राप्य सौख्यं निषेव्यते ॥४

1662 ) प्रासादिक्षुरयन्त्रयन्त्रयन्त्रयालानलोप्रग्रहान्  
शीर्णिङ्गे कुमिकीटकण्ठकरजः शारास्थिपङ्कोपलान् ।  
काराशृङ्गलश्चुकाण्डनिगडक्रूरारिवैरास्तथा  
द्रव्याण्याप्य भजन्ति दुःखमस्तिलं जीवा भवाध्वस्थिताः ॥५

अद्ययो भूवराः सुखदायित्वात् । सौधा आवासाः । ध्वजाः केत्वादयः तेषां समाहारः । तामुपगम्य  
च । मातङ्गांश्च विहङ्गचामरपुरीभक्षाजपानानि च । मातङ्गा हस्तिनः, अद्वा: प्रसिद्धाः, विहङ्गाः  
शुकादयः पद्धिणः, चामराः प्रसिद्धाः, पुरी पद्मनादिक्षा रत्नयोनिभूता, भक्ष्यं मिष्ठानादि, अन्नं  
शाल्यादि, पानं शर्करादि कृतम् । तेषां समाहारः । तामुपगम्य । छत्रादीन्युपगम्य<sup>१</sup> । इति  
सूत्रार्थः ॥३॥ पुनरेतदेवाह ।

1661) क्षेत्राणि—रमणीयानि क्षेत्राणि प्राप्य सौख्यं निषेव्यते । कीदृशानि । सर्वं सुखदानि ।  
चकारात् पुनः । कानि । कामभोगस्पदानि । उच्चैर्यंथा स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ दुःख-  
कारणान्याह । शार्ङ्गलविक्रीडितम् ।

1662) प्रासादि—द्रव्याण्याप्य प्राप्य भवाध्वस्थिता जीवाः अस्ति समस्ते दुःखं भजन्ति ।  
कानि । प्रासो निःकोषाः, असि: खङ्गः, क्षुरः क्षुरप्रः, यन्त्रं तेलादिनिष्कासलकाण्ठं, पश्चगगरं सर्पविषं,  
व्यालः सर्पविषेषः, अनलः अग्निः, उग्रग्रहाः केत्वादयः, ताम् आप्य । शीर्णिङ्गी वृद्धशरीरः ।

कीड़ा, पर्वत, प्रासाद, ध्वजा, हाथी, तोता आदि पश्ची, चैत्र, नगरी, भौजन, अन्न-पान और  
छत्र आदि अभीष्ट द्रव्यसमूहोंको पाकर प्राणी सुखका अनुभव किया करते हैं—इत्यादि अनेक  
प्रकारकी अभीष्ट वस्तुओंके आश्रयसे वे अपने पूर्वकृत कर्मके फल ( सुख ) को भोगते हैं ॥३॥

इसी प्रकारसे वे सब अनुओंके सुखको प्रदान करनेवाले और काम-भोगोंके स्थानभूत  
अतिशय रमणीय क्षेत्रोंको पाकर सुखका उपभोग करते हैं ॥४॥

द्रव्य व क्षेत्रके आश्रित दुःख—भाला, तलबार, छुरा, शूली आदि यन्त्र, सर्प, विष,  
हाथी, अग्नि, तीव्र शनि आदि ग्रह, सङ्खेभाले प्राणी, शुद्र लट आदि कीड़े, अन्य कीड़े, कौटि,

१. N L मातङ्गांश्च । २. M N L T F J "नुपगम्य, P S न्युषलम्ब । ३. Y सुखदायिनः । ४. N प्राप्य । ५. M N शीर्णिङ्गीकृतकीट, T शीर्णिङ्गः कुमि, F शीर्णिगः कुमि । ६. X चौरास्तथा ।  
७. M N भवाध्वस्थिताः ।

1663) निसर्गेणातिरौद्रेण भयक्लेशास्पदानि च ।

हुःत्रिवेदानुशस्त्रम् त्रिवेदैः शीतोष्णरहितः जन्तवः ॥६॥

1664) अरिष्टोत्पातनिर्मुको वातवर्षीतिवर्जितः ।

शीतोष्णरहितः कालः स्यात्सुखाय शरीरिणाम् ॥७॥

1665) वर्षीतपतुषाराढ्य ईत्युत्पातादिसंकुलः ।

कालः सदैव सत्त्वानां हुःखानलनिवन्धनम् ॥८॥

कृमिकीटकण्ठकरजःकारास्थिपङ्कोपलान् उपलः पाषाणप्रिशेषः । काराशुद्धलशङ्कुकाण्डनिगड़-  
कूरारिवैरान् कारा बन्दिगृहं, शुद्धला बन्धनं, शङ्कुः कीलकः, काण्डो बाणः, निगड़ः अयोद्धन्धनम्,  
कूरारिः दुष्टारिः, वैराः तेषां समाहारः ताम् । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ सुखकारणमाह ।

1663) निसर्गेण—जन्तवः शीतोष्णरहितः उच्चिर्दुःखमेवाप्नुवन्ति । कीदृशानि । निसर्गेणाति-  
रौद्राणि । पुनः । भयक्लेशास्पदानि च । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ सुखकारणमाह ।

1664) अरिष्टोत्पात—शरीरिणां सुखाय कालः । कीदृशः । अरिष्टोत्पातनिर्मुकः उपद्रवो-  
त्पातरहितः । पुनः कीदृशः । वातवर्षीतिवर्जितः । पुनः कीदृशः । शीतोष्णरहितः । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ हुःखानलमाह ।

1665) वर्षीतप—सत्त्वानां सदैव कालः हुःखानलनिवन्धनं कारणम् । वर्षीतपतुषाराढ्यः  
ईत्युत्पातादिसंकुलः । वर्षीतपी तुषाराढ्यः ईत्यः सप्त उत्पातादिव्यासः । इति सूत्रार्थः ॥८॥  
अथ व्रोश्वानीनामभावमाह ।

धूल, श्वार द्रव्य, हड्डी, कीचड़, पत्थर, बन्दीगृह, सोकल, कील, बाण, बेड़ी, दुष्ट शङ्कु और वैर;  
इन अनिष्ट द्रव्योंको पाकर संसारके मार्गमें स्थित प्राणी सब प्रकारके हुःखको भोगते हैं ॥५॥

इसी प्रकारसे जो क्षेत्र स्वभावसे ही अतिशय भयानक सथा भय और क्लेशके स्थान  
( कारण ) हैं उनको पाकर प्राणी अतिशय हुःखको ही प्राप्त होते हैं ॥६॥

कालके आश्रित सुख-हुःख—अनिष्टके सूचक शूह क उपद्रवसे रहित, तीव्र वायु व वर्षी  
आदिसे विहीन तथा शीत और उष्णताकी वायासे मुक्त काल प्राणियोंके लिए सुखप्रद  
होता है ॥७॥

इसके विपरीत वर्षी, उष्णता व शैत्यसे परिपूर्ण तथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभ, चूहे,  
तोते, स्वचक्र और परचक्रल्प सात प्रकारकी ईति एवं अन्य उपद्रवसे व्याप्त काल निरन्तर  
प्राणियोंके हुःखरूप अग्निका कारण होता है ॥८॥

- 1666 ) प्रशमादिसमुद्भूतो भावः सौख्याय देहिनाम् ।  
कर्मगौरवजः सौ ऽयं महाव्यसनमन्दिरम् ॥९
- 1667 ) मूलप्रकृतयस्तत्र कर्मणामष्ट कीर्तिताः ।  
ज्ञानावरणपूर्वास्ता जन्मिनां बन्धद्वेतवः ॥१०
- 1668 ) ज्ञानावृतिकरं कर्म पञ्चभेदं प्रकीर्तितम् ।  
निरुद्धं येन जीवानां मतिज्ञानादिपञ्चकम् ॥११
- 1669 ) नवभेदं मतं कर्म दृगावरणसंज्ञकम् ।  
कृथ्यते येन जन्मूनां शशदिष्टार्थदर्शनम् ॥१२

1666) प्रशमादि—देहिनां सौख्याय भावः स्यात् । कीदृशः । प्रशमादिसमुद्भूतः कर्म-  
गौरवजः । पुनः । महाव्यसनमन्दिरं महाकष्टगृहम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ कर्मबन्धकमाह ।

1667) मूलप्रकृतयः—तत्र कर्मणां मूलप्रकृतयः अष्टौ कीर्तिताः । ताः कर्मप्रकृतयः ।  
ज्ञानावरणपूर्वाः जन्मिनां बन्धद्वेतवः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ इय ज्ञानावरणादीनामेवाह ।

1668) ज्ञानावृति—ज्ञानावृतिकरं कर्म पञ्चभेदं प्रपञ्चितं विस्तारितम् । शेषं सुगमम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ दर्शनावरणमाह ।

1669) नवभेदं मतं—दृगावरणसंज्ञकं नवभेदं मतं कथितम् । येन जन्मूनां शशदिष्टार्थ-  
दर्शनं हृथ्यते । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ वेदनीयमाह ।

**भावाश्रित सुख-दुःख—प्रशम व संवेग आदिसे उत्पन्न हुआ भाव प्राणियोंके लिए  
सुखका कारण तथा कर्मकी गुरुतासे उत्पन्न हुआ वही भाव उनके लिए महान् दुःखका कारण  
होता है ॥९॥**

कर्मप्रकृतियाँ दो प्रकारकी हैं—मूलप्रकृतियाँ और उत्तरप्रकृतियाँ । उनमें कर्मोंकी  
मूलप्रकृतियाँ ज्ञानावरणादि आठ कही गयी हैं । वे प्राणियोंके बन्धकी कारण हैं—उन्हें परतन्त्र  
रखनेकाली हैं ॥१०॥

इनमें जो कर्म ज्ञानका आवरण करता है—उसे प्रगट नहीं होने देता है उसे ज्ञाना-  
वरण कहा जाता है । वह पाँच प्रकारका है—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञाना-  
वरण, भनःपर्यज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण । ये पाँचों क्रमशः मतिज्ञान आदि पाँच  
ज्ञानोंका आवरण किया करते हैं ॥११॥

जो कर्म निरन्तर जीवोंके अभीष्ट पदार्थोंके दर्शनको रोकता है वह दर्शनावरण  
कहलाता है । वह नौ प्रकारका है—चक्रुदर्शनावरण, अचक्रुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण,  
केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्थानगृद्धि ॥१२॥

- 1670 ) वेदनीयं विदुः प्राज्ञा द्विधा कर्म शरीरिणाम् ।  
यन्मधूल्यैषतद्यस्तशस्त्रधारासमप्रभम् ॥१३
- 1671 ) सुरोरगनराधीशसेवितं भग्ने सुखम् ।  
सातोदयवशात्प्राणी संकल्पानन्तरोद्ग्रहम् ॥१४
- 1672 ) असद्वेद्योदयात्तीव्रं शारीरं मानसं द्विधा ।  
जीवैर्विषयते दुःखं शशच्छ्रवादिभूमिषु ॥१५
- 1673 ) दृष्टिमोहप्रकोपेन दृष्टिः साध्वी विलुप्यते<sup>३</sup> ।  
तद्विलोपाश्रिमज्जन्ति प्राणिनः शश्रसागरे ॥१६

1670) वेदनीय—प्राज्ञः वेदनीय द्विधा विदुः शरीरिणाम् । यत् मधूच्छिष्टं तद् व्यक्तशस्त्रधारासमप्रभम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ सातोवेदनीयं दर्शयति ।

1671) सुरोरग—प्राणी सुखं श्रयते । कीदूशम् । सुरोरगनराधीशसेवितम् । सुगमम् । कस्मात् । सातोदयवशात् । कीदूशम् । संकल्पानन्तरोद्ग्रहम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ असातोवेदनीयमाह ।

1672) असद्वेद्योदयात्—जीवैदुःखं विषयते द्विधा । शारीरं मानसं च । कीदूशम् । असद्वेद्योदयात्तीव्रम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ मोहनीयमाह ।

1673) दृष्टिमोह—साध्वी दृष्टिः विलुप्यते । केन । दृष्टिमोहप्रकोपेन । तद्विलोपात् प्राणिनः शश्रसागरे नियज्जन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ चारित्रमोहं दर्शयति ।

विद्वान् गणधरादि वेदनीय कर्मको दो प्रकारका बतलाते हैं । उनमें जो प्राणियोंके लिये मधुसे अलिप्त और उससे लिप्त शख्की धाराके समान केवल दुःख और दुःखसे मिथित सुख दिया करता है ॥१३॥

प्राणी सातोवेदनीयके उदयसे इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्तीसे सेवित व संकल्पके अनन्तर उत्पन्न हुए सुखका आश्रय लेता है—उसका असुखव रुरता है ॥१४॥

इसके विपरीत असातोवेदनीयके उदयसे प्राणी निरन्तर नारक आदि क्षेत्रोंमें शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारके तीव्र दुःखको सहते हैं ॥१५॥

मोहनीय कर्म दो प्रकारका है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । इनमें दर्शनमोहनीयके प्रकोपसे समीचीन दृष्टि—तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा—नष्ट होती है और तब उसके विनाशसे प्राणी नरकरूप समुद्रमें गोता खाते हैं—नरकके भयानक दुःखको सहते हैं ॥१६॥

१. All others except P M मधूच्छिष्टहस्तक, F छासंपूर्क । २. S X Y R जीवो विस<sup>०</sup> ।

३. M N विलिप्यते ।

1674 ) चारित्रमोहपाकेन नाञ्जिभिर्भूयते॑ क्षणम् ।

भावशुद्धया स्वस्य॑ कर्तुं चरणं स्वान्तशुद्धिदम् ॥१७

1675 ) लब्ध्वापि यत्प्रमाद्यन्ति यत्सखलस्त्यथ संयमात् ।

सो ऽपि चारित्रमोहस्य विपाकः परिकीर्तिः ॥१८

1676 ) सुरायुरारम्भकर्मपाकात्संभूय नाके प्रथितप्रभावैः ।

संप्राप्यते॑ देहिभिरायुरुद्य॑ सुखामृतांस्वादनलोलचित्तैः ॥१९

1677 ) नरायुषः पौकविशेषयोगान्तरत्वमासाद्य शरीरभाजः ।

सुखामृताकान्तविद्यो नितान्तं नयन्ति कालं बहुभिः प्रपञ्चैः ॥२०

1674) चारित्रमोह—चरणम् अज्ञिभिः प्राणिभिः व प्राप्यते॑ क्षणम् । केन । चारित्रमोह-पाकेन । कि कर्तुम् । \*स्वसाक्तर्तुम् । भावशुद्धया । कीदृशं चरणम् । स्वान्तशुद्धिदम् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ चारित्रमोहम् आह ।

1675) लब्ध्वापि—चारित्रमोहस्य विपाकः चारित्रं लब्ध्वापि यत् प्रमाद्यन्ति प्रमादे कुर्वन्ति, अथ संयमात् प्रसखलस्ति । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ सुरायुर्भूयमाह ।

1676) सुरायुरारम्भ—देहिभिः प्राणिभिः आयुः संप्राप्यते॑ नाके । कस्मात् । सुरायुरारम्भकर्मपाकात् । कीदृशैः । प्रथितप्रभावैः । कीदृशाय् आयुः । अग्रयं प्रधानम् । पुनः कीदृशैः । सुखामृतांस्वादनलोलचित्तैः । सुखमय् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ नरत्वमासाद्य ।

1677) नरायुषः—शरीरभाजः कालं नयन्ति । कैः । बहुभिः प्रपञ्चैः विस्तारैः । कीदृशाः शरीरभाजः । सुखामृताकान्तविद्यः सुखदुखाकान्तबुद्धयः । कि कृत्वा । नरत्वमासाद्य प्राप्य । कस्मात् । नरायुषः । कर्मविपाकयोगान्तरत्वमासाद्य शरीरभाजः सत् नितान्तमतिशयेन । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ तिर्यकस्वरूपमाह ।

चारित्रमोहनीयके उदयसे प्राणी भावोंकी निर्मलतापूर्वक अपने मनकी शुद्धिके कारण-भूत चारित्रको क्षणमरके लिये भी नहीं प्राप्त कर पाते ॥१७॥

उस चारित्रको पाकर भी जो उसका परिशाळन करनेमें प्रमाद करते हैं और जो उस संयमसे भ्रष्ट होते हैं उसे भी चारित्रमोहनीयका फल कहा जाता है ॥१८॥

चर प्रकारके आयुकर्ममें देवायुके उत्पादक कर्मस्कन्धके उदयसे प्राणी स्वर्गमें उत्पन्न होकर अतिशय प्रभावशाली और सुखरूप अमृतके स्वाद ( अनुभव ) में मग्न होते हुए उस श्रेष्ठ आयुको पूरा करते हैं ॥१९॥

मनुष्यायुके उदयविशेषके आश्रयसे प्राणी मनुष्य पर्यावर्को पाकर सुख और दुख दोनोंका अनुभव करते हुए प्रतारण करनेवाले बहुत-से कामोंके द्वारा ही प्रायः कालको विताया करते हैं ॥२०॥

१. L J प्राप्यते for लाप्यते । २. All others except P स्वसाक्तर्तुः । ३. J संप्राप्यते । ४. All others except P M N T <sup>१</sup>मृतस्वादन । ५. All others except P कर्मविपाकयोग ।

1678) चरस्थरविकल्पासु तिर्यग्गतिषु<sup>१</sup> जन्तुभिः ।  
तिर्यग्गतिषु<sup>२</sup> प्रेषाकेन दुःखमेवानुभूयते ॥२१

1679) नारकायुःप्रकोपेन नरके अचिन्त्यवैदने ।  
निपतन्त्यज्ञिनस्तूर्णं<sup>३</sup> कुतोर्तकरुणस्वनाः ॥२२

1680) नामकर्मोदियः साक्षाद्दत्ते चित्राण्यनेकधा ।  
नामानि गतिजात्यादिविकल्पानीह देहिनाम् ॥२३

1681) गोत्राख्यं जन्तुजातस्य कर्म दत्ते स्वकं फलम् ।  
शस्ताशस्तेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाद्य सर्वथा ॥२४

1678) चरस्थर—जन्तुभिः प्राणिभिः दुःखमेवानुभूयते । शेषं सुगमम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥२१॥  
अथ नारकायुद्देशमाह ।

1679) नारकायुः—अज्ञिनः<sup>४</sup> नरके पतन्ति तूर्णम् । कुतोर्तकरुणस्वनाः कुतो आर्तकरुणी  
स्वनी वेदां ते तथा । शेषं सुगमम् ॥२२॥ अथ नामकर्म आह ।

1680) नामकर्मोदियः—नामानि गतिजात्यादीनि विकल्पानि दत्ते अनेकधा । कः । नाम-  
कर्मोदियः साक्षात् । कोदृशानि नामानि । गतिजात्यादिविकल्पानि । इति सूक्ष्मार्थः ॥२३॥ अथ  
गोत्रमाह ।

1681) गोत्राख्यं—गोत्राख्यं कर्म स्वकं फलं दत्ते । कस्य । जन्तुजातस्य । कि कुत्वा ।  
शस्ताशस्तेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाद्य उत्पाद्य सर्वथा । इति सूक्ष्मार्थः ॥२४॥ अथान्तरायमाह ।

तिर्यच आयुके उद्यसे प्राणी त्रस और स्थावर भेदरूप तिर्यच पर्यायोंमें केवल दुष्करा  
ही अनुभव करते हैं ॥२१॥

नारकायुके प्रकोपसे प्राणी करुणापूर्ण विलाप करते हुए शीघ्र ही अचिन्त्य बेदनावाले  
नरकमें जा पड़ते हैं ॥२२॥

नामकर्मका उद्य यहाँ प्राणियोंके गतिजाति आदि भेदोंरूप अनेक प्रकारके विचित्र  
नामोंको ध्वारण करता है । अभिप्राय यह कि जो जीवको नारक आदि अनेक पर्यायोंको  
प्राप्त करता है उसे नामकर्म कहा जाता है । यह गति आदिके भेदसे व्यालीस प्रकारका  
अथवा उनके अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा तेरानवें प्रकारका है ॥२३॥

गोत्र नामका कर्म प्राणीसभूको ऊँच और नीच गोत्रोंमें उत्पन्न कराकर अपने फलको  
देता है ॥२४॥

१. J तिर्यग्गतिषु २. All others except P 'गायुः प्रेषाकेन । ३. P नरकः । ४. M 'न्यज्ञिनः ।  
५. X कुत्वात्, L S F Y R कुत्वाति ।

1682 ) निरुणद्वि॑ स्वसामथ्यादानलाभादिपञ्चकम् ।  
विघ्नसंततिविन्यासैविघ्नकृत्कर्म देहिनाम् ॥२५

1683 ) मन्दवीर्याणि जायन्ते कर्माण्यतिवलीन्यपि॑ ।  
अपक्वपाचनायोगात् फलानीव वनस्पतेः ॥२६

1684 ) अपक्वपाकः क्रियते अस्ततन्द्रैस्तथोभिरुद्धैः शमशुद्धिंजातैः ।  
क्रमाद्गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसंबृतान्तःकरणैर्मुनीन्द्रैः ॥२७

1682) निरुणद्वि—दानलाभादिपञ्चक निरुणद्वि रहन्ते । कैः । विघ्नसंततिविन्यासैः । किम् । देहिनां विघ्नकृत् कर्म । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ वीर्यान्तरायमाह ।

1683) मन्दवीर्याणि—कर्माणि मन्दवीर्याणि जायन्ते । कस्मात् । अपक्वपाचनायोगात् अविपाकस्योदयमावात् । कीदूशानि कर्माणि । अतिवलीन्यपि॑ वलवत्तराण्यपि । इवोत्प्रेक्षते । वनस्पतेः फलानीव । यथा फलानि अपक्वपाचनायोगात् मन्दवीर्याणि भवन्ति । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथापक्वकारकानाह ।

1684) अपक्वपाकः—मुनीन्द्रैराक्वपाकः क्रियते । कीदूशैर्मुनीन्द्रैः । अस्ततन्द्रैरालस्यरहितैः । पुनः कैः । उग्रैस्तपोभिः । कीदूशैः । वरद्युद्धियुक्तैः । पुनः केन । क्रमाद् गुणश्रेणिसमाश्रयेण । कीदूशैर्मुनीन्द्रैः । सुसंबृतान्तःकरणैरिति ॥२७॥ अथ कर्माशातित्वमाह ।

विघ्नको करनेवाला ( अन्तराय ) कर्म अपने अनुभागके अनुसार विघ्नसमूहोंकी रचना द्वारा प्राणियोंके दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यको रोका करता है । इसीलिए क्रमशः उसके दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पाँच भेद हो जाते हैं ॥२५॥

कर्म अतिशय वलवान्—प्रकृष्ट अनुभागशक्तिसे संयुक्त—हो करके भी अपक्वपाचन ( उदीरणा ) के सम्बन्धसे आम आदि वनस्पतिके फलोंके समान मन्द अनुभागसे संयुक्त हो जाते हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कच्चे फल पालके सम्बन्धसे—याल आदिके सम्बन्धसे—समयके पूर्व भी पक जाया करते हैं उसी प्रकार कर्म भी परिणामविशेषोंसे झाँधी गयी स्थितिके पूर्व भी पक जाते हैं—अपना फल देनेके उन्मुख हो जाते हैं ॥२६॥

आलस्यको छोड़कर अपने अन्तःकरणको सावद्ययोगसे अतिशय रहित करनेवाले मुनीन्द्र प्रशम और शुद्धिके समूहसे संयुक्त होते हुए गुणश्रेणिरूप निर्जराके आश्रयसे क्रमशः तीव्र तपोंके द्वारा अपक्वपाकको—अविपाक निर्जराको—करते हैं ॥२७॥

१. All others except P M Y निरुणद्वि । २. R वलान्यपि । ३. All others except P

\*रुद्धिरस्युद्धियुक्तैः ।

1685) द्रव्याद्युक्तशामग्रीमासाद्योग्रतपोबलात् ।  
कर्माणि घातयन्त्युच्चैस्तुर्थध्यानेन योगिनः ॥२८

1686) [ 'विलीनाशेषकर्माणं' स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।  
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥२८\*१॥ ]

1687) इति विविधविकल्पं कर्म चित्रस्वरूपं  
प्रतिसमयमुदीर्णं जन्मवत्यज्ञभाजाम् ।  
स्थिरस्वरविषयाणां भावयन्नस्ततन्द्रो  
दहति दुरितकक्षं संयमी शान्तदेहः ॥२९

1685) द्रव्याद्युक्तश्च—योगिनः कर्माणि घातयन्त्युच्चैः । केन । तुर्थध्यानेन चतुर्थध्यानेन ।  
कि कृत्वा । द्रव्याद्युक्तशामग्रीमासाद्य प्राप्य । कस्मात् । उग्रतपोबलात् । इति सूत्रार्थः ॥२८॥  
अथ पुनरेतदेवाह ।

1686) विलीनाशेष—सम् आत्मानं स्मरेत् ततः । कीदृशम् । स्वाङ्गगर्भगतम् । पुनः  
कीदृशाम् । पुरुषाकारसु । पुनः कीदृशम् । विलीनाशेषकर्माणम् । स्फुरन्तम् अतिनिर्मलम् । इति  
सूत्रार्थः ॥२८\*१॥ अथेतदुपसंहरति ।

1687) इति विविध—संयमी शान्तदेहः\* दुरितकक्षं दहति । कि कुर्वन् । चरस्थिरविषयाणां  
भावयन् । कीदृशः । अस्ततन्द्रः । अज्ञभाजां प्रतिसमयमुदीर्णम् । इति विविधविकल्पं कर्म चित्र-  
स्वरूपम् । कीदृशाम् । जन्मवत्ति ॥२९॥ अथोपसंहरति । शा. वि. ।

योगीजन द्रव्य-क्षेत्रादिरूप उत्कृष्ट सामग्रीको प्राप्त करके तीव्र तपके सामर्थ्यसे चतुर्थ  
ध्यानके द्वारा कर्मोंका घात किया करते हैं ॥२८॥

तत्पद्धतात् समस्त कर्मोंको नष्ट करनेवाले, ज्ञानरूप ज्योतिसे प्रकाशमान, अतिशय  
निर्मल और पुरुष-आकाररूप अपने शरीरके भीतर अवस्थित आत्माका स्मरण करना  
चाहिए ॥२८\*१॥

इस प्रकारसे नाना प्रकारके भेदोंसे संयुक्त वह विभिन्न प्रकारके स्वरूपचाला कर्म  
स्थावर व त्रस भेदों रूप संसारी प्राणियोंकि प्रतिसमय उद्दित रहता है, ऐसा विचार करने  
वाला योगी आलस्यको छोड़कर मोहको उपशान्त करता हुआ पाप कर्मरूप बनको भस्म कर  
देता है ॥२९॥

1688 ) इत्थं कर्मकदुप्रपाककलिताः संसारघोरार्थवे  
जीवा दुर्गतिदुःखवाडवशिखासंतानसंतापिताः ।  
मृत्युत्पत्तिमहोर्मिजालनिचिता मिथ्यात्ववात्प्रेरिताः  
किलश्यन्ते तदिदं स्मरन्तु नियतं धन्याः स्वसिद्ध्यर्थिनः ॥३०

इति शानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे [ 'आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-  
विरचिते ] विपाकविचयप्रकरणम् ॥३१॥

(३१) इत्थं कर्म—जीवा संसारर्थार्थवे इत्येवमुभा प्रकारेण किलश्यन्ते । कीदृशाः । कर्म-  
कदुप्रपाककलिताः कदुविपाकसहिताः । पुनः कीदृशाः । दुर्गतिदुःखवाडवशिखासंतानसंतापिताः  
नरकादिगतिदुःखवाडवशिखासंतानसंतापिताः । पुनः कीदृशाः । मृत्युत्पत्तिमहोर्मिजालनिचिताः  
जन्ममरणमहाकल्लोकमालायुताः । पुनः कीदृशाः । मिथ्यात्ववात्प्रेरिताः धन्याः तदिदं स्मरन्तु नियतं  
स्वसिद्ध्यर्थिनः । इति सूत्रार्थः ॥३०॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते शानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहृपासा-  
तत्पुत्र-साहृदोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहरिषिदास-स्वश्रवणार्थं पण्डितजिम-  
दासोद्यमेन कारापितं विपाकविचयप्रकरणं समाप्तम् ॥३२॥

विगताशेषमिथ्यात्वः पादवौ उभूद्विभवान्वितः । टीडरे गुणविलयातो जीयाच्छ्री-कृषिदासकः॥  
इति आशीर्वदः । अथ लोकस्वरूपमाह ।

इस प्रकार कर्मके कहुवे फलसे संयुक्त ग्राणी संसाररूप भयानक समुद्रमें पड़कर दुर्गति-  
के दुखरूप बड़वानलकी ज्वालाओंके समूहसे व्याकुल और मिथ्यात्वरूप वायुसे प्रेरित होते  
हुए भरण एवं जन्मरूप वर्णी-वर्णी लहरोंके समूहसे व्याप्र होकर संक्लेशको प्राप्त हो रहे हैं ।  
इसलिए जो पुण्यशाली जीव आत्मसिद्धि ( मुक्ति ) की अभिलाषा करते हैं उन्हें निरन्तर  
उस कर्मके कहुवे फल ( अनुभाग ) का विचार करना चाहिए ॥३०॥

इस प्रकार शानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें विपाकविचय  
प्रकरण समाप्त हुआ ॥३२॥

XXXIII

[ संस्थानविचयः ]

- 1689 ) अनन्तानन्तमाकाशं सर्वतः स्वप्रतिष्ठितम् ।  
तन्मध्ये अयं स्थितो लोकः श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः ॥१॥
- 1690 ) स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः पदार्थशब्दतनेतरैः ।  
संपूर्णो अनादिसंसिद्धः कर्तृव्यापारवर्जितः ॥२॥
- 1691 ) ऊर्ध्वाधोमध्यभागैर्यो विभर्ति भुवनश्रयम् ।  
अतः स एव सूत्रजैस्त्रैलोक्याधारे इष्यते ॥३॥

1689) अनन्तानन्तम्—आकाशम् अनन्तानन्तम् । कीदृशम् । सर्वतः स्वप्रतिष्ठितम् । तन्मध्ये अयं लोकः स्थितः । कीदृशः । श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः । इति सूत्रार्थः ॥१॥ पुनर्लोकस्वरूपमाह ।

1690) स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः । सुगमम् । पुनः कीदृशः । अनादिसंसिद्धः । कीदृशीः । स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः । सुगमम् । पुनः कीदृशः । कर्तृव्यापारवर्जितः । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनर्लोकस्वरूपमाह ।

1691) ऊर्ध्वाधोमध्य—यो लोकः भुवनश्रय विभर्ति । ऊर्ध्वाधोमध्यभागैः । अतः स एव सूत्रजैः श्रैलोक्याधारः इष्यते । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ लोकस्वरूपमाह ।

संस्थानविचय धर्मध्यानमें योगी इस प्रकारसे लोकके स्वरूपका विचार करता है—सब ओर अनन्तानन्त आकाश है जो स्वप्रतिष्ठित है—सबसे अधिक परिणामवाला होनेसे अन्य किसीका आश्रय न लेकर वह स्वाधित है । उस अनन्तानन्त आकाशके मध्यमें वह लोक स्थित है । उसके स्वरूपका वर्णन अन्तर्गत व ब्रह्मिंग लक्ष्मीसे विभूषित सर्वज्ञ देवके द्वारा किया गया है ॥१॥

स्थिति, उत्पाद और व्ययसे संयुक्त ऐसे चेतन व अचेतन पदार्थोंसे परिपूर्ण वह लोक अनादिकालसे सिद्ध तथा कर्ता के व्यापारसे रहित है—उसका निर्माण करनेवाला कोई नहीं है ॥२॥

वह लोक ऊर्ध्व, अधः और मध्य भागोंके द्वारा तीनों लोकोंको—उनमें स्थित प्राणियोंको—शारण करता है । इसीलिए आगमके मर्मज्ञ उसे तीनों लोकोंका आधार भासते हैं ॥३॥

- 1692 ) उपर्युपरि संक्रान्तैः सर्वतो ऽपि निरन्तरैः ।  
 त्रिभिर्वायुभिराकीणो महावेगैर्महावलैः ॥४
- 1693 ) धनाद्विधः प्रथमस्तेषां ततो इन्यो धनमाश्तः ।  
 तनुवातस्तृतीयो इन्ते विज्ञेया वायवः क्रमात् ॥५
- 1694 ) उद्धृत्य सकलं लोकं स्वशक्तयैव व्यवस्थिताः ।  
 पर्यन्तरहिते व्योम्नि मरुतः प्रांशुविग्रहाः ॥६
- 1695 ) धनाद्विधवलये<sup>१</sup> लोकस्तद्वृष्टान्ते व्यवस्थितम्<sup>२</sup> ।  
 तनुवातवैन्तरे सो ऽपि स आकाशे स्थितः 'स्वयम् ॥७

1692) उपर्युपरि—पुनः कीदृशी लोकः । त्रिभिर्वायुभिराकीणः । उपर्युपरि संक्रान्तैः । सर्वतो ऽपि महावेगैः महावलैः । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ वातव्यलक्षणमाह ।

1693) धनाद्विधः—तेषां धनाद्विधः प्रथमम्<sup>३</sup> । ततो इन्यो धनमाश्तः । अन्ते तनुवातस्तृतीयः । क्रमात् वायवो विज्ञेयाः । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ तेषामेव वातानां स्वरूपमाह ।

1694) उद्धृत्य—सकलं लोकमुद्धृत्य स्वशक्तयैव व्यवस्थिताः मरुतो वायवः पर्यन्तरहिताः । व्योम्नि प्रांशुविग्रहाः उच्चदेहाः इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ पुनर्लोकस्वरूपमाह ।

1695) धनाद्विध—लोकः धनोद्विधवलये । तद् धनान्ते व्यवस्थितम् । सो ऽपि तनुवातान्तरे व्यवस्थितः । स च लोकः आकाशे स्वयं स्थितः । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ लोकवैविद्यमाह ।

वह अतिशय वेगवाली, बलिष्ठ और सघन ऐसी ऊररुक्तर जानेवाली तीन वायुओंके द्वारा—धनोद्विधवातवलय, धनवातवलय और तनुवातवलय इस तीन वायुमण्डलों द्वारा—सब ओरसे देखित हैं ॥४॥

उनमें प्रथम धनाद्विध वायु, दूसरी धन वायु और अन्त में तीसरी तनुवायु; इस प्रकार ये तीन वायु क्रमसे उस लोकको देखित करनेवाले जानना चाहिए ॥५॥

उन्नत शरीरको धारण करनेवाली ये तीन वायु अपनी शक्तिसे ही अनन्त आकाशके मध्यमें उस समस्त लोकको धारण करके स्थित हैं ॥६॥

लोक धनाद्विधवातवलयमें—उसके आश्रयसे—स्थित है, धनाद्विधवातवलय धनवातके अन्तमें स्थित है, घट धनवातवलय तनुवातवलयके आधारसे स्थित है, तनुवातवलय आकाशमें स्थित है, और वह आकाश स्वयं—विना किसी अन्य आधारके—ही स्थित है ॥७॥

१. J प्रथम । २. M N वलयो । ३. T X R लोकः स च वात्ते, L S F Y स धनान्ते । ४. All others except P L स्थितः । ५. All others except P वातान्तरे । ६. M N T J Y स्वयं स्थितः ।

- 1696) अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्ञान्तरीनिभः ।  
मृदज्ञामस्ततो उच्युच्चै स त्रिष्ठेति व्यवस्थितः ॥८
- 1697) अस्य प्रमाणमुन्नत्यां सप्त सप्त च रज्जवः ।  
सप्तैकां पञ्च चैका च यूलमध्यान्तस्त्रिस्तरे ॥९
- 1698) तत्राधोभागमासाद्य संस्थिताः सप्त भूमयः ।  
यासु नारकषण्डानां निवासाः सन्ति भीषणाः ॥१०
- 1699) काश्चिद्वज्ञानलप्रख्याः काश्चिद्छीतोष्णसंकुलाः ।  
तुषारबहुलाः काशिच्चद्भूमयो इत्यन्तभीतिदाः ॥११

1696) अधो वेत्रासनाकारः—[वेत्रासनाकारः वेत्रासनम् इव आकारः यस्य सः । मृदज्ञामः मृदज्ञसदृशः । इति सूत्रार्थः ॥८॥] अथास्य प्रमाणमाह ।

1697) अस्य प्रमाणम्—[अस्य लोकस्य प्रमाणं भानम् । उन्नतस्था उच्चैः । शेषं सुगमम् ॥९॥] अथ तदेवाह ।

1698) तत्राधोभागम्—तत्र लोके अधोभागमासाद्य सप्त भूमयो व्यवस्थिताः । यासु सप्त-भूमिषु नारकषण्डानां भीषणा रीढ्रा निवासाः सन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ भूमीनां स्वरूपमाह ।

1699) काशिच्चद—भूमयो नरकभूमयः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पुनर्भूमि-स्वरूपमाह ।

वह लोक नीचे बैतसे निर्मित आसन (मूढा) के आकार, मध्यमें झालरके समान—गोल चपटा—और ऊपर (ऊर्ध्वलोक) मृदंगकी आकृतिवाला है; इस प्रकारसे वह तीन आकारोंमें अवस्थित है ॥८॥

ऊँचाईमें उस लोकका प्रमाण सात-सात राजु है, अर्थात् नीचेसे मध्यलोक तक वह सात राजु ऊँचा है तथा उस मध्यलोकके ऊपर अन्तिम भाग तक भी वह सात राजु ही ऊँचा है । इस प्रकारसे वह पूरा चौदह राजु ऊँचा है । मध्यलोक मेरुके बराबर १ लाख योजन ऊँचा है । राजु-जैसे महाप्रमाणमें इन योजनोंकी गणना नहीं की गयी है । विस्तार उसका नीचे सात राजु, मध्यलोकके पास एक राजु, ब्रह्मकल्पके पास पाँच राजु तथा अन्तमें एक राजु मात्र है ॥९॥

लोकके इन तीन विभागोंमेंसे अधोभागके आश्रयसे रत्नप्रभादि वे सात पृथिवियाँ अवस्थित हैं, जिनमें कि नगुणसक नारकियोंके भयानक निवास (बिल) हैं ॥१०॥

उनमें कुछ नारकभूमियाँ वज्जानिके सदृश, कितनी ही शीत च उष्ण दोनोंकी वेदनासे व्याप्त और कितनी ही प्रचुर शैत्यसे संयुक्त हैं । इस प्रकार वे भूमियाँ अतिशय भयानक हैं ॥११॥

१. M N L T J X V मृदज्ञसदृशश्चाय । २. M N T Y मुन्नत्या, F भीन्नत्या, J मूलन्ना । ३. P कपोक ।

- 1700 ) उदीर्णनिलदीसामु निसर्गोष्णासु भूमिषु ।  
मेरुमात्रो अव्ययः पिण्डः क्षिप्तः सद्यो विलीयते ॥१२
- 1701 ) शीतभूमिष्वपि ग्रासो मेरुमात्रो इपि शीर्यते ।  
शतधासावयः पिण्डः प्राप्य भूमिं भणान्तरे ॥१३
- 1702 ) हिंसास्तेयानुताब्रह्मवह्नारम्भादिपातकैः ।  
विशन्ति नरकं घोरं प्राणिनो इत्यन्तनिर्दयाः ॥१४
- 1703 ) मिथ्यात्वाविरतिक्रोधरौद्रध्यानपरायणाः ।  
पतन्ति जन्तवः शब्दे कृष्णलेश्यावशं गताः ॥१५

1700) उदीर्णनिल—भूमिषु अथ मेरुमात्रो यः पिण्डः क्षिप्तः सद्यो विलीयते । कीदृशासु भूमिषु । उदीर्णनिलदीसामु उत्पत्ताग्निप्रज्वलितासु । पुनः कीदृशासु । निसर्गोष्णासु स्वभावोष्णासु । इति सूक्ष्मार्थः ॥१२॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1701) शीतभूमिषु—मेरुमात्रः मेरुप्रमाणः । अयः पिण्डः लोहपिण्डः । शोर्षं सुगमम् ॥१३॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1702) हिंसास्तेय—विशन्ति प्रविशन्ति । शोर्षं सुगमम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥१४॥ अथ पुनर्नरकगामिनः प्रतिपादयति ।

1703) मिथ्यात्वाविरति—शब्दे नरके । शोर्षं सुगमम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥१५॥ अथ पुनर्नरकमाह ।

उत्पन्न हुई अग्निसे प्रदीप व स्वाभाविक उष्णतासे संयुक्त उन भूमियोंमें यदि मेरु पर्वतके बराबर लोहेका गोला ढाला जाये तो वह शीघ्र ही पिघलकर नष्ट हो सकता है ॥१२॥

इसी प्रकार शीत भूमियोंमें भी मेरुके प्रमाण वह लोहेका पिण्ड भूमिको ग्रास होकर शर्ण-भरमें ही सेकड़ों प्रकारसे शीर्ण हो जाता है—गलकर नष्ट हो सकता है ॥१३॥

अतिशय निर्दय प्राणी हिंसा, चोरी, असत्य, अज्ञा ( मैथुन ) और बहुत आरम्भादि पारोंके कारण भयानक नरकमें प्रवेश करते हैं ॥१४॥

कृष्णलेश्याके वशीभूत हुए प्राणी मिथ्यात्व, अविरति, क्रोध और रौद्रध्यानमें तत्पर होकर नरकमें पड़ते हैं—नारकी उत्पन्न होते हैं ॥१५॥

- 1704) असिपत्रवनाकीर्णे शूलशूलासिसंकुले ।  
नरके उत्यन्तदुर्गन्धे वसासुकूमिकदमे ॥१६
- 1705) शिवाश्वव्याघ्रकद्वाल्ये मांसाशिविहगाचिते ।  
वज्रकण्टकसंकीर्णे<sup>३</sup> शूलशाल्मलिदुर्गमे ॥१७
- 1706) संभूय कुष्टिकामध्ये<sup>४</sup> ऊर्ध्वपादा अधोमुखाः ।  
ततः पतन्ति साक्रन्दं वज्रज्वलनभूतले ॥१८
- 1707) अयःकण्टककीर्णसु लोहकण्टकवीथिषु<sup>५</sup> ।  
छिन्नभिन्नविशीणन्ना उत्पतन्ति पतन्ति च ॥१९

1704) असिपत्र—कीदूषे नरके । असिपत्रवनाकीर्णे खड्गाकारपत्रव्यापे । शस्त्रादि सर्वे सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ पुनर्नरकमाह ।

1705) शिवाश्व—शिवा क्लोष्ट्री । श्वा कुर्कुरः । व्याघ्राः प्रसिद्धाः । कद्वा वकाः । तदार्थः<sup>६</sup> । मांसाशिभिः मांसभक्तेः विहगीः अविते<sup>७</sup> युक्ते । वज्रकण्टकसंकीर्णे । पुतः कीदूषे । शूलशाल्मलिः वृक्षविशेषः । तेन दुर्गमे । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ पुनर्नरकदुःखमाह ।

1706) संभूय—वज्रज्वलनभूतले । ततः पतन्ति साक्रन्दम् । कुष्टिकामध्ये संभूय । कीदूषाः । ऊर्ध्वपादा अधोमुखाः । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ पुनर्नरकदुःखमाह ।

1707) अयःकण्टक—अयःकण्टककीर्णसु लोहकण्टकव्याप्तासु । ध्रुवं शीघ्रं लोहाग्निभिर्युता वीथयो माणीः तासु । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ पुनर्नरकदुःखमाह ।

जो नरक तलवारके समान तीक्ष्ण धारयुक्त पत्तोंवाले शूक्ष्मोंके बनोंसे व्याप, शास्त्रस्वरूप शूल और तलवारोंसे परिपूर्ण, अतिशय दुर्गन्धसे सहित; चर्वी, रुधिर और क्षुद्र कीड़ेरूप कीचड़से भरा हुआ; शृगाल, कुता, चीता और कंक पश्चियोंसे व्याप; मांसभक्ती पश्चियोंसे परिपूर्ण, वज्रमय काँटोंसे सहित तथा शूल व शाल्मलि शूक्ष्मोंसे दुर्गम है; वसके भीतर अनेक आकारवाली जन्मभूमियोंके मध्यमें उत्पन्न होकर प्राणी ऊपर पाँढ़ और नीचे मुखबाले होते हुए उदनपूर्वक उन ऊपर स्थित जन्मभूमियोंसे वज्राग्निसे सन्तप्त पुथिवीतलपर गिरते हैं ॥१६-१८॥

वे नारकी लोहमय काँटोंसे व्याप और पिघले हुए लोहकी अग्निके आधारभूत उन स्थानोंमें गिरते हैं और फिर छिन्न-भिन्न होकर बिखरे हुए शरीरके साथ ऊपर उछलते हैं ॥१९॥

१. J कंकार्थः । २. L S T विहगाचिते, J °गांकिते, X Y R गान्धिते । ३. J कंकीर्णः ।  
४. M N क्रोष्टिक, S T F X R क्रोष्टिक, J कुट्टिका । ५. N पूत for द्रुत । ६. T मूतले for वीथिषु ।

- 1708) दुःसहा निष्प्रतीक्षारा ये रोगाः सन्ति केचन ।  
साकल्येनैवं गात्रेषु नारकाणां अवन्ति ते ॥२०
- 1709) अदृष्टपूर्वमालोक्य तस्य रौद्रं भयास्पदम् ।  
दिशः सर्वाः समीक्षन्ते वराकाः शरणार्थिनः ॥२१
- 1710) न तत्र सुजनः को इपि न मित्रं न च बालधवाः ।  
सर्वे ते निर्दयाः पापाः क्रूरा भीमोश्चिग्रहाः ॥२२
- 1711) सर्वे च हुण्डसंस्थानाः स्फुलिङ्गसदूशोक्षणाः ।  
विवर्धिताशुभृत्यानाः प्रचण्डाशृण्डशासनाः ॥२३
- 1712) तत्राकन्दरवैः सार्थं श्रूयन्ते कर्कशाः स्वनाः ।  
दृश्यन्ते गुणगोमायुसर्पशार्दूलमण्डलाः ॥२४

1708) दुःसहा—साकल्येनैव सामान्येनैव । शीर्षं सुगमम् ॥२०॥ [ अथ तेषां भयमाह । ]  
1709) अदृष्ट—तस्य नारकस्य अदृष्टपूर्वमालोक्य । रौद्रं भयास्पदम् । दिशः सर्वाः समी-  
क्षन्ते । वराका नारकाः शरणार्थिनः । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ तत्र मित्रादीनामभावमाह ।  
1710) न तत्र—रौद्रा देहाः । शीर्षं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ पुनर्दुःखमाह ।  
1711) सर्वे च—च पुनः । ते नारकाः हुण्डसंस्थानाः स्फुलिङ्गसदूशोक्षणाः विह्वासमानाक्षाः ।  
पुनः कीदृशाः । विवर्धिताशुभृत्यानाः विशेषेण वर्धिताशुभृत्यानाः । कीदृशाः । प्रचण्डा रौद्राः ।  
पुनः । चृण्डशासनाः रौद्राज्ञाः । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1712) तत्राकन्दर—तत्र नरके कर्कशस्वनाः\* कठोरशब्दाः श्रूयन्ते । आकन्दरवैः सार्थं  
जो कितने ही रोग दुःसह और प्रतीकारसे रहित ( असाध्य ) हैं वे समस्तरूपमें नार-  
कियोंके शरीरमें होते हैं ॥२०॥

बहाँ वे दीन नारकी जिसे पूर्व में कभी नहीं देखा था ऐसे रौद्र भयप्रद स्थानको देख-  
कर रक्षाकी दृष्टिसे सब दिशाओंकी ओर देखते हैं ॥२१॥

परन्तु बहाँपर न कोई सञ्जन दिखता है, न कोई मित्र दिखता है, और न कोई बन्धु  
ही दिखते हैं । बहाँ वे सब ही नारकी निर्दय, पापी, दुष्ट और भयानक तीक्ष्ण शरीरवाले  
होते हैं ॥२२॥

वे सब ही नारकी हुण्डसंस्थानसे सहित, अस्तिकणके समान नेत्रोवाले, बृद्धिगत अशुभ  
ध्यानसे संयुक्त, अतिशय क्रोधी और तीव्र शासन करनेवाले होते हैं ॥२३॥

नरकोंमें रोनेके शब्दोंके साथ कठोर शब्द सुने जाते हैं तथा गीध, शृणाल, सर्प, सिंह  
और कुत्ते देखे जाते हैं ॥२४॥

१. J सामान्येनैव । २. M केवित् । ३. L Y ते for च । ४. N T J कर्कशस्वनाः ।

- 1713) ग्रायन्ते पूतयो गन्धाः स्पृश्यन्ते' वज्रकण्टकाः ।  
जलानि दूरिष्ठग्रीनि नयो असूद्मांसकर्दमाः ॥२५
- 1714) चिन्तयन्ति तदालोक्य रौद्रमत्यन्तशङ्किताः ।  
केयं भूमिः कव चानीताः के वयं केन कर्मणा ॥२६
- 1715) ततो विदुर्विभङ्गात्स्वं पतितं शब्दसागरे ।  
कर्मणात्यन्तरौद्रेण हिंसाद्यारम्भजन्मना ॥२७
- 1716) ततः प्रादुर्भवत्युच्चैः पश्चात्तापो ऽपि दुःसहः ।  
दहन्विरतं चेतो वज्राग्निरिव निर्दयः ॥२८

गोमायुसर्पशार्दूलमण्डलाः दृश्यन्ते । गृधः प्रसिद्धः । गोमायुः गोधा । सर्पशार्दूली सुगमी । मण्डलः इवा । इति सूक्ष्मार्थः ॥२४॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1713) ग्रायन्ते—ग्रायन्ते पूतयो गन्धाः । वज्रकण्टकाः [ स्पृश्यन्ते । ] जलानि पूति-गन्धीनि । नयाः असूद्मांसकर्दमाः शधिरम्भांसपञ्चाः । इति सूक्ष्मार्थः ॥२५॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1714) चिन्तयन्ति—रौद्रमत्यमालोक्य तत् चिन्तयन्ति न शङ्किताः । इये का भूमिः । च पुनः । कवानीताः, के वयं, केन कर्मणा । इति सूक्ष्मार्थः ॥२६॥ [ अन्ते ते आत्मानं तरके पतित जानन्ति इत्याह । ]

1715) ततो विदुः—ततस्तस्मात् विदुर्विभङ्गात् अवश्यजानात् शब्दसागरे स्वं पतितं विदुः । अत्यन्तरौद्रेण कर्मणा हिंसाद्यारम्भजन्मना । इति सूक्ष्मार्थः ॥२७॥ अथ तेषां चिन्तनमाह ।

1716) ततः प्रादुर्भवति—ततः पश्चात्तापो ऽतिदुःसहः\* प्रादुर्भवति । उच्चैर्यथा । अविरतं निरन्तरं चेतो दहन् । वज्राग्निरिव निर्दयः । इति सूक्ष्मार्थः ॥२८॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

इहाँपर अतिशय सुर्गन्ध सूँघनेको मिलता है, वज्रभव कौटीका स्पर्श होता है, सड़ी दुर्गन्धयुक्त पानी पीनेको मिलता है, तथा नदियाँ रुद्धिर, मास व कीचड़से व्याप्त उपलब्ध होती हैं ॥२५॥

वहाँ के उस भवालक दृश्यको देखकर अतिशय भवमीत हुए ये जारकी विचार करते हैं कि यह पृथिवी कीन-सी है और हम कीन हैं तथा किस कर्मसे कहाँ लाये गये हैं ॥२६॥

तत्पश्चात् वे चिमंगज्ञानके आशयसे यह जान लेते हैं कि हम हिंसादिके आरम्भसे उत्पन्न हुए अतिशय दाहण कर्मसे इस नरकरूप समुद्रमें गिराये गये हैं ॥२७॥

तत्पश्चात् उन्हें निर्दय वज्राग्निके समान निरन्तर चित्तको जलानेवाला अधिक दुःसह पश्चात्ताप उत्पन्न होता है ॥२८॥

१. P स्पृश्यन्ते, S स्पर्श्यन्ते । २. T गन्धानि । ३. M वा for चा । ४. All others except P

\* तापोऽस्ति । ५. N निर्दयः ।

1717) मनुष्यत्वं समासाद्य तदा<sup>१</sup> कैश्चिन्महात्मभिः ।  
अपवर्गीय संविग्नैः कर्म पूज्यमनुष्टुप्तम् ॥२९॥

1718) विषयाशासामपाकृत्य विषयाप्य मदनानलम् ।  
अग्रमत्तेस्तपश्चीर्ण धन्वैर्जन्मातिशान्तये ॥३०॥

1719) उपसर्गाभिनिपाते ऽपि धैर्यमालम्ब्य चोक्तम् ।  
तैः कुतं तदनुष्ठानं येन सिद्धं समीहितम् ॥३१॥

1720) प्रमादमदमुल्लूज्य भावशुद्ध्या मनीषिभिः ।  
केनाप्यचिन्त्यवृत्तेन स्वर्गो मोक्षश्च साधितः ॥३२॥

1717) मनुष्यत्वं—तदा कैर्मात्मभिः मनुष्यत्वं समासाद्य अपवर्गीय संविग्नैः कर्म पूज्यम् अनुष्टुप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ पुनरेतदाह ।

1718) विषयाशाम्—अग्रमत्तेस्तपश्चीर्ण धन्वैर्जन्मातिशान्तये । कि कृत्वा । विषयाशाम-पाकृत्य । पुनः कि कृत्वा । मदनानलं विषयाप्य । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ पुनरस्तदेवाह ।

1719) उपसर्गाभिन—उपसर्गाभिनिपाते तैस्तदनुष्ठानं कृतम् । कि कृत्वा । उन्नतं धैर्यमा-लम्ब्य । येनानुष्ठानेन समीहितं वाच्छितं सिद्धम् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ पुनरस्तदेवाह ।

1720) प्रमादमदम्—मनीषिभिः पण्डितैः स्वर्गो मोक्षश्च साधितः । कि कृत्वा । प्रमादमदम् उत्सूज्य । कर्या । भावशुद्ध्या । केनापि अचिन्त्यवृत्तेन अचिन्त्यचारित्रेण । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ पुनरस्तदेवाह ।

तब वे इस प्रकारसे विचार करते हैं—

कितने ही महात्माओंने मनुष्य भवको पाकर उस समय संसारसे भयभीत होते हुए मोक्षको इच्छासे उसकी प्राप्तिके लिए पूजाके योग्य पवित्र आचरण किया है ॥२९॥

धन्यवादके योग्य उन महापुण्योंने प्रमादसे रहित हो विषयेच्छाको नष्ट करके तथा कामरूप अग्निको बुझा करके जन्म-मरणरूप संसारके दुःखको शान्त करनेके लिए तपका आचरण किया है ॥३०॥

उन महात्माओंने उपसर्गरूप अग्निमें पढ़ जानेपर भी—भयानक उपद्रवके समयमें भी—अतिशय धैर्यका आलम्बन लेकर उस पवित्र अनुष्ठानको किया है कि जिसके द्वारा उन्होंने अपने अभीष्टको सिद्ध ही कर लिया ॥३१॥

ऐसे निर्मल बुद्धिवाले सत्पुण्योंने प्रमाद और अभिमानको छोड़कर परिणामोंकी निर्मलतासे किसी अचिन्त्य आचरणके द्वारा स्वर्ग और मोक्षको भी सिद्ध कर लिया है ॥३२॥

- 1721) [ 'शिवाभ्युदयदं' मार्गं दिशन्तो उपतिवल्सलाः ।  
मयादधीरिताः सन्तो निर्भत्स्य कदुकालरैः ॥३२\*१ ॥ ]
- 1722) तस्मिन्नपि मनुष्यत्वे परलोकैकशुद्धिदेऽ ।  
मया तत्संचितं कर्म यज्जातं श्वभ्रसंबलम् ॥३३ ॥
- 1723) अविद्याकाल्तचित्तैन विषयान्धीकृतात्मना ।  
चरस्थिराङ्गितं चातो निर्दोषो ऽपि हतो मया ॥३४ ॥
- 1724) परविद्यामिषासक्तः परस्त्रीसंगलालसः ।  
बहुव्यसनविष्वस्तो रौद्रध्यानपरायणः ॥३५ ॥

1721) शिवाभ्युदयव—मार्गं दिशन्तो उपतिवल्सलाः । कीदूर्शं मार्गम् । शिवाभ्युदयदं कल्याणाभ्युदयदम् । मया अवधीरिताः सन्तः कदुकालरैः निर्भत्स्य । इति सूत्रार्थः ॥३२\*१॥ अथ कर्मवन्धस्वरूपमाह ।

1722) तस्मिन्नपि—तस्मिन्नपि मनुष्यत्वे सति । कीदूरो । परलोकैकशुद्धिदेऽ । मया तत्कर्म संचितम् । कीदूरशम् । यत् श्वभ्रसंबलं जातम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ प्राणिवधफलमाह ।

1723) अविद्या—मया चरस्थिराणिर्धातः समूहो हतः निर्दोषो ऽपि । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ रौद्रध्यानं निर्दर्शयति ।

1724) परविद्यामिषासक्तः—रौद्रध्यानपरायणः तत्परः । इति सूत्रार्थः । शेषं सुगमम् ॥३५॥ अथ पुनर्भवस्वरूपमाह ।

मैंने सोश व श्वर्गके अभ्युदयके देनेवाले मार्गका उपदेश करनेवाले अतिशय स्नेही सत्युरुपोंका कदु शब्दोंके द्वारा शिङ्की देकर तिरस्कार किया है ॥३२\*१॥

परलोकके लिए अहितीय शुद्धि प्रदान करनेवाले उस अनुष्य भवमें भी मैंने उस पाप कर्मको संचित किया है कि जो नरकका पाथेय (मार्गमें खानेके योग्य नाशना) नरक अवस्थाकी प्राप्तिका कारण—बन गया है ॥३३॥

मैंने अह्नानके बश होकर विषयोंमें अन्ध होते हुए निरपराध भी त्रस और स्थावर आणियोंके समूहका घात किया है ॥३४॥

पूर्व भवमें जो मैं चिरकाल तक परधनरूप मासमें आसक्त, परस्त्रीके सम्भोगका अभिलाषी, बहुत व्यसनोंसे बिनष्ट—अतिशय व्यसनी—और रौद्रध्यानमें तत्पर होकर स्थित रहा हूँ उसका यह कल अनन्त पीड़ासे निःसारभूत व हुष्ट परिणामवाले नरकरूप समृद्धमें हुआ है ॥३५-३६॥

१. P om. this verse । २. M Y °दयवं । ३. M N विराच्य कदु° । ४. M शिद्धिदेऽ ।

1725) यत्स्थितः प्राक् चिरं कालं तस्यैतत्पलमागतम् ।  
अनन्तयातनासारे दुरन्ते धन्वसागरे ॥३६

1726) यन्मया चञ्चितो लोको वराको मूढमानसः ।  
उपायैर्हुभिर्निन्द्यैः १ स्वाक्षसंतर्पणार्थिना ॥३७

1727) [ ‘कृतः पराभवो येषां धनभूत्वीकृते मया ।  
घाताश्च ते अ तं प्राप्ताः कर्तुं तस्याथ निष्क्रियाम् ॥३७\*१ ]

1728) ये १ तदा शशकग्राया भया बलवता हताः ।  
ते अ २ जाता मृगेन्द्राभा भां हनुं विविधैर्विधैः ॥३८

1725) यत्स्थितः—यत् प्राक् चिरकालं स्थितः तस्य एतत् फलम् आगतम् । कव । इव अ-  
सामरे । अनन्तयातनासारे अनन्तपीडासारे । दुरन्ते । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ स्वाक्षलाभ्यर्थ्यमाह ।

1726) यन्मया—स्वाक्षसंतर्पणार्थिना स्वेन्द्रियसंतर्पणार्थिना । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ पुर्वाभववन्धस्वरूपमाह ।

1727) कृतः पराभवः—मया पराभवो येषां घातः धनभूत्वीकृते । अ अ भवे । अ अ संप्राप्ताः ।  
किं कर्तुम् । निष्क्रियैः कर्तुम् । इति सूत्रार्थः ॥३७\*१॥ अथ पुर्वाभवस्वरूपमाह ।

1728) ये तदा—मृगेन्द्राभाः सिहाः । विविधैः तानाप्रकारैः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ मनुष्यभवोचितमाह ।

अपनी इन्द्रियोंको सन्तुष्ट करनेकी इच्छासे बहुत-से निन्द्य उपायोंके द्वारा जो मैंने  
बेचारे मूढबुद्धि जनको ठगा है तथा धन, भूमि और बीके निमित्त जिन लोगोंका मैंने तिर-  
स्कार किया है व जिनका घात भी किया है वे आज यहाँ उसका प्रतीकार करनेके लिए प्राप्त  
हुए हैं ॥३७-३७\*१॥

जो प्राणी उस सभय खरगोशके समान दुर्बल थे उनका मैंने बलवान् होनेसे घात  
किया है । वे आज अनेक प्रकारके वधों ( प्रहारों ) के द्वारा मेरा घात करनेके लिए सिंहके  
समान बलवान् हुए हैं ॥३८॥

१. S F R नरकार्थवे, J भोहसामरे । २. T om, this verse । ३. S F R पार्थः for निन्द्यः ।  
४. P om, this verse । ५. M L S निष्क्रियं, N निष्कर्म, T निष्क्रयः । ६. P reads this  
verse in between the two lines of the verse No. 44 । ७. M N T तेऽन् । ८. M J  
हनुं मां । ९. T वलैः for वलैः ।

1729) मानुष्ये ऽपि स्वतन्त्रेण यत्कुतं नास्यनो हितम् ।

तद्गति किं करिष्यामि देवपीरुषवर्जितः ॥३९॥

1730) मदान्धेनोतिपापेन निस्त्रिशेनास्तुषुद्धिना ।

विराध्याराध्यसंतानं कुतं कर्मातिनिनिदतम् ॥४०॥

1731) [१०४०] यत्पुरग्रामविन्ध्येषु मया शिषो हुताशनः ।

जलस्थलबिलाकाशचारिणो जन्तवो हताः ॥४०\*१॥

1732) कुन्तनित भम मर्माणि स्मर्यमाणान्यनारतम् ।

ग्राचीनान्यथ कर्माणि क्रकचानीव निर्दयम् ॥४१॥

1729) मानुष्ये ऽपि—देवपीरुषवर्जितः भारयोद्यमरहितः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथैतदेवाह ।

1730) मदान्धेन—निस्त्रिशेन निर्देशः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ पुनः स्वनिन्दामाह ।

1731) यत्पुर—यत् मया पुरग्रामविन्ध्येषु । सत्र विराध्याः पर्वताः । तेषु हुताशनः शिषः । जन्तवो हताः । कीदृशाः । जलस्थलबिलाकाशचारिणः । इति सूत्रार्थः ॥४०\*१॥ अथ पूर्वकर्म-निन्दामाह ।

1732) कुन्तनित—निर्देशं यथा स्यात् तथा । क्रकचानि प्रसिद्धानि । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

मनुष्य पर्यायको पा करके जब मैं स्वतन्त्र था तब तो मैंने अपना हित कुछ भी नहीं किया । अब आज जब मैं यहाँ दैव और पुरुषार्थ दोनोंसे ही वर्जित हूँ तब भला क्या अपना हित कर सकूँगा ? कुछ भी नहीं ॥३९॥

अभिमानमें अन्ध, पापी, निर्दय और दुर्खुदि होकर मैंने पूज्य जनकी परम्पराकी विराधना करके अतिशय निनिदत कार्य किया है ॥४०॥

मैंने जो नगर, गाँध और पर्वत आदिमें आग लगायी है तथा जल, स्थल, बिल और आकाशमें संचार करनेवाले प्राणियोंका धात किया है उन सब दुष्टतापूर्ण कृत्योंका जब स्मरण करता हूँ तब वे सब पूर्वके कृत्य करोतके समान निर्देशतापूर्वक भेरे भर्मोंका छेदन करते हैं ॥४०\*१—४१॥

१. All others except P M<sup>०</sup> नापि । २. P om this Verse, but omission indicated ।

३. M N चारिणो यद्वताङ्गिनः ।

1733) कि करोमि कव गच्छामि कर्मजाते पुरःस्थिते ।

शरणं कं प्रपश्यामि वराको दैवविजितः ॥४२

1734) यन्निमेषमपि स्मर्तुं द्रष्टुं श्रोतुं न शक्यते ।

तददुःखमत्र सोहव्यं वर्धमानं कथं मया ॥४३

1735) एतान्यद्युपूर्वाणि निरुप्तिं च कुलादि च ।

यातनाशं महावोरा नारकाणां मयेष्विताः ॥४४

1736) विषज्वलनसंकीर्णं वर्धमानं प्रतिक्षणम् ।

मम मूर्धिनि विनिश्चिसं दुःखं दैवेन निर्देयम् ॥४५

1737) न दृश्यन्ते अत्र ते भूत्या न पुत्रा न च बालध्वाः ।

येषां कृते मया कर्म कृतं स्वस्यैव घातकम् ॥४६

1733) कि करोमि—दैवविजितः कर्मविजितः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथवा एतदेवाह ।

1734) यन्निमेषमपि—मया वार्धमानैः (?) अत्र तद दुःखं सोहव्यम् । यत् निमेषमपि द्रष्टुं स्मर्तुं श्रोतुं न शक्यते । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ तस्यासत्यात्माह ।

1735) एतान्यद्युपुरु—मया नारकाणाम् एतानि पूर्वोक्तानि । ईश्विताः दुष्टाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ पुनर्नेत्रकदुःखमाह ।

1736) विषज्वलन—दैवेन दुःखं निर्देयं निश्चिसं मम मूर्धिनि । कीदृशाम् । विषज्वलनसंकीर्णम् । पुनः । प्रतिक्षणं वर्धमानम् । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पुनः पश्चात्तापमाह ।

1737) न दृश्यन्ते—येषां कृते कारणाय स्वस्यैव घातकं कर्म कृतं मया । पूर्वार्थं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ पुनः कर्मविनिश्चयमाह ।

दैवसे उगा गया मैं दीन प्राणी अब यहाँ पूर्वसंचित कर्मसमूहके सामने उपस्थित होनेपर क्या करूँ, कहाँ जाऊँ और किसकी शरण देखूँ ? ॥४२॥

जिस दुःखका क्षणभर भी स्मरण करना, देखना और सुनना भी शक्य नहीं है उस दुःखको मैं यहाँ समुद्रके प्रमाणसे—अपरिमित रूपमें—कैसे सह सूझा दूँगा ? ॥४३॥

नारकियोंके जिन विलोको, कुलोंको और अलिशय भयानक वेदनाओंको पहले कभी नहीं देखा था उन्हें मैं यहाँ देख रहा हूँ—असुखकर रहा हूँ ॥४४॥

दैवसे निर्देयतापूर्वक मेरे शिरपर दिय और अग्निसे व्याप्र उस दुःखको पटका है जो प्रतिसमयं बढ़ रहा है ॥४५॥

जिन भूत्यादिकोंके लिय मैंने अपनेको ही नष्ट करनेवाले महान् संकटमें डालनेवाले—कार्यको किया है उसमें यहाँ न वे सूत्य दिखते हैं, न पुत्र दिखते हैं, और न बन्धु भी दिखते

- 1738) न कलत्राणि विशाणि न पापयेष्वको जनः ।  
पदमप्येकमायातो मया सार्वं गतव्रयः ॥४७
- 1739) आश्रयन्ति यथा वृक्षं फलिनं पत्रिणः पुरा ।  
फलायाये पुनर्यान्ति तथा ते स्वजना गताः ॥४८
- 1740) शुभाशुभानि कर्माणि यान्त्येव सह देहिभिः ।  
स्वाजितानीति यत्प्रीचुः सन्तस्तस्त्यतां गतम् ॥४९
- 1741) धर्मं एव समुद्रतुं शक्तो इस्माच्छ्रवभसागरात् ।  
न स स्वप्ने ऽपि पापेन मया सम्यक् पुराजितः ॥५०

1738) न कलत्राणि—पापप्रेरको जनो मया सार्वम् एकमपि पदं न यातः । कीदूषः ।  
गतव्रयः निलैज्जनः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ स्वजनानां स्वार्थित्वमाह ।

1739) आश्रयन्ति—पत्रिणः पक्षिणः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४८॥ अथ परलोकादी  
स्वकर्म यातीत्याह ।

1740) शुभाशुभानि—सन्तः सत्पुरुषाः यत् प्रीचुः कथयामासुः तत् सत्यतां गतं प्राप्तम् ।  
शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४९॥ अथ पुनः पश्चात्तापमाह ।

1741) धर्मं एव—मया पापेन स्वप्ने ऽपि स धर्मः पुरा न सम्प्रगजितः उपाजितः । पूर्वार्थं  
सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५०॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

हैं । स्त्रियाँ, बित्र और निर्लैज्ज होकर मुझे पापही ओर प्रेरित करनेवाले अन्य जन भी इस  
समय मेरे साथ एक कदम भी नहीं आये हैं ॥४६-४७॥

जिस प्रकार पश्चो किसी फलयुक्त वृक्षको देखकर पहले तो उसका आश्रय लेते हैं और  
जब उसके फल समाप्त हो जाते हैं तब फिर उसको छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं उसी प्रकार  
कुदुम्बीजन भी जबतक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है तबतक रहते हैं और फिर उसकी  
सम्मावना न रहनेवर छोड़कर चले जाते हैं—संचित पापकर्मका उदय आनेपर प्राप्त हुए  
वोर दुःखका सहसागरी कोई भी नहीं होता है ॥४८॥

सत्पुरुष जो यह कहा करते थे कि प्राणियोंके साथ अपने पूर्वोपाजित शुभ और अशुभ  
कर्म ही केवल जाते हैं, वह उनका कहना सत्यताको प्राप्त हुआ है ॥४९॥

इस नरकरूप समुद्रसे केवल एक धर्म ही उद्धार कर सकता है । परन्तु मुझ जैसे पापीने  
उस धर्मका उपाज्ञन योग्य रीतिसे स्वप्नमें भी नहीं किया है ॥५०॥

- 1742 ) सहायः को इयि कर्त्यायि नाभूतं च अविष्यति ।  
सुकृतैकं प्राकृतृतं कर्म सर्वसंख्याभिनन्दकम् ॥५१
- 1743 ) तत्कुर्वन्त्यधमाः कर्म जिह्वोपस्थादिदण्डताः ।  
येन वशेषु पञ्चन्ते कृतात्करणस्वनाः ॥५२
- 1744 ) चक्षुरुन्मेषमात्रस्य सुखस्यार्थे कृतं मया ।  
तत्पार्य येन संपन्ना अनन्ता दुःखराशयः ॥५३
- 1745 ) याति सार्थं ततः पाति करोति नियतं हितम् ।  
इन्ति दुःखं सुखं दत्ते यः स वैन्युर्न पोषितः ॥५४

1742) सहायः—एक प्राकृतृतं कर्म मुक्त्वा त्यक्त्वा । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५१॥ अथ वुष्कर्मफलमाह ।

1743) तत्कुर्वन्ति—अधमाः तत्कर्म कुर्वन्ति । कीदृशा अधमाः । जिह्वोपस्थादिदण्डताः । जिह्वा प्रसिद्धा । उपस्थ लिङ्गादि । तैर्दण्डताः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५२॥ अथ पुनर्दुःखं भावयति ।

1744) चक्षुरुन्मेष—येन पापेन अनन्ता दुःखराशयः संपन्नाः प्राप्ताः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५३॥ अथ धर्मस्वरूपमाह ।

1745) याति सार्थ—यः स धर्मः वन्धुः । न पोषितः वन्धुः भवति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अर्थतदेवाह ।

सब ही प्राणियोंका अभिनन्दन करनेवाले—उन्हें सुख देनेवाले—एक पूर्वकृत कर्मको छोड़कर अन्य कोई भी किसीका न कभी सहायक हुआ है और न होगा ही ॥५१॥

हीन प्राणी जिह्वा और जननेन्द्रियसे पीछित होकर उस कृत्यको किया करते हैं कि जिसके द्वारा करणापूर्ण आक्रमन करते हुए नरकोंमें पकाये जाते हैं—नरकोंमें जारकी होकर असृष्ट दुःखको सहते य विलाप करते हैं ॥५२॥

मैंने चक्षुके उन्मेष मात्र—तेवपलकके परिक्षेपरूप शृणिक—सुखके लिए वह पाप किया है कि जिसके कारण यहाँ अनन्त दुःखोंकी राशियाँ प्राप्त हुई हैं ॥५३॥

जो ( धर्म ) प्राणीके साथ जाता है, दुःखसे रक्षण करता है, सदा हित ही किया करता है, दुःखको नष्ट करता है, और सुखको देता है; वह यथार्थमें वन्धु ( हितेषी ) है । परन्तु जिनका भरण-योषण किया जाता है वे कुटुम्बीजन वस्तुतः वन्धु नहीं हैं, क्योंकि, उनमें वन्धुत्वका उपर्युक्त लक्षण नहीं पाया जाता है ॥५४॥

१. M N न च भूत । २. M मुक्त्वैव...सर्वः सर्वाभिः । ३. X Y एसों for वन्धुः । ४. N L S T F R पोषितः ।

- 1746) परिग्रहमहाप्राहविश्वस्ते नार्तचेतसा ।  
तदृष्टा यमशार्दूलचपेटा जीवनाशिनी ॥५५
- 1747) पातयित्वा महावोदे सां शब्दे इच्छिन्त्यवेदने ।  
क्व गतास्ते अधुना पापा मदित्तफलभोजिनः ॥५६
- 1748) इत्यजस्ते सुदुःखातां विलापमुखरामनाः ।  
शोचन्ते पापकर्माणि वसन्ति नरकालये ॥५७
- 1749) [ 'यावन्ति सन्ति लोमाणि' शरीरे देहधारिणः ।  
तावन्तो नरके कल्पा वसन्ति पिशिताशनाः ॥५७\*१ ]

1746) परिग्रह—रे जीव, त्वया यमशार्दूलचपेटा तदृष्टा । कीदृशो । जीवनाशिनी । कीदृशेन । आर्तचेतसा । कीदृशेन । परिग्रह एव भ्रह्माहः तेन संग्रस्तेन । इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1747) पातयित्वा—ते पापा मदित्तफलभोगिनः\* । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५६॥ अथ पुनरस्तदेवाह ।

1748) इत्यजस्ते—नारकाः पापकर्माणि शोचन्तः\* नरकालये । इति अमूना प्रकारेण अजस्ते निरन्तरं सुदुःखाताः । पुनः कीदृशाः । विलापमुखरामनाः । इति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ पुनरन्तरक-दुःखमाह ।

1749) यावन्ति—देहिनां शरीरे यावन्ति लोमाणि सन्ति तावन्तो नरके कल्पाः पिशिताशनाः वसन्ति । इति सूत्रार्थः ॥५७\*१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

परिग्रहरूप महाप्राह ( हिंसक जलजन्तु ) के वशीभूत होकर चित्तमें पीड़ाका अनुभव करते हुए मैंने जीवितको नष्ट करनेवाली यमरूप सिंहकी शप्तब्दको नहीं देखा—परिग्रहमें आसक्त होकर पापाचरण करते हुए मैंने शृत्युका भी विचार नहीं किया ॥५५॥

मेरे द्वारा उपार्जित धनके फलका उपभोग करनेवाले वे कुदुम्बीजन मुझे इस अचिन्त्य वेदनावाले अतिशय भयानक नरकमें गिराकर अब इस समय कहाँ चले गये हैं—जिस प्रकार वे मेरे द्वारा उपार्जित धनके फलके भोगनेमें सहभागी रहे हैं उसी प्रकार अब उससे उत्थन्न इस पापके फलके भोगनेमें कोई भी सहभागी नहीं हो रहा है ॥५६॥

इस प्रकार अतिशय दुःखसे पीड़ित होकर मुखसे करणापूर्ण विलाप करनेवाले वे नारकी नरकभूमिमें रहते हैं और शोक करते हैं ॥५७॥

देहधारीके शरीरपर जितने केश हैं उतने कल्पतक नरकमें खून पीते हुए रहते हैं ॥५७\*२॥

१. M संग्रस्तेनात्, S F संग्रस्तेनास्त, N L T J X Y R संघस्तेनात् । २. P नाशनी । ३. N L T J X R भोगिनः, V भाजिनः । ४. M N L T V शोचन्तः । ५. M N T कर्माणी । ६. P J X R om. । ७. N L S T F लोमाणि....तावन्तो....कल्पान् । ८. N T पिशिताशिनः ।

- 1750 ) इति चिन्तानलेनोच्चैर्दृष्यमानस्य ते तदा ।  
 धावन्ति शरशूलासिकराः क्रोधाग्निदीपिताः ॥५८
- 1751 ) वैरं पराभवं पापं स्मारयित्वा पुरातनम् ।  
 निर्भत्स्य कटुकालापैः पीडयन्त्यतिनिर्दयम् ॥५९
- 1752.) उत्पाटयन्ति नेत्राणि चूर्णयन्त्यस्थिसंचयभ् ।  
 दारयन्त्युदरं कुद्धास्त्रोटयन्त्यन्त्रनालिकाम् ॥६०
- 1753 ) निष्पीडयन्ति यन्त्रेषु दलन्ति विषमोपलैः ।  
 शाल्मलीषु निष्पर्वन्ति कुम्भीषु क्वाथयन्ति च ॥६१
- 1754 ) असह्यदुःखसंतानदानदक्षाः कलिप्रियाः ।  
 तीक्ष्णदंष्ट्राः करालास्या मिज्जाङ्गनसमग्रभाः ॥६२

1750) इति चिन्तानलेन — शरशूलासिकराः धावन्ति । कीदृशाः । क्रोधाग्निदीपिताः ।  
 इति अमूना चिन्तानलेन उच्चैर्दृष्यमानस्य ते तदा । इति सूत्रार्थः ॥५८॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1751) वैरं पराभवं—कटुकालापैः कटुकवचनैः । इति सूत्रार्थः ॥५९॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1752) उत्पाटयन्ति—नेत्राणि उत्पाटयन्ति । अस्थिसंचयं चूर्णयन्ति । उदरं कुद्धाः दारयन्ति ।  
 आन्त्रमालिकाः\* [ त्रोटयन्ति ] । इति सूत्रार्थः ॥६०॥ [ पुनस्तदेवाह ]

1753) निष्पीडयन्ति—यन्त्रेषु निष्पीडयन्ति । विषमोपलैः कठिनपाषाणैः दलन्ति । शाल्म-  
 लीषु निष्पर्वन्ति । कुम्भीषु कुम्भीपाकेषु क्वाथयन्ति उत्कलयन्ति । इति सूत्रार्थः ॥६१॥ ] अथ पुनः  
 कीदृशा नारकाः ।

1754) असह्यदुःख—असह्यदुःखसंतानदानदक्षाः असह्यीयदुःखसमूहदानचतुराः करालास्या:

इस प्रकार चिन्तास्थप अग्निसे जलते हुए उस नव नारकीकी ओर उस समय वे पुराने  
 नारकी क्रोधरूप अग्निसे सम्बस होकर हाथमें बाण, शूल और तलबार आदिको लिये हुए  
 ढौढ़ते हैं, तथा पूर्व भवके वैर, अपमान एवं पापका स्मरण कराकर कटुक वचनोंके द्वारा  
 भर्त्सना करते हुए उसे अतिशय सिर्द्धयतापूर्वक पीड़ित करते हैं ॥५८-५९॥

वे दुष्ट नारकी उसके नेत्रोंको उखाड़ते हैं, हङ्कियोंकी समूहको चूर्णित करते हैं, उदरको  
 फाढ़से हैं, और अँतीोंके समूहको तोड़ते हैं ॥६०॥

तथा वे उसे यन्त्रों ( क्रोल्ह आदि ) में डालकर पीड़ित करते हैं, चिषम ( लुकीले )  
 पत्थरोंके द्वारा खण्डित करते हैं, कॉटिदार सेमरके वृक्षोंपरसे चसीटते हैं, और कुम्भियों  
 ( क्षुद्र घड़ों ) में डालकर काढ़ा बनाते हैं—एकाते हैं ॥६१॥

असह्य दुःखोंकी परम्पराके देनेमें चतुर, युद्धमें अनुरक्त, तीक्ष्ण दग्धोंसे संयुक्त, भयानक  
 मुखसे सहित, मिज्ज अंजनके समान कानितशाले—अतिशय काले, कुण्ठलेश्यासे उद्धृत—दुष्ट

- 1755) कृष्णलेश्योदृताः पापा रौद्रध्यानैकभाविताः ।  
भवन्ति देवदोपेग सर्वे ते नारकाः खलाः ॥६३
- 1756) वैक्रियिकशरीरत्वाद्विक्रियन्ते यदृच्छया ।  
यन्त्राग्निश्वापदाङ्गैस्ते इन्तुं चित्रैर्वधैः परान् ॥६४
- 1757) न तत्र वान्धवः स्वामी मित्रं भूत्याङ्गनाङ्गजाः ।  
अनन्तयातनासारे नरके इत्यन्तभीषणे ॥६५
- 1758) तत्र ताम्रमया गृध्रा लोहतुष्ठारच वायसाः ।  
दारयन्त्येव मर्माणि चञ्चुभिर्नखरैः खरैः ॥६६

रीदमुखाः । पुनः कीदृशाः । भिन्नाङ्गनसमप्रभाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६२॥ अथ पुनर्नरकाणां स्वरूपमाह ।

1755) कृष्णलेश्योदृताः—खला दुर्जनाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६३॥ अथ पुनर्नरक-स्वरूपमाह ।

1756) वैक्रियिक—ते नारकाः यदृच्छया स्वभावेन विक्रियन्ते वैक्रियत्वेन संभवन्ति । कस्मात् । वैक्रियत्वात् । परान् स्वान्त्यान् चित्रैर्निप्रकारैः वधैः हन्तुं तैः यन्त्राग्निश्वापदाङ्गैः । इति सूत्रार्थः ॥६४॥ अथ पुनर्नरके परिजनाभावमाह ।

1757) न तत्र—तत्र वान्धवाः भूत्याङ्गनाङ्गजाः न । कीदृशो नरको । अनन्तयातनासारे अनन्तपीडास्थाने । पुनः कीदृशो । अत्यन्तभीषणे रीढैः । इति सूत्रार्थः ॥६५॥ अथ तत्रस्थजीवानां स्वरूपमाह ।

1758) तत्र ताम्र—तत्र नरके गृध्राः ताम्रमयाः । च पुनः । लोहतुष्ठाः वायसाः । मर्माणि दारयन्त्येव । कैः । चञ्चुभिः । खरैः कठोरैः नखरैः । इति सूत्रार्थः ॥६६॥ अथ पुनर्नरकदुखमाह ।

परिणामोंसे परिणत, पापी और एक मात्र रीद्रध्यानका चिन्तन करनेवाले वे नारकी क्षेत्रके दोषसे स्वभावतः दुष्ट होते हैं ॥६२-६६॥

वैक्रियिक शरीरसे संयुक्त होनेके कारण वे नारकी अनेक प्रकारके घातों द्वारा दूसरोंका घात करनेके लिए अपनी इच्छानुसार यन्त्र, अग्नि और इवापद ( हिंसक पशु ) आदिके शरीर स्वरूपसे अपने शरीरकी विक्रिया करते हैं ॥६४॥

अनन्त पीड़ासे निःसार ( अथवा अनन्त पीड़ारूप मूसलथार वधोंसे सहित ) और अतिशय भयानक उस नरकमें बन्धु, स्वामी, मित्र, सेवक, स्त्री और पुत्र कोई भी नहीं दिखते ॥६५॥

वहाँ ताँके गीध पश्ची और लोहेके मुखबाले काक पश्ची तीक्ष्ण चोंचों और नखोंके द्वारा मर्मस्थानोंका विदारण करते हैं ॥६६॥

१. J om. । २. T "लेश्याद्याः । ३. P वैक्रियक । ४. M N "पदाङ्गैः स्वैः । ५. S X Y R मित्रभूत्या, J स्वामी न भूत्या नाङ्गनां । ६. All others except P M N ताम्रमुखा ।

- 1759) कृमयः पूतिकुण्डेषु चञ्चलूचीसमाननाः ।  
भित्त्वा चर्मास्थिमासानि पिवन्त्याकृष्णं लोहितम् ॥६७
- 1760) बलाद्विदार्थं संदर्शीर्वदर्शं शिष्यते क्षणात् ।  
बिलीनं प्रज्वलत्तार्णं यैः पीतं मधुमुदत्तैः ॥६८
- 1761) परमांसानि यैः पापैर्भैश्चितान्येत्र निर्देयैः ।  
शूलपक्वानि मांसानि तेषां स्वादन्ति नारकाः ॥६९
- 1762) यैः<sup>३</sup> प्राक्परकलत्राणि सेवितान्यात्मवज्ञचक्षैः ।  
योज्यन्ते प्रज्वलन्तीभिः स्त्रीभिस्ते ताम्रजन्मभिः<sup>४</sup> ॥७०
- 1763) न सौख्यं चक्षुरुम्मेषमात्रं मप्युपलभ्यते ।  
नरके नारकैदानैहन्यमानैः परस्परम् ॥७१

1759) कृमयः—पूतिकुण्डेषु राघ्यकुण्डेषु कृमयः । कीदृशाः । चञ्चलूचीसमाननाः । भित्त्वा चर्मास्थिमासानि भित्त्वा लोहितं पिवन्त्याकृष्णेति सूत्रार्थः ॥६७॥। अथ मधुगाना दुखमाह ।

1760) बलाद्विदार्थ—बलात् किदार्थं भित्त्वा । संदर्शैः वदनं शिष्यते क्षणात् । प्रज्वलत् ताम्रं बिलीनम् । यैरुद्धतैर्गर्भं पीतम् । इति सूत्रार्थः ॥६८॥। अथ पुनर्नारकाणां स्वरूपमाह ।

1761) परमांसानि —[ परमांसानि अन्येषां प्राणिनां मांसानि । पापैः दुष्टैः । शूलपक्वानि शूले पक्वानि । नारकाः नरकस्थिताः प्राणिनः । इति सूत्रार्थः ] ॥६९॥। अथेतदेवाह ।

1762) यैः प्राक्—अत्मवज्ञचक्षैः स्वात्मवज्ञचक्षैः योज्यन्ते ते । ताम्रजन्मभिः स्त्रीभिः प्रज्वलन्तीभिः । इति सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७०॥। अथ पुनर्स्तेषां स्वरूपमाह ।

1763) न सौख्यं—चक्षुरुम्मेषमात्रमपि सौख्यं नोपलभ्यते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७१॥। अथ नरकदुखमुपर्संहरति ।

तथा अतिशय दुर्गन्धवाले कुण्डोमें वज्रकी सुईके समान सुखसे संयुक्त कीड़े ( जोक आदि ) नारकियोंके चमड़े, हड्डियों और मासको नीचते व रुधिरको खीचकर पीसे हैं ॥६७॥।

जिन जीवोंने उद्गत होकर मरणका पान किया है उनके मुखको संडासियोंके द्वारा फाँड़कर दूसरे नारकी उसके भीतर तपकर पिवले हुए ताँबिको बलपूर्वक क्षणभरमें डाल देते हैं ॥६८॥।

जिन पापियोंने यहाँ निर्देयतापूर्वक दूसरे प्राणियोंके मांसका भक्षण किया है उनके मासको कटिसे पकाकर बहाँ अन्य नारकी खाते हैं ॥६९॥।

जिन कासीजनोंने पूर्ण भवमें अपने आपको धोखा देकर परस्त्रियोंका सेवन किया है, दूसरे नारकी उनका संयोग जलती हुई ताँबिकी स्थिर्योंके साथ करते हैं ॥७०॥।

नरकमें परस्पर एक दूसरेके द्वारा धात किये जानेवाले नारकी जीव मेवके उन्मेष बराबर—क्षणभरके लिए भी—सुखको नहीं प्राप्त करते हैं ॥७१॥।

- 1764) किमत्र वहुनोक्तेन जन्मकोटिशतैरपि ।  
केनापि शक्यते वक्तुं न दुःखं नरकोद्गवम् ॥७२॥
- 1765) विस्मृतं यदि केनापि कारणेन ज्ञान्तरे ।  
स्मारयन्ति तदाभ्येत्य पूर्ववैरं सुराधमाः ॥७३॥
- 1766) बुभुक्षा जायते इत्यन्ते<sup>१</sup> नरके तत्र देहिनाभ् ।  
यां न शामयितुं शर्कः पुद्गलप्रचयो अखिलः ॥७४॥
- 1767) तृष्णा भवति या तेषु बडवाग्निरिवोल्बणा ।  
न सा शाम्यति निःशेषैः<sup>२</sup> पीतैरप्यम्बुराशिभिः ॥७५॥
- 1768) विन्दुमात्रं न तैर्वारि प्राप्यते पातुमातुरैः ।  
तिलमात्रो ऽपि नाहारो ग्रसितुं लभ्यते हि तैः ॥७६॥

1764) किमत्र—अब कि बहुनोक्तेन । नरकोद्भवं दुःखं केनापि वक्तुं न शक्यते । कैः । जन्मकोटिशतैरपि । इति सूत्रार्थः ॥७२॥ अथ पूर्ववैरस्मरणपूर्वदुःखमाह ।

1765) विस्मृतं—सुराधमाः पूर्ववैरं तदाभ्येत्यागत्य । स्मारयन्ति ज्ञान्तरम् । यदि केनापि कारणेन विस्मृतम् । इति सूत्रार्थः ॥७३॥ अथ नरके बुभुक्षा वर्तते इत्याह ।

1766) बुभुक्षा—तत्र नरकदेहिनां बुभुक्षा शुधा अत्यर्थं<sup>१</sup> जायते । यां न असमापयितुम्<sup>२</sup> असंपूर्णी कर्तुं पुद्गलप्रचयो अखिलः पूर्णः । इति सूत्रार्थः ॥७४॥ अथ तृष्णामाह ।

1767) तृष्णा भवति—तेषु नारकेषु या तृष्णा भवति । कीदृशी । बडवाग्निरिवोल्बणा । सा तृष्णा न शाम्यति नोपशाम्यति । निःशेषैरप्यम्बुराशिभिरपि पीतैः । इति सूत्रार्थः ॥७५॥ अथ तदेवाह ।

1768) विन्दुमात्रं—ग्रसितुं भवितुं हि तैः नो लभ्यते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७६॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

यहाँ बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? कारण यह कि वहाँ इतना अधिक दुःख है कि यदि कोई नरकमें उत्पन्न होनेवाले उस दुःखका वर्णन सैकड़ों करोड़ भवोंके द्वारा भी करना चाहे तो भी वह नहीं किया जा सकता ॥७२॥

यदि कोई नारकी कारणवश क्षणभरके लिए उस दुःखको भूल भी जाये तो असुर-कुमार जातिके कुछ निकृष्ट देव आकर उस समय उसे पूर्ववैरका स्मरण करते हैं ॥७३॥

वहाँ नरकोंमें नारकी जीवोंको इतनी अधिक भूख उत्पन्न होती है कि उसको शान्त करनेके लिए समस्त पुद्गलोंका समूह भी समर्थ नहीं हो सकता है ॥७४॥

उन नरकोंमें प्राणियोंको बडवाग्निके समान इतनी उत्कट प्यास उत्पन्न होती है कि वह समस्त समुद्रके भी पानीके पी लेनेपर शान्त नहीं हो सकती है ॥७५॥

परन्तु पानी पीनेके लिए व्याकुल हुए उन नारकियोंको वहाँ बूँदके बराबर भी जल

१. M N जायते तत्र, L S T F J X Y R <sup>२</sup>तेष्यर्थ । २. M N T X नरकेत्यन्त । ३. P शमयितुं ।

४. All others except P M निःशेष ।

- 1769) तिलादप्यतिष्ठमाणि कुरुं खण्डानि निर्दयैः ।  
वपुभिलति वेगेन पुनस्तेषां विधेर्वशात् ॥७७
- 1770) यातनारुं कृशरीरायुलेश्यादुःखभयादिकम् ।  
वर्धमानं विनिश्चेयमधो उधः शब्रभूमिषु ॥७८
- 1771) मध्यभागस्ततो मध्य आस्ते इसौ झल्लरीनिभः ।  
यत्र द्वीपसमुद्राणां व्यवस्था वलयाकृतिः ॥७९
- 1772) जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयो अर्णवाः ।  
स्वयंभूरमणान्तास्ते अत्येकं द्वीपसागराः ॥८०

1769) तिलादपि—निर्दयैः तिलादपि अतिष्ठमाणि कुरु खण्डानि । पुनस्तेषां वपुः वेगेन मिलति । कस्मात् । विधेर्वशात् । इति सूत्रार्थः ॥७७॥ अथ नरकेषु एतत्सर्वं भवतीत्याह ।

1770) यातनारु—इव भ्रभूमिषु नरकभूमिषु यातना पीडा । तदादि सर्वं वर्धमानं निश्चेयम् । अबोधः अज्ञानमपीति सूत्रार्थः ॥७८॥ अथ नरकाणां व्यवस्थानम् आह ।

1771) मध्यभागः—ततो मध्यभागः मध्ये असौ आस्ते । कीदृशः । झल्लरीनिभः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७९॥ [ अथ द्वीपसामरानाह ।

1772) जम्बूद्वीपादयः—लवणोदादयः क्षारसमुद्रादयः अर्णवाः समुद्राः । स्वयंभूरमणान्ताः स्वयंभूरमणपर्यन्ताः । इति सूत्रार्थः ॥८०॥ ] अथ द्वीपानां स्वरूपमाह ।

नहीं प्राप्त होता है । इसी प्रकार अपरिमित भूखके होनेपर भी उन्हें खानेके लिए तिलके कणके बराबर भी आहार नहीं प्राप्त होता है ॥७६॥

दुष्ट नारकियोंके द्वारा अन्य नारकियोंका शरीर तिलके दानेसे भी छोटे खण्डोंमें खण्डित कर दिया जाता है, किर भी वह कर्मके बश शीघ्र ही फिरसे मिल जाता है ॥७७॥

नीचे-नीचेकी पुरिवियोंमें—एहलीकी अपेक्षा दूसरी और दूसरीकी अपेक्षा तीसरी आदिमें—वेदना, रोग, शरीरकी ऊँचाई, आवृ, लेश्या, दुःख और भय आदि उत्तरोत्तर बृद्धिको प्राप्त होते गये हैं ॥७८॥

उपर्युक्त अथोलोकके ऊपर और ऊर्ध्वोलोकके मध्यमें मध्यभाग ( मध्यलोक ) है जो शालरके समान है । उसके भीतर चूड़ीके आकारमें एक दूसरेको बैठित करके द्वीप और समुद्र स्थित हैं ॥७९॥

उन द्वीप-समुद्रोंमें स्वयंभूरमण द्वीप तक जम्बूद्वीपको आदि लेकर असंख्यात द्वीप और लवणसमुद्रको आदि लेकर स्वयंभूरमण समुद्र तक असंख्यात समुद्र हैं जो प्रत्येक एक दूसरेको बैठित करते हैं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि मध्यलोकके ठीक मध्यमें एक लाख

१. F J X Y R कुरु खण्डानि । २. M युक् for रुक् । ३. J क लिश्चेय । ४. R मध्ये तत्रास्ते ।  
५. J लवणान्तास्ते ।

१७३) द्विगुणे द्विगुणाभोगाः प्रावृत्यान्योन्यमास्थिताः ।  
सर्वे ते शुभनामानो बलयाकौरधारिणः ॥८१

१७४) मानुषोत्तरशैलेन्द्रमध्यस्थमतिसुन्दरम् ।  
नरक्षेत्रं सरिल्लैल्लुराचलविराजितम् ॥८२

१७३) द्विगुणद्विगुणा—सर्वे द्वीपसागराः शुभनामानः । पुनः कीदृशाः । बलयाकृति-धारिणः\* । इति सूत्रार्थः ॥८१॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

१७४) मानुषोत्तर—मानुषोत्तरशैलेन्द्रमध्यस्थमतिसुन्दरम् । लुराचलविराजितम् । शैल सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८२॥ अथ तत्र खण्डानि प्रतिपादयति ।

योजन विस्तारवाला गोल जन्मदूर्धीप स्थित है । उसको चारों ओरसे वेष्टित करके लवणसमुद्र स्थित है । उसका विस्तार दो लाख योजन प्रमाण है । इसको चारों ओरसे वेष्टित करके दूसरा द्वीप धातकीखण्ड स्थित है, जिसका विस्तार चार लाख योजन है । उस धातकी खण्डको सब ओरसे घेरकर जो कालोद नामका दूसरा समुद्र स्थित है । उसका विस्तार आठ लाख योजन है । इसको वेष्टित करके सोलह लाख योजन विस्तृत पुष्कर द्वीप स्थित है । उसके छोटे बीचों-बीच मानुषोत्तर नामका पर्वत स्थित है, जिससे इस द्वीपके दो बिभाग हो गये हैं । इस मानुषोत्तर पर्वतके पूर्वका अढाई द्वीप और दो समुद्ररूप छोटे भूमध्यलोक कहा जाता है । उक्त मानुषोत्तर पर्वतके आगे किसी भी अवस्थामें मनुष्योंका अस्तित्व सम्भव नहीं है । इसी कमसे एक दूसरेको वेष्टित करके असंख्यात द्वीप-समुद्र स्थित हैं । सबके अन्तमें स्वयम्भूरमण नामका द्वीप और उसको वेष्टित करके स्वयम्भूरमण नामका अन्तिम समुद्र स्थित है ॥८२॥

चूड़ीके आकारसे स्थित वे सब उत्तम नामोंवाले द्वीप-समुद्र विस्तारमें उत्तरोत्तर एक दूसरेसे दूने-दूने होते हुए परस्पर पूर्वके द्वीप व समुद्रको घेरकर स्थित हैं ॥८१॥

मानुषोत्तर पर्वतराजके मध्यमें नदियों, पर्वतों और सुमेहसे सुशोभित जो अतिशय सुन्दर छोटे हैं वह मनुष्यलोक है ॥ विशेषार्थ—यद्यपि मनुष्यलोकसे प्रसिद्ध इस छोटमें मनुष्योंके साथ तिर्यचोंका भी सदूभाव पाया जाता है, फिर भी चूंकि उन मनुष्योंका गमनागमन मानुषोत्तर पर्वतके बाह्य भागमें कदापि नहीं पाया जाता है अतएव इसे मनुष्यलोक कहा जाता है । उस मानुषोत्तर पर्वतसे आगे स्वयम्भूरमण समुद्र तक चैंकि तिर्यचोंका ही (सर्वत्र विचरनेवाले देवोंकी यहाँ विवक्षा नहीं है) अस्तित्व पाया जाता है, अतएव इस छोटको तिर्यगलोक कहा जाता है । विशेष इतना समझना चाहिए कि मानुषोत्तर पर्वतके बाह्य और स्वयम्भूरमण द्वीपके मध्यमें स्थित स्वयंप्रभ पर्वतके पूर्ववर्ती इन असंख्यात द्वीप-समुद्रोंमें उत्पन्न होनेवाले तिर्यच संज्ञी धनेन्द्रिय व पल्य प्रमाण आयुवाले होते हैं । वहाँ विकल्पय व जलचर जीव नहीं होते । वहाँ जघन्य भोगभूमि (सुषम-दुष्मा) की-सी व्यवस्था है ॥८२॥

१. S T J X Y R द्विगुण द्विगुण भोगाः । २. M S J X Y R प्रावर्त्यः, T प्रवृत्यान्यार्थः ।  
३. J बलयाकृति । ४. J \*ल्लैलं ।

1775) तत्रार्थम्लेच्छखण्डानि भूरिमेदानि तेष्वमी ।  
आर्या म्लेच्छा नराः सन्ति तत्क्षेत्रजनितैरुणैः ॥८३

1776) क्वचित्कुमानुषोपेतं क्वचिद्बृहन्तरसंभूतम् ।  
क्वचिद्गोगधराकीर्ण नरक्षेत्रं निरन्तरम् ॥८४

1777) [ \*उक्तं च—  
क्वचित्सुखं देवसुखोपमं नृणां क्वचिष्ठ दुःखं नरकोपमं महत् ।  
क्वचित्तिर्यक्षदृशं च जायते विचित्ररूपः खलु मानुषो भवः ॥८४\*१ ]

1778) ततो नभसि तिष्ठन्ति विमानानि दिवौकसाम् ।  
चरस्थिरविकल्पानि उयोतिष्काणां यथाक्रमम् ॥८५

1775) तत्रार्थ—तेषु द्विषेषु तत्र आर्यम्लेच्छखण्डानि भूरिमेदानि सन्ति । आर्या म्लेच्छा नराः सन्ति । कीदृशैः । तत्क्षेत्रजनितैः गुणैः । इति सूत्रार्थः ॥८३॥ अथ नरक्षेत्रमाह ।

1776) क्वचित्कुमानुषोपेतं—नरक्षेत्रं निरन्तरं क्वचित् स्थाने कुमानुषोपेतम् । क्वचिद्देशे व्यन्तरसंभूतम् । क्वचिद्देशे भोगधराकीर्णम् । इति सूत्रार्थः ॥८४॥ अथ संसारस्य विचित्रतामाह ।

1777) क्वचित्सुखं—देवसुखोपमं देवसुखसदृशाम् । तिर्यक्षदृशं पशुपक्षिसदृशाम् । इति सूत्रार्थः ॥८४\*१॥ अथ उयोतिष्काणां स्वरूपमाह ।

1778) ततो नभसि—ततः दिवौकसां देवानां विमानानि नभसि आकाशे तिष्ठन्ति । उयोतिष्काणां यथाक्रमं चरस्थिरविकल्पानि चरस्थिरस्वरूपाणि । इति सूत्रार्थः ॥८५॥ [ अथोत्त्वं-लोकमाह ।

उस मनुष्य क्षेत्रके भीतर जो अमेक भेदोवाले आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्ड स्थित हैं उनमें उस-उस क्षेत्रके निमित्तसे उत्पन्न हुए शुणोंसे आर्य और म्लेच्छ मनुष्य रहते हैं ॥८३॥

वह मनुष्य क्षेत्र निरन्तर कहीं पर कुमानुषोंसे संयुक्त, कहीं पर व्यन्तरोंसे परिपूर्ण और कहीं पर भोगभूमिसे ज्याम है ॥८४॥

मनुष्यों को कहीं देवसुखके सदृश सुख मिलता है, तो कहीं नरकतुल्य दुःख सुगतना पड़ता है । तो कहीं पशु-पक्षियों के सदृश दुःख प्राप्त होता है । तात्पर्य, मनुष्यजन्मके रूप कितने विविध हैं ॥८४\*१॥

मनुष्य क्षेत्रसे ऊपर आकाशमें—पृथिवीबलसे ऊपर सात सौ नव्वे ( ७२० ) योजनसे लेकर नौ सौ ( ९०० ) योजन तक एक सौ दस ( ११० ) योजनके बाह्यरूपमें—उयोतिषी देवोंके चलते हुए व कुछ स्थिर भी विमान यथाक्रमसे स्थित हैं ॥८५॥

१. Y om. this verse । २. J सेत्रं जनित । ३. Y om. this verse । ४. Only in N ।

- 1779) तदूर्ध्वं<sup>१</sup> सन्ति देवेशकल्पाः सौधर्मपूर्वकाः ।  
ते शोडशाच्युतस्वर्गपर्यन्ता नभसि स्थिताः ॥८६॥
- 1780) उपर्युपरि देवेशनिवासयुगलं क्रमात् ।  
अच्युतान्तं ततः अज्ञमेकैकं त्रिदशास्पदम् ॥८७॥
- 1781) निशादिनविभागो इयं न तत्रै त्रिदशास्पदे ।  
रत्नालोकः स्फुरत्स्युच्चैः सततं चंभुः सौख्यदैः ॥८८॥
- 1782) वर्षातिपतुषारादिसमयैः परिवर्जितः ।  
सुखदः सर्वदा सौम्यस्तत्र कालः प्रवर्तते ॥८९॥

1779) तदूर्ध्वं—सौधर्मपूर्वकाः अच्युतस्वर्गपर्यन्ताः शोडश स्वर्गः नभसि आकाशे स्थिताः ।  
इति सूत्रार्थः ॥८६॥ ] शीतदेवाह ।

1780) उपर्युपरि—त्रिदशास्पद<sup>२</sup> देवानां स्थानम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८७॥  
अथोर्धवैभूत् अहोरात्रे रभावमाह ।

1781) निशादिन—सततं निरन्तरं नेत्रसौख्यदः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८८॥ अथोर्धवैलोके कालस्वरूपमाह ।

1782) वर्षातिप—तत्र स्वर्गो कालः प्रवर्तते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८९॥ अथोर्धवैलोके यत्नास्ति तदाह ।

उसके ऊपर—गेहके ऊपर वाल मात्रके अन्तरसे आकाशमें सौधर्मको आदि लेकर अच्युत स्वर्ग तक वे सोलह देवेन्द्रोंके कल्प अवस्थित हैं ॥८६॥

ये देवेन्द्रोंके विभान अच्युत कल्प तक क्रमसे युगलरूपमें—सौधर्म-ऐशान, सानकुमार-माहेन्द्र एव ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर आदिके क्रमसे—ऊपर-ऊपर अवस्थित हैं । इसके ऊपर एक-एक देवस्थान है—आरण-अच्युत कल्पके ऊपर तीन पटलोंमें नी ब्रैवेयक, उनके ऊपर एक पटलमें नी अनुदित्ता और उनके ऊपर एक पटलमें पाँच विजयादि अनुत्तर विभान अवस्थित हैं ॥८७॥

यहाँ देवलोकमें यह रात और दिनका विभाग नहीं है । कारण कि वहाँ नेत्रोंको सुख देनेवाली रूलोंकी प्रभा अतिशय प्रकाशमान रहती है ॥८८॥

वहाँपर वर्षाकाल, आतपकाल ( ग्रीष्म ) और शीतादिकालसे रहित ऐसा निरन्तर सुख देनेवाला रमणीय काल प्रवर्तमान रहता है ॥८९॥

१. All others except P M तदूर्ध्वं । २. N तत्रवैर्धवं, L ततो उपर्ध, S T F J X Y R तसो उपूर्धवं<sup>३</sup> । ३. All others except P M <sup>४</sup>मेकैकिं । ४. J त्रिदशास्पदे । ५. X Y न यत्र विवशालये । ६. N L T J R नेत्र for चक्रः । ७. M N सौख्यदैः ।

- 1783) उत्पातभयसंतायमङ्गचौरारिविद्वराः ।  
न हि स्वप्ने ऽथ दृश्यन्ते 'क्षुद्रसत्त्वा श दुर्जनाः ॥१० । तदेथा—
- 1784) चन्द्रकान्तशिलानद्वाः प्रवालदलदन्तुराः ।  
वज्रेन्द्रनीलनिर्मणा विचित्रास्तत्र भूमयः ॥११
- 1785) माणिक्यरोचिषां चक्रैः कर्बुरीकृतदिङ्मुखाः ।  
वाप्यः स्वर्णम्बुजच्छन्ना रत्नसोपानराजिताः ॥१२
- 1786) सरांस्यमलवारीणि हंसकारण्डमण्डलैः ।  
वाचालै रुद्रतीर्थीनि दिव्यनारीजनेन च ॥१३

1783) उत्पात—क्रूरसत्त्वाः हिंसकजीवाः । दुर्जनाः खलाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ पुनः कीदृशास्तानाह । तदेथा दशयिति ।

1784) चन्द्रकान्त—चन्द्रकान्तशिलाभिर्नद्वा बद्वाः प्रवालदलदन्तुराः । सुगमम् । पुनः कीदृशाः । वज्रेन्द्रनीलनिर्मणा हीरेन्द्रनीलमाणिकरचिताः । विचित्रा नानाप्रकाराः । तत्र स्वर्णे भूमयो वर्तन्ते । इति सूत्रार्थः ॥११॥ पुनस्तदाह ।

1785) माणिक्य—पुनः कीदृशाः । माणिक्यरोचिषां कान्तीनां चक्रैः समूहैः कर्बुरीकृत-दिङ्मुखाः । वाप्यः स्वर्णम्बुजच्छन्नाः स्वर्णेकमलाच्छादिताः, रत्नसोपानराजिताः । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1786) सरांस्यमल—सरांसि सरोवराणि । कीदृशानि । अमलवारीणि निर्मलजलानि । रुद्रतीर्थीनि । कैः । हंसकारण्डमण्डलैः राजहंसबलाकशेणीभिः । च पुनः । दिव्यनारीजनेन । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ यत्तदाह ।

देवालयमें उपद्रव, भय, सन्ताप, खण्डन (या विनाश), चोर, शत्रु और दुराचारी तथा शुद्र जीव (कुमि आदि) व दुष्टजन स्वप्नमें भी नहीं देखे जाते हैं ॥१०॥

स्वर्णके स्थान चन्द्रकान्त मणियोंकी शिलाओंसे सम्बद्ध, प्रवाल (भूँगा) मणियोंके समूहसे विषम तथा वज्र व इन्द्रनील मणियोंसे निर्मित होते हुए विचित्र हैं ॥११॥

वहाँ मणियोंकी प्रभाके समूहसे दिङ्मण्डलको अनेक वर्णमय करनेवाली व सुवर्णमय कमलोंसे व्याप्त वापियाँ हैं जो रत्नमय सीढ़ियोंसे अतिशय शोभायमान हैं ॥१२॥

वहाँ जो निर्मल जलवाले तालाब हैं उनके धात्र शब्द करनेवाले हंस और कारण्ड पश्चियोंके समूहोंसे तथा देवांगनाजनोंसे रोके जाते हैं ॥१३॥

- 1787) गावः कामदुधाः सर्वाः कल्पवृक्षाश्च पादयाः ।  
चिन्तारत्नानि रत्नानि स्वर्गलोके स्वभावतः ॥१४
- 1788) ध्वजचामरछत्राङ्कैविमानैर्विनितासखाः ।  
संचरन्ति सुरासारसेव्यमानाः सुरेश्वराः ॥१५
- 1789) यश्किनरनारीभिर्मन्दारवनबीथिषु ।  
कान्तास्तिष्ठाभिः सानन्दं गीयन्ते त्रिदशेश्वराः ॥१६
- 1790) क्रीडागिरिनिकुञ्जेषु पुष्पश्वायागृहेषु च ।  
रमन्ते त्रिदशा वत्र वरस्त्रीवृन्दवेष्टिताः ॥१७

1787) गावः—स्वर्गलोके स्वभावतः संसर्गत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ देवानां स्वरूपमाह ।

1788) ध्वजचामर—संन्वरन्ति सुरेश्वराः ।<sup>१</sup> सारैविमानैः सेव्यमानाः । कीदूषोः । ध्वजचामर-छत्राङ्कैः । पूनः । विनितासखाः स्त्रीसहायाः । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ देवानां स्वरूपमाह ।

1789) यश्किनर—मन्दारवनबीथिषु देवदारुकाननमार्गेषु । यश्किनरनारीभिः कान्तास्तिष्ठाभिः सानन्दं खोसमालिङ्गनाभिः [ ? ] सहस्रं गीयन्ते त्रिदशेश्वराः । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ पुनः सूत्रार्थमाह ।

1790) क्रीडागिरि—त्रिदशाः रमन्ते क्रीडन्ति । केषु । क्रीडागिरिनिकुञ्जेषु क्रीडापर्वत-कुञ्जेषु । च पुनः । शश्यागृहेषु । वरस्त्रीवृन्दवेष्टिताः प्रधानरामासमूहश्वासाः । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ तत्र स्वरूपमाह ।

स्वर्गलोकमें स्वभावसे ही सब गायें कामधेनु, सब वृक्ष कल्पवृक्ष और सब रत्न चिन्तामणि हैं ॥१४॥

वहाँ देवसेनासे सेवमान हन्द्र अपनी बल्डभाऊओंके साथ ध्वजा, चैंकर और छत्रसे चिह्नित विमानोंके द्वारा विहार किया करते हैं ॥१५॥

अपने पतियोंसे आलिंगित यक्ष और किङ्गर जातिकी देवियाँ मन्दार वृक्षोंकी वन-पक्षियोंमें आजम्द पूर्वक इन्द्रोंका गुणगान किया करती हैं ॥१६॥

देव वहाँ उत्तम स्त्रियों ( देवांगनाओं ) से बेष्टित होकर क्रीडापर्वतोंके लतागृहोंमें तथा पुष्पनिर्मित शश्यागृहोंमें रमण करते हैं ॥१७॥

१. All others except P M "सारैः । २. M N T X Y R "हामिरानन्द । ३. S X Y R शा for च ।

- 1791) मन्दारचम्पकाशोकमालतीपुणरजिताः ।  
अमन्ति यत्र भृजाद्या॑ गन्धवाहाः श्वनैः शनैः ॥९८
- 1792) लीलावनविहारैश्च पुष्पावचयकौतुकैः ।  
जलकीडादिविजानैविलासास्तत्र योषिताम् ॥९९
- 1793) वीणामादाय रत्यन्ते कलं गायन्ति योषितः ।  
ध्वनन्ति मुरजा धीरं दिवि॒ देवाङ्गनाहताः ॥१००
- 1794) कोकिलाः कल्पवृक्षेषु चैत्यामारेषु योषितः ।  
विवोधयन्ति देवेशाङ्गलितैर्गीतिनिःस्वनैः ॥१०१

1791) मन्दार—यत्र गन्धवाहाः अभिया कर्णः कैः । भृजाः । भृजाद्या॑ । पुनः ।  
मन्दारचम्पकाशोकमालतीरेणुरजिताः कल्पवृक्षचम्पकाशोकमालतीपरागरजिताः । इति सूत्रार्थः ॥९८॥ अथ तत्रत्ययोषितां स्वरूपमाह ।

1792) लीलावन—तत्र देवलोके योषिता विलासाः वर्तन्ते । कीदृशैः कैः । जलकीडादि-  
विजानैः । पुनः कैः । लीलावनविहारैः । पुनः पुष्पावचयकौतुकैः । च पादपूरणे । इति सूत्रार्थः ॥९९॥ पुनस्तदेवाह ।

1793) वीणामादाय—रत्यन्ते भोगान्ते योषितः कलं गायन्ते । कि कृत्वा । वीणामादाय ।  
ध्वनन्ति वाद्यन्ते । मुरजा॑ः धीरं गम्भीरशब्दं यथा स्यात् । दिवि स्वर्गे । कीदृशाः । देवाङ्गनाहताः वादिताः । इति सूत्रार्थः ॥१००॥ अथ देवाङ्गनामां सौन्दर्यमाह ।

1794) कोकिलाः—कल्पवृक्षेषु कोकिलाः देवेशान् इन्द्रान् विवोधयन्ति । चैत्यागारे उन्नत-  
प्रासादेषु योषितः तात् विवोधयन्ति । कैः । ललितैः गीतनिस्वनैः गानस्वरूपस्वरैः । हति सूत्रार्थः ॥१०१॥ अथ स्वर्गस्य निरीपमयमाह ।

वहाँ स्वर्गोमें मन्दार, चम्पक, अशोक और मालती पुष्पोंके परागसे असुरजित तथा  
अमरोंसे व्याप्र वायु धीरे धीरे अप्यन करती हैं ॥९८॥

वहाँ स्त्रियोंकी चेष्टाएँ क्रीडावनोंमें विचरण, फूलोंके चुननेका कुतूहल और जलकीडाके  
विहानसे परिपूर्ण होती हैं ॥९९॥

स्वर्गोमें स्त्रियाँ सुरतके अन्तमें वीणाको लेकर मनोहर गान करती हैं तथा वहाँ  
देवागनाओंसे ताड़ित होकर मृदंग मन्द शब्द करते हैं ॥१००॥

कल्पवृक्षोपर कोयले और चैत्यालयोमें स्त्रियाँ सुन्दर गीतोंकी ध्वनिसे इन्द्रोंको जागृत  
करती हैं ॥१०१॥

- 1795) नित्योत्सवयुतं रथ्यं सर्वाभ्युदयमन्दिरम् ।  
सुखसंपदगुणाधारं कैः स्वर्गमुषमीयते ॥१०२
- 1796) पञ्चवर्णमहारत्ननिर्माणाः सप्तभूमिकाः ।  
प्रासादाः पुष्करिण्यश्च चन्द्रशाला वनान्तरे ॥१०३
- 1797) प्राकारपरिखावप्रगोपुरोचुञ्जतोरणीः ।  
चैत्यद्रुमसुरामार्नगर्यो रत्नराजिताः ॥१०४
- 1798) इन्द्रायुधश्चिर्यं धत्ते यत्र नित्यं नभस्तलम् ।  
हम्याग्रलग्नमाणिक्यमयूखैः कर्वुरीकृतम् ॥१०५

1795) नित्योत्सव—स्वर्गः कैरुपमीयते । कोदृशम् । नित्योत्सवयुतं सुगमम् । सर्वाभ्युदयमन्दिरं सर्वकल्याणमेहम् । सर्वसंपदगुणाधारं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०२॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1796) पञ्चवर्ण—[ कीदृशाः प्रासादाः । पञ्चवर्णानि यानि महारत्नानि तैः निर्माणं देषां ते । पुनः कीदृशाः । सप्तभूमिकाः । च पुनः । पुष्करिण्यः वरासि । इति सूत्रार्थः ॥१०३॥] अथ नगरीमाह ।

1797) प्राकार—नगर्यो रत्नराजिताः । कैः । चैत्यद्रुमसुरामारैः चैत्यवृक्षसुरामारैः । पुनः कैः । प्राकारपरिखावप्रगोपुरोचुञ्जतोरणीः दुर्गखातिकाकोट्टगोपुरप्रतोलीप्रोचुञ्जतोरणीः । इति सूत्रार्थः ॥१०४॥ अथैतदेवाह ।

1798) इन्द्रायुध—इन्द्रायुधश्चिर्यं धत्ते । यत्र स्वर्गं नित्यं नभस्तलम् । आकाशम् । हम्याग्रलग्नमाणिक्यमयूखैः, गृहाणे लग्ना व्यासाः ये माणिक्याः देषां मयूखाः किरणाः तैः कर्वुरीकृतं मिश्रीकृतम् । इति सूत्रार्थः ॥१०५॥ अथ पुनस्तेषां चृद्धिमाह ।

जो स्वर्ग निरन्तर होनेवाले उसबोसे संयुक्त, रमणीय, समस्त अभ्युदयका निवासस्थान तथा सुखसम्पत्ति एवं गुणोंका आश्रयभूत है उसके लिए भला अन्य किसकी उपस्था दी जा सकती है ? नहीं दी जा सकती—वह अनुपम ही है ॥१०३॥

वहाँ बनोंके मध्यमें पाँच वर्णवाले महारत्नोंसे निर्भित सात खण्डोवाले प्रासाद, वापिकाएँ और चन्द्रशालाएँ ( अट्टालिकाएँ ) हैं ॥१०३॥

वहाँ कोट, खातिका, दुर्ग, गोपुर, उञ्जत तोरण, चैत्यवृक्ष और देवालयोंसे परिपूर्ण नगरियों रत्नोंसे सुशोभित हैं ॥१०४॥

वहाँ प्रासादोंके अवभागमें लगी हुई मणियोंकी किरणों द्वारा अनेक वर्णमय किया गया आकाश सदा ही इन्द्रधनुषकी शोभाको धारण करता है ॥१०५॥

- 1799) सप्तभिस्त्रिदशानीकैर्विमानैरङ्गनान्विताः ।  
कल्पद्रुमगिरीन्द्रेषु रमन्ते विशुद्धेश्वराः ॥१०६  
1800) [ हस्त्यश्वरथपादतद्वृष्टेगन्धर्वनर्तकि ।  
सप्तानीकानि सन्त्यस्य प्रत्येकं च महत्तरोः ॥१०६\*१ ]  
1801) शृङ्गारसंपूर्णौ लावण्यवनदीर्घिकाः ।  
पीनस्तनमराकान्ताः पूर्णचन्द्रनिभानाः ॥१०७  
1802) विनीताः कामरूपिण्यो महद्विमहिमान्विताः ।  
हावभावविलासाद्या नितम्बमरमन्थराः ॥१०८  
1803) मन्ये॑ शृङ्गारसर्वस्वमेकीकृत्य विनिर्मिताः ।  
स्वर्गवासविलासिन्यः सन्ति मूर्ता इव श्रियः ॥१०९

1799) सप्तभिः—विशुद्धेश्वराः देवेन्द्राः रमन्ते । केषु । कल्पद्रुमगिरीन्द्रेषु । कैः । विमानैः ।  
कीदृशैः । अङ्गनान्वितैः । सप्तभिः अनीकैः । इति सूत्रार्थः ॥१०६॥] अथ सप्त अनीकानि आह ।

1800) हस्त्यश्व—कानि सप्त अनीकानि । हस्ति-अश्व-रथ-पादात-वृष्टेगन्धर्व-नर्तकि-रूपाणि  
सप्त अनीकानि संन्यानि सन्ति । एतेषु प्रत्येकं उत्तरोत्तरं महत्तरैः शेषे वर्तते । इति सूत्रार्थः  
॥१०६\*१॥] अथ तासां स्वरूपमाह ।

1801) शृङ्गार—लावण्यवनदीर्घिकाः चातुर्यकाननवाण्यः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः  
॥१०७॥] अथ देवानां स्वरूपमाह ।

1802) विनीताः—नितम्बभारेण मन्थराः अलसाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०८॥  
अथ पुनस्तासां स्वरूपमाह ।

1803) मन्ये—अहम् एवं मन्ये । \*स्वर्गवासविलासिन्यः शृङ्गारसर्वस्वमेकीकृत्य विनिर्मिता  
रन्तिमाः । इवोत्त्रिक्षते । मूर्ता मूर्तिवतः श्रियः सन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१०९॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

स्वर्गमें इन्द्र सात प्रकारकी देवसेनाओं और विमानोंके साथ देवाण्यताओंसे संयुक्त होते हुए रमण किया करते हैं ॥१०६॥

हाथी, घोड़ा, रथ, पादचारी, बैल, गन्धर्व और नर्तकी ये सात सेनाएँ हैं । इनमेंसे प्रत्येकमें एक महत्तर ( प्रधान ) होता है ॥१०६\*१॥

वहाँ श्रेष्ठ शृङ्गारसे परिपूर्ण, लावण्यरूप वक्षी वापिकासमान, पुष्ट स्तनोंके भारसे संयुक्त, पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखशाली, नम्र, मनोहर रूपकी धारक, महती छुद्विकी महिमासे सहित; हाव-भाव व विलाससे व्याप्त तथा नितम्बोंके भारसे मन्द, ऐसी स्वर्गकी

१. All others except P S °निवैः, S °नाचितैः । २. M N विद्योश्वराः, J विदिवेश्वराः ।

३. P M N om. । ४. L S J Y R नर्तकी, T नर्तकी, F X वृषा....नर्तकाः....सन्त्यत्र । ५. L F X महत्तराः, S T महत्तरान्, J Y R महत्तरै । ६. M संपूर्णलावण्य । ७. M N अन्याः for मन्ये ।

८. N स्वर्गविवास, L F स्वर्गवासिः ।

- 1804) गीतवादित्रविद्यासु शृङ्गाररसभूमिषु ।  
परिम्भादिवदेषु खीर्णो दक्षयं स्वभावतः ॥११०॥
- 1805) सर्वविद्यवसंपूर्णे दिव्यलक्षणलक्षिताः ।  
अनङ्गप्रतिमा धीराः प्रसन्नाः प्रांशुविदेहाः ॥१११॥
- 1806) हारकुण्डलकेयूरकिरीटाङ्गदभूषिताः ।  
मन्दारमालतीगन्धा अणिमादिगुणान्विताः ॥११२॥
- 1807) प्रसन्नामलपूर्णेन्दुकान्तं कान्ताजनप्रियाः ।  
शक्तिशयगुणोपेताः सर्वैशीलावलम्बिनः ॥११३॥

1804) गीतवादित्र—खीर्णो दाक्षयं दाक्षिण्यं स्वभावतो वर्तते । केषु । परिम्भादिसंगेषु । कीदृशीषु । शृङ्गाररसभूमिषु । तु पुनः । गीतवादित्रविद्याः खीर्णो स्वभावतो भवन्ति । इति सूत्रार्थः ॥११०॥ अथ पुनस्तासां स्वरूपमाह ।

1805) सर्वविद्य—प्रांशुदेहाः उच्चदेहाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१११॥ अथ पुनस्तासां स्वरूपमाह ।

1806) हारकुण्डल—हारकुण्डले, केयूराः बाह्याभरणानि, किरीटं मुकुटम्, अङ्गदाः प्रसिद्धाः, ते भूषिताः । पुनः कीदृशाः । मन्दारमालतीगन्धाः । पुनः कीदृशाः । अणिमादिगुणान्विताः । इति सूत्रार्थः ॥११२॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

1807) प्रसन्नामल—पुनः कीदृशाः । प्रसन्नामलपूर्णेन्दुकान्ताः विमलपार्वणचन्द्रमनोहराः । कान्ताजनप्रियाः खीजनवलमाः । शक्तिशयम्—उत्साहप्रभुत्वमन्त्रशक्तिशयगुणोपेताः । शश्वत् निरस्तर “लीलावलम्बिनः । इति सूत्रार्थः ॥११३॥ अथ देवानां स्वरूपमाह ।

स्त्रियों मूर्तिमती लक्षणोंके ही समान हैं । उनको शृङ्गारके सब घनको एकत्रित करके बनाया गया है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥१०३-१०५॥

शृङ्गाररसकी स्थानभूत गीत व वादित्र विद्याओंमें तथा आङ्गिनादिके बन्धनोंमें स्त्रियोंके चतुरता स्वभावसे ही हुआ करती है ॥११०॥

स्वभावसे सुन्दर स्त्रीवासी देव सब अवश्यवोंसे परिपूर्ण, दिव्य चिह्नोंसे चिह्नित, कामदेवके समान रमणीय, धीर्घशाली, प्रसन्न, उच्छत शरीरसे संशुर्क; हार, कुण्डल, केयूर, मुकुट और बाजूबन्द इन आभूषणोंसे विभूषित; मन्दार व मालती पुष्पके समान सुगन्धिसे व्याप, अणिमा आदि गुणोंसे सहित, प्रसन्न व निर्मल पूर्ण चन्द्रके समान सुन्दर देवांगनाजनोंके प्रिय; इच्छा, क्रिया व ज्ञानरूप अथवा साक्षिवकी, राजसी व तामसीरूप तीन शक्तियों एवं

१. M N L F J X Y "दिसंगेषु, S R सर्वेषु, T शृङ्गेषु । २. M संकूर्णविद्य । ३. M N S T X Y R प्रसन्नप्रांगु, F प्रसन्नः । ४. All others except P कान्ताः कान्ताः । ५. L F J शश्वतलीलाव ।

- 1808 ) विज्ञानविनयोद्यामप्रीतिप्रशमैसंभूताः ।  
निसर्गसुभगाः स्वर्गे भवन्ति त्रिदिवीकैः ॥११४  
1809 ) न तत्र दुःखितो दीनो दृढो रोगी गुणल्युतः ।  
विकलाङ्गो गतश्रीकः स्वर्गलोके विलोक्यते ॥११५  
1810 ) सभ्यसामानिकामात्यलोकपालप्रकीर्णकाः ।  
मित्राद्यभिमतस्तेषां पार्श्ववर्तीं परिग्रहः ॥११६  
1811 ) बन्दिगायकशैलीन्द्रीस्वाङ्गरक्षाः पदातयः ।  
नटवेत्रिविलासिन्यः सुराणां सेवको जनः ॥११७

1808) विज्ञान—त्रिदिवीकैः देवाः स्वर्गे भवन्ति । कीदृशाः । विज्ञानविनयाभ्याम् उद्यामप्रीतिप्रसारः<sup>१</sup> तेन संभूताः । पुनः कीदृशाः । निसर्गसुभगाः स्वभावनियुणाः । इति सूत्रार्थः ॥११४॥ अथ तत्र दुःखादीनामभावमाह ।

1809) न तत्र—तत्र स्वर्गे दुःखितादयो न विलोक्यते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११५॥ अथ तेषां निकटपरिग्रहमाह ।

1810) सभ्याः—सभ्याः सभासीनाः देवाः, सामानिकाः इन्द्रसमानाः । अमात्याः मन्त्रिप्रायाः । लोकपालाः कुबेरादयः । प्रकीर्णकाः प्रसिद्धाः । तेषां देवानां पार्श्ववर्तींपरिग्रहः मित्राद्यभिमतः वाचिङ्गतः । इति सूत्रार्थः ॥११६॥ अथ तेषां सेवकजनमाह ।

1811) बन्दिगायक—बन्दी यशःपाठकः, गायको गन्धवं, शैलेन्द्री<sup>२</sup> इन्द्राणी, स्वाङ्गरक्षाः पदातयः, नटाः प्रसिद्धाः, वेत्रविलासिन्यः वेत्रोपरि नृत्यन्त्यः । सुराणां सेवको जनः ॥११७॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

गुणोंसे सहित; सर्व व इीलका आलेखन लेनेवाले तथा विज्ञान, विनय, उत्कट प्रीति एवं प्रशमसे परिपूर्ण होते हैं ॥११२-११४॥

वहाँ स्वर्गलोकमें कोई भी दुखी, दीन, दृढ़, रोगी, गुणोंसे शून्य, विकल शरीरवाले ( लँगड़े आदि ) और लक्ष्मीसे रहित नहीं देखा जाता है ॥११५॥

परिषद, सामानिक, अमात्य ( त्रायस्त्रिश ), लोकपाल और प्रकीर्णक देव तथा मित्रादिस्वरूपसे माने गये देव; यह सब उनका पासमें रहनेवाला परिग्रह है ॥११६॥

सुतिपाठक, गायक, सैरन्द्री ( शिल्पकार्य करनेवाली ), आत्मरक्षक, पदाति, नट, दण्डधर और विलासिनी जन; ये देवोंके सेवकजन होते हैं ॥११७॥

१. All others except P प्रशम । २. N S T F R सर्वे भवन्ति । ३. X Y प्रभवन्ति दिवीकैः, M त्रिदिवीकैः । ४. P प्रकीर्णकाः । ५. L S F Y R यायन । ६. L S T F J शैलेन्द्री, X शैलेन्द्रः, Y R सैरन्द्री । ७. T J नटवेत्र ।

- 1812 ) तत्रातिभव्यताधारे विमाने कुन्दकोमले ।  
उपपादशिलागर्भे संभवन्ति स्वयं सुराः ॥११८
- 1813 ) सर्वाक्षसुखदे रम्ये नित्योत्सवविराजिते ।  
गीतवादिश्रलीलाद्ये जयजीवस्वनाकुले ॥११९
- 1814 ) दिव्याकृतिसुसंस्थानाः समधातुविविताः ।  
कायकान्तिपयःपूरैः प्रसाधितदिगन्तराः ॥१२०
- 1815 ) शिरीषसुकुमाराङ्गाः पुण्यलक्षणलक्षिताः ।  
अणिमादिगुणोपेता ज्ञानविज्ञानपारगाः ॥१२१

1812) तत्रातिभव्यता—तत्र स्वर्गे अतिभव्यता भनोहरत्वं तदाधारं विमानं तस्मिन् । कोदृशे । कुन्दकोमले मुचकुन्दकोमले उपपादशिलागर्भे सुराः संभवन्ति । इति सूत्रार्थः ॥११८॥ अथ विमाने वर्णयति ।

1813) सर्वाक्ष—कीदृशे । सर्वाक्षसुखदे सर्वेन्द्रियसुखोत्पादके । रम्ये मनोहरे । नित्योत्सवविराजिते । सुगमय । गीतवादिश्रलीलाद्ये । जय, जीव इति स्वनः शब्दः । तेनाकुले व्याप्ते । इति सूत्रार्थः ॥११९॥ अथ पुनः कीदृशाः ।

1814) विवाकृति—दिव्याकृतिः भनोहराकारः, सुसंस्थानाः समन्वतुरलसंस्थानाः । सप्तधातुविविताः रधिरादिसमधातुरहिताः । कायकान्तिपयःपूरैः प्रसाधितदिगन्तराः । इति सूत्रार्थः ॥१२०॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

1815) शिरीष—शिरीषवत् सुकुमाराङ्गाः । पुण्यलक्षणलक्षिताः । पुनः कीदृशाः । अणिमादिगुणोपेता अणिमागरिमाद्यष्टगुणसंयुताः । कीदृशाः । ज्ञानविज्ञानपारगाः । इति सूत्रार्थः ॥१२१॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

वहाँ अतिशय सुन्दर विमानमें कुन्दपुष्पके समान कोमल उपपादशश्याके मध्यमें देव स्वयं उत्पन्न होते हैं ॥११८॥

सब इन्द्रियोंको सुख देनेवाले, रमणीय, निरन्तर चलनेवाले उत्सर्वोंसे सुशोभित, गीतवादित्रोंकी छीलासे व्याप्त और 'जय' व 'जीव' इन आशीर्वादात्मक शब्दोंकी ध्वनिसे परिपूर्ण उस स्वर्गमें दिव्य आकृति और उत्तम संस्थानके धारक, रस-रधिरादिरूप सात धातुओंसे रहित, शरीरकी कान्तिरूप जलके प्रवाहसे दिक्षुण्डलको अलंकृत करनेवाले, शिरीष पुष्पके समान सुकुमार शरीरसे संयुक्त, एवित्र चिह्नोंसे चिह्नित, अणिमा-महिमा आदि गुणोंसे परिपूर्ण, ज्ञान व विज्ञानके पारगामी, चन्द्रविश्वके समान आङ्गादको उत्पन्न करनेवाले, दोषोंसे रहित, उत्तम अभिप्रायवाले, अचिन्त्य माहात्म्यसे सहित; भय, क्लेश व पीड़ासे विरहित,

१. M उपपाद, All others except P M J उपपादि । २. J सुराः सर्वा । ३. X Y add : चतुर्थिकलभिजा शीलरूपादिसंविनी । प्रसाधिनोपचारजा संरक्षीय निमवते ॥ ४. All others except P L F प्रसादित । ५. Y om. this verse ।

- 1816) मृगाङ्कविम्बसंकाशाः शान्तदोषाः शुभाशयाः ।  
अचिन्त्यमहिमोपेता भयक्षेशातिवजिताः ॥१२२
- 1817) वर्धमानमहोत्साहा वज्रकाया महाबलाः ।  
अचिन्त्यपुण्ययोगेन गृष्णित वपुरुजितम् ॥१२३
- 1818) सुखामृतमहाम्भोधेर्भ्यादिव विनिर्मिताः<sup>१</sup> ।  
भवन्ति त्रिदशाः सद्यः क्षणेन नवयौवनाः ॥१२४
- 1819) किं च पुण्यफलाक्रान्तैः<sup>२</sup> प्रवालदलदन्तुरैः ।  
तेषां कोकिलवाचालैर्दुमीर्जन्म निवेद्यते<sup>३</sup> ॥१२५
- 1820) गीतवादित्रनिर्घोर्जयमङ्गलपाठकैः ।  
विवोध्यन्ते शुभैः शब्दैः सुखनिद्रात्यये<sup>४</sup> यथा ॥१२६

1816) मृगाङ्क—[मृगाङ्कविम्बसंकाशाः चन्द्रविम्बतुल्याः । शुभाशयाः कल्याणान्तःकरणाः । भयक्षेशातिवजिताः भयक्षेशसंकटरहिताः । अन्यत्सुगमम् ॥१२२॥] अथ पुनर्स्तेषां स्वरूपमाह ।

1817) वर्धमान—कीदृशास्ते । वर्धमानः महोत्साहः येषां ते तथा । वज्रकाया: प्रसिद्धाः । महाबलाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१२३॥ अथ पुनर्स्तेषां स्वरूपमाह ।

1818) सुखामृत—पुनः कीदृशाः । सुखामृतमहाम्भोधेर्भ्यात् इव विनिर्गताः<sup>५</sup> । पुनः कीदृशाः भवन्ति त्रिदशाः । सद्यः क्षणेन नवयौवनाः । इति सूत्रार्थः ॥१२४॥ अथ पुनर्स्तेषां स्वरूपमाह ।

1819) किं च पुण्य—[ तेषां जन्म द्रुमैः निवेद्यते । कीदृशैः । कोकिलवाचालैः कोकिलैः वाचालाः शब्दयुक्ताः तैः । अन्यत् सुगमम् ] ॥१२५॥ अथ पुनर्स्तेषां स्वरूपमाह ।

1820) गीतवादित्र—शुभैः मनोहरैः शब्दैः विवोध्यन्ते जागरीभूताः क्रियन्ते । स्वयं सुखसुसाः इव । शेषं सुगमम् ॥१२६॥ अथ तेषामेव स्वरूपमाह ।

उत्तरोत्तर बढ़नेवाले महान् उत्साहसे परिपूर्ण; वज्रके समान शरीरसे संयुक्त और महान् बलके धारक वे देव अचिन्त्य पुण्यके सम्बन्धसे उस उपपादशश्याके ऊपर बलिष्ठ शरीरको प्रहण किया करते हैं ॥११९-२३॥

सुखरूप अमृतके विस्तृत समुद्रके समान उस उपपादशश्याके मध्यमें निर्माणको प्राप्त होकर वे देव शीघ्र ल्हणभर ही नवीन यौवनसे सम्पन्न हो जाते हैं ॥१२४॥

उनके जन्मका निवेदन फूलों और फलोंसे परिपूर्ण, कोमल नवीन पत्तोंके समूहसे विषम और कोयलोंकी छविसे सुखरित ( शब्दायमान ) ऐसे वृक्षोंके द्वारा किया जाता है ॥१२५॥

जिस प्रकार यहाँ पुण्यशाली महापुण्य निद्राके नष्ट होनेपर—प्रभात समयमें—शीत और वादित्रोंके शब्दोंके साथ स्तुतिपाठकों ( शनिदज्जनों ) के द्वारा उत्तम शब्दोंके आश्रयसे

१. All others except P J मूर्ति for विम्ब, J भूमि । २. All others except P विनिर्गताः ।  
३. T कान्तिप्रवाल । ४. J कोकिलालप्रवाचालः । ५. All others except P निगदते । ६. M N  
L T J X Y सुखसुसा इव स्वयं ।

- 1821) किंचिद्भ्रममपाकृत्य वीक्षन्ते<sup>१</sup> सरलैः<sup>२</sup> शनैः ।  
यावदाशा मुहुः स्निग्धैस्तदा कणान्तलोचनैः ॥१२७
- 1822) इन्द्रजालमथ स्वप्नः कि तु माया अमो तु किम् ।  
दृश्यमानमिदं चित्रं नायाति<sup>३</sup> मम निश्चयम् ॥१२८
- 1823) इदं रम्यमिदं सेव्यमिदं क्षाप्यमिदं हितम् ।  
इदं प्रियमिदं भव्यमिदं चित्तप्रसर्त्तिंदम् ॥१२९
- 1824) एतत्कन्दलितानन्दमेतत्कल्याणमन्दिरम् ।  
एतचित्योत्सवाकीर्णमेतदत्यन्तसुन्दरम् ॥१३०

1821) किंचिद्भ्रमम्—ते वीक्षन्ते<sup>१</sup> शनैः शनैः\* । कि कृत्वा । किंचिद्भ्रमम् अपाकृत्य द्वारीकृत्य । यावद आशा ककुप् कणान्तलोचनैः तदा स्निग्धैः वीक्षयते । इति सूत्रार्थः ॥१२७॥। अथ पुनस्तेषां जन्मान्तरचिन्तामाह ।

1822) इन्द्रजालम्—मम निश्चयं न याति<sup>२</sup> चित्रं दृश्यमानम् । कीदूषम् । इन्द्रजालम् इदम् । अथवा स्वप्नः । तु वितर्के । कि तु माया अमः । इति सूत्रार्थः ॥१२८॥। अथ पुनस्तदेवाह ।

1823) इदं रम्यम्—तेषां स्वोत्पत्यनन्तरं स्वर्गं दृष्ट्वा चिन्तयन्ति । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१२९॥। [ पुनस्तदेव विशेषयति ।

1824) एतत्कन्दलितानन्दम्—कन्दलितानन्दम् आनन्दस्य मूलभूतम् । नित्योत्सवाकीर्ण नित्योत्सवैव्यतिम् । अन्यतसुगमम् ॥१३०॥। अथ इन्द्रसभाजिरमाह ।

प्रबोधित किये जाते हैं । उसी प्रकार स्वर्गमें उपरादशग्न्यापर उत्पन्न हुए उन देवोंको सीत व बादित्रोंके शब्दोंके साथ सुनि करनेवाले अन्य देवोंके द्वारा प्रबोधित किया जाता है ॥१२६॥।

तब वे देव धीरे-धीरे कानोपर्यन्त विस्तृत, सरल व स्नेहपूर्ण नेत्रोंके द्वारा वार-चार दिशाओंका अवलोकन करते हैं ॥१२७॥।

उस समय वे विचार करते हैं—

अथ यह इन्द्रजाल है, अथवा क्या स्वप्न है, या माया है, अथवा क्या आनन्द है ? इस सामने दिखते हुए चित्रके विषयमें मुझे कुछ निश्चय नहीं हो रहा है ॥१२८॥।

यह रमणीय है, यह सेवनीय है, यह प्रशंसनीय है, यह हितकर है, यह प्रिय है, यह सुन्दर है, यह चित्रको प्रसन्न करनेवाला है, यह आनन्दको अंकुरित करनेवाला है, यह कल्याणका स्थान है, यह निरन्तर उत्सवोंमें परिपूर्ण है और यह अनिश्चय सुन्दर प्रतीत होता है ॥१२९-३०॥।

१. M L S वीक्षयते, N T X R वीक्षते, F J Y वीक्षन्ते । २. L S X R स शनैः, T तेषाशनैः, J य शनैः for सरलैः । ३. M N J न याति मम, L S F X Y R यम नायाति । ४. J प्रवान्तिदम् ।

- 1825) सर्वदिमहिमोपेतं महदिमसुराचितम् ।  
सप्तानीकान्वितं भाति त्रिदेवन्द्रसभाजिरम् ॥१३१ । किं च—
- 1826) मामेवोद्दिश्य सानन्दः प्रवृत्तः किमयं जनः ।  
पुण्यमूर्तिः प्रियः क्षाद्यो विनीतो इत्यन्तवत्सलः ॥१३२
- 1827) त्रैलोक्यनाथसंसेव्यः को इयं देशः सुखाकरः ।  
अनन्तमहिमाधारो विश्वलोकाभिनन्दितः ॥१३३
- 1828) इदं पुरबविष्टद्वैतं बनोपवनराजितम् ।  
अभिभूय जगद्गूर्त्या वल्गतीव ध्वजांशुकैः ॥१३४

1825) सर्वदिमहिमोपेतम्—कीदूषम् अजिरम् । सर्वदिमहिमोपेतम् । पुनः कीदूषम् ।  
महदिमसुराचितम् । पुनः कीदूषम् । सप्तानीकान्वितं त्रिदेवन्द्रसभाजिरं भाति । इति सूत्रार्थः ॥१३१॥ किं च युक्त्यन्तरमाह ।

1826) मामेवोद्दिश्य—पुनरपि देवशिवन्तयति । अयं जनो अमरलक्षणः मामेवोद्दिश्य प्रवृत्तः ।  
सानन्दादि विशेषणं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३२॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1827) त्रैलोक्यनाथ—अयं देशः को इस्ति । कीदूषः । त्रिलोकनाथसंसेव्यः । कीदूषः ।  
सुखाकरः । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३३॥ अथ पुनस्तच्छिन्तनमाह ।

1828) इदं पुरम्—ध्वजांशुकैर्वल्गतीव । शोषं सुगमम् ॥१३४॥ अथ मन्त्रमुखात् सर्वे  
स्तुवन्ति तदाह ।

समस्त ऋद्धियोंकी महिमासे संयुक्त, महती ऋद्धिके धारक देवोंसे पूजित और सात  
सेनाओंसे सहित यह प्रदेश इन्द्रके अंगणके समान ग्रतिभासित होता है ॥१३१॥

पवित्र शरीरको धारण करनेवाले, प्रिय, प्रशंसनीय, अतिशय नम्र और अत्यन्त स्तेही  
ये जन क्या मुक्तको ही लक्ष्य करके आनन्दित हो रहे हैं ? ॥१३२॥

आपरिमित महिमाको धारण करनेवाला और समस्त लोकसे प्रशंसित यह तीनों लोकोंके  
स्वामी द्वारा सेवन करनेके योग्य व सुखकी खानस्वरूप देश कौन-सा है ? ॥१३३॥

अतिशय विस्तीर्ण व बन-उपवनोंसे सुशोभित यह नगर अपनी विभूतिसे लोकों  
तिरस्कृत करके मानो ध्वज वस्त्रोंके द्वारा नाच ही रहा है ॥१३४॥

- 1829 ) आकलय्य तदाकूरं सचिवा दिव्यचक्षुषः ।  
नतिपूर्वं प्रवर्तन्ते वक्तुं 'वृत्तान्तमात्मनः ॥१३५
- 1830 ) प्रसादः क्रियतां देव नतानां स्वेच्छया दृशा ।  
श्रूयतां च वचो अस्माकं पौरपिर्यप्रकाशकम् ॥१३६ तथा—
- 1831 ) अद्य नाथ वर्य धन्याः सफलं चाथ जीवितम् ।  
अस्माकं यत्वया स्वर्गः संभवेन पवित्रितः ॥१३७
- 1832 ) प्रसीद जय जीव र्त्त देव पुण्यस्तवोद्भवः ।  
भव प्रभुः समग्रस्य स्वर्गलोकस्य संप्रति ॥१३८
- 1833 ) [ सौधर्मोऽयं महाकल्पः सर्वाभरणताचितः ।  
नित्याभिनवेकल्पाणवार्षिवर्धनचन्द्रमाः ॥१३८\*१ ]

1829) आकलय्य—सचिवा मन्त्रिणः तदाकूरतमाश्चर्यमाकलय्य ज्ञात्वा । कीदृशाः । दिव्य-  
चक्षुषः । अतिपूर्वम् पूर्वमतिकम्पेति । प्रवर्तन्ते तदा कालोचितं वक्तुम् । इति सूत्रार्थः ॥१३५॥  
अथ ते देवास्तमूचुः इत्याह ।

1830) प्रसादः—हे देव, प्रसादः नतानां स्वेच्छया क्रियतां दृशा । च पुनः । अस्माकं वचः  
श्रूयताम् । कीदृशस्य । पौरपिर्यप्रकाशकम् इति सूत्रार्थः ॥१३६॥ तथा दर्शयति ।

1831) अद्य नाथ—हे नाथ, त्वया अस्माकं स्वर्गः संभवेन पवित्रितः । शोषं सुगमम् । इति  
सूत्रार्थः ॥१३७॥ अथ विज्ञभिरेवाह ।

1832) प्रसीद—हे देव, प्रसीद प्रसादपरो भव । जय, जीव । पुण्यस्तवोद्भवः । समग्रस्य  
स्वर्गलोकस्य प्रभुर्भव संप्रति । इति सूत्रार्थः ॥१३८॥ अथ ते प्रोचुस्तदेवाह ।

1833) सौधर्मोऽयम्—नित्याभिनन्दिकल्पाणसमूद्रवर्धनचन्द्रमः । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः  
॥१३८\*१॥ अथ पुनस्तदाह ।

तब उसके इस अभिप्रायको जानकर दिव्य नेत्रवाले ( अवधिज्ञानी ) मन्त्रीस्वरूप देव  
नमस्कारपूर्वक अपना वृत्तान्त कहनेके लिए उपयुक्त होते हैं ॥१३५॥

वे निवेदन करते हैं कि हे देव ! नम्रीभूत हुए हम लोगोंके प्रति आप अपनी अभीष्ट  
दृष्टिके द्वारा प्रसन्नता प्रकट कीजिए और पूर्वापर अवस्थाओंको प्रकाशित करनेवाले हमारे  
इस निवेदनको सुनिए ॥१३६॥

वह निवेदन यह है—आपने अपनी उत्पत्तिके द्वारा जो हमारे स्वर्गको पवित्र किया  
है इसके लिए आज हम कृतार्थ हुए हैं तथा आज हमारा जीवन सफल हुआ है ॥१३७॥

हे देव ! आप ग्रसन्न होइए, आपकी जय हो, आप चिरकाल जीवित रहें, आपका  
जन्म पवित्र ( सफल ) है, आप अब समस्त स्वर्गलोककी प्रभुताका अनुभव कीजिए ॥१३८॥

१. All others except P वक्तुं कालोचितं तदा । २. P M तथा । ३. P Y om, ४. T मिन्द ।

- 1834 ) 'कल्पः सौधर्मनामायसीशानप्रमुखाः सुराः ।  
इहोत्पत्तस्य शक्तस्य कुर्वन्ति परिमोत्सवम् ॥१३९
- 1835 ) अत्र संकल्पिताः कामा नवं नित्यं च यौवनम् ।  
अत्राविनश्वरी लक्ष्मीः सुखं चात्र निरन्तरम् ॥१४०
- 1836 ) स्वर्विभानमिदं रम्यं कामगं कान्तदर्शनम् ।  
पादाम्बुजनता चेर्यं तत्र त्रिदशमण्डली ॥१४१
- 1837 ) एते दिव्याङ्गनाकीणश्चन्द्रकान्ता मनोहराः ।  
प्रासादा रत्नवाप्यश्च क्रीडानवश्च भूधराः ॥१४२

1834) कल्पः सौधर्म—सौधर्मनामा कल्पः । ईशानप्रमुखाः सुराः देवाः शक्तस्य इन्द्रस्य ।  
इति सूत्रार्थः ॥१३९॥ [ पुनर्स्तदेवाह । ]

1835) अत्र संकल्पिताः—अविनश्वरी अविनाशिनी । च पुनः । निरन्तर सुखं चात्र विद्यते ।  
इति सूत्रार्थः ॥१४०॥ अथ पुनर्स्तदेव तमूचुः ।

1836) स्वर्विभानम्—हे नाथ, हे त्वर्विभानं रम्यं ननोद्दर्श । रम्यं कान्तदर्शनं वर्तमानं  
कान्तदर्शनम् । च पुनः । तत्र इर्यं त्रिदशमण्डली पादाम्बुजनता चरणकमलनता । इति सूत्रार्थः  
॥१४१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1837) एते दिव्याङ्गना—एते प्रासादाः दिव्याङ्गनाकीणः । पुनः कीदृशाः । चन्द्रकान्त-  
मनोहराः । च पुनः । रत्नवाप्यः रत्नमण्डीषिकाः । च पुनः । क्रीडानवाः, भूधराः । इति सूत्रार्थः  
॥१४२॥ अथ पुनर्स्तदेवाह ।

सब सैकड़ों देवोंसे पूजित यह सौधर्म नामका विस्तृत स्वर्ग है, जो निरन्तर तवीन  
कल्याणरूप समुद्रके बहानेके लिए चन्द्रमाके समान सिद्ध है ॥१३८\*१॥

यह सौधर्म कल्प है । ईशान इन्द्रको आदि लेकर सब देव यहाँ उत्पन्न हुए सौधर्म  
इन्द्रका महान् उत्सव किया करते हैं ॥१३९॥

यहाँ इच्छानुसार विषयभोग प्राप्त होते रहते हैं, निरन्तर नथा यौवन बना रहता है,  
यहाँ लक्ष्मी अविनश्वर है, तथा सुख निरन्तर रहनेवाला है—उसका विच्छेद नहीं होता  
है ॥१४०॥

इच्छानुसार गमन करनेमें समर्थ व देखनेमें अतिशय सुन्दर यह रमणीय स्वर्गविभान  
है, तथा आपके चरण-कमलोंमें नक्षीभूत हुआ यह देवोंका समूह है ॥१४१॥

ये इधर दिव्य स्त्रीजनोंसे व्याप, चन्द्रके समान रमणीय और मनके द्वरनेवाले भवन हैं  
तथा इधर ये रत्नमय वापिकाएँ, क्रीडानवियाँ और पर्वत हैं ॥१४२॥

१. M om, this verse । २. M कामद, J कामाञ्ज ।

- 1838) सभाभवनमेतत्ते नतामरशताचितम् ।  
रत्नद्वीपकुतालोकं पुष्पप्रकरशोभितम् ॥१४३
- 1839) विनीतवेषधारिण्यः कामरूपा वरस्थियः ।  
तवादेशं प्रतीक्षन्ते लास्यलीलारसोत्सुकाः ॥१४४
- 1840) आतपत्रमिदं पूज्यमिदं च हरिविष्टरम् ।  
एतच्च चामरश्चातमेते<sup>१</sup> विजयकेतवः ॥१४५
- 1841) एता<sup>२</sup> अग्रमहादेव्यो वरस्थीवृन्दवेष्टिताः ।  
तृणीकृतसुराधीशलावण्यैश्वर्यसंपदः ॥१४६

1838) सभाभवनम्—हे नाथ, एतते सभाभवनम् । कीदृशम् । नतामरशताचितं वृन्दारुदेव-शताचितम् । पुनः कीदृशम् । रत्नद्वीपकुतालोकम् । पुनः कीदृशम् । पुष्पप्रकरशोभितम् । इति सूत्रार्थः ॥१४३॥ पुनस्ते ते प्रतिपादयन्ति ।

1839) विनीतवेष—एताः वरस्थियः तवादेशं प्रतीक्षन्ते वाञ्छन्ति । कीदृश्यः । विनीतवेष-धारिण्यः । पुनः कीदृश्यः । कामरूपाः । पुनः कीदृश्यः । लास्यलीलारसोत्सुकाः । इति सूत्रार्थः ॥१४४॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1840) आतपत्रमिदं—इदं च हरिविष्टर सिंहासनम् । शोर्य सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४५॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

1841) एता अप्त—हे नाथ, एता अग्रमहिष्यः<sup>१</sup> । कीदृश्यः । वरस्थीवृन्दवन्दिताः<sup>२</sup> । सुगमम् । पुनः कीदृश्यः । तृणीकृतसुराधीशलावण्यैश्वर्यसंपदः, तृणीकृत सुराधीशस्य लावण्यस्य ऐश्वर्यम् एव संपद यामि: ताः । इति सूत्रार्थः ॥१४६॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

यह आपका सभाभवन है जो सैकड़ों नम्रीभूत हुए देवोंसे पूजित, रत्नमय कीपों द्वारा किये गये प्रकाशसे देवीप्रभान और पुष्पसमूहोंसे सुझोभित हैं ॥१४३॥

नम्र वेषको धारण करनेवाली व इच्छित रूपसे संयुक्त ये उत्तम स्त्रियाँ नृत्यकीड़ाके आनन्दकी उरकण्ठासे आपकी आङ्गाकी प्रतीक्षा कर रही हैं ॥१४४॥

यह आपका पूज्य छत्र है, यह सिंहासन है, यह चौंबरोंका समूह है, और ये विजयध्वज हैं ॥१४५॥

उत्तम स्त्रियोंके समूहसे वेष्टित य इन्द्रके लावण्य और ऐश्वर्यरूप सम्पत्तिको तृणके सभान तुङ्ग प्रकट करनेवाली ये आपकी अग्रमहादेवियाँ हैं । हे स्वामिन् ! शृंगाररूप समुद्रकी बेला ( तट ) स्वरूप, विलाससे हृषित भुकुटियोंवाली और कीड़ाके अलंकारोंसे परिपूर्ण वे अप्रदेवियाँ आपके लिए समर्पित हैं ॥१४६-४७॥

१. Y चामरवृन्द<sup>१</sup> । २. L S F X Y R अर्थ, J अग्रमहिष्यो अथ । ३. L J X Y R वृन्दवन्दिताः, T वेदिताः ।

1842) शृङ्गारजलधेनेला विलासोङ्गासितभ्रुवः ।

लीलालङ्गारसंपूर्णस्तत्र नाथ समपिताः ॥१४७

1843) सर्वविद्यवनिमणिश्रीरातां नोपमास्पदम् ।

यासां इलाद्यामलस्तिर्घपुण्याणुप्रभवं वपुः ॥१४८

1844) अयमैरावणो नाम देवदन्ती महामनाः ।

धने गुणाष्टकैश्चर्याच्छ्रुयं विश्वातिशायिनीम् ॥१४९

1845) इदं मत्तगजानीकमितो इश्वीयं मनोजवम् ।

एते स्वर्णरथास्तुङ्गा वलगान्तयेते पदातयः ॥१५०

1846) एतानि सम सैन्यानि पालितान्यमरेश्वरैः ।

नमन्ति ते पदद्वन्द्वं वेत्ति विज्ञप्तिपूर्वकम् ॥१५१

1842) शृङ्गार—हे नाथ, एताः क्षियः समपिताः । कीदृशः । शृङ्गारजलधेनेला विलासोङ्गासितभ्रुवः । पुनः कीदृशः । विलासोङ्गासितभ्रुवः । यासां ताः । पुनः कीदृशः । लीलालङ्गारसंपूर्णः । इति सूत्रार्थः ॥१४७॥ अथ पुनर्हत्तस्वरूपमाह ।

1843) सर्वविद्यव—आसाम् अग्रस्त्रीदेवीनां सर्वविद्यवनिमणिश्रीः सर्ववृत्तिरावयवरचनाश्रीः उपमास्पद नो वर्तते । यासां वपुः इलाद्यम् अमलस्तिर्घपुण्याणुप्रभवं निर्मलस्तिर्घपविश्वपरमाणु-जातम् । इति सूत्रार्थः ॥१४८॥ अथ स्वर्णश्रियं दर्शयन्ति तामाह ।

1844) अयमैरावणः—अयमैरावणो नाम देवदन्ती श्रियम् । कीदृशः दन्ती । महामनाः । कीदृशी श्रियम् । विश्वातिशायिनीम् । कस्मात् । गुणाष्टकैश्चर्याच्छ्रुयः । इति सूत्रार्थः ॥१४९॥

1845) इदं भस्त्र—इदं प्रत्यक्षेण दृश्यते भस्तगजानाम् । पश्येति प्रत्यक्षं धोज्यम् । यतः स्वीयम् अश्वानाम् इदम् अश्वीयम् अनीकम् । एते प्रत्यक्षं स्वर्णरथाः तुङ्गाः उन्नताः । वलगान्ति । कटकान्ते पदातयस्ते । इति सूत्रार्थः ॥१५०॥ अथ स्वर्णसर्वस्वं दर्शयन्माह ।

1846) एतानि—भवान् विज्ञप्तिपूर्वकं वेत्ति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१५१॥ अथ पुनरमराः कथयन्ति ।

इनके समस्त अवयवोंकी रचनाकी लक्ष्मी अनुष्ठम है ! कारण कि उनका शारीर प्रकांसनीय, निर्मल व स्तिर्घ, पवित्र परमाणुओंसे उत्पन्न हुआ है ॥१४८॥

यह उदार भवानाला आपका ऐरावण नामका देवहस्ती है जो अणिम-महिमा आदि आठ गुणोंके सामर्थ्यसे समस्त लोकको आहवानीन्वित करनेवाली लक्ष्मीको धारण करता है ॥१४९॥

यह मदोन्मत्त हस्तिसेना है, इधर यह मनके समाज वेगवाले धोड़ोंकी सेना है, ये उन्नत सुवर्णमय रथ हैं, तथा ये प्रादृचारी चल रहे हैं ॥१५०॥

ये इन्द्रोंके द्वारा रक्षित सात सेनाएँ हैं । वे द्वारपालके निवेदनके साथ आपके चरण-युगम्ळमें समस्कार कर रहे हैं ॥१५१॥

१. M N विमणि, T निर्यण । २. L अयमैरावती । ३. M N चलन्तयेते । ४. S वंति, T Y वेति, P वेत्ति, X R चति for वेत्ति ।

- 1847) समर्प्तं स्वर्गसाम्राज्यं दिव्यभूत्योपलक्षितम् ।  
युग्मैस्ते संमुखीभूतं गुह्याणं प्रणतामरम् ॥१५२
- 1848) इतिवादिनि सुस्तिरथे सचिवे उत्त्वन्तवत्सले ।  
अवधिज्ञानमासाद्य योविषयं स बुद्ध्यते ॥१५३
- 1849) अहो तपः पुरा चीर्णं मयान्यजनदुश्चरम् ।  
वितीर्णं चाभयं दानं प्राणिनां जीवितार्थिनाम् ॥१५४
- 1850) आराधितं मनःशुद्ध्या दृग्बोधादिचतुष्टयम् ।  
देवरथं जगतां नाथः सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥१५५
- 1851) निर्दर्शं विषयारण्यं स्मरवैरी निपातितः ।  
कथायतरविश्छिक्षा रागशश्वुनियन्त्रितः ॥१५६

1847) इत्यमर्थम्—[ विकामूलस्त्र लक्ष्मीरिहवर्णेण उपलक्षिता युवतम् । प्रणतामरं प्रणताः अमराः यथ एतादूशम् । संमुखीभूतं संप्राप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥१५२॥ ] अथ पुनर्स्तदेवाह ।

1848) इतिवादिनि—इति अमृता प्रकारेण सुस्तिरथे एवंवादिनि । संचिन्त्य विचार्य । सुवत्सले । अवधिज्ञानमासाद्य पौर्वपितृं स बुद्ध्यते । इति सूत्रार्थः ॥१५३॥ अथ पूर्वकर्मस्वरूपमाह ।

1849) अहो तपः—जीवितार्थिनां जीवितवाङ्गकानां प्राणिनाम् । अभयदानं वितीर्णम् । अहो इत्याश्चर्ये । पुरा चीर्णं तपः मया । कीदृशाय । अन्यजनदुश्चरम् । इति सूत्रार्थः ॥१५४॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1850) आराधितम्—दृग्बोधादिचतुष्टयं सम्यगदर्शनादिचतुष्टकं मनःशुद्ध्या आराधितम् । च पुनः । देवः जगतां नाथः सर्वज्ञः परमेश्वरः । इति सूत्रार्थः ॥१५५॥ अथ पुनर्देवस्वरूपमाह ।

1851) निर्दर्शम्—विषयारण्यम् इन्द्रियक्षयापाराठवीर्यं निर्दर्शं ज्वालितम् । स्मरवैरी कन्दर्पशश्वुः निपातितः । कथायतरवः छिन्नाः छेदिताः । रागशश्वुः नियन्त्रितः बद्धः । इति सूत्रार्थः ॥१५६॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

दिव्य विभूतिसे परिपूर्ण यह समस्त स्वर्गका साम्राज्य आपके पुण्यसे सन्मुख प्राप्त हुआ है । इसे देवोंके नमस्कारपूर्वक ग्रहण कीजिए ॥१५२॥

इस अतिशय स्मरण व अत्यन्त प्रेमी मन्त्रीके कहनेपर अवधिज्ञानके आश्रयसे वह पूर्वापरको जान लेता है ॥१५३॥

तत्प्रात् वह विचार करता है—हर्ष है कि मैंने पूर्वमें जो अन्य जनके द्वारा दुश्चर्यक अनुष्ठित किये जानेवाले तपका अनुष्ठान किया है, जीवित रहनेकी अमिलाषा रखनेवाले प्राणियोंको अभयदान दिया है; भनकी विशुद्धिपूर्वक सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपरूप चार आराधनाओंका आराधन किया है; तीनों लोकोंके अधिष्ठितवरूप सर्वज्ञ

१. J संचिन्त्येव सुवत्सले । २. S J X Y R बुद्ध्यति ।

- 1852 ) सर्वस्तस्य प्रभावो ज्यमहं येनाहु दुर्गतेः ।  
उद्धृत्य स्थापितः स्वर्गराज्ये शिदशब्दिते ॥१५७
- 1853 ) रागादिदडनज्वाला न प्रशास्यन्ति देहिनाम् ।  
सद्बृत्तवायैसंसिक्ताः क्वचिज्जन्मशतैरपि ॥१५८
- 1854 ) तत्त्वात्र सुलभं मन्ये तत्किं कुर्मो अघुना वयम् ।  
सुराणां स्वर्गलोके इस्मन् दर्शनस्यैव योग्यता ॥१५९
- 1855 ) अतस्तत्त्वार्थश्चद्वा मे श्रेयसी स्वार्थसिद्धये ।  
अहंदेवपदद्वन्द्वे भक्तिश्चात्यन्तनिश्चला ॥१६०

1852) सर्वस्तस्य—तस्यायं सर्वः प्रभावः । येनाहुमद्य दुर्गतेः । उद्धृत्य स्थापितः स्वर्गराज्ये । कीदूषी । शिदशब्दिते देवपूजिते । इति सूत्रार्थः ॥१५७॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1853) रागादि—देहिनां प्राणिनां रागादिदहनशिखा न प्रशास्यति । कीदूषी । सद्बृत्तं चारित्रं लदेव वारि जलसमूहः तेन असंसिक्ता । क्वचिज्जन्मशतैरपि । इति सूत्रार्थः ॥१५८॥ अथ पुनस्तोषां स्वरूपमाह ।

1854) तत्त्वात्र—अहं मन्ये । अत्र तत्सुलभं न । अघुना वयं तत्त्वं कुर्मः । स्वर्गलोके इस्मन् सुराणां दर्शनस्यैव योग्यता वर्तते । इति सूत्रार्थः ॥१५९॥ अथ कर्तव्यतामाह ।

1855) अतस्तत्त्वार्थ—अतः कारणात् मे मम तत्त्वार्थश्चद्वा स्वार्थसिद्धये श्रेयसी प्रधाना । च पुनः । अहंदेवपदद्वन्द्वे जिनपादयुगमे । अत्यन्तनिश्चला भक्तिरिति सूत्रार्थः ॥१६०॥ अथ पुनरहंदक्षिम्बानि पूज्यानीत्याह ।

परमात्माका भी आराधन किया है, विषयरूप व्रनको भस्म किया है, कामरूप शत्रुको मार गिराया है, कषायरूप वृक्षोंको नष्ट किया है, तथा रागरूप शत्रुको जो अपने वशमें किया है उसी सबका यह प्रभाव है कि जिसने मुझे दुर्गतिसे बचाकर आज देवोंसे बन्दित इस स्वर्गके राज्यमें—इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित किया है ॥१५४-५७॥

प्राणियोंकी रागादिरूप अग्निकी उवाला—विषयतृष्णा—जबतक समीचीन चारित्ररूप जलके द्वारा नहीं सीची जाती है, तब तक वह सैकड़ों जन्मोंसे भी कहीं शान्त नहीं हो सकती है ॥१५८॥

वह समीचीन चारित्र यहाँपर सुलभ नहीं है, यह मैं जानता हूँ । इसलिए अब हम वया करें । यहाँ देवोंके इस स्वर्गलोकमें एकमात्र सम्यरदर्शन की ही योग्यता है ॥१५९॥

इसलिए अपने प्रथोजनको सिद्ध करनेके लिए यहाँ मुझे जीवादि तस्वीरोंका यथार्थ श्रद्धान् ( सम्यग्दर्जन ) और अहंता भगवान्के चरण-कमलमें अतिशय दृढ़ भक्ति ही छिटकर है ॥१६०॥

- 1856 ) यान्यत्र प्रतिविम्बानि स्वर्गलोके जिनेशिनाम् ।  
 विमानचैत्यहृषेषु मेर्वाद्युपवनेषु च ॥१६१
- 1857 ) तेषां पूर्वमहं कुत्वा सद्ग्रहव्यैः स्वर्गसंभवैः ।  
 पुण्यचन्दननैवेद्यं गन्धदीपाक्षतोत्करैः ॥१६२
- 1858 ) गीतवादित्रनिधोर्णैः स्तुतिस्तोमैर्मनोहरैः ।  
 स्वर्गश्वर्यं ग्रहीष्यामि ततस्त्रिदशवन्दितम् ॥१६३
- 1859 ) इति सर्वज्ञदेवस्य कुत्वा पूजामहोत्सवम् ।  
 स्त्रीकुर्वन्ति तदा राज्यं पटुबन्धादिलक्षणम् ॥१६४
- 1860 ) तस्मिन् मनोजवैर्यनैविचरन्तो यदृच्छया ।  
 वनाद्रिसागरान्तेषु दीव्यन्ते॑ श्रिदिवौकसः ॥१६५

1856) यान्यत्र—यानि अत्र स्वर्गलोके प्रतिविम्बानि जिनेशिनां तीर्थकराणाम् । विमाने॒ चैत्यहृषेषु मेर्वाद्युपवनेषु । च पथान्तरे । इति सूक्ष्मार्थः ॥१६१॥ अथ सेषां कर्तव्यतामाह ।

1857) तेषां पूर्वम्—तेषां जिनविम्बानाम् अहं पूजां॑ कुत्वा । कैः । सद्ग्रहव्यैः । कीदूरैः । स्वर्गसंभवैः स्वर्गजातैः । पुण्यचन्दनादि सर्वं सुगमम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥१६२॥ पुनः कैः पूजा क्रियते ।

1858) गीतवादित्र—ततस्तस्मात् त्रिदशवन्दितं देवकन्दितम् । शेषं सुगमम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥१६३॥ [ पश्चात् राज्यं स्त्रीकुर्वन्ति तदाह । ]

1859) इति सर्वज्ञ—पटुबन्धादिलक्षणं पटुभिषेकादिकम् । शेषं सुगमम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥१६४॥ अथ सत्र देवानां स्वरूपमाह ।

1860) तस्मिन्मनोजवैः—तस्मिन् स्वर्गे यावेः वाहनैः यदृच्छया विचरन्तः । कीदूरैः । मनोजवैः पनोजवृ॒ शीघ्रयैः । श्रिदिवौकसः देवाः । वनाद्रिसागरान्तेषु दीव्यन्ते॑ श्रीडन्ति । इति सूक्ष्मार्थः ॥१६५॥ अथ पुनः स्वर्गिणां सुखमाह ।

यहाँ॑ स्वर्गलोकमें विमानों व चैत्यहृषेष्कि आश्रित सथा मेन आदिके उपवनोंमें जो जिसेन्द्र देवोंकी प्रतिमाएँ हैं उनकी मैं पहले स्वर्गमें उत्पन्न हुए पुण्य, चन्दन, नैवेद्य, गन्ध, दीप और अष्टतोंके समूहों द्वारा गीत व वादित्रोंकी वनियुक्त मनोहर स्तुतिसमूहोंके साथ पूजा करता हूँ । तत्पश्चात् देवोंसे वन्दित स्वर्गके ऐश्वर्यको प्रहण करूँगा ॥१६१-६३॥

इस विचारसे वे सर्व-प्रथम सर्वज्ञ देवके पूजामहोत्सवको करते हैं और तत्पश्चात् पटुबन्धादिरूप राज्यको स्थीकार करते हैं ॥१६४॥

वे देव वहाँ॑ स्वर्गमें मनके वेगके समान शीघ्र गमन करनेवाले विमानोंके द्वारा इच्छा-नुसार घन, पर्वत और समुद्रके अन्तमें क्रीड़ा किया करते हैं ॥१६५॥

१. J विमाने । २. M N पूजामहं । ३. M N सहित्यैः, S X R सद्ग्रहव्यैः । ४. X गन्धवूपाँ । ५. Y om. this verse । ६. All others except P M J °वन्दितः । ७. P पूजां । ८. Y R स्त्रीकरोति । ९. N S T F J Y R ततो for तत्त्व । १०. N T F Y R दीव्यन्ते ते दिक्षो॑ ।

- 1861) संकल्पानन्तरोत्पन्ने दिव्यभोगैः समथितम् ।  
सेव्यमानाः सुरानीकैः अशन्ति स्वर्गिणः सुखम् ॥१६६
- 1862) महाप्रभावसंपन्ने महाभूत्योषलक्षिते ।  
कालं गतं न जानन्ति निमग्नाः सौख्यसागरे ॥१६७
- 1863) क्वचिद्गतैः क्वचिभूतैः क्वचिद्वादैर्भवैरमैः ।  
क्वचिद्विलासिनीवात्कीडाशृङ्गारदर्शनैः ॥१६८
- 1864) दशाङ्गभोगजैः सौख्यैलिङ्गमानाः क्वचित् क्वचित् ।  
वसन्ति स्वर्गिणः स्वर्गे कल्पनातीतवैभवैः ॥१६९

1861) संकल्पानन्तरोत्पन्ने—स्वर्गिणो देवा । मुखं सेव्यमानाः अथन्ति समाथयन्ति ।  
सुरानीकैर्देवसंन्यैः समथितम् । कीदृशैः । संकल्पानन्तरोत्पन्ने । इति सूक्ष्मार्थः ॥१६६॥ अथ सौख्य-  
माहात्म्यमाह ।

1862) महाप्रभाव—महालक्ष्योषलक्षिते । शेषं सुगमसिति सूक्ष्मार्थः ॥१६७॥ अथ  
पुनर्मतदेवाह ।

1863) क्वचिद्गतैः—स्त्रीमूहकीडाशृङ्गारावलोकनैः । शेषं सुगमम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥१६८॥  
अर्थतेरां मुखजग्नकत्वमाह ।

1864) दशाङ्ग—स्वर्गिणः स्वर्गे वसन्ति । कीदृशाः स्वर्गिणः । दशाङ्गजैः सौख्यैः लाल्य-  
मानाः । क्वचित् क्वचित् कुत्र कुत्रापि । कीदृशो । कल्पनातीतवैभवे अचिन्त्यराज्ये । इति सूक्ष्मार्थः ॥१६९॥ अथ कल्पवृथान् दर्शयति ।

देवसेनाओंके द्वारा सेवमान वे स्वर्गवासी देव संकल्पके अमलर ही उत्पन्न हुए दिव्य भोगोंसे परिपूर्ण सुखका उपभोग किया करते हैं ॥१६६॥

वे महान् प्रभावसे सम्पन्न और कहीं विभूतिसे परिपूर्ण उस सुखके समुद्र से भग्न हाकर श्रीते हुए समयको नहीं जानते हैं—सुखपूर्वक स्वर्गमें रहते हुए उनका सामरोपमो प्रमाण काल शीत जाता है, जिसका उन्हें पता नहीं लगता है ॥१६७॥

स्वर्गवासी देव कहीपर गीतोंसे, कहीं नृत्योंसे, कहीं मनोहर वाजोंसे, कहीं अप्सरा-समूह की कीड़ा और उनके शृंगारके दर्शनसे, कहीं पर दशांगभोगोंसे उत्पन्न सुखसे और कहीं पर अचिन्त्य विभूतिसे लालित होते हुए वहाँ स्वर्गमें रहा करते हैं ॥१६८-६९॥

१. L S F Y R समवित्त, T J समधितः । २. M S J X Y R सेवमानाः । ३. M N T J मनोहरैः ।  
४. X संगीतदर्शिने । ५. S R लभ्यमानाः । ६. Y विशन्ति । ७. All others except P M N ईभवे ।

- 1865) [ मंथतूर्यगृहज्योतिर्भूषामीजनविग्रहाः ।  
स्वग्नीपवस्त्रपात्राङ्गा दशधा कल्पपादपाः ॥१६९\*१ । ]
- 1866) यत्सुखं नाकिनां स्वर्गे तद्वक्तुं केन पार्यते ।  
स्वभावजमनातङ्कं सवक्षिप्रीणनक्षमम् ॥१७० ।
- 1867) अशेषविषयोद्भूतं दिव्यस्त्रीसंसर्गं संभवम् ।  
विनीतजनविज्ञानैर्ज्ञानाद्यैश्वर्यलाभिष्ठतम् ॥१७१ ।
- 1868) सौधर्माद्यच्युतान्ता ये स्वर्गाः पोदश वर्णिताः ।  
कल्पातीतास्ततो ज्ञेया देवाः वैभानिकाः परे ॥१७२ ।

1865) मद्यतूर्य—१. मद्य, २. तूर्य, ३. गृह, ४. ज्योति, ५. भूषा, ६. भोजन, ७. विग्रहः, ८. स्त्रक्, ९. दीप, १०. वस्त्रपात्राङ्गं । तत्र मद्यम् । मद्यजनकवस्तुदायकाः कल्पवृक्षाः । तूर्यवादित्रिदातारः । एवं सर्ववस्तुदातत्त्वं तेषां वर्थानाम् वाच्यम् । एते दश कल्पवक्ताः ज्ञातव्याः । इति सूत्रार्थः ॥१६९\*१॥ अथ नाकिनां सुखरूपमाह ।

1866) यत्सुखं—स्वर्गे नाकिनां यत्सुखं तत्सुखं वक्तुं केन पार्यते । कोदृशम् । स्वभावजम् । पुनः कीदृशम् । अनातङ्कम् । पुनः कीदृशम् । सवक्षिप्रीणनक्षमं सर्वेन्द्रियाङ्गादसमर्थम् । इति सूत्रार्थः ॥१७०॥ अथ पुनस्तत्सुखमाह ।

1867) अशेष—ज्ञानाद्यैश्वर्यलाभिष्ठतम् । शेषं सुममम् । इति सूत्रार्थः ॥१७१॥ अथ स्वर्गाणां स्वरूपमाह ।

1868) सौधर्माद्य—ये सौधर्माद्यच्युतान्ताः सौधर्माद्याः अच्युतान्ताः पोदश कल्पाः स्वर्गाः वर्णिताः । ततः कल्पातीताः ज्ञेयाः देवाः परे वैभानिकाः । इति सूत्रार्थः ॥१७२॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

मद्यरूप शरीरके धारक—मद्यांग, तूर्यांग, गृहांग, ज्योतिरंग, भूषणांग, भोजनांग, खांग, दीपांग, वस्त्रांग और भाजनांग ये दस प्रकारके वहाँ कल्पवृक्ष होते हैं जो संकल्पके अनुसार वर्थायोग्य अभीष्ट वस्तुओंको दिया करते हैं ॥१६९\*१॥

स्वर्गमें देवोंको जो आकुलतासे रहित व सब ही इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेवाला स्वाभाविक सुख प्राप्त होता है उसका वर्णन कौन कर सकता है ? अर्थात् वह अवर्णनीय है ॥१७०॥

समस्त विषयोंसे व देवांगनाओंके संयोगसे उत्पन्न हुआ वह स्वर्गसुख विनीत जनके विज्ञान व ज्ञानादि ऐश्वर्यसे चिह्नित है ॥१७१॥

सौधर्मको आदि लेकर अच्युत पर्यन्त जो सोलह् स्वर्ग कहे गये हैं उनके आगे के वैभानिक देवोंको कल्पातीत जानना चाहिये । अद्भिन्न कहे जानेवाले वे सब देव विषय-

१. P M N om. L F J read this Verse, after No 168, X Y read thus: मद्यतूर्यविभूषा-  
स्त्रक्षीतिर्भूषाङ्गाङ्गाः । भोजनामृतवस्त्राङ्गा दशधा कल्पशाखिनः, ( Y भोजनामात्र ) । २. J अशेष ।  
३. N स्त्रोसंघ । ४. M संयमंगम । ५. All others except P L विज्ञानज्ञानां । ६. All others  
except P वे कल्पाः ।

1869) अहमिन्द्राभिधानास्ते सर्वे वीचारवजिताः ।  
विविधितशुभध्यानाः शुक्ललेश्यावलम्बिनः ॥१७३॥

1870) अनुत्तरविमानेषु श्रीजयन्तादिपञ्चसु ।  
संभूष्य स्वर्गिणश्च्युत्वा व्रजन्ति पदमव्ययम् ॥१७४॥

1871) कल्पेषु च विमानेषु परतः परतो ऋधिकाः ।  
सुखलेश्यायुविज्ञानप्रभावैः स्वर्गिणः स्वयम् ॥१७५॥

1869) अहमिन्द्राभिधानाः—ते अहमिन्द्राभिधानाः । पुनः कीदृशाः । प्रवीचारविवजिताः  
व्यभिचाररहिताः । पुनः कीदृशाः । विविधितशुभध्यानाः । पुनः कीदृशाः ।<sup>१</sup> शुभलेश्यावलम्बिनः ।  
इति सूत्रार्थः ॥१७३॥ अथानुत्तरविमानमाह ।

1870) अनुत्तर—श्रीजयन्तादिपञ्चसु अनुत्तरविमानेषु संभूष्य च्युताः<sup>२</sup> स्वर्गिणः अव्ययं पदं  
व्रजन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१७४॥ अथोपरि स्वर्गस्वरूपमाह ।

1871) कल्पेषु च—कल्पेषु स्वर्गेषु । च युनः । विमानेषु । परतः परतो ऋधिकाः । के  
स्वर्गिणः । स्वयं सुखलेश्यायुविमानप्रभावैः सुखं च लेश्या च आयुश्च विज्ञानं च तेषां प्रभावैः । इति  
सूत्रार्थः ॥१७५॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

वासनासे रहित, वृद्धिगत शुभ ध्यानसे सहित और शुक्ल लेश्याका आश्रय लेनेवाले  
हैं ॥१७२-७३॥

श्री विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर  
विमानोंमें उत्पन्न हुए वैमानिक देव वहाँसे च्युत होकर अविनश्वर पद ( मोक्ष ) को प्राप्त  
होते हैं—विजयादिक चार विमानोंसे च्युत हुए देव मनुष्य होकर पुनः उन विजयादिकोंमें  
उत्पन्न होते हैं और तत्पश्चात् मनुष्य होकर मुक्तिको प्राप्त करते हैं, किन्तु सर्वार्थसिद्धि  
विमानसे च्युत हुए देव मनुष्य होकर नियमतः उसी भवसे मुक्तिको प्राप्त करते हैं ॥१७५॥

सौधर्मादि कल्पोंमें तथा प्रैवेष्यकादि कल्पातीत विमानोंमें रहनेवाले वैमानिक देव  
आगे आगे—सौधर्म-ऐश्वानसे सानत्कुमार-भाष्टेन्द्र कल्पके तथा उनसे त्रिह्वा-त्रिष्णोत्तर कल्पके,  
इस क्रमसे उत्तरोत्तर—सुख, लेश्या, आयु, विज्ञान और प्रभावसे स्वयं अधिक हैं ॥१७५॥

१. All others except P स्त्री प्रवीचारविवजिताः । २. J X Y शुभलेश्याः<sup>१</sup> । ३. J च्युताः ।  
४. Y om, this verse S R शुभलेश्याः<sup>२</sup> ।

- 1872 ) ततो ऽग्रे<sup>१</sup> शाश्वतं धाम जन्मजातक्षिच्छुतम् ।  
ज्ञानिनां यदधिष्ठानं कीणनिःशेषकर्मणाम् ॥१७६
- 1873 ) चिदानन्दगुणोपेता निष्ठितार्थी विवन्धनाः ।  
यत्र सन्ति स्वयंबुद्धाः सिद्धाः सिद्धेः स्वयंवराः ॥१७७
- 1874 ) समस्तो ऽप्यमहो लोकः केवलज्ञानगोचरः ।  
तं व्यस्तं वा समस्तं वा स्वशक्त्या चिन्तयेद्यतिः ॥१७८
- 1875 ) [ विलीनाशेषकर्मणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।  
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गर्भगतं स्मरेत् ॥१७८\*१ ]

1872) ततो ऽग्रे—ज्ञानिनां यद् अधिष्ठानं ततः श्रीभास्वतं<sup>२</sup> क्रान्तिसूर्यं धाम । पुनः कीदृशाम् । जन्मजो य आत्मकः भव्यं तेन विच्छुतं रहितम् । पुनः कीदृशानाम् । कीणनिःशेषकर्मणां मिति सूत्रार्थः ॥१७६॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

1873) चिदानन्द—यत्र स्वयंबुद्धाः सिद्धाः सन्ति । कीदृशाः । सिद्धेः स्वयंवराः । पुनः कीदृशाः । चिदानन्दगुणोपेताः ज्ञानानन्दगुणसहिताः । पुनः कीदृशाः । निष्ठितार्थीविवन्धनाः<sup>३</sup> सिद्धार्थविवन्धनाः । इति सूत्रार्थः ॥१७७॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

1874) समस्तो ऽप्यम्—तं लोकं व्यस्तम् ऊर्ध्वधीयविभागेन । वा समस्तं सर्वलोकं स्वशक्त्या चिन्तयेद्यतिः । इति सूत्रार्थः ॥१७८॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1875) विलीनाशेष—स्वं स्मरेत् । कीदृशं स्वम् । विलीनाशेषकर्मणं नष्टाशेषकर्मणम् । स्फुरन्तं दीप्यमानम् । अतिनिर्मलम् । पुरुषाकारं स्वाङ्गर्भगतम् । इति सूत्रार्थः ॥१७८\*१॥ अथोपसंहरति । मालिनी छन्दः ।

अनुच्चर विभानोंके अपर जन्म-मरणरूप संसारमें उत्पन्न होनेवाले दुखसे रहित अविनश्वर स्थान—सिद्धक्षेत्र—है । वह ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंका क्षय करके अनन्त ज्ञानादिको प्राप्त कर लेनेवाले सिद्धात्माओंसे अधिष्ठित है ॥१७६॥

उस सिद्धक्षेत्रमें चैतन्यस्वरूप आनन्द गुणसे सम्पन्न, कृतकृत्य, कर्मवन्धसे सर्वथा रहित, स्वर्य-मुद्ध—परनिरपेक्ष समस्त पदार्थोंके ज्ञाता द्रष्टा—तथा सिद्धिरूप लक्ष्मीके द्वारा स्वर्य वरण किये गये ऐसे सिद्ध परमात्मा विराजमान हैं ॥१७७॥

आइचर्यकी बात है कि यह सम्पूर्ण भी लोक केवलज्ञानका विषय है—केवलज्ञानसे प्रत्यक्ष देखा जाता है । योगीको उसका चिन्तन पृथक्-पृथक् स्वरूपसे और सामास्तेन भी अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये ॥१७८॥

ध्याताको समस्त कर्ममलसे रहित, प्रकाशमान ( ज्ञानमय ), अतिशय निर्मल, पुरुष-के आकारको धारण करनेवाले और अपने शरीरके मध्यमें अवस्थित ऐसे अपने आत्मस्वरूप-का चिन्तन करना चाहिये ॥१७८\*१॥

१. J ततो श्रीभास्वतं धाम । २. J "तार्थविव॑" । ३. T X Y समस्तो ऽप्य महा" । ४. P M N om., see 1686 । ५. J स्वाङ्गं ।

1876 ) इति निगदितमुच्चैलोकसंस्थानमित्यं  
नियतमनियतं वा ध्यायतः शुद्धवृद्धेः ।  
भवति सततयोगाद्योगिनो निष्ठमादं  
नियतमनतिदूरे केवलज्ञानलाभः ॥१७९॥

इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-  
विरचिते संस्थानविच्युत्प्रकरणम् ॥३३॥

1876) इति निगदितम्—इति पूर्वोक्तप्रकारेण इत्थं लोकसंस्थानं गदितम् । नियतम्  
अनियतं वा निश्चितम् अनिश्चितं वा । ध्यायतः शुद्धवृद्धेयोगिनो निष्ठमादं सततयोगात् केवल-  
ज्ञानराज्ये भवति । अनतिदूरे नियतं निश्चितम् । इति सूत्रार्थः ॥१७९॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्थवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितमयविलासेन  
साहृपासा-तत्पुत्र-साहृषुप-साहृषुप-तत्कुलकमलदिवाकर-साहृषुपिदास-  
स्वश्रवणार्थ—पण्डितजिनदासोदमेन कारापितं  
संस्थानविच्युत्प्रकरणम् ॥३३॥

सुधामबुधिवहन्तीरक्षीरदण्डीरसोदरः । श्रीमद्भृष्टपुत्रस्य यशः प्रसरतीहू वै ॥ इत्याशीर्वादः ।  
अथ ध्यानस्वरूपमाह ।

इस प्रकारसे जिस उन्नत लोककी आकृतिका यहाँ वर्णन किया गया है उसका नियत  
अथवा अनियत स्वरूपसे जो निर्मलबुद्धि योगी प्रभादसे रहित हो चिन्तन करता है उसको  
नियमसे निरन्तर उस ध्यानके प्रभावसे थोड़े ही समयमें केवलज्ञान आप हो जाता  
है ॥ १७९ ॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्थव योगप्रदीपाधिकारमें  
संस्थानविच्युत्प्रकरण समाप्त हुआ ॥३३॥

## [ पिण्डस्थध्यानम् ]

1877) पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।  
चतुर्धी ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः ॥१॥

1878) पिण्डस्थे पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिताः ।  
संयमी यास्वसंमूढो जन्मपाशान् निकृन्तति ॥२॥

1879) पाथिवी स्थासथाग्नेयी श्वसनाख्यांश वारुणी ।  
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥३॥ तद्यथा—

1877) पिण्डस्थं च—ध्यानं चतुर्धी आम्नातं कथितम् । तदेवाह । पिण्डस्थम् । च पुनः ।  
पदस्थम् । च पुनः । रूपस्थम् । चकारात् रूपवर्जितम् । कैः । भव्यराजीवभास्करैः भव्यकमलसूर्यैः ।  
इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ पिण्डस्थध्यानमाह ।

1878) पिण्डस्थे—पिण्डस्थे ध्याने पञ्चधारणा विज्ञेया । कीदृशी । “वीरवर्णिता । संयमी  
यासु धारणासु अमूढः दक्षः । जन्मपाशान् निकृन्तति छिनति । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ तासां  
स्वरूपमाह ।

1879) पाथिवी—पञ्चतत्त्वरूपवती रूपयुक्ता । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ तद्यथा  
दर्शयति ।

जो भव्य जीवों रूप कमलोंको सूर्यके समान प्रकुलित किया करते हैं उन जिनेन्द्र  
देवोंने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीतके भेदसे ध्यानको चार प्रकारका कहा  
है ॥१॥

पिण्डस्थ ध्यानमें श्री वीर जिनेन्द्रके द्वारा सिद्धिष्ठ की गयी वे पाँच धारणाएँ जान लेने  
योग्य हैं, जिनके विपर्यमें मूढतासे रहित होकर योगी संसाररूप काँसाँको काटता है ॥२॥

पाथिवी, आग्नेयी, इबसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती; ये वे पाँच धारणाएँ क्रमसे  
जान लेने योग्य हैं ॥३॥

१. All others except P M J पिण्डस्थ । २. S X R श्वसना वाय, J<sup>३</sup> नाल्या च । ३. J क्रमात् ।

४. P M तद्यथा ।

1880 ) तिर्यग्लोकसमं योगी स्मरति क्षीरसागरम् ।

निःशब्दं शान्तकद्वीलं हारनीहारसंनिभव् ॥४

1881 ) तस्य मध्ये सुनिर्माणं सहस्रदलमन्बुजम् ।

स्मरत्यमितभादीसं द्रुतहेमसमग्रेभम् ॥५

1882 ) अब्जरागसमुद्भूतकेसरालीविराजितम् ।

जम्बूद्वीपप्रभाणं च चित्रमरणकम् ॥६

1883 ) स्वर्णचलमयीं दिव्यां तत्र स्मरति कणिकाम् ।

स्फुरत्प्रभाजालपिशङ्गितदिग्न्तराम् ॥७

1884 ) शरच्चन्द्रनिभं तस्यामुभूतं हरिविष्टरम् ।

तत्रात्मानं सुखासीनं प्रशान्तमिति चिन्तयेत् ॥८

1880) तिर्यग्लोक—योगी क्षीरसागरं तिर्यग्लोकसमं स्मरति । हारः, नीहारः हिमं, तत्सनिभं सदृशम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ तस्मध्ये यत्तदाह ।

1881) तस्य मध्ये—तस्य क्षीरसागरस्य मध्ये सुनिर्माणं सहस्रदलम् अन्बुजम् अमितभादीसं स्मरति । द्रुतहेमसमग्रं अमर्त्यविशेषकान्त्वे, इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ पुनरस्तदेवाह ।

1882) अब्जराग—अब्जरागसमुद्भूतं कमलद्युतिजातम् । केसरालीविराजितं परागश्रेणीशोभितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ एतदेवाह ।

1883) स्वर्णचल—पिशङ्गितं पीतीकृतं दिग्न्तरं यत्र तत्तथा । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ पुनरस्तदेवाह ।

1884) शरच्चन्द्र—तस्या कणिकायाम् उन्नतम् उच्चेस्तरं हरिविष्टरं सिंहासनम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ पुनरस्तदेवाह ।

उसका स्वरूप इस प्रकार है—पार्थिवी धारणामें योगी शब्द और लहरीसे रहित तथा हार और वर्फके समान धबल ऐसे क्षीरसमुद्रका तिर्यग्लोकके बराबर स्मरण करता है ॥४॥

फिर उस क्षीरसमुद्रके मध्यमें उच्छृष्ट रचनासे संयुक्त, अपरिमित कान्तिसे सुशोभित, पिघले हुए सुषर्णके समान प्रभावाले हजार पत्तोंसे बैठित, कमलकी लालिसासे उत्पन्न परागपंक्तिसे सुशोभित और भनरूप ऋमरोंको अनुरंजित करनेवाले ऐसे जम्बूद्वीप प्रभाण विस्तृत कमलका स्मरण करता है ॥५-६॥

उस कमलके भीतर प्रकाशमान पीली कान्तिके समूद्रसे दिग्मण्डलको पीला करनेवाली मेहरपर्वतस्वरूप दिव्य कणिकाका स्मरण करता है ॥७॥

उस कमलकणिकाके ऊपर शरत्कालीन अन्द्रमाके समान धबल ऊँचे सिंहासनका और उसके ऊपर सुखसे अवस्थित, अतिशय शान्त राग-द्वेषादिरूप समस्त कलंकके लष्ट करनेमें

१. M समभ्रम । २. X भ्रमस्थलर्ण । ३. T J दिग्न्तरम् । ४. P °मति, M °मति ।

- 1885) रागद्वेषादिनिःशेषकलङ्कसपणभम् ।  
उद्युक्तं च भवेद्वृद्धकर्मसंतानशात्ने ॥९॥ पार्थिवी ॥
- 1886) ततो इसौ निश्चलाभ्यासात् कमलं नाभिमण्डले ।  
स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोषतपत्रकम् ॥१०
- 1887) प्रतिष्ठ्रेसमासीनस्वरमालाविराजितम् ।  
कर्णिकाया महामन्त्रं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ॥११
- 1888) रेफलद्वं कलाविन्दुलाञ्छितं शून्यमक्षरम् ।  
लसद्विन्दुच्छटाकोटिकान्तिव्यासहस्रिन्मुखम् ॥१२॥ ५है ॥

1885) रागद्वेषादि—रागद्वेषादयो ये निःशेषकलङ्कः तेषां क्षणे क्षमं समर्थम् । च पाद-पूरणे । उद्युक्तं सावधानम् । भवेद्वृद्धतं कर्मसंतानशात्ने स्फेटने । इति सूत्रार्थः ॥९॥ पार्थिवी ।

1886) ततो इसौ—ततः असौ योगी नाभिमण्डले कमलं स्मरति । कस्मात् । निश्चलाभ्यासात् । कीदृशम् । अतिमनोहारि । षोडश उन्नतानि पत्राणि वस्त्रिन् तत् तथा । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ तत्रापि विशेषमाह ।

1887) प्रतिष्ठ्र—कीदृशं कमलम् । प्रतिष्ठ्रं समासीनम् । पुनः कीदृशम् । स्वरमाला-विराजितं स्वरसमूहयोभितम् । कर्णिकायां महामन्त्रं स्फुरन्तं विचिन्तयेत् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पुनः कीदृशम् ।

1888) रेफलद्वं—शून्यमक्षरम् । अहंतम् । कीदृशम् । रेफलद्वं रकारव्यासम् । पुनः कीदृशम् । कलाविन्दुलाञ्छितं कला च विन्दुहस्त ताम्यां लक्षितम् । पुनः कीदृशम् । लसद्विन्दुच्छटाकोटिकान्ति-व्याप्तं दीप्यमानविन्दुच्छटाकोटीनां कान्तिः तया व्याप्तं हरितां दिशां मुखं येन तत् तथा । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ पुनस्तदाह ।

समर्थं एवं संसारमें उत्थन्न हुई कर्मपरम्पराके कुश करनेमें—उसके निर्जीर्णं करनेमें—उद्यत । ऐसे आत्माका चिन्तन करना चाहिए ॥८-९॥ पार्थिवी धारणा ।

उत्थन्न योगीको स्थिर अभ्यासपूर्वक नाभिमण्डलमें अतिशय मनोहर व सोलह उन्नत पत्रोंसे संयुक्त कमलका विचार करना चाहिये ॥१०॥

फिर कर्णिकाके ऊपर प्रकाशमान व प्रत्येक पत्तेके ऊपर अवस्थित स्वरमाला ( अ, आ, ह, ई आदि ) से सुशोभित महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए ॥११॥

ऐसे वेष्टित, कला व विन्दु<sup>१</sup> से चिह्नित और शोभायमान चन्द्रमाकी कान्तिके समान करोड़ों किरणोंसे दिशाओंके मुखको व्याप करनेवाले शून्य अक्षर ( ह ) स्वरूप उपर्युक्त इसे महामन्त्र ( है ) का चिन्तन करना चाहिये ॥१२॥

१. J उद्युक्तं । २. M N T प्रतिष्ठ्रं । ३. M विन्दु । ४. N T X Y R लसद्विन्दु, F लसद् विन्दु । ५. L न्हीं, M T F अहं, N आहं ।

1889 ) तस्य रेफादिनियन्तीं उमैर्धमशिखां स्मरेत् ।  
स्फुलिङ्गसंततिं परचाजज्वालालीं तदनन्तरम् ॥१३

1890 ) तेन ज्वालाकलापेन वर्धमानेन संततम् ।  
दहत्यविरतं धीरः पुण्डरीकं हृदि स्थितम् ॥१४

1891 ) तदष्टकर्मनिर्मणमष्टपत्रमधोगुख्यम् ।  
दहत्येव महामन्त्रध्यानोत्थैप्रबलानलः ॥१५

1892 ) ततो बहिः शरीरस्य त्रिकोणं वह्निमण्डलम् ।  
स्मरेजज्वालाकलापेन ज्वलन्तमिव वाङ्वम् ॥१६

1889) तस्य रेफात्—तस्य हकारस्य रेफात् विनियन्तीं निर्गच्छन्तीं धूमशिखां स्मरेत् । पश्चात् स्फुलिङ्गसंततिं वक्त्रिकणसमूहं स्मरेत् । तदनन्तरं ज्वालालि ज्वालाषेणीम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ पुनर्स्तद्विशेषमाह ।

1890) तेन ज्वाला—पुण्डरीकं कमलम् । अविरतं निरन्तरम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पुनर्स्तदेवाह ।

1891) तदष्टकम्—अहंमन्त्रध्यानोत्थः\* जातः प्रबलानलः वहृतरामितः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ कीदृशमित्याह ।

1892) ततो बहिः—ततो बहिः शरीरस्य त्रिकोणं मण्डलं स्मरेत् । इबोत्प्रेक्षते । ज्वला-कलापेन ज्वलन्तम् इव वाङ्वम् । तथेति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ पुनर्वह्निमण्डलस्वरूपमाह ।

तत्पञ्चान् योगीको उस मन्त्रकी रेफसे धीरे-धीरे निकलती हुई धुएँकी शिखाका, सत्पञ्चान् स्फुलिंगों ( अग्निकणों ) की परम्पराका और तत्पञ्चान् ज्वालापक्षिका स्मरण करना चाहिये । फिर ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि निरन्तर बढ़ते हुए उस ज्वालासमूहसे वह धीर योगी हृदयमें स्थित कमलको निरन्तर जला रहा है ॥१३-१४॥

वह हृदयस्थ कमल आठ कमोंकी रचनायुक्त आठ पत्तोंबाला है और उसे उपर्युक्त महा मन्त्रके ध्यानसे उत्पन्न हुई प्रबल अग्नि जला रही है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए ॥१५॥

तत्पञ्चान् शरीरके बाह्य भागमें वह्नि बीजपद् ( अ ) से ध्यान, अन्तमें स्वस्त्रिक चिह्नसे चिह्नित, ऊपर बायुपुरसे प्रादुर्भूत हुए, धुएँसे रहित और सुष्ठर्णके समान कान्तिवाले ऐसे

१. L T ज्वालाबली, S F ज्वालाली । २. J शोक्षबम् । ३. M ध्यानोत्थः । ४. L S T X Y R प्रबलो अलः, T प्रभवानलः ।

- 1893) वहिकीजसमाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाङ्क्षितम् ।  
ऊर्ध्वं॑ वायुपुरोद्भूतं निर्धूमं काञ्चनप्रभम् ॥१७
- 1894) अन्तदेहति मन्त्राचिदेहवहिपुरं परम् ।  
धगद्वगिति विस्फूर्जज्ज्वालाप्रचयभासुरम् ॥१८
- 1895) भस्मभावमसौ नीत्वा शरीरं तच्च पङ्कजम् ।  
दाह्याभावात्स्वयं शान्तिं याति वहिः शनैः शनैः ॥१९॥आग्नेयी॑ ।
- 1896) विमानपथमापूर्यं संचरन्तं समीरणम् ।  
स्मरत्यविरतं योगी महावेगं महावलम् ॥२०

1893) वहिकीज—वहिकीजसमाक्रान्तम् अग्निमूलसमाव्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । पर्यन्ते प्रान्ते स्वस्तिकाङ्क्षितं स्वस्तिकाकारम् । ऊर्ध्वं वायुपुरोद्भूतं वायुमष्टलज्जातम् । निर्धूमं काञ्चनप्रभं स्वर्णसमम् इत्यर्थः ॥१७॥ अथ पुनस्तत्त्वार्थमाह ।

1894) अन्तर्वहति—अन्तः मध्ये मन्त्राचिः । वहिर्वहिपुरं परं प्रकृष्टम् । कीदृशम् । धगद्वगिति विस्फूर्जज्ज्वालाप्रचयभासुरम् ॥१८॥ अथ पुनस्तत्त्वरूपमाह ।

1895) भस्मभावम्—बहू योगी भस्मभावं नीत्वा । शरीरं वहिर्भूतं तच्च पङ्कजम् । मध्ये दाह्याभावात् स्वयं वहिः शनैः शनैः शान्तिं यातीति सूत्रार्थः ॥१९॥ आग्नेयी भावना । अथ माहतीभावनामाह ।

1896) विमानपथम्—समीरणम् अविरतं निरन्तरं स्मरति । कीदृशम् । विमानपथं वायुम् आपूर्यं संचरन्तम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ [कीदृशं वायुं तदाहु ।]

त्रिकोण अग्निमण्डलका स्मरण करना चाहिए जो ज्वालाओंके समूहसे जलते हुए बड़वानलोंके समान प्रतीत हो रहा हो ॥१६-१७॥

उस समय भीतर तो मन्त्रकी ज्वाला जलती है और आहिर वह धक्-धक् इस प्रकार उठती हुई ज्वालाओंके समूहसे प्रकाशमान वायु अग्निपुर जलता है ॥१८॥

इस प्रकारसे वह अग्नि शरीर और उस कमलोंको भस्मीभूत करके तत्प्राप्त जलानेके लिये कुछ शेष न रहनेसे धीरे-धीरे स्वयं शान्त हो जाती है ॥१९॥ आग्नेयी धारणा ।

योगीके लिये आकाशको व्याप करके संचार करनेवाली उस वायुका निरन्तर स्मरण करना चाहिये जो अतिशय वेगशाली, बलिष्ठ, देवसेनाको विचलित करनेवाली, मेरुको कम्पित करनेवाली, मेघसमूहको विदीर्ण करनेवाली, महासमुद्रको भ्रुव्य करनेवाली, लोकके

१. M N T X Y K ऊर्ध्ववायु । २. Only P M आग्नेयी ।

1897) चालयन्तं सुरानीकं धुन्वन्तं त्रिदशाचलैः ।

दारयन्तं घनवात् शोभयन्तं महार्णवय् ॥२१

1898) व्रजन्तं भुवनाभोगे संचरन्तं हरिन्मुखे ।

विसर्पन्तं जगैशीहे निविशन्तं धरोतले ॥२२

1899) उदधूय तद्रजः शीघ्रं तेन प्रबलवायुना ।

ततः स्थिरीकृताभ्यासः समीरं जान्तिमानयेत् ॥२३॥ मारुती ।

1900) वारुण्यां स हि पुण्यात्मा घनवातचितं नभः ।

इन्द्रायुधतिद्वर्गजिं चमत्कारोकुलं स्मरेत् ॥२४

1897) चालयन्तम्—महार्णवं समुद्रं कोभयन्तम् । पुनः कि कुर्वन्तम् । सुरानीकं चालयन्तम् । पुनः कि कुर्वन्तम् । त्रिदशाचले धुन्वन्तम् । पुनः कीदूषम् । घनवातं मेघसमूहं दारयन्तमिति सूत्रार्थः ॥२१॥ पुनः कीदूषं वायुम् ।

1898) व्रजन्तम्—भुवनाभोगे जगद्विस्तारे व्रजन्तम् । हरिन्मुखे दिङ्मुखे संचरन्तम् । पुनः कीदूषम् । जगैशीहे निविशन्तम् । धरोतले निविशन्तम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथोपसाहृति ।

1899) उदधूय—ततः अनन्तरं समीरं वायुं जान्तिम् आनयेत् । कीदूषः । स्थिरीकृताभ्यासः । तेन प्रबलवायुना तद्रजः पापं शीघ्रम् उदधूय दूरीकृत्य । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ मारुती भावना । अथ वारुणी भावना ।

1900) वारुण्यो—हि निश्चितं वारुण्यं पुण्यात्मा नभः स्मरेत् । कीदूषम् । घनवातचितं मेघसमूहव्यासम् । पुनः कीदूषम् ।<sup>१</sup> इन्द्रायुधतिद्वर्गजिचमत्कारोकुलम्, इन्द्रायुधम् इन्द्रधनुः, तडित् विद्युत्, तयोः चमत्कारेण आकुलं व्यासम् । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ पुनरेतदेवाह ।

विस्तारमें गतिशील, दिशाओंके मुखमें संचार करनेवाली, जगन् रूप शौसलेके भीतर प्रवेश करनेवाली और पृथिवीतलमें प्रविष्ट हो रही हो । इस प्रकार विचार करता हुआ योगी दृढ़ अभ्यास पूर्वक उस प्रबल वायुके हारा उन भस्म हुए शरीरादिकी धूलिको शीघ्र उड़ाकर तत्पश्चात् उसे शान्त करते ॥२०-२३॥ मारुती धारणा ।

उस पवित्रात्मा योगीको वारुणी धारणामें मेघसमूहसे व्याप्त और इन्द्रधनुष व विजलीकी गर्जनासे संयुक्त होकर आश्र्वयचकित करनेवाले आकाशका स्मरण करता चाहिये ॥२४॥

१. S J X Y R घनन्ते । २. M J X R त्रिदशाचलं । ३. J नीड़ । ४. S J X Y R निविशन्ते ।  
५. S घरतलं । ६. Only P M X मारुती । ७. S R घनजाल । ८. All others except P T गर्जचक्रम् । ९. J चमत्कारी ।

- 1901) सुधाम्बुप्रभवैः सान्द्रैर्विन्दुभिर्मौकिकोज्ज्वलैः ।  
वर्षन्तं तं स्मरेद्वीरः स्थूलस्थूलैर्निरन्तरैः ॥२५
- 1902) ततो अर्घेन्दुसमं कान्तं पुरं वरुणलङ्घनम् ।  
ध्यायेत्सुधापयःपूरैः प्लावयन्तं नमस्तलम् ॥२६
- 1903) तेनाचिन्त्यप्रभावेण दिव्यध्यानोत्थिताम्बुना ।  
प्रक्षालयति निःशेषं तद्रजः कायसंभवम् ॥२७॥ वाहणी ।
- 1904) सप्तधातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम् ।  
सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति शुद्धधीः ॥२८

1901) सुधाम्बु—विन्दुभिर्वर्षन्तं स्मरेत् । कीदृशैः । सुधाम्बुप्रभवैः अमृताम्बुसंजातैः ।  
सान्द्रैः । पुनः । मौकिकोज्ज्वलैः । पुनः कीदृशैः । स्थूलस्थूलैः निरन्तरैरिति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ  
तदेवाहु ।

1902) ततो अर्घेन्दु—ततः अर्घेन्दुसमम् अर्धचन्द्राकारं कान्तं प्रधाने वरुणमण्डलम् असत्त्वम् ।  
पुनः नमस्तलं प्लावयन्तम् । सुधापयःपूरैः अमृतजलसमूहैः । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथोपसंहरति ।

1903) तेनाचिन्त्य—तेन दिव्यध्यानोत्थिताम्बुना कायसंभवै तद्रजः निःशेषं समस्तं  
प्रक्षालयति । कीदृशेन । अचिन्त्यप्रभावेण । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ वाहणी । पुनर्व्यानमाह ।

1904) सप्तधातु—ततः शुद्धधीः आत्मानं स्मरति । कीदृशम् आत्मानस् । सप्तधातुविनिर्मुक्तं  
सप्तधातुरहितम् । पुनः कीदृशम् । पूर्णचन्द्रामलत्विषमं पार्वणचन्द्रनिर्मलरोक्षिषम् । पुनः कीदृशम् ।  
सर्वज्ञकल्पं सर्वज्ञसदृशम् । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ पुनरेतदेवाहु ।

उस आकाशका स्मरण करते हुए धीर योगीको असूतजलसे उत्पन्न हुए, सघन और  
और मोतियोंके समान निर्मल ऐसे बड़े-बड़े विन्दुओंके द्वारा निरन्तर बर्था करते हुए आकाश-  
का विचार करना चाहिये ॥२५॥

तत्पश्चान् अर्धचन्द्रके समान आळतिको धारण करनेवाले वरुण बीजाक्षरसे चिह्नित  
उस रमणीय वरुणपुरका ध्यान करना चाहिये जो अमृत रूप जलके प्रवाहसे आकाशको छुटो  
रहा हो—जलमय कर रहा हो ॥२६॥

तथ योगी अचिन्त्य प्रभाववाले उस दिव्य ध्यानसे उत्पन्न जलके द्वारा भस्म हुए  
शरीरसे उत्पन्न उस समस्त धूलिको धोता है, ऐसा विचार करे ॥२७॥ वाहणी धारणा ।

तत्पश्चान् विशुद्ध वुद्धिके धारक योगीको अपने आपका रस-रुधिरादि सात धातुओंसे  
रहित और पूर्ण चन्द्रमाके समान निर्मल कान्तिवाला सर्वज्ञतुल्य स्मरण करना चाहिये ॥२८॥

१. All others except P T Y निरन्तरम् । २. T "न्दुसमाकारं । ३. All others except P M  
रोक्षिषम् । ४. Only PM वाहणी । ५. L S F R संयमी for शुद्धधीः ।

- 1905 ) मृगेन्द्रविष्टराखडं दिव्यातिशयसंयुतम् ।  
कल्याणमहिमोपेतं देवदैत्योरगार्चितम् ॥२९
- 1906 ) विलीनोशेषकर्मणं स्फुरन्तभृतिनिर्भलम् ।  
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गर्भगतं स्मरेत् ॥३०
- 1907 ) इत्थविरेतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्वलाभ्यासः ।  
शिवसुखभनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यविरेण कालेन ॥३१
- 1908 ) इत्थं यत्रानवद्यं स्मरति नवसुधासान्द्रचन्द्रावदातं  
श्रीमत्सर्वज्ञकल्पं कनकगिरितटे वीतविश्वप्रपञ्चम् ।

1905) मृगेन्द्र—पुनः कीदूशमात्मानम् । मृगेन्द्रविष्टराखडं सिहासनाखडम् । पुनः कीदूशम् । दिव्यातिशयसंयुतम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1906) विलीनोशेष—स्वं स्मरेत् ततः । कीदूशम् । विलीनोशेषकर्मणं नष्टाशेषकर्मणम् । स्फुरन्तम् अतिनिर्भलं स्वाङ्गर्भगतम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथैतदेवाह । आर्या ।

1907) इत्थविरेतम्—स योगी अविरतं निरन्तरम् इति प्रकारेण पिण्डस्थे ध्याने जातनिश्वलाभ्यासः शिवसुखं प्राप्नोति । कीदूशं शिवसुखम् । अनन्यसाध्यं नान्यसाध्यम् । केन । अविरेण कालेन । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ पिण्डस्थध्यानमुपसंहरति । सम्भरा ।

1908) इत्थं यत्र—जिनसमयमहाभोधिपारे प्रयातैः जिनसिद्धान्तमहासमुद्घारणतैः तत् पिण्डस्थं प्राप्नीतम् । इत्थं यत्रानवद्यं विष्ण्यापं स्मरति । नवसुधासान्द्रचन्द्राशुगीरं “नवाभृतसघन-चन्द्राशुगीरम्” । पुनः कीदूशम् । श्रीमत्सर्वज्ञकल्पं सर्वज्ञसदृशम् । क्व । कनकगिरितटे । कीदूशम् ।

फिर योगीके लिये अपने शरीरके मध्यमें स्थित पुरुषाकार आत्माको सिंहासनपर आखड़, दिव्य अतिशयोंसे संयुक्त, कल्याणकोंके माहात्म्यसे परिपूर्ण, देव, दैत्य व नागकुमारोंसे पूजित, समस्त कर्मोंसे रहित, ज्ञानज्योतिसे प्रकाशमान और अतिशय निर्भलं स्मरण करना चाहिये—ध्यानमें देखना चाहिये ॥२९-३०॥

इस प्रकार निरन्तर पिण्डस्थ ध्यानमें दृढ़तर अभ्यासको प्राप्त हुआ योगी थोड़े ही समयमें अन्यके द्वारा असाध्य मोक्षसुखको प्राप्त कर लेता है ॥३१॥

इस प्रकारसे जिस ध्यानमें निर्भल, नवीन अभृतसे सघन—अतिशय परिपूर्ण—ऐसे चन्द्रमाके समान पवित्र, ज्ञानलहमीसे आलिंगित सर्वज्ञके सदृश, सुवर्णभृथ मेर पर्वतके किनारेपर अवस्थित होकर समस्त प्रपञ्चसे रहित हुए, विश्वरूप—समस्त पदार्थोंके आकारसे परिणत ( उनका ज्ञाता ) और महान् देवोंके समूहसे भी अचिन्त्य प्रभाववाले आत्माका

१. See 1686 and 1875 । २. इति विरचितं स । ३. All others except P M N चन्द्राशुगीर ।

आत्मानं विशेषरूपं त्रिदशगुरुगणैरप्यचिन्त्यप्रभावं  
तत्पिण्डस्थं ग्रन्थीतं जिनसमयमहामोधिपारं प्रयातैः ॥३२

1909 ) विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्रकुहकं कूराभिचारक्रिया:  
मिहाशीविषदैत्यदन्तिशरभा यान्त्येव निःसारताम् ।  
शालिन्यो भास्त्राभमण्डलम् भूतयो मुञ्चन्त्यसद्वासना-  
मेतदुशानधनस्य संनिधिवशाद्वानोर्यथा कौशिकाः ॥३३

इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-  
विरचिते पिण्डस्थध्यानप्रकरणम् ॥३४॥

वीतदिविश्वप्रपञ्चम् । पुनः कीदृशम् । आत्मानं निर्विकल्पम् । पुनः कीदृशम् । त्रिदशगुरुगणैरपि अचिन्त्यप्रभावम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथैतदुपर्याहरति ।

1909) विद्यामण्डल—एतदध्यानधनस्य योगिनः एते सर्वे यजि निःसारतां निष्कलतां प्राप्तवन्तम् । विद्या च मण्डलं च मन्त्रशब्दं च “कपटं च कूरा या अभिचारक्रिया व्यभिचारकार्यं तेषां समाहारः । ताः निष्कलतां यान्ति । पुनः एते यजि सिंहशब्दं आशीविषाः [च] सर्वविशेषाः । दैत्याः प्रसिद्धाः । दन्तिनो हस्तिनः । शरभाः अष्टापदाः तेषां समाहारः । पुनः शाकिष्याः । ग्रहाः केत्वादयाः । राक्षसाः, तेषां समाहारः । असद्वासनां मुञ्चन्ति त्यजन्ति इति सूत्रार्थः ॥३३॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्थवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पिण्डतन्त्रविलासेन  
साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुले कमलदिवाकर-साहश्रविदास-स्वश्रवणार्थ  
पिण्डतजिनदासोदयमेन कारापितपिण्डस्थध्यानप्रकरणं समाप्तम् ॥३४॥

पासराजश्च संभूतः तत्पुत्रोडरो भवः । जैनधर्ममहाबुद्धिः रिषिदासः सुखोत्तमः ॥१॥ अथ पिण्डस्थध्यानमाह ।

स्मरण किया जाता है उसे जिनागमरूप महासगुद्रके पारको प्राप्त हुए गणधर देवोंने पिण्डस्थ ध्यान कहा है ॥३५॥

जिस प्रकार सूर्यकी समीक्षा पाकर उल्लू निरर्थकताका अनुभव करते हुए दुर्बासना ( कुत्सित संस्कार ) को छोड़ दिया करते हैं उसी प्रकार इस पिण्डस्थ ध्यानरूप धनसे सम्बन्ध योगीकी समीक्षताको पाकर विद्या, मण्डल ( कुञ्चरोग या सैन्यरचनाविशेष ), मन्त्र, इन्द्रजाल व दूसरेके घातके लिये किया जानेवाला कूर कर्म, तथा सिंह, आशीविष सर्व, दैत्य, हाथी और शरभ ( एक हिंसक पशु ) ये सब निरर्थकताको प्राप्त होते हैं—निष्प्रभ हो जाते हैं । साथ ही शाकिनी, दुष्ट ग्रह और राक्षस आदि भी दुर्बासनाको—अपने दुष्ट स्वभावको छोड़ देते हैं ॥३५॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्थव योगप्रदीपाधिकारमें  
पिण्डस्थ ध्यान प्रकरण समाप्त हुआ ॥३५॥

१. M N योगिनार्थ, २. T F J निर्विकल्प, ३. Y ज्ञानवीज- for विशेषरूपे । ४. J कपटकूरा । ५. All others except P M L F चाराः क्रियाः ।

## [ पदस्थध्यानम् ]

- 1910) पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्द्विधीयते ।  
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥१॥ तदथा—
- 1911) ध्यायेदनादिसिद्धान्तप्रसिद्धां वर्णमातृकाम् ।  
निःशेषशब्दविन्यासेजन्मभूमि जगन्मुताम् ॥२
- 1912) द्विगुणाष्टदलाम्बोजे नाभिमण्डलवसिनि ।  
अमन्तरीं चिन्तयेत् ध्यानी प्रतिपत्रं स्वरावलीम् ॥३

1910) पदान्यालम्ब्य—पुण्यानि पदानि आलम्ब्य योगिभिः यद् विधीयते, तत् पदस्थं ध्यानं मतं विचित्रनयपारगैः । इति सूत्रार्थः ॥१॥ तदथा दर्शयति ।

1911) ध्यायेदनादि—कीदूशीं वर्णमातृकां ध्यायेत् । अनादिसिद्धान्तप्रसिद्धाम् । सुगमम् । पुनः कीदूशीम् । निःशेषशब्दविन्यासजन्मभूमि सर्वस्थापनाजन्मभूमिकाम् । पुनः कीदूशीम् । जगन्मुताम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनराह ।

1912) द्विगुणाष्ट—स्वरावलीं चिन्तयेत् । कः । ध्यानी । प्रतिपत्रम् । कीदूशि । नाभिमण्डलवसिनि । द्विगुणाष्टदलाम्बोजे योऽशादलकमले । अमन्तरीम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ स्वरावलीमाह ।

योगीजन पवित्र पदोंका आश्रय लेकर जिस ध्यानको किया करते हैं उसे अनेक प्रकारके नयोंके रहस्यको जाननेवाले चिद्धाम् पदस्थ ध्यान मानते हैं ॥१॥

वह इस प्रकारसे—योगीको समस्त शब्दरचनाका कारणभूत और लोकके द्वारा नमस्कृत—जिसकी सब ही प्राणी बन्दूना किया करते हैं—ऐसी अनादि परमाणममें प्रसिद्ध वर्णमातृकाका—स्वरूपजननात्मक वर्णमालाका—ध्यान करना चाहिए ॥२॥

ध्यानाको प्रथमतः नाभिमण्डलमें स्थित सोलह पसोंवाले कमलके प्रत्येक पत्तेपर विचरण करनेवाली स्वरूपनिः ( अ, आ इत्यादि १६ रुपर ) का विचार करना चाहिए ॥३॥

१. P M तदथा । २. Y नादिक्षेपिद्धां प्र० । ३. T X Y मालिकां । ४. Y निःशेषपद । ५. T शब्दविज्ञान, J विद्यासः । ६. All others except P M N Y शुताम् । ७. Y प्रतिपत्ति ।

- 1913 ) चतुर्विशतिष्ठाणं हृदि कञ्जं सकणिकम् ।  
तत्र वर्णनिमान् ध्यायेत् संयमी पञ्चविंशतिम् ॥४
- 1914 ) ततो वदनराजीवे पञ्चष्टकविभूषिते ।  
परं वर्णष्टकं ध्यायेत् संचरन्तं प्रदक्षिणम् ॥५
- 1915 ) इत्यजस्तं स्मरन्योगी प्रसिद्धां वर्णमातृकाम् ।  
श्रुतज्ञानाम्बुधेः पारं प्रयाति विगतभ्रमः ॥६
- 1916 ) उक्तं च—  
कमलदलोदरमध्ये ध्यायन् वर्णनिनादिसंसिद्धान् ।  
नष्टादिविषयबोधं ध्याता संपद्यते कालात् ॥६\*१

1913) चतुर्विशति—हृदि कञ्जं कमल सकणिकं कर्णिकासहितम् । तत्र कमले इमान् पञ्चविंशतिष्ठाणित् संयमी ध्यायेत् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1914) ततो वदन—ततः वदनन्तरे वदनराजीवे पञ्चष्टकविभूषिते परं वर्णष्टकं संचरन्तं प्रदक्षिणं दक्षिणाकर्त्तेन युक्तम् । इति सूत्रार्थः ॥५॥ एतदेवाह ।

1915) इत्यजस्तं—विगतभ्रमः नष्टज्ञानः अजस्ते निरन्तरं इति स्मरत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

1916) कमलदलोदर—नष्टादिविषयबोधं ध्याता संपद्यते कालात् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६\*१॥ उक्तं च ।

इसी प्रकारसे योगी हृदयमें चौबीस (२४) पत्तोंसे ध्यान कर्णिकायुक्त कमलका स्मरण करके उसके ऊपर इन (कवर्णादि पाँच थगों सम्बन्धी) पच्चीस (२५) वर्णोंका ध्यान करे ॥४॥

तत्परतात् आठ पत्तोंसे सुजोभित मुख-कमलके ऊपर प्रदक्षिण कमसे संचार करते हुए आगे के आठ वर्णों ( य र ल व श ष स ह ) का ध्यान करना चाहिए ॥५॥

इस प्रकारसे उस प्रसिद्ध वर्णमातृकाका भ्रान्तिको छोड़कर निरन्तर ध्यान करनेवाला योगी श्रुतज्ञानरूप समुद्रके पारको प्राप्त होता है—सम्पूर्ण श्रुतका ज्ञाता हो जाता है ॥६॥ कहा भी है—

कमलके पत्तों और उसकी कर्णिकाके मध्यमें अनादिसिद्ध वर्णोंका ध्यान करनेवाला योगी कुछ ही समयमें लष्ट आदि विषय सम्बन्धी—लष्ट हुई, गुमी हुई और अपहृत की गयी आदि वस्तुओंसे सम्बन्धित—ज्ञानको प्राप्त कर लेता है ॥६\*१॥

1917 ) उत्तरं ज्ञायेत् अथ अरोचकमन्मान्यं ॥

जापात् जयेत् अथ अरोचकमन्मान्यं ॥

कुष्ठोदरात्मकं सनश्च सनादिरोगान् ॥

प्राप्नोति चाप्रतिमवाङ्महतीं महद्भयः

पूजां परत्र च गति पुरुषोत्तमासाम् ॥६४२॥ इति ॥

1918 ) अथ मन्त्रपदाधीशं सर्वतत्त्वैकनायकम् ।

आदिमध्यान्तभेदेन स्वरव्यञ्जनसंभवम् ॥७

1919 ) ऊर्ध्वाधीरेकसंरुद्धं सकलं विन्दुलाञ्छितम् ।

अनाहतपुतं तत्त्वं मन्त्रराजं प्रचक्षते ॥८

1917) जापात्—जापात् जयेत् अथ अरोगम् । अरोचकम् अनिषाद्यम् (?) । कुष्ठोदरात्मकं जयेत् इति सर्वत्र धोज्यम् । मनःस्वसत्तादिरोगान् वातादिरोगान् प्राप्नोति चकारात् । अप्रतिमवाङ्महतीं महद्भयः पूजा प्राप्नोति जापात् । च पुनः । परत्र पुरुषोत्तमासां पुरुषोत्तमप्राप्नाम् इति सूत्रार्थः ॥६४२॥ अथ पुनस्तदाह ।

1918) अथ मन्त्र—अथेत्यानन्तर्ये । मन्त्रपदाधीशम् । पुनः कीदृशम् । सर्वं तत्त्वैकनायकम् । पुनः कीदृशम् । स्वरव्यञ्जनसंभवं स्वरव्यञ्जनात् संभवः यस्य तत् । केन । आदिमध्यान्तभेदेन आदिश्च मध्यश्च अन्तश्च तेषां समाहारः । तस्य भेदेन । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ पुनमन्त्रराजमाह ।

1919) ऊर्ध्वाधीरेक—ऊर्ध्वाधीरेकसंरुद्धं सकलं विन्दुलाञ्छितम् । पुनः कीदृशम् । अनाहतपुतम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ तदेवाह ।

जापसे—मन्त्र व वर्णों आदिके ध्यानसे—योगी क्षय, अहंचि, मन्दाग्नि, कोद, उदररोग, खाँसी और इवास ( दमा ) आदि रोगोंपर विजय प्राप्त करता है । तथा अनुपम वचनभाषात्मके साथ, महापुरुषों द्वारा की जग्नेवाली पूजाकी व परलोकमें श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा प्राप्त की गयी गतिको—स्वर्गन्मोक्षको—भी प्राप्त करता है ॥६४२॥

जो तत्त्वं सब मन्त्रपदोंका स्वामी, सब तत्त्वोंका अद्वितीय नायक, आदि पध्य व अन्तके भेदसे स्वर व व्यञ्जनोंसे उत्पन्न हुआ, ऊपर व नीचे रेकसे रोका गया, कलासे संयुक्त, विन्दुसे चिह्नित और अनाहत वीजाश्वरसे संयुक्त है उसे मन्त्रराज कहा जाता है ॥७-८॥

१. M N जपा०, L S F J X Y R जप्या० । २. N मात्त्वा० ३. L रोगा० । ४. P M इति ।  
५. F Y सर्वैक । ६. L F after the verse अहै । ७. R रपर । ८. P प्रज्ञापते । ९. L S F है ।

- 1920) देवासुरनतं भीमदुर्बोधिष्वान्तभास्करम् ।  
ध्यायेन्मूर्धस्थचन्द्रांशुकलापाकान्तदिङ्मुखम् ॥१॥ अपि च—
- 1921) कनककमलगमें कणिकायां निषण्णं  
विगतमलकलङ्क सान्द्रचन्द्रांशुगौरम् ।  
गगनभनुसरन्तं संचरन्तं हरितसु  
स्मर जिनषतिकल्पं मन्त्रराजं यतीन्द्रं ॥२०॥ अत्र मतानि—
- 1922) बुद्धः कैश्चिद्दरिः कैश्चिद्जः कैश्चिन्महेश्वरः ।  
शिवः सर्वस्तथैशानः सो ऽयं वर्णः प्रकीर्तिः ॥२१
- 1923) मन्त्रमूर्ति समादाय देवदेवः स्वर्यं जिनः ।  
सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सो ऽयं साक्षात् अवस्थितः ॥२२

1920) देवासुर—कीदूर्ण भन्त्रराजम् । देवासुरनतम् । युनः कीदूर्णम् । भीमदुर्बोधिष्वान्त-भास्करं रौद्राङ्गानान्धकारसूर्यम् । एवंभूतं मन्त्रराजं धारयेत् । कीदूर्णम् । उध्वंचन्द्रांशुकलापाकान्त-दिङ्मुखं शिरःस्थचन्द्रकिरणसमूहव्यापदिङ्मुखम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अपि च ।

1921) कनक—सान्द्रचन्द्रांशुगौरं सघनचन्द्रकरणीरवर्णम् । हरितसु दिक्षु संचरन्तम् । यतीन्द्रं त्वं स्मर । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अत्र मतानि । अथ तदेवयतामाह ।

1922) बुद्धः कैश्चित्—सो ऽयं वर्णं उकारादिकः प्रकीर्तिः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ तस्यैव माहात्म्यमाह ।

1923) मन्त्रमूर्तिम्—मन्त्रमूर्ति समादाय गृहीत्वा । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ तन्मन्त्रस्य महेश्वरमाह ।

जिसे देव और असुर नमस्कार करते हैं, जो भयानक मिथ्याङ्गानरूप अनधकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान है, तथा जो सिरपर स्थित चन्द्रकी किरणोंकि समूहसे दिङ्मण्डलको व्याप करता है उस मन्त्रराजका योगीको ध्यान करना चाहिए ॥१॥

और भी—योगीको सुवर्णमय कमलके भीतर कणिकापर अवस्थित, भल व कलंकसे रहित, सघन चन्द्रकिरणोंसे गौर वर्ण और आकाशका अनुसरण कर दिशाओंमें संचार करनेवाले ऐसे उस जिनेन्द्रके समान मन्त्रराजका समरण करना चाहिए ॥२॥

उसके विषयमें मतान्सर—उस इस वर्णको कितने ही विद्वान् बुद्ध, कितने ही विष्णु, कितने ही ब्रह्मा, कितने ही महेश्वर, कितने ही शिव, कितने ही सार्वं और कितने ही ऐश्वर्य कहते हैं ॥२१॥

उस मन्त्रस्वरूप शरीरको प्रहण करके सर्वज्ञ, सर्वज्यामी व शान्त स्वर्यं जिनदेव ही साक्षात् अवस्थित हैं ॥२२॥

१. M N भीम । २. P M अपि च । ३. All others except P M J Y जिनकर । ४. P यतीन्द्रः ।  
५. P M अत्र मतानि । ६. N S T J X Y R सार्व । ७. M S F तथेशानः, L सर्वत्तदेशानः ।  
८. J तन्त्रमूर्ति ।

- 1924 ) ज्ञानबीजं जगदुचन्द्रं जन्मज्वलमवार्षुचम् ।  
पवित्रं मतिमान् ध्यायेदिम्<sup>१</sup> मन्त्रं<sup>२</sup> महेश्वरम् ॥१३  
1925 ) सकुदुच्चारितं येन हृदि येन स्थिरीकृतम् ।  
तत्त्वं तेनापवर्गाय पाथेयं प्रगुणीकृतम् ॥१४  
1926 ) यदैवेदं महातत्त्वं मुनेर्थसे हृदि स्थितिम् ।  
तदैव जन्मसंतानप्ररोहः प्रविशीर्यते ॥१५  
1927 ) स्फुरन्तं भ्रूलतामध्ये विशन्तं वदनाम्बुजे ।  
तालुरन्धेण गच्छन्तं स्ववन्तमसृताम्बुभिः ॥१६  
1928 ) स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु कुर्वन्तमलकैः स्थितिम् ।  
अग्रन्तं ज्योतिषां चक्रे स्पर्धमानं सितांशुना ॥१७

1924) ज्ञानबीजम्—इमं महेश्वरं मन्त्रं ध्यायेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ पुनर्स्तत्स्वरूपमाह ।

1925) सकुदुच्चारितं—येन पुरुषेण मन्त्रराज [तत्त्व] सकुदेकवारमुच्चारितम् । येन पुंसा हृदि स्थिरीकृतं भिश्चलीकृतम् । कि तत् । तत्त्वम् । तेन अपवर्गाय मोक्षाय पाथेयं संबलं प्रगुणीकृतं प्रचुरीकृतम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पुनर्स्तत्स्वरूपमाह ।

1926) यदैवेदं—तदैव तत्काले एव जन्मसंतानप्ररोहः प्रविशीर्यते नशयति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनर्स्तत्स्वरूपमाह ।

1927) स्फुरन्तम्—सुधाजाले इसि भ्रूलतामध्ये अग्रन्तम् । वदनाम्बुजे मुखकमले विशन्तम् । तालुरन्धेण गच्छन्तम् । असृताम्बुना स्ववन्तम् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ पुनः कीदृशं मन्त्रराजम् इत्याह ।

1928) स्फुरन्तं नेत्र—नेत्रपत्रेषु स्फुरन्तम् । अलके ललाटे स्थिति कुर्वन्तम् । ज्योतिषां चक्रे समूहे अग्रन्तम् । सितांशुना अन्द्रेण स्पर्धमानम् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ पुनः कीदृशम् ।

बुद्धिमान् योगीको ज्ञानके बीजभूत, संसारसे बन्दनीय, जन्मरूप अग्निको ज्ञान्त करनेके लिए भेष शमान, पवित्र और महान् ऐश्वर्यशाली इस मन्त्रका ध्यान करना चाहिए ॥१३॥

जिस महात्मा ने उस मन्त्रराजका एक बार भी उचारण किया और जिसने उसे हृदयके भीतर स्थिर किया है उसने मोक्षको प्राप्त करनेके लिए पाथेयको—मार्गमें खाले थोक्य भोजनको—ही तैयार कर लिया है ॥१४॥

यह महान् तत्त्व जिस समय मुनिके हृदयमें स्थिरताको प्राप्त कर लेता है उसी समय उसकी जन्मपरम्पराको बढ़ानेवाला अंकुर—संसारपरिभ्रमणका कारण—नष्ट हो जाता है ॥१५॥

योगीको भ्रुकुटिरूप लताओंके भाव्यमें प्रकाशमान, मुखरूप कमलके भीतर प्रवेश करनेवाले, लालुके लेदसे जाते हुए, असृत स्वरूप जलसे बहते हुए, नेत्रके पलकोंपर प्रकाश-

१. L F °द्विं; Y ध्यायेशादि : २. All others except P L V मन्त्रमहे° । ३. M °मलिके ।

- 1929) संचरन्तं दिशामास्ये प्रोच्छलन्तं<sup>१</sup> नभस्तले ।  
छेदयन्तं कलङ्कौषं स्फेट्यन्तं<sup>२</sup> भवत्रम् ॥१८॥
- 1930) नयन्तं परमस्थानं<sup>३</sup> योजयन्तं शिवश्रियम् ।  
इति मन्त्राधिषं धीरं कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥१९॥ अहं<sup>४</sup> ।
- 1931) अनन्यशरणः साक्षात्तसंलीनैकमानसः ।  
तथा स्मरत्यसौ ध्यानी यथा स्वप्ने इषि न सखलेत् ॥२०॥
- 1932) इति मत्वा स्थिरीभूतं सर्वावस्थासु सर्वथा ।  
नासाग्रे निश्चलं धत्ते यदि वा अल्लतान्तरे ॥२१॥

1929) संचरन्तम्—दिशामास्ये मुखे संचरन्तम् । नभस्तले आकाशे प्रोच्छलन्तम् ।  
कलङ्कौषं कलङ्कसमूहं छेदयन्तम् । भवत्रम् संसारभ्रान्ति स्फेट्यन्तं नाशयन्तम् । इति सूत्रार्थः ।  
॥१८॥ पुनः कीदृशम् ।

1930) नयन्तम्—परमस्थाने नयन्तं प्राप्यन्तम् । शिवश्रियं योजयन्तम् । इति मन्त्राधिषं  
धीरः कुम्भकेन ध्यानेन विचिन्तयेत् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अहंम् । पुनः कीदृशम् ।

1931) अनन्यशरणः—असी ध्यानी तथा स्मरति । कीदृशो ध्यानी । अनन्यशरणः अनन्य-  
चितः । साक्षात् तत्संलीनमानसः तत्र संलीनं मानसं यस्य सः । यथा स्वप्ने इषि न सखलेत् न च्युतो  
भवेत् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ पुनराह ।

1932) इति मत्वा—सर्वावस्थासु आख्यात्यवस्थासु । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥  
पुनस्तद्विशेषमाह ।

मान, बालोमें अवस्थानको प्राप्त करते हुए, ज्योतिशियोंके मण्डलमें घूमते हुए, चन्द्रमाके साथ  
स्थधीं करते हुए, दिशाओंके मुखमें संचार करते हुए, आकाशतलमें उछलते हुए, कलंकके  
समूहको छेदते हुए, संसार परिभ्रमणको नष्ट करते हुए, परम पद ( मोक्ष ) को ले जाते हुए  
और मोक्षलङ्घमीसे संयोग करते हुए, इस स्वरूपमें उक्त मन्त्रराजका कुम्भकस्वरूपसे विचार  
करना चाहिए ॥१६-१९॥

ध्याता मुनि उक्त मन्त्रराजके सिवाय अन्य किसीको शरण न मानकर, एक मात्र  
उसीमें मन लगाता हुआ उसका इस प्रकारसे ध्यान करता है कि जिस प्रकार उससे स्वप्नमें  
भी च्युत सही होता है ॥२०॥

इस प्रकार सब ही अवस्थाओंमें व सब प्रकारसे मन्त्रराजको स्थिर मानकर उसे  
नासिकाके अग्रभागपर अथवा भुकुटियोंके मध्यमें निश्चल स्वरूपसे धारण करना चाहिए ॥२१॥

१. M प्रोच्छलन्तं । २. L S F X R स्फेट्यन्तं । ३. J स्थाने । ४. L J धीर, F वीर । ५. M N  
L अहं T अहं, X चतुष्कुल अहं । ६. Y स्वप्ने । ७. M N भ्रूगम्भूरे, T वाग्भू ।

1933 ) तत्र कैश्चिव वर्णादिभेदस्तत्कैलिपतं पुनः ।  
मन्त्रमण्डलयुक्तादिवाधनैरिष्टैसिद्धिदम् ॥२२

1934 ) उक्तं च—

अकारादि हकारान्तं रेफमध्यं सविन्दुकम् ।  
तदेव परमं तत्त्वं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥२२\*१॥ इति॑ ।

1935 ) सर्वावयवसंपूर्णं ततो अवयवविच्युतम् ।

क्रमेण चिन्तयेद्गुणानी वर्णमात्रं शशिप्रभम् ॥२३॥५ः ।

1936 ) विन्दुहीनं कलाहीनं रेफद्वितयवजितम् ।

अनक्षरतत्त्वमापन्नमनुचार्यं च चिन्तयेत् ॥२४॥ ५ ।

1933) तत्र कैश्चित्—तत्र शास्त्रे कैश्चित् पण्डितादिभेदैः वर्णन्तरैः तत्त्वं प्रकलिपतं कथितम् ।  
पुनः कीः । मन्त्रमण्डलैः, मुद्रा आसनादि तान्येव साधनानि तीः । इष्टसिद्धिवं वाङ्मृतसिद्धिवातारम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥२२॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

1934) अकारादि—अकारः आदी यस्य तत् अकारादि । पुनः कीदृशाम् । हकारान्तं हकारः  
अन्ते यस्य तत् तथा । पुनः कीदृशाम् । रेफमध्यं सविन्दुकम् । अहं सिद्धम् । उत्तरार्थं सुगमम् । इति  
सूत्रार्थः ॥२२\*१॥ अथ पुनर्स्तदेवाह ।

1935) सर्वावयव—अवयवविच्युतम् अवयवरहितम् । शशिप्रभं शशी इव प्रभा यस्य तत् ।  
शीर्षं सुगमम् ॥२३॥ अहंम् । पुनर्विशेषमाह ।

1936) विन्दुहीनम्—अनक्षरं ककारादिव्यञ्जनरहितम् । अनुच्छार्यम् । शीर्षं सुगमम् । इति  
सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

बहाँ कितने ही महर्षियोंने उसे वर्णादिके भेदके अनुसार तथा मन्त्र मण्डल और मुद्रा  
आन्तरिक्ष साधनसामग्रीके अनुसार अभीष्ट सिद्धिको देनेवाला माना है ॥२२॥ कहा भी है—

जिसके आदिमें अकार है, अन्तमें हकार है और मध्यमें विन्दु सहित रेफ है वही  
( अहं ) उल्काष्ट तत्त्व है । उसको जो जानता है वह तत्त्वज्ञ माना जाता है ॥२२\*१॥

योगीको उसका ध्यान क्रमशः सब अवयवों ( रेफ, विन्दु व कला ) से सम्पूर्ण, और  
तत्त्वज्ञान् उस अवयवोंसे रहित व चन्द्रसमान् कान्तिमान् केवल वर्ण मात्र ( ह ) के रूपमें  
करना चाहिए ॥२३॥

फिर विन्दुसे रहित, कलासे रहित, दोनों रेफोंसे रहित, अक्षर स्वरूपसे रहित और  
उक्तचारणसे भी रहित उसका चिन्तन करना चाहिए ॥२४॥

१. M N L T J X Y भेदस्तत्कैलिपतं । २. X रक्षिति॑ । ३. P M N इति । ४. P M हः ।  
५. P M N ह, L अ, T अ ।

- 1937) चन्द्रलेखोसमं सूक्ष्मं<sup>१</sup> अनुरन्तं भानुभास्वरम्<sup>२</sup> ।  
अनाहताभिर्धे देवं दिव्यरूपं विचिन्तयेत् ॥२५॥
- 1938) अस्मिन् स्थिरीकृताभ्यासाः सन्तः शान्ति समाप्तिः ।  
अनेन दिव्यपोतेन तीत्वा जन्मोग्रसागरम् ॥२६॥
- 1939) तदेव च पुनः सूक्ष्मं क्रमालाग्रसंनिभय् ।  
ध्यायेदेकाग्रता प्राप्य कर्तुं वेतः सुनिश्चलम् ॥२७॥
- 1940) ततो<sup>३</sup> विगलिताशेषविषयीकृतमानसः ।  
अध्यक्षमीक्षते साक्षाज्जगज्जयोत्तिर्मयं क्षणे ॥२८॥
- 1941) सिद्ध्यन्ति सिद्धयः सर्वा अणिमाद्या न संशयः ।  
सेवां कुर्वन्ति दैत्याद्या आज्ञैश्चर्यं च जायते ॥२९॥

1937) चन्द्रलेखा—अनाहताभिर्धे होकारं देवं दिव्यरूपं विचिन्तयेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ [अथ योगिनां गतिमाह ।]

1938) अस्मिन्—अस्मिन् थोकारे स्थिरीकृताभ्यासाः । शेषं सुगमम् ॥२६॥ अथ तस्यैव विशेषमाह ।

1939) तदेव च—तदेव होकारः पुनः सूक्ष्मं क्रमात् । \*बालाग्रभिन्नम् । यत्र एतदपि न शूष्टते । एतादुर्गं ध्यायेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ ततो विशेषमाह ।

1940) ततो विगलिताशेष—ततो ऽपि<sup>४</sup> बालाग्रमाद्यादपि गलिताशेषविषयीकृतमानसं येन गतसर्वविषयव्यापारमानसः । साक्षात् जगत् अध्यक्षम् इक्षते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ तस्यैव फलमाह ।

1941) सिद्ध्यन्ति—[अणिमाद्या अष्टु सिद्धयः सिद्ध्यन्ति प्राप्ता भवन्ति । दैत्याद्या दैत्यदानकराक्षसाः । शेषं सुगमम् ॥२९॥ अथ तस्यैव फलमाह ।]

तत्पञ्चान् योगीको चन्द्रकी रेखा (कला) के समान सूक्ष्म, प्रकाशमान और सूर्यके समान तेजस्वी ऐसे अनाहत नामक दिव्य रूपधारी देवका चिन्तन करना चाहिए ॥२५॥

इस अनाहत के विषयमें जिन योगियोंने दृढ़तापूर्वक अभ्यास किया है वे इस अपूर्व नावके आश्रयसे संसाररूप समुद्रको पार करके शान्तिको प्राप्त हुए हैं ॥२६॥

पञ्चान् योगी चित्तको अस्वन्त निश्चल करने के लिए एकाग्रताको प्राप्त होकर उसी अनाहतका क्रम से बालके अग्रभागके समान सूक्ष्मस्वरूपसे ध्यान करे ॥२७॥

तत्पञ्चान् मनको समस्त विषयोंसे विमुख कर चुकनेवाला योगी अतीन्द्रिय ज्ञानसे जगत् को क्षणभरमें प्रत्यक्षस्वरूपसे ज्योतिस्वरूप देखता है ॥२८॥

इस प्रकार के ध्यानसे योगीके लिए अणिमा-महिमा आदि सब ही सिद्धियाँ सिद्ध हो जाती हैं, दैत्य आदि उसकी सेवा करते हैं, तथा आज्ञा व ऐश्वर्यं उदित होता है ॥२९॥

१. J रेखा । २. Y धूम्य for सूक्ष्म । ३. X भानुर् । ४. M सुनिर्मल । ५. All others except P M ततो ऽपि गलिताः । ६. M N क्षण ।

1942) ततः<sup>१</sup> प्रचयात्य लक्ष्येभ्ये अलक्ष्ये निश्चलं<sup>२</sup> मनः ।

दधतो इस्य स्फुरत्यन्तज्योंतिरत्यक्षमक्षयम् ॥३०॥

1943) इति लक्ष्यानुसारेण लक्ष्योभावः प्रकीर्तिः ।

तस्मिन् स्थितस्य मन्ये इहं मुनेः सिद्धं समीहितम् ॥३१॥

1944) एतत्त्वं शिवात्य वा समालम्ब्य मनीषिणः ।

उत्तीणि जन्मकान्तारमनन्तकलेशसंकुलम् ॥३२॥

मन्त्रराजमनाहतं [ च ]<sup>३</sup>

1942) ततः प्रचयात्य—ततस्तदनन्तरं अलक्ष्ये दूस्ये मनः स्थिरं दधतः अस्य योगिनः अन्तज्योर्तिः अत्यक्षम् इन्द्रियागोचरं स्फुरति । कीदृशम् । अक्षयम् अविनाशि । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथोपसंहरति ।

1943) इति लक्ष्यानुसारेण—इति अभुता प्रकारेण लक्ष्यानुसारेण लक्ष्यं मर्यादोकृत्य यथा लक्ष्यभावः<sup>४</sup> इग्निद्वयन्ते तत्त्वात्पातः उत्तीर्तिः विभितः । तेष्व धुगात्य । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथेतदेवाह ।

1944) एतत्तत्त्वम्—एतत् शिवात्य तत्त्वमालम्ब्य मनीषिणः पण्डिताः जन्मकान्तारम् उत्तीणि । कीदृशम् । अनन्तकलेशसंकुलं व्याप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ मन्त्रराजमनाहतं हीँ ।

तत्पश्चात् मनको लक्ष्योंसे—आलम्बनीभूत पदार्थोंसे—च्युत कराकर उसे अलक्ष्यमें अतिशय निश्चल करनेवाले इस योगीके अतीन्द्रिय व अविनश्वर ज्योति प्रकाशमान होती है ॥३०॥

इस प्रकार लक्ष्यके अनुसार लक्ष्यका अभाव कहा गया है—सालम्बन ध्यानके सहाये निरालम्बन ध्यान का निर्देश किया गया है । जो मुनि उस अलक्ष्यमें अवस्थान प्राप्त कर चुका है उसका अभीष्ट सिद्ध हो गया, ऐसा मानता हूँ ॥३१॥

इस अनाहत तत्त्व अथवा शिवतत्त्वका आलम्बन लेकर अनेक बुद्धिमान योगी दुःखोंसे ध्याप्त अपरिमित संसाररूप घनके पार हो चुके हैं ॥३२॥ मन्त्रराज और अनाहत ।

१. All others except P क्रमात् प्रचयात्य । २. P F लक्ष्येभ्य अलक्ष्ये, M N L T J X Y R लक्ष्येभ्य-सतती लक्ष्ये । ३. All others except P S F स्थिरं मनः, F निश्चले । ४. P लक्ष्यम् । ५. T J लक्ष्यभावः । ६. All others except P अनन्तं बलेण । ७. Only in P M N L T F । ८. L F T add हीँ ।

- 1945) स्मर दुःखानलज्वालाप्रशान्तेनवनीरदम् ।  
प्रणवं वाङ्मयज्ञानप्रदीपं पुण्यज्ञासनम् ॥३३  
1946) यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिः प्रसूतमतिनिर्मलम् ।  
वाच्यवाच्यकसंबन्धस्तेनैव परमेष्ठिनः ॥३४  
1947) हृत्कञ्जकणिकासीनं स्वरव्यञ्जनवेष्टितम् ।  
स्फीतमस्यन्तदुर्धर्षं देवदैत्येन्द्रपूजितम् ॥३५  
1948) प्रक्षरन्मूर्छिनसंक्रान्तेचन्द्रलेखामृतप्लुतम् ।  
महाप्रभावसंपन्नं कर्मकक्षहुताशनम् ॥३६

1945) उत्तरदुःखात्मक—प्रवचयत् ओंकारम् । कीदृशम् । \*स्मरदुःखानलज्वालाप्रशान्तेः कल्दर्प-  
दुःखग्निविज्ञानान्तेः । मवनीरदं मवीनमेष्टम् । वाङ्मयं वाक्स्वरूपं ज्ञानप्रदीपम् । पुनः कीदृशम् ।  
पुण्यज्ञासनं पुण्यस्वरूपम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ तस्य वाङ्मयत्वं दर्शयति ।

1946) यस्मात्—यस्मात् ओंकारात् यज्ञबात्मकं ज्योतिः प्रसूतम् उत्पन्नम् । अतिनिर्मलम् ।  
तेनैव ओंकारेण परमेष्ठिनः वाच्य-वाच्यकसंबन्धः, वाच्यं परमेष्ठी, वाच्यकानि तदक्षराणि, तथोः  
संबन्धः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ तस्य स्वरूपमाह ।

1947) हृत्कञ्जक—हृत्कञ्जे हृदयकमले कणिकास्थितम् । पुनः कीदृशम् । स्वरव्यञ्जनवेष्टितम् ।  
सुगमम् । स्फीतं प्रधानम् । अत्यन्तदुर्धर्षं दुःखम् । पुनः कीदृशम् । देवदैत्येन्द्रपूजितम् । इति  
सूत्रार्थः ॥३५॥ पुनः कीदृशं तदाह ।

1948) प्रक्षरन्मूर्छिन—प्रक्षरन्मूर्छिन संक्रान्तं संक्रमितं चन्द्रलेखामृते<sup>१</sup> प्लुतं व्याप्तम् । शेषं  
सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ पुनस्तमाह ।

जो पवित्र शासनस्वरूप प्रणव (ओं) दुःखरूप अग्निकी ज्वालाको शान्त करनेके लिए  
मवीन मेष्टके समान और श्रुतका परिज्ञान करानेमें दीपक जैसा है उसका थोरीको स्मरण  
करना चाहिए ॥३३॥

जिस प्रणवसे अतिशय निर्मल शब्दरूप ज्योति उत्पन्न हुई है उसीसे परमेष्ठीका वाच्य-  
वाच्यक सम्बन्ध है—वह पौर्णों परमेष्ठियोंका वाचक है ॥३४॥

जो प्रणव हृदयरूप कमलकी कणिकाके ऊपर स्थित, स्वर व व्यंजनोंसे वेष्टित, विस्तीर्ण  
अखण्डनीय, देवेन्द्र व हैत्येन्द्रसे पूजित, शरते हुए शिरके ऊपर अवस्थित चन्द्रमाकी कला से  
निकलते हुए अमृतसे आई, महान् प्रभावसे परिषूर्ण और कर्मका क्षय करनेके लिए अग्निस्वरूप  
है ऐसे स्वरूपसे संयुक्त शरत्कालीन चन्द्रके समान निर्मल महान् तत्त्व, महान् थीज एवं महा-

१. M पूजितः, N वन्दितः । २. M J संक्रान्तः । ३. N T रेखा ।

- 1949) महात्मजं महाबीजं महामन्त्रं अहत्पदम् ।  
शरच्चवल्लद्वनिभं ध्यानी कुम्भकेनैव चिन्तयेत् ॥३७०
- 1950) साम्न्द्रसिन्दूरवर्णभिं यदि वा विद्वमप्रभम् ।  
चिन्त्यमानं जगत्सर्वं क्षोभयत्यपि संगतम् ॥३८०
- 1951) जाम्बूनदनिभं स्तम्भे विद्वेषे कज्जलत्विषम् ।  
ध्येयं वश्यादिके रक्तं चन्द्राभं कर्मशातनेै ॥३९॥ उ० ।<sup>३</sup>
- 1952) गुरुष्ट्रं नमस्कारलक्षणं मन्त्रमूजितम् ।  
विचित्यं जगत्जन्तुपविशीकरणक्षमम् ॥४०

1949) महात्मवम्—[ ध्यानी कुम्भकेनैव चिन्तयेत् । किम् । महामन्त्रम् । कीदृशम् । महात्मजं, महाबीजं, महत्पदम् । पुनः कीदृशम् । शरच्चन्द्रतुल्यम् । शेषं सुगमम् ॥३७॥] गुमस्तलव-रूपमाह ।

1950) साम्न्द्रसिन्दूर—जगत् क्षोभयति । अतिसंगतं व्याप्तम् । सिन्दूरवर्णभिं सधनसिन्दूर-सदृशं चिन्त्यमानम् । यदि वा विद्वमप्रभं प्रवालकार्णिं चिन्त्यमानम् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ विशेषमाह ।

1951) जाम्बूनद—स्तम्भे स्तम्भने जाम्बूनदनिभं स्वर्णसदृशं ध्येयम् । विद्वेषे द्वेषकरणे कज्जलत्विष्ठं कज्जलकान्ति । वश्यादिके रक्तं ध्येयम् । कर्मनाशनेै चन्द्राभं चन्द्रनिभलं लक्ष्यम् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ सर्वत्र गम्यम् । ४० । अथ पुनराह ।

1952) गुरुष्ट्र—पश्चपरमेष्ठिनमस्कारलक्षणं मन्त्रम् ऊजितं बलवत्तं चिन्तयेत्<sup>४</sup> । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ तद्य विशेषमाह ।

मन्त्र स्वरूप महान् पद ( ओं ) का योगीको कुम्भक रूपसे शासको निश्चल करके—ध्यान करना चाहिए ॥३५—३७॥

यदि उस प्रधावका चिन्तन सधन सिन्दूर जैसे वर्णसे संयुक्त और मैंगा जैसी कान्तिसे परिपूर्णके रूपमें किया जाता है, तो वह सम्मिलित जगत्को—समस्त लोकों भी क्षुद्ध कर देता है ॥३८॥

ध्याताको स्तम्भन कार्यमें कीलित करनेके लिए—सुवर्णके समान पीतवर्ण, वैरभावमें कज्जलके समान कृष्णवर्ण, वशीकरण आदिमें रक्तवर्ण और कर्मकी मिञ्चरार्थ चन्द्रके समान धबल वर्णके रूपमें उसका चिन्तन करना चाहिए ॥३९॥

पाँचों परमेष्ठियोंको नमस्कार करने स्वरूप लक्षणसे संयुक्त व जगत्के प्राणियोंके पवित्र करनेमें समर्थ, ऐसे उस तेजस्वी मन्त्रका ध्यान करना चाहिए ॥४०॥

१. All others except P M N <sup>५</sup>के त्रिचिन्त २. T adds ओं ३. M N L J Y <sup>६</sup>“त्यतिस”  
T X R “त्यभिस” ४. T adds ह्रौ ५. J कर्मनाशनं ६. P ओं ७. M N T J पञ्चगुलम् ८.  
M N L J X चिन्तयेत्व जगं, S F Y R विचिन्तयेत्जगं, T चिन्तयेत् जगं ।

1953) स्फुरद्विमलचन्द्राभे दलाष्टकविभूषिते ।

कञ्जे तत्कणिकासीनं मन्त्रं सप्ताशरं स्मरेत् ॥४१

1954) दिग्दलेषु ततो इन्येषु विदिकपत्रेष्वनुकमात् ।

सिद्धादिकं चतुष्कं च दृष्टिबोधादिकं तथा ॥४२

ओं णमो अरहंताणं । णमो सिद्धाणं । णमो आइरियाणं ।

णमो उवज्ञायाणं । णमो लोए सब्बसाहूणं । अपराजितमन्त्रो  
इयम् । दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि ।

1955) श्रियमात्यन्तिकीं प्राप्ता योगिनो ये ऽत्र केचन ।

अमुमेव महामन्त्रं ते समाराध्य केवलम् ॥४३

1956) प्रभावमस्य निःशेषं योगिनामायगोचरम् ।

अनभिज्ञे जनो ब्रूते यः स यन्मे इनिलादितः ॥४४

1953) स्फुरद्विमल—कञ्जे कमले तत्कणिकायां मन्त्रं स्मरेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ तदेवाह ।

1954) दिग्दलेषु—दिग्दलेषु दिक्पत्रेषु विदिकपत्रेषु सिद्धादिषु चतुष्कम् । च पुनः । वा दृष्टिबोधादिकं सम्यग्दर्शनज्ञानादिकं स्थापनीयम् । तथा तेन प्रकारेणति सूत्रार्थः ॥४२॥ ओं णमो अरहंताणं । णमो सिद्धाणं । णमो आयरियाणं । णमो उवज्ञायाणं । णमो लोए सब्बसाहूणं । अपराजितमन्त्रो इयं दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि । [ अस्य फलमाह । ]

1955) श्रियम्—योगिनः आत्यन्तिकीं श्रियं परमश्रेयः प्राप्ताः । किं कृत्वा । अमुं महामन्त्रं समाराध्य । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ तस्य प्रभावमाह ।

1956) प्रभावमस्य—यो जनः अस्य मन्त्रस्य प्रभावं ब्रूते । कीदूर्यो जनः । अनभिज्ञः । अहं भव्ये । यः अनिलादितः वालः । कीदूर्या प्रभावम् । निःशेषं योगिनामायगोचरम् । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ पुनः प्रभावमाह ।

प्रकाशमान निर्मल चन्द्रमाके समान प्रभावाले वा आठ पत्तोंसे सुशोभित कमलकी कणिका के ऊपर अवस्थित सात अङ्गरवाले—णमो अरहंताणं—मन्त्रका, पूर्वादि चार दिशाओंमें स्थित चार पत्तोंपर सिद्धादिक चार—णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्ञायाणं, णमो लोए सब्बसाहूणं—का तथा चार विदिशागत पत्तों पर दर्शनज्ञानादि—सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्लारित्राय नमः, सम्यक्लूपत्तये नमः—का स्मरण करना चाहिए ॥४१—४२॥

यहाँ जो कितने ही योगी आत्यन्तिकी लक्षणीयो—सोक्लूपत्तको—प्राप्त हुए हैं वे सब केवल उसी महामन्त्रका आराधन करके प्राप्त हुए हैं ॥४३॥

इस महामन्त्रके सम्पूर्ण प्रभावको तो योगी भी नहीं जानते हैं । फिर जो अल्लानी जन उसके प्रभावके विषयमें कुछ कहता है उसको मैं बातरोग से पीड़ित मानता हूँ ॥४४॥

१. M N L T X Y R <sup>३</sup>दिकः । २. F J दिषु । ३. Only in P M L S F X; but M L F om, दर्शनज्ञानचारित्र, ०११, अपराजित.....तपांसि । ४. J तं for ते ।

- 1957) अनेनैव विशुद्ध्यन्ति जन्तवः पापपञ्चिताः ।  
अनेनैव विशुद्ध्यन्ते भवकलेशान्मनीषिणः ॥४५  
1958) असावेव जगत्यस्मिन् भव्यव्यसनवान्धवः ।  
अमुं विद्याय सच्चानां नान्यः कश्चित्कुपापरः ॥४६  
1959) एतद्वयसनपाताले भ्रमत्संसारसागरे ।  
अनेनैव जगत्सर्वमुद्भृत्य विधृतं शिवे ॥ ४७  
1960) कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च ।  
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यङ्गो ऽपि दिवं गताः ॥४८  
1961) शतमष्टोतरं यस्यै त्रिशुद्धया चिन्तयैन्मुनिः ।  
भुजानो ऽपि चतुर्थस्य प्राप्नोत्यविकलं फलम् ॥४९

1957) अनेनैव ...मनीषिणः पण्डिता अनेनैव अपराजितमन्त्रेण भवकलेशात् विशुद्ध्यन्ते ।  
शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ तस्येत्र स्वरूपमाह ।

1958) असावेव ...असावेव मन्त्राधिराजः भव्यव्यसनवान्धवः संसारकुष्ठबान्धवः । शेषं  
सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ पुनः प्रभावमाह ।

1959) एतद्वयसन—व्यसनपाताले कृष्णपाताले भ्रमत्संसारसागरे । अनेनैव जगत् सर्वम्  
उद्भृत्य विधृतं शिवे । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ पुनस्तस्य प्रभावमाह ।

1960) कृत्वा पाप—अमुं पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४८॥ अथ  
पुनराह ।

1961) शतमष्टोतरं—अस्यै मन्त्रस्याष्टोतरशतं विशुद्धया मनोदात्रकायशुद्धया मुनिदिवन्त-  
येत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४९॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

पापरूप कीचड़से लिपि प्राणी इसी मन्त्रके द्वारा विशुद्ध होते हैं तथा विवेकी जीव  
इसीके द्वारा संसारके दुःखसे छुटकारा पाते हैं—मोक्षसुखको प्राप्त करते हैं ॥४५॥

इस संसारमें भव्य जीवोंकी आपत्तिमें वह मन्त्र ही चंद्रुका काम करता है—उन्हें उस  
आपत्तिसे गुक्क कराता है । इसको छोड़कर दूसरा कोई भी प्राणीयोंके ऊपर दयाका भाव  
प्रकट करनेवाला नहीं है ॥४६॥

कृष्णरूप पातालोंसे संयुक्त संसाररूप समुद्रके भीतर परिष्वर्मण करते हुए प्राणीका  
बद्धार करके उसे यह मन्त्र ही मोक्षसुखमें स्थापित करता है ॥४७॥

हजारों पापोंको करके तथा सैकड़ों जीवोंका घात करके तिर्यक्ष प्राणी भी इस मन्त्रकी  
आराधना करके स्वर्गको प्राप्त हुए हैं ॥४८॥

मम, वंचन और काथकी शुद्धिपूर्वक इस मन्त्रको एक सौ आठ बार जपनेवाला मुनि  
भोजन करता हुआ भी चतुर्थभक्त ( एक उपवास ) के सम्पूर्ण फलको प्राप्त होता है ॥४९॥

१. M N S F X Y पापपञ्चिताः । २. P J भव । ३. M N L T J कृष्णकरः । ४. MN °मुद्धृते  
शिवसत्यथे । ५. All others except P °तरं चात्य । ६. M N J चिन्तयेन्मुनिः ।

- 1962 ) स्मर मन्त्रपदोद्धतां महाविद्या जगन्नताम् ।  
गुरुपञ्चकनामोत्थं षोडशाक्षरराजिताम् ॥५०  
अहैतिसद्गाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः । षोडशाक्षरीं विद्या ।
- 1963 ) अस्याः शतद्वयं ध्यानी जपनेकाग्रमानसः ।  
अनिच्छच्छप्यवाप्नोति चतुर्थतपसः फलम् ॥५१
- 1964 ) विद्यां षड्वर्णसंभूतामजयां पुण्येशालिनीम् ।  
जपन् प्रागुक्तमभ्येति फलं ध्यानी शतत्रयम् ॥५२॥ अरहंतसिद्धे
- 1965 ) चतुर्वर्णमयीं विद्यां चतुर्वर्गफलप्रदाम् ।  
'प्राप्नुयादस्ततन्द्रो ऽसौ ध्यायं त्रातुथिकं फलम् ॥५३॥ अरहंत-
- 1962) स्मर मन्त्र—अहैतिसद्गाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः । षोडशाक्षरविद्या ॥५०॥  
[ अथास्य फलमाह । ]
- 1963) अस्याः शत—ध्यानी अनिच्छच्छपि अवाच्छच्छपि चतुर्थतपसः एकोपवातस्य फलं  
प्राप्नोति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५१॥ अथ पुनस्तत्कलमाह ।
- 1964) विद्यां षड्वर्ण—ध्यानी शतत्रयं जपन् प्रागुक्तफलमभ्येति प्राप्नोति । शेषं सुगमम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥५२॥ अथ एतदित्तेष्वगमाह । वरहंत लिद्ध ।
- 1965) चतुर्वर्ण—चतुर्वर्गफलप्रदं धर्मर्थकाममोक्षदायकं चतुर्थस्य एकोपवासस्य फलं भवेत् ।  
शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५३॥ अथ पुनर्विशेषमाह । वरहंत ।

जिसे सारा संसार नमस्कार करता है वथा जो पौच परमेष्ठियोंके नामसे उत्पन्न सोलह अक्षरोंसे सुशोभित है ऐसी उस मन्त्रपदोंसे उत्पन्न हुई महाविद्याका—'अहैतिसद्गाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः' इस सोलह अक्षररूप मन्त्रका—स्मरण करना चाहिए ॥५०॥

जो ध्याता एकाग्र चित्तसे इस विद्याको—सोलह अक्षररूप मन्त्रको—दो यौवार जपता है वह इस्त्रा न करता हुआ भी चतुर्थतपके—एक उपवासके—फलको प्राप्त होता है ॥५१॥

अखण्डसीय व पुण्यसे शोभायमान ऐसी छह वर्णोंसे उत्पन्न हुई विद्याको—'अरहंतसिद्धे' इस मन्त्रको—तीन सौ ( ३०० ) बार जपनेवाला योगी पूर्वोक्त एक उपवासके फलको प्राप्त होता है ॥५२॥

चार वर्गरूप फलको—चतुर्थं पुण्यार्थस्वरूप मोक्षके फलको—प्रदान करनेवाली चार वर्णरूप विद्याका—'अरहंत' इस चार अक्षररूप मन्त्रका—जो योगी आलस्यको छोड़कर ध्यान करता है वह एक उपवासके फलको प्राप्त करता है ॥५३॥

१. L S F Y R स्मर पञ्चपदो । २. L T F J X K जगन्नतां । ३. All others except P L S F नामोत्थां । ४. M ऋरविद्या, L क्षरा विद्या, F adds इयं । ५. M गुण for पुण्य । ६. Only in P M । ७. All others except P मयं मन्त्रं, L युतं मन्त्रं....प्रदम् । ८. All others except P चतुर्वर्णं जपन् योगी चतुर्थस्य फलं लभेत्, M N L F Y शती, L जपेत्, M N X भजेत्, L T F भवेत् । ९. Only in P M N L F ।

- 1966) [ वैर्ण्युगमं श्रुतस्कन्धसारभूतं शिवप्रदम् ।  
ध्यायेऽन्मोङ्गवाशेषक्लेशविद्वंसवधमम् ॥५३\*१॥ सिद्धः ॥ ]
- 1967) अवर्णस्य सहस्रार्थं जयन्नानन्दसंभृतः ।  
प्राप्नोत्येकोपवासस्य निर्जरा निजिताशयः ॥५४ ॥ अः ॥
- 1968) एतद्वि कथितं शास्त्रे रुचिमात्रप्रसाधकम् ।  
किन्त्वमीषां फलं सम्यक् स्वर्गमोक्षैकलक्षणम् ॥५५
- 1969) पञ्चवर्णमयीं विद्यां पञ्चतत्त्वोपलक्षिताम् ।  
मुनिवीरैः श्रुतस्कावाद्वीजबुद्धिं आ समुद्धृताम् ॥५६  
‘ओं हाँ हीं हूँ हीं हः अ सि आ उ सा नमः ।

1966) वैर्ण्युगमम्—जन्मोङ्गवो अशोषः सर्वकलेशः तस्य विद्वंसने क्षमं समर्थं यत् तत् तथा शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५३\*१॥ अरहंतसिद्ध ।

1967) अवर्णस्य—अवर्णस्य सहस्रार्थं पञ्चशतीं जपेत् । योगी कीदृशः । निजिताशयः जितचितः । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथ पुनर्स्तदेवाह ।

1968) एतद्वि—हि निरचितम् । एतच्छास्त्रे रुचिमात्रप्रसाधकं कथितम् । किन्तु अमीषां वर्णनीं सम्यक् फलं स्वर्गमोक्षैकलक्षणं भवति । इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथ पुनर्स्तत्त्वस्वरूपमाह ।

1969) पञ्चवर्ण—पञ्चतत्त्वोपलक्षिताम् । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५६॥ ओं हाँ हीं [ हूँ ] हीं हः । अ सि आ उ सा नमः । अथ पुनर्स्तदेवाह ।

जो दो अक्षरोंका मन्त्र ( सिद्ध ) आगमसमूहका सारभूत, मोक्षको प्रदान करनेवाला और संसार-परिभ्रमणसे उत्पन्न होनेवाले समस्त कष्टोंके नष्ट करनेमें समर्थ है उसका ध्यान करना चाहिए ॥५३\*१॥

जो योगी चित्तको वशमें करके आनन्दसे परिपूर्ण होता हुआ अवर्ण ( अ ) का पाँच सौ ( ५०० ) बार जप करता है वह एक उपवासरूप तपके द्वारा होनेवाली कर्मनिर्जराको प्राप्त होता है ॥५४॥

शास्त्रमें जो इन मन्त्रोंका उपवासरूप फल बतलाया गया है वह उनकी ओर रुचिमात्रको सिद्ध करनेवाला है । उनका फल तो वसुतः समीरीतं स्वर्गं च मोक्षं स्वरूपं ही है ॥५५॥

पाँच तत्त्वोंसे उपलक्षित जिस पाँच वर्णरूप विद्याका श्रेष्ठ मुनिजलोनि—गणधरोनि बारह अंगरूप श्रुतस्कन्धसे वीजबुद्धिके वश उद्धार किया है उस पाँच वर्णरूप विद्याका—‘ॐ हाँ हीं हूँ हीं हः अ सि आ उ सा नमः’ इस मन्त्रका—ब्यान करना चाहिए ॥५६॥

- 1970 ) अस्यां निरन्तराभ्यासादृशीकृतनिजाशयः ।  
प्रोच्छिनस्याशु निःशङ्को निर्भूदं जन्मबन्धनम् ॥५७
- 1971 ) मङ्गलशरणोत्तमपदनिकुरुम्बं<sup>१</sup> यस्तु संघमी स्मरति ।  
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गशियं श्रयति ॥५८  
॥ चत्तारि<sup>२</sup> मङ्गलमित्यादि ॥
- 1972 ) सिद्धेः सौधं समारोद्भियं सोपानमालिका ।  
त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना विद्या विश्वातिशायिनी<sup>३</sup> ॥५९  
ओ अरहंतमिद् अयोगकेवली स्वाहा ।

1970) अस्याम्—अस्यां विद्यायां निरन्तराभ्यासात् निर्भूदं गुह्यरं जन्मबन्धनं प्रोच्छिनति । आशु शीघ्रम् । कीदृशः । वशीकृतनिजाशयः । पुनः कीदृशः । निःशङ्कः । इति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ पुनरेतत्स्वरूपमाह ।

1971) मङ्गल—यस्तु पुमान् मङ्गलशरणोत्तमपदनिकुरुम्बम् । चत्तारि मंगलं । अरहंत मंगलमित्यादि । चत्तारि सरणं पवज्जामि । अरहंत सरणं पवज्जामि इत्यादि । चत्तारि लोगुत्तमा । अरहंत लोगुत्तमा इत्यादि । पदसमूहं स्मरति संघमी । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५८॥ चत्तारि-मंगलपदाभ्यासादि ।

1972) सिद्धेः सौधम्—सिद्धेः सौधं समारोद्भुम् इवं सोपानमालिका । त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना विद्या विश्वातिशायिनी । इति सूत्रार्थः ॥५९॥ पुनरेतत्स्या विशेषमाह । ओ अरहंतसिद्धअयोगकेवली स्वाहा ।

इस विद्याके विषयमें किये गये निरन्तर अभ्याससे जिस योगीका चित्त अपने वशमें हो चुका है वह शीघ्र ही निर्भय होकर अतिथय दृढ़ संसारके बन्धनको छेद ढालता है ॥५७॥

जो सुनि मंगल, शरण और उत्तम इन पदोंके समूहका—‘चत्तारि मंगलं—अरहंता मंगलं सिद्धा मंगलं साहृ मंगलं केवलिष्पणतो धम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा केवलिष्पणतो धम्मो लोगुत्तमा । चत्तारि सरणं पवज्जामि—अरहंते सरणं पवज्जामि सिद्धे सरणं पवज्जामि साहृ सरणं पवज्जामि केवलिष्पणतः धम्ममें सरणं पवज्जामि’ इन पदोंका—पूर्णतया एकाग्रचित्त होकर स्मरण करता है वह मोक्षालक्ष्मीका आश्रय लेता है ॥५८॥

सिद्धिके प्राप्तादपर—सोकाल्प महलके ऊपर—चढ़नेके लिए सीढ़ियोंकी पंक्तिके समान वह तेरह अङ्गोंसे उत्पन्न हुई विद्या (ॐअरहंत-सिद्ध-अयोगकेवली स्वाहा) लोकका अतिक्रमण करनेवाली—अङ्गोंकिक—है ॥५९॥

१. All others except P N T निकुरुम्बं । २. M चत्तारि, L मंगलपदानीत्यादि, All others except P M L om. । ३. J लक्ष्मी...विद्या...शायिनी । ✕ Only in P M N T ।

- 1973) प्रसादयितुमुद्युक्तैमुक्तिकान्तां यशस्विनीम् ।  
दूतिकेयं मता मन्ये जगद्गुर्वैमुनीश्वरैः ॥६०
- 1974) सकलज्ञानसाभाज्यदानदक्षं विचिन्तय ।  
मन्त्रं जगत्वयीनाथैचूडारत्नकृतोस्पदम् ॥६१॥  
ओं श्रीं ह्रीं अहं नमः ।
- 1975) न चास्य भुवने कथित् प्रभावं गदितुं क्षमः ।  
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेन यः साम्यमवलम्बते ॥६२
- 1976) स्मर कर्मकलङ्घौषध्यान्तविष्वंसभास्करम् ।  
पञ्चवर्णमयं मन्त्रं पवित्रं पुण्यशासनम् ॥६३  
णमो सिद्धाण्डं ।

1973) प्रसादयितुम्—उद्युक्तैः मुनीश्वरैः इयं विद्या मुक्तिकान्तां प्रसादयितुं मन्ये दूतिका मता । कीदूरीम् । यशस्विनीम् । कीदूरीः मुनिभिः । जगद्गुर्वैः । इति सूत्रार्थः ॥६०॥ अथ पुनर्मत्त्वान्तरमाह ।

1974) सकलज्ञान—मन्त्रं विचिन्तय । कीदूराम् । सकलज्ञानम् एव साभाज्ये तस्य दाने दक्षं चतुरम् । पुनः कीदूराम् । जगत्वयीनाथस्य त्रैलोक्यनाथस्य चूडारत्ने चूडामणी कृतं आस्पदं स्थानं येन तम् । इति सूत्रार्थः ॥६१॥ ओं ह्रीं श्रीं अहं नमः ।

1975) न चास्य—अस्य मन्त्रस्य प्रभावो भावात्म्यं, भुवने जगति, गदितुं वक्तुं करित्वा समर्थः । च पादपूरणे, श्रीमत्सर्वज्ञदेवेन साम्यं सादृश्यम् अवलम्बते । इति सूत्रार्थः ॥६२॥ पुनर्मत्त्वान्तरमाह ।

1976) स्मर तर्ह—पुण्यस्य शासनं कथकम् । इति सूत्रार्थः ॥६३॥ ओं नमो सिद्धाण्डं । अथ पुनरस्तत्प्रभावमाह ।

यह तेरह अक्षररूप विद्या, जो विश्वसे वन्दनीय मुनीन्द्र कीर्तिशालिनी मुक्तिरूप रमणीके प्रसन्न करनेमें उद्यत हैं, उनके लिए दूरीके समान मानी गयी है ॥६०॥

जो मन्त्र—ॐ श्रीं ह्रीं अहं नमः—समस्व ज्ञानके साभाज्य ( केवलज्ञानरूप वैभव ) के देनेमें समर्थ है तथा जिसमें तीनों लोकोंके स्वामीके शिरोरत्नके द्वारा स्थान प्राप्त किया गया है—जो तीनों लोकोंके प्रभुत्वका सूचक है—उस मन्त्रका ज्ञान करना चाहिए ॥६१॥

जो बढ़ मन्त्र श्रीमान् सर्वज्ञदेवके साथ समानताको प्राप्त है उसके प्रभावका वर्णन करनेके लिए लोकमें कोई भी समर्थ नहीं हो सकता है ॥६२॥

जो पाँच वर्णरूप—नमो सिद्धाण्डं—मन्त्र कर्मकलंकके समूहरूप अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान, पवित्र एवं पुण्य शासनबाला है उसका स्मरण करना चाहिए ॥६३॥

1977) सर्वसत्त्वाभयस्थानं वर्णमालाविराजितम् ।

स्मर मन्त्रं जगञ्जन्तुक्षेसंततिधातकम् ॥६४

ओं नमोऽहंते केवलिने परमयोगिने<sup>१</sup> विस्फुरदुरुक्तध्यानाग्रि-  
निर्दग्धकर्मवीजाय प्राप्तानन्तचतुष्याय सौम्याय शान्ताय मङ्गलं-  
वरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा ।

1978) स्मरेन्दुमण्डलाकारं पुण्डरीकं मुखोदरे<sup>२</sup> ।

दलाष्टकसमासीनवैर्गाष्टकविराजितम् ॥६५

1979) ओं नमो अरहंताणमिति वर्णनिषि क्रमात् ।

एकशः प्रतिपत्रं तु तस्मिन्नेव निवेशयेत् ॥६६

1977) सर्वसत्त्वाभय—[ सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनाम् अभयस्थानम् ; वर्णमालाभिः विराजितं  
शोभितम् । अन्यत्सुगमम् ॥६४॥ ] ओं नमोऽहंते केवलिने परमयोगिने अनन्तविशुद्धिपरिणाम-  
विद्रूपविशुद्धपरिणामचित्तविस्फुरदुरुक्तध्यानाग्रिनिर्दग्धकर्मवीजाय प्राप्तानन्तचतुष्याय सौम्याय  
शान्ताय मङ्गलाय वरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा ।

1978) स्मरेन्दु—मुखोदरे पुण्डरीकं कमलं स्मर चिन्तय । इन्दुमण्डलाकारम् । पुनः  
कीदूशम् । दलाष्टकसमासीनम् । सुगमम् । “वर्णाष्टकविराजितम्” । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६५॥  
[अथ मन्त्रस्थापनामाह । ]

1979) ओं नमो—ओं नमो अरहंताण । इत्यादिवर्गनि॑ एकशः प्रतिपत्रं तु तस्मिन्नेव  
निवेशयेत् स्थापयेत् । इति सूत्रार्थः ॥६६॥ [ पुनस्तदेवाह । ]

जो यह मन्त्र सब प्राणियोंकी निर्भयताका कारण वर्णमालासे सुशोभित और जगत्के  
प्राणियोंके कष्टसमूहका विनाशक है उसका स्मरण करना चाहिए—ॐ नमोऽहंते केवलिने  
परमयोगिने विस्फुरदुरुक्तध्यानाग्रिनिर्दग्धकर्मवीजाय प्राप्तानन्तचतुष्याय सौम्याय  
शान्ताय मङ्गलवरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा ॥६५॥

मुखके भीतर आठ पत्तोंके ऊपर स्थित आठ वर्णों—अकारादि १६ स्वर, कवर्ग, चवर्ग,  
टवर्ग, चवर्ग, पवर्ग, अन्तस्थ ( य र ल व ) और ऊपर ( श ष स ह ) इन वर्णसमूहों—से  
सुशोभित ऐसे चम्द्रमण्डलके आकार कमलका स्मरण करना चाहिए ॥६५॥

उसी कमलके ऊपर प्रत्येक पत्तपर ‘ॐ नमो अरहंताण’ इन आठ वर्णोंमेंसे क्रमसे एक-  
एक वर्णको स्थापित करना चाहिए ॥६६॥

१. All others except P वीभिन्ने जंत (M L विशुद्ध) शुद्धपरिणामस्फूर्ति । २. All others except  
P L मङ्गलाय । ३. M विरहि॑ । ४. J दर्श । ५. All others except P M N सीनवर्णाष्टक ।

- 1980 ) स्वर्णगीरीं स्वरोद्भूतां केशरालीं ततः स्मरेत् ।  
कर्णिकां च सुधास्यन्दविन्दुवजविभूषिताम् ॥६७
- 1981 ) प्रोद्यत्संपूर्णचन्द्राभं चन्द्रविष्वाच्छनैः शनैः ।  
समागच्छसुधाबीजं मायावर्णं तु चिन्तयेत् ॥६८
- 1982 ) विस्फुरन्तमतिस्फीतं प्रभामण्डलमध्यगम् ।  
संचरन्तं<sup>१</sup> मुखाम्भोजे तिषुन्तं कर्णिकोपरि ॥६९॥ ही<sup>२</sup> ।
- 1983 ) अमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं वियति क्षणे ।  
छेदयन्तं मनोध्वान्तं स्ववन्तममृताम्बुद्धिः ॥७०
- 1984 ) व्रजन्तं तालुरुद्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे ।  
ज्योतिर्मर्यमिवाच्चिन्त्यप्रभावं भावयेनमुनिः ॥७१

1980) स्वर्णगीरीम् — ततः केशरालीं परागश्चर्णीं स्मरेत् । कीदृशीम् । स्वर्णगीरीं स्वरोदभूतां ‘अ आ’ इत्यादिजाताम् । च पुनः । कर्णिकां च स्मरेत् । कीदृशीम् । सुधास्यन्दविन्दुवजविभूषिताम् अमृतस्यन्दच्छटासमूहराजिताम् । इति सूत्रार्थः ॥६७॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1981) प्रोद्यत्संपूर्ण—मायावर्णं ही<sup>१</sup>कारं चिन्तयेत् । प्रोद्यत्संपूर्णचन्द्राभम् । उदितपार्वण-चन्द्रसमम् । पुनः कीदृशम् । सुधाबीजम् । कि कुर्वन् । चन्द्रविष्वात् शनैः शनैः समागच्छम् । इति सूत्रार्थः ॥६८॥ पुनः कीदृशम् ।

1982) विस्फुरन्तम्—विस्फुरन्तं दीप्यन्तम् अतिस्फीतं प्रगटम् । प्रभामण्डलमध्यगम् । सुगमम् । मुखाम्भोजे संचरन्तम्<sup>२</sup> । कर्णिकोपरि तिष्ठन्तम् । इति सूत्रार्थः ॥६९॥ ही<sup>२</sup> । [पुनस्तदाह ।]

1983) अमन्तम्—प्रतिपत्रे अमन्तम् । क्षणे प्रस्तावे वियति आकाशे चरन्तम् । छेदयन्तं मनोध्वान्तम् अन्धकारम् । अमृताम्बुद्धिः ऋबन्तं क्षरन्तम् । इति सूत्रार्थः ॥७०॥ पुनः कीदृशं तदाह ।

1984) व्रजन्तम्—तालुरुद्ध्रेण व्रजन्तं, भ्रूलतान्तरे स्फुरन्तं ज्योतिर्मर्यमिव “व्रत्यन्तप्रभावं मुनिर्मावयेदिति सूत्रार्थः ॥७१॥ पुनस्तदेवाह ।

पश्चात् स्वरोंसे उत्पन्न हुई व सुवर्णके समान गौर ( पीतवर्ण ) ऐसी परागर्फिका तथा अमृतके झरनेकी विन्दुओंके समूहसे सुशोभित कर्णिकाका स्मरण करना चाहिए ॥६७॥

कर्णिकाके ऊपर उदयको प्राप्त होते हुए सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रभावाले तथा चन्द्रमण्डलसे धीरेभीरे आनेवाले अमृतवीजके समान उस मायावर्ण ( ही ) का चिन्तन करना चाहिए जो विकासको प्राप्त हो रहा हो, अतिशय विस्तीर्ण हो, प्रभामण्डलके मध्यमें स्थित हो, मुख-कमलके ऊपर संचार कर रहा हो, कर्णिकाके ऊपर स्थित हो रहा हो, प्रत्येक पत्रके ऊपर परिभ्रमण कर रहा हो, झणभरमें आकाशमें विचरण कर रहा हो, मनके अन्धकार (अङ्गान) को मष्ट कर रहा हो, अमृतविन्दुओंसे झर रहा हो, तालुके छिद्रसे जा रहा हो तथा

१. P संचरन्तु । २. P M ही । ३. J मिवात्यन्त ।

- 1985) वाक्पथातीतमाहात्म्यं देवदैत्योरगच्छितम् ।  
विश्वार्णवमहापोतं विश्वतस्त्वप्रदीपकम् ॥७२
- 1986) अमुमेव महामन्त्रं भावयन्नस्तसंशयः ।  
अविद्याव्यालसंभूतं विष्वेगं निरस्यति ॥७३
- 1987) इति ध्यायन्नसी ध्याना तत्संलीनैकमानसः ।  
वाङ्मनोमलगुत्सूज्य श्रुताम्भोधि विगाहते ॥७४
- 1988) ततो निरन्तराभ्यासान्मासैः पद्मिः स्थिराशयः ।  
मुखरन्ध्रादु विनियोन्ती धूमवर्ति प्रपश्यति ॥७५

1985) वाक्पथातीत—[ वाक्पथातीतमाहात्म्यं शब्दातीतमाहात्म्यम् । विश्वतस्त्वप्रदीपकं विश्वतस्त्वप्रकाशकम् । महापोतं महतीं जावम् ॥७२॥ अथैतस्य कलमाह । ]

1986) अमुमेव—अस्तसंशयः द्वारीकृतसंशयः अमुं महामन्त्रम् एवं भावयन् अविद्याव्याल-संभूतविष्वेगं निरस्यति । सुषमम् । इति सूत्रार्थः ॥७३॥ पुनस्तदेवाह ।

1987) इति ध्यायन्—इति पूर्वोक्तं ध्यायन् असी योगी तत्संलीनैकमानसः तद्विज्ञानः वाङ्मनोमलम् उत्सूज्य त्यक्त्वा श्रुताम्भोधि श्रुतममृदं विगाहते । इति सूत्रार्थः ॥७४॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1988) ततो निरन्तराभ्यासात्—मुखरन्ध्रात् विनियोन्तीं धूमवर्ति प्रपश्यति । ततो निरन्तराभ्यासात् मासैः पद्मिः स्थिराशयः । इति सूत्रार्थः ॥७५॥ अथ ततो ऽपि विशेषमाह ।

भुकुटिरूप लक्षाओंके मध्यमें प्रतिभासित हो रहा हो; इस प्रकारके स्वरूपसे संयुक्त तेजोभयके समान ही उस अचिन्त्य प्रभाववाले मायावर्णका मुनिको ध्यान करना चाहिए ॥६८-७१॥

जिसकी महिमाका वर्णन वचनके ढाँचा नहीं किया जा सकता है, जो देव, दैत्य व नागकुमारोंसे पूजित है, विश्वास्त्र समुद्रके पार पहुँचानेके लिए विश्वाल नौकाके समान है, तथा समस्त तस्वीरोंके दिवलानेके लिए दीपक जैसा है; ऐसे उसी महामन्त्रका सन्देहसे रहित होकर ध्यान करनेवाला योगी अङ्गानरूप सर्पसे उत्पन्न हुए विषके वेगको नष्ट करता है ॥७२-७३॥

इस प्रकारसे एकमात्र उसी महामन्त्रके विषयमें मनको संलग्न करके ध्यान करनेवाला योगी वचन और मनके मैलको दूर करके श्रुतरूप समुद्रमें स्नान करता है—आगमका पार-गमी हो जाता है ॥७४॥

तत्पश्चान् निरन्तर किये जानेवाले उसके ध्यानके अभ्याससे जिस योगीका चित्त छह महीनोंमें अतिशय स्थिरताको प्राप्त कर सका है, वह अपने मुखके छिद्रसे निकलती हुई धुएँकी वस्ती ( शिखा ) को देखता है ॥७५॥

- 1989 ) ततः संवत्सरं सोग्रं तथैवाभ्यस्यते यदि ।  
 प्रपश्यसि महाज्वालां निःसरन्तीं मुखोदरात् ॥७६
- 1990 ) ततो इतिजातसंवेगो निर्वेदालम्बितो वशी ।  
 इयायन् पश्यत्यविश्रान्तं सर्वज्ञमुखपङ्कजम् ॥७७
- 1991 ) अथाप्रतिहतानन्दप्रीणितात्मा जितश्रमः ।  
 श्रीमत्सर्वज्ञदेवं स प्रत्यक्षमिव वीक्षते ॥७८
- 1992 ) सर्वातिशयसंपूर्णं दिव्यरूपेऽपलक्षितम् ।  
 कल्याणमहिमोपेतं सर्वसत्त्वाभयप्रदम् ॥७९
- 1993 ) प्रभावलयमध्यस्थं भव्यराजीवरञ्जकम् ।  
 ज्ञानलीलात्मरं धीरं देवदेवं त्वयाहुवत् ॥८०

1989) ततः संवत्सर—यदि संवत्सरं वावत् तथैव अभ्यस्यते”, अभ्यासं करोति, ततः मुखोदरात् निःसरन्तीं महाज्वालां प्रपश्यति, इति सूत्रार्थः ॥७६॥ ततो इपि विशेषमाह ।

1990) ततो इतिजात—[ततः वशी संयमी सर्वज्ञमुखपङ्कजं पश्यति । कि कुवंन् । अविश्रान्तं इयायन् । इति सूत्रार्थः ॥७७॥] अथ पुनर्स्तवेवाह ।

1991) अथप्रतिहत—अथेति तदनन्तरम् । अप्रतिहतानन्दप्रीणितात्मा अस्त्रलितप्रभोदप्रीतात्मा । जितश्रमः । शोषं मुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७८॥ पुनः कीदृशं तम् आह ।

1992) सर्वातिशय—[ दिव्यरूपेण उपलक्षितं युक्तम् । सर्वसत्त्वाभयप्रदं सर्वप्राणिनामभयप्रदम् । इति सूत्रार्थः ॥७९॥ ] पुनर्स्तस्यैव प्रभावमाह ।

1993) प्रभावलय—भव्यराजीवरञ्जकं भव्यप्राणिकमलरञ्जकम् । इति सूत्रार्थः ॥८०॥ अथ ततो विशेषमाह ।

तत्पश्चात् योगी यदि उसी प्रकारसे उसका अभ्यास साढ़भरसे कुछ अधिक समय लेकरता है तो वह मुखके भीतरसे निकलती हुई महाज्वालाको देखता है ॥७६॥

तत्पश्चात् आविर्भूत हुए अतिशय धर्मानुरागसे संयुक्त जितेन्द्रिय योगी वैराग्यका आश्रय लेता हुआ उक्त महामन्त्रके इयानसे निरन्तर सर्वज्ञके मुखरूप कमलका दर्शन करता है ॥७७॥

तत्पश्चात् जिसकी आत्मा निर्वाध आनन्दसे अतिशय प्रसन्नताको प्राप्त हुई है, तथा जिसने परिशमजनित खेदपर विजय प्राप्त कर ली है ऐसा वह योगी लाइमीसे परिपूर्ण उस सर्वज्ञ प्रभुका प्रत्यक्षमें ही दर्शन करता है ॥७८॥

उस समय उसे वह सर्वज्ञ प्रभु सम्पूर्ण (३४) अतिशयोंसे परिपूर्ण, दिव्य स्वरूपसे सहित, केवलकल्याणकी महिमा (समवसरणादि) से संयुक्त, समस्त जीवोंको अभ्य ग्रदान करता हुआ—दिव्य व्राणीके द्वारा उपदेश देता हुआ, भासण्डलके मध्यमें रिथत, भव्य

१. All others except P°तरं यावत्सर्थैँ । २. S F J X R वीरं ।

- 1994) ततो विधूतवन्द्रोऽसौ तस्मिन् संजातनिश्चयः ।  
भवभ्रममयाकृत्य लोकाग्रमधिरोहति ॥८१
- 1995) स्मर सकलसिद्धविद्याप्रधानभूतो प्रसञ्जगम्भीरम् ।  
विधुविभवनिर्गतामिव भरतसुधाद्र्द्वा महाविद्याम् ॥८२॥४३१॥
- 1996) अविचलमनसा ध्यायंज्ञलाटदेशस्थितामिमां देवीम् ।  
प्राप्नोति गुनिरजस्य समस्तकल्याणनिकुरम्ब्यम् ॥८३॥४३२॥
- 1997) अमृतजलधिगम्भीशःसरन्तीं सुदीप्रौ-  
मलकंतलनिष्पण्णा चन्द्रलेखां स्मर त्वम् ।

1994) ततो विधूत—ततस्तदमन्तरम् असौ विधूतवन्द्रः । तस्मिन् संजातनिश्चयः । कि  
कृत्वा । भवभ्रमम् अपाकृत्य । लोकार्णा मोक्षम् अधिरोहति । इति सूत्रार्थः ॥८१॥ अथ महाविद्यामाह ।

1995) स्मर सकल—महाविद्या स्मर चिन्तय । सकलसिद्धविद्याम् । इव उत्प्रेक्षते । विधु-  
विभवनिर्गतां चन्द्रमण्डलनिर्गच्छतीं सुधाद्र्द्वा महाविद्याम् इव । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८२॥४३१॥

1996) अविचल—इमां देवीं ललाटदेशस्थितां मुनिः अविचलमनसा ध्यायन् । अजस्य  
सकलकल्याणनिकुरम्ब्ये समूहं प्राप्नोति । इति सूत्रार्थः ॥८३॥ अथ पुनस्तदाह ।

1997) अमृतजलधि—ऐ गुजर, चन्द्रलेखां त्वं स्मर । कीदृशीम् । अमृतजलधिगम्भीति  
अमृतसमृद्धमध्यात् निःसरन्तीम् । पुनः कीदृशीम् । सुदीप्रौम्\* । पुनः कीदृशीम् । अलकंतलनिष्पण्णा  
जीवोरूप कमलोंको अनुरंजित करता हुआ, ज्ञानलीलाका धारक—केवलज्ञानके चमत्कारको  
प्रकट दिखानेला हुआ, धीर, देवरैका देव—खड़ ही देवरैके द्वारा पूजित और स्वर्णमूँहे रूपमें  
दीखता है ॥८२-८३॥

उस समय जिसे उस सर्वज्ञके विषयमें निश्चय हो चुका है ऐसा वह योगी प्रमादसे  
रहित होकर संसार परिभ्रमणको नष्ट करता हुआ लोकके शिखरपर अधिरोहण करता है—  
मुक्त हो जाता है ॥८१॥

समस्त विद्याओंकी सिद्धिकी कारण, प्रधानभूत, निर्मल य गम्भीर तथा चन्द्रमासे  
निकली हुई के समान शरते हुए अमृतसे आद्रे ऐसी महाविद्या (४३१) का स्मरण करता  
चाहिए ॥८२॥

जो मुनि ललाट (मत्तक) देशमें स्थित इस देवीका चितकी स्थिरतापूर्वक ध्यान  
करता है वह निरन्तर समस्त कल्याणपरम्पराको प्राप्त करता है ॥८३॥

हे योगिन् ! तू मोक्षपदकी पृथिवीपर प्रभावको धारण करनेवाली उस चन्द्रकलाका

१. Only in P M I. S F । २. All others except P L F देश । ३. All others except  
P N T निकुरम्ब्य । ४. N reads ओ हम्लम्ब्य । ५. All others except P सुदीप्रा । ६. M N  
मलिनिकरनिष्पण्णा, P S T J मलिकतल ।

अमृतकणविकीणीं शावयन्तीं सुधामिः

परमपदधरित्र्यां धारयन्तीं प्रभावम् ॥८४

1998) एतां विचिन्तयन्नेव स्तिमितेनान्तरात्मना ।

जन्मज्वरजयं<sup>१</sup> कृत्वा याति योगी शिवास्पदम् ॥८५

1999) यदि साक्षात् समुद्घिग्नो जन्मदावोग्रसंकमात् ।

तदा स्मरादिमन्त्रस्य प्राचीनं वर्णसम्पूर्णम् ॥८६

नमो अरहंताणं ।

2000) यदत्र प्रणवं शून्यमनाहतमिति त्रयम् ।

एतदेव विदुः प्राज्ञास्त्रैलोक्यतिलकोपमम् ॥८७

ललाटतटासोनाम् । पुनः । अमृतकणविकीणम् । सुधामिः अमृतैः प्रावयन्तीम् । परमपदधरित्र्यां प्रभावं धारयन्तीम् । इति सूत्रार्थः ॥८४॥ पुनरेतत्याः प्रभावमाह ।

1998) एतां विचिन्तयन्—एतां विद्या विचिन्तयन्नेव अन्तरात्मना स्तिमितेन नियन्त्रितेन जन्मज्वरजयं कृत्वा योगी शिवास्पदं मोक्षं याति । इति सूत्रार्थः ॥८५॥ अथ पुनरस्तदेवाह ।

1999) यदि साक्षात्—आदिमन्त्रस्य प्राचीनं पूर्वबर्णस्य सम्पूर्णं स्मर । यदि जन्मदावोग्रसंकमात् समुद्घिग्नो विरुद्धः । इति सूत्रार्थः ॥८६॥ नमो अरहंताणं ।

2000) यदत्र प्रणवं—अत्र ग्रन्थे प्रणवम् ओंकारं, शून्यम्, अनाहतं ह्रीकारम् इति त्रयम् एतदेव वर्णव्रयम् । त्रैलोक्यतिलकोपमम् । प्राज्ञाः बुधाः विदुः ज्ञापयामासुः । इति सूत्रार्थः ॥८७॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

स्मरण कर जो अमृतसमुद्रके भीतरसे निकल रही हो, अविश्य देवीप्यमान हो, भस्तकपर अवस्थित हो, अमृतके कणोंसे द्याम हो तथा अमृतसे तैर रही हो—उसमें इच्छा हुई हो ॥८४॥

जो योगी स्थिर अन्तःकरणसे केवल इस उन्द्रकलाका स्मरण ही करता है वह संसाररूप उत्तरको नष्ट करके मोक्षपदको प्राप्त होता है ॥८५॥

हे भव्य ! यदि तू संसाररूप तीव्र दावानलमें पड़कर प्रकटमें उड़ेगको प्राप्त हुआ है तो प्रथम ( प्रमुख ) मन्त्रके प्राचीन सात वर्णोंका—‘नमो अरहंताण’ इस मन्त्रवाक्यका—स्मरण कर ॥८६॥

यहाँ जो प्रणव (ॐ), शून्य (०) अनाहत (ह) ये तीन हैं इनको विद्वान् तीन लोकके तिलकके समान सर्वश्रेष्ठ बतलाते हैं ॥८७॥

१. M न्नेव, J ज्ञेयास्तमिते० । २. All others except P M क्षयं । ३. M N सुष्वर्णकां ।

४. Only in P M । ५. L S F X Y R<sup>१</sup>कोसमम् ।

2001) नासाग्रदेशसंलीनं कुर्वन्त्यन्तनिश्चलम् ।

ध्याता ज्ञानभवाग्नोति प्राप्य पूर्वे गुणाष्टकम् ॥८८॥ओं हौं॥

2002) उक्तं च—

शङ्केन्दुकुन्दधयला॑ ध्याता देवात्मयो॑ विधानेन ।

जनयन्ति विश्वविषयं बोधं कालेन तद्ध्यानात् ॥८८\*१॥इति॑॥

2003) प्रणवयुगलस्य युग्मं पार्श्वे मायायुगं विचिन्तयति ।

मूर्खस्थं हंसपदं कृत्वा व्यस्तं वितन्द्रात्मा ॥८९०॥

2001) नासाग्र—ध्याता ज्ञानम् अवान्नोति “पूर्वगुणाष्टकं प्राप्य । कि कुर्वन् । नासाग्रदेश-संलीनम् अत्यन्तनिश्चलं कुर्वन् । इति सूत्रार्थः ॥८८॥ अहं । हौं । उक्तं च ।

2002) शङ्केन्दु—वयो देवा ध्याता: सत्तः सर्वविषयं बोधज्ञानं जनयन्ति । कीदृशा देवाः । \*शङ्केन्दुकुन्दधयलाः सर्पकुन्देन्दुविभलाः । विधानेन पूजया कालेन तद्ध्यानात् । इति सूत्रार्थः ॥८८\*१॥ अथ पुनर्मन्त्रान्तरमाह ।

2003) प्रणव—प्रणवयुगलस्य ओकारद्वयस्य युग्मम् । पार्श्वे उभयतः पार्श्वे मायायुगं ह्लीकारद्वयं विचिन्तयेत् । मूर्खस्थं शिरस्थं हंसपदं कृत्वा व्यस्तं प्रलयेण जपन् । वितन्द्रात्मा निरालस्यः । इति सूत्रार्थः ॥८९॥। हौं ओं ओं हौं हौं सः । अथ पुनर्मन्त्रान्तरमाह ।

इन तीनोंको नामिकाके अग्रभागपर अतिशय स्थिरतापूर्वक स्थित करके ध्यान करनेवाला योगी पूर्वमें अगिभान्यहिमा आदि आठ गुणोंको प्राप्त करके ज्ञान ( केवलज्ञान ) को प्राप्त करता है ॥८८॥ कहा भी है—

अंख, चन्द्रमा और कुलपुष्पके समान धबल ये तीन देव विश्विपूर्वक योर्गिके ध्यानके विषय होकर—योर्गिके द्वारा उक्त विधिसे उनका ध्यान करनेपर—उस ध्यानके प्रभावसे थोड़े ही समयमें समस्त पदार्थविषयक बोधको—केवलज्ञानको—उत्पन्न करते हैं ॥८८\*१॥

प्रणवयुगलके उभय पार्श्वभागमें दो जावायणी ( हौं ) करके तथा हंसपद ( सोऽहं ? ) को शिरपर स्थित करके योगी आलस्यको छोड़कर उनका पृथक् ध्यान करता है । अभिप्राय यह कि योगीको ‘हौं ॐ ॐ हौं’ इन बीजपदोंका ध्यान करना चाहिए ॥८९॥

१. L S F R निर्मलं । २. X पूर्ण । ३. P M ओं ह अ, L ओं हौं, F ओं हौं हौं । ४. P M उक्तं च ।

५. J शेषेन्दु । ६. L धबलं...वयं । ७. All others except P सर्वं for विश्व । ८. P इति ।

९. J मायायुगलं विचिन्तयेत् । १०. M N हूं सः हौं ओं हौं हौं हौं सः हौं हौं, L F हौं ओं हौं ( F हूं सः ), T हौं सः ओं हौं ।

2004 ) ततो ध्यायेन्महावीजं स्वीकारं<sup>१</sup> छिन्नमस्तकम् ।

अग्राहत्युर्द्विष्टं दिष्टं दिस्तुरन्तं शुद्धोदरे ॥९०॥ इस्त्री ।

2005 ) श्रीवीरवदनोद्भूतो<sup>२</sup> विद्या चाचिन्त्यविक्रमाम् ।

कल्पवल्लीमिवाचिन्त्यफलसंपादनक्षमाम् ॥९१

विद्या चै । ओं जोगे<sup>३</sup> मगे तच्चे भूये<sup>४</sup> भव्वे भविस्ते अक्षे पक्षे  
जिणपाइवे<sup>५</sup> स्वाहा ॥ ओं हीं अहे<sup>६</sup> नमो इह<sup>७</sup> नमो अरहंताणं  
हीं नमः ।

2006 ) विद्या जपति यदेमां<sup>८</sup> निरन्तरं शान्तविश्वविश्वन्दः ।

अणिमादिगुणालब्ध्वा ध्यानी शान्तार्णवं तरति ॥९२

2004) ततो ध्यायेत्—ततः तदनन्तरं महावीजं ध्यायेत् । स्वीकारं छिन्नमस्तकम् । अनाहत्युर्त हीकारीपेतम् । मुखोदरविस्फुरन्तम् । इति सूत्रार्थः ॥९०॥ हीं हीं । अथ पुनस्तदेवाह ।

2005) श्रीवीर—अचिन्त्यविक्रमां, फलसंपादनक्षमां, कल्पवल्लीम् इव कामलताम् इव । इति सूत्रार्थः ॥९१॥ ओं विद्याम् । ओं जोगे मगीति तच्चे भूये भव्वे भविस्ते । अक्षे पक्षे जिणपाइवे स्वाहा । ओं हीं स्वाहै नमो नमी अरहंताणं । हीं नमः ।

2006) विद्या जपति—[ यदा ध्यानी इमां विद्या जपति तदा अणिमादिगुणान् लब्ध्वा शान्तार्णवं तरति ॥९२॥ योगिनः माहात्म्यमाह । ]

तत्पञ्चात् योगीको शिरसे रहित और अनाहतसे सहित ऐसे मुखके मध्यमें प्रकाशमान दिव्य महावीजस्वरूप स्वीकार ( इस्त्री ) का ध्यान करना चाहिए ॥९०॥

श्री वीर प्रभुके मुखसे निकली हुई जो विद्या अचिन्त्य पराक्रमसे संयुक्त होती हुई कल्पलताके समान अचिन्त्य फलके सम्पादन करनेमें समर्थ है उसका योगीको ध्यान करना चाहिए । वह विद्या यह है—ॐ जोगे मगे तच्चे भूये भविस्ते अक्षे पक्षे जिणपाइवे स्वाहा । ऊं हीं अहे नमो इह नमो अरहंताणं हीं नमः ॥९१॥

योगी जब समस्त अस्थिरताको नष्ट करके निरन्तर इस विद्याका ध्यान करता है तब वह अणिमा आदि गुणोंको प्राप्त करके शास्त्र-समुद्रके पार पहुँच जाता है—समस्त श्रुतका पारणामी हो जाता है ॥९२॥

१. M F श्रीकारं । २. P S स्वी M N अस्त्रे । ३. हुस्त्री, T S हीं । ४. S T °ववन्मोद्यगीर्णि ।

५. Y चारथन्त । ६. F विद्यामन्त्रं कथवति, P M N L T F R read this मन्त्र । ७. M N घोणः ।

८. R नृदे, L om. । ९. M N L F R अस्त्रे एस्ते । १०. M N R जिणपाइस्ते । ११. L T R स्वर्ह ।

१२. M N L T om. अहं । १२. All others except P M N T य इमां ।

- 2007) त्रिकालविषयं साक्षात्ज्ञानमस्योपजायते ।  
विश्वतत्त्वप्रबोधश्च सतताभ्यासयोगतः ॥१३
- 2008) शास्यन्ति<sup>१</sup> जन्मदः क्रूरास्तथान्ये व्यन्तरादयः ।  
ध्यानविष्वंसकतरी येन तद्वि प्रपञ्चयते ॥१४
- 2009) दिग्दलाष्टकसंपूर्णे राजीवे सुप्रतिष्ठितम् ।  
स्मरत्यात्मानमत्यन्तस्फुरद्ग्रीष्माकंभास्वरम् ॥१५
- 2010) प्रणवादस्य मन्त्रस्य पूर्वादिषु<sup>२</sup> प्रदक्षिणम् ।  
विचिन्तयति पत्रेषु वर्णैकमनुकमात् ॥१६॥ ओं नमो<sup>३</sup> अरहंताणं ।

2007) त्रिकाल—अस्य योगिनः त्रिकालविषयं साक्षात् ज्ञानम् उपजायते । च पुनः । विश्वतत्त्वप्रबोधः सर्वतत्त्वज्ञानम् । कस्मात् सतताभ्यासयोगतः निरन्तराभ्यासयोगात् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ तस्य फलम् उच्यते ।

2008) शास्यन्ति—तद् आत्मम् । हि निरिचतम् । येन प्रपञ्चयते विस्तायते । तस्य । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ तस्य विशेषमाह ।

2009) दिग्दलाष्टक—तद् भास्वरम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2010) प्रणवादादस्य—प्रणवादादस्य ओंकारादिकार्यं मन्त्रस्य पूर्वादिषु<sup>२</sup> पत्रेषु प्रदक्षिणं प्रदक्षिणावर्त्तेन वर्णैकं प्रत्येकवर्णं विचिन्तयति । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ ओं नमो अरहंताणं ।

उपर्युक्त विज्ञाके ध्यानविषयक निरन्तर अभ्यासके प्रभावसे उस योगीके साक्षात् तीनों कालविषयक बहु ज्ञान—केवलज्ञान—उत्पन्न होता है जिसके द्वारा वह समस्त तत्त्वों को समृद्धया जानने लगता है ॥१३॥

आब जिस ध्यानके द्वारा दुष्ट प्राणी तथा ध्यानको नष्ट करनेवाले व्यन्तरादि देव शान्त हो जाते हैं उम्रका यहाँ विस्तार किया जाता है ॥१४॥

आठ विश्वाओंमें अवस्थित आठ पत्तोंसे परिषूर्ण कमलके ऊपर स्थित च अतिशय तेजस्वी श्रीष्मकालीन सूर्यके देवीप्राप्तमान आत्माका ध्यान करना चाहिए ॥१५॥

इस कमलके पूर्वादिक दिशाओंमें स्थित उन आठ पत्रोंपर प्रदक्षिणक्रमसे क्रमशः जिसके प्रारम्भमें प्रगत विद्यमान है उस मन्त्र—ॐ नमो अरहंताण—के एक एक वर्णका ध्यान करना चाहिए ॥१६॥

१. M N लान्यन्ति....ध्यानल्य अवस । २. F J X Y R स्मरत्वा॑ । ३. M N L F X भासुर ।  
४. All others except P पूर्वादिषु । ५. Only in P M L S F ।

- 2011 ) अधिकृत्य चुदं<sup>१</sup> पूर्वं पूर्वीशासंमुखः परम् ।  
स्मरत्यष्टाक्षरं मन्त्रं सहस्रैकं शताधिकम् ॥९७
- 2012 ) प्रत्यहं प्रतिष्ठेषु<sup>२</sup> महेन्द्राशोधनुक्रमात् ।  
अष्टरात्रं जपेयोगी प्रसन्नामलमानसः ॥९८
- 2013 ) अस्योचिन्त्यप्रभावेण क्रूराशयकलङ्किताः ।  
त्यजन्ति जन्तवो दर्पं सिंहत्रस्ता इव द्विपाः ॥९९
- 2014 ) अष्टरात्रे व्यतिक्रान्ते कमलस्यास्य वर्तिनः ।  
निरुपयति पत्रेषु तर्णांतिगतुक्रमात् ॥१००
- 2015 ) आलम्भ्य प्रक्रियामेवा<sup>३</sup> पूर्वं विश्वीर्यशान्तयै ।  
पश्चात्सप्ताक्षरं मन्त्रं व्यावेत्यणववर्जितम् ॥१०१॥

2011) अधिकृत्य—पूर्वं छदं पत्रम् अधिकृत्य पूर्वीशासंमुखः पूर्वदिवसंमुखः । परं केवलम् । अष्टाक्षरमन्त्रं सहस्रैकं शताधिकं स्मरति । इति सूत्रार्थः ॥९७॥। अथ तदेवाह ।

2012) प्रत्यहम्—योगी प्रत्यहं प्रतिष्ठेषु महेन्द्राशोधनुक्रमात् पूर्वाशोधनुक्रमात् । कीदूशः । प्रसन्नामलमानसः इति सूत्रार्थः ॥९८॥। अथ तस्य प्रभावमाह ।

2013) अस्याचिन्त्य—जन्तवः दर्पं त्यजन्ति । सिंहत्रस्ता द्विपा इव । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९९॥। अथ पुनर्विशेषमाह ।

2014) अष्टरात्रे—[ व्यतिक्रान्ते गते । पत्रेषु दलेषु एतान् वर्णन् निरूपयति ॥१००॥। अथ तदेवाह । ]

2015) आलम्भ्य—आलम्भ्य एतां प्रक्रियां कर्तव्यतां पूर्वम् । किमर्थम् । विज्ञोपशान्तये<sup>४</sup> । पश्चात् प्रणववर्जितम् ओंकारं सप्ताक्षरं मन्त्रं व्यापारयेत् । इति सूत्रार्थः ॥१०१॥। अथ एतदेवाह ।

योगीको पूर्वदिशाके सम्मुख होकर पूर्वदिशागत पत्रके आश्रयसे उस आठ अष्टाक्षरस्वरूप मन्त्रको ग्यारह सीं बार जपना चाहिए ॥९७॥।

योगीको प्रतिदिन पूर्वं आदि दिशाओंके क्रमसे प्रत्येक पत्रके ऊपर प्रसन्नतापूर्वक निर्मल अन्तःकरणसे आठ दिन तक उस मन्त्रका जप करना चाहिए ॥९८॥।

इस मन्त्रके अचिन्त्य प्रभावसे दुष्ट अभिप्रायसे दूषित प्राणी मदको इस प्रकारसे छोड़ देते हैं जिस प्रकार कि सिंहसे थीड़ित होकर हाथी उस मदको छोड़ देता है ॥९९॥।

आठ रात्रियोंके बीत जानेपर योगी इस कमलके पत्रोंपर वर्तमान इन वर्णोंका क्रमसे निरूपण करता है—देखता है ॥१००॥।

इस प्रक्रियाका पूर्वमें विज्ञोपकि विनाशके लिए आश्रय लेना चाहिए और तत्पश्चात्

१. M N पत्रं फौ छदं । २. S X R सवदिशा । ३. M N सम्पूर्च । ४. M पत्रं च । ५. M N वर्णोंके क्रमनुकूल<sup>५</sup> । ६. All others except P लस्या<sup>६</sup> । ७. All others except PM एतां । ८. J विज्ञोप<sup>७</sup> ।

- 2016) मन्त्रः प्रणवपूर्वो ऽयं निःशेषाभीष्टसिद्धिदः ।  
ऐहिकानेककर्मार्थे<sup>१</sup> मुक्त्यर्थं प्रणवच्युतः ॥१०२॥ नमो अरहंताणं ।
- 2017) स्मर मन्त्रपदं दीन्यज्ञानमसंवातथातकम् ।  
रागाद्युग्रतमस्तोमप्रध्वंसरविभण्डलम् ॥१०३  
‘श्रीमद्वृषभादिवर्धमानान्तेभ्यो नमः ।
- 2018) मनः कृत्वा सुनिष्कर्षं तां विद्यां पापभक्षिणीम्<sup>२</sup> ।  
स्मर सर्वोपकाराय या जिनेन्द्रैः प्रकीर्तिता ॥१०४  
ओं अहंमुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि<sup>३</sup> श्रुतज्ञानज्ञालासहस्र-  
प्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षुं क्षौं क्षौं क्षः  
क्षीरध्वले अमृतसंभवे वं वं हं हं स्वाहा । पापभक्षिणी ।

2016) मन्त्रः प्रणव—अर्यं प्रणवपूर्वो मन्त्रः निःशेषाभीष्टसिद्धिदः सर्ववाज्ज्ञतदायकः ।  
ऐहिकानेककर्मार्थे<sup>१</sup> ज्ञातव्यः । प्रणवच्युतम् ओंकाररहितं मुक्त्यर्थं भवति । इति सूत्रार्थः ॥१०२॥  
नमो अरहंताणं । अथ पुनरत्म्य स्वरूपमाह ।

2017) स्मर मन्त्र—रागाद्युग्रतमःस्तोमप्रध्वंसरविभण्डलं रागद्वेषोत्करान्थकारसमूहतात्त्वान-  
सूत्रेमण्डलम् । शब्दं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०३॥ श्रीमद्वृषभादिवर्धमानान्तेभ्यो नमः ।

2018) मनः कृत्वा—प्रकीर्तिता कथिता । शब्दं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०४॥ ओं  
अहंमुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्ञालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह  
दह क्षां क्षीं क्षुं क्षौं क्षः क्षीरध्वले अमृतसंभवे वं हं हं स्वाहा । पापभक्षिणी । अस्याः  
प्रभावमाह ।

प्रणवसे रहित सात अक्षरों स्वरूप ही उस मन्त्रका ‘नमो अरहंताणं’ का—ध्यान करना  
चाहिए ॥१०१॥

सभस्त अभीष्टोंकी सिद्धिको प्रदान करनेवाला यह मन्त्र प्रणवपूर्वक इस लोक-  
सम्बन्धी अनेक कार्योंकी सिद्धिका कारण होता है और वही प्रणवसे रहित मुक्तिका कारण  
होता है ॥१०२॥

जो जन्मपरम्पराका नाशक होता हुआ राग-द्वेषादिरूप तीव्र अन्धकार समूहको नष्ट  
करनेके लिए सूर्यके समान है ऐसे अन्य मन्त्रका—‘श्रीमद्वृषभादिवर्धमानान्तेभ्यो नमः’  
का स्मरण करना चाहिए ॥१०३॥

जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा प्राणियोंके उपकारके लिए जो विद्या निर्दिष्ट की गयी है उस  
पापभक्षिणी विद्याका भी योगीको मनकी अतिशय स्थिरतापूर्वक ध्यान करना चाहिए । वह  
विद्या यह है ॐ अहंमुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्ञालासहस्रप्रज्वलिते सर-

१. M L S F X Y R कामार्थं, T J धर्मार्थं । २. P M read । ३. M N T च for वा ।  
४. P M read । ५. M नमः कृत्वा । ६. P भक्षणी । ७. M N क्षयकारिणी...मम पापं ।

- 2019 ) चेतः प्रसत्तिमाधसे पापपङ्कुः प्रलीयते ।  
आविर्भवति विज्ञानं सुनेतस्याः प्रभावतः ॥१०५-
- 2020 ) मुनिभिः संजयन्ताऽर्थैविद्यावादात्समुद्धृतम् ।  
सुक्षिमुखत्योः<sup>१</sup> परं धाम सिद्धचक्राभिर्थं स्मरै ॥१०६-
- 2021 ) तस्य प्रयोजकं शास्त्रं तदाश्रित्यैपदेशतः ।  
ध्येयं मुनीश्वरैर्जन्ममहाव्यसनशान्तये ॥१०७ ॥ सिद्धचक्रं ।
- 2022 ) स्मर मन्त्रपदाधीशं सुक्षिमार्गप्रदीपकम् ।  
नाभिपङ्कजसलीनमवर्णं विश्वतोमुखम्<sup>२</sup> ॥१०८ ॥अ ।

2019) चेतः प्रसत्तिम्—चेतः प्रशान्तिम्<sup>३</sup> आधसे । पापपङ्कुः प्रलीयते नाशम् उपयाति ।  
मुनेः अस्याः विद्याया: प्रभावतः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०५॥ अथ सिद्धचक्रम् आह ।  
2020) मुनिभिः—संजयन्ताऽर्थैः मुनिभिः विद्यावादात् पूर्वात् समुद्धृतम् । शेषं सुगमम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥१०६॥ पुनरेतस्य प्रभावमाह ।

2021) तस्य प्रयोजकम्—तस्य प्रयोजकं शास्त्रं तदाश्रित्य उपदेशतः ध्येयम् । शेषं सुगमम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥१०७॥ सिद्धचक्रम् । अथ पुनविशेषमाह ।

2022) स्मर मन्त्र—मन्त्रपदाधीशं स्मर । कीदृशम् । अवर्णम् । पुनः कीदृशम् । विश्वतोमुखं  
सर्वव्यापि । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०८॥ अथ पुनराह ।

स्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षौँ  
स्वाहा ॥ पापभक्षिणी ॥१०४॥

इस पापभक्षिणी विद्याके प्रभावसे मुनिका मन प्रसन्नताको धारण करता है, पापफल  
कीचड़ नष्ट हो जाता है, और विशिष्ट ज्ञान प्रकट होता है ॥१०५॥

जिस सिद्धचक्रका संजयन्त आदि मुनियोंने भलीभाँति उद्धार किया है तथा जो  
विषयभोग जनित सुगमस्वर्णादिके अव्युदय व सुक्षिमुखका कारण है उस सिद्धचक्रका मुनिजनों-  
को ध्यान करना चाहिए ॥१०६॥

जो शास्त्र उस सिद्धचक्रका प्रयोजक है—जिस शास्त्रमें उसका स्वरूप आदि वर्णित  
है—उसका आश्रय लेकर जैसा उसमें तद्विषयक उपदेश दिया गया है तदनुसार ही मुनिजनों-  
को संसारके महान् दुखको नष्ट करनेके लिए उसका ध्यान करना चाहिए सिद्धचक्र ॥ ॥१०७॥

जो ‘अ’ वर्ण सब मन्त्रपदोंका स्वामी सुक्षिके मार्गको दिखलानेवाला उत्कृष्ट दीपक  
और सर्वव्यापक है उसका स्मरण नाभिकमलपर अवस्थित स्वरूपसे करना चाहिए । इसके

१. J प्रशान्तिः । २. All others except P N मुक्तेः; P मुक्त्याः । ३. All others except P M  
N स्मरेत् । ४. M सत्यप्रयो<sup>५</sup> । ५. T शितोप<sup>६</sup> । ६. Only in P M । ७. F सर्वतो । ८. Only in  
P M L F ।

- 2023) सिवर्णे<sup>१</sup> मस्तकाम्भोजे साकारं<sup>२</sup> मुखयद्वजे ।  
आकारं कण्ठकञ्जस्थं स्मरोकारं<sup>३</sup> हृदि स्थितम् ॥१०९  
[ ॥ अ सि आ उ सा ॥ ]
- 2024) सर्वकल्याणवीजानि वीजान्यन्यौन्यपि<sup>४</sup> स्मरेत् ।  
यान्याराघ्य शिवं प्राप्ना योगिनः शीलसागरः ॥११०  
॥ नमः सर्वसिद्धेभ्यः ।
- 2025) श्रुतिसिन्धुसमुद्भूतमन्यद्वा पदमधरम् ।  
तत्सर्वं पुनिभिर्व्येयं स्यात्पदस्थप्रसिद्धये ॥१११
- 2026) एवं समस्तवर्णेषु मन्त्रविद्वापदेषु च ।  
कार्यः<sup>५</sup> क्रमेण विश्लेषो लक्षण्याभावप्रसिद्धये ॥११२

2023) सिवर्णभ—मस्तकाम्भोजे सिवर्णं साकारं मुखकमले । कण्ठकञ्जस्थं कण्ठकमलस्थम् आकारम् । ओंकारं हृदि स्थितम्<sup>६</sup> । इति सूत्रार्थः ॥१०९॥ अथ पुनर्मन्त्रमाह ।

2024) सर्वकल्याण—वीजानि असिद्धात्मा [ न्य ] न्यानि अपि स्मरेत् । कीदृशानि । सर्वकल्याणवीजानि । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११०॥ नमः सर्वसिद्धेभ्यः ।

2025) श्रुतिसिन्धु—श्रुतिसिन्धुः<sup>७</sup>\* श्रुतसागरः तस्मात् समुद्भूतं जातम् अन्यद्वा । पदम् अक्षरम् । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१११॥ अथ पुनरस्तदाह ।

2026) एवं समस्त—<sup>८</sup>लक्षण्याभावप्रसिद्धये लक्षणीयस्वरूपसिद्धये कार्यः । क्रमेण विश्लेषः कार्यः । वब । समस्तवर्णेषु । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११२॥ अथ पुनरस्तदाह । सिद्धचक्रम् । द्वापश्चाशदक्षरमध्ये प्रथमम् । समस्तान् अक्षरान् मुखं प्रथमम् (?) ।

अतिरिक्त 'सि'वर्णका मस्तककमलके ऊपर, 'आ' वर्णका कण्ठकमलके ऊपर स्थित रूपमें, 'उ' वर्णका हृदयमें स्थित रूपसे तथा 'सा' वर्णका मुखकमलके ऊपर स्थित रूपसे स्मरण करना चाहिए । अभिप्राय यह है कि नाभिकमल आदि उक्त पाँच स्थानोंमें वर्णक्रमसे अवस्थित 'अ सि आ उ सा' इस पाँच वर्णमय मन्त्रका ध्यान करना चाहिए ॥१०८-१०९॥

इनके अतिरिक्त जिन अन्य वीजपदोंका भी आराधन करके शीलके समुद्रस्वरूप योगी जन मुक्तिको प्राप्त हुए हैं तथा समस्त कल्याणोंके कारण हैं उन अन्य वीजपदोंका—'नमः सर्वसिद्धेभ्यः' आदि मन्त्रोंका—भी योगीको स्मरण करना चाहिए ॥११०॥

अन्य भी जो अक्षरन्पद शास्त्ररूप समुद्रसे उत्पन्न हुए हैं—परमागममें वर्णित हैं—उन सबका इस पदस्थध्यानको सिद्ध करनेके लिए मुनिको ध्यान करना चाहिए ॥१११॥

इस प्रकारसे समस्त वर्णों, मन्त्रपदों और विद्यापदोंके विषयमें भी शारीरके ( अथवा छल-कपटके ) अभावको सिद्ध करनेके लिए क्रमसे पूर्वकरण करना चाहिए ॥११२॥

१. N अवर्ण । २. M N रकारं । ३. All others except P M स्मरोकारं । ४. All others except P स्थितम् । ५. M L F add । ६. P वीजान्यन्यपि स्मरेत् । ७. Only in P M । ८. All others except P N T कार्यक्रमेण । ९. All others except P M लक्षणाव ।

- 2027) अन्यद्यद्वच्छ्रुतस्कन्धवीजं निर्वेदकारणम् ।  
तत्तद्यायभूसौ ध्यानी<sup>१</sup> नापवर्गपथि स्खलेत् ॥११३<sup>२</sup>
- 2028) ध्येयं स्याद्वीतरागस्य विश्ववर्त्यर्थसंचयम् ।  
तद्वर्धमंडयत्ययाभावान्माध्यस्थमधितिष्ठुर्तः ॥११४
- 2029) उक्तं च—  
बीतरागो भवेत्योगी यत्किञ्चिदपि चिन्तयेत्<sup>३</sup> ।  
तदेव ध्यानमाम्नातमतो ऽन्ये<sup>४</sup> प्रन्थविस्तराः ॥११४\*१ ॥इति ।
- 2030) बीतरागस्य विज्ञेया ध्यानसिद्धिध्रुवं मुनेः ।  
हेतु एव तद्वर्त्य स्याद्रागार्तस्येह देहिनः ॥११५

2027) अन्यद्यत्—उक्तं च शास्त्रान्तरे । अन्यत् यत् यत् श्रुतस्कन्धवीजं निर्वेदकारणम् । असौ ध्यानी । तत्तद् ध्यायन् अपवर्गपथि मोक्षमार्गे न स्खलेत् । इति सूत्रार्थः ॥११३॥ उक्तं च ।

2028) ध्येयं स्यात्—विश्ववर्त्यर्थसंचयं जगद्विपदार्थकदम्बकं बीतरागस्य ध्येयं स्यात् । तद्वर्धमंडयत्ययाभावात् । पदार्थधर्मप्रतिकूलत्वाभावात् माध्यस्थमधितिष्ठुर्ति<sup>५</sup> । इति सूत्रार्थः ॥११४॥ उक्तं च ।

2029) बीतरागः—[ बीतरागः विरक्तः योगी भवेत् । तदेव ध्यानम् आम्नातं कथितम् । अन्यत् सुगमम् ॥११४\*१॥ ] अथ पुनर्स्तदेवाह ।

2030) बीतरागस्य—[ बीतरागस्य मुनेः ध्रुवं निश्चितं ध्यानसिद्धिः विज्ञेया । अपि तु रागार्तस्य देहिनः मनुष्यस्य तदर्थं ध्यानसिद्धवर्थं कलेश एव स्यात् ॥११५॥ ] अथ पुनर्स्तदेवाह ।

अन्य ओ-ओ श्रुतस्कन्धके बीज निर्वेदके कारण हैं उन-उनका ध्यान करनेवाला योगी मोक्षमार्गमें रखलित नहीं होता है—बहु उसमें अतिशय स्थिर रहता है ॥११३॥

मिङ्ग-मिङ्ग पदार्थोंका ओ स्वभाव है उसके विषयमें विपरीतभावके न होनेसे माध्यस्थताका आश्रय लेनेवाले बीतराग योगीके लिए लोकमें वर्तमान सब ही पदार्थोंका समूह ध्यानके योग्य हैं ॥११४॥ कहा भी है—

जब योगी बीतराग हो जाता है तब वह जो कुछ भी चिन्तन करता है वही ध्यान कहा जाता है । इससे अधिक बीज-पदादिकोंके ध्यानका कथन करनेमें गम्भका ही विस्तार है ॥११४\*१॥

जो मुनि बीतराग है—संसार, शरीर व भोगोंसे सर्वथा विरक्त हो चुका है—उसके निश्चयसे ध्यानकी सिद्धि जानना चाहिए । इसके विपरीत जो प्राणी रागसे पीड़ित है—जिसे शरीरादिसे अनुराग है—उसको उस ध्यानके विषयमें केवल कलेश ही होता है—उसे ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती है ॥११५॥

१. F योगी for ध्यानी । २. L T add उक्तं च, From, this verse । ३. N विश्वमर्थ । ४. T लिष्टुरि, R reads after No. 116 । ५. P M N T F उक्तं च । ६. N चिन्तयन् । ७. N F T °स्त्रे । ...विस्तरः, J X R °श्वद् विस्तरः । ८. P इति । ९. L कलेशप्रवय एव स्याद् ।

- 2031) निर्मध्य श्रुतसिन्धुयुक्तधियः श्रीबीरचन्द्रोदये  
 तत्त्वान्येव समुद्ररन्ति मुनयो यज्ञेन रक्षान्यतः ।  
 तान्येतानि हृदि स्फुरन्तु सुभगन्यासानि भव्यात्मना  
 ये वाऽङ्गन्त्यनिशं विमुक्तिललनावाङ्गभ्यैसंभावनाम् ॥११६॥
- 2032) विलीनाशेषकर्मणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।  
 स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भं गतं स्मरेत् ॥११७  
 इति ज्ञानार्थवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-  
 विरचिते पदस्थध्यानप्रकरणम् ॥३५॥

2031) निर्मध्य—[ये अनिशं सततं विमुक्तिललनावाङ्गभ्यैसंभावनो मुक्तिशीप्रियत्वं वाऽङ्गन्ति। तेषां हृदि मनसि एतानि तत्त्वानि स्फुरन्तु समुल्लसन्तु । इति सूक्तार्थः ॥११६॥] अथ पुनरस्तदेवाह ।

2032) विलीनाशेष—स्वं स्मेरत् । कीदृशं स्वम् । विलीनाशेषकर्मणं नष्टाशेषकर्मणम् । स्फुरन्तं दीप्यमानम् । अतिनिर्मलं पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भं गतम् । इति सूक्तार्थः ॥११७॥

शाश्वर्सज्जा महाधर्मी दोडरः शुद्धमानसः । शृष्टिदासो महाबुद्धिर्जयतीह निरन्तरम् । इत्याशीकादिः । अथ पुनरस्तदाह ।

इत्याचार्य-श्रीशुभचन्द्रविरचिते ज्ञानार्थवयोगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
 साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहुकृष्णिदास-स्वश्रवणार्थं  
 पण्डितजिनदासोद्यमेन कारपिते पदस्थध्यानप्रकरणम् ॥३५॥

श्री बीर जिनेन्द्रस्त्रय चन्द्रका उदय होनेपर उभल बुद्धिके धारक मुनि आगमरूप समुद्रका मन्थन करके उसमें से तत्त्वारूप रत्नोंको ही निकालते हैं । सुन्दर रचनासे परिपूर्ण वे रत्न उन भन्य श्रीबीके हृदयमें प्रकाशमान होते हैं जो निरन्तर मुक्तिरूप कान्तके पतिप्रेमकी सम्भावनाकी इच्छा किया करते हैं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य समुद्रके भीतरसे उत्तम रत्नोंको निकालकर उनसे बनाये गये सुन्दर हारसे अपने कण्ठको विभूषित किया करते हैं उसी प्रकार निर्मल बुद्धिके धारक योगी श्री बीर जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट समुद्र समान गम्भीर आगमका अभ्यास करके उसमेंसे ध्यानके योग्य अनेक श्रीजाक्षरों, मन्त्रों और विद्याओंको खोजकर उनसे अपने हृदयको विभूषित करते हैं—उनका ध्यान किया करते हैं ॥११६॥

समस्त कर्मसे रहित, देवीप्रसान और अनिश्चय निर्मल जो पुरुषके आकार आत्मा अपने शरीरके ही भीतर अवस्थित है उसका योगीको स्मरण करना चाहिए ॥११७॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्थवयोगप्रदीपाधिकारमें  
 पदस्थध्यानका प्रकरण समाप्त हुआ ॥३५॥

१. All others except P M स्फुरन्ति । २. N वनिता for ललना । ३. All others except P संभोगसंभा॑ ।

## [ रूपस्थध्यानम् ]

- 2033 ) आर्हन्त्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम् ।  
ध्यायेद्वेन्द्रचन्द्राकिसभान्तःस्थं स्वयंभुवम् ॥१॥
- 2034 ) सर्वातिशयसंपूर्णं दिव्यलक्षणलक्षितम् ।  
सर्वभूतहितं देवं शीलशैलेन्द्रशेखरम् ॥२॥
- 2035 ) सप्तधातुविनिष्ठुकं मोक्षलक्ष्मीकटाक्षितम् ।  
अनन्तमहिमाधारमयोगिपरमेश्वरम् ॥३॥

2033) आर्हन्त्य—[ स्वयंभुवं स्वयमेवीत्यन्नं सर्वज्ञं परमेश्वरं ध्यायेत् । पुनः कीदूशम् । आर्हन्त्यमहिमा उपेत् युक्तम् । शोर्ण सुगमम् ॥१॥ पुनस्तमेव वर्णयति । ]

2034) सर्वातिशय—ब्रह्मचर्याचलमुकुटम् । शोर्ण सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ पुनः कीदूशं तदाहृ ।

2035) सप्तधातु—स्थिरादिसप्तधातुरहितम् । मोक्षलक्ष्मीकटाक्षितम् । शोर्ण सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ परमेश्वरं स्तोति ।

जो अर्हन्त अवस्थाकी महिमासे—अनन्तचतुष्टयस्वरूप अन्तरंग और समवसरणादिरूप बहिरंग लक्ष्मीसे—सहित, समस्त पदार्थोंका ज्ञाता, इष्टा तथा इन्द्र, चन्द्र, सूर्यकी समा (समवसरण) के मध्यमें स्थित है उस स्वयम्भू—अनादिनिधन—परमेश्वरका ध्यान करना चाहिए । अभिप्राय यह है कि रूपस्थध्यानमें जिस लोकातिशायी आत्मस्वरूपमें जिनेन्द्र अवस्थित हैं उसका योगीकी ध्यान करना चाहिए ॥१॥

वह सर्वज्ञ परमेश्वर सब ( चौलीस ) अतिशयोंसे परिपूर्ण, विद्य चिह्नोंसे चिह्नित; सब ही प्राणियोंका हित करनेवाला, मोक्षमार्गका प्रणेता, शीलरूप पर्वतराजका शिखर—अठारह हजार शीलभेदोंका स्वामी, रस-स्थिरादि सात धातुओंसे रहित, मोक्षलक्ष्मीके कटारोंका विषय—उसके द्वारा अभिलिप्त, अपरिमित महिमाका आधार, योगसे रहित

१. S J S R आर्हन्त्य, T अर्हन्त्य, F अर्हत । २. X देवं च चन्द्रां । ३. L T J X Y R सर्व विद्य । ४. All others except P धारं संयोगि ।

- 2036) अचिन्त्यचरितं चारुचरित्रैः समुपासितम् ।  
विचित्रनयनिर्णीतविश्वं विश्वैकवान्धवम् ॥४
- 2037) निरुद्धकरणग्रामं निषिद्धविषयद्विषम् ।  
वस्तरागादिसंतानं भवज्ञलनवामुचम् ॥५
- 2038) दिव्यरूपधरं धीरं विशुद्धज्ञानलोचनम् ।  
अपि त्रिदशयोगीन्द्रैः कल्पनातीतवैभवम् ॥६
- 2039) स्याद्वादपविनिर्धातिभिज्ञान्यमत्त्वृधरम् ।  
ज्ञानामृतपयः पूर्वपवित्रितजगत्त्रयम् ॥७
- 2040) इत्यादिगणनातीतमुणरबमहार्णवम् ।  
देवदेवं स्वयंबुद्धं स्मरादं धर्मचक्रिणेम् ॥८ ॥अथवा—

2036) अचिन्त्य—कीदृशम् । अचिन्त्यचरितम् । पुनः कीदृशम् । चारुचरित्रैः प्रधानसंयमैः समुपासितं सेवितम् । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनर्स्तदेवाह ।

2037) निरुद्ध—निरुद्धकरणग्रामं रुचितेन्द्रियजातम् । निषिद्धविषयद्विषं तजितविषयद्वैरि ॥५॥ पुनः कीदृशम् ।

2038) विश्वरूप—त्रिदशयोगीन्द्रैः अपि कल्पनातीतवैभवं चिन्तातीतैश्वर्यम् । शोषं सुगमम् इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ पुनराह ।

2039) स्याद्वाद—पुनः कीदृशम् । स्याद्वादवज्ञनिर्धातभेदिताम्यसिद्धान्तपर्वतम् । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ पुनर्स्तदेवाह ।

2040) इत्यादि—आदृं प्रथमे जिनभास्करं [ जिन ] सूत्रं स्मर चिन्तय । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथवा ।

होता हुआ उल्कुष ऐश्वर्यका स्वामी, अचिन्त्य चरित्रसे संयुक्त, उसम चारित्रवाले साधुजनोंके द्वारा आराधित, अनेक नयोंके आश्रयसे विश्वका निर्णय करनेवाला, लोकका अद्वितीय बन्धु ( हितैषी ), इन्द्रिय-समूहका विजेता, विषयरूप शक्तिका प्रतिरोध करनेवाला, रागादिकी परम्पराका विधातक, संसाररूप अग्निको शान्त करनेके लिए मेघके समान, दिव्य स्वरूपका धारक, धीर, निर्भल ज्ञान ( केवलज्ञान ) रूप नेत्रसे सुशोभित, इन्द्रों व योगीन्द्रोंकी कल्पनामें न आनेवाले ( अचिन्त्य ) वैभवसे सम्पन्न, स्याद्वाद सिद्धान्तरूप व अके प्रहारसे अन्य भवरूप पर्वतोंको खण्डित करनेवाला और ज्ञानरूप अमृतमय जलके प्रवाहसे तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाला है । इस प्रकार जो इनको आदि लेकर असंख्यात गुणोरूप रस्तोंका समुद्र, देवोंका

१. All others except P L निर्णीति । २. M धीर । ३. M N पद । ४. All others except P M J पूर्व । ५. N T बुद्धरूप । ६. L S J R °द्वं जिनभास्कर । ७. P M अथवा ।

2041 ) जन्ममृत्युरुक्तोकालतं रागादिविषमूर्छितम् ।

सर्वसाधारणीर्मैत्रदात्तशिरश्चित्तम् ॥९॥

2042 ) अनेकव्यसनोच्छृङ् संयमज्ञानविच्छुतम् ।

संज्ञामात्रेण केचिच्च सर्वज्ञं प्रतिपेदिरे ॥१०॥ तथा च—

2043 ) इतरो<sup>३</sup> ऽपि नरः पद्मिः प्रमाणीर्वस्तुसंचयम् ।

परिच्छिन्दन्मतः कैश्चित् सर्वज्ञः सो ऽपि नेष्यते ॥११॥

2044 ) अतः सम्यक् स विज्ञेयः परित्यज्यान्यशासनम् ।

युक्त्यागमविभागेन ध्यातुकामैर्मनीषिभिः ॥१२॥

2041) जन्ममृत्यु—[ रुजा रोगेणाकालम्, रागादिविषमूर्छितं रागादयः एव विषं तेन मूर्छितं व्याप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥ ] एतदेवाह ।

2042) अनेक—केचित् द्वादिनः सर्वज्ञं प्रतिपेदिरे प्रतिपादयोर्वक्तुः संज्ञामात्रेण । कीदृशम् । अनेकव्यसनोच्छृङ् अनेककष्टरूपहितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अन्यच्च ।

2043) इतरो<sup>३</sup> ऽपि—कैश्चित् द्वादिमिः सर्वज्ञो मतः । किं कुर्वेन् । पद्मिः प्रमाणीः वस्तुसंचयं पदार्थसमूहं परिच्छिन्दन्मतः । सो ऽपि सर्वज्ञः नेष्यते न वाच्यते । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पर्माणिशेषभाह ।

2044) अतः सम्यक्—[ सम्यक् समीचीनतया । अन्यशासनम् अन्येषां सिद्धान्तम् । परित्यज्य त्यक्त्वा । विज्ञेयः ज्ञातव्यः । इति सूत्रार्थः ॥१२॥] अथ तदेव दर्शयति ।

अधिदेव, विना किसी अन्यके उपदेशके ही स्वयं प्रबोधको प्राप्त हुआ तथा धर्मचक्रका स्वामी है उस प्रथम ( वृषभ जिनेन्द्र ) परमेश्वरका स्मरण करना चाहिए ॥१२-१॥

अथवा—कितने ही विद्वान् नाम मात्रसे ऐसे पुरुषको सर्वज्ञ स्वीकार करते हैं जो जन्म व भरणरूप रोगसे फीड़त, रागादिरूप विषसे मूर्छित, सर्वसाधारणमें रहनेवाले अठारह दोपोक्ता आधार, अनेक दोपोंसे परिपूर्ण तथा संयम एवं ज्ञानसे रहित हैं । अन्य कितने ही विद्वान् उस मसुष्यको सर्वज्ञ मानते हैं जो उह प्रमाणो—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभावके द्वारा वस्तुसमूहको जानता है । परन्तु वस्तुतः वह सर्वज्ञ नहीं माना जा सकता है ॥१२-१॥

इसलिए ध्यानके इच्छुक बुद्धिमान् योगियोंको दूसरोंके मिथ्या भत्तों छोड़कर युक्ति और आगम दोनोंके आश्रयसे उस सर्वज्ञको भली भाँति जान लेना चाहिए, जिसकी कि सिद्धि

१. All others except P मृत्युजरा....रावृतं । २. P तथा च, M L F अन्यच्च । ३. J इतरैषिनाः । ४. M N T परिच्छिन्नमतः कोऽपि । ५. S T J X Y R नेष्यते, F नेष्यते । ६. T त्यक्त्वात्य । ७. ....विभागो न ।

- 2045) युक्त्या वृषभसेनाद्यैनिधूयासाधु वल्गितम् ।  
यस्य सिद्धिः सती मध्ये लिखिता चन्द्रमण्डले ॥१३॥ तथाथ—  
2046) अनेकवस्तुसंपूर्णं जगद्यस्य चराचरम् ।  
स्फुरस्यविफलं वीर्धमिशुद्धादर्थमण्डले ॥१४  
2047) स्वभावजमसंदिग्धं निर्दोषं सर्वदोदितम् ।  
यस्य विज्ञानमत्यक्षं लोकालोकं विसर्पति ॥१५  
2048) यस्य विज्ञानवर्मशुप्रभाप्रसरयीडिताः ।  
क्षणादेव क्षयं यान्ति खद्योता इव दुर्नियाः ॥१६  
2049) पादपीठीकृताशेषत्रिदशेन्द्रसभाजिरम् ।  
योगिगम्यं जगत्तावं गुणरत्नमहार्णवम् ॥१७

2045) युक्त्या वृषभ—वृषभसेनाद्यैराचार्यः असाधु वल्गितम् असम्यक् चर्चितम् । [युक्त्या निधूय खण्डनं विधाय यस्य सिद्धिः कृता । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ तथाथ । ]

2046 ) अनेकवस्तु—अविकलबोधशुद्धादर्शमण्डले यस्य योगिनः चराचरं जगत् स्फुरति प्रतिभासते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ [पुनरस्तदेवाह ।]

2047) स्वभावजम्—यस्य विज्ञाने विशिष्टज्ञानम् अत्यक्षम् अतीन्द्रियं लोकालोकं विसर्पति । कीदृशाय । स्वभावजम् । पुनः । असंदिग्धम् । पुनः कीदृशम् । निर्दोषम् । सर्वदोदितम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ तदेवाह ।

2048) यस्य विज्ञान—दुर्नियाः क्षणादेव क्षयं यान्ति । यस्य विज्ञानवर्मशुप्रभाप्रसरयीडिता विशिष्टज्ञानसूर्यकान्तिसमूहपीडिताः । इवोत्तेक्षते । खद्योता इव । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ एतदेवाह ।

2049) पादपीठीकृत—पादपीठीकृताः अशेषाः त्रिदशेन्द्राः तेषां सभाजिरं सभाङ्गमम् । पुनः कीदृशम् । योगिगम्यम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ पुनः कीदृशं तदाह ।

वृषभसेन गणधरादिकोंके द्वारा युक्तिपूर्वक दुष्ट जनोंके अकथादको खण्डित करके सत्युक्तोंके मध्यमें चन्द्रमण्डलपर लिखी गयी है ॥१२-१३॥ वह इस प्रकारसे—

जिस सर्वक्ष परमेश्वरके निर्भल ज्ञानरूप दर्पणके घेरेमें अनेक ( अनन्त ) वस्तुओंसे परिपूर्ण समस्त चराचर लोक प्रतिभासित होता है, जिसका स्वाभाविक, सन्देहसे रहित, निर्दोष और सर्वदा प्रकाशमान अतीन्द्रिय ज्ञान लोक व अलोकमें व्याप्त है; जिसके विशिष्ट ज्ञानरूप सूर्यकी प्रभा ( तेज ) के विस्तारसे पीडित होकर दूषित पक्ष—एकान्तवादी—ज्ञाननुअओंके समान अप्रभरमें क्षीण हो जाते हैं, जिसने समस्त इन्द्रोंकी सभारूप आगनको अपने पावरोंके रखनेका आसन बना दिया है—जिसके चरण समस्त इन्द्रसमूहसे पूजित हैं, जो योगी जनोंको गम्य है—जिसके स्वरूपको योगी जनोंके सिद्धाय अन्य कोई जान नहीं सकता

- 2050) पवित्रितधरापुष्टं समुद्धृतजगत्त्रयम् ।  
मोक्षमार्गप्रणेतारमनन्तं पुण्यकासनम् ॥१८
- 2051) भामण्डलनिरुद्धाके॑ चन्द्रकोटिसमग्रभम् ।  
शरण्यं सर्वं शान्तं दिव्यवाणीविशारदम् ॥१९
- 2052) अङ्गोरगच्छकुन्तेशं सर्वाभ्युदयमन्दिरम् ।  
दुःखार्णवपत्तसच्चदत्तहस्तावलम्बनम् ॥२०
- 2053) मृगेन्द्रविष्टराहूदं मारभातङ्गधातकम् ।  
इन्द्रुन्नियसमोदाभन्द्रश्चत्रयविराजितम् ॥२१
- 2054) हंसालीपातलोलाळ्येचामरब्रजांजितम् ।  
वीततुष्णं विश्वा॒ नाथं वरदं विश्वरूपिणम् ॥२२

2050) पवित्रित—पुनः कीदृशम् । पवित्रितधरापुष्टं पृथ्वीपीठम् । कि कृत्वा । जगत्त्रयं समुद्धृत्य । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ पुनः कीदृशम् ।

2051) भामण्डल—भामण्डलेन निरुद्धः अर्कः येन सः, तम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ पुनः कीदृशम् । आह ।

2052) अङ्गोरग—अङ्गार्णेय उरगाः, तत्र शकुन्तेशं गरुडम् । पुनः कीदृशम् । सर्वाभ्युदयमन्दिरं सर्वकल्याणगोहम् । दुःखार्णवे दुःखसमुद्रे पतन्तः ये सत्त्वाः, तेषां दत्तहस्तावलम्बनम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ पुनः कीदृशं तदाह ।

2053) मृगेन्द्र—इन्द्रुन्नियसमोदाभन्द्रश्चत्रयविराजितं चन्द्रश्चत्रयसमोक्तठष्ठत्रयविराजितम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुनराह ।

2054) हंसालीपात—हंसानाम् आली श्रेणीः, तस्थाः पातः, तस्य लीला, तथा आढ़ये पूर्णे, तद्वचामरे, तयोः ब्रजः समूहः, तस्य वीजितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ [पुनस्तदेवाह ।]

है, जो लोकका स्वामी है, गुणरूप रत्नोंका विशाल समुद्र है, जिसने पृथिवीतलको पवित्र करके तीनों लोकोंके प्राणियोंका उद्धार किया है, जो मोक्षमार्गका नेता है, जो अनन्त काल तक रहनेवाला ( अविनश्वर ) है, जिसका शासन ( तीर्थ ) पवित्र है, जिसने अपने प्रभामण्डलसे सूर्यको तिरस्कृत कर दिया है, जो छरोड़ों चन्द्रोंकी प्रभाके समान प्रभावाला है, प्राणियोंका रक्षक है, सर्वव्यापक है, शान्त है, दिव्य उपदेशमें निपुण है, इन्द्रियरूप सर्पोंके लिए गरुड़ पक्षीके समान है, समस्त अभ्युदय ( अभिवृद्धि )का स्थान है, दुखरूप समुद्रमें झूँघते हुए प्राणियोंको हाथका अवलम्बन देनेवाला है, सिंहासनपर विराजमान है, कामरूप हाथीका घातक है, तीन चन्द्रोंके समान ग्रहर तीन छत्रोंसे विभूषित है, हंसरूपकिंके गिरनेकी

१. N जगत्पृष्ठवरापुष्ट । २. All others except P N J निरुद्धार्कचन्द्र । ३. M N वक्षोरग ।

४. M N विश्वश्रव । ५. M लीलार्थ । ६. All others except P जगत्त्रय ।

- 2055) दिव्यपुष्पानकाशोकराजितं रागवर्जितम् ।  
प्रातिहार्यमहालक्ष्मीलक्षितं परमेश्वरम् ॥२३
- 2056) नवकेवललिंगश्रीसंभवं स्वात्मसंभवम् ।  
तुर्यध्यानमहावह्नी हुतकर्मेन्धनोत्करम् ॥२४
- 2057) रत्नत्रयसुधास्यन्दमन्दीकृतभवभ्रमम् ।  
वीतसंगं जिताद्वैतं शिवं शान्तं च शाश्वतम् ॥२५
- 2058) अहन्तभजमव्यक्तं कामदं कामधातकंम् ।  
पुराणपुरुषं देवं देवदेवं जिनेश्वरम् ॥२६
- 2059) विश्वमूर्तिः परंजयेतियोगिनाथं भद्रेश्वरम् ।  
अनामयमनाशन्तं त्रातारं सुवनेश्वरम् ॥२७

2055) दिव्यपुष्प—दिव्यानि पुष्पाणि, आनको दिव्यध्वनिः, अशोकबृक्षः, ते: राजितम् । पुनः कीदृशम् । रागवर्जितम् । पुनः कीदृशम् । प्रातिहार्यमहालक्ष्मीः, तथा लक्षितम् । परमेश्वरम् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ [पुनः कीदृशं तदाह ।]

2056) नवकेवल—नवकेवललिंगश्रीसंभवं नवीनकेवलोपललिंगलक्ष्मीसंभवम् । पुनः कीदृशम् । स्वात्मसंभवं निजानन्दजातम् । पुनः कीदृशम् । तुर्यध्यानमहावह्नी शुक्लध्यानमहावह्नी हुतकर्मेन्धनोत्कर दरथकर्मेन्धनस्यमूहम् । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2057) रत्नत्रय—रत्नत्रयं सम्यादर्जनादित्रयं, तदेव सुधास्यन्दः अमृतद्रावः, तेज सम्दीकृतः भवभ्रमः थेन सः, तं वीतरामम् । पुनः कीदृशम् । जिताद्वैतं जितैकान्तवादम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ [पुनः कीदृशं तदाह ।]

2058) अहन्तम्—अजं जन्मरहितम् । कामदम् ईप्सितप्रदम् । अव्यक्तम् अस्पष्टम् । शेषं सुगमम् ॥२६॥ ] अथ पुनस्तदेवाह ।

2059) विश्वमूर्तिः—विश्वचक्षुः<sup>१</sup> जगम्नेत्रम् । पुनः कीदृशम् । जगद्वन्द्यम्<sup>२</sup> । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ [ पुनस्तमेव विशेषयन्नाह । ]

लीलायुक्त चामरोंके समूहसे वीज्यमान है, तुष्णासे रहित हो चुका है, मनुष्योंका स्वामी है, अभीष्टको प्रदान करनेवाला है, विश्वरूप है—समस्त पदार्थोंका ज्ञाता है, दिव्य पुष्प, आनक ( उन्दुभी ) व अशोक वृक्षसे विराजमान है, रागसे रहित है, प्रातिहार्यरूप महालक्ष्मीसे संयुक्त है, उक्त ऐश्वर्यसे सहित है, उत्पन्न हुई नीं केवललिंगयो—केवलज्ञान, केवलदर्शन, आधिक दात, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्रकी शोभासे सम्पन्न है,

१. L S T F J X Y R भवश्वरम् । २. M N S T F J Y R जितद्वैतं । ३. All others except P शान्तं सनातनं । ४. S X Y R कामनाशकं । ५. M पुराणं । ६. T देवं वन्दे जगज्जने<sup>३</sup> । ७. All others except P विश्वचक्षु ( S R नेत्रं ) जगदुल्यं योगि....ज्ञोसिर्मय ।

- 2060) 'योगीश्वरं तमीश्वनभादिदेवं चतुर्मुखम् ।  
अनन्तमच्युतं ज्ञानं भास्वन्तं भूतनायकम् ॥२८
- 2061) सन्मति सुगतं सिद्धं जगज्ज्येषु पितामहम् ।  
महावीरं सुनिश्चेष्टुं पवित्रं परमाप्तरम् ॥२९
- 2062) 'सर्वज्ञं सर्वदं सार्वं वर्धमानं निरामयम् ।  
'नित्यमव्ययमव्यक्तं परिपूर्णं पुरातनम् ॥३०
- 2063) 'इत्यादिसान्वयानेकपुण्यनामोपलक्षितम् ।  
स्मर सर्वगतं देवं तमीश्वरभनामयम् ॥३१

2060-61) योगीश्वरम्—भास्वन्तं तेजसा शोतमानम् । भूतनायकम् चराचरस्य अधिपतिम् । पुतः कीदृशम् । जगज्ज्येष्ठं जगतः ज्येष्ठः तम् । मुनीनां श्रेष्ठं मुनिश्चेष्ठम् । अन्यत्सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२८-२९॥ पुनराह ।

2062) सर्वज्ञं—इत्यादिप्रकारेण सान्वयः अन्वयसहितः ।\* अनेकेन पुण्येन सहितं यन्नाम तेनोपलक्षितं तत्था ।\* शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ पुनरेतदाह ।

2063) इत्यादि—सह अन्वयेन वर्तते इति सान्वयः ।\* एतादृशा अनेके योगीन्द्राः, तैः वन्ध्यमानं, तेनोपलक्षितम् ।\* शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ तदेवाह ।

स्वयम्भू है, चतुर्थ ज्ञान (शुक्ल) रूप अग्निमें कर्मरूप इंधनके समूहको होम चुका है—जला चुका है, रत्नश्रयरूप अमृतके शरनेसे रसायनके परिभ्रमणको मन्द कर चुका है, परिषद्वासे रहित है, अद्वैतभावमें अवस्थित है, आनन्दस्वरूप है, शान्तिको प्राप्त है, शाश्वत है—अनन्त काल तक इसी अवस्थामें स्थिर रहनेवाला है, पूजाके योग्य है, आजन्मा है, अव्यक्त है—सर्वसाधारण के अनुभवमें नहीं आनेवाला है, अभीष्टको प्रदान करनेवाला है, कामका घातक है, पुरातन पुरुष है, आराधनीय है, देवोंका देव है, कर्मरूप शशुके विजेताओंमें प्रमुख है, विश्वब्यापक है, उल्लट ज्योतिस्वरूप है, योगियोंका रक्षामी है, महान् ऐश्वर्यसे सुशोभित है, रोगसे रहित है, अनादि-अनन्त है, रक्षक है, लोकका अधीश्वर है, योगियोंका रक्षामी है; तथा जो आदिदेव, चतुर्मुख, आमृत, अच्युत, शान्त, भास्वत, भूतनायक, सन्मति, सुगत, जगज्ज्येष्ठ, पितामह, महावीर, सुनिश्चेष्टु, पवित्र, श्रेष्ठ अक्षर, सर्वज्ञ, सर्वद, सार्व, वर्धमान, निरामय, नित्य, अव्यय, अव्यक्त, परिपूर्णं व पुरातन आदि सार्थक अनेक पवित्र नामोंसे पहचाना जाता है; उस अनन्त वीर्ययुक्त व रोगरहित सर्वव्याधी देवका स्मरण करना चाहिए ॥१४-३१॥

१. M om. २. S R देवं जगद्गुहं । ३. X दान्तं for ज्ञानं । ४. P पुरुष । ५. P M N L T J om, first line । ६. J नित्यसंग्रहमव्य । ७. L F J X Y read first line सान्वयानेकयोगीन्द्रवन्धु-मानोपलक्षितं । ८. M N T F देवं तं ( F श्री ) श्रीरं सुरामयकं, L S J X Y R देवं वीरमरनायकं ।

- 2064) अनन्यशरणोः साक्षात्संलीनैकमानसः ।  
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयता गतः ॥३२
- 2065) यमाराध्य शिवं प्राप्ता योगिनो जन्मनिःस्पृहाः ।  
यं स्मरन्त्यनिशं भव्याः शिवश्रीसंगमोत्सुकाः ॥३३
- 2066) यस्य वाग्मृतस्यैकमासाद्य कणिकामपि ।  
शाश्वते पथि तिष्ठन्ति प्राणिनः प्रास्तकलमषाः ॥३४
- 2067) देवदेवः स ईशानो भव्याम्भोजैकमासकरः ।  
घोर्येः सर्वात्मना वीरो निश्चलीकृत्य मानसम् ॥३५

2064) अनन्य—ध्यानी तत्स्वरूपमवाप्नोति आत्मस्वरूपं प्राप्नोति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ पुनराह ।

2065) यमाराध्य—यस्य आराध्य शिवं प्राप्ता योगिनः । कीदृशाः । शिवश्रीसंगमोत्सुकाः मोक्षलक्ष्मीसमागमोत्कण्ठिताः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

2066) यस्य वाक्—यस्य योगिनो वाग्मृतस्य एकामपि कणिकाम् आसाद्य प्राप्त्य । प्राणिनः शाश्वते पथि भागं तिष्ठन्ति । कीदृशाः । प्रास्तकलमषाः दूरीकृतपापाः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ पुनराह ।

2067) देवदेवः—मानसं चित्तं निश्चलीकृत्य दृढीकृत्य । सर्वात्मना सेष्यः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ पुनराह ।

जो योगी उपर्युक्त सर्वज्ञके सिद्धाद्य अन्यको शरण नहीं मानता है, वह एकमात्र उसीके विषयमें अपने अन्तःकरणको लीन करके तन्मय होता हुआ साक्षात् उसीके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥३२॥

जिस देवाधिदेवकी आराधना करके योगी जन जन्मसे—सासारिक विषयभोगोसे—निःस्पृह ( विरक्त ) होते हुए मोक्षको प्राप्त कर चुके हैं, मुक्तिरूप लक्ष्मीके संयोगके इच्छुक भव्य जीव जिसका निरन्तर स्मरण किया करते हैं, और जिसके वचनरूप अमृतके एक कण सात्रको पाकर प्राणी पापसे रहित होते हुए अविनश्वर पद ( मोक्ष ) में स्थित होते हैं; उस देवोंके अधिदेव, प्रभु एवं भव्यरूप कमलोंको विकसित करने के लिए सूर्यके समान वीर सर्वज्ञका पूर्णतया मनको स्थिर करके ध्यान करना चाहिए ॥३३—३५॥

१. J X Y R शरण । २. T तस्य रूप॑ । ३. M प्राप्त । ४. J सेष्यः । ५. M N L J धीरैः, T धीरो ।  
६. L T निश्चलीकृतमानसैः ( T सः ) ।

- 2068) तस्मिभिरन्तराभ्यासवशात्संजातनिश्चयोः ।  
सर्वादिस्थासु पश्यन्ति तमेव परमेष्ठिनम् ॥३६॥
- 2069) तदालक्ष्यं परं ज्योतिस्तद्गुणग्रामरञ्जितः ।  
अविक्षिप्तमना योगी तत्स्वरूपमुपाशनुते ॥३७॥
- 2070) इत्थं तद्वावनानन्दसुधास्यन्दाभिनन्दितः ।  
न हि स्वप्नाद्यवस्थासु ध्यायन् प्रच्यवते<sup>१</sup> मुनिः ॥३८॥ अथवा—
- 2071) तस्य लोकत्रयैश्वर्यं ज्ञानराज्यं स्वभावजम् ।  
ज्ञानत्रयजुषां मन्ये योगिनामप्यगोचरः ॥३९॥ किं च—

2068) तस्मिन्—तस्मिन्नात्मनि निरन्तराभ्यासवशात् संजातनिश्चयः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ पुनरप्याह ।

2069) तदालक्ष्य—अविक्षिप्तमना: निश्चलमना: योगी तत्स्वरूपम् आत्मरूपम् उपासते । तत् परं ज्योतिः आलक्ष्य । कीदृशः । तद्गुणग्रामरञ्जितः तस्य औदायादिगुणसमूहप्रीतः । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ पुनरध्यनिदृढतामाह ।

2070) इत्थं तद्वावना—इत्थम् अमुना प्रकारेण तस्य आत्मनः भावनानन्द-सुधास्यन्दः अमृतद्रावः, तेन अभिनन्दितः स्वप्नाद्यवस्थासु न हि स मुनिः ध्यायन् प्रच्यवते । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथवा ।

2071) तस्य लोक—ज्ञानत्रयजुषां मतिश्रुतावधिज्ञानिनाम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ किं च ।

जिन योगियोंको निरन्तर अभ्यासके बशे उक्त सर्वज्ञ परमेष्ठीके विषयमें निश्चय उत्पन्न हो चुका है वे सब अवस्थाओंमें उसी परमेष्ठीको देखते हैं ॥३६॥

उस सर्वज्ञ परमात्मारूप उत्कृष्ट ज्योतिका आश्रय लेकर उसके गुणसमूहमें अनुरागको प्राप्त हुआ योगी स्थिररचित् होकर उसके स्वरूपको प्राप्त होता है ॥३७॥

इस प्रकार उस सर्वज्ञ परमात्माके चिन्तनसे उत्पन्न हुए आनन्दरूप अमृतके क्षरनेसे आनन्दको प्राप्त हुआ मुनि रूपप्रादि अवस्थाओंमें भी उसका ध्यान करता हुआ उससे सखलित नहीं होता है ॥३८॥ अथवा—

उस सर्वज्ञ प्रमुका तीनों लोकोंके ऐतर्यासे परिपूर्ण स्वाभाविक ज्ञानरूप राज्य तीन ज्ञानों ( मति, श्रुत व अवधि ) से संयुक्त योगियोंका भी विषय नहीं है—उस सर्वज्ञ देवके ज्ञानकी भद्रिभाको अवधिज्ञानी भी नहीं जानते हैं ॥३९॥

१. S X Y R निश्चलाः । २. P प्रच्यवते । ३. P M अथवा । ४. M N अस्य । ५. All others except P गोवरम् । ६. P M किं च ।

- 2072) साक्षात्तिविषयं कृत्वा साक्षं चेतः सं संयमी ।  
नियोजयत्यादिश्चान्तरं तस्मिन्नेव जगद्गुरुर्ते ॥४०॥
- 2073) तद्गुणग्रामसंलीनमानसस्तदृगताशयः ।  
तद्भावभावितो योगी तन्मयत्वं प्रपद्यते ॥४१॥ तथा हि—
- 2074) यदाभ्यासवशात्स्य तन्मयत्वं प्रजायते ।  
तदात्मानमसौ ध्यानीं सर्वज्ञीभूतमीक्षते ॥४२॥
- 2075) एष देवः स सर्वज्ञः सो ऽहं तद्रूपतां गतः ।  
तस्मात् स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥४३॥

2072) साक्षात्—सं संयमी साक्षात् सेन्द्रियं चेतः साक्षात् तिविषयं कृत्वा तस्मिन्नेव आत्मनि जगद्गुरुर्ते जगद्वितोपदेशके अविश्वान्तरं निरन्तरं नियोजयति । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ तन्मयत्वोपायमाह ।

2073) तद्गुण—योगी तद्गुणग्रामसंलीनमानसः आत्मानुभवादिगुणव्यासवानसः । पुनः कीदृशः । तद्भावभावितः आत्मभावभावितः । तन्मयत्वम् आत्मैकरूपत्वं प्रपद्यते । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ पुनराह । तथा हि ।

2074) यदाभ्यास—यदा अभ्यासवशात् तस्य आत्मनः तन्मयत्वं प्रपद्यते तदा आत्मानं सर्वज्ञीभूतम् इकलै असौ ध्यानी । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ तदेवाह ।

2075) एष देवः—विश्वदर्शी इति मन्यते । सो ऽहं तद्रूपतां गतः । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ तदेव दृष्टान्तेनाह ।

इसके अतिरिक्त—वह योगी इन्द्रियोंके साथ-साथ मनको भी साक्षात् अन्य विषयोंसे हटाकर निरन्तर लोकके स्वामीभूत उस सर्वज्ञ परमात्माके विषयमें ही नियुक्त करता है ॥४०॥

जिस योगीका मन उस सर्वज्ञ देवके गुणसमूहमें लीन हुआ है तथा जो अपने हृदयको उसीके लिए अर्पित कर चुका है वह उसकी भावनासे संस्कृत होकर उसीके स्वरूपको पा लेता है ॥४१॥

जिस आत्माके ध्यानके अभ्यासवश योगीके तन्मयता—सर्वज्ञरूपता—उत्तम होती है उस आत्माको वह योगी स्वयं सर्वज्ञस्वरूप देखता है ॥४२॥

यह देव (आत्मा) ही वह सर्वज्ञ है और वही मैं उस सर्वज्ञरूपताको प्राप्त हूँ । इसलिए वही सर्वज्ञ मैं हूँ, अन्य नहीं हूँ; ऐसा वह योगी मानता है ॥४३॥ कहा भी है—

१. M S J X Y R शुस्ते । २. M N तद्गुणः, L मानसस्तु विताशयः । ३. P M तथाहि ।  
४. J प्रपद्यते । ५. L S F Y R ज्ञानी । ६. X मिष्यते ।

2076) उक्तं च—

येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।  
तेन तन्मयता याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥४३\*१॥ इति<sup>१</sup> ।

2077) अथवा—

भव्यतैर्वै हि भूतानां साक्षात्मुक्तेनिवन्धनम् ।  
अतः सर्वज्ञता भव्ये भवन्ती नात्र शङ्क्यते ॥४४

2078) अयमात्मा स्वसामर्थ्याद्विशुद्ध्यति न केवलम् ।  
चालयत्यपि संकुद्धो भुवनानि चतुर्दश ॥४५

2076) येन येन—यन्त्रवाहकः येन येन युज्यते । केन । भावेन । हि निदिच्चतम् । तेन भावेन तन्मयताम् आत्मस्वरूपतां याति । यथा विश्वरूपो मणिः तन्मयता याति । इति सूत्रार्थः ॥४३\*१॥ अथवा ।

2077) भव्यतैव—भव्यता भूतानां साक्षात् मुक्तेः निवन्धनं कारणम् । भव्ये यतः सर्वज्ञता भवति । नात्र शङ्क्यते इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ पुनरप्याह ।

2078) अयमात्मा—अयमात्मा न केवल विशुद्ध्यति निमंलोभवात् । इत्यात् । स्वसामर्थ्यात् । अपि पक्षान्तरे । चतुर्दश भुवनानि चालयति । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पुनराह ।

जिस प्रकार मणि—स्टूटिक मणि—जिस-जिस पदार्थसे संयुक्त होता है उस-उसके रूपसे परिणत होकर विश्वरूपताको प्राप्त होता है उसी प्रकार यह यन्त्रवाहक—शरीररूप यन्त्रका चालक—जिस-जिस भावसे संयुक्त होता है उस-उस स्वरूपताको प्राप्त होता है ॥४३\*१॥ अथवा—

साक्षात् मुक्तिकी कारण प्राणियोंकी भव्यता—तत्त्वयस्वरूपसे परिणत होनेकी योग्यता—ही है । अतएव भव्य जीवके नियमसे सर्वज्ञता होनेवाली है, इसमें सन्देह नहीं है ॥४४॥

यह आत्मा अपनी शक्तिसे केवल विशुद्ध ही नहीं होता, किन्तु अतिशय कुदू होकर वह चौदह लोकोंको—सात नारकभूमियों, भवनयासी लोक, ज्योतिलोक, स्वर्गलोक, ग्रैवेयक क्षेत्र, अनुदिश और अनुत्तर देवलोकको—भी विच्छित कर सकता है । अभिप्राय यह है कि आत्माकी शक्ति अचिन्त्य है—जैसे वह क्रोधके बड़ीभूत होकर समस्त लोकको शुब्ध कर सकता है वैसे ही वह निर्भल ध्यानमें निरत होकर मुक्तिको भी प्राप्त कर सकता है ॥४५॥

१. P M उक्तं च...इति । २. Y येनात्र भावेन । ३. P M अथवा j om. this verse । ४. Y भव्यत्वमेव भूतानां । ५. L भव्य ।

2079) त्रैलोक्यानन्दवीजं जननजलनिधेयनिपात्रं पवित्रं  
लोकालोकप्रदीपं स्फुरदमलशरच्चन्द्रकोटिप्रभाद्यम् ।  
कस्यामप्यप्रकोटी जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठं  
देवं विश्वैकनाथं शिवमजमनधं वीतरागं भजस्व ॥४६॥

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-  
विरचिते रूपस्थित्यानप्रकरणम् ॥३६॥

2079) त्रैलोक्यानन्द—हे लोक, वीतरागं भजस्व सेवस्व । कीदृशम् । त्रैलोक्यानन्दवीजं  
जगत्स्वयामोदकारणम् । पुनः कीदृशम् । जननजलनिधेः भवसमुद्रस्य यानपात्रं नावम् । पुनः  
कीदृशम् । पवित्रम् । लोकालोकप्रदीपम् । पुनः कीदृशम् । स्फुरदमलशरच्चन्द्रकोटिप्रभाद्यम् ।  
मानशारदन्दाग्रकान्त्याद्यम् । पूर्णम् । पुनः कीदृशम् । कस्यामपि कोटी अखिलं जगत् अतिक्रम्य ।  
लब्धप्रतिष्ठम् । देवम् । पुनः । विश्वैकनाथं, शिवम्, अजम्, अनवं सफलम् । इति सूत्रार्थः ॥४६॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे पण्डितनयदिलासेन साह-  
पासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलादवाकर-साहवाहिदास-स्वध्यवथार्थ  
पण्डितजिनदासोदयमेन कारापितं रूपध्यानप्रकरणम् ॥३६॥

स्वसमपवनमालामेघमालासमानः गुणगणयुतपाश्वर्दुःखपूर्दीष्वाश्वर्वः । महिमपरमसिन्धुष्टोहरो  
घर्मकन्दः वरविभवसमेतो रेषिदासः सभीतः ॥ इत्याशीर्वादः ॥ अथ रूपातीतमाह ।

जो वीतराग सर्वज्ञ देव तीनों लोकोंके आनन्दका कारण, संसाररूप समुद्रसे पार  
करनेके लिए जाहाज जैसा, कर्म-मलसे रहित, लोक व अलोकको प्रकट दिखलानेवाला उत्तम  
दीपक, प्रकाशमान निर्मल शरक्तालीन करोड़ों चन्द्रों जैसी कानिकसे संयुक्त किसी भी प्रमुख  
क्रियामें समस्त लोकका अतिकरण करके प्रतिष्ठाको प्राप्त—सर्वलोकातिशायी, विद्वका  
अद्वितीय प्रभु, आनन्दमय, जन्म-जरा आदिसे रहित और निष्पाप है; उस सर्वज्ञ प्रभुको  
आराधना करनी चाहिए ॥४६॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
रूपस्थित्यान प्रकरण समाप्त हुआ ॥३६॥

## [ रूपातीलम् ]

- 2080) वीतरागं स्मैरन्योगी वीतरागो विमुच्यते ।  
रागी सरागभालम्ब्य क्रूरकर्माश्रितो भवेत् ॥१॥
- 2081) मन्त्रमण्डलमुद्रादिप्रयोगैध्यातुमुच्चतः ।  
सुरासुरनरकात् क्षोभयत्यखिलं क्षणात् ॥२॥
- 2082) कुद्रस्याप्यस्य सामर्थ्यमचिन्त्यं त्रिदशैरपि ।  
अनेकविक्रियासारध्यानमार्गविलम्बिनः ॥३॥

2080-81) वीतरागं—मन्त्रः च मण्डलं च मुद्रा च तदादिप्रयोगैः ध्यातुभू उद्यतः सावधानः अखिले सर्वसुरासुरनरजातं क्षणात् क्षोभयति । इति सूक्ष्मार्थः ॥१-२॥ अथ पुनराह ।

2082 ) कुद्रस्याप्यस्य—कुद्रस्य अस्य परमात्मवः सामर्थ्यम् अचिन्त्यम् त्रिदशैरपि इति । कीदृशस्य । अनेकविक्रियाभिसरे यदध्यानं तत्सार्गम् अबलम्बते यः तस्य । इति सूक्ष्मार्थः ॥३॥ अथ पुनरस्तदाह ।

जो योगी उस वीतराग सर्वज्ञका ध्यान करता है वह स्वयं वीतराग—राग-द्वेषसे रहित—होकर संसारसे मुक्ति पा लेता है । इसके विपरीत जो रागी प्राणी सरागभाषका आश्रय लेकर क्रूरतापूर्ण कृत्योंमें प्रवृत्त होता है वह दीर्घ काल तक संसारमें ही परिभ्रमण करता है ॥१॥

मन्त्र, मण्डल और मुद्रा आदि प्रयोगोंके द्वारा ध्यान करनेमें प्रवृत्त हुआ योगी द्वाण-भरमें ही सुर, असुर और मनुष्योंके समूहको क्षुच्छ कर रहता है ॥२॥

अनेक प्रकारकी विक्रियारूप शक्तिको उत्पन्न करनेवाले ध्यानमार्ग काआश्रय लेनेवाला योगी जब क्रोधको प्राप्त होता है तब उसके सामर्थ्यके विषयमें देव भी नहीं विचार कर सकते हैं—फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? ॥३॥

१. Y स्मरेत् । २. X क्रमात् for क्षणात् ।

- 2083) बहूनि कर्मणि मुनिप्रवीरैविद्यानुवादात् प्रकटीकृतानि ।  
असंख्यभेदानि कुतूहलार्थं कुमार्गकुद्यानगतानि सन्ति ॥४
- 2084) असावनन्तप्रथितप्रभावः स्वभावतो यद्यपि यन्त्रेनाथः ।  
नियुज्यमानः स पुनः समाधौ करोति विश्वं चरणाग्रलीनम् ॥५
- 2085) अथवा—  
स्वप्ने ऽपि कौतुकेनापि नासद्धथानानि योगिभिः ।  
सेव्यानि यान्ति बीजत्वं यतः सन्मार्गहानये ॥६
- 2086) सन्मार्गात् प्रच्छुतं चेतः पुनर्वर्षशतैरपि ।  
शक्यते न हि केनापि व्यवस्थापयितुं पश्य ॥७

2083 ) बहूनि—मुनिप्रवीरैः युनिक्षयानानि: बहूनि कर्मणि विद्यानुवादात् प्रगटीकृतानि ।  
कुतूहलार्थस्य । असंख्यभेदानि । कुमार्गस्य कुद्यानं च कुमार्गकुद्याने । तयोर्गतानि सन्ति । इति  
सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनराह ।

2084 ) असावनन्तः—यद्यपि यन्त्रेनाथो जीवो इसी स्वभावतो निसमार्गं अनन्तः प्रथितः  
विस्तीर्णः प्रभावो यस्य सः । समाधौ नियुज्यमानः प्रेयमाणः चरणाग्रलीनं पदकमलाश्चितं विश्वं  
करोति । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथवा पक्षान्तरमाह ।

2085 ) स्वप्ने ऽपि—योगिभिः असद्धथानानि न सेव्यानि । यतः सन्मार्गहानये मोक्षमार्ग-  
नाशाय ते बीजत्वं यान्ति इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ मनश्चञ्चलत्वमाह ।

2086 ) सन्मार्गात्—सन्मार्गात् च्छुतं भ्रष्टं चेतः पुनः वर्षशतैरपि पश्य मार्गे केनापि  
व्यवस्थापयितुं न हि शक्यते । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ पुनराह ।

ओष्ठ मुनियोंने विद्यानुवाद नामक प्रन्थमें कुतूहलके लिए—अपूर्व [सामर्थ्यके अब-  
लोकनार्थ—असंख्यात भेदभूष बहुत-सी किया औंको प्रकट किया है । परन्तु वे दुर्धानसे  
सम्बद्ध होनेके कारण कुमार्गमें प्रवृत्त करनेवाली हैं ॥४॥

वह यन्त्रनाथ—शरीररूप यन्त्रका स्वामी आत्मा—स्वभावसे ही अमरत सामर्थ्यवाला  
प्रसिद्ध है । फिर भला ध्यानमें नियुक्त किया जानेपर तो वह समस्त लोकको भी पाँखों तले  
रौंध सकता है ॥५॥

अथवा—योगियोंको कुतूहलसे भी दुर्धानोंका सेवन स्वप्नमें भी नहीं करना चाहिए ।  
कारण यह कि वे दुष्ट ध्यान समीचीन मार्गसे भ्रष्ट करनेके कारण होते हैं ॥६॥

यदि मन समीचीन मार्गसे—मोक्षमार्गसे—भ्रष्ट हो जाता है तो फिर उसे उस समीचीन  
मार्गमें फिरसे स्थापित करनेके लिए सैकड़ों वर्षोंमें भी कोई समर्थ नहीं हो सकता है ॥७॥

- 2087) असदृध्यानानि जायन्ते स्वनाशायैव केवलम् ।  
वस्तुविष्लवसामर्थ्यात्<sup>१</sup> कौतुकेन कृतान्यपि ॥८
- 2088) निर्भरानन्दसंदोहपदसंपादनस्तमम् ।  
मुक्तिमार्गमतिक्रम्य कः कुमारेण प्रवर्तते ॥९
- 2089) क्षुद्रध्यानपरप्रपञ्चतुरा रागानलोदीपिता  
मुद्रामण्डलयन्त्रेमन्त्रकरणैराराधयन्त्यादृताः ।  
कामक्रोधवशीकृतानिहै सुरान् संसारसौख्याधिनो  
दुष्टाशाभिहताः पतन्ति नरके भोगातिर्भिर्विश्रिताः ॥१०

2087 ) असदृध्यानानि—रागादसदृशहवेशात् रागद्वेषदुष्टाग्रहप्रवेशात् । कौतुकेन कृता-  
न्यपि । शेष सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ पुनराह ।

2088 ) निर्भरानन्द—कुमारेण कः प्रवर्तते । कि कृत्वा । मुक्तिमार्गम् अतिक्रम्य । कीदूशम् ।  
निर्भरानन्दसंदोहसंपादनक्षमं सवनामोदसमूहशानसमर्थम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ पुनराह ।

2089) क्षुद्रध्यान—जीवा भोगातिर्भः भोगवेदनाभिः विश्रिताः । कीदूशाः । क्षुद्रध्यानपर-  
प्रपञ्चतुराः क्षुद्राः दुष्टाः ये ध्यानपराः, तेषां प्रपञ्चतुराः । पुनः कीदूशाः । रागानलोदीपिताः  
रागाग्विजाज्वलयमाताः । पुनः कीदूशाः । आदृताः यज्ञवरणे रताः । कि कृत्वा । मुद्रामण्डले  
प्रसिद्धे । मन्त्रः पुरुषाधिष्ठायकः, यन्त्रम् एकाशीतिप्रमुखम् । करणैः योगप्रसिद्धैः । तेषां समाहार-  
तीः । आराध्यै । कान् । इहलोके सुरान् । कीदूशान् । कामक्रोधवशीकृतान् । संसारसौख्याधिनो  
जीवाः दुष्टाशाभिहताः नरके पतन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ पुनरस्तदाह ।

कुतूहलवश किये गये भी असमीचीन ध्यान वस्तुविनाशके सामर्थ्यसे—यथार्थ मार्ग-  
से अष्ट करनेवाले होनेसे—केवल आत्मप्राप्तके ही कारण होते हैं ॥८॥

जो मुक्तिमार्ग अतिशय आनन्दसमूहके स्थानभूत—अनन्त सुखसे परिपूर्ण—मोक्षपदके  
देनेमें समर्थे हैं उसका उल्लंघन करके कुमार्गमें प्रवृत्त कौन होगा—कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य  
उसको छोड़कर कुमार्गमें प्रवृत्त नहीं होगा ॥९॥

जो क्षुद्र ध्यानके द्वारा दूसरोंके ठगनेमें चतुर होते हुए रागहृषि अग्निसे जल रहे हैं वे  
यहाँ संसारमुखके अभिलाषी होकर मुद्रा, मण्डल, यन्त्र और मन्त्ररूप उपायोंके द्वारा आदर-  
पूर्वक काम व क्रोधके वशीभूत हुए कुदेवोंकी आराधना करते हैं और दुष्ट आशाके वश  
होते हुए भोगोंकी पीड़ासे वंचित होकर नरकमें पड़ते हैं ॥१०॥

१. All others except P रागादसदृशहवेशात् कौतु० । २. M पराः……मन्त्रयन्त्र । ३. T कृतारब्द निलर्त  
संसार । ४. M भोगाधिभ० ।

- 2090) तदृष्येयं तदनुष्टेयं तद्विचिन्तयं मनीशिभिः ।  
यज्जीवकर्मसंबन्धविधं सायैवे जायते ॥११॥ कि च—
- 2091) स्वयमेव हि सिद्ध्यन्ति सिद्ध्यः शान्तचेतसाम् ।  
अनेकफलसंपूर्णौ मुक्तिमार्गवलभिनाम् ॥१२॥
- 2092) संभवन्ति न वाभीष्टसिद्ध्यः क्षुद्रयोगिनाम् ।  
भवत्येव पुनस्तेषां स्वार्थभ्रंशो अनिवारितः ॥१३॥
- 2093) भवत्रभवसंबन्धनिरपेक्षा मुमुक्षवः ।  
न हि स्वप्ने ऽपि विक्षिप्तं मनः कुर्वन्ति योगिनः ॥१४॥

2090 ) सदृष्येयं—यद् ध्यावं जीवकर्थणोः विवर्वसाय नाशाय । एव निधरणार्थः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पुनराह । कि च ।

2091 ) स्वयमेव—[ शान्तचेतसो योगिनां सिद्ध्यः स्वयमेव सिद्ध्यन्ति । कोदृशाः । अनेक-फलसंपूर्णौ तागादिकरण्युक्ताः । इति धूतार्थः ॥१२॥ ] अथ पुनर्लेखः स्वरूपमाह ।

2092 ) संभवन्ति—तेषां स्वार्थभ्रंशः स्वार्थमाशः अनिवारितो भवत्येव । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ पुनराह ।

2093 ) भवत्रभव—संसारोत्तन्त्रसंबन्धे निरपेक्षाः मुमुक्षवः मुक्तिकामाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पुनराह ।

जो जीव और कर्मके बन्धके विधातका ही कारण हो उसका ही बुद्धिमान् भनुष्ठोंको ध्यान करना चाहिए, उसीका अनुष्ठान करना चाहिए और उसीका चिन्तन करना चाहिए ॥११॥

दूसरे, जो योगी मनको शान्त करके मोक्षमार्गका आश्रय लेते हैं उनके लिए अनेक फलोंसे परिपूर्ण—अभीष्ट अनेक प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाली—सिद्धियाँ स्वर्य ही प्राप्त होती हैं ॥१२॥

निकृष्ट ध्यान करनेवाले योगियोंके उन अभीष्ट सिद्धियोंकी सम्भावना नहीं है, इसके विपरीत उनका आत्महितसे वंचित होना नहीं रोका जा सकता है—वे आत्महितसे वंचित होकर अनेक दुःखोंको ही भोगते हैं ॥१३॥

जो योगी मोक्षके अभिलाषी होकर संसारके अल्पादक सम्बन्धोंसे निरपेक्ष होते हैं वे स्वप्नमें भी अपने मनको विक्षिप्त—विषयोंमें मुग्ध—जहीं करते हैं ॥१४॥

2094) अथ रूपे स्थिरीभूतेचित्तः प्रक्षीणविभ्रमः ।

अमूर्तमेजमध्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते ततः ॥१५॥

2095) चिदानन्दमयं शुद्धममूर्ते ज्ञानविग्रहम् ।  
स्मरेद्वत्रात्मनात्मानं तद्यातीतमिष्यते ॥ १६॥ अथवा—

2096) वदन्ति योगिनो ध्यानं 'चित्तमेवमनाकुलम् ।

रूपं विवर्त्वा प्राप्तमात्मानं संस्मरेन्मुनिः ॥१७॥ तद्यथा—

2097) विविच्य तद्दगुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च ।

अनन्यशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं ब्रजेत् ॥१८॥

2094 ) अथ रूपे—रूपे स्थिरीभूते । अथ अनन्तरम् । स्थिरीभूतेचित्तः । प्रक्षीणविभ्रमः नष्टमिष्यात्वः । अमूर्तादिविशेषणत्रयं सुगमम् । ध्यातुं प्रक्रमते ततः उद्यमं करोतीति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ ध्यानमाह ।

2095 ) चिदानन्द—अहं स्मरे चिन्तयामि आत्मानम् । तद ध्यानं रूपातीतम् इष्यते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथवा पक्षान्तरमाह ।

2096 ) वदन्ति—मुनिः कथं शिवत्वमाप्नन्ते प्राप्तम् आत्मानं संस्मरेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ तद्यथा दर्शयति ।

2097 ) विविच्य—तद्दगुणग्रामं विवेच्य “विवेकीकुलत्य । च पुनः । तत्स्वरूपम् आत्मपरमार्थं निरूप्य कथयित्वा अनन्यशरणः ज्ञानी तस्मिन्नेवात्मनि लयं ध्यानं ब्रजेत् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथात्मनः परमात्मनि संयोजनमाह ।

इस प्रकार जिस योगीका चित्त उस बीतराग देवके स्वरूपमें स्थिर हो चुका है तथा जिसकी विपरीत दुद्धि सर्वथा नष्ट हो चुकी है वह उसके पद्मास् अमूर्त, अजन्मा और अद्यक्त आत्माके ध्यानको प्राप्तम् करता है ॥१५॥

जिस ध्यानमें शुद्ध—कर्ममलसे रहित, अमूर्त और ज्ञानमय शरीरसे संयुक्त ऐसे देवता व आनन्दस्वरूप आत्मा स्मरण किया जाता है उसे रूपातीत ध्यान माना गया है ॥१६॥

अथवा, आकुलतासे रहित जो चित्त है उसे ही योगी ध्यान कहते हैं । इसका कारण यह है कि जो जीव मुक्तिको प्राप्त हो चुका है, मुनि उसका ध्यान कैसे कर सकता है ? नहीं कर सकता है ॥१७॥

वह इस प्रकारसे—ज्ञानी योगी मुक्तिको प्राप्त हुए सिद्धात्माके गुणसमूहका विचार करके और उसके स्वरूपका अवलोकन करके एकमात्र उसको ही शरण मानता हुआ उसीमें छीन हो जाता है ॥१८॥

- १. L भूते । २. T अमूर्ति । ३. L S T F J X Y R \*मूर्त परमाक्षरम् । ४. L भीक्ष्यते, F J भीक्षते ।
- ५. P अथवा । ६. N चिन्तामय, P M चित्तामयमनः । ७. P M तद्यथा । ८. All others except M विवेच्य ।

- 2098) तदगुणग्रामसंपूर्णं तत्स्वभावैकभावितम् ।  
कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ॥१९
- 2099) द्वयोर्गुणैर्भवं साम्यं व्यक्तिशक्तिव्यपेक्षया ।  
विशुद्धेतरैर्योजीवद्व्ययोः परमागमे ॥२०॥ किं च—
- 2100) यः प्रमाणनयैर्नूनं स्वतंत्रमवबुध्यते ।  
बुध्यते परमात्मानं स योगी वीतविभ्रमः ॥२१
- 2101) व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम् ।  
चरणाङ्गात् किञ्चन्मूर्त्तं स्वशैक्षिकैः स्थितम् ॥२२

2098 ) तदगुण—ध्यानी ततः तदनन्तरं परमात्मानं संयोजयति स्थापयति । तदगुणग्राम-संपूर्णं परमात्मगुणसमूहसंपूर्णम् । किं कृत्वा । तत्स्वभावैकभावितं परमात्मस्वभावैकभावितं कृत्वा । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ परमात्मस्वरूपमाह ।

2099 ) द्वयोर्गुणैः—द्वयोः आत्मपरमात्मनोर्गुणैः शुद्धवृद्धादि साम्यं सादृशं मतम् । क्या । व्यक्तिशक्तिव्यपेक्षया । व्यक्तिः आत्मतत्त्वम् । शक्तिः सर्वजीवाभिव्याप्यपरिच्छेदकत्वम् । तयोः व्यपेक्षा । तया । परमागमे सिद्धान्ते । स्वात्मतत्त्वयोः आत्मपरमात्मनोः । कीदृशोः । विशुद्धेतरयोः । विशुद्धः शुद्धवृद्धाभिक्षया निश्चयनं यत् । इतरः व्यवहारनयाभिक्षया कर्माद्वृत्तयेन च अशुद्धः । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ पुनरात्मतत्त्वस्वरूपमाह ।

2100 ) यः प्रमाण—नूनं निश्चयतं स्वतत्त्वमात्मतत्त्वं प्रमाणैः प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण नया आगमाद्याः तैरेवावबुध्यते ज्ञायते । योगी वीतविभ्रमः नष्टात्यन्ताज्ञानः परमात्मानं बुध्यते । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ परमात्मस्वरूपमाह ।

2101 ) व्योमाकारम्—कीदृशं परमात्मानम् । व्योमाकारम् आकाशसदृशम् । पुनः । तत्पश्चात् वह योगी अपनेको उसके गुणसमूहसे परिपूर्ण और उसीके अद्वितीय स्वभावसे संस्कृत करके परमात्मामें—शुद्ध आत्मस्वरूपमें—योजित करता है, अर्थात् स्वयं ही परमात्मस्वरूपका अनुभव करने लगता है ॥२२॥

विशुद्ध और कर्ममलसे लिया जो दो जीवद्वय—सिद्ध व संसारी जीव—हैं उन दोनोंमें शक्ति और व्यक्तिकी अपेक्षा न करके परमागममें गुणोंसे समानता मानी गयी है । अभिप्राय यह है कि सिद्ध और संसारी जीवोंमें अनन्तशानादिरूप स्वाभाविक गुणोंकी अपेक्षा समानता है—दोनोंमें कोई भेद नहीं है । यदि उन दोनोंमें विशेषता है तो केवल यही है कि सिद्ध जीवके वे गुण प्रकट हो चुके हैं, परन्तु संसारी जीवके वे प्रकट नहीं हुए हैं—शक्तिरूप-में विद्यमान हैं ॥२०॥

इसके अतिरिक्त—जो योगी निश्चयतः प्रमाण और नयोंके द्वारा आत्मस्वरूपको जानता है वह यथार्थमें परमात्माको जानता है ॥२१॥

योगीको खण्डातीत ध्यानमें निर्मल आकाशके समान सर्वव्यापक होकर ज्ञाता द्रष्टा,  
१. R भावितः । २. P om. । ३. All others except P द्वैतरयोः स्वात्मतत्त्वयोः । ४. PM किं च ।  
५. M N स्वं तत्त्वं । ६. M N घनस्थितम् ।

2102) लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम् ।

पुरुषाकारमापद्यमेष्यमूर्ते च चिन्तयेत् ॥२३॥ तथा हि—

2103) निष्कलस्य विशुद्धस्य निष्पत्त्य जगद्गुरोः ।

विदानन्दमयस्योच्चैः कथं स्यात्पुरुषाकृतिः ॥२४॥ तथा—

2104) विनिर्गतमधूच्छिष्टप्रतिमे मूषिकोदरे ।

यादृग्गग्नसंस्थानं तदाकारं स्मरेद्दिसुम् ॥२५

अनाकारम् आकाररहितम् । पुनः कीदृशम् । निष्पत्तं कृतकृत्यम् । शान्तं दुःखानलसंतापाभावात् ।  
पुनः कीदृशम् । अच्युतम् । पुनः कीदृशम् । आत्माज्ञात् स्वप्रदेशोः घनैः किञ्चूनं स्थितम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

2102 ) लोकाग्र—कीदृशम् । लोकाग्रशिखरासीनं सुगमम् । पुनः कीदृशम् । अनामये  
आरोग्ये शिवीभूतमापन्नं व्याप्तम् । यथा अमूर्ते विचिन्तयेत् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ तथा हि ।

2103 ) निष्कलस्य—[ निष्कलस्य निरंशस्य । विदानन्दमयस्य चैतन्यमोदरूपस्य । पुरुषा-  
कृतिः कथं स्यात् । न कथमपि । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ ] अथ पुनराह ।

2104 ) विनिर्गत—विनिर्गतमधूच्छिष्टप्रतिमे गतशक्तिकासदृशे[?] । सत्र यादृग् गग्नसंस्थानं  
गग्नाकारं तदाकारं विभुं स्मरेत् । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ पुनराह ।

आकारसे रहित—अमूर्तिक, निष्पत्त—सिद्धिको प्राप्त हुआ, राग-द्वेषसे रहित, जन्मान्तर-  
संक्रमणसे मुक्त, अन्तिम शरीरके प्रमाणसे कुछ हीन, अविश्व आत्मप्रदेशोंसे स्थित, लोकके  
उपरिय शिखरपर विराजमान, आनन्दस्वरूपसे परिणत, रोगसे रहित और पुरुषके आकार  
होकर भी अमूर्तिक; ऐसे सिद्धात्माका चिन्तनम करना चाहिए ॥२२-२३॥

इसको आगे स्पष्ट करते हैं—जो सिद्ध जीव शरीरसे रहित, कर्म-मलसे विमुक्त,  
सिद्धिको प्राप्त, लोकका नायक और अतिशय ज्ञानानन्दमय है उसके भला पुरुषका  
आकार कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है । अभिशाय यह है कि जब सिद्ध जीव  
पुद्गलमय शरीरसे रहित हो चुका है तब उसका पुरुषके आकारसे स्थित रहना सम्भव  
नहीं है ॥२४॥

फिर उसको पुरुषाकार क्यों कहा जाता है, इसको आगे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—जिसके मध्यमागसे मैन गल चुका है ऐसे प्रतिमा ( मूर्ति ) स्वरूपसे परिणत चूहेके  
उदरके भीतर जिस प्रकार उस चूहेके आकारमें केवल शुद्ध आकाश रह जाता है उसी प्रकार  
मुक्त अवस्थामें शरीरके रूप जानेपर अमूर्तिक आत्मप्रदेश उस पूर्व शरीरके आकारमें स्थित  
रह जाते हैं । यही सिद्ध जीवकी पुरुषाकारता है ॥२५॥

१. X पुरुषाकारसंप्रभमयामूर्ते विचिन्त । २. PM तथा हि । ३. PM तथा ।

- 2105) सर्वाविष्वसंपूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम् ।  
विशुद्धादर्शसंकान्तप्रतिविम्बसमग्रभम् ॥२६
- 2106) इत्यसौ संततोऽभ्यासवशात्संजातनिश्चयः ।  
अथि स्वप्नाद्यवस्थासु तमेवाऽध्यक्षमीक्षते ॥२७
- 2107) सोऽहं<sup>१</sup> सर्वगतः सार्वः<sup>२</sup> सिद्धः<sup>३</sup> साध्यो भवच्युतः<sup>४</sup> ।  
परमात्मा परंज्योतिविश्वदर्शी निरञ्जनः ॥२८
- 2108) तदासौ निश्चलो अमृतो निष्कलङ्को जगदगुरुः ।  
चिन्मात्रो<sup>५</sup> विस्फुर्त्युच्चैर्यान्व्यातुविवर्जितः ॥२९

2105 ) सर्वाविष्व—[ सर्वलक्षणलक्षितं सर्वलक्षणं परिपूर्णम् । विमलादर्शं संकान्तं यत् प्रतिविम्बे तस्तुल्यमित्यर्थः ॥२६॥ ] अथ तत्त्वरूपमाह ।

2106 ) इत्यसौ—तमेवात्मानम् अध्यक्षं प्रत्यक्षम् इक्षते । शोषं सुषमम् । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ पुनर्स्तमेवाह ।

2107-8 ) सोऽहं सर्व—भवच्युतः संसारान्मुक्तः । विश्वदर्शी विश्वं पश्यति इति । निष्कलङ्कः कलङ्करहितः । विस्फुरति प्रगटीभवति । शोषं सुषमम् । इति सूत्रार्थः ॥२८-२९॥ अथ पुनरात्मानमेवाह ।

जिस प्रकार सब ही अवश्यकोंसे परिपूर्ण और समस्त लक्षणोंसे संयुक्त पुरुषका प्रतिविम्ब—उसकी लाया मात्र—निर्मल दर्पणके ऊपर पुण्याकारसे पढ़ती है उसी प्रकार शरीरसे पृथक् हो जानेपर निर्मल आत्माका आकार शरीरके आकारमें रह जाता है ॥२६॥

इस प्रकारसे जिस योगीको निरन्तर अभ्यासके प्रभावसे विशुद्ध आत्मस्थरूपका निश्चय हो चुका है वह स्थप्नादि अवस्थाओंमें भी उसीका प्रत्यक्ष अवलोकन करता है ॥२७॥

उस समय योगीको वही परमात्मारूपमें सर्वव्यापक, सबका द्वितकारक, सिद्ध, सिद्ध करनेके योग्य, जन्म-मरणरूप संसारसे रहित, परमात्मा, उत्कृष्ट ज्ञानज्योतिश्वरूप, विश्वदर्शी ( सर्वज्ञ ), कर्मरूप कालिभासे रहित, निश्चल, अमृत, कर्म-कलंकसे रहित, लोक-का स्वामी, चैतन्य मात्र स्वरूपवाला और ध्यान व ध्याताके चिकित्ससे रहित हैं, इस प्रकार-का वह विशुद्ध आत्मा प्रतिभासमान होता है ॥२८-२९॥

१. All others except P L F सततो<sup>१</sup> । २. MN तदेव<sup>२</sup> । ३. All others except P सोऽहं सकलविदु । ४. P सार्वसिद्धः, M सार्व । ५. N सिद्धसाध्यी । ६. P भवच्युतः । ७. J चिन्मयी । ८. M प्रस्फुर<sup>९</sup> ।

२१०९) पृथग्भावभिक्रम्य तथैक्यं परमात्मनि ।

प्राप्नोति स मुनिः साक्षात्थान्यत्वं न विद्यते ॥३०

२११०) उक्तं च—

निष्कलः परमात्माहं लोकालोकावैभासकः ।

विश्वव्यापी स्वभावस्थो विकारपरिवर्जितः ॥३०\*११

२१११) इति विगतविकल्पं क्षीणरागादिदोषं

विदिवैसकलवेद्यं त्यक्तविश्वप्रपञ्चम् ।

शिवभजमनवद्यं विश्वलोकप्रदीपं

परमपुरुषमुच्चैभावशुद्ध्या भजस्व ॥३१

२१०९ ) पृथग्भावम्—पृथग्भावं भिन्नभावम् अतिक्रम्य । तथा ऐक्यं प्राप्नोति । कः । स मुनिः । यथा अन्यत्वं न विद्यते । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

२११० ) निष्कलः—[ निर्गताः कलाः अंशाः यस्मात् सः निष्कलः । विश्वव्यापी वैलोक्यव्यापकः । स्वभावस्थः प्रकृतिहृषेण वर्तमानः । इति सूत्रार्थः ॥३०\*११॥ ] अथोपस्थहरति ।

२१११ ) इति विगत—हे लोक, परमपुरुषम् उच्चैः भावशुद्ध्या भजस्व सेवस्व । शेषं सुगमस् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥

तत्र वह मुनि ( ध्याता ) भेदभावका अतिक्रमण करके—मैं च परमात्मा इस प्रकार की द्वैतबुद्धिसे रहित होकर—उस परमात्माके विषयमें साक्षात् इस प्रकारकी एकता ( अभेद ) को प्राप्त होता है कि जिससे वह भेदका अनुभव ही नहीं करता है ॥३०॥

कहा भी है—

मैं पुद्गलभय शरीरसे रहित, लोक वह अलोकको प्रत्यक्ष देखनेवाला, सर्वव्यापक, आत्मस्त्रभावमें स्थित और विकारसे रहित साक्षात् परमात्मा हूँ; इस प्रकार अभेदका प्रतिभास होता है ॥३०\*१॥

इस प्रकार रूपातीत ध्यानमें समस्त विकल्पोंसे रहित, रागादि दोषोंसे विमुक्त, समस्त होय पदार्थोंका ज्ञाता, सब प्रकारकी प्रतारणासे विहीन—कुलकुल्य, आनन्दमय, अजन्मा, निष्पाप और समस्त लोकको अकाशित करनेवाला अनुपम दीपक; ऐसे उस परमपुरुष परमात्माका आराधन ( ध्यान ) करना चाहिए ॥३१॥

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-  
विरचिते रूपातीतप्रकरणम् ॥३७॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकपल-दिवाकर-साहक्षयिदास-स्वश्रवणार्थं  
पण्डितजिनदासोद्यमेन कारपितं रूपातीतप्रकरणम् ॥३७॥

पादवीं बभूव अथति प्रतिपाद्यनामा तत्पृष्ठङ्गजराविवरटीढराल्यः । धर्मप्रधानसुनिधिजंगदेक-  
कीर्तिः जीयात्सदा सुकृतमन्दिर आवंदासः ॥१॥ इत्याशीर्वदिः ॥ तदेवाहु ।

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
रूपातीतध्यानका प्रकरण रूपात हुआ ॥३७॥

## [ धर्मधियानफलम् ]

- 2112) प्रसीद शान्ति व्रज संनिरुद्धयता॑ दुरन्तमोहानेलदीपितं॒ मनः ।  
अगाधजन्मार्णवपासवतिना॑ यदि श्रियं॒ वाञ्छसि विश्वदशिनाम् ॥१
- 2113) यदि रोदु॑ न शक्नोति तुच्छवीर्यो॑ मुनिर्भवः ।  
तदा रागेतरच्चर्वंसं कृत्वा कुर्यात्सुनिश्चलम् ॥२
- 2114) अनुप्रेक्षाश्च धर्मस्थे स्युः सदैव निबन्धनम् ।  
चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य ताः॑ स्वरूपं निरूपये ॥३

2112 ) प्रसीद शान्तिम्—हे भव्य, विश्वदशिनां यदि श्रिये वाञ्छसि, तदा मनः संनिरुद्धयतां रुद्धीताम् । कीदृशान्तो विश्वदशिनाम् । अगाधः यो जन्मार्णवः भवसमुद्रः तस्य पारे वर्तन्ते ये तथा । कीदृशो मनः । दुरन्तजन्मस्त्रविष्टुतं दुष्टान्तजन्मज्वरेण विष्टुतं दुष्टम् । हे भव्य, त्वं प्रसीद प्रसादपरो भव । शान्ति व्रज गच्छेति सूक्ष्मार्थः ॥१॥ अथ पुनराह ।

2113 ) यदि रोदु—मुनिः मनः यदि रोदु न शक्नोति । तुच्छवीर्यः अल्पसत्त्वः । तदा रागेतरच्चर्वंसं कृत्वा रागच्चर्वंसं विधाय मुनिः सुनिश्चलं कुर्यात् । इति सूक्ष्मार्थः ॥२॥ अथ पक्षान्तरमाह ।

2114 ) अनुप्रेक्षाश्च—धर्मस्थ अनुप्रेक्षाः निबन्धनं सदैव कारणं स्युः । ताः अनुप्रेक्षाः चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य स्वरूपं निरूपय । इति सूक्ष्मार्थः ॥३॥ अथ पुनराह ।

हे भव्य ! यदि तू अथाह संसाररूप समुद्रके पार होकर समस्त लोकको देखनेवाले ( सर्वज्ञ ) उन सिद्धात्माओंकी लक्ष्मीकी इच्छा करता है तो 'प्रसन्न होकर शान्तिको प्राप्त करता हुआ दुर्बिनाश मोहरूप अग्निसे जलते हुए अपने मनका भलीभाँति निरोध कर—उसे अपने बशमें कर ॥१॥

यदि हीन शक्तिवाला मुनि उस मनका निरोध करनेके लिए समर्थ नहीं है तो उसे राग और द्वेषको नष्ट करके उस मनको स्थिर करना चाहिए ॥२॥

अनित्यादि वारह अनुप्रेक्षाएँ सदा ही धर्मध्यानकी कारण होती हैं, इसलिए तू उनको चित्तरूप भूमिमें स्थिर करके आत्मस्वरूपका अवलोकन कर ॥३॥

१. All others except P जन्मज्वर for मोहरूप । २. M N L T विष्टुतं, F Y लुम्पितं, S J X R जिह्वातं for दीपितं । ३. M N वतिनीं....दशिनीं । ४. F यदि स्वयं । ५. M N T J X Y B धर्मस्थ । ६. L S F J X Y R स्वस्वरूपं । ७. T निरूपये ।

- 2115) स्फेट्यत्याशु निष्क्रम्यो यथा दीपो घनं तमः ।  
तथा कर्मकलद्वौषं मुनेध्यनं सुनिश्चलम् ॥४॥ अथवा—
- 2116) चलत्येवाल्पसत्त्वानां क्रियमाणमपि स्थिरम् ।  
चेतः शरीरिणां शशद्विषयैव्यक्तिलीकृतम् ॥५
- 2117) न स्वामित्वमतः शुक्ले विद्यते इत्यल्पचेतसाम् ।  
आद्यसंहननस्यैव तत्प्रणीतं पुरातन्मः ॥६
- 2118) उक्तं च—  
छिन्ने भिन्ने हते दग्धे देहे स्वमिव दूरगम् ।  
प्रपश्यन् वर्षवातादिदुःखैरपि न कम्यते ॥६\*१

2115 ) स्फेट्यत्याशु—यथा दीपो घनं निविडं तमः स्फेट्यति । आशु शीघ्रम् । मुने: ध्यातुं सुनिश्चलं तथा कलद्वौषः स्फेट्यति इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनराह ।

2116 ) चलत्येव—शरीरिणां चेतः चलत्येव । कीदृशानाम् । अल्पसत्त्वानाम् । कीदृशम् । स्थिरं क्रियमाणमपि । कीदृशम् । शशवत् निरन्तरम् । विषयैः व्याकुलीकृतम् । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ पुनराह ।

2117 ) न स्वामित्वम्—अतः कारणात् शुक्ले ध्याने इत्यचेतसाम् अल्पसत्त्वानां न स्वामित्वं विद्यते । तत् शुक्लध्यानं पुरातनैराचार्यैः आद्यसंहननस्यैव वज्रधंभनाराचस्यैव प्रणीतम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ उक्तं च ।

2118 ) छिन्ने भिन्ने—देहे छिन्ने छेदिते, भिन्ने भेदिते, हते शस्त्रादिना, दग्धे अमिना । स्वमिव दूरगं दूरवतिनं प्रपश्यन् वर्षवातादिभिः दुःखैः अपि न कम्यते । इति सूत्रार्थः ॥६\*१॥ अथ पुनराह ।

इसका कारण यह है कि जिस प्रकार स्थिर दीपक सद्यन अन्यकारको शीघ्र ही नष्ट कर देता है उसी प्रकार मुनिका स्थिर ध्यान कर्मरूप कलंकको शीघ्र ही नष्ट कर देता है ॥४॥

अथवा—अल्प शक्तिके धारक प्राणियोंका निरन्तर विषयोंसे व्याकुल किया जानेवाला मन स्थिर करनेपर भी चंचलताको प्राप्त होता ही है ॥५॥

इसलिए हीन शक्तिके कारण जिनका चित्त स्थिर नहीं रहता है ऐसे अल्पज्ञ प्राणियोंका शुक्लध्यानके विषयमें अधिकार नहीं है—वे शुक्ल ध्यानके स्वामी नहीं हो सकते हैं । उस शुक्ल ध्यानका स्वामित्व प्राचीन महापियोंके द्वारा वज्रधंभ नाराच संहनके धारक योगीके लिए ही निर्दिष्ट किया गया है ॥६॥ कहा भी है—

शुक्लध्यानका अधिकारी योगी शरीरके छेदे जानेपर, खण्डित किये जानेपर, बात करनेपर और जलाये जानेपर भी अपनेको उस शरीरसे दूरवर्ती जैसा देखता हुआ—उससे

2119) न पश्यति तदा किञ्चित्प्रभुष्णोति न जिग्नति ।

सृष्टे किञ्चित्प्रभुष्णोति सांश्च विष्वैर्यलेपात् ॥६२॥ इति ।

2120) आध्यसंहननोपेता निवेदपदवीं श्रिताः ।

कुर्वन्ति निश्चलं चेतः शुक्लध्यानक्षमं नराः ॥७

2121) सामग्र्योरुभयोध्यतुष्यन्ति<sup>३</sup> बाह्यान्तरज्ञयोः ।

<sup>३</sup>पूर्वयोरेव शुक्लं स्याज्ञान्यथा जन्मकोटिषु ॥८

2122) अतिक्रम्य शरीरादिसंगानात्मन्यवस्थितः ।

नैवाक्षमनसोयोगं करोत्येकाग्रतां<sup>४</sup> श्रितः ॥९

2119 ) न पश्यति—न जिग्नति नाग्राति । शोषे सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६\*२॥ अथ पुनराह ।

2120 ) आध्यसंहननोपेताः—नराः शुक्लध्यानक्षमं समर्थं, निश्चलं कुर्वन्ति । शोषे सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ पुनराह ।

2121 ) सामग्र्योरुभयोः—बाह्यान्यन्तरयोः सामग्र्योः उभयोः ध्याने पूर्वयोः एव शुक्लं ध्याने स्यात् । जन्मकोटिषु न अन्यथा । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2122 ) अतिक्रम्य—अतिक्रम्य त्यक्त्वा । शरीरादिसंगान् आत्मनि अवस्थितः अक्षमनसोः इन्द्रियमनसोः योगं करोति । कीदृशाः । एकाग्रतां श्रितः । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ पुनराह ।

अपनेको सर्वथा पृथक् भानता हुआ वर्षा एवं वायु आदिके द्वाखोसे भी विचलित नहीं होता है । वह उस समय छेपक्रियासे भित्तिपर निर्मित चित्रके समान न ध्रातककी ओर देखता है, न कुछ सुनता है, न सूचता है, और न शरीरसे सृष्टि किसी शस्त्रादिका भी अनुभव करता है ॥६\*१-२॥

जो भनुष्य प्रथम ( वर्षभनाराच ) संहननसे संयुक्त होकर वैराग्य भागका आश्रय लेते हैं वे अपने मनको स्थिर करके उसे शुक्लध्यान करनेमें समर्थ कर लेते हैं ॥७॥

इन वाह्य ( प्रथम संहनन ) और अन्तरंग ( वैराग्यभाव ) स्वरूप पूर्वोक्त दोनों सामग्र्योंके होनेपर ध्याता ( योगी ) के शुक्लध्यान होता है । उनके बिना करोड़ों जन्मोंमें भी वह किसी योगीके सम्भव नहीं है ॥८॥

शरीरादि परिप्रहौंको छोड़कर—उनमें निर्ममत्व होकर—आत्मस्वरूपमें अवस्थित हुआ योगी एकाग्रताका आश्रय लेकर इन्द्रिय और मनके संयोगको नहीं करता है—इन्द्रियोंसे विषयोंको देखता-जानता हुआ भी उनके विषयमें मनसे राग-द्वेषको नहीं प्राप्त होता है ॥९॥

१. M N T J X Y R तिर्षत्, L निर्वत्, S निवृत्, F निर्वृतिः । २. P M इति । ३. M N व्याति for व्यातुः, L °योध्यन्ते नृणां वाह्यां° । ४. F पूर्णयो° । ५. M N °यमानसः, S J X Y R °ग्रताधितः ।

- 2123) असंख्येयमसंख्येयं 'सदृष्ट्यादिगुणेणिव है ।  
कीयते क्षपकस्यैव कर्मजातमनुक्रमात् ॥१०
- 2124) शमकस्य क्रमात् कर्म शान्तिमायाति पूर्ववत् ।  
प्राप्नोति निर्गतातङ्कुं स 'सीख्यं शमलक्षणम् ॥११
- 2125) धर्मध्यानस्य विज्ञेया स्थितिरात्मुद्भूतिकी ।  
क्षायोपशमिको भावो लेश्या शुक्लैव शाश्वती ॥१२
- 2126) इदमत्यन्तनिर्वेदविवेकप्रश्नोद्भवम् ।  
स्वौत्मानुभवमत्यक्षं योजयत्यज्जिनां' सुखम् ॥१३

2123 ) असंख्येयम्—इहलोके क्षपकस्य पुंसः सदृष्ट्यादिगुणेषु सम्यग्दर्शनादिगुणेषु असंख्येयमसंख्येयम् अनुक्रमात् कर्मजातं कीयते । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ उपशमश्रेणिमाह ।

2124 ) शमकस्य—असंख्यशमलक्षणं "प्राप्नोति । कीदृशम् । निर्गतातङ्कुं निर्भयम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ तदेवाह ।

2125 ) धर्मध्यानस्य—भावः क्षायोपशमिकः । शुक्लैश्या शाश्वती । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ योगिनां सुखमाह ।

2126 ) इदमत्यन्त—इदम् अत्यन्तनिर्वेदः संसारासारता, विवेकः, शमः, तेषां समाहारः । तथोः जातम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ तथोक्तम् । अथ योगलक्षणमाह ।

सम्यग्दर्शन, देशब्रत व महाब्रतादि गुणों ( त. सू. ९-४५ ) से संयुक्त योगियोंमें यहाँ क्षपकश्रेणिपर आरुद्द हुए क्षपकका कर्मसमूह क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणितरूपमें निर्जीरा-को प्राप्त होता ही है । परन्तु उपशमश्रेणिपर आरुद्द हुए उपशमकको वह कर्मसमूह उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित क्रमसे उपशमभावको प्राप्त होता है । इस प्रकारसे वह दुखसे मुक्त होकर राग-द्वेषके उपशमरूप निराकुल सुखको प्राप्त करता है ॥१०-११॥

धर्मध्यानकी स्थिति—उसका काल—अन्तमुद्भूतं प्रमाण जानना चाहिए । धर्मध्यान करनेवाले ध्याताका वह भाव क्षायोपशमिक और लेश्या उसकी सदा अवस्थित रहनेवाली शुक्ल ही होती है ॥१२॥

अविशय संसार व शरीरादिसे विरक्ति, भेदविज्ञान और राग-द्वेषके उपशमसे उत्पन्न होनेवाला वह धर्मध्यान प्राणियोंको स्वानुभवगम्य अतीन्द्रिय सुखसे संयुक्त करता है ॥१३॥ कहा भी है—

१. N सुदृष्ट्या । २. P गुणेणिव, S X R गुणे इषि च । ३. S J X Y R <sup>०</sup>तङ्कुः । ४. T सत्त्वस्त्व ।  
५. M N सात्मानुभव । ६. J ल्पज्ञनासुखम् ।

2127) तथा चोक्तम्—

अलौक्यमारोग्यप्रनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभोऽसूत्रपुरीषमस्पम् ।

कानितः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम्॥१३\*१॥इति ।

2128) अथावसाने स्वतनुं विहाय ध्यानेन संन्यस्तसमस्तसंगाः ।

श्रेवयकालुत्तरयुण्यवासे सर्वार्थासद्गौ च भवन्ति भव्याः ॥१४

2129) तत्राचिन्त्येमहाप्रभावकलित् लावण्यलीलान्वितं

सम्भूषाम्बरदिव्यलाङ्छनचित्तं चन्द्रावदातं वपुः ।

संप्राप्योक्तवीर्यबोधसुभगं कामज्वरातिच्युतं

सेवन्ते विगतान्तरायमतुलं सौख्यं चिरं स्वर्णिणः ॥१५

2127 ) अलौक्यम्—योगप्रवृत्तेः । हि निश्चितम् । प्रथमं चिह्नम् । कि तत् । अलौक्य निर्लोभता । आरोग्यं प्रसिद्धम् । अनिष्ठुरत्वं सकोमलता । शुभो गन्धः । असूत्रः पुरीषता अल्पम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३\*१॥ अथ तेषां गतिमाह ।

2128 ) अथावसाने—भव्याः अवसाने प्रान्ते स्वतनुं विहाय प्रभवन्ति उत्पद्धते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ स्वर्णसुखमाह ।

2129 ) तत्राचिन्त्य—स्वर्णिणो देवाः चिरम् अतुलं सौख्यं सेवन्ते । तत्र अचिन्त्यमहाप्रभाव-कलितम् । सम्भूषाम्बरदिव्यलाङ्छनयुतं पुष्पदामाभरणवस्त्रदिव्यलक्षणयुतम् । वपुः शरीरं प्राप्य । उन्नतवीर्यबोधसुभगम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनर्स्तदेवाह ।

यिष्वद्वलम्पटताका अभाव, नीटोगता, दयालुता, शरीरका उत्तम गन्ध, मूत्र व भलकी अल्पता, शरीरमें दीप्ति, प्रसन्नता और स्वरकी भवुरता; ये योगीके ध्यानमें प्रवृत्त होनेके चिह्न ( पहिजाने ) हैं ॥१३\*१॥

समस्त परिश्राहसे रहित वे भव्य जीव अन्तमें अपने शरीरको छोड़कर ध्यानके प्रभावसे श्रेवयक चिमानों, अनुतर चिमानों एवं सर्वार्थसिद्धि चिमानरूप पदित्र स्थानमें उत्पन्न होते हैं ॥१४॥

बहूँपर वे विमानवासी देव अचिन्त्य महाप्रभावसे संयुक्त, लावण्य व विलाससे सहित; माला, आमूषण, वस्त्र एवं दिव्य चिह्नोंसे ल्याप और चन्द्रमाके समान निर्मल ऐसे शरीरको पाकर अनन्त वीर्य व ज्ञानसे आनन्ददात्रक और कामरूप चरकी पीड़ासे रहित ऐसे निर्बाध व अनुपम सुखका चिरकाल तक उपभोग करते हैं ॥१५॥

१. P M L F तथा चोक्स, others उक्स ए । २. M Y गर्वं शुभं । ३. M L F Y सिद्धी प्रभवन्ति ।  
४. M N S T Y R उत्तरयुत । ५. J लांछनयुत ।

- 2130) ग्रैवेयकानुस्तरवासंभाजां वीचारहीनं सुखमत्युदारम् ।  
निरन्तरं पुण्यपरं पराभिविवर्धते वाधिरिवेन्दुपादैः ॥१६
- 2131) देवराज्यं समाप्ताथ यत्सुखं कल्पवासिनः ।  
निविशन्ति ततो अनन्तं सौख्यं कल्पातिवर्तिनः ॥१७
- 2132) संभवन्त्यथ कल्पेषु तेष्वचिन्त्यविभूतिर्जम् ।  
प्राप्नुवन्ति परं सौख्यं सुराः स्त्रीलास्यैलाङ्गिर्जम् ॥१८
- 2133 ) दशाङ्गभोगसंभूतं महाष्टुगुणवधितम् ।  
वरशङ्गवासिनः सौख्यं उद्वर्तुं केन पार्यते ॥१९

2130) ग्रैवेयकान्—ग्रैवेयकान् उत्तरवासभाजां देवानां सुखम् अत्युदारं वीचारहीनं सुखहीनं निरन्तरं पुण्यपरं पराभिः पुण्यश्रेणिभिः विवर्धते । इन्दुपादैः इन्दुकरैः वाधिः वर्धते । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ स्वर्गवाससुखमाह ।

2131) देवराज्यम्—कल्पातिवर्तिनः अनुत्तरवासिनो देवाः । ततो अनन्तं सौख्यं निविशन्ति भुञ्जते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ पुमः स्वर्गसुखम् जाह ।

2132) संभवन्त्यथ—एतादुकाले संभवन्ति उत्पद्धन्ते । अथ तेषु कल्पेषु अचिन्त्यविभूतिं प्राप्नुवन्ति सुराः । परं प्रकृष्टं सौख्यं स्त्रीभोगलाङ्गिर्जम् चिह्नितम् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ पुनरस्तत्सुखमाह ।

2133) दशाङ्गभोग—यत् कल्पवासिनां सौख्यं, तत्केन वर्तुं पार्यते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ पुनरस्तेषां सुखमाह ।

ग्रैवेयक और अनुस्तर विमानोंमें रहनेवाले उन देवोंका काम-बाधासे रहित महान् सुख निरन्तर पुण्यकी परमाराओंके द्वारा इस प्रकारसे वृद्धिगत होता है जिस प्रकार कि अनन्दकी किरणोंके द्वारा समुद्र वृद्धिगत होता है ॥१६॥

देवोंके राज्य ( इन्द्रपद ) को पाकर जिस सुखका उपभोग कल्पवासी—सोलह् स्वर्गोंके देव—किया करते हैं उससे कहीं अनन्तगुणे सुखका उपभोग कल्पातीत देव—ग्रैवेयकादि विमानवासी अहमिन्द्र—किया करते हैं ॥१७॥

अथवा, जो उन कल्पोंमें उत्पन्न होते हैं वे देव भी वहाँपर अचिन्त्य विभूतिसे उत्पन्न व देवोंगत्वाओंके नृत्यसे चिह्नित उत्कृष्ट सुखको प्राप्त करते हैं ॥१८॥

दशांग भोगोंसे उत्पन्न व अणिमा, महिमा आदि आठ महागुणोंसे वृद्धिगत जो सुख कल्पवासी देवोंको प्राप्त होता है उसका वर्णन करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है ? कोई नहीं—वह अवर्णनीय है ॥१९॥

१. L पुण्य फू वास । २. M N T F X Y R विवार । ३. L S F J X R वासिना, T Y स्वर्ग वासिनाम् । ४. L वर्तिनाम् । ५. N संभवन्तो ज्ञ । ६. M S T J X Y R विभूतिर्ज । ७. M N स्त्रीसंग, L S T F J X Y R स्त्रीभोग । ८. M N T वाञ्छितम् ।

- 2134 ) सर्वद्वन्द्वविनिरुक्तं सर्वाभ्युदयभूषितम् ।  
नित्योत्सवयुतं दिव्यं दिवि सौख्यं दिवौकसाम् ॥२०
- 2135 ) प्रतिसमयमुदीर्णं स्वर्गसाम्राज्यरूपं ।  
सकलविषयवीजं स्वान्तदत्तामिनन्दम् ।  
ललितयुवतिलीलालिङ्गनादिप्रसूतं  
सुखमतुलंगुदारं स्वर्गिणो निविशन्ति ॥२१
- 2136 ) सर्वाभिमतभावोत्थं निविष्टं स्वःसुखामृतम् ।  
सेवैमाना न बुध्यन्ते गतं जन्म दिवौकसः ॥२२
- 2137 ) तस्माच्युत्वा त्रिदिवपटलादिव्यमोगावसाने  
कुर्वन्त्यस्यां भूवि नरनुते पुण्यवंशे अवतारम् ।

2134) सर्वद्वन्द्व—दिवौकसा देवानाम् । दिवि स्वर्गे । दिव्यं चाह । सौख्यम् । वर्तते इति गम्यम् । वंशं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ पुरुष स्वर्गिणों सुखमाह । मालिनी छन्दः ।

2135) प्रतिसमयम्—स्वर्गिणो देवाः सुखम् अतुलं निरुपमम् । उदारं प्रधानम् । निविशन्ति भुजते । चित्तदत्तानन्दम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ तत्रस्थाः स्वर्गं तत्काले न जानन्ति तदाह ।

2136) सर्वाभिमत—दिवौकसो देवाः स्वःसुखामृतं स्वर्गसुखधीयूषं सेवमानाः गतं जन्म न बुध्यन्ते । निविष्टम् । पुनः कीदृशम् । सर्वाभिमतभावोत्थम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ पुनराह ।

2137) तस्माच्युत्वा—तस्मात् त्रिदिवपटलाच्युत्वा दिव्यमोगावसाने भोगप्राप्ते । अस्यां भूवि भूमी, पुण्यवंशे पुण्योपयुक्ते वंशे अवतारं कुर्वन्ति । कीदृशे वंशो । नरनुते मुख्यतमस्तुते । तत्र

स्वर्गमें देवोंको जो दिव्य सुख प्राप्त होता है वह सब प्रकारकी आकुलतासे रहित, समस्त अभ्युदय ( अभिष्ठुद्धि ) से परिपूर्ण और निरन्तर प्रवर्तमान उत्सवोंसे युक्त होता है ॥२०॥

स्वर्गवासी देव निरन्तर उदित रहनेवाले ( अभिष्ठुद्धि ), स्वर्गके एकछत्र राज्यसे प्रसिद्ध, समस्त विषयोंके उपभोगसे उत्पन्न, मनको आनन्ददायक तथा सुन्दर युवती विषयोंके लीलायुक्त आलिंगन आदिसे प्रादुर्भूत हुए अनुपम महान् सुखको भोगते हैं ॥२१॥

वे दिवानवासी देव समस्त अभीष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न हुए बाधारहित स्वर्गीय सुखरूप असृतका उपभोग करते हुए गये हुए जन्मको—व्यतीत हुए सागरोपम कालको—जही जानते हैं ॥२२॥

इस प्रकार उस स्वर्गीय दिव्य सुखको भोगकर अन्तमें वे देव उस स्वर्गपटलसे च्युत होते हुए इस पृथिवीपर मनुष्यों द्वारा नमस्कृत परिव्रक्तमें अवतार लेते हैं और वहाँ

तत्रैश्वर्यं चरमवपुषां<sup>१</sup> प्राप्य देवोपनीतैः-  
भोगैनित्योत्सदपरिणतैर्लाङ्घ्यैमाना वसन्ति ॥२३॥

2138 ) ततो विवेकमालम्ब्य विरज्य जननभ्रमात् ।

त्रिरत्नशुद्धिमासाद्य तपः कृत्वान्यदुष्करम् ॥२४॥

2139 ) धर्मध्यानं च शुक्लं च स्वीकृत्यै विजयीर्यतः ।  
धातिकंभक्षयं कृत्वा व्रजन्ति पदमव्ययम् ॥२५॥

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-विरचिते  
धर्मध्यानफलप्रतिपादनप्रकरणम् ॥३८॥

भूमी चरमवपुषा शरीरेण । ऐश्वर्यं प्राप्य भोगैः लाल्यमाना वसन्ति । कीदृशैः भोगैः । देवोपनीतैः ।  
पुनः कीदृशैः । नित्योत्सदपरिणतैः निरन्तरमङ्गलयुक्तैः । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ पुनः इलोकद्वयेनो-  
पसंहरति ।

2138-39) ततो विवेकम्—ततः तदनन्तरं विवेकम् आलम्ब्य कृत्वा । जननभ्रमात् भव-  
भ्रमात् विरज्य त्रिरत्नशुद्धि सम्यग्दर्शनादिशुद्धिम् आसाद्य प्राप्य । च पुनः । अनन्यदुष्करं तपः  
कृत्वा । धर्मध्यानम् । च पुनः । शुक्लध्यानं स्वीकृत्य अङ्गीकृत्य । कृत्वात् । अनन्तवीर्यतः । पुनः  
धातिकंभक्षयं कृत्वा । अव्यर्थं नित्यपदं स्थानं व्रजन्ति । इति सूत्रार्थः ॥२४-२५॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवयोगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहृपासा-  
तत्पुत्र-साहृदार - तत्कुलकमलदिवाकर-साहृषुषिदास - स्वश्रवणार्थं पण्डितजिन-  
दासोद्यमेन कारापितं धर्मध्यानप्रतिपादनप्रकरणं समाप्तम् ॥३८॥

धर्मध्यानधुराधीशो पाश्वंसाहृप्रभीरतः । तत्पुत्रष्टोडरो ज्ञेयः कृषिदासः समन्वितः ॥१॥  
इत्याशीर्वादः ॥ अथ धर्मध्यानस्वरूपमाह ।

धर्मशरीरी महापुरुषोंकी—तीर्थकरोंकी—विभूतिको प्राप्त करके निरन्तर उत्सवसे परिणत  
च देवों द्वारा लाये गये भोगोंसे लालित होकर निवास करते हैं ॥२३॥

तत्पञ्चात् वे विवेकका आश्रय लेकर संसार-परिभ्रमणसे विरक्त होते हुए रत्नत्रयकी  
प्राप्तिपूर्वक घोर तपश्चरण करते हैं और अपनी शक्तिके अनुसार धर्मध्यान च शुक्लध्यानको  
स्वीकार करके धातिया कर्मोंको नष्ट करते हुए अविनश्वर पद ( भोक्ष ) को प्राप्त करते हैं ॥२४-२५॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
धर्मध्यानफलप्राप्तिप्रतिपादन प्रकरण समाप्त हुआ ॥३८॥

१. S F X R परम । २. N S T F X R वपुष, J वपुषा । ३. N लाल्यमान । ४. Y जननभ्रमात् ।

५. M NJ X लयनन्तवीर्यतः, T नत for निज । ६. L S F R कृत्वमकर्म । ७. P adds समाप्तमिति।

## [ शुक्लध्यानफलम् ]

- 2140) रागाद्युग्रजाकलापकलितं सदेहदोलायितं  
 विभिन्नं सकलेन्द्रियार्थगहने कृत्वा मनो निश्चलम् ।  
 संसारव्यवसनप्रवैद्धविलयं मुक्तेविनोदास्पदं  
 धर्मध्यानमिदं वदन्ति निषुणा अत्यक्षसोख्यायितः ॥१॥
- 2141) आत्मार्थं श्रव्य मुञ्च मोहगहनं मित्रं विवेकं कुरु  
 वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनोः ।  
 धर्मध्यानसुखसमुद्रकुहरे कृत्वावगाहं परं  
 पश्यानन्तसुखस्वभावकलितं मुक्तेमुखामोहम् ॥२॥

2140) रागाद्युग्र—निषुणा इदं धर्मध्यानं विदन्तु जानन्तु । कीदृशम् । अत्यक्षम् अतीन्द्रियम् । सोख्यायितः । पुनः कीदृशम् । संसारप्रबन्धव्यवसनविलयं भवकष्टसंबन्धनाशम् । पुनः कीदृशम् । मुक्तेः विनोदास्पदं स्थानम् । कि कृत्वा । मनः निश्चलं कृत्वा । कीदृशं मनः । रागाद्युग्रजा कलितं रागद्वेषोग्रोगाक्रान्तम् । पुनः कीदृशं मनः । सदेहदोलायितम् । सुगमम् । पुनः कीदृशम् । सकलेन्द्रियार्थप्रहणे विक्षिप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ पुनरुपदेशमाह ।

2141) आत्मार्थ—रे भव्य, आत्मार्थं स्वयं मोहगहनं मुञ्च । विवेकं मित्रं कुरु । वैराग्यं भज । नियतं निश्चितं शरीरात्मनोः भेदं भावय । कि कृत्वा । धर्मध्यानसमुद्रकुहरे परम् अवगाहं

अतीन्द्रिय सुखके अभिलाषी चतुर गणवरादि प्रथमतः रागादिरूप तीक्ष्ण रोगसमूहसे संयुक्त और सन्देहसे चंचल होकर समस्त इन्द्रियोंके विषयरूप बनमें मुम्ख हुए मनको स्थिर करके तत्प्रायान् सांसारिक दुखोंकी परम्पराको नष्ट करनेवाले एवं मुक्तिकी कीड़ाके स्थानमूल इस धर्मध्यानको बतलाते हैं । अभिप्राय यह है कि अन्तःकरणसे राग-द्वेषादिको दूर करके ही धर्मध्यानमें प्रवृत्त होना चाहिए, तब ही उसके आश्रयसे दुखोंकी परम्परा नष्ट की जा सकती है, अन्यथा नहीं ॥२॥

हे भव्य ! तू प्रथमतः आत्मारूप उपादेय पदार्थका आश्रय लेकर मोहरूप बनको छोड़, विवेकको मित्र—सदा साथमें रहनेवाला—बना, वैराग्यका आराधन कर, और सर्वदा शरीर व आत्माकी भिन्नताका बाब्बार चिन्तन कर । इस प्रकारसे अन्तमें तू धर्मध्यानरूप

१. All others except P M X Y सोलायितः । २. All others except P प्रबन्ध । ३. All others except P M N °मिदं विवन्तु । ४. M N T J X Y R धर्म्य । ५. M °र्महाम्भोवहः ।

2142) अथ धर्मध्यानपतिकान्तः शुद्धि आत्मनितिकी श्रितः ।  
इयातुमारभते धीरः शुक्लमत्यन्तनिर्मलम् ॥३॥

2143) “आदिसंहननोपेतः प्रश्नान्तेः पुण्यचेष्टितः ।  
चतुर्विधमपि ध्यान” स शुक्ल ध्यानमहंति ॥४

2144) “उक्तं च—  
निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवजितम् ।  
अन्तर्मुखं च यज्ञिचत्तं सञ्चुक्लमिति पत्वते ॥४\*१

कुरु । मुखते: मुखाम्भोरुहुं मुखकमलं पश्य । कीदृशम् । अनन्तसुखस्वभावकलितम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2142) अथ धर्मम्—“धर्मध्यानपतिकान्तः । च पुनः । आत्मनितिकी शुद्धि श्रितः आष्टितः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ शुक्लध्यानध्यातारमाह ।

2143) आदिसंहननोपेतः—स पुरुषः ध्यानं ध्यानमहंति योग्यो भवति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ शुक्लध्यानमाह ।

2144) निष्क्रियम्—[ निष्क्रियं कियाशून्यम् । करणातीतम् इन्द्रियरहितम् । ध्यानधारणामशां च वर्जितं त्यजतम् । इति सूत्रार्थः ॥४\*१॥] उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

अमृत समुद्रके मध्यमें स्नान करके अनन्त सुखरूप स्वभावसे संयुक्त मुक्तिके उत्कृष्ट मुखरूप कमलका दर्शन कर सकता है ॥२॥

इस क्रमसे योगी फिर उस धर्मध्यानको छोड़कर आत्मनितक शुद्धिका आश्रय लेता हुआ अतिशय निर्मल शुक्लध्यानको प्रारम्भ करता है ॥३॥

जो प्रथम वर्जनाराचसंहननसे सहित, असिंशय शान्त और पवित्र आचरण करनेवाला है वह योगी चारों ही प्रकारके शुक्लध्यानका चिन्तन करनेके लिए योग्य है ॥४॥ कहा भी है—

जो आत्माभावके सम्मुख हुआ चित्त किया और इन्द्रियोंसे रहित होकर ध्यानधारणके विकल्पसे भी युक्त हो चुका है—मैं ध्यानका धारक ( ध्याता ) हूँ, परमात्मा आदि ध्येय हूँ और उनका चिन्तन ध्यान है; इस प्रकारके विकल्पसे सर्वथा रहित हो चुका है—वह शुक्लध्यान कहलाता है ॥४\*१॥

१. M Om, २. All others except P J वर्ण० ३. All others except P L F वीरः ।

४. M N Om, ५. All others except P वूर्जः पुण्य० ६. P उक्तं च ।

- 2145) शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमादा ।  
वैद्वूर्यमणिशिखा॑ इव सुनिर्मलं निष्प्रकर्म्य च ॥४\*२॥ इति॑ ।
- 2146) कषायमलविश्लेषात् प्रशमादा प्रसूयते ।  
यतः पुंसाभतस्तज्ज्ञैः शुक्लमुक्तं निरुक्तिकम् ॥५
- 2147) छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे॑ शुक्ले परिकीर्तिते ।  
द्वे॑ चान्ते॑ क्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम् ॥६
- 2148) श्रुतज्ञानार्थसंबन्धाच्छु तालम्बनपूर्वके॑ ।  
पूर्वे॑ परे॑ जिनेन्द्रस्य निःशोषालम्बनच्युते॑ ॥७

2145) शुचिगुण—शुक्लं कषायरजसः पापक्षयात् उपशमात् वा । कस्मात् । शुचिगुण-योगात् । सुगमम् । वैद्वूर्यमणिम् इव । शेषं सुगमम् । इति॑ सूक्ष्मार्थः ॥४\*२॥ अथ पुनराह ।

2146) कषायमल—यतः कारणात् कषायमलविश्लेषात् तत्संबन्धाभावात् । वा अथवा । प्रशमाद् कषाययोपशमात् । पुंसाम् । प्रसूयते उत्पश्यते । तज्ज्ञैः शुक्लम् । अतः कारणात् निरुक्तिकम् उकम् । इति॑ सूक्ष्मार्थः ॥५॥ अथ तद्भेदविवारमाह ।

2147) छद्मस्थ—[ क्षीणदोषाणां नष्टदोषाणाम् । केवलज्ञानचक्षुषां केवलज्ञानमेव चक्षुः येषां तेषाम् । अन्यतसुगमम् ॥६॥ ] अथ पुनर्विशेषमाह ।

2148) श्रुतज्ञानार्थ—पूर्वे॑ द्वे॑ ध्याने॑ श्रुतालम्बनपूर्वके॑ । तयोः श्रुतमेवावलम्बनमिति॑ भावः । जिनेन्द्रस्य अपरे॑ द्वे॑ निःशोषालम्बनच्युते॑ । अपरयोः आलम्बनं नास्ति॑ । इति॑ सूक्ष्मार्थः ॥७॥ अथ पुनरस्तद्भेदस्वरूपमाह ।

कषायरूप धूलिके॑ क्षयसे॑ अथवा उपशमसे॑ वैद्वूर्यमणिकी॑ शिखाके॑ समान जो॑ अतिशय निर्मल और स्थिर मनकी॑ एकाध प्रभृति॑ होती॑ है॑ उसका नाम शुक्लध्यान है॑ । उसे॑ पवित्रतारूप गुणके॑ कारण शुक्ल नामसे॑ कहा जाता है॑ ॥४\*२॥

यह ध्यान जूँकि॑ कषायरूप मैलके॑ सर्वथा॑ पृथक् हो॑ जानेपर अथवा॑ उसके॑ उपशानत हो॑ जानेपर पुरुषोंके॑ उत्पन्न होता है॑, इसीलिए॑ ध्यानशास्त्रके॑ ज्ञाता॑ महापि॑ उसे॑ शुक्ल इस सार्थक नामसे॑ कहते है॑ ॥५॥

आगे॑ वर्णित चार ध्यानोंमें॑-से आदिके॑ दो॑ ( पृथक्त्ववितर्कं व एकत्ववितर्कं ) शुक्ल-ध्यान छद्म योगियोंके॑ तथा अन्तके॑ दो॑ ( सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और ल्युपरत्क्रियानिवृत्ति॑ ) अठारह दोषोंसे॑ रहित केवलज्ञानियोंकि॑ होते है॑ ॥६॥

पूर्वके॑ दो॑ शुक्लध्यान श्रुतज्ञानके॑ विषयके॑ सम्बन्धसे॑ श्रुतके॑ आश्रयसे॑ होते है॑, परन्तु अन्तके॑ दो॑ ध्यान जिनेन्द्रके॑ सब्र प्रकारके॑ आलम्बनसे॑ रहित होते है॑ ॥७॥

१. M L S उक्तं च । २. J Y शिखामिव । ३. P M इति॑ । ४. S J X Y R द्वे॑ शुक्ले प्रकीर्तिते॑ ।  
५. M N S है॑ चाल्ये, L है॑ वा तत् क्षोण । ६. M N पूर्वकम्...च्युते॑

- 2149) सवितर्कं सबीचारं सपृथक्त्वं च कीर्तितम् ।  
शुक्लमादं द्वितीयं तु विषयस्तमतोऽपरम् ॥८
- 2150) सवितर्कं मवीचारमेकत्वपदलाङ्गितम् ।  
कीर्तितं मुनिभिः शुक्लं द्वितीयमतिनिर्भलम् ॥९
- 2151) सूक्ष्मक्रियाप्रतीयाति तृतीयं सार्थनामकम् ।  
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानं तुर्यमायैनिवेदितम् ॥१०
- 2152) तत्र त्रियोगिनामाद्यं द्वितीयं त्वेकयोगिनाम् ।  
तृतीयं सेनुयोगानां स्यात्तुरीयमयोगिनाम् ॥११॥ तत्रथा—

2149) सवितर्कं—अतः प्रथमभेदात्परं द्वितीयं विषयस्तम् अवितर्कम् । सबीचारादिस्तम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ द्वितीयभेदमाह ।

2150) सवितर्कं मवीचारं—[ एकत्वपदलाङ्गितम् एकत्वपदजिह्वितम् । सवितर्कं वितर्केण सहितम् । मुनिभिः कीर्तितं कथितम् । इत्यर्थः ] ॥९॥ अथापरभेदमाह ।

2151) सूक्ष्मक्रिया—तृतीयं शुक्लध्यानभेदम् । सूक्ष्मा क्रिया यस्मिन् तत् सूक्ष्मक्रियं च । अप्रतिपाति च अपतनशीलम् । सार्थनामकम् । तुर्यं चतुर्थं समुच्छिन्नक्रियम् । ध्यानम् आदी आचार्यैः निवेदितं कथितम् । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ येषां यदभवति तत्तदाह ।

2152) तत्र त्रियोगिनाम्—तत्र च त्रियोगिनां मनोवाक्काययोगिनाम् आद्यं शुक्लध्यानभेदं भवति । एकयोगिनां मनोवाक्कायस्य इतरयोगवतां द्वितीयं भवति । सेनुयोगानां तृतीयं भेदं स्यात् । अयोगिनां तुरीयं चतुर्थं स्यात् । इत्यर्थः ॥११॥ तत्रथा दर्शयति ।

प्रथमं पृथक्त्ववितर्कं नामका शुक्लध्यान वितर्कवीचार और पृथक्त्व ( नात्तदत्व ) से सहित कहा गया है तथा दूसरा उससे विपरीत है । वह एकत्व ( अभेद ) पदसे विहित होकर वितर्कसे सहित और बीचारसे रहित है, ऐसा मुनियोंके द्वारा कहा गया है । यह दूसरा शुक्लध्यान अतिशय निर्भल है । उक्त पृथक्त्वादिका स्पष्टीकरण आगे ( श्लोक १४ आदि ) ग्रन्थकार द्वारा स्वयं किया जानेवाला है ॥८-९॥

तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती इस सार्थक नामवाला है—वह वचन व मन योगोंसे सर्वथा रहित तथा आदर काययोगको सूक्ष्म करनेवाले केवलीके होनेके कारण सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती कहा जाता है । चतुर्थं शुक्लध्यान पृथ्यं जनोंके द्वारा समुच्छिन्नक्रिय ( व्युपरत्क्रियानिवृत्ति )—सूक्ष्म कायकी क्रियासे भी रहित—निर्दिष्ट किया गया है ॥१०॥

उक्त चार शुक्लध्यानोंमें प्रथम ध्यान मन, वचन व काय इन तीनों योगवालोंके; दूसरा तीन योगोंमें-से किसी एक योगवालेके, तीसरा काययोगवालोंके और चौथा योगसे रहित अयोग केवलियोंके होता है ॥११॥

१. J च for तु । २. L F T <sup>०</sup>मतः परम् । ३. M N सार्वतायकं । ४. M क्रिया ध्यानं, N क्रियध्यानं । ५. N काययोगानां । ६. Y स्यात्तुर्यमदयोगिनां । ७. P M तत्रथा ।

- 2153) पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र विद्यते ।  
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते ॥१२
- 2154) अवीचारो वितर्कस्य यत्रैकत्वेन संस्थितः ।  
सवितर्कं मवीचारं तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥१३
- 2155) पृथक्त्वं तत्र नानात्वं वितर्कं श्रुतगुल्म्यते ।  
अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमः स्मृतः ॥१४
- 2156) अर्थाद्विन्तरापत्तिर्थसंक्रान्तिरिष्यते ।  
ज्ञेया व्यञ्जनसंक्रान्तिर्थञ्जनाद्वयञ्जने स्थितिः ॥१५
- 2157) स्यादियं योगसंक्रान्तियोगाद्योगान्तरे स्थितिः ।  
विशुद्धयानसामर्थ्यतिक्षीणमोहस्य योगिनः ॥१६

2153) पृथक्त्वेन—पृथक्त्वेन भिन्नत्वेन वितर्कस्य श्रुतस्य यत्र शुक्लब्ध्याने वीचारो विद्यते तत् सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वम् इक्षते विलोक्यते । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ द्वितीयभेदार्थमाह ।

2154) अवीचारः—वितर्कस्य श्रुतस्य अवीचारो यत्र एकत्वेन संस्थितः । सवितर्कम् अवीचारं तदेकत्वं बुधाः विदुः कथयामासुः । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ पुनः प्रगटार्थमाह ।

2155) पृथक्त्वं—तत्रार्थे पृथक्त्वं नानात्वं वितर्कं श्रुतम् उच्यते कथ्यते । अर्थव्यञ्जनयोगानां संक्रमो वीचारः स्मृतः कथितः । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पुनः वीचारमाह ।

2156) अर्थात्—अर्थात् पदार्थात् अर्थान्तरापत्तिः प्राप्तिः सा अर्थसंक्रान्तिः इष्यते । व्यञ्जनात् व्यञ्जने स्थितिः व्यञ्जनसंक्रान्तिः ज्ञेया । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनर्वीचारमाह ।

2157) स्यादियं—धीणयोगिनः योगात्मनोः योगादेः योगान्तरे गतिः इयं योगसंक्रान्तिः स्यात् । कस्मात् । विशुद्धयानसामर्थ्यात् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

वह इस प्रकारसे—जिस ध्यानमें द्रव्य-पर्यायादि विषयक भेद बुद्धिके साथ वितर्कका विचार रहता है वह ध्यान सवितर्क-सवीचार और सपृथक्त्व माना जाता है ॥१२॥

जिस ध्यानमें अभेदके साथ उस वितर्कका विचार नहीं रहता है उसे विद्वान् पुरुष वितर्कसहित व वीचाररहित एकत्वं कहते हैं ॥१३॥

उनमें पृथक्त्वका अर्थ नानात्व और वितर्कका अर्थ श्रुतज्ञान कहा जाता है । अर्थ, व्यञ्जन और योगके परिवर्तनको वीचार माना गया है ॥१४॥

एक अर्थसे—ध्यानके योग्य द्रव्य अथवा पर्यायरूप एक पदार्थसे-दूसरे अर्थके परिवर्तनका नाम अर्थसंक्रान्ति है । व्यञ्जनका अर्थ चचन होता है, किसी एक श्रुतव्यञ्जनसे जो दूसरे अत्यवच्चनमें स्थिति होती है उसे व्यञ्जनसंक्रान्ति जानना चाहिए । निर्मल ध्यानके प्रभावसे जिसका मोहनीय कर्म क्षयको प्राप्त हो चुका है ऐसे योगीकी जो किसी एक योगसे दूसरे योगमें स्थिति होती है, वह योगसंक्रान्ति कही जाती है । विशेषार्थ—जिस प्रकार मैलके हट

१. M विचारस्य for वितर्कस्य । २. T J X Y R वितर्कः । ३. M N ज्ञेयो....व्यञ्जनस्थितिः । ४. L स्यादेवं । ५. All others except P गतिः ।

2158) उक्तं च-

अर्थादिर्थं वचः शुब्दं योगोश्चोर्गं समाश्रयन् ।  
पर्यायादपि पर्यायं द्रव्याणोश्चिन्तयेदपुष् ॥१६\*१॥ इति ।

2158) अर्थादिर्थं—अर्थात् अर्थसंक्रान्तिः, वचः शब्दसंक्रान्तिः, योगात् योगान्तरं समाश्रयेत् । पर्यायाद् अपि पर्यायसंक्रान्तिः । द्रव्याणोः सकाशात् अणु चिन्तयेत् । इति सूत्रार्थः ॥१६\*१॥ अथ पुनराह ।

जानेपर स्वच्छ हुआ वस्त्र शुक्ल ( धबल ) कहा जाता है उसी प्रकार राग-द्वेषरूप मैलके दूर हो जानेपर जो निर्भल आत्मपरिणति होती है, उससे सम्बद्ध ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है । वह चार प्रकारका है—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरत्क्रियानिवृत्ति । इनमें पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान सपृथक्त्व, सर्वीतर्क और सर्वीचार माना जाता है । कारण इसका यह है कि इस ध्यानमें प्रवृत्त हुआ योगी एकाप्रतित होकर राग, द्वेष व मोहको उपशान्त करता हुआ वाद्य व अभ्यन्तर द्रव्य-पर्यायोंका ध्यान करता है । जिस प्रकार भन्द उत्साहयुक्त शालक अव्ययस्थित और मीथरी कुल्हाड़ीसे दीर्घ कालमें धृश्को काटता है उसी प्रकार ध्यानमें प्रवृत्त योगी वितर्कके बलसे अर्थ, तर्यजन तथा काय व वचनको भेदरूपसे महण करनेवाले मनके द्वारा मोहनीय प्रकृतियोंका उपशाम अथवा क्षय किया करता है । वह हीन शक्तिके कारण एक योगसे दूसरे योगका, एक श्रुतवाक्यसे दूसरे श्रुतवाक्यका तथा अर्थसे अर्थान्तरका आश्रय लेता है । जो मुनि समस्त मोहनीय कर्मको नष्ट करनेका इच्छुक हो विशेष योगका आश्रय लेता हुआ वितर्क ( श्रुतशानोपयोग ) से सहित परन्तु अर्थ, तर्यजन और योगकी संक्रान्तिसे रहित होकर निश्चल मनसे कथायको क्षीण करता है उसके एकत्ववितर्क नामका द्वितीय शुक्लध्यान होता है । इस ध्यानके सामर्थ्यसे जिस योगीने खातिया कर्मोंका क्षय करके केवलक्षानको प्राप्त कर लिया है उसकी आयु जब अन्तसुहृत्मात्र शेष रह जाती है तब यदि उसके नाम, गोत्र व वेदनीयकी स्थिति आयु कर्मके ही समान होती है तो वह समस्त वचनयोग व मनयोगकी तथा वाद्यर काययोगको नष्ट करके सूक्ष्म काययोगका आलम्बन लेता हुआ द्वितीय सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यानका ध्यान होता है । परन्तु यदि आयु कर्मकी अपेक्षा उक्त तीन कर्मोंकी स्थिति अधिक है तो फिर वह दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्रथातों द्वारा चार समयोंमें आत्मप्रदेशोंको विस्तृत करता हुआ उत्पद्धान चार समयोंमें उन विस्तृत आत्मप्रदेशोंको संकुचित करके पूर्वशरीरप्रभाण करता है । उस समय उसके चारों अधातिया कर्मोंकी स्थिति समान हो जाती है । तब वह सूक्ष्म काययोगके द्वारा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यानका ध्यान होता है । उत्पद्धान वह समुच्छिन्नक्रियानिवर्ती नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको प्रारम्भ करता है । उस समय चूँकि प्राणापानका संचार तथा काय, वचन और मन योगोंके द्वारा होनेवाली आत्मप्रदेशपरिस्थितिरूप क्रिया सर्वथा नष्ट हो जाती है, अतएव इस ध्यानको समुच्छिन्नक्रियानिवर्ती ध्यान कहा जाता है ॥१५-१६॥ कहा भी है ।

योगी शुक्लध्यानमें एक अर्थसे दूसरे अर्थका, एक वचनसे दूसरे वचनका, एक योगसे

१. T शब्दात् योगः । २. All others except P समाश्रयेत् ।

- 2159) अर्थादिषु यथा ध्यानी संक्रामत्यविलम्बितम् ।  
पुनर्वर्द्धिर्हन्ते तेन प्रकारेण स हि नवयष् ॥१५
- 2160) त्रियोगी पूर्वविद्यस्मौदिदं ध्यायत्यसी मुनिः ।  
सवितकं सवीचारं सपृथक्त्वमतो मतम् ॥१६
- 2161) अस्याचिन्त्यप्रभावस्य सामर्थ्यात् स प्रशान्तधीः ।  
मोहमूलयत्येव शमयत्यथवा क्षणे ॥१७
- 2162) उच्चतं च—  
इदमत्र तु तात्पर्यं श्रुतस्कन्धमहार्णवात् ।  
अर्थमेकं समादाय ध्यायन्तर्विन्तरं व्रजेत् ॥१८+१

2159) अर्थादिषु—यथा ध्यानी अर्थादिषु अविलम्बितं संक्रामति । हि निश्चितम् । तेन प्रकारेण पुनः स्वयं व्यावर्तते । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनर्विद्येषमाह ।

2160) त्रियोगी—यस्यात् इदं ध्यायति पूर्वविद् त्रियोगी असी योगत्रययुक्तः । अतः कारणात् सवितकं सवीचारं सपृथक्त्वं मतम् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ [ पुनरस्तदेवाह । ]

2161 ) अस्याचिन्त्य—सः प्रशान्तधीः उपशमितबुद्धिः अस्य अचिन्त्यप्रभावस्य सामर्थ्यात् मोहम् उम्मूलयति क्षमयति । एवम् अमुना प्रकारेण । अथवा क्षणे उपशमयति । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

2162 ) इदमत्र तु—एकम् अर्थं समादाय मुहोत्वा ध्यायन् अर्थान्तरं व्रजेत् । इति सूत्रार्थः । पूर्वार्थं सुगमम् ॥१८+१॥ अथ पुनरस्तदेवाह ।

दूसरे योगका तथा एक पर्यायसे दूसरी पर्यायका आलक्षण्य लेता हुआ एक द्रव्यपरमाणुसे अन्य द्रव्यपरमाणुका चिन्तन करता है ॥१६+१॥

योगी पृथक्त्ववितकं ध्यानमें जिस प्रकारसे अर्थ, व्यंजन और योगोंके विषयमें शीघ्रतासे संक्रमण करता है उसी प्रकारसे वह स्वयं फिरसे लौटता है ॥१५॥

चूँकि हस पृथक्त्ववितकका ध्यान तीनों योगोंवाला योगी करता है, अतएव वह वितकसे सहित, बीचारसे सहित और पृथक्त्वसे सहित माना गया है ॥१६॥

अचिन्त्य प्रभाववाले इस ध्यानके बलसे व अतिशय शान्त बुद्धिसे युक्त योगी श्लण्डरमें मोहको था तो नष्ट ही करता है या किर उसे उपशान्त करता है ॥१७॥ कहा भी है—

यहाँ तात्पर्य तो वह है कि समस्त आगमरूप समुद्रसे एक अर्थको ग्रहण करके उसका ध्यान करता हुआ पृथक्त्ववितकं ध्यानी उक्त अर्थको छोड़कर पुनः अन्य अर्थको आग्र होता

- 2163) शब्दाच्छब्दान्तरं यायाशोगं योगान्तरादपि ।  
सर्वीचारभिदं तस्मात् सवितर्कं च लक्ष्यते ॥१९\*२
- 2164) श्रुतस्कन्धमहासिन्धुमवगाह महामुनिः ।  
ध्यायेत् पृथक्त्वेवीतर्कीचारं ध्यानमग्रिमम् ॥१९\*३॥इति<sup>१</sup> ।
- 2165) [ एवं शान्तकषायात्मा कर्मक्षाशुशुक्षणिः ।  
एकत्वध्यानयोग्यः स्यात् पृथक्त्वेनैः जिताश्रयः ॥१९\*४ ]
- 2166) पृथक्त्वे तु यदा ध्यानी भवत्यमलमानसः ।  
तदैकत्वस्य योग्यः स्यादादिर्भूतात्मविक्रमः ॥२०
- 2167) ज्ञेयं प्रक्षीणमोहस्य पूर्वं न्यस्यामितद्युतेः ।  
सवितर्कभिदं ध्यानमेकत्वमतिनिश्चलम् ॥२१

2163) शब्दात्—[ यायात् गच्छेत् । अथः शब्दः शब्दान्तरम् । अन्यत् सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९\*२॥ ] अथ पुनराह ।

2164) श्रुतस्कन्ध—महामुनिः ध्यायेत् । किं कृत्वा । श्रुतस्कन्धमहासिन्धुं महासमुद्रम् अवगाह । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९\*३॥ अथ पुनरतदेवाह ।

2165) एवं शान्त—एवम् अभुना प्रकारेण कर्मक्षाशुशुक्षणिः कर्मदारमहामितिः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९\*४॥ अथ पुनरपि तदतिशेषमाह ।

2166) पृथक्त्वे तु—[ पृथक्त्वे नानात्वे । अमलमानसः निर्भलचित्सः । आविर्भूतात्मविक्रमः प्रकटीकृतस्वसामर्थ्यः । इति सूत्रार्थः ] ॥२०॥ अथ पुनराह ।

2167) ज्ञेयं प्रक्षीण—प्रक्षीणमोहस्य पूर्वज्ञस्य अमितद्युतेः असंख्यकान्तेः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

है । इसी प्रकार वह एक शब्दसे दूसरे शब्दको लथा एक योगसे अन्य योगको भी प्राप्त होता है । इसीलिए यह सर्वीतर्कं और सर्वीचार माना जाता है । महर्षिको समस्त श्रुतरूप समुद्रका परिशीलन करके इस प्रथम पृथक्त्ववितर्कीचार शुक्लध्यानका चिन्तन करना चाहिए ॥१९\*१-३॥

इस प्रकारसे जिसकी समस्त कथाएँ शान्त हो चुकी हैं, जो कर्मरूप वस्तको भस्म करनेके लिए अग्निके समान हैं, तथा उस पृथक्त्ववितर्कं ध्यानके द्वारा जिसका अन्तःकरण वशीभूत हो चुका है ऐसा वह योगी द्वितीय एकत्ववितर्कं ध्यानके योग्य होता है ॥१९\*४॥

जब योगीका मन पृथक्त्वके विषयमें अतिशय निर्भल हो जाता है, तब वह आत्मपराक्रमके प्रकट हो जानेसे एकत्ववितर्कं ध्यानके योग्य हो जाता है ॥२०॥

जिस अपरिमित पराक्रमके धारक पूर्वधर ( श्रुतकेवली ) योगीका मोह पूर्णतया क्षीण हो चुका है वह इस वितर्कसंहित व अतिशय निश्चल एकत्व ध्यानका स्वामी होता है ॥२१॥

१. All others except P L वितर्क । २. P M N इति । ३. P om. । ४. M N पृथक्त्वे निर्भिताश्रयः ।

2168) अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कं च योगिनः ।  
एकत्वमेकयोगस्य जायते इत्यन्तनिर्मलम् ॥२२

2169) द्रव्यं चैकमणुं चैकं पर्यायं चैकमश्च यः  
चिन्तयत्येकयोगेन यत्रैकत्वं तदुच्यते ॥२३

2170) उक्तं च—  
एकं द्रव्यमथाणुं वा पर्यायं चिन्तयेद्यदि ।

योगेनैकेन यदेक्षीणं तदेकत्वमुदीरितम् ॥२३\*१॥ इति ।

2171) अस्मिन् सुनिर्मलध्यानहुताशे प्रविज्ञमिते ।  
विलीयन्ते धणादेव धातिकर्माणि योगिनः ॥२४

2168) अपृथक्त्वम्—एकयोगस्य एकत्वं जायते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ पुनराह ।

2269) द्रव्यं चैकं—एकयोगेन चिन्तयति । तदुच्यते एकत्वं यत्र । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ उक्तं च ।

2170) एकं द्रव्यम्—एकेन योगेन यत् कर्म क्षीणं तदेकत्वम् उदीरितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२३\*१॥ अथ कर्मक्षयत्वमाह ।

2171) अस्मिन्—योगिनः धातिकर्माणि धणादेव विलीयन्ते । अस्मिन् सुनिर्मलध्यानहुताशे अग्नौ प्रजृमिते शोभते । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ शुक्लध्यानमाह ।

पृथक्त्व व वीचारसे रहित तथा वितर्कसे सहित वह अतिशय निर्मल एकत्वध्यान तीन योगोंमें से किसी एक ही योगवालेके होता है ॥२२॥

जिस शुक्लध्यानमें योगी बिना खेदके एक द्रव्य, एक परमाणु और एक पर्यायका एक ही योगके द्वारा चिन्तन करता है वह एकत्ववितर्क शुक्लध्यान कहलाता है ॥२३॥ कहा भी है—

किसी एक योगसे जो एक द्रव्य, एक परमाणु अथवा एक पर्यायका चिन्तन किया जाता है वह परिपूर्ण एकत्ववितर्क शुक्लध्यान कहा जाता है ॥२३\*१॥

इस अतिशय निर्मल ध्यानरूप अस्मिनके छूट्ठिगत होनेपर उसमें योगीके शातिशा कर्म शृणभरमें भर्म हो जाते हैं ॥२४॥

१. L F J चैकमणिं । २. T यत्रैकत्वमुदीरितं । ३. M Y ° चितिः । ४. ML F J यत्क्षीणं ।  
५. T तत्रैकत्वं तदुच्यते । ६. X Y निवृत्तं ।

- 2172) दृष्टीधरोधकद्वन्द्वं मोहयित्तमस्य दौत्रम् ।  
स क्षिणोति क्षणादेव शुक्लधूमध्वजाचिषा ॥२५
- 2173) आत्मलाभमथासाद्य शुद्धि चात्यन्तिकी पराम् ।  
प्राप्नोति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम् ॥२६
- 2174) अलब्धपूर्वे<sup>१</sup> आसाद्य तदासौ<sup>२</sup> ज्ञानदर्शने ।  
वेत्ति पश्यति निःशेषं लोकालोकं यथास्थितम् ॥२७
- 2175) तदा स भगवान् देवः सर्वज्ञः सर्वदोदितः ।  
अनन्तसुखबीर्यादिभूतेः स्यादग्रिमं पदम् ॥२८

2172) दृष्टीध—सः दृष्टीधरोधकद्वन्द्वं दर्शनादरणज्ञानादरणयुगमम् अन्तरायपञ्चकं क्षिणोति दूरीकरोति । शुक्लधूमध्वजाचिषा शुक्लध्यानाग्निना । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ पुनरस्तदेवाह ।

2173) आत्मलाभम्—केवलज्ञानं केवलदर्शनं प्राप्नोति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ पुनरस्तदेवाह ।

2174) अलब्धपूर्वे—असौ योगी अलब्धपूर्वे ज्ञानदर्शने आसाद्य प्राप्य निःशेषं लोकालोकं पश्यति वेत्ति । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ पुनरपि कथयति ।

2175 ) तदा स भगवान्—अनन्तसुखबीर्यादिभूतं लक्ष्याः अग्रिमं प्रधानं पदं स्थानम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ तस्य प्रभावमाह ।

वह योगी शुक्लध्यानरूप अग्निकी ज्वाला से दर्शन और ज्ञान के रोधक युगल को—ज्ञानादरण और दर्शनादरण इन दो घातिया कर्मों को—तथा मोह और अन्तराय इन दो अन्य घातिया कर्मों को भी क्षणभर में नष्ट कर देता है ॥२५॥

तत्पश्चात् वह योगी आत्मरूप को और शाश्वतिक उत्कृष्ट विभूति को पाकर केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है ॥२६॥

तब वह योगी पूर्वमें कभी नहीं प्राप्त हुए उस ज्ञान ( केवलज्ञान ) और दर्शन ( केवलदर्शन ) को पाकर के समस्त लोक एवं अलोकको, जैसा कि वह अवस्थित है, जानने और देखने लगता है ॥२७॥

उस समय वह भगवान् सर्वज्ञ देव सदा ही उद्दित रहकर अनन्तसुख और अनन्तबीर्य आदि ( अनन्तचतुष्टय ) स्वरूप विभूति का उत्कृष्ट स्थान बन जाता है ॥२८॥

१. M N T चापरं । २. P S T F क्षणोति, N क्षणाति, L संक्षिणोति । ३. N "विषाम् ।  
४. N S T J X Y R पूर्वभासाद्य । ५. M N तदासौ । ६. L T F तदासौ । ७. M N S  
भगवानेव ।

- 2176) इन्द्रचन्द्राक्षोगीन्द्रेनरामरनतकमः ।  
विहरत्पवनीपूष्ठं स शीलैश्वर्यलाङ्गित्रा ॥२९
- 2177) उन्मूलयति मिथ्यात्वं द्रव्यभावगतं<sup>३</sup> सुवि ।  
बोधपत्यपि निःशेषां<sup>३</sup> भव्यराजीवमण्डलीम् ॥३०
- 2178) ज्ञानलक्ष्मीं तपोलक्ष्मीं लक्ष्मीं त्रिदश्योजिताम् ।  
आत्यन्तिकीं च संप्राप्य धर्मचक्राधिष्ठियो अद्वैत् ॥३१
- 2179) कल्याणदिभवं श्रीमान् सर्वाभ्युदयसूचकम् ।  
समाप्ताद्यं जगद्वन्द्वं त्रैलोक्याधिष्ठितर्भवेत् ॥३२

2176) इन्द्रचन्द्राक्ष—सः योगी अवनिपूष्ठं विहरति । कीदृशम् अवनिपूष्ठम् । शीलैश्वर्यलाङ्गित्रा चिह्नितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ पुनरपि तदाह ।

2177) उन्मूलयति—द्रव्यभावगतं मिथ्यात्वं भुवस् उन्मूलयति । भव्यराजीवमण्डलीं भव्यकमलशेषों निःशेषां बोधयति । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ पुनरपि तदाह ।

2178) ज्ञानलक्ष्मीम्—ज्ञानलक्ष्मीं केवलज्ञानश्चियम् । तपोलक्ष्मीं त्रिदश्योजितां समवशारणं संबन्धितमीम् । च पुनः । आत्यन्तिकीं मोक्षलक्ष्मीं संप्राप्य धर्मचक्राधिष्ठियो तीर्थकरो भवेत् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ पुनर्स्तत्कलमाह ।

2179) कल्याण—सर्वाभ्युदयसूचकं सर्वकल्याणदेशकम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ पुनरप्याह ।

उस समय उसके चरणोंमें इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, धरणेन्द्र तथा मनुष्य व अन्य सब देव नमस्कार करते हैं । तब वह अठारह इजार शीलोंके अधिपतिस्वसे लक्षित होकर इस पृथिवी-तलपर विहार करता है ॥२९॥

इस प्रकार विहार करता हुआ वह द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकारके मिथ्यात्वको निर्मूल करके समस्त भव्य जीवरूप कमलोंके समूहको प्रबोधित करता है ॥३०॥

वह अविनश्वर ज्ञानरूप लक्ष्मी, तपरूप लक्ष्मी और देवोंके द्वारा रची गयी समवसरणादिरूप लक्ष्मीको भी प्राप्त करके धर्मचक्रका स्वामी—तीर्थकर केवली—हो जाता है ॥३१॥

उपर्युक्त अन्तर्णग और बहिरंग दोनों प्रकारकी लक्ष्मीसे संयुक्त होता हुआ वह समस्त अभिवृद्धिको सूचित करनेवाले और लोकसे वन्दनीय ऐसे कल्याणविभवको—केवलकल्याणक-की महिमाको—प्राप्त करके तीनों लोकोंका स्वामी हो जाता है ॥३२॥

- 2180) तत्त्वामग्रहणादेव निःशेषा जन्मजा रुजः ।  
अप्यनादिसमुद्भूता भव्यानां यान्ति लाघवम् ॥३३
- 2181) तदाहंस्यं परिप्राप्य स देवः सर्वगः शिवः ।  
जायते अखिलकर्मैषिजरामरणवर्जितः ॥३४
- 2182) किं च तस्य महैश्वर्य<sup>१३</sup> चरणज्ञानवैभवम् ।  
ज्ञातुं वक्तुमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ॥३५
- 2183) अनन्तकलेशबीजे इस्मिन् हते धातिचतुष्टये ।  
देवस्य व्यक्तिरूपेण शेषमास्ते चतुष्टयम् ॥३६

2180) तत्त्वाम—अनादिकाल-समुद्भूता उत्पत्ता । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ पुनर्स्तस्यरूपमाह ।

2181) तदाहंस्यं—अखिलकर्मैषिजरामरणवर्जिताः सर्वकर्मसमूहवार्धक्यमूल्युरहिताः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ किं च युक्त्यन्तरमाह ।

2182) किं च तस्य—तस्य परमात्मनः, परमैश्वर्य<sup>१४</sup>, चरणज्ञानवैभवं चारित्रोधसाम्राज्यं, वक्तुं ज्ञातुम् । अहं मन्ये योगिनामप्यगोचरं योगिनामप्यगम्यम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ पुनर्स्तस्यैव स्वरूपमाह ।

2183) अनन्तकलेश—धातिचतुष्टये ज्ञानावरणादिके हते सति प्रोहेन<sup>१५</sup> सह<sup>१६</sup> दुर्धर्षेः दुष्करे देवस्य व्यक्तिरूपेण । शेषम् अधातिचतुष्टयम् । आयुर्नीमादि आस्ते तिष्ठति । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ पुनर्स्तस्यैव स्वरूपमाह ।

उस जिनेन्द्रके केवल नाममात्रके ही लेनेसे भव्य जीवोंके अनादि कालसे उत्पन्न हुए अन्म-भरणरूप संसारजनित रोग कम हो जाते हैं ॥३३॥

तब अहंस्त अवस्थाको प्राप्त होकर सर्वव्यापक हुआ वह जिनेन्द्र समस्त कर्मसमूहके साथ जरा और मरणसे रहित हो जाता है ॥३४॥

उसकी समवसरणादिरूप वाणि विभूति तथा चारित्र और ज्ञानका वैभव योगियोंके द्वारा भी न जाना जा सकता है और न कहा भी जा सकता है, ऐसा भी मानता हूँ ॥३५॥

अपरिमित कलेशके कारणभूत उन चार धातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेपर उस सर्वज्ञ जिनके शेष चार कर्म—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अधातिया कर्म—व्यक्तिरूपमें ( उद्यगप्राप्त ) रहते हैं ॥३६॥

१. N S T X Y R तदाहंस्य । २. Y मरणविच्छुतः । ३. L S J X R तस्यैव परमैश्वर्य, T F कि च-  
तस्यैव परमैश्वर्य, Y पारगस्य महैश्वर्य । ४. All others except P प्रोहेन सह दुर्धर्षेः हते । ५. M देवस्या-  
व्यक्ति, N वेवस्याव्यक्त ।

- 2184) सर्वज्ञः क्षीणकर्मासौ केवलज्ञानभास्करः ।  
अन्तर्मुहूर्तं शेषायुस्त्रृतीयं ध्यानमर्हति ॥३७
- 2185) [ पैष्मासायुषि शेषे संवृत्ता ये जिनाः प्रकर्षेण ।  
ते यान्ति समुद्घातं शेषा भाज्याः समुद्घाते ॥३७\*१ ]
- 2186) यदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः ।  
समुद्घातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा ॥३८
- 2187) अनन्तवीर्यः३ प्रथितप्रभावो दण्डं कपाटं प्रतरं विधाय ।  
स लोकमेतं ४ समयैरचतुर्भिन्निःशेषमापूरयति क्रमेण ॥३९

2184) सर्वज्ञः क्षीण—असौ योगी तृनीयध्यानगृह्णति योग्यो भवति । कीदृशः । शेषं सुगमम् ।  
इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ पुनर्स्तदैवाह ।

2185) पैष्मासायुषि—ये जिनाः दीक्षिताः । पैष्मासायुषि शेषे । ते प्रकर्षेण समुद्घातं  
यान्ति प्राप्नुवन्ति । शेषा उर्वरिताः समुद्घाते भाज्या विभजनीयाः इति सूत्रार्थः ॥३७\*१॥ अथ  
समुद्घातस्वरूपमाह ।

2186) यदायुरधिकानि—यदा कर्माणि आयुरधिकानि आयुः अधिकं येषां तानि तथा  
परमेष्ठिनः स्युः, तदा प्रागेव पूर्वमेव साक्षात् समुद्घातम् आरभते । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ  
समुद्घातविधिमाह ।

2187) अनन्तवीर्यः—अनन्तवीर्येण प्रथितः विस्तारितः प्रभावो यस्य सः । लोकम् एत  
प्रथमं दण्डाकारेण पूरयति । पदचात् कपाटाकारेण पूरयति । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ तस्य  
विशेषमाह ।

इस प्रकार धातिया कर्मांसे रहित होकर केवलज्ञानरूप सूर्यसे संयुक्त हुआ वह सर्वज्ञ  
प्रभु अन्तर्मुहूर्तं मात्र आयुके शेष रह जानेपर तृतीय—सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती—शुक्लध्यानके  
योग्य होता है ॥३७॥

उत्कर्षसे छह मास प्रमाण आयुके शेष रह जानेपर जो अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त हुए हैं  
वे केवल समुद्घातको प्राप्त होते हैं । शेष उस समुद्घातके विषयमें भजनीय हैं—इससे  
अधिक आयुके साथ अर्हत अवस्थाको प्राप्त हुए जिनमें कितने ही उस समुद्घातको करते  
हैं और कितने ही उसे नहीं भी करते हैं ॥३७\*१॥

जब अर्हन्त परमेष्ठीके वेदनीय, नाम और गोत्र ये तीन कर्म आयुकर्मकी अपेक्षा  
अधिक स्थितिकाले होते हैं तब वे प्रकटमें पहले ही समुद्घातकी विधिको प्रारम्भ करते  
हैं ॥३८॥

उस समय अनन्तवीर्यसे संयुक्त व प्रसिद्ध पराक्रमका धारक वह परमेष्ठी दण्ड, कपाट  
और प्रतरको करके चार समयोंमें क्रमसे समस्त लोकको परिपूर्ण करता है । विशेषार्थ—

१. P om., M N interchange ३७\*१ and ३८ । २. M N ते यज्ञि यान्ति । ३. All others  
except P M L शीर्षप्रथित । ४. All others except P N "मेन, N मेर्व ।

2188) तदा स 'सर्वगः सार्वः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ।

विश्वव्यापी<sup>३</sup> विभूर्भूर्ती विश्वमूर्तिर्भैश्वरः ॥४०

2189) लोकपूरणमासाद्य करोति ध्यानवीर्यतः ।

आयुःसमानि कर्माणि भुक्तिमानीय तत्क्षणे ॥४१

2188) तदा सः—तदा तस्मिन् काले । स परमेष्ठी सर्वगः । ज्ञानायेक्षया अस्त्रलितमतित्वात् । पुनः कीदूषः । सर्वेभ्यो हितः सार्वः । सर्वज्ञः इति सुगमम् । सर्वत्र संमुखः । पुनः कीदूषः । सर्वव्यापी । विभुः व्यापकः । भर्ता स्वामी । विश्वमूर्तिः महेश्वरः विशेषणद्वयं सुगमम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥४०॥ अथ पुनराह ।

2189) लोकपूरणम्—तत्क्षणे तत्प्रस्तावे कर्माणि आयुःसमानि आयुःप्रमाणानि करोति । किं कृत्वा । लोकपूरणम् । दण्डकपाटप्रतरैरासाद्य प्राप्य । पुनः किं कृत्वा । भुक्तिमानीय । कस्मात् । ध्यानवीर्यतः ध्यानवलात् । इति सूक्ष्मार्थः ॥४१॥ अथ पुनरस्तत्प्रस्त्रमाह ।

आत्मप्रदेशोंके फैलनेका नाम समुद्घात है । केवली भगवानके जब आयु कर्मकी स्थिति अन्तर्मुद्घातमात्र शेष रहती है, किन्तु वेदनीय, नाम और गोचर इन तीन अधातिया कर्मोंकी स्थिति उस आयुकी स्थितिसे अधिक रहती है तब उनकी इस स्थितिको समान करनेके लिए जो उक्त केवलिके आत्मप्रदेश ऊपर, नीचे और तिरछे रूपमें फैलते हैं, इसे केवलिसमुद्घात कहा जाता है । वह दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणके भेदसे चार प्रकारका है । उनमें मूळ शरीरके बाहर्यसे ( कायोत्सर्गकी अपेक्षा ) अथवा उससे लिङुणे बाहर्यसे ( पश्चासमकी अपेक्षा ) दण्डके आकारमें विस्तारकी अपेक्षा लिङुणी परिधियुक्त जो आत्मप्रदेश फैलते हैं उसका नाम दण्डसमुद्घात है । इस दण्डसमुद्घातमें उन आत्मप्रदेशोंकी लम्बाई कुछ कम औदृढ़ राजु मात्र होती है । जिस प्रकार कपाट मोटाईमें कम होकर भी विस्तार और लम्बाईमें अधिक होता है उसी प्रकार मूळ शरीरकी मोटाईमें अथवा उससे लिङुणी मोटाईमें रहकर कुछ कम औदृढ़ राजु लम्बे और सात राजु विस्तृत जो आत्मप्रदेश फैलते हैं वह कपाटसमुद्घात कहलाता है । उक्त आत्मप्रदेशोंका बातबलयोंसे रोके गये क्षेत्रको छोड़कर अन्यत्र सब ही लोकमें जो विस्तार होता है उसका नाम प्रतरसमुद्घात है । इसका दूसरा नाम मन्थसमुद्घात भी है जो सार्थक है । कारण कि इस अवस्थामें उन अधातिया कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका भथन किया जाता है । तत्यश्चात् उक्त औदृढ़प्रदेशका बातबलयहृद क्षेत्रमें भी जो प्रवेश होता है, यह लोकपूरण समुद्घात कहा जाता है । केवलिसमुद्घातकी इन चार अवस्थाओंमें एक-एक समयके क्रमसे चार समय लगते हैं । इसके पश्चात् जिस क्रमसे उन आत्मप्रदेशोंका विस्तार होता है उसी क्रमसे—लोकपूरणसे प्रतरादिके क्रमसे—वे आगेके चार समयोंमें संकुचित होकर मूळ शरीरमें अवस्थित हो जाते हैं । इस प्रकार केवलि-समुद्घातसे चार अधातिया कर्मोंकी स्थितिको समान करके अहंन्त परमात्मा सूक्ष्मकाययोग-से शूक्ष्मिक्याप्रतिपाती शुक्लध्यानको ध्याते हैं ॥३२॥

इस प्रकार लोकपूरणसमुद्घातको प्राप्त होकर उस समय सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वतो-

१. N तदा सर्वगतः सार्वः, T स तदा । २. T J सर्वव्यापी ।

2190) ततः क्रमेण लैनैव स पश्चादिनिवर्तते ।

लोकपूरुषतः श्रीमान् चतुर्भिः समयैः पुनः ॥४२

2191) काययोगे<sup>१</sup> स्थिति कृत्वा बादरे अचिन्त्यचेष्टितः ।

सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम् ॥४३

2192) काययोगं<sup>२</sup> ततस्त्यकृत्वा स्थितिमासाद्य तदद्वये ।

स सूक्ष्मीकृत्वे पश्चात् काययोगं च बादरम् ॥४४

2193) काययोगे ततः सूक्ष्मे पुनः कृत्वा स्थिति क्षणात् ।

योगद्वयं निगृह्णाति सद्यो वाक्चित्तसंज्ञकम् ॥४५

2190) ततः क्रमेण—[ पुनः लैनैव लैनैव ह विशिष्टते तत्यावर्तते । शेषं सुगमम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥४२॥ ] अथ पुनस्तदेवाह ।

2191) काययोग—बादरे काययोगे स्थिति कृत्वा वाक्चित्तं योगयुग्मं बादरम् । बाङ्मनोयोगं सूक्ष्मीकरोति । कीदृशाः । अचिन्त्यचेष्टितः अचिन्त्यकर्तव्यः । इति सूक्ष्मार्थः ॥४३॥ पुनर्विशेषमाह ।

2192) काययोगं—ततः काययोगं त्यकृत्वा तदद्वये वाङ्मनोद्वये स्थितिम् आसाद्य बादरं काययोगम् । च पादपूरणे । पश्चात् सूक्ष्मीकृत्वे । इति सूक्ष्मार्थः ॥४४॥ तसी विशेषमाह ।

2193) काययोगे—ततः सूक्ष्मे काययोगे क्षणात् स्थिति कृत्वा योगद्वयं न गृह्णाति । सूक्ष्मत्वात् । किम् । वाक्संज्ञकचित्तम् । इति सूक्ष्मार्थः ॥४५॥ अथ पुनरपि विशेषमाह ।

मुख, विश्ववृथापी, विमु, भर्ती, विश्वमूर्ति और भाविश्वर इन सार्थक नामोंसे संयुक्त वे अर्हन्त केवली ध्यानके प्रभावसे उसी क्षणमें भोगको प्राप्त कराकर—स्थिति व अनुभावको शीण करके—आरोग्यात्मकतया कर्मोंकी स्थितिमें आशुके समान करते हैं ॥४०-४१॥

तत्पद्मान् अन्तरंग व वहिरंग लक्ष्मीसे संयुक्त वे अर्हन्त उपर्युक्त लोकपूरणसमुद्घात अवस्थासे चार समयोंमें उसी क्रमसे पीछे छौटसे हैं—उनके वे आत्मप्रदेश लोकपूरणसे प्रतर, प्रतरसे कपाट और कपाटसे दण्डरूपमें संकुचित होकर अन्तमें पूर्वके समान शरीरके भीतर प्रविष्ट होकर अवस्थित हो जाते हैं ॥४६॥

तत्र अचिन्त्य चेष्टासे संयुक्त वे भगवान् बादर काययोगमें स्थित होकर बादर बचनयोग और बादर मनयोग इन दोनोंके सूक्ष्म करते हैं ॥४३॥

तत्पद्मान् काययोगको छोड़कर और उन सूक्ष्म बचनयोग और मनयोगमें स्थित होकर वे भगवान् बादर काययोगको सूक्ष्म करते हैं ॥४४॥

फिर वे उस सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर क्षणभरमें बचनयोग, मनयोग, नामवाले उन दो योगोंका शीघ्र ही निप्रह करते हैं—उन दोनोंको नष्ट कर देते हैं ॥४५॥

१. M N योगस्थिति । २. N योगे । ३. All others except P M स्थिति कृत्वा पुनः । ४. M संविक्ष ।

- 2194) सूक्ष्मक्रियं ततो ध्यानं स साक्षाद्यातुमर्हति ।  
सूक्ष्मैककाययोगस्थेतुतीयं यद्वि पर्यन्ते ॥४६
- 2195) द्वासप्तिर्विलीयन्ते कर्मप्रकृतयस्तदा॑ ।  
अस्मिन् सूक्ष्मक्रिये ध्याने देवदेवस्य दुर्जयः ॥४७
- 2196) तस्मिन्नेव क्षणे साक्षादाविभवति निर्मलम् ।  
समुच्छिक्रियं॑ ध्यानमयोगिपरमेष्टिनः ॥४८
- 2197) विलयं वीतरागस्य तत्र॑ यान्ति व्रयोदश ।  
कर्मप्रकृतयः सद्यः पर्यन्ते या व्यवस्थिताः ॥४९

2194) सूक्ष्मक्रिय—स योगी तत् सूक्ष्मक्रियं ध्यानुमर्हति शोभयो भवति । हि निश्चितम् ।  
सूक्ष्मैककाययोगस्थं सुतीयं ध्यानं पर्यन्ते । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ पुनविशेषमाह ।

2195) द्वासप्तिः—देवदेवस्य उपान्ते द्वासप्तिः कर्मप्रकृतयः विलीयन्ते । कीदृशः ।  
मुक्तिश्रीप्रतिबन्धकाः सोक्षप्रतिरोधकाः । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

2196) तस्मिन्नेव—तस्मिन्नेव क्षणे प्रस्तावे, समुच्छिक्रियं ध्यानम् आविभवति । शेषं  
सुषमम् । इति सूत्रार्थः ॥४८॥ अथ पुनविशेषमाह ।

2197) विलयम्—वीतरागस्य चरमे समये, पर्यन्ते प्रान्ते, व्यवस्थिताः व्योदयं प्रकृतयः  
पुनः विलयं यान्ति । इति सूत्रार्थः ॥४९॥ अय यदसी तदाह ।

उस समय वे एकमात्र सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यानके  
करनेके लिए योग्य होते हैं । यह ध्यान लीसरा शुक्लध्यान कहा जाता है ॥४६॥

तब योगकेवलीके उपान्त्य समयमें इस सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यानके आश्रयसे  
उन देवाधिदेव अर्हन्त प्रभुकी दुर्जय अहूतर कर्मप्रकृतियाँ क्षयको प्राप्त होती हैं ॥४७॥

फिर उसी क्षणमें उन अयोगिकेवली जिनके साक्षात् निर्मल समुच्छित्तक्रिय नामका  
चतुर्थं शुक्लध्यान प्रकट होता है ॥४८॥

अन्तमें उस वीतराग प्रभुके जो तेरह कर्मप्रकृतियाँ अवस्थित थीं वे वहाँ शीघ्र ही  
क्षयको प्राप्त हो जाती हैं ॥४९॥

१. M N योगस्वं । २. J यदविषयते । ३. All others except P प्रकृतयो दुतम् । उपान्त्ये  
देवदेवस्य मुक्तिश्रीप्रतिबन्धकाः, M N प्रकृतयो इहतः, M उपान्ते...विशिकाः । ४. L केवले ।  
५. M N क्रियध्यानं । ६. All others except P पुनः for तत्र...चरमे समये सद्यः ।

2198) तदासौ निर्मलः शान्तो निष्कलङ्को विरामयः ।

जन्मजानेकदुर्विवन्धव्यसनविच्छयतः ॥५०

2199) सिद्धात्मा सुप्रसिद्धात्मा विष्ववात्मा निरञ्जनः ।

निष्क्रियो निष्कलः शुद्धो निर्विकल्पो इति निश्चलः ॥५१

2200) आविभूत्यथाख्यातचरणो अनन्तवीर्यतः ।

परं शुद्धिं परिप्राप्तो दुष्टेभोधस्य चात्मनः ॥५२

2201) अयोगी स्थक्योगत्वात् केवलो अत्यन्तनिर्वृतः ।

साधितात्मस्वभावस्य परमेष्ठी परः प्रभुः ॥५३

2202) उत्पुष्टश्वाक्षरोचरकालं स्थित्वा ततः परम् ।

संस्वभावाद्वज्ञत्वृष्टं शुद्धात्मा वीतवन्धनः ॥५४

2198) तदासौ—[ जन्मजानेकदुर्विवन्धव्यसनविच्छयतः । जन्मनः जाताः अनेके दुर्वाराः ये बन्धाः त एव तेषां वा व्यसनेभ्यः विच्छयतः मुक्तः । अन्यत्सुगमम् ॥५०॥ ] अथ पुनरस्तमेवाह ।

2199) सिद्धात्मा—[ निरञ्जनः कलंकरहितः । निर्विकल्पः संकल्पविकल्परहितः । निष्क्रियः निरेशः । अन्यत्सुगमम् ॥५१॥ ] अथ परमशुद्धेः हेतुमाह ।

2200) आविभूत—तदा आविभूत्यथाख्यातः प्रगटीभूत्यथाख्यातचारित्रः । पुनः कीदृशः अनन्तवीर्यवात् । च पुनः । आत्मनः बोधस्य ज्ञानस्य । दुष्टेः सम्यगदर्शनादेः । परं शुद्धिं परिप्राप्तो भवतीति सूत्रार्थः ॥५२॥ अथायोग्यत्वमाह ।

2201) अयोगी—अत्यन्तनिर्वृतः प्रचुरसीख्यमयः । शेषे सुगमम् ॥५३॥ पुनर्योगिस्वरूपमाह ।

2202) लघुपञ्चाक्षरोच्चार—स्वस्वभावात् ऊर्ध्वं त्रजति । परं किं कृत्वा । लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालम् 'अइउऋहलू' इत्युच्चारकालं स्थित्वा । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथ पुनरस्तदेवाह ।

उस समय के अयोगी जिन निर्मल, शान्त, कर्मरूप कलंकसे रहित, रोगसे विद्धीन, जन्म-मरणरूप संसारके अनेक दुर्निवार बन्धजनित आपत्तियोंसे विमुक्त, सिद्ध, अतिशय प्रसिद्ध व निष्पलनस्वरूपसे संयुक्त, कर्म-कालिमासे रहित, क्रियासे वियुक्त, शरीरसे रहित, शुद्ध, निर्विकल्प, अतिशय निश्चल, प्रकट हुए यथाख्यातचारित्रसे सहित, अनन्त वीर्यसे विशिष्ट होकर अपने सम्यगदर्शन व सम्यगज्ञानकी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त, योगोंसे रहित हो जानेके अयोगी, असहाय, अतिशय सुखी, आत्मस्वरूपकी सिद्धिको प्राप्त, परमेष्ठी, सर्वोत्कृष्ट और अपूर्व प्रभावशाली होकर चौदहवें सुणस्थानमें पाँच ( अ इ उ श्च लु ) हस्त अक्षरोंके उच्चारणके कालप्रभाव स्थित रहते हैं और तत्प्रह्लाद् वे शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होकर कर्म-बन्धसे सर्वथा मुक्त होते हुए स्वभावतः आर्थिगमन करते हैं ॥५०-५४॥

१. L F J सुप्रतिष्ठात्मा । २. M निःकलो निःक्रियः । ३. T निर्मलः यो इति । ४. S X Y R निर्मलः ।

५. J आविभूतो । ६. All others except P वीर्यवात् । ७. J X R केवलोत्पातनि । ८. M सदिरात्मा स्वभावात् । ९. M N T धरप्रभुः, L S F J X Y R परं प्रभुः । १०. M N L T F स्व for स ।

- 2203) अवरोधविनिर्मुक्तो लोकाग्रं<sup>१</sup> समये प्रभुः ।  
धर्माभावे ततो इप्यूच्चं<sup>२</sup> गमनं नानुभीयते ॥५५
- 2204) धर्मो गतिस्वभावो इयमधर्मः स्थितिलक्षणः ।  
तयोर्योगात्पदार्थानां गतिः<sup>३</sup> स्थितिरुदाहता ॥५६
- 2205) तौ लोकगम्यनान्तःस्थौ ततो लोके गतिस्थिती ।  
अर्थानां न तु लोकान्तमतिक्रम्य प्रवर्तते ॥५७
- 2206) स्थितिमासाद्य सिद्धात्मा तत्र लोकाग्रमन्दिरे<sup>४</sup> ।  
आस्ते स्वभावजानन्तगुणेश्वर्योपिलक्षितः ॥५८

2203) अविरोध—प्रभुः अविरोधविनिर्मुक्तः आवरणरहितः लोकाग्रसमये । तथा उच्चं  
गमनं नानुभीयते । धर्माभावे धर्मास्तिकायाभावे । इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथ धर्मदीनां स्वभावमाह ।

2204) धर्मो गति—तयोः धर्माधर्मयोः योगात् संबन्धात् पदार्थानां गतिस्थितिः उदाहृता ।  
शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५६॥ पुनस्त्वयोर्विशेषमाह ।

2205) तौ लोक—ती धर्मधर्मलोकगम्यनान्तःस्थौ लोकाकाशस्थिती । ततो लोके गतिस्थिती ।  
अर्थानां पदार्थानाम् । न तु लोकान्तम् अतिक्रम्य परित्यज्य प्रवर्तते । इति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ पुनः  
तत्स्वरूपमाह ।

2206) स्थितिमासाद्य—सिद्धात्मा लोकाग्रमन्दिरे आस्ते तिष्ठति । कि कुत्वा । स्थितिम्  
आसाद्य प्राप्य । कीदृशः । स्वभावजानन्तगुणेश्वर्योपिलक्षितः सहजानन्तगुणसाम्राज्यसंपूर्कतः । इति  
सूत्रार्थः ॥५८॥ पुनस्तदेव

इस प्रकार ऊर्ध्वगमन करके वे प्रभु प्रतिबन्धसे रहित होते हुए लोकके अग्रभाग तक  
ही जाते हैं, उसके आगे धर्मद्रव्यके बिना नहीं जाते हैं । लोकशिखरके आगे ( अलोकमें )  
जानेका अनुमान भी नहीं किया जा सकता है ॥५५॥

इस धर्मद्रव्यका लक्षण गतिहेतुता और अधर्मका लक्षण स्थितिहेतुता है । उन दोनोंके  
सम्बन्धसे पदार्थोंकी—जीवों व पुद्गलोंकी—गति और स्थिति निर्दिष्ट की गयी है ॥५६॥

वे दोनों—धर्म और अधर्म द्रव्य—चूँकि लोकाकाश तक ही अवस्थित हैं, अतएव  
पदार्थोंका गमन और अवस्थान लोकमें ही होता है, वह लोकके अन्तको लौंघकर अलोकमें  
नहीं होता है ॥५७॥

वह सिद्ध परमात्मा लोकके शिखरपर अवस्थित होकर स्वाभाविक अनन्त गुणोंके  
वैभवसे परिपूर्ण होता हुआ वहाँ अनन्त काल रहता है ॥५८॥

१. L S P X R मुंक । २. J लोकाग्र । ३. S J X Y R व्यूच्च । ४. S T X Y R गतिस्थिती  
उदाहृते । ५. L S P X Y R गमनी । ६. J मन्दिर ।

- 2207) आत्यनितकं निशाचाधमत्यर्थं स्वस्वभावजम् ।  
यत्सुखे देवदेवस्य तद्वक्तुं केन पार्यते ॥५९
- 2208) तथा प्युद्देशतः किंचित् ब्रवीमि सुखलक्षणम् ।  
निष्ठितार्थस्यै सिद्धस्य सर्वद्वन्द्वातिवतिनः ॥६०
- 2209) यद्देवेमनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थसंभवम् ।  
निविशन्ति निशाचाधं सर्वशिश्रीणनक्षमम् ॥६१
- 2210) सर्वेणातीतकालेन यच्च सुक्तं महद्विकम् ।  
भाविनो यर्थं भोक्यन्ते स्वादिष्टं स्वान्तरञ्जकम् ॥६२
- 2211) अनन्तगुणितं तस्मादत्यर्थं स्वस्वभावजम् ।  
एकस्मिन् समये भुज्ञते तत्सुखं परमेश्वरः ॥६३

2207) आत्यनितकं—[ देवदेवस्य सुखं वक्तुं केन पार्यते । कीदूर्शा तत् । अत्यक्षम् अक्षाणि इन्द्रियाणि अतिक्रम्य वर्तते इति । स्वस्वभावजं स्वप्रकृत्यैवोत्पन्नम् । अन्यत्सुगमम् ॥५९॥ ] पुनर्स्तदेवाह ।

2208) तथा प्युद्देशतः—तथापि उद्देशतः नाममात्रेण सिद्धस्य किंचित् सुखलक्षणं ब्रवीमि । कीदूर्शास्य । निष्ठितार्थस्य कृतार्थस्य । पुनः कीदूर्शास्य । सर्वद्वन्द्वातिवतिनः सर्वैवलेशारहितस्य । इति सूत्रार्थः ॥६०॥ अथ कीदूर्शां तदाह ।

2209) यद्देव—सर्वे देवाः, मनुजा मनुष्याः, अक्षार्थसंभवं सौख्यं निविशन्ति भुज्ञते । शेषं सुगमम् ॥६१॥ पुनर्स्तदेवाह ।

2210) सर्वेण—भाविनः अनागतकाले । च पुनः । ये च भोक्यन्ते यत् सुखम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६२॥ अथ तद्विशेषमाह ।

2211) अनन्तगुणितं—तस्मात् वैकालिकविषयिकसौख्यात् अनन्तगुणितं तत्सुखं परमेश्वरः भुज्ञते एकस्मिन् समये । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६३॥ अथ ज्ञानस्वरूपमाह ।

उस देवाधिदेव सिद्ध परमात्माको जो अविनश्वर, निर्बाध, अतीनिद्रय व स्वाभाविक आत्मिक सुख प्राप्त है उसका वर्णन करनेके लिए भला कौन समर्थ है ? कोई भी नहीं—बहु उसका सुख अवर्णनीय है ॥५९॥

फिर भी मैं कृतकृत्य और सम्पूर्ण कलेशोंसे मुक्त हुए उस सिद्ध परमात्माके सुखके रूपरूपका निर्देशमात्रसे कुछ कथन करता हूँ ॥६०॥

सब देव और मनुष्य बाधासे रहित एवं सब ही इन्द्रियोंको ग्रसन्न करनेवाले जिस इन्द्रियविषयजनित सुखको वर्तमानमें भोग रहे हैं, समस्त अतीत कालमें उन्होंने जिस महसी शृद्धियुक्त सुखको भोगा है, तथा भविष्यमें वे मनको अनुरंजित करनेवाले जिस

१. M निषिद्धार्थस्य । २. M T X Y R यदेव मनुजाः, F J यद्देवाः । ३. L T महाविकैः ।  
४. M N ये च । ५. All others except P N F भोक्यन्ति ।

2212) त्रिकालविषयाशेषद्व्यपर्यायसंकुलम् ।

जगत् स्फुरति बोधाके युगपद्योगिनां पतेः ॥६४

2213) सर्वतो अनन्तमाकाशं लोकेतरविकल्पितम् ।

तस्मिन्नपि धनीभूय यस्य ज्ञानं व्यवस्थितम् ॥६५

2214) निद्रातन्द्राभयआन्तिरागद्वेषातिंशशयैः ।

शोकमोहजराजन्ममरणाद्यैश्च विच्छुतः ॥६६

2215) क्षुत्तद्धममदोन्मादमूर्खीमात्सर्यवज्ञितः ।

शृद्धिहासव्यपेतात्मा कल्पनातीतवैभवः ॥६७

2216) निष्कलः करणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।

अनन्तवीर्यतापशो नित्यानन्दाभिनन्दितः ॥६८

2212) त्रिकाल—त्रिकालविषयाः ये अशेषद्व्यपर्यायाः ते: संकुलं व्याप्तम् । योगिनां पतेः तीर्थकरस्य बोधाके ज्ञानसूर्ये जगत् स्फुरति । इति सूत्रार्थः ॥६४॥ पुनर्जीविस्य विषयमाह ।

2213) सर्वतो अनन्तम्—सर्वतः सर्वत्र अनन्तम् आकाशं लोकेतरविकल्पितं लोकप्रमिता-संख्येयलक्षणकल्पितम् । तस्मिन्नपि आकाशे धनीभूय यस्य सिद्धस्य ज्ञानं व्यवस्थितम् । इति सूत्रार्थः ॥६५॥ अथ पुनः कीदृशः इत्याह ।

2214) निद्रा तन्द्रा—विच्छुतः रहितः । शोषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६६॥ [ पुनः कीदृशः तदाह । ]

2215-17) क्षुत्तद्धम—क्षुधादिशरीरधर्मैः वजितः रहितः । वृद्धिहासव्यपेतात्मा । वृद्धिश्च ह्रासश्च ताम्यां रहितः आत्मा स्वरूपं यस्य सः । अनन्तवीर्यतापन्नः अपरिभितसामर्थ्यं-स्वादिष्ट सुखको भोगेण; उससे अनन्तगुणे अतीन्द्रिय व रसाभाविक उस सुखको वह सिद्ध परमात्मा एक समयमें भोगता है ॥६१-६३॥

योगियोंके अधिपतिस्वरूप उस सिद्ध परमात्माके ज्ञानरूप सूर्यमें तीनों कालों विषयक समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायोंसे व्याप्र लोक प्रकाशभाव होता है ॥६४॥

लोक और अलोक इन दो भेदोंमें विभक्त आकाश सब ओरसे अनन्त है—उसका अन्त किसी ओरसे भी नहीं पाया जाता है । उस अनन्त आकाशमें भी सिद्धात्माका ज्ञान निरन्तर व्यवस्थित है—सिद्ध परमात्मा समस्त लोक और अनन्त अलोकको भी सदा प्रत्यक्ष देखते हैं ॥६५॥

निद्रा, आलस्य, भय, भ्रम, राग, द्वेष, पीड़ा, संशय, शोक, मोह, जरा, जन्म और मरण आदिसे रहित; क्षुधा, तृष्णा, परिश्रम, मद, उन्माद (विषयासक्ति), मूर्खी और हृष्यभावसे विहीन; वृद्धिहानिसे रहित स्वरूपसे संयुक्त, अकल्पनीय (अचिन्त्य) वैभवसे परिपूर्ण, शरीरसे रहित, इन्द्रियोंसे अतीत, विकल्पोंसे निष्क्रान्त, कलंकसे युक्त, अनन्त वीर्यस्वरूपको

- 2217) परमेष्ठी परंजयोतिः परिपूर्णः सनातनः ।  
संसारसागरोत्तीर्णः कृतकृत्यो ऽचलस्थितिः ॥६९
- 2218) सुत्रमः सर्वदैवास्ते देवस्त्रैलोक्यमूर्धनि ।  
नोपमानं<sup>१</sup> सुखादीनां विद्यते परमेष्ठिनः ॥७०
- 2219) चरस्थिरार्थसंकीर्णे मूर्ख्यमार्ण जगत्त्रये ।  
उपमानोपमेयत्वं मन्ये स्वस्यैवं स स्वयम् ॥७१
- 2220) यतो न तद्गुणानां स्यादनन्तांशो ऽपि कस्यचित् ।  
'ततो न शक्यते कर्तुं' तेन साम्यं जगत्त्रये ॥७२

संपन्नः । संसारसागरोत्तीर्णः भवसमुद्रात् उत्तीर्णः विमुक्तः । अन्यत्सुगमम् ॥६७-६९॥ पुनस्त-  
स्वरूपमाह ।

2218) सुत्रमः—परमेष्ठिनः सुखादीनाम् उपमेयं न विद्यते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७०॥  
अथ तदेवाह ।

2219) चरस्थिरार्थं—अहं मन्ये । जगत्त्रये उपमानोपमेयत्वं स्वस्यैव स्वयं वर्तते । शेषं  
सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७१॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2220) यतो न—यतः कारणात् तद्गुणानां परमात्मगुणानाम् अनन्तांशो ऽपि कस्यचिज्ञातुं  
न स्यात् । यथा व्योमकालयोः पर्यन्तं प्रान्तं ज्ञानं न शक्यते । इति सूत्रार्थः ॥७२॥ अथ पुनर्निष्पम-  
ताम् आह ।

प्राप्त, शाश्वतिक आनन्दसे प्रशंसित, परम पदमें स्थित, उक्तषट ज्ञान-ज्योतिसे सहित, परिपूर्ण,  
सनातन, संसाररूप समुद्रके पारको प्राप्त, कृतकृत्य और स्थिर स्थितिसे संयुक्त वह सिद्ध  
परमात्मा अतिशय सन्तुष्ट होकर सदा तीन लोकके शिखरपर (सिद्धालयमें) स्थित रहता  
है । उस सिद्ध परमेष्ठीके अनन्त सुखादि गुणोंकि लिए अस्थिर और स्थिर पदार्थोंसे परिपूर्ण  
लोकमें यदि किसी उपमानको खोजा जाये तो वह उपलब्ध नहीं हो सकता है । अर्थात् उनके  
अनन्त ज्ञानादि गुणोंकी किसी अन्यके साथ तुलना नहीं की जा सकती है । वह स्वयं ही  
अपने उपमान और उपमेय स्वरूपको प्राप्त है, ऐसा मैं मानता हूँ—सिद्ध परमात्माके वे गुण  
उसीके समान हैं, अन्य किसीके भी समान नहीं हैं ॥६६-७२॥

यदि सिद्ध परमेष्ठीके अनन्त गुणोंका अनन्तवाँ भाग भी किसी अन्यके सम्भव होता  
तो उसके साथ उनकी उपमा (तुलना) की जा सकती थी, परन्तु ऐसा है नहीं । इसीलिए तीनों  
लोकोंमें उनकी तुलना अन्यसे नहीं की जा सकती है ॥७२॥

१. M N T F स तृतीय, L तृतीय च, S J X Y R संत्रमः । २. L S F J Y R नोपमेयं । ३. N  
तस्यैव । ४. Y स्वस्यैव शाश्वते । ५. L Y R ज्ञानगुणानां । ६. P N om, 2nd line, M शक्यते न  
यथा, M N J read this verse thus: 1st line यतो न तद् etc. & शक्यते न यथा...कालयोः ।

2221) शक्यते न यथा ज्ञातुं पर्यन्तोऽव्योगकालयोः ।  
तथा स्वभावजातानां गुणानां परमेष्ठिनः ॥७३॥

2222) गगनधनपतञ्जाहीन्द्रचन्द्राचलेन्द्र-  
क्षितिदहनसमीराम्भोधिकल्पद्रुमाणाम् ।  
निचयमपि समस्तं चिन्त्यमानं गुणानां  
परमगुरुणीधैर्नोपमानत्वमेति ॥७४॥

2221) शक्यते न—परमेष्ठिनः स्वभावजातानां गुणानाम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७३॥  
अथ विशेषमाह । मालिनी ।

2222) गगनधन—[ परमगुरुणीधैः परमगुरोः गुणसमुदायैः एतेषां गुणाः उपमानत्वे न  
यान्ति । केषाम् । आकाश-मेघ-सूर्य-शैष-चन्द्र-हिमालय-पृथ्वी-अग्नि-वायु-समुद्र-कल्पवृक्षाणाम् ।  
निचये गुणानां समूहमपि । इति सूत्रार्थः ॥७४॥ ] अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

जिस प्रकार आकाश और कालका अन्त नहीं जाना जा सकता है उसी प्रकार सिद्ध  
भगवान्‌के स्वाभाविक गुणोंका भी अन्त नहीं जाना जा सकता है ॥७३॥

यदि सिद्धात्माके गुणोंकी तुलनाके लिए आकाश, मेघ, सूर्य, नागराज, इन्द्र, चन्द्र,  
सुमेरु, पृथ्वी, अग्नि, वायु, समुद्र और कल्पवृक्षके समस्त गुणोंके समूहका भी विचार करें  
तो वह भी सिद्ध परमेष्ठी गुणसमूहके साथ उपमाको प्राप्त नहीं होता है—सिद्ध परमात्माके  
गुण उपर्युक्त आकाशादिकोंके गुणोंसे उत्कृष्ट होनेके कारण उनके साथ भी उनकी तुलना  
नहीं की जा सकती है । हीनाधिकताकी विशेषतासे रहित व विकारसे न उत्पन्न होनेवाले वे  
सिद्धात्माके गुण न तो असत्पूर्व हैं और सत्पूर्व भी हैं—शक्तिकी अपेक्षा उनका सद्भावं  
यद्यपि पूर्वमें था, फिर भी व्यक्तिकी अपेक्षा वे अपूर्व ही हैं क्योंकि, शक्तिरूपमें विद्यमान  
रहकर भी उनका पूर्वमें कभी इस रूपसे विकास नहीं हुआ था । किन्तु उनके वे गुण अपनी  
स्वाभाविक विशेषताको प्राप्त हो जानेसे अभूतपूर्व भी हैं, कारण कि उनकी वह विशेषता  
पूर्वमें कभी प्रकट नहीं हुई थी । विशेषार्थ—अभिप्राय इसका यह है कि सिद्धोंके जो अनन्त-  
ज्ञानादि गुण हैं । वे सर्वथा अभूतपूर्व नहीं हैं, क्योंकि, उनका सद्भाव शक्तिरूपसे संसार  
अवस्थामें सभी प्राणियोंके पूर्वमें भी रहता है । इसका भी कारण यह है कि यदि वे शक्तिकी  
अपेक्षा पूर्वमें न होते तो फिर उस अवस्थामें भी वे प्रकट नहीं हो सकते थे । उदाहरणके  
रूपमें तिलके दानोंमें शक्तिरूपसे तेल जब विद्यमान रहता है तभी कोलहू आदिकी सहायतासे  
उनमें वह प्रकट होता हुआ देखा जाता है । परन्तु बालुके कणोंमें वह चँकि शक्तिरूपसे  
विद्यमान नहीं है, इसलिये उनसे तेलके निकालनेका किलना भी प्रयत्न क्यों न किया जाये;

१. All others except PN पर्यन्त, X पर्यन्तव्योम । २. M N read this verse thus : तथा  
स्वभाव...परमेष्ठिनः । को अनन्तावगतादीनो स्वरूप वक्तुमीश्वरः ॥, J read thus : तथा स्वभाव...पर-  
मेष्ठिनः । ततो निःशङ्क्यते कलु...जगत्त्रये ॥ ३. After this verse J X V R add नासलूबास्त्वं  
etc, verse No. ।

- 2223) वाक्पथातीतमाहात्म्यमनन्तं ज्ञानवैभवम् ।  
 सिद्धात्मनो गुणग्रामं सर्वज्ञज्ञानगोचरम् ॥७५॥ किं च—  
 2224) सै स्वयं यदि सर्वज्ञः सम्यग्भूते समाहितः ।  
 तथाप्येति न पर्यन्तं गुणानां परमेष्ठिनैः ॥७६  
 2225) त्रैलोक्यतिलक्ष्मीभूतं निःशेषविषयच्युतम् ।  
 निर्द्वन्द्वं नित्यसत्यक्षं स्वादिष्टं स्वस्वभावजम् ॥७७  
 2226) निरौपद्यमविच्छिन्नं स देवैः परमेश्वरः ।  
 तत्रैवास्ते स्थिरीभूतः पिबन् शश्वर्तुं सुखामृतम् ॥७८

2223) वाक्पथातीत—[ सर्वज्ञज्ञानगोचरम् । सिद्धात्मनो योगिनां गुणग्रामं गुणसमूहं सर्वज्ञ एव आत्मुं समर्थः । इति सूत्रार्थः ॥७५॥ ] अथ परमेष्ठिनः गुणानाम् आनन्द्यम् आह ।

2224) स स्वयं—किं च । यदि स्वयं सर्वज्ञः सम्यग् ब्रूते समाहितः तथापि एति न पर्यन्तम् । न एति । इति सूत्रार्थः ॥७६॥ अथ पुनः आत्मस्वरूपमाह ।

2225) त्रैलोक्य—कीदृशं परमात्मानम् । त्रैलोक्यतिलक्ष्मीभूतं सुगमम् । पुनः कीदृशम् । निःशेषविषयच्युतं सर्वविषयभ्रष्टम् । निर्द्वन्द्वं द्वन्द्ररहितम् । नित्यं शाश्वतम् । अत्यक्षं निर्मलम् । स्वादिष्टं स्वेन आदिष्टं कथितम् । स्वस्वभावजं स्वभावजातम् । इति सूत्रार्थः ॥७७॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

2226) निरौपद्यम्—किं कुर्वन् । ज्ञानसुखाभूतं पिबन् । कीदृशम् । निरौपद्यम् उपमा-  
 किन्तु वह त्रिकालमें भी प्रकट नहीं हो सकता है । तात्पर्य यह कि सिद्ध परमात्माके वे गुण सब ही ग्राणियोंके अव्यक्त रूपमें विश्वभाव हैं, जो अपने पुरुषार्थसे व्यक्त भी किये जा सकते हैं, अतएव प्रत्येक आत्महितैषी जीवको अपनी उस शक्तिका परिज्ञान प्राप्त करके उन स्वाभाविक गुणोंके प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥७४॥

सिद्धोंके जिस गुणसमूहकी महिमा वचनों द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती है तथा जो अनन्त ज्ञानके वैभवसे परिपूर्ण होकर एक सर्वज्ञके ज्ञानका ही विषय है—छद्मस्थका ज्ञान जिसको जाननेके लिये समर्थ नहीं है, यदि वह सर्वज्ञ भी स्वयं सावधान होकर सिद्ध परमेष्ठीके उस गुणसमूहका वर्णन भलीभैति करना चाहे तो वह भी उन गुणोंके अन्तको नहीं पा सकता है, क्योंकि, वे अनन्त हैं और शब्द परिमित हैं ॥७५-७६॥

वह सिद्ध परमात्मा तीनों लोकोंमें शेषभूत, समस्त विषयोंके सम्बन्धसे रहित, निराकृत, अविनश्वर, इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित, सुखादु, आत्मस्वभावसे उत्पन्न (स्वाधीन), असाधारण और व्यवधानसे वर्जित ऐसे सुखरूप अमृतका सदा पान करता हुआ—निरन्तर

१. All others except P F<sup>१</sup> मनन्तज्ञान, J सर्वज्ञानामगोचरम् । २. P M X V किं च ।  
 ३. X Y सर्वज्ञसदृशः को यदि यदि ब्रूते । ४. Y पर्याप्तं । ५. M N T परमेष्ठिनां । ६. T सर्वेषां ।  
 ७. L T F J स्थिरीभूयः । ८. L S T F J X R ज्ञान for शश्वत् ।

2227) देवः सो अनन्तवीर्यो दृग्बग्मसुखानध्यरत्नावकीर्णः  
श्रीमैत्रैलोक्यमूर्धिन प्रतिवसति भवध्वान्तविष्वंसभानुः ।  
स्वात्मोत्थानन्तनित्यप्रवरशिवसुधाम्भोधिमग्नः सदैव  
सिद्धात्मा निर्विकल्पो अप्रतिहतमहिमा शशदानन्दधामे ॥७९  
इति ज्ञानार्थवे शुक्लध्यानफलम् ।

2228) एवं कतिपय [वरे] वर्णध्यानफलं कीर्तिं समाप्तेन ।  
निःशेषं यदि वक्तुं प्रभवति देवः स्वयं वीरः ॥८०

रहितम् । अविच्छिन्नम् अव्याहृतम् । स देवः परमेश्वरः तथैव स्वल्पे स्थिरीभूय आस्ते तिष्ठति ।  
इत्यर्थः ॥७८॥ पुनर्स्तमेवाह ।

2227) देवः सो अनन्त—ए देवः त्रैलोक्यमूर्धिन प्रतिवसति । कीदृशः । अनन्तवीर्यः । पुनः  
कीदृशः । दृग्बग्मसुखानध्यरत्नावकीर्णः सम्यक्त्वज्ञानसुखानध्यरत्नावकीर्णः ते विकीर्णः व्याप्तः ।  
श्रीमान् । पुनः कीदृशः । भवध्वान्तविष्वंसभानुः भवान्धकारसूर्यः । पुनः । स्वात्मोत्थानन्तनित्य-  
प्रवरशिवसुधाम्भोधिमग्नः स्वस्वरूपे जातानन्तनित्यविशिष्टमुक्तिपीयूषसमुद्रः । सदैव सिद्धात्मा ।  
पुनः कीदृशः । निर्विकल्पः । पुनः कीदृशः । अप्रतिहतमहिमा सर्वव्याप्तिसमर्थ्येपितः । शश्वत्  
निरन्तरम् । आनन्दधाम । इति सूत्रार्थः ॥७९॥ अथ ग्रन्थप्रभागमाह ।

2228) इति कतिपय—निःशेषं सर्वध्यानफलं यदि वक्तुं स्वयं वीरः प्रभवः समर्थो भवति ।  
इति सूत्रार्थः ॥८०॥ पुनर्विशेषमाह ।

अनन्त सुखका अनुभव करता हुआ—वहीपर स्थिर होकर रहता है—उसका फिर संसारमें  
पुनरागमन नहीं होता है ॥७७-७८॥

अनन्त वीर्यसे संयुक्त; केवलदर्शन, केवलज्ञान व सभीचीन सुखरूप अमूल्य रत्नोंसे  
व्याप्त; संसाररूप अन्धकारके नष्ट करनेमें सूर्य समान, समस्त विकल्पोंसे रहित, अचाहित  
महिमासे परिपूर्ण और निरन्तर सुखका स्थानभूत वह वन्दनीय सिद्ध परमात्मा अपने आत्म-  
मात्रसे उत्पन्न, अविनाश्वर व सर्वोत्कृष्ट आनन्दरूप अमृतके समुद्रमें मग्न होकर सर्वदा उस  
शोभायमान तीन लोकके शिखरपर ही रहता है ॥७९॥

इस प्रकार ज्ञानार्थवे शुक्लध्यानके फलका वर्णन समाप्त हुआ ।

इस प्रकार मैंने कुछ उत्तम वर्णके द्वारा संक्षेपमें ध्यानके फलका निरूपण किया है ।  
यदि उसका पूर्णतया वर्णन करनेमें कोई समर्थ हो सकता है तो वह श्री वीर जिनेन्द्र ही हो  
सकता है—उद्दमस्थ उसका पूर्णरूपसे वर्णनसमर्थ नहीं है ॥८०॥

१. : T X Y R श्रीमान्...स देवः । २. M सुखाम्भोऽ । ३. S X Y R ज्ञानः । ४. M इति  
ध्यानफलम्, N L F प्रकरणसमाप्तिः । ५. All others except P N इति for एवं । ६. J om.  
वरे & reads अकीर्तिं । ७. N निःशेषं तत्क्षणितुम् ।

2229) इति जिनपतिसूत्रात्सारमुद्घृत्य किञ्चित्  
स्वमतिविभवयोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीतम् ।

विबुधमुनिमनीषाम्भोधिचन्द्रायमाणं  
चरतु भूति तिभूतये यावदतीचन्द्रनाम् ॥८१॥

2230) [ ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वतः ।  
यज्ञानाशीर्थते मन्येदुस्तरो ऽपि भवार्णवः ॥८१\*१ ]

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे पण्डिताचार्य-श्री-  
शुभचन्द्राचार्य-विरचिते मोक्षप्रकरणम् ॥३९॥

2229) इति जिनपति—इति अमूला प्रकारेण जिनपतिसूत्रात् सारं किञ्चित् उद्घृत्य  
स्वमतिविभवयोग्यं त्वबुद्धिमीप्रायोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीतं कथितम् । कीदृशम् । विबुधमुनिमनी-  
षाम्भोधिचन्द्रायमाणं पण्डितमुनिमनीषासमुद्गोल्लासचन्द्रसदृशम् । भूति पृथिव्याम् । विभूतये लक्ष्ये  
चरतु । यावद् अद्वित्तीये भेदः चन्द्रः च यावद् तावत् । इति सूत्रार्थः ॥८१॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योग-प्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन  
साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहश्रितिदास-स्वश्रवणार्थं  
पण्डित-जिनदासोद्यमेन कारपितं मोक्षप्रकरणं समाप्तम् ॥३९॥

अष्टसहस्रं संख्यातं पञ्चकेन विराजितम् ।

सर्वेष्ट्यप्रमाणं हि तिर्णीतव्यं महावृत्तैः ॥१॥

इति श्रीज्ञानार्णव-टीका समाप्ता ॥८१००॥

इस प्रकार जिनेन्द्रके सूत्रसे—जिनागमसे—कुछ सारको ग्रहण करके मैंने अपनी बुद्धि-  
के बैभवके अनुसार इस ध्यानशास्त्रकी रचना की है । वह विशेष विद्वान् मुनियोंकी बुद्धिरूप  
समुद्रको बुद्धिगत करनेके लिए चन्द्रमाके समान हैं । जबतक यहाँ सुमेरु, इन्द्र और चन्द्र हैं  
तत्त्वतक यह शास्त्र अपने बैभवके लिए इस पृथिवीपर संचार करता रहे ॥८१॥

जिस ज्ञानके प्रभावसे भव्य जीव दुस्तर भी जंसाररूप समुद्रकी महिमाको पार किया  
करते हैं उस ज्ञानरूप समुद्रकी महिमाको कौन अपने चित्तमें जान सकता है ? कोई नहीं  
जान सकता है ॥८१\*१॥

इस प्रकार पण्डिताचार्य श्री शुभचन्द्राचार्य विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें  
पिण्डस्थध्यान व्रकरण समाप्त हुआ ॥३९॥

१. M N चन्द्रः, L S T J X R चन्द्रः । २. All others except P N T J read this verse  
after the colophon । ३. Y चित्रं for चिते ।

अस्यां श्रीमन्मृप्यां श्रीमद्दहै [ है ] वचरणकमलचश्चरीकः सुजनजनहृदयपरभानन्दकन्द-  
लीकन्दः श्री-मायुरान्वयसमुद्रचन्द्रायमानो भव्यात्मा परमश्वाककः श्री-सेमिचन्द्रो नामाभूत् ।  
तस्याखिलविज्ञानकलाकौशलशालिनी सती पतिव्रतादिगुणगणालंकारभूषितशरीरा निजमनोवृत्ति-  
रिवाव्यभिचारिणी स्वर्णा नाम धर्मपत्नी संजाता । अथ तयोः समासादितव्यमर्थिकामफलयोः  
स्वकुलकुमुदवनचन्द्रलेखा निजवंशवैजयन्ती सर्वलक्षणालंकृतशरीरा जाह्निं नाम पुत्रिका  
समुत्पन्ना ।

ततो गोकण्ठश्रीचन्द्री सुती जाती मनोरमी ।  
गुणरत्नाकरी भव्यी रामलक्ष्मणसज्जिभी ॥  
सा पुत्री नेमिचन्द्रस्थ जिनशासनवत्सला ।  
दिवेकविनयोपेता सम्यगदर्दानलांछिता ॥  
शात्वा संसारवैचित्र्यं कलंगुतां च नृजन्मनः ।  
तपसे निरणात् गैहात् शान्तचित्ता सुर्संयता ॥  
बान्धवैवर्यिमाणापि प्रणतैः शास्त्रलोचनैः ।  
मनागपि मनो यस्या न प्रेमणा कश्मलीकृतम् ॥  
गृहीतं मुनिपादान्ते तया संधतिकाव्रतम् ।  
स्वीकृतं च मनःशुद्धया रत्नत्रयमखण्डितम् ॥  
तथा विरक्तयात्यन्तं नवे वयसि योवने ।  
आरब्दं तत्पः कलु<sup>८</sup> यत्सतां साध्विति सुतम् ॥  
यमद्रुततपोद्योगैः स्वाध्यायव्याजसंयमैः ।  
कायकलैशाद्यनुष्ठानैर्गृहीतं जन्मनः फलम् ॥  
तपोभिर्दुष्करैनित्ये बाह्यान्तभैर्दलक्षणैः ।  
कषायरिपुभिः सार्धं निःशोषे शोषितं वपुः ॥  
विनयाचारसंपत्या संधः सर्वोऽप्युपासितः ।  
देयावृत्योद्यमात् शशवत् कीर्तिनीता दिग्न्तरम् ॥  
किमियं भारती देवी किमियं ज्ञासनदेवता ।  
दृष्टपूर्वेरपि प्रायः पौरैरिति वित्कर्यते ॥  
तया कर्मक्षयस्याथं व्याजाव्ययनशालिवे ।  
तपःश्रुतनिधानाय तत्त्वज्ञाय महात्मने ॥  
रागादिरिपुमलाय शुभचन्द्राय योगिने ।  
लिखाए युस्तकं दत्तमिदं ज्ञानार्णवाभिधम् ॥

संवत् १२८४ वर्षे वैशाखमुदि १० शुक्रे गोमण्डले दिग्म्बरराजकुलसहस्रकीर्तिस्याथं  
पं. केशरिसुतबीसलेन लिखितमिति ॥ ज्ञानार्णवपु ॥ स्तं ॥ आ २२

## १. वृत्तसूची

- अनुष्टुप् :** १-१३, १५-४८, ५१-९५, ९७-११०, ११६-१३१, १३३-४२, १४४-५४, १५६-६८, १७०-७७, १७९-८९, १९१-९९, २०१-२१, २२४-२९, २३१-४२, २४४-४५, २४७-८२, २८४-८६, २८८-९३, २९७-३०५, ३०८-१६, ३१८-४९, ३५४-७२, ३८३-४३७, ४३९-४७, ४४९-६९, ४७२-९८, ५००-५०५, ५०७-२७, ५३१-७०, ५७३-९०, ५९३-६३७, ६३९, ६४१-६४, ६६६-९३, ६९६, ६९८, ७००-०६, ७०८-१४, ७१७-२४, ७२६-६१, ७६५-६९, ७७१-८०३, ८०५-१०, ८१८-२३, ८२६-६०, ८६४-६३, ८८७-९०६, ९०८-२५, ९२८-५६, ९६१-७२, ९७७-८६, ९८९-९८, १००३-४, १००८-१५, १०१७-३९, १०४१-४३, १०४९-६०, १०६२, १०६४-११०४, ११०७-१६, १११८-४५, ११४७-६९, ११२६-७८, ११८०-१२०३, १२०५-७, १२०९-१०, १२१२, १२१५, १२१७-२१, १२२३-२६, १२३१-३३, १२३६-३९, १२४३, १२४५-४६, १२५८-६२, १२६४-६५, १२६७-१३१६, १३१८-७२, १३८८-९०, १४०९, १४१४-१६, १४१९, १४४१-४३, १४५५-६७, १४६९-८५, १४८८-१५१०, १५१२-१६१४, १६१६-३५, १६३९-५२, १६५४-५६, १६५८-५९, १६६१, १६६३-७५, १६७८-८३, १६८५-८६, १६८९-१७७६, १७७८-१८७५, १८७७-१९०६, १९१०-१५, १९४८-२०, १९२२-७०, १९७२-९४, १९९८-२००१, २००४-५, २००७-३०, २०३२-७८, २०३०-३२, २०४५-४४, २०९०-२११०, २११३-२६, २१३१-३४, २१३६, २१३८-३९, २१४२-४४, २१४६-४४, २१८६, २१८८-२२२१, २२२३-२६, २२३०.
- आर्योः** ३०६-३०७, ४३८, ५२८-२९, ५९१, ६३८, ६६५, ६९७, ७०७, ७१५, ८०४, ८२४-२५, ८८६, ९६०, १००५-६, १०४८, ११४६, १२४९, १३७३-८७, १३९१-१४०८, १४११-१३, १४१७-१८, १४२०-४०, १४४४-५४, १९०७, १९१६, १९७१, १९९५-९६, २००२-३, २००६, २१४५, २१८५.
- इम्ब्रवज्ञा :** १२५३, १२५७.
- इन्द्रवंशा :** १००१.
- उपजाति :** १०००, १११७, १२१६, १२४०-१२४२, १२४८, १२५०, १२५२, १२५५-५६, १२६३, १४८६, १६७६, २०८३, २१२७-२८, २१३०, २१८७.
- उपेन्द्रवज्ञा :** ८०५, १०६३, १२२७, १२४१, १६७७, १६८४, २०८४.
- पृथ्वी :** ३१७.
- मन्दकात्ता :** १४३, ३८१, ११७१, ११७३, १४६८, २१३७.
- यालिनी :** ९६, १६९, १९०, २२३, २३०, २४३, ४४८, ४७०, ५०६, ५९२, ६४०, ६९५, ७२५, ७६२, ८११-१३, ८१७, ८६१, ८८४, ९०७, ९७५, ९९९, १०४०, १०४४, १०६१, ११०६, १२०४, १२३०, १२३५, १२५४, १२६६, १६१५, १६५७, १६८७, १८७६, १९२१, १९९७, २१११, २१३५, २२२२, २२२९.
- वसन्ततिलक :** ३५०-५१, ९८७, १००२, १९१७.
- वक्षस्थ :** १४, २९४-९६, ४९९, ५७१, ७१६, ९५७-५९, १००७, १०१६, १२४४, १७७७, २११२.

शार्दूलविकीर्ति : ५०, ११२, ११३, ११५, १३२, १५५, २२२, २४६, २८७, ३५२-५३, ३७३-७४, ३७७-७९, ३८२, ५७२, ६९४, ६९९, ८१४-१६, ८६२-६३, ९२६-२७, ९७३, ९७६, ९८६, १०४५-४६, ११७०, ११७४, ११७९, १२०८, १२११, १२२२, १२२८, १२४७, १२५१, १४८७, १६३६-३८, १६६०, १६६२, १६८८, १९०९, २०३१, २०८९, २१२९, २१४०-४१. शालिमी : १६५३, शिखरिणी : ४९, १७८, २००, २८३, ३७६, ९७४, १५१। अर्घय : १११, ११४, ३७५, ३८०, ४७१, ५३०, ७६३-६४, ७७०, १०४७, ११०५, ११७२, ११७५, १२१३-१४, १२२९, १३१७, १९०८, २०७९, २२२७.

## 2. इलोकानुक्रमणिका

अकारादि हकारात्मं	1934	अगोरपि च	1498	अथ लोकश्यो	1490
अकृताभीष्ट	110	अतस्तत्पार्य	1855	अथान्यैर्वृत्त	310
अकृद्वारैरविथात्मं	1524	अतस्तदेव संरुच्य	1080	अथाप्रतिहतानन्द	1991
अकृद्वारैर्गिलित्वा	1535	अतः प्रमादमुत्सूज्य	482	अथावसाने स्वतन्त्रे	2128
अक्षोरगशकुन्तेशं	2052	अतः प्रागेव	1516	अथासनजयं	1331
अगम्यं यन्मृगाङ्कस्य	459	अतः सम्यक्	2044	अद्यैः संप्रयुक्तानि	556
अगाधकरुणा	1338	अतः साक्षात् स	1343	अदृष्टपूर्वमालीक्य	1709
अगाधक्रोध	652	अतिक्रम्य शरीरादि	2122	अदृष्टमत्स्वरूपः	1545
अग्ने वामक्षिभागे	1420	अतीन्द्रियमनिदेश्य	1611	अथ नाथ चर्यं	1831
अङ्गनादिमहा	70	अकुलसुखनिषानं	448	अग्न रामज्ञिरोत्तीर्णः	1472
अङ्गमापाङ्गं	767	अनुलभुतसेविः	591	अग्नपि धदि	1644
अङ्गान्यष्टावपि	1075	अतृसिजनकं	1025	अविकृत्य चलदं	2011
अचिच्छिद्वृपयोः	145	अत्यन्तसंगम	844	अघोरीर्वा अत्तैः	28
अचिद्वृश्यमित्वं	1571	अत्यर्थं विषयातीतं	254	अघो वेशासनाकारः	228
अचिद्रूपा विना	416	अत्यजश्नमसी	1070	अघो वेशासनाकारः	
अचिन्त्यकाम	608	अत्यन्तद्विषय	237	(change)	1696
अचिन्त्यचरितं	2036	अत्यन्तद्वुलभेष्वेषु	445	अध्यात्मजं उदत्त्यर्थं	1035
अचिन्त्यमति	1362	अत्यल्पमपि	848	अनन्तवलेशबीजे	2183
अचिन्त्यमस्य	1062	अत्यल्पे धन	363	अनन्तवलेशसप्तांश्चिः	972
अजस्रे रुद्धयमाने	1114	अत्युपरतपसा		अनन्तगुणपर्याय	1623
अजिताक्षः	1013	अथ अन्यनि	83	अनन्तगुणराजीव	1470
अजिनपटल	169	अथ संकलिपताः	1835	अनन्तगुणराजीव	
अज्ञातदस्तु	1198	अत्राभ्यासप्रयत्नेन	1352	अनन्तगुणितं	2211
अज्ञातस्वस्वरूपेण	1513	अथ कीलूहल	1444	अनन्तज्ञमजायेक	1097
अज्ञातस्वस्वरूपो ऽर्थं	140	अथ धर्मविति	2142	अनन्तदुःखसंकीर्ण	1221
अज्ञानजनितः	30	अथ नाभिपुष्टीकात्	1437	अनन्तदुःखसंकीर्ण	1032
अज्ञानपूर्विका	468	अथ निर्णीति	354	अनन्तवीष्ट	1054
अज्ञानविकृतं	1563	अथ प्रवाग्य	1267	अनन्तमहिमा	752
अणुप्रचय	147	अथ मण्डलेषु	1381	अनन्तवीर्यविज्ञान	1483
अणुमात्रादपि	839	अथ मन्त्रपदांशीर्णं	1918	अनन्तवीर्यः	2187
अणुसकमध्यविभेदेन	417	अथ रूपे	2094	अनन्तव्यसनासार	615

अनन्तः सर्वदा	397	अनेकपथ	1630	अपास्य कल्पना(change) 919
अनस्तानस्तभागे	458	अनेकवस्तु	2046	अपास्य खण्ड 1187
अनन्तानस्तमाकाशं	1689	अनेकव्यसनोऽिष्ठते	2042	अपास्य वहिरात्मानं 1522
अनस्यशरणस्तद्विं	1509	अनेकासल्य	1245	अपि लीयेत 12
अनन्यक्षारणः साक्षात्	1931	अनेन तु	77	अपि दावात्मल 551
अनन्वशरणः साक्षात् (change)	2064	अनेनेव विद्युड्यमिति	1957	अपि मानसं 625
अनस्यशरणीभूय	1507	अन्तर्दहति भन्त्राच्चिः	1894	अपि लोकत्रयैश्वर्य 1102
अनहं यन्मया	1581	अन्तर्दृष्टात्मनः	1577	अपि सूर्यस्त्वजेत् 845
अनाञ्चात्मिक	1580	अन्तर्बहुभूयोः	1595	अपुथक्त्वमवीचारं 2168
अनादिकाळः	44	अन्तर्लीनमपि	829	अप्यनादि 795
अनादिनिधनः	227	अन्तःकरणजं	796	अप्युलुङ्गाः 662
अनादिप्रभवः	1531	अन्तःकरणशुद्धधर्य	325	आप्येकं दर्शनं 444
अनादिप्रभवैः	1065	अस्तःशूल्यो भूयः	687	अप्रभवः सुसंस्थानः 1327
अनादिप्रभवो वैरी	937	अन्तःसुतोऽपि	734	अब्जरात्मसमुद्भूत 1882
अनादित्रिम	1645	अन्त एव वराकः	783	अभयं अस्तु 523
अनादिविभ्रमात्	1617	अन्त्यधाषाणकल्पं	409	अभ्यासानो 410
अनादिविभ्रमोद्भूतं	1184	अन्यत्वमेव	150	अभिचारपरैः 1190
अनासा वशकाः	1192	अन्यत्वं किं न	148	अभिमतकल 1375
अनास्त निष्कर्षण	1227	अन्यद्यायक्षुत	2027	अभिलक्षिति 1235
अनासादितनिर्वेदाः	333	अन्ययोगव्यवच्छेदात्	527	अभेदविज्ञाता 1602
अनासाद्य अनः	631	अन्यः कश्चिद्	153	अमी जीवादयः 1488
अनासाद्य त्रिं	573	अन्योन्यसंक्रमोत्पत्तः	430	अभुमेद महा 1686
अनित्याद्याः	56	अन्वयःतिरेकाभ्यां	286	अमृतजलधि 1997
अनिरुद्धाक्षर्मतानाः	332	अपवृप्याकः	1684	अमृतभिन्न सर्वं 1391
अनिरुद्धा सत्ती	866	अपाध्यमपि	1217	अमृते प्रवहति 1426
अनिलगवद्वृद्ध	1400	अपथ्यानि वसा	705	अग्रलजनितं 1609
अनिपित्ताक	1043	अपमानकरं	985	अयत्नेनापि 956
अनिष्टयोग	1203	अपवादमहा	751	अयत्नेनापि (change) 1050
अनुत्तरविमानेयु	1870	अपवादात्पदीभूत	175	अयत्नेनापि (change) 1111
अनुद्युक्तास्तपः	338	अपाकुर्वन्ति	15	अयमात्मा महामोरु 36
अनुद्यूतमनः	336	अपाकुर्येति	1543	अयमात्मा स्वभावेन 144
अनुद्विम्नस्तथा	23	अपायविचर्य	1640	अयमात्मा स्वयं 1051
अनुपास्येव यः	786	अपारमति	1620	अयमात्मा स्वयं (change)
अनुप्रेक्षाइच धर्मस्य	2114	अपारयन्	958	1057
अनेकजन्मज्ञेश	534	अपास्य करण	1036	अयमात्मा स्वसाध्यार्थीत् 2078
अनेकदुःख	712	अपास्य कल्पना	260	अयमात्मैव 917

## श्लोकानुक्रमणिका

७०७

अवर्भीरावणः	1844	अविद्याविकान्तं:	283	अस्त्विष्टन्तक	115
अवं जगति	20	अविद्याविषयं	347	अस्मिन् संसारं	471
अर्थं विजगती	1064	अविद्योदभूत	1067	अस्मिन् सुनिर्भूल	2171
अर्थं शोद्वशाल्	1137	अवीचारो विद्वास्त	2154	अस्मिन् लिपरीकृताभ्यासाः १९३८	
अर्थं समुत्तिः	932	अशुचित्वज्ञानाङ्गेषु	717	अस्य घातो जयः	1231
अवः कण्टक	1707	अवृत्तीत्पञ्चनाङ्गानि	710	अस्य प्रमाणमुप्रस्त्वा	1697
अवेगी त्यक्त	2201	अशेषद्वयवर्यायि	456	अस्य वीर्यंभृ	1056
अरिशृणिक	1411	अशेषपरम्पर्यायिः	1163	अस्य हृनिर्मित	961
अरिष्टोत्पात	1664	अशेषविषयोदभूतं	1867	अस्याचिन्त्यप्रभावस्य	2161
अरुणोदय	1388	अशेषसंग	365	अस्याचिन्त्यप्रभावेण	2013
बर्गलेखापवर्मस्य	990	अशोषान्तिष्ठ	1207	अस्यां निरस्तराभ्यासात्	1970
अवर्दिवर्थं	2158	अष्टरात्रे व्यतिक्रान्ते	2014	अस्याः शतद्वयं	1963
अवार्यान्तरापातिः	2150	अधारितापि	1075	अहमिन्दानिधानाः	1869
अवर्दिषु यथा	2159	असच्छास्त्र	26	अहं कदा करिष्यामि	1233
अर्धचन्द्रसम्भाकारं	1365	असत्यकल्पना	1238	अहं च परमात्मा	1478
अहृन्तमज्ज	2058	असत्यजातुर्व	1240	अहं न नारकः	1482
अलक्षणं लक्षय	1620	असत्यमपि	533	अहिसाकृत	532
अलङ्कृष्टपूर्वे	2174	असत्यवाच्चत्वनया	1241	अहिसेकायि	518
अलोकिकमहो	1550	असत्यसामर्थ्यं	1242	अहिसेक उग्राभास	503
अलील्यमातोर्य	2127	असत्यनेत्र	547	अहिसेत्र शिवं	504
अल्पानामपि	1212	असद्व्यानानि	2087	अहेयोपादेये	376
अवकाशप्रद्यु	423	असद्वदनवर्मीक	540	अहो अनन्त	1055
अवश्वहस्तिभिः	452	असद्विद्वा	52	अहो कैश्चित् कर्म	974
अवनिवन	1421	असद्वौद्योदयात्	1672	अहो कैश्चित्सहा	1188
अवरोधविनिर्मुक्तः	2203	असन्तो अपि गृणाः	1101	अहो लपः पुरा	1849
अवर्णस्य राहुसाधं	1967	असहादुःख	1754	अहो विभ्रास्त	349
अवश्यं यदि	66	असंविलष्टमविः	1120	अहो व्यसन	487
अवागोचर	1503	असंख्येयमसंख्येयं	2123	अहो सति	25
अवार्यविक्रमः	1093	अस्यममरोद्यार	187	आकलय तदाकृतं	1829
अविक्षिप्तं यदा	1320	असंयममव्यः	182	आकृत्य गोचर	1558
अविचलयनसा	1996	असावनन्त	2084	आकृष्टो ऽहं हतः	943
अविचारित	241	असावेव जगत्यस्मिन्	1958	आचरितानि	886
अविद्याकाम्तवित्तेन	1723	असावेव भवोदभूत	1139	आच्छिद्य गृह्णन्ति	1253
अविद्याप्रसरोदभूत	11	असिष्ववनाकीर्ण	1704	आज्ञापात्रविपाकानां	1621
अविद्याप्रसरोदभूतं	186	असुरमासवसा	157	आत्मप्रसिद्ध	1840
अविद्याराग	74	अस्तरामो मूनिः	1197	आत्मतत्वानभिज्ञत्वं	1514
अविद्यावासना	1618	अस्वधनादि	247	आत्मन्यात्मप्रचारः	380

आत्मन्यैवात्मना	1553	आसनाभ्यास	1332	इत्यसी सस्तान्यास	2106
आत्मबुद्धिः शरीरादौ	1518	आसनाचार्जिमर्त	1334	इत्यादिगणना	2040
आत्मलभमध्य	2173	आसनां परधनादित्सां	590	इत्यादिगुण	1635
आत्माधीनमपि	1110	इतरो इषि नटः	2043	इत्यादिपरमोदार	370
आत्मानमेव पश्यामि	1473	इतःप्रभृति निःशेषं	1546	इत्यादिविक्रिया	344
आत्मानं वेत्यचिज्ञानी	1569	इति कृतिपयकर्णः	907	इत्यादिसंरक्षण	1257
आत्मानं सिद्ध	1606	इति चिन्तानलेन	1750	इत्यादिसाम्यक्यानेक	2063
आत्मगमते विषय	381	इति जिनपति	2229	इत्यार्थरौद्रे	1263
आत्मार्थं अथ	2141	इति जीवादयः	441	इत्युपायैविनिश्चयः	1656
आत्मेति व्युत्थिः	1592	इति ध्यायश्वसी	1987	इदमकाकूलं	1015
आत्मैव मम	916	इति नयशत	1657	इदमखिलं	1430
आत्मेति तित्वय	507	इति नाडिका	1439	इदमत्पन्नं	2126
आत्मन्त्वं मिराद्वार्थं	2207	इति निषेदित	1876	इदमत्र तु	2162
आत्मानितकस्वभावोत्था	1060	इति परपुर	1451	इदमिह विषयोत्थं	1044
आदिसंहन्त्रोपेतः	2143	इति प्रतिज्ञां	1486	इदं पुरमति	1828
आद्यसंहन्त्रोपेताः	2120	इति मत्वा रेष्येभूतं	1332	इदं वक्लिर्दे	317
आद्यं शरीर	599	इति मोहवीर	1146	इदं मत्सगजानीक	1845
आनीय नाभिः	1436	इति लक्ष्यानुसारेण	1943	इदं रम्यमिदं	1823
आपातमात्र	1037	इतिवादिनि	1848	इन्द्रजन्मप्रार्क	2176
आभिर्वदानिशं	1285	इति विमलकलङ्घः	1266	इन्द्रजालमण्य	1822
आयाति भातः	1402	इति विगतविकल्पं	2111	इन्द्रायुधश्चिर्यं	1798
आयुः सविति	235	इति विविध	1687	इन्द्रियाणि न	1033
आरब्धा मूर्ग	113	इति सर्वज्ञ	1859	इन्द्रियार्थमण्या	1112
आरम्भो जन्मु	857	इति संक्षेपतः	282	इपाद् जडान्वोद्य	1244
आराधितं मनःशुद्धिः	1850	इति साधारणं	1616	इमे उन्नतभ्रमा	267
आराध्यात्माम	1607	इत्यं कर्मकटु	1688	इयं निकषभूरत्वा	963
आरोपयन्ति	667	इत्यं चतुर्भिः	1216	इयं मोहमहाज्वाला	1142
आरोप्य चार्य	1252	इत्यं चुरायां	1250	इयं मोहमहानिश्च	264
आर्तरीत्रिविकल्पेन	1199	इत्यं तद्वायना	2070	इष्टमोगादि	1215
आहूत्यमहिमोपेतं	2033	इत्यं न किञ्चिदपि	351	इष्टार्थनाश	1387
आलक्ष्य प्रक्रियां	2015	इत्यं यत्रानवच्छिष्ठ	1512	इह मूर्त्यमूर्तेन	146
आविभूतयथारूपात्	2200	इत्यं यथानवद्यां	1908	इह हि वदम्	762
आव्याज जन्मोग्र	882	इत्यं वायोनवरातीतं	1608	इहाकीर्ति समावस्ते	995
आशामपि न	869	इत्यजस्तं सुदुःखातीं	1748	ईडा सौयमयी	1416
आशाः सद्यः	1157	इत्यजस्तं स्मरन्	7506	ईयंभारेषणा	888
आर्थिक मदिरा	870	इत्यजस्तं स्मरन्(change)	1915	उत्क्षेणापकर्ण	436
आर्थ्यन्ति यथा	1739	इत्यविरतं सः	1907	उल्काषुकाय	1194

चत्तावोच्चून	722	एकलः सकलं	563	एतां विजित्वात्	1998
चत्तिसीर्षुर्महा	262	एकत्र वसतिः	755	एते तुणीकृत	2339
चद्धूय तद्रजः	1899	एकत्वं कि न	139	एते दिव्याङ्गाना	1837
चत्पद्मन्ते	117	एकमेव वर्त	595	एते पण्डितवानिनः	353
चत्पाट्यन्ति	1752	एकस्यामयं	1440	एतेषु लब्ध	1448
चत्पात्प्रभय	1783	एकं दृशा परं	692	एतः केन घन	862
चत्पाहाप्रिश्चयात्	1071	एकं द्रव्यमधार्णं	2170	एवमेवापवार्य	1034
चदधिरुदक	1040	एकं प्रथमसंघेम	393	एवं कतिपय	2228
चदयदत्तन्द्रेण हितः	1384	एकः पूजा	1173	एवं लाबदहं	863
चदये वामा वास्ता	1383	एकः रवर्गी	143	एवं द्रव्याणि	440
चद्वीणकमेन्धन	290	एकान्तिरहं	142	एवं भावयतः	1357
चद्वीणनिल	1700	एकाक्यणि जग्यत्येषः	611	एवं शान्तकषायात्मा	2165
चद्गमोत्पाद	897	एकादयः प्रदेशाः	432	एवं समस्त	2026
चद्वीपवन्तः	950	एकीकरण	1048	एष देवः स	2075
चद्धूय सकलं	1694	एकीकं च त्रिभिः	312	ऐन्द्रे विजयः	1404
चद्वासयति	644	एकेव महस्ता	797	ओं यमो अरहंताणं	1979
चन्मत्तमय	1177	एकेव वनिता	658	ओचित्याचरणं	988
चन्मूलयति निर्वेद	836	एकेव हि मनःशुद्धिः	1100	कटस्य कर्त्तहं	1510
चन्मूलयति भित्यात्वं	2177	एको द्विषा त्रिषा	406	कण्ठूयनं तनु	709
चन्मूलयत्यविभास्तं	634	एको भावः सर्व	1653	कर्थं तहि पूर्यक्	1521
चपर्युपरि देवेश	1780	एतत्कन्दलितानन्द	1824	कदाचिह्नेष	118
चपर्युपरि संक्रान्त्य	43	एतत्तत्वं शिक्षार्थं	1944	कदाचिह्नेष	782
चपर्युपरि संक्रान्तैः	1692	एतत्समयसर्वरूपमेतत्	501	कनककमल	1921
चपवासादिभिः	197	एतस्समग्रसर्वसं युक्तेः	909	कमलदलोदर	1916
चपसगमिनपाते	1719	एतदेव परं	918	करणाद्व च विजाम	514
चपसगमेषि	1315	एतदेवं	1542	करोत्यज्ञो ग्रह	1572
चपसंहारविस्तार	404	एतद्वि कथितं	1968	करोत्युडतशीः	982
चहृते यश	761	एतद्विनापि	1220	कलङ्कविलयः	1078
अध्याद्वीमध्य	1691	एसद्व्यक्तमपाताले	1959	कलेवरमिदं	163
अध्याद्विरेक	1919	एता अपा	1041	कथायदहनः	772
अजुविपुल इत्येवं	455	एता द्वादशा	246	कथायदहनोदीर्घं	123
अहते अवमधार्त	1202	एतानि सम	1846	कथायमल	2146
एक ऐव मनोदैत्य	1082	एतान्यदृष्ट	1735	कथायवैरिद्वज	1016
एक एव मनोरोधः	1083	एलान्येवाहुरेके	1073	कथायाः कोधाद्याः	178
एक एव स्मरः	610	एसामिरनिर्वं	1282	कक्षिष वर्षणा	895
एकचिन्तानुरोधः	1195	एसा मुनिजनानन्द	1281	कण्ठिनासिका	1418
एकतः कार्मणं	1647	एतावनादि	1128	कर्पूरकुञ्जमायुषमलय	1446

कर्षकुमारुभूग	168	किविद्वयवाक्यस्य	1821	केचित्पुरप्रवेशं	1447
कर्मबात् फलं	1659	कि तु तिर्यग्नातावेव	403	केतोपायेन वासः	1229
कर्म बद्धताति	851	कि ते सन्ति	352	कैविचच्च कीतिता	309
कल्पनालीत	457	कि त्वेतत्पुद्गल	418	कोकिलाः कल्प	1794
कल्पः सौधर्म	1834	कि न तप्त तपः	525	को इह ममासदः	1650
कल्पेण च	119	किपाकफलसमानं	707	कौतुकमात्रफलः	1452
कल्पेण च ( change )	1871	किपाकफलसंभोग	602	कौतुकेन अमेष	754
कल्पाणविभवं	2179	कीतिपूजाभिमानार्तः	324	कौतुकेन ममाहतुं	691
करिष्यद् बूते	706	कुटुम्बं जीवितं	562	कौलकाणालिका	1290
काककीचिक	1300	कुञ्च इवसन	1358	क्रव्यादकामुकाकीर्ण	1294
कावकतालीयक	248	कुथितकुणिप	725	क्रियते यैर्मनः	735
काकः कुमि	714	कुर्वन्ति यत्	641	क्रियमाणमयि	1108
कातरत्वं परित्यज्य	791	कुर्वन्ति यतयः	934	क्रीडाधिरनिकुञ्जेषु	1790
कानिचित्तत्र	1287	कुर्वन्ति वनिता	633	कुदस्यायस्य	2082
कान्दर्पी कैत्तिष्ठी	330	कुर्वन्ति तपः	806	कूरता इण्ड	1259
कान्दर्पीत्रिमुखाः	329	कुर्वीत पूरके	1429	क्रोधवल्लः क्षमा	939
काययोगं ततः	2192	फुलक्रमागता	492	क्रोधविद्यु	1279
काययोगे ततः	2193	कुलद्वयमहा	681	क्रोधाद्वीपायनेनापि	359
काययोगे स्थिर्ति	2191	कुलजातिगुण	673	क्रोधाद्वीपायनेनापि	935
कायोत्सर्वगृह्य	1313	कुलजातीश्वरस्वादि	977	क्वचिकृमानुषोपेत	1726
कारकादिक्रमः	316	कुशलजनन	999	क्वचित्कवचिदभी	1264
कालकूटादहं	613	कुष्टलभिव	713	क्वचिदगीतः क्वचिद्	1863
कार्तिकद्वयानल	1699	कूटद्वयभिव	991	क्वचिन्मूर्द	1113
कारश्वास	1211	कृतः पराभवः	1727	क्वचित्सरित्	87
किमत्र बहुतोक्तेन जन्म	1764	कृते देवां त्वया	76	क्वचित्सुखं देश	1777
किमत्र बहुतोक्तेन यस्य	881	कृतेवन्यैः स्वर्य	968	क्व मानो नाम	986
किमनैन प्रयत्नेन	1462	कृत्वा पापसहस्राणि	1960	क्व मायाचरणां	997
किमयं लोष्ट	1341	कृत्याण्यकार्य	677	क्षणं कर्णामृतं	29
किमुपेत्री ममात्मा	1649	कृत्या सहार्थं	1248	क्षणिकर्त्वं	64
कि करोमि क्व	1733	कृत्वाहं मति	1568	क्षमा क्रोधस्य	154
कि कुर्मः वाक्ति	1234	कृत्त्वमिति	1732	क्षमादि परमोदारैः	485
कि च कामवर	637	कृमयः पूलि	1759	क्षायोपजागिकः	1261
कि च कैविचच्च	1329	कृमिजालशताकीर्णे	159	क्षितिवीजसमाक्रान्तं	1364
कि च शोभाय	1298	कृष्णसीलाद्य	1219	क्षीणरागं च्युत	1116
कि च तस्य	2182	कृष्णलेश्याबलोपेतं	1258	क्षीणसन्द्राजित	464
कि च पाषण्डिनः	303	कृष्णलेश्योद्धताः	1755	क्षीणप्रशान्ति	389
कि च पुण्यफलाक्रान्तेः	1819	केचिज्ज्वालाबलीडः	1317	क्षीणे रागादि	277

## श्लोकानुक्रमणिका

७११

शुक्तृद्वय	2215	धनांजिः प्रथमः	1693	चिसषुद्धिमनासाद्य	1090
शुक्तृद्वयमानि	1275	धनांजिवलये	1695	चित्ते तत्र विवेक	263
शुद्रजन्मुपशु	1296	धृणास्पदभिति	616	चित्ते निश्चलता	379
शुद्रध्यानपर	2089	धोणाविवरभड्यास्य	1361	चिदचिद्रूपता	589
शुद्रेतरविकल्पेषु	1271	धोणाविवरमापूर्य	1369	चिदचिद्रूपि	1131
शुभ्यन्ति प्रह	1170	बोरलः संग्रहमः	1403	चिदचिलक्षणैः	1148
शेत्रजाति	1292	द्रायन्ते पूतयः	1713	चिदानन्दगुणोपेताः	1873
शेत्राणि रमणीयानि	1661	चकुरुहन्त्ये	1744	चिदानन्दमर्य	2095
श्चण्डलानां	560	चञ्चादभिन्निर	816	चिन्तवन्ति तदा	1714
श्चमुण्डमध्या	300	चतुर्णी भावनाः	1270	चिनु चिसे	54
श्चातिपूजा	1191	चतुर्गतिमहा	116	चिन्तामणिनिधिः	204
शगमधन	2222	चतुर्दश समासेषु	413	चिराभ्यस्तेन	965
शगमनगर	96	चतुर्धा गति	401	चुराशील विविच्छय	580
शगमवन	1230	चतुर्धा छ्यामे	1878	चेतः प्रसति	2019
शजादवनर	108	चतुर्वर्णमयौ	1965	चेत्यामुद्दिश्य	945
शर्वादिरम्य	104	चतुर्विद्यातिप्रवाळां	1913	चौर्योगदेश	1246
शलत्येवायुः	88	चन्द्रकान्तशिला	1784	छथगजतुरग	1374
शलमिलदण्ड	1587	चन्द्रमूलिरिवानन्दं	559	छथस्थशोगिनी	2147
शावः कामदुधाः	1787	चन्द्रलेखासर्वं	1937	छाव्यानमपि	996
शीतवादित्रनिर्घोषिर्जय	1820	चन्द्रः सन्दैः	1171	हित्वा प्रशम	1150
शीतवादित्रनिर्घोषिः स्तुति	1858	चमक्कपरकरं	195	छिन्ने भिन्ने	2118
शीतवादित्रविद्वायु	1804	चरणज्ञानयोर्जिं	443	जगत्वयचमत्कारि	1278
शीयते यथ	81	चरणशानसंपन्नाः	1325	जगत्वयजयो	100
शुणरिक्तेन	984	चरस्थिरभवीद्भूत	399	जगद्व्यन	1028
शुणा शौणत्य	576	चरस्थिरविकल्पासु	1678	जगद्वन्द्वे सत्तां	568
शुणाविकतया	1010	चरस्थिरार्थजातेषु	879	जगम्यो यमिन्द्रं	906
शुखो लाभवे	586	चरस्थिरार्थसंकीर्णे	2219	जनसंसर्गवाक्	1590
शुरुपञ्चनमस्कार	1952	चरुमन्त्रैषवानां	498	जन्मुजातमिदं	614
शुल्लो इत्य	900	चलत्यचलमालेयं	1176	जन्मजानन्त	38
शुलुमित्र विपिने	668	चलत्येवाल्प	2116	जन्मज्वर	1475
शीचरेष्यो हृषीकाणि	1458	चलगम्यचलकारं	1585	जन्मनः प्रति	1651
शीशार्थ जम्बु	1681	चापलं त्यजति	880	जन्ममूमिरविद्यानां	989
शीरवेषु प्रतिष्ठायु	675	चारित्रमोह	1674	जन्ममूल्युरुजा	2041
शायपुरयुद्ध	1425	चालयन्ते सुरानीकं	1897	जन्मशतजन्मित	1454
श्वेतकानुत्तर	2130	चित्तप्रपञ्च	1079	जन्मोग्रभम्	520
श्वासिमूच्छी	711	चित्तपञ्चकं	1136	जम्बूदीपादयः	1772
श्वमालानुकारीणि	90	चित्तमेषां न	1095	जयजीवित	1399

जयति समाजर	1396	ज्योतिश्चक्रस्य	530	तत्राक्रमदर्शैः	1712
जयन्ति जिन	16	ज्येष्ठनवन्	1204	तत्राचिन्त्यमहा	2129
जयन्ति ते	539	त एव सुखिनः	871	तत्रातिमव्यता	1812
जयन्ति यमिनः	940	तच्छृंतं तच्च	9	तत्रादौ पायिवं	1363
जस्त्वेयनि	666	ततस्तेषु क्रमात्	1368	तत्राधोमागमासाद्य	1698
जलभिन्दुं कुशाप्रेण	1455	सतः क्रमेण	2190	तत्रार्थम्लेच्छ	1775
जलानलब्ध्यात्	1256	ततः प्रच्छात्य	1942	तत्त्वस्तपमजानानः	1052
जातसर्पमते:	1540	ततः प्रादुर्भवत्युच्चैः	1716	तत्त्वस्तपाहित	1505
जातिलिङ्गमिति	1601	ततः प्रेमानुहस्थः	742	तथा चरस्थिरैः	1205
जग्नपति न	619	ततः संबल्सर्	1989	तथाप्युद्देशतः	2208
जानाति यः	914	ततः सोऽत्यन्त	1529	तथेवेति शुभूयन्ते	1655
जापाज्जयेत्	1917	ततो ज्ये वाइवर्तं	1872	तदष्टकर्मनिर्माणं	1891
जाम्बूलदनिभं	1951	ततो अलिजात	1990	तदस्य कर्तुं	1063
जायते यस्तमासाद्य	808	ततो ऽर्थेन्दु	1902	तदाहंत्ये परि	2181
जायते यस्य	183	ततो ऽसौ निश्चला	1886	तदालम्ब्य परं	2069
जायन्ते भूतयः	524	सतो ष्यायेन्यमहा	2004	तदा स भयदान्	2125
जीर्णे रक्ते धने	1584	सतो नभसि	1778	तदा स सर्वगः	2188
जीवस्तु जन्तवः	1273	सतो निरन्तराम्यासात्	1988	तदासौ निर्मलः	2198
जीवाजीवास्त्रा	396	सतो निविषयं	236	तदासौ निश्चलः	2108
जीवितव्ये	46	सतो षहिः शरीरस्य	1892	तदूध्यं सम्भित	1779
जीवे जीवति	1423	सतो वदन	1914	तदेव च पुनः	1939
जेतुं जन्म	298	सतो विगलिताशीष	1940	तदेव प्रक्रमायात्	1268
ज्ञानुर्नाम प्रथमं	1395	सतो विदुषिभञ्जात्	1715	तदगुणामसंपूर्णं	2098
ज्ञानपूर्वमनुष्टानं	467	सतो विघृतसन्द्रः	1994	तदगुणामसंसंलीनं	2073
ज्ञानवीजं जयदृन्धं	1924	सतो विषेकं	2138	तदधानं तद्धि	1091
ज्ञानरत्नमयाकृत्य	981	तत्कुर्वन्त्यधमाः	1743	तदध्येयं तदनुष्टेयं	2090
ज्ञानलक्ष्मीघनादेष	1	तत्सत्कारक	1045	तद्विज्ञेयं तदाल्पेयं	1578
ज्ञानलक्ष्मी तथो	2178	तत्त्वस्तपिः सम्यक्त्वं	387	तद्विषय ध्रुवं	1130
ज्ञानवैराग्य	1269	तत्त्वे तपसि	793	तद्वीर्यं पमिना	1318
ज्ञानहीना क्रिया	313	तत्र छूलनिष्पयः	1443	तनावात्मेति	1534
ज्ञानं पञ्चौ क्रिया	314	तत्र कैश्चिच्च	1933	सनुवयविनिर्मुक्तं	1162
ज्ञानादिवेष	308	तत्र जीवस्यजीवक्षम	405	तमुवयावृतः	1586
ज्ञानार्थस्य	2230	तत्र जीवादयः	415	तत्र लोके परं	809
ज्ञानाद्युलिकरं	1668	तत्र ताङ्गमयाः	1750	तत्रामग्रहणात्	2180
ज्ञायेत यदि	1417	तत्र क्रियोगिनां	2152	तत्रात्र मुलभं	1854
ज्ञेयं प्रक्षीण	2167	तत्र पुण्यादयः	274	तत्रास्ति जीवलोके	528
ज्योतिर्मर्यं भम	1544	तत्र बाह्यं तपः	196	तपस्तरल	361

## इलोकानुक्रमणिका

७१३

तपस्तावदवाष्टे	200	तिर्यग्वहत्यविश्वास्तः	1371	दहति दुरितः	811
तपः कुर्वन्तु वा	805	तिलादप्यति	1769	दहत्येव वाणादेन	1262
तपःश्रुतकृताभ्यासाः	760	तूषकाष्टक	1299	दह्यमाने जगत्यस्मिन्	291
तपःश्रुतधृति	775	तृष्णाङ्गुरमिवादाय	585	दानदासिष्ठ	743
तपःश्रुतयम	513	तृष्णा सत्ति	1267	दानसन्मान	678
तपःश्रुतयम (Change)	1099	तेन छालाकलापेम	1890	दारुपद्म शिला	1310
तपःश्रुतयमाथारं	931	तेनाचित्यप्रभावेण	1903	दिवचक्र दैत्य	1105
तपःश्रुतयमोद्युक्त	1277	तेषां पूर्वमहं	1857	दिवदलाष्टक	2009
तपोयमसमाधीनां	486	तेरेव कलमेतस्य	165	दिवदलेषु ततः	1954
तपोर्धेदापरिज्ञानात्	1515	तेरेव हि	384	दिव्यमूढमय	617
तरक्ततडित्रुप्र	1434	तीक्ष्णगमनान्तस्यौ	2205	दिवा सूर्यकरे:	891
तर्कयेजजगदुन्मर्त	1596	त्यक्तव्या विवेक	240	दिव्यपुष्यानकाशोक	2055
तव गम्तु प्रवृत्तस्य	371	त्यजन्ति वनिता	757	दिव्यरूपघरे	2038
तस्य हृत	1410	त्यजाविद्यां भज	261	दिव्याकृति	1814
तस्माच्चयुत्वा	2137	त्याज्य एवाखिलः	827	दीव्यनाभिरथं	244
तस्मात्प्रशम	938	त्रिकालगोचरानन्त	449	दुरन्तदुरिताकाम्तं	10
तस्माद्यदि	232	त्रिकालविषये	1491	दुरन्तदुरितारात्ति	231
तस्मिन्नपि मनुष्यत्वे	1722	त्रिकालविषयं (Change)	2007	दुरिततिमिर	420
तस्मिन्निरन्तराभ्यास	2068	त्रिकालविषयादेष	2212	दुर्दीन्दिप	1018
तस्मिन्नेव अणे	2196	त्रिधा लक्षण	1344	दुर्दीशास्पि न	301
तस्मिन् मनोज्ञवैः	1860	त्रिपक्षाः स	1517	दुर्घटादुर्मतिः	280
तस्य चारं गति	1351	त्रियोगी पूर्ववत्	2160	दुर्घटानादुर्घटः	279
तस्य प्रयोजकं	2021	त्रिवर्गं तत्र	251	दुःखानिः	689
तस्य मध्ये	1881	त्रिशुद्धिपूर्वकं	385	दुःखजदलन	463
तस्य रेफात्	1889	त्रैलोक्यसिलकीभूतं	2225	दुःखमत्वादर्थं	326
तस्य लोकत्रयश्वर्यं	2071	त्रैलोक्यतात्त्वं	1827	दुःखमेव धन	855
तस्य सत्त्वं शुतं	874	त्रैलोक्यपातन्त्रं	2079	दुःखमेवाक्षरे	1022
तस्यानन्तराभावस्य	256	त्वरितः धीतलः	1370	दुःखशाब्दलुक 377,927,1179	
तस्याः प्रशस्तये	22	त्वाभेद वज्रितुं	1039	दुःखहा निष्पत्तीकारा	1708
तस्यवाचिचलं	1164	दिविणामयवा	1419	दूयसे यस्तुणेन	519
तावद्वत्ते प्रतिष्ठाः	764	दक्षो मूरुः	632	दूषयमिति दुराचारा	34
तावद्वत्ते मुक्तिः	732	दत्ते स्थितिः	422	दूष्वोधचरणानि	912
तावद्वत्तो पीडयत्येव	1481	दश ग्रन्थाः	821	दूष्वोधमयमः	1066
तावस्य संकेतः	55	दशशोषविनिर्मुक्ता	894	दूष्वोधरोधकं	2172
तितिक्षा मार्दवं	220	दशालक्ष्मयुतः	202	दूष्वोशादि	929
तितीर्षति ध्रुवं	494	दशाङ्गभोगजेः	1864	दूष्वीर्यादि	253
तिर्यग्लोकसम्बं	1880	दशाङ्गभोगसंभूतं	2133	दृढः स्थूलः स्थिरः	1589

दृश्यन्ते भुवि कि	382,326	पर्वतशो दिश्यार्थी	365	न "तस्य भुवने	1975
दृष्टुशूलानुभूतिः	1209	धर्मबुद्धयाधर्मः	500	न चेतः करुणा	334
दृष्टिपातो भवेत्	741	धर्मश्वार्थश्व	250	न चेदयं मा	959
दृष्टिमोहप्रकोपेन	1673	धर्मं धर्मं	219	न जने न वने	582
दृष्ट्या श्रुता	798	धर्मः शार्म	222	न तत्कुछाः	655
देवदेवः स	2067	धर्मधर्म	414	न तस्त्रिजगती	209
देवदेवत्योरुग	664	धर्मविर्त (change)	428	न तत्र दुःखितः	1809
देवनारकथोः	454	धर्मधर्मक	431	न तत्र बान्धवः	1757
देवराज्यं समासाद्य	2131	धर्मो गति	2204	न तत्र सुजनः	1710
देवलोके नुलोके	127	धर्मो गुरुश्व	211	न तथा चन्द्रन्	550
देवः सो उमन्त	2227	धर्मो नरोदयाधीश	205	न तदस्ति	669
देवामयति	1280	धर्मो व्यसन	206	न तद्युद्धं शुलं	659
देवामुरमतं	1920	धारयन्त्यमुतं	642	न तद्युद्धं सुखं	128
देवास्मदुद्धं न	1605	धीर वैर्य	693	न याने न च	654
देव्यशोक	1274	धूमावलम् इव	648	न दृश्यन्ते अ	1737
दोषाम् गुणेषु	676	धूतकामुक	893	न धर्मसदृशः	216
द्यूतकारसुरा	1293	ध्याता ध्यानमितः	287	ननु सन्ति जीव	697
द्रव्यक्षेत्रतथा	125	ध्याता ध्यानं सथा	288	न पश्यति तदा	2119
द्रव्यभावोद्भव	252	ध्यातारस्त्रिविष्णः	1330	न पिशाचीरणाः	630
द्रव्यं चैकमणुं	2169	ध्यानतस्मै निषिध्यन्ते	319	न प्रभाद्वयः	292
द्रव्यादिकमय	394	ध्यानस्त्रिंश	1301	न मञ्जति मनः	877
द्रव्याद्युक्तुष्ट	1685	ध्यानसेवापवर्गस्थ	1186	नमन्ति याद	210
द्वयोरनादिः	412	ध्यानसिद्धिमंता	372	नयन्ते परम्	1930
द्वयोरपि समे	516	ध्यानसिद्धि	1086	नयन्ति विफलं	1003
द्वयोर्गुणीमतं	2099	ध्यानस्य च पुनः	1072	नयोपनय	1629
द्वादशान्ताल्	1347	ध्यानादेव गुण	1058	नरकस्त्रिव	1026
द्वारपालीव	188	ध्यानानल	199	नरकान्धमहा	213
द्वाक्षसति:	2195	ध्याने ह्यपरते	1489	नरतुरगकरि	1450
द्विगुणद्विगुणाभेदाः	1773	ध्यायेदनादि	1911	नरत्वे यद्युणोपेत	234
द्विगुणाद्विगुणोजे	1912	ध्येयं वस्तु	1487	नरायुगः पाक	1677
द्विपदचतुर्षट्	1249	ध्येयं स्वाहीत	2028	नर्मकीतुक	337
धसे नरक	212	ध्रीवद्यादि	450	नवकेशललित	2056
धन्यास्ते मुनि	814	ध्यजन्माप्तर	1788	नवनीतजिम	733
धन्यास्ते हृदये	544	न कलत्राणि	1738	नवमेदं मतं	1669
धर्म एव समुद्रतुं	1741	न कवित्वाभिमानेन	19	नवमे प्राण	623
धर्मेष्यानस्य	2125	न के बन्धुत्व	129	न स को उपस्ति	97
धर्मेष्यानस्य	2139	नगदायादिषु	1591	न सम्यग्मादितुं	203

### शब्दोकालनुक्रमणिका

७१५

न रास्ति काचिद्	541	निरञ्जनातनिल	295	निर्वर्गमलिनं	156
न सौख्ये चक्षुः	1763	निरालोके	461	निर्वर्गेणाति	1663
न स्यादृष्ट्यातुं	858	निराशतामुधा	876	निर्वपा: कर्म	346
न स्याद्विक्षितः	883	निरद्वकरण	2037	निर्विक्षय इव	515
न स्वामित्वमतः	2117	निरद्वज्योतिः	1582	निःशब्दीकृतहते	745
न हि काल	48	निरध्य करण	1467	निःशेषवलेश	281
न हि केनापि	21	निरुद्ध बोध	1020	निःशेषवलेश (change)	921
न हि अणमपि	618	निरुणद्वि स्थिरीकृत्य	1348	निःशेषनय	1634
न हि भवति	804	निरुणद्वि स्व	1682	निःशेषभव	1494
न हि सत्य	558	निरुप्य च स	24	निःशेषविषयोक्तीर्ण	1107
न हि स्वप्ने ऽपि संजाता	777	निरौपम्यमविच्छिन्नं	2226	निःशेषविषयोक्तीर्णः	1319
न हि स्वप्ने ऽपि संसर्व	567	निर्णीते इस्मन्	913	निःशेषं धर्म	218
नादीषुद्वि कुरुते	1438	निर्दर्शं क्षिप्तारथं	1851	निःशेषाभिमतेन्द्रियार्थं	1046
नाणवो ऽपि मुणाः	828	निर्देश्यत्वमनार्थत्वं	649	निःसंगत्वं समाप्ताद्य	362
नातिरिक्तं फलं	1466	निर्देशेन हि कि	496	निःसंगः संवृत	1457
नात्मरक्षा न दाक्षिण्यं	584	निर्दूय कर्म	1648	निःसंगो ऽपि मुनिः	823
नानायोनिगतेषु	1272	निर्भयनन्द	2088	निःसार्वते ऽसि	1349
नाभिकन्दात्	1350	निर्मध्य थृत	2031	निःस्पृहत्वं महस्वं	491
नामकर्मवियः	1680	निर्मलो निष्कलः	255	नृजन्मनः फलं	249
नायाता नैव	67	निर्लेपो निष्कलः	1520	नृजन्मन्ययि यः	555
नारकायुःप्रक्रेपेन	1679	निर्विकल्पं मनः	1562	नृपतिमुहु	1407
नारीजघन	723	निर्विण्णीर्भव	699	नेत्रहृन्दे शब्दण	1468
नालपसर्वैः	597	निर्विष्णो ऽसि	270	नेत्रघटने	1393
नासत्पूर्वरित्व	1480	निर्वेष्यदक्षी	198	नैराश्यमनु	788
नासने शयने	628	निशातं श्रिद्वि	463	नो उरथान्नारं	1174
नासाप्रदेशविभ्यस्ते	1336	निशादिनविभागः	1781	न्यञ्जनमस्तकं	572
नासाप्रदेशसंलीनं	2001	निश्चलोकुल	773	न्यायमार्गोपन्ने	948
नासादियसि	51	निष्कलर्जु	45	पञ्च पञ्च	475
नासाप्रवाह	1414	निष्कलस्य	2103	पञ्चमहाव्रत	474
निष्कलभुवन	1615	निष्कलः करणातीतः	2216	पञ्चमे दद्यते	622
नित्यता केचित्	304	निष्कलः परमात्मा	2110	पञ्चवर्णमधी	1969
नित्यानन्दमयं	922	निष्क्रियं करणातीतं	2144	पञ्चवर्णमहा	1796
नित्यानन्दमधी	1132	निष्पन्दीकृत	373	पञ्चवतसमित्यश्च	476
नित्योत्सवयुतं	1795	निष्पादितः स	226	पण्यस्त्रीकृत	1291
निष्ठातद्रामय	2214	निष्ठीडयमित	1753	पद्मान्यालम्ब्य	1910
निन्दिता मिभ्य	766	निसर्गचपलं	328	परद्वयग्रहात्तर्स्य	578
निम्नोम्भगतो	1642	निसर्गचपलैः	1029	परपरितोष	960

परमात्मा परं	1477	पुण्यानुष्ठानजाति:	1214	प्रत्याहूतं पुनः	1460
परमांसानि	1761	पुण्यानुष्ठानसंभूतं	750	प्रत्येकमेकद्वयाणि	419
परमेष्ठो परं	2217	पुण्याशश्चवशात्	275	प्रत्येकं तु	1201
परमाणोः परं	512	पुन्रमित्रकलवाणि	152	प्रथमे इहानि	1389
परवित्तामित्तासक्तः	1724	पुनात्याकर्णिर्स	271	प्रथमे जायते	621
परस्परप्रदेशानु	437	पुराक्षोभेद्व	342	प्रपश्यति यथा	704
परस्येव न	106	पुरुषोपल	740	प्रबलह्यान	1474
पराक्षीनसुलास्वाद	1613	पूरणो कुम्भने	1465	प्रबोधाय विवेकाय	8
परिग्रहमहा	1746	पूर्णी वहणे	1398	प्रभावस्य	1956
परिभवफल	695	पूर्णे पूर्वस्य	1394	प्रभावलय	1993
परिरक्तुरसि	1627	पूर्वमात्मानमेव	933	प्रमाणवश	1625
परीषहमहा	358	पूर्वानुभूत	601	प्रमाणीकृत्य	495
परीषहरिपु	840	पूर्वशाभिमुखः	1324	प्रमादग्रहमूलसूज्य	1720
परीषद्धादपि	571	पूर्वकरोति यः	1084	प्रमादद्विषम	266
पर्वन्यपवत्ताकेन्द्रु	207	पूर्वक्त्वं तत्र	2155	प्रयासैः कल्युभिः	1115
पर्वक्षुदेश	1335	पूर्वक्त्वे तु यदा	2166	प्रवृद्धमपि	627
पर्वक्षुमध्य	1311	पूर्वक्त्वेन	2133	प्रशमयमसमाधि	1106
पर्वन्तविरसं	598	पूर्वगित्यं न	1559	प्रशमादिसमुद्भूतः	1666
पवनवलय	230	पूर्वद्वारमनः	1594	प्रशस्तेतर	1196
पवनः प्रवेश	1422	पूर्वभावमति	2109	प्रशास्त्रमति	7
पवित्रितधरा	2050	पूर्वित्यादिविभेदेन	400	प्रशास्त्रति विशागस्य	1126
पवित्रीक्रियते	201	पूर्णरपि न	542	प्रसन्नामल	1807
पाकः स्वयम्पूषायाच्च	193	प्रकृत्यति नरः	635	प्रसन्नोन्नत	566
पातयन्ति	71	प्रकृतिप्रदेशवन्धो	438	प्रसादप्रति	55
पातयामि जनं	1243	प्रकृत्यादिविकल्पेन	434	प्रसादयितुमुद्युक्तैः	1973
पातयित्वा महा	1747	प्रकारमूच्छिन्	1948	प्रसादः क्रियता	1830
पाताले बहु	114	प्रचण्डपवनैः	299	प्रसीद जय	1832
पादपञ्चुज	1087	प्रकृत्यवन्ते ततः	120	प्रसीद जान्ति	2112
पादपीठीकृत	2049	प्रणवयुग्मलस्य	2003	प्रसृतं बहुधा	453
पापाभिसार	340	प्रणवाशस्य	2010	प्रथवन्नवभिः	158
पाणशश्चवशात्	276	प्रतिक्षणे इत्वा	294	प्राकारपरिखा	1797
पाणिवी स्यात्	1879	प्रतिपत्रसमाक्षीन	1887	प्राकृताय न	929
पिण्डहस्तं च	1877	प्रतिसमयमूदीर्ण	2135	प्रागसंयमं	1600
पीडधर्मेव	612	प्रतीकारयतेनापि	103	प्रागेव भावना	439
पुण्यानुष्ठानजाति	792	प्रत्यनीके समुत्पन्ने	966	प्रागेवालोक्य	892
पुण्यानुष्ठानजातिः	577	प्रत्यहं प्रति	2012	प्राङ्गम्या यत्कृतं	946
पुण्यानुष्ठानजातेषु	843	प्रत्यासति समायाति:	776	प्राणस्यायमने	1464

### इलाइकानुक्रमणिका

७१७

प्राणात्मयेऽपि	962	भवप्रलेशविनाशाय	258	भञ्ज्ञलवारणोसम्	1971
प्रासस्तरं	80	भवञ्चलनसंभूत	1185	भसिष्ठुसाक्षिं	451
प्राप्नुवन्ति शिवं	447	भवञ्चलनसंभूत	?	भत्तेन्मत्तादि	1604
प्राप्नुवन्त्यति	549	भवन्त्यति	1169	भद्रमत्तीदत	1631
प्रश्यः शरीर	778	भवप्रभवतुवारं	18	भद्रमत्तेनाति	1730
प्राप्तासिक्षुर	1662	भवप्रभवसंबन्ध	2093	भद्रार्थः कामुके:	769
प्रोत्तुज्ञानान्	979	भवभ्रमणनिर्विष्णा:	355	भद्रीयमपि चेत्	947
प्रोत्तसंपूर्ण	1981	भवभ्रमणविभ्रान्ते	40	भद्रतृर्यगुह	1865
फेनपुङ्जे अश्वा	91	भवात्तिव्रप्रभवाः	58	भषुकरपतञ्जः	1449
वक्षुलि समालम्ब्य	998	भवोद्भवानि	167	भध्यभायस्ततः	1771
वन्दिगायक	1811	भव्यतीव हि	2077	भनस्तनुबचः	170
वन्धमोक्षाद्युभी	1549	भव्यः पर्याप्तिकः	390	भनस्यन्यत्	661
वलाद्विकार्य	1760	भव्याभव्यविकल्पः	407	भनः कृत्वाणु	1088
वलिभिदुर्बलस्यत्र	509	भस्यभावमसौ	1895	भनः कृत्वा सुविष्टकम्य	2018
व्रह्मस्तस्ततः	746	भामष्ठल	2051	भनः प्रीणयितुं	360
व्रह्मभवानतिकम्य	1519	भावनास्वासु	1283	भनः प्रीतिप्रदे	1306
वहूति कमणि	2083	भावयस्व तथा	1154	भनः सुदृश्यत्व	1085
वह्नारम्भपरि	1251	भावाः पञ्चापि	429	मनुष्यत्वं समासाद	1717
वालार्कसंनिभः	1372	भाविनो वर्तमानत्वं	427	मनुष्यत्वं समासाद	
वाह्यात्मानसपास्य	1536	चित्त्वा भूत्वं	1255	(change)	348
वाह्यान्तर्भूत	265	भूक्ताः धियः	350	मनो भिमत	807
वाह्यान्तर्भूत (change)	864	भूवनाम्भोज	2	मनोश्वस्तु	1210
वाह्यान्तर्भूतभेदेन	820	भूतद्विसाकरी	896	मनोजविषयैः	89
वाह्यान्ति च	846	भूतादिगृहीतानां	1397	मनोभवसमं	670
विन्दुसात्रं त	1768	भूषः कुमिर्भवति	130	मनो मिलति	744
विन्दुहीतं कला	1936	भूषां दुःखज्वाला	49	मनोरोगे भवेत्	1077
कीभत्सानेक	721	भेतुं शूलमर्सि	684	मन्त्रभष्ठल	2081
कुद्धः कैद्वित्	1922	भेदविश्व यथा	1603	मन्त्रभूति समादाय	1923
कुभुक्षा जायते	1766	भीमा भुजङ्ग	62	मन्त्रः प्रणव	2016
घोष एव दृढः	462	भोगा भोगीन्द्र	1213	मन्त्रवीर्याणि	1683
वह्नाचर्यव्युतः	758	भोगिवहस्य	620	मन्त्रारचन्पकाशोक	1791
वह्नाचर्यविशुद्धत्वं	768	भ्रमन्ते प्रसि	1983	मन्त्रे इसी लोक	208
वह्नाचतमिदं	596	भ्रमन्ति नियते	402	मन्त्रे पुरजलावर्त	548
भजन्ति जन्तकः	1167	आतरः पितरः	581	मन्त्रे भुक्तः स	446
भधलज्जाभिमानेन	801	भ्रमज्जारम्	111	मन्त्रे शृङ्खार	1803
भयवेषित	510	भूलताचलनैः	756	मम शक्त्या	1479
भयशोकदुःख	1376	भूष्वलीविक्रिया	1337	ममापि चेद्वद्वोहं	957

मयात्मापि न	1476	मुक्तेरविष्णुतीव	993	थजजन्मगहने	1551
मयाद्यैव विनिहेयं	1485	मुखोपचार	1326	यजजन्मज्वर	1636
मयि सत्यमि	1552	मुग्धप्रसारण	1002	यजजन्मनि सुखं	61
मय्यैव विदिते	1632	मुच्येत्प्रीति	1612	यज्ञीवादि	388
मरणात्मेषु	1276	मुनिभिः संजयन्साद्यैः	2020	यतित्वं जीवनोपायं	345
मर्यज्ञेदि मनः	543	मुनेर्विभिः मनः	1564	यत्ने न तदगुणानां	2220
महस्त्वहेतोः	885	मुमुक्षुर्जन्म	289	यतो ब्रह्मवते	1599
महातत्वं महा	1949	मुष्णाति यः	987	यत्कर्मणि न	321
महातिशय	214	मूकता मति	564	यत्क्वचित्संसारे	529
महाप्रभाव	1862	मूढश्चयं मदाश्चाद्यै	395	यत्कोषादति	1354
महाप्रशम	1119	मूर्खस्तिपोभिः	1117	यत्पर्याससत्या	233
महामतिभितिष्ठूर्तं	569	मूर्तिविचेतनैः	149	यत्प्रविक्षं अग्रहस्तिमन्	1632
महामतिभिन्निःलोष	13	मूर्तो व्यञ्जन	433	यत्पुरुषाम	1731
महाव्यसनसप्तार्चिः	1643	मूलप्रकृतयः	1667	यत्र बालवक्तरस्तिमन्	469
महाव्यसनसंकीर्णे	133	मूले जयेष्वर्ण	606	यत्र शावा	224
महावतविषुद्धयर्थं	887	मूगाङ्गुविष्व	1816	यत्र यत्र प्रसूयन्ते	1008
माणिक्यरोचिका	1785	मूर्गेन्द्रविष्टरारुदं	1905	यत्र रागः पदं	1133
माता फुर्ती स्वसा	131	मूर्गेन्द्रविष्टरारुदं (change)	यत्र रागादमः	1309	
मानयुक्तिः	978		2053	यत्रजात्मा रतः	1565
मानसालस्य	983	मूर्ते वा जीविते	480	यत्रते जन्मत्वः	229
मानुषोत्तर	1774	मैथुनाभरणे कर्म	708	यत्संसारस्य	1144
मानुष्ये उपि	1729	मैथुनाभरणे मूढ़	720	यत्सुखं नाकिनां	1866
मामेकोट्टिश्य	1826	मोक्षः कर्मक्षयात्	259	यत्सुखं वीतरागस्य	1053
मायैव विश्वस	1001	मीहपङ्क्ते परिक्षीणे	1118	यत्स्थितः प्राक्	1725
मार्गमासाद्य	238	मोहपङ्क्ते परिक्षीणे (change)	यत्स्वरूपापरिक्षानात्	1501	
माजरिभक्षिते	860		1156	यथात्र शुद्धि	800
माजरिरसिते	331	मोहवल्लिमपाकत्वं	1147	यथा धातोर्मलः	411
मालसीव मूदून्धासां	719	मोहाक्षनमिव	94	यथा वालं तथा	107
मासे मासे	729	मीमषेव हितं	536	यथा यथा मनः	1689
मिथ्यात्वप्रतिबद्ध	155	म्लेच्छाधमजनैः	1289	यथा यथा मुनिः	803
मिथ्यात्ववेद	825	यक्षकिनर	1789	यथा यथा हृदि	526
मिथ्यात्वादि	794	यक्षिणीमन्त्र	343	यथा यथा हृषीकाणि	1023
मिथ्यात्वाविरतिक्रोष	1703	यच्चतुष्टी मतं	284	यथा सद्यः	727
मिथ्यात्वाविरतियोग	435	यच्चौर्याय शरीरिणां	1247	यथोत्पादकायः	1135
मीना मूल्यं	1047	यज्ञनैरभिषोडयः	1538	यदक्षविषयं	1576
मुक्तिरेव मुनेः	1598	यज्ञन्तुवध	483	यदधिष्वयोदभूतं	1017
मुक्तिश्रीवक्त्र	42	यज्ञन्मकोटिभिः	466	यदभासं धहिः	1497

## इलोकानुक्रमणिका

७१९

यद्यानामेष्वरी	1511	यद्यहेशान्तरात्	79	यः संगपद्म	838
यद्यत्यन्तसुखाद्	1614	यद्यिषुदेः परं	472	यः संयमधुरा	531
यद्यत्र प्रश्नं	2000	यद्यिमेष्वरणि	1734	यः सिद्धात्मा	1557
यद्यश्चोषे भक्ता	1543	यद्यया वच्छितः	1726	यः स्वभावोत्पत्ती	1161
यद्यपी परिवर्तन्ते	426	यद्यजिह्वानल	660	यः स्वमेव	1539
यद्यसाध्यं तपोनिष्ठैः	1096	यद्यप्रकामज्ज	842	यात्मनारक्	1770
यद्याभ्यासवशात्	2074	यद्यप्रश्नमनिष्टेष्व	172	यात्मायात्मानि	92
यद्यायुरधिकानि	2186	यद्यप्रश्नमरात्यस्य	868	याति सर्वं	215
यदि क्रोधादयः	1011	यद्यत्रत्वगुणोपेते	554	याति सर्वं	1745
यदि दृष्टः श्रुतः	105	यद्यादिषु कृताभ्यासः	1074	यात्मावात्रमिव	819
यदि नरक	223	यद्यारात्र्य शिखं	2065	या त्रिषा सर्वं	924
यदि प्रश्नम्	955	यद्यिमिर्जस्य	696	याम्बेदक न	86
यदि प्राप्तं त्वया	639	यद्या कर्मणि	191	याम्बृश प्रदिविश्वामि	1856
यदि भूताः प्रजापेरन्	690	यद्यतपस्वी जटी	561	यामासाद्य त्वया	656
यदि रोदधृं न	2113	यद्यतपस्वी व्रती	728	या भुद्गर्भोह्यत्वेव	546
यदि वाक्कण्टकैः	952	यद्यमाल्लदारमकं	1946	यावदात्मास्थ्या	1583
यदि विषय	817	यद्यिमन्नसति	1427	यावदशामलः	875
यदि संबोग	268	यद्यिमन् सत्येव	1143	यावद्यावच्च	1654
यदि साकात्	1999	यद्यिमन् संसार	102	यावद्यावच्चरीरात्मा	865
यदिह अमति	1061	यस्य चित्तं	1098	यावस्तः कुरुते	859
यदीदं शोध्यते	162	यस्य घ्यानं	1181	यावस्ति सन्ति	1749
यदीन्दुस्तीक्रता	663	यस्य प्रश्ना	318	या संसारनिषिद्धस्य	181
यदैक्यं मनुते	141	यस्य राज्याभिषेक	82	यासा संकल्प	737
यदैक्यं संयमी	1183	यस्य वाग्मूलस्य	2066	यासा सीमन्तनीनां	763
यदैवेदं सहातस्य	1926	यस्य विज्ञानं	2048	यास्यन्ति निर्दया	73
यदैवेममुजाः	2209	यस्य हेयं	925	युक्त्या धृष्टम्	2045
यद्बोधानन्त	1504	यस्य हेयं (change)	1165	ये केचित्सिद्धान्ते	1006
यद्यत्यस्यानिष्टं	221	यस्यानुष्यान्	1499	ये जाता रिपवः	68
यद्यदृश्यमिदं	1537	यस्या चित्ति	923	ये जाताः सात	93
यद्यथ कुरुते	941	यस्याः संसर्गं	738	ये तदा धारक	1728
यद्यद्वस्तु शरीरे	160	यस्यैव कर्मणः	971	ये दृष्टिपर्यं	60
यद्यपि दुर्गति	1041	यः कर्मिषुद्गमलादान	180	ये ये निवार्यन्ते	1009
यद्यपि समीर	1431	यः प्रसाणनयः	2100	ये ये ये युक्तासीमाः	1312
यद्यपूर्वे शरीरं	65	यः प्राणायाम	1360	ये ये ये हि	2076
यद्याया शान्ति	867	यः यमः प्राक्	954	ये ये विदलभ्यते	1638
यद्यार्थं सन्ध्ययोः	686	यः अभ्रान्मां	970	ये याता यान्ति	910
महसुं न वृहस्पतिः	694	यः समीपति	574	ये ये त्रिवर्गती	95

ये ये संदर्भ	151	रिपुशस्त्र	1412	वरमेकाक्षरं	497
येषामाशाम कुतः	872	शब्दे प्राणप्रचारे	375	वहणमहेन्द्री	1413
येषां वाग्मुद्वलोपकार	815	शब्दः क्रूराशायः	1224	वहणे त्वरितः	1401
येः प्राक्पर	1762	शदाशयमवै	1223	वर्णयुग्मं श्रुतं	1966
येः सुर्वं हिम	378	शदाशयमज	112	वर्षते गृह्णिः	1030
योगनिद्रा स्थिति	1284	स्त्रपात्र्येकानि	123	वर्षसानमहोत्साह्यः	1617
योगीश्वरं	2060	स्त्रपुर्वक्ल	1567	वर्षयन्ति स्व	78
योग्यता न	320	रेचनादुदर	1345	वर्षति भौमे	1405
योजयत्यात्मना	1593	रेचयति ततः	1433	वर्षतपतुषारात्रः	1665
योजनैर्जगता	537	रेफल्द्वं कला	1888	वर्षतपतुषारादि	1308
यो धर्मं दहति	976	रीरथादिषु ओरेषु	488	वर्षतपतुषारादि	
योनिस्त्रमध्यमिदं	718	लक्ष्मपञ्चाक्षरोच्चार	2202	(change)	1782
यो विशुद्धः	1547	लक्ष्म्बापि यत्	1675	वर्ष्याकर्षण	341
योषिद्विषय	600	लीलावनविहारेत्व	1792	वर्ष्याञ्जनानि	651
रजस्तमोमिः	41	लूप्यते मानिनः	980	वस्तुजातमिदं	63
रत्नप्रथमनाशाश्य	386	लूप्यते विषय	837	वस्तुतत्त्वं स्व	1622
रत्नप्रयसुषा	2057	लोकद्वयविनाशाश्य	936	वस्तुतत्त्वापरि	305
रत्नाकर इव	1340	लोकद्वयविशुद्धधर्म	771	वह्निवीजसमा	1893
रागद्वेषभासमाभवे	1122	लोकद्वयहितं	992	वर्णि विशसि	73
रागद्वेषविषोद्धानं	1138	लोकपूरणं	2189	वाक्यायचित्त	889
रागद्वेषादि	1865	लोकाकाश	424	वाक्यायास्यां पृथक्	1573
रागद्वेषो समख्येन	185	लोकप्रशिखरासीनं	2102	वाक्यव्यात्तमुभिः	479
रागादिगहने	1140	लोकानुरक्षजकैः	335	वाक्यायातीत	366
रागादिदहन	1853	लोकनेषु मृगाक्षीणां	753	वाक्यायातीत (change)	1985
रागादिपञ्च	1324	लोष्टं च वारिणा	161	वाक्यायातीत (change)	2223
रागादिभिरविद्यान्तैः	1123	लोष्टेष्वपि यथा	1068	वारदेव्याः कुल	1637
रागादिमल	1561	वस्तुभपि लज्जनीये	715	वाचस्पतिरपि	1178
रागादिकायुरा	1286	वशकाया महा	1314	वासातपतुषारात्म्यः	1333
रागादिकिञ्च	833	वशज्जवलन	643	वामायां विकरम्तौ	1382
रागादिविपिनं	1155	वदन्ति योगिनः	2096	वामा सुधासयी	1390
रागादिवैरिणः	1145	वन्ध्याङ्गजस्य	680	वामेन प्रविशन्तौ	1380
रागादिभिरुतं	1121	वपुर्विद्वि	59	वायोः संचार	1464
रागाद्युष्महजा	2140	वपुष्यात्ममतिः	1533	वारण्यां स हि	1900
रागी वध्नाति	1129	वपुष्यात्मेति	1532	वार्षेष्येन वपुः	779
राज्येष्वर्यकलक्ष	1208	वयमिह परमात्म	975	वार्षेन्तः समादत्ते	171
रात्यन्त्याम	1409	वरमात्यच्छटोशद्वः	701	वासमाजनितं	703
रिपुस्वेन समाप्तः	69	वरमालिङ्गिता	645	वासमाजमित्यान्येव	1069

## इलोकानुक्रमणिका

७२१

वासीचन्दन	967	विनोदः काम	1802	विषयेषु भवेत्	1042
वास्तु कीर्ति	822	विष्णविनीगरे	374	विषयेषु यथा	1024
विकल्पा न	1356	विष्णमहापङ्क	296	विषयस्थ काल	1031
विकसत्याशु	1346	विष्वमन्विष्यारण्ये	1094	विषायसे अृतं	1189
विकीर्ति मनः	1288	विषानपर्य	1896	विस्तरेण्डि	272
विक्रमीकरसः	109	विष्ण्य काम	269	विस्फुरन्तमति	1982
विज्ञबीजं विष्वपूलं	1027	विष्ण्य काम (change)	356	विस्फुलिङ्गनिभे	1260
विचरन्त्यः कुशीलेपु	650	विष्ण्य काम (change)	603	विसृतं यदि	1765
विच्चयसित्य	538	विष्ण्य इष (change)	1149	विहाय कल्पना	189
विचारक्तुरैः	47	विष्ण्याशेष	726	विहाय धर्म	499
विच्चित्रैवंध	953	विरम विरम	812	विहाय सर्व	902
विज्ञे जन	954	विलय वीतरागस्य	2197	वीणामादाय	1793
विज्ञे जन (change)	1323	विलोभविषयं	1104	वीतरागस्य	2030
विजन्तुकष्टा	901	विलोनाशेष	1686, 1875,	वीतरागं स्पर्श	2080
विज्ञातमयि	1500		1906, 2032	वीतरागो भवेत्	2029
विज्ञानविमयोद्घाम	1808	विलोक्य भुवनं	37	वृद्धानुजीविसां	789
विज्ञानादिक्षिवर्गे	311	विदिष्य तदगुण	2097	वृद्धोपदेश	785
विज्ञेयः संसुखे	1415	विवेकवर्णि	1339	वैद्यकिया	1526
विद्म्बन्ति जनाः	1297	विश्वस्ति नरकं	587	वेदनीयं विदुः	1670
विद्म्बव्यत्यसी	121	विशुद्धाशीष	367	वेष्यत्यरम्भमा	465
वित्तपुत्रकलशादि	137	विशुद्धादर्श	1495	वेष्टितः पक्षीः	225
वित्तमेव मतं	575	विशुद्धाष्टगुणोपेतं	1496	वैकियिकवारीदत्तात्	1756
वित्तवृत्सवलस्य	629	विशुद्ध्यति जगत्	759	वेरं परापत्रं	1751
वित्तहीनो जरी	683	विशुद्ध्यति हुताशेन	194	वैरिवारणदस्ताप्ते	674
विवक्षि परमं	593	विश्वमूर्तिः परं	2059	व्यसिरिक्तं उनोः	1598
विव्वामण्डल	1909	विश्वसूपमवि	1493	व्यस्तः प्रथमे	1386
विद्यां जपति	2006	विश्वविद्यासु	799	व्यालामलगर	217
विद्यां षड्कर्णं	1964	विश्वव्यापार	174	व्योमाकारं	2101
विद्याय मायां	1000	विश्वासानन्दयोः	1574	वजन्ते तालु	1984
विद्याय बद्धकं	1239	विषज्वलन	1736	वजन्ते भुक्ताभोगे	1898
विद्युर्धूमिः	685	विषमध्ये सुधा	679	वत्स्युलयम्	557
विद्यु वृद्धानुसेव्य	781	विषयश्वास	1092	वत्ती निःशस्य एव	994
विद्युधिंहि॒सैव	521	विषयविपिन	884	वत्यते न यथा	2221
विद्याति कथायान्नः	245	विषयविरति	592	वत्यते न वशी	293
विमाकुनेन	672	विषयश्वाभि	1014	वक्त्रो ऽपि न	878
विनिर्विमध्युच्छिष्ट	2104	विषयश्वामपाकृत्य	1718	वक्त्राशोकमय	1222
विमीतवेष	1839	विषयेषु न	1579	वक्त्रेष्वकुम्द	2002

शतमष्टोसरं	1961	शुद्धारसार	1801	स को इपि स्मर्तां	657
शतमासीतं	306	शोचन्ति स्वजनं	101	सततारभ	177
शतांशमणि तत्य	285	शिष्यमात्यन्तिष्ठी	1955	सता विजाततस्यानां	553
शनैः शनैर्मनः	1355	शिष्यं सकल	5	सतीत्वेन महस्त्रेन	698
शब्दाच्छब्दान्तरं	2163	श्रीमद्गुद्गुकलाङ्कस्य	17	सत्तत्वनिकशोदभूतं	774
शमकस्य क्रमात्	2124	श्रीमत्सर्वज्ञदेवोक्त	1626	सत्याद्युत्तरानिःशेष	478
शमधुतयमोहेताः	1103	श्रीमत्वर्वशनिदिष्ट	1641	सत्तंयमवृता	357
शमग्न्युभिः क्रोष	1007	धीकी रवद्वादभूतां	2005	सत्तंयमघृतां	323
शयनासनेषु	1408	ध्रुतशानार्थ	2148	सत्तंयमप्यप्यःपूर	4
शय्यासनामि	899	ध्रुतस्कन्धमधः	6	सत्संयममहा	928
शरण्यन्द्रनिभं	1884	ध्रुतस्कन्धमहा	2164	सत्संसर्वसुखा	784
शरदिन्दुषाम	1435	श्रुते सत्यं तपः	247	सद्व्यनमहारत्नं	442
शरीरत्वं न ये	84	श्रुतिसिन्धु	2025	सन्मति सुगतं	2061
शरीरसेतशाद्य	166	श्रुते दृष्टे स्मृते	1232	सन्मानित् प्रत्युतं	2006
शरीरं शीर्षते	72	श्रुतेन विकलेनामि	1328	स पद्यति मुनिः	1141
शरीराद्विन्नं	1597	श्रुतैर्दृष्टैः स्मृतैः	1206	सप्तद्वीपवत्ती	505
शरीराद्वार	892	शृणुते उद्देश्याद्वेषु	502	सप्तधातु	1904
शाकेनापीच्छया	1004	श्रूयन्ते संवृत	1316	सप्तधातु (change)	2035
शास्त्र्यर्थं देव	489	श्वपाकोलूक	565	सप्तभिस्त्रिदशानीकः	1799
शास्त्रित जन्मतः	1166	श्वर्भे शूलकुठार	132	सप्तानां प्रशासात्	392
शास्त्रित जन्मतः	(change)	षट्शताम्प्रथिकान्याहुः	1442	सप्रपञ्च	594
शास्त्रित घोणिभिः	2008	षष्मासायुषि	2185	सभाभवसमेतत्ते	1838
शिरीषदुक्तुमाराज्ञाः	1168	षष्टिविजान	307	सभ्यसामानिकामात्य	1810
शिवाम्बुद्यदं	1815	षोडशप्रभितः	1441	समयं स्वर्गसाम्राज्यं	1847
शिवाम्बुद्यदं	1721	स एव नियतं	1502	समत्वं भज	53
शिवाम्बुद्यदं	1705	स एवाहं स	1554	समन्तभद्रादि	14
शिवो ज्यं वैततेयः	1059	स एव प्रशमः	964	समन्यस्तं सुविज्ञातं	1570
शीतमूर्खिष्ठपि	1701	सकलजलधि	506	समयादिकृतं	425
शीलशालमति	626	सकलज्ञानसाम्राज्य	1974	समस्तो श्वमहो	1874
शुचिमुण्योगात्	2145	सकलज्ञानसाम्राज्यं	1134	समाकृष्ण यदा	1353
शुद्ध काले पर्यः	898	सकलमुच्चम	1254	समाकृष्णेन्द्रियार्थेभ्यः	1456
शुभद्यानक्लोदभूतां	278	सकलविषय	861	समाप्तति	98
शुभाशुमानि	1740	सकलसमिति	190	सम्यक्त्वमय	391
शून्यवेदमन्यथ	1307	सकलं विक्षु	1432	सम्यक्समाधि	1459
शूलचक्रासि	508	सकामाकास	192	सम्यग्सिमन् शर्म	1081
शृङ्गलायां यथा	1541	सकुलुच्चारितं	1925	सम्यग्नेतस्यासाद्	968
शृङ्गारजलधे:	1842	स को इपि परमा	1125	सम्यज्ञानविवेक	973

## इलोकानुक्रमणिका

७२३

सम्यजानादिकं	257	सवितर्कमवीचारं	2150	संविमस्य प्रशान्तस्य	1463
सम्यजानादि	408	सवितर्कं सबोचारं	2149	संचिनः संकृतः	1322
सम्यनिरूप्य	31	स विपाकं इति	1658	संवृष्टोत्पक्ष	1049
सर्वास्थमल	1786	सस्थानां निष्पत्तिः	1406	संवृत्तस्य सुकृतस्य	826
सरिता संगमे	1304	स स्वयं यदि	2224	संसर्गप्रभवः	749
सरित्पुराणिरि	588	सहस्रं प्राक्तना	949	संसर्गविदुर्बलां	765
सर्वकल्याण	2024	सहायः को ऽपि	1742	संसारसंक्रम	1193
सर्वज्ञं सर्वेदं	2062	सहाया अस्य	138	साकारं विर्गता	1492
सर्वज्ञः क्षीणकर्मी	2184	संकल्पकशतः	624	साकारकर्तुमतः	1619
सर्वज्ञानां पुरुषकृत्य	1639	संकल्पाप्लालि	517	साकारत्वानेव	1530
सर्वतो जनन्ते	2213	संकल्पानन्तरोत्पत्ति	135	साधादिदमनासाक्षं	911
सर्वज्ञायुप	730	संकल्पानन्तरोत्पत्तिः	1861	साखाद्रस्तु	33
सर्वदैव इजाकान्तं	164	संक्षिप्तमपि नो	1443	साधान्तिविषयं	2072
सर्वद्विन्दविनिर्मुक्तं	2134	संक्षेपश्चिभिः	273	साधरात्मे वनान्ते	1303
सर्वद्विमहिमोपेतं	1825	संग एव मतः	832	साधुसंवृत्	904
सर्वलोकप्रिये	552	संगपद्मात्	853	साध्यसिद्धिः	302
सर्वसत्त्वाभय	1977	संभात्कामस्ततः	831	साध्वीयं ल्यात्	830
सर्वसंगपरित्याग	841	संगाः शरीरे	834	साध्वसिन्दूर	1950
सर्वसंगविनिर्मुक्तः	852	संगेनापि गुरुत्वं	322	साध्ययोहमयोः	2121
सर्वस्तस्य प्रभवः	1852	संगः कि न	50	सामायिकादि	473
सर्वाक्षिसुखवे	1813	संग्रामसुरस	1392	साम्यकोटि	1158
सर्वातिशय	1992	संवरति यदा	1424	साम्यभावित	1160
सर्वातिशय (change)	2034	संवरत्तं दिशो	1929	साम्यमेव न	1182
सर्वाभिमत	2136	संवरत्ति जगत्यस्मिन्	731	साम्यमेव परं	1159
सर्वविधवनिर्माण	1843	संव्रासीद्भान्त	583	साम्यवारिणि	1153
सर्वविधवसंपूर्णं	1935	संविह्यते मतिः	327	साम्यश्रीमार्ति	1180
सर्वविधवसंपूर्णं(change)	2105	संघ्येव क्षणं	647	साम्यसीमानं	1152
सर्वविधवसंपूर्णः	1805	संन्यस्तसर्वे	849	साम्यसूर्याशु	1151
सर्वाशायः	873	संभवन्ति न वा	2092	सारङ्गी सिंह	1172
सर्वविश्विभये	724	संभवन्ति भग्ना	944	सिन्होऽप्यन्नुधर	605
सर्वास्त्रिवनिरोधः	179	संभवन्त्यय	2132	सितपक्षे रथ्युदये	1383
सर्वे च हुणङ्	1711	संभूय कुष्ठिका	1706	सिद्धकृटे जिनामारे	1305
सर्वेणातीत	2210	संयतासंयतेषु	1218	सिद्धसेवाणि	890
सर्वे ऽपि प्रविचान्तः	1379	संयमोत्तम	930	सिद्धक्षेत्रे महा	1302
सर्वे प्रवेशकाले	1378	संयोगे विप्रयोगे	136	सिद्धमयि याति	1377
सर्वे सर्वे ऽपि	126	संयोजयति	1523	सिद्धस्त्रेकस्वभावः	398
स लोकयन्न	420	संरभावितिकं	481	सिद्धात्मा सुषसिद्धात्मा	2199

सिद्धास्तसूत्र	903	सो ज्ञं सर्वगतः	[2107	स्मरीतसंगमणि	671
सिद्धे: सौधं	1972	सो ज्ञं सिद्धः	1646	स्यात्ता तत्रात्म	1200
सिद्धन्ति सिद्धयः	1941	सौध्यार्थं दुःख	493	स्यादियं योग	2157
सिवर्णं मरतकाम्भीजे	2023	सौधमर्दिच्छुतान्ताः	1868	स्याद्यथ्योत्तमे	1555
सुखदुःखजय	665	सौधमो इयं महा	1833	स्याद्वादपवि	2039
सुखदुःखजय (change)	1428	सौधोत्संगे इमधाने	1175	स्वक्षय्यासन	1660
सुखामूलमहा:	1818	इतमधादिके भृत्येन्द्रः	1373	स्वजनधन	824
सुमुक्तेन स्वकायेन	176	स्यानासन	1321	स्वजालीयंरपि	856
सुचिरं सुष्टु	739	स्यानेष्वेतेषु	1469	स्वज्ञानादेव	915
सुतस्वजनदारार्थे	570	स्थितिमासाद्य	2206	स्वतत्त्वविमुखैः	27
सुतस्वजनमूपाल	850	स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं	1633	स्वतत्त्वानुगते	1109
सुतीकासात्	124	स्थित्युत्पत्तिभ्यरोपेतैः	1690	स्वतालुरक्तं	716
सुतुमः सर्वदैव	2218	स्थिरीकृतशरीरस्य	905	स्वपरान्तर	1560
सुधास्मूप्रभवैः	1901	स्थिरीकृत्य अनः	736	स्वपुत्रपौत्रसंतानं	511
सुधांशुरदिय	787	स्थिरीभविष्ट	1359	स्वप्नदृष्टविनाशे	1610
सुनिष्ठितस्व	1342	स्नुषां शश्रू	636	स्वप्ने इषि कौतुकेनापि	2085
सुप्तेष्वस्त्रेषु	920	स्फुरद्विमल	1953	स्वबोधादपरं	1575
सुप्रयुक्तैः	383	स्फुरन्तं नेत्र	1928	स्वभावजनिरातङ्कु	364
सुप्राप्तं न पुनः	242	स्फुरन्तं श्रूता	1927	स्वभावजनातङ्कु	1127
सुरं विद्य	1525	स्फुरन्ति हृषि	748	स्वभावजनसंदिग्धं	2047
सुराखल इव	682	स्फुलिङ्गमिङ्गलं	1367	स्वयमेव प्रजायस्ते	1265
सुरापुरारम्भक	1676	स्फेटयत्याशु	2115	स्वयमेव हि	2091
सुरासुर	99	स्मरकर्मकलङ्कौष	1976	स्वयं गन्तुं	421
सुरेन्द्रप्रसिद्धा	688	स्मरगरल	1453	स्वयं नष्टो जनः	239
सुरोरणनराधीष	1671	स्मरज्ज्वलन	700	स्वयं स्वकर्म	134
सुरोरणनरैष्यर्थं	85	स्मरदहन	640	स्वर्गी पतति	122
सुलभिह	243	स्मर दुःखानल	1945	स्वर्णगोरी स्वरोदभूतां	1980
सुलभेष्वपि	790	स्मरप्रकोप	604	स्वर्णाचल इव	368
सुकृतं विन्दु	1366	स्मरभोगीन्द्रदुक्षोर	818	स्वर्णचिलमयी	1883
सुसंकृतेन्द्रिय	1556	स्मरभोगीन्द्रवलभीकं	847	स्वविमानमिर्द्	1836
सूक्ष्मक्रियं ततः	2194	स्मर भन्नपदं	2017	स्वविभ्रम	1471
सूक्ष्मक्रिया	2151	स्मर मन्त्रपदाधीशं	2022	स्वविभ्रमोद्भवं	1566
सूक्ष्मं जिनेन्द्र	1624	स्मर मन्त्रपदोद्भूता	1962	स्वशरीरमिव	1527
सूत्रे बत्तावधानाः	770	स्मरव्याल	609	स्वसंवित्ति	1012
सूत्रं कषणा	535	स्मरवीतज्जवरातङ्कु	702	स्वसिद्धार्थं	32
सेनासंचार	1295	स्मर उक्तसिद्ध	1995	स्वस्वरूपमति	154
सो इयं समरसी	1508	स्मरेन्दुभग्नलाकारं	1978	स्वातन्त्र्यमणि	653

### स्लोकानुक्रमणिका

७२५

स्वात्मेतरविकल्पः	1528	हितोपदेश	369	हृत्यक्षाकण्ठिका	1947
स्वान्धियोरप्यनालोच्य	522	हिंसाकर्मणि	1228	हृदि ज्वलति	607
स्वामिगुरुवच्छु	1005	हिंसामन्दात्	1225	हृदि दस्ते तथा	646
हर्त शानं क्रिया	315	हिंसानन्दीद्वयं	1236	हृदि यस्य पदं	579
हते निष्पोडिते	1226	हिंसायामनुते	477	हृदि स्फुरति	1021
हृत्वा स्वपुष्य	942	हिंसास्तेयानुसाबस्य	1702	हृषीकरस्करातीकं	1038
हृतिहरपितमहाद्याः	638	हिंसैव तुर्गते:	490	हृषीकनीमभोगीन्द्र	1019
हृस्त्यक्षरव्य	1800	हिंसैव नरकागार	484	हृषीकरात्साक्षात्तर्त्तु	39
हृत्सालीपात्र	2054	हिंसोपकरणादानं	1237	हृषीकरात्सालीकं	835
हृतरकुष्ठल	1806	हीनाकरण	780	हृषीकार्थ	57
हिताहितविमूढात्मा	297				

●

### ३. उक्तं-च तथा लारकाङ्गत्रिमाङ्गयुक्तपदानां च अकारादि सूची

( The Numbers of verses in English are put at the beginning, and those in Nāgarī at the end. The *uktam* or verses are starred at the beginning. All others are those in the square brackets. )

1934 * अकारादि	१५.२२*१	1916 * कसलदलोदर	३५. ६*१
1509 अमन्यवारणः	२८.३६*२	895 * कर्कशा परशा	१८. ९*१
527 अन्थयोगव्यवच्छेदात्	८.५४*१	330 कान्दर्पी कैलिषी	४.३९*१
1426 * अमृते प्रवहति	२६.११५*१	1234 कि कुर्मः शक्ति	२४.१०*२
1388 अस्त्रोदयवेलायां	२६.८२*१	999 * कुशालजनन	१८.१०४*१
2158 अवदिर्यं वचः	२९.१६*१	1727 कुतः पराभवः	३३.३७*१
2127 अल्लोत्थमारोद्यं	३८.१३*१	1777 * अवचित्सुखं देव	३८.८४*१
233 अविक्षापिकान्त्यः	३.३५*१	2118 छिले मिले हुते	३८. ६*१
1233 अहं कषा करिष्यामि	२४.१०*१	1455 * जलविन्दुं कुशाग्रेण	२६.१४१*१
886 * आचरितानि भृत्युभिः	१७. १*१	1917 * जापाक्षयेष्वाम्	३५. ६*२
1060 * अग्न्यन्तिकस्वभावोत्था	१९. १*१	313 * हानहीना किया	४.२६*१
351 * इत्यं न किञ्चिदपि	४.५८*२	314 * झार्म पड़मी	४.२६*२
2162 * इदमत्र कु लाल्प्यं	३९.१६*१	2230 झानाणविस्य	३९.८१*१
317 * इदं कलमियं	४.२७*१	405 * तत्र जीवसद्गीवच्च	६.१६*१
1416 * इडा लोयमधी	२६.१०६*१	387 तत्त्वशुचिः सम्प्रकर्त्वं	६. ४*१
1194 * उक्तुष्टकाय	२३.१४*१	1410 * उसर्हतरु सुसि	२६.१०१*२
1194 * उत्तमसंहनमस्य	२३.१४*१	1491 * विकालविषयं	२८.२०*१
722 * उत्तानोऽच्छूल	१३.२२*१	280 दुष्यनिादं दुर्गतेः	३.३३*१
197 उपवासादितिः	२.१४५*१	382 दृश्यन्ते भूति	५.२८*१
1195 * एकचिन्तानुरोधः	२३.१४*२	212 घस्ते नरक	२.१६९*१
139 एकर्यं कि न	२.८९*१	1072 * अ्यानस्य च पुनः	२०. १*१
2170 * एकं द्रव्यमष्टाणुं	३९.२३*१	959 न चेदयं भा	१८.६८*१
393 * एकं प्रवामसंविग	६. ६*४	2119 * न पश्यति तथा	३८. ६*२
1653 * एको भावः सर्व	३१.१३*१	804 * न हि भवति	१५.३३*१
2165 * एवं शान्तकषायात्मा	३९.१९*४	723 * नारीजघान	१३.२२*२
988 अचिन्त्याचरण	१८.१४*२	1480 * नासत्पूर्वीय	२८.१०*१
1510 * कटस्य कर्तव्य	२८.३६*३	304 * नित्यतां केवित्	४.२०*१

922	सित्पानन्दमयं	१८.३३*२	1409	* राश्यसत्याम्	२६.१०१*१	
2110	* निष्कलः परमात्मा	१७.३०*१	1345	देवनादुदर	२६.४३*१	
2144	* निष्क्रियं करणातीतं	३९. ४*१	161	लोट्टे च कारिणा	१.११०*१	
921	निःशेषकलेश	१८.३५*१	1966	वर्णयुगमं श्रुतं	३५.५३*१	
474	पञ्चमहाव्रत	८. २*१	822	वास्तु क्षेत्रं घनं	१६. १*१	
438	प्रकृतिप्रदेश	६.४८*१	1346	विकसत्याम्	२६.४३*२	
1389	प्रथमे ज्ञनि	२६.८१*२	1000	* विद्याय मार्या	१८.१०४*२	
390	* भव्यः पर्याप्तिः	६. ६*१	1686	विलीनाशेषकमर्णि	३२.२८*१	
350	* भुक्ताः श्रियः	४.५८*१	1875	विलीनाशेषकमर्णि	३२.१७८*१	
896	* भूतहिंसाकरो	१८. ९*२	2029	* वीतरागो भवेत्	३५.११४*१	
1865	मध्यात्मयगृह	३३.१६९*१	2002	* शब्दोन्दुकुन्द	३५.८८*१	
1077	* मनोरोगे भवेत्	२०. ५*१	306	* शतभाषीतं प्रवितं	४.२१*१	
1001	* मायैष विद्याम्	१८.१०४*३	2163	* शब्दाच्छब्दान्तरं	३९.१३*२	
860	माजीरभविते	१६.३८*२	1721	शिवाम्युदयं	३३.३२*१	
825	* मिथ्याएवदरामाः	१६. ५*१	2145	* शुचिगुणयोगात्	३९. ४५*२	
1002	* मुखप्रसारण	१८.१०४*४	2164	* शुतस्कम्भमहा	३९.१३*३	
987	मुण्डाति यः	१८.९४*१	2185	षष्मासायुषि	३९.३७*१	
395	* मूढत्रयं मदाः	६. ७*१	307	* षष्ठिविज्ञान	४.२१*२	
1117	मूखीस्तपोभिः	२१.१०*१	392	* सप्तमीं प्रदशभात्	६. ६*३	
1354	* यस्कोष्ठादति	२६.४९*२	1353	* शमाङ्क्षयं यदा	२६.४९*१	
1731	यत्युराम	३३.४०*१	391	* सप्त्यक्लमथ	६. ६*२	
1427	* यस्मिन्नश्चिति	२६.११५*२	1428	* सुखदुःखजय	२६.११५*३	
924	या निशा सर्वं	१८.३४*१	1624	* सूक्ष्मं जिनेश्वर	३०. ७*१	
1749	यावन्ति सन्ति	३३.५७*१	1508	सो ऽर्थं समरसीभावः	२८.३६*१	
859	यावन्तः कुरुते	१६.३८*१	1833	सौषधमो ऽर्थं भहा	३३.१३८*१	
2076	* येन येन हि	३६.४३*१	१८४*१	३15	* हृतं शानं	४.२६*३
976	* यो खर्मं चहति	१८.४४*१	1800	हस्त्यम्भरय	३३.१०६*१	
1129	* यगी वशाति	३१.२१*१				

## 4. पारिभाषिकादि-शब्दसूची

अकाय-निर्जरा 191	अनुरूप 2090	अवध्रह 452
अक्षरोद्ध 1013 F.	अनेकान्त 17	अवधि 454
अम्बलुक 1025 F.	अन्तरात्मा 1517 F.	अवधिज्ञान 451
अगस्त्य 1169	अन्तज्योति 1942	अविद्या 261, 333, 792, 1067, 1091, 1202, 1476
अङ्ग 284, 1075-6, 1630	अग्नेस्वभावना 144 F.	अविद्यावासना 1618
अङ्गार 897	अग्न्ययोगव्यवस्थाएँ 527	अविरति 435
अचीर्य 573 F.	अपराजितभक्त 1952	अव्ययपद 2139
अच्छुत 1868	अपायविचय 1621, 1640 F., 1656	अधरणभावना 97 F.
अज 1922	अपस्त्व 1060+3	अशुचित्वभावना 156 F.
अजीव 396, 414 F.	अप्रतिपात 455	अशुभाशय 274
अज्ञानी 1550	अप्रमल-मूलि 1326	अष्टगुण 1496, 2133
अज्ञन 343	अप्रशस्त व्यान 1196	अष्टाकारमन्त्र 2011
अग्निमा 1059, 1461, 1941, 2006	अभव्य 407, 409	असत्य 175
अग्नि 417	अभिचार 340, 1190	असदृश्य 1617
अधर्म 414, 420, 422, 2204	अभिदविद्या 1602	असदृश्यान् 1198, 1262, 2085, 2087
अध्यात्मवेदिन् 912	अभूत 2102	असंथम 1600
अनन्तरुण 1054	अयोगकेवली 1972	असात 124
अनन्तचतुष्टय 1061+1, 1483, 2173	अयोगिन् 2152, 2196	असाताकेदमीय 1672
अनम्यास 1617	अयोगिपरमेष्ठी 2196	असिआडसा 2023
अनायतन 395	अरचिन्द्रासत 1311	अस्वीं 2004
अनाहत 1937, 2004	अरहैत 1965	अहम् 1535
अनाहतलत्व 1919	अरहंतसिद्ध 1964	अहंज्ञान 1646 F.
अनित्यता 304	अर्कतूल 1444	अहंमति 1568
अभित्य-भावना 56 p.	अर्थपर्याय 433	अहमिन्द्र 1869
अनिष्टयोग 1203-4 F.	अर्थसंक्षाति 2156	अहिसा 472, 478, 503 F.
अभिष्टयोगार्थ 1204	अर्थपर्यङ्क 1311	अः 1967
अनुत्तर 2128, 2130	अहै 1931	आकर्षण 341
अनुप्रेक्षा 1195, 2114	अहैन्ते 2058	आकाश 423
अनुभागवन्ध 436	अलक्ष्य 1620	आगम 1193, 2044
	अलोक 224	

- आगेयी १८७९, १८८६ F.  
 आज्ञाविचय १६१७, १६२१, १६२२  
 आकासिद्ध १६२४  
 आर्थवर्य १९४१  
 आत्मज्योति १९४६  
 आत्मन् १०५१  
 आत्मज्ञान १५१३  
 आत्मविज्ञान १६०९ F.  
 आत्मसामर्थ्य १०६१ F.  
 आत्मा ९१६ F.  
 आत्माभ्यास १५२१  
 आदान (समिति) ८९९ F.  
 आदानस्थिति (समिति) ८८८  
 आदिसंहनन २१४३  
 आदेय ११६५  
 आच्छाहन २११७, २१२०  
 आभियोगिकी ३३०  
 आरम्भ १७७, ४८१  
 आर्त ११९९, १२०३, १२१८  
 आर्तध्यान ११८० F., ११९९  
 आर्तरोद १२२३ F.,  
 आर्तलिङ्ग १२२२  
 आर्य १७७५  
 आहून्त्य २०३३, २१८१,  
 आवरण १४३  
 आशय २७३  
 आका ८६४ F.  
 आकापिशाची ८६४ F.  
 आसन १०७१  
 आसनज्य १३३१ F.  
 आस्तिक्य ३९८  
 आख्य १७० F., ३९६, १६५०  
 हन्दिवार्षरापहानि १०४७  
 हष्टवियोगज १२०८-१०  
 हष्टवियोगार्त १२१०  
 हष्टवियत्य १२०३, १२०८  
 हैड १४१६.
- ईर्यासमिति ८८८, ८९० F.  
 ईशान १९२२  
 उच्चाठन ३४१  
 उत्तर्ति १६२५  
 उत्पाद ८९७  
 उत्सर्गसमिति ८८०  
 उत्साह १०७१  
 उद्गाम ८९७  
 उपनय १६२९  
 उपेक्षा १२७९ F.  
 एकत्र १३३ F., २१५०, २१६९-  
 ७०  
 एकन्वयान २१६६  
 एकदृष्ट्य ४१९  
 एकाग्रचिन्तारोध ११९४  
 एषज्ञासमिति ८८८, ८९७ F.  
 ऐरावण १८४४  
 ओं १९५१  
 ओं अरहंत १९७२  
 ओं अर्हन्युल २०१८  
 ओं जोगे २००५  
 ओं ज्ञाने २०१०  
 ओं नमोऽहंते १९७७  
 ओं ओं १९७४  
 ओं ह २००१  
 ओं ह्रा १९६९  
 औदासीन्य १२८४  
 औपकामिक ३९१  
 कपाट २१८७  
 करण २००९  
 करणग्राम १०३६  
 करणा १२७३ F., १२७६  
 कर्मधात १६४५  
 कर्मजक्तम १४८२  
 कर्मनिर्जरा ९५६  
 कर्मप्रकृति २१९५  
 कर्मप्रकृतयः १६६७ F.
- कल्प ११९, १७७९, २१३२  
 कल्पाद्रव १८६५  
 कल्पवासिन् २१३१, २१३३  
 कल्पातीत २१३१  
 कल्याणमहिमा १९९२  
 कल्याणविभव २१७९  
 कथाय १७३, ४३५, ४८१, ९३०,  
 २१४६  
 कथायनिवारण १००७ F.  
 काकसालीयक २४७  
 कास्त्री ३३०  
 कापालिक १२९०  
 कामतस्त्र १०६०★७  
 काय ४१५  
 कायणुसि ८८९  
 कायदण्डन १०९८  
 काययोग २१९१  
 कायोत्सर्ग १७६, १३११, १३१३  
 काळ ४१४, ४२४-२५, १६६४ F.,  
 किनरपुर ५०  
 कुस्तल १०६०★७  
 कुम्भक १३४४, १३४८, १३५३,  
 १९३०, १९४९  
 कुशास्त्र २९  
 कृष्णनीलाद्यसल्लेश्या १२१९  
 कृष्णलेश्या १२५७, १७०३, १७५५  
 कृष्णलेश्यादल १२५८  
 केरली १०६०★७  
 केयल ४५६  
 केषलज्जन ४५१, २१७३  
 केवलदर्शन २१७३  
 कैलिङ्गी ३३०  
 कोप १११७  
 कौल १२९०  
 कौलिक ५४७  
 क्रिया ३१३  
 क्रियाविद् ३०६

- क्रोध ९२९, ९३१, ९३२ F.  
 क्लेशयमावना ९४० F.  
 क्लेश १०७४  
 दृक् २१८३  
 कामा ४८५, ९६२, ९७५  
 कायिक ३९१  
 कायोपशमिक १२२१, १२६१,  
     २१२५  
 कायोपशमिकभाव १२६१  
 कीणमोह २१५७  
 क्षेत्र १६६१ F.  
 क्षी १९९५  
 गति ४०१, १३५१  
 गम्भवं १०६०\*७  
 गाहडमुद्रा १०६०\*६  
 गुण (स्थान) ४१३  
 गुणश्रेणि १६८४  
 गुणाल्टक २००१  
 गुरु ४७४, ४७६, ८८९  
 गुरुपञ्चक १९५२, १९६२  
 गुरुपदेश १०७२  
 गृहाभास २९४, ३००  
 शोत्र १६८१  
 ग्रन्थ ८२१, ८२२, ८२४, ८२५,  
     ८३९  
 ग्रह १०६०\*६  
 प्राहृक १५०६  
 ग्रास १५०५  
 ग्रैवेयक २१२८, २१३०  
 घातिकर्म २१३९, २१७१  
 घासिकर्म २१३९  
 घासिक्षुष्टय २१८३  
 घण्डका १२९०  
 घटुर्ब १९६१, १९६३  
 घसुर्खल २०६०  
 घस्तारि मंगल १९७१  
 घन्दकेत्र १४२०
- घन्दलेखा १९९७  
 घरमव्युत् २१३७  
 घरमाज्ञान्यून २१०१  
 घट १३५१  
 घारित्र ४७३  
 घारित्रमोह १६७४ F.  
 घार्विक ५४७  
 घित्तदेत्य ११०२, ११०५  
 घित्तप्रसत्ति १०७५  
 घित्तयोग २१९१  
 घित्तालम्बन १४६८  
 घित्तामन्द ९१९  
 घौर्य ५७३ F., १२२५  
 घौर्यरौद १२४६  
 घौर्यनिन्द १२४६  
 घृतवय २०५३  
 घनपदस्थान १०७१  
 घम्बूद्धीय १७७२  
 घातिस्मरण १८४९ F.  
 घाय ( लाय ) १९१७  
 जिन १९२३  
 जिनपति १९२१  
 जीव ३९६, ३९७, ४०४  
 जीवप्रदेश १०६०\*१  
 जीवाशय २७३  
 ज्योतिर्मय १९४०  
 ज्योतिषक विभान १७७८  
 ज्ञान ३१३, ४४९ F.  
 ज्ञानवादिन् ३०८  
 ज्ञानविज्ञान ८१३  
 ज्ञानशास्त्र २५  
 ज्ञानार्थव २२३०  
 ज्ञानाधरण १०६०\*२, १६६८ F.  
 ज्ञानिन् ४६६, १५५०  
 ज्ञाकिनी १०६०\*६  
 ज्ञामो अरहंतार्थ २०१६  
 ज्ञामो सिद्धान्त १९७६
- ज्ञात्व ३९६  
 ज्ञात्वनिरक्षय १०७१  
 ज्ञात्वकर्त्ति ३८७  
 ज्ञात्वल्पवस्ति १८७९, १९०४ F.  
 ज्ञात्ववित् १९३४  
 ज्ञात्वय ११६२, १५८६  
 ज्ञन ६५१, १०६०\*६  
 ज्ञनयत्य २०७३  
 ज्ञप्त् १९५ F., २५६  
 ज्ञुर्णद्यान २०५६  
 जूल्णा १०४२  
 जृस १२६, २३२, ४००  
 ज्ञिरस्तुदि २१३८  
 ज्ञिर्ग ९८८  
 ज्ञिरुद्धि ३८५  
 ज्ञेविद्य १६  
 ज्ञेष्ठ २१८७  
 ज्ञेया ३९८  
 ज्ञेयम ४४२ F.  
 ज्ञेनमोह १६७३  
 ज्ञात्वीष ६८८  
 ज्ञात्वाज्ञामोह २१३३  
 ज्ञानवी ३३०  
 ज्ञिविसौख्य २१३३ F.  
 ज्ञिव्यक्षाणी २०५१  
 ज्ञिव्यसिद्धि १०५०  
 ज्ञुर्णय २०४८  
 ज्ञुर्णिष ८९५ F.  
 ज्ञुलेश्वरा ३३६  
 ज्ञुगावरण १६६९ F.  
 ज्ञुर्णोष ३९५  
 ज्ञुष्टिमोह १६७३ F.  
 ज्ञेवराज्य २१३१  
 ज्ञेवलोक १७८२ F., १७८९  
 ज्ञेत्य १०६०\*६  
 ज्ञेष्ठ ( अष्टादश ) २०४०  
 ज्ञेयस्य ११६२

- द्रव्य 414, 1660  
 द्रव्यपर्याप्ति 1504  
 द्रव्यसंचर 180  
 द्रव्यादिचतुष्टय 1060\*1,  
     165 F.  
 द्विज 547  
 द्वितीयन् 93  
 धन 848, 855, 862  
 धनिन् 849-50 F., 856  
 धर्म 201F, 202 F, 220, 414,  
     420-21, 1199, 1616,  
     2204  
 धर्मचक्राधिप 2178  
 धर्मचक्रिन् 2040  
 धर्मध्यान 1199, 1267, 1616,  
     1621, 2115<sup>F</sup>, 2125,  
     2139, 2140  
 धर्मध्यानस्थानिन् 1329  
 धर्मध्येय 1488  
 धर्म्य 1486  
 धारणा 1871, 1878  
 धूम 897  
 धैर्य 1071  
 ध्यात्रा 288, 289, 356, 1269,  
     1314 F., 1319, 1322F.,  
     1327, 1330, 1507 F.,  
     1916, 2108  
 ध्यान 197, 258 F., 284, 288,  
     1058, 1071, 1184,  
     1195, 1201, 1334 F.,  
     1470, 1507, 1512.,  
     1685, 2029, 2108  
 ध्यानकालवस्ति 1309  
 ध्यानतन्त्र 271, 319, 1457  
 ध्यानप्रवृत्त्य 1469  
 ध्यानप्रभाव 1909  
 ध्यानलक्षण 273-82  
 ध्यानविषदस्थान 1267 F.  
 ध्यानस्थान 2229  
 ध्यानसामग्री 261  
 ध्यानसिद्धि 1302 F., 1320  
     F., 2030  
 ध्यानस्थान 1302 F.  
 ध्यानसिद्धि 1323 F.  
 ध्यानावलम्बित् 375  
 ध्यानावस्था 1323 F.  
 ध्यानासन 1310  
 ध्यानिन् 1931  
 ध्येय 288, 1487 F., 1502,  
     1507 F., 2067, 2090  
 नभस् 414  
 नमः सर्व 2024  
 नय 1625, 1629, 2036  
 नरक 1704, 1750, 1769  
 नरककल्प 1749  
 नरकमूर्ति 1698 F.  
 नरत्व 234, 247  
 नरेन्द्र 1060\*6  
 नवकेवललक्ष्मि 2056  
 नाडिकाशुद्धि 1432 F.  
 नाडी 1358  
 नाभिकमल 1436  
 नाम 1680  
 नासितक 328  
 निकाय 119  
 निकृति 989  
 निषेद 1625, 1628  
 निषोद 549  
 नित्यता 304  
 निदान 1060\*1, 1203, 1214  
 निदानार्त 1215  
 नियम 1071  
 निराकरण 1620  
 निर्जना 191, 396, 1650  
 निर्भय 269, 368  
 निर्विण 706  
 निर्वेद 172, 198, 268, 333,  
     1033, 1489, 1990,  
     2125  
 निर्वेदपदवी 2120  
 निरचय 1071  
 निःसंग 821, 823  
 नीरात्म 872  
 पञ्चगुणस्थान 1258  
 पञ्चतत्त्व 1969  
 पञ्चमस्तकार 1952, 1955 F.  
 पञ्चमगुणस्थान 1258  
 पञ्चमयी विद्या 1969  
 पतञ्जल्यार्ग 1433  
 पदस्थ 1877, 1910 F., 2025  
 परमहान् 352  
 परमतत्त्व 1934  
 परमसंबर 189  
 परमागम 181  
 परमात्मन् 1057, 1060, 1490,  
     1492, 2107  
 परमेश्वर 1350, 2046 F.  
 परमेष्ठिन् 1608  
 परमेष्ठिलय 1556 F.  
 परंज्योति 922, 1511  
 परात्मा 1517  
 परिघ 820, 836  
 परियहूषोद 819  
 परीघह 332, 840, 905  
 पर्णश्च 905, 1311, 1313  
 पर्याय 128  
 पवनप्रचार 1453  
 पातालसिद्धि 343  
 पादुका 343  
 पात्यिव 1363, 1364  
 पात्यिकी 1879 F.

- पाण्डित् 301  
 पिङ्गला 1416  
 पिण्डस्थ 1877 F.  
 पुण्याशय 274  
 पुद्गल 180, 417  
 पुरुन्दर ( वायु ) 1369  
 पुरुषाकार 2032, 2102-3  
 पुरुषार्थ 249  
 पूरक 1344, 1347, 1353  
 पूर्णि 1424  
 पूर्व 284, 1630  
 पृथक्त्वविद्य 2149 F.  
 पृथ्वीतत्त्व 1060\*2  
 प्रकृतिबन्ध 438  
 प्रकीर्णक 284, 453, 1630  
 प्रजा 48, 318, 787  
 प्रणव 2000, 2010, 2016  
 प्रतर 2187  
 प्रत्याहार 1071, 1456  
 प्रदेश 431  
 प्रदेशबन्ध 437  
 प्रसत्त मूलि 1326  
 प्रभाण 1625, 2040  
 प्रभाद 292, 435, 467, 482  
 प्रवृत्ति 1358  
 प्रवेश ( कायादि ) 1450 F.  
 प्रश्नम 172, 260, 393, 398,  
 482, 964 F., 1150,  
 2126, 2146  
 प्रश्नस्त ध्यान 1196 F.  
 प्राणप्रचार 375  
 प्राणात्मा 1071, 1302 F.,  
 1342, 1359, 1459,  
 1464  
 प्रातिहार्य 2055  
 बकवृति 998  
 अन्व 396, 434, 480, 915
- बन्धुरासन 1311  
 बन्धुवाहन 1060\*5  
 बहिरात्मा 1517 F.  
 बीजाक्षर 1060\*3  
 बुद्ध 1922  
 बृहस्पति 694  
 बोधस्थु 324  
 बोधि-मावना 231 F., 243  
 बोधिरत्न 242-3  
 ब्रह्म 351, 593  
 ब्रह्माचर्य 593 F.  
 ब्रह्मलोक 111  
 ब्रह्मिहार 817  
 भव्य 5, 407, 908, 2128  
 भव्यात्मक् 2031  
 भाव 125, 429, 430, 1666F.  
 भावना 54, 887, 1195, 1283  
 भावशुद्धि 482, 799, 821, 1097  
 भावसंकर 181  
 भावासमिति 888, 893 F.  
 भेदपरिज्ञान 1515  
 भेदवित् 1603  
 भेदाभ्यास 1597  
 भोगार्त 1213  
 भौगिभव 620  
 भौगिवेग 620  
 भाङ्गलज्जण 1971  
 भण्डल 1060\*6, 1362, 1933,  
 2081, 2089  
 भण्डलगति 1358  
 भति 452  
 भतिज्ञान 451  
 भद 977  
 भनःपर्याय 455  
 भनःपर्यायज्ञान 451  
 भनःशुद्धि 800, 1085 F., 1110  
 भनःस्थैर्य 1072
- मनुष्य ( जन्म ) 1717 F.  
 मनोभूति 889, 903  
 मनोरोध 1077 F., 1083  
 मनोव्यापार 1071  
 मन्त्र 651, 1924, 1933,  
 2081, 2089  
 मन्त्रपद 1918  
 मन्त्रमूलि 1923  
 मन्त्रराज 1921  
 मन्त्राधिप 1930  
 मारुत 1363, 1366, 1371  
 महातत्त्व 1924  
 महातन्त्र 54  
 महाबीज 1949  
 महामन्त्र 1887, 1955 F.  
 महाबीर 2062  
 महाब्रत 474, 885  
 महेश्वर 1922  
 मान 978 F.  
 मानिल् 981  
 मानुषोत्तर 1774  
 माया 990 F.  
 मायायुग 2003  
 मायावर्ण 1981  
 मार्गणा 413  
 मार्गदृष्ट 1192  
 माहेन्द्र ( वायु ) 1374  
 मिथ्यात्त्व 435, 2177.  
 मुदिता 1277, 1278  
 मुद्रा 1060\*6, 1933, 2081,  
 2089  
 मूर्छा 823  
 मूषिकोदर 2104  
 मृषानन्द 1225, 1245  
 मृषारीत 1238  
 मैत्री 172, 1271 F.  
 मैथुन 598, 700 F.

मैथुनदोष 711  
 मोक्ष 45, 252 F., 396, 915  
 मोक्षाकाङ्क्षा 973  
 मोह 1137 F., 1617  
 मोहग्रन्थि 839, 865  
 मोहनिदा 1284  
 मोहप्रकृति 309  
 मोलचल 1775  
 यक्ष 1060\*6, 7  
 यज्ञ 489  
 यथारूपात्तचरण 2200  
 यन्त्र 651, 1060\*6, 2089  
 यन्त्रनाथ 1352, 2084  
 यन्त्रवाहक 2076  
 यम 55, 172, 482, 1071,  
     1074  
 यमद्रुत 532, 554  
 युक्ति 1193, 2044  
 योग 170, 177, 435, 481,  
     527, 889, 1536  
 योगनिदा 1284  
 योगप्रवृत्तिचिह्न 2127  
 योगसंक्रान्ति 2157  
 योगसिद्धि 1071  
 योगास्थाप 1577  
 योगिल 2100  
 योगिसुख 1035 F.  
 रक्षारीढ़ 1251  
 रजस्तम्भ 41  
 रत्नवय 386, 908 F., 910,  
     914, 916, 1060\*1,  
     1641  
 रविमार्ग 1379  
 रात्र 1107 F., 1119 F.  
 रागद्वेष 1126, 1131, 1133,  
     1134  
 रिक्त 1424

रुक्षकोष 1203  
 रुद्र 1290  
 रूप 2094  
 रूपविजित 1877  
 रूपरथ 1877, 2033 F.  
 रूपतीर्त 2080 F., 2094  
 रेचक 1344, 1345, 1354  
 रोगार्त 1211 F.  
 रोष 931 F.  
 रोक 1199, 1223-5, 1755  
 रोद्विलिङ्ग 1235 F., 1259 F.  
 रौरब 488  
 रक्ष्य 1620  
 लघुपञ्चाशरीरचार 2202  
 लक्ष 9, 1087, 2097  
 लाटी 1060\*7  
 लेक्या 1219  
 लेखाविशुद्धि 1330  
 लोक 224 F., 1696  
 लोकपूरण 2187, 2189 F.  
 लोकप्रभाण 1697  
 लोकभावना 224 F.  
 लोकस्वरूप 1689 F., 1771 F.  
 लोकान्त 2205  
 लोभ 1003 F.  
 लज्जासन 1311  
 लक्षणपुर 1060\*3  
 लण्ठालुका 1911, 1915  
 लर्णवाच 1935  
 लर्णससक 1999  
 लर्णवान 2062  
 लह्लि 1363, 1367, 1372  
 लह्लितरथम् 1060\*4  
 लाक् ( योग ) 2191  
 लामुसि 809, 904  
 लाचक 1946  
 लाचस्पति 1178

लाघ्य 1946  
 लायु ( कल ) 1374 F.  
 लायु ( त्रय ) 1692 F.  
 लायुदत्तम् 1060\*5  
 लायुसंक्रम 1441  
 लालू 1363, 1365, 1370  
 लाडली 1875, 1900 F.  
 लासना 1069, 1202, 1618  
 लासीचन्दन 967  
 लिक्ष्य 1175  
 लिक्ष्या 2082  
 लिक्ष्याकर्त्त् 344  
 लिक्ष्यकर्म 1682  
 लिलित्य 2090  
 लिङ्गान 1023, 2047  
 लिङ्गानमयप्रदीप 1063  
 लिङ्गानविद् 307  
 लिङ्गानिन् 951, 1152  
 लिटविष्या 768  
 लित्यस्व 1060\*6  
 लित्कर्बीचार 2149 F.  
 लित्स 847, 861  
 लिदाघर 1060\*7  
 लिदानुशास 2020, 2083  
 लिपाकविचय 1621, 1658 F.  
 लिप्तम् 1617  
 लिमान 119  
 लिदिकस्थान 1286  
 लिवेक 268, 2126, 2138  
 लिशुद्धालय 1615  
 लिशुद्धि 455  
 लिश्वर्द्धिन् 2075  
 लिष्य 1030 F.  
 लिष्यसुख 1041  
 लीचार 1069, 2130  
 लीतराम 1125 F., 2079 F.  
 लीतरामदा 2030

- बोर 476, 852, 1019, 2005,  
2031, 2228  
बीरनाथ 1216  
बीरसन 1311  
बृत्त 472  
बृहु 776  
बृद्धसेवा 771 F.  
बृषभसेन 2045  
बैग 623  
बैद 825  
बैदनार्त 1212  
बैदनीय 1670 F.  
बैष 342, 1444 F.  
बैकियिक 1756  
बैनलेय 1059  
बैनयिक 307  
ब्यक्ति 1479, 1491, 2099  
ब्याङ्गनवर्णीय 433  
ब्यञ्जनसंकालित्व 2156  
ब्यक्त 1625  
ब्युत्सर्ग ( धर्मिति ) 901  
ब्रह्म 476-77  
शक्ति 1479, 1491, 2099  
शासमख 694  
शम्भु 1416  
शम 954  
शमक 2124  
शाशिमार्ग 1379  
शालिमरस्य 517  
शिव 878, 1059, 1193, 1922,  
2024  
शिवतत्त्व 1060\*1, 1944  
शिवत्व 2097  
शिवपद 255  
शिवास्पद 1998  
शिवीभवेत् 141  
शिवीभूत 872  
शुक्ल 1199, 1486, 1616,  
2117, 2139, 2142-47F.  
शुक्लध्यान 1060\*1, 1199,  
1616, 2120, 2139,  
2143  
शुक्ललेश्या 1869, 2125  
शुद्धलेश्या 275  
शुड्डि ( विषा ) 830  
शुद्धोपयोग 274, 1513F., 1616  
शुनासीर 1060\*2  
शुभाशुभ 1599  
शुद्धान 1072  
श्रीमद्वृथमार्दि 2017  
शुत 453  
शुतज्ञान 451, 453, 1625,  
1627, 1632  
शुतलक्षण 1636 F.  
शुतशून्य 1612  
शुतस्कल्प 6, 918, 1969,  
2162, 2164  
शुतस्कन्धबीज 2027  
श्लेष 145  
श्वसना 1879, 1896 F.  
षट्खणालयानक 1217  
षोडशाभरी विद्या 1962  
सकाम-निर्बरा 191  
सत्य 174, 531 F.,  
सत्यशत्रु 557  
सत्संग 803  
सदाध्यास 1072  
सन्मति 474, 2061  
सन्मार्गच्युति 1028  
सप्तशारमन्त्र 2015  
सप्तानीक 1800  
सर्वीजध्यान 1512  
समल्प 902, 944, 963, 1147,  
1170, 1183, 1460  
समरक्षप्रभाव 1167  
समय 909, 2190  
समाचि 486, 1071, 1331,  
1459  
समारम्भ 481  
समास 413  
समिति 190, 474, 476, 888  
समुच्छिक्षकिया 2151, 2196  
समुद्धास 2184  
सम्प्रकृत्यारित्व 912  
सम्यक्त्व 387, 391  
सम्यग्नात्म 257, 912  
सम्यग्दर्शन 388, 912  
सम्यादर्शनदोष 395  
संयोगिन् 2152  
सर्व 1922  
सर्वज्ञदेव 1625, 1991  
सर्वज्ञशासन 7  
सर्वज्ञीभूत 2074  
सर्वर्थसिद्धि 2128  
सविकल्प ( व्याज ) 284, 288  
सवितर्कम्बोजार 2150 F.  
सवीर्यध्यान 1470, 1512  
संकल्प 517  
संकल्प 1358, 2155  
संग 322, 823, 827-28,  
831-32 F.  
संचरण 1449 F.  
संचार 1461  
संजयन्त 2020  
संज्ञा 904  
संतोष 1071  
संसोही 330  
संयम 298, 819 F., 1600  
संयोग 854, 924, 1049,  
1183  
संरक्षण 1225

संरक्षणानन्द 1257	सिद्धचक 2020 F., 2021	स्विरभल 1072
संरक्षम 481	सिद्धान 2212 F.	स्थूल 1620
संवर 179 F., 396	सिद्धकीर्ति 2216	स्थाद्वाद 453
संवृत्तात्मा 182	सिद्धवेचक 2217 F., 2221	स्थ 2032
संखेय 268, 333, 393, 398,	सिद्धसुख 2208	स्वज्ञान 915
1990	सिद्धारमा 1498	स्वतस्व 1112
संसर्ग 726	सिद्धि 1941	स्वदिविन् 920
संखार 116 F., 125	सिद्धिधाय 1872 F.	स्वभावसद 2110
संस्कार 1220	सुखलेशया 1871	स्वयंभू 1993
संस्था 1351	सुखासम 1311	स्वयंभूरमण 1772
संस्यानविचय 1689 F., 1876	सुप्रतिष्ठितयोग 1577	स्वसंबेद 1543
संस्यतिविचय 1621	सुरसंभव 1812 F.	स्वस्तिक 1060*4
संहतन 1194, 2117	सुषुम्ना 1416	स्वाङ्गनभ 2032
सात 93	सूक्ष्म 1620	ह 1936
सातावेदनीय 1671	सूक्ष्मकिया 2194	ह 1432, 1888
सामाधिक 473	सूक्ष्मकियाप्रतीपाति 2151	हर 638
साम्य 1147 F., 1163, 1165	सौषम्भ 1868	हरि 638, 1922
1182	स्कन्ध 417	हंसपद 2003
साम्यवृत्ति 1173	स्त्री 641 F.	हिंसा 490
सार 1059	स्थान ( स्थाज्य ) 1289 F.	हिंसामन्द 1225, 1236 F.
सावैः 1922	स्थावर 126, 400	हिंसारोद 1226 F.
सालम्ब 1620	स्थिति 1625	हैय 1165
सिद्ध 398, 1060*7, 1956	स्थितिवर्ण 436	हीं 1982

●

## 5. विशेषनामसूची

इन्द्रभूति 6	क्षु ( राजा ) 571
अन्तर्प्रस 3	कुषध्वज 1
जिनसेन 16	शाम्तिनाथ 4
देवनन्दी 15	शालिमस्य 517
द्वारवती 935	शीवर्धमान 5
द्वीपायन 935	समस्तभट 14
भट्टाकल्पक 17	स्वयंभूरमणार्णव 517

●

## 6. व्याख्यायुक्तनाम-सूची

अपायविचय 1640	द्रव्यसंबंध 180	मृथारोह 1238
अलोक 224	धर्म 220-21	मैत्री ( आवना ) 1271-73
असद ध्यान 1198	ध्याता 289, 356	मोक्ष 232-35
अहिंसाकृत 479	ध्यान 275-76, 1194-95	योग 170
आग्नेयी ( शारणा ) 1886-95	निर्जरा 191	स्थानीत ( ध्यान ) 2095
आद्वानसमिति 899-900	पदस्थ ( ध्यान ) 1910	रेतक 1349
आत्मध्यान 1202-15	परमात्मस्वरूप 1491-99	रोदध्यान 1224
आत्म 170	परियह 820	लोक 224
ईयतिसमिति 890-92	पवनाल्प्य पवन 1371	वचनगुप्ति 904
उपेक्षार ( भावना ) 1279-80	पुरन्दराल्प्य पवन 1369	वारुणगुप्ता पवन 1370
एषणासमिति 897-98	पूरक 1347	वारुणी ( शारणा ) 1900-1903
कहणा ( भावना ) 1274-76	प्रलयाहार 1456	विपाकविचय 1658
कायमुक्ति 905	प्रशस्त ध्यान 1197	बृत 472, 474
काल 424-25	पार्थिवी ( शारणा ) 1880-85	बृद्ध 774-77
कुम्भक 1348	वाहार्य 824	ब्युत्सर्गसमिति 901
केवलज्ञान 456	भावसंबंध 181	बत 477
चरण 476	भावासमिति 893-96	शुक्लध्यान 2144-46
चौर्यरीढ़ 1246	मनोगुप्ति 903	खबीज ज्यान 1512
ज्वलनाल्प्य पवन 1372	मन्त्रराज 1919	सत्यवत 557
जीव 405	महाकृत 885-86	सम्यक्दर्शनभेद 392
ज्ञान 449-50	मारुती ( शारणा ) 1896-99	संरक्षणरीढ़ 1257
लप 196	मुदिता ( भावना ) 1277-78	संवर 179
		हिंसारोह 1226



## ७. शुद्धिपत्रम्

प्राच.	प्रक्रिया:	अस्त्राद्यम्	स्थानम्
105	2	निष्ठानित्या	निष्ठानित्या
244	5	स्थिरवर्णात्	स्थिरवर्णात्
257	6	वैयक्तिकी	वैर्यमाधी
314	5	वक्तुतं कम्	कम्
378	8	मृतसृष्टा	मृगसृष्टा
406	3	कल्पयत्युत्कृष्टता	कल्पयत्युत्कृष्टता
420	2	चतुर्थम्	चतुर्थम्
455	7	पर्यङ्क	पर्यङ्क
476	1	गम्भीर्य	गम्भीर्य
525	1	ज्ञात्रव	ज्ञात्रव
533	1	मन्य	मन्ये
537	4	विचर्यो	विचर्यो
553	6	जीवैविष	जीवैविष
594	2	परिमोत्सवं	परिमोत्सवं
601	8	कल्पातीकास्तदा	कल्पातीकास्तदा
628	8	शुतस्काशाद्	शुतस्कलशाद्
637	6	मायावृग्म	मायावृग्म